

हिंदी-शब्दसागर

अर्थात्

हिंदी भाषा का एक बृहत् कोश

[पाँचवाँ खंड]

—ॐ—

संपादक

श्यामसुंदरदास वी० ए०

सहायक संपादक

रामचंद्र शुक्ल

जगन्मोहन वर्मा

रामचंद्र वर्मा

भगवानदीन

—ॐ—

प्रकाशक

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

१९२५

गणपति कृष्ण गुप्ता द्वारा धीरदमीनारायण प्रेस, काशी में मुद्रित ।

संकेताचरों का विवरण

अ० = अंगरेज़ी भाषा	शुज० = गुजराती भाषा	पुर्त० = पुर्तगाली भाषा	लक्ष्मणसिंह = राजा
अ० = अरबी भाषा	गुमान = गुमान मिश्र	प० हि० = पंथी हिंदी	लक्ष्मणसिंह
अनु० = अनुकरण शब्द	गोपाल = गिरिधरदास	प्रताप = प्रतापनारायण मिश्र	लक्ष् = लक्ष्मण
अने० = अनेकार्थनाममाला	(या० गोपालचंद्र)	प्रत्य० = प्रत्यय	लक्ष० = लक्षकरी भाषा;
अप० = अपभ्रंश	चरण = चरणचंद्रिका	प्रा० = प्राकृत भाषा	अर्थात् हिंदुस्तानी
अयोध्या = अयोध्यासिंह	चितामणि = कवि चितामणि	प्रिया = प्रियादास	जहाजियों की बोली
उपाध्याय	त्रिपाठी	प्रे० = प्रेरणार्थक	लाल = लाल कवि (छत्र- प्रकाशवाले)
अर्द्धमा० = अर्द्धभाग	छीत = छीतस्वामी	प्रे० सा० = प्रेमसागर	लै० = लैटिन भाषा
अल्पा० = अल्पार्थक प्रयोग	जायसी = मलिक मुहम्मद	फ़० = फ़ारसी भाषा	वि० = विशेषण
अव्य० = अव्यय	जायसी	फ़ा० = फ़ारसी भाषा	विधाम = विधामसागर
आनंदघन = कवि आनंदघन	जाया० = जाया श्रेष्ठ की भाषा	बंग० = बंगला भाषा	व्यंग्यार्थ = व्यंग्यार्थकौमुदी
इय० = इरानी भाषा	ज्यो० = ज्योतिष	बरमी० = बरमी भाषा	व्या० = व्याकरण
उ० = उदाहरण	डि० = डिगल भाषा	बहु० = बहुवचन	व्यास = अधिकदास व्यास
उत्तरचरित = उत्तररामचरित	तु० = तुरकी भाषा	बिहारी = कवि बिहारीलाल	शं० दि० = शंकर द्विविजय
उप० = उपसर्ग	तुलसी = तुलसीदास	बेनी = कवि बेनी प्रवीन	श्रु० सत० = श्रृंगारसतसद
उभ० = उभयलिङ्ग	तोप = कवि तोप	भाष = भाषयाचक	सं० = संस्कृत
कठ० उप० = कठयुक्ती	दादू = दादूदयाल	भूषण = कवि भूषण त्रिपाठी	संयो० = संयोजक अग्न्य
उपनिषद्	दीनदयालु गिरि	भतिराम = कवि भतिराम	सयो० कि० = संयोज्य क्रिय
कयीर = कयीरदास	दूल्हा = कवि दूल्हा	त्रिपाठी	स० = सकर्मक
केशव = केशवदास	दे० = देवो	मला० = मलायम भाषा	सयल = सयलसिंह चौहान
कौक० = कौकण देश की भाषा	देव = देव कवि	मलुक = मलुकदास	समा० वि० = समाचिलास
क्रि० = क्रिया	(मैनपुरीवाले)	मि० = मिलाओ	सर्व० = सर्वनाम
क्रि० अ० = क्रिया अकर्मक	देश० = देशज	मुहा० = मुहाविरा	सुधाकर = सुधाकर द्विवेदी
क्रि० प्र० = क्रियाप्रयोग	द्विवेदी = महाधीरप्रसाद	यू० = यूनानी भाषा	सूदन = सूदन कवि
क्रि० वि० = क्रियाविशेषण	द्विवेदी	यी० = यौगिक तथा दो	(भरतपुरवाले)
क्रि० सं० = क्रिया सकर्मक	नागरी = नागरीदास	या अधिक शब्दों के पद	सूर = सूरदास
क० = कचित्, अर्थात् इस	नामा = नामादास	रघु० दा० = रघुनाथदास	खि० = खियों द्वारा प्रयुक्त
का प्रयोग बहुत कम	निश्चल = निश्चलदास	रघुनाथ = रघुनाथ वंदीजन	खी० = खोलिग
देखने में आया है	पं० = पंजाबी भाषा	रघुराज = महाराज	स्वे० = स्वेनी भाषा
खानखाना = अम्बुरहीम	पद्माकर = पद्माकर भट्ट	रघुराजसिंह रीवाँनरेश	हि० = हिंदी भाषा
खानखाना	पर्या० = पर्याय	रसखान = सैयद इब्राहीम	हनुमान = हनुमन्नाटक
गि० दा० या गि० दास =	पा० = पाली भाषा	रसनिधि = राजा पृथ्वीसिंह	हरिदास = खामी हरिदास
गिरिधरदास (या०	पुं० = पुल्लिङ्ग	रहीम = अम्बुरहीम	हरिश्चंद्र = भारतेन्दु हरिश्चं
गोपालचंद्र)	पु० हि० = पुरानी हिंदी	खानखाना	
गिरिधर = गिरिधरराय			
(हुंडलियावाले)			

* यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त है ।

† यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि इस शब्द का प्रयोग प्रांतिक है ।

‡ यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि शब्द का यह रूप आम्य है ।

फलासीन, फलालेन, फलालीन-संज्ञा पुं० [सं० फलसेन] एक प्रकार का ऊनी वस्त्र जो बहुत कोमल और धीली दासी हुनायत का होता है।

फलास्त्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की हथेली की चटनी।
फलादा-संज्ञा पुं० दे० "फलाहार"।

फलारिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] पाक के अनुसार एक प्रकार का अमिष्ट जो बवासीर के रोगी को दिया जाता है।

फलार्यो-संज्ञा पुं० [सं० फलार्थ] वस्त्र जो फल की कामना करे।
फलकामी।

फलाशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो फल खाता हो।
फल खानेवाला। (२) सेता।

फलाशी-संज्ञा पुं० [सं० फलार्थ] वस्त्र जो फल खाता हो।
फल खानेवाला।

फलासंग-संज्ञा पुं० [सं०] वह सामग्री जो किसी कार्य के फल पर हो।

फलासय-संज्ञा पुं० [सं०] घरक के अनुसार दाख, नजर आदि फर्जों के सामय जो २६ प्रकार के होते हैं।

फलास्थि-संज्ञा पुं० [सं०] गारियल का पेड़।

फलाहार-संज्ञा पुं० [सं०] फलों का आहार। केवल फल खाना। फल-भोजन।

फलाहारि-संज्ञा पुं० [सं० फलार्थ] (१) फल खानेवाला। जो फल प्याकर निर्वाह करता हो।

वि० [सं० फलहार + ई (प्रत्य०)] फलहार संबंधी। जिसमें फल न पड़ा हो। जो केवल फलों से बना हो।

फलि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली जिसका मांस भारी, चिकना, बलकारक और स्वादिष्ट होता है।

फलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की निष्पावी जो हरे रंग की होती है। (२) सरपत आदि के पाने का लुकीला भाग।

फलित-वि० [सं०] (१) फला हुआ। (२) संघट। पूर्ण।

यौ०-फलित ज्योतिष = फलित का वह भाग जिसमें ग्रहों के योग से शुभाशुभ फल का निरूपण किया जाता है। विशेष-दे० "ज्योतिष"।

संज्ञा पुं० (१) वृष। पेड़। (२) पापर फूल। खुरीला।

फलितव्य-वि० [सं०] जो फलने के योग्य हो। फलने लायक।

फलिन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वृष जिसमें फल लगते हैं। (२) बटहल। (३) श्वोनाक वृष। (४) रीड़ा।

फलिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रियंगु। (२) अक्षिपिस्ता वृष। (३) मूसली। (४) इलायची। (५) मेहदी। नखकरंज। (६) श्वोनाक। (७) मायमाया लता। (८) जल-पीपल।

(९) दुधिया। दूधी। (१०) दाम्य का बना हुआ आसव।

फली-संज्ञा पुं० [सं० फलिन्] (१) श्वोनाक। (२) बटहल।

(३) वह वृष जिसमें फल लगते हैं।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रियंगु। (२) मूसली। (३) धमड़ा।

संज्ञा स्त्री० [सं० फल + ई (प्रत्य०)] छोटे छोटे बीजों में लगनेवाले वे लंबे और धिपटे फल जिनमें गुद्दा नहीं होता अधिक इसके स्थान पर एक वंक्ति में कई छोटे छोटे बीज होते हैं। ये फल खाए नहीं जाते बल्कि कच्चे ही तैयारी आदि के काम में आते हैं। प्रायः सभी फलियाँ खाने में बहुत शौष्टिक होती हैं और खाने पर पेटों के भी खाने के काम में आती हैं। जैसे, मटर की फली, सेम की फली।

फलीता-संज्ञा पुं० [सं० फलीता] (१) वह आदि के पारोह या छाल आदि के रेशों से बनी हुई रस्ती का टुकड़ा जिसमें सोपेदार चूँक दागने के लिए आया लगाकर रबी जाती है। पलीता। (२) बत्ती। (३) पची डोर जो गोद लगाते समय गुंदाता के लिए कपड़े के भीतर किनारा छोड़ कर ऊपर से धनिया की जाती है।

फलीभूत-वि० [सं०] लाभदायक। फलदायक। जिसका फल या परिणाम निकले। जैसे, परिश्रम फलीभूत होता।

फलैदा-संज्ञा पुं० [सं० फलैदा] एक प्रकार का आशुम जिसका फल बड़ा, गुदेदार और मीठा होता है। इसके पेड़ और पत्ते भी आशुम से बड़े होते हैं। फरेंद।

पर्या०-मंद। राजजंघ। महाफल। सुरभिपत्र। महागंधू।

फलैद्र-संज्ञा पुं० [सं०] फरेंदा। बड़ा आशुम।

फलेपाकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंधमुस्ता।

फलेपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुवा।

फलेरुदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] घातलि या पादर का वृष।

फलोत्तमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काकली दाल। (२) वृषिका। दुधिया। (३) विक्रया।

फलोत्पात्त-संज्ञा स्त्री० [सं०] घाम का पेड़।

फलोदक-संज्ञा पुं० [सं०] एक वृष का नाम।

फलोदय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाभ। (२) हर्ष। (३) देवजोक।

फलोदमय-वि० [सं०] जो फल से ढक्कन हुआ हो।

फलक-संज्ञा पुं० [सं०] विसारितांग।

फल्गु-वि० [सं०] (१) असार। जिसमें कुछ तर न हो। (२) मिथैक। च्यपे। (३) बुद्ध। छोटा। (४) सामान्य। साधारण।

संज्ञा स्त्री० [सं०] बिहार की एक नदी का नाम। गया तीर्थ हूरी नदी के किनारे है।

फल्गुन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अश्विन। (२) फाल्गुन मास।

वि० फाल्गुनी नक्षत्र संबंधी।

फल्गुनक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक जाति का नाम।

फल्युताड-भंसा पु० [सं०] पद्मगुप्त भास ।

फल्गुनी-अंशार्धे • द्वे • “फाल्गुनी” ।

फल्गुनीभव-३१ पु० [सं०] पृथ्वति का एक नाम ।

पल्लुलुका-शंका सं० [३०] दृष्टमंदिता के शत्रुमार वायु कोष
की एक नदी का नाम ।

फलपुष्पाटिका-पं. ४० [सं०] कृष्णर ।

फल्गुवृत्त, फल्गुवृत्ताक-पञ्च पु० [सं०] एक प्रकार का
स्वोदाक ।

काल्य-पञ्च पु० [मं०] पृष्ठ ।

फलाकी-संग पु० { सं० कश्चित् } एक प्रकार की मछली जिसे
कलह कहते हैं।

फाल्गु-शुक्र पु० [देव०] एक प्रकार का रेशम जो बंगाल के राम-
पुर हाट नामक स्थान से आता है। इसका रंग पीलापन
विषय सफेद होता है और यह लैंडरी से ऊपर प्रयुक्त होता है।

फसकड़ा—छंटा पु० [फनु०] शलभी : पलभी । गैरे, वहाँ
देखो, वहाँ कमरुस माका पैर जाते हैं ।

प्रि० प्र०- मारुता ।

कारकका—क्रि० अ० [भृ०] (१) कपड़े का मलमल या दबने
 भादि के कारण कुछ घट जाता । मलमल । (२) घटना ।
 भँसना ।

प्र० (१) जो अश्वी मसक का पट जाय । (२) जो नरदी
धैसं या पैट जाय ।

फलवज्ञाना[—नि० अ० [अनु०] (१) कपटो को मसकाना या
दबाकर बुरा कहना । (२) धोषाना । पैदाना ।

फसल-संज्ञा शी० [अ० फसल] (१) पशु । मीथम । (२) समय ।
काल । जैसे, बोने की फसल, काटने की फसल । (३) शब्द ।

क्षेत्र की वज्र। जल। मैत्र, क्षेत्र की फल। (४) वह
जल की वज्र जो वर्ष के प्रत्येक जल में होती है। जल

हे मित्र! मैं तो होता अमर माने माने हूँ, खरीदूँ, बीदा रही।
माया से पूज लक में कपड़ होनापड़े अर्थात् हो खरीद की
पमान करने हूँ बीदा माया से आताइ लक में बरतनेपात्रे का
रही की पमान।

काशरती-१० [१०] पद्य गीतं । आमु वा । प्रीति, कामनी
मृगा ।

सोना पुनः (१) एक प्रकार का मीन। इसे मिठाई के अनाद-
 बरकर में दियी सोनू को मिठाई प्रकार सुनसुनाने में
 या पीतल मिठाई में सोना की छिपी में बने की मधुमा भी,
 बदल कर सोना माग में बरिमाणन करते बजाया था। अब
 ईसाई सोनू में यह सोना बने काम होता है। इसका
 प्रकार इसकी आभा में अन्य या सोनी बारी धारि के
 कामों में होता है। (२) ईसा।

समाप्त—शु. १० (५०] : शु. ५५५५) (१) विद्या । विद्या ।

(१) बलना । विद्रोह । (२) अथा । अक्षय । (३) अगस्त ।
उत्तर । (४) विषय ।

कि० प्र०-हरना ।-उठाना ।-गढ़ा करना ।-द्वेषना ।-द्वेषना ।
-मेषना ।-मेषाना ।

फसलादी-वि० [का०] (१) फसल गड़ा करकेवाला । घरंदरी ।
(२) फसलवासी । लुहार । (३) गुराह । पानी ।

कविराज-संगीत छंदी. दे. "प्रमद ।"

फस्त-ग्रा श्री० दे० "फस्त १"

फस्ट-थिंग थी [य-पर] नय हो ऐदकर सीर का कृतिन
रक्त निहालने की क्रिया ।

मुद्रा—पदार्थ को जला = नष्ट या नष्ट की देह कर एक मिश्र-
ण। पदार्थ सुखधाना = (१) पदार्थ का दूधितरक मिश्रण।
(२) पदार्थन की मिश्रण। जला = जल को दहाना। पदार्थ
जला = (१) पदार्थ का दूधितरक मिश्रण। (२) पदार्थन की
मिश्रण।

फहम-वेला थी। [अ०] शान । समस्त । विवेक । ३०—(क) फहमी छाये फहमी बाधे फहमी सहिते प्रेरी । फहमी परा प्रेरी फहम काल है सोहू फहम है मेरी ।—बहीर । (ख) मान बाइत बायक लहो विप होम बानी ये । कबिदुआनि सैनन कही सोहू सही । सोहि' कहु फहम न गरब हमी के ।—मुजली । (ग) बाये मुक सायन मोरान् ए वी कहुन लारी, पुरके सही । सेवा काल फहम ही ।—मुजली ।

पञ्चमहास-संग धी० [पा०] (१) विष्णु । सीध । (२)
आज्ञा । हजम ।

प्रि० प्र०-वरना ।—रंभा ।—होना ।

पाठ्यपुस्तक-वि. सं. [सं. प्रकाश] कदाचित् का प्रकाश हो ।
 पापु में हृदय । कृतकृत्य । ४०—(५) यदि यदि
 कृत्य जल यदि के । सन्निध शीघ्र मायसी विराजति अहं
 प्रीति जल यदि के । मंद मंद मति कलज पवित्र मति शेषज
 मंद पत्रि के । मोहन मोहो मोहनी जगद् मोहि कले
 अमरि के ।—गूर । (५) कलें कुहार मीन मरें कदी गी
 हैं पदों सदीय लाम दीपन की सादी है ।—पदाव ।

कहलाना-मग भी । [रिं. कराना] कहलाने का भाव वा दिया।
 ४.—(क) वा पर की कहलानि । बर परि वह भाल की
 भावनि जहि विगतनि वह कनि ।—गूर । (ग) कन की
 कहलानि रिने कहलानि डोरेन पीन मरी की ।—रूप ।

पादपाना-दि. ता. [मं. प्रत्यय] वदता। सोऽं चिञ् इय
प्रकार गुणी सोऽं देना श्रिमते वद वताते दितने चिञ्
वदने चो। ईतो, वता ये वदता कदवता, चिञ् वदवता।

दिना. कारका । धातु में यन्ता । दशः मी १२ १३ १४
दिना का इत्या । न०—(६) काया देवतः शक्तः शक्तः
विद्युः १२५ १२५ १२५ । शक्तः शक्तः देवतः शक्तः शक्तः

जाय।—कबीर। (ख) घंट घटि-गुनि वानि न जाहीं।
सब कहिँ पायक फहराहीं।—तुलसी। (ग) पाहिँ खो
ते चीन कहेर कहेर निधोर घटा चहरानी। ऐसे समय
पद्माक काहु के प्रायन पीतपटी कहरानी।—नरपक।

फहरानि—संज्ञा स्त्री० दे० “फहरान”।

फहरिस्त—संज्ञा स्त्री० दे० “फेरिस्त”।

फहरा-वि० [५० पृष्ठ] कुहड़। झरलील।

फाँक—संज्ञा स्त्री० [सं० फाँक] (१) किसी गोल या पिंडाकार वस्तु
का काटा या चीरा हुआ टुकड़ा। गोल सटोल वस्तु का वह
खंड जो किसी स्तिथ में परावर काटने से भलग दे। छुरी,
घारी आदि से भलग किया हुआ टुकड़ा। उ०—घोरी
बंदि बिदा करि राता राता होय कि रंको। जरासंध के
ओर बधोरयो फारि कियो द्वै फाँके।—मोघाल। (२) किसी
फल का एक सिरे से दूसरे सिरे तक काटकर भलग किया
हुआ टुकड़ा। जैसे, नीच, आम, आमरुद, घरपूले आदि की
फाँक। (३) खंड। टुकड़ा। उ०—दघरि दघरि घामीर के
कंगुरे गिरिँ कटकि फाँक फूटि फूटि फाँके फहराहिँ।

विशेष—दूट फूट कर भलग होनेवाले टुकड़े के लिए इस
शब्द का व्यवहार बहुत कम मिलता है।

(४) लकड़ी जिससे कोई गोल या पिंडाकार वस्तु स्तिथ
टुकड़ों में बँटी दिखाई दे। जैसे, घरपूले की फाँके।
फाँकड़ा—वि० [दे०] (१) घाँक। तिरछा। (२) हट। पुट।
तगड़ा। झुट्टड़ा। गजपुत।

फाँकना—कि० सं० [हिं० फाँक] घूर, दाने या मुकुंजी के रूप की
वस्तु को दूर से मुँह में डालना। कण या घूर्ण को दूर से
मुँह में फेंक कर खाना। जैसे, चीनी फाँकना। उ०—
लपसी लँग गवै हकसारा। लाई परिहरि फाँके धारा।—
कबीर।

मुहा०—बूख फाँकना = (१) पाने को न पाना। (२) बेते रपान
में जाना या रहना जहाँ बहुत गर्म हो। (३) दुँधना भोगना।

फाँका—संज्ञा पुं० [हिं० फाँकना] (१) किसी वस्तु को दूर से
फेंक कर मुँह में डालने की क्रिया या भाव। फेंका।

मुहा०—फाँका मारना = किसी वस्तु को फाँकना।

(२) बतनी वस्तु जो एक बार में फाँकी जाय।

फाँकी—संज्ञा स्त्री० दे० “फाँक”।

फाँग, फाँगी—संज्ञा स्त्री० [?] एक प्रकार का साग।

उ०—(क) रुचि तल-जानि डोनिछा फाँगी। कड़ी कृपालु
दूसरे माँगी।—सूर। (ख) पौई पखर फाँग करी सुनि।
—टोटी टोट से छोकि कियो पुनि।—सूर।

फाँटा—संज्ञा स्त्री० [हिं० फाटना, फटना या सं० पट] (१) यथा-
क्रम कई भागों में बटने की क्रिया या भाव।

कि० प्र०—बाँटना।—लगाता।

(२) काग से बाँटा हुआ भाग। भलग भलग किए हुए
कई भागों में से एक भाग। (३) दर या पड़ता जिसके
अनुसार कोई वस्तु बाँटी जाय।

संज्ञा स्त्री० [?] (१) शीपथि का गरम पानी में खीटाता।

काड़ा बनाने की क्रिया या भाव। (२) काप। काड़ा।

फाँटना—कि० सं० [हिं० फाट] (१) किसी वस्तु को कई भागों
में बटाना। विभाग करना। (२) जड़ी मूली आदि को
पानी में खीटाता। काड़ा करना।

फाँटवँदी—संज्ञा स्त्री० [हिं० फाट + फा० वँदी] यह कामज जिसमें
किसी गाँव में नामुक्रमल पट्टीदारों के हिस्सों के अनुसार
उस गाँव की सामुन्नी आदि की बाँट मिली रहती है।

फाँटा—संज्ञा पुं० [हिं० फाटना] छोटे या लकड़ी का वह मुका
हुआ या कोयलु टुकड़ा जो मिलकर कोयल बनाती हुई
दो वस्तुओं को परस्पर जकड़े रखने के लिए जोड़ पर जोड़
दिया जाता है। कोनिया।

फाँड़—संज्ञा पुं० दे० “फाँड़ा”।

फाँड़ा—संज्ञा पुं० [सं० फाँड़ = वेद] दुपटे या धोती का कमर
में बँधा हुआ हिस्सा।

कि० प्र०—रसना।—बाँटना।

मुहा०—काड़ा बाँटना या कसना = किसी काम के किए सुखेद
होना। फटबद होना। फाँड़ा पकड़ना = (१) इस प्रकार
पकड़ना जिसमें कोई मनुष्य मारने न पावे। (२) स्त्री का किसी
पुरुष को अपने साथ वैधवा आदि के लिए जिम्मेदार ठहराना।

फाँद—संज्ञा स्त्री० [हिं० फाँदना] उछाल। उछलने का भाव।
कूदकर जाने की क्रिया या भाव।

संज्ञा स्त्री० पुं० [हिं० फेंक] (१) रस्ती, पाल, सूत

आदि का घेरा जिसमें पड़ कर कोई वस्तु बँध जाय।

फँदा।—पाश। (२) बिड़िया आदि फँसाने का फँदा या

जाल। उ०—(क) तीसरा गीव जो फाँद है नितहिँ पुकारि

दोय।—जायसी। (ख) प्रेम फाँद जो परा न छूटा।

जीव दीहल पर फाँद न टूटा।—जायसी।

विशेष—कवियों ने इस शब्द को प्रायः पुल्लिङ्गही माना है।

फाँदना—कि० थ० [सं० फाँदना, हिं० फाँदना] सँक के साथ
शरीर को ऊपर उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा
पड़ना। कूटना। उछलना। उ०—रग भृगनैननि के कहुँ
फाँदि न पावै जान। लुलुक फँदा मुस भूमि पै रोये बधिक
सुजान।—रसनिधि।

संयो० कि०—झाना।

कि० सं०—(१) उछलकर पार करना। कूदकर लाँघना।

शरीर उछालकर किसी वस्तु के आगे जा पड़ना। उँडाना।

जैसे, माली फाँदना, गड्डा फाँदना। (२) सर (पशु) का

मादा पर जोड़ खाने के लिए जाना।

कि० स० [रि० फेरा] फेरे में डालना । फैमाना ।
उ०—कुटिल चालक सुभाष इरि के भुवनि पै रहे बाय ।
मनो मन्मथ फाँदि फेदन मीन विधि डट तपाय ।—मूर ।
† कि० स० दे० “फानना” ।

फाँदा—संज्ञा पु० दे० “फेरा” ।

फाँदी—संज्ञा स्त्री० [रि० फेरा] (१) यह रस्मी जिससे बड़े
पातुओं को एक साथ रखकर बाँधते हैं । गद्दा बाँधने
की रस्ती । (२) गद्दों का गद्दा । एक में दो बड़े हुए बहुत से
गद्दों का बोझ ।

फाँकी—संज्ञा स्त्री० [सं० पंथ] (१) बहुत महीन झिज्जी ।
बहुत घासीक तह । (२) दूध के ऊपर पड़ी हुई मलाई की
बहुत पतली तह । (३) पतली सफ़ुद झिज्जी जो घाँस की
पुनखी पर पड़ जाती है । मोड़ा । जाला ।

फाँस—संज्ञा स्त्री० [सं० पण] (१) पाय । घंघन । फंदा । उ०—
माय मोह सोम अद मान । ए सब त्रय गुण फाँस समान ।
—सूर । (२) यह रस्ती जिसका फेरा डालकर फिकारी
पट्टी फाँसते हैं । उ०—(क) रहि रही ठगपाटू, चालक
फाँस पड़ गीय । जहाँ मिलारिन बाँधू तहाँ बँधू बोगीय ?
—जायसी । (ख) बहल फाँस प्रबलतिहि दिन माहि
मुझहि । बुझि न बंधवहि मासिके पापुनि इति धाये ।—सूर ।
संज्ञा स्त्री० [सं० पनम] (१) बाँस, सूती लकड़ी आदि का
कड़ा तंतु जो स्त्रीर में खुस जाता है । बाँस या काठ का कड़ा
देवा मिलकी नोक बटि की तरह हो जाती है । महीन
काँटा । उ०—(२) काँकि बरोने गड़ि रही बघन वृष्ट की
फाँस । निकलाए निकसै मही रही सो काहू गलत ।
—बहीर । (ख) जल पानन की काँड़ देरी । पथर न गड़े
फाँस तेहि बेरी ।—जायसी ।

फि० प्र०—गद्दा ।—सुमना ।—मिछला ।—निकाटना ।
—उमना ।

(२) बाँस, घेत आदि को पीकर बनाई हुई पतली
तीली । पतली कमखी । उ०—फलन घेने बघन में रहि-
मान रस की गलत । जैसे मिमिदिह में मिमि बिलत बाँस
की फाँस ।—रहीम ।

मुहा०—फाँस सुमना = पं० देहसुखेरी बत होना । मसखेरी
बन देना । ऐसी बत होना जिससे बिल की दुहा पहुँचे । फाँस
निडरना = केरक दूर होना । बेला बलु का अलक का न रह
बना बिन्ने-दुल का साया हो । कर पड़नेकी बलु का
दल । फाँस निडाटना = फाँस दूर करना । ऐसी बलु को
बाँस के दूर जाने जिससे दुल बल का बिन्ने बल को साया हो ।

फाँसना—क्रि० सं० [सं० पण, सं० पान] (१) बीघन में
जाटना । बाँधना । पकड़ना । पाय में बाँधना । जाल में
देना । उ०—विशिष्ट धर्मवत को, इदम जल में मर्गे

देहि अनिष्ट ही सुद माँझी । सूर प्रभु की कर्षी यो
बाँधे सो शो फाँसि करि कुर पर अनिष्ट पार्यो ।—मूर ।
(२) जेरो में डालना । घोला देकर बाँधने का प्रयोग में
करना । घसीकना करना । (३) किसी पर देवा प्रभाव
डालना कि वह तब में होकर कुछ करने के लिए तैयार हो
जाय । जैसे, किसी बड़े चादमी को फाँसी गवसफा मित्रेता ।
संज्ञा० फि०—डालना ।—लेना ।

फाँसी—संज्ञा स्त्री० [सं० पण] (१) फेंपाने का फेरा । पाय ।
उ०—जावन बाट के हूँ ही दिना से परी गल काब सनेह
की फाँसी ।—प्रतिम । (२) बड़े रस्मी या रेशम का
फेरा जिसमें गद्दा फेंपने से छूट जाता है और फेंपनेवाला
मर जाता है ।

कि० प्र०—उमना ।

(२) रेशम या रस्ती का फेरा जो दो ऊँचे खंभे या
कर का से लटकाया जाता है और जिसमें गले में डाल
कर शपथियों को प्रायश्चित्त दिया जाता है ।

मुहा०—फाँसी सड़ी होना = (१) फाँसी के खंभे कमि होना ।
फाँसी दिने जले की वैसी देना । (२) जल जले का हो देना ।
हर की बड़ी मरी बत देना । जैसे, ताते क्यों मही, क्या बड़ी
फाँसी सड़ी है ? फाँसी बटना = पण द्वारा फाँसने पण ।
फाँसी भूना = गले में फेरा डालकर फाँस देना ।

(४) यह फेरा जो शपथियों को फेरे के द्वारा मारकर
दिया जाय । पाय द्वारा प्रायश्चित्त । जीव की सता को गले
में फेरा डालकर ही माय ।

कि० प्र०—डोना ।

मुहा०—फाँसी देना = पण द्वारा फाँस देना । गले में फेरा डाल
कर मार डालना । फाँसी पाना = पण द्वारा फाँसने पण ।
मिठी पणम में गले में फेरा डालकर मार डालना ।

फाँसल—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मिमिल । मणी । (२) कोरे
का गार जिसमें कागज या चिट्ठी लपकी की जाती है ।
(३) सामयिक पत्रों आदि के कुछ पुरे पत्रों का समूह ।

फाँसल—संज्ञा पु० [सं० पण] इनाम । गिादार रहना ।
या०—फाँसलरी । फाँसल ।

फि० प्र०—करना ।—डोना ।

मुहा०—फाँसल पणम = उबरन देना । फाँस का माया = फेरा
न बिन्ने से जल देना । धूय में माया डूना । फाँस माया
= धूय माया । पणम का बल पणम ।

फाँसमस्त, फाँसमस्त—वि० [सं०] जो फाँसे कीने का बल
रहाकर भी कुछ धिंसा न करता हो । जो पैसा पाय मारा
कर भी पैसावा रहता हो ।

फाँसल—वि० [सं० पण] बहुत के रंग का । भूरासफ़
हुआ माया ।

रंगा पुं० एक रंग का नाम । वह रंग लालाई लिए भूरे रंग का होता है । आठ मासो वायोलेट को प्रायः सेर मनीज के कण्डे में मिलाकर इसे बनाते हैं ।

फाल्गुनी-रंगा श्लो० [५०] [सि० फाल्गुनी] पंडुक । धर्वरक्षा ।
फागुन-रंगा पुं० [हि० फागुन] (१) फागुन के महीने में होने-वाला शरत् ऋतु जिसमें लोग एक दूसरे पर रंग या गुलाल डालते और पसलश्रुत के गीत गाते हैं । उ०—वेदि सिर फूल चढ़ाये जेहि माये मन भाग । आर्द्र सदा सुगंध यह जनु वसंत श्री फाग ।—जायसी ।

फि० प्र०—खेलना ।

(२) वह गीत जो फाग के ऋतु में गाया जाता है ।

फागुन-रंगा पुं० [सं०] शिशिर ऋतु का दूसरा महीना । माघ के बाद का महीना । फाल्गुन ।

विशेष—पद्यि इस महीने की गिनती पतकपू या शिशिर में है, पर वसंत का आभास इसमें दिखाई देने लगता है । जैसे, नई पत्तियाँ निकलना आरंभ होना, बामों में मंजरी खगना, टेख फूलना इत्यादि । इस महीने की पृथ्वी को होलिका कहते हैं । यह आनंद का महीना माना जाता है । इस महीने में जो गीत गाए जाते हैं उन्हें फाग कहते हैं ।

फागुनी-वि० [हि० फागुन] फागुन संबंधी । फागुन का ।

फाजिल-ब० [५० फजिल] (१) अधिक । आवश्यकता से अधिक । अस्तर से ज्यादा । खर्च या काम से बचा हुआ ।

फि० प्र०—निकलना ।—निकालना ।—होना ।

(२) विद्वान् ।

फाटक-रंगा पुं० [सं० कपट] (१) बड़ा द्वार । बड़ा दरवाजा । तोरण । उ०—चारों ओर तबिये का खोटा और पक्षी चुगान चौड़ी छाई स्फटिक के चार फाटक तिनमें अष्टपानी किराई लगे हुए..... ।—लखू । (२) दरवाजे पर की बैठक । (३) मवेशी खाना । काली हौस । रंगा पुं० [हि० फटकना] फटकन । पकड़न । भूरी जो समाज फटकने से बची हो । उ०—फाटक दै कर, हाटक नागत मोरी निपटहि जानि ।—सूर ।

फाटना-क्रि० प्र० दे० “फटना” । उ०—(क) धरती भार न आगे पाँव धरत उठ डाल । फूँटें टूटें सुई फाटी तिन हस्ति की चाल ।—जायसी । (ख) दूध फाटि घृत दूधे मिला नाद जो मिला अनास । तन छूटै मन तहँ गया जहाँ धरी मन आस ।—कबीर ।

फाड़खोड़ा-वि० [हि० फाड़ + खोड़ा] (१) फाड़ खानेवाला । कटखत । (२) झोपी । बिगड़ैल । चिड़चिड़ा । (३) भयानक । घातक ।

फाड़न-रंगा श्लो० पुं० [हि० फाड़ना] (१) कागज कपड़े आदि

का टुकड़ा ओ फाड़ने से निकले । (२) धरी के ताजे मरदान की दाढ़ि ओ आग पर तपाने से निकले ।

फाड़ना-क्रि० सं० [सं० फाड़ना, हि० फाटना] (१) किसी पंजी या चुकीली चीज को किसी सतह पर इस प्रकार मारना या खींचना कि सतह का कुछ भाग हट जाय या उसमें दरार पड़ जाय । चीरना । विदीर्ण करना । जैसे, नाखून से कपड़े फाड़ना, पेट फाड़ना । उ०—पेट फारि हरना-कुम मारयो जय नहरि भगवान ।—सूर ।

संयो० फि०—डालना ।—देना ।

मुहा०—फाड़ सामा = बेश से मरतना । बिगड़ना । बिड़बिड़ना ।

(२) कटके से किसी परत होनेवासी वस्तु का कुछ भाग छलग कर देना । टुकड़े करना । खंड करना । धजियाँ उड़ाना । जैसे, पान में से कपड़ा फाड़ना, कागज फाड़ना, दबा का बादल फाड़ना ।

संयो० फि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

(३) उड़ी या मिठी हुई वस्तुओं के सिधे हुए किनारों को छलग छलग कर देना । संधि या जोड़ फैलाकर खोलना । जैसे, खोल फाड़ना, मुँह फाड़ना । (४) किसी गाढ़े द्रव पदार्थ को इस प्रकार करना कि पानी और सार पदार्थ छलग छलग हो जाय । जैसे, (क) खटाई डालकर दूध फाड़ना । (ख) घोट पर लगाने से फिटकरी खून फाड़ देती है ।

फाखित-रंगा पुं० [सं०] (१) राव । (२) शीरा ।

फाखिर-रंगा पुं० [५०] (१) प्रार्थना । उ०—कबीर काली सुंदरी दोइ पैरी बखलाइ । पढ़ै फाखिर गैब का हाजिर को कहै नाहि ।—कबीर । (२) वह चत्राया जो मरे हुए लोगों के नाम पर दिया जाय । उ०—दलवाई की दूकान और दावे का फाखिर ।

फानना-क्रि० सं० [सं० फान] चुनना । छुई को फटकना ।

फि० सं० [सं० फानन] किसी काम को आरंभ करना । अनुष्ठान करना । कोई काम हाथ में लेना । किसी काम में हाथ लगा देना ।

फानूस-रंगा पुं० [का०] (१) एक प्रकार का दीगाधार जिसके चारों ओर महीन कपड़े या कागज का मंडप सा होता है । कपड़े या कागज से मड़ा हुआ पिंजरे की शकल का चित्राधान । एक प्रकार की बड़ी कंदील ।

विशेष—यह लकड़ी का एक चौकोर वा मण्डपल ढांचा होता था जिस पर पतला काड़ा मड़ा रहता था । इसके भीतर पहले चित्राधान पर चित्रा रच कर लोग फाना पर रखते थे । उ०—जाल चुकीती तियन में पैरी आप, छिपाइ । अरगट ही फानूस सी परगट होति बखसाइ ।—विहारी ।

फाल्गु-वि० [१०० फाल्गु = दुर्गा + १०० (प्रत्यय)] (१) जो काम में थाने से बच रहे। चापशय्यका से अधिक। जलस्य से व्यादा। अतिरिक्त। पड़ती। जैसे, हतना कपड़ा फाल्गु है; तुम को जाओ। (२) जो किसी काम के लक्षण न हो। निरुपमा। जैसे, क्या हमों एक फाल्गु चादमी हैं जो हतनी दूर दौड़े जायें ?

फाल्गु-वि० [फा० फाल्गु] फाल्गु के रंग का। ललाई लिए हुए हलका कड़ा।

विशेष—हम रंग के लिए कपड़े को तीन बार देने पड़ते हैं। पहले तो कपड़े को नील में रंगते हैं, फिर कुसुम के पहले बनार के रंग में रंगते हैं जो जेठा रंग होता है। फिर फिट-करी या खटाई मिले पानी में धो कर निवार देने से रंग साफ निकल जाता है।

फाल्गु-संज्ञा पुं० [फा० । सं० वरुण, वरुण, प्रा० वरुण] एक छोटा वेद जिसका धनु ऊपर नहीं जाता और जिसमें सुई के आकार की सीधी सीधी आक्षिप्य चाँों धोर निकलती हैं। आक्षिप्य के दोनों ओर सात घट शंखु लंबे चौड़े गोल पत्ते लगते हैं जिनपर महीन लोहाई सी होती है। पत्ते की ऊपरी सतह की अपेक्षा पीछे की सतह का रंग हलका होता है। आक्षिप्य में यहाँ से यहाँ तक पीछे कूल गुच्छों में लगते हैं जिनके कट्टे जाने पर मोसी के 'दाने' के बराबर छोटे छोटे फल लगते हैं। वकने पर फलों का रंग कालाई लिए ऊदा और खाद पटमडी होता है। चीज एक या दो होते हैं। फाल्गु बहुत टंडा समझा जाता है, हमसे मामी के दिनों में लोग इसका शरपत बना कर पीते हैं। वैद्यक में कथे फल वे। पातक और वितकारक तथा पक्के फल को हविहारक, विषम और शोष-मायक लिखा है।

पर्या०—वरुणक। गिरिपीलु। शेषण। पातकत। संज्ञा पुं० [१] गिरारियों की बोली में वह जंगली जानवर जो जंगल से निकलकर मैदान में थाने को भावे।

फाल्गु-संज्ञा पुं० [५०] एक रोग जिसमें प्राणी का बाधा शंग सुख या वेकार हो जाता है। सर्पण। शपरंग। पपाघात। विशेष—इसमें शरीर के संवेदन सूत्र या गतिवाहक सूत्र निष्क्रिय हो जाते हैं। संवेदन सूत्रों के निष्क्रिय होने से शंग सुख हो जाता है, उसमें संवेदना नहीं रह जाती, और गतिवाहक सूत्रों के निष्क्रिय होने से शंग का हिलना डोलना बंद हो जाता है।

मुद्रा०—फाल्गु गिरना = शरीर रोग होना। शंग सुख पड़ जाना।

फाल्गु-संज्ञा पुं० [फा०] पीने के लिए बनाई हुई एक चीज जिसका व्यवहार प्रायः सुमंजसमान करते हैं।

विशेष—नेह के सच् से बने हुए नशासे को शरीर काट कर शरपत में मिला कर रगसे हैं और टंडा हो जाने पर पीते हैं। यह गरमी के दिनों में पिया जाता है।

फाल्गु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्वा नामक सोमलता। राम-पथ प्राधान्य में होने से प्रकार का लिखा है, एक लोहितपुष्प, दूसरा पाशुपुष्प। (२) एक चांद्रमास का नाम जिसमें पूर्णमासी के दिन चंद्रमा का उदय पूर्वा फाल्गुनी या उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में होता है। यह महीना, माघ के समाप्त हो जाने पर प्रारंभ होता है। इसी महीने की पूर्णिमा की रात को होखिकादहन होता है। दे० 'फाल्गु'। (३) अर्जुन का नाम। (४) अर्जुन नामक वृक्ष। (५) एक तीर्थ का नाम। (६) बुद्धत्व का एक वर्ष जिसमें उसका उदय फाल्गुनी नक्षत्र में होता है।

फाल्गु-संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन।

फाल्गु-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फाल्गु नाम की पूर्णिमा (२) पूर्वा फाल्गुनी और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र।

फाल्गु-संज्ञा पुं० [सं० फाल्गु, प्रा० फाल्गु] मिट्टी पोखने और टाकने का चौड़े फल का लोहे का एक औजार जिसमें बंदे की तरह का लंबा पेट लगा रहता है। फाल्सा। फालसी।

दि० प्र०—चलना।

मुद्रा०—फाल्गु चलना = रोग में काम करना। फाल्गु चलना = सुनने सेना। सुनना। सुनकर गिरना। घुस सेना। फाल्गु चलना = खोदना। खोदकर डाना या गिराना। जैसे, वह जरा फाल्गु से तो मकान पर फाल्गु बना हूँ।

फाल्गु-संज्ञा स्त्री० [१०० फाल्गु] (१) छोटा फाल्गु। (२) फाल्गु के आकार की काठ की एक वस्तु जिसमें चोड़ों के नीचे के भाग, चौड़ बादि हटाई जाती है या मैला बादि हटाया जाता है।

फाल्गु-वि० [फा० फाल्गु] लुब्ध। प्रकट। ज्ञात।

दि० प्र०—करना।—होना।

मुद्रा०—फाल्गु फाल्गु करना = लिखी हुई बात खोजना। भेद प्रकार करना।

फाल्गु-संज्ञा पुं० [यून० ५०] प्राधान्य रासायनिकों के द्वारा जाना हुआ एक अत्यंत ज्वलनशील भूल द्रव्य जिसमें धातु का कोई गुण नहीं होता और जो अपने विशुद्ध रूप में कहीं नहीं मिलता—आक्सिजन, क्लोरीन, और मगनेशिया के साथ मिला हुआ पाया जाता है। इसका प्रसार संसार में बहुत अधिक है क्योंकि यह सृष्टि के सारे सजीव पदार्थों के श्रंगविघान में पाया जाता है। वनस्पतियों, प्राणियों की हड्डियों, रक्त, मूत्र, जोम आदि में यह व्याप्त रहता है। बहुत थोड़ी गरमी या रगड़ पाकर यह जलता है। हवा में खुला रखने से यह धीरे धीरे जलता

में घुलकर भीचे बैठ जाता है जिसे फिटिरी का बीज कहते हैं। इस बीज (अलमीनम सल्फेट) को गरम पानी में घोलकर १ भाग सल्फेट थाफ़् पोटाश मिला देते हैं। फिर दोनों को राग पर गरम करके गाढ़ा करते हैं। पाँच छः दिन में फिटिरी बन जाती है। फिटिरी का व्यवहार बहुत कामों में होता है। कसाय के कारण इसमें संकोचक गुण बहुत अधिक है। शरीर में पहले ही यह संतुर्भों धीरे रक्त की गतिमें को सिद्ध देनी है जिससे रक्तचाप आदि कम या बंद हो जाता है। फिटिरी के पानी से घोने से गाढ़ हुई पाँच ही सप्ती होती है। वैद्यक में फिटिरी गरम, कसैली, मिथिलों को संकुचित करनेवाली तथा वात, पित्त, कफ प्रत्य धीरे कुछ को दूर करनेवाली मानी जाती है। प्रदर, मृदङ्गण, घमन, शोथ, मिश्रण धीरे प्रमेह में भी वैद्य इसे देते हैं। कपड़े की रँगाई में से यह बड़े ही काम की बीज है। इससे कपड़े पर रंग अच्छी तरह चढ़ जाता है। इसीसे कपड़े को रँगने के पहले फिटिरी के पानी में धो देते हैं जिसे जमीन या अस्तर देना कहते हैं। रँगने के पीछे भी कभी कभी रँग निलाने धीरे धरावर काले के लिए कपड़े फिटिरी के पानी में धोए जाते हैं।

फिटिरी—संज्ञा स्त्री० [फ़ु०] (१) घोंटा। (२) सूत के छोटे छोटे फुचरे जो कपड़ों की बुनावट में निछले रहते हैं।

कथंशा स्त्री० दे० “फिटिरी”।

फिटन—संज्ञा स्त्री० [फ०] चार पहिये की एक प्रकार की लुली गाड़ी जिसे एक या दो घोड़े खींचते हैं।

फिट्टा—वि० [हि० फिट] फटकर लाया हुआ। अपमानित। बतरा हुआ। शीथल। उ०—प्रायों से तो सफल नहीं, फिर ऐसे राजा का, फिट्टे गूँद। हम कहाँ तक आपको सताया करेंगे। इनका०।

मुहा०—फिट्टा मुहँ—उठना या कौन क्या हुआ बेहरा।

फितना—संज्ञा पुं० [फ०] (१) यह उपद्रव जो अशानक किसी कारण से उठ सड़ा हो। अगड़ा। दंगा फसाद।

फि० प्र०—उठना। उठाना।

(२) एक फूल का नाम। (३) एक प्रकार का हथ।

फितरती—वि० [फ० फितर + ई] (१) चालाक। चतुर।

(२) फिटुरी। मायावी। धोखेबाज।

फिटुर—संज्ञा पुं० [फ० फुर] [वि० फितुरी] (१) म्यून्ता। पाटा। कमी।

फि० प्र०—माना।—पड़ना।

(२) विचार। विपक्ष। खराबी।

फि० प्र०—माना।—उठना।—पड़ना।

(३) कगड़ा। सखड़ा। दंगा फसाद। उपद्रव।

फि० प्र०—उठना।—करना।—पड़ना।—मथाना।

फिटुरी—वि० [हि० फिट] (१) अगड़ा। लड़ाका। (२) उपद्रवी। फसादी।

फिटुरी—वि० [फ० फिटुरी से फा०] स्वामिभक्त। आज्ञाकारी। संज्ञा पुं० [स्त्री० फिटुरिया] दास।

फिट्टा—संज्ञा स्त्री० दे० “फिट्टा”।

फिनिया—संज्ञा स्त्री० [दे०] एक गढ़ना जो कान में पहना जाता है। उ०—छोटी छोटी तानें धीरा राजें भद्राजें सम, छोटी छोटी फिनियाँ फडी हैं छोटे काग में।—पुष्पा।

फिनीज—संज्ञा स्त्री० [दे० फिन] एक छोटी नाव जिस पर दो मस्तक होते हैं और जो डाँड़ से चलाई जाती है।

फिया—संज्ञा स्त्री० [सं० फ्या] प्लीहा। तिपली।

फिरंग—संज्ञा पुं० [फ० फांक] (१) युरोप का देश। गोरों का मुलक। फिर्गिस्तान।

फिरोज—फाँक नाम का जर्मन जातिवों का एक जाया या जो ईसा की तीसरी शताब्दी में तीन बलों में विभक्त हुआ। इनमें से एक दक्ष दक्षिण की ओर बढ़ा और गाल (फ्रांस का पुराना नाम) से रोमन राज्य बठाकर उसने वहाँ अपना अधिकार जमाया। तभी से फ्रांस नाम पड़ा। सन् १०६६ और १२५० ई० के बीच युरोप के ईसाइयों ने ईसा की जन्मभूमि को तुर्कों के हाथ से निकालने के लिए कई चढ़ाईयें कीं। फ्राँक राज्य का परिचय तभी से तुर्कों को हुआ और वे युरोप से आनेवालों को फिरंगी कहने लगे। धीरे धीरे यह राज्य चरप, फारस आदि होता हुआ हिन्दुस्तान में आया। हिन्दुस्तान में पहले पुर्चगाली दिखाई पड़े इससे इस राज्य का प्रयोग बहुत दिनों तक उन्हीं के लिए होता रहा। फिर युरोपियन माय को फिरंगी कहने लगे।

(२) भावप्रकाश के अनुसार एक रोग। गरमी। आतशक।

फिरोज—पहले पहल भावप्रकाश में ही इस रोग का उल्लेख दिखाई पड़ता है और किसी प्राचीन वैद्यक ग्रंथ में नहीं है। भावप्रकाश में लिखा है कि फिरंग नाम के देश में यह रोग बहुत होता है इससे इसका नाम फिरंग है। यह भी स्पष्ट कहा गया है कि फिरंग रोग फिरंगी-स्त्री को साथ संभोग करने से हो जाता है। इस रोग के तीन भेद किये हैं—वाह्य फिरंग, आभ्यन्तर फिरंग और चहिर तर्भव फिरंग। वाह्य फिरंग विस्फोटक के समान शरीर में फूट फूट कर निकलता है और घाव या द्रव्य हो जाते हैं। यह सुखसाध्य है। आभ्यन्तर फिरंग में संधि स्थानों में आमवात के समान शोथ और वेदना होती है। यह कष्टसाध्य है। चहिर तर्भव फिरंग एक प्रकार असाध्य है।

फिरंगवात-कंग पु० [दि० + सं० वत] वातत्र फिरंग । दे०
"फिरंग (१)" ।

फिरंगी-वि० [दि० + गि] (१) फिरंग देश में जन्म । (२)
फिरंग देश में रहनेवाला । गोता । (३) फिरंग देश का ।
कंग पु० [सं० फिरंग] फिरंग देश वासी । युरोपियन ।
३०—दरारी कमी और फिरंगी । बड़ बड़ युवा और तेहि
लगी ।—जायसी ।

कंग ३०—विमलवती तलवार । युरोप देश की बनी तलवार ।
३०—चमकती चमकान, केसत फिरंग में भट, इंद्र की चम
कत धीरे धमकाई ।—गुप्त ।

फिरंट-वि० [दि० + गि] (१) फिरा हुआ । विरुद्ध ।
सिद्धांत । (२) विरुद्ध हुआ । विरोध या झड़प पर
उत्पन्न । जैसे, दात ही बात में यह मुकसे फिरंट हो गया ।
फिर० प्र०—होना ।

फिर-कि० वि० [दि० + गि] (१) जिसका एक समय हो चुका
है वैसा ही दूसरे समय की । एक बात और । दोबारा ।
हुना । जैसे, इस बार तो धोड़ देता हूँ, फिर ऐसा काम
न करना । ३०—जैसे नयाव नहीं मुतदाव, खना फिर
आइया खेजम होरी ।—पद्माकर ।

फो०—फिर फिर आता है । कई हफ्ता । ३०—फिर फिर
बुझते, कहि कहा, बड़ी सोचोगान । कहा करत देखे कहा
बाधी । बड़ी बर्तौ जात ? ।—विहारी ।

(२) जाने किसी दूसरे वक्त । भविष्य में किसी समय ।
और वक्त । जैसे, इस समय नहीं दे फिर से जाना ।
(३) कोई बात दो बारों पर । पीछे । अनेक । बराबर ।
बार में । जैसे, (क) फिर क्या हुआ ? (ख) जलसज
से फिर कहा जाओगे ? ३०—मोहा मारा फिर शिवी से
हाथ न लगी कमान ।—कबीर । (४) तब । तब जबलगा
में । वन हाटन में । जैसे, (क) जग भी धोड़ हो कि
देतो कैसा आनंदता है । (ख) रहता काम विकल
जायगा फिर से बड़ दिग्गि से जान न करेगा । ३०—मुगली
पुत्र और गुटे पुत्र में फिर बहनु राखन सेत नहीं ।—
दलमान । तुम मुगलपुत्र-गिरिह दितकारी । उतर दे
किर धनुषि मारी ।—गुप्त ।

मुहा०—फिर क्या है ? अटक कब पुनः है । तब तो दिग्गि
का ही जग हो रहो है । जग ही कीर पड़ना ही पड़ो है ।
हाथ से सब पत धरि बहने दे ।

(३) दोष दोष में जाने बहकर । और बहकर ।
जाने और बुरी पर । जैसे, सब बात को जाने फिर क्या
है ? (४) इसके अतिरिक्त । इसके सिवाय । जैसे, बारी
जाकर जो किसी काम का काम न छोटता, फिर क्या भी
हो है कि बड़ प्रसन्न हो न जाय ।

फिरका-कंग पु० [दि० + कंग] एक प्रकार की सूदी गान्नी
जिस पर गाँव के लोग पीतों से । लाइका हवा बपर से
जाते हैं (इलेक्ट्रिक) ।

फिरकाना-कि० व० [दि० + कंग] (१) फिरकाना । भाषना ।
(२) किसी मोन वस्तु का एक ही स्थान पर घूमना । लट्ठ
की तरह घूमना या चकराना ।

फिरका-कंग पु० [व०] (१) जाति । (२) जापा । (३) पैर ।
संवाद ।

फिरकी-कंग पु० [दि० + कंग] (१) यह मोन या चक्राकम
परायें जो पीर की कीर्ती को एक स्थान पर रिकाम घूमना
हो । (२) लट्ठों का एक गिरीना जिनमें से लवाते हैं ।
फिरकी । (३) चकई नाम का गिरीना । ३०—मई
लगनि कुल की सजुषि विरुद्ध मई चक्राकम । बड़े और
पैची फिर फिरकी की दिन जाय ।—विहारी । (४)
चमड़े का मोड़ टुकड़ा जो तब में जगाम बांधे में
लगाना जाता है । बांधे में अब लूग कानते हैं तब हमने
लखने को हली के दूसरे पार लपेटने हैं । (५) टकरी,
पातु या बहनु के निचके धारि का मोड़ टुकड़ा जो लंगा
बढे क लकवे की नीचे लगा रहता है । (६) मादलीन की
एक कमान जिनमें फिर के हाथ ने मादलीन लपेटने हैं
हरी और लड़न मुकानर फुली में । दूसरे हाथ के कंग पर
मादलीन से लपेटे हुए गजान काते हैं ।

फो०—फिरकी का लकीरग जगसलप ही एक कमान ।
हमें एक हथ चमकी कमान के लप से उठाया हो लगी
हैं और हथे हथ में कमान में लपसल बढते हैं
और फिर तेनी हाथों की जलकरो से गेड कोते हैं ।
हथे पीछे फिर का हथ कमर पर होया है हली और
तिर और सब पड़ को पुत्र बर गि से नीचे की और लपकी
हुत जगाम में सज का हथका कानते हैं । फिरकी हथ एक
प्रकार की कमान या बंड जिनमें हथ लपे मगन देते हैं हली
की जग कर देते हली के पीर में फिर देकर कमान के लपसल
हाथ उठके फिर कमान लपकर फिर लपने में लपते हैं फिर
बर्तौ का जाते हैं ।

(२) कुली या एक पैर । जब लपने के दोने हाथ लड़न
पर हो कमान एक हाथ लड़न पर और एक लपसल बर हो
तब एक हाथ लपने की लड़न पर लप कर दूसरे हाथ से
हमने लपसल हो बढते पीर जग मगने पीर हो हथ
बारी कीत जाकर गिया है ।

फिरका-कंग पु० [दि० + कंग] (१) कमान ।
(२) कभीना । जैसे, हली की फिरकी ।
दि० कमान । औरना हुआ । जैसे, फिरा हुआ मात
बरी सिगा होना है ।

कि० प्र०—हाना ।—होना ।

फिरना—कि० प्र० [हि० फेरना का प्रकृत रूप] (१) इधर उधर चलना । कभी इत ओर कभी उस ओर गमन करना । इधर उधर डोलना । ऐसा चलना जिसकी कोई एक निश्चित दिशा न रहे । भ्रमण करना । जैसे, (क) यह पूरा मैं दिन भा फिरा करता हूँ । (ख) यह बंदा इन्ट्रा कामे के लिए फिर रहा है । २०—(क) रोह बगुनी जाहि घर देखत फिस्त से रोह । विष आरहिं चष रहति तोहि चंवन नयन डोह ।—जायसी । (ख) मुरित निगिर रविहर भव वारी । फिरिहं रग निमि जीव दुखारी ।—तुलसी । (ग) फिरत सनेह समान सुख अपने । नाम प्रताप सोच नहिं सपने ।—तुलसी । (२) टहलना । विवरना । सैर करना । जैसे, संध्या को इधर उधर फिर आधा करो ।

यो०—भूमना फिरना ।

(३) चकर लगाना । बार बार को घमाना । बटु की तरह एक ही स्थान पर घूमना अथवा मंडल बांधकर परिधि के किनारे घूमना । नाचना या परिक्रमण करना । जैसे, लट्टू का फिरना, घर के चारों ओर फिरना । ३०—(क) फिस्त नीर मेगन लख पाका । जैसे फिरि कुम्हार के धाका ।—जायसी । (ख) फिरि पाँच कोतवाल से फेरि । बरि पाँच बपत यह पैरी ।—जायसी । (४) पैठा जाना । भरोड़ा जाना । जैसे, ताछी किसी ओर को फिाती ही नहीं है । (२) खीटना । पलटना । वापस होना । अहाँ से चले ये डली ओर को चलना । प्रत्यावर्तित होना । जैसे, (क) ये घर पर मित्रे नहीं मैं तुरंत फिरा । (ख) आगे मत जाओ घर फिर जाओ । ४०—(क) काय जनमपत्री को लिखी । देय असीस फिरि ज्योतिषी ।—जायसी । (ख) पुनि पुनि विनय कहहिं का जौरी । जे यहि माग करिय पहेरी । दारसन देव जानि निर दासी । लखी सीय सय प्रेमधियासी ।—तुलसी । (ग) अपने धाम फिरि सय दौक जानि आई कछु सकि । बरि दंबवत पासि पद प्रापि के रई उपवन मरि ।—सूर ।

संयो० कि०—हाना ।—जाना ।—पड़ना ।

(६) किसी मोड़ ली हुई वस्तु का अस्वीकृत होकर बचेनेवाले को फिर दे दिया जाना । वापस होना । जैसे, जब सौदा हो गया तब चीज नहीं फिर सकती ।

संयो० कि०—जाना ।

(७) एक ही स्थान पर रहकर स्थिति बदलना । सामना दूसरी तरफ हो जाना । जैसे, चक्का लगने से मूर्ति का मुँह उधर फिर गया ।

संयो० कि०—जाना ।

(८) किसी ओर भावे हुए दूसरी ओर चल पड़ना ।

मुड़ना । घूमना । चलने में रुक पड़ना । जैसे, कुछ दूर सीधी गली में जाकर मंदिर की ओर फिर जाना ।

संयो० कि०—जाना ।

मुहा०—किसी ओर फिरना=प्रवृत्त होना । झुटना । मायज होना । जैसे, उसका क्या निधर को उधर फिर जाता है । ४०—जसि मति फिरि बहइ जसि भावी ।—तुलसी । जी फिरना=चिप न प्रवृत्त रहना । उचट जाना । हट जाना । विरक्त हो जाना ।

(९) विपद् हो पड़ना । खिटाप हो जाना । विरोध पर बचन होना । लड़ने या मुकाबला करने के लिए तैयार हो जाना । जैसे, बात ही बात में यह मुझसे फिर गया ।

मुहा०—(किसी पर) फिर पड़ना=विपद् होना । मुद्द होना । विगड़ना ।

(१०) ओर का ओर होना । परिवर्तित होना । बदल जाना । झटका होना । विपरीत होना । जैसे, मति फिरना । ४०—काल पाइ फिस्ति दसा, दयालु । सय ही की, तोहि बिनु मोहिं कहुँ न कोइ बहैगो । बचन, काम दिय कहैं राम सोई किए तुलसी पै नाथ को निवाहे नियहैगो ।—तुलसी ।

संयो० कि०—जाना ।

मुहा०—सिर फिरना=शुद्धि भ्रष्ट होना । उन्माद होना ।

(११) बात पर टक न रहना । प्रतिज्ञा आदि से विचलित होना । हटना । जैसे, बचन से फिरना, कौल से फिरना ।

संयो० कि०—जाना ।

(१२) सीपी वस्तु का किसी ओर मुड़ना । झुकना । टेढ़ा होना । जैसे, इस फावड़े की चार फिर गई है ।

संयो० कि०—जाना ।

(१३) चारों ओर प्रचारित होना । घोषित होना । जारी होना । सबके पास पहुँचाया जाना । जैसे, गरती चिट्ठी फिरना, दुहाई फिरना । ४०—(क) नगर फिरि । श्रुमीर दुहाई ।—तुलसी । (ख) यह ज्योवार फिरि लैखानी । फिर अरगत कुहुहुँ आनी ।—जायसी । (१४) किसी वस्तु के ऊपर पोता जाना । सीप या पोतकर फैलाया जाना । चढ़ाया जाना । जैसे, दीवार पर रंग फिरना, जूते पर खादी फिरना । (१५) यहाँ से वहाँ तक स्पर्श करते हुए जाना । रखा जाना ।

फिरना—संज्ञा पुं० [हि० फेरना] (१) सोने का एक आभूषण जो गले में पहना जाता है । (२) सोने की झंगुली जो तार को कई-करो लपेटकर बनाई गई हो ।

फिरवाना—कि० सं० [हि० 'फेराना' का प्र०] फेराने का काम कराना । कि० सं० [हि० 'फिराना' का प्र०] फिराने का काम कराना ।

फिराक—संज्ञा पुं० [४०] (१) विषयोः विच्छेद । (२) चिंता । मोच । छटका । (३) छोड़ । छोड़ना ।

मुहा०—फिराक में रहना = गेज में रहना । फिर का लता में रहना ।

फिराता-दि० सं० [दि० फिना] (१) दूसर उबर चलाना । कभी इस ओर कभी इस ओर से जाना । दूसर उबर हलाना । ऐसा चलाना कि कोई एक निश्चिन्त दिशा न रहे । (२) बदलना । मर बनाना । जैसे, जाओ, इसे बाहर फिना लाओ । (३) पका देना । बार बार करे फिराना । लट्ठ की साह एक ही स्थान पर घुमाया कथवा मंडल का परिधि के किनारे घुमाना । गधाना या परिक्लमण कराना । जैसे, लट्ठ फिराना, मंदिर के चारों ओर फिराना । ३०—(६) फिर लाम बोदिन तहँ चाहै । जस कुहार धरि बाक फिराई ।—भायसी । (७) हस्ति पाँच ओ भागे चाहै । ते बीसह धरि चूँड़ फिरावै ।—भायसी ।

संयो० फि०—हालना ।—देना ।—लेना ।

(१) घुमाना । मोड़ना । जैसे, ताड़ी बघर को फिनाओ । ३०—अधू गलामा हार पर हाड़ी हरि बसो मेहु बघाय । इन नहिँ मान्योसमुत्त भावो पकावो घुँव फिराय ।—मूर । (२) घाटाना । चलाना । ३०—गुम भागवण मल कहावन । काहे को तुम मोहिँ फिनावन ।—मूर । (३) एक ही स्थान पर लटक स्थिति रहना । सामान एक ओर से घूमती ओर करना । ३० “फेला” । ३०—गुल फिनाव मन बरने हीना । चलत न गिरिवा कर गुग हीना ।—भायसी ।

संयो० फि०—देना ।—लेना ।

(१) किसी ओर जाते हुए का दूसरी ओर चला देना । घुमाना । ३० “फेला” । (२) घाट का ओर करना । परिवर्तन करना । बदल देना । ३० “फेला” । (३) बात पर हड़ न हाने देना । निश्चिन्त करना । ३० “फेला” । फिराव-लैग पु० [व०] [दि० फिना] भागना । भाग जाना । मुहा०—फिरा होना = भागना । बात देना । फिराती-वि० [व०] (१) भागनेवाला । भगेरू । भगोड़ा । (२) बह घाटापी जो रूँड जाने के लय से भागता फिरता हो ।

फिरिदि०—दि० वि० ३० “फिर” ।

फिरियाद-लैग लो० [व० फीर] (१) बेदमायुषक काम । ओह हाथ । (२) दुहाई । भावेरु । दुहा । ३०—गुल में मुमिद का दिया गुल में खोली चाहै । कई खोली हा हाथ की ईमे खगे फिरियाद ।—कवी ।

फि० प्र०—करना ।—मचाना ।—होना ।—जाना ।—मोड़ना । फिरियादी-लैग लो० [व० फीर] (१) बीकाह करनेवाला । बरवा दुहा । सुनने के बिना दुहा करनेवाला । (२) बरबद करनेवाला । बरबद करनेवाला ।

फिरिदता-लैग पु० [व० फीर] देवदूत ।

फिरिदता-लैग पु० [दि० फिर] एक पक्षी का नाम जिसकी चूकी लास और पीठ सारे रंग की होती है ।

फिरिद्वी-लैग लो० [दि० फिर + वा (प्र०)] किसी नाम का विक्रीता जिसे बचने मचाते हैं ।

फिकर-लैग पु० ३० “फिका” ।

फिली-लैग लो० [देव०] (१) छोटे की लड़का एक दुहा जो सुनारों के कपड़े में गुल में लगाया जाता है । (२) पिं डछी ।

फिर-लैग [वु०] फिर । फिर । घुमायुक्त कथन ।

फिर-वि० [वु०] कुछ नहीं ।

फिरिय-जब कोई चाहती बड़ी तैयारी या मुनैदी में कोई काम करने चलता है और हमने नहीं हो सकना तब फिरिय रूप में वह बात कहा जाता है । जैसे, बहुत बहने ये कि वह करने वह करने पर तब फिरिय ।

मुहा०—टीव टीव फिरिय = टी टी बड़ी भूम पर कुछ कुछ नहीं किया हो जाना = ऐसा हो जग । त रह जाना । जैसे, हसाव फिर होना, मागला फिर होना ।

फिमही-वि० [वु० फिर] (१) जिसने कुछ करने चाले न बने । जिसका कुछ किया न हो । जो काम हाथ में लेकर उसे पूरा न कर सके । (२) जो काम में पीछे रहे । जो किसी बात में बह न सके ।

फिसकिसाना-दि० व० [वु० फिर] (१) फिर होना । (२) डीजा पड़ना । फिरि होना । ओर के लोच न चलना ।

फिसलल-लैग लो० [दि० फिरल] (१) फिसलने की क्रिया का भाव । फिसलाई के कारण न बाने वा हलने की क्रिया का भाव । ३० व० । (२) ऐसा स्थान जहाँ फिसलाई के कारण पैर या और कोई बस्तु न जग सके । फिसली जगह जहाँ पड़ने से कोई बस्तु न हलने, फाट जाय ।

फिसलना-दि० व० [लो० व० मच] (१) फिसलाई और लीमेचन के कारण पैर चारि वा न जगना । फिसलाई के कारण पैर चारि का न हल सकना, फाट जाना । ३० व० । विमजना । जैसे, बीकह में पैर फिसलना, लता पर उड़ी काई पर हाथी विमजना ।

संयो० फि०—जाना ।—पड़ना ।

(२) घूमना । घुमना । लो, फिर चलना लाम चलने हो बती और फिरि चलने हो ।

मुहा०—वी फिसलना = धन घूमना या फिरि होना ।

फि० फिर पर फिसल जाई । बहुत विमजना । जैसे, फिसलना बचत ।

फिसलाना-लैग लो० [दि० फिसल] किसी को ऐसा करना कि वह विमज जाय ।

फिहरिस्त-पंशा शी० [फा०] पृथी । धृषीपत्र । भीषक ।
फीचनाना-कि० ए० [चतु० किप् किप्] पछारना । कपड़े को
पटक कर साफ करना । धोना ।

फी-प्रथ० [य०] प्रति एक । हर एक । जैसे, (क) फी आदमी
हो जाने लगेंगे । (ख) फी रुपया दो आना खुद मिलता है ।

फीका-वि० [सं० फक्क, प्रा० फक्क] (१) स्वादहीन । सीडा ।
मीस । ये-गुणयुक्त । जो चखने में अच्छा न लगे । अरुचि-

कर । उ०—(क) साया तरवार त्रिविध का साल विषय
संग । शरीरलता सपने नहीं फल फीका तन साप ।—

कबीर । (ख) जो जल देता सोई फीका । साकर काह
साई फीका ।—जायसी । (ग) प्रभु यह प्रीति न सामक

नीकी । सिगहिई कया मुनि लागहि फीकी ।—तुलसी ।
(घ) देह मोह सनेह अपंग कमल लोचन प्यान । सुर उनको

मजन देखत फीके लागत ज्ञान ।—सूर । (२) जो चटकीला
न हो । जो रोस न हो । धूमला । मलिन । उ०—(क)

चलन नीति भग राम पग मोह निबाह भीक । तुलसी
परिहर सो बसन जो न पसारे फीक ।—तुलसी । (ख)

चट न झाड़त घटत हूँ सजग मोह गंभीर । फीके परे न
बह फड़े रंगों खोब रंग कीर ।—विहारी ।

कि० प्र०—काना ।—पकड़ना ।—होना ।
(१) पिना सेन का । कतिहीन । प्रभाहीन । बे-

रीनक । मंद । जैसे, चेहरा फीका पड़ना । उ०—हुलहा
हुलहिम मिलि गए फीकी परी बासत ।—कबीर । (४)

प्रभाहीन । व्यर्थ । निष्कल । उ०—(क) प्रभु तों कहत
सजुचाव हैं परी मिलि फिरि फीके । निकट मेलि बलि

वरजिये पतिहरि प्याल भव तुलसी दास अरु जीके ।—
तुलसी । (ख) गीकी इहें थनाकनी फीकी पड़ी गुहारि ।

सुनो सख्यो शरण विरद बारिक बारन तारि ।—विहारी ।
फीता-पंशा पु० [पूर्व०] (१) नेवार की चट्टी पञ्जी, घुल, आदि

जो किसी वस्तु को बपेटने या बाँधने के काम में आता है ।
उ०—पेलत धंग से पित्त चली ज्यों वैद्य रघुराज के प्रेम के

फीता ।—रघुराज । (२) पतला किनारा वा कोर ।
फीफती-पंशा शी० [फा०] (१) फीफती । एक प्रकार की खीर जो दूध

में चावट का थारीक आटा पकाकर बनाई जाती है । इसे
मुसलमान अधिक खाते हैं ।

फीरोजा-पंशा पु० [फा०] मि० सं० फेरज, फेरज । एक प्रकार का
नग या बहुमुख्य पायर जो हरापन लिए नीले रंग का

होता है ।
विशेष—इसमें अलमीनियम फास्फेट और कुछ सोहदे और

तमि का योग होता है । अच्छा फीरोजा फास्फ की पहाड़ियों
में होता है जहाँ से खन्य होता हुआ यह यूरोप गया ।

अमेरिका से भी फीरोजा बहुत आता है । उसकी गिनती
रत्नों में है और यह आभूषणों में गुड़ा जाता है । इसके
मोल के परपर पचीकारी में भी काम आते हैं । वैद्य लोग
इसका व्यवहार औषध के रूप में भी करते हैं । यह कसैला,
सीडा और दीपन कदा गया है ।

पर्या०—हरितारम । अरमाँ । वेरोज ।
फीरोजी-वि० [फा०] फीरोजे के रंग का । हरापन लिए बीजा ।

विशेष—इस रंग में कपड़ा इस प्रकार रंगा जाता है । पहले
कपड़े को तृत्तिये के पानी में रंगते हैं, फिर तृत्तिये से बेगुना

पूना मिले पानी में उसे धोकर देते हैं और फिर पानी में
नियारते हैं । यह क्रिया तीन बार करते हैं ।

फील-पंशा पु० [फा०] हाथी । उ०—फालरि झुलत झलत
मये फीलन पै अली प्रकवर ताँ के सुभट सराह के । करि

उर रोर खोर परत सँसार घोर बाजत नगारे नरवर नाह के ।
—गुमान ।

फीलखाना-पंशा पु० [फा०] हथियार । हस्तिखाना । वह घर
जहाँ हाथी बाँधा जाता हो ।

फीलपा-पंशा पु० [फा०] एक रोग जिसमें पैर फूल कर हाथी
के पैर की तरह हो जाता है । यह रोग शरीर के दूसरे अंगों

पर भी आक्रमण करता है ।
फीलपाया-पंशा पु० [फा०] (१) हँडे का बना हुआ मोटा खंभा

जिस पर छत डराई जाती है । इसे पीलपाया भी कहते
हैं । (२) दे० “फीलपा” ।

फीलवान-पंशा पु० [फा०] हाथीवान ।
फीली-पंशा शी० [सं० फिल] फिलि । घुड़ने के नीचे पड़ी तक

का भाग । उ०—सिंह की चाल चली डग कीली । रोबा
बहुत जाँघ और फीली ।—जायसी ।

फील्ड-पंशा पु० [सं०] (१) खेत । मैदान । (२) गंद खेजने
का मैदान ।

फीस-पंशा शी० [सं०] (१) कर । शुल्क । (२) मेहनताना ।
उज्रत । जैसे, डारदर की फीस, स्कूल की फीस ।

कि० प्र०—लगना ।
फुँकना-कि० ए० [हि० फुँकना] (१) फुँकने का अचमक रूप ।

(२) जलना । भस्म होना ।
संयो० कि०—जाना ।

(३) नष्ट होना । बरबाद होना । व्यर्थ लूट होना । जैसे,
इतना रुपया फुँक गया । (४) मुँह की हवा भरकर

निकाळा जाना ।
पंशा पु० (१) बॉन, पीतल आदि की नली जिसमें मुँह

की हवा भरकर भाग पर छोड़ते हैं । फुँकनी । (२)
प्राणियों के शरीर का वह अवयव जिसमें मूत्र रहता है ।
यह पेड़ के पास होता है ।

फुंकनी-मंगला शो० [दि० ईश्वर] (१) नली शिममें सुंदर हवा भाकर माग पर इयच्छि पोड़ने ई शिममें वह दृष्ट माय । (२) मागी ।

फुंकना-दि० प्र० [दि० ईश्वर] फुंकार पोड़ना । फुं फुं शब्द करना । सुई में हवा पोड़ना । उ०—(क) उप पखे मान बाण्ड । फुंकारत भुव दनु ब्याल ।—गुजराती । (ग) कई पचाकर सो फुंकारत फुंकारत, कंडल फुंकारत फाल बधिन कलका में —पराका ।

फुंकना-दि० प्र० [दि० 'ईश्वर' का प्र०] (१) फुंकारने का काम करना । (२) सुई से हवा का झोंका निकलवाना । (३) जलवाना । मसम करवाना ।

फुंकना-दि० प्र० [दि० 'फुंकना' का प्र०] फुंकारने का काम करना ।

फुंकार-मंगला शो० [प्र०] बीर बैठ सादि के सुई या नाक के नथनों से बलपूर्वक वायु के बाहर निकलने से बनने शब्द । फुंकार । उ०—तुम गाढ़ बाण्ड धादि भुमना ब्यामि मेरी जागिह । बीग कातो मुय विहारी दृष्टि परे रोहि जागिह ।.....सब धार भागे गाह जगावे मानो छुरी हाथिगो । सहस कन फुंकार धादि भाई काखी नाथिरी —छुर ।

फुंदा-मंगला शो० [दि० ईश्वर + वंद] (१) फुंदा के बाका की गांठ जो वेद, इत्यादि, बोरी बांधने या धोती बनने की होती, बाजार धादि के धोरे पर सोमा के छिद्र बनाते हैं । फुंदा । धरा । उ०—इरी सो भूम नवन मरुगामी । लागी वरी बागु बहिरामी । भीने लागि सुव बरमुंदन । भीने भीर कमल निर मुंदन ।—जायसी । (२) लताश की छंडी के बीच की लसी की गांठ । (३) बोड़ की छोटी के धोरे पर की गांठ ।

फुंदा-मंगला शो० [दि० वंदा] फुंदा । गांठ । उ०—झोली ब्याम मजीन गरी दुवि रीगही फुंदा फुंदा की विगार । री—देव ।

फुंती-मंगला शो० [दि० वंदनिय, वं वं वं] धोती छोड़ना । धो०—मोहरा फुंती ।

फुंतापा-मंगला शो० वं० 'फुंतापा' ।

फुंकना-दि० प्र० दे० 'फुंकना' ।

फुंका प्र० दे० 'फुंका' ।

फुंकना-दि० प्र० दे० 'फुंकना' ।

फुंकार-मंगला शो० [दि० वंदा] फुंकार । धोती, बांधी, बांधी धादि

कुछी दुरी बगलों में बाहर निकलना हुआ धुन का देना ।

झीने, माग में जो जगद जगद फुंकारे निकले हैं जने

केरी के बाहर हो ।

दि० प्र०—विहारा ।

फुंदा-दि० [दि० वंदा] (१) शिमका जोड़ा न हो । धुमन । पहाकी । बंधेला । (२) जो लताग में न हो । जो किरी मिटमिटे में न हो । शिमका रोदेय किरी बस का पारना में न हो । धुवक । चालना ।

कंठा प्र० [दि० वंदा] धावन-विहारा का एक धोती जो माग । कंठाई कोड़ाई मापने की एक माप जो १२ ईंच का १२ औं के दोराव होती है ।

फुंदा-दि० [दि० वंदा + वंदा = (प्र०)] (१) धुमन ।

विहारा । धुंदा । शिमका जोड़ा न हो । पहाकी । बंधेला ।

(२) चालना । धुवक । जो लताग में न हो । शिमका रोदेय किरी बस का पारना के साथ न हो । शिमका

कोई मिटमिटा न हो । झीने, फुंकार बधिया । (३)

शिम बध । कई प्रकार का । कई मोड़ का । (४) लता

गंज । धोड़ा । धोड़ा । इकट्ठा नहीं । धोड़ का इकट्ठा ।

झीने, (१) वह फुंदा की सीढ़ी बनना । (२) बीर इकट्ठा किया की फुंदा के छेदे में टीक गयी रहना ।

फुंदा-दि० दे० 'फुंदा' ।

फुंदा-मंगला शो० [दि० वंदा] (१) फुंदा । धागा ।

बाण्ड ।

दि० प्र०—वदना ।

(२) धाग, मरदे, जग सादि का जग ।

कंठा प्र० [दि० वंदा] वह कंठा शिममें लगे का लता

वदना है ।

फुंदा-मंगला शो० [दि० वंदा] (१) शिमका धुन के सोड़े लपेटे

का जमे हुए बस जो मानी, धुन सादि में बसम बरंग

दिगाई बरने हैं । बहुत धोरी धोरी । झीने, (२) धुन

कट गया है, बगमें फुंदाधोरी ली दिगाई वधुरी है । (३)

धुने हुए बेसन की फुंदाधोरी । (४) धुन, धीर सादि का

धीर जो धिनी बगु (झीने, मज, धुन सादि) में

दिगाई दे । (५) वद प्रवरा की लोरी विदिया । फुंदा ।

फुंदा-मंगला शो० [दि० वंदा] वह शिमकी की धिनी धोव का

धुनक के धुन में धोव की धोरी की धोरी है ।

फुंदा-मंगला शो० [दि० वंदा] (१) धागों में लता की धोरी

पर का वद माग शिमका मजुल पिरन बरने हैं ।

(२) धागधोरी ।

फुंदा-मंगला शो० [दि० वंदा] धाग धोरे जिने धी की धोव में

बनाना वर सोने हैं ।

फुंदा-मंगला शो० [दि० वंदा + वंदा वंदा] (१) धाग का धोरी

का धाग जो धुने में धोव मिट गया हो कि मिटका

धर गया हो । (२) धोव का धुनका हुआ धोव ।

फुंदा-दि० दे० 'फुंदा' ।

फुंदा-दि० दे० 'फुंदा' ।

कुट्टेल-वि० [सं० रुद्र, प्रा० कृत् + ऐङ् (प्रत्य०)] (१) कुँड या समूह से थलगा। चक्रेला रहनेवाला। (२) जितका जेहन हो। जो जेह से थलगा हो। (विशेषता जागवर्ण के लिए) वि० [हिं० कूटा] कूटे भाव का। अभागा। व०—स्वार्थ सब ईद्रिय समूह पर विहा भी। पचात। सदास घर पर की कुटेरी बैसे पीर अस।—चूर।

कुदकना-क्रि० प्र० [चनु०] (१) दबल बल पर दूना उठलना। (२) हर्ष से कूट जाना। उमंग में जाना। कूजे न समाना। कुदकी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कुदकना] एक छोटी चिटिया जो उल्ल बल कर दूदी हुई चलती है।

कुनंग-संज्ञा स्त्री० [सं० पुनङ्ग] वृष या शाला का अग्रभाग या अङ्गु। व०—पगार कोई दाबत की कुनंग पर जा चड़े..... तो भी काल नहीं पोरता।

कुन-कप्य० [सं० पुनः] फिर। पुनः।

कुनगी-संज्ञा स्त्री० [सं० पुनङ्ग] वृष चीर वृष की शालाओं का अग्रभाग। कुनंग। अङ्गु।

कुनना-संज्ञा पुं० दे० "कुदना"।

कुपकुस-संज्ञा पुं० [सं०] केकड़ा।

कुफंदी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कुफ + फंद] लहंगे के इज़ारबंद या बिचों की पोती कसने की डोरी की गाँठ जो कमर पर सामने की ओर रहती है और जिसके छींचने से लहंगा या पोती खुल जाती है। नीची। व०—चांगी बसे बकरी कुप ऊँचे है है हुलसै कुफंदीन की कुँदें।—देव।

कुफकारना-क्रि० प्र० [चनु०] कुफकारना। व०—सोच करि जो लों एक फन कुफकारे काबी, हाँ लों बनमाबी सोक फन पै फित है।—पद्माकर।

कुफकार-संज्ञा पुं० [चनु०] कुँक जो साँव मुँद से निकलता है। साँव के मुँद से निकली हुई हवाका शब्द। कुँकार। कूकार।

कुफकारना-क्रि० प्र० [हिं० कुफकार] साँव का मुँद से कुँक निकलना। मुँद से हवा निकालकर शब्द करना। कूकार करना। जैसे, साँव का कुफकारना।

कुफरी-संज्ञा स्त्री० दे० "कूफरी"।

कुफुनी-संज्ञा स्त्री० दे० "कुफुनी"।

कुफु-संज्ञा स्त्री० दे० "कूफरी"।

कुफोपा-वि० [हिं० कुफा + पा] [स्त्री० कुफेरी] कुफा से उत्पन्न। जैसे, कुफोपा भाई, कुफेरी पहिन।

कुटी-वि० [हिं० कुरना] सार। सच्चा। व०—(क) यह सँदेस कुर मानि के लोन्दा शीस चढ़ाय। सँते है सँतेप सुख रहहु तो हदय बुझाय।—कबीर। (ख) सुविन सुमंगल-दायक सोई। पोर कहा कुर जेहि दिन होई।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [चनु०] उड़ने में पौरों का शब्द। पंख कड़कड़ाने की आवाज। जैसे, चिटिया कुर से बड़ गई।

विशेष—"चट" "वट" आदि अनु० शब्दों के समान यह भी 'से' विभक्ति के साथ ही आता है।

कुरकना-क्रि० प्र० [चनु०] जुलाही की पोती में किसी पस्तु को मुँद में चबा कर साँस के जोर से धूना।

कुरकाना-क्रि० प्र० दे० "कड़काना"।

कुरती-संज्ञा स्त्री० [सं० कुरति = कुरति] शीपूता। वेसी। व०—द्विदि करि मोप मधुपुरी चायो..... लख्यो बलराम यह सुमट बड़ है कोक हल सुसल राख अपनो लभार्यो। द्विदि लै बाल को वृच समुल मयो कुरति करि राम तनु कँकि मार्यो।—चूर।

कुरतीला-वि० [हिं० कुरती + ला] [स्त्री० कुरतीकी] जिसमें कुरती हो। जो सुस्त न हो। जो काम में दिवाँह न करे। तेज।

कुरना-क्रि० प्र० [सं० कुराव, प्रा० कुराव] (१) स्फुटित होना। निकलना। उद्भूत होना। प्रगट होना। उदय होना। व०—(क) लोग जागै बीरो भयो गयो यह कापी पुरी कुरी मति भति आवे जहाँ हरि गाव्ये।—प्रिया०।

(ख) मील बलिन श्याम, सोमर अगलित काम, पावन इदय बेहि वर कुरति।—तुलसी। (२) प्रगलित होना। चमक उठना। चमक पड़ना। व०—आधी रात बीली सब तोरे निव जाग घान राचसी प्रभञ्जनी प्रभाव सो जगभये है। बीली सी कुरी भति बुरी हाय बुरी कोह-बुरी कीटि बुरी देखि भगद लजाये है।—हनुमान। (३) कड़कना। कड़कड़ाना। हिलना। व०—(क) बयो न धनु अनु चीर विगत मदि कियँ कहु सुमटदुरे। रोपे लपन विकट भुङ्गुरी करि भुम अरु अथर कुरे।—तुलसी। (ख) अजहुँ अथराय त जानकी की भुम बाम कुरे मिछि लोपन लै।—हनुमान। (४) स्फुटित होना। उघरित होना। मुँद से शब्द निकलना। व०—(क) हगमें के घृषभाजु कियोतो..... चूर सोच सुख करि भरि लोचन अंतर प्रीति न थोरी। सिधिल गात मुख बधन कुरति महिँ हूँ जो गई मति भोरी।—चूर। (ख) ठि के मिले, तंडुल हरि कीन्हें मोहन बचन कुरे। सुरदास स्वामी की महिमा ठारी माहिँ टरे।—चूर। (५) पूरा उतरना। सत्य उठरना। ठीक निकलना। जैसा सोचा समझा या कहा गया या वैसा ही होना। व०—कुरी तुम्हारी पात कही जो मैं लें रही बन्दाई।—चूर। (६) प्रभाव उत्पन्न करना। असर करना। लगना। व०—(क) कुरे न यंत्र मंत्र नहिँ लग्य चले गुथी गुल हारे। प्रेम प्रीति की म्यथा सत वतु सो मोहिँ डारति मारे।—चूर। (ख) यंत्र न कुरत मंत्र नहिँ लग्यत प्रीति सिरानी जाति।—चूर। (७) सफल होना। सोचा हुआ परिणाम उत्पन्न करना। व०—कुरे न वधु वधोगे तईँ उपजै अति मन सोच।—पद्माकर।

कुरुट्ट-संज्ञा शी० [५३०] (१) इने में पत्तों की काफ़ाइट में शयन शब्द। ऐसी का शब्द। (२) पर भादि की राग से उगम शब्द।

कुरुट्टाणा-कि० च० [५३० ७७३] (१) 'कुरा कुरा' करना। इष्ट परों का शब्द करना। जैसे, चिड़ियों का चमकीली का कुराकुराता। (२) किसी इष्टरी सेरी यन्त्र (जैसे, रोपे, बाज भादि) का दबा में हवा उतर दिलाता। इसकी यन्त्र का उदाहरण।

कि० सं० (१) पर या चीर कोई इन्की यन्त्र दिलाता जिससे कुराकुरा शब्द हो। जैसे, पर कुराकुराता। (२) काम में इष्ट की कुरी फिताता। जैसे, काम में सुखी है तो कुरी बाजकर कुराकुराओ।

कुरुट्टाहट-संज्ञा शी० [५३०] 'कुराकुरा' शब्द होने का भाव। पर कुरुट्टाहट का भाव।

कुरुट्टुरी-संज्ञा शी० [५३० ७७३] 'कुराकुरा' शब्द होने का भाव। पर कुरुट्टाहट का भाव। उ०—नामा के श्री में धर्म के की चिड़िया के फिर कुराकुरी की।—सिक्कहाट्ट।

मुहा०—कुराकुरी सेना = इष्टके लिये रथ दिलाता।

कुरुट्टाम-संज्ञा पु० [५३० कामन] (१) राजाता। अनुवाचक-पत्र। (२) मानपत्र। समद। (३) बाजों। बाजंग। उ०—मंगल शक्ति भादि का सुविधा सेना सुमान। वही कवीर मुक्त मानन समद का कुरुट्टाम।—कवीर।

कुरुट्टामा-कि० सं० [५३० कामन] करना। बाजा देना। दे० 'कुरुट्टामा'। उ०—नाम भदि होना। भाव बसाई। कुरु विमलितुह किन कुरुट्टामा।—कवीर।

कुरुट्टात-संज्ञा शी० [५३०] (१) चयन। समद। (२) नाम में कोई काम न होने की भाति। किसी काम में न मने इने की चयनता। काम से चयनता का वादी होने की शब्द। चयनता। चिड़िया। सुदी। जैसे, हवा चयन कुरुट्टात करी है नारी चयन भाव।

कि० प्र०—देना।—बाज।—मिलना।—देना।

मुहा०—कुराण बाजा = देरी से कुरुट्टा। बाजना होना। (अ) उ०। बाजना से उ० की वक्त में। वही चयन। चिड़िया कुरी के। जैसे, चयन से बाजो, कि कुराण से चयनता।

(३) कीमती के कुरुट्टात। गीत से मुक्ति। चयन।

कुरुट्टाहट-कि० च० [५३० ७७३] कुरीय होना। चिड़कना। कुरुट्टाहट होना। उ०—कुराहट की वही कुरुट्टाहट। गवा बाज कर कुरुट्टाहट।—बाजनी।

कुरुट्टरी-संज्ञा शी० [५३०] (१) पर को कुरुट्टाहट कुरुट्टाहट। उ०—नाम शब्द कुरुट्टरी भाई। जो या रथ रथ शब्द भाई।—बाजनी।

कि० प्र० जाना।—देना।

(२) कुरुट्टाहट। कुरुट्टाहट का भाव। कुरुट्टाहट। उ०—बाजि बाजि नाम बाहु कुरुट्टरी सेना भादि, बाजि मुने मैन सर कोट्टे—देव।

कि० प्र०—जाना।—देना।

(३) कुरुट्टाहट के दबा में चिड़ने की शिवा का शब्द कुरुट्टाहट। (४) कुरुट्टरी। कुरुट्टरी। कुरुट्टरी। उ०—'कुरुट्टरी' उ०—'नदि' कुरुट्टाहट भादि भाव पर कि चिड़ने से कि छीर। बाजि कुरुट्टरी के चिड़ि चिड़ि भादि य मौर।—बाजनी।

मुहा०—कुरुट्टरी सेना = कुरुट्टाहट। बाजनी।

(४) दे० 'कुरुट्टरी'।

कुरुट्टाणा-कि० सं० [५३० ७७३] (१) मरणा उदाहरण। उ०—मरणा। (२) मरणादि करना।

कि० च० दे० 'कुरुट्टा'।

कुरुट्टरी-संज्ञा शी० [५३० ७७३] (१) गीत जिसके विदे पर इन्की इष्ट मनेरी हो, चीर को चयन, हवा, दबा भादि में हवा कर काम में जाई भाव। (२) सारी, मय भादि के बाज बाजहाट्ट होना और रींगे सारे होना। रींगे मुक्त रूप।

मुहा०—कुरुट्टरी जाना = कुरुट्टरी होना। सारी, उ०—बाजि के चयन रींगे होना। कुरुट्टरी सेना = (३) सारी, मय भादि के बाज बाजना। कुरुट्टरी के बाज रींगे सारे चयन। बाजनी। उ०—'नदि' कुरुट्टाहट भादि भाव पर कि चिड़ने से कि छीर। बाजि कुरुट्टरी के चिड़ि, चिड़ि भादि चयन मौर।—बाजनी। (४) चयनता। कुरुट्टाहट। दिलाता। उ०—बाजि बाजि नाम बाहु कुरुट्टरी सेना, बाजि बाजि मैन सर कोट्टे—देव। (५) देवियार देव। दे०—देव। दबा करी रींगे चयन।

कुरुट्टी-संज्ञा शी० दे० 'कुरुट्टरी'।

कुरुट्टाहट-संज्ञा शी० दे० 'कुरुट्टा'।

कुरुट्टाहट-संज्ञा पु० [५३० ७७३] (१) कुरुट्टाहट। बाजनी। उ०—मय चयन कर कुरुट्टाहट करि भाव। कुरुट्टाहट में भाव मुक्त भाव।—बाजनी। (२) इन्की चीर चयन रींगे की बाजनी। (३) दबा कोट्टे कुरुट्टाहट को चीर के बाजनी में काम बाजनी है।

कुरुट्टुरी-संज्ञा शी० [५३० ७७३] कीमती चिड़ कुरुट्टाहट की वक्त चयनता चिड़िया को कुरुट्टाहट कर कुरुट्टरी चिड़नी है। इन्की चयन चयन की चीर कुरुट्टाहट की होनी है जिसके पर कुरुट्टाहट भाव चयनी है। उ०—बाजनी मुक्त चीर। कुरुट्टरी। चयन मुक्त चयन कर कुरुट्टरी।—बाजनी।

कुरुट्टाहट-संज्ञा शी० [५३० ७७३] (१) दबा चयन की

घातघाती जिससे फूल की सी चिनगारियां निकलती हैं ।

४०—विहारी शशि तरङ्ग अनु फली । कंधों-रेन सुटे फुल-मरी ।—आपसी ।

क्रि० प्र०—रुटना ।—घोड़ना ।

(०) जहाँ रुई कोई ऐसी बात जिससे कुछ आदमियों में झगड़ा विवाद या और कोई अपवाद हो जाय । भाग लगावे-वाली बात ।

क्रि० प्र०—घोड़ना ।

फुलमरी—रंशा छी० दे० "फुलमरी" ।

फुलनी—रंशा छी० [हि० फूलना] एक बारहमासी घास जो माघ-ऊपर भूमि में होती है ।

फुलरा—रंशा पु० [हि० फूल] सुंदरा ।

फुलवर—रंशा पु० [हि० फूल + वार] एक कपड़ा जिसपर रेशम के बेल बूटे बुने या कटे होते हैं ।

फुलपार्श्व—रंशा छी० दे० "फुलपार्श्व" । ४०—(क) एक सच्ची सिय संग विहाई । गद्दरी देखन फुलपार्श्व ।—मुलसी । (ख) एक दिन शुकसुता मन भाई । देखी आप फूल फुलपार्श्व ।—सुर ।

फुलपाड़ी—रंशा छी० दे० "फुलपाड़ी" ।

फुलपाड़ी—रंशा छी० [हि० फूल + पारी] (१) पुष्पाटिका । बगान । बगीचा । ४०—(क) आपुहि भूल फूल फुलपाड़ी आपुहि सुनि सुनि लाई । कहीं कबीर तेई जन उबरे जेहिं हूँ विनो जगाई ।—कबीर । (ख) पुनि फुलपाड़ी लागि बहूँ पासा ।—एक पेपि बंदन भइ यासा ।—जायसी ।

(२) कागज के घने हुए फूल और बुझादि जो छोट पर लगा कर विवाह में शांत के साथ निकाहे जाते हैं ।

फुलसरा—रंशा पु० [हि० फूल + सरा] काले रंग की एक चिट्ठी जिसके सिर पर सफेद छूटि होते हैं ।

फुलसुई—रंशा छी० [हि० फूल + सूई] एक चिट्ठी । फुलसुई ।

फुलहारा—रंशा पु० [हि० फूल + हारा] [स्त्री० कुशारी] माड़ी । ४०—लोक फूल बैठ फुलहारी । पान धपूर धरे संगरी ।—जायसी ।

फुलारंग—रंशा पु० [हि० फूल + रंग] एक प्रकार की भांग ।

फुलार्द—रंशा छी० [हि० फूल] (१) दे० सरफुलाई । (२) सुखेदी । (३) एक प्रकार का बगूल जो पंजाब में सिंधु और सतलज नदियों के बीच की पहाड़ियों पर होता है । इसके पेड़ बहुत ऊँचे नहीं होते और विशेष कर खेतों की बाड़ों पर लगाए जाते हैं । इसकी जकड़ी मजबूत और दोस दोस की है और कोवह की जाट और पाण्डियों के पहिये आदि घनाने के काम में आती है । इससे एक प्रकार का गोंद निकलता है जो भीषण में काम आता है और मजदूरों का गोंद कहलाता है । फुलाह ।

फुलाना—हि० सं० [हि० फूलना] (१) किसी वस्तु के विस्तार या फैलाव को उसके भीतर वायु आदि का दबाव पहुँचा कर बढ़ाना । भीतर के दबाव से बाहर की ओर फैलाना । ४०—(क) दारपित रामपति पंग फुलाए ।—मुलसी ।

मुदा०—गुँह फुलाना या गाल फुलाना = मान करना । रिशाना । रुटना ।

(२) किसी को पुलकित या आनंदित कर देना । किसी में हृदय आनंद उत्पन्न करना कि यह आप के बाहर हो जाय । ४०—मुलसी अनित मछी मामिनि वरमों पहिराह फुलावों ।—मुलसी । (३) किसी में गर्व उत्पन्न करना । गर्वित करना । घमंड बढ़ाना । जैसे, मुझी ने तो तारीफ कर करके उसे और फुला दिया है । (४) कुसुमित करना । फूलों से युक्त करना । ४०—चावर है गेहूँ रहे कयों उरद है चाप । कहवँ मुदगर चिबुक तिल तरसों देव फुलाय ।—सुधारक ।

क्रि० सं० दे० "फूलना" ।

फुलायल—रंशा पु० दे० "फुलेल" ।

फुलाव—रंशा पु० [हि० फूलना] फूलने की क्रिया या भाव । फूलने की अवस्था । उभार या सूजन ।

फुलावट—रंशा छी० [हि० फूलना] फूलने की क्रिया या भाव । उभार या सूजन ।

फुलाया—रंशा पु० [हि० फूल] सियों के सिर के बालों को गूँथने की डोरी जिसमें फूल या कुँड़े लगे रहते हैं । सलुरा । फुलिंग—रंशा पु० [सं० रुक्मिण, प्रा० रुक्मिणी] चिनगारी । ४०—जोहल लगे अब पावक पुंज भी कुंज के फूल फुलिंग ज्यों लागे ।

फुलिया—रंशा छी० [हि० फूल] (१) किसी कील या छड़ के धाकर की वस्तु का फूल की तरह उभरा और फैला हुआ गोल सिरा । (२) कील या काँटा जिसका सिरा फूल की तरह फैला हुआ, गोल और मोटा हो । (३) एक प्रकार की लॉग (गहना) जो कान में पहनी जाती है ।

फुलिसकेप—रंशा पु० [सं० फूलसकेप] एक प्रकार का चिकना सफेद कागज जिसके भीतर हलकी लकीरें पड़ी रहती हैं । विशेष—यहलके इसके सफेद में मनुष्य के सिर का चित्र बना रहता या जिस पर मोकदार दोषी होती थी । इसी कारण इसे 'फूलस कैप' कहने लगे जिसका अर्थ वेबक की दोषी होता है । अब इस कागज में अनेक चित्र बनाए जाते हैं । इस कागज की साप १२ × १५ या १२½ × १६ इंच होती है ।

फुलुरिया—रंशा छी० [दे०] कपड़े का एक टुकड़ा जो छोटे बच्चों के वस्त्र के नीचे हसलिये विहाय वा रता जाता है कि उनका मल दूसरी जगह न लगे । गड़तरा ।

फुलेरा-पंथा पुं० [दि० पू०] कूट की पत्ती हुई लगती जो
देवताओं के ऊपर लगाई जाती है ।

फुलेरा-पंथा पुं० [दि० पू० + ठं०] (१) कूटों की मदक से
बासा हुआ गेठ जो मिट्टी में खाने के काम में आता है ।
मुंगपुष्प गेठ ।

फिलोप-निर को धोवन किरवा चलन कर देते हैं । जाने
कूटों की कसियां चुनकर विद्या दी जाती है और उसके
ऊपर गिरा दिया जाता है । गिरों के ऊपर फिर कूटों
की कसियां बिछाई जाती हैं । कसियों के गिरने पर
कूटों की मदक गिरों में आ जाती है । इस प्रकार कई
बार गिरों को कूटों की मद पर फैलाते हैं । जिनका ही
अधिक गिर कूटों में बासा जाता है उनकी ही अधिक
गुणवत्तम बनके लेज में होती है । इस प्रकार बाते हुए गिरों
को पेनकर कई प्रकार के लेज तैयार होते हैं; जैसे, चमेली
का लेज, बेल का लेज । गुलाब के लेज को गुलरोजन
बनते हैं । २०—(क) हर भारी लट्टे पूरी जामन पै, भीखी
जुलेजन नी, भाकी हरि गंग बेनि ।—सुर । (ग)
दे गंधी, जनिमंद गू कला दिमाकन कादि । बरि फुलेज
को बायमन मीठी बनन मनादि ।—विहारी ।

(२) एक पेड़ जो हिमालय पर कुमाऊँ में वासिखिंम
जग होता है । इसके फूल की गिरी खाई जाती है और
बसो लेज भी निकलता है जो गायुन और गोमयकी
बनाने के काम में आता है । लकड़ी हलके भूरे रंग की
होती है जिसकी मंज, बुराही कादि बनती है ।

फुलेरी-पंथा पुं० [दि० पू०] कसि का वह बहुत
बलम जिसमें फुलेरा रखा जाता है ।

फुलेहवा-पंथा पुं० [दि० पू० + व०] पुन, देवम कादि के
बने हुए मच्छेदार बंदगजर को जमनों में हार पर लगाए
जाते हैं । २०—प्रदीप वसि भवनी सुमंगलाभि मावती ।
शुभम वाम बागनी फुलेहवाभि मावती ।—वसुधा ।

फुलेरी-पंथा पुं० [दि० पू०] कूट कूटी । कूटी ।

फुलेरी-पंथा पुं० [दि० पू० + व०] जने का मटर कादि के
बेगन की बरी । बेगन की चढ़ी । २०—बाप, बरि,
जुली, मिथी । २०—बरी, बरि, बरी ।—सुर ।

फिलोप-नेशन को काली में गूद केदर उभे लोचने हुए ही
को लेज में भेड़ा भेड़ा करने आते हैं जिसमें कूट की
मद कर लेज गेठ की बन जाती है ।

फुलेरा-पंथा पुं० [दि० पू०] कूट कूटा । किरमिन ।

फुलेरा-पंथा पुं० [दि० पू० + व०] कूटों की मदक से
जिसे के प्रवेक काज से १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ की १०
की बरि मछु देगा है ।

फुलेरी-पंथा पुं० [दि० पू०] (१) कूटिका । (२) कूट के
साधारण का कोई सामान्य या उमका कोई भाग ।

फुलावा-पंथा पुं० दे० "फुलावा" ।

फुल-पंथा पुं० [पुं०] वह मछु जो मुँद में गाक काज
न निकले । फुल पीली बाबाव ।

मुहो-फुल से = बहुत कीने । चर्मत मर हा से । जेने, जे
बात होनी है वह उसके पास जाकर फुल में कह पाता है ।

फुलफारना-पंथा पुं० [दि० पू०] कूट काज । कूटा
होना । २०—देवी के वरग फुलफारत ही में मने गाम
को वृं वृंकारन गिल है ।—वसुधा ।

फुलड़ा-पंथा पुं० दे० "फुलड़ा" ।

फुलफुला-पंथा पुं० [दि० पू०, पुं० पू०] (१) जो हलके में
बहुत बरि पूर पूर हो जाय । जो बड़ा या बगला
म है । जाम । बीजा । (२) फुल से हुए जरीका । २०—
जेरा । (३) जो लीज न हो । मंदा । मंदिम । जैसे,
फुलफुला वंहा ।

फुलफुला-पंथा पुं० [पुं०] फुलफुल करना । फुला पीने
पीने कहना कि मछु मछु न हो । बहुत ही बरे हुए
पूर से बोलना ।

फुलफुला-पंथा पुं० [दि० पू०] (१) कूटों को जोत लपने
के बिंदु किसी प्रकार उनका धाग दूनी और के
जाना । फुलाकर कान और पुन रचना । फुलावा ।
जैसे, कूटों को फुलफुला मच बरी जानने । (२) फुल-
फुल करने के बिंदु मीठी मीठी बाने । बरना । किसी काम
के पद में या किसी मर प्रभु काम के बिंदु हुआ बरना
की बाने करना । फुलफुल की बाने करना । अकला देवा
भीया देवा । बरना । २०—मुदि की निहार बनु जादि
है न लई जाज ऐसी फुलफुल है, निहारि माद का ली ।

—वसुधा । (३) मीठी मीठी बाने । बरकर मछुल करना ।
हुवा जवर की बाने । बरके किसी मर प्रभुल करना ।
मुलाका देवा चपने मचक या जाना । जैसे, (४)
वह हमारे और को फुलफुल को लप । (५) हमारे कतिब में
मचकों को फुलफुल जिवा ।

फोपो० फि०—पंथा ।

(६) मचका । मछुल करने के बिंदु जिन मर निदीन
मचक करता । २०—राजा के वन मचकों के बरि दा
दा मचक मीनि फुलफुला मचमचका, बर । वन मचकों
मचकों ने राजा का कदमा म जाना ।—वसुधा ।

फुलरा-पंथा पुं० [दि० पू०] कूट के पद फुल पदी का हल
व फुलावा । (१) काली का मरीन पीला । मचक । (२)
मरीन पीले की मछु । मीठी । २०—सुर । फुलरा को
बरा मीठ मरीन फुल के मचको ।—मि० ।

कि० प्र०—पढ़ना ।

फुहारा—संज्ञा पु० [दि० फुहार] (१) जल का महीन छिंटो ।

(२) जल की वह चौड़ी जिसमें से दबाव के कारण जल की महीन धारा या छिंटि वेग से ऊपर की ओर उठकर गिरा करते हैं । जल के छिंटि देनेवाला यंत्र । जलप्रेर । ३०—फहरें फुहारे, नीर गहरें नदी सी बहें, फहरें धुंधली घाम बौटिन की छिंटि है ।—पद्माकर ।

फुहरी—संज्ञा स्त्री० [दि० फुहार] (१) पानी का महीन छिंटो । सूक्ष्म जलकण । (२) महीन महीन सूँघों की कड़ी । मौली । ३०—(क) मुर धरसन सुमन सुदेस मानो मेघ फुड़ी । मुरमंचिन रोती रंग सेंदुर मोग फुड़ी ।—सूर । (ख) फुकि भरे जोग पूरे पराग, परै रसरूप की पाप फुड़ी सी ।

फूँक—संज्ञा स्त्री० [फु० फूँक] (१) मुँह के थोरे कर वेग के साथ छोड़ी हुई हवा । यह हवा जो ओठों को चारों ओर से दबा कर मोंक से निकाली जाय । जैसे, वह हलना हुबला-पनला है कि फूँक से बड़ सकता है ।

मुहा०—फूँक मारना=जोर से मुँह की हवा छोड़ना । जैसे, चात दहकाने या दिया बुझाने के लिए ।

(२) साँस । मुँह की हवा । ३०—फूँकर और उमराव चने पिगरे कपु नाहीं । फूँक माहिं ये बनत फूँक ही सों मिटि नाहीं ।—झीर ।

मुहा०—फूँक निकल जाना=दम निकल जाना । प्रणय निरुद्ध जाना ।

(३) मंत्र पढ़कर मुँह से छोड़ी हुई वायु जो उस मनुष्य की ओर छोड़ी जाती है जिसपर मंत्र का प्रभाव डालना होता है । ३०—यम पाप पाय, ग्हाय जमुना के नीर परि के पराग धरागा के धरा ते । द्विजदेव की सीं द्विजराज अंतकी के काम जी कीं चौई पानिन उड़ाए कंज कर ते । ती लीं वन जाय मनमोहन मिलायी कहूँ, फूँक सी बलाई फूँकि बसुंरी अथर ते । खासा कादी नासा ते, वासा ते भुनाए काटो मंत्रसी न थंजली ते, आखरी न गर ते ।—द्विजदेव ।

यो०—फाड़ फूँक=मंत्र तंत्र का उपचार ।

कि० प्र०—चलाना ।—मारना ।

फूँकना—कि० सं० [दि० फूँक] (१) मुँह के थोरे कर वेग के साथ हवा छोड़ना । ओठों को चारों ओर से दबाकर मोंक से हवा निकालना । जैसे, (क) यह भाजा फूँकने से पनता है । (ख) फूँक दो तो कोयला दहक जाय । (ग) उसे फूँक दो तो बड़ जाय । ३०—पुनि पुनि मोहिँ दियाह उठाह । चहत उठावन फूँकि पहाह ।—तुलसी ।

घियोप—जिस पर वायु छोड़ी जाती है वह इस क्रिया का कर्म होता है, जैसे, गर्द फूँक दो बड़ जाय ।

संयो० कि०—देना ।

मुहा०—फूँक कर परैररना या चलना=(१) बचा बचा कर चलना । पैर रखने के पहले जगह को फूँक लेना जिसमें चौड़ी खादि जीव हट जाय, पैर के नीचे दब कर न मने पाय । (२) बहुत बचाकर फेर काय करना । बहुत सावधानी से कोई काम करना । कोई बात फूँकना=काम में धीरे से कोई बात कहना । बहकाना । धम भरना ।

(२) मंत्र खादि पढ़कर किसी पर फूँक मारना ।

यो०—झाड़ना फूँकना ।

(३) राँच, वासुती खादि मुँह से पनपा जानेवाले पायों को फूँक कर पनाना । जैसे, राँच फूँकना । (४) मुँह की हवा छोड़ दहकाना । फूँककर प्रवर्तित करना । जैसे, आग फूँकना । (५) अड़ाना । मरम करना । ३०—(क) या पयाल के फूँकिट तनियक लाई धारा । लहना पाया हँडता धन्य हमारा भाग ।—झबीर । (ख) हाके जवनी की गति दीनी परम कृपाज गोमाल । दीन्हों फूँकि काठ सन बाके मिति के सकल गुबाल ।—सूर ।

संयो० कि०—डालना ।—देना ।

(१) वातुओं को रसायन की रीति से जड़ी बूटियों की सहायता से मरम करना । जैसे, सोना फूँकना, पारा फूँकना । (२) बट करना । बराबाद करना । व्यर्थ व्यय कर देना । फगल खर्च कर देना । डढ़ाना । जैसे, धन फूँकना, रुपये पैसे फूँकना ।

संयो० कि०—डाढ़ना ।—देना ।

यो०—फूँकना सापना=व्यर्थ खर्च कर देना । उड़ाना ।

(२) अड़ाना । सताना । दुख देना । (३) चारों ओर फैड़ा देना । प्रकाशित कर देना । जैसे, खबर फूँक देना ।

फूँका—संज्ञा पु० [दि० फूँक] (१) माथी वा नली से रागा पर फूँक मारना । फूँक मारने की क्रिया । (२) दाँस की नली में जलन पैदा करनेवाली ओषधिपर भरकर धीरे ऊँह स्तन में लगाकर फूँकना जिससे दाँसे स्तन में दूध बुरा न सके और उनका सारा दूध बाहर निकल जाय ।

कि० प्र०—देना ।—मारना ।

(३) दाँस खादि की नली जिससे फूँका मारा जाता है । (४) फोड़ा । फफोला ।

फूँद—संज्ञा स्त्री० [दि० फूँक + फूँद] फुँदना । फुलना । कलना । ३०—झांगी कसी, उकसे कुच ऊँचे हँसे फुलसे फुँदुदीन की फूँद ।—देव ।

फूँदा—संज्ञा पु० (१) दे० “फुँदना” । ३०—(क) रजवर्तित गजरा बाबुर्षद रोभा मुनन अपार । फूँदा सुमग फूल

नार नार ।—सूर । (१०) पानी का इतना गील जाना कि उसमें छोटे छोटे बुलबुले के समूह दिखाई देने लगे । पानी का पतलपाने लगना । (१८) किसी मेढ़ का गुल जाना । गुल बात का प्रकट हो जाना । जैसे, कहीं बात फूट गई तो बड़ी मुश्किल होगी । उ०—संतन रंग बैठी बैठी खोखलाज खोई । अब तो बात फूटि गई जानत सब कोई । (१९) रोक या परदे का दबाव के कारण हट जाना । बाँध, मेढ़ आदि का हट जाना । जैसे, बाँध फूटना । (२०) पानी या और किसी पतली चीज का रस कर हस पार से उस पार निकल जाना । जैसे, यह कागज चपछा नहीं है इस पार स्वाही फूटती है । (२१) जोड़ों में दर्द होना ।

फूटा—वि० [हि० फूटना] [स्त्री० फूटी] भग्न । टूटा हुआ । फूटा हुआ । जैसे, फूटी कीड़ी । फूटी काल ।

गंगा पुं० (१) वह घाले जो टूटकर खेतों में गिर पड़ती हैं । (२) जोड़ों का दर्द ।

फूटकार—संज्ञा पुं० [सं०] मुँह से हवा छोड़ने का शब्द । फूँक । फुफकार । जैसे, सर्प का फूटकार ।

फूफा—संज्ञा पुं० [हि० फुफी] फूफ की पत्ति । बाप का बहनेई ।

फूफी—संज्ञा स्त्री० [फुफु०] बास० विपुल, बा० विपुला, मा० विपुला] बाप की पहिल । बूझा ।

फूफु—संज्ञा स्त्री० दे० "फूफी" ।

फूल—संज्ञा पुं० [सं० फूल] (१) गर्भाधानवाले पौधों में वह अंग जिसमें फल उत्पन्न करने की शक्ति होती है और जिसे वृद्धिमर्दों की जननेंद्रिय कह सकते हैं । पुष्प । कुसुम । सुमन । विशेष—यह फूलों के पाँच भाग होते हैं—डोरी, हरा पुट, दल (पलड़ी), गर्भकेसर और परागकेसर । दल का वह चौड़ा छोर जिसपर फूल का सारा ढाँचा रहता है कटोरी कहलाता है । इसी के चारों ओर ओ हरी पत्तियाँ ली होती हैं उनसे पुट के भीतर कमी की दशा में फूल बंद रहना है । वे आवरण पत्र मिश्र मिश्र पौधों में मिश्र मिश्र आकार प्रचार के होते हैं । चुंडी के आकार का जो मध्य भाग होता है उसके चारों ओर रंग विरंग के दल निकले होते हैं जिन्हें पलड़ी कहते हैं । फूलों की शोभा बहुत कुछ इन्हीं रंगीली पलड़ियों के कारण होती है । पर यह ध्यान रखना चाहिये कि फूल में प्रधान वस्तु बीच की चुंडी ही है जिस पर परागकेसर और गर्भकेसर होते हैं । बुद्ध कोटि के पौधों में पुट, पलड़ी आदि कुछ भी नहीं होती, केवल चुंडी चुंडी होती है । वनस्पति शास्त्र की दृष्टि से तो चुंडीही वास्तव में फूल है और बाकी तो उसकी रक्षा या शोभा के लिए हैं । दोनों प्रकार के केसर पतले-सूत के आकार के होते हैं । परागकेसर के सिरे पर एक छोटी दिकिया ली होती है जिसमें पराग या धूल रहती है । यह परागकेसर

पुं० जननेंद्रिय है । गर्भकेसर बिलकुल बीच में होते हैं जिनका निचला भाग या आधार कोश के आकार का होता है जिसके भीतर गर्भांड बंद रहते हैं और ऊपर का छोर या मुँह कुछ चौड़ा सा होता है । जब परागकेसर का पराग कण्डर गर्भकेसर के इस मुँह पर पड़ता है तब भीतर ही भीतर गर्भकोश में जाकर गर्भांड के गर्भित करता है जिससे धीरे धीरे वह बीच के रूर में होता जाता है और फल की उत्पत्ति होती है । गर्भाधान के विचार से पौधे कई प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनमें एक ही पेश में स्त्री० फूल और पुं० फूल अलग अलग होते हैं । जैसे, कुंदहा, कदु, तुरई, ककड़ी इत्यादि । इनमें कुछ फूलों में केवल गर्भकेसर होते हैं और कुछ फूलों में केवल परागकेसर । ऐसे पौधों में गर्भकोश के बीच पराग या तो हवा से उड़कर पहुँचता है या कीड़ों द्वारा पहुँचाया जाता है । मक्के के पौधे में पुं० फूल ऊपर टहनी के सिरे पर मंजरी के रूप में लगते हैं और ज़ीरे कहलाते हैं और स्त्री० फूल नीचे के बीचो बीच इधर उधर लगते हैं और पुट होकर बाल के रूप में होते हैं । ऐसे पौधे भी होते हैं जिनमें नर मादा अलग अलग होते हैं । नर पौधे में परागकेसरवाले फूल लगते हैं और मादा पौधे में गर्भकेसरवाले । बहुत से पौधों में गर्भकेसर और परागकेसर एक ही फूल में होते हैं । किसी एक सामान्य जाति के अंतर्गत संकरजाति के पौधे भी उत्पन्न हो सकते हैं । जैसे किसी एक प्रकार के नीचू का पराग दूसरे प्रकार के नीचू के गर्भकोश में जा पड़े तो उससे एक दोगला नीचू उत्पन्न हो सकता है । पर ऐसा एक ही जाति के पौधों के बीच हो सकता है । फूल अनेक आकार प्रकार के होते हैं । कुछ फूल बहुत सूक्ष्म होते हैं और चुपछों में लगते हैं । जैसे, भाम के, नीम के, तुलसी के । ऐसे फूलों को मंजरी कहते हैं । फूलों का उपयोग बहुत प्राचीन काल से सजावट और सुगंध के लिए होता आया है । अद्य तक संसार में बहुत सा सुगंध द्रव्य (सेल, इत्र आदि) फूलों ही से तैयार होता है । सुकुमारता, कोमलता और सौंदर्य के लिए फूल सय देव के कवियों में प्रसिद्ध रहा है ।

मुहा०—फूल आना = फूल लगना । फूल उतारना = फूल तोड़ना ।

फूल चुनना = फूल तोड़कर इकट्ठा करना । फूल मड़ना =

मुँह से प्रिय और मधुर बातें निकलना । उ०—भरत फूल मुँह से बहि केरी ।—जायसी । क्या फूल मड़ जायेंगे ? =

क्या ऐसा सुकुमार है कि अमुक काम करने के योग्य नहीं है ? फूल खोदना = फूल चुनना । फूल सा = अत्यंत सुकुमार,

हलका या सुंदर । फूल सूँघ कर रहना = बहुत कम खाना ।

जैसे, वह खाती नहीं तो क्या फूल सूँघ कर रहती है ?

कृष्णचंद्र के लिप फूलों का डोल या फूला सभाया जाता है। मधुरा और वसन्त के धाम पास के स्थानों में यह उत्थाव मनाया जाता है।

फूलढोंक-संज्ञा पुं० [?] एक जाति की मछली जो भारत के सभी प्रांतों में पाई जाती है और हाथ भर तक लंबी होती है।

फूलदान-संज्ञा पुं० [हिं० फूल + दान (प्रत्यय)] (१) पीतल आदि का बना हुआ परतन जिसमें फूल सजाकर देवताओं के सामने रखा जाता है। (२) गुलदस्ता रखने का कांच, पीतल, चीनी मिट्टी आदि का गिलास के आकार का बरतन।

फूलदार-वि० [हिं० फूल + दार (प्रत्यय)] जिस पर फूल पत्ते और पत्र खड़े काढ़कर, सुनका, छापकर या खोदकर बनाए गए हों।

फूलना-क्रि० अ० [हिं० फूल + ना (प्रत्यय)] (१) फूलों से युक्त होना। पुष्पित होना। फूल लाना। जैसे, यह पौधा वसन्त में फूलेगा। ३०—(क) फूलें फरे न येत जदपि सुधा बसहि जलद।—तुलसी। (ख) तत्पर फूलें फले परिहरे अपने काळहि पाइ।—सूर।

संयो० क्रि०—जाना।—उठना।—थाना।

मुहा०—फूलना फलना = फल, फायदा, संतति आदि से पूर्ण और प्रसन्न रहना। सुखी और संपन्न होना। यदना और आनंद में रहना। उन्नति करना। ३०—फूलती फारी रही जहाँ चाहौ यदि कसीस हमारी।—सूर। फूलना फलना = प्रसन्न होना। उल्लास में रहना। प्रसन्न होना। ३०—फूलती फाली फूल सी फिरती विमल विकसल। मोर तरंग हाँस्यो चलत तोहि पिय पास।—विहारी।

(२) फूल का संयुक्त झुलना जिससे इसकी पलड़ियाँ फैल जायें। विकसित होना। खिलना। ३०—(क) फूले कुसुम केति उजियारे। मानहु उप गगन महीं तारे।—जायसी। (ख) फूलि उठे कमल से प्रमल हित् के नैन, कहै रघुनाथ भरे चैन रस सियरे।—रघुनाथ। (३) भीतर किसी वस्तु के भर जाने या अधिक होने के कारण अधिक फैल या बढ़ जाना। डील डोल या पिंड का पसरना। जैसे, हवा भरने से गेंद फूलना, गाल फूलना, मिगोया हुआ घना फूलना, पानी पड़ने से मिट्टी फूलना, कड़ाह में कबौरी फूलना। (४) सतह का उभरना। आस पास की सतह से उठा हुआ होना। (५) सूझना। शरीर के किसी भाग का आस पास की सतह से उभरा हुआ होना। जैसे, जहाँ चोट लगी वहाँ फूला हुआ है और दर्द भी है।

संयो० क्रि०—थाना।

(६) मोटा होना। स्थूल होना। जैसे, उत्तका बदन घादी से फूला है। (७) गर्व करना। घमंड करना।

इतराना। जैसे, बुरा तुम्हारी तारीफ कर दी वस तुम फूल गए। ३०—(क) कष्टहुँक बैठ्यो रहसि रहसि के छोटा मोद खोलायो। कष्टहुँक फूलि सभा में बैठ्यो मुचुनि ताव दियायो।—सूर। (ख) बैठि जाइ सिंहासन पत्नी। अति धमिमान पास सय भूजी।—तुलसी।

मुहा०—फूला फिरना = गर्व करते हुए घूमना। घमंड में रहना। ३०—मनवा तो फूला फिरि कहै ओ करता घमं। कोटि करम सिर पर चढ़ै चेति न देखै मर्म।—कबीर।

(ख) प्रफुल्ल होना। आनंदित होना। उल्लास में होना। बहुत खुश होना। मगन होना। ३०—(क) परमानंद प्रेम सुख फूले। पीथिय फिरि मगन मन भूले।—तुलसी। (ख) यति फूले दशरथ मन ही मन दीक्षया सुख पाये। भीमिना कैरवि मग धानेंद यह सय ही सुत जाये।—सूर। (ग) फूलें फरकत छै करी पल कटावहु करघार। करत, बघावत बिय नयन पायक घाय इजार।—विहारी।

मुहा०—फूला फिरना या फूला फूला फिरना = प्रसन्न घूमना। आनंद में रहना। उल्लास में रहना। ३०—(क) जमुमति रागी देति बघाई भूखन रसन अघार। फूटी कितति रोहिणी मैया नरसिंह किए सिंगार।—सूर। (ख) धाजु दशरथ के श्रागन नीर। ... फूले फिल अयोध्यावासी गनत न त्यागत पीर। परिभन हंसि दैत परस्पर आनंद नैनन नीर।—सूर। (ग) फूले फूले फिरत हैं आग हमारी व्याह।—(प्रचलित)। फूले श्रंग न समाना = आनंद का इतना अधिक उठेगा होना कि बिना प्रकट किए रहना न जाय। अत्यंत आनंदित होना। ३०—(क) उठा फूलि श्रंग नाहि समाना। कैया टूक टूक भइराना।—जायसी। (ख) स्यांतक मणि जांबवती सह घाप द्वारिका नाथ। अति आनंद कोलाहल घर घर फूले श्रंग न समात।—सूर। (ग) चेरी चंदन हाथ के रीफि यद्यो गात। विहल क्षितिधर डिम मिश्र फूले यनु न समात।—केशव। (६) सुहँ फुलाना। हठना। मान करना। जैसे, यह तो वहाँ फूलकर बैठा है।

फूलचिरंज-संज्ञा पुं० [हिं० फूल + चिरंज] एक प्रकार का धान जिसका धानल अच्छा होता है। यह मोटो वस्त्र के कुआर के प्रारंभ में एककर काटने योग्य हो जाता है।

फूलमती-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल + मते (प्रत्यय)] एक देवी का नाम। शीतला रोग के एक भेद की यह अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है। इसकी उपासना नीच जाति के लोग करते हैं। यह राजा वंश की कन्या कही जाती है।

फूलवापा-संज्ञा पुं० [देग०] चित्तौ नाम का पेड़।

फूलसँपेल-वि० [हिं० फूल + सँपेल] (बेल या गाय) जिसका एक सौंग दहनी और और दूसरा बाई और कों गया हो।

पुला-मेश पु० [रि० पु०] (१) मीठा । जरा : (२) वह बहुत जिनमें मने का रस बकाया था बकाज आता है । (३) एक रोग जो मायः पचिये को होता है । इसमें पचो पुन जाता है और इसके मुँह में बहिनिकट चाने हैं जिसमें घट सा जाता है । (४) चाँच का एक रोग जिनमें काली पुनधी पर सकेद हाथ का धुँसा सा पड़ जाता है । फली ।
पुला-मेश लो० [रि० पु०] (१) मकेद हाथ जो चाँच की पुनधी पर पड़ जाता है । इसमें मनुष्य की चाँच की दृष्टि कुछ कम हो जाती है और यदि वह सारी पुनधी पर पर या उसके निज पर होता है तो दृष्टि चित्तकुल्लकारी जाती है । (२) एक प्रकार की मछी । (३) एक प्रकार की मछी जो मधुरा के सामराश होनी है ।

पुला-मेश लो० दे० " फली " ।
पु-मेश पु० [रि० पु०, १० म०, ३०] (१) मूली हुई बंदी माय से कृत्त चाँच मने के काम में पाए । ३०—(५) काया का घर पुन का भयभी वह पच्यो । मूला के कपू दर नहीं पायागी की भीत ।—कबीर । (५) कबीर प्रगटि राम बहि मने राम न पाय । पुन क जोड़ा मूर क कचहुरि न जागे जाय ।—कबीर । (२) मूला पुन । मर । निरुप ।

पुलट्ट-पि० [रि० पु० मेशर + गट्ट मशु] (१) जिनकी चाँच हाथ मेंगी हो । जिनका रंग भरा हो । जो किंगी काली हो मुपाद मने से न कर सके । जिनो पुन काँच का रंग न हो । बेतामर । (इस शब्द का कबोम अधिकांश फलों के लिए होता है) । ३०—पुलट्ट बरी मशुपि पाताम टपके जा ।—गिरिधर । (२) जो देखने में बेरंगा लगे । भरा ।

पुलट्ट-पि० दे० " पुलट्ट " ।
पुला-मेश पु० [दे०] बड़े का माका ।
पुला-मेश लो० [पु०] (१) बाली की महीने पूर । (२) महीने पूरों की कड़ी ।

पुल-मेश लो० [रि० पु०] बंदने की दिय का भाव ।
पुल-मेश लो० [रि० पु०, ३० दे०] (१) गीत के साथ एक स्वर से हुनो स्थाय पर आता है । इस प्रकार मने देना कि दूर या गिरे । जाने से दूर गिता । जैसे, लीर बंदना, बेडा बंदना, लपटा बंदना । ३०—बलराम ली मे डाली होली निडकी डाली बल्लु चित्तक मने केद का बेडा ।—कामर ।

पुला-मेश लो० [रि० पु०] (१) कुरी चाँच में पायका । दूर किन गिता । (२) एक स्थाय से के जलर और मशय पर आता है । जैसे, (३) बर बल्लु का कुरा का है । केद हो । (४) जो बने माय को बने केद हो ।

पुला-मेश लो० दे० ।
(५) चानपयाकी से दूर बपर मोड़ना या लपटा । से पयार्द हो आता देना । जैसे, (६) कितने दूर का केरी हुई है मया कर रहा हो । (७) दूर हो केरी हो का पले जाते हो, केरी हवा में मयम । (८) देनासे मे केरी काम हुनो के मपर आता है । मूर कृष्ण काके हुनो के मपूर काया । चरना पीदा पुडाका पुनो वा मार हाज देना । जैसे, वह साय काम मने कर केद का कपी उगा है । (९) मूल से कही गिता या मोड़ना । मूल कर का से चलग कर देना । मंवाया । लोवा । जैसे, अपने के हाथ मे सेगुनी के जो, कही केद देना ।
पुला-मेश लो० दे० ।

(१) मूर चाँच के सेक में कीरी, चाँच, मीरी चाँच कुरी का हाथ में सेक हाथ जिद महीन पर आता कि बरी मपि के मपुमार हार जीत का निर्णय हो । जैसे, लीर केदना, लोरी केदना । (२) कितना के साथ साथम । चहय न करना । मोड़ना । बरिमाय करम । ३०—देव केद किन का मपुनो । मगीत मगीत मूर विन चानो ।—कबीर । (३) मयम करना । कृष्ण मने काया । जैसे, मेले काम में बनी जाई कया केदने हो । (४) मयम करना । ऊपर मने दिजामा हुआ । मयमना करना । जैसे, (५) बने का हाथ पर केदना । (६) मगीत में हाथ पर केदना । (७) (दूर) चरना । (दूर) के कर पुमाया का दिजामा पुमाया ।

पुलट्ट-पि० [रि० पु०] (१) मीठ का रोना या मोड़ना । ३०—कृष्ण मने कर आरति केदने केद कुपानि । लीर मियाया मोन का कही मोद मर मपि ।—कबीर । (२) पुलट्ट का रोना । मियाया मिया कर रोना ।
पुला-मेश लो० [रि० पु०] केदने का काम बरामा ।
पुला-मेश लो० दे० " पुलट्ट " ।
पुल-मेश लो० [रि० पु०] (१) मय का मने । कुरी का मोड़ना । ३०—केद लीपार, लीर पर चलग के काय । मयम मयम मय मय विमय विमय दुरि मयम ।—कबीर । (२) मोली का वह भाग जो कदा में जेदर का मिया मया हो । कदा में लीर दुरा मोरी काया । पुनका । कयार्द । ३०—(३) मयम के कपू मया हो लीर मपि मय में मोले । केद का से मपि मयम का केद मने केद के ।—कबीर । (४) मयम मया से केद चलाई । लीर हाज मने मयम केद मने कायार्द जाते । मय मयो मय केद मयम की देद न मने केद मने ।—कबीर । (५) हाज की केद लीर के दे पुनका मने लीर का आता के मयम लो०—पुलाका ।

मुहा०—फेंट घरना या पकड़ना = जाने न देना । येरना । दूध
प्रसार पकड़ना कि भागने न पाए । ४०—(क) बच सौ तो
धूम विरह बुलाये भई न मोहो भेंट । तभी विरह के मोहि
उपाय सूर गही कसि फेंट ।—सूर । (ख) जो पुराण नाम
चित्त धरतो । बच को जन्म आगितो तेरो दोऊ जन्म
सुधरतो । यम को प्राप्त सपै मिटि जाये भगत नाम तेरो
वरतो । तंदुल चितित संघारि ख्याम को संत परोसो करतो ।
होरो नफा साधु की संगति मूल गांठि से तरतो । मूरदास
बैकुंठ पेंट में पोडन फेंट पकरतो ।—सूर । फेंट कसना या
बांधना = पट्टिबद्ध होना । कमर बसकर तैयार होना । खडक
होना । ४०—(क) बोल प्रतापती गावती गीत मचापती भँपुर
धूरि के चारन । फेंट पते की कसे द्विजदेव भू चंचलता बस
पंचल तारन ।—द्विजदेव । (ख) पाग पंच रँच दै, लपेटे
फट फेंट बांधि, पड़े पड़े भाँचें पैने टूटे हीम बीम से ।
—हनुमान ।

(१) फेरा । लपेट । घुमाय ।

संज्ञा स्त्री० [हि० फेंटना] फेंटने की क्रिया या भाव ।

फेंटना—क्रि० सं० [सं० फिट, प्र० फिट + ना (प्रत्य०)] (१) गाढ़े
द्रव पदार्थ को उँगली घुमा घुमा कर हिलाना । छेप या
लोई की तरह चीम को हाथ या उँगली से मचाना । जैसे,
पीडी फेंटना, वेसन फेंटना, तेल फेंटना ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

(२) उँगली से दिनाकर खूब मिलाना । जैसे,
इस बुझी को शहद में फेंटकर खाद जाये । (३)
गड्डी के तालों को उलट पलट कर अच्छी तरह
मिलाना ।

फेंटा—संज्ञा पुं० [हि० फेंट] (१) कमर का घेरा । (२) धोती का
वह भाग जो कमर में लपेटकर बांधा गया हो । (३)
पट्टा । कमारबंध । ४०—अथ मैं नाथ्यो बहुत गुणाल ।
कान क्रोध को पहिरि सोलना फंट विषय की माल ।.....
नृणा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल । ज्ञाया
को कटि फेंटा बाँधो लोभ तिलक दिवो माल ।—सूर ।
(४) वह वस्त्र जो सिर पर लपेटकर बांधा जाता है । छोटी
पगड़ी । (५) अंदरन पर लपेटा हुआ सूत । सूत की बड़ी
घंटी ।

फेंटी—संज्ञा स्त्री० [हि० फेंट] सूत का पोछा । अंदरन पर लपेटा
हुआ सूत ।

फेंसी—वि० [फं०] दे० “फेंसी” ।

फेकरना—क्रि० अ० [हि० फेकारना] (सिर का) खुलना ।

(सिर का) आच्छादन रहित होना । नंगा होना । ४०—

फेरे भूँडे चँवर जनु बाए । निकसि दाँत भूँड बाहर बाए ।

—जायसी ।

क्रि० अ० दे० “फेंकरना” ।

फेकारना—क्रि० सं० [सं० अघार = बिना हल का ?] (सिर)

खोलना या नंगा करना ।

फेख—संज्ञा पुं० दे० “फेन” ।

फेदा—संज्ञा पुं० [देग०] सुँदरा । खरई ।

फेन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० फेनिल] (१) महीन महीन धूलधुलें
का वह गठ बुझा समूह जो पानी या और किसी द्रव
पदार्थ के खूब हिलने, सड़ने या खोलने से ऊपर दिखाई
पड़ता है । झाग । सुदुधुद—संघात ।

क्रि० प्र०—उठना ।—निकलना ।

(२) रेंट । नाक का मल ।

फेनक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फेन । झाग । (२) टिकिया के
आकार का एक पक्वान या मिठाई का बतारफेनी । (३)
शरीर घोलने या मलने की एक क्रिया (संभवतः रीढ़ी आदि
के फेन से घोना जिस प्रकार धातु-कल साधुन मलते हैं) ।

फेनका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पानी में पड़ा हुआ चायल का घूर ।

फेनबुधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दूधफेनी नाम का पौधा जो दूध
के काम में आता है । यह एक प्रकार की दुधिया घास है ।

फेनना—क्रि० सं० [हि० फेन] किसी तरल वस्तु को उँगली
घुमाते हुए इस प्रकार हिलाना कि बलमें से झाग उठने लगे ।

फेनमेह—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मेह । इसमें वीर्य फेन
की भाँति थोड़ा थोड़ा गिरता है । यह रक्तेयमज माना
जाता है ।

फेनल—वि० [सं०] फेनयुक्त । फेनिल ।

फेनाप्र—संज्ञा पुं० [सं०] सुदुधुद । बुलबुला ।

फेनायनि—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

फेनिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] फेनी नाम की मिठाई ।

फेनिल—वि० [सं०] फेनयुक्त । जिसमें फेन हो । फेनवाला ।

संज्ञा पुं० रीठा । रीठी ।

फेनी—संज्ञा स्त्री० [सं० फेनिका] लपेटे हुए सूत के लच्छे के
आकार की एक मिठाई ।

विशेष—ढीले मुँहे हुए मेदे को घाली में रखकर घी के
साथ चारों ओर गोठ बढ़ाते हैं फिर बसे कई बार उँगलियों
पर लपेटकर बढ़ाते हैं । इस प्रकार बढ़ाते और लपेटते
जाते हैं । अंत में घी में तलकर घासी में पागले या यों
ही काम में लाते हैं । यह मिठाई दूध में भिगोकर खाई
जाती है । ४०—(क) फेनी पापर भूँजे भए शनैक प्रकार ।

भइ जाउर भिजियाउर सीमी सब जेवनार ॥—जायसी ।

(ख) घेवर फेनी और सुहारी । खोया सहित खाय बलि-
हारी ।—सूर ।

फेफड़ा—संज्ञा पुं० [सं० फुफुस + डा (प्रत्य०)] शरीर के भीतर घेरी
के आकार का वह अवयव जिसकी क्रिया से जीव साँस

ये हैं। यद्यप्राय के भीतर ग्याह मन्नाम वा विधान
बागेबाता होत। गाँव की पैली ओ द्वाभी के भीने होनी
है। कुण्डम।

विशेष—एकमात्र के भीतर मायुजान में बोझ दूर कीये
 जाकर उबार उठा दो करने के रस्ते हैं जिसमें जगह दूसरा
 मात का एक एक छोटासा बोझों को रहना है। यहाँ के
 रज के मे ही दोनों पिदमय छोड़के रहने कीर कायि
 केरके बहजाने हैं। रहना केरके माय केरके की चलेला पौन
 दैत भारी होना है। केरके का बाकर भीव को बड़ी हुई
 गारंगी की पोर का ना होना है जिगका मुकीका गिरा
 जरा की थोर होना है। केरके वा निवरा पीड़ा भाग इन
 पारे पर रना रहना है जो बराबरय की वचकायय से
 बजय करता है। रहने केरके में दो दारों दोरी हैं निकले
 बायय बह चीन भारी में विभक्त रिताई पदना है, पर
 बाय में एक ही दार होनी है जिगने बह हो की भारी में
 दैरा दिभाई पदना है। केरके पिचने थीर चमकीले होत
 हैं थीर बगर कुछ पिचिनी ली पड़ी होती हैं। मीर
 मनुय के केरके का रंग कुछ नीरायम विप भूरा होना है।
 गारंग विभु के केरके का रंग गहरा लाल होना है जो
 जम के बरांग गुभावी रहना है। दोरी केरके का बजय
 रंग रावा से हो बजमय होना है। बजय मनुय के केरके
 बाय में बड़े रहने के बायय जय से बहके होत हैं थीर
 पानी में बड़ी बहने। परंतु जिमें गूमैरिया, अब बादि
 भीतरिबा होनी हैं उनके केरके का रजय माय होम हो
 जाता है थीर पानी में जारने से बह जाता है। रज के
 भीतर बहा मात बड़ी सेला हवने रहना केरके पानी में बह
 जायगा। पर जो बहा पीदा होकर कुछ भी जिग है बजय
 केरके पानी में बड़ी बहने। थीर मात जरा जो बहा
 लीपने हैं बह जगमयाय जरा केरके में बहपनी है। हम
 हटने के लीने लोड़ी बुर बायय भागमाय के बह बहा
 हो। बजने के रहने रिजिरे बानी कीर काई बायुमयायिवा
 बहने हैं। केरके के भीतर सुपने ही से बायुमयायिवा
 बहनेपर बजय ली जगमया में विभक्त होनी भारी हैं।
 केरके में बहपने के बहने बायुमयायिवा ली ली बहने के पारे
 के बज में बहने हैं पर भीर बाकर जने जने जगमया में
 विभक्त होनी भारी हैं ली ली बायुमयायिवा ली थीर बज के
 बह में होनी भारी हैं, ली ली कि से बायुमयायिवा केरके के
 बज भारी हैं बाय ली बाय ली बहने हैं। बहने के जग
 गारंग की लीनी हुई बाय केरके के बज भारी हैं बहने की
 है। केरके के बजय से दोरी दोरी विभक्त होनी है। बजने
 विभक्त हो जगमया जगमया का बहपनी बायुमयायिवा
 बह बहने हैं। ये बायुमयायिवा बहने में ली ली बहने हैं।

कहे होते हैं। इन लोगों के बीच गुरुम शत्रुघ्नराजिनी के
 हैं। भाऊ से मीनो हुई बापु तो भीतर जाती है उसे भाव
 कहते हैं। जो बापु भाऊ से बाहर निकाली जाती है उसे
 प्रत्याग कहते हैं। भीतर जो भाव भीनी जाती है उसे
 कावच, जलवाय तथा भीत हाथिहाऊ कहते हैं बहुत कम
 मात्रा में होते हैं और कावचजन गीत जो कावचों के लिए
 कावचक है अधिक मात्रा में होती है। पर, भीत से जो
 भाव बाहर जाती है उसे हीराभावा चोराह बापु कहते
 और कावचजन कम रहती है। गरीर के भीतर जो प्रवे
 शमायक क्रियाएँ होती हैं उनके कारण चोरीही
 कावच गीत बनती रहती है। इन गीत के कारण वह बा
 रंग कावाचन लिए हो जाता है। वह बाबा एक चोरी के
 सब भावों से रहता होता है। महासिपायों के द्वारा द्वार
 के द्वारों के हैं चतुष्पा है। गुरु से वह कृपा एक वि
 रुद्धकीय धमकी (दे-“भागी”) द्वारा दोषों के कारणों में बा
 जाता है। चोरी एक ही बहुत गीत कावच गीत बाहर निकल
 जाती है और चोरी जगद कावचजन या जाता है, इन
 प्रकार के चोरी में बाहर एक दुष्ट हो जाता है। जगद दुष्ट
 बाहर कि वह दुष्ट में चतुष्पा है और चोरी के धमकी
 द्वारा सारे गरीर में प्रवेश गरीर के चतुष्पा जाता है।

पंचाङ्ग-विद्या (१० वार) गायत्री का मन्त्रों से
 प्रारम्भ की जाती है । गायत्री का मन्त्रों से
 प्रारम्भ का मन्त्र ।

ਸੁਧਾ-ਅੰਬਰੀ ਬਾਧਨਾ ਆ ਕਾਮਾ = ਘੋੜ ਮੁਕਤ ।

गंगा जी० [हि० के०] पीपलियों का एक लोग निगम है जो
के० में गुरु जानें हैं और उनका एक गुरु प्रमाण है ।

[illegible]

नं० ३-४९ प्र० [३२] क० रा० । विभाग ।

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०) (११) (१२) (१३) (१४) (१५) (१६) (१७) (१८) (१९) (२०) (२१) (२२) (२३) (२४) (२५) (२६) (२७) (२८) (२९) (३०) (३१) (३२) (३३) (३४) (३५) (३६) (३७) (३८) (३९) (४०) (४१) (४२) (४३) (४४) (४५) (४६) (४७) (४८) (४९) (५०) (५१) (५२) (५३) (५४) (५५) (५६) (५७) (५८) (५९) (६०) (६१) (६२) (६३) (६४) (६५) (६६) (६७) (६८) (६९) (७०) (७१) (७२) (७३) (७४) (७५) (७६) (७७) (७८) (७९) (८०) (८१) (८२) (८३) (८४) (८५) (८६) (८७) (८८) (८९) (९०) (९१) (९२) (९३) (९४) (९५) (९६) (९७) (९८) (९९) (१००)

[illegible]

चित्रगुप्त डाकना । तार बोधना । फेर की बात = गुमाय की बात । बात से छीपी राखी न रहे ।

(२) मोड़ । मुकाबल ।

मुहा०—फेर देना = गुमाना । मोड़ना । रुस बदलना ।

(३) परिवर्तन । बलट पड़त । रद बदल । कुछ से कुछ होना ।

यौ०—बलट फेर ।

मुहा०—दिने का फेर = समय का परिवर्तन । जमाने का बदलना । एक दशा से दूसरी दशा की प्राप्ति (विरोधः अर्च्छी से घुरी दशा की) । उ०—(क) दिवन को फेर होत मेद होत माटी को । (ख) हंस बग के पाहुना कोह दिनन का फेर । श्रुता कहा गरबिया बैठा पंत विषेर ।—कबीर । (ग) मरत प्यास पियरा परबो सुभा समय के फेर । चाकर दे दे बोखि-यत बायस बखि की पेर ।—विहारी । कुफेर = (१) दुर्दिन । घुरी दशा । (२) घुरा खबर । घुरा दाव । सुफेर = (१) अच्छे दिन । अच्छी दशा । (२) अच्छा खबर । अच्छा मोया । उ०—पेट न फूलत यिनु कहे कहत न लागत बेर । सुमति बिचारे बोखिद समुक्ति कुफेर मुफेर ॥—तुलसी ।

(४) बल । अंतर । फर्क । भेद । जैसे, यह उनकी समझ का फेर है । उ०—(क) कबिरा मन दीया नहीं तन करि डारा जेर । अंतर्प्राप्ति लखि गथा बात कहन का फेर ।—कबीर । (ख) नदिया एक घाट बहुतेरा । कहीं कबीरा कि मन का फेरा ।—कबीर । (ग) सीता ! तू या बात के हिमे गौर करि हेर । परदवंत बेदरद को निसि पासर के फेर ॥—रसनिधि । (घ) दरजी चाहत धान के कटरन छेड़ें चुराय । प्रीति प्योत में, भावते ! बढ़ो फेर परि जाय ॥—रसनिधि । यौ०—हेर फेर ।

(५) असमंजस । बलमन । दुबधा । अनिश्चय की दशा । कर्तव्य सिद्ध करने की कठिनाई । जैसे, वह बड़े फेर में पड़ गया है कि क्या करे । उ०—बट महं थकत बकत सा मेरु । मिलहि न मिलहि पा । तस फेर ॥—जायसी । मुहा०—फेर में पड़ना = असमंजस में होना । कठिनाई में पड़ना । फेर में डालना = असमंजस में डालना । अनिश्चय की कठिनाई सामने लाना । किं-कर्तव्य-विमूढ़ करना । जैसे, तुमने तो उसे बड़े फेर में डाल दिया ।

(६) भ्रम । संशय । धोखा । जैसे, इस फेर में न रहना कि रूपया हजम कर लेंगे । उ०—माला फेरत जुग गया गया न मन का फेर । कर का मनका छोड़ के मन का मनका फेर ।—कबीर । (७) चाल का चकर । पटवक्र । चाल-पासी । जैसे, तुम उसके फेर में मत पड़ना, वह बड़ा धूर्त है । मुहा०—फेर में आना या पड़ना = धोखा खाना । फेरफार की बात = चालाकी की बात ।

(८) उलझाव । थरोड़ा । भ्रमट । जंजाल । प्रपंच । जैसे, (क) रूप का फेर बढ़ा गया होता है । (ख) तुम किस फेर में पड़े हो, जाओ अपना काम देखो ।

मुहा०—निशाने का फेर = शीं रूप पूरे करने की धुन । रूपया बढ़ाने का चक्कर ।

विशेष—इस पर यह कहानी है कि दो भाई थे जिनमें एक दरिद्र और दूसरा धनी था । पहला भाई दरिद्र होने पर भी बड़े सुख चैन से रहता था । उसकी निश्चिंतता देता बड़े भाई को ईर्ष्या हुई । उसने एक दिन धीरे से अपने दरिद्र भाई के घर में निशाने रूप की पोतखी डाल दी । दरिद्र रूप पाकर बहुत प्रसन्न हुआ, पर गिनने पर उसे मालूम हुआ कि ली में एक कम है । तभी से वह ली रूप पूरे करने की चिंता में रहने लगा और पहले से भी अधिक कष्ट से जीवन बिताने लगा ।

(१) युक्ति । उपाय । ढंग । कौशल-रचना । तदबीर । डोल । उ०—(क) फेर बढ़ करि पौरि में फिरि चितई सुस-काय । धाई जागन बोन को नेई चली जमाय ॥—विहारी । (ख) आग तो सिहारे फूल बसे रहैं कलमूल सोई सूख कीचो रेंडो रात ही बमाययो । बात है न आरस की, रति न सिपास की, लाप फेर एक बार तेरे पार जायपो ।—हुसना ।

यौ०—फेरफार ।

मुहा०—फेर लगाना = ब्याप या बंग रचना । युक्ति लगाना । (१०) अदला बदला । पवत्र । कुछ खेगा और कुछ देना । यौ०—हेरफेर = खेन देन । व्यवसाय । जैसे, वहाँ लगानों का हेरफेर होता है । (११) हानि । टोटा । घाटा । जैसे, इसकी यातों में आकर मैं हजारों के फेर में पड़ गया ।

मुहा०—फेर में पड़ना = हानि बढाना । घाटा सहना । (१२) भूत प्रेत का प्रभाव । जैसे, कुछ फेर है इसीसे वह अच्छा-नहीं हो रहा है ।

* (१३) थोर । दिशा । पार्श्व । तरफ । उ०—सगुन होहि सुंदर सकल मन प्रसन्न सय कर । प्रभु आगमन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर ॥—तुलसी ।

० अर्थ० फिर । धुनः । एक बार और । उ०—(क) सुनि रवि नाउँ रतन आ राता । पंडिन फेर वई कहु वाता ॥—जायसी । (ख) मेहें त फेर गई जो निशा तन यौवन है घन की परछाहीं ॥—पद्माकर ।

संज्ञा पुं० [सं०] श्यामल । गीढ़ ।

फेरना—क्रि० सं० [सं० प्रेरण, प्रा० पेरन] (१) एक ओर से दूसरी ओर ले जाना । भिन्न दिशा में प्रवृत्त करना । गति बदलना । घुमाना । मोड़ना । जैसे, गाड़ी परिचम जा रही

संज्ञा पुं० (१) श्याल । गीदड़ । (२) राखत ।

फेरवट-संज्ञा स्त्री० [हिं० फेरना] (१) फिरने का भाव । (२)

छपेटने में एक एक बार का घुमाव । फेरा । (३) घुमाव
फाय । पेय । चढ़ा । जैसे, फेरवट की बात । (४) फेर-

वार । घंटरा । पूर्ण ।

फेरवा-संज्ञा पुं० [हिं० फेरना] सोने का वह छुरला जो तार को
दो तीन बार लपेट कर बनाया जाता है । लपेटुआ ।

‡ संज्ञा पुं० दे० "फेरा" ।

फेरा-संज्ञा पुं० [हिं० फेरना] (१) किसी स्थान या वस्तु के चारों
पक्षों गमन । परिक्रमण । चढ़ा । जैसे, वह ताल के चारों
पक्षों फेरा लगा रहा है । उ०—चारि स्थान में भरमसा
कहूँ न लगता पार । हो फेरा सब मिट गया सतगुरु के
उपकार ॥—कबीर ।

फि० प्र०—करना ।—लगाना ।

(२) लपेटने में एक एक बार का घुमाव । लपेट । मोड़ ।

बल । जैसे, कई फेरे-देंकर सागा लपेटा गया है ।

फि० प्र०—करना ।—देना ।

(३) बार बार घाना जाना । हथर से उधर घूमना । जैसे,

(क) हथर वह दिन में कई फेरे लगाता है । (ख) कबीर

फेरा लगा रहा है । उ०—भँवर जो सब फूलन का फेरा ।

बास न लेह, भाबतिहि देरा ॥—जायसी ।

फि० प्र०—करना ।—डालना ।—लगाना ।

(४) हथर उधर से आगमन । घूमते फिरते आ जाना या

जा पहुँचना । जैसे, ये कभी तो मेरे यहाँ फेरा करेंगे ।

उ०—(क) पोंगर महीं जो परेवा घेरा । घाय मग्राह कीन्ह

तहँ फेरा ।—भायसी । (ख) जहाँ सतसंग कथा माधव की

सपनेहु करत न फेरो ।—तुलसी । (२) खीटकर फिर

जाना । पलटकर जाना । जैसे, इस समय तो जा रहा हूँ

फिर कभी फेरा कहूँगा । उ०—रुद्रा भयो जो देश द्वारका

कीन्हों जाय घलेरी । आयुन ही या म्रज के कारन करिहि

फिरि फिरि फेरो ॥—चूर । (३) आसक्त । घेरा । मंडल ।

फेराफेरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फेरना] हेरा फेरी । हथर का उधर ।

क्रमपरिवर्तन । उलट पलट ।

फेरि-अव्य० [हिं० फिर] फिर । पुनः । दुबारा । उ०—दास

हते पर फेरि घुजावत थे अब आवत मेरी बलैया ।—दास ।

मुहा०—फेरि फेरि = बार बार । उ०—दरे दरे हेरि हेरि हँसि

हँसि फेरि फेरि कहत कहा नीकी लगत ।—देव ।

फेरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फेरना] (१) दे० "फेरा" । (२) दे०

"फेर" । (३) परिक्रमा । प्रदक्षिणा । भावरी । जैसे,

सोमयती की फेरी ।

फि० प्र०—डालना ।—पड़ना ।—देना ।

मुहा०—फेरी पड़ना = मथिर होना । विवाह के समय वर कन्या
का साथ साथ मंडपस्थल की परिक्रमा करना ।

(४) योगी या कबीर का किसी घरती में भिजा के लिए

परावर जाना । उ०—(क) आरा को हँवत हँस मनसा कहूँ

भभूत । जोगी फिरि फेरी कहूँ यों यनि श्राय मृत ।—

कबीर । (ख) रूप नगर दग जोशिया फात से फेरी

देत । छवि मनि पावत हूँ जहाँ पक्ष फेरी भरि लेत ।—

रसनिधि ।

फि० प्र०—देना ।—लगाना ।

(२) कई बार घाना जाना । चढ़ा । उ०—न्योते गये

मँदलात कहूँ सुनि याह विहात विवेग की घेरी । कतर

कीन्हूँ के पत्राकर दे फिरि जुंजगलीन में फेरी ।—पद्माकर ।

(३) किसी वस्तु को घेघने के लिये उसे लादकर गाँव गाँव

गली गली घूमना । भावरी । (४) वह चरखी जिसपर रस्ती

पर रँझ पड़ाई जाती है ।

फेरीयाला-संज्ञा पुं० [हिं० फेरी + बाला] धूम धूमकर सीढ़ा

बेचनेवाला व्यापारी ।

फेर-संज्ञा पुं० [सं०] गीदड़ ।

फेरघाँ-संज्ञा पुं० दे० "फेरा" ।

फेरौरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फेरना] दूटे कूटे खपरेलों को घासन से

निकाल कर उनके स्थान में नये नये खपरेले रखने की क्रिया ।

फेल-संज्ञा पुं० [पं०] कर्म । काम । कार्य । जैसे, घुरा फेल ।

फि० प्र०—करना ।—होना ।

वि० [पं०] शकृतकार्य । जिससे कार्य में सफलता न हुई

हो । जैसे, हमरादान में फेल होना ।

फि० प्र०—करना ।—होना ।

फैला-संज्ञा पुं० [पं०] समासद । सत्त्व । जैसे, विश्वविद्यालय

का फैला ।

फेल्ट-संज्ञा पुं० [पं०] नमदा । जमाया हुआ जन । जैसे, फेल्ट

की टोपी ।

फैल-संज्ञा पुं० [पं०] (१) चेहरा । मुँह । (२) सामना । (३)

दाढ़का वह कपरी भाग जो छपने पर उभरता है । (४)

पड़की का सामने का भाग जिस पर गूँद और श्रेक रहते हैं ।

फेहरिस्त-संज्ञा स्त्री० दे० "फिहरिस्त" ।

फैसी-वि० [पं०] (१) देखने में सुंदर । अच्छी फाट छाँट या

रंग रंग का । रूप रंग में मनोहर । जैसे, फैसी छाता, फैसी

घोती । (२) विसाज । जो ऊपर से देखने में सुंदर पर

टिकाज न हो । सत्कमलक का ।

फैकरी-संज्ञा स्त्री० [पं०] कारखाना ।

फैज-संज्ञा पुं० [पं०] (१) बुद्धि । ज्ञान । (२) फल । परिणाम ।

मुहा०—अपने फैज को पहुँचना = अपने कर्म का उचित फल

पाना ।

पहुँचाना । जैसे, सुगंध फैलाना, स्वादी फैलाना । (११) प्रसिद्ध करना । बहुत दूर तक ज्ञात या विदित करना । चारों ओर प्रसृत करना । जैसे, बस फैलाना, नाम फैलाना । (१२) आशयान करना । विभूत विधान करना । उपक्रम करना । धूमधाम से कोई बात पक्की करना । जैसे, डंग फैलाना, डोंग फैलाना, आडंबर फैलाना । (१३) गणित की क्रिया का विस्तार करना । (१४) हिसाब किताब करना । लेखा लगाना । विधि लगाना । जैसे, धमाक फैलाना, हिसाब फैलाना, पड़ता फैलाना । (१५) गुणा भाग के ढीक होने की परीक्षा करना । यह किया करना जिससे गुणा या भाग के ढीक या न ढीक होने का पता चल जाय ।

फैलाव-संज्ञा स्त्री० [हिं० फैलाना] (१) विस्तार । प्रसार । पसार । (२) लंबाई चौड़ाई । (३) प्रचार ।

फैलान-संज्ञा पुं० [चं०] (१) डंग । घन । तर्ज । पक्का । चाल । (२) रीति । प्रथा । चलन ।

फैसला-संज्ञा पुं० [च०] (१) यादी प्रतिवादी के बीच उपस्थित विवाद का निर्णय । दो पक्षों में किसकी बात ढीक है इसका विवेचन । (२) किसी व्यवहार या अभियोग के संबंध में न्यायालय की व्यवस्था । किसी मुकदमे में अदालत की आखिरी राय ।

फिं० प्र०-करना ।—सुनाना ।—होना ।

फौक-संज्ञा पुं० [सं० पुं०] तीर के पीछे की नोक जिसके पास पर लगाए जाते हैं और जिसे रोदे पर चढ़ाकर चलाते हैं । इस नोक पर गड़वा या लकड़ी बनी रहती है जिसमें धनुष की डोरी बँध जाती है । उ०—(क) रति संग्राम वीरस साते । हैं हरि ध्यागिरोमणि अगहूँ नहिन संग्राम ताते । परिमल लुब्ध मधुप अहँ बैठत शङ्क न सकत वेहि अँते । मगहुँ मदन के हैं घर पाए फौक बाहरी पाते ।—सूर । (ख) शोभन सिंगार रस की सी छूँट सोई फौक कामशर की सी कहीं युगतिनि जोरि जोरि ।—देशप । (ग) समर में धरिगज-कुंभन में हनी तीर फौक ली सम्रात वीर ऐसे तैगधारी है । रावरे कुचन कुचन की बराबरी चहत पाते साळत है तिन्हें सेवा करत विहारी है ।—गुमान । (घ) पान कठोर एक मुँह छूटहि । याजहि अहाँ फौक लहि छूटहि ।—जायसी ।

वि० [दे०] दलालों की बोली में 'चार' ।

फौकलाय-वि० [दे०] चौदह । (दलाल)

फौका-संज्ञा पुं० [सं० पुं० बाहि० फूँकना] (१) लंबा और पेशा घोंगा । फौफी । (२) मटर आदि पेशी डंडल वाले शब्दों की फुनारी । (३) दे० "फूका" ।

फिं० प्र०-लगाना ।—मारना ।—देना ।—करना ।

(४) दे० "सरफोका" ।

फौकागोला-संज्ञा पुं० [हिं० फौक + गोल] गोप का लंबा गोला । फौदा-संज्ञा पुं० दे० "फूँदना" "फूँदना" । उ०—यमुना पुनि-गहि रणो रंग सुरंग दिडोरे । रमन रामश्याम संग मज-बालक सुग पाचत हैंनि मोलने । गावत-मलार सुराग रागिनी गरिधरन लाल छवि सोलने । पंच रंगरन धरन पाटहि पविशाय विच विच फौदा मोलने ।—सूर ।

फौफर-वि० [पुं०] (१) पोटा । सावकाश । (२) फोक । निःसार । खाल ।

फौफी-संज्ञा स्त्री० [पुं०] (१) गोल लंबी नली । छोटा घोंगा । (२) दाँत की नली जिससे सोमार लोहार आदि भाग धँकते हैं । (३) नाक में पढ़ने की पेशी कील । छुँड़ी ।

फोक-संज्ञा पुं० [सं० स्फोट + सं० वरकल, हिं० बोकला हिं० फोकना]

(१) सार निकल जाने पर बचा हुआ थरा । वह वस्तु जिसका रस या सत्व निकाल लिया गया हो । सीडी । (२) भूली । तुप । यह वस्तु जिसमें छिलका ही छिलका रह गया हो, घसल चीम निकल गई हो । (३) बिना स्वाद की वस्तु । फीकी या नीरस चीज ।

संज्ञा पुं० [दे०] एक नृत्य जिसका साम बनकर लोग खाने हैं । सूक्ष्मपुष्पी ।

विशेष-यह मारवाड़ की शौर होता है और रैचक और डंडा माना जाता है । बैचक में यह रक्तपित्त और कफ का नाशक कहा गया है ।

फोकट-वि० [हिं० फोक] तुच्छ । जिसका कुछ मुख्य न हो । निःसार । व्यर्थ । उ०—(क) खल प्रयोध अग सोप मन के निरोध कुल सोध । कहिं ते फोकट पयि मरहिं मपनेहु सुख । सुबोध ।—तुलसी । (ख) कलि में न विराग मज्ञान कहूँ सब लागत फोकट फूँट अटो ।—तुलसी । (ग) जोरत मे नाते नेह फोकट फीके । सैह के दाहक गाहक जी को ।—तुलसी । (घ) करम कलाप परिताप पाप साने सय उषों सुफूल फले रूप फोकट करनि । दम सोम लालच उपासना विनासिनी के सुगति साधन भई बरभरनि ।—तुलसी । मुहा०—फोकट का = (१) बिना परिश्रम का । (२) बिना मूल्य का । मुफ्त । जैसे, क्या यह फोकट का है जो मोही दे दे । फोकट में = बिना भ्रम और व्यय के । मुफ्त में । यों ही ।

फोकला-संज्ञा पुं० [सं० वरकल, हिं० बोकला] (१) फोकलार्ड] किसी फल आदि के ऊपर का छिलका ।

फोकस-संज्ञा पुं० [चं०] (१) वह बिंदु जहाँ पर प्रकाश की छिटाई हुई किरणें एकत्र हों । इस बिंदु पर ताप और प्रकाश की मात्रा अधिक हो जाती है जैसे ब्रह्मतोदर वा आसरी शीशे में दिखाई पड़ता है । (२) फोटो खेने के लिए लेस द्वारा बस घातु की छाया को जिसका छाया-चित्र लेना है निश्चय स्थान पर स्थित रूप से लाने की क्रिया ।

फोड़ना—क्रि० घ० [सं० स्फोटन, प्रा० फोडन] (१) खरी या कसारी वस्तुओं को दबाव या आघात द्वारा तोड़ना । खरी वस्तुओं को पीड़ पीड़ करना । दरकाना । भग्न करना । विदीर्ण करना । जैसे, (क) घड़ा फोड़ना, चने फोड़ना, बरतन फोड़ना, चिमनी फोड़ना, पत्थर फोड़ना । (ख) शकल घना भाङ्ग नहीं फोड़ सकता । उ०—रोबिन् रानी तजै पराना । फोरहिं पुरी, बरहिं गरिहाना ।—जायसी ।

संयो० फि०—डालना ।—देना ।

घो०—तोड़ना फोड़ना ।

मुहा०—झगलियाँ फोड़ना = उँगलियों को खोंच या मोड़कर इनके जोड़ों को छटखट मुलाना । उँगलियाँ चटफाना ।

विशेष—इस क्रिया का प्रयोग खरी या कसारी वस्तुओं के लिए होता है, चमड़े, लकड़ी आदि चीमड़ वस्तुओं के लिए नहीं ।

(२) ऐसी वस्तुओं को आघात या दबाव से विदीर्ण करना जिनके भीतर या तो पैला हो अथवा मुलायम या पतली चीज भरी हो । जैसे, कद्दल फोड़ना, फोड़ा फोड़ना, मिर फोड़ना । उ०—सूर रहे इस अधिक बड़े नहिं गूलर को तो फल फोरे ।—सूर ।

मुहा०—अंश फोड़ना = अंश नष्ट करना । अंश को ऐसा कर डालना कि उल्टे दिशाई न दे ।

(३) केवल आघात या दबाव से भेदन करना । धड़ से दार डोङ्कर उस पार निकल जाना । जैसे, (क) पानी बाँध फोड़कर निकल गया । (ख) गोली दीवार फोड़कर निकल गई ।

विशेष—किसी भारदार वस्तु (फलहार, तीर, माला) के धुम या धँस कर उस पार होने को फोड़ना नहीं कहेंगे । उ०—(क) पाहन फोरि गंग हूक निकली चहुँ दिसि पानी पानी । रोहि पानी दुह परवत वृद्धे दरिया लहर समानी ।—कबीर । (ख) प्रहरभ फोरि जीय भैं मिल्पो बिलोकि जाय । गेह चरि ज्यों चकोर चंद्र में मिलयो उड़ाय ।—केशव ।

(४) शरीर में ऐसा विकार या दोष उत्पन्न करना जिससे स्थान स्थान पर घाव या फोड़े हो जायँ । जैसे, पारा कभी मत खाना, शरीर फोड़ देगा । (५) झुड़ी हुई वस्तु के रूप में निकालना । अथवा, जोड़ या वृद्धि के रूप में प्रकट करना । थंडुर, कनखे, शरारा आदि निघालना । जैसे, चौपे का कमरे या शरारा फोड़ना । (६) शास्त्र के रूप में अलग होकर किसी सीध में जाना । जैसे, नदी कई शाखाएँ फोड़कर समुद्र में मिली है । (७) पच छुड़ाना । एक पच से सलग करके दूसरे पच में कर लेना । जैसे, उसने हमारे दो गवाह फोड़ लिए । (८) साथ छुड़ाना । संग में न रहने देना । जैसे, हम लोग साथ

ही साथ चले थे तुम हुन्हीं कहाँ फोड़ कर ले चले ? (९) भेदभाव उत्पन्न करना । मैत्री या मैत्रजाल से अलग कर देना । घूट डालकर अलग करना । (१०) गुप्त बात सहसा प्रकट कर देना । एकपारगी भेद खोलना । जैसे, बात फोड़ना, भंदा फोड़ना ।

फोड़ा—संज्ञा पुं० [सं० स्फोटकता विभिका, प्रा० फोट] [श्री० कप० कोटिया] एक प्रकार का शोष या उभार जो शरीर में कहीं पर कोई दोष संचित होने से उत्पन्न होता है और जिसमें जलम और पीड़ा होती है तथा एक सद्गुण पीष के रूप में हो जाता है । मण । आपसे आप होनेवाला उभार हुआ घाव ।

विशेष—सुघृत के अनुसार मण या घाव दो प्रकार के होते हैं—शारीर और आंगतुल्य । चरकसंहिता में भी निम्न और आंगतुल्य दो वे दो भेद कहे गए हैं । शरीर या निम्न मण यह घाव है जो शरीर में आपसे आप भीतरी दोष के कारण उत्पन्न होता है । इसी को फोड़ा कहते हैं । वैद्यक के अनुसार वात, पित्त, कफ या सत्रिघात के दोष से ही शरीर के किसी स्थान पर शरीर मण या फोड़ा होता है । दोषों के अनुसार मण के भी वातज, पित्तज, कफज तीन भेद किए गए हैं । वातज मण फोड़ा या घुरसुरा, कृष्णवर्ण, अल्पस्रावयुक्त होता है और उसमें सूई चुभने की सी पीड़ा होती है । पित्तज मण बहुत दुर्गंधयुक्त होता है और उसमें दाह, प्यास और पसीने के साथ उब्र भी होता है । कफज मण पीड़ापन विष, मीला, चिपचिपा और कम पीड़ावाला होता है ।

फोड़िया—संज्ञा पुं० [हिं० फोड़ा, वा सं० विभिका] छोटा फोड़ा । कुनसी ।

फोता—संज्ञा पुं० [फा०] (१) पड़का । कमरबंद । (२) पगड़ी । बिरबंद । (३) वह रुपया जो प्रजा उस भूमि या चित्त के लिए जो उसके अधिकार या जेत में हो राजा या जमिंदार को दे । फोत । उ०—साँभो सो तिलघार कहायै । काया ग्राम बसाहत करिके जमा थाँधि डहराई । समन्य करै केंद्र अपनी में जान बहतिया लावै । मांझि मांझि खलिहान कोष को फोता भजन भरायै ।—सूर । (४) थैली । कोप । धैला । (५) थंडकोश ।

फोतेदार—संज्ञा पुं० [फा०] (१) खगोली । कोपाप्यध । (२) तहवीलदार । रोकड़िया ।

फोनोग्राफ—संज्ञा पुं० [फा०] एक यंत्र जिसमें ध्वनि में गाए हुए राग, कही हुई बातें और बजाए हुए वाद्यों के स्वर आदि चूर्णों में भरे रहते हैं और ज्यों के त्यों सुनाई पड़ते हैं । यह सद्गुण के आकार का होता है । इसके भीतर चक्कर लगे रहते हैं जो चाबी देने से आपसे आप घूमने लगते हैं । इसके बीच में एक छुई या धुरी होती है जिसकी एक मोक

मनुष्य के ऊपर दीव में निहथी रहती है। श्वेत के समूह
घोर भिगारे पर एक पादा होता है जिसके छोर पर गूदे
लेगी रहती है। इसी तरह पर बजाते समय एक गोला
हवा दिया जाता है।

पूजिमां जिनपर गीत राग या बड़ी हुई बातों
 यकिन रहती हैं रोटी के प्याहार की होती हैं। इनपर मलय
 से जाम'अ बरके परिधि तक गई हुई महीन रेखाओं की
 मुंडलियां होती हैं। पूजियों में कोषांतर हम प्रकार संकेत
 की जाती या मरी जाती है—एक मंत्र होता है जिसके एक
 त्रिरे पर चोंगा बीर दूसरे त्रिरे पर मूर्द लगी रहती है।
 गाने, बजाने या कोठनेवाला चोमे की ओर घूँट कर गाता,
 बजाता या कोठता है। उस शब्द से पापु में लक्ष्मि
 वज्र होकर चोमे के दूसरे त्रिरे पर की गई वो संपाजित
 करती हैं। इसी समय पूषी भी गुमाई जाती है और उस
 पर चोमे हुए शब्द, माए हुए राग या बाने की ध्वनि के
 कंपगित मूर्द द्वारा संकेत होने जाते हैं। जब फिर इसी
 प्रकार का शब्द सुनता होता है तब वही पूषी कोमोप्राक में
 मन्दक के बीच में निकली हुई कील में लगा दी जाती है
 और फिर के वरदे में लगी मूर्द पूषी की वरछी या
 चार'न की रेखा पर लगा दी जाती है। कुंती होने से भीतर
 के बन्दर घूमने लगते हैं जिससे पूषी कील के सहारे मापनी
 है और मूर्द लक्ष्मी पर घूमकर चोमे में लगी मशर के
 पापु तर'न वज्र करती है जिस प्रकार के पूषी में संकेत
 हुए थे। ये ही पापुतर'न कर कर में लगे हुए पुओं को
 दिखाने हैं जिससे चोमे में से दोहर पूषी में भरे हुए लक्ष्मी
 या स्वर्ग की प्रतिपत्ति गुमाई देनी है। यह ध्वनि कुछ
 चीन्सी होती है और पापु की कनकनानद और मूर्द की कन-
 कनानद के साथ कुछ ध्वनि हो जाती है फिर भी सुनने-
 वाले को मूर्द के लक्ष्मी और स्वर्ग का बीच पूरा पूरा होता
 है। कोमोप्राक में स्वर्ग का ब्रह्मण्ड वर'जनों की अपेक्षा
 अधिक स्पष्ट होता है और वर'जनों में सबीर अ का इच्छा
 हुआ करण होता है कि इनमें कम भेद जान बचना है।
 गेय वर'ज कुछ स्पष्ट होते हैं पर भी बजाने कोच बजाने के
 जिक्र, पचाते होते हैं। इस व'ज के कोच'बजाक ध्वनितक
 के इतिवृत्त वैज्ञानिक लक्षण स्पष्ट हैं।

योगेश्वरप्रसाद—“आ. पु. ॥ ५० ॥” एक बंश जिसके द्वारा भोजने-
वाले को मारो तो मृत्यु प्राप्ता होती वा संभव होता है। एक
बंश एक वीर के बाला का होता है। यही वा एक मुँह
तो विष्णु का मुख होता है और दूसरी ओर ब्रह्म बंश
होता है। और तो एक बाला प्राप्ता होता है जिसका एक
पक्षी मुँह तथा बली है। इसी मुँह से मृत्यु प्राप्त प्राप्ता
प्राप्ता होती वही वा संभव होता है। है— “योगेश्वरप्रसाद”।

फोया-मोया पुं० [सं० फण = हाँ का] मरे के माते का दुपहा।
मरे का घर मरणा ।

फोदना-दि० स० त्र० "फोदना" ।

फोरमिन-मोहा शु. ० [५०] कासातो में, कामिरो में आ
करनेवाले का सादाग या म्यादाग। जैम, मेम का पो-
मैम, जोदागमन का फोरमिन।

फालियो-धंया पु० [७०] कागज के हथते न। साधा माग।

फोहो-गोहा पुं० [सं० ग्राह्य = सर्व का] सर्व के गाने का संग्रह
दृष्टा । पाहा ।

कोहलार-गंगा पुं. दे. "कुहारा", 'कुहार' ।

कौश्याय-भंश पु० दे० "कुशास" ।

मीकना-दि० अ० [२३०] धींग माता । यह ब्रह्मरूपी
रक्षा ।

फौज-यहा थीं [५०] (१) मुँह । जभा । (२) सेवा ।
जराहर । ३०—(क) बार बड़े जोड़ा कम्मे हूँ तिराई में जा
बकिनासी की फौज में साड़ी दाम कड़ी ।—बकी । (ग)
मुनि बट मोहन पंडित रहति । कीर्ता बटु विचार । भाग्य
मगध देश से भागे भागे फौज चरा ।—गूर । (ग)
हैं मारिहैं मृत होत भाई । कम कदि राममुख फौज
देगाई ।—मुजारी । (घ) भाइ भाइ भाइ भाइ भाइ
मुखावे देरि । फौजी फौज के बीच में हैंगी मगध मुख हैरि ।
—तिनारी ।

पूँजिदाद—हंता पुं० [५१०] सेना का प्रधान । सेनापति । सेना का बोझ वहनकर्ता ।

कृति-प्र०—हरना ।—होना ।

[illegible]

विद्येय-वैदित्य के अन्तर्गत में व्यापकत्व के दो विभाग
विज्ञाते पड़ते हैं—धर्मकीय और वैयक्तिक। वैयक्तिक
भाव्य अधिष्ठान में व्यापक के अन्तर्गत के सामान्य
व्यक्तिगत और धर्मकीय में धार्मिक के अन्तर्गत में दो
और व्यवसाय के दो भाग मिलते हैं।

ਪ੍ਰਤਿਸ਼ਠਾ-ਵਿਭ [੨੨] ਰੋਜ਼ਾਨਾਪਤੀ । ਸੰਨਿਭ । ਸੰਸਾਰ, ਸੰਸਾਰ
ਦਾਦਸੀ, ਸੰਸਾਰੀ ਦਾਦਸੀ ।

परीक्षा-दि. { २० } मध्य : सुबह : १०.०० ।

मृदा - कण्टक कीज होना - १५.५.५५ ई.स.

पुनर्वसन-५० दि० [४०] दृष्टि : उत्तरार्ध : अग्रतः ।

प्रीत्याद-१० गु० [१०० १०००] एवं सदाः सदाः सदाः सदाः
सदाः सदाः सदाः सदाः सदाः सदाः सदाः सदाः

पुनः प्रश्न-१० [अ-०] (१) नदीनाम कस्य मय दत्ता । संकेतः

फौजारी गिरह । (२) दड़ । कटिन । मजबूत । जैते, फौजारी यदन ।

संज्ञा स्त्री० बल्लम की छड़ । भारी की लकड़ी ।

फौवार-संज्ञा पुं० दे० "कुहार" ।

फ्यादुर-संज्ञा पुं० [सं० फे] गीदड़ । श्याल ।

फ्रांसीसी-वि० [फ्रां०] (१) फ्रांस देश का । फ्रांस देश में उत्पन्न । (२) फ्रांस देश में रहनेवाला । फ्रांस देशवासी ।

फ्राक-संज्ञा पुं० [सं० फ्राक] लंबी शास्त्रीय का ढीला ढाला कुरता जिसे प्रायः बच्चों को पहनाते हैं ।

यौ०-गंगी फ्राक = बगियान ।

फ्रिक्केट-संज्ञा स्त्री० [फ्रं०] लोहे की चदर का बना हुआ चौलटा जो हाथ से थलाए जानेवाले मैदान के डाले में जड़ा रहता है । छापने के समय कागज के तख्ते को डाले पर रख कर इसी चौलटे से ऊपर से धड़क कर देते हैं, फिर डाले को गिरा कर मैदान में दधाते हैं । कागज के तख्ते पर बन उन जगहों पर जो फ्रिक्केट के छेद से खुली रहती हैं मैदर छप जाता है और शेष थंडा टके रहने से खादा रहता है ।

फ्री-वि० [फ्रं०] (१) स्वतंत्र । जिसपर किसी की दाव न हो । (२) कर या महसूल से मुक्त । मुक्त । जैसे, फ्री स्कूल, फ्री पढ़ना ।

फ्रीट्टेड-संज्ञा पुं० [फ्रं०] यह पाणिपत जिसमें माल के जाने जाने पर किसी प्रकार का कर या महसूल न लिया जाय ।

फ्रीमैसन-संज्ञा पुं० [फ्रं०] फ्रीमैसनरी नाम के गुप्त संघों का सम्य ।

फ्रीमैसनरी-संज्ञा स्त्री० [फ्रं०] एक प्रकार का गुप्त संघ या सभा जिसकी शाखा प्रशाखाएँ यूरोप अमेरिका तथा उन सब स्थानों में हैं जहाँ यूरोपियन हैं ।

विशेष-इस सभा का उद्देश्य समाज की रक्षा करनेवाले सत्य, धर्म, औदार्य, आनृभाष आदि का प्रचार कहा जाता है । फ्रीमैसनरी की समाधि गुप्त हुया करती है और उनके बीच कुछ गेने संकेत होते हैं जिनसे वे अपने संघ के अनुयायियों को पहचान लेते हैं । ये संकेत कोनिया, परकार आदि राजगीरों के कुछ चीजों के चिह्न बदे जाते हैं । प्राचीन काल में यूरोप में इन कारीगरों या राजगीरों की इसी नाम की एक संस्था थी जो बड़े बड़े गिरजे बनाया करते थे । इन्हीं संकेतों के कारण जो असली कारीगर होते थे वे ही भरती हो पाते थे । इसी आदर्श पर सन् १७१७ ई० में फ्रीमैसन संस्थाएँ स्थापित हुईं जिगका उद्देश्य अधिक व्यापक रखा गया ।

फ्रेंच-वि० [फ्रं०] फ्रांस देश का ।

फ्रेंच पेपर-संज्ञा पुं० [फ्रं०] एक प्रकार का हल्का पतला और चिकना कागज ।

फ्रैम-संज्ञा पुं० [फ्रं०] धाकड़ा ।

फ्रैमिड्याय-संज्ञा पुं० [फ्रं०] फ्रेंस में वह लड़का जो प्रेस पर से छपे हुए कागज मशीन से छपट कर बतारता है और उन पर आँख दौड़ा कर छपाई की श्रुति की सूचना प्रेसमैन को देता है ।

फ्रैट-संज्ञा पुं० [फ्रं०] बंसी की तरह का एक अंगरेजी बाजा जो फ्रैंक कर बजाया जाता है ।

य

य-हिंदी का सेहूधर्मा व्यंजन और पवर्ग का तीसरा वर्ण । यह श्रोत्रिय वर्ण है और दोनों होठों के मिलाने से हलका उच्चारण होता है । इसलिए इसे स्पर्शवर्ण कहते हैं । यह अव्यय-प्राण है और हलके उच्चारण में सवार, नाद और घोष नामक चाल प्रयत्न होते हैं ।

यँउल्ला-संज्ञा पुं० [सं० गड्] काले धाने का एक बंध जिसमें कच्चे लगे रहते हैं और जिसे क्षिपा वाह में कोहनी के ऊपर बांधती हैं ।

यंक-वि० [सं० यंक, बंक] (१) टेढ़ा । तिरछा । (२) घुफाया । विकमशाली । (३) दुर्गम । जिस तक पहुँच न हो सके । उ०—(क) जो यंक गड़ लंक से उठा उकेलि दाहिने ।—मुलसी । (ख) लंक से बंक महापद दुर्गम दाहिने दाहिने को कदरी है ।—मुलसी ।

संज्ञा पुं० [सं० बंक] वह कार्यालय या संस्था जो लोगों का अपना खुद देकर अपने यहाँ जमा करती अथवा खुद से कर लोगों को चण्य देती है, लोगों की हुईर्षा लेती और

भेजती है तथा इसी प्रकार के दूसरे महाजनी के कार्य करता है ।

यंकट-वि० [सं० बंक] यंक । टेढ़ी । उ०—(क) ठकति चली गटक मुँह मोरै यंकट मोद मरोरै ।—सूर । (ख) झुकति यंकट चारु लोचन रही युवती देखि ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [?] हनुमान । (हिं०)

यंकनाल-संज्ञा स्त्री० [हिं० बंक + नाथ] सुनारों की एक नली जो बहुत चारीक लुकड़ों की जोड़ाई करने के समय चिराग की ली फूँकने के काम आती है । यगनहा ।

यंकराज-संज्ञा पुं० [सं० बंकराज] एक प्रकार का सर्प । उ०—पातराज, दुधराज, यंकराज, शंकर-नूर और मखिचूर आदि सर्प बड़े फनवालों में हैं ।—सर्पायात-चिकित्सा ।

यंकवा-संज्ञा पुं० [सं० बंक] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है । इसका चावल सैकड़ों वर्ष तक रह सकता है ।

पंकसार-पंठा पुं० [दे०] अक्षर का बड़ बड़ा समान जिसमें मालूमों पर चन्द्रनिपाती संस्कारों का अक्षरों आदि सँवार या छोक करके रनी जाती है ।

पंका-वि० [सं० पंक] (१) टेढ़ा । तिरछा । (२) चिन्ता । (३) पराक्रमी । चक्रवर्ती ।

पंका पुं० [दे०] दूर देश का एक कड़ीया जो धान के पीछों से दानि पहुँचाता है ।

पंकाई-पंका छी० [सं० पंक + पंका (प्रत्यय)] टेढ़ावन । तिरछा-वन । व०—प्रापु पंकाई ही पंका गरीब सुखम साज ।—विशारी ।

पंकी-पंका छी० दे० "पंक" ।

पंकुर्दा-वि० दे० "पंक" ।

पंकुरता-पंका छी० [सं० पंकता] टेढ़ाई । टेढ़ावन । व०—चापन में सुगन्धान मुद्रावनी, पंकुरता चंचलवान बहै है ।—निवाहीरास ।

पंग-पंका पुं० दे० "पंक" ।

पंगर-पंका गी० [सं० पंग] एक प्रकार की बढिया बगाम जो फिटफट में बहुत पैदा होती है ।

पंगनापारी-पंका छी० एक देशी गुमलमानी रियासत ।

पंगला-वि० [हिं० पंगल] पंगाल देव का । पंगाल भवैसी । जैसे, पंगला मिठाई, पंगला जूना ।

पंका पुं० (१) एकजना कथा प्रकाल जियपर कूस का लपटों का धूपर चढ़ा हो । (२) बड़ छोटा इकायत और पारों और से सुभा हुआ एक मंत्रिल का प्रकाल जिसके पारों और परामर्श हैं । पहले इस प्रकार के प्रकाल पंगाल में बचिहता से होते थे । पंकाई की देखा देखा पंगाल-देख भी करने रहने के प्रकाल बनाने और उन्हें पंगला कहने लगे थे । (३) बड़ छोटा इकायत कमरा जो प्रायः गहनों की लकरी रखरखायी गुन पर बनाया जाता है ।

(४) पंगाल देव का नाम ।

पंका छी० पंगाल देव की भाषा ।

पंगला-पंका पुं० [हिं० पंगल] (१) एक प्रकार का भाग । (२) एक प्रकार का गहर ।

पंगली-पंका छी० [हिं० पंगल] जिसका एक साधारण जो हाथों में बूझों के साथ बढना जाना है ।

पंगली-पंका पुं० [१] पंगली । (हिं०)

पंगला-पंका पुं० [१] गुन की तरह बना हुआ बड़ मकरा जो मधुन में दूर तक कटा जाता है और जिन पर से लोग जलाना या चढ़ने का उगने उगते हैं । वनसार ।

पंगली-पंका [सं० पंगली] (१) टेढ़ा । (२) चूने । पंगली । (३) पंकाई मकरा करनेवाला । वृद्ध ।

पंगली-पंका पुं० [सं० पंगली] वनसार । (हिं०)

पंगाल-पंका पुं० [सं० पंगली] (१) पंगल देव का भाषा या पंगली बोल है । (२) बड़ राग का गाय जिये कुन लोग सेव राग का और कुन भव राग का पुन मानते हैं ।

पंगालिका-पंका छी० [१] एक भाषिणी जिये कुन पंगल सेव राग की की मानते हैं ।

पंगाली-पंका पुं० [हिं० पंगली + ई (प्रत्यय)] (१) पंगाल देव का निवासी । (२) पंगली जालि का एक राग ।

पंका छी० [हिं० पंगली] पंगल देव की भाषा । पंगली ।

पंगली-पंका छी० दे० "पंगली" ।

पंगली-पंका पुं० [दे०] (१) एक प्रकार की मधुली जो साँव दक्षिण तथा पंगाल की नदियों में होती है । (२) भीत का जंगी भागव गिराईना जिसे धालक मचाने हैं ।

पंगोमा-पंका पुं० [दे०] एक प्रकार का मधुमा जो मधु और मिश्र में होता है । इसका नाम गाने मोग होता है ।

पंगक-पंका पुं० [सं० पंगक] पुन । पंगली । पंगली । व०—जगि गुणैय जगद्वेषक जेकर । पंग प्रताप गुणिवन जेकर ।—गुजरी ।

पंका पुं० [दे०] और के रूप रंग तथा बाकार प्रकाल की एक भाषा का भाषा जो पंगली देवों में पैदा होता है और और में मित्राकार सेवा प्राप्ता है ।

पंगकता, पंगकताई-पंका छी० [सं० पंगकता] पुन । भूत । पाटवासी ।

पंगक-पंका पुं० [सं० पंगक] पुन । पंगली ।

पंगकता-पंका छी० [सं० पंगकता] दगी । पुन । व०—इस दान दवा बहिं जानगी । पुन । पर पंगकता पंगी ।—गुजरी ।

पंगला-पंका छी० [सं० पंगला] दगी ।

पंगली-पंका [हिं० पंगली] दगी । पंगली । व०—पंगली मोहि जेन धरि देहा । पंगली गनु पंगली गार । गंग ।—गुजरी ।

पंगली-पंका पुं० दे० "पंगली" ।

पंगली-पंका [हिं० पंगली] पंगली । पुन । व०—पंगली मधुन काका ।

पंगली-पंका दे० "पंगली" ।

पंगली-पंका [हिं० पंगली] पंगली । पुन । व०—पंगली बरसा । पंगली ।

पंगली-पंका [हिं० पंगली] पंगली । पुन । व०—पंगली बरसा । पंगली ।

पंगली-पंका [हिं० पंगली] पंगली । पुन । व०—पंगली बरसा । पंगली ।

पंगली-पंका [हिं० पंगली] पंगली । पुन । व०—पंगली बरसा । पंगली ।

पंगली-पंका [हिं० पंगली] पंगली । पुन । व०—पंगली बरसा । पंगली ।

पंजरा-पंशा पुं० [सं० वन + कञ्] यह भूमि जिसमें कुछ उत्पन्न न हो सके। जतर।

पंजारा-पंशा पुं० दे० "वनजारा"।

पंजुल, पंजुलक-पंशा पुं० दे० "पंजुल"।

पंन्ता-वि० [सं० पन्था] (यह स्त्री) जिसके संतान न हो। बन्धक।

पंशा श्री० [सं० पंथा] यह स्त्री जिसमें संतान पैदा करने की शक्ति न हो। बन्धक।

पंटना-कि० प्र० [सं० पटना] (१) विभाग होना। अलग अलग हिस्सा होना। जैसे, यह प्रदेश तीन भागों में पंटा है। (२) कई व्यक्तियों को अलग अलग दिया जाना। कई प्राणियों को भीख सप को प्रदान किया जाना। जैसे, (क) बड़ी गरीबों को कपड़ा पंटना है। (ख) सब तो सब काम पंटा गए, तुम्हारे लिए एक भी न बचा।

पंथो० कि०-ताना।

पंथा पुं० दे० "पटना"।

पंथवाई-पंशा श्री० [हिं० पंथवा] पंथाने की मजदूरी।

पंशा श्री० [हिं० पंथवा] पिसवाने की मजदूरी।

पंथवाना-कि० प्र० [सं० पितरण] पंथाने का काम दूसरे से कराना। सबको अलग अलग करके दिलवाना। वितरण कराना।

कि० प्र० [सं० वतन] पिसवाना।

पंथा-पंशा पुं० [सं० पन्थ, हिं० पन्था = पन्था] [श्री० अथवा पंथा] गोल चपटा चोकर कुछ छोटा टुकड़ा। जैसे, पान का पंथा, टाकुर जी के सींग का पंथा।

वि० छोटे कद का। छोटे आकारवाला।

पंथाई-पंशा श्री० [हिं० पंथवा] (१) पंथाने का काम। वितरण करना। (२) पंथाने की मजदूरी। (३) पंथाने का भाव। (४) दूसरे को खेत देने का वह प्रकार जिसमें खेत जोतने-वाले से मालिक को लगान के रूप में धन नहीं मिलता बल्कि बपन का कुछ श्रेय मिलता है। जैसे, ग्रय की पार सब खेत पंथाई पर उठा दो।

पंथाना-कि० प्र० [हिं० पंथवा] (१) मांग कर लेना। हिस्सा काकर अपना श्रेय ले लेना। (२) किसी काम में हिस्सेदार होने के लिए या दूसरे का योग्य हलका करने के लिए कामिल होना। जैसे, दुख पंथाना।

मुहा०-हाथ पंथाना = दे० "हाथ" के मुहा०।

पंथाना-वि० [हिं० पंथवा] पंथानेवाला। हिस्सा करानेवाला। उ०-शोल्ट नहीं मौन कह साधी विपति पंथान वीर।-सूर।

पंथी-पंशा श्री० [हिं०] दिन आदि पशुओं को फँसाने का जाल या फँदा।

पंथा श्री० दे० "पंथा"।

पंथिया-पंशा पुं० [हिं० पंथाना + पन्था (प्र०)] पंथा लेनेवाला। पंथानेवाला। हिस्सा लेनेवाला।

पंथल-पंशा पुं० [सं०] कागज या कपड़े आदि में बँधी हुई छोटी गठरी। बुलुंदा जैसे, चरपारों का पंथल, मितायों का पंथल, कपड़ों का पंथल।

पंथुवा-वि० दे० "बाधा"।

पंथा-पंशा पुं० [हिं० पंथा] एक प्रकार का कच्चा या अर्धवै जो आकार में गोल, गठदार और कुछ लंबोत्तरी होती है।

पंथा पुं० [सं० पंथा] छोटी दीवार से घिरा हुआ वह स्थान जिसमें शयन भरा जाता है। बड़ी बखारी।

पंथी-पंशा श्री० [हिं० पंथा = कटा हुआ] (१) बिना अस्तीन की मिराई। फतुही। फुलती। (२) बगलवादी नामक पहनने का वस्त्र।

पंथीरा-पंशा पुं० दे० "पंथीरी"।

पंथीरी-पंशा श्री० [हिं० पंथीरा = पन्था या सं० पंथीरा] यह लकड़ी जो पुरैल की प्दानन में मंगरे पर लगती है। यह दो पलिया प्दानन में भीखीय ल'बाई में खगाई जाती है। उ०-घोरी का पानी पंथीरी जाय। कंठा हूँ सिल हतराय-कबीर।

पंथ-पंशा पुं० [सं०] (१) वह पदार्थ जिससे कोई वस्तु बाँधी जाय। (२) पानी रोकने का पुस्त। रोक। पुरता। मँड़। बाँध। विशेष-दे० "बाँध"। (३) शरीर के अंगों का कोई जोड़।

कि० प्र०-बकड़ जाना।-दीले होना।

(४) वह पतला सिला हुआ कपड़े का पीता जिससे अँग-रखे, चोली आदि के पत्ते बाँधे जाते हैं। तनी। (५) कागज का लंबा और बहुत कम चौड़ा टुकड़ा। (६) बड़ कविता का टुकड़ा या पद जो पाँच या छः पंक्तियों का होता है। (७) बंधन। कैद।

वि० [सं०] (१) जिसके चारों ओर कोई अवरोध हो। जो किसी ओर से खुला न हो। जैसे, (क) जो पानी बंद रहता है, वह सड़ जाता है। (ख) चारों ओर से बंद मकान में प्रकाश या हवा नहीं पहुँचती। (२) जो इस प्रकार घिरा हो कि उसके अंदर कोई जा न सके। (३) जिसके मुँह अथवा मार्ग पर दरवाजा, दकना या ताला आदि लगा हो। जैसे, बंद सड़क, बंद कमरा, बंद दूकान। (४) जो खुला न हो। जैसे, बंद ताला। (५) जिसका मुँह या मार्ग का मार्ग खुला न हो। जैसे, (क) कमलें रात को बंद हो जाता है। (ख) शीमी बंद करके रख दो। (६) (किवाड़, दकना, पंथला आदि) जो ऐसी स्थिति में हो जिससे कोई वस्तु भीतर से

बाहर न जा सके और बाहर की चीजें चंदर न पा सके।
जैसे, किताबें बाहर से चंद हो गईं। इसका रकबा
चंद कर दो। (१) जिसका कार्य रका हुआ या स्थगित
हो। जैसे, कुछ वस्तुएं चंद थीं। (२) जो गलत या
भ्रम हो। जैसे, मैंने चंद होना, चंदी, चंद होना, जड़ाई
चंद होना। (३) जिसका प्रचार, प्रकाश या कार्य आदि
रक गया हो। जैसे, चंदी बंदी। जिसका निवृत्तिवादी आती हो।
जैसे, (४) एक जगह में बड़े समारोह चंद हो गए।
(५) पाया होने के कारण जगहों पर चंद करवा
चंद कर दिया। (६) जो किसी तरह की चीज में हो।
जैसे, चंद "चंद"।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) मजिस्ट्रेट इंटर की चंदगी।
इंटरमिडियट। (२) मेक। विद्यमान। (३) चांदन।
प्रकाश। सत्यता।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।
(४) चंदगी। चंदगी। (५) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।

जो चंदगी का तो मैं समझू तो बहुत कुछ जितना कुछ
होता है। इसकी भाषा पंथिमा जितनी होती है जितने
से कुछ तो पंथिमा और पुराने और चंदगी के रक्त रक्त
रक्तियों के रक्तियों में चंदगी होती है। इनमें तो कुछ जितने
तो बहुत ही छोटी होती है, इसकी छोटी कि जितने चंदगी
का चंदगी है और कुछ इसकी चंदगी होती है कि जितने
आकार आदि मनुष्य के आकार तक बहुत छोटी है।
छोटी जितनी के चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी
जितनी के चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी
हैं जो चंदगी के भीचे किसी प्रकार की चंदगी आदि के
पथं चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी
चंदगी चंदगी के चंदगी की चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी
की ली होती है। इसी जितने के "चंदगी" (चंदगी मनुष्य)
चंदगी चंदगी है। ये चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी
हैं, मात चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी
के चंदगी के चंदगी में चंदगी चंदगी के चंदगी में चंदगी
होते हैं। इनमें बहुत कुछ चंदगी की होती है और ये चंदगी
में चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी
के चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी
के चंदगी चंदगी में चंदगी है, चंदगी चंदगी। ये चंदगी में चंदगी
चंदगी चंदगी चंदगी है। इनमें चंदगी की चंदगी चंदगी चंदगी
है। चंदगी, चंदगी, चंदगी, चंदगी चंदगी चंदगी चंदगी
चंदगी है।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।
चंदगी। (२) चंदगी। चंदगी। (३) चंदगी। चंदगी।

चंदगी—चंदगी की० [५०] (१) चंदगी। चंदगी।

(२) शिट या गिनीत भाषा में उत्तमपुद्ग, पुशिङ्ग, "मै" के स्थान पर घानेवाला शब्द जैसे, वंदा हाजि है, कहिये, क्या हुकुम है ।

वंदानी-वंशा पुं [१] (१) गोलेदाङ्ग । तोप चलानेवाला । (लश्करी) । (२) एक प्रकार का गुलाबी रंग जो पिपाजी रंग से कुछ गहरा और चमकी गुलाबी रंग से बहुत हलका होता है ।

वंदाव-विं [सं० वंदाव] (१) वंदनीय । वंदन करने योग्य । (२) पूजनीय । आदरणीय । व०—देव ! बहुलवंदावका वंद-वंदाव-पद वंदि मंदारमालारुपारी ।—तुलसी ।

वंशा पुं० दे० "वंदाल" ।

वंदाल-वंशा पुं० [१] देवदाली । घपर खेल ।

वंदि-वंशा छी० [सं० वंदित्] वंद । करानिवास । व०—(क) मिर पर फंस कषहुँ सुनि पाई । सजुल तुमहिँ वंदि माहिँ डराई ।—रघुनाथ । (ख) वेद लोक सयँ सारी, काहू की रती न राखी, रावन की वंदि लागे समर भरन—तुलसी ।

वंशा पुं० दे० "वंदी" ।

वंदिया-वंशा छी० [हिं० वंदा] वंदी नामक भूषण जो जियाँ सिर पर पहनती हैं । व०—हाथ गढ़े गहिहीं हठ साथ जगय की वंदिया येस हुआ ।

वंदिश-वंशा छी० [का०] (१) बांधने की क्रिया या भाव । (२) प्रबंध । रचना । योजना । जैसे, शकों की कैंसी थपड़ी वंदिश है । उन्हें फँसाने के लिए बड़ी बड़ी वंदिसँ बांधी गई हैं ।

क्रि० प्र०—बांधना ।

(२) पट्टपत ।

वंदी-वंशा पुं० [सं०] चारियों की एक जाति जो प्राचीन काल में राजपूतों का कीर्तिमान किया करती थी । बाद । बाण्य । दे० "वंदी" ।

वंशा छी० [हिं० वंशी] एक प्रकार का बाभूषण जिसे धियाँ मिर पर पहनती हैं । दे० "वंदनी" ।

वंशा पुं० [का०] कैदी ।

यौ०—वंदीघर । वंदीखाना । वंदीक्षेत्र ।

वंशा छी० [का०] [वंदा का छी०] दासी । चेली ।

वंदीखाना-वंशा पुं० [का०] जेलखाना । कैदखाना ।

वंदीघर-वंशा पुं० [सं० वंदिघ] कैदखाना । जेलखाना ।

वंदीक्षेत्र-वंशा पुं० [का० वंशी + हिं० क्षेत्र] (१) कैद से हुआनेवाला । (२) घंघन से मुक्त करनेवाला ।

वंदीवान-वंशा पुं० [सं० वंदित्] कैदी । व०—(क) मृषा को क्या रोहये जो अपने घर जाय । रोह्य वंदीवान को जो हाटे हाट विहाय ।—कवीर । (ख) दादू वंदीवान है वंदीक्षेत्र दिवान । अथ जिन राज्य वंदि में मीरा-मेहरावन ।—दादू ।

वंदूक-वंशा पुं० [व०] नली के रूप का एक प्रसिद्ध यन्त्र जो धातु का बना होता है । इसमें पीछे की ओर थोड़ा सा स्थान बना होता है जिसमें गोली रखकर धारुद या इसी प्रकार के किसी और विस्फोट पदार्थ की सहायता से चलाई जाती है । इसमें से जो गोली निकलती है वह अपने निशाने पर जोर से जा लगती है । इसका उपयोग मनुष्यों को और दूसरे जीवों को मार डालने अथवा घायल करने के लिए होता है । धानकल साधारणतः सैनिकों के युद्ध में लड़ने के लिए यही दी जाती है । यह कई प्रकार की होती है । जैसे, कड़ावीन, राइफल आदि ।

क्रि० प्र०—चलाना ।—छोड़ना ।—दागना ।—भरना ।

मुहा०—वंदूक भरना=वंदूक चनाने के लिए उसमें गोली रखना । वंदूक चलाना, छोड़ना, दागना या लगाना=वंदूक में गोली भरकर उसका थोड़ा दायना जिससे गोली निकलकर निशाने पर जा लगे । वंदूक छुटियाना=(१) वंदूक को छाती के साथ लगाकर उसका निशाना ठीक करना । वंदूक को ऐसी स्थिति में करना जिससे गोली अपने ठीक निशाने पर जा लगे । (२) वंदूक चनाने के लिए सैवार होना ।

वंदूकची-वंशा पुं० [का०] वंदूक चलानेवाला सिपाही ।

वंदूख-वंशा छी० दे० "वंदूक" ।

वंदेरी-वंशा छी० [का० वंदा + चरी (प्रत्य०)] दासी । चेली । व०—चढ़ा हाथ इसकंदर चेली । सकति छाड़ि के भई वंदेरी ।—जायसी ।

वंदीवस्त-वंशा पुं० [का०] (१) प्रबंध । इतिहास । (२) क्षेत्रों के लिए भूमि को नापकर उसका राज्यकर निर्धारित करने का काम ।

यौ०—वंदीवस्त हस्तमरारी=भूमि-स्पर्धी वह कर-निर्धारण जिसमें फिर कोई कमी-जोशी न हो सके । माजगुजारी का इस प्रकार ठहारा जाना कि वह फिर पट पड़ न सके ।

(२) वह महकमा या विभाग जिसके सपुर्दे क्षेत्रों आदि को नापकर बनका कर निश्चित करने का काम हो ।

वंध-वंशा पुं० [सं०] (१) बंधन । व०—तासु दूत कि बंध पर आया । प्रभु कारज छति धासु वैधाया ।—तुलसी । (२) गठ । गिरह । व०—जेतोई मजबूत के हित धंध बांधे आय । जेतोई तामे सरस भरत प्रेम रस थाय ।—रसनिधि । (३) कैद । व०—कृपा कोय बध धंध गोसाई । मोपर करिय दास की नाई ।—तुलसी । (४) पानी रोकने का प्रयत्न । बांध । (५) कोकराख के धनुसा रति के मुख्य सोलह आसनों में से कोई आसन । व०—चले घाय नय कुंज दोउ मिलि कियलय सेन विराजे । परिभंग सुख रास हाम गृधु सुरति केलि सुख साजे । नाना धंध विविध रस कीउ खोजत खाम अथार ।—नूर ।

विशेष—मुख्य सोलह साधन ये हैं—(१) वस्त्रासन ।
 (२) नागनाद । (३) जगन्नेत्र । (४) धर्मसिद्धि ।
 (५) कृष्णिक । (६) सुन्दर । (७) केसर ।
 (८) दिशोत्त । (९) नानिन्द । (१०) विपरीत ।
 (११) सुखक । (१२) चेनुक । (१३) वल्लभ ।
 (१४) मिहान्त । (१५) रतिनाम । (१६) विद्याधर ।
 (१७) योग गायक के अनुयाय योग साधन की कोई
 मुद्रा । जैसे, वदित्तवानबंध, मूलबंध, छात्रबंध, धर्मबंध,
 दयादि । (१८) विषंध-रचना । मधु का मधु क्षेत्र सैवार
 करना । ३०—गाने सुनने की श्रुति कदा शक्ति महर्षि प्रबंध ।
 विरली त्रय मित्राण के राम स्वयंवर बंध ।—रघुनाथ ।
 (८) चित्रकल्प में युद्ध की ऐसी रचना जिसमें किसी विशेष
 प्रकार की कालिका का चित्र बन जाय । जैसे, वृत्रबंध,
 कालाबंध, मद्रबंध, अमरबंध इत्यादि । (९) जिसमें
 कोई पात्र बांधी जाय । बंध । जैसे, रामी, नीता इत्यादि ।
 (१०) जगन्नाथ । कैलाश । ३०—बंधि रही अग बासना
 निमल मेरु सुगंध । तंदि चारवान अंतर सप सुकुपे तजहि
 न बंध ।—जावली । (११) शरीर । (१२) कर्मेणो
 मर्याद की कसौटी और चौड़ाई का योग ।

बंधक—महा पु० [१०] (१) वह पात्र जो क्षिप्र रूप ध्वज के
 बन्धने में धनी के कहीं रख दी जाय । देहन । (ऐसी वस्तु
 ध्वज धुलाने पर वापस हो जाती है ।)

मि० प्र०—कासा ।—रत्ना ।—प्रासा ।

(२) निमित्त । बद्धा करनेवाला । (३) वह जो
 बांधना हो । बांधनेवाला ।

बंधकी—महा शं० [१०] (१) स्वमिचारीणी धी । बद्धक
 धीरा । (२) वेरा का रंजी ।

बंधन—महा पु० [१०] (१) बांधने की क्रिया । (२)
 वह जिसमें कोई चीज बांधी जाय । जैसे, हुताक्ष बंधन
 चीज हो गया है । (३) वह जो किसी की स्वांगना
 आदि में बांधक हो । प्रतिबंध । बंधा (सन्नेत्राणी वस्तु ।
 जैसे, गंगा में बांध बंधों का भी बहुत भारी बंधन होता
 है । (४) गज । श्या । (५) हिंसा । (६) रग्नी ।
 (७) वह ज्ञान अंगे कोई चीज कर गया जाय ।
 बलात्कार । बद्धता । (८) विष । मरारो । (९)
 लीला का अतिशयान । मोह ।

महा०—बंधन शीत कराना—बद्धा कराना ।

बंधनप्रति—महा पु० [१०] लीला में वह वस्तु जो किसी
 को बंध कर हो ।

बंधनप्रकार—महा पु० [१०] वह जो बलात्कार कर रक्क हो ।

बंधना—महा पु० [१०] (१) बंधन के कारण ।
 कोई लगी बंधी हो बिना हथ डकटा कथा कथा कि

शुद्ध या बिना म सके या कथन म हो सके । बद्ध होना ।
 हुता हुता व रक्षा । बांधा जाय । (२) शरीर, धर्म
 ज्ञान किसी वस्तु के साथ द्वा प्रकाश मोहक होना
 कि कहीं जा न सके । जैसे, धर्म, धर्म, धर्म, धर्म
 बंधना ।

संयोग क्रिया०—नामा ।

विशेष—इस क्रिया का प्रयोग, कथनाय सनेत्र विरली की
 भांगि, इस चीज के लिए भी होता है जो बांधी जाती है,
 और इसके लिए भी जिसमें बांधने हैं । जैसे, (१)
 सामान बंधना, (२) गरी बंधना और (३) धर्म
 बंधना ।

(३) बंध होना । बंधी होना । (३) गन्धर्व व रत्ना ।
 ऐसी स्थिति में रहना जिसमें द्वातायुता कहीं का बांध
 सके वा कुछ कर न सके । प्रतिबंध रहना । बंधन
 कथना । (४) प्रतिज्ञा का बंधन आदि में बद्ध होना ।
 जने बंधन का बांध होना । (५) मित्र । लीक होना ।
 दुर्गम होना । जैसे, मन्त्रम बंधना । (६) बंध
 निषादि होना । कोई पात्र इस प्रकार बांधी ध्वज बद्ध
 किया होना । यथा बद्धेवात्रा बाधना उदाहरण ।
 जैसे, निषा बंधना, धारी बंधना । ३०—नीलपुं ३०१
 की वस्त्राक्ष की धारी बंधी हुनी दंड मुह की ।—देवना ।
 (७) प्रेमपात्र में बद्ध होना । मुग्य होना । ३०—बन्धी
 बन्धी ही में बंधो लामे धीन द्वात्र ।—शरीर ।
 विशेष—दे० बांधना ।

महा पु० [१०] (१) वह पात्र (वस्तु या रत्न)
 आदि जिसमें किसी चीज हो बांधे । बांधने का साधन ।
 (२) वह ऐसी जिसमें किसी लीने लीने का सामान
 रग्नी है ।

बंधनी—महा शी० [१०] (१) बंधन
 जिसमें कोई चीज बांधी हुई हो । (२) जो किसी चीज की
 स्वांगना आदि में बांधक हो । बद्धा होने का अतिशयान
 कथन । ३०—मीना अग वा बंधनी में चीन गई । गज
 लीला ।—रत्नादि ।

बंधनी—महा शी० [१०] (१) लीला के लीला की में कोई
 लीने जो लीलायन कर होती है । लीला लीने के लीला
 कथन कारण में जुड़े रहने हैं । लीला कर लीला ।
 (२) (३) जिसमें कोई चीज बांधी जाय । जैसे, शरीर,
 लीला आदि ।

बंधनीय—महा पु० [१०] बद्ध । मुक्त ।

मि० प्र० बंधन के कारण हो ।

बंधनान्तिका—महा शी० [१०] एक बंधनीय का बांध
 बंधन—महा पु० दे० "बंधन" ।

बंधधाना-क्रि० सं० [हि० बंधेना का भे०] (१) बंधने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को बंधने में प्रयुक्त करना। (२) देना आदि नियत कराना। मुकुर कराना। (३) कैद कराना। (४) (सालाह, कुर्या, शुल आदि) बंधवाना। तैयार कराना।

बंधधान-संज्ञा पुं० [हि० बंधना] (१) किसी कार्य के होने अथवा किसी पदार्थ के होने देने आदि के संबंध में बहुत दिनों से चला आया हुआ निश्चित क्रम या नियम। छेन देन आदि के संबंध की नियत परिगटी। जैसे, यहाँ की हरया एक पैसा आबूत लेने का बंधधान है। (२) वह पदार्थ या धन जो हस्त परिवारी के अनुसार दिया या लिया जाय। (३) पानी रोकने का पुस्त। बांध। (४) साल का सम। (संगीत)। ४०—(क) अटहि धुं प्र बंध गीत पद राग तान बंधान। सुनि फिर गंधये सराहत विषके हैं विषुष विमान।—गुलसी। (ख) गुरम नचावहि कुंवर पर अकनि धुं बंध निसान। नागर नट चितवहि चकित डिगहि न साल बंधान।—गुलसी। (ग) मिथिलापुर के नरक नाना। नार्थ डौं न साल बंधाना।—रघुराज।

बंधधाना-क्रि० सं० [हि० बंधन] (१) बंधने के लिए प्रेरणा कराना। बंधने का काम दूसरे से कराना। बंधवाना। (२) धारण कराना। जैसे, धीरज बंधाना। हिम्मत बंधाना। (३) कैद कराना। विशेष—दे० “बंधवाना”।

बंधधाल-संज्ञा पुं० [हि० बंधन] भाव या अहाम में वह स्थान जिसमें रसकर या छेदों में से आया हुआ पानी जमा होता है और जो पीछे उलीचकर बाहर फेंक दिया जाता है। गमतखाना। गमतरी।

बंधधिका-संज्ञा स्त्री० [हि० बंधन] वह डोरी जिससे साने की सर्पि बांधी जाती है। (जुलाहे)

बंधधित-वि० [सं० बंध्या] बंध्या। धांक। (डिगल)

बंधधी-संज्ञा पुं० [सं० बंधिन] वह जो बंधा हुआ हो। वह जिसमें किसी प्रकार का बंधन हो।

† संज्ञा स्त्री० [हि० बंधना = नियत करना] बंधा हुआ क्रम। वह कार्यक्रम जिसका निर्या होना निश्चित हो। संघेज। जैसे, (क) वनके यहाँ रोज सेर भर बंधी का दूध खाता है। (ख) राय भी बंधी लया बीजिये तो रोज की मंकट से छूट जाहूँगा।

क्रि० प्र०—लगाना।—लगाना।

बंधु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाई। भाता। (२) वह जो सदा साथ रहे या सहायता करे। सहायक। (३) मित्र। दोस्त। (४) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक परच में तीन अगण्य और दो गुण होते हैं। इसे दोषक भी कहते हैं। ४०—बाण न बात गुहं कहि आवे। सोह कहैं जिय सोहिं जो भावे।

का करिहो हम बाँधि बरंगे। हैदपराज करी मु करंगे।—केराय। (५) पिता। (६) बंधूक पुत्र।

बंधुआ-संज्ञा पुं० [हि० बंधना + उष्ठा (प्रल०)] कैदी। बंदी। ४०—बंधुआ को जेने नखत कोह कोह मनुप सुतंत।—लक्ष्मणसिंह।

बंधुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुपहरिया का फूल जो ठाल रंग का होता है। (२) दुपहरिया फूल का पौधा।

बंधुजीव, बंधुजीवक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुल्दुपहरिया का पौधा। (२) दुपहरिया का फूल।

बंधुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बंधु होने का भाव। (२) भाईचारा। (३) मित्रता। दोस्ती।

बंधुत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधु होने का भाव। बंधुता। (२) भाईचारा। (३) मित्रता। दोस्ती।

बंधुदत्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह धन जो कन्या को विवाह के समय माता-पिता या भाइयों आदि से मिलता है। स्त्री-धन।

बंधुदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुराचारिणी स्त्री। बदचलन स्त्री। (२) वैश्या। रंडी।

बंधुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुकुट। (२) दुपहरिया का फूल। (३) पहरा मनुष्य। (४) ईस। (५) मिहं। (६) काकड़ासिंगी। (७) दक। बगला नामक पक्षी। (८) पक्षी। वि० [सं०] (१) रम्य। मनोहर। सुंदर। (२) नम्र।

बंधुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुराचारिणी की से अशुच पुत्रव। बदचलन स्त्रीत का लड़का। (२) वैश्यापुत्र। रंडी का लड़का। वि० (१) सुंदर। खूबसूरत। (२) नम्र।

बंधुया-संज्ञा पुं० दे० “बंधुमा”।

बंधूक-संज्ञा पुं० (१) दे० “बंधुक”। (२) दोषक नामक वृक्ष का एक भाग। इसे ‘बंधु’ भी कहते हैं। दे० “बंधु”।

बंधेज-संज्ञा पुं० [हि० बंधना + जन (प्रल०)] (१) नियत समय पर और नियत रूप से मिलने या दिया जानेवाला पदार्थ या द्रव्य। (२) नियत समय पर या नियत रूप से कुछ देने की क्रिया या भाव। (३) किसी वस्तु को रोकने या बांधने की क्रिया या वृत्ति। (४) रुकावट। प्रतिबंध। (५) धीरे को अर्द्ध स्थिति में होने देने की वृत्ति। बाजीनरय।

बंध्य-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा पुल जिसके नीचे से पानी न बहता हो। पानी रोकने के लिए बनाया हुआ पुस्त। बांध।

बंध्या-वि० स्त्री० [सं०] (वह स्त्री) जो संतान न पैदा कर सके। धाँक।

यौ०—बंध्यापुत्र।

बंध्यापन-संज्ञा पुं० दे० “वर्कपन”।

बंध्यापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] कोई ऐसा भाव या पदार्थ जिसका अस्तित्व ही असंभव हो। ठीक ऐसा ही असंभव भाव या पदार्थ जैसे बंध्या का पुत्र। कभी न होनेवाली चीज।

पंचुलिस-पंथा धी० [१०१+५० पु०] मत्तपान के लिए
मुनितिरिगिरी चादि का पत्रपाया हुआ वह ग्याम उदी
सर्वे ग्यापार्य विना लोक लोक जा सकें।

पंच-पंथा धी० [पञ्च०] (१) ये ५ राज् । १६, गिष त्रिष,
हर हर, श्यादि शब्दों की रैची पत्रि जो शेष लोग भक्ति
की वसंत में पाकर दिया करते हैं। (२) युद्धारंभ में पीलों
का वसाहपदक माद । रथमाद । दहा । ३०—(क) कृष्ण
वसंध के हृदय वेष गी बाल पावन दिक्षापन हैं लामो
रापी धाम के।—गुहमी । (ग) क्रियी सुदेवा वंध दे
काता धेरी जीव।—लाट ।

मि० प्र०—व्येग।—देना ।

(१) गता । वृद्धी । उका । ३०—(क) कृष्ण माद बंदक
पातावा । ग्यामदेव कठ वंध वसाया।—द्वीर । (ग) ली
वदकोटपान रित कीन्दी । तुलसि वंध कृष्ण की बोधी ।
पंथा-पंथा पु० [५० पं०] (१) जट-कट । पानी की कट ।
बंध । (२) मोठा । लोच । (३) पानी बराने का गट ।
गंथाना-दि० पं० [पञ्च०] गी कालि पञ्चमों का गी बा राज्
करना । रंभावा ।

पंचुली-पंथा पु० दे० “बाल” ।

पंचु-पंथा पु० [गण० दे० ५००] पंचुलीने की वधि की बोरी
पतली सखी ।

मि० प्र०—पंथा ।

पंथमादी-पंथा धी० [५० पु०] (१) मादपान । मादपान ।
(२) हट । मिह । गुहाह । (क०)

पंथ-पंथा पु० दे० “कथ” ।

पंथारह-पंथा पु० [५० पं०] कानुनी । ३०—मिह गेय एक
पात्रन करते । पंथारह मनुष्यि मुर गाते ।

पंथारी-पंथा धी० दे० “पंथी” ।

पंथारिपान-पंथा पु० [५० पंथारिपान] कान का गार पाप को
नाके कान पाने के बाद संधे रंग को सेरे सेरे कुर्कों के
रूप में गाया जाता है । यह रंगार, गिहह रंगार मुर-
गिहपार में लंबी पेशवारे बोरी की गाँठ में से इनके
बलाने पर निकलता है । कंभार ।

पंथार-पंथा पु० [५००] पंथार । पंथार । (५०००)

पंथी-पंथा धी० [५०००] (१) कान की कली का कया हुआ एक
पंथा का पंथा । यह कालिख रंग का कालिख रंग रंगा
है, और हममें गाय गायों के जिह गाय धेरे होते हैं । यह
काता मूँद से पूँकर बसाया जाता है । कानुनी ।
कंदी । गुहमी । (२) मनुष्यी कंदीने का एक पीठा ।
हममें एक मंथी पतली सखी के एक जिह का जोती देवी
देवी है और हमने जिह का कटल के पादप की मोह
की एक रंथीने को रहती है । कंदी कंदीने का पंथा पंथे-

कर, जोती को मंड में देवी है और मंथी को जिह
पकड़े रहता है । अब मनुष्यी, यह पंथा पंथे, हम
हैं तो यह कंदीने हमने मंथे में पंथे, जोती है
यह लीचर निहाली जाती है । (१) मागरी पंथ
१० पामागु की लोच । पमोपु । (२) विपु ।
और राम जी के चरणों का रंगादि । (३) एक प्रक
वृत्त का पान के रंगों में पेशा होता है । हमने “कंदी”
कहते हैं । हमकी पतिरि कान की पतिरि के पंथा
होती हैं । हमने पान को बड़ी हानि होती है ।

पंथा पु० [१०००] एक प्रकार का गेहूँ ।

पंसीपर-पंथा पु० [५०००] भीरुपु ।

पंथी-पंथा धी० [५०००] भार होने का एक प्रकार का विप
एक लंबे बलि के डुकड़े के दोहो गिहों पर शिखरी के
कड़े धीने लटक दिए जाते हैं । हमने पीरी में बीच र
रंगे हैं और लकड़ी को बीच में से कंधे पर रंग ब
बसते हैं ।

मि० प्र०—उता ।—डोना ।

प-पंथा पु० [५०००] (१) पदप । (२) सिपु । (३) मग । (४)
जट । (५) मुगधि । (६) बवन । (७) तापी । (८)
कुंम ।

पउटा-पंथा पु० दे० “और” का “मौ” ।

पउटा-पंथा पु० दे० “बावरा” ।

पउटापंथा-पंथा पु० दे० “कौता” ।

पक-पंथा पु० [५०००] (१) पकडा । (२) पकडा मादक
का रूप । (३) कुरे । (४) पकडा । (५) एक पक
जिने भीम ने प्राया का । (६) एक पक का नाम ।

पि० पकडे गा सगेह । ३०—पकडे सो कंठ रंग रंग
वगा । पुनि एक होई समत राव रंगा ।—जावनी ।

पंथा धी० [५०००] पंथा । पंथा । पंथा ।

मि० प्र०—पंथा ।

पि०—पकडा ता पकडा । पकडा । पकडा । पकडा
३०—देवे पकडा गिहपार मुरगि ने पेशवारी के
पुडाप भेजा ।—उपपु ।

मि० प्र०—पंथा ।—पंथा ।

पकपद-पंथा पु० [५०००] एक पक का नाम जिह
पतिरि कीर होर कुरी होती है । हमने पक
उपपु कुरी होती है । हमने पक रंग रंगा पकडा । हमने
जिहमें पक के पक की पंथुन लंबे लंबे पक पक होते हैं
यह पक पक पकडे जिह कीर भीरु भीरुपार जिह में
रंग का होता है । पक जिह के पक में लीचर पक
जाते हैं । पकपद ।

यकचन—संज्ञा पुं० दे० "यकचन्दन" ।

यकचा—संज्ञा पुं० दे० "यकचा" ।

यकचिचिन्ना—संज्ञा स्त्री० [सं० यकचिचिन्ना] एक प्रकार की मछली । इस मछली के मुँह की जगह लंबी चोंच सी होती है । कौशाम्यली ।

यकची—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की मछली । (२) दे० "यकची" ।

यकचाना—क्रि० सं० [सं० यकचन] किसी बहुत बसेली खीड़ जैसे कटहल के फूल या तेंदू आदि के फल खाने से मुँह का घुल जाना, उसका स्वाद बिगड़ जाना और जीभ का मुकड़ जाना ।

यकतर—संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार की गिरह या कवच जिसे मोझा लपटाई में पहनते हैं । यह लोहे की कड़ियों का बना हुआ जाल होता है और इससे गोली और तलवार से घबराहट की रक्षा होती है । उ०—कवचा लोहा एक है गढ़ने में है कीर । ताही का यकतर बना, तारी की शमशेर ।—कबीर ।

यकता—वि० दे० "यक्ता" ।

यकतिया—संज्ञा स्त्री० [देग०] एक प्रकार की छोटी मछली जो संयुक्त प्रांत, बंगाल और आसाम की नदियों में होती है ।

यकप्यान—संज्ञा पुं० [सं० यकप्यान] ऐसी चेष्टा, मुद्रा या ढंग जो देखने में तो बहुत साधु और उच्चम जान पड़े, पर जिसका वास्तविक उद्देश्य बहुत ही दुष्ट और अनुचित हो । इस बगले की सी मुद्रा जो मछली पकड़ने के लिए बहुत सीधा सादा बमकर साल के किनारे खड़ा रहता है । पास्तुपण्य मुद्रा । वनावटी साधुमाय । उ०—रण से भागि मिलन गृह आया । हवाई बाहू यकप्यान लगाया ।—जुलसी ।

क्रि० प्र०—लगाना ।—लगाना ।

यिरोप—इस शब्द का प्रयोग ऐसे समय होता है जब कोई व्यक्ति अपना घुरा उद्देश्य सिद्ध करने के लिए अपना मूल मूल लोगों पर अपनी सीमापुत्रा प्रकट करने के लिए बहुत सीधा-सादा बन जाता है ।

यकप्यानी—वि० [हिं० यकप्यानी] बगले की तरह बनावटी ध्यान करनेवाला । जो देखने में सीधा सादा पर वास्तव में दुष्ट और कपटी हो ।

यकनख—संज्ञा पुं० [सं० यकनख] महाभारत के अनुसार विष्णु-मित्र के एक पुत्र का नाम ।

यकना—क्रि० सं० [सं० यकन] (१) ऊटपटांग बात कहना । झुठक बात बोलना । स्वर्ण बहुत बोलना । उ०—(क) जेहि धरि सरी उठावहि सीस विकल नहि डोल । पर केश जीव न जानहु मुखरे बकत कुबोल ।—जायसी । (ख) बाद ही बाढ़ बढ़ी के बके मति घोर दे बंज विषय

विष ही को ।—पद्माकर । (२) मलाप करना । यद्वद्गाना । उ०—(क) काजी तुम कौन किताप यक्षाना । मँपत बकत रह्यो निशि यासर मत एकौ नहि जाना ।—कबीर । (ख) नाहिन केशव सास जिहँ थकि के तिनसैं दुखयँ मुँह केरो ।—केशव ।

संयो० मि०—चलना ।—जाना ।—डालना ।

मुझा०—यकना ककना = यद्वद्गाना । विगड़कर व्यर्थ की बातें करना ।

यकपंचक—संज्ञा पुं० [सं० यकपंचक] कात्तिक महीने के शुक्ल पक्ष की पंद्रहवीं से पूर्णमासी तक का समय जिसमें मांस, मछली आदि पाना बिल्कुल मना है ।

यकम—संज्ञा पुं० दे० "यकम" ।

यकमीन—संज्ञा पुं० [सं० यक + मीन] अपना कुछ उद्देश्य सिद्ध करने के लिए बगले की तरह सीधे धनकर जुबचाप रहने की क्रिया या भाव ।

वि० जुबचाप अपना काम साधनेवाला । उ०—मुँह में कर्म काख हिय में चोर यकमीन । कड़े कथीर पुकारि के पंडित चीन्हे कौन ।—कबीर ।

यकयंत्र—संज्ञा पुं० [सं० यकयंत्र] बैद्यक में एक यंत्र का नाम । यह काँच की एक शरीर होती है जिसका गला लंबा और सामने बगले के गले की तरह झुका होता है । इस यंत्र से काम होने के समय शरीर को घायल पर रख देते हैं और झुके हुए गले के सिरे पर दूसरी शरीर अलग लगा देते हैं जिसमें तेल या घरक आदि जाकर गिरता है ।

यकर-कस्ताय—संज्ञा पुं० [हिं० यकरी + क० कस्तय = कस्तय] [स्त्री० यकर-कस्तयिन] यकरों का मांस बेचनेवाला पुरुष । चिक ।

यकरना—क्रि० सं० [हिं० यकर भयवत् करना] (१) आपसे आप यकना । यद्वद्गाना । उ०—यशोदा जलल बाँध्यो स्थान । मनमोहन बाहर ही छोड़े थापु गहरे गृह काम । दही मयत मुख से कहु बकरति गारी दे वै माम । घर घर डोलत माखन चोरत पट रस मेरे धाम ।—सूर । (२) अपना दोष या कमल आप से आप कहना । क्यूँल करना । जैसे, जब मंत्र पढ़ा जायगा तब जो चोर होगा वह आप से आप बकरेगा ।

यकरा—संज्ञा पुं० [सं० यकर] [स्त्री० यकरी] एक प्रसिद्ध चतुष्पाद पशु जिसके साँग तिकोने, गलीले और फुँटनदार तथा पीठ की ओर झुके हुए होते हैं, पूँछ छोटी होती है, शरीर से एक प्रकार की गंध आती है, और सूर फटे होते हैं । यह सुगन्धी करके खाता है । कुछ यकरों की गोश्री के नीचे लंबी दाढ़ी भी होती है और कुछ जातियों के यकर बिना साँग के भी होते हैं । कुछ यकरों के गले में जड़ों के

यकवास-संज्ञा स्त्री० [हि० यकना + वास (भ्रम०)] (१) यक-
वाद। धर्म की वातचीत। यकपत्र।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।—होना।

(१) यकपत्र करने की लत। यकवाद मचाने का स्वभाव।

(२) यकवाद करने की इच्छा।

क्रि० प्र०—लगाना।

यकवृत्ति-संज्ञा पुं० [सं० यकवृत्ति] यह पुद्गल जो नीचे साकनेवाला,
शत्रु और स्वार्थ साधने में चरपर तथा कपटयुक्त हो। प्रक-
त्यात लगानेवाला मनुष्य।

वि० कपटी। धोखेवाज।

यकवृत्ति-वि० [सं० यकवृत्ति] यकवृत्ति वाला। कपटी।

यकवद-संज्ञा पुं० [सं० यकवद] (१) कपट आदि रखने के लिए
बना हुआ धोखा सम्पदक। (२) चड़ी गहने आदि रखने
के लिए छेदा दिव्या। ताना। जैसे, चड़ी का यकवद, गले
के हार का यकवद।

यकसना-क्रि० सं० [का० यकन + हि०—ना] (१) कृपापूर्वक
देना। प्रदान करना। उ०—(क) प्रभु यकसत गज यात्रि यसन
मनि जय पुनि गगन गिसान हयै। पाइ सखा सेनक जाचक
भरि जन्म न दूसर द्वार गये।—तुलसी। (ख) नासिक ना
यह सुक है अथाह अनेग। बेसर को छवि यकसत मुकुतन
सेग।—रहीम। (२) छोड़ देना। छोड़ा करना। माफ
करना। उ०—(क) तय देवकी अपीन कछो थह में नहिं
बालक जाये। यह कन्या मोहि यकस थीर तू कीजै मेरा मन
भाये।—सूर। (ख) कन्हैया तु नहिं मोहि उलार।.....
.....पूत सपूत भये कुल मेरे अथ मैं जानी बात।
सूरयाम अथकों तोहि यकसो तेरी जानी बात।—सूर।
यकसा-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की घास जो पानी में या
जलाशयों के किनारे होती है। चौपाये इसे बड़े चाय ले
पाते हैं।

यकसाना-क्रि० सं० [हि० यकना] “यकसना” का प्रेरणार्थक
रूप। उदाहरण। माफ करना। उ०—(क) चूक परी
मोति में जानी मिलै श्याम यकसाजै री। हाहा करि दसनन
रुण धरि धरि सोचन जलनि डराऊँ री।—सूर। (ख)
पूजि उठे जय ही शिव को तय ही विधि शुभ वृद्धपति
आइ। कै विनती मिस करवष के तिन देव अदेव सबै
यकसाइ।—केशव।

यकसी-संज्ञा पुं० दे० “यकसी”।

यकसीला-वि० [हि० यकसीला] जिसके खाने में सुँह का स्वाद
बिगड़ जाय और जीस पेटने लगे।

यकसीस-संज्ञा स्त्री० [का० यकसीस] (१) दान। उ०—प्रेम
समेत राय सब लीन्हा। भइ यकसीस जाचकन्ह दीन्हा।—
तुलसी। (२) इनाम। पारितोषिक। उ०—(क) केणीदास

तेहि काठ करोई है शायो काठ सुनत अथवा यकसीस
एक देश की।—देशव्य। (२) थाप चूरी सीस मोहि
कीन्ही यकसीस थी हजार सीसचारे की लगाई अटहर
है।—पद्माकर। (३) निकसे यसीस देई दी हो यकसीस
देव अंग के घसन गनि मोती मिसे मेसे के।—देव।

यकसुआ, यकसुचा-संज्ञा पुं० दे० “यकसुस”।

यकाइन-संज्ञा पुं० दे० “यकायन”।

यकाउर-संज्ञा स्त्री० दे० “यकावली”।

यकाना-क्रि० सं० [हि० (यकना) का प्रेरण० रूप] (१)

यकवद करने पर उद्यत करना। यकवद कराना। (२)

कहलाना। रटाना। उ०—गहै श्रीगुरिया तत की नंद

चलन सिलावन। थरथाह गिरि पड़न हैं फर देखि बढावत।

बार बार बकि श्याम सेन कहु घोड़ यकावत। तुहुँ धा है

हुँतुही मई अति सुख छवि पावत।—सूर।

यकायन-संज्ञा पुं० [हि० यकना + यन ?] नीम की जाति के एक
पेड़ का नाम जिसकी पत्तियाँ नीम की पत्तियों के सदृश पर
इनसे कुछ बड़ी होती हैं। इसका पेड़ भी नीम के पेड़ से
बड़ा होता है। फल नीम की तरह पर नीलापन लिए
होता है। इसकी लकड़ी हलकी और सफेद रंग की होती
है। इससे घर के संगठे और नेत्र कुरसी आदि बनाई
जाती हैं और इस पर चारनिश और रंग अथवा लिखता
है। लकड़ी नीम की भाँति बड़ई होती है इससे वसमें
नीमक घुन आदि नहीं लगते। वैद्यक में इसे कफ, पित्त
और क्रिमि नाशक लिखा है और यमन आदि को दूर करने-
वाला और रक्त शोधक माना है। इसके फूल, फल, छाल
और पत्तियाँ औषध के काम आती हैं। बीजों का तेल
मलहम में पड़ता है। इसके पेड़ समस्त भारतवर्ष में
और पहाड़ों के ऊपर तक होते हैं। यह चीज से वगता है।

पर्याय—महाविष। देका। कासुंका। कैटवर्द। केशमुष्टिक।

पवनेष्ट। रम्यकरीर। काकेड़। पावत। महातिक्त।

यकाया-संज्ञा पुं० [अ०] (१) यका हुआ। याकी। रोप।

(२) यकत।

यकारि-संज्ञा पुं० [सं० यकारि] यकासुर को मारनेवाले, श्रीकृष्ण।

यकारी-संज्ञा स्त्री० [सं० यकार वा यक्य] यह शब्द जो सुँह से
प्रसृष्टित हो। सुँह से निकलनेवाला शब्द।

क्रि० प्र०—निकलना।

मुहा०—यकारी फूटना=सुँह से शब्द वा वार्त्ता का उगारना

होना। शब्द निकलना। बात निकलना।

यकावली-संज्ञा स्त्री० दे० “युज्यकावली”।

यकासुर-संज्ञा पुं० [सं० यकासुर] एक देव का नाम जिसे कृष्ण

ने मारा था।

यकी-संज्ञा स्त्री० [सं० यकी] यकासुर की बहिन पूतना का एक

नाम जो अपने स्तन में रिय लगाकर कृष्ण को मानने के
लिपि गर्द भी । कृष्ण ने उसका दूध पीने समय ही उसे
मार डाला था ।

यकुचना-३-६० प० [१० वाक्य, ३० मिथुन] निरुद्धा ।
 सुखदा । सुखिन होना । ३०—लाभ के भाग लयी
 अपनी बाधी वाली यकुपी गतानी ।—३० ।

सकुन्ता— संज्ञा पुं० [दि० वृत्त्यन्तः] [सो० वृत्त्यन्तः] भोजी मद्यी ।
 वक्ष्या । व०—(क) आशी मुदी वक्षुषन आषा । शुद्ध
 सुदासन आषा सुदाषा । —आषासी । (ख) कर्मो को
 दास की आषी मद्रुषी कास । ताता मयमल वाजना इन कर
 राक्षे मान । जनकर आषी मान मुंद अर्ध आषी आषी । वक्षुषा
 वर्षी मोट राशि से । आरि विनाशि ।—गिषासाय ।

सकुक्षानां—किं ए० [दि० ५४५] मिमी वस्तु को चक्रुषे में
साँवर कचे पर लटकाया या पोछे पीठ पर बाँधना ।

यजुर्वेदी—कंठा टी० [५०. वार्षाः] एक गोपे का नाम होता था।
 सारा हाथ ऊँचा होता है। इसकी पंखियाँ एक रंगत की
 होती हैं और दाहिनी धुन्नी से अधिक ऊँची नहीं होती।
 और ऊपर बरत दूर तक फैलती हैं। इसका पूर गुन्नी
 रंग का होता है। पूरों के ऊपर पर मोटी मोटी पंखियाँ
 पीछे में लगती हैं जिनमें दो से चार तक गोठ गोठ पीछे
 और कुछ सचाई लिए दाहिने निकलते हैं। दाँवों का पित्तका
 बाधे रंग का, मोटा और ऊपर से लुढ़का होता है।
 जिसके के भीतर सफेद रंग की दो दाँवें होती हैं जो बहुत
 बड़ी होती हैं और बड़ी बढियाँ से ढकी हैं। बाँव से
 एक सड़ा की गुण्य जाती है। यह भीषण में काम आता
 है। पैरों में हाथ का ब्याद सीपान और आधापन लिए
 कट्टा का बगला गया है और इसे टंडा, रजिडा, गालक,
 सिद्धोपा और रगापन जाता है। इसे कुछ-कुछ और
 लक्षणेय भी कहाँ भी बतलाता है। बड़ी-छोटी काये कूट
 की भी बहली होती है।

गणपति—गोमाती । हृदयपति । कङ्करी । बुद्धिपति ।
 जेमाती । काशमेतिव । गजगुप्त । देवती । मृगो-
 म्मा । कवेरी । गुरुरीति ।
 एतः श्रुं । रिं वृत्त । गोरी मारी ।

ਸ਼ੁਧੀ—ਕੁਝੀ ਕੰਧਰਾ ਕਾ ਸਾਮਾਨ ਖੁਫ਼ ਨਿ ਲੰਬੇ ਦੇ ਸਾਧਿ
 ਦੇ ਖੁਫ਼ਾ ਕਾ ਦਾ ਖੁਫ਼ਾ । ਤੇਰੇ, ਕੁਝ ਕੁਝੀ ਸਾਮਾਨ ਕੁਝ ।

[illegible]

यकुर-मंता पु० [गं०] (१) भाषकः । मूर्खः । (२) दुराहः ।
(३) विवर्धः ।

संज्ञा पुं० दे० "वराह" ।

मकरना-क्र० अ० दे० "मकरना" ।

पशुपतनाम-त्रि. प. [वि. वृत्त म. प्र. ५१] अथ वृत्त ।

गंगु कगमा । कडुलाभा ।

यिरोप—दूस शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसी स्थानों में होता है, जहाँ किसी को भूत लगा होता है। सोमनाथमें भूत का नाम पद्मा थादि कहवाने से सिद्ध प्रतीति है। इस कारण करते हैं और कहते भाग पडा। इसी कहलवाने हैं।

यकुल—गंगा पु० [३०] (१) मीनमिती । (२) सिद्ध । मङ्गल ।
(३) एक प्राचीन देश का नाम ।

यस्युक्त्यद्वय-प्रमाणं [दि० ब्रह्म-न-द्वय-प्रमाणं] शरीर-तो-द्वय-
विद्विषा-त्रिपदा-रंग-सम्बन्ध-होता-है-भीर-आ-दी-दी-दी-दी-दी-दी-
आदमी-के-द्वारा-द्वारा-होती-है ।

यकुत्ता—अंश पु० दे० “यकुत्ता” ।
यकेन, यकेना—मा धी० [वं० कश्चक] यह काव, या मीन
जिसे यथा विवे गात्र यह से अधिक हो गया हो थी। ये
बादाई न हो थी। नृप बेनी हो। ऐसी गात्र का नृप
अधिक गात्र थी। सीध होना है। ज्ञान का वटार ।

पञ्चमः—अथ श्रीगणेशाय नमः । [वि० ५४७] यथायं यो वाक् तिमि ॥ १३८ ॥
१३९ यथायं हि ।

सर्करी-नौका पुनः [गंगा बग + नौका, (नौका)] यहाँ, के जलने
वा बग बंग सिममें से पशुओं के सामान लपने होनी हाथ
भीर होनी यह धर्मिय वर देकर चलते हैं । शूरी से बग
चलता ।

(1) वृद्धि
 की वद स्थिति जो किसी वस्तु को प्राप्त करने या भावों
 भावों के प्राप्त होती है। प्राप्त की स्थिति में ही, प्रगति
 का अर्थ है। (2) किसी वस्तु की वृद्धि प्राप्त होने पर
 वास्तव में वस्तु प्राप्त होती है। वृद्धि, एक वृद्धि प्राप्त
 (3) वृद्धि या वृद्धि की वृद्धि या वृद्धि।

मकंदना-६० भा० [वि० पविः] कवेरा से जगती को भोगना ।
साधुओं से भोगना । पूजा आना । मिलोटना । १०-—होई
जो वैकुण्ठी हर्ष, रागि, अर्ध सायन सुख कवेराजी के ।
—उपेक्षा ।

[illegible]

कमीष्टा-कम 3-1 रि. म. =] गजक की हरी हरी का रि.
मे कमी कमी कमी है ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

[illegible]

दोनों ओर पहिले के ऊपर लगाई जाती है। सूती के बीच में छेद करके घुरी लगाई जाती है और दोनों ओर पहिले के दोनों ओर की पट्टी में साखे या बैठाए हुए होते हैं। पैगनी। पैगनी।

यक्षम-संज्ञा पुं० [यं यक्षम] एक वृष जो भारतवर्ष में मद्रास, मध्य प्रदेश तथा यमा में उपवेश होता है। इसका चेहरा छोटा और कंटीला होता है। लकड़ी काळे रंग की तथा टट्ट और टिकाक होती है—कूटती या टेढ़ी नहीं होती। इससे मेम कुसीं आदि बन सकती है और रंग और रोगन से इसपर अच्छी चमक आती है। इसकी लकड़ी, छिन्नके और फलों से लाल रंग निकलता है जिससे सूत और ऊन के कपड़े रंगे जाते हैं और जो धुँड की छपाई में भी काम आता है। इसके बीज बरसात में बोए जाते हैं। पतंग।

यक्षल-संज्ञा पुं० [सं० यक्षल, पा० यक्षल] (१) छिलका। (२) छाल।

यक्षा-संज्ञा पुं० [दे०] सफेद या खाली रंग के एक प्रकार के छोटे छोटे कीड़े जो धान की फसल में लगते हैं और उसके पत्ते और बालों को खाकर उसे निर्जीव कर देते हैं। ये कीड़े जहाँ पाए जाते हैं वहाँ सफेद हो जाता है।

यक्षाल-संज्ञा पुं० [यं०] यह जो आटा, दाल, चावल या और चीजें बेचता हो। बणिक। धनिया।

यौ०—धनिया यक्षाल।

यक्षी-वि० [हिं० यक्ष्ना] यक्षवाद करनेवाला। बहुत बोलने या बकबक करनेवाला।

संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार का धान जो भादों के महीने के अंत में पकता है। इसके धान की भूसी काळे रंग की होती है और चाबख लाल होता है। यह मोटा धान माना जाता है।

यक्षुरी-संज्ञा पुं० [सं० यक्ष्य] सुँद से निकला हुआ शब्द। बोल। बचन।

क्रि० प्र०—कूटना।—निकलना।

यक्षुर-संज्ञा पुं० दे० “बाखर”।

संज्ञा पुं० [दे०] कई प्रकार के पैयों की पतियों और जूतों आदि को कूटकर तैयार किया हुआ वह खमीर जो दूसरे पदार्थों में खमीर ठाने के लिए डाला जाता है। यह प्रायः खोए आदि में डाला जाता है। बंगाल में इसका व्यवहार अधिक होता है।

यक्ष-संज्ञा पुं० दे० “यक्ष”।

यक्षत-संज्ञा पुं० दे० “यक्ष”।

संज्ञा पुं० दे० “यक्ष”।

यक्षतर-संज्ञा पुं० दे० “यक्षतर”।

यक्षर-संज्ञा पुं० (१) दे० “बाखर”। (२) दे० “यक्षर”।

यखरा-संज्ञा पुं० [का० यखर] (१) भाग। हिस्सा। बाँट। (२) दे० “बाखर”।

संज्ञा पुं० [दे०] छोटे की पीठ पर पठान आदि के नीचे रखने के लिए फाल या सूखी घास आदि का दोहरा किया हुआ वह सुट्टा जिस पर डाट आदि लपेटा रहता है। यह छोटे की पीठ पर इसलिये रखा जाता है जिसमें धाव न हो जाय। बाखर। सुदकी।

यखरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० यखर का स्त्री० रूप] एक हुंरुं के रहने के योग्य बना हुआ मिट्टी, ईंटों आदि का अच्छा मकान। (गर्ब)

यखरैत-संज्ञा पुं० [हिं० यखर + ऐत (प्रत्यय)] हिरसेदार। साक्षीदार।

यखलीस-संज्ञा स्त्री० दे० “यक्षलीस”। उ०—प्रफुलित हों के आनि दीन्हे असोद। रानी झीनिह मगुली तामें कंधन को तथा। मार्च कृशय चैगनाईं सुर यखलीस पाईं माये को चढ़ाई लीनो लाल को बग।—सूर।

यखलीसना-संज्ञा स्त्री० [हिं० यखलीस] देना। बखाना। उ०—खीं ये सब वेदना वेद पीड़ा दुखदाई। जिन यखलीसति सदा घमंडहि मूरसताई।—श्रीधर पाठक।

यखान-संज्ञा पुं० [सं० व्याख्यान पा० यखान] (१) वर्णन। कथन।

उ०—(क) कविरा संस्कृत संसार में पंडित करै बखान। भाषा संगति इकावही न्यारा पद निर्धान।—कबीर। (ख) यषु अगत काको नाउँ खीसै हो अडु जाति गीत न जानिये। गुणरूप कछु अनुहार नहीं कहि का बखान बखानिये।—सूर। (३) प्रशंसा। गुणकीर्तन। स्तुति। यकाई। उ०—(क) वेदि रावन कहैं लछु कहसि, नर कर कासि बखान। रै कपि बरै खवेबल अय जाना तब ज्ञान।—तुलसी। (ख) दिन दस आदर पायकै करिखे आपु बखान। जो लगि काम सराध-यख तय लगि तब सनमान।—विहारी। (ग) आश्रित गलानि जो बखान करो ज्वादा, यह मादा मलमूत और मज्जा की सलीवा है।—पद्माकर।

यखानना-क्रि० सं० [हिं० बखान + ना] (१) वर्णन करना। कहना। उ०—(क) ताते में अति अणव बखाने। योरहि मैं जानि हैं सयाने।—तुलसी। (ख) तुम्हें वेद मक्षण्य बखानव। ताते तुमरी स्तुति जानत।—सूर। (ग) ये चलि हाँ ते गए अन्त, हम का अब अपनी पात बखाने।—पद्माकर। (घ) यहि प्रकार सुक कथा बखानी। राजा सों बोले सुदु बानी। (२) प्रशंसा करना। सराहना। तारीफ करना। उ०—(क) नागमसी पक्षावति रानी। दोऊ महा सत-सती बखानी।—जायसी। (ख) ते भरतहि भेंट सन-माने। राम सभा रघुवीर बखाने।—तुलसी। (३) गावी

विशेष—इस शब्द का प्रयोग बहुधा घोड़ों की घाट के संबंध में ही होता है। पर कभी कभी हाथ या प्याँच में लोग मनुष्यों के संबंध में भी बोल देते हैं।

यगदना—[क्रि० अ० [सं० वि०, हि० वि०] (१) विगड़ना। धराय होना। (२) चढ़कना। झूटना। (३) च्युत होना। शीर रास्ते से हट जाना।

यगदरा—[संज्ञा पु० [दे०] मछर।

यगदवाना—[क्रि० स० [हि० वगदना] (१) विगड़वाना। धराय कराना। (२) झुलवाना। धम में डालना। (३) लुढ़काना। गिरा देना। (४) प्रतिज्ञा भंग कराना। अपने वचन से हटाना।

यगदवा—[वि० [हि० वगदना + वा (प्रत्य०)] [रथ० वगदरी] चौकने या विगड़नेवाला। बिगड़ैला। उ०—यू म यदि काहेन टोरी कान्हा गहवाँ दूर गई। चाहे जात सपन के आगे जेहि घुममानु गई। येरे न विरत तुम विनु मावो जू मिलत नहीं बगदई। बिहरत चित्त सकल बन अहिवाँ एकद एक गई।—सूर।

यगदाना—[क्रि० स० [हि० वगदना] (१) विगड़ाना। धराय करना। (२) घुम करना। टीक रास्ते से हटाना। (३) झुगाना। झटकाना।

यगना—[क्रि० अ० [सं० वक + गते] घुमाना करना। उ०—मंद व यरोदा के लड़ाइते कुँवर हिय हरे श्वार गोरिन के खोरिन बगे रहैं। चैन न परत देव देखे विनु वैन सुने मिलत वीर न सय नैन उमने रहैं।—देव।

यगनी—[संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की घास जिसे कहीं कहीं लोग भाँग के साथ पीस कर पीते हैं। इससे उसका नशा बहुत बढ़ जाता है। हे० “यगई”। उ०—यगनी भाँग खाई कर सतवाले साजी।—शङ्कर।

यगमेल—[संज्ञा पु० [हि० वग + मेल] (१) दूसरे के घोड़े के साथ याग मिला कर चलना। पति बंधकर चलना। बराबर यावर चरना। उ०—जो गज मेलि हींद सँग लागे। सो यगमेल करहु सँग लागे।—जायसी। (२) बरादरी। समानता। तुलना। उ०—मूँधर भवत ताकी बास पाय सोर हरि कृष्ण कीतवाळ कंथयानो यगमेलो में।—मूँधर।
क्रि० वि० प्रथिपद। याग मिलाए हुए। साथ साथ। उ०—(क) शाद गये यगमेल घाहु घाहु धावत सुमट। यथा पिडोकि अकेल घाल-रविहि घेत दनुज।—तुलसी। (ख) इरलि परस्पर मिलन हित कहुकचले यगमेल। अनु धानंद समुद्र हुइ मिलत बिहाइ सुबेल।—तुलसी।

यगर—[संज्ञा पु० [सं० प्रवण, पा० पवण] (१) मड़ल। प्रासाद। (२) यज्ञ मंदिर। घर। उ०—(क) आस पास वा यगर के अर्ध विहरत पशु छंद। प्रज बड़े गोप परजन सुत नीके श्री

नव नंद।—गामा। (ख) गोपिन के शैलुन मरी सदा उलोस यगार। डगर डगर नै रही यगर यगर के वार।—विहारी। (ग) मैं तो चाहे छाछों पे मीको यह न छाड़त है, पेरे लेति फेरि व्याधि आपने बगर की।—पद्माकर। (३) घर। बोझी। उ०—(क) टटकी धोई घोवली, घटकीनी मुख जोति। फिरति रमोई के बगर जगरमगर दुति होति।—विहारी। (ख) जगर जगर दुति दूनी केति मंदिर में, यगर यगर धूप यगर बगारे तू।—पद्माकर। (४) द्वार के सामने का सहन। श्रामन। उ०—(क) नंद महर के यगर तन अथ मेरे को आप। नाहक कहूँ गड़ि जायगे हित कटो मन पाय।—रसखान। (ख) राम डर रावन के नगर डंगर घर बगर यगर कानु कपा भाति जान की।—हनुमान। (५) वह स्थान जहाँ गाँवें बाँधी जाती हैं। यगार। घाटी। उ०—(क) नगर बसे नगरे लगे सुनिषे गगन गारि। पगरे रगरे सुमन के डारे बगर बहारि।—रसनिधि। (ख) यमुनति तेरे वारो गान्धो यति अचगरो। दूध दही माखन लै डारि देत सगरो। मोर उठि निरत प्रति मौसा करत है ऋगरो।—स्वामिदास संय लिये सय घेरि रहै बगरो।—सूर।

यगल—[संज्ञा स्त्री० [सं० वक + ल] घुमाना। घुलना। घिसना। घित-राना। उ०—(क) तनपोषक नारि नरा लिंगरे। पर-निंदक ते अग में बगरे।—तुलसी। (ख) रीके श्याम नागरी रूप। तैसी ये लट बगरी ऊपर खवत नीर अन्ध।—सूर। (ग) बीपिन में, व्रत में, नवेलिन में, बेलिन में, वनन में, वागन में, यगरो बसेल है।—पद्माकर।

यगरा—[संज्ञा पु० [दे०] एक प्रकार की मछली जो संयुक्त प्रांत और वेणाल में होती है। यह छः सात श्रंगुल लंबी होती है और जमीन पर उड़ती या उड़ान भरती है। यह खाने में स्वादिष्ट होती है। इसे शुभा भी कहते हैं।

यगराना—[क्रि० स० [हि० वगना का सक० रूप] फैलाना। छितराना। छिटकाना। उ०—(क) ते दिन किसरे गये छाँ बापू। अति वनमच मोह मद छाये फिरत केश-वग-राप।—सूर। (ख) सजनी हईं गोकुल में विप सो बगारायो है नंद के सारिरीय।—रसखान। (ग) जानिये आली यह छोहरा अतोमति को बाँसुरी यजाइयो विप यगराइयो।—रसखान।

क्रि० अ० वगदना। फैलना। घिसना। उ०—कहाँ लीं

यगली-वि० [हि० यगल + ई (प्रत्य०)] बगल से संबंध रखनेवाला । यगल का ।

मुहा०—यगली घूसा—वह घूसा जो बगल में होकर साथ जाय ।

गृह वार जो आइ में छिपकर जा धोले से किरा जाय ।

पंशा छी० (१) डोंटों का एक दोष जिसमें चलते समय वनकी जाँघ की रग पेट में लगती है । (२) मुगदर दिलाने का एक ढंग जिसमें पहले मुगदर को ऊपर बढाते हैं फिर उसे कंधे पर इस प्रकार रखते हैं कि हाथ मुठिया पकड़े नीचे को सीधा होता है और मुगदर का दूसरा सिरा कंधे पर होता है । फिर एक हाथ को ऊपर ले जाकर मुगदर को पीछे सरकाते जाते हैं यहाँ तक कि वह पीठ पर लटक जाता है । इसी बीच में दूसरे हाथ के मुगदर को इसी प्रकार ले जाते हैं जिस प्रकार पहले हाथ के मुगदर को पीठ पर झुलाया था और तब फिर पहले हाथ का मुगदर, हाथ नीचे ले जाकर, कंधे पर इस प्रकार लाते हैं कि इसका दूसरा सिरा फिर कंधे पर आ जाता है । इसी प्रकार बराबर करते रहते हैं । (३) वह घैली जिसमें यहाँ सूई ताया रखते हैं और जिसको वे चलते समय कंधे पर लटका लेते हैं । यह चौहार कपड़े की होती है जिसके तीन पाट दोहर दोहर कर सी दिखे जाते हैं और चौधे में एक डोरी लगा दी जाती है, जिसे घैली पर लपेटकर बाँधते हैं । यह घैली चौकोर होती है और इसके दो चोर एक पीठा या डोरी के दोनों सिरे टाँके रहते हैं जिसे बगल में लटकाते समय जनेऊ की तरह गले में पहन लेते हैं । सिलादानी । (४) वह सेंघ जो किबाड़ की बगल में सितकिनी की सीध में चोर इसकिप खोदते हैं कि वसमें से हाथ डालकर सितकिनी खसकाकर किबाड़ खोल लें ।

क्रि० प्र०—काटना ।—मारना ।

(२) वह लकड़ी जिसमें हुनदेवाले गड्ढाड़े को धटका कर वसमें छेद करते हैं । (१) श्रंगे, कुले आदि में कपड़े का वह टुकड़ा जो आस्तीन के साथ कंधे के नीचे लगाया जाता है । बगल ।

पंशा छी० [हि० यगल] की-वक । बगला नामक पक्षी की भाँसा ।

यगली टाँग-पंशा छी० [हि० यगली + टाँग] कुत्ता का एक पेश जिसमें प्रतिपक्षी के सामने आते ही उसे अपनी बगल में जाकर और उसकी टाँग पर अपना पैर मारकर उसे गिरा देते हैं ।

यगली बाँह-पंशा छी० [हि० यगली + बाँह] एक प्रकार की कसरत जिसमें दो आदमी बराबर बराबर खड़े होकर अपनी बाँह से दूसरे की बाँह पर धका देते हैं ।

यगली लैगेट-पंशा पु० [हि० यगली + लैगेट] कुत्ता का एक पेश ।

यगलीहॉ—वि० [हि० यगल + योहॉ] [स्त्री० यगलीहॉ] बगल

की चोर मुका हुआ । तिरछा । उ०—राकुधीली कारिन की पुदवन पे यगलीहॉ । चाह मरी देर लीं चार चितवन तिरछीहॉ ।—भीषण पाठक ।

यगसना—क्रि० स० दे० “यगसना” । उ०—(क) बगसि विनुं दिये सुंदन के कुंड रिडु सुंदन की मालिका दई ज्यों शिपुरी की ।—यशकर । (ख) रायस बगस नमित सुख साहू । है अनितन इक पति मुन साहू ।—पद्माकर ।

यगा—पंशा पु० [हि० बगा] जाना । थागा । उ०—नंद उड़ी मुनि शायो हो घुपमानु को जगा ।नाचै फूल्यो अंगनाई सूर यगसीस पाई माये को चढ़ाई लीनो डाल को बगा ।—सूर ।

पंशा पु० [सं० बक] बगला । उ०—यूरा थोरा ही भला, सत का राँपे यगा । यगा मिला केहि काम का, सावन का सा यगा ।—कबीर ।

यगाना—क्रि० स० [हि० यगना का प्रे०] दहलाना । सैर कराना । घुमाना । फिराना । उ०—लघु लघु कंधन को हय हाथी स्वदन सुमग यगाई । तिन मई धाय चढ़ाय कुमारन लावई अनिर बगाई ।—रघुनाथ ।

क्रि० अ०—भागना । जवदी जवदी भाया । उ०—बार बार बल को निपट ऊँचो नाव सुनि, हँकरत बाघ विह्वलानों रस रेखा में । ‘भूधर’ भनत ताकी बास पाय सौर करि कुशा कोतवाल को बगानो बगमेला में ।—भूधर ।

यगार—पंशा पु० [दे०] वह स्थान जहाँ गाएँ गाँधी जाती हैं । बादी ।

यगारना—क्रि० स० [सं० विकिरण, हि० यगना] (१) फँडाना । छिटकाना । पसारना । बिखेरना । उ०—(क) चाँक में चाँकी जराय जरी तेहि पै खरी बार यगारत सँधि ।—पद्माकर ।

(ख) अगर मगर दुति दूनी केलि मंदिर में बगर बगर धूप अगर बगारेत तू ।—पद्माकर । (२) दे० “यगारना” । उ०—बाळ विहाळ परी कय की दब की यह प्रीति फीरीति निहारो । ह्यों पद्माकर है न मुहई सुधि कीनो जो पैरी बसंत यगारो ।—यशकर ।

यगावत—पंशा छी० [य०] (१) यामी होने का भाव । (२) बलघा । विद्रोह । (३) राजद्रोह ।

यगिया—पंशा छी० [फा० यग + हि० यया (प्रत्य०)] बागिया । उपवन । छोटा बाग । उ०—(क) वन घन फूटहि टेसुया बगियन खेलि । चले विदेस पियरवा फगुया खेलि ।—रहीम । (ख) हँसी सुमी गोदवाँ मोरी बगिया पघारी तग जोतिया बरत महलाय । देखत गोरी क सुँह-रंगया उड़ल बलभिया को हथवा गुलाब ।—विरहा ।

यगीचा—पंशा पु० [फा० यगचा] [री० यग + गगीची] बादिका । उपवन । छोटा बाग । उ०—(क) लेकी राय लेजित रतन

मंदमको भय मानि । मनें बनीवा कीच गुह्य दस्तो क्षीरविधि
वापि ।—गुप्तम । (४) क्षीरमयि मानन बनीवन वनन कीच
हुने रागपारे लक्ष्मी देवी की म रति है ।—दुग्धमान ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [रि० वचना + पं०] एक प्रकार की
पानी की विधिवा । यह गुप्तमको से होती होती है । इसका
रंग मरने दोहा के नीचे हमने लि । नीचे नीचे बाली
होती है ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० दे० “वपुः” ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [रि० वचना + पं०] यह वपु ओ गामी के दिनें
में बनी बाली एक ही रंगन पर धैर्य स्त्री गूनी हुई दिखाई
देती है नीचे त्रिवारे मनें वा एक रंगमा रा वन जाता
है । यह वपुःमंन बाली को बहना जाता है । वपुःका प्यात
नीचे नीचे बाली कम नीचे बाली पवित्र होती है । इसे
गोबरा लोग भाली का रूप करते हैं । बाली बाली बनें
बालमनके वपुःमें मनें वपुःका मनें वपुःका नीचे मकान एक
बनाने वपुःका मनें । यह वपुःका जय समुद्र वा बहिरों
में होता है तो इसे “मृती” कहते हैं नीचे हमने बाली मज
की भाति प्रार लिख जाता है । वपुःका । वपुःका ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० दे० “वपुः” । व०—पानी बनें वपुःका होती ।
बेदा बाली प्यात बाली ।—वपुःका ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] मनें भाग्य में वपुः मानेवाली बाली
रंग की एक लोरी विधिवा ओ नीचे नीचे में नीचे वा के
मानन होती नीचे नीचे में माननको के प्यात वपुः
जाती है । यह मानन के साथ हुए तय विद्वत जागी है
कि मरुत में दिखाई लक्ष्मी देवी । यह लक्ष्मी में रहती है ।
होती लक्ष्मी में मानन करने हैं । बाली । बाली । बाली ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० दे० “वपुः” ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] वपुः ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

पञ्चमस्तोत्र—छंदा पु० [दे०] [वपुः वपुः] बाली मान की
विधिवा ।

जों मोरे मन बच थरु काया । प्रीति राम पद कमल
धमाया ।—गुलसी । (५) सैन्य ही बिहँसि दिहँसि कौलों
बेकिही जूषच हूँ तो बेसिये बिहँसि मुख बाध सों ।
देश्य । (६) ताते मिलि मन भायती सों बलि हाते हटा
वच मान हमारे ।—रघा० १२ ।

छंशा छी० [सं० वचना] एक प्रकार का पौधा जो कारमीर
से आसाम तक और मनीपुर और बर्मा में दो हजार से छ
हजार फुट तक ऊँचे पहाड़ों पर पानी के किनारे होता है ।
हलकी पत्ती सीसन की पत्ती के आकार की पर उससे कुछ
पड़ी होती है । इसके कुछ गरमिज के फूल की तरह पीले
होते हैं । पत्तियों की माळ लंबी होती है । पत्तियों से एक
प्रकार का तेल निकाला जाता है जो खुला रहने से उड़
जाता है । इसकी जड़ लाली सिर्फ सफेद रंग की होती है
जिसमें अनेक गर्तें होती हैं । पत्तिर्वा खाने में बड़ुरे, चपेरी
और गाम होती हैं और इनमें से तेज गंध निकलती है ।
वैद्यक में इसे घमनकारक, दीपन, मल और मूत्रोपक
और कंठ को हितकर माना है तथा शूल, शोथ, घातग्वद,
कफ, सूरी और बग्गाद का नाशक लिखा है । यह गठिया
में ऊपर से लगाई भी जाती है । भावप्रकाश में पच तीन
प्रकार की लिखी गई है—यच, खुसासानी बच, और महाभरी
बच । खुसासानी बच सफेद होती है । इसे मीठी बच भी
कहते हैं । यह मति और मेधावर्धक तथा आयुवर्धक होती
है । महाभरी का इलीनन भी कहते हैं । यह कफ और
खाँसी को दूर करती है, गले को साफ करती, रुचि को
वर्धती तथा मुख को शुद्ध करती है ।

पर्याय—उम्रगंधा । पद्मगंधा । गोलोभी । शतपत्रिका । मंग-
व्या । जटिला । तीक्ष्णा । लोमशा । भद्रा । कंगना ।

यचकाना—वि० [हि० वचा + काना (प्रत्य०)] [छी० वचकानी]
(१) बच्चों के योग्य । बच्चों के लायक । जैसे,
वचकाना जूता । (२) बच्चों का सा । थोड़ी अव-
स्था का ।

यचत—छंशा छी० [हि० वचना] (१) बचने का भाव । बचाव ।
रक्षा । उ०—होती जा ये यचत कहुँ धीरज डालन श्रोत ।
चतुरन हिमे न लागती नैन बाम की पोट ।—रसनिधि । (२)
बचा हुआ । यह भागजोप्य होने से बच रहे । शेष ।
(३) काम । मुनाफा ।

यचन—छंशा पुं० [सं० वचन] (१) वाणी । वाक । उ०—
तुलसी मुनत एक एकनि सों जा चलत बिलोकि निहारे ।
मूकनि यचन लाहु भातें अंधन गहे हैं बिलोचन तारे ।—
तुलसी । (२) वचन । मुँह से निकला हुआ सार्यक शब्द ।
उ०—(क) एकुल रीति सदा चलि आई । प्राण जाहु बर
यचन न जाई ।—गुलसी । (ख) कत बहियत दुख देन को

रचि रचि यचन थलीक । सयै कदाउर हैं लखें लाल मटार
लीक ।—विहारी ।

मुहा०—यचन डालना = मगाना । याचना करना । यचन सेदना
वा घोड़ना = प्रतिज्ञा से विनयित होना । कष्टकर न करना ।
प्रतिज्ञा भंग करना । यचन देना = प्रतिज्ञा करना । यात हारना ।
उ०—निदान यथोदा ने देवकी पो यचन दे कहा कि तेरा
बालक मैं रक्खूँ ।—२ हल्लाहाल । यचन वालना वा निभाना =
प्रतिज्ञा के अनुसार कार्य करना । जो कुछ कहना वह करना ।
यचन बाँधना = प्रतिज्ञा करना । यचनवद करना । उ०—मंद
यथोदा यचन बाँधापो । ता कारण देही धरि आयो ।—चूर ।
यचन खेना = प्रतिज्ञा करना । यचन हारना = प्रतिज्ञावद
होना । यात हारना ।

यचनविदग्धा—छंशा छी० दे० “यचनविदग्धा” ।

यचना—कि० अ० [सं० वचन = न पाना] (१) । कष्ट या विपत्ति
आदि से छलग रहना । रचित रहना । संभावना होने पर
भी किसी घुरी या दुःख स्थिति में न पडना । जैसे, शेर से
यचना, गिरने से यचना । वृद्ध से यचना । उ०—(क)
अचर प्राप्त सयन को होई । साधक सिद्ध यचै नहिं कोई ।—
कबीर । (ख) बहुत दुखई दुख की खानी । तप बचिही जय
रामहि जानी ।—कबीर । (ग) यच घहरा घरी घरी गज करिई
कानीर । चहुँ दिसि चमकै चंचला क्यों बचिई बलवीर ।—
शृंग० सत० । (२) किसी घुरी यात से छलग रहना ।
जैसे, घुरी संगत से यचना । (३) किसी के श्रेतगत न
आना । छूट जाना । रह जाना । जैसे, वहाँ कोई नहीं
यचा जिसपर रंग न पड़ा हो । (४) खरचने या काम में
थाने पर शेष रह जाना । याकी रहना । उ०—(क)
मीत न मीत गलीत यह जो धरिये धन जोरि । लाये खरचे
जो बचे तो जोरिये करोरि ।—विहारी । (ख) यची खुची
किरनन को निज कर मनुहु उदावत ।—रसबन्दी । (२)
छलग रहना । दूर रहना । परहेज करना । जैसे, तुम्हें
तो इन बातों से बहुत बचना चाहिए । (३) पीछे या
छलग होना । हटना । जैसे, गाड़ी से यचना ।
कि० उ० [सं० वचन] कहना । उ०—प्रबल प्रह्लाद यल देत
मुख ही बचत दास भुव चरख चित्त सीत नाथो । पांडु सुत विप-
त मोचन महादास लखि श्रेपदी और नाना बढ़ायो ।—चूर ।

यचपन—छंशा पुं० [हि० वचा + पन (प्रत्य०)] (१) लड़कपन ।
बाल्यावस्था । (२) बचवा होने का भाव ।

यचवैया—छंशा पुं० [हि० वचना + वैया (प्रत्य०)] बचाने-
वाला । रचक ।

यचा—छंशा पुं० [फा० । सं० बच, पा० वच, हि० वच्चा] [छी०
वची] लड़का । बालक । उ०—तुलसी मुनि सूर सराहत
हैं जग में बलसाहि ही बाल बचा ।—तुलसी ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] (१) यावत्ति वा वत्त यादि में न पड़ने देना । रघु। काश। २०—(२) विनु गुप्त यत्तर कोन मुझाये । यत्तर जात से कोन बचाये।—कवीर । (३) छाटी में गुप्त बहुत हैं तदा हासिये संग । गहिरी मति भारा मर्रा तदा बचाये संग ।—गिरधर । (४) यहू चोर चवनीय यने घेरे मुनि दुर्ग । महाराज को राघु बाग तो मजग यथाये ।—गोराब । (५) प्रभावित न होने देना । यत्तर रत्न । (६) स्वयं न होने देना । स्वयं न होने देना । साथ करके कुछ न पड़ना । (७) निपाता । पुराणा । शिरो, छांछ यचना । २०—पीठि दे मुगाहन की उठिदि बचाय, दुराहन मुगाहन के पावन परति है ।—प्रताप । (८) किसी वृत्ति यात्र से यत्तर रत्न । दूर रत्न । गिरे, बच्यो को गिराये तदाह यादि से बचाया यादिह । (९) ऐसे रोग से मुक्त करना जिसमें मरने की चार्कोका हो । (१०) पीछे करना । दत्ता ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] बचने का भाव । रघु। काश । २०—हरा कहति नु मई कायरी । देवो रीने होव लगी री तार मुनि सेरो है यचना री । मूर कहति राधा मति प्रागे चकिन मई मुनि कथा राखी ।—मूर ।

यचिया-वि० पु० [दि० २२०] बगोरे के काग में छोटी छोटी चुरिया ।

यचुका-वि० पु० [दि० २२०] एक प्रकार की मधुली जो गिरे, चोरी, बगोरा कीर कागस की चुरियों में होती है । गाथायत्तः वर बाजिरन भा जेकी होती है । वर दूध जल की बोई बोई मई मधुली हाथ देत हाथ लव भी लंबी होती है ।

यचुका-वि० पु० [दि० २२०] भात का चपरा । (कर्कर ।)

यचो-वि० पु० [दि० २२०] एक काहलसी जल में कावसी, गिरे और काहुत में होती है । दूधकी जल में मीर की भात का रंग निकलता है । यह भीर कीर जल पानी में लव होती है । लव जल में मीर पानी जल में दूधकी जल पड़ता लव होती है । दूधकी चलिअ वलु भीर चितोका मीर वलु भाव में खाने है ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।)

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।)

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।)

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

यचना-वि० पु० [दि० २२०] यचना, यचना । (कर्कर ।) (१) किसी जल की बचका से। यचनाय गिरा । गिरे, लव का बचा, दानी का बचना, कुले का बचना, मुली का बचना, हाथी का ।

में हिरण के सींग के आकार का होता है। इसका रंग कड़ुप तेल की तरह कालापन लिए पीला होता है और स्वाद मीठा होता है। इसकी जड़ के रेशों के बीच में गोंद की तरह गुदा होता है जो गीले रस्ते पर तो नरम रहता है पर सूखने पर बहुत कड़ा हो जाता है। इसके प्रतिरिक्त एक प्रकार का और यद्युनाग होता है जो काला और इससे बड़ा होता है और जिसके ऊपर छोटे छोटे दाग होने हैं जो गोंद की तरह मासूम पड़ते हैं। इसे काला यद्युनाग वा कालपूट कहते हैं। यह शिकम की पहाड़ियों में होता है। ये दोनों ही विष हैं और दोनों के खाने से प्राणियों की मृत्यु होती है। वैद्यक में यद्युनाग का स्वाद मीठा, प्रकृति गाम और गुण वात, कफनाशक और कष्ट रोग और सप्रियात को बुर करनेवाला यतलाया गया है। इसका प्रयोग अनेक औषधों में होता है। निपंडु में वसन्तान, हारिद्र, सखतुक, प्रदीपन, सोराष्टक, गृगक, काकपूट और महापुत्र, ये इसके भी भेद यतलाए गए हैं।

पर्या०—काकोल। गाल। विष। दारद।

यद्युना—संज्ञा पुं० दे० “यद्युना”।

यद्युना—संज्ञा पुं० [सं० वस, प्रा० वल्, पुं० वल्] यद्युना। गायका वल्ना। उ०—(क) बहो गोवाल चरत है गोसुत सँति कलेज कीजै। शीतल छवि, वृष की सुंदर निमल जमुना को अल पीजै। भोजन करत लखा हूँ घोखो यद्युन कतहुँ दूरि गये। यद्युपति बहो घेरि हौं आनीं तुम जेवहु निरिचंत भये।—सूर। (ख) हंसा संगराय द्यूटी कहिया। गैया पिये यद्युन को बुहिया।—कबीर। (ग) जियथो मरियो उभो यह माहिँ आपने हाय। जानत हैं ये मंदसुत विहँसत यद्युन साथ।—गिरिधर।

यद्युल—वि० दे० “यत्सल”।

यद्युना—संज्ञा पुं० [हिं० वल्] [की० बहिया] यद्युना। गायका वल्ना। उ०—(क) बिल बियाय गाय भइ बाँका। बहूँ बुहिया तिन तिन साँका।—कबीर। (ख) बख छोटे छोटे यद्युनों और बहियायों की पृष्ठें पकड़कर उठें और गिर पड़ें।—लखू।

मुद्गा—बहिया का वाधा या ताऊ—मूँल। यशान। निवृद्धि। शैवक।

यद्युना—संज्ञा पुं० दे० “यद्युना”।

यद्युना—संज्ञा पुं० [सं० वस, प्रा० वल्, पुं० हिं० वल्] घोड़े का वल्ना। उ०—सुरग यद्युने नैन तुव जघपि हैं नाकद। मन सौदागर ने बहो हैं बहुतहि परसेद।—रसनिधि।

यद्युना—संज्ञा पुं० दे० “यद्युना”।

यद्युना—संज्ञा पुं० [हिं० वल् + संज्ञा (प्रत्य०)] वह चंदना जो हिस्से के सुताविक लगाया या लिया जाय।

यजंत्री—संज्ञा पुं० [हिं० यजना] यजना यजानेवाला। यजनिर्था। उ०—यजंत्री यजाने लगे।—लखू।

यजकंद—संज्ञा पुं० [सं० यजकंद] एक बड़ी जता जो भारत के जंगलों में पैदा होती है। इसकी जड़ विपैली और मादक होती है परंतु खालने से खाने योग्य हो सकती है।

यजकना—वि० कि० अ० [चतु०] किसी तरह पदार्थ का सड़कर या बहुत गंदा होकर बुरबुरे फेंकना। यजयजाना।

यजका—संज्ञा पुं० [हिं० यजकना] चने की दाल या सेमन की चनी हुई बड़ी बड़ी पकीड़ियाँ जो पानी में भिगोकर दही में डाली जाती हैं।

यजद—संज्ञा स्त्री० [सं०] आगामी वर्ष या मास आदि के लिए भिन्न भिन्न विभागों में देनेवाले प्राय और व्यय का लेखा जो पहले से तैयार करके मंजूर कराया जाता है। भविष्य में देनेवाली प्राय और व्यय का अनुमित लेखा।

यजदुर्गा—कि० सं० [१] (१) टकराना। (२) पशुपतना।

यजदुर्गा—संज्ञा पुं० दे० “यजना”।

यजनक—संज्ञा पुं० [पत्नी] पिस्ते का फूल जो रोमन रंगने के काम में आता है।

यजना—कि० अ० [हिं० यजना] (१) किसी प्रकार के प्राचात या हवा के जोर से जाने आदि में से शब्द बरसना होना। थोलना। जैसे, डंका बजना, बाँसुरी बजना। उ०—(क) पूरी मेरी यजनानी तेरी घर बानी किहीं बानी ही की बीया सुख शुभ में बजत है।—केशव। (ख) मैं मनसे नार बँत बजै सुखमें तन सोदत पीत पटा है। यों दगै चमके कमके दुति दामिनि की मनो स्थान छटा है।—रसखानि। (ग) मोहन नू या बात को अपने हिये विचार। बजत तैयार बहूँ सुने गोंद गँडीले तार।—रसनिधि। (२) किसी वस्तु का दूसरी वस्तु पर इस प्रकार पड़ना कि शब्द उत्पन्न हो। आघात पड़ना। प्रहार होना। जैसे, तिर पर बँडा या जूता बजाना। उ०—खोलुप भमत घुदप ज्यों जहँ तहँ तिर पदप्राण बजै। तदपि अधम विचरत तेहि मारग कवहुँ न मूड लजै।—तुलसी। (३) शब्दों का चलना। जैसे, लाठी बजना, तलवार बजना। (४) अद्वाना। दठ काना। जिद्द करना। उ०—(क) प्रीति करी तुमसो बजिके सुबिसारि करी तुम प्रीति घने की।—पद्माकर। (ख) घरी बजी घरियार सुन बजि के कहत बसाह। बहुरि न पैरे यह घरी हरि चरनन चित बाह—रसनिधि। (५) प्रख्याति पाना। प्रसिद्ध होना। कहलाना। उ०—गुन प्रभुता पदवी जहाँ तहाँ बनेसव कार। मिछै न कबु फल आपते बजै नाम मंदार।—दीनदयाल गिरि।

विमली। ३०—शायि तर्ग तेरे काल के शीश परो हर जाय यज्ञाजि परो जू। आयु मिलौ तो मिलौ यज्ञराजहि नाहिं तो नीके हों राज करी जू।—केराव।

यज्ञाज—संज्ञा पुं० [यं यज्ञाज] [यं यज्ञाजिन] कपड़े का व्यापारी। कपड़ा बेचनेवाला। ३०—(क) पैठे यज्ञाज सराफ बनिक अनेक मनुहुं कुयेर से।—तुलसी। (ख) अपने गोपाल लाळ के मैं बाने रचि लेऊँ। यज्ञाजिन हैं जाई निरवि मैतन सुख देऊँ।—सूर।

यज्ञाजा—संज्ञा पुं० [का०] यज्ञाजों का बाजार। वह स्थान जहाँ यज्ञाजों की दुकानें हों। कपड़े विकने का स्थान।

यज्ञाजी—संज्ञा स्त्री० [का०] (१) कपड़ा बेचने का व्यापार। यज्ञाज का काम। (२) यज्ञाज की दुकान का सामान। विक्री के लिए लीया हुआ कपड़ा। (क०)

यज्ञाना—कि० सं० [हिं० यज्ञा] (१) किसी बाने आदि पर आघात पहुँचा कर अपना हथका का जोर पहुँचा का बसने शब्द बोलकर। जैसे, तयला यज्ञाना, थोसुरी यज्ञाना, सीटी यज्ञाना, हारनोनियम यज्ञाना आदि। ३०—(क) यंत्र यज्ञावत हैं सुना दृष्टि गए तब तार। यंत्र पिचार क्या करे गया यज्ञायनहार।—कबीर। (ग) मुरली दजाई तान गाई सुसकाई मंद, लटक लटक मारै नृत्य में निरत है।—पद्माकर। (ग) ते हित गाय यज्ञावत नाचत पर अनेक तिगार बनायो।—बैराव। (घ) बहुत नाचत गावत कहूँ कहूँ यज्ञावत दीन। सय में राजत आधु ही सबही कला प्रवीन।—रसनिधि। (२) किसी प्रकार के आघात से शब्द उत्पन्न करना। पैठ पहुँचाकर आवाज निकालना। जैसे, ताली यज्ञाना।

मुहा०—(१) यज्ञाकर = डंका पीटकर। लुलमुलुल। ३०—(क) सुविन सोधि सय साज सजाई। देवें भरत कहैं राज यज्ञाई।—तुलसी। (ख) जब ते हरि अधिकार दियो। अब मानिहैं दोष आपनो हम ही बेच्यो आइ। सुरदास प्रभु के अधिकारी पूर्ण भए बसाइ।—सूर। (२) ठेंकना यज्ञाना = अच्छी प्रकार परीक्षा करना। देलमाझकर भली भाँति जानना।

विशेष—यह मुहाविरा मिट्टी के बरतन के ठेंकने यज्ञाने से लिया गया है। जब लोग मिट्टी के बरतन लेते हैं तब हाथ में लेकर ठेंककर और यज्ञाकर उसके शब्द से फूटे दृष्टे या साबित होने का पता लगाते हैं।

(३) किसी चीज में मारना। आघात पहुँचाना। यज्ञाना। जैसे, लाठी यज्ञाना, तलवार यज्ञाना, गोली यज्ञाना। ३०—दरी भूमि गदि लेइ दुपन सिर खड्ग यज्ञावै। पर बपकारन करै पुष्ट में रोमा पावै।—सिरिधर। कि० सं० पूरा करना। जैसे, हुक्म यज्ञाना।

यज्ञाय—अर्थ० [का०] स्थान पर। जगह पर। यज्ञले में। जेबे, शगर आपके यज्ञाय मैं वहाँ पर होता तो कभी यह बात न होने पासी।

यज्ञार—संज्ञा पुं० [का० यज्ञार] वह स्थान जहाँ विक्री के लिए दुकानों में पदार्थ रखे हों। हाट। पैंठ। यज्ञार। ३०—(क) हीरा परा यज्ञार में रहा छार लपटाप। बहुतक मूरख चलि गए पारवि लिया उठाप।—कबीर। (ख) धार यज्ञार बिचित्र धवारी। नमिमय बिधि जुनु खकर सँवारी।—तुलसी। (ग) छूटे टप गगन भीत के बिच यह प्रेम यज्ञार। दीन नैन दुकान के मुहकम पक्क केवार।—रसनिधि।

यज्ञारी—वि० [हिं० यज्ञार + ई (प्रत्य०)] (१) यज्ञार से संबंध रखनेवाला। यज्ञारू। (२) सभापति। सामान्य। ३०—कीर्ति यज्ञी कर्तुनि यज्ञी जन यात यज्ञी सो यज्ञी यज्ञारी।—तुलसी। (३) दे० “यज्ञारी”।

यज्ञारू—वि० दे० “यज्ञारू”।

यज्ञा—संज्ञा पुं० दे० “यज्ञ”।

यज्ञा—संज्ञा पुं० [का० यज्ञ + उल्का (प्रत्य०)] वाह पर पड़ने का यज्ञावत नाम का आभूषण।

यज्ञा—संज्ञा पुं० दे० “यज्ञा”।

यज्ञा—कि० अ० दे० “यज्ञा”।

यज्ञा—संज्ञा पुं० दे० “यज्ञ”।

यज्ञा—वि० [का० यज्ञा] बुद्ध। ब्रह्माश। पाजी।

यज्ञा—संज्ञा स्त्री० [का० यज्ञा] बुद्धता। ब्रह्माशी। पातीपन।

यज्ञ—संज्ञा पुं० दे० “यज्ञ”।

यज्ञी—संज्ञा पुं० [सं० यज्ञी] ईश्वर।

यज्ञा—कि० अ० [सं० यज्ञ, प्रा० यज्ञक + ना (प्रत्य०)] (१) यंधन में पड़ना। बँधना। ३०—(क) चली प्रात ही गोपिका मनुकिन लौ गोरस। जीय परयो बाव्याल में ब्रह्म गए दसादस। बके जाय छगपूँद ज्यों मिय धुबि लटकनि लस।—सूर। (ख) सुने माना पुरान मिटत नहिं अज्ञान पढ़ै न समुझै किमि खग कीर। धम्त बिनहि पास सेमर सुमन आस करत चरत तेज फल बिनु हीर।—तुलसी। (२) अटकना। उलझना। फँसना। (३) झट करना। टेक करना। ३०—उपरोहित निमियंश को यथाभेद सुनिराय। लियो नेग बकि राम सो, मन हिय वसो सदाव।—रघुराज।

यभयट—संज्ञा स्त्री० [हिं० यभ + यट (प्रत्य०)] (१) बक स्त्री। (२) गाय, बैल या कोई मादा पशु जो बक हो। (३) यभ के पौधों के बंटल जिनसे वालें तोड़ ली गई हैं।

यटली-वंश स्त्री० [हि० यटल] यटलोई ।

यटलोई-वंश स्त्री० [हि० यटल] डाल, चावल आदि पकाने का षोड़े मुँह का गोल धरतन । देग । देगची । पसीसी ।

यटवाना-कि० सं० दे० "यटवाना" ।

यटवायक-वंश पुं० [हि० बाट + वायक] रास्ते में पहरा देने वाला । चौकीदार । (पुराना) ।

यटवार-वंश पुं० [हि० यट + वार] पल, या हि० वार, वारा] (१) राह याट की चौकसी रखनेवाला कर्मचारी । पहरेवार । (२) रास्ते का कर वगा देनेवाला ।

यटाल-वंश पुं० [सं० यटल] [स्त्री० यटल] बटिया] (१) गोल । बटुलाकार वस्तु । (२) गेद । उ०—(क) कटकि चकति उतरति यटाल नेकु न याकति मुँह । अई रहति नट को यटा अटकी नागति नेह ।—विहारी । (ख) लै बीगान बटो कर आगे प्रभु धाप नय याहर ।—सूर । (ग) अथ ऊष थावत जात अने चित नागति को नट कैसे यटा । (३) बाँका । रोड़ा । डेला । उ०—लै यटवार यटा करथो बाट को याट में व्यारे की बाट चितोको ।—देव । (४) बटाक । बटोही । पथिक । राही । उ०—लै नग मेर सगुद सा यटा । गाढ़ परै ली लै परगटा ।—जायसी ।

यटाली-वंश स्त्री० [हि० यटल] (१) यटने या गेंडन डालने का काम । (२) यटने की समझ ।

संज्ञा स्त्री० दे० "यटाली" ।

यटाऊ-वंश पुं० [हि० बाट = रास्ता + आऊ (प्रत्य०)] याट चलनेवाला । यटोही । पथिक । मुसाफिर । राही । उ०—(क) रातिपलोचन राग अले तनि याप कोराऊ बटाऊ की बाईं ।—तुलसी । (ख) ऐसे सग रहत ये मो पै जैसे कोइ बटाऊ । सोज लै दूमे ते सोलत हुनमें यही न आज ।—सूर । (ग) धीर बटाऊ पंथी है । तुम कौन देस ते आये । यह पाली हमरी लै दौल जहाँ सारे छाये ।—सूर ।

मुहा०—यटाऊ होना = राही होना । चलता होना । चल देना । उ०—(क) चेटक लाप हरहिं मन जो लहि गथ है फेट । सति नाइ इति मगु यटाऊ ना पड़ि नान न भेट ।—जायसी । (घ) भए यटाऊ नेह तनि याट चकति येकाज । अथ अलि देत उराहते वर उपजति अति लाज ।—विहारी ।

यटाक-वंश-वि० [हि० यटाक ?] यटा । ऊँचा । उ०—कौन यटो वात त्रयी ताप के हरनहार राम को कटाछ ते यटाक पद पायोई ।—दुसमान ।

यटाली-कि० अ० [पुं० हि० यटल = बंद देना] बंद होजाना । जारी न रहना । उ०—सोत दिवम जल वरधि यटान्यो थावत करयो अनहि अत्रावत ।—सूर ।

यटाली-वंश स्त्री० [अण०] बटुलियों का एक औजार । खसानी । (बटा)

यटिया-वंश स्त्री० [हि० यटा = गेला] (१) छोटा गेला । गोल मटोल टुकड़ा । जैसे, शालग्राम की यटिया । (२) कोई वस्तु सिल पर रखकर इगढ़ने या पीसने के लिए परपर का लंबोतरा गोल टुकड़ा । छोटा यटा । लोड़िया ।

यटी-वंश स्त्री० [सं० यटी] (१) गोली । (२) यषी नाम का पकवान । उ०—भोदन दुदल यटी घट व्यंजन पय पकवान अघारा ।—रघुराज ।

यंश स्त्री० [सं० यंश] याटिका । उपवन । यगीचा । उ०—सूर्यनखा नाक कटी रामपद चिह्न पटी सोहै बैकुंठ की यटी सी पंचयटी है ।—रघुराज ।

यटु-वंश पुं० दे० "बटु" ।

यटुआ-वंश पुं० दे० "यटुवा" ।

यटुक-वंश पुं० दे० "यटुक" ।

यटुरना-कि० अ० [सं० यटुस, प्रा० यटुस, यटुस + ना (प्रत्य०)] (१) सिंढना । फैला हुआ न रहना । सरक कर थोड़े स्थान में होना । (२) इकट्ठा होना । एकत्र होना ।

संयो० कि०—जाना ।

यटुरी-वंश स्त्री० [देग०] एक कदम । खेमारी । मोट ।

यटुला-वंश पुं० [सं० यटुस, प्रा० यटुस] चावल डाल पकाने का षोड़े मुँह का धरतन । यट्टी बटलोई ।

यटुवा-वंश पुं० [सं० यटुस] (१) एक प्रकार की गोल धँसी जिसके भीतर कई खाने होते हैं । यह कपड़े या चमड़े की होती है और इसके मुँह पर डोरे पिरोए रहते हैं जिन्हें धोँचने से मुँह खुलता और बंद होता है । इसे यात्रा में लोग प्रायः साथ रखते हैं क्योंकि इसके भीतर बहुत सी कुत्तर चीजे (पान का सामान, मसाला इत्यादि) धा जाती हैं । (२) बड़ी बटलोई या देग ।

यटरे-वंश स्त्री० [सं० यटरे, प्रा० यट्टा] तीतर या लघा की तरह की एक छोटी चिड़िया । इसका रंग तीतर का सा होता है पर वह उमसे छोटी होती है । इसका मांस बहुत गुद समझा जाता है इससे लोग इसका शिकार करते हैं । लड़ाने के लिए शौकीन लोग इसे पालते भी हैं । यह चिड़िया हिंदु-स्थान से लेकर अफगानिस्तान, फारस और भारत तक पाई जाती है । यटु के अनुसार यह स्थान भी बदलती है और प्रायः कुंड में पाई जाती है । यह धूप में रहना पसंद नहीं करती, छाया ढूँढ़ती है ।

मुहा०—यटरे का जगना = रात के यटरे के कान में आवाज देना । (यटरेवाज) । यटरे का घड़ जाना = दाना न मिलने के कारण यटरे का हुक्का हो जाना ।

यटरेवाज-वंश पुं० [हि० यटरे + वाज] यटरे पालने या लड़ानेवाला ।

गोल छोटा टुकड़ा। (२) घटने पीसने का परवर।
लोड़िया। (३) समझौला कटा हुआ टुकड़ा। यड़ी ठिकिया।
जैसे, साधन की यड़ी, नील की यड़ी।

यट्टू-संज्ञा पुं० [दे०] (१) भारीदार चारखाना। (२) ताखी।
भरगट्टू। एक प्रकार का ताड़ जो सिंहल में और मलाबार
के तट पर होता है।

संज्ञा पुं० [सं० यवट्] भरगट्टू। थोड़ा। खोबिया।

यट्टू-यज्ज-वि० [हिं० यज्ञ + यज्] (१) भरगट्टू का खेज
करनेवाला। जादूगर। (२) भूत। चालाक।

यडियारि-संज्ञा स्त्री० [दे०] पाथे हुए सूखे कैंडों का ढेर।
उपलों का ढेर।

यट्टू-यज्ज-वि० अ० [हिं० यैठना] यैठना। (दलाल)

यट्टू-यज्ज-वि० अ० [हिं० यैठना] यैठना। (दलाल)

यडू-या-संज्ञा पुं० [हिं० यज्ञ + या] लंघा यज्ञ जो छाजन के
बीबीगीच लंघाई के यज्ञ भाषार रूप में रहता है। बँडरी।

यडू-गी-संज्ञा पुं० [हिं० यज्ञ + गी] घोड़ा। (डिं०)

यडू-भू-संज्ञा पुं० [दे०] दुष्टि का एक जंगली पेड़ जो कोकन,
मलाबार, प्रायद्वीप आदि की और बहुत होता है। इसमें
से एक प्रकार का तेल निकलता है।

यडू-संज्ञा स्त्री० [अ० यडू] यकवाद। प्रलाप। जैसे,
पागलों की यडू।

संज्ञा पुं० [सं० यट्] भरगट्टू का पेड़।

यै०—यडूकीला। यडूवट्टा।

† वि० दे० “यडू”।

यडूकाँ-वि० दे० “यडू”।

यडूकुट्टी-संज्ञा पुं० [दे०] कछा कुआँ।

यडूकीला-संज्ञा पुं० [हिं० यडू + केष] भरगट्टू का फल।

यडूगुला-संज्ञा पुं० [हिं० यडू + गुला] एक प्रकार का बगला।

यडूबुमा-संज्ञा पुं० [हिं० यडू + बुम] वह हाथी जिनकी
पूँछ की कँगनी पाँच तक हो। लंबी दुम का हाथी।

यडूप्पन-संज्ञा पुं० [हिं० यडू + पन] यडाई। श्रेष्ठ या यडा होने
का भाव। महत्त्व। गौरव। जैसे, तुम्हारा यडूप्पन इसी में है
कि तुम कुछ मत बोलो।

विशेष—यडूप्पन के विस्तार के संबंध में इस शब्द का प्रयोग
नहीं होता। इससे केवल पद, मर्यादा, अवस्था आदि की
श्रेष्ठता समझी जाती है।

यडूकनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० यडू + कनी] बहुत चौड़ी मटिया।

यडूयट्टा-संज्ञा पुं० [हिं० यडू + यट्टा] भरगट्टू का फल।

यडूयडू-संज्ञा स्त्री० [अ०] यकवाद। व्यर्थ का बोलना। फुनूल
की बातचीत। प्रलाप।

किं० प्र०—करना।—मचाना।—लगाना।

यडूयडूना-किं० अ० [अ० यडू] (१) यक यक करना।

यकवाद करना। व्यर्थ बोलना। प्रलाप करना। (२) कोई
बात चुकी खेगने पर सुँह में ही कुछ बोलना। सुलकर
अपनी अलखि या क्रोध न प्रकट करके कुछ श्रद्धुत शब्द
सुँह से निकालना। बुडुडूना। जैसे, मेरे कहने पर गया
तो, पर कुछ यडूयडूना हुआ।

यडूयडूना-वि० [अ० यडू] यडूयडूनेवाला। यकवादी।

यडूयोल-वि० [हिं० यज्ञ + योल] (१) बहुत बोलनेवाला। अन-
गंत प्रलाप करनेवाला। बोलने में उचित अनुचित आदि
का ध्यान न रखनेवाला। २०—का यडू पंथि कूट सुँह
कोटे। अस यडूयोल जीम मुख छेदे।—आपसी। (२)
यडू यडू कर बोलनेवाला। शेरही हँसनेवाला।

यडूयोल-वि० [हिं० यज्ञ + योल] यडू यडू बातें करनेवाला।
यडू यडू कर बातें करनेवाला। लंबी चौड़ी हँसनेवाला।
सीटनेवाला।

यडूभाग-वि० दे० “यडूभागी”।

यडूभागी-वि० [हिं० यज्ञ + भागी, सं० भागिन्] यडू भाग्यवाला।
भाग्यवान्। २०—ग्रहद सात लक्षिमान यडूभागी। राम
पदमचिंद अनुरागी।—तुलसी।

यडूरा-वि० [हिं० यज्ञ + रा (अय०)] [स्त्री० यडूरा] यडूरा।
२०—तेरि चलीं यडूरी खलियान तेँ छूटि यडूरी यडूरी आँसू
की बूँदें।—रघुनाथ।

यडूराना-किं० अ० दे० “यडूरा”।

यडूवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घोड़ी। (२) अश्विनी रूपधारिणी
सुव्यंजनी संज्ञा। (३) अश्विनी मन्त्र। (४) दासी। (५)
नारी विशेष। (६) यासुदेव की एक परिवारिका। (७)
एक नदी। (८) यडूवाग्नि।

संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का धान जो भादों के श्राव
और कुम्भार के श्राव में हो जाता है।

यडूवाग्नि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्राग्नि। समुद्र के भीतर की
भाग या ताप।

विशेष—भूवर्ध के भीतर जो अग्नि है उसीका तान कहीं
कहीं समुद्र के जल को भी खोलाता है। कालिकापुराण
में लिखा है कि काम को अस्र करके के लिए शिव ने जो
क्रोधानज उत्पन्न किया था उसे मत्स्य ने घडया था घोड़ी के
रूप में करके समुद्र के हवाले कर दिया जिसमें लोक की
रक्षा रहे। पर वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि गडू-
वाग्नि श्रौव अष्टि का क्रोध रूपी तेज है जो कल्पांत में
कैटरा समार को अस्र करेगा।

यडूवानल-संज्ञा पुं० दे० “यडूवाग्नि”।

यडूवानलचूर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक पूर्ण जिसके सेवन से
अजीर्ण का नाश और बुधा की बुद्धि होती है। (वैद्यक)

यडूवानलरस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यडूवाग्नि। (२) एक

देना । (१) भाव अधिक कर देना । सस्ता बेचना । जैसे, पन्थिपे गेहूँ नहीं बढ़ा रहे हैं । (१०) विस्तार करना । फैलाना । जैसे, कारबार बढ़ाना । (११)

दूकान भावि समेटना । गिन्य का व्यवहार समाप्त करना । कार्यालय बंद करना । जैसे, दूकान बंदाना, काम बंदाना । (१२) दीपक निर्वास करना । चिराग बुझाना ।

उ०—शंग शंग नग जगमगात दीपसिखा सी देह । दिया बढ़ाए हूँ रहे बड़े उजरो नेह ।—विहारी ।

क्रि० अ० चुकना । समाप्त होना । बाकी न रह जाना । खतम होना । उ०—(क) मेघ सबै जल भरि बढ़ाने विधि गुन गए सिराई । बेसीहँ गिरिवर प्रजवासी हूँ नो हरल बढ़ाई ।—सूर । (ख) राम मातु उर कियो लगाई । सो सुख कैसे परनि बढ़ाई ।—रघुराज । (ग) गिन तिन मेरे अधन की गिती नहीं बढ़ाए । असनसरन कड़ा प्रभु मत मोहिँ सान छुड़ाए ।—रसनिधि ।

यद्वाली—संज्ञा स्त्री० [दे०] फटाही । कटार ।

यद्वाय—संज्ञा पुं० [हि० यद्वा + आव (प्रत्य०)] (१) बढ़ने की क्रिया या भाव । (२) फैलाव । विस्तार । आधिक्य । अधिकता । ज्यादाती । (३) उन्नति । वृद्धि । तराही ।

यद्वाचन—संज्ञा स्त्री० [हि० यद्वाचना] गोवर की रिकिया जो बच्चों की नजर झाड़ने में काम आती है ।

यद्वाचना—क्रि० ल० दे० “यद्वाना” ।

यद्वाया—संज्ञा पुं० [हि० यद्वाय] (१) किसी काम की ओर मन बढ़ाने वाली बात । हैसला पैदा करनेवाली बात जिसे सुनकर किसीको कोई काम करने की प्रवृत्ति दृष्टा हो । प्रोत्साहन । उद्योजन । जैसे, पहले तो लोगों ने बढ़ावा देकर उन्हें इस काम में आगे कर दिया, पर पीछे सब किनारे हो गए ।

क्रि० प्र०—रैना ।

मुहा०—बढ़ावे में आना = उत्साह देने से किसी ठेके काम में प्रवृत्त हो जाना ।

(२) साहस या हिम्मत दिलानेवाली बात । ऐसे शब्द जिनसे कोई बठिन काम करने में प्रवृत्त हो । जैसे, तुम बने के बढ़ावे में मत आना ।

यद्दिया—वि० [हि० यद्दना] उत्तम । अच्छा । श्रेष्ठ ।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का कोल्हू । (२) एक तील जो टेढ़े सर की होती है । (३) गन्ने, अनाज आदि की फसल का एक रोग जिससे कनखे नहीं निकलते और दाब बंद हो जाती है ।

संज्ञा स्त्री० एक प्रकार की दाढ़ ।

यद्देल—संज्ञा स्त्री० [दे०] हिमालय पर की एक भेड़ जिससे ऊँज निकलता है ।

यद्देली—संज्ञा पुं० [सं० यद्देल] बनेला सूख । जंगली सुखर ।

यद्दैया—वि० [हि० यद्दना, यद्दना] (१) बढ़ानेवाला । उन्नति करानेवाला । (२) बढ़नेवाला ।

संज्ञा पुं० दे० “यद्दई” । उ०—पति सुंदर पालनो गढ़ि एषाव, रे बढ़ैया ।—सूर ।

यद्दोतरी—संज्ञा स्त्री० [हि० यद्दु + उत्तर] (१) उत्तरोत्तर वृद्धि । बढ़ती । (२) उन्नति ।

यणिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) याण्डव्य करनेवाला । व्यापार व्यवसाय करनेवाला । बनिया । सोदागर । (२) मेचनेवाला । विक्रेता । उ०—शाक्यणिक मणिगुण गण जैसे ।—तुलसी । (३) ज्योतिष में छठा करण ।

यणिकपय—संज्ञा पुं० [सं०] याण्डव्य । व्यापार की चीजों की आमदनी रपतनी ।

यणियंशु—संज्ञा पुं० [सं०] मीठ का पौधा ।

यणियसह—संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट ।

यणिज—संज्ञा पुं० दे० “यणिक” ।

यत—संज्ञा स्त्री० [हि० ‘यात’ का संज्ञित रूप] बात ।

यिरोप—रसका प्रयोग यौगिक शब्दों में ही होता है । जैसे, बतकही, यतयद्वाय, बतरस ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] बतरख ।

यतक—संज्ञा स्त्री० दे० “यतख” ।

यतकहाय—संज्ञा पुं० [हि० यत + कहान] (१) बातचीत । (२) कहा सुनी । विवाद । बातों का झगड़ा ।

यतकही—संज्ञा स्त्री० [हि० यत + कहान] बातचीत । बातलाप ।

उ०—(क) करत यतकही अनुज सन मन सिप रूप लुमान । सुखसरोज-सकरं वृषि करत मधुर ह्व पान ।—तुलसी । (ख) सपहु हर उर जुगल सारथ्य के सकर लागि सवननि करत मेह की बतकही ।—तुलसी ।

यतख—संज्ञा स्त्री० [सं० यत] हंस की जाति की पानी की एक चिड़िया जिसका रंग सफेद, पंजे क्लिन्नोद्दार, और चोंच आगे की ओर चिपटी होती है । चोंच और पंजे का रंग पीलावन सिपू लाळ होता है । यह चिड़िया पानी में तैरती है और जमीन पर भी अच्छी तरह चलती है । इसका डील डील भारी होता है इससे यह न तेज दौड़ सकती है न बढ़ सकती है । तालों और जलशयों में यह मछली खादि पकड़कर खाती है । शहरों में भी इसे लोग पालते हैं । बर्दा नालियों के कीड़े खादि चुगती यह प्रायः दिखाई पड़ती है ।

यतचल—वि० [हि० यत + चलना] बढ़वादी । बढ़ी । उ०—जानी जात सूर इस इनकी बतचल चंचल छोल ।—सूर ।

यतयद्वाय—संज्ञा पुं० [हि० यत + यद्वाय] बात का विस्तार । व्यर्थ बात बढ़ाना । झगड़ा बसेड़ा बढ़ाना । विवाद । उ०—अय जनि दतयद्वाय खल करई । मुनि नम यवन मान परिहरई ।—तुलसी ।

में डालकर धीमा जलते हैं। चिराग जलाने के लिये रुई या सूत का पटा हुआ लपेटा।

यौ०—मेमवत्ती। धूपवत्ती। अमरवत्ती।

मुहा०—वत्ती लगाना = जलती हुई वत्ती छुला देना। अलाना।
आग लगाना। मस करना। संझा वत्ती = संझा के समान दीपक जलाना।

(२) मेमवत्ती।

मुहा०—वत्ती बटाना = शमादान में मेमवत्ती लगाना।

(३) दीपक। चिराग। रोशनी। प्रकाश।

मुहा०—वत्ती दिलाता = उजाता करना। समने प्रकाश दिलाता।

यौ०—दीया वत्ती।

(७) लपेटा हुआ धीपड़ा जो किसी वस्तु में आग लगाने के लिये काम में लाया जाय। फलीता। पलीता। (४) पतली छड़ या सलाई के आकार में लाई हुई कोई वस्तु। वत्ती की शकल की कोई चीज। जैसे, लाह की वत्ती, मुलेठी के सत की वत्ती, लपेटे हुए कागज की वत्ती। (५) फूल का पूजा जिसे मोटी वत्ती के आकार में बाँधकर छाजन में लगाते हैं। मूडा। ड०—प्रवेश बैंगला एक बधाया। ऊपर नीचे, सले घर छाया ॥ बाँस न वत्ती बंधन घने। कदो सखी। घर कैने घने ! (७) कपड़े की वह खंची घड़ी जो घाय में मवाद साफ करने के लिये अरते हैं।

क्रि० प्र०—देना।

(८) पगड़ी या चूने का गुंथा हुआ कपड़ा। (३) कपड़े के किनारे का वह भाग जो सीने के लिये मरोड़कर पकड़ा जाता है।

वत्तीस—वि० [सं० दार्शित्य, मा० वत्तीस] तीस से दो अधिक। जो गिनती में तीस से दो ज्यादा हो।

संज्ञा पुं० (१) तीस से दो अधिक की संख्या। (२) एक संख्या का अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—३२।

वत्तीसा—संज्ञा पुं० [हि० वत्तीस] एक प्रकार का लड्डू जिसमें पुई के वत्तीस मसाले पड़ते हैं।

वत्तीसी—संज्ञा स्त्री० [हि० वत्तीस] (१) वत्तीस का समूह। (२) मनुष्य के नीचे ऊपर के दाँतों की शक्ति (जिनकी पूरी संख्या वत्तीस होती है।)

मुहा०—वत्तीसी झड़ पड़ना = दाँत गिर पड़ना। वत्तीसी त्रिपाना = दाँत दिलाता। हँसना। वत्तीसी बजना = ऊँचे के साथ धाँढ़ों का बँसना। गहरा जाड़ा लगना।

पयाना—संज्ञा पुं० [सं० वस + पयान, हि० वच्छयान] योग्य। गायों के रहने की जगह।

यधुआ—संज्ञा पुं० [सं० वधु, पा० वधुध] एक छोटा बीजा जो जी, गेहूँ आदि के क्षेत्रों में उपजता है और जिसका लोग

साग बनाकर खाते हैं। इसकी पर्तियाँ छोटी छोटी और फूल छुंटी के आकार के होते हैं जिनमें काले दाने के समान बीज पड़ते हैं। चूल्ह में यधुआ अमरसिजनक, मधुर, पित्तनाशक, चार, अर्य और हृमिनाशक, नेत्रहितकारी, रिनध, मलमूत्रशोधक और कफ के रोगियों को हितकारी माना गया है।

वद—संज्ञा स्त्री० [सं० वध्म = भिद्ये] (?) गरमी की धीमारी के कारण या यौही सूजी हुई जाँघ पर की गिलटी। मोहिया। वाची।

क्रि० प्र०—निकलना।

(२) चौपायों का एक दृढ़ का रोग जिसमें उनके सुँद से लार बहती है, उनके खुर और सुँह में दाने पड़ जाते हैं। सींग से लेकर सारा शरीर गरम हो जाता है।

वि० [का०] (१) दुरा। खराब। अपम। निकृष्ट।

यौ०—वदधमती। वदहंतजामी। वदकार। वदकिस्मत। वदपत। वदवशाह। वदगुमान। वदगोई। वदचजन। वदजवान। वदजात। वदतमीज। वददुआ। वदनुसीय। वदनाम। वदनीयत। वदनुमा। वदवहेज। वदवधत। वदवू। वदमञ्ज। वदमस्त। वदगाश। वदमिजाज। वदरस। वदलामाम। वदशकल। वदसजूकी। वदसूरत। वदहजमी। वदहवास।

(३) बुरे आचरण का मनुष्य। दुष्ट। खल। नीच। जैसे, वद अच्छा। वदनाम बुरा।

संज्ञा स्त्री० [सं० वद = पतय, वरला] पलटा। 'वदडा। एवज। ड०—तब एक मित्रहि कछो चुकाई। तुम हमरी वद पदरे जाई।—रघुगन।

मुहा०—वद में = एवज में। वदले में। खान पर। ड०—गुरुगृह जब हम यग को जात। तुरत हमारे वद में लकरी लावत सहि दुख नास।—सूर।

वदधमती—संज्ञा स्त्री० [का० वद + धम (मह) शब्द का कुप्रबंध। अशांति। हलचल।

क्रि० प्र०—फैलना।—मचना।

वदहंतजामी—संज्ञा स्त्री० [का०] कुप्रबंध। चप्यवस्था।

वदकार—वि० [का०] (१) बुरे काम करनेवाला। कुकर्मी।

(२) व्यभिचारी। पर स्त्री या पर पुरुष में रत। जैसे, वदकार आधमी, वदकार चौरत।

वदकारी—संज्ञा स्त्री० [का०] (१) कुकर्मी। (२) व्यभिचार।

वदकिस्मत—वि० [का० वद + किस्मत] बुरी किस्मत का। अंधभाग्य। अभाग्य।

वदखत—संज्ञा पुं० [का०] बुरा लेख। बुरी लिपि। बुरे अक्षर। वि० बुरा लिखनेवाला। वह जिसका लिखने में हाथ न बँधा हो।

यदुत्पाद-वि० (५०) द्रुम आदिदेवाय । अग्नि आहोमयाय ।
मित्राय वा नमः ।

पद्मसुमान-१० [५५] पुनः संदेहः कल्पेवाद्याः । संदेहः की रतिः
तं देहेवाद्याः ।

यदगुमानो-अथर्षः (५५) द्वितीये अथ विषयः शरीरः ।
अथः यदगुमानः ।

सदस्योक्त—श्री ७० { ५० } (१) द्वितीयं विषयं नै मुनि आर
कृतम् । द्वितीयं (२) भाग्यम् ।

मनुस्मृतम्-१० [५०] कुम्भारः । पद्मादः । पुत्रे जातवन्तम्
३ । १११ ।

सदस्यता-सूची :- १९७०-७१] (१) सदस्यता सूची :- १९७०-७१]

पञ्चमस्तोत्रम्—(१०) । १०० । भुवः परमेष्ठिनः । द्यामी शर्वज्ञः कर्म
कायः । इन्द्रादीन् ।

मद्रास-१० । ३०४ + ३०५ पृष्ठ । मृती जगन्निवास का स्तम्भ
३०४ का । स्तम्भ । स्तम्भ । स्तम्भ ।

सद्वर्गगीत-(१०) [१००] विद्ये वाच्यी दृष्टि जात की वाच्यता न हो। समष्टि : सां विद्यायाः न जायते। हो। विद्या।

महाराष्ट्र-वि. (क.) की भा.। मिर्ची की खेती भा.। विजे.

सह सं' जगने भी सहकर है ।

संस्कृत-भाषा : विद्याभ्यासः ।

सिंह मन्त्र-प्रेम ।

[illegible]

ਸ਼੍ਰੀਮਤੀ ਜਸਵੰਤ ਕੌਰ ਦੀ ਸ਼੍ਰੀਮਤੀ ਜਸਵੰਤ ਕੌਰ (1) ਅਤੇ ਸ਼੍ਰੀਮਤੀ
ਜਸਵੰਤ ਕੌਰ (2) ਦੀ ਸ਼੍ਰੀਮਤੀ ਜਸਵੰਤ ਕੌਰ ਦੀ ਸ਼੍ਰੀਮਤੀ

५१ श्री गुरुभ्यो नमः ॥ ५२ ॥ गुरुभ्यो नमः ॥ ५३ ॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥ ५४ ॥
 श्री गुरुभ्यो नमः ॥ ५५ ॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥ ५६ ॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥ ५७ ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥
 ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

[illegible]

1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100. 101. 102. 103. 104. 105. 106. 107. 108. 109. 110. 111. 112. 113. 114. 115. 116. 117. 118. 119. 120. 121. 122. 123. 124. 125. 126. 127. 128. 129. 130. 131. 132. 133. 134. 135. 136. 137. 138. 139. 140. 141. 142. 143. 144. 145. 146. 147. 148. 149. 150. 151. 152. 153. 154. 155. 156. 157. 158. 159. 160. 161. 162. 163. 164. 165. 166. 167. 168. 169. 170. 171. 172. 173. 174. 175. 176. 177. 178. 179. 180. 181. 182. 183. 184. 185. 186. 187. 188. 189. 190. 191. 192. 193. 194. 195. 196. 197. 198. 199. 200. 201. 202. 203. 204. 205. 206. 207. 208. 209. 210. 211. 212. 213. 214. 215. 216. 217. 218. 219. 220. 221. 222. 223. 224. 225. 226. 227. 228. 229. 230. 231. 232. 233. 234. 235. 236. 237. 238. 239. 240. 241. 242. 243. 244. 245. 246. 247. 248. 249. 250. 251. 252. 253. 254. 255. 256. 257. 258. 259. 260. 261. 262. 263. 264. 265. 266. 267. 268. 269. 270. 271. 272. 273. 274. 275. 276. 277. 278. 279. 280. 281. 282. 283. 284. 285. 286. 287. 288. 289. 290. 291. 292. 293. 294. 295. 296. 297. 298. 299. 300. 301. 302. 303. 304. 305. 306. 307. 308. 309. 310. 311. 312. 313. 314. 315. 316. 317. 318. 319. 320. 321. 322. 323. 324. 325. 326. 327. 328. 329. 330. 331. 332. 333. 334. 335. 336. 337. 338. 339. 340. 341. 342. 343. 344. 345. 346. 347. 348. 349. 350. 351. 352. 353. 354. 355. 356. 357. 358. 359. 360. 361. 362. 363. 364. 365. 366. 367. 368. 369. 370. 371. 372. 373. 374. 375. 376. 377. 378. 379. 380. 381. 382. 383. 384. 385. 386. 387. 388. 389. 390. 391. 392. 393. 394. 395. 396. 397. 398. 399. 400. 401. 402. 403. 404. 405. 406. 407. 408. 409. 410. 411. 412. 413. 414. 415. 416. 417. 418. 419. 420. 421. 422. 423. 424. 425. 426. 427. 428. 429. 430. 431. 432. 433. 434. 435. 436. 437. 438. 439. 440. 441. 442. 443. 444. 445. 446. 447. 448. 449. 450. 451. 452. 453. 454. 455. 456. 457. 458. 459. 460. 461. 462. 463. 464. 465. 466. 467. 468. 469. 470. 471. 472. 473. 474. 475. 476. 477. 478. 479. 480. 481. 482. 483. 484. 485. 486. 487. 488. 489. 490. 491. 492. 493. 494. 495. 496. 497. 498. 499. 500. 501. 502. 503. 504. 505. 506. 507. 508. 509. 510. 511. 512. 513. 514. 515. 516. 517. 518. 519. 520. 521. 522. 523. 524. 525. 526. 527. 528. 529. 530. 531. 532. 533. 534. 535. 536. 537. 538. 539. 540. 541. 542. 543. 544. 545. 546. 547. 548. 549. 550. 551. 552. 553. 554. 555. 556. 557. 558. 559. 560. 561. 562. 563. 564. 565. 566. 567. 568. 569. 570. 571. 572. 573. 574. 575. 576. 577. 578. 579. 580. 581. 582. 583. 584. 585. 586. 587. 588. 589. 590. 591. 592. 593. 594. 595. 596. 597. 598. 599. 600. 601. 602. 603. 604. 605. 606. 607. 608. 609. 610. 611. 612. 613. 614. 615. 616. 617. 618. 619. 620. 621. 622. 623. 624. 625. 626. 627. 628. 629. 630. 631. 632. 633. 634. 635. 636. 637. 638. 639. 640. 641. 642. 643. 644. 645. 646. 647. 648. 649. 650. 651. 652. 653. 654. 655. 656. 657. 658. 659. 660. 661. 662. 663. 664. 665. 666. 667. 668. 669. 670. 671. 672. 673. 674. 675. 676. 677. 678. 679. 680. 681. 682. 683. 684. 685. 686. 687. 688. 689. 690. 691. 692. 693. 694. 695. 696. 697. 698. 699. 700. 701. 702. 703. 704. 705. 706. 707. 708. 709. 710. 711. 712. 713. 714. 715. 716. 717. 718. 719. 720. 721. 722. 723. 724. 725. 726. 727. 728. 729. 730. 731. 732. 733. 734. 735. 736. 737. 738. 739. 740. 741. 742. 743. 744. 745. 746. 747. 748. 749. 750. 751. 752. 753. 754. 755. 756. 757. 758. 759. 760. 761. 762. 763. 764. 765. 766. 767. 768. 769. 770. 771. 772. 773. 774. 775. 776. 777. 778. 779. 780. 781. 782. 783. 784. 785. 786. 787. 788. 789. 790. 791. 792. 793. 794. 795. 796. 797. 798. 799. 800. 801. 802. 803. 804. 805. 806. 807. 808. 809. 810. 811. 812. 813. 814. 815. 816. 817. 818. 819. 820. 821. 822. 823. 824. 825. 826. 827. 828. 829. 830. 831. 832. 833. 834. 835. 836. 837. 838. 839. 840.

1. 凡在本行開辦之各項業務，均應遵守本行所定之規章，不得有違。
 2. 凡在本行開辦之各項業務，均應遵守本行所定之規章，不得有違。
 3. 凡在本行開辦之各項業務，均應遵守本行所定之規章，不得有違。

[illegible][illegible]

हामी को केही पनि छैन । हामीले तपाईंको लागि केही गर्न सक्ने छैनौं ।

पदनाम-किं शब्दः (संज्ञा वा नाम वाच्यः) । (१) कर्मणः । यथा
कर्मणः । यथा—विष्णुः प्रियवर्धनः । यथा—विष्णुः प्रियवर्धनः ।

गुप्तसिद्धि वदन् विमलः कविः — गुप्तसिद्धि (१) २७७ पृष्ठे २७७

बदना, गिराव बदना । ३०—नाम सुझाव, आग ही फिर
आदि की धारि । शिखर में ही आगें, आगे बढ़ती ही ।

(३) निषण्णः । उद्दामाः । पदमेवो निषण्णः ।
 निषण्णः । निषण्णः । निषण्णः । निषण्णः ।

जैसे, कुशी का मुकाम बदल । प्रति बदल । १०—(१)

ਦੀਵੇਸ ਬਣਿ ਭੇਜ ਧਰਾਇ ਪਾਧ :- ਰੰਗ ੩ ।

हिनः । अन्त्य मे हिनः । ईसं, प्रयत्नो ज्ञानार्थी नैव वा
योग्यो नो योग्यः । एवं च । (पूर्वोक्तप्रमाणम्) ॥ १०॥

अथ सूत्रम् । दूरी इत्यादि शेषः ; दूरे वा केन्द्रम् ।
दूरस्थः । यौगो, विषयः काचित् । अथाकारेणैव

[illegible]

७२ अङ्गुली आगता है । परन्तु काला-पुष्प की ७५
हस्ता । दो निम्न के अङ्गुली । अंग्रे. हस्त पर ७२

(४) गण्डर्भा उरु शीत शीत मृदुलपत्रा वरु दान कर्तुं

કો જાણે વાં બેઠું વાળું દરખાસ । બાળી જાળાળા । રીંગ
પગલાળા । જાણે જાળાળા । પ્રેમ, (૯) પાઠ ૧૫ મેઘવલે

१८ शीर्षे अक्षराणां लोके सुखी भवेत् ॥ (१) दश शीर्षे
सुखी भवेत् ॥ (२) शीर्षे १० अक्षराणां लोके सुखी भवेत् ॥

[illegible]

১৯৪৬ খ্রিঃ ১০ মাস ১০ তারিখ, ১৯৪৬ খ্রিঃ ১০ মাস ১০ তারিখ
 ১৯৪৬ খ্রিঃ ১০ মাস ১০ তারিখ, ১৯৪৬ খ্রিঃ ১০ মাস ১০ তারিখ

१०६ श्री श्री गुरुभ्यो नमः—१०६ (१०६) श्रीगुरुभ्यो नमः
 गुरुभ्यो नमः श्रीगुरुभ्यो नमः श्रीगुरुभ्यो नमः श्रीगुरुभ्यो नमः

[illegible][illegible]

संस्कृत-भाषायां चतुर्विंशति-शतक-काल-पर्यन्त-संस्कृत-भाषायां चतुर्विंशति-शतक-काल-पर्यन्त-

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यदनीयत-वि० [का० यद+अ० नीयत] (१) जिसकी नीयत बुरी हो। जिसका अभिप्राय दुष्ट हो। नीचापन। (२)

जिसके मन में धोखा आदि देने की इच्छा हो। बेईमान।

यदनीयती-संज्ञा स्त्री० [का०] बेईमानी। दगाबाजी।

यदनुमा-वि० [का०] जो देखने में बुरा लगे। कुरूप। बुरा।

मोटा।

यदपरहेज-वि० [का०] कुपथ्य करनेवाला। जो खाने पीने आदि का संयम न रखता हो।

यदपरहेजी-संज्ञा स्त्री० [का०] कुपथ्य। खाने पीने आदि में अस्वयं।

यदयत्त-वि० [का०] यदकिस्मत। अभागा।

यदवाछा-संज्ञा पुं० [का० यद+वि० वाछ] यह हिस्सा जो बेईमानी करने से मिला हो।

यदबू-संज्ञा स्त्री० [का०] दुर्गंध। बुरी गंध। बुरी पास।

क्रि० प्र०—पाना।—उठना।—कैलना।

यदबूदा-वि० [का०] दुर्गंधयुक्त। जिसमें सेबुरी वास आती हो।

यदमज्जा-वि० [का०] (१) दुःस्वाद। बुरे स्वाद का। खराब जायके का। (२) आनन्दरहित। जैसे, तथीयत यदमज्जा होना।

यदमस्त-वि० [का०] (१) नशे में पार। अति उन्मत्त। नशे में बावला। (२) कामोन्मत्त। लंपट।

यदमस्ती-संज्ञा स्त्री० [का०] (१) मतवालापन। उन्मत्तता।

(२) कामोन्मत्तता। कामुकता। लंपटता।

यदमाश-वि० [का० यद+अ० मपाय = बँटिका] (१) बुरे धर्म में जीविका करनेवाला। दुष्ट। (२) लोटा। दुष्ट। पाजी। लुब्धा। नटखट। (३) दुराचारी। बदचलन।

यदमाशी-संज्ञा स्त्री० [का० यद+अ० मपाय] (१) बुरी वृत्ति। अव्यवृत्ति। दुष्टधर्म। लोटाई। (२) नीधता। दुष्टता। पाकीपन। नटखटी। शरारत। (३) व्यभिचार। लंपटता।

यदमिज्ञा-वि० [का०] दुःस्वभाव। बुरे स्वभाव का। जो जवरी अमस्स हो जाय। विड्विचिद्र।

यदमिज्ञाजी-संज्ञा स्त्री० [का०] बुरा स्वभाव। विड्विचिद्रापन।

यदरंग-वि० [का०] (१) बुरे रंग का। जिसका रंग अच्छा न हो। भद्रे रंग का। (२) जिसका रंग बिगड़ गया हो। विषय।

संज्ञा पुं० (१) तार के खेल में जो रंग दाँव पर गिनना चाहिए उससे निम्न रंग। (२) चौसर के खेल में एक एक खिलाड़ी की दो मोटियों में वह मोटी जो रंग न हो।

यदरंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रंग का फीकापन या महपन।

यदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेर का पेड़ या फल। (२) कपाम। (३) कपाम का बीज। बिनीला।

क्रि० वि० [का०] बाहर। जेतै, शहर बाहर करना।

मुहा०—यदर निकालना=जिम्मे रकम निकालना। किसीके हिसाब में उसके नाम बाकी बचना।

यदरनीसी-संज्ञा स्त्री० [का०] (१) हिसाब किताब की जाँच।

(२) हिसाब में गड़बड़ रकम अलग करना।

यदरा-संज्ञा पुं० [हि०] यादल। मेव। उ०—हीन सुनँ कासीं कहीं सुगति बिसारी नाह। यदायदी जिय लेत हैं ये यदरा यदराह।—बिहारी।

संज्ञा स्त्री० [सं०] बराहकाली का पौधा।

यदरामलक-संज्ञा पुं० [सं०] एक पौधा। पानी घामला।

विशेष—इसके पौधे गलायकों के पास होते हैं। पत्ते लंबे लंबे और फल लाल लाल बर के समान होते हैं। टह-नियों में छोटे छोटे कटे भी होते हैं।

यदराह-वि० [का०] (१) कुमारी। कुमारीगामी। बुरी राह पर चलनेवाला। (२) दुष्ट। बुरा। उ०—यदायदी जिय लेत हैं ये यदरा यदराह।—बिहारी।

यदरि-संज्ञा पुं० [सं०] बेर का पौधा या फल। उ०—

जिनहिं विन्य कर बदरि समाना।—तुलसी।

यदरिकाश्रम-संज्ञा पुं० [सं०] तीर्थ विशेष जो हिमालय पर है। यहाँ नर-नारायण तथा व्यास का आश्रम है।

विशेष—यह तीर्थ श्रीनगर (गढ़वाल) के पास घलकनंदा नदी के पश्चिमी किनारे पर है। कहते हैं कि भृगुसुत नामक ऋषि के ऊपर एक यदरीवृक्ष के कारण यदरिकाश्रम नाम पड़ा। महाभारत में लिखा है कि पहले यहाँ गंगा की गरम और ठंडी दो धाराएँ थीं, और रेत सोने की थी। यहाँ पर देवताओं ने तप काके विष्णु को प्राप्त किया था। गंधमादन, यदरी, नरनारायण और कुबेरशृंग इन्हीं तीर्थ के अंतर्गत हैं। नरनारायण अश्विन ने यहाँ बड़ा तप किया था। पांडव महाप्रस्थान के लिये इसी स्थान पर गए थे। पद्मपुराण में वैष्णवों के तप तीर्थों में यदरिकाश्रम श्रेष्ठ कहा गया है।

यदरिया-संज्ञा स्त्री० दे० “यदरी”, “यदली”।

यदरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बेर का पेड़ या फल।

यदरीच्छुदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का बेर। (२) एक सुगंध द्रव्य जो शायद किसी समुद्री जंतु का सूखा मांस हो।

यदरीनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] यदरिकाश्रम नाम का तीर्थ।

यदरीनारायण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यदरिकाश्रम के प्रधान देवता। (२) नारायण की मूर्ति जो यदरिकाश्रम में है।

यदरीपत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] एक सुगंध द्रव्य।

यदरीफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नील रोषालिका का पौधा।

गो०—यदली यदली ।

(२) एक स्थान से दूसरे स्थान पर नियुक्ति । सघदीली । सघादली । जैसे, यहाँ से उसकी यदली दूसरे जिले में हो गई । (३) एक के स्थान पर दूसरे की तैनाती । जैसे, अभी पहले की यदली नहीं हुई है ।

यदलोचल—संज्ञा स्त्री० [हि० बदलना] यदल यदल । ढेर फेर । यदशकल—वि० [फा०] कुरूप । बेडौल । भरो घुरत का । यदसलकी—संज्ञा स्त्री० [फा० बंद + सलक] (१) घुरा व्यवहार । अश्लिष्ट व्यवहार । (२) अपकार । गुनाह ।

कि० प्र०—करना ।—होना ।

यदसूरत—वि० [फा० बर + सूरत] कुरूप । भरो सूरत-घाला । बेडौल ।

यदसूरत—कि० वि० [फा०] मामूली तौर पर । जैसा था या रहता है वैसा ही । जैसे का तैसा । ज्यों का त्यों । बिना फेरफार । जैसे, जो बातें पहले थीं अब भी यदसूरत कायम हैं ।

यदहजमी—संज्ञा स्त्री० [फा०] अपघ । अजीब ।

यदहास—वि० [फा०] (१) बेरोमा । अचेत । (२) व्याकुल । विकल । उद्विग्न । (३) शोक । शिथिल । पस्त ।

यदान—संज्ञा स्त्री० [हि० दान] बदे जाने की क्रिया या भाव । प्रतिज्ञापूर्वक पहले से किसी बात का स्थिर किया जाना । किसी बात के होने का पक्का । जैसे, आज कुत्ता की यदान है । यदायदी—संज्ञा स्त्री० [हि० बदना] दो पक्षों की एक दूसरे के विरुद्ध प्रतिज्ञा या हठ । लाग डट । होड़ा होड़ी । होड़ । व०—कौन मुझे कारों कहीं सुनि धिसारी नाह । यदायदी जिय खेत हैं मे यदरा यदराह ।—विहारी ।

यदाम—संज्ञा पुं० दे० “बादाम” ।

यदामी—वि० [फा०] दे० “बादामी” ।

संज्ञा पुं० कौटिल्यादि की जाति का एक पक्षी । एक प्रकार का किलकिला ।

यदि—संज्ञा स्त्री० [सं० वर्त = पलटा] पलटा । बदला । एवज । स्थानापन्न करने या होने का भाव ।

अर्थ—(१) बदले में । एवज । में । पलटे में । व०—(क) एक कौर कीजें पितृ की यदि एक कौर यदि भोरा । एक कौर कैकेयी की यदि एक सुमित्रा कोरा ।—रघुराज । (ख) योसे कुरुपति बचन सुहाए । हम, वरेय, सब की यदि भाए ।—रघुराज । (२) लिये । वास्ते । खातिर । व०—इनकी यदि हम सहत यातना । हरिपार्यंद अब घान बात ना ।—रघुराज ।

यदी—संज्ञा स्त्री० [?] कृष्ण पक्ष । अंधेरा पाल । जैसे, सायन यदी रीज ।

संज्ञा स्त्री० [फा०] घुराह । अपकार । अहित । जैसे, नेकी यदी साथ आती है ।

कि० प्र०—करना ।—होना ।

यदुख—संज्ञा स्त्री० दे० “बंदूक” ।

यदे—अर्थ—[सं० वर्त = पलटा] (१) वास्ते । लिये । खातिर । अर्थ । (२) दलाली समेत दाम (दलाल) ।

यदौलत—कि० वि० [फा०] (१) आसरे में । द्वारा । अवलंब से । कृपा से । जैसे, जिसकी यदौलत रोटी खाते हो उसीके साथ ऐसा ? (२) क्षाम्य से । लक्ष्य से । वनह से । जैसे, तुम्हारी यदौलत यह मद्य सुनना पड़ता है ।

यदर—संज्ञा पुं० दे० “बादल” । व०—यदर की छाई, जैसे जीवन जग माहीं ।

यदली—संज्ञा पुं० दे० “बादल” । व०—यदल समान सुगलहल उड़े फिर ।—भूपय ।

यदू—संज्ञा पुं० [दे०] अरब की एक अमध्य जाति जो प्रायः लूपाट किया करती है ।

वि० यदनाम ।

यद—वि० [सं०] (१) वैधा हुआ । जो या जिससे बांधा गया हो । बंधन में पड़ा हुआ या बांधने में काम आया हुआ ।

यौ०—यदपरिकर । यदगिल ।

(२) अज्ञान में फँसा हुआ । संसार के बंधन में पड़ा हुआ । जो मुक्त न हो । जैसे, यदजीव । (३) जिसपर किसी प्रकार का प्रतिबंध हो । जिसके लिए कोई रोक हो । (४) जिसकी गति, क्रिया, व्यवहार आदि परिमित और व्यवस्थित हो । जो किसी हद हिसाब के भीतर रखा गया हो । जैसे, नियमबद्ध, मर्यादाबद्ध । (५) निर्धारित । निर्दिष्ट । स्थिर । ठहराया हुआ । (६) बैधा हुआ । जमा हुआ ।

यौ०—यदमूल ।

(७) सदा हुआ । जुड़ा हुआ । एक दूसरे से लगा हुआ ।

यौ०—यदांसलि ।

यदक—संज्ञा पुं० [सं०] बँधुवा । कैदी ।

यदकोष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] मल अच्छी तरह न निकलने की अवस्था या रोग । पेट का साफ न होना । कब्ज । कब्जियत ।

यदगुदोदर—संज्ञा पुं० [सं०] पेट का एक रोग जिसमें हृदय और नाभि के बीच पेट कुछ बढ़ जाता है और मल रुक रुक कर थोड़ा थोड़ा निकलता है ।

विशेष—वैद्यक के अनुसार जब अंतर्निधियों में अन्न, मिट्टी, बालू आदि जमते जमते बहुत सी इकट्ठी हो जाती है तब मल बहुत बंध से थोड़ा थोड़ा निकलता है । चिकनी, चिपचिपी चीजें अधिक खाने से यह रोग प्रायः हो जाना है और इसमें बमन में मल की सी दुर्गंध आती है ।

यदपरिकर—वि० [सं०] कमर बांधे हुए । तैयार ।

यक्षमुद्रि-वि० [सं०] यिषकी मुद्रि यैषी हो प्रमाँ देने के लिये न मुजती हो। कुर्या। कर्म ।

यक्षमूल-वि० [सं०] जिसने जड़ पकड़ ली हो। जो रड़ चीर सटल हो गया हो।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यक्षयुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] यिषी यज्ञोने में उसके छिद्रों पर से उँगली हटाकर उसे सोखने की क्रिया। (संगीत)।

यक्षरसाल-संज्ञा पुं० [सं०] उत्तम जाति का एक प्रकार का फल।

यक्षयर्चन-वि० [सं०] मलरोषक।

यक्षशिल्प-वि० [सं०] जिसकी शिल्प या पोटी यैषी हो।

यिरोष—बिना शिल्पा यिषे जो कुछ धम्मे कार्य किया जाता है वह निराल होता है।

संज्ञा पुं० शिष्ट। दया।

यक्षशिल्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] उषा। भूधामयन्त्री।

यक्षमूलक-संज्ञा पुं० [सं०] रमेयवर दूर्यन के अनुसार यक्ष रस या पारा जो चपल, लघुदायी, तेजोविशित, विमोचन और गुरु बढ़ा गया है।

यिरोष—रमेयरा दूर्यन में देव के शिर या समर करने पर मुक्ति कही गई है। वह शिरगा रस या पारे की विधि द्वारा प्राप्त होती है।

यक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं० यक्ष] (१) वह जिसने गुप्त कर्से या यिषे। दोरी। रस्ती। समझ। जैसे, तबले की यक्षी। (२) माया या निरुद्ध के आकार का पार लड़ों का एक भावना जिसकी दो लड़ें तो गले में होती हैं और दो लड़ें दोनो कंधों पर से अनेक की तरह होती हुई घांती और पीठ तक गई रहती हैं।

यक्षोदर-संज्ञा पुं० [सं०] बहमुदर रोग।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] यह व्यापार जिसका कुछ प्राण-विवेग हो। सार उतरना। बचन। दया।

यक्ष-वि० [सं०] बध करनेवाला।

यक्षगाराङ्गी-संज्ञा स्त्री० [हिं० यक्ष + गाराङ्गी] शायी करने का बीजार।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष।

यक्ष-क्रि० प्र० [सं० यक्ष + क्त] सार उतरना। बध करना। दया करना।

संज्ञा पुं० [सं० यक्ष + क्रि० का क्त] (१) मिट्टी का धानु का यैषीया योस जिमका व्यवहार कृषिकार सुप्रसमान करने है। (२) योसमोई का एक बीजार।

यक्षमूर्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ यक्षराजिने हो प्राणद्वंद्व दिया जाता हो।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं० यक्ष + क्रि० का क्त] (१) यक्ष।

यक्षी। (२) पुत्रजन्म पर होनेवाला यानेदमंड। येरा होने का उभय या मुगी। (३) मंगल यक्षरा माना यज्ञाया। मंगलापार। उ०—नंद पर यक्षि पदे यथाई।—गूर।

क्रि० प्र०—यक्षना।

(४) यानंद। मंगल। उभय। मुगी। यक्ष रदं।

(५) किसी लैषी, हट मित्र आदि के परां पुत्र होने पर यानंद प्रकट करनेवाला यवन या लैषी। मुबारकबाद।

क्रि० प्र०—देना।

(६) हट मित्र के शुभ, यानंद या सकलता के यवन पर यानंद प्रकट करनेवाला यवन या लैषी। मुबारकबाद। जैसे, (७) भीत की यथाई, पाग होने की यथाई।

(८) लुहें हमकी यथाई है।

क्रि० प्र०—देना।

(९) उपहार जो मंगल या शुभ यवन पर दिया जाए। यधाना-क्रि० प्र० [हिं० यक्ष + क्त] बध करना। दूरने भरवाना।

यधाना-संज्ञा पुं० [हिं० यक्ष] यथाई। उ०—उप ते नाम एहि घर आवे। जिस मध मंगल मोद यथाये।—मुजरी।

यधाना-संज्ञा पुं० दे० “यथाया”।

यधाना-संज्ञा पुं० [हिं० यक्ष] (१) यथाई। (२) यानंद मंगल के यवन का माना यज्ञाया। मंगलापार।

क्रि० प्र०—यक्षना।

(३) उपहार जो यैषीये या हटमित्रों के यवन में पुत्रजन्म, विवाह आदि मंगल यवनमें पर जाता है। (मिठाई, फल, बर्तन, गहने आदि)।

क्रि० प्र०—प्राप्त।—प्राप्त।—प्रेमना।

यक्षि-संज्ञा पुं० [सं० यक्ष] (१) बध करनेवाला। मातेवाजा। दया। (२) प्राणद्वंद्व पाए हुए का प्राण निराप्रेमवाला।

यथाई। (३) व्याध। यरेलिया।

यक्षि-संज्ञा पुं० [हिं० यक्ष + क्त] (१) यह बीट या कीर कोई यक्ष जो संदोहल कुचक या निराकर पंड वर दिया गया हो। मनुष्य किंवा दूया बीया। यक्षी। यक्षी। बीयाया जो बाँध न हो।

क्रि० प्र०—काना।—होना।

मुहो—यक्षिया दैवता—यथा होना। यथा होना। यिषा यिषा। (यथा)।

(२) एक प्रकार का बीर दया।

यक्षि-संज्ञा पुं० [हिं० यक्ष] यक्षि करमा। यक्षि यनामा।

यक्षि-संज्ञा पुं० [सं०] जिसमें यक्ष-कर्म न हो। जिसमें मुक्ते की शक्ति न हो। यक्ष।

वधिरता—संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रवण शक्ति का प्रभाव। बहुरापन।

वधू—संज्ञा स्त्री० दे० “वधू”।

वधूक—संज्ञा पुं० दे० “वधूक”।

वधूटी—संज्ञा स्त्री० [सं० वधूटी] (१) पुत्र की स्त्री। पतोह।

(२) सुवासिनी। सुभागिन स्त्री। सौभाग्यवती स्त्री। (३)

नई आई हुई बहू।

वधूरा—संज्ञा पुं० [हिं० वधूरा] श्रवण। वधूरा। वधूरा।

वक्रवात। उ०—(क) उधै वधूरा वाव मध्य मध्य वधूरा

वाव। लौं ही जग मध्ये प्रह है प्रह मध्ये जगत सुभाव।

—कवीर। (ख) वधू वधूरे संग उयौं ज्ञान उयौं सोक

समाज। करम धरम सुख सेवदा, लौं जानिये कुराज ॥

—तुलसी।

वधूया—संज्ञा स्त्री० दे० “वधूया”।

वधूय—वि० [सं०] सारने के योग्य।

वधू—संज्ञा पुं० [सं० वधू] (१) जंगल। कामन। अरण्य।

(२) समूह। (३) जल। पानी। उ०—वधूयो वननिधि

नीरनिधि, जलधि सिंधु बारीश।—तुलसी। (४) दगीचा।

बाग। उ०—वासव वधूय विधि वन ते सोहावने, दसा-

नन को कामन वसन को सिंगार से।—तुलसी। (५)

निराने वा नौदने की मजदूरी। निरानी। निर्दाह। (६)

वह श्रम जो किसान लोग मजदूरों को खेत काटने की

मजदूरी के रूप में देते हैं। (७) कपास का पेड़। कपास का

पौधा। उ०—सन सुख्यो बीयो वनी जली लई नखार।

अरी हरी अरहर अनी धर धरहर जियनार।—विहारी। (८)

वह मंड जो किसान लोग अपने जमींदार को किसी बरस

के उपलक्ष में देते हैं। शादियाना। (९) दे० “वन”।

वनशाल—संज्ञा पुं० [हिं० वन + शाल] पिंडाल और जमीकंद

आदि की जाति का एक प्रकार का पौधा जो नेपाल,

सिक्किम, बंगाल, बरमा और दक्षिण भारत में होता है।

यह प्रायः जंगली होता है और बोधा नहीं जाता। इसकी

जड़ प्रायः जंगली या वैशाखी लोग अछाल के समान

प्राते हैं।

वनउर—संज्ञा पुं० (१) दे० “विनीला”। (२) दे० “ओला”।

वनकंडा—संज्ञा पुं० [हिं० वन + कंडा] वह कंडा जो वन में

पशुओं के मल के आपसे आप सुखने से तैयार होता है।

अरना कंडा।

वनक—संज्ञा स्त्री० [हिं० वनना] (१) वनावट। सजावट।

सजपज। उ०—द्विजदेव की लौं ऐसी वनक निकाई देखि,

राम की दोहाई मन होत हैं निहाल मम।—द्विजदेव।

(२) घाना। वेप। भेस।

संज्ञा स्त्री० [सं० वन + क (प्रत्यय)] वन की उपजा। जंगल

की पैदावार। जैसे, गोंद, लकड़ी, गहद आदि।

वनक—संज्ञा स्त्री० [सं० वनक] पापड़े का पेड़ जो सिक्किम

में लेकर शिमले तक पाया जाता है। इस पौधे से एक

प्रकार का गोंद और एक प्रकार का रंग भी निकाला

जाता है। इसका गोंद दवा के काम आता है।

वनकटी—संज्ञा स्त्री० [दग०] एक प्रकार का घास जिससे पटाड़ी

लोग टेकरे बनाते हैं।

संज्ञा स्त्री० [हिं० वन + काटना] जंगल काटकर उसे

आबाद करने का स्वत्व वा अधिकार जो जमींदार या

मालिक की ओर से किसानों आदि को मिलता है।

वनकर—संज्ञा पुं० [सं० वनकर] (१) एक प्रकार का घाससहारा।

शुभ्र के छटाए हुए इधियार को निष्फल करने की एक

युक्ति। (२) जंगल में होनेवाले पदार्थों अर्थात् लकड़ी

घास आदि की व्यामदनी। (३) सूखे। (द्विगल)

वनकल्ला—संज्ञा पुं० [हिं० वन + कल्ला] एक प्रकार का जंगली

पेड़।

वनकल—संज्ञा पुं० [हिं० वन + कल] एक प्रकार की घास जिसे

वनकुल, वैननी, मोय और वामा भी कहते हैं। इसमें

रस्सिया बनाई जाती हैं।

वनकोरा—संज्ञा पुं० [दे०] कोनिया का साग। कोनी।

वनखंड—संज्ञा पुं० [सं० वनखंड] जंगल का कोई भाग।

जंगली प्रदेश।

वनखंडी—संज्ञा स्त्री० [हिं० वन + खंड = टुकड़ा] (१) वन का

कोई भाग। (२) छोटा सा वन।

संज्ञा पुं० वन में रहनेवाला। जंगल में रहनेवाला। उ०—

उसी ध्यया से है परिपिठित, वह वनपेड़ी आप।

वनखरा—संज्ञा पुं० [हिं० वन + खरा] वह भूमि जिलमें

पिछली फसल में कपास बोई गई हो।

वनखोर—संज्ञा पुं० [दे०] कौर नामक वृक्ष। विरोध—दे०

“वैर”।

वनगाय—संज्ञा पुं० [हिं० वन + गा० गाय, हिं० गा०] (१) एक

प्रकार का बड़ा हिरन जिसे रोम की कहते हैं। (२) एक

प्रकार का लेंदू वृक्ष।

वनचर—संज्ञा पुं० [सं० वनचर] (१) जंगल में रहनेवाला पशु।

वन्य पशु। (२) वन में रहनेवाला मनुष्य। जंगली

बादमी। (३) जल में रहनेवाले जीव। जैसे, मछली,

मगर आदि।

वनचरी—संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की जंगली घास

जिसकी पत्तियाँ बरार की पत्तियों की तरह होती हैं।

यो।

संज्ञा पुं० जंगली पशु।

वनचारी—संज्ञा पुं० [सं० वनचारी] (१) वन में घूमनेवाला।

(२) वन में रहनेवाला आदमी। (३) जंगली जानवर।

(४) मधुली, मगर, भद्रिवाह, कपुवा आदि जल में रहनेवाले जंतु ।

यनचौर, यनचौरि—पं० छी० [सं० यन + चौरि] नेपाल के पहाड़ों में रहनेवाली एक प्रकार की जंगली गाय जिसकी पूँछ की धँवर बनाई जाती है । मुरागाय । मुरभी ।

यनजल—पं० छी० [सं० यनज] (१) कमल । उ०—(क) जय रघुवंश—यनज—यन—भात ।—मुजली । (२) जल में होनेवाले पदार्थ । जैसे, शंख, कमल, मधुली आदि ।

पं० छी० [सं० वाणिज्य] वाणिज्य । व्यवसाय । व्यापार । रोजगार ।

यनजल—पं० छी० दे० “यनज” ।

यनजात—पं० छी० [सं० यनजात] कमल । उ०—यन यन विहसे यनजात ।—मुजली ।

यनजात—पं० छी० [सं० यनज + जात] (१) वह व्यक्ति जो बौलों पर चमर लादेकर घेकने के लिए एक देश से दूसरे देश को जाता है । ठोड़ा लादेनेवाला व्यक्ति । टँड़ेवा । टँड़ेवरिया । पैसारा । उ०—सब डाट पड़ा रह आबेगा, अब लाइ चोरी बनजात ।—गजीर । (२) भविष्य । व्यापारी । सौदागर । उ०—(क) पिछर गड़ कर हक बनजात । मिहलहीय थला बैसरा ।—ज्ञापनी । (क) हठी मरहठी सामे राख्यो मरवात कोर, धीने हथियार नबै छोरी यनजाते से ।—भूपव ।

यनजीक—पं० छी० [सं० वाणिज्य] (१) व्यापार । रोजगार । (२) व्यापारी । रोजगार करनेवाला ।

यनज्योस्ना—पं० छी० [सं० यनज्योस्ना] आधारी लता ।

यनझा—पं० छी० [?] पिछावत राग का एक भेद । यह राग कृमङ्गा ताळ पर गाया जाता है ।

यनझनित—पं० छी० [?] एक छाटक राग जो रूपक ताळ पर बजता है ।

यनझादियमरी—पं० छी० [?] एक छाटक राग जो रूपक ताळ पर बजता जाता है ।

यनजल—पं० छी० [सं० यनज + जल (जल)] (१) रचना । यनावत । (२) अनुसूचना । सामंजस्य । मेल । (३) सममेल या किसी ऐसी वस्तु पर सबमें मिलाने की वनी हुई वेत जिसके दोनों ओर हाथिया होता है । जिस वेत के पृथ्वी ओर हाथिया होता है उसे यनजल कहते हैं ।

यनजल—पं० छी० [सं० यन + जल (जल)] यन की सचनता का धर्मबनना ।

यनजल—पं० छी० [सं० यन + जल] बहाल ।

यनजल—पं० छी० [सं० यन + जल] कई नाम का बीजा जिसकी पत्ती और मंजरी दूसरी की पत्ती होती है । बर्फी ।

यनजल—पं० छी० [सं० यन] बाहुल्य । मेघ ।

यनदाम—पं० छी० [सं० यनदाम] यनमाला ।

यनदेवी—पं० छी० [सं० यनदेवा] किसी यन की अधिष्ठात्री देवी ।

यनघानु—पं० छी० [सं०] गुरु या धीर कोई शक्ति । उ०—यका विद्वारि चले मज को हरि । सत्ता संग यन करत सख संग संग यनघानु विप्र बरि ।—गूर ।

यनना—पं० छी० [सं० यनना, यनयन = विनित होना, रचनेवाला]

(१) सामग्री की रचित योजना द्वारा प्रस्तुत होना । रचने होना । रचा जाना । जैसे, मनुक यनना, मजान बनना, सेनूक यनना ।

मुहा०—यना रहना = (१) जीता रहना । संभर में जीता रहना । जैसे, ईश्वर कर यह बाळक बना रहे । (२) उन्मि रहना । भौजूद रहना । ठहरा रहना । जैसे, यह तो कादर वार ही है, अब तक चार चाँद, घने रहें ।

(२) किसी पदार्थ का देने रूप में जाना जिसने वह व्यवहार में आ सके । काम में जाने के योग्य होना । जैसे, रसोई बनना, रोटी यनना । (३) टीक, रसा का रूप में जाना । जैसा वाहिद पैसा होना । जैसे, यनाम बनना । हजामत बनना । (४) किसी एक पदार्थ का रूप परिवर्तित करके दूसरा पदार्थ हो जाना । फेरफार या धीर वस्तुओं के मेल से एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में हो जाना । जैसे, चीनी से छारा बनना । (५) किसी दूसरे प्रकार का भाव या लक्ष्य लपे बाँट देना । जैसे, राघु का मित्र बनना । (६) कोई विशेष पद, सर्वोदा या अधिष्ठार प्राप्त करना । जैसे, यन्यव यनना, मंत्री बनना, निरीश्वर बनना । (७) कष्टों या उन्नत द्वारा में पहुँचना । घनी मानी हो जाना । जैसे, वे देतने देतने यन गए । (८) बाहुल्य होना । प्राप्त होना । मिलना । जैसे, यह हजामतकारी के पक्ष परने बन जायेंगे । (९) मजान होना । पूरा होना । जैसे, सब बड़ लक्ष्मी बन गई । (१०) आविष्कार होना । ईजाद होना । निरूपण । जैसे, यन बड़ कई नई तरह के टावरगाह बन हैं । (११) सारमल होना । दुरल होना । जैसे, उनके यहाँ अधिष्ठात्री बनती हैं और बाहुल्यकट्टे की । (१२) लपेव होना । हो सचना । जैसे, जिस तरह बने, यह काम जानकी का चालो । उ०—यनी न यनल नदी बाला ।—मुजली ।

मुहा०—यावों पर या जान या या बनना = ऐसा मेल या कश्चित् वस्तु जिसमें यावों को या भा है । (१३) यनाम में निरुपण । यनना । मित्रप्राप्त होना । जैसे, आज कल सब लोगों में यन बनती है । (१४) कष्ट, दुःख का आविष्कार होना । जैसे, रोग से वह मजान बन गया । (१५) गुरोरा विनया । गुणवत्ता

मिलना। जैसे, जब दो आदमियों में लड़ाई होती है, तब तीसरे की ही बनती है।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

(१९) स्वरूप धारण करना। जैसे, पिप्टर में यह बहुत अच्छा अधीमत्सी बनता है। (१७) मूल ठहरना। उप-हासस्पद होना। जैसे, आज तो हम खूब खेले। (१८) अपने आपको अधिक योग्य गंभीर व्यवसाय प्रमाणित करना। महत्व की ऐसी मुद्रा धारण करना जो वास्तविक न हो। जैसे, वह घोकरा हम लोगों के सामने भी बनता है। संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—बनकर = अच्छी तरह। भली भाँति। पूर्णरूप से।
उ०—(क) मनमोहन से बिजुरे इतनी यंत्रिनी न करे दिन है गये हैं। सखि ये हम थे तुम ये हैं बने पैं कष्ट के कष्ट मन हुए गये हैं।—पद्माकर। (ख) यमपुर द्वारे लगे तिनमें केनारे कोऊ हैं न रखारे ऐसे बनके उजारे हैं।—पद्माकर।

(१६) लुप्त सिंगार करना। सभना। सजावट करना। यौ०—बनना सँवरना, बनना ठनना। = लुप्त अच्छी तरह अपनी सजावट करना। लुप्त सिंगार करना।

वननिधि—संज्ञा स्त्री० [हि० वनना] (१) बनावट। (२) बनाव सिंगार।

वननिधि—संज्ञा पुं० [सं० वननिधि] समुद्र।

वन पिंडाल—संज्ञा पुं० [हि० वन + पिंडाल] एक जंगली वृक्ष जो बहुत बढ़ा नहीं होता। इसकी लकड़ी जर्दी लिए भूरे रंग की और कंधी, कलमदान या नकशीदार चीजें बनाने के काम में आती है। यह पेड़ मध्य देश, बंगाल और मद्रास में होता है।

वनपट—संज्ञा पुं० [सं०] वृक्षों की छाँट आदि से बनाया हुआ कपड़ा।

वनपति—संज्ञा पुं० [सं० वनपति] सिंह। शेर।

वनपथ—संज्ञा पुं० [सं० वनपथ] (१) समुद्र। (२) वह रास्ता जिसमें जल बहुत पड़ता हो। (३) वह रास्ता जिसमें जंगल बहुत पड़ता हो।

वनपाट—संज्ञा पुं० [हि० वन + पाट] जंगली सन। जंगली पट्टा।

वनपाती—संज्ञा स्त्री० [हि० वन + पाती] वनस्पति।

वनपाल—संज्ञा पुं० [सं० वनपाल] वन या बाग का रक्षक। माली।

वनप्रिय—संज्ञा पुं० [सं० वनप्रिय] कोयल। केकिल।

वनफल—संज्ञा पुं० [हि० वन + फल] जंगली मेवा।

वनफूस—संज्ञा पुं० [सं०] वनफूस के रंग का।

वनफूसा—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की वनस्पति जो नेपाल, काश्मीर और हिमालय पर्वत के दूसरे स्थानों में २०००

ऊँट तक की ऊँचाई पर होती है। इसका पौधा बहुत छोटा होता है जिसमें बहुत पतली और छोटी शाखाएँ निकलती हैं जिनके सिरे पर चेंगनी, या नीचे रंग के सुगंधदार फूल होते हैं। इसकी पत्तियाँ थनार की पत्तियों से कुछ मिलती जुलती होती हैं। इसकी जड़, फूल और पत्तियाँ तीनों ही औषधि के काम में आते हैं। साधारणतः फूल और पत्तियों का व्यवहार जुकाम और ज्वर आदि में होता है और जड़ दस्तावर दवाओं के साथ मिलाकर दी जाती है। फूलों और जड़ का व्यवहार घमन कराने के लिए भी होता है और खाली फूल पेशाब लाने-वाले माने जाते हैं।

वनवकरा—संज्ञा पुं० [हि० वन + वकरा] एक प्रकार का पत्ती जो कारमीर और भूटान आदि ठंडे देशों में पाया जाता है। यह रंग में भूरा और लंबाई में लगभग एक फुट के होता है। यह घास और पत्तियों से भूमि पर या नीची झाड़ियों में घोंसला बनाता है। अर्पण से जून तक इसके फेंडे बने का समय है। यह एक बार में तीन चार फेंडे देता है।

वनवास—संज्ञा पुं० [सं० वनवास] (१) वन में बसने की क्रिया या अवस्था। (२) प्राचीन काल का देशनिकाले का वंश। शिलावती।

वनवासी—संज्ञा पुं० [सं० वनवासी] (१) वन में रहनेवाला। वह जो वन में बसे। (२) जंगली।

वनवाहन—संज्ञा पुं० [सं० वनवाहन] जलघन। नाव। नौका।
उ०—जब राहन भे वनवाहन से उतरे बनना लय राम रई।—तुलसी।

वनविलास—संज्ञा पुं० [हि० वन + विलास = विले] उत्तर भारत, बंगाल और उड़ीसा में—मिलनेवाला बिल्ली की जाति का और उससे बहुत ही मिलता जुलता एक जंगली जंतु जिसे लोग प्रायः बिल्ली ही मानते हैं। यह बिल्ली से कुछ बड़ा होता है और इसके हाथ पैर छोटे तथा इड़ होते हैं। इसका रंग मटमैला भूरा होता है और इसके शरीर पर काले छंटे दाग और धुँध पर काले धुँधले होते हैं। यह प्रायः दलदलों में रहता है और वहीं सछली पकड़कर खाता है। यह कुछ अधिक भीषण होता है और कभी कभी कुत्तों या बख्खों पर भी आक्रमण कर बैठता है।

वनमानुस—संज्ञा पुं० [हि० वन + मानुष] (१) वंदरों से कुछ उन्नत और मनुष्य से मिलवा जुलता कोई जंगली जंतु। जैसे, गोरिल्ला, चिंपेंजी आदि। (२) बिलकुल जंगली आदमी। (परिहास)

वनमाला—संज्ञा स्त्री० [सं० वनमाला] गुलसी, कुंद, मेंदार, पर-जाता और कमल इन पाँच चीजों की बनी हुई माला। ऐसी माला का वर्णन हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्य में विष्णु,

दृष्ट्य, रास आदि देवताओं के संबंध में बहुत छाया है।
कहा है कि यह साक्षात् गले में पैंतें तक लंबी होनी चाहिए।
पनमाली—पंशा पुं० [सं० पनमाली] (१) पनमाला धारण करने-
वाला। (२) दृष्ट्य। (३) विष्णु। नारायण। (४) मेघ।
बादल। ३०—पनमाली मंत्र पर वासुधैव कुटुम्बकम् पनमाली
दूर दूर फैलाव कैसे मई।—हेतव। (१) पन ने विरा
दृष्ट्य देश। जिस प्रदेश में घने वन हैं। ३०—पनमाली
मंत्र पर वासुधैव कुटुम्बकम् पनमाली दूर दूर फैले मई।
—हेतव।

पनमुखा—पंशा पुं० [हिं० पन + मुखा] जंगली सुरमा।
पनमुखा—पंशा पुं० [हिं० पन + मुखा] मुक्ति + इवा (प्रय०)
हिमालय की तराई में रहनेवाला एक प्रकार का पपी
जिरका गन्ना और लीला मनेद, सारा शरीर भासमाली रंग
का और घोंघ जंगली रंग की होती है। यह पपी भूमि
पर भी पड़ता है और बानी में भी उग सकता है। इसका
नांव लपाया जाता है।

पनदरा—पंशा पुं० [हिं० पन + दरा = दरा काना] (१) जंगल
की रसवासी करनेवाला। वन का रसक। (२) बहेलियों
तथा जंगल में रहनेवालों की एक जाति। इस जाति के
लोग प्रायः राजा महाराजाओं के शिकार के संबंध की
सूचनाएं देते हैं और शिकार के समय जंगली जानवरों को
पेर कर सामने आने और उनका शिकार कराने हैं।

पनदरा—पंशा पुं० दे० “पंदरा”।
पंशा पुं० [हिं० पनदरा] (१) घर। दूधरा। (२) विवाह
समय का एक प्रकार का संगीत मीरा। ३०—गांव विधवा
अपन कहि बनार दूधदिन करे।—रघुनाथदास।

पनदरा—पंशा पुं० [सं० पनदरा] (१) पन का राजा, सिंहा।
मिर। (२) बहुत बड़ा पेड़।

पनदरा—पंशा पुं० दे० “पनदरा”।
पनदी—पंशा स्त्री० [हिं० पन + दी] पनपड़ा। गढ़े कपाही हुई
पानी। ३०—माली लसु मित्र बनी घा बाई। वरिष्ठन करि
सब लागु बानी पुनि पुनि बोल बडाई।—गुरुदास।

पनदी—पंशा पुं० [हिं० पन + दी] एक प्रकार का जंगली रंग
जिसकी कठिनी में छोटा निर के मात्र मात्र करते हैं।
हालांकि वेद वेदों होता है और गारे भारत में पाया
जाता है। हमने उसे लगे होने हैं। इस बिंदु करी करी
लगा वमही लकड़ी बना कर भी पाते हैं। दूध।

पनदी—पंशा पुं० [हिं० पन + दी] एक प्रकार का जंगली रंग
जिसकी कठिनी में छोटा निर के मात्र मात्र करते हैं।
हालांकि वेद वेदों होता है और गारे भारत में पाया
जाता है। हमने उसे लगे होने हैं। इस बिंदु करी करी
लगा वमही लकड़ी बना कर भी पाते हैं। दूध।

पनदरा—पंशा पुं० [सं० पनदरा] (१) जंगल में भारत में
वाला दूध या पौधा। जंगली पेड़। (२) वनक। राजा
रन चीति यनुम मय सोमित फेरत धार विधि यनुम
कर।—गुरुदास।

पनदरा—पंशा पुं० [सं० पनदरा] एक प्रकार की वनस्पति।
पनपना—पंशा पुं० दे० “पनपना”।
पनपरा—पंशा पुं० दे० “पिनोडा”।
पनपसनक—पंशा पुं० [सं० पनपसन] पृथ्वी की धार या स
दूध का कड़ा।

पनपरा—पंशा पुं० [सं० पन = पन + रा (प्रय०)] पनपरा
नामक जल-पत्ती।

पंशा पुं० [सं० पन = पन] एक प्रकार का वनस्पति।
पनपना—पंशा पुं० [हिं० पनना का प्रे० रूप] दूध के बने
में प्रयुक्त करना। पनने का काम दूध से करना।

पनपारी—पंशा पुं० [सं० पनपारी] शीतल का एक नाम।
पनपारी—पंशा पुं० [सं० पनपारी] वन का मिशाली। जंगल
रहनेवाला।

पनपारी—पंशा पुं० [हिं० पनना + पारी (प्रय०)] पनपारी
पनस्पती—पंशा स्त्री० दे० “पनस्पति”।

पनस्पति—पंशा पुं० [सं० पन = पन + पति] जहाज या पति
और इससे बराने का न्याय। पनपति। (छत्र०)

पनपती—पंशा स्त्री० दे० “पनपती”।
पनस्पती—पंशा स्त्री० [सं० पनपती] जंगल का कोई भाग
वनपति।

पनस्पति—पंशा पुं० दे० “पनस्पति”।
पनस्पति पिघा—पंशा स्त्री० दे० “पनस्पति पिघा”।

पनदरी—पंशा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की मोटी गांव में जो
तो थोड़े जाती है।

पनदरी—पंशा स्त्री० [सं० पनदरी] हाथ हकी। हाथ हकी।
पना—पंशा पुं० [हिं० पन] [स्त्री० पना] घर। दूधरा।
पना पुं० [?] एक पद का नाम जिसमें १०
८ और १४ के विभाग से १२ भागों में होती हैं। इसका
दूध और मतिर नाम है।

पनाह(ग)—पंशा पुं० [हिं० पन + ह (प्रय०)] (१) विष्णु
मित्र। अथवा। निपात। ३०—(क) देवि धैर्य तव ह
त रंजित भयो वनाह। समस्य मरुत समस्त तुल पाव
कीड मुदाह। (ख) हरि तातो शिवो मुद बनाई। तव
गुरु मन में गये उदाई।—गुरु। (३) भली आति। कप
नाह। ३०—गुरु मुद गतिगुरु गीत की गंगा काह बनाई।

पनाह—पंशा पुं० दे० “पनाह”।
पनाह—पंशा पुं० दे० “पनाह”।
पनाह—पंशा पुं० [सं० पन + ह] दावापत्र। दवापत्र।

यनात-संज्ञा स्त्री० [हिं० यना] एक प्रकार का बड़िया ऊनी कपड़ा जो कई रंगों का होता है ।

यनाती-वि० [हिं० यनात + ई (प्रत्य०)] (१) यनात संबंधी ।
(२) यनात का बना हुआ ।

यनाना-क्रि० स० [हिं० यना का स० रूप] (१) रूप या अस्तित्व देना । सृष्टि करना । प्रस्तुत करना । रचना । तैयार करना । जैसे, (क) यह सारी सृष्टि ईश्वर की बनाई हुई है । (ख) अभी हाल में कुछ नए कानून बनाए गए हैं । (ग) ये आजकल एक महाकाव्य बना रहे हैं । (घ) इस सड़क पर एक अस्पताल बन रहा है ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

मुहा०—यना कर = लुप्त सच्ची तरह । मंती मंति । पूर्ण रूप से । जैसे, आज यह लड़का खूब यनाकर रोता गया है । यनाए रखना = जीवित रखना । जीता रखने देना । जैसे, ईश्वर आपको यनाए रखें । (आशुतोष)

(२) किसी पदार्थ को काट छाँटकर गड़कर, सँवारकर पकाकर या और किसी प्रकार तैयार करना । ऐसे रूप में लाना जिसमें वह व्यवहार में आ सके । रूप परिवर्तित करके काम में आने लायक करना । जैसे, कलम यनाना, भोजन यनाना, कुत्ता यनाना । (१) ठीक दशा या रूप में लाना । जैसा होना चाहिए वैसा करना । जैसे, आज्ञा यनाना, हजामत यनाना, बाल यनाना (कंधी से सँभारना), तरकारी यनाना (छील या काटकर ठीक करना या पकाया) । (४) एक पदार्थ के रूप को बदलकर दूसरा पदार्थ तैयार करना । जैसे, शुद्ध से चीनी बनाना, मखन से घी बनाना । (२) दूसरे प्रकार का भाव या संयंत्र रखनेवाला कह देना । जैसे, दुरमन को दोस्त यनाना, संयंत्र बनाना । (३) कोई विशेष पद, मर्दाना या शक्ति आदि प्रदान करना । जैसे, समापति यनाना, अनेजर यनाना, तहसीलदार यनाना, नेता यनाना । (४) अच्छी या बख़्त दशा में पहुँचाना । जैसे, उन्होंने आपने आपको कुछ बना लिया । (५) बपाजित करना । बसूल करना । प्राप्त करना । जैसे, उसने बहुत रूपया यनाया । (६) समाप्त करना । पूरा करना । जैसे, अभी तस्वीर नहीं बनाई । (१०) थापिफार करना । ईजाद करना । निकाटन । जैसे, उन्होंने एक नई तरह की बाइसिकिल बनाई है जो पानी पर भी चलती है और जमीन पर भी । (११) मरम्मत करना । दोष दूर करके ठीक करना । जैसे, पढ़ी यनाना, बाइसिकिल यनाना । (१२) मूर्ख ठहराना । उपहासास्पद करना । जैसे, आज यहाँ सब लोगों ने मिल कर इन्हे खूब यनाया ।

यनाफर-संज्ञा पुं० [सं० यन्त्रकष ?] सत्रियों की एक जाति । शारदा जड़ल इसी जाति के सत्रिय थे ।

यनावंत, यनावनत-संज्ञा पुं० [हिं० बनना + अवनना] विवाह करने के विचार से किसी लड़के और लड़की की जन्मपत्रियों का मिलान । इसे 'यनता यनत' भी कहते हैं ।

क्रि० प्र०—यनना ।—मिलना ।

यनाम-अर्थ० [का०] नाम पर । नाम से । किसी के प्रति ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग बहुधा अनालसी कारवाइयों में बादी और प्रतिवादी के नामों के बीच में होता है । यह बादी के नाम के पीछे और प्रतिवादी के नाम के पहले रखा जाता है । जैसे, रामनाथ (बादी) यनाम हारदेव (प्रतिवादी) ।

यनाया-क्रि० वि० [हिं० बनकर = बनकी तरह] (१) बिलकुल । पूर्णतया । उ०—यवन मुवन लक्ष्य हूँ खोजत खोजत जाय । जामवंत कहँ लखत मेहराज रित यनाय ।—यशराज । (२) अच्छी तरह से । उ०—लागो पुनि सेवा करन नृप संतन की आय । कबक थार सातहुन के घोमे चरन यनाय ।—यशनाथ ।

यनाए-संज्ञा पुं० [?] (१) चाकसू नामक ओषधि का वृक्ष । (२) कासमर्द । काबा कर्सादा । (३) एक प्राचीन राज्य जो वर्तमान काशी की उत्तर सीमा पर था । कहते हैं कि "यनारास" का नाम इसी राज्य के नाम पर पड़ा है ।

यनारसी-वि० [हिं० बनारस + ई (प्रत्य०)] (१) काशी संबंधी । काशी का । जैसे, यनारसी हुपट्टा, यनारसी जरी । (२) काशीनिवासी ।

यनारी-संज्ञा स्त्री० [सं० यनारी] एक आश्रित लंबी और लघु इंगल चौड़ी लकड़ी जो कोरहू की खुदी हुई कमर में कुछ नीचे लगी रहती है और जिससे नीचे नदि में रस गिरता है ।

यनाल, यनाला-संज्ञा पुं० दे० "बंदाब" ।

यनाव-संज्ञा पुं० [हिं० बनना + वा (प्रत्य०)] (१) यनावट । रचना । (२) शृंगार । सजावट ।

यो०—यनाव सिंगार ।

(३) ताकीव । युक्ति । तद्विरी । उ०—जो नहिँ जाउँ इइ पड़ितावा । करत विचार न बनइ यनाधा ।—तुलसी ।

यनावट-संज्ञा स्त्री० [हिं० बनना + वट (प्रत्य०)] (१) यनने या बनाने का भाव । रचना । गढ़न । जैसे, इन दोनों कुरसियों की यनावट में बहुत अंतर है । (२) ऊपरी दिखावा । आडंबर । जैसे, जिन आदमियों में यनावट होती है, वे गीध ही लोगों की आँखों से गिर जाते हैं ।

यनावटी-वि० [हिं० यनावट] यनाया हुआ । सज्जी । रुझिम । जैसे, यनावटी हीरा ।

यनावन-संज्ञा पुं० [हिं० बनना] कंकड़िया, "

श्रीरामदेव फाल्गुन पदार्थ जो अन्न आदि को साफ करने पर निकले। पिनन। जैसे, हन गेहूँ में पनाघन कम निकलेगा।
पनाघनहारा—छंटा पुं० [हिं० वनना + हारा (प्रत्यय)] (१) बनानेवाला। यह मिश्रण बनाया है। रचयिता। (२) सुधार करनेवाला। यह जो विगड़ें हटायें। बनय।
पनास—छंटा छी० [दे०] शत्रुपुत्रों की एक नदी का नाम जो अनेकी पर्वत से निकल कर पंचाल में मिलती है।
पनासपती—छंटा छी० [सं० पनासपति] (१) जरी, घुटी, पत्र, पुत्र इत्यादि। पैरोपी, पेटों या छताओं के पंखा में से कोई प्रयोग। फाल्गुन पनास आदि। इ०—पनास बनामगरी वन से छत्र तीर्थ के बल कुंभ भरे हैं। ग्राम के मीर भी छंहि ऊपर केसर से लिपि धीत करे हैं।—इसमान। (२) घास, साम घात इत्यादि। इ०—देसी परी गरम हरम पातसाइन की, नामवासी ग्रासी से बनामपती लाती हैं।—गुणपद।
पनिक—पि० [हिं० वनना] पूर्ण। समता। सय। इ०—अमित काल में कीमद् मन्त्री। आनु दीर्घ विधि बनि भल भूरी।—गुणमी।
पनिक—छंटा पुं० दे० “पनिक”।
पनिक—छंटा पुं० [सं० पनिक] (१) व्यापार। दानुमों का रूप विषय। देशगार। (२) व्यापार की वस्तु। लोहा। इ०—(क) कबिजुग पर विपुल कबिज नामगार वारत।—गुणमी। (२) ग्राह्यदार गुमाफिर। पनी वादी। (३०)
पनिजना—छी० [सं० पनिक, हिं० वनना + न (प्रत्यय)] (१) व्यापार करना। लेन देन करना। गरीबना धीर बेचना। इ०—(क) मायक पाप हरी अनिमित्त ही लिए रावे गुम आह—गार। (घ) यह पनिकति वृषभान गुमा गुम हन मो पैर बनावित।—गुर। (ग) इन पर पर उन है पना पनिकन पावे हार। वरम कहीन केचिके उतिके पालो बाट।—कबीर। (२) मोक्ष को लेना। अपने सारी कर लेना। इ०—नामन ही दिनाह बहोदिन बालन ही कबिज अनिमित्त।—देव।
पनिजारा—छंटा पुं० दे० “पनिकारा” वा “पनिकारा”।
पनिजारी—छंटा छी० [हिं० पनिक] पनिकारा कति की गी। इ०—(क) कीमते पतिन रूप मिगुवन को वंशनी पनिकारिन—गुर। (ग) नामन ही दिनाह पनिकारिन, बाधन ही पनिक पनिकारी।—देव।
पनिक—छंटा छी० [हिं० पनिक] नामक। पेल। नामक बाज। इ०—अदि बहूदेन कतिन बनाय है। नामि बनाय अति बाध बाध है।—गुर।
पनिक—छंटा छी० [हिं० पनिक] (१) गी। सीतल। (२) भाषा। पनिक।
पनिक—छंटा पुं० [हिं० पनिक] [पनिक पनिकन] (१) व्यापार

करनेवाला व्यक्ति। व्यापारी। पैस। (२) घास, दान, चावल आदि बेचनेवाला। मोदी।
पनिपादन—छंटा छी० [सं० पनिकन] लोचनी पुनार की दाँत या पंटी जो शरीर में चिरी रहती है। गंभी।
पनिस्यत—अय० [पन०] अपने। मुकाम में। जैसे, इन कपड़ों की पनिस्यत यह कपड़ा कहाँ गया है।
पनिहार—छंटा पुं० [हिं० वन + हार (प्रत्यय)] कपड़ा। दे०—यह आदमी जो कुछ बेतन घपपा उग्र बा घट रहे है बावे पर जमीन जोतने, बेतने, फसल आदि काटने बीतने की रचबाजी करने के लिए रत्ना भाव।
पनी—छंटा छी० [हिं० वन] (१) पनस्यती। वन का एक टुकड़ा। (२) घाटिका। वाग। जैसे, कसोय पनी। इ०—अति पंचक जई कलदूरी विधवा पनी न मारि। मन मेतने कपिरास को अद्भुत मगर मिहारि।—केशव।
पनी—छंटा छी० [हिं० वन] (१) नवपत्नी। नुलहिम। (२) छं। नाविका। इ०—कौमिया की सनी सुखिमान पनी सु बनी पिरि बाँचित है कति की।—देव।
पनी—छंटा छी० [हिं० वन] पनिक देता में नयन होनेवाली एक प्रकार की कलाप।
पनी—छंटा पुं० [सं० पनिक] पनिका। इ०—पनी को जैसे मोग है।—पनानंद।
पनीनी—छंटा छी० [हिं० पनी + नी (प्रत्यय)] धीर कति की की। बनिवे की गी। इ०—नामकोपनी की जोपनी की जोनि जोनि रही, बनी पनी लीकी पनीनी की धीर जाती में।—देव।
पनीर—छंटा पुं० [सं० पनी] पनी।
पनीरी—छंटा छी० [हिं० पनी + नी (प्रत्यय)] यह लंबी लारी जिसमें दोनों गिरों पर मोल लट्ठ लगे रहते हैं। इसका पनाह पदेबाजी के समय आगे छोड़ें आदि में होता है।
पनीरी—छंटा छी० [हिं० पनी + नी (प्रत्यय)] पनीरी।
पनीरी—छंटा पुं० [दे०] एक प्रकार का रेत का कोठा।
पनीरी—छंटा छी० [हिं० पनी + नी (प्रत्यय)] पनीरी। पनीरी।
पनीरी—छंटा पुं० दे० “पनीरी”।
पनीरी—छंटा छी० [हिं० पनी + नी (प्रत्यय)] पनीरी के पनिकार। इ०—होने सोनगरी पतिन सोनगरी में पति। दुनि अद्वित पर मोग करि पनीरी हो।—विद्या।
पनीरी—छंटा छी० [हिं० पनी + नी (प्रत्यय)] पनीरी के नाम मिनिबाबा कोठा। कपड़ा। मिनिबाबा।
पनीरी—छंटा छी० [हिं० पनी + नी (प्रत्यय)] पनीरी। पनीरी।
पनीरी—छंटा पुं० दे० “पनीरी”।

यन्त्री-संज्ञा स्त्री० [यन्त्र०] यन्त्र का तिहाई अथवा और कोई भाग जो खेत में काम करनेवालों को काम करने के बदले में दिया जाता है ।

यन्त्रि-संज्ञा स्त्री० दे० "यन्त्रि" ।

यन्त्र-संज्ञा पुं० [हिं. यन्त्र + सं० चंग] पिता से मिठा हुआ अंश । यपैती । दाय ।

यन्त्र-संज्ञा पुं० [सं० यन्त्र + घाप] घाप । पिता ।

यन्त्र-यन्त्रमार = पिता को मारनेवाला । पित्रघातक ।

यन्त्रमार-वि० [हिं. यन्त्र + मारना] (१) पिता का घातक । वह जो अपने पिता की हत्या करे । (२) उसके साथ घोषा और अन्ध्या करनेवाला ।

यन्त्रिस्तमा-संज्ञा पुं० [यन्त्र०] ईसाई संप्रदाय का एक मुख्य संस्कार जो किसी व्यक्ति को ईसाई बनाने के समय किया जाता है । इसमें पादरी हाथ में जल लेकर अभिमंत्रित करता और ईसाई होनेवाले व्यक्ति पर छिड़कता है । यह संस्कार विधिमंथों को ईसाई बनाने के समय भी होता है और ईसाइयों के घर जन्मे हुए बालकों का भी होता है । इस संस्कार के समय संस्कृत होनेवाले का एक अलग नाम भी रखा जाता है जो उसके कुल-नाम के साथ जोड़ दिया जाता है । संस्कार के समय का यह नाम उनमें से कोई होता है जो ईजिप्श में घाप है ।

यन्त्रा-संज्ञा पुं० [सं० यन्त्र] यज्ञ घोना । यन्त्र-कट्ट को लड़े फल रसाज यन्त्र धीन यन्त्र ।—कुलसी ।

यन्त्र-संज्ञा पुं० [सं० यन्त्र] (१) शरीर । देह । (२) अवतार । (३) रूप ।

यन्त्रा-वि० [सं० यन्त्र] येवारा । अराफ । गरीब ।

यन्त्रा-वि० [सं० यन्त्र] येवारा । अराफ । गरीब ।

यन्त्रा-संज्ञा स्त्री० [हिं. यन्त्र + योती (यन्त्र०)] घाप से आई हुई जायदाद । पिता से मिली हुई संपत्ति ।

यन्त्रा-संज्ञा पुं० [हिं. यन्त्र] पिता । घाप ।

यन्त्रोप-इस शब्द का प्रयोग कुछ प्रांतों में प्रायः संवोधन रूप में होता है । जैसे, अरे मैया, अरे यन्त्रा ।

यन्त्रा-संज्ञा पुं० [हिं. यन्त्र + आरा (यन्त्र०)] (१) औषध मिश्रित गल को चीटा उसकी भाप से शरीर के किसी रोगी अंग को सेकने का काम ।

कि० प्र०—देना ।—लेना ।

(२) यह औषध जिसकी भाप से हम प्रकार का सेक किया जाय ।

यन्त्रा-संज्ञा स्त्री० [हिं. यन्त्र] भाप से पकाई हुई दूरी ।

यन्त्रोप-यन्त्रोप में अदहन चड़ाकर उसके ऊँध पर पानी की कपड़ा बांध देते हैं । जब पानी खूब उबलने लगता है तब कपड़े पर येसन वा बर्द की पकड़ी छोड़ते हैं जो भार से ही पकती है । इन्हीं पकड़ियों को यन्त्रा कहते हैं ।

यन्त्रा-संज्ञा पुं० [यन्त्र०] उच्चजित होकर जोर से धोना । यन्त्रा ।

यन्त्र-संज्ञा पुं० [यन्त्र०] (१) धरती देश का शेर । यन्त्रा शेर । सिंह । (२) एक प्रकार का मोटा कमल जिसमें शेर की खाल की सी धारियां बनी होती हैं ।

यन्त्रा-संज्ञा पुं० दे० "बाबा" ।

यन्त्रा-संज्ञा पुं० [हिं. यन्त्र] (१) बेटे या दामाद के लिए प्यार का संवोधन शब्द । (पुत्र) । (२) जर्मदार । रहस । (पुत्र) ।

यन्त्रा-संज्ञा स्त्री० [हिं. यन्त्र की स्त्री०] (१) बेटे । कन्या । (२) छोटी ननद । पति की छोटी बहन । (३) किसी ठाकुर सरदार या बापू की बेटे ।

यन्त्र-संज्ञा पुं० दे० "यवूल" ।

यवूल-संज्ञा पुं० [सं० यवूल] मकोले कद का एक प्रसिद्ध कटि-दार पेड़ जो भारत के प्रायः सभी प्रांतों में जंगली अवस्था में अधिकता से पाया जाता है । गरम प्रदेश और रेतीली जमीन में यह बहुत अच्छी तरह और अधिकता से होता है । कहीं कहीं यह शृंग सी सौ वर्ष तक रहता है । इसमें छोटी छोटी पत्तियां, सूई के बराबर कटि और पीले रंग के छोटे छोटे फूल होते हैं । इसके अनेक भेद हैं जिनमें कुछ तो छोटी छोटी कटिनी बेलें हैं और याकी बड़े बड़े शृंग । कुछ जातियों के यवूल तो बागों आदि में केवल रोमा के लिए लगाए जाते हैं, पर अधिकतर से इमारत और खेती के कामों के लिए बहुत अच्छी लकड़ी निकलती है । इसकी लकड़ी बहुत मजबूत और भारी होती है और यदि कुछ दिनों तक किसी खुले स्थान में पड़ी रहे तो प्रायः छोड़े के समान हो जाती है । इसकी लकड़ी जपर से सफेद और अंदर से कुछ कालापन लिए लाल रंग की होती है । इससे खेती के सामान, नावें, गाड़ियों और एक्कों के धुरे तथा पहिए आदि अधिकता से बनाए जाते हैं । जलाने के लिए भी यह लकड़ी बहुत अच्छी होती है क्योंकि इसकी आँव बहुत तेज होती है ; और इसी लिए इसके कोयले भी बनाए जाते हैं । इसकी पतली पतली टहनियां, इस देश में, दातुन के काम में आती हैं और दातों के लिए बहुत अच्छी मानी जाती हैं । इसकी अड़, छाल, सूखे यीन और पत्तियां ओपपि के काम में भी आती हैं, और छाड़ का उपयोग चमड़ा सिक्काने और रंगने में भी होता है, पत्तियां और कच्ची फलियां पशुओं के लिए चारे का काम देती हैं और सूखी टहनियों से लोग खेतों आदि में बाढ़ लगाते हैं । सूखी फलियों से पक्षी स्वाही भी बनती है और फूलों से शहद की मखियां शहद निकालती हैं । इसमें गोंद भी होता है जो और गोंदों से बहुत अच्छा समझा जाता है । कुछ

ययस-संज्ञा स्त्री० दे० "यय"। 'ययन'।

ययसर-संज्ञा स्त्री० [दे०] वयस्यय युननेवालों की यह लक्ष्मी जो इनके शरीर में गुरुले के ऊपर धार नीचे लगती है। ययसवाला-वि० [सं० ययस + हि० वला] [स्त्री० ययसवाली] युवक। जवान।

ययन-सिरोमणि-संज्ञा पुं० [सं० ययनसिरोमणि] युवावस्था। जवानी। यौवन। व०-ययन कितोर सरिपर मनेहर ययससिरोमणि होने।-मुलसी।

यया-संज्ञा पुं० [सं० ययन = बुढ़ता] गौरैया के आकार और रंग का एक प्रसिद्ध पक्षी जिसका माथा बहुत चमकदार पीला होता है। यह पाया जाता है और सिधाने से, संकेत करने पर, हलकी हलकी चीन्हे, जैसे, कौड़ी, पत्ती आदि, किसी स्थान से छे आता है। यह अपना घोंसला खुले स्थानों से बहुत ही कारीगरी के साथ और इस प्रकार का बनाता है कि उसके तृण बुने हुए मालूम होते हैं।

संज्ञा पुं० [य० यया = बेचनेवाला] यह जो अनाज तोलने का काम करता हो। अनाज तोलनेवाला। तोलैया। व०-मेरनगर में दूध बया भाड़े प्रगटे बाह। दो मन को कर एक मन साथ दिया दहराह।-रसनिधि।

ययाई-संज्ञा स्त्री० [हि० यया + आई (प्रत्य०)] अन्न आदि तोलने की मजदूरी। तोलाई।

ययान-संज्ञा पुं० [फा०] (१) ययान। ययान। जिह्वा। चर्चा। (२) हाल। विवरण। वृत्तान्त।

क्रि० प्र०-करना।-होना।

ययाना-संज्ञा पुं० [य० यै + फा० प्रत्य०-अना] यह धन जो बाँड़े चीज करीदने के समय अथवा किसी प्रकार का ठेका आदि देने के समय, इसकी वातचीत पक्षी करने के लिये बेचनेवाले अथवा ठेका खेनेवाले को दिया जाय। किसी काम के लिये दिए जानेवाले पुरस्कार का कुछ शेष जो वातचीत पक्षी करने के लिये दिया जाय। पेशगी। अगाऊ। विशेष-ययाना देने के अपरांत देने और खेनेवाले दोनों के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे उस निग्रह की पारबंदी करें जिसके लिए ययाना दिया जाता है। ययाने की रकम पीछे से दाम या पुरस्कार चुकाते समय काट ली जाती है।

ययानान-संज्ञा पुं० [फा० ययानान] (१) जंगल। (२) वनाड़। ययार, ययारि-संज्ञा स्त्री० [सं० ययु] दया। पवन। व०- (क) तिरुका दयारि के यस। ज्यों भावे सों बड़ाई ली जाह भावने रस।-स्व० हरिदास। (ख) देखि तरु मय अति डराने हैं बड़े विस्तार। गिरे कैसे बड़े अचरज नेकु नहीं दयार।-सूर। (ग) कानन भूपर वारि दयारि महा विप व्याधि दया करि घोर।-मुलसी।

मुहा०-दयार करना = ऊपर देना दिखाता जिससे दया लये।

व०-भोजन करत कनक की घारी। दुपदसुता तहँ करति बयारी।

ययारी-संज्ञा पुं० [हि० ययार] (१) दया का भाँडा। (२) ययान।

ययारी-संज्ञा स्त्री० दे० 'विधारी', 'व्यालू'।

दे० "ययारि"।

ययाला-संज्ञा पुं० [सं० यया + आला] (१) दीवार में या वह छेद जिससे भाँककर बाहर की ओर की वस्तु देखी जा सके। (२) ताल। आला। (३) पटाय के नीचे की खाली जगह। (४) गड़ों में वह स्थान जहाँ तोपें लगी रहती हैं। (२) कोट की दीवार में वह छोटा छेद या अथकाश जिसमें से तोप का गोला पार करके जाता है। व०-तिमि घरनाळ और करनाळ सुतरनाळ बंगाली। गुर गुराव रहकले भले तहँ लगने विपुल बयारल।-रघुराज।

ययालिस-संज्ञा पुं० [सं० ययलिस + यय, प्रा० विचलाकीता] (१) पाखीस और दो की संख्या। (२) इस संख्या का सूचक शंक जो इस प्रकार लिखा जाता है-४२।

वि० जो गिनती में चाट्टी से दो अधिक हो।

ययालीसर्षा-वि० [हि० ययलीस + र्षा (प्रत्य०)] जो काम में ययालिस के स्थान पर हो। इकतालिसवें के बाद का।

ययाली-संज्ञा पुं० [सं० यय + यली, प्रा० विचली] (१) सरसी और दो की संख्या। (२) इस संख्या का सूचक शंक जो इस प्रकार लिखा जाता है-५२।

वि० जो संख्या में सरसी और दो हो।

ययंग-संज्ञा पुं० [दे०] (१) मध्य प्रदेश में होनेवाला छोटे कद का एक पेड़ जिसकी लकड़ी सफेद और मुजायम होती है और इसासत तथा खेती के औजार बनाने के काम में आती है। इसकी छाड़ के रेशों से रस्ते भी बनते हैं। पोला। (२) वस्तर। कवच। (डि०)

ययंग-संज्ञा पुं० [दे०] (१) घुत पादने की पापर की छोटी पटिया जो प्रायः डेढ़ हाथ लंबी और एक विच चौड़ी होती है। (२) ये छोटी छोटी लकड़ियाँ जो घुत पादने समय घरनों के बीचवाला अंतर पादने को लगाई जाती हैं। व०-ययंग ययंगी करी यै जरी हैं। मने जवाल ने बाहु लच्छों करी है।-चूदन।

यय-संज्ञा पुं० [सं० वर] (१) वह जिसका विवाह होता हो। दुल्हा। दे० "वर"। व०-(क) जद्यपि वर अनेक जग माँही। पछि कहे निव तजि दूसर नाहीं।-मुलसी। (ख) वर अरु बधू शाप जब जाने रुक्मिणि करत पधाई। रति अरु काम प्रगट ता दिन से कवि मिलि कीरति गाई।-सूर।

मुहा०-बर का पानी = विवाह से पहले नहलू के समय पार का स्नान किया हुआ पानी जो एक पात्र में एकत्र करके कन्या

के घर भेजा जाता है और जिसे फिर कत्ता नहोताई जाती है ।
(जिस पाप में वह जन्म जाता है वह पाप चीनी, खाँड़ आदि
से भरकर लहरेयनों के घर लौटा दिया जाता है ।)

(२) यह आशीर्वादमूक वचन जो किसीकी आपत्तिना
पूरी करने के लिये कहा जाय । दे० "वर" । उ०—यह वर
माँगो दिया न काहू । तुम मम मन ने कहूँ न
आहू ।—देराय ।

वि० छेद । कप्ता । उत्तम ।

मुहा०—वर परना = पढ़ निकलना । शोध होना । उ०—घर से
दरत न भा परी दुई माकि मनु मैन । होहाहोही बड़ि
पछे पिय चतुहाई मैन ।—विहारी ।

लं० पु० [सं० वर] बल । शक्ति । उ०—(क) परे भूमि
बहिं उरत उठाये । वर करि हवामिं पुं ला लाये ।—तुलसी ।
(ग) गीन उंक टूटी दुग भरी । गिन रावन बैदि वर
होय गरी ।—जायसी ।

लं० पु० [सं० वर] वट वृक्ष । वरगढ़ । उ०—हीन
सुमाय ही तौसे पर्यो वर पुनन बादे हिये लउधानी ।
—प्रताप ।

अम० [का०] ऊपर ।

मुहा०—वर धाना वा धाना = पढ़कर निकलना । सुकारने में
लगा टहलना । जैसे, मूढ़ बोलने में तुमसे कोई वर नहीं
वा सकना (वा सा सकता) ।

वि० (१) वड़ा वड़ा । श्रेष्ठ । (२) पुन । पुन । (बाधा
वा कामना आदि के लिये) जैसे, मुदा वर धाना ।
लं० पु० [दे०] एक प्रकार का कीड़ा जिसे गाने से पछा
मार जाते हैं ।

● धान० [सं० वर, वि० वर] धान् । वरिष्ठ । उ०—
सुवि देवउ सख दास विरह ते मरन भयो वर ।—ज्याय ।

परमंग—लं० सं० [वि०] बेगि ।

परती—लं० पु० [वि० वरुण वरुणी] [लो० वरुण] (१) एक
जानि जिसका काम वान पेश करना वा बेचना होता है ।
(२) हम जानि का कोई आचारी । लमोकी ।

परतदास—लं० पु० [व० + व०] (१) वह पिताही का चौकी-
दार आदि जिसके काम बुरी जाती रहती है । (२) तौहादा
कहू । लमोकासा पिताही । (३) चौकीदार । रणक ।

परतत—लं० ल० [व०] (१) किसी वरपै की पवित्रता ।
बहुनी । उपादनी । बहुपावन । बनी न पड़ना । पुन पड़ना ।
विशेष—हम हम कः प्रयोग साधारणः वह दिलवादे के
विश्व होता है कि वरुण आचरकथायुगाय पूरी है
होगा हमसे मइया बनी बही हो लकी । जैसे, (क)
हकरी गरीही हरे लीन में बरी वाकन होगी है । (क)

जिस चीज में तुम हाथ लगा दोगे, हमकी वाकन जाती है ।
मुहा०—वरकन करना = (१) परवत न रह जाता । पान न
(२) वैभव आदि की लसती पाई जाने लगता ।
आपत्ति होना । जैसे, वर तो उनके घर में वाकन रह
परकन होता = (१) अधिराज होना । वृद्ध होना ।
उपति होना ।

(२) जाम । वायदा । जैसे, (क) तौली मोहन
परकत । (ग) इस रोजगार में वाकन गरी है ।
वह वरक दुषा वरपै वा वन आदि जो हम
में पाये सोझ दिया जाता है कि हममें और वृद्धि हो ।
(क) रंजी बिलकुल लाली मत कर दो, वरक क
दरवा तो पोछ दो । (ग) वरक हम वरपै में है ही
लाखी वरकन परकन है । (ग) समाप्ति । वैन । (साधा
गृहस्थी में लोग वह कहना कुछ चरुम मतमने ।
चमुक वरुण समाप्त हो गई, और उसके स्थान पर हम
का प्रयोग करते हैं । जैसे, वागकड घर में वरकन
वरकन है । (२) एक की लम्बा । (साधारणः
गिनती के आधार में एक के स्थान में छन वा वृद्धि
की कामना से हम शत्रु का व्यवहार करते हैं ।
वरकन, दो, तीन, चार, शेष आदि ।) (३) धन पैसा
(उ०) । (४) प्रताप । कृपा । जैसे, वह लह लाते हैं
की वाकन है कि चारके आते ही रोगी चपटा हो
(कभी कभी वह मज्ज वरकन से भी बोजा बना
जैसे, वह चारके बड़ों की ही वाकन है कि चारके
ही मय लोग उड़ गये हुए ।)

परपती—वि० [व० वाकन + वि० (मप०)] (१) वाकनवा
जिसमें वाकन हो । जैसे, आ चपना वाकनी दाव
ही रखना । (व्यंग्य) । (२) वाकन लोकी ।
का । जैसे, वाकनी दरवा ।

परकदम—लं० लो० [व०] एक प्रकार की वरनी गिरपै
की बिधि हार प्रकार है—पहले करपे आम की म
वयका वरवा निकाल लेते हैं और तब हममें चीनी,
तीनलकीनी, केला, दूध आदि झाड़ देते हैं ।

वरकना—वि० ल० [वि० वाकन] (१) कोई वरि वान न
पाना । न परिण होता । निरास्य होना । प्रचना ।
चमका वरकना । (२) चपटा रहना । हटना । दूर होना ।

वरकनार—वि० [व० वर + व० वर] (१) वाकन ।
जिसकी चिन्ति हो । (२) वाकन । गीत ।

वि० प्र०—वदना ।

परकन—लं० पु० [व० वर + वर] निराद । मरद ।
उ०—मरद वरकन बरिबंद वा वरक वरु वरि वरि
किरी वाकन के ।—गुलामी ।

धरकाना—क्रि० अ० [सं० धारण, धारक] (१) कोई धुरी यात न होने देना। निवारण करना। बचाना। जैसे, भगड़ा धरकाना। (२) पीछा छुड़ाना। भड़काना। फुसलाना। उ०—खेलेत लुगरी भए शुद्धिगम कोशलपति सुख छाये। दै नयीन भूपन पट सुंदर जस तस के धारकाये।—रघुराज।

धरख—संज्ञा पुं० [सं० धर] धरस। साल।

धरखना—क्रि० प्र० [सं० धरण] पानी धारना। धरना होना।

धरखना—संज्ञा स्त्री० [सं० धर] (१) मेह गिरना। जल का धरना। पृष्टि। उ०—का धरखा जव कृप्य सुखाने।—तुलसी।

(२) धरना। धरनात का मौसिम।

धरखाना—क्रि० स० [सं० धर] (१) धरसाना। (२) ऊपर से इस प्रकार छिटाकर गिराना कि धरसता हुआ मौसिम हो।

(३) बहुत अधिकता से देना।

धरखास्त—क्रि० वि० दे० “धरखास्त”। उ०—करी भूपति दूतन विदार कियो समा धरखास्त। मरत शत्रुहृन् संग धै गए धातु रनिबास।—रघुराज।

धरखास्त—वि० [फा०] (१) (समा आदि) जिसका विसर्जन कर दिया गया हो। जिसकी बैठक समाप्त हो गई हो। जैसे, दरबार, कचहरी, स्कूल आदि धरखास्त होना। जो बंद कर दिया गया हो। उ०—सुनिकै समासद अभिलषित निज निज भयन गमनत भए। भूपति समा धरखास्त करि किय शयन पति धर्मदमप।—रघुराज। (२) जो नौकरी से हटा या छुड़ा दिया गया हो। मौकूफ।

धरखिलाफ—क्रि० वि० [फा० धर + फा० खिलाफ] प्रतिकूल। उलटा। विपक्ष।

धरगंधा—संज्ञा पुं० [सं० धर + गंध] सुगंधित मसाला।

धरना—संज्ञा पुं० [फा० धर] पत्ता। पत्र। जैसे, धरना बनफारा। धरना गावमुर्वा।

धरगद—संज्ञा पुं० [सं० दट, दि० गद] गद का पेड़। पीपल गूलर आदि की जाति का एक प्रसिद्ध वृक्ष जो प्रायः सारे भारत में बहुत अधिकता से पाया जाता है। अनेक स्थानों पर यह धार से उगता है, पर इसकी छाया बहुत घनी और ठंडी होती है, इसलिये कहीं कहीं लोग छाया आदि के लिये इसे लगाते भी हैं। यह बहुत दिनों तक रहता, बहुत जल्दी बढ़ता, और कभी कभी धरसी या ली फुट की ऊँचाई तक जा पहुँचता है। इसमें एक विशेषता यह होती है कि इसकी शाखाओं में से जटा निकलती है जो नीचे की ओर आकर जमीन में मिल जाती है और तब एक नए वृक्ष के तने का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार एक ही धरगद की बालों में से चारों ओर पचासों जटाएँ नीचे आकर जड़ और तने का काम देने लगती हैं जिससे वृक्ष का विस्तार बहुत तीव्रता से होने लगता है।

यही कारण है कि धरगद के किसी बड़े वृक्ष के नीचे सैकड़ों हजारों आदमी तक बैठ सकते हैं। इसके पत्तों और डालियों आदि में से एक प्रकार का दूध निकलता है जिससे घटिया रबर बन सकता है। यह दूध फोड़े फुंसियों पर, उनमें सुँद करने के लिये, और गठिया आदि के दर्द में लगाया जाता है। इसकी छाल का काटा बहुमूल्य होने में लामदायक माना जाता है। इसके पत्ते जो बड़े और चौड़े होते हैं, प्रायः देने बाने और सोड़ा रखकर देने के काम में आते हैं। कहीं कहीं, विशेषतः अकाल के समय में, गरीब लोग इन्हें खाते भी हैं। इसमें छोटे छोटे फल लगते हैं जो गरमी के शुरू में पकते हैं और गरीबों के खाने के काम में आते हैं। यों तो इसकी लकड़ी कुलकुली और कमजोर होती है और उसका विशेष उपयोग नहीं होता पर पानी के भीतर वह खूब ठहरती है इसलिए कुएँ की जमघट आदि बनाने के काम आती है। साधारणतः इसके सेंदूक और बीछे बनते हैं। पर यदि यह होशियारी से काटी और सुखाई जाय तो और सामान भी बन सकते हैं। डालियों में से निकलनेवाली मोटी जटाएँ बहती के डंडे, गाड़ियों के जूए और खेलों के चोप बनाने के काम आती हैं। इस पेड़ पर कई तरह के लाख के कीड़े भी पल सकते हैं। हिंदू लोग धरगद को बहुत ही पवित्र और स्वर्ग वर स्वरूप मानते हैं। इसके दरीन तथा धरस आदि से बहुत पुण्य होता और दुःखों तथा आपत्तियों आदि का दूर होना माना जाता है और इसी लिये इस वृक्ष का लगाना भी बड़े पुण्य का काम माना जाता है। वैद्यक के अनुसार यह कषाय, मधुर, शीतल, गुर्, प्राक्क, और कफ, पित्त, मूत्र, दाह, कृष्ण, मेह तथा योनि दोषनाशक माना गया है।

पर्याय—व्यग्रोध, बहुपात, वृक्षनाथ, यमप्रिय, रक्तफल, शृंगी, कर्मज, भुव, चोरी, वैश्रवणावास, मांढीर, जटाल, अजरोही, विटपी, स्कंदरुह, महाच्छाया, भृंगी, बघावाल, पंचतरु, नील, बहुदाय, वनस्पति।

धरगोल—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का लधा (पत्थर) जिसके पंचे कुछ छोटे होते हैं और जो पात्रा जाता है।

धरचर—संज्ञा पुं० [दे०] हिमालय में होनेवाला एक प्रकार का देवदार वृक्ष जिसकी लकड़ी भूरे रंग की होती है। चेसी। पहेंजी। खेल।

धरचस—संज्ञा पुं० [सं० धरचस] विट्टा। मल। (हिं०)

धरखा—संज्ञा पुं० [धरचस = कट्येयका ?] [फा० बखी] भाड़ा नामक हथियार जिसे फेंककर अथवा भेंककर मारते हैं। इसमें प्रायः एक पात्रिल लंबा छोड़ा का फल होता है और एक बड़ी लाठी के सिरे पर जड़ा होता है। यह प्रायः सिपाहियों या शिकारियों के काम का होता है। भाड़ा।

के घर भेजा जाता है और जिससे फिर कन्या नहनाई जाती है ।
(जिस पान में वह जल जाता है वह पान चीनी, खाँड़ आदि
से भरकर लड़कियों को घर लौटा दिया जाता है ।)

(२) वह आशीर्वादस्वरूप वचन जो किसीकी प्राथना
पूरी करने के लिये कहा आया । दे० "वर" । उ०—वह वर
माँथो दियो न काहू । तुम मम मन ते कहूँ न
जाहू ।—केशव ।

वि० श्रेष्ठ । अच्छा । उत्तम ।

मुहा०—वर पाना = वर निकलना । श्रेष्ठ होना । उ०—भार ते
ठारत न वर परं दई मरकि मनु मैन । होड़ाहोड़ी वड़ि
वळे चित चतुराई नैन ।—विहारी ।

संज्ञा पु० [सं० वर] वर । शक्ति । उ०—(क) परे भूमि
नहिं वडत वडाये । वर करि कृपासिंघु वर लाये ।—मुलसी ।
(ख) सीम लंक टूटी दुख भरी । गिन रावन कहि वर
होय खरी ।—जायसी ।

संज्ञा पु० [सं० वर] वर वृक्ष । वरगढ़ । उ०—कौन
सुभाष री तैरो परयो वर पूजत काहे दिये सकृपाती ।
—प्रताप ।

अर्थ० [का०] ऊपर ।

मुहा०—वर धाना या पाना = वरकर निकलना । सुकावने में
अच्छा ठहरना । जैसे, शूद्र बोलने में तुमसे कोई वर नहीं
पा सकता (या आ सकता) ।

वि० (१) यड़ा यड़ा । श्रेष्ठ । (२) पूरा । पूर्ण । (आशा
या कामना आदि के लिये) जैसे, मुराद वर धाना ।

संज्ञा पु० [देश०] एक प्रकार का कीड़ा जिसे खाने से पशु
मर जाते हैं ।

* अर्थ० [सं० वर, हि० वर] वरन् । वरिष्ठ । उ०—
हुनि रोयत सख हाथ विरह ते मरन भलो वर ।—भ्यास ।

परकज—संज्ञा स्त्री० [हि०] मेमि ।

परकी—संज्ञा पु० [हि० वर = वधारी] [स्त्री० वरद] (१) एक
जाति जिसका काम पान पैदा करना या भेजना होता है ।
(२) इस जाति का कोई आवामी । समोली ।

परकंदाज—संज्ञा पु० [व० + का०] (१) वह सिपाही या चौकी-
दार आदि जिसके पास बड़ी लाठी रहती हो । (२) तोड़ेदार
बंदूक रखनेवाला सिपाही । (३) चौकीदार । रणक ।

परकत—संज्ञा स्त्री० [व०] (१) किसी वदार्थ की अधिकता ।
वढ़ती । ज्यादाती । बहुतपायत । कमी न पड़ना । पूरा पड़ना ।

विशेष—इन शब्द का प्रयोग साधारणतः यह दिखाने के
लिए होता है कि वस्तु आवश्यकतानुसार पूरी है
और उसमें सहसा कमी नहीं हो सकती । जैसे, (क)
इकट्ठी धारी हुई चीज में बड़ी परकत होती है । (ख)

जिस चीज में तुम हाथ लगा दोगे, उसकी परकत जाती रहेगी ।
मुहा०—परकत ठठना = (१) परकत न रह जाना । पूरा न पड़ना ।

(२) वैभव आदि की समाप्ति या शून्य होने । हात
आरंभ होना । जैसे, धन तो ठगे वर से परकत न पड़ी ।
परकत होना = (१) अधिकता होना । वृद्धि होना । (२)
उपेक्षा होना ।

(२) लाभ । फायदा । जैसे, (क) ऐसी नीयत बेसी
परकत । (ख) इस रोजगार में परकत नहीं है । (३)
यह वधा हुआ वदार्थ या धन आदि जो इस विधा
में पीछे छोड़ दिया जाता है कि इसमें और वृद्धि हो । जैसे,
(क) थैली बिलकुल खाली मत कर दो, थोड़ा भाड़ा
रक्का तो छोड़ दो । (ख) धन इस धड़े में ही हो गया,
खाली परकत परकत है । (४) समाप्ति । शून्य । (साधारणतः)
गृहस्थी में लोग यह कहना कुछ अशुभ समझते हैं कि
अमुक वस्तु समाप्त हो गई, और उसके स्थान पर इन शब्द
का प्रयोग करते हैं । जैसे, आजकल घर में, अनाज भी
परकत है । (२) एक की संख्या । (साधारणतः लोग
गिनती के आरंभ में एक के स्थान में शून्य या वृद्धि आदि
की कामना से इस शब्द का व्यवहार करते हैं । जैसे,
परकत, दो, तीन, चार, पाँच आदि ।) (३) धन शून्य होना ।
(क०) । (४) प्रसाद । कृपा । जैसे, यह सब आपके कर्मों
की परकत है कि आपके धाते ही रोगी अच्छा हो गया ।
(कमी कमी यह शब्द स्वरूप से भी बोला जाता है)
जैसे, यह आपके कर्मों की ही परकत है कि आपके धाते
ही सब लोग ठ ठ खड़े हुए ।

परकती—वि० [व० परकत + ई (प्रत्यय)] (१) परकतवाला ।
जिसमें परकत हो । जैसे, जरा अपना परकती हाथ बप
ही रखना । (व्यंग्य) । (२) परकत संबंधी । परकत
का । जैसे, परकती दरवा ।

परकदम—संज्ञा स्त्री० [का०] एक प्रकार की बटनी जिसके बगाने
की विधि इस प्रकार है—पहले कच्चे आम को भूनकर
उसका पना निकाल खेतों में और तब उसमें चीनी, मिर्च
शीतलचीनी, केसर, इलाह्वी आदि डाल देते हैं ।

परकना—वि० व० [हि० परकना] (१) कोई घुरी बात न होने
पाना । न घटित होना । निवारण होना । अचना । जैसे,
कहाइ परकना । (२) खलाग रहना । हटना । दूर रहना ।

परकरार—वि० [का० वर + व० करार] (१) कायम । स्थिर ।
जिसकी स्थिति हो । (२) उपस्थित । मौजूद ।

कि० प्र०—रहना ।

परकाज—संज्ञा पु० [सं० वर + का०] विवाह । ब्याह । शादी ।
उ०—अबल प्रचंड बरियंठ वर येप वपु बरि थके बोले
बेदेही परकाज के ।—मुलसी ।

वरकाना—क्रि० ध० [सं० वारण, वारक] (१) कोई घुरी वात न होने देना। निवारण करना। बचाना। जैसे, मगड़ा वरकाना। (२) पीड़ा, दुःखाना। बहलाना। फुसलाना। उ०—लेखत लुगी भए शुभेदिन कोवालपति मुख धाये।
दे नवीन भूपन पट सुंदर जस तस के बरकाये।—रघुराज।

वरखन—क्रि० ध० [सं० वर्ष] बरस। साल।
वरखना—क्रि० ध० [सं० वर्ष] पानी बरसना। वर्षा होना।
वरखा—संज्ञा स्त्री० [सं० वर्षा] (१) मेह गिरना। जल का बरसना। वृष्टि। उ०—का वरखा जय कृपी सुखाने।—तुलसी।
(२) वर्षाकाल। वरसात का मौसम।

वरखाना—क्रि० ध० [सं० वर्ष] (१) बरसाना। (२) ऊपर से इस प्रकार छिंसाकर गिराना कि बरसता हुआ मालूम हो।
(३) बहुत अधिकता से देना।

वरखास्त—क्रि० ध० [सं० वरखास्त] उ०—करि भूपति दूतन विद्या कियो सभा वरखास्त। भरत शत्रुह्न संग लै गए आगु रनिवास।—रघुराज।

वरखास्त—वि० [सं० वरखास्त] (१) (समा आदि) जिसका विल-जन कर दिया गया हो। जिसकी बैठक समाप्त हो गई हो। जैसे, दरबार, कचहरी, स्कूल आदि वरखास्त होना। जो बंद कर दिया गया हो। उ०—सुनिके सभासद अभिलिखित निज निज ध्यान गमनत भए। भूपति सभा वरखास्त करि किय ध्यान चति आनंदमय।—रघुराज। (२) जो मौकरी से हटा या छुड़ा दिया गया हो। मौकूक।

वरखिलाफ—क्रि० वि० [सं० वर+ख+खिलाफ] प्रतिकूल। उलटा। विरुद्ध।

वर्षार्थ—संज्ञा पुं० [सं० वर+वर्ष] सुगन्धित मसाला।

वरग—संज्ञा पुं० [सं० वरग] पत्ता। पत्र। जैसे, वरग बनकर। वरग गावहर्षी।

वरगद—संज्ञा पुं० [सं० वर, हिं० वर] वर का वेड़। पीपल गूजर आदि की जाति का एक प्रसिद्ध वृक्ष जो प्रायः सारे भारत में बहुत अधिकता से पाया जाता है। अनेक स्थानों पर यह खास से उगाता है, पर इसकी झांझा बहुत घनी और टंडी होती है, इसलिये कहीं कहीं लोग झांझा आदि के लिये इसे लगते भी हैं। यह बहुत दिनों तक रहता, बहुत जल्दी बढ़ता, और कभी कभी थाली या सौ फुट की ऊँचाई तक जा पहुँचता है। इसमें एक विशेषता यह होती है कि इसकी शाखाओं में से जटा निकलती है जो नीचे की ओर आकर जमीन में मिल जाती है और तब एक नए वृक्ष के तने का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार एक ही वरगद की शाखों में से ज्यों और पचासों जटाएँ नीचे आकर जड़ और तने का काम करने लगती हैं जिससे वृक्ष का विस्तार बहुत शीघ्रता से होने लगता है।

यही कारण है कि वरगद के किसी बड़े वृक्ष के नीचे सैकड़ों हजारों आदमी तक बैठ सकते हैं। इसके पत्तों और डालियों आदि में से एक प्रकार का दूध निकलता है जिससे घटिया रबर बन सकता है। यह दूध फोड़े कुंसियों पर, उनमें सुँद करने के लिये, और गटिया आदि के दर्द में लगाया जाता है। इसकी छाल का काटा बहुमूल्य होने में लाभदायक माना जाता है। इसके पत्ते जो बड़े और लोड़े होते हैं, प्रायः दोने बनाने और सोदा रखकर देने के काम में आते हैं। कहीं कहीं, विशेषतः अकाल के समय में, गरीब लोग उन्हें खाते भी हैं। इसमें छोटे छोटे फल लगते हैं जो गरीबों के शुरू में पकते हैं और गरीबों के खाने के काम में आते हैं। यों तो इसकी लकड़ी फुलफुली और कमजोर होती है और उसका विशेष उपयोग नहीं होता पर पानी के भीतर वह खूब ठहरती है इसलिये कुएँ की जमबट आदि बनाने के काम आती है। साधारणतः इसके सेंद्रक और चीखटे घनते हैं। पर यदि यह होशियारी से काटी और सुखाई जाय तो और सामान भी बन सकते हैं। डालियों में से निकलनेवाली मोटी जटाएँ बहँगी के डंडे, गाड़ियों के झूप और खेताँ के चोय बनाने के काम आती हैं। इस पेड़ पर कई तरह के लाख के कीड़े भी पल सकते हैं। हिंदू लोग वरगद को बहुत ही पवित्र और स्वयं ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। इसके दर्शन तथा स्पर्श आदि से बहुत पुण्य होता और दुःखों तथा आपत्तियों आदि का दूर होना माना जाता है और इसी लिये इस वृक्ष का लगाना भी बड़े पुण्य का काम माना जाता है। वैद्यक के अनुसार यह कपाय, भयुर, शीतल, गुरु, प्राहक, और कफ, पित्त, द्रव्य, दाह, शूल्या, मेह तथा योनि दोषनाशक माना गया है।

पर्याप्त—संज्ञा पुं० [सं० पर्याप्त] बहुपात। वृक्षनाय। यममिष। रक्तकल। शृंगी। कर्मज। भ्रूव। क्षीरी। वैश्रवणायास। मांवीर। जटाल। अथरोही। विटपी। स्कंदरह। महाश्याय। भृंगी। बचावास। यष्टरह। नील। बहुपाद। वनस्पति।

वरगेल—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का लंबा (पची) जिसके पंजे कुछ छोटे होते हैं और जो पात्रा जाता है।

वरचर—संज्ञा पुं० [दे०] हिमालय में होनेवाला एक प्रकार का देवदारु वृक्ष जिसकी लकड़ी भूरे रंग की होती है। घेती। परंसी। खेल।

वरचस—संज्ञा पुं० [सं० वर्षक] विन्दा। मल। (डि०)

वरछा—संज्ञा पुं० [वरचन = कटेयका] [सं० वरछा] भाटा नामक हथियार जिसे फेंककर अथवा भोंककर मारते हैं। इसमें प्रायः एक या दो लंबा छोटा का फल होता है और एक बड़ी लाठी के सिरे पर जड़ा होता है। यह प्रायः सिपाहियों या सिकारियों के काम का होता है। भाटा।

वरलैत—संज्ञा पुं० [हिं० वरत्ता + लै (प्रत्य०)] बरत्ता चलानेवाला ।
भाटा-वर्दार । उ०—सकल दोष वरलैत मे न कवहुँ सुख
मोतर ।—सूदन ।

वरजन—किं० अ० [सं० वर्जन] मना करना । रोकना ।
निवारण करना । निषेध करना ।

वरजनि—संज्ञा स्त्री० [सं० वर्जन] (१) मनाही । (२)
रुकावट । (३) रोक ।

वरजवान—वि० [फा०] जो सवाना याद हो । सुखाम्र । कंठस्थ ।

वरजोर—वि० [हिं० वर, वर + फा० जोर] (१) प्रबल ।
घलघाल । जबरदस्त । उ०—ते रनोर कपीस किलोर बड़े वर-
जोर परे फग थाप ।— तुलसी । (२) बलाचार अथवा
अनुचित वर प्रयोग करनेवाला ।

कि० वि० (१) जबरदस्ती । बलपूर्वक । (२) बहुत जोर से ।

वरजोरन—संज्ञा पुं० [सं० वर + पति + हिं० ओरन = मिथान]
(१) विवाह के समय वर और वधू के पदों में गठ बाँधा
जामा । (२) विवाह । (हिं०)

वरजोरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० वरजोर] जबरदस्ती । बलप्रयोग ।
कि० वि० जबरदस्ती से—अ. बलपूर्वक ।

वरत—संज्ञा पुं० [सं० व्रत] ऐसा उपवास जिसके करने से पुण्य
हो । परमाथे साधन के लिये किया हुआ उपवास । उप-
वास । विशेष—दे० “व्रत” । उ०—(क) नारद कदि संवाद
अपारा । तीर्थ वरत सुझा मत सारा ।—सयलसिंह । (ख)
अप सप संध्या वरत करि तजै सज्जाना कोप । कहुँ रघुनाथ
मेले नृप रती न छागी दोष ।—रघुनाथदास ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० वरता = वरता] (१) रस्सी । (२) नट की रस्सी
जिसपर चक्कर बद्ध होल करती है । उ०—(क) चीठ
वरत बाँधी अटनि बढ़ि भावत न डरात । इत उत ते पित
हुहुन के नट छीं आवत जात ।— विहारी । (ख) चीठ वरत
पे धार के मत बट नट ही काम । एग तौ आवत बाँधि
के निवट वदन अनिराम ।—रसनिधि । (ग) हुहँ कर
लीन्हँ दोऊ बैस विसवास पास चीठ की बात चढ़ी गाँव
भी नटिनी ।—देव ।

वरतन—संज्ञा पुं० [सं० वर्तन] मिट्टी या आतु आदि की इस प्रकार
बनी वस्तु कि उसमें कोई वस्तु—विशेषतः खाते पीने की—
रख सकें । पात्र । जैसे, कोटा, घाली, कटोरा, गिलास, हंडा,
परात, बड़ा, हाड़ी, मटका आदि । आँट । माँड़ा ।
संज्ञा पुं० [सं० वर्तन] बरतना का भाव । बरताव ।
व्यवहार ।

वरतना—कि० स० [सं० वर्तन] किसी के साथ किसी प्रकार का
व्यवहार करना । बरताव करना । जैसे, जो हमारे साथ
बरतेगा, उसके साथ हम भी बरतेंगे ।

कि० स० काम न करना । व्यवहार में लाना । इस्तेमाल

करना । जैसे, यह कटोरा हम बरतेंगे से बत रहे हैं, पर
चभी तक उसे का खोरे बना है ।

वरतनी—संज्ञा स्त्री० [सं० वर्तनी] (१) लकड़ी आदि की बनी एक
प्रकार की कलम जिससे विद्यार्थी लोग मिट्टी का गुलाल आदि
विचित्र वस्तुएँ तैयार कर लेते हैं, अथवा ताँबे के बेलन
यंत्र आदि भरते हैं । (२) खेल-प्रणाली । खिलने का रंग ।
वरत—वि० [फा०] श्रेष्ठतर । अधिक अच्छा ।

वरनरफ—वि० [फा० वर + फा० तरफ] (१) किनारे । अलग ।
एक ओर । (२) किसी कार्य, पद, मौक़ी आदि से
अलग । छुड़ाया हुआ । मौक़ूर । बरखास्त ।

कि० प्र०—छटना ।—देना ।

वरताना—कि० स० [सं० वर्तन या वितरण] सपका धोड़ा धोकर
देना । वितरण करना । बाँटना ।

संयो० कि०—ढालना ।—देना ।

वरताव—संज्ञा पुं० [हिं० वरतना का भाव] बरतने का रंग ।
मिलने-जुलने, बात-चीत करने या बरतने आदि का भाव
या भाव । वह कर्म जो किसीके प्रति, किसीके संबंध
में किया जाय । व्यवहार । जैसे, (क) वे छूटे बड़े सब के
साथ एक सा बरताव करते हैं । (ख) जिस आदमी का
बरताव अच्छा न हो, उसके पास किसी भले आदमी को
जाना न चाहिए । विशेष—दे० “व्यवहार” ।

वरती—संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार का पेड़ ।

वि० [सं० वर्ति, हिं० वर्ती] जिसने उपवास किया हो ।
जिसने व्रत रखा हो ।

संज्ञा स्त्री० दे० “वर्ती” ।

वरतेला—संज्ञा स्त्री० [दे०] लुंठाहों की यह लूँटी जो कापे
की दाहिनी ओर रहती है और जिसमें ताने की कल रस्से
के लिये उनमें बाँधी हुई अंतिम रस्सी या जोने का
दूसरा सिरा ‘पिंडा’ या ‘बघेडा’ (कापे के पीछे लगी
हुई दूसरी लूँटी) पीछे से घुमाकर लाया जाता
है । यह लूँटी कापे की दाहिनी ओर घुमने-
वाले के दाहिने हाथ के पास इस लिये रहती है कि जिसमें
वह आवश्यकतानुसार जोते को छोड़ा करता रहे और
उसके कारण ताना सामे बढ़ता भावे ।

वरतोरा—संज्ञा पुं० [हिं० वर + तेरा] वह कुली या कोठा जो
बाल उलटने के कारण हो । उ०—(क) अनु. पुद्गल यव
पाक बाँधेला ।—तुलसी । (ख) साते सन पेलियत मोर वर-
तोरा मिधु-कूटि कूटि निरुपम है सोन राम राग को ।—
तुलसी ।

वरदान—कि० स० दे० “वरदान” ।

वरदान—संज्ञा पुं० [सं० वर + दान] कर्मकाण्ड युक्त शास्त्रों के अर्थ

की एक रस्ती जो पगिया में बँधी रहती है । “नयिया”
भी इसीमें बँधी रहती है ।

संज्ञा पुं० [फा० बद बांन] तैज हवा । (कडार)

वरदधाना-क्रि० सं० [हिं० वरदान] वरदान का प्रेरणार्थक रूप ।

बरदाने का काम दूसरे से कराना ।

वरदा-संज्ञा स्त्री० [देग०] दक्षिण भारत की एक तरह की रुई ।

संज्ञा पुं० दे० “वरघा” ।

वरदाना-क्रि० सं० [हिं० वरणा = वर] गौ, भैंस, बकरी, घोड़ी
आदि पशुओं का उनकी जाति के नर-पशुओं से, सेवान
वराह कराने के लिये संयोग कराना । जोड़ा खिडाना ।
जुफ़ी खिडाना ।

संयोग-क्रि०—डालना ।—देना ।

क्रि० अ० गौ, भैंस, बकरी, घोड़ी आदि पशुओं का अपनी
जाति के नर-पशुओं से गर्भ रखाना । जोड़ा खाना ।
जुफ़ी खाना ।

संयोग-क्रि०—जाना ।

परदाफरोश-संज्ञा पुं० [फा०] गुलाम बेचनेवाला । दासों को
खरीदने और बेचनेवाला ।

परदाफरोशी-संज्ञा स्त्री० [फा०] गुलाम बेचने का काम ।

परदार-वि० [फा०] (१) ले जानेवाला । बहन करनेवाला ।
ढोनेवाला । धारण करनेवाला । जैसे, बहुरम-परदार ।
(२) पालन करनेवाला । माननेवाला । जैसे, फर-
मांशदा ।

परदाश्त-संज्ञा स्त्री० [फा०] सहने की क्रिया या भाव । सहन ।

परदुआ-संज्ञा पुं० [देग०] घरमें की तरह का एक बीजार
जिससे छोटा संज्ञा जाता है ।

परदैर-संज्ञा पुं० [सं० बद + और (प्रत्य०)] गीघों और
बैलों के बाँधने का स्थान । मवेशीस्थान । गोशाला ।

वरघ, वरघा-संज्ञा पुं० [सं० वरगर्द] वेल ।

वरघधाना-क्रि० सं० दे० “वरदधाना” ।

वरघधाना-क्रि० सं० दे० “वरदाना” ।

क्रि० अ० दे० “वरदाना” ।

वरघी-संज्ञा पुं० [देग०] एक प्रकार का चमड़ा ।

वरनन-संज्ञा पुं० दे० “वरणन” ।

वरनना-क्रि० सं० [सं० वर्णन] वर्णन करना । बयान करना ।

व.—यहाँ रघुवर विमल जस जो दासक फज पारि ।—
हुरस्ती ।

वरना-संज्ञा पुं० [सं०] लंप का वह ऊपरी भाग जिसमें बत्ती
लगवाई जाती है । बत्ती इसी भाग में जलती है और इसीके
ऊपर से होकर प्रकाश बाहर निकलता और फैलता है ।

वरना-क्रि० सं० [सं० वरण] (१) घर या घर के रूप में प्रवेश
करना । पति या पत्नी के रूप में धर्मीकरण करना ।

व्याहना । व०—(क) जो एहि बरह बमर से होई ।
समर भूमि तेहि जीत न कोई ।—तुलसी । (ख) मरे ते
अपसरा आह ताकी बाति भाजिहैं देखि अब मोह नारी ।—
सूर । (२) कोई काम करने के लिये किसीको चुनना या
ठीक करना । नियुक्त करना । व०—बरे विप्र चहुँ वेद केर
रविकुल गुरु ज्ञानी ।—तुलसी । (३) दान देना ।

‡ क्रि० अ० दे० “बलना” । व०—झोंपाई सीसी सुलवि
बिरह बनि विजलात । बीचहि सुखि गुलाब गौ छुँटो छुई
न गात ।—बिहारी ।

‡ क्रि० सं० दे० “बटना” ।

वरनाल-संज्ञा पुं० [हिं० वरना] जहाज़ में वह परनाला या
पानी निकलने का मार्ग जिसमें से उसका फालतू पानी
निकलकर समुद्र में गिरता है । (लरा०)

वरनाला-संज्ञा पुं० दे० “परनाला” । (लरा०)

वरनेता-संज्ञा स्त्री० [हिं० वरना = वरण करना + नेत (प्रत्य०)]

विवाह की एक रस्म जो विवाहमुहूर्त से कुछ पहले होती
है और जिसमें कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्षवालों को प्रवने
यहाँ बुलाते और विवाहमंडप में उन्हें बैठाकर उनसे
गणेश आदि का पूजन कराते हैं ।

वरपा-वि० [फा०] खड़ा हुआ । उठा हुआ । मचा हुआ । (इस
शब्द का प्रयोग प्रायः कगड़, फसाद, फाफन, कृपामत्त
आश्रित अशुभ बातों के लिये ही होता है ।)

वरफ-संज्ञा स्त्री० दे० “वरफ” ।

वरफी-संज्ञा स्त्री० [फा० वरफ] एक प्रकार की प्रसिद्ध मिठाई जो
चीनी की चाशनी में गरी या पेठे के महीन महीन टुकड़े,
पीसा हुआ बदाम, पिस्ता या सूँगा आदि अथवा खोवा
डालकर जमाई जाती है और पीछे से छोटे छोटे चाँकोर
टुकड़ों के रूप में काट ली जाती है । इसकी जमावट आदि
प्रायः वरफ की तरह होती है, इसी लिये यह वरफी
कहलाती है ।

वरफीदार कनारी-संज्ञा स्त्री० [फा० वरफीदार + दाय० कनारी]
वह स्थान जहाँ सफेद रंग के कठि अधिकता से मांग
में पड़ते हों (पालकी के कडार) ।

वरफी संदेस-संज्ञा पुं० [फा० वरफी + सं० संदेस] वरफी की
तरह की एक प्रकार की चपला मिठाई ।

वरवंड-वि० [सं० वरवंड] (१) बलवान् । ताकतवर । (२)
प्रतापशाली । (३) उर्दू । उद्भूत । (४) प्रचंड । प्रखर ।
बहुत तेज ।

वरवत-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का यात्रा ।

वरवर-संज्ञा स्त्री० [अ०] व्यर्थ की बातें । बक बक । व०—
सुनि भूयुपति के बैन मनही मन मुलक्यात मुनि । शय
शिन यह है न, नृया बकत वरवर बचन ।—रघुगज ।

संज्ञा पु० दे० "वर्चर" ।

वरचरी-संज्ञा स्त्री० [सं० वर्चरी] (१) वर्चर या वर्चरी नामक देश । (२) एक प्रकार की बकरी ।

वरचर-क्रि० वि० [सं० वर + चर] (१) बलपूर्वक । जबरदस्ती । हठात् । (२) व्यर्थ । फुजूर । उ०—(क) सेठल में कोठकाकी गुलियाँ । हरि हारे जीते श्रीदामा वरचर ही क्यों करत रिलियाँ ।—गूर ।

वरचादि-वि० [फा०] (१) वध । चौपट । तथाह । जैसे, घर पायाह होना । (२) व्यर्थ खर्च किया हुआ । जैसे, सैकड़ों रुपये वरचाह कर चुके, कुछ भी काम न हुआ । तुम्हें क्या मिल जायगा ?

वरचादी-संज्ञा स्त्री० [फा०] नाश खराबी । तथाही । जैसे, इस कमरे में तो हर तरह तुम्हारी वरचादी ही है ।

वरम-संज्ञा पु० [सं० वरं] निरह बकर । कषप । खरी प्राण । उ०—असन विनु विनु वरम विनु रण धरयो कठिन कुघार्य ।—तुलसी ।

वरमा-संज्ञा पु० [दे०] [स्त्री० अर्य० वरमा] लकड़ी आदि में छेद करने का, लोहे का बना एक प्रसिद्ध औजार । इसमें लोहे का एक लुकीला छद्द होता है जो पीछे की ओर लकड़ी के एक दस्ते में इस प्रकार लगा होता है कि सहज में खूब अच्छी तरह घूम सके । जिस स्थान पर छेद करना होता है, उस स्थान पर लुकीला कोना लगाकर और दस्ते के सहारे उसे दबा कर रस्ती की गारड़ियों की सहायता से धधका और किसी प्रकार खूब जोर जोर से घुमाते हैं जिससे यहाँ छेद हो जाता है ।

संज्ञा पु० [सं० अर्यदेश] भारत की पूर्वी सीमा पर, बंगाल की खाड़ी के पूर्व और आसाम तथा चीन के दक्षिण का एक पहाड़ी प्रदेश जो पहले यहाँ के देशी राजा के अधिकार में था, पर अब चीनरों के अधिकार में आ गया है और भारतवर्ष में मिला लिया गया है । इस प्रदेश में तांबे और जंगल बहुत अधिकता से हैं । यहाँ चावल बहुत अधिकता से होता है । इस देश के अधिकांश निवासी बौद्ध हैं ।

वरमी-संज्ञा पु० [हि० वरमा + ई (अर्थ०)] वरमा देश का निवासी । वरमा का रहनेवाला ।

संज्ञा स्त्री० वरमा देश की भाषा ।

नि० वरमा-संघी । वरमादेश का । जैसे, वरमी चावल ।

संज्ञा स्त्री० वीची नाम का पेड़ । सिंगप-दे० "वीली" ।

वरम्होटा-संज्ञा स्त्री० [हि० वरमा (दे०) + भी० भोट = नाव] प्रायः बाकीस हाथ लंबी एक प्रकार की नाव जिसका विपुल भाग अपेक्षाकृत अधिक चौड़ा होता है । इसके

बीच में एक बड़ा कमरा होता है और पीछे की ओर एक यंत्र बना होता है जिसे बाह्य आग्नी पर से चलाते हैं ।

वरम्हा-संज्ञा पु० (१) दे० "वल्हा" । (२) दे० "वरमा" ।

वरम्हाना-क्रि० सं० [सं० अर्य] (आश्रय का) आशीर्वाद देना । उ०—जाति भोट कत चौधुन लावति । शायं राज बरम्हावसि ।—जायसी ।

वरम्हाव-संज्ञा पु० [सं० अर्य + अव (अर्थ०)] आश्रय (२) आश्रय का आशीर्वाद । उ०—(क) ठाढ़ देति राजा राज । यारु हाथ दीन्ह वरम्हाऊ ।—जायसी । (ख) अष्ट अज्ञा की भोट थी भाऊ । यारु हाथ दिने वरम्हाऊ ।—जायसी ।

वरदे-संज्ञा स्त्री० दे० "वरे" ।

वरचट-संज्ञा स्त्री० दे० "विरुती" (रेगा) ।

वरचल-संज्ञा पु० [अर्थ०] भेड़ की एक जाति । इस जाति के भेड़ हिमालय पर्वत के उत्तर में सुमिता से किर्गिज और कमाऊ से शिकम तक पाई जाती है । यह पंजाब के पर्वत भेड़ों में से एक है । इसके नर के सिर पर एक सींग होती है और यह लोहाई में खूब दबकर लगता है । इसका ऊन यद्यपि सिंदान की भेड़ों से अच्छा होता है, तभी मोटा होता है और कमल आदि बनाने के काम में आता है । इसका मांस पाने में रुखा होता है ।

वरचा-संज्ञा पु० दे० "वरच" ।

वरचै-संज्ञा पु० [दे०] १६ मात्राओं का एक वृद्ध जिसमें १ और ७ मात्राओं पर यति और दंत में "जगय" होता है इसे "ध्रुव" और "कुरंग" भी कहते हैं । उ०—मोतिन न किनरिया विधुरे बार ।

वरचना-क्रि० अ० दे० "वरचना" ।

वरपा-संज्ञा स्त्री० [सं० वर्षा] (१) पानी बरसना । बृष्टि । उ०—का वरपा जब रूपो मुलागे । समय चुकि पुनि पवताने ।—तुलसी । (२) वर्षाकाल । बरसात ।

वरपाना-क्रि० सं० दे० "वरापाना" ।

वरपासन-संज्ञा पु० [सं० वर्षा] १० वर्ष की मोरम समझी । वतना अनाज आदि जितना एक मनुष्य अपने एक परिवार एक वर्ष में खा सके ।

वरस-संज्ञा पु० [सं० वर्ष] पारस महीनों अथवा ११२ दिनों का समूह । वर्ष । साल । जैसे, (क) दो वरस हुए, (ख) बार आई थी । (ख) अभी तो वह बार वरस का पड़ा है । विरोध-दे० "वर्ष" ।

यौ०—वासगाँव ।

मुहा०—बरस दिन का दिन = ऐसा दिन (जो बार या बार आदि) भी साल भर में एक ही बार आता हो । बड़ा शिवराज वरसगाँव-संज्ञा स्त्री० [हि० वरस + गाँव] वह दिन जिसमें शिवराज

का जन्म हुआ हो। वह दिन जिसमें किसीकी थायु का एक बरस पूरा हुआ हो। जन्मदिन। सालगिरह। उ०—कुछ न मिला इसको बरसगाँव से। एक बरस और गया गाँव से। विशेष—भायरे आदि की तरफ धर में एक तागा रहता है। जिसके नाम का यह तागा होता है उसके एक एक जन्म-दिन पर इस तागे में एक एक गाँव देते जाते हैं। इसी से जन्मदिन को वर्षगाँव कहते हैं। प्राचीन समय में भी ऐसी ही प्रथा थी।

बरसना—क्रि० सं० [सं० वर्षण] (१) साक्षात् से जल की बूँदों का निरंतर गिरना। वर्षा का जल गिरना। मंद पड़ना। (२) वर्षा के जल की तरह ऊपर से गिरना। जैसे, फूल बरसना। (३) बहुत अधिक मान संख्या या मात्रा में चारों ओर से आकर गिरना, पहुँचना या प्राप्त होना। जैसे, शय्या बरसना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—बरस पड़ना = बहुत अधिक कुछ होकर जाटने, बपटने लगना। बहुत कुछ घुरी भली बातें कहने लगना।

(४) बहुत अच्छी तरह फलकना। खूब प्रकट होना।

जैसे, उनके चेहरे से शरारत बरसती है। शोभा बरसना।

(४) दाढ़ें हुए गवले का इस प्रकार श्वा में वड़ाया जाना जिसमें दाना अलग और भूसा अलग होजाय। ओसाया जाना। डाली होना।

बरसाहत—संज्ञा स्त्री० [सं० बर + तावति] जेठ वदी अनावस जिस दिन खियाँ घटसावित्री का पूजन करती हैं।

बरसाइन—संज्ञा स्त्री० [हिं० बरस + आइन (प्रत्य०)] प्रतिवर्ष बचा देनेवाली गाय। वह गी जो हर साल बचा दे।

बरसाऊ—वि० [हिं० बरसना + भाऊ (प्रत्य०)] बरसनेवाला। वर्षा करनेवाला (बादल आदि)।

बरसात—संज्ञा स्त्री० [सं० वर्षा, हिं० बरसना + भात (प्रत्य०)] पानी बरसाने के दिन। सावन-भादों के दिन जब कि खूब वर्षा होती है। वर्षाकाल। वर्षाऋतु।

बरसाती—वि० [सं० वर्षा] बरसात का। बरसात संबंधी। जैसे, बरसाती पानी, बरसाती मंडक।

संज्ञा पुं० [सं० वर्षा, हिं० बरसात + ई (प्रत्य०)] (१) घोड़े का ख्यायी रोग जो प्रायः बरसात में होता है। (२) एक प्रकार का आँख के नीचे का घाव जो प्रायः बरसात में होता है। (३) पैर में दोनेवाली एक प्रकार की कुंसियाँ जो बरसात में होती हैं। (४) चरस पत्ती। चीनी मोर। तन मोर। (५) एक प्रकार का ठोला कपड़ा जिसे पहन केने से शरीर नहीं भीगता।

बरसना—क्रि० सं० [हिं० बरसना का प्रे०] (१) आकाश से जल की बूँदें निरंतर गिरना। वर्षा करना। घुटि करना। (२)

वर्षा के जल की तरह लगातार बहुत सा गिरना। जैसे, फूल बरसना। (३) बहुत अधिक संख्या या मात्रा में चारों ओर से प्राप्त करना। (४) दाढ़ें हुए घनाज के इस प्रकार हवा में गिराना जिससे दाने अलग और भूसा अलग हो जाय। ओसाना। डाली देना।

संयो० क्रि०—देना।—डालना।

बरसायत—संज्ञा स्त्री० [सं० बर + यत] शुभ घड़ी। शुभ मुहूर्त।

संज्ञा स्त्री० दे० “बरसाहत”।

बरसाचना—संज्ञा पुं० दे० “बरसाना”।

बरसिंघा—संज्ञा पुं० [बर + हिं० सींग] यह मेल जिसका एक सींग खड़ा और दूसरा नीचे की ओर मुका हो। मैना।

संज्ञा पुं० दे० “बारहसिंगा”।

बरसी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बरस + ई (प्रत्य०)] यह आद जो किसी मृतक के वहीरय से उसके मरने की तिथि के ठीक एक बरस बाद होता है। मृतक के वहीरय से किया जाने वाला प्रथम धार्मिक आद।

बरसू—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का पृथ।

बरमेदिया—संज्ञा पुं० [हिं० बरस + मेदिया (प्रत्य०)] पूरे साल भर के लिये रखा हुआ नौकर। वह नौकर जो साल भर के लिये रखा जाय।

बरसाँड़ी, बरसाँदी—संज्ञा स्त्री० [बरस + बाँदी (प्रत्य०)] धार्मिक कर। प्रति वर्ष लिया जानेवाला कर।

बरहंटा—संज्ञा पुं० [सं० अंशका] बड़ी कटाई। कड़वा भंडा।

पर्वो—जाताँकी। बृहती। महती। सिंहा। राहिका। स्पूल कैदा। श्रुभंडा।

बरह—संज्ञा पुं० [हिं०] घुब आदि का पत्ता।

बरहना—वि० [का०] जिसके शरीर पर कोई वस्त्र न हो। नंगा। नग्न।

बरहम—वि० [का०] (१) जिसे गुस्सा आगया हो। क्रुद्ध।

(२) अवैजित। मझका हुआ।

बरह्ना—संज्ञा पुं० [हिं० बरह] [का० अरप० बरही] खेतों में सिंचाई के लिये बनी हुई छोटी नाली। उ०—तरह तरह के पत्ती कठोल कर रहे थे, बरहों में चारों तरफ जल बह रहा था।—रूपधोर।

संज्ञा पुं० [दे०] मोटा रस्सा।

बरही—संज्ञा पुं० [सं० बर्हि] (१) मधूर। मोर। (२) साही नाम का जंगली जंतु। उ०—पुनि शत सर छाती मई दीन्हे। वीसहु भुज बरही सम कीन्हे।—विधाम। (३) अम्रि। आम। (हिं०)। (४) मुरगा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बारह] (१) प्रसूता का वह स्थान तथा अन्त्याभ्य क्रियाएँ जो संतान उत्पन्न होने के बाद होने लगी होती

है। (२) सतान उत्पन्न होने के दिन से बारहवां दिन। संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) परधर आदि भारी बोझ उठाने का मोटा रस्ता। (२) जलाने की बकड़ी का भारी बोझ। ईंधन का बोझ। उ०—(क) शक्ति भक्तों से बोली दिनदि प्रति घरही डारें।—दाभाजी। (ख) नित उठ नौवा नाव चढ़त है घरही बेरा चारि उठी।—कबीर।

घरहीपीड़ + संज्ञा पुं० [सं० बर्हिषड] मोर के पंखों का घना हुआ मुकुट। मोरमुकुट। उ०—वेषु वज्राय धिल्लास कियो वन पैरी धेनु घुलावत। घरहीपीड़ हाम गुंजामणि अद्भुत वेप वभावत।—सूर।

घरहीमुख + संज्ञा पुं० [सं० बर्हिमुख] देवता।

घरही—संज्ञा पुं० [हिं० घरही] सतान उत्पन्न होने के दिन से बारहवां दिन। घरही। इसी दिन नामकरण होता है। विशेष—दे० “घरही”। उ०—चारों आहून नाम करन हित वरहीं साज सजायो।—भुवाज।

घरांडल—संज्ञा पुं० [देश०] (१) जहाज के उन रस्सों में से कोई रस्सा जो मस्ल के सीधा लट्ठा रखने के लिये उसके चारों ओर, ऊपरी सिरे से लेकर नीचे जहाज के भिन्न भिन्न भागों तक बाँधे जाते हैं। घरांडा। घरांडाल। (२) जहाज में इसी प्रकार के और कामों में जानेवाला कोई रस्सा। (लश०)।

घरांडा—संज्ञा पुं० (१) दे० “वसामदा”। (२) दे० “घरांडल”।

घरांडाल—संज्ञा पुं० दे० “घरांडल”।

घरांडी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की बिछावती शराय। मांडी।

घरा—संज्ञा पुं० [सं० वरा] उद्द की पीसी हुई ढाल का बना हुआ, त्रिकोण के आकार का एक प्रकार का पकान जो घी या तेल में पकाकर बोही अथवा दही, इसकी के पानी आदि में ढालकर खाना जाता है। वड़ा। उ०—घरी घरा बेसन बड़ भक्तिन व्यंजन विविध अननयियाँ। डारत प्रात लेत अपने कर रवि मानन दधि दुनियाँ।—सूर।

घरा—संज्ञा पुं० [सं० वर] वरगढ़ का पेड़।

घरा—संज्ञा पुं० [सं० वर] भुवदंत पर पहनने का एक धारूपण। गूँटा। टाँड़।

घराई—संज्ञा स्त्री० दे० “घराई”। उ०—सरथा गगति की घराई भले साथि परे बाधिमे सुदृष्टि मिलकास सम तूल हैं।—प्रियादास

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का वारा।

घराक—संज्ञा पुं० [सं० वरक] (१) शिप। (२) युद्ध। लड़ाई। वि० (१) शोधनीय। शोध करने के योग्य। (२) नीच। अधम। पापी। दुस्त्रिय। (३) शत्रुता। बेचना। उ०—धीर गभीरमन धीर काक तत्र के घराका घय विगत सांरा।—गुलसी।

घराड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० वार (देग)] वार वीर माने की गई।

घरात—संज्ञा स्त्री० [सं० वराता] (१) विवाह के समय घर के माथे कन्या पचवालों के यहाँ जानेवाले लोगों का समूह जिसमें कोमा के लिये बाने, दाभी, घोड़े, जैट या धुरमा आदि भी रहती हैं। घर पच के लोग जो विवाह के समय घर के साथ कन्यावालों के यहाँ जाते हैं। प्रेत।

क्रि० प्र०—घाना।—ज्ञान।—निकलना।—मजना।—सजाना।

(२) कहीं एक साथ जानेवाले बहुत से लोगों का समूह। (३) उन लोगों का समूह जो मुरारे के साथ रमशान तक जाते हैं। (क०)

घराती—संज्ञा पुं० [हिं० वरात + ई (प्रत्यय)] (१) घरात में जाने साथ कन्या के घर तक जानेवाला। विवाह में घर-पच की धोर से सम्मिलित होनेवाला। (२) शय के साथ रमशान तक जानेवाला। (व०)

घरातकोट—संज्ञा पुं० [सं० माउमकोट] (१) यह बड़ा कोट का लयादा जो जाड़े या बरसात में सिपाही लोग अपनी धर के ऊपर पहनते हैं। (२) दे० “गोबरकोट”।

घराता—क्रि० अ० [सं० वराय] (१) प्रसंग पड़ने पर भी कोई बात न कहना। मतलब की बात छोड़कर और और बातें कहना। वचाना। उ०—बैठी रसुनी की तोमैं मना सबै के सु नैनन मक्ति बसै। यूँते ते बात वार वही मन ही मन बेशवारा कहै।—हेराय। (२) बहुत सी वस्तुओं या बातों में से किसी एक बात या बात से किसी कारण छोड़ देना। जान भूमकर छोड़ना। वचाना। उ०—मारे डुँध के चरन के चिह्न बराह वष पय धरति कहा भी गिय जानि कै।—तुलसी। (३) रचा करना। हिकायत करना। वचाना। उ०—हम सब भक्ति करव सेवकाई। करि वेहरि अहि दांघ बाराई।—तुलसी। (४) खेतों में से खेतों काटि को भगाना।

क्रि० स० [सं० वराय] बहुत सी चीजों में से अपने इच्छानुसार कुछ चीजें चुनना। देख देखकर चयन करना। छानना। उ०—(क) आसिय आयसु पाह बनि सीव चरन सिर नाह। तुलसी रावन बाग कल छात बराह बाराह।—तुलसी। (ख) यादव धीर घराह बाराई हक हलधर हक चापे ओर।—सूर।

क्रि० स० दे० “बाटना” (जलाना)। उ०—देशे गुण विषो भीजे जल सो प्रधुरि करि करी दिव्य बाती दर्द दिने में बराह कै।—प्रियादास।

क्रि० अ० [सं० वरी] (१) सिचाई का पानी एक वाली से दूसरी वाली में खे जाना। (२) खेतों में पानी देना।

धराधर-वि० [फा० धर] (१) मान, मात्रा, संख्या, गुण, मध्य, मूल्य आदि के विचार से समान। किसीके मुकाबले में उससे न कम, न अधिक। तुल्य। एक सा। जैसे, (क) चौड़ाई में दोनों काढ़े धराधर हैं। (ख) सिर के सब बाल धराधर कर दो। (ग) एक रुपया चार चवसियों के धराधर है। (घ) इसके चार धराधर हिरते कर दो। (२) समान पद या मर्यादावाला। जैसे, (क) वहाँ सच आदमी धराधर हैं। (ख) तुम्हारे धराधर भूढ़ा झूठने से न मिलेगा।

मुहा०—धराधर का = धराधरी करनेवाला। समान। जैसे, धराधर का लड़का है, उसे मार भी तो नहीं सकते।

(३) जिसकी सतह ऊँची नीची न हो। जो खुरखुरा न हो। समतल।

मुहा०—धराधर करना = समस्त कर देना। अंत कर देना। न रहने देना। जैसे, वन्होंने दोही चार धरस में अपने बहों की सब कमाई धराधर कर दी।

(४) जैसा चाहिए वैसा। ठीक।

क्रि० वि० (१) लगातार। निरंतर। बिना रुके हुए। जैसे, धराधर आगे बढ़ते चले जाना। (२) एक ही पंक्ति में। एक साथ। जैसे, सब सिपाही धराधर चलते हैं। (३) साथ। (क०)। जैसे, हमारे धराधर रहना। (४) सदा। हमेशा। जैसे, आपसो धराधर यही कहा करते हैं।

धराधरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० धराधर + ई (प्रत्य०)] (१) धराधर होने की क्रिया या भाव। समानता। तुल्यता। (२) सादर्य। (३) मुकाबला। सामना।

धरामध-वि० [फा०] (१) जो बाहर निकला हुआ हो। बाहर आया हुआ। सामने आया हुआ। (२) खोई हुई, चोरी गई हुई या न मिलती हुई वस्तु जो कहीं से निकाली जाय। जैसे, चोरी का माल धरामध करना।

क्रि० प्र०—कामा।—दोना।

संज्ञा स्त्री० (१) वह जमीन जो नदी के हट जाने से निकल पाई हो। दियारा। गंग-धरा। (२) निकासी। धरामदनी। उ०—वहो तुम्हारे धरामध हूँ के लिखि कीने है साफ।—सूर।

धरामदा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मकानों में वह क्षाया हुआ तंग या लंबा भाग जो मकान की सीमा के कुछ बाहर निकला रहता है और जो खेतों, रेलिंग या धुड़िया आदि के आधार पर उठरा हुआ होता है। जाला। छत्रा। (२) मकान के आगे का वह स्थान जो ऊपर से क्षाया या पड़ा हो पर सामने या तीनों ओर खुला हो। दाटान। घोसारा।

धरामीटर-संज्ञा पुं० दे० "धैरोमीटर"।

धरामहण, धरामहनी-संज्ञा पुं० दे० "धामहण"।

धराय-अव्य० [फा०] वास्ते। लिये। निमित्त। जैसे, धराय खुराक, धराय नाम।

धरायन-संज्ञा पुं० [सं० धर + आन (प्रत्य०)] वह लोहे का छल्ला जो व्याह के समय दूधरे के हाथ में पहनाया जाता है। इसमें रत्नों के स्थान में गुंजा लगे रहते हैं। उ०—

विहंसत आव लोहारिनि हाथ धरायन हो।—तुलसी।

धराय-संज्ञा पुं० [देग०] (१) एक प्रकार का जंगली जानवर।

(२) वह चंदा जो गाँवों में घर पीछे लिया जाता हो।

धरायक-संज्ञा पुं० [हिं०] धीरा।

धरायी-संज्ञा स्त्री० [देग०] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जो दोषहर के समय गाई जाती है। कोई कोई इसे भैरव राग की रागिनी मानते हैं।

धरायीयाम-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक संकर राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

धराय-संज्ञा पुं० [हिं० धराना + भाव (प्रत्य०)] 'धराना' का भाव। खवास। पारहेज। विधारण। उ०—मानहुँ विवि खंजन लरे शुक्र कसत धराय।—विद्याम।

धराय-संज्ञा पुं० [सं० पोसक ?] एक प्रकार का कपूर जो भीम-सेमी कपूर भी कहलाता है। विशेष—दे० "कपूर"।

संज्ञा पुं० [सं० मेघ] जहाँन में पाल की वह धरती जिसकी सहायता से पाल को घुमाते हैं।

धराह-संज्ञा पुं० दे० "वराह"।

क्रि० वि० [फा०] (१) के तौर पर। जैसे, धराह मेहर-बानी। (२) जरिये से। द्वारा।

धराही-संज्ञा स्त्री० [देग०] एक प्रकार की घड़िया जल।

धरिआत-संज्ञा पुं० दे० "धरात"।

धरिच्छा-संज्ञा पुं० दे० "धरच्छा"।

धरियार्ह-क्रि० वि० [सं० वक्षत] बखाव। इठान। जबरदस्ती से। उ०—संजिन पुर देला बिनु सार्ह। मो कहैं दीन राज धरियार्ह।—तुलसी।

धरियारा-वि० [हिं० वल + आर (प्रत्य०)] चली। चलवान्। मजबूत।

धरियारा-संज्ञा पुं० [सं० वला] एक छोटा काढ़दार वृत्तनाम पोधा जो हाथ सवा हाथ ऊँचा होता है। परिघा इसकी तुलसी की सी पर कुछ बड़ी और खुलते रंग की होती हैं। इसमें पीले पीले फूल लगते हैं जिनके फट जाने पर कोदों के से बीज पड़ते हैं। पोधा की जड़ दश के काम में बहुत आती है। वैद्यक में धरियारा कडुवा, मधुर, पिप्पलितसार-नाशक, बलवीर्यवर्द्धक, पुष्टिकारक और कफ-रोधकविशेषक माना जाता है। इसके पीधे की छाल से बहुत अच्छा रेशा निकलता है जो थनेक कार्यों में धा

सकता है। इस पीपे को खिरौटी, यीजर्वच और वनमेषी भी कहते हैं।

पर्या०—वायुपुत्री। समांश। विडला। बलिनी। बला। थोदनी। समंगा। भद्रा। खरककष्टिका। फल्यायिनी। भद्रवला। मोराभारी। बलाढ्या। नीतपाकी। वायव्यादी। निलया। वाटिका। खरपष्टिका। थोदनाहूया। वाताही। फनका। रक्ततुला। कूरा। प्रहासा। धारिया। फणित्तिका। जयंती। कठोरपष्टिका।

परियाल—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पतला बाँस। बर्सी। परिला—संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा, बरा] पकीड़ी या चड़े की तरह का एक पकवान। उ०—घने घनेक छत्र पकवान। परिल इडारर खादु महाना।—रघुनाथ।

परिलला—संज्ञा पुं० [देश०] सजीसार।

परिप्रेक्ष—वि० [सं० परितः] (१) बलवान। बली। (२) प्रबुद्ध। प्रतापी।

परिया०—संज्ञा स्त्री० दे० “वर्षा”। उ०—ये स्यामघन वृक्षमिति प्रेमपुंज परिषा रस पीये।—हरिदास।

परिष्ठ—वि० दे० “वर्षिष्ठ”।

परिसा—संज्ञा पुं० [सं० वर्ष] वर्ष। साल। उ०—(क) पाँच बरिस मई भई सो बारी। दीगइ पुरान पड़इ पदसारी।—जायसी। (ख) तापस वेप विशेष बढ़ासी। चौदह बरिस राम बनवासी।—तुलसी।

परी—संज्ञा स्त्री० [सं० पदी, प्रा० पद्मी] (१) गोबल दिकिया। पदी। (२) उदं या मूँग की पीठी के सुत्ताए हुए छोटे छोटे गोबल टुकड़े जिनमें पेटे या बालू के कठरे भी पड़ते हैं। ये घी में तलकर पकाए जाते हैं। उ०—रापर, बरी, अचार परम शुचि। अदरपर और नियुवन हूँ है रुचि।—सूर। (३) यह मेधा या मिठाई जो दूध की धोर से तलहिन के पहा जाता है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास या कदम जिसके धाने को घास में मिलाकर राजपूताने की और गरीब लोग खाते हैं।

वि० [का०] मुक्त। छुटा हुआ। बचा हुआ। जैसे, हलनाम से परी।

क्रि० प्र०—काना।—होना।

* १ वि० दे० “बली”। उ०—धरम निपात बलह सलभाया। दूर परी एक सम राजा।—जायसी।

परीसा—संज्ञा पुं० दे० “वर्ष”। उ०—(क) जनि लपनसम देहिं अलीमा। निपहु सुनी सप लाख बरीसा।—तुलसी। (ख) नंद महर के लाडिले तुम जीमो कोटि बरीस।—सूर। परा०—अर्थ० [सं० परा=प्रेम, भरा] भले ही। ऐसा हो जाय तो हो जाय। चाहे। कुछ हजे नहीं। कुछ पराया नहीं।

उ०—(क) सूरदास बर उपहास सहोई सूर मेरे नंदसुवन मिले तो पै कहा। चाहिपू।—सूर। (ख) परती मारहिं लपन पै जब लगि न पायें पकारिहैं। तब जनि न तुलसीदास नाथ कृपालु पारें बताहिहैं।—तुलसी।

परश्या—संज्ञा पुं० [सं० वृक्ष, प्रा० वृक्ष] (१) वृक्ष। पशरी। जिसका पत्तीपवीत है। गया हो पर जो पुरुष न दुष्टा हो। (२) माक्षयकुमार। (३) उपनयन संस्कार। जनेऊ का संस्कार।

संज्ञा पुं० [हिं० बरना] मूँग के छिलके की बनी हुई बड़ी-जिससे डलियाँ आदि बनाई जाती हैं।

वरुका—अर्थ० दे० “वर”।

वरुन०—संज्ञा पुं० दे० “वरुण”।

वरुनी—संज्ञा पुं० [सं० वरुण] एक लीला सुंदर पेंड जिसकी पत्तियाँ साल में एक बार झड़ती हैं। फुसम फाड़ में बा पेड़ फूले से लद जाता है। फूल सफेद और सुगंधित होते हैं। लकड़ी बिहनी और मजबूत होती है जिसे खाकर चरखी अच्छी चीजें बनती हैं। डोल, कंधियाँ और लिखने की पटियाँ इन लकड़ी की चरखी बनती हैं। बरना भारतवर्ष के सभी प्रांतों में होता है और बरसात में बोमों से बगता है। इसे बरना और बरालसी भी कहते हैं।

वरुनी—संज्ञा स्त्री० [सं० वरुण=वैष्णव] पलक के किनारे पर के धाल। उ०—अंजन वरुनी पनक के लोचन दान बलाप।

वरुला—संज्ञा पुं० दे० “बला”।

वरुवा—संज्ञा पुं० दे० “वरुण”।

वरुध—संज्ञा पुं० दे० “वरुण”।

वरुयी—संज्ञा स्त्री० [सं० वरुण] एक नदी जो सई और शोतरी के बीच में है। उ०—पहुरि वरुयी सरित लगि उठरि गोमती आसु। निरखो साल विद्याल बन विविध विविग विद्याल।—धुराज।

वरेंडा—संज्ञा स्त्री० [सं० वरंज=गेहा, गेह लकड़ी] (१) लकड़ी का वह मोटा गोल लट्टा जो खपरैल या धाजन की लंबाई के बल एक पाले से दूसरे पाले तक रहता है। इसी के आधा पर खपर या धाजन का टटार रहता है।

(२) धाजन या खपरैल के बीचोबीच का सघने ऊँचा भाग। उ०—यइ उपदेश संव ना भाए जो चढ़ि कहे वरेंड।—सूर।

वरेंडी—संज्ञा स्त्री० दे० “वरेंडा”।

वरेंक—क्रि० वि० [सं० वर, हिं० वर] (१) गोर मे। वरकर। (२) जबरदस्ती से। (३) ऊँची भाषा में। ऊँचे स्वर में। उ०—बोकि उठानी परे तो तो नाचो जो बाट में लाउन ऐसी करोने।

अर्थ० [सं० वरं=पड़ता, हिं० वर, वर] (१) पड़ने में।

(२) निमित्त । वास्ते । लिये । खातिर । उ०—हाजिर में हूँ। हुजर में राखे सेवा बरे सहितै लखु माई ।—रघुराज ।
घरेली—संज्ञा स्त्री० [हि० बंध + रलना] छियों का भुजा पर पहनने का एक गहना ।
संज्ञा स्त्री० [हि० घर + देखना, बदेखी] विवाह संबंध के लिये घर या कन्या देखना । विवाह की ठहरोनी । उ०—
(क) ओ तुम्हरे हठ हृदय बिलेपी । रहि न जाय विनु किए बरेपी । तौ कैतुकिण्ह बालस नाहीं । घर कन्या अनेक जग माहीं ।—तुलसी । (ख) घरपाल चालक कलहमिय कहियत परम परमारथी । तैसी घरेली कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी ।—तुलसी । (ग) लोग कहैं पोच सो न सोच न संकोच मेरे व्याह न घरेली जाति पति न चहत हैं ।—तुलसी ।

घरेज, घरेजा—संज्ञा पुं० [सं० घाटिका, प्रा० घाटिष] पान का बगीचा । पान का भीटा ।

घरेत—संज्ञा पुं० दे० “घरेता” ।

घरेता—संज्ञा पुं० [हि० घरना, बटना + रत (प्रत्य०)] सन का मोटा रस्ता । चार ।

घरेदी—संज्ञा पुं० [दे०] चरवाहा । डोर चरानेवाला ।

घरेपी—संज्ञा स्त्री० दे० “घरेली” ।

घरेंड़ा—संज्ञा पुं० दे० “घरेंडा” ।

घरो—संज्ञा स्त्री० [हि० घर, गल] बाल की जड़ का पतला रेशा । (रंगरेज)

संज्ञा पुं० [दे०] एक घास जिससे बागों को हानि पहुँचती है ।

† वि० दे० “बड़ा” ।

घरोक—संज्ञा पुं० [हि० घर + रोक] वह द्रव्य जो कन्यापक्ष से घरपक्ष को यह सूचित करने के लिये दिया जाता है कि संबंध की बातचीत पक्की हो गई । इसके द्वारा घर रोका रहता है अर्थात् उससे और किसी कन्या के साथ विवाह की बातचीत नहीं हो सकती । बरखड़ा । फलदान । उ०—राजा कहइ मारय से हैं रे इंदर सिव लोक । के सरि मो से पायइ फेरे करवें बरोक ।—जायसी ।

* संज्ञा पुं० [सं० वरोक] सेना । पौञ्ज ।

घरोठा—संज्ञा पुं० [सं० घर + कोष्ठ, हि० गार + कोठा] (१) खोड़ी । पौरी । (२) बैठक । दीवानखाना ।

मुदा०—घरोठे का चार = द्वापरूज । उ०—घाठें को चार करि कहि केशव अशुरूप । द्विज दूल्ह पहिराह्यो पहिराये सभ भूप ।—केशव ।

घरोचा—संज्ञा पुं० [दे०] वह लैत या भूमि जिसमें पिछली फसल कपास की रही हो ।

घरोघर—वि० दे० “घराघर” ।

घरोक—वि० दे० “घरोह” ।

घरोह—संज्ञा स्त्री० [सं० वट + रोह = उगनेवाला] धरगद के पेड़ के ऊपर की डालियों में टँगी हुई सूत या रस्सी के रूप की यह शाखा जो क्रमशः नीचे की धोर बढ़ती हुई जमीन पर जाकर जड़ पकड़ लेती है । धरगद की जटा ।

घरोछी—संज्ञा स्त्री० [हि० बार + चोखना] सूख के बालों की बनी हुई कूँची जिससे सुगार गहना साफ करते हैं ।

घरोखा—संज्ञा पुं० [हि० बटा, बड़ + खल] एक प्रकार का गन्ना जो बहुत ऊँचा या लंबा होता है । बड़ौखा ।

घरोठा—संज्ञा पुं० दे० “घरोठा” ।

घरोनी—संज्ञा स्त्री० दे० “बरुनी” ।

घरोरी—संज्ञा स्त्री० [हि० गरी, बगी] बड़ी या बरी नाम का पकवान । उ०—छड़ी सँघारी और कुलौरी । श्री लँडवाना लाय बरोरी ।—जायसी ।

घर्फ—संज्ञा स्त्री० [घ०] दिनली । विपुल ।

वि० (१) सेज । चालाक । (२) चट उपस्थित होनेवाला ।

घर्फ रूप से अभ्यस्त ।

घर्फत—संज्ञा स्त्री० दे० “बारकत” ।

बखास्त—वि० दे० “बरखास्त” ।

बछाँ—संज्ञा पुं० दे० “बरछा” ।

यर्ज—वि० दे० “वर्ज” । उ०—राम कथा सुनि यर्ज बखानी । सुनी महेश परम सुख मानी ।—तुलसी ।

घर्जना—क्रि० ल० दे० “बरजना” ।

घर्णना—क्रि० ल० दे० [हि० घर्णन] घर्णन करना । घयान करना ।

घर्त्ता—संज्ञा पुं० दे० “घर्त” ।

घर्त्तन—संज्ञा पुं० दे० “घर्तन” ।

घर्त्तना—क्रि० ल० [सं० घर्त्तन = धुल्लि, व्यवहार] (१) आचरण करना । व्यवहार करना । जैसे, मित्रता घर्त्तना । (२) व्यवहार में लाना । काम में लाना । इस्तेमाल करना । जैसे, यह वस्त्र नया है, किसीने इसे घर्त्ता नहीं है ।

घर्त्ताव—संज्ञा पुं० दे० “घर्त्ताव” ।

घर्दे—संज्ञा पुं० [सं० वरद] बैल । घृष ।

घर्दाश्त—संज्ञा स्त्री० दे० “बाराश्त” ।

घर्न—संज्ञा पुं० दे० “घर्ण” ।

घर्फ—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) हवा में मिली हुई भाप के कारण सूक्ष्म अणुओं की तरह जो वातावरण की ठंडक के कारण आकाश में बनती और भारी होने के कारण जमीन पर गिरती है । गिरते समय यह प्रायः रुई की तरह मुलायम होती है और जमीन पर गिरकर अधिक ठंडक के कारण जम जाती है । जमने से पहले यदि चाहें तो इसे एकत्र करके ठोस गोले आदि के रूप में भी बना सकते हैं ।

जमने पर इसका रंग बिलकुल सफेद हो जाता है। ऊँचे पहाड़ों आदि पर प्रायः सारी के दिनों में यह अधिकता से गिरती है और जमीन पर इसकी छोटी मोटी तहें जम जाती हैं जिन्हें पीछे से फावड़े आदि से खोंदकर हटाना पड़ता है। पाला। हिम। सुषार।

क्रि० प्र०—गलना।—गिरना।—पड़ना।

(२) बहुत अधिक ठंडक के कारण जमा हुआ पानी जो ठोस और पारदर्शी होता है और जो आघात पहुँचने पर टुकड़े टुकड़े हो जाता है।

विशेष—जिस समय जल में तापमान की ३२ श्रेणी की गर्मी रह जाती है तब यह जमने लगता है और ज्यों ज्यों जमना आता है त्यों त्यों फैलकर कुछ अधिक स्थान घेरने लगता है, यहाँ तक कि जब यह बिलकुल जम जाता है और उसमें तापमान कुछ भी नहीं रह जाता तब उसके आकार में प्रायः १/११ वें श्रेणी की वृद्धि हो जाती है। जब तक उसका तापमान घटकर ४° तक नहीं पहुँच जाता तब तक तो वह सिमटता और नीचे बैठता है पर जब उसका तापमान ४° से भी कम होने लगता है तब वह फैलकर हलका होने लगता है और श्रंत में घास पास के पानी पर तैरने लगता है। साधारणतः जल में तैरती हुई बर्फ का १/१० वाँ भाग पानी की सतह के नीचे और ९/१० वाँ भाग पानी के ऊपर होता है। प्रायः जाड़े के दिनों में अथवा और किसी प्रकार सखी बनने के कारण समुद्र आदि का बहुत सा जल प्राकृतिक रूप से जमकर बर्फ बन जाता है।

क्रि० प्र०—गलना।—जमना।

मुहा०—बर्फ होना = बहुत ठंडा होना। जैसे, भारने से एक घंटे पहले उनका सारा शरीर बर्फ हो गया।

(१) मशीनों आदि की सहायता अथवा और कृत्रिम उपायों से ठंडक पहुँचा कर जमाया हुआ पानी जो साधारणतः वाजाराँ में बिकना है और जिससे गर्मी के दिनों में पीने के लिये मल खादि ठंडा करते हैं।

क्रि० प्र०—गलना।—गलना।—जमना।—जमाना।

(४) कृत्रिम उपायों से जमाया हुआ दूध या फलों आदि का रस जो प्रायः गर्मी के दिनों में खाने के काम में आता है। जैसे, मलाई की बर्फ, नारंगी की बर्फ।

क्रि० प्र०—गलना।—गलना।—जमना।—जमाना।

(४) दे० “मोला”।

धर्फिस्तान—संज्ञा पुं० [फा०] वह स्थान जहाँ बर्फ ही बर्फ हो। एक का मैदान या पहाड़।

धर्फी—संज्ञा स्त्री० [फा० बर्फ] एक मिठाई जो चायानी के साथ जमे हुए सोए आदि के बरतरे काट काटकर बनाई जाती है।

यौ०—करनसाही बर्फी = एक मिठाई जो दूधम की लकी हुई बुँदिया शीरे में डालकर जमा देने से बनती है।

यर्वर—वि० [सं०] (१) अष्ट उच्चारण किया हुआ। रस जाता हुआ। (२) घूँघरादार। बल खाया हुआ (शत)। संज्ञा पुं० (१) घूँघरावे वाला। (२) घनाभ्ये। वस्त्रविहीन अस्त्रमय मनुष्य। जंगली शायमी। (३) एक पौधा। (४) एक कीड़ा। (५) एक प्रकार की मछली। (६) एक प्रकार का मूल्य। (७) बच्चों का मनका। हथियारों की धानाज।

वि० (१) जंगली। अस्त्रमय। (२) अग्रिम। अग्रज।

उ०—यस यर्वर खर्व गर्व पर्वत चर्वो अर्ह सर्वज्ञ अस्त्रमय जनावर।—तुलसी।

यर्वरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यर्वरी। यनतुलसी। (२) एक प्रकार की मछली। (३) एक मदी का नाम।

यर्वरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यनतुलसी। (२) रंगा। (३) पीतचंदन।

यर्वर—संज्ञा पुं० [हिं बरना] रस्ते की खिंचाई जो कुपारु धुरी चौदस (बाँदा चौदस) के गतिवें हो जाती है। जो लोग रस्ता खींचे जाते हैं वह तमस्का जाता है कि वे सात-अर कृतकार्य होँगे।

यर्वरक—वि० [च०] (१) चमकीला। जगमगाता हुआ। (२) तेज। बेगवान्। (३) सीमा। (४) चतुर। चालाक। होशियार। (५) बहुत उमड़ा। धबला। लफेड़। (६) रूढ़ मरक किया हुआ। पूर्ण रूप से अग्रवस्त। जैसे, सबक यर्वरक कर डालना।

यर्वरी—क्रि० अ० [अनु० यर्वर] (१) इपर्ये दोहना। फगूल बघना। प्रलाप करना। (२) गींद या बेहोशी में बचना। स्वयं की अवस्था में घोलना।

यर्वरी—संज्ञा पुं० [सं० यर्वर] मिट्टी नाम का कीड़ा। तितैया। उ०—बरे बालक एक सुभाज।—तुलसी।

यर्वरी—संज्ञा पुं० [दे०] एक चिट्ठिया का नाम।

यर्वरत—संज्ञा स्त्री० दे० “यर्वरत”।

यर्वर—वि० [फा०] [संज्ञा यर्वरी] ऊँचा। उ०—क्रम क्रम जाति कहे पुनि गंगा। करति अरार करार गंगा। मंद मंद बहै चलति स्वयंदरा। नीच होति कहुँ होति यर्वरदा।—पुत्राज।

यर्वरघरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार भीमसेन की स्त्री का नाम।

यर्वरी—संज्ञा पुं० [दे०] एक पेड़ जो भारत के अनेक भागों में पाया जाता है। इसके फल खड़े होते हैं और अथवा के काम में आते हैं। फलों के रस से लोहे पर के दाग भी साफ किए जाते हैं। इसके लकड़ों से नौती के पीछा भी बनाए जाते हैं।

रल-पेड़ा पुं० [सं०] (१) शक्ति । सामर्थ्य । ताकत । जोर ।
वृत्ता ।

पयो०—राक्रम । शक्ति । शाल्य । वीर्य ।

मुहा०—बल मरना = बल दिखाना । जोर दिखाना । जोर करना ।

बल की सेना = इतराना । धमंदा करना ।

(२) भार उठाने की शक्ति । सँभार । सह । (३) प्रापण । सहारा । जैसे, हाथ के बल, सिर के बल, इत्यादि ।

(४) वासना । भरोसा । विर्ता । उ०—(क) जो पंतहु अस करतय रहेऊ । माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ ।—तुलसी । (ख) कत सिल देइ हमहि कोउ माई । गाछ करव केहि कर बल पाई ।—तुलसी । (५) सेना । फौज ।

(६) बलदेव । बडाम । (७) एक राक्षस का नाम ।

(८) बल्ल नामक वृक्ष । (९) पारस । पहलू । जैसे, दहने बल, पाये बल ।

संज्ञा पुं० [सं० बलि = कुर्त मरोड़, वा वश्य] (१) पैंठन । मरोड़ । यह बलकर या घुमाव जो किसी लचीली या भरम बस्तु को घटने या घुमाने से बीच बीच में पड़ जाय । पंच ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।—होना ।

मुहा०—बल खाना = पैंठ जाना । पंच खाना । घटने या घुमाने से घुमावदार हो जाना । बल देना = (१) पैंठना । मरोड़ना । (२) बटना ।

(३) फेरा । लपेट । जैसे, फई बल बाँधोगे तब यह न छूटेगा । (४) लहरदार घुमाव । गोलापन लिए यह टेढ़ापन जो कुछ दूर तक चला गया हो । पंच ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

मुहा०—बल खाना = घुमाव के साथ टेढ़ा होना । कुंचित होना । उ०—कंधे पर सुंदरता के साथ बनावई गई काल साँपनी ऐसी बल खाती हिलसी मन मोहनेवाली खोदी थी ।—आयोप्यासिंह ।

(४) टेढ़ापन । कज । खम । जैसे, इस धड़ी में जो बल है वह हम भिङ्गाल देंगे ।

मुहा०—बल निकाटना = टेढ़ापन दूर करना ।

(५) झुकड़न । शिकन । गुलफट ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

(६) लचक । झुकाव । सीधा न रहकर बीच से झुकने की मुद्रा ।

मुहा०—बल राना = लचकना । झुकना । उ०—(क) पतली कमर बल खाति जाति । (गीत) । (ख) बल पात दिगाज कोल झूम शेष सिर हालति मही ।—विश्राम । (७) कम । कमर । कमी । अंतर । फर्क । जैसे, (क) शीव रूप के बल पड़ता है नहीं तो हूतने में मैं आर के हाथ बेच देता । (ख) इसमें उसमें बहुत बल है ।

मुहा०—बल खाना = वाटा सहना । हानि सहना । खर्च करना ।

जैसे, विना कुछ बल खाए यहाँ काम न होगा । बल पड़ना =

(१) अंतर होना । फर्क रहना । (२) कमी का घाटा होना ।

(३) अथपके जैसे की बाल ।

बलकंद-संज्ञा पुं० [सं०] मालाकंद ।

बलकना-क्रि० अ० [चतु०] (१) बलना । बफान खाना ।

खौलना । (२) उमड़ना । उमगना । उमंग या आवेश में होना । जोर में होना । उ०—(क) मेम प्रिये

बर बाँझी बलकत बल म सँभार । पग डगमग

जित तित धरति मुकुलित थलक लिलार ।—दूर । (ख)

रात्र काज कुपय कुसास भोग रोग को है बेइ बुधि विप्रा

बाय विवश बलकही ।—तुलसी । (ग) हैसि हैसि हेरति

नवल तिय मद् के मद् उमदाति । बलकि बलकि बोलति

बचन ललकि ललकि छपटात ।—विहारी ।

बलकर-वि० [सं०] [क्षी० बलकरी] बलकारक । बलजनक ।

संज्ञा पुं० हड्डी ।

बलकल-संज्ञा पुं० दे० “ बलकल ” ।

बलकाना-क्रि० सं० [हिं० बलकना] (१) बवालना । खौलाना ।

(२) उमगना । उमगाना । उत्तेजित करना । उ०—

जोयन उर केहि नहि बलकावा । ममता केहि कर जसु न

नसावा ।—तुलसी ।

बलकुआ-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का शॉम जो चाबीस

पचास हाथ लंबा और दस बारह अंगुल मोटा होता है ।

इसकी गाँठें लंबी होती हैं जिनपर गोल छला पड़ा

रहता है । यह बहुत मजबूत होता है और पाहट बाँधने के

काम के लिये बहुत अच्छा होता है । इसे भलुआ, बड़ा

शॉम, सिल बरखा आदि भी कहते हैं । यह पूर्वोक्त भारत

में होता है ।

बलबल-संज्ञा पुं० [ब०] [हिं० बलबली] रत्नेय । कण ।

बलबल-वि० [हिं० बल + ग] (१) बलवान । (२)

हड़ । मजबूत ।

बलचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राज्य । साम्राज्य । (२)

राज्यशासन ।

बलज-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० बलजा] (१) अश्व की राशि ।

(२) शस्त्र । फसल । (३) नगर का द्वार । (४) द्वार ।

(५) खेत । (६) युद्ध ।

बलजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) श्रमिनी । (२) एक प्रकार की

जुड़ी । (३) रस्ती ।

बलदंड-संज्ञा पुं० [सं०] कसरत करने के लिये लकड़ी का बना

हुआ एक दाँवा जिसमें एक काठ के दोनों पोर कमान की

तरह दो तिरछी छकड़ियाँ लगी होती हैं । इसे गदेंदंड

भी कहते हैं ।

बलद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल । (२) जीवक नामक वृक्ष । (३) गृहामि का एक भेद जिससे वैदिक धर्म किया जाता है ।
 बलदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अरवमोवा ।
 बलदाऊ-संज्ञा पुं० [सं० वसेद व ना भ + हिं० दाऊ] बलदेव ।
 बलराम । उ०—(क) गये नगर देवन को मोहन बलदाऊ के साथ । पुर कुलवधु भगोवन माँकत निरखि निरखि मुसुकाते।—सूर । (ख) लै हर गूसर कसर हँ कहुँ आये तहाँ बनि कै बलदाऊ ।—रघुनाकर ।
 बलदेव-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्णचंद्र के बड़े भाई जो रोहिणी के पुत्र थे ।
 बलना-क्रि० प्र० [सं० बलं वा जलन] जलना । लपट फेंक कर जलना । दहकना ।
 बलनेह-संज्ञा पुं० [हिं० बल + नेह] एक संकर राग जो रामकली, रयाम, पूर्वी, सुंदरी, गुणकली और गांधार से मिलकर बना है ।
 बलपांडुर-संज्ञा पुं० [सं०] कुंद का पौधा ।
 बलपुच्छक-संज्ञा पुं० [सं०] कौघा ।
 बलपुच्छक-संज्ञा पुं० [सं०] रोहू मछली ।
 बलबलाना-क्रि० प्र० [प्र०] (१) ऊँट का बोलना । (२) व्यर्थ बकना । (३) निरर्थक शब्द उच्चारण करना ।
 बलबलाहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० बलबलना] (१) ऊँट की बोली । (२) व्यर्थ बहवाद । (३) धमंग । (४) बहंकार । धमंड ।
 बलबीज-संज्ञा पुं० [सं० बला + बीज] कंजी नाम के बीजे का बीज ।
 बलवीर-संज्ञा पुं० [हिं० बल = बलराम + वीर = भाई] बलराम के भाई भीकृष्ण । उ०—(क) छठ छ रामिनी गाय दिमावत अति नागर बलवीर । खेलत फाग संग गोपिन के गोपवृंद की मीर ।—सूर । (ख) एरी ! बलवीर के अहीरन की भीरम में सिमिति समीरन अवीरन को अटा भयो ।—पद्माकर ।
 बलम-संज्ञा पुं० [सं०] एक मिषैला कीड़ा ।
 बलम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बलदेवजी का एक नाम । (२) सोच का वेदु । (३) नील गाय । (४) आगवत के अनुसार एक पर्वत का नाम ।
 बलमद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुमारी । (२) त्रायमाण नाम की लता । (३) नील गाय । (४) जंगली गाय ।
 बलमी-संज्ञा स्त्री० [सं० बलमि] बह कोटरी जो मकान के सब से ऊपरवाली छत पर बनी हो । ऊपर का भंड । बांधारा । उ०—रंघन कसित भा डाउन बलित लोच, दूरिका ललित नाकी विधित अगार है । हा ऊपर बलमी, निधित अति ऊँची, गारो निपटे मनीक मुरगति को अगार है ।—दास ।
 बलम-संज्ञा पुं० [सं० बलम] विषयम । पति । भावक । उ०—

ताकि रहत छिन और तिय, खेत और को मारो । ए
 ऐसे बलम की विविध मति बलि जाई ।—पद्माकर ।
 बलय-संज्ञा पुं० दे० "बलय" ।
 बलराम-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्णचंद्र के बड़े भाई जो रोहिणी से उत्पन्न हुए थे । कृष्ण के साथ वे गोकुल में रहे । उनके साथ ही मथुरा में आए । वे स्वभाव के बड़े ही और मधु पिशा करते थे । इनका अस्त्र हल और बाण था । सुत पौराणिक की छप्ता पर क्रुद्ध होकर इन्होंने मार डाला था ।
 बलबंड-संज्ञा पुं० [सं० बलबंड] पत्नी । पराक्रमवाला । आगर हक सोह आदित कीना बलबंड दुहूँ फाँसि हूये भयो मानस पिंड ।—सूर ।
 बलवंत-संज्ञा पुं० [सं० बलवंत] बलवान् । बली ।
 बलवा-संज्ञा पुं० [का०] (१) दंष्ट्रा । कुलङ्ग । लज्जली । (२) बगवत । विद्रोह ।
 क्रि० प्र०—मचाना ।—करना ।—होना ।
 बलवार्द-संज्ञा पुं० [का० बलवा + ई (प्रत्य०)] (१) करनेवाला । विद्रोही । धागी । (२) उपद्रवी । फसाव ।
 बलवान्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बलवती । (२) बलिष्ठ । मज्जताकनवर । जिसके शरीर में बल हो । (३) सामर्थ्य शक्तिमान् । (४) बड़ । सज्जवत ।
 बलविकर्षिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम ।
 बलवीर-संज्ञा पुं० दे० "बलवीर" ।
 बलव्यसन-संज्ञा पुं० [सं०] सेना को हराणा या नितर करना ।
 बलव्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की समाधि ।
 बलशाली-संज्ञा पुं० [सं० बलशालिन्] [स्त्री० बलशालिनी] बलवान् ।
 बलशील-संज्ञा पुं० [सं०] बली । शक्तिवाला । उ०—अंगद नलनील बलशील महा बालधी फिरोह मुख नामा खेत हैं ।—तुलसी ।
 बलसुम-संज्ञा पुं० [हिं० बल + सुम] बलुधा । जिसमें बालू हो ।
 बलसूदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) विष्णु ।
 बलहन्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) रत्नेप्ता । कर्ण ।
 बलहन्-संज्ञा पुं० [सं०] वसंतकाळ । पर्वत श्रृंग ।
 बला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिधारा नामक पुत्र । "बलियारा" । (२) वैद्यक के अनुसार पाँचों की एक का नाम जिसके अंतर्गत चार पौधे माने जाते हैं—बला या परिधारा, (२) महाबला या मददेवी (देहना), (३) अतिबला या कंगनी और (४) माग या मंगेय । ये चारों पौधे वैदिक माने जाते हैं और चीन, अरब आदि का प्रयोग भीषण में होता है । (५)

मंत्र या विद्या का नाम जिससे युद्ध के समय योद्धा को भूल और व्यास नहीं लगती । (४) नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकों में छोटी यद्दिन का संवेधान । (५) दृष्ट प्रज्ञापति की एक कन्या का नाम । (६) पृथिवी । (७) लक्ष्मी । (८) जैनियों के प्रभावपुत्र एक देवी जो वर्तमान व्यवस्था में सत्रहवें अर्द्धत के उपदेशों का प्रचार करती है । (९) दे० "बला" ।

संज्ञा स्त्री० [ब०] (१) आपत्ति । विपत्ति । आपत्त । गन्ध । (२) दुःख । कष्ट । (३) भूत । प्रेत । भूत प्रेत की बाधा । (४) रोग । व्याधि । जैसे, इस बच्चे की मर बला तुझे जा ।

मुद्रा—बला का = गन्ध का । घोर । अत्यंत । बहुत यद्दिना । जैसे, बला का बोलबाला है । (किसीकी) बला ऐसा करे या करती है = ऐसा नहीं करता है या करेगा । जैसे, (क) मेरी बला जाय अर्थात् मैं नहीं जाऊंगा । (ख) बसकी बला दुकान पर बैठे अर्थात् वह दुकान पर नहीं बैठता या बैठेगा । (ग) एक बार वह वहाँ हो आया फिर बसकी बला जाती है अर्थात् फिर वह नहीं गया । बला पीछे लगाना = (१) तंग करनेवाले आदमी का साथ में होना । (२) बल्लेड़ा साथ होना । किसी ऐसी बात से संबंध या लगाव हो जाना जिससे तंग होना पड़े । कर्मठ या आफत का सामना होना । बला पीछे लगाना = (१) बल्लेड़ा साथ करना । तंग करनेवाला आदमी साथ में करना । (२) कर्मठ में डाढ़ना । बल्लेड़े में फँसाना । बला से = कुछ परवा नहीं । कुछ चिंता नहीं ।

बलाह—संज्ञा स्त्री० दे० "बलाय" ।

बलाह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बक । बगला । (२) एक राजा का नाम जो भागवत के अनुसार पुरु का पुत्र और जहनु का पौत्र था । (३) जातुकर्ण मुनि के एक शिष्य का नाम । (४) एक राजस का नाम । (५) शाकपुष्य ऋषि के एक शिष्य का नाम ।

बलाह—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बगली । (२) कामुकी की । (३) बगडों की पंक्ति । (४) गति के अनुसार नृत्य का एक भेद ।

बलाकाश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरिवंश के अनुसार एक राजा का नाम जो अशक का पुत्र था । (२) अर्जुन के वंश का एक राजा ।

बलाकी—संज्ञा पुं० [सं० बलाकेन्] छत्राष्ट के एक पुत्र का नाम ।

बलाप्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेनापति । (२) सेना का अग्रगता भाग ।

वि०—बलशाली । बली ।

बलाट—संज्ञा पुं० [सं० बलाट] मूँग ।

बलाह्य—संज्ञा पुं० [सं०] भाप । उड़द । बरद ।

वि० [सं०] बलवान् ।

बलात्—कि० वि० [सं०] (१) बलपूर्वक । जबरदस्ती से । बल से । (२) हठात् । हठ से ।

बलात्कार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसीकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक कोई काम करना । जबरदस्ती कोई काम करना । (२) यत्नाचार । अत्याचार । (३) किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध संभोग करना ।

बलात्कारमिगम—संज्ञा पुं० [सं०] बलात् किसी स्त्री के सतीत्व का नाश करना । मिनाबिलग्न ।

बलात्कारित—वि० [सं०] जिससे बलात्कार से कुछ कराया जाय । जिसपर बलात्कार करके कोई काम कराया जाय ।

बलात्कृत—वि० [सं०] जिससे साथ बलात्कार किया गया हो ।

बलात्मिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] हाथीसँद नाम का पौधा ।

बलाभ्यस्त—संज्ञा पुं० [सं०] सेनापति ।

बलापंचक—संज्ञा पुं० [सं०] बला, अतिबला, भागबला, महाबला और राजबला नाम बी पाँच श्लोकधर्मों के समुदाय का नाम । विशेष—दे० "बला" ।

बलामोटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] बगदमनी नाम की श्रोपधि ।

बलाय—संज्ञा पुं० [सं०] बहना नामक वृक्ष । बला । बलास ।

संज्ञा पुं० [ब० बला] (१) आपत्ति । विपत्ति । बला ।

ब०—बालन, सेरे मुख रहीं बारी । बाल गोपाल लगे हन मैनि रेगु बलाय तुम्हारी ।—सूर । (२) दुःख । कष्ट ।

ब०—(क) हरि को मीत पड़ीत इनि गाये विरह बलाय । परत कान तजि मान तिय मिली कान्हू से जाय ।—गदाकर । (ख) तर फुरती ऊपर गरी कज्ज लल द्विरकाय । पिय पासो विनही लिखी बाँची विरह बलाय ।—विहारी ।

(३) भूत प्रेत की बाधा । (४) दुःखदायक रोग जो पीछा न छोड़े । व्याधि । ब०—प्रति इन लोचन को कहूँ उपजी बड़ी बलाय । नीर भरे जित प्रति रहैं तज न व्यास बुझाय ।—विहारी । (५) पीछा में छोड़नेवाला शत्रु । अत्यंत दुःखदायी मनुष्य । बहुत तंग करनेवाला आदमी । ब०—

बापुरो विभीषन पुकारि बार बार कही बार बार बड़ी बलाय वने घर वालिहैं ।—तुलसी ।

मुद्रा—बलाय ऐसा करे या करती है = ऐसा नहीं करता है या करेगा । दे० "बला" । ब०—(क) तौ अनेक अवगुन भरी बाढ़े याहि बलाय । जो पति संपति हूँ बिना जदुपति राखे जाय ।—विहारी । (ख) जा सुगमैनी के सदा बेनी परसत पाय । ताहि देखि मन वीरपति विकटनि जाय बलाय ।—विहारी । (ग) गठि चढी जो न मानै काहू की बलाय जानै मान सों जो पदिधाने ताके साहय्यु है ।—भरव ।

बलाय लेना = (अर्थात् किसीका रोग दुःख अपने ऊपर लेना) मंगल कामना करते हुए प्यार करना ।

विशेष—छियां प्रायः वर्षों के ऊपर से हाथ घुमाकर और फिर अपने ऊपर ले जाकर इस भाव को प्रकट करती हैं।

३०—(क) निवट घुलाय विनाय निरलि मुख आंचर खेति बलाय। चिजीवी सुकुमार पवनसुत गहति दीन है पाय।

—सूर। (ख) लै बलाय सुकर लगायो निरलि मंगल चार गायो। नैन आरति अर्घं आम्नू बुहुप तन मन धन चढ़ायो।

—सूर।

(१) एक रोग जिसमें रोगी की उगली के छोर या गार्ड पर फोड़ा हो जाता है। इसमें रोगी को बहुत कष्ट होता है और उँगली कट जाती या रेड़ी हो जाती है।

यलाराति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) विष्णु।

यलोलक—संज्ञा पुं० [सं०] जलभाँबला।

यलाघलेप—संज्ञा पुं० [सं०] गर्व। अहंकार। दर्प।

यलाश—संज्ञा पुं० दे० “बलाश”।

यलास—संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें कंक और वायु के प्रकोप से गले और फेफड़े में सूजन और पीड़ा होती है, तसि लेने में कष्ट होता है।

संज्ञा पुं० [सं० बलाय] यदना नाम का पीषा।

यलासम—संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध।

यलासी—संज्ञा पुं० [सं० बलाय, बिलासिन्] यदना। यज्ञा नाम का पेड़।

यलाहक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल। (२) एक दैत्य।

(३) एक नाग। (४) समुद्र के समुसार दर्वाकर जाति के नागों के दुग्धीस ओर्षों में एक का नाम। (५) कृष्णचंद्र के रूप के एक छोड़े का नाम। (६) मोषा। (७) लिङ्गपुराण के समुसार शापमखि द्वीप के और मत्स्यपुराण के समुसार कुश द्वीप के एक पर्वत का नाम। (८) महाभारत के समुसार जयद्रथ के एक भाई का नाम।

यलिवस—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यलि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूमि की उपज का वह धरा जो भूस्वामी प्रति वर्ष राजा को देता है। कर। रात्रकर। हिन्दूधर्मशास्त्रों में भूमि की उपज का छठा भाग राजा का धंधा रहता था गया है। (२) उपहार। अर्घ। (३) पूजा की सामग्री या उपकरण। (४) पंच महावस्तुओं में चौथा वस्तु नामक महावस्तु। इसमें गृहस्थों को भोजन में से प्राप्त विकाल-कर या के भिन्न भिन्न स्थानों में भोजन पकाने के उपकरणों पर तथा बाक आदि जंतुओं के बहुरूप से धार के बाहर रहना होता है। (५) किसी देवता का आग। किसी देवता को उत्सर्ग किया कोई आघ पदार्थ। (६) मक्ष। शत्रु। घाते की वस्तु। ३०—(क) धनवेषयलि निमि बह कागु। निमि सस चदे गाग-मरि आगु।—मुलसी। (ख) रामदि राखहु कोरु जाई। सब छी भात क्रोप्या चायें बहत कीरक्या

माई.....आए भरत दीन है बोले कहा कियो हैरि माई। हम सेवक वा विभुवनपति के सिंद के बलि कया को खाई?—सूर। (७) चढ़ाया। नैवेद्य। योग। ३०—

(क) पर्वत सहित भोह मज डारैं देणें समुद्र बहारे। मेरे बलि औरदि ले पर्वत हनके कों सजाई।—सूर। (ख) बलि पूजा चाहत नहीं चाहत एकै प्रीति। सुमिर नहीं मैं मनो यही शक्ती रीति।—मुलसी। (८) वह पदु में किसी देवस्थान पर या किसी देवता के बहुरूप से मारा जाय।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—होना।

मुहा०—बलि चढ़ना = मारा जाना। बलि चढ़ाना = रें देना। देवता के बहुरूप से घात करना। देवार्घ्य के लिये रें करना। बलि जाना = निहारा होना। बलिहारी बनना।

३०—(क) तात जाई बलि बेगि महाहू। जो मन मन मधुर कहु छाहू।—मुलसी। (ख) अवधपुर घारे इर-रथ राय। राम लच्छिमेन भरत समुहिन सोमित जाँ भाय। कौशल्या आदिक महातारी आरति करि बनाय। यह सुख निरखि मुदिन सुर नर मुनि सुरदास बलि आय।—सूर।

मुहा०—बलि जाऊँ वा बलि।—हम पर निहारा हूँ। (ब०) र्वत में छिपा हुआ वाक्य का व्यवहार प्रायः यों ही किया गया है। ३०—छुरे छिगुनी पहुँचो गिबत भति दीनता दिखाय। बलि घावन को अर्घ्य सुनि को बलि मुहँ पताय।—निशती।

(६) चँवर का दंडा। (१०) आठवें मन्वंतर में होने वाले इंद्र का नाम। (११) विरोचन के पुत्र और महाद के वीर्य का मास। यह दैत्य वासि का राजा था। विष्णु ने वामन अवतार लेकर इसे धूलकर पाताड़ भेजा था। संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दे० “बलि”। (२) वस्तु की सुरी। (३) एक प्रकार का फोड़ा जो पुरातन के पास अशोवि शोनों में उत्पन्न होता है। (४) अर्घ्य का मसला।

संज्ञा स्त्री० [सं० शता = छोटी गहिन] सती। ३०—(क) वाकि रहत विम और तिप छेत और को नाई। ए बलि ऐसे बलम को विविध भति बलि जाई।—पद्माकर। (ख) ये अग्नि या बलि के अघराग में आति चढ़ी वस्तु आधुर-ईसी।—पद्माकर।

यलिक—संज्ञा पुं० [सं०] एक भाग का नाम।

यलिकर्म—संज्ञा पुं० [सं०] बलिदान।

यलितक—क्रि० [सं० बलि] बलिदान चढ़ाया हुआ। हन। मारा हुआ। ३०—इरि आदिल बाहट मट धम कों बह वसु। रदनि थोरि समुद्र कों गंधर्व सने पट। बलित बनेर कुनेर बलिदि गदि देहू इंद्र राय। विद्या-धरम धविष की

विनु सिद्ध सिद्ध सय । सै करों अदिति की दासि दिति
अनिल अनल मिलि आहिं जल । सुनु सूरज सूरज उगत ही
क्यों असुर संसार सय ।—केशव ।

वि० दे० "बखित" ।

बलिदान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता के उद्देश्य से नैवेद्यादि
पूजा की सामग्री धनाना । (२) बकरे आदि पशु देवता
के उद्देश्य से मारना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

बलिनन्दन—संज्ञा पुं० [सं०] बाखासुर ।

बलिपशु—संज्ञा पुं० [हि० बलि + पशु] वह पशु जो किसी देवता
के उद्देश्य से मारा जाय । उ०—लखन राति निकट दुख
कैसे । बरह हरित नून बलिपशु जैसे ।—मुलसी ।

बलिपुष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] कौवा ।

बलिपादकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी पोय ।

बलिप्रदान—संज्ञा पुं० [सं०] बलिदान ।

बलिप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोच का पेड़ । (२) कौवा ।

बलिवर्द्ध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँड़ । (२) घैल ।

बलिभुक्, बलिभुज—संज्ञा पुं० [सं०] कौवा ।

बलिभूत—वि० [सं०] (१) कर्द । कर देनेवाला । (२) अधीन ।

बलिभोज, बलिभोजी—संज्ञा पुं० [सं०] कौवा ।

बलिवैश्यदेव—संज्ञा पुं० [सं०] भूतयज्ञ नामक पाँच महायज्ञों
में चौथा महायज्ञ । इसमें गृहस्थ पाकहाला में बके अन्न
से एक एक भास लेकर भंगपूर्वक घर के भिन्न भिन्न स्थानों
में मूसल आदि पर तथा काकादि प्राणिमों के लिये भूमि पर
रखता है ।

बलिय—संज्ञा पुं० [सं०] बली । कटिया ।

बलिपु—वि० [सं०] अधिक बलवान ।

संज्ञा पुं० ऊँट ।

बलिपु—वि० [सं०] अपमानित ।

बलिहारना—क्रि० सं० [हि० बलि + हारना] निष्ठावर कर
देना । कुर्बान कर देना । चढ़ा देना । उ०—विश्वनिकाई
विधि ने वसमें की एकत्र बटोर । बलिहारों त्रिभुवन धन
वसपर वसों काम करोर ।—प्रीधर ।

बलिहारी—संज्ञा स्त्री० [हि० बलि + हारना] निष्ठावर । कुरबान ।

भेम, भक्ति, अदा आदि के कारण अपने को वसर्ग कर
देना । उ०—(क) सुख के माथे सिल परै हरि हिरदा
सों जाय । बलिहारी वा दुःख की पल पल राम कहाय ।—

कवी । (ख) बलिहारी अन्न क्यों कियो सैन सार्वे सँग ।

बहुँ कहूँ गोरें सँग ये भये कौबरे रंग ।—जटार सत० ।

मुखा०—बलिहारी जाना = निष्ठावर होना । कुरबान जाना ।

बलीया घेना । उ०—दादू वस मुह देव की मैं बलिहारी

गाई । दासन अमर बनेस था बी राखे वस लाउँ । बलिहारी

घेना = बलीया घेना । प्रेम दिलाया । उ०—पहुँची जाय
महरि मंदिर में करत कुलाहल भारी । दूरसन करि जसु-
मति-भुव को सब नेन लगीं बलिहारी ।—सूर । बलिहारी
है । = मैं इतना मोहित या प्रसन्न हूँ कि अपने को निष्ठावर
करता हूँ । क्या कहना है ? (सुंदर रूप, शोभा, शील स्वभाव
आदि को देख प्रायः यह वाक्य बोलते हैं । किसीकी वृत्ति,
वेदगेहन या विलक्षणता को देखकर व्यंग्य के रूप में भी इसका
प्रयोग बहुत होता है ।)

बलिहूत—वि० [सं०] (१) बलि देनेवाला । भेंट देनेवाला ।

(२) करमद । कर देनेवाला ।

संज्ञा पुं० राजा ।

बली—वि० [सं० बलिन्] बलवान् । बलवाला । पराक्रमी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० बलि, बली] (१) चमड़े पर की कुर्ती ।

(२) वह रेशा जो चमड़े के मुड़ने या सुकड़ने से पड़ती है ।

दे० "बली" ।

बलीन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिच्छू । (२) एक असुर का नाम ।

वि० दे० "बली" ।

बलीना—संज्ञा स्त्री० [सं० बलीना] एक प्रकार की दल मछली ।

बलीबैठक—संज्ञा स्त्री० [हि० बली + बैठक] एक प्रकार की बैठक
जिसमें जंघे पर आर देकर बैठना बैठना पड़ता है । इससे
बोध दीर्घ भरती है ।

बलीमुख—संज्ञा पुं० [सं० बलिमुख] बंदर । उ०—चली
बलीमुख-सेन पराई । अति भय अस्तित न कोर समुहाई ।

—मुलसी ।

बलुआ—वि० [हि० बाल] [री० बलुई] रेतीला । जिसमें बाल
अधिक मिला हो । जैसे, बलुआ खेत, बलुई मिट्टी ।

संज्ञा पुं० वह मिट्टी या जमीन जिसमें बाल का अंश
अधिक हो ।

बलुस—संज्ञा पुं० एक जाति जिसके नाम पर देश का नाम पड़ा ।

विशेष—यह जाति कब बलुचिस्तान में आकर बसी इसका
तीक पता नहीं है । बलुचिस्तान से प्रहृई और बलुची दो
जातियाँ निवास करती हैं । इनमें से प्रहृई जाति अधिक
वस्त्र और सभ्य है और उसका अधिकार भी बलुचों से
पुराना है । बलुच पीछे आए । बलुचों में ऐसा प्रवाद है
कि उनके पूर्वज अलिपो नगर से आर्यों की चढ़ाई के साथ
आए । आर्यों की चढ़ाई बलुचिस्तान पर ईसा की आठवीं
शताब्दी में हुई थी । बलुच सुन्नी शाला के मुसलमान हैं ।
बलुचिस्तान—संज्ञा पुं० [फा०] एक राज्य जो हिंदुस्तान के
पश्चिमोत्तर कोण में है । इसके उत्तर में अफगानिस्तान,
पूर्व में भारतवर्ष का सिंधु प्रदेश, दक्षिण में अरब का समुद्र
और पश्चिम में फारस है ।

विशेष—प्रहृई और बलुची इस देश के प्रजात निवासी हैं ।

इनमें प्रहृष्ट पुराने हैं। दे० "बलुच"। इस देश के प्राचीन इतिहास के संबंध में बहुत सी वृत्तवाच्य प्रचलित हैं। गांधार और बाबोज के समान यह देश भी हिंदुओं का ही था, इसमें तो कोई संदेह नहीं। ऐसी कथा है कि यहाँ पहले शिव नाम का कोई राजा था जिसने सिंधुदेशवालों के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिये कुछ पहाड़ी लोगों को बुलाया। अंत में पहाड़ियों के सरदार कुंभर ने आकर सिंधवालों को हटाया और क्रमशः उस हिंदू राजा को भी अधिकारभूत कर दिया। यह कुंभर कौन था इसका पता नहीं। ईसा की आठवीं शताब्दी में अरबों का आक्रमण इस देश पर हुआ और यहाँ के निवासी मुसलमान हुए। आजकल बलुच और प्रहृष्ट दोनों सुधी शाखा के मुसलमान हैं।

बलुची-संज्ञा पुं० [दे०] बलुचिष्ठान का निवासी।

बलुत-संज्ञा पुं० [ब०] माजकल की जाति का एक पेड़ जो अधिकतर ठंढे देशों में होता है। योएष में यह बहुत होता है। इसके अनेक भेद होते हैं जिनमें से कुछ हिमालय पर भी, विशेषतः पश्चिमी भाग (सीकिम आदि) में होते हैं। हिंदुस्तानी बलुत येज, मारु या सीता-मुपारी के नाम से प्रसिद्ध जो हिमालय में सिंधु नदी के किनारे से लेकर नेपाल तक होता है। शिमले, नैनीताल, मसूरी, आदि में इसके पेड़ बहुत मिलते हैं। लकड़ी इसकी अच्छी नहीं होती, बरफ़ी हूट जाती है। अधिकतर ईंधन और कोयले के काम में जाती है। घरों में भी कुछ लगती है। पर दार्जिलिंग और मनीपुर की ओर जो मूक नाम का बलुत होता है उसकी लकड़ी मजबूत होती है। योएष में बलुत का आदर बहुत प्राचीन काल से है। इंगलैंड के साहित्य में इस राजान का बड़ी स्थान है जो भारतीय साहित्य में बट या आग का है।

बलुत-वि० [सं०] बलुचक।

बलैया-संज्ञा स्त्री० [ब० बला, हिं० बल्ये] बला। बलाय।

मुद्रा—(किसी की) बलैया सेना—(अर्थात् किसी देश, कुल अपने ऊपर लेना) मंगल कामना करते हुए प्रारंभ करना। दे० "बलाय सेना"। बलैया सेना है—बलिहारी है। इस बात पर निराधार होता है। क्या कहना है। पराक्रुष्ट है। बहुत ही बलवत्तर है (मुद्रा, रूप, गुण, कर्म आदि देल मुन पर इत्यय प्रयोग करते हैं। यद्यपि 'बलि' जाना और 'बलैया सेना' स्तुति के विचार से भिन्न हैं पर दोनों मुद्रा० द्विगुणित से गए हैं) उ०—जगज्ज बाई गढ़े की, मेवाजे की संभार सार, साहब न राम से, बलैया खीजी मीट की।—मुमसरी।

बलकल-संज्ञा पुं० दे० "बलकल"।

बलकल-संज्ञा पुं० [सं०] यह तलछट या मैल जो भाज उतारने में नीचे बैठ जाती है।

बलिक-अव्य० [का०] (१) अव्यय। इसके विरुद्ध। प्रयुक्त। जैसे, उसे मैंने नहीं उमारा परिक मैंने तो बहुत रोया। (२) ऐसा न होकर ऐसा हो तो और अच्छा। बरत है। जैसे, बलिक तुम्हीं चले जाओ, यह सब बरेशा ही दूर हो जाय।

बल्य-वि० [सं०] बलकारक।

संज्ञा पुं० शुक्र। वीर्य।

बल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बलिपत्नी। (२) अव्यय। (३) प्रमायिणी। (४) शिरोही। चंगोली।

बल्ल-संज्ञा पुं० दे० "बलु"।

बल्लकी-संज्ञा स्त्री० दे० "बलुकी"।

बल्लम-संज्ञा पुं० दे० "बलुम"।

बल्लम-संज्ञा पुं० [सं० बल, हिं० बल्ल] (१) लड़। बल्ला। (२) लोटा। उँडा। (३) वह सुनहरा या रुपहला उँडा जिसे प्रतिहार या घोषदार राजाओं के सामे आगे लेकर चढ़ते हैं। यौ०—बल्ल बल्लम।

(४) बरछा। माडा।

बल्लमदेर-संज्ञा पुं० [ब० बल्लमदेर] (१) स्वेच्छापूर्वक सेना में भरती होनेवाला। (२) स्वेच्छा सेवक।

बल्लमचंदोर-संज्ञा पुं० [हिं० बल्लम+का० चंदोर] वह भीरु जो राजाओं की सवारी या बरात के साथ हाथ में बल्लम लेकर चढ़ता है।

बल्लय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परवाहा। गवाडा। (२) सीम का वह नाम जो बन्देहि विराट के पहाई शेरों के रूप में बजाय वास करने के समय में धारण किया था। (३) लोहा।

बल्ला-संज्ञा पुं० [सं० बल्ल=बल्ल या बल्ल] [स्त्री० बल्ल=बली] (१) लकड़ी की लंबी, सीधी और मोटी छड़ या लट्टा। बंदे के आकार का लंबा मोटा डुकड़ा। गहरीर या उँडा। जैसे, साल का बल्ला। (२) मोटा उँडा। बंड। उ०—कल्ला करे चारु मान देत खेत बल्ला हारो सँतत प्रचल्ला मल्ला घोरो राजद्वार को।—शुजात। (३) बल या बल्ला जिससे नाच करते हैं। उँडा। (४) गेहूँ मारने का लकड़ी का डंडा जो घागे की ओर पीड़ा और बिटा होता है। बेट।

यौ०—गेंद बल्ला।

संज्ञा पुं० [सं० बल्य] गोबर की मुलाई हुई पड़ियों के आकार की गोड रिकिया जो होखिदा मजबूत के समय उसमें डाली जाती है।

बल्लापी-संज्ञा स्त्री० [दे०] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें केवल कोमल गांधार लगता है।

यक्षी-संज्ञा स्त्री० [हिं० यक्ष] (१) छोटा यक्ष । लकड़ी का लंबा टुकड़ा । (२) संज्ञा । (३) नाच खेने का यक्ष । बाँड़ ।

॥ संज्ञा स्त्री० दे० "यक्षी" ।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार एक कण का नाम ।

यक्ष-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक घास का नाम ।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष नामक दैत्य के पुत्र का नाम जिससे यक्षदेवता ने मारा था ।

यौ०—यक्षलारि = यक्षदेवता ।

यक्ष-संज्ञा-क्रि० अ० [सं०] व्यावर्जन, प्रा० व्यावर्जन] घृष्ट अथवा घृष्टना । व्यर्थ फिरना । उ०—इत बत हो तुम बँधत जोलत करत आपने जो की ।—सूर ।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बाहु + संज्ञा (१) हाथ का तेज झोंका जो घूमता हुआ चलता है और जिसमें पंखें हुईं धूल संभे के आकार में ऊपर उठती हुईं दिखाई पड़ती हैं । चक्र की तरह घूमती हुईं बाहु । चक्रवात । बगूला ।

क्रि० प्र०—उठना ।

(२) प्रचंड बाहु । चाँची । दफान । उ०—आई मनुमति विगत यक्षंडर । बिन गोविंद लण्यो सो मंदिर ।—गोपाल ।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार एक कण का नाम ।

यक्ष-संज्ञा-क्रि० अ० [हिं०] बाहु + घृष्ट, हिं० बाहु + घृष्ट ।] बगूला । यक्षंडर । उ०—केशवराह अकाश के मेह बड़े यक्षघूरन में घृष्ट जैसे ।—केशव ।

यक्ष-संज्ञा पुं० दे० "यक्ष" ।

यक्ष-संज्ञा-क्रि० अ० [सं०] घन (१) दे० "घोना" । जमने के लिये जमीन पर धीज बाटना । उ०—करि कुरूप विधि पश्यत कीन्हा । यवा सोलुनिय लहिय को दीन्हा ।—तुलसी ।

(२) धितराना । बिलराना ।

क्रि० अ० धितराना । धितराना । बिलराना । उ०—ऊधो ! योग की गति सुनत मेरे भ्रम आनि गई ।—सूर ।

संज्ञा पुं० दे० "भावना" "वामन" ।

यक्ष-संज्ञा-क्रि० अ० दे० "बीरता", "मौरता" । उ०—बदरे धौड़ सीत सुईं लावा । बहू फल सुकर वही पै पावा ।—जायसी ।

यक्षा-संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की जड़ी या ओषधि जो हठकी की तरह की होती है ।

यक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग का नाम जिसमें सुदृढ़ि में मस्से या स्मार उत्पन्न हो जाते हैं । इसमें रोगी को पीड़ा होती है और पचाने के समय मस्सों से रक्त भी गिरता है । अर्श रोग ।

विरोध—आयुर्वेद में मनुष्य के मलद्वार में तीन चतुर्ध्व ।

माना गई है । सबके भीतर या ऊपर की ओर जो चली होती है उसे प्रवाहिनी, मध्य में जो होती है उसे सर्जनी कहते हैं । इनके अतिरिक्त एक चली अंत में या बाहर की ओर होती है । इन्हीं त्रिवर्तियों में अर्श रोग होता है । यदि बाहर वाली चली में मस्से हों तो रोग साध्य, मध्यवाली में हों तो कष्टसाध्य और सबके भीतर वाली चली में हों तो असध्य होता है । अर्श रोग ६ प्रकार का कहा गया है—वातज, पित्तज, कफज, स्रग्ध्र-पातज, रक्तज और सहज ।

यक्षि-संज्ञा पुं० दे० "यक्षि" ।

यक्षि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चारोंक रेशमी कपड़ा जो अत्यंत सर से आता है ।

यक्ष-संज्ञा, यक्ष-संज्ञा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गाय जिसको ब्याप हुप बहुत समय हो गया हो । (ऐसी गाय का दूध गाढ़ा और मीठा होता है ।)

यक्ष-संज्ञा पुं० दे० "यक्ष" ।

यक्ष-संज्ञा पुं० [हिं०] बरत] हरे रंग की एक चिट्ठिया जिसका सिर से लेकर कंध तक का भाग लाल होता है ।

यक्ष-संज्ञा-वि० [हिं०] बरत] (१) बरत का । बरत कट्ट संवंधी । (२) खुलते हुए पीले रंग का । सरसों के फूल के रंग का । (बरतवागम में खेत में सरसों के फूलने का बरत होता है इससे बरत का रंग पीला माना जाता है ।

संज्ञा पुं० (१) एक रंग का नाम जो तुल के फूलों आदि में रंगने से आता है । यह हलका पीला होता है पर गंधकी से अधिक तेज होता है । बरत कट्ट में यह रंग लोगों को अधिक प्रिय होता है । (२) पीला कपड़ा ।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बैलानर] आग । उ०—कथा कहानी सुनि सत जरा । मागो धीव बसेद पर ।—जायसी ।

यक्ष-संज्ञा-वि० [सं०] पर्याप्त । भरपूर । प्रयोजन के लिये पूरा । बहुत । काफी । उ०—मेरे सदस्य विद्वान की परीक्षा बस होगी ।—सरस्वती ।

मुद्रा—यस करो !, या, बस !—उद्धरण । रुको ! इतना बहुत है, और अधिक नहीं । उ०—बलराम जी ! यस करो, यस करो, अधिक बढ़ाई हमसेन की मत करो ।—लक्ष्मी ।

अव्य० (१) पर्याप्त । काफी । अल्प । (२) सिर्फ । केवल । इतना मात्र । जैसे, यस, हमें और कुछ न चाहिए ।

उ०—रक्षिण गुण-गौरव-पर्याप्त ग्रंथ गण सारा । यस यही आपसे विनय विनोद इमारा ।—दिवेदी ।

संज्ञा पुं० दे० "यक्ष" ।

यक्ष-संज्ञा पुं० दे० "यक्ष" ।

यक्ष-संज्ञा-क्रि० अ० [सं०] बतन] (१) स्थायी रूप से स्थित होना ।

निवास करना । रहना । जैसे, इस गाँव में कितने मनुष्य यस्त हैं । ३०—(क) जो खोदाय मसजिद में यस्त हैं और देस केहि केरा ?—कबीर । (ख) मोहिं खोजत पट मास धीति गपु तयहुं न आयो अंत । प्रजयनिता के नयन प्राण बिच तुमही खाम बसंत ।—सूर । (२) जनपूर्ण होना । प्राणियों या निवासियों से भरा पूरा होना । आबाद होना । जैसे, गाँव यसना, शहर यसना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मुहा०—घर यसना = कुटुंब गृहित सुखपूर्वक स्थिति होना । गृहस्थी का बनना । ३०—नारद वचन न में परिहरहुं । यसत भयन, उजरद नहिं डरहुं ।—तुलसी । घर में यसना = सुखपूर्वक गृहस्थी में रहना । ३०—सुनत वचन विहँसे रिपिय गिरिसंभव तय देह । नारद कर उपदेस सुनि कहहु वसेउ को गेह ।—तुलसी ।

(३) टिकना । ठहरना । अवस्थान करना । डेरा करना । जैसे, ये तो साधु हैं रात को कहीं यस्त रहे ।

संयो० क्रि०—जाना ।—रहना ।

मुहा०—मन में यसना = ध्यान में बना रहना । स्मृति में रहना । ३०—सीस मुकुट कटि काञ्ची कर मुरली उर माल । इहि यानिक मो न यसी सदा बिहारीलाल ।—बिहारी ।

* (४) बैठना ।

क्रि० प्र० [हि० यसना] बासा जाना । सुगंध से पूर्ण हो जाना । सुगंधित होना । महक से भर जाना । जैसे, सेल बस गया ।

संयो० क्रि०—जाना ।

उंश पु० [उ० यस्त = कपड़ा] (१) वह कपड़ा जिसमें कोई यस्त लपेटकर रानी जाय । बैठन । येठन । (२) बैली । (३) वह लंबी जाकीदार बैली जिसमें कपड़ा पैसा रखते हैं । (४) वह कोठी जिसमें रुपये का खेन देन होता हो । † (५) वासन वस्त्रन । भाँडा ।

यसनि*—उंश छी० [हि० यसना] रहन । निवास । वास । ३०—बिभूष ताके दरसायत अहिं जोगिन की यसनि ।—देवसामी ।

यसयास्त—उंश पु० [हि० यसना + वास] (१) निवास । रहना । ३०—(क) मयुरा में बसवास तुम्हारे ।—सूर । (ख) जो तुम प्रकृष पराग धाड़ि के करो ग्राम बसवास । तो हम धरा पढ़ा करि देखे निमिष न धाड़ि बास ।—सूर । (२) रहन । रहने का अंग । स्थिति । ३०—देखे बसवास ते' उडास होय केराबदास केराव न मजत, कहि, काहे को रागगु है ।—देराय । (३) बसावसा । रहने का डोल या गुमीता । निवास योग्य परिस्थिति । ठिकाना । ३०—अब बसवास मई लगी । यदि तुम यत्र गयी । धाडुंगयो धड़ि बरस धीर से बिनयन रहि गियरी ।—सूर ।

यसर—उंश पु० [य०] गुजर । निर्वाह । कालचेर ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

यसह—उंश पु० [सं० यश्म, मा० बसह] बैल । ३०—(क) पर त्रिभूल अरु डमरु बिराजा । चले यसह पति बाग्य बाजा ।—तुलसी । (ख) धमरा शिव शिव शिव शिवान हय गय यसह हंस मृग जावत । धमराज बनराज बनराज दिव नाराद नाराद शिव सुत भावत ।—सूर ।

यसा—उंश छी० दे० “यसा” ।

उंश छी० [दे० ?] (१) यरे' । मिट्ट । गदी । ३०—यसा डंक यानी मग मीनी । सेहि से यधिक डंक न लीनी ।—जायसी । (२) एक प्रकार की मछली ।

यसात—उंश पु० दे० “यिसात” ।

यसाना—क्रि० उ० [हि० यसना] (१) यस्तने देना । यस्तने के लिये मगह देना । रहने को ठिकाना देना । जैसे, रात ने उस नए गाँव में बहुत से यनिये बसाए ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

(२) जनपूर्ण करना । आबाद करना । जैसे, गाँव यसना, शहर यसना । ३०—(क) केहि सुकृती केहि धरी बसाए । धन्य पुण्यमय परम सुहाए ।—तुलसी । (ख) भाद से तिय लै धरी से सारि करि पाली' घर बीयिका बसावति बन की ।—केशव ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

मुहा०—घर यसाना = गृहस्थी जमाना । सुखपूर्वक कुटुंब के साथ रहने का ठिकाना करना ।

(३) ठिकाना । ठहराना । स्थान करना । जैसे, राम को इन मुसाफिरों को अपने यहाँ बसा डो ।

मुहा०—मन में यसाना = चित्त में हृष प्रसर जमाना कि बरतन ध्यान में रहे । हृदय में अंकित कर लेना । ३०—यसानाये अब सुदहि सुनायो । सुनि के हृष से हृदय बनायो ।—रा ।

क्रि० प्र० यसना । ठहरना । रहना । ३०—बाब्रक बजाने हटी और की न माने बात बिना दिए माधु राय ओझन न पाय है । माटी के बनाय गन्न बाजी रय सेज भावे पाठन बिड़ने तारे नेक न बसाय है ।—हनुमान ।

क्रि० उ० [सं० येयन, य० हि० बैसाना] (१) बिठाना । (२) रखना । ३०—यधुक मुमन पद-पंकज पंकज प्रयुष चिह्न यनि धायो । मूर अनु मुनियर कन्हंसनि रये मीर दे बाँह बसायो ।—तुलसी ।

क्रि० प्र० [हि० यय] यय चढना । जोर चढना । काय चढना । अधिकार या शक्ति का काम देना । ३०—(क) पट में रहै एकै जहाँ कर सो गदा न जाय । मिठा रहै की ना मिठै तासों कदा बसाय ।—कबीर । (ख) काटिय तागु श्रीमओ बसाई । खन मँदि ननु यजिय पाई ।—तुलसी । (ग)

करो ही त्वारी हरि ध्यापन गैया । नाहिन यसात लाळ कछु
तुम सों सयै ग्वाल हक डैवा ।—सूर । (घ) विनु धरजे चौ
का कहै बरज्यो का पै जाय । जो जिय में ठाढ़ो रहै तासों
कहा बसाय ।—विहारी । (ङ) तासों यसाह कहा कहि
केशव कामलता तव ते दुरहं ।—केशव । (च) भिजन
बाग सँकरी गली भये छेपेरी धाय । कोज तोहि गहै जो
दूत तो फिर कहा बसाय ।—पद्माकर ।
क्रि० अ० [हिं० वास] वास देना । महकना । उ०—
(क) बेखि कुदंगी फल सुरी फुलया कुबुधि बसाय । मूल
बिनासी तमरी सरो पात करुधाय ।—कबीर । (ख) जय
लगि प्राबहिं डाम न होई । तब लगि सुगंध बसाय न
कोई ।—जायसी । (ग) भूमज तजइ सहज करुधाय ।
जगह प्रसंग सुगंध बसाई ।—तुलसी ।

वसिष्ठोपा—उंशा पुं० [हिं० वासी] (१) वर्ष की कुछ तिथियाँ
जिनमें खियाँ वाली भोजन खाती और वाली पानी पीती
हैं । (२) वाली भोजन ।

वसिया—वि० दे० “वासी” ।
वसियाना—क्रि० अ० [हिं० वासी, वा वसिया + ना (प्रत्य०)]
वासी हो जाना । ताज़ा न रह जाना ।

वसिष्ठ—उंशा पुं० दे० “वसिष्ठ” ।
वसिष्ठ, वसिष्ठ—उंशा स्त्री० [हिं० वसना] (१) वस्ती ।
घाघाती । (२) बसने का भाव वा क्रिया । रहन ।

वसिष्ठ—वि० [सं० वसीकर] वसीकर । घर में करनेवाला ।
उ०—बैलिया बैलिया सौ सकाय मिलाय हिलाय रिक्काय
हियो हरिबो । वतियाँ चितचोरन चेटक सी इस चार
चरित्रन ऊचरियो । रसखानि के भान सुचा भरियो अच-
रान पै सौं अघरा घरियो । इतने सब मैं के मोहनी वंश
पै मंत्र वसीकर सी करियो ।—रसखानि ।

वसिष्ठ—उंशा पुं० दे० “वसीकरण” ।

वसिष्ठ—उंशा पुं० [सं० वसुध, मा० वसिष्ठ = वेदा ब्रह्मा]
दूत । संदेश के जानेवाला । उ०—(क) प्रथम वसीष्ठ
पठव सुनु नीती । सीता देह करहु पुनि प्रीती ।—तुलसी ।
(ख) मधुकर तोहि कीन सों हेत । जो पै चद्रत रंग तप ऊपर
तो पै होय श्यामता सेत । मोहन मथिनि डारि मोरी ते
करि धाय मुख प्रीति । अति शठ वीठ वसीष्ठ श्याम को
हमें सुनावत गीत ।—सूर । (ग) जूझत ही मकराच के
रावण अति दुख पाय । सखर श्री रघुनाथ पै दियो वसीठ
पठाय ।—केशव ।

वसीठी—उंशा स्त्री० [हिं० वसीठ] दूत का काम । दौल ।
सँदेश सुगताने का काम । उ०—(क) हरि मुख निरखत
मागि नारि । कमलनयन के कमलबदन पर बारिज
बारिज बारि । सुमति सुंदरी परस प्रिया रस खंखट माही

बारि । हारि जोहारि जो करत वसीठी प्रथमहि प्रथम
चिन्हार ।—सूर । (ख) बिकानी हरिमुख की सुसकानि ।
परबस भई फिरति सँग निसि दिन सहज परी यह यानि ।
मैनन निरखि वसीठी कीन्हों मनु मिलयो पप पानि । गहि
रतिमाय लाज निज पुर ते हरि को सौंपी आनि ।—सूर ।
(ग) सेतु बांधि कपि सेन जिमि, उतरी सागर पार । गय
वसीठी धीरवर जेहि विधि बाळिकुमार ।—तुलसी ।

वसीत—उंशा पुं० [अ०] एक वंश का नाम जो अहाज पर सूर्य
का अक्षांश देखने के लिये रहता है । कमान ।

वसीना—उंशा पुं० [हिं० वसना] रहायस । रहन ।

वौ०—वास वसीना । उ०—हुनही ते व्रज वास वसीना ।
हम सय बहिर आति मतिहीना ।—सूर ।

वसु—उंशा पुं० दे० “वसु” ।

वसुकला—उंशा पुं० [सं० वसुका] एक वर्षाद्वय जिसे तारक भी
कहते हैं ।

वसुदेव—उंशा पुं० दे० “वसुदेव” ।

वसुधा—उंशा स्त्री० दे० “वसुधा” ।

वसुमती—उंशा स्त्री० “वसुमती” ।

वसुला—उंशा पुं० “वसुला” ।

वसुला—उंशा पुं० [सं० वसि + व (प्रत्य०)] [स्त्री० वसुली]
एक हथियार जिससे बड़ई लकड़ी चीलते और गड़ते हैं ।

विशेष—यह बंट लगा हुआ चार पाँच अंगुल चौड़ा लोहे का
टुकड़ा होता है जो धार के ऊपर बहुत भारी और मोटा
होता है । यह ऊपर से नीचे की ओर चलाया जाता है ।
उ०—मातु कुमति बड़ई अथमूला । तेहि हमरे हित कीन्ह
वसुला ।—तुलसी ।

वसुली—उंशा स्त्री० [हिं० वसुला] छोटा वसुला ।

वसुंझा—उंशा पुं० [हिं० वस + झ] [स्त्री० वसुंझी] पल्ला बाँस ।

वसेरा—वि० [हिं० वसना] बसनेवाला । रहनेवाला । उ०—

निपट वसेरे अथ अवनुन अनेरे नर नारिक अनेरे जगदैं
चेरी चेरे हैं ।—तुलसी ।

उंशा पुं० (१) वह स्थान जहाँ रहकर रात्री रात बिताते हैं ।
बासा । टिकने की जगह । (२) वह स्थान जहाँ चिड़िया ठहर
कर रात बिताती है । उ०—(क) गयेसुमंत तप रातर पार्हीं ।
देखि भयावन जात डराहीं । धाढ़ खाइ जनु जाह न हेरा ।
मानहुं विपति-विपाद-वसेरा ।—तुलसी । (ख) पिय मूरति
चितसरिया चितवति बाळ । चितवति अवय वसेराया जपि
अपि माल ।—रहिमन ।

मुहा०—वसेरा करना = (१) ठहरा करना । निवास करना ।
ठहरना । उ०—(क) बहुते को अघम परिहरै । निर्मय ठैर
वसेरो करै ।—सूर । (ख) मूला लोग कइ घर मेरा ।
जा धावा मैं फूले डोला सो घर माहीं तेरा । हापी पोड़ा

यैल बाहना संग्रह किया घनेरा । यस्ती में से दिया खनेरी
जंगल किया घनेरा ।—कबीर । (२) घर बनाना । रहना ।
चल जाना । उ०—कहा सयो जे देश द्वारका कीन्हो दूर
घसेरो । यापुनहीं या यत्र के कारण करिहै फिरि फिरि
फेरो ।—सूर । घसेरा खेना = निवास करना । वास करना ।
रहना । उ०—घरी ग्यारि मैमंत यचन बोळत जे घनेरो ।
कय हरि घालक अप गर्भ कय लियो घसेरो ।—सूर ।
घसेरा देना = (१) रहने की जगह देना । ठहुराना । ठिकाना ।
(२) आश्रय देना । ठिकाना देना । उ०—अनु कह गारखण्ड
मरि केरा । अति प्रिय निज उर दीन घसेरा ।—तुलसी ।
(३) ठिकने या बसने का भाव । रहना । बसना । आवाद
होना । उ०—(क) तन संराय मन सोनहर, काळ बहेरी
बित्त । एकै अंग घसेरा कुआल पुल्लो का मित्त ।—कबीर ।
(ख) परहित हानि लाभ जिन केरे । उमरे हरप बिबाद
घसेरे ।—तुलसी ।

घसेरी—वि० [हि० घेरा] निवासी । रहनेवाला । उ०—मानि-
पुरहि कबीर घसेरी । मुहत्त सुना शोख तकि केरी ।
—कबीर ।

घसेरी—वि० [हि० बसना] बसनेवाला । रहनेवाला ।
उ०—(क) सुनहु दयाम धै । सम प्रसवनिता विरद तुम्हारे
मई धायरी । नाहिन नाथ और कहि धायत छाड़ि जहाँ
लगि कथा रायरी । कबहुँ कहत हरि माखन खायो कीन
घसेया कहत गायरी । कबहुँ कहत हरि कसल बाधे घर
घर से छे चढी दायरी ।—सूर । (ख) एगनि कय बलिरी
बासी सैया । प्रेम पुलकि बर लाइ सुघन सब कहति
सुमित्रा सैया । भरत राम तिदुघन छरण के
चरित सरित भग्दसैया । तुलसी तब कस भगनु जानिये
रघुवर नगर बसैया ।—तुलसी । (ग) काहुको है यथुरानन
को घर कोइ गजानन घास घसैया ।—हनुमान ।

घसोपास—संज्ञा पुं० [हि० घास + आवास] निवासस्थान । रहने
की जगह । उ०—चारि भति मृपता तुम कहियो । चारि
संभ्रमत मन में रहियो । राम मारि सूर एक न बचिहँ ।
हृदलोक घसोपासहि रहिहँ ।—केशव ।

घसींघी—संज्ञा स्त्री० [हि० घस + घेरी] एक प्रकार की रबड़ी
जो सुगंधित और लज्जेश्वर होती है ।

घस्ट—संज्ञा पुं० [घ०] विपत्तियों में बह भ्रमि, चिय वा प्रतिकृति
जिसमें किसी व्यक्ति के मुक्त, अथवा प्राणी के ऊपर के मान
मात्र की बाधकति बनाई गई हो ।

घस्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) पक्ष ।
घस्तकर्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शाल का पेड़ । (२) घसना का
पेड़ । पीतशाल वृक्ष ।

घस्तगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजगंधा । घस्तमोदा ।

घस्तमोदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजगंधा ।

घस्तर—संज्ञा पुं० दे० "घस" ।

घस्तगंधी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मेघशृंगी । मेघासीनी ।
घस्ता—संज्ञा पुं० [का०] कपड़े का चौकोर टुकड़ा जिसमें कान
के मुँह, बहीखाते और पुस्तकादि बांधकर रखते हैं । रेश ।
फि० प्र०—बांधना ।

मुह्रा—घस्ता बांधना = कागज पत्र समेट कर उठने की रस्ते
करना ।

घस्तर—संज्ञा पुं० [का० घस्ता] एक में बँधी हुई बहुत सी
वस्तुओं का समूह । मुह्रा । पुलिहा ।

घस्ति—संज्ञा पुं० दे० "बस्ति" ।

घस्ती—संज्ञा स्त्री० [सं० बसति] (१) बहुत से मनुष्यों का गाँव
कर रहने का भाव । आश्रय । निवास । उ०—मि
जिह्वा गुन गाढ़िया बिनु घस्ती का गैह । सुने घर क
पाहुना तासों लावे नेह ।—कबीर । (२) बहुत से लोगों का
समूह जिनमें लोग बसते हैं । जनपद । जैसे, लोग
गाँव, कसबा, नगर इत्यादि । जैसे, राजपूताने में लोग
बसे जाहूँ कहीं घस्ती का नाम नहीं । उ०—मन के मो
वन गय, वन लजि घस्ती माहिं । कहे कबीर क्या कीज
या मन ठहरे माहिं ।—कबीर ।

घस्तु—संज्ञा स्त्री० दे० "घस्तु" ।

घर—संज्ञा पुं० दे० "घर" ।

घर—संज्ञा पुं० दे० "घर" ।

घर—संज्ञा पुं० [सं० बहन + घर] बड़ी बहूनी ।
बहूनी—संज्ञा स्त्री० [सं० बहन + घर] बहूनी को बहने के लिये
तराव के आकार का एक दाँवा । कविर ।

विशेष—लगभग चार हाथ लंबी लचीली लकड़ी या बाँस
के दोनों छोरों पर रस्ती का छीका छटका कर नीचे बाँध
का चौड़ा सा छेद देते हैं जिस पर बोका रखा जाता है ।
बाँस को बीचो बीच कटे पर रखकर छे बलते हैं ।
बहकना—हि० अ० [हि० बहा] (१) झूल से झीक रास्ते से
दूसरी ओर जा पड़ना । मार्गभ्रष्ट होना । भटकना ।
जैसे, यह बहक कर जंगल की ओर चला गया ।

संयोग—वि०—जाना ।

(१) झीक लक्ष्य या स्थान पर न आकर दूसरी ओर जा
पड़ना । बहकना । जैसे, लक्ष्यार बहकना, हाथ बहकना ।
(२) किसी की बात या मुलाखत में भा जाना । बिना
मला पुरा बिबारे किसी के कहने या फुसलाने से कोई काम
कर बैठना । उ०—बहक न हूँ बहमाने जब तब, धीर,
बिनास । यचै न बड़ी सबीलहूँ थोळ सोसुवा नीस ।—
विहारी । (४) किसी बात में लग जाने के कारण शीन
होना । बहलना (बचनों के लिए) । (५) जाने में

न रहना । रस या मद में चूर होना । जोश या आवेश में होना । ३०—जय से शत्रुता समाज रण्यो तब सँ श्रवणी शक्ति की चक्की । सरसाय के सेर रसाळ की डारन कोकिळ कूँ फिरे बहकी ।—रसिया ।

मुहा०—बहक कर बोलना = (१) मद में चूर होकर बोलना ।

(२) जोश में आकर बड़ बड़ कर बोलना । अभिमान आदि से भरकर परिणाम या शौचित्य आदि का विचार न करना । जैसे, आल बहुत बहक कर बोल रहे हो उस दिन कुछ करते धरते नहीं धना । बहकी बहकी बातें करना = (१) मदोन्मत्त की वी बातें करना । (२) बहुत बड़ो चढ़ी बातें करना ।

यहकाना—क्रि० सं० [हि० यहकना] (१) ठीक रास्ते से दूसरी ओर ले जाना या फेरना । रास्ता भुलवाना । भटकाना ।

संयो क्रि०—देना ।

(२) ठीक लक्ष्य या स्थान से दूसरी ओर कर देना । लक्ष्यभ्रष्ट करना । जैसे, खिलावे में हाथ यहका देना । (३) भुलाना देना । भ्रमाना । बातों से कुसलाना । कोई अयुक्त कार्य कराने के लिये बातों का प्रमाथ डालना । जैसे, उसने बहका कर सबसे यह काम कराया है । ३०—गई रीति इन भवै चलाई । काहू इन्हें दिवो बहकाई ।—सूर । (४) (बातों से) शांत करना । बहलाना (बर्षों को) ।

यहतोल—संज्ञा स्त्री० [हि० यहता + ल (प्रत्य०)] जल बहाने की भाँती । बरहा । ३०—शीघ्र निदाघ समै बड़े जलु-राग भरे बाग में बहति यहतोल है रहँत की ।—लाल ।

यहसत—वि० [सं० हिसति, प्रा० बहति] सत्तर और दो । सत्तर से दौ अधिक ।

संज्ञा पुं० सत्तर से दौ अधिक की संख्या और श्रेक जो इस प्रकार लिखा जाता है—७१ ।

यहसतराय—वि० [हि० बहतरा + रा (प्रत्य०)] [स्त्री० बहसतरायी] जिसका स्थान यहतर पर पड़े । जो क्रम में एकदूसर वस्तुओं के पीछे पड़े ।

यहदुरो—संज्ञा पुं० [दे०] एक कीड़ा जो धान वा चने में लग कर उसके पत्ते काट कर गिरा देता है ।

यहन—संज्ञा स्त्री० दे० “बहिन” ।

यहना—क्रि० प्र० [सं० वहन] (१) द्रव पदार्थों का निम्नतल की ओर आप से आप गमन करना । पानी या पानी के रूप की वस्तुओं का किसी ओर चलना । प्रवाहित होना । ३०—हिमगिरि गुहा पृथु सति पावनि । यह समीप सुर-सरी मुदासति ।—तुलसी ।

संयो क्रि०—जाना ।

मुहा०—बहती गंगा में हाथ धोना = किसी ऐसी बात से लाभ उठाना जिससे छत्र लाभ उठा रहे हो । बहती नदी में हाथ

पसारना = दे० “बहती गंगा में हाथ धोना । यह चलना = पानी की तरह पतला हो जाना । जैसे, दाल या तरकारी का ।

(२) पानी की धारा में पड़कर जाना । प्रवाह में पड़कर गमन करना । जैसे, यात्रु में गाय, बैल, छप्पर आदि का यह जाना । (३) संचित होना । लगातार बँद या धार के रूप में निकल कर चलना । (जो निकले और जिसमें से निकले दोनों के लिये) । जैसे, मटके का धी बहना, शरीर से रक्त बहना, कोड़ा बहना । (४) वायु का संचरित होना । हवा का चलना । जैसे, हवा बहना । ३०—(क) गुंज मंथुतर मधुकर श्रेणी । त्रिविध वपारि यहह सुखदेनी ।—तुलसी । (ख) चरिणी के भारन दिखात उनयो सो चंद गंध ही के भारन यहत मंद मंद पौन ।—द्विजदेव । (२) कहीं चला जाना । इधर उधर हो जाना । हट जाना । दूर होना । जैसे, (क) मंडली दूटते ही सब इधर उधर बह गए । (ख) कपूरों का इधर उधर बह जाना । (क) कपूरराज । ३०—सुक सनकादि सकल मन मोहे, ध्यानिन ध्यान बहो ।—सूर । (१)

ठीक लक्ष्य या स्थान से सरक जाना । हट जाना । फिसल जाना । जैसे, खोरी के गोट का नीचे बह जाना । घोसी का कमर के नीचे बहा जाना । (३) बिना ठिकाने का होकर घूमना । मारा मारा फिना । जैसे, न जाने कहीं का बहा हुआ आधा यहाँ ठिकाना लग गया । (५) सम्मार्ग से दूर हो जाना । कुमार्गी होना । भ्रमारा होना । चौपट होना । बिगड़ना । चरित्रभ्रष्ट होना । जैसे, लुब्धों के साथ में पड़ कर वह बह गया । ३०—मातुः पितुः गुरु जननि ज्ञान्यौ भली खोई महति । सूर प्रभु को प्यान चित धरि प्रतिदि काई महति ।—सूर । (३) गया बीता होना । अद्यय या दुरा होना । जैसे, यह ऐसा नहीं बह गया है कि तुम्हारा पैसा छूटगा । (१०) गर्भवता होना । अड़ाना । (वीपार्यों के लिये) । (११) बहुतायत से मिलना । सखा मिलना ।

संयो क्रि०—चलना ।

(१२) (रुपया आदि) द्रव जाना । नष्ट जाना । व्यर्थ खर्च हो जाना । (१३) कनकौषे की डोर का ढीला पड़ना । पतंग का पेडा छोटना । (१४) जल्दी जल्दी शंटे देना ।

मुहा०—यहता हुआ जोड़ा = बहुत श्रद्धा देनेवाला जोड़ा (कनूतर) ।

(१२) लाद कर ले चलना । ऊपर रख कर ले चलना । वहन करना । ३०—जन्म याहि रूप गयो पाप यहत ।—सूर । (१६) खींच कर ले चलना (गाड़ी आदि) । ३०—बस कहि चकुरी महराय माहीं । खेत नुरंग यहै रप काहीं ।

—पहनाप। ० (१०) धारण करना। रखना। उ०—घोनी में न छड़ियो छुपे घोनिप को छोना छोटे घोनिपछुपन बाके विरद् बहुत हैं।—तुलसी। (१८) उठना। चलना। उ०—बढ़इ नदाय दइरिस छाती।—तुलसी। पहनापा—संज्ञा पुं० [हिं० बहिन + भाषा (प्रत्य०)] भगिनी की धारणीयता। बहिन का संबंध।

कि० प्र०—बोड़ना।

पहनी—संज्ञा स्त्री० [दे०] कोहू में से रस लेकर रखनेवाली विलिया।

पहनापी० [सं० बहि] अग्नि। चाप। उ०—तुम कहा बहुराज अमृत समय तजि सुमार परपत कत पहनी।—सूर। पहनु—क संज्ञा पुं० [सं० बहन] सवारी। उ०—देव संपदा समेत श्रीनिकेत आचकनि भवन विभूत भाग छपम पहनु है।—तुलसी।

पहनोई—संज्ञा पुं० [सं० भगिनोपति, प्रा० बहिर्बोवद्] बहिन का पति। पहनाता—संज्ञा पुं० [सं० भगिनीपुत्र, प्रा० बहिर्बोवत्] बहिन का पुत्र।

पहनौटा—संज्ञा पुं० [हिं० बहिन, + ओटा (प्रत्य०) (सं० आश्रय)] बहिन की सुसराल।

पहरा—वि० [सं० बहिर, प्रा० बहिर] [स्त्री० बहरी] जो कान से सुन न सके। न सुननेवाला। जिसे अवयवशक्ति न हो।

मुहरा—पहरा परापर, या वस्त्र बदरा = बहुत अपवित्र बहुत। जिसे कुछ भी न छुनाई पड़ता हो।

पहराना—कि० स० [हिं० घुलना (भ० का उधारण वह के रूप में हो गया) भा० का० बहण] (१) जिस बात से जी उजवा या दुखी हो उसकी ओर से ध्यान हटा कर दूसरी ओर से जाना। ऐसी बात कहना या करना जिससे दुःख की बातें भूल जाय और चित्त प्रसन्न हो जाय। उ०—मैं पठवत अपने छरिका को बाये मन बहराह।—सूर। (२) पहकाना। झुलाना। फुसलाना। उ०—(क) उरहन देन व्याधि ने पाई। निन्दे जसोदा दिवो बहराई।—सूर। (ख) क्यों बहरावत मूढ़ मोहिं और बह्रावत लोग। अब भारत में नाहिं ये रहे और जे लोग।—हरिश्चंद्र। कि० स० दे० “बहरियाना”।

पहरिया—संज्ञा पुं० [हिं० बहर + इका (प्रत्य०)] बहुत मंद-बाप के मंदिरों के छोटे कमरों की को प्रायः मंदिर के बाहर ही रहते हैं।

हिं० बाहर का। बाहर-संबंधी।

पहरियाना—कि० स० [हिं० बहर + इका (प्रत्य०)] (१) बाहर की ओर जाना। निकालना। (२) खटग करना। उड़ा करना। (३) नाथ को किनारे से हटा कर मंदिर की ओर से जाना। (मबराह)।

कि० स० (१) बाहर की ओर होना। (२) खटग होना। उड़ा होना। (३) नाथ को किनारे से हटा कर मंदिर की ओर जाना।

पहरी—संज्ञा स्त्री० [व०] एक शिकारी चिट्ठिया जिसका रूप वंश और स्वभाव बाज का सा होता है, परं चाकरा होता है।

पहलू—संज्ञा पुं० [दे०] मध्य प्रदेश, पार और मद्रास में होने वाला मकोले आकार का एक पेड़ जिसकी लकड़ी सुतल चमकदार और मजबूत होती है। हल, पाटे, कानि के लोहे के सामान, गाड़ियाँ तथा तसवीरों के चौकटे हथ लकड़ी के बनते हैं।

पहलूप—संज्ञा पुं० [हिं० वडु + रूप] एक जाति जो बैलों का रस साय करती है और गोरखपुर चंपारन आदि पशु मंत्रियों में बसती है।

पहरो—वि० दे० “बहरा”।

पहलू—संज्ञा स्त्री० [सं० बहन] एक प्रकार की लुत्तरीया का मंडपदार गाड़ी जिसे बैल खींचते हैं। इस के आकार की बैलगाड़ी। खड़कड़िया। इका।

पहलना—कि० स० [हिं० बहलना] (१) जिस बात से जी उजवा या दुखी हो उसकी ओर से ध्यान हटा कर दूसरी ओर से जाना। मंडप या दुःख की बात भूलना और चित्त का दूसरी ओर लगाना। जैसे, दो बार सहने बाहर निकाल रहे जी बहल जायगा।

संयो० कि०—माना।

(२) मनोरंजन होना। चित्त प्रसन्न होना। जैसे, थोड़ी देर बगीचे में जाने से जी बहल जाता है।

पहलाना—कि० स० [व० बहल = रस या झुलाना] (१) जिस बात से जी उजवा या दुखी हो उसकी ओर से ध्यान हटा कर दूसरी ओर से जाना। मंडप या दुःख की बातें भूलना और चित्त दूसरी ओर से जाना। (२) मनोरंजन करना। चित्त प्रसन्न करना। जैसे, थोड़ी देर की बहलाने के बिये बगीचे बहल जाय हूँ। (३) झुलाना देना। बातों में लगाना। बहकाना। किसी के साथ ऐसा करना जिसमें वह साधपाय न रह जाय। जैसे, उसे बहल कर हम हँस लया निकाळ लाए हैं।

पहलाव—संज्ञा पुं० [हिं० बहलना] चित्त का किसी ओर कुप काटने के बिये लग जाना। मनोरंजन। प्रसन्नता।

यो०—मनबहलाव।

पहलिया—संज्ञा पुं० दे० “बहलिया”।

पहली—संज्ञा स्त्री० [सं० बहन] एक प्रकार की लुत्तरीया का परदेदार गाड़ी जिसे बैल खींचते हैं। इस के आकार की बैलगाड़ी।

बहला ॥ सं-पंशा पुं० [हिं० बहलना । फा० बहल] आनंद । प्रमोद ।
३०—चला चला प्रायेण सब है गयी बहलना हमें खलना
देत हैत आज अवधमुखार को ।—रघुराज ।

बहली-पंशा पुं० [१] कुस्ती का एक पेश ।

बहस-पंशा स्त्री० [फ०] (१) वाद । दलील । तर्क । संडन
मंडन की युक्ति । किसी विषय को सिद्ध करने के लिये
उत्तर प्रत्युत्तर के साथ बात चीत ।

क्रि० प्र०—करना ।

(२) विवाद । मगझ । हुज्रत । (३) होड़ । बाजी ।
बदाबदी । ३०—मोहि तुम्हें बाड़ी बहस को जीतै
सदुराज । अपने अपने विरद की दुहूँ निवाहत लाज ।—
बिहारी ।

बहसना-क्रि० प्र० [फ० बहस + ना] (१) बहस करना । विवाद
करना । तर्क चितर्क करना । (२) होड़ लगाना । शर्त
बाँधना । ३०—बहसि करत यह हेतु जहँ एक काज की
सिद्धि । है। ससुचय कहत हैं जिनकी है मति रिद्धि ।—
मतिराम ।

बहाड-पंशा पुं० दे० “बहाव” ।

बहादुर-वि० [फा०] (१) बलाही । साहसी । (२) शूरवीर ।
पराक्रमी ।

बहादुरी-पंशा स्त्री० [फा०] धीरता । शूरता ।

बहाना-क्रि० सं० [हिं० बहाना] (१) द्रव पदार्थों को निम्नतल की
थोर छेड़ना या गमन कराना । पानी या पानी ली पत्थरी
पीछे को किसी थोर से जाना । प्रवाहित करना । जैसे,
खून की नदी बहाना ।

संयो० क्रि०—देना ।

(२) पानी की धारा में डालना । बहती हुई चीज़ में
इस प्रकार डालना कि बहाव के साथ चले । प्रवाह के
साथ छोड़ना । जैसे, नदी में तखते या कट्टे बहाना ।

(३) लगातार दूँद या धार के रूप में छोड़ना या
निकाशना । डालना । गेरना । छुड़ाना । जैसे, धड़े का
पानी क्यों व्यर्थ बहा रहे हो ?

मुहा०—कोड़ा बहाना = कोड़े में इस प्रकार छेड़ कर देना जिससे
बचमें का मवाद निकल जाय । जैसे, यह दवा कोड़े को
बहा लेगी ।

(४) बायु संचालित करना । हवा चलाना । (५)
व्यर्थ व्यय करना । सोना । गँवाना । जैसे, बसने लासे
रुपये बहा दिए । † (६) फेंकना । डालना । एकट्टे या
खिप न रहना । (७) सस्ता बेचना । कौदियों के मोल
दे देना ।

पंशा पुं० [फा० बहलः] (१) किसी बात से बचने या
कोई मतलब निकाशने के लिये अपने संबंध में कोई झूठ

बात कहना । मिस । हीला । घैसे, काम के बक तुम
बीमारी का बहाना करके बैठ जाते हो ।

क्रि० प्र०—करना ।

(२) उक्त उद्देश्य से कही हुई झूठ बात । वह बात जिसकी
घोट में असल बात छिपाई जाय ।

क्रि० प्र०—झूठना ।

(३) निमित्त । कहने सुनने के लिये एक कारण । प्रसंग ।
योग । जैसे, (क) हीले रोज़ी, बहाने मोत । (ख)
चलो, इसी बहाने हम भी थंबई देख आँगो ।

यहार-पंशा स्त्री० [फा०] (१) बसंत ऋतु । फूलों के खिलने
का मौसिम । ३० जिन दिन देखे थे कुसुम गहँ से। बीति
बहार ।—विहारी । (२) मौज । आनंद ।

क्रि० प्र०—माना ।—झूना ।—लूटना ।—होना ।

(३) बीजन का विकास । अवानी का रंग । (४) शोभा ।
सौंदर्य । रमणीयता । सुहावनापन । रौनक । जैसे, (क)
बसके सिर पर कलगी क्या बहार 'देती है' । (ख) यहाँ
बड़ी बहार है ।

क्रि० प्र०—देना ।

(५) विकास । प्रकुलता ।

मुहा०—बहार पर आना = विकसित होना । पूर्ण शोभासंपन्न
होना ।

(६) मड़ा तमाशा । कौतुक । जैसे, ज़रा इस वेवकूफ
को यहाँ से चलो देखो क्या बहार आती है ।

क्रि० प्र०—आना ।

(७) नारंगी का फूल । (८) एक रागिनी ।

यहारगुजरी-पंशा स्त्री० [फा० बहार + सं० गुजरी] संपूर्ण जाति
की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं ।

यहारनशाख-पंशा पुं० [फा०] मुकाम राग का पुत्र । एक राग ।

यहारना-क्रि० सं० दे० “बुहारना” ।

बहारी-पंशा स्त्री० दे० “बुहारी” ।

बहाल-वि० [फा०] (१) अहाँ जैसा या यहाँ वैसा ही । पूर्व-
व्य स्थित । ज्यों का त्यों । जैसे, अदालत का फैसला
बहाल रहा ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

मुहा०—नौकरी पर बहाल करना = जिस जगह पर नौकर
या डली जगह पर फिर मुकदर करना ।

(२) भला चंगा । स्वस्थ । (३) प्रसन्न । जैसे, तदीयत
बहाल करना ।

बहाली-पंशा स्त्री० [फा०] पुनर्निजुक्ति । फिर बसी जगह पर
मुकदरी ।

† पंशा स्त्री० [हिं० बहलना] ब्याँस बरी । भोधा देने-
वाली बात ।

क्रि० प्र०—देना ।

पदाय—संज्ञा पुं० [हिं० बहना] (१) बहने का भाव । (२) बहने की क्रिया । प्रवाह । (३) बहती हुई धारा । बहता हुआ जल आदि । जैसे, बहाव में पड़ना ।

बहिः—अव्य० [सं० बहिष्] बाहर । उ०—बहिरिति सात अरु अंतरति सात मुन, रति विपरीतनि को विविध विचार है ।—हेमच ।

बहिर्धर—संज्ञा स्त्री० [सं० बहुर, हिं० बहुर] स्त्री ।

बहिक्रम—संज्ञा पुं० [सं० वयक्रम] व्यवस्था । उ० । उ०—(क) हते पर दाढ बहिक्रम जानि । दिवे रुदना उपरै छति जानि ।—केशव । (ख) ग्यारह वर्ष बहिक्रम बीसो । खेलत आलेखक श्रम जीसो ।—लाल ।

बहिर्ग—संज्ञा पुं० [सं० बहिन] नाव । मछान । उ०—सोह राम—कामारि प्रिय अवधपति सर्वदा दास तुलसी आसनिधि—पहिर ।—तुलसी ।

बहिन—संज्ञा स्त्री० [सं० भगिनी, भा० बहिणी] माता की कन्या । माप की बेटी । यह लड़की या स्त्री जिसके साथ एक ही माता पिता से उत्पन्न होने का संबंध हो । भगिनी ।

विशेष—जिस प्रकार स्नेह से समान अवस्था के पुरुषों के लिए 'भाई' शब्द का व्यवहार होता है वही प्रकार स्त्रियों के लिए 'बहिन' शब्द का भी ।

बहिनापा—संज्ञा पुं० दे० "कहनापा" ।

बहियाँ—संज्ञा स्त्री० दे० "बाहों", "बाहें" । उ०—सुरदास हरि बोधि भगत को निरबहत है बहियाँ ।—सूर ।

बहिरंग—वि० [सं०] (१) बाहरी । बाहरवाला । 'अंतरंग' का स्वरो । (२) जो गुट या मंडली के भीतर न हो ।

बहिराँ—वि० दे० "बहुरा" । उ०—सोपहु बहिर न कहहि अस खनन नयन तप बीत ।—तुलसी ।

बहिरत—वि०—अव्य० [सं० बहिः] बाहर । उ०—जोगी होइ जग जीतता, बहिरत होइ संसार । एक भंडेला रहि गया, पाछे परा भंडार ।—कबीर ।

बहिराना—क्रि० प्र० [हिं० बहराना (अव०)] बाहर कर देना । निकाल देना ।

क्रि० प्र० बाहर होना ।

बहिरगत—वि० [सं०] (१) जो बाहर गया हो । बाहर भाया या निकटा हुआ । (२) जो बाहर हो । (३) अलग । उदा । जो अंतर्गत न हो ।

बहिराँजु—अव्य० [सं०] हाथों को दोनों पुरों के बाहर किए हुए (बीच में नहीं) ।

विशेष—आस आदि वस्तुओं में इस प्रकार बँटने का प्रयोजन पड़ता है ।

बहिरभूत—वि० [सं०] (१) जो बाहर हुआ हो । (२) हो । (३) अलग । उदा ।

बहिरभूमि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहती से बहती भूमि । (२) गाढ़े जंगल जाने की भूमि ।
हैं बहिरभूमि तहाँ कृष्ण भूमि चापु करी य
दौड़िन सों मारि कै ।—प्रियदास ।

बहिरमुख—वि० [सं०] विमुख । विरुद्ध । परामुख । या दूधचित्त न हो ।

बहिर्यति—संज्ञा स्त्री० [सं०] रति के दो भेदों में से एक रति या समागम जिसके अंतर्गत, आर्लिंगन, सुहृद, मदन, मलयान, रदधान और अधरपान हैं । (२)

बहिराँपिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षात्र रचना में एक पहेली जिसमें उसके बसर का राज्य पहेली के बाहर रहता है भीतर नहीं । अंतर्लपिका, का उ०—अधर कौन विकल्प को युवति बसति चिति बकि राजा कौन छवयो सुरुषति के परसंग । बसर वा, याम और चामन ।

बहिराँसा—संज्ञा पुं० [सं० बहिराँस] बाहरी कपड़ा । के ऊपर पहनने का कपड़ा ।

बहिराँ—वि० [सं० बहुरा] गंध । या हिं० बहुरा ।

बहिराँ—वि० [सं०] जो बच्चा न हो (बौद्धों के नियमों) । बहिराँ । (२) दूर करना । हटाना । अलग ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

बहिर्युत—वि० [सं०] (१) बाहर किया हुआ । निकाला हुआ । (२) त्यागा हुआ । अलग किया हुआ ।

बही—संज्ञा स्त्री० [सं० बह, हिं० बहा] हिसाब किताब की पुस्तक । सारे कामों का गड़ जो एक में लिखा और जिस पर क्रम से निरंतर प्रति का लेखा लिखा हो । उ०—आता खत जान है बही में बहिराँ पत्राकर ।

बी०—बही खाता । शेरकू बही । हुंडी बही ।

मुहा०—बही पर बहना या टकना = हिसाब की निमित्त दिया जाना । बही पर बहना या टकना पर मिलना । दर्ज करना ।

बहीखाता—संज्ञा स्त्री० [हिं०] हिसाब किताब की पुस्तक । बहीर—संज्ञा स्त्री० [हिं० बीर] (१) सीढ़ । जन ।

उ०—जिहि मारग से बंदिता लेही गई बही । पाटी राम की तिदि चढ़ि रहे बहीर ।—

(२) सेना के साथ साथ चलनेवाली सीढ़ जिसमें से संवक, बूकानदार आदि रहते हैं । पीत का छत्रा

३०—ऐसे रघुवीर छीगनीर के विवेक कवि भीर की बहीर
को समय के निकारिहीं।—हनुमान । (३) सेना
की सामग्री । फौज का सामान । ३०—हुकुम पाय कुत-
घाल ने दई बहीर लदाय ।—सूदन ।

*—अर्थ [सं० बाहस] बाहर । ३०—कोज जाय द्वार
साहि देत हैं कड़ाई सेर । बेर छनि लाओ चले जाय यों
बहीर के ।—प्रियादास ।

बहीरा—संज्ञा पुं० दे० “बहेड़ा” ।

बहु-वि० [सं०] (१) बहुत । एक से अधिक । अनेक ।
(२) ज्यादा । अधिक ।

संज्ञा छी० दे० “बहु” । ३०—गो जनवासहि राज, सुव,
सुतबहुन समेत सय ।—तुलसी ।

बहुकंटक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जवासा । (२)
हिंताल वृत्त ।

बहुकंटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] कंटकारी ।

बहुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) केकड़ा । (२) आक । मदार ।
(३) पपीहा । चातक ।

बहुकन्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] घृतकुमारी ।

बहुकर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) काढ़ू, रेंगेवाळा । (२) ऊँट ।

बहुकरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] काढ़ू । बुहारी ।

बहुकणिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बूसाबानी ।

बहुकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्यंत का नाम । (रामायण)

बहुगंध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाचीनी । (२) कुंदुर ।
(३) पीतचंदन ।

बहुगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बूही । (२) स्वाहजीरा ।

बहुगव—संज्ञा पुं० [सं०] एक पुरुवंशीय राजा । (भागवत)

बहुगुड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कंटकारी । मंटकटैया । (२)
भूम्यामलकी ।

बहुगुना—संज्ञा पुं० [हिं० बहु + गुण] बौद्धे श्रुद्ध का एक गहरा
घरतन जिसके पेंदे बीर श्रुद्ध का घेरा बराबर होता है ।
इससे यात्रा आदि में कई काम हो सकते हैं । भावद इसीसे
इसे बहुगुना कहते हैं ।

बहुग्रंथि—संज्ञा पुं० [सं०] कान का पेड़ ।

बहुश-वि० [सं०] बहुत बातें जाननेवाला । ज्ञानकार ।

बहुटनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बहूटा] बौह पर पढ़नेका एक गहना ।
छोटा बहूटा । ३०—बहु नग लगे जराव की रंगिया भुला
बहुटनी बलय संग को ।—सूर ।

बहुत-वि० [सं० बहुत । अपवा सं० प्रवृत्त, प्रा० बहुता] (१) एक
दे से अधिक । गिनती में ज्यादा । अनेक । जैसे, वहाँ
बहुत से भादमी गए । (२) जो परिमाण में अल्प या न्यून
न हो । जो मात्रा में अधिक हो । जैसे, राज तुमने बहुत
पानी पिया । (३) भावरकड़ा भर या बरसे अधिक ।

यष्टे । बस । काफी । जैसे, अब मत दो, इतना बहुत है ।

मुहा०—बहुत अच्छा = (१) स्वाकृतियुक्त वाक्य । प्रथमस्तु ।
ऐसा ही होगा । (२) धमकी का वाक्य । लै, ऐसा करो,
हम देख लेंगे । कोई परवा नही । बहुत करके = (१) अधि-
कतर । ज्यादातर । बहुधा । प्रायः । अक्सर । अधिक अवसरों पर ।
जैसे, बहुत करके वह शाम ही को आता है । (२) अधिक
संभव है । शीघ्र विले । जैसे, बहुत करके तो वह वहाँ पहुँच
गया होगा, न पहुँचा हो तो भेज देना । बहुत कुछ = काम
नहीं । गिनती करने योग्य । जैसे, अभी उनके पास बहुत
कुछ धन है । बहुत खूब = (१) बाह । क्या कहना है !
(किसी अनेकी बात पर) । (२) बहुत अच्छा । बहुत है =
कुछ नहीं है । (व्यंग्य) । बहुत हो गए = रहने दो,
जाव । चला दो । तुम्हारा काम नहीं ।

क्रि० वि० अधिक परिमाण में । ज्यादा । जैसे, वह बहुत
दोड़ा ।

बहुतफर्की—वि० [हिं० बहुत + फरक, अपवा स्वायें ‘क’] बहुत से ।
बहुतरे । ३०—बहुतक चढ़ी अटारिन्ह निरखहि गगन
बिमान ।—तुलसी ।

बहुता—वि० [हिं० बहुत] (१) बहुत । (२) धनियों की बोली में
सीसरी सौल का नाम । (तीन की संख्या अष्टम समझी जाती
है इससे सौल की गिनती में अब धनिये तीन पर आते हैं तब
यह शब्द कहते हैं) ।

बहुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुत्व । अधिकता ।

बहुताइत—संज्ञा स्त्री० दे० “बहुतायत” ।

बहुतार—संज्ञा स्त्री० [हिं० बहुत + आई (प्रत्य०)] बहुतायत ।
अधिकता । ज्यादाती ।

बहुतात—संज्ञा स्त्री० दे० “बहुतायत” ।

बहुतायत—संज्ञा स्त्री० [हिं० बहुत + आयत (प्रत्य०)] अधिकता ।
ज्यादाती । कसरत ।

बहुतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] काकमाछी ।

बहुतेरा—वि० [हिं० बहुत + परा (प्रत्य०)] [जी० बहुतेरी] बहुत
सा । अधिक ।

क्रि० वि० बहुत । बहुत प्रकार से । बहुत परिमाण में । जैसे,
मैंने बहुतेरा समझाया, पर उसने एक न मानी ।

बहुतेरे—वि० [हिं० बहुतेरी] संख्या में अधिक । बहुत से । अनेक ।

बहुत्व—संज्ञा पुं० [सं०] आधिष्य । अधिकता ।

बहुत्वक—संज्ञा पुं० [सं०] भोजनयत्र ।

बहुत्वच—संज्ञा पुं० [सं०] भोजनयत्र ।

बहुदर्शिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुज्ञता । बहुत सी बातों की
समझ ।

बहुदर्शी—संज्ञा पुं० [सं० बहुदर्शन्] जिसने बहुत कुछ देखा हो ।
ज्ञानकार । बहुज्ञ ।

महुदल-संज्ञा पुं० [सं०] केना नाम का अर्थ ।
 महुदला-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंचु । चंच नाम का साग ।
 महुदुग्ध-संज्ञा पुं० [सं०] गेहूँ ।
 महुदुग्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] घृह का वेद । खुदी ।
 महुधर-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।
 महुधा-क्रि० वि० [सं०] (१) बहुत प्रकार से । अनेक ढंग से ।
 (२) बहुत करके । प्रायः । अक्सर । अधिकतर अवसरों पर ।
 महुधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] साठ संवत्सों में से बारहवाँ संवत्सर ।
 महुधार-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ हीरक । एक प्रकार का हीरा ।
 महुनाद-संज्ञा पुं० [सं०] शंख ।
 महुपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धन्नक । धवरक । (२) व्यास । पलाश । (३) मंशपत्र । (४) मुचकुंद का पेड़ । (५) पलाश ।
 महुपत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तटवीपुष्प वृक्ष । (२) शिवलिंगी जला । (३) गोरकादुग्धी । दुधिया घास । (४) भूभाषा । (५) धीकुवार । (६) वृहती । (७) जतुका । पहाड़ी नाम की जता जिसकी पत्तियाँ दूध के काम में आती हैं ।
 महुपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूम्यामलकी । (२) महाशतावरी । (३) मेथी । (४) पष ।
 महुपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूम्यामलकी । (२) डिङ्गिनी । (३) तुलसी का पौधा । (४) जतुका । (५) वृहती । (६) दुधिया घास ।
 महुपद-संज्ञा पुं० दे० "महुपाद" ।
 महुपाद-वि० [सं०] अधिक पैरोंवाला ।
 संज्ञा पुं० बटवृक्ष । परगढ़ का पेड़ । बड़ का पेड़ ।
 महुपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वीचवै प्रतापति का नाम । (२) सप्तपथ ।
 महुपुत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रक्ष की अनुपरी । एक मान्वा ।
 महुपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारिमर्श वृक्ष । पराह का पेड़ । (२) नीम का पेड़ ।
 महुपुष्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पातकी वृक्ष । घाघ का पेड़ ।
 महुपुत्र-वि० [सं०] जिसके बहुत सगेजन हों ।
 संज्ञा पुं० (१) गृध्र । घूरर । (२) मूँस का पौधा ।
 महुफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्दब । (२) विकटव । कटई । बगमंडा ।
 महुफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूम्यामलकी । (२) सीरा । प्रपुष । (३) पवित्रा । एक प्रकार का बनमंडा । (४) काकामापी । (५) घोरा करेबा । गंगली करेबा । करेबी ।
 महुफली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की जंगली घास जिसका पौधा अन्नपाइन का शा पर बसने छोटा होता है ।

पक्षे शीकके से होते हैं और अग्निये के फूलों के से फीरे हैं के गुच्छे लगते हैं । बैंगली की तरह या पत्रकी भाँति हैं लंबी बड़ होती है । बीम भूरे दलके और शरित्तार पीलों के हो होते हैं तथा बाजार में "बनफली" या "रूई" (हकीमी) के नाम से बिकते हैं ।
 महुफेना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सावला । पीले रंग का घूरर । (२) संज्ञाहनी ।
 महुयल-संज्ञा पुं० [सं०] सिंद ।
 महुयलक-संज्ञा पुं० [सं०] पिपासाल ।
 महुयाहु-संज्ञा पुं० [सं०] रायण । उ०—उति, ज्ञानी, कुसल गृह आहु । नाहिँ त बस होइहि बहुवाहु । तुमी ।
 महुयीज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिनीरा नीयू । (२) बी बाळा केला । (३) शरीफा ।
 महुभापी-संज्ञा पुं० [सं०] महुभापि । बहुत मोहनेवाला धकवादी ।
 महुभुजलेय-संज्ञा पुं० [सं०] रेलामणित में वह चंद्र को सा से अधिक रेलामों से चिरा दे ।
 महुभुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हुग्रा ।
 महुभंजरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी ।
 महुभत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अलग अलग बहुत ते भग । बहुत से लोगों की अलग अलग राय । जैसे, बहुमत से राय विगड़ जाती है । (२) बहुत से लोगों की मिश्रण एक राय । अधिकतर लोगों का एक मत । जैसे, तमों में बहुमत से यह प्रस्ताव पास हो गया ।
 महुमल-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा नाम की धातु ।
 महुमूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें रोगी को मूत्र बहुत बतरता है । पेशाब अधिक जाने का रोग ।
 विशेष—यह रोग दो प्रकार का होता है । एक में तो केवल जल का मूत्र ही बहुत बतरता है, दूसरे में मूत्र के साथ शर्करा या मधु निकलता है । महुमूत्र रोग में प्रायः यही दूसरे प्रकार का रोग घटका जाता है । यह रोग अचर रोग है और इसमें रोगी की आधु दिन दिन मीठ होती चली जाती है । बीच में यह प्रमेद के संतान लग गया है । विशेष—दे० "महुमेह" ।
 महुमूर्ति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बनदशास । (२) विष्णु । (३) बहुरूपिण ।
 महुमूल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामदार । साकंडा । (२) मरसल । (३) मोमोजन । शिपु । राहिन । तंत्रा ।
 महुमूलक-संज्ञा पुं० [सं०] सत । शरीर ।
 महुमूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] यतावरी ।
 महुमूल्य-वि० [सं०] अधिक मूल्य का । कीमती ।

बहुरंगा-वि० [हि० बहु + रंग] (१) कई रंग का । चित्रविचित्र ।
(२) बहुरूपधारी । (३) मनमौजी । अस्तिरचित का ।
बहुरंगी-वि० [हि० बहुरंगा + ई] (१) बहुरूपधारी । अनेक प्रकार
के रूप धारण करनेवाला । (२) अनेक रंग दिखानेवाला ।
अनेक प्रकार के कर्तव्य या चाल दिखानेवाला । (३) मन-
मौजी ।

बहुरंभिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेढा ।
बहुरना-कि० प्र० [सं० प्रपूयन्, प्रा० प्रपूयन्] (१) लौटना ।
फिर कर आना । वापस आना । (२) फिर हाथ में आना ।
फिर मिलना ।

बहुरिक्ता-कि० वि० [हि० बहुरिक्ता । बहुरि=फिर कर] (१)
पुनः । फिर । (२) इसके उपरांत । पीछे । अनंतर । उ०—
आगे चले बहुरि रघुराई ।—तुलसी ।

बहुरिया-संज्ञा स्त्री० [सं० बहु-रि, बहु-रि, प्रा० बहु-रि] नई बहू ।
बहुरी-संज्ञा स्त्री० [हि० नीरना = भूना] भुना हुआ लड़ा अन्न ।
चवेय । चवेना ।

बहुरूप-वि० [सं०] अनेक रूप धारण करनेवाला ।
संज्ञा पुं० (१) विष्णु । (२) शिव । (३) कामदेव । (४)
सरल । गिरगिट । (५) ब्रह्मा । (६) बाल । मिश्रवत के बीच
और मेघातिथि के पुत्र का नाम (भाग०) । (७) एक वर्ष का
नाम । (८) एक छंद का नाम । (९) तांडव नृत्य का एक
भेद जिसमें अनेक प्रकार के रूप धारण करके नाचते हैं ।

बहुरूपक-संज्ञा पुं० [सं०] एक नष्ट ।
बहुरूपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) अग्नि की सात
विधाओं में से एक ।

बहुरूपिया-वि० [हि० बहु + रूप] (१) अनेक प्रकार के रूप
धारण करनेवाला । (२) नकल बननेवाला ।
संज्ञा पुं० वह जो तरह तरह के रूप बना कर अपनी
भीविका करता है ।

बहुरूपी-वि० [सं० बहुरूपिन्] अनेक रूप धारण करनेवाला ।
संज्ञा पुं० बहुरूपिया ।
बहुरेतस्-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा ।
बहुरेमा-संज्ञा पुं० [सं० बहुरेम्] (१) मेघ । मेढ़ा । (२)
लोमया । (३) यंदर ।

बहुल-वि० [सं०] अचुर । अधिक । ज्यादा ।
संज्ञा पुं० (१) आकाश । (२) सनेह मित्र । (३) कृष्ण-
वर्ण । (४) कृष्ण पक्ष । (५) अग्नि । (६) महादेव ।

बहुलगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी इलायची ।
बहुलच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] छाट सें जना । छाट सें जिन ।
रक्त शिम् ।

बहुलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुतायत । अधिकता । बाहुव्य ।
प्राचुर्य ।

बहुला-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाय । (२) एक गाय जिसके
सत्य व्रत की कथा पुराणों में है और जिसके नाम पर लोग
आड़ों बड़ी चौथ और साध बड़ी चौथ को व्रत करते हैं ।
(३) नीलिका । नील का पीया । (४) एक देवी का नाम
(कविका पु०) । (५) इलायची । (६) एक नदी का
नाम (सारकंडेय पु०) । (७) कृत्तिका नक्षत्र ।

बहुलाचौथ-संज्ञा स्त्री० [सं०] भादों बड़ी चौथ । इस दिन
बहुला गाय के सत्य व्रत के स्मरणार्थ व्रत किया जाता है ।
बहुलायन-संज्ञा पुं० [सं०] बृंदावन के दक्ष घने में से एक
वन । कहते हैं इसी वन में बहुला गाय ने व्याघ्र के साथ
अपना सत्य व्रत निवाहा था ।

बहुलाञ्ज-संज्ञा पुं० [सं०] मिथिला के एक परम भागवत राजा
(भागवत) ।

बहुलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सप्तर्षि मंडल ।
बहुली-संज्ञा स्त्री० [सं० बहुली] इलायची । उ०—वृक्षा, मरुआ,
कुंद से कई गोद बसारी । बकुल, बहुलि, बट, कर्मन वै
ठाड़ी प्रजनारी ।—सूर ।

बहुवचन-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण की एक परिभाषा जिससे
एक से अधिक वस्तुओं के होने का बोध होता है । जमा ।
बहुवर्त्म-संज्ञा पुं० [सं०] आँखों का एक रोग जिसमें पलका के
चारों ओर छोटी छोटी कुँसियाँ ली फैल जाती हैं ।

बहुवार-संज्ञा पुं० [सं०] लिसोई का पेड़ ।
बहुविच-वि० [सं०] बहुत सी बातें जाननेवाला । बहुज्ञ ।
बहुवीर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विभीतक । बहेड़ा । (२)
सैमर का पेड़ । शाकम्बी । (३) मरवा ।

बहुवीहि-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में छ प्रकार के समासों में
से एक जिसमें दो या अधिक पदों के मिलने से जो समस्त
पद बनता है वह एक अन्य पद का विशेषण होता है ।
जैसे, आरुद्रवानर वृक्ष = यह वृक्ष जिस पर अरुद्र
आरुद्र हो ।

बहुशुभ-संज्ञा पुं० [सं०] बटक । गौरा पक्षी ।
बहुशाल्य-संज्ञा पुं० [सं०] रक्त खदिर । छाट खैर ।
बहुशाख-संज्ञा पुं० [सं०] स्तुरी । पूहर ।
बहुशिखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गजपिप्लकी ।
बहुशिद-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।
बहुशृंग-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

बहुश्रुत-वि० [सं०] जिसने बहुत सी बातें सुनी हों । जिसने
अनेक प्रकार के विद्वानों से भिन्न भिन्न शास्त्रों की बातें
सुनी हों । अनेक विषयों का जानकार । बहुर ।

बहुसंस्कृत-संज्ञा पुं० [सं०] गिनती में बहुत ।
बहुसंसार-संज्ञा पुं० [सं०] खदिर । रंर ।
बहुसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] शूकरी । माशा सूचर ।

यहूजय-वि० [सं०] शलकी वृक्ष । सलई ।
 यहूजय-संज्ञा पु० [सं०] (१) बहल । (२) शल ।
 यहूजय-संज्ञा पु० [सं०] बहल, प्र० बहल । [श्री०] अथ० बहल ।
 यह पर पहनने का एक गहना ।
 यहू-संज्ञा श्री० [सं० वृ०] (१) पुत्रवधू । पतोह । (२)
 पत्नी । स्त्री । (३) बेहदे नव-विवाहिता स्त्री । हुलहिन ।
 यहूकरी-संज्ञा श्री० दे० "यहूकरी" ।
 यहूदक-संज्ञा पु० [सं०] सन्यासियों का एक भेद । एक प्रकार
 का संन्यासी ।
 यिथेय—येसे संन्यासियों के सात घर में भिन्न भाग
 कर निर्वाह करना चाहिए । यदि एक ही गृहस्थ भ्रम
 पैठ भोजन दे तो भी नहीं लेना चाहिए । इनके खिन्ने भाग
 की पूँछ के रोपूँ से बैषा मिर्दंड, शिख्य, कोपीन, कर्मडलु,
 गाम्रावदादन, कंषा, पादुका, वृत्र, पवित्र, चर्म, सूची,
 पश्चिमी, रुद्राक्ष माला, बहिर्वास, दानिय और कृपाय
 रखने का विधान है । इन्हें सर्वोप में अथम और अस्तक
 पर मिर्दंड धारण करना चाहिए तथा सिखा सूत्र न
 छोड़ना चाहिए और योगाभ्यास भी करना चाहिए ।
 यहूपमा-संज्ञा श्री० [सं०] यह अर्थलंकार जिसमें एक उप-
 मेय के एक ही धर्म से अनेक उपमान बड़े जायें । जैसे,
 हिम हर हीरा हँव से। जस तेरो जसयंत । (युगविदान)
 यहूगया-संज्ञा पु० [सं० विद्वान्] (१) एक वही जिसे सुनंगा
 या कपोतिया भी कहते हैं ।
 वि० [सं० विद्वान्] (१) युगकृष्ट । दूसर उधर घूमनेवाला ।
 (२) आचारा । यहूद ।
 यहूत-संज्ञा श्री० [हि० बल + धत (प्रत्यय)] यह काली मिट्टी जो
 तालों या गाड़ों में बह कर जमा हो जाती है । इसी मिट्टी
 के चपरे धनते हैं ।
 यहूगया-संज्ञा पु० [दे०] चौपायों की गुदा के पास एक के
 नीचे की मोसमिय ।
 यहूचा-संज्ञा पु० [दे०] घड़े का दाँवा जो पाक पर से गड़ कर
 बसा जाता है । इसे जब बाघी धीर पिटने से पीट कर
 बड़ाते हैं तब यह बड़े के रूप में जाता है । (कुम्हार)
 यहूझा-संज्ञा पु० [सं० मिर्मिक, प्र० बेटेच] एक बड़ा और
 ऊँचा जंगली पेड़ जो अशुभ की भाति का माना गया है ।
 यह वनमंड में पत्ते झाड़ना है और सिब चार राजपूताने
 आदि राजे ग्यालों के छोड़ भागवत के जंगलों में सवेष्ट
 होता है । बरमा और सिहल में भी यह पाया जाता है ।
 इसके पत्ते मछूँ के से होते हैं । कुछ बहुत छोटे छोटे होते
 हैं जिन्हें गड़ने पर बड़ी बर के होने पर फट गुप्तों में
 जगते हैं । इनमें कमाच बहुत होता है इनसे ये बमझा
 मिष्ठाने और रंगारे में काम आते हैं । ताजे फलों को मछूँ

बहरी जाती भी हैं । वैद्यक में यहूँ का बहुत व्यवहार है ।
 प्रसिद्ध औषध त्रिफला में हड़, यहूँ और भाँडा से बना
 वस्तु होता है । वैद्यक में यहूँ का स्वादापी कसेरा, रस
 विष-नाशक, उष्णवीर्य, गीतल, भेदक, कासनाशक, रुक्ता,
 नेत्रों को हितकारी, केशों को सुंदर करनेवाला तथा कृमि
 और स्वरभंग को नष्ट करनेवाला माना गया है । यहूँ के
 पेड़ से एक प्रकार का गोंद भी निकलता है जो पानी में
 नहीं घुलता । खकड़ी इसकी चपड़ी नहीं होती पर लगे
 हलके संदूक, हल या गाड़ी बनाने के काम में जाती है ।
 यहूँ—विभीतक । कजिद्रुम । कल्पवृक्ष । संतर्प ।
 अथ । तुष । कर्पकल । भूतयास । कुशिक । कुशी ।
 तैलकल । वासंत । द्वार्य । विषय । बलि । कात ।
 तोलकल । तिलपुष्पक ।
 यहूँ-वि० [हि० बहना] (१) बहा बहा फिरनेवाला । इस
 उधर मारा मारा फिरनेवाला । जिसका कहीं ठौर निगम
 न हो । (२) आचारा । बर्ष घूमनेवाला । निगमा ।
 यहूँ-संज्ञा पु० दे० "यहूँ" ।
 यहूँ-संज्ञा श्री० [हि० बहना] बहना । हीना । ३०—
 मोहि न पयाहु तो संग हरिदासी हुती पछि ऐसि बू
 यहि धौं बड़ा भये। मेरी हीं । प्यारी रोहि गँगाध न प्रवि
 सुाङ्गि दिया जान दै हतनी बहरी हीं ।—हरिदास ।
 यहूँ-संज्ञा पु० [सं० बह] कुत्ती का एक पेश ।
 यहूँ-संज्ञा पु० [सं० बह + देश] पशु पक्षियों की
 एकदूने या मारने का व्यवसाय करनेवाला । शिकारी ।
 खेरी । व्याघ । पिङ्गार ।
 यहूँ-संज्ञा पु० [हि० बहना] फेरा । बापसी । पना ।
 ३०—सबही लीन्ह विसाहना बह पर कीन्ह बाँ ।
 बागहन तहवाँ खेद का गाँठि सोडि सुदि बोर ।—रावली ।
 हि० वि० दे० "बहोरि" ।
 यहूँ-संज्ञा पु० [हि० बहना] (१) लौटाना । वाप
 करना । फेरना । पलटाना । (२) (चौपायों को) धर की
 ओर डालना । डालना ।
 यहूँ-अथ० [हि० बहोरि] पुनः । फिर । दूसरी बार ।
 ३०—अस्तुति कीन्ह बहोरि बहोरि ।—नृदत्त ।
 यहूँ-संज्ञा पु० [वृ०] भाव के बोलने का शब्द ।
 † संज्ञा पु० [हि० बह] बह । दका । बह । ३०—(४)
 धौं आगत यहि गली रदवी बजाय पक्षी न । दायन की सार
 रहे सुचे रहत न नैन ।—विहारी । (५) मैं तो से के बी
 बहो दू कमि इन्हें पायाय । जगजगती बरि कोपनि रा
 में लाई लाय ।—विहारी ।
 यहूँ-संज्ञा पु० [सं० बह] (१) बहावना बना हुआ रोंग जो
 बर्षों की बह में पहनाया जाता है । सुनद पर पहने

का एक आभूषण । (२) एक प्रकार का चाँदी का गहना जो पैरों में पहना जाता है । (३) हाथ में पहनने की एक प्रकार की पट्टी या चौड़ी चूड़ी । (४) लोहारों का लोहे का बना हुआ शिकंजा जिसमें जकड़ कर किसी लोहे की चीज को रेतते हैं । (५) नदी का मोड़ । (६) सरोते के आकार का वह औजार जिससे गन्ना छीलते हैं । (७) कमान । धनुष । (८) टेढ़ापन । (९) एक प्रकार की छोटी छुरी जो आकार में कुछ टेढ़ी होती है । (१०) बाँक नामक हथियार चलावे की विद्या । (११) एक प्रकार की कसरत जिसमें बाँक चलाने का अभ्यास किया जाता है । यह कसरत बैठ या खेदकर होती है ।

वि० [सं० बंक] (१) टेढ़ा । घुमावदार । (२) बाँका । तिरछा । उ०—बाँक नयन अरु अंजन रेखा । संज्ञन जान सरदरिह देखा ।—जायसी ।

संज्ञा पु० [?] जहाज के ढाँचे में यह गहरीर जो खड़े बल में लगाया जाता है ।

संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की घास ।

वाँकड़ा-वि० [हिं० बाँका + द्रा० (प्रत्य०)] वीर । साहसी । बहादुर । दे० “बाँकुरा” ।

संज्ञा पु० [सं० बंक] छुकड़े के बाँक की वह लकड़ी जो घुरे के नीचे बाड़े बल में लगी होती है ।

वाँकड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं० बंक + स्त्री (प्रत्य०)] बाइले और कलाबू का बना हुआ एक प्रकार का सुनहला या रुप-हला फीता जिसका एक सिरा फंगुरेदार होता है और जो किसी की पोली आदि में शोभा के लिए टाँका जाता है ।

वाँकड़ोटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँक] एक प्रकार का शस्त्र । उ०—बाँकड़ोटी फरसानि लै हाथ कौं । खंजरी पंजरी में करे घाव कौं ।—सूदन ।

वाँकनल-संज्ञा पु० [सं० बंकल + स्त्री (प्रत्य०)] लोहारों का एक औजार जिससे सूँक मार कर टाँका लगाते हैं । यह पीतल की पानी हुई एक छोटी सी नली होती है । इसके एक छोर से सूँक सारी जाती है और दूसरे सिरे से, जो टेढ़ा होता है, दीप की लौ से टाँका गलाकर लगाते हैं ।

वाँकना-क्र० प्र० [सं० बंक] टेढ़ा करना । उ०—जोहि जिय मनहि होय सत भारु । परे पहर नहि बाँके भारु ।—जायसी ।

मुहा०—वाल बाँकना = दे० “वाल” के अंतर्गत “वाल बाँका करना” ।

† कि० अ० टेढ़ा होना ।

वाँकपन-संज्ञा पु० [हिं० बाँका + पन (प्रत्य०)] (१) टेढ़ापन । सिंघापन । (२) टैलापन । अकथेलापन । (३) बनावट । सजावट । बज्रपट्टी । (४) छवि । शोभा ।

वाँका-वि० [सं० बंक] (१) टेढ़ा । तिरछा । (२) अत्यंत साहसी । बहादुर । वीर । (३) सुंदर और बना ठना । जो अपने शरीर को खूब सजाए हो । छैला ।

संज्ञा पु० [सं० बंक] (१) लोहे का बना हुआ एक प्रकार का हथियार जो टेढ़ा होता है और जिससे बाँसफोड़ लोग बाँस काटते छाँटते हैं । उ०—खिन खिन जीव सँझासन आँका । और नित डोम बुवावहि बाँका ।—जायसी । (२) एक प्रकार का कीड़ा जो धान की फसल को हानि पहुँचाता है । (३) बारात आदि में अथवा किसी जलूस में वह बाढक या युवक जो खूब सुंदर वस्त्र और झलंकार आदि से सजा कर तथा पाछकी आदि पर बैठ कर शोभा के लिए निकाला जाता है ।

वाँकिया-संज्ञा पु० [सं० बंक + टेढ़ा] नरसिंह नाम का सूँक कर बजानेवाला बाजा जो आकार में कुछ टेढ़ा होता है । यह पीतल या ताँबे का बनता है ।

वाँकी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँका] लोहे का बना हुआ एक औजार जिससे बाँसफोड़ लोग बाँस की कटियाँ काटते, छीलते या दुस्त करते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [प्र० बाँकी] (१) भूमिकर । लगान । (२) दे० “बाँकी” ।

वाँकुड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० “बाँकड़ी” ।

वाँकुर, वाँकुरा-वि० [हिं० बाँका] (१) बाँका । टेढ़ा । (२) पैना । पतलीधार का । (३) कुराल । चतुर । उ०—(क) जौ जगविदित पतितपावन अति बाँकुरे विरुद न बहते ।—तुलसी । (ख) प्रभु प्रताप सर सहज असका । रन बाँकुरा बाजिसुत बँधा ।—तुलसी ।

वाँग-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) भावान् । शब्द । (२) पुकार । चिन्हावट । (३) वह कैला शब्द वा मंत्रोच्चारण जो वामान का समय बताने के लिए कोई मुन्हा मसजिद में करता है । अत्रान ।

कि० प्र०—देना ।

(४) प्रातःकाल के समय सुरंग के बोलने का शब्द ।

कि० प्र०—देना ।

वाँगड़ा-वि० [हिं० बाँगर] खूब । खेदक । दुःखेदि । वाँगर-संज्ञा पु० [दे०] (१) छकड़ा गाड़ी का वह बाँस जो फड़ के ऊपर लगा कर फड़ के साथ बाँध दिया जाता है । (२) खाद के विरुद्ध वह भूमि जो कुछ ऊँचे पर अवस्थित हो । वह भूमि जो नदी कील आदि के बढ़ने पर भी कभी पानी में न डूबे । (३) अवध में पाए जानेवाले एक प्रकार के बँल ।

वाँगा-संज्ञा पु० [दे०] वह रुई जो छोटी न गई हो । बिनोके समेत रुई । कपास ।

पंगुर-संज्ञा पुं० [दे०] पशुओं या पक्षियों का फैलाने का जाल। पंदा। उ०—पंगुर विषम सेराह मगदु आग मृग भागवत।—गुलसी।

पंगुना-क्रि० सं० [सं० पंगुन] पड़ना। उ०—(क) जाह बिधिहि तिम दीन्द से पाती। बाँवत प्रीति न हृदय समाली।—गुलसी। (ख) सर झुलती ऊपर गरी कज्जल जल दिराकाय। पिय पाती गिन ही लिखी पंगीची बिरह बलाय।—पिहारी।

† क्रि० सं० [सं० पंगुना] रोप रहना। पाकी रहना। बघ रहना। उ०—(क) सत्यकेतु-कुल कोट न पाँचा। विप्र साय किमि होय भसाँचा।—गुलसी। (ख) सेहि कारण खल अय लगि पाँचा। अब तय काळ सीस पर नाचा।—गुलसी। (ग) महिमा मृगी कौन सुकृती कीकल बचन विशिष में पाँची।—गुलसी।

क्रि० सं० [हिं० पंगना] पचाना। पौड़ा देना। उ०—(क) बाळ विलोकि बहुत में पाँचा। अब यह भरमहार भा साँचा।—गुलसी। (ख) को मामा रघुवीरहि पाँची। सब बाहु मानी करि साँची।—गुलसी।

पाँछना-क्रि० सं० [सं० पाँछा] इच्छा। अभिलाषा। कामना। आकांक्षा। उ०—यह पाँछना होइ क्यों पूरन दासी हूँ यह प्रज रहिये।—सूर।

क्रि० सं० (१) चाहना। इच्छा करना। अभिलाषा करना। उ०—महा मुक्ति कोऊ नहि पाँछि यद्वि पदारथ पाती। सूरदास स्वामी मन मोहन मुरति की बलिहारी।—सूर। (२) अच्छी या पुरी चीजें चुनना। छुटना।

पाँछा-संज्ञा स्त्री० [सं० पाँछा] इच्छा। कामना। अभिलाषा। आकांक्षा।

पाँछित-वि० [सं० पाँछित] अभिलाषित। इच्छित। जिसकी इच्छा की जाय।

पाँछी-संज्ञा पुं० [सं० पाँछिन्] अभिलाषा करनेवाला। चाहने वाला।

पाँझ-संज्ञा स्त्री० [सं० पंजा] (१) वह स्त्री जिसे संतान होती हो न हो। बच्चा। (२) कोई मादा जिसे बच्चा न होता हो। संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार का पहाड़ी वृक्ष जिसके फलों की गुच्छिकाएँ पक्षों के गले में, उनको रोग आदि से बचाने के लिये, बाँधी जाती हैं।

पाँझफोली-संज्ञा स्त्री० [सं० पंजाफोली] बन कटोड़ा। सेतुपा। बन पाखल।

पाँझपन, पाँझपना-संज्ञा पुं० [सं० पंजा + पन (पुन)] पाँझ होने का भाव। बंझपन।

पाँट-संज्ञा पुं० [हिं० पाँटा का भाव] (१) बाँटने की क्रिया या भाव। (२) भाग। हिस्सा। बचारा।

मुहा०—पाँट पड़ना = हिस्से में जाना। किसी में, प किसी पास बहुत परिणाम में होना। उ०—बिरदेह मुरी पाथी हठि सयलो बैर बढ़ायो।—गुलसी। पाँट में पड़ना = दे० “पाँट पड़ना”।

(३) घास या पशाल का घना हुआ एक मोटा सा एक जिसे गाँव के लोग कुँवार सुरी १४ को पचाने में दो दोनोँ थोर से कुछ कुछ लोग इसे पकड़ कर उसे सब थोर सानी करते हैं जब तक यह टूट नहीं जाता।

पौ०—पाँटा चौदस = कुँवार सुरी १४ मिन दिन पाँट में जाता है।

(४) दे० “पाट”।

संज्ञा पुं० [दे०] (१) गीमों आदि के लिए एक निम्न प्रकार का भोजन जिसमें खरी, चितौड़ा आदि चीं रहती हैं। इससे इनका रूप बढ़ जाता है। (२) दे नाम की घास को घान के खेतों में डग कर हलसी घन को हानि पहुँचाती है।

पाँटचूँट-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँट + चूँट पशु०] (१) बाघ। हिस्सा बचारा। (२) देन खेन। देना दिखाना।

पाँटना-क्रि० सं० [सं० पाँटना] (१) किसी चीज के कई भागों के अलग अलग करना। (२) हिस्सा बचारा। विभाग करना। जैसे, लहँते अपनी सारी जगह अपने दोनोँ भाइयों थोर सीने लड़कों में बाँट दी। (३) थोड़ा थोड़ा सबको देना। वितरण करना। जैसे, जो बाँटना, ऐसे बाँटना।

संज्ञा पुं० क्रि०—पाँटना।—देना।

क्रि० सं० दे० “पाँटना”।

पाँटा-संज्ञा पुं० [हिं० पाँटा] (१) बाँटने की क्रिया या भाव। (२) भाग। हिस्सा। (३) गाने बजानेवालों आदि का वह इनाम जो वे आपस में बाँट लेते हैं। ॥ एक हिस्से का निहा हुआ पुरस्कार।

क्रि० प्र०—पाँटना।—जमाना।—पाना।—देना।—लेना।

पाँझ-संज्ञा पुं० [दे०] दो नदियों के संगम के बीच की पट्टी जो पक्षों में नदियों के पक्षों से बह जाती है थोर कि कुछ दिनों में निकल जाती है। इस पट्टी पर घेरी अच्छी होती है।

वि० दे० “पाँझ”।

पाँझा-संज्ञा पुं० [दे०] (१) वह पशु जिसकी पूँछ बट गई हो। (२) परिवारहीन पुरुष। वह मर्द जिसके दाढ़े बाँके न हों। (३) सेता।

वि० जिसके पूँछ न हो।

पाँझी-संज्ञा स्त्री० [दे०] (१) बिना पूँछ की माव। (२) कोई मादा पशु जिसकी पूँछ न हो या बट गई हो। (३) छोटी स्त्री। बच्ची।

बाँड़ीबाज़-संज्ञा पुं० [हिं० बाड़ी + बां + क्त] (१) लाठीबाज़ ।

लकड़ी से लड़नेवाला । (२) उपद्रवी । शरारती ।

बाँदा-संज्ञा पुं० [फा० बाँदा] (१) सेवक । दास । उ०-ब्रह्मा-
गीर वै चित्ती निहकलंक जस बाँदा । वै मखकुम जगत
के हैं बहि घर को बाँदा ।-जायसी ।

बाँदर-संज्ञा पुं० [सं० बांर] बंदर ।

बाँदा-संज्ञा पुं० [सं० बंदक] (१) एक प्रकार की बंदस्पति जो
अन्य वृष्टों की शाखाओं पर उगकर पुट होती है ।

पयो०-तदभुक् । शिली । वृक्षहा । गंधमादनी । वृषा-
दनी । श्यामा ।

(२) किसी वृष पर उगी हुई कोई दूसरी वनस्पति ।

बाँदी-संज्ञा स्त्री० [फा० बाँदा] लोधी । दासी ।

मुहा०-बाँदी का बेटा या जना = (१) परम अधीन । अव्यक्त
आशाकारी । (२) तुच्छ । हीन । (३) वर्णसंकर । वेगमत्ता ।

बाँदू-संज्ञा पुं० [सं० बाँदी]-बैधुवा । कैदी । उ०-वाँलन फिर
फिर परा सो बाँदू । उड़ि न सकहिँ डरके, अप बाँदू ।-
जायसी ।

बाँध-संज्ञा पुं० [हिं० बाँधना = रोकना] नदी या जलाशय आदि
के किनारे मिट्टी पथर आदि का बनाया हुआ धुरस । यह
पानी की बाढ़ आदि रोकने के लिये बनाया जाता है ।
धुरस । बाँध । उ०-खेत फटिक जस लाँतै गढ़ा । बाँध
बढाय चहुँ गढ़ मढ़ा ।-जायसी ।

क्रि० प्र०-बाँधना ।

बाँधना-क्रि० सं० [सं० बाँध] (१) रस्ती, तागे, कपड़े आदि की
सहायता से किसी पदार्थ को बाँधन में करना । रस्ती, डोरे
आदि की लपेट में इस प्रकार दबा रखना कि कहीं इधर
वधर हट न सके । कसने या जकड़ने के लिये किसी
चीज के बरे में लाकर गाँठ देना । जैसे, हाथ पैर बाँधना ।
घोड़ा बाँधना । (२) रस्ती, तागा आदि किसी वस्तु
में लपेटकर इड़ फरना जिससे वह वस्तु अथवा रस्ती या
तागा इधर वधर हट या सरक न सके । कसने या जकड़ने के
लिये रस्ती आदि लपेटकर उसमें गाँठ लगाना । जैसे, रस्ती
बाँधना । जंजीर बाँधना । (३) कपड़े आदि के कोनों को
बाँधों घोर से बटोरकर और गाँठ देकर मिलाकर जिसमें
संयुक्त सा बन जाय । जैसे, गठरी बाँधना । (४) बाँधों और
से बटोरे या लपेटे हुए कपड़े के भीतर करना । जैसे, यह
धोती गठरी में बाँध लो । (५) कैद करना । पकड़कर
बंद करना । (६) नियम, प्रभाव, अधिकार, प्रतिज्ञा
या शपथ आदि की सहायता से मर्यादित रखना । ऐसा
प्रबंध या नियंत्रण करना जिससे किसी को किसी विशेष
प्रकार से व्यवहार करना पड़े । बाँध कराना । जैसे, (क)
घापको सो गन्हीने पथग लेकर बाँध लिया है । (ख) सब

लोग एक ही नियम से बाँध लिए गए । (ग) मंत्र, तंत्र
आदि की सहायता से अथवा और किसी प्रकार प्रभाव,
शक्ति या गति आदि को रोकना । जैसे, (क) यह देवते
ही सर्प को बाँध देते हैं, उसे अपनी जगह से थामे बढ़ने
ही नहीं देते । (ख) आजकल पानी नहीं बरसता, मानो
किसी ने बाँध दिया है । (ग) प्रेम-पाश में बंद करना ।
(४) नियत करना । मुकर्रर करना । ऐसा करना जिससे
कोई वस्तु किसी रूप में स्थिर रहे या कोई बात बराबर हुंदा
करे । जैसे, हद बाँधना । महसूल बाँधना । महीना बाँधना ।
(१०) पानी का बहाव रोकने के लिये बाँध आदि बनाना ।
(११) चूर्ण आदि को घाँघों से दवाकर पिंड के रूप में ढाना ।
जैसे, लड्डू बाँधना, गोली बाँधना । (१२) मकान आदि
बनाना । जैसे, घर बाँधना । (१३) किसी विषय
का, वर्णन आदि के लिये, दाँचा या ध्यूल रूप तैयार
करना । रचना के लिये सामग्री जोड़ना । उपक्रम करना ।
योजना करना । ब्यास करना । बैधाना । बेदिश करना । जैसे,
रूपक बाँधना । मजमून बाँधना । (१४) क्रम या व्यवस्था
आदि ठीक करना । जैसे, कतार बाँधना । (१५) ठीक
करना । सुसज करना । मन में बैधाना । स्थिर करना । जैसे,
मंजूषा बाँधना ।

संयो० क्रि०-ढालना ।-देना ।-लेना ।

(१६) किसी प्रकार का यज्ञ या शस्त्र आदि साथ रखना ।
जैसे, हथियार बाँधना । तलवार बाँधना ।

बाँधनीपैरि-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँधना + पैरि] पशुओं के बाँधने
का स्थान । पशुशाला । उ०-कविपाल चरामो लै आयो घर
फिरि बाँधनीपैरि सुहावनी है ।-गवाल ।

बाँधनू-संज्ञा पुं० [हिं० बाँधना] (१) वह वपय जो
किसी कार्यके आरंभ करने से पहले सोचा या किया जाय ।
पहले से ठीक की हुई तरकीब या विचार । उपक्रम ।
मंजूषा ।

क्रि० प्र०-बाँधना ।

(२) कोई बात होनेवाली मानकर पहले से ही उसके
संबंध में तरह तरह के विचार । क्याली पुछाव ।

क्रि० प्र०-बाँधना ।

(३) झूठा दोष । मिथ्या अभियोग । तोहमत । कलंक । (४)
कल्पित बात । मन से गड़ी हुई बात । (५) कपड़े की
रंगाई में बंद बाँधन जो रंगोंज लोग चुनरी या लहरि-
दार रंगाई आदि रंगने के पहले करके में बाँधते हैं ।

क्रि० प्र०-बाँधना ।

(६) चुनरी या और कोई ऐसा वस्त्र जो इस प्रकार बाँध
कर रंगा गया हो । उ०-ऊँटे पद्माकर रंगी बाँधनू बसन-
वारी का प्रभ-बसनकारी हयो हलनारी है ।-पद्माकर ।

पाँधय-संज्ञा पु० [सं०] (१) माह । संयु । (२) नावेदार ।
रिखेदार । (३) मित्र । दोस्त ।

पाँध-संज्ञा स्त्री० [दं०] एक प्रकार की मछली जो साँप के
आकार की होती है ।

पाँधी-संज्ञा स्त्री० [सं० वाक्प्रीति] (१) दीमकों के रहने का
भीटा । दीमकों का बनाया हुआ मिट्टी का भीटा । बँधीठा ।
(२) वह थिल जिसमें साँप रहता हो । साँप का थिल ।

पाँधी-संज्ञा स्त्री० दे० "पाँधी" ।

पाँधी-दि० दे० "पाँधी" ।

पाँधियाड़ी-संज्ञा स्त्री० [प] एक प्रकार का रस जो लहसुनिवा
की जाति का होता है ।

पाँधियाड़ी-संज्ञा पु० [सं० वामन] वामन । यौना । बहुत दिग्गम ।

पाँस-संज्ञा पु० [सं० वंश] (१) वृष जाति की एक प्रसिद्ध
यमस्वति जिसके बाँझों में छोटी छोटी दूर पर गाँड़ होती हैं और
गाँड़ों के बीच का स्थान प्रायः कुछ पोछा होता है ।
भारत में इसकी दोस, पोखी, मोटी, पतली, लंबी, छोटी
आदि प्रायः २८ जातियाँ और १०० से ऊपर उपजातियाँ
होती हैं । घोंसे, नरी, दिग्गल, कँठपाँस, घोरों, नलपाँस,
देवपाँस, बाँसिनी, गोबिया, खतंग (तिनवा), कोकपा,
सेमसई (सीजी), राँग, तिरिया, कँदल, मूजी (पेवा),
धुलंगी आदि । यह गरम देशों में अधिक होता है और
बहुत से कामों में आता है । इससे चढाईयाँ, टोकरियाँ, पंखे,
कुरसियाँ, दहल, छप्पर, छड़ियाँ आदि अनेक चीजें बनती
हैं । कहीं कहीं तो लोग केवल पाँस से ही सारा मकान
बना लेते और कहीं कहीं कच्चे पाँस के चोगों में भर कर
बावट तक एका लेते हैं । इसके रेतों से मिमियाँ भी
बनती हैं । इसके कोपलों का मुरम्बा और अचार भी तैयार
किया जाता है । इसके रेतों से मजबूत कामज बनता है ।

प्रायः एक ही स्थान पर बहुत से पाँस एक साथ एक
कुलमुट में इकट्ठा होते हैं जिसे कोटी कहते हैं । गरम देशों
में प्रायः बहुत बड़े तथा मोटे और रंगे देशों में छोटे और
पतले पाँस होते हैं । कुछ पाँस ऐसे होते हैं जो जड़ की
आर अधिक मोटे और सिरे की ओर पतले होते जाते हैं ।
कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी मोटाई सब जगह बराबर
रहती है । ऐसे पाँस प्रायः सुड़ियाँ और साते की बंढियाँ
बनाने के काम में आते हैं । बहुत बड़े पाँस प्रायः ली ली
हाथ तक लंबे होते हैं । कुछ छोटे पाँस खता के रूप
में भी होते हैं । सब प्रकार के पाँसों में एक प्रकार के फूट
लगते हैं, पर कुछ बाँस, विशेषतः बड़े पाँस, फूटने के
पीछे प्रायः टूटन नष्ट हो जाते हैं । पाँस के फूट आकार
में कई की जाती हैं जिनमें से एक ही होती है और इनमें छोटे छोटे
राने होते हैं जो बावट कहलाते हैं और दीमकर बना

आदि के घाटे में मिटाकर खाये जाते हैं । यह एक विर-
चण बात है कि प्रायः अकाल के समय बाँस परिवर्त-
से फूटते हैं और उस समय इसी फूटने के कारण कई
आदमी अपने प्राण बचाते हैं । भारत में बाँसों का इतना
बहुत ही अत्युमान माना जाता है । बाँसों की परतों फूटने
के घाटे और बीचोबीच के रूप में खिटाई जाती हैं । भारत
या यंत्रोपकरण भी बाँसों से ही निकलता है ।

मुहा०-बाँस पर चढ़ना = बदनाम होना । बाँस पर चढ़ना = (१)
बदनाम करना । (२) बहुत बढ़ा देना । बहुत बड़ा कर देना
देना । (३) मित्राज पढ़ा देना । बहुत आदर कर के पूरा प-
चमकी बना देना । बाँसों बगलना = बहुत अधिक प्र-
होना । 'खुश हुआ है ।

(१) एक गाँव जो सवा तीस गाँव की होती है । शास ।

(२) नाव खेने की लगगी । (४) पीठ के बीच की हड्डी
गरदन से कमर तक चली गई है । रीढ़ । (२) मात्रा ।

(हि०)

पाँसपूर-संज्ञा पु० [हि० बाँस + पूरा] एक प्रकार का बाँस
कपड़ा । ३०-चंदनीता जो खर दुख भारी । बाँसपर मि-
मिल की सारी ।-नामसी ।

विशेष-कहते हैं कि यह इतना महीन होता था कि हम
एक धाग बाँस के चोगे में भर जा सकता था ।

पाँसफल-संज्ञा पु० [हि० बाँस + फल] एक प्रकार का फल जो
संयुक्त फल में पैदा होता है । इसे "पाँसी" भी बाँते हैं ।

पाँसली-संज्ञा स्त्री० [हि० बाँस + ली (प्रत्यय)] (१) बाँस की ली
हुई पत्ताने की बंदी । बाँसुरी । सुरभी । (२) इसी प्रकार
प्रकार का पीतल छोड़े आदि का बना हुआ बजने का
वाज । बंदी । (३) एक प्रकार की जाबीदार लंबी चट्टी
थेली जिसमें चढ़पा पैसा रखा जाता है और जो कमर में
बाँधी जाती है । हिमयानी ।

पाँसा-संज्ञा पु० [हि० बाँस] बाँस का बना हुआ चोगे
के आकार का वह छोटा गल जो हल के साथ बँधा
रहता है । इसी में चोगे के सिव बांध भरा रहता है
जो नीचे की ओर से गिर कर रेत में चढ़ता है ।
पानवा । सार ।

संज्ञा पु० [सं० वंश = ०३] नाक के ऊपर की हड्डी को
होना बघने के ऊपर थोड़ा सीध रहती है ।

मुहा०-बाँसा फिर बाना = नाक का टेढ़ा हो जाना (जो
मुकुटन के समीप होने पर चिह्न माना जाता है ।)

संज्ञा पु० [सं० वंश] पीठ की लंबी हड्डी जो गरदन के
नीचे से लेकर कमर तक रहती है । रीढ़ ।

धरा पु० [हि० धि + धर] एक प्रकार का मोटा बीजा
जिसमें कोई रंग के बहुत गुंदा फूट लगते हैं । हमने बीच

बहुत छोट और काले रंग के होते हैं। इसकी लकड़ी के कोयलों से बालूद बनती है। पिया-बाँसा।

पौसागड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० बाँस + गाढ़ना] कुस्ती का एक पेच।
पौसिनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँस] एक प्रकार का बाँस जिसे बरियाल, जना अथवा कुल्लु कहते हैं।

पौसी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँस + ई (प्रत्यय)] (१) एक प्रकार का मुलायम पतला बाँस जिससे हुक्के के नैचे आदि बनते हैं। (२) एक प्रकार का गेहूँ जिसकी बाल कुछ काली होती है। (३) एक प्रकार का धान जिसका चावल बहुत सुगंधित, मुलायम और स्वादिष्ट होता है। यह संयुक्त प्रांत में अधिकता से होता है। इसे पौसफल भी कहते हैं। (४) एक प्रकार की घास। इसके डंडल मोटे और कड़े होते हैं, इसी लिए इसे पशु कम खाते हैं। (५) एक प्रकार का पत्थर जिसका रंग सफेदी लिए पीला होता है और जो बड़ी बड़ी सिलों के रूप में पाया जाता है।

पौसुरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँस] बाँस का घना हुआ प्रसिद्ध बाजा जो मुँह से झूँक कर बजाया जाता है। यह बाजा प्रायः डेढ़ पाँचरतल का होता है और इसका एक सिरा बाँस की गठ के कारण बंद रहता है। बंद सिरे की ओर सात स्वरों के लिये सात छेद होते हैं और दूसरी ओर बजाने के लिए एक विशेष प्रकार से तैयार किया हुआ छेद होता है। वही छेदवाले सिरे को मुँह में लेकर झूँकते हैं और स्वरों वाले छेदों पर उँगलियाँ रख कर उन्हें बंद कर देते हैं। जब जो स्वर निकालना होता है तब उस स्वरवाले छेद पर की उँगली उठा लेते हैं। इसी प्रकार बार बार उँगलियाँ रख और उठा कर बजाते हैं। सुरली। बंसी। बाँसली।

पौसुली-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँस] (१) एक प्रकार की घास जो अंतर्बंद में होती है। फसल के लिये यह बड़ी ही हानिकारक होती है। इसका नाश करना बहुत ही कठिन होता है। (२) दे० "पौसुरी"।

पौसुलीकंद-संज्ञा पुं० [हिं० पौसुली + सं० कंद] एक प्रकार का जंगली खुरम या जमीकंद जो गले में बहुत अधिक लगता है और प्रायः इसी के कारण खाने के योग्य नहीं होता।

पौह-संज्ञा स्त्री० [सं० पौह] (१) कंधे से निकल कर दंड के रूप में गया हुआ अंग जिसके छोर पर हथेली या पंजा लगा होता है। सुत्रा। हाथ। बाहु।

पौहो-बाँह गहना या एकदना = (१) किसी की सहायता करने के लिए हाथ बढ़ाना। सहाय देना। हर तरह से मदद देने के लिये तैयार होना। अंगाना। (२) विवाह करना। पाणिग्रहण करना। शादी करना। बाँह की छाँह

लेना = शरण में आना। बाँह चढ़ाना = (१) किसी कार्य के करने के लिये उद्यत होना। कोई काम करने के लिये तैयार होना। (२) लड़ने के लिये तैयार होना। बाँह देना = सहायता देना। सहाय देना। मदद करना। उ०—(क) नूपुर जनु मुनिवर कल हसन रचे नीड़ दे बाँह।—तुलसी। (ख) कीन्ह सखा सुमीव प्रभु दीन्ह बाँह रघुबीर।—तुलसी। बाँह बुलंद होना = (१) यत्नवान् या साहसी होना। (२) हृदय उदार होना। दान देने के लिये उठनेवाला हाथ होना।

पौहो-बाँह-बोल = रक्षा करने या सहायता देने का वचन। सहायता करने का वादा। उ०—भाई को भ मोह छोह सीता को न तुलसी कहत मैं विभीषण की कष्ट न सखील की। लाज बाँह-बोल की, नेवाजे की सँभार सार, साहेब न राम सो, बलैया लीजै सील की।—तुलसी।

(२) बल। शक्ति। भुजबल। उ०—मैन महीप सिंगार-पुरी निज बाँह बसाई है मध्य लसी के। (३) सहायक। मददगार।

मुहा०—बाँह हटवा = सहायक या रक्षक आदि का न रह जाना।

(४) भरोसा। आसरा। सहारा। शरण। उ०—(क) तेरी बाँह बसत बिसोक लोक्पाल सब, तेरो नाम किए रहे आसित न काहु की।—तुलसी। (ख) तिमकी न काम सके चापि छुई। तुलसी जे यसे रघुबीर बाँह।—तुलसी।

(५) एक प्रकार की कसरत जो दो आदमी मिलकर करते हैं। इसमें बारी बारी से हर एक आदमी अपनी बाँह दूसरे के कंधे पर रखता है, और वह उसे अपनी बाँह के जोर से बहाँ से हटाता है। इसमें बाँहों पर जोर पड़ता और उनमें बल आता है। (६) कुतरे, कमीज, अंगे, कोट आदि में लगा हुआ वह मोहरीदार टुकड़ा जिसमें बाँह डाली जाती है। घासलीन। जैसे, इस कुतरे की बाँह कुछ छोटी हो गई है।

संज्ञा पुं० दे० "बाह" या "बाही"।

बाँहतेड़ा-संज्ञा पुं० [हिं०] कुस्ती का एक पेच। इसमें जत्र गार-दन पर जोड़ के दोनों हाथ आते हैं तब उन हाथों पर से अपना एक हाथ उलट कर उसकी जघन में अड़ा देते हैं और दूसरा हाथ उसकी पगल से ले जाकर गारदन पर से घुमाते हुए उसकी पीठ पर ले जाते हैं। फिर उसे रींग से मार कर गिरा देते हैं।

बाँहमरोड़-संज्ञा स्त्री० [हिं०] कुस्ती का पेच। इसमें जब जोड़ का हाथ कंधे पर आता है तब अपना हाथ उसकी पगल में ले जा कर उसकी उँगलियाँ पकड़ कर मरोड़ देते हैं और दूसरे हाथ से उसकी कोहनी पकड़ कर रींग से मारते हैं जिससे जोड़ गिर जाता है। यह पेच बत्ती समय किया

जाता है उस जोड़ शरीर से सटा नहीं रहता, कुछ दूर पर रहता है।

घाँही-संज्ञा स्त्री० दे० "बाँह"।

घा-संज्ञा पुं० [सं० बा = बाध] जल। पानी। व०—(क) राधे से कत मान किये री। घन दर हित रिपु सुत सुमान को नीतन नाहि दियो री ?। घा-आ-पति अग्रज घंघा के भा-सुधान सुत हीन दियो री।—सूर। (ख) राधा कैसे प्रान बघाये ?। सेसभार घर जा पति रिपु तिय जलपुन कबहुँ न हरे। घा-नियासतिपु घर रिपु कै सर सदा सूख सुप पेरे। घा-उबर नीतन से सारंग पति धार धार कर लाये।—सूर।

संज्ञा पुं० [का० बा] बार। दफा। भरतवार। व०—कारे बरम उरावने कस आबत यहि मोह। कै या लफवै, सली ! लखे लगै बरहरी देह।—विहारी।

घाढ़ा-संज्ञा स्त्री० दे० "बाँह"।

घाड़िय-संज्ञा स्त्री० [सं० विद्य] विद्या।

घाड़िल-संज्ञा स्त्री० [सं० वद्विष = पुस्तक] ईमाहवों की घम-पुस्तक। हंजील।

विशेष-यह दो भागों में विभक्त है। एक माचीन जो हिम या इमाची भाषा में या भीर जिसे बहुवी की मानते हैं। इसमें छवि की बल्कि, मूसा के ईश्वरदशन आदि की कथा है। दूसरा मचीन या अर्वाचीन जो यूनानी भाषा में या भीर जिसमें ईसा की बल्कि, बपदेरा, करामत आदि का वर्णन है। ये दोनों ही भाग कई बोमियों के संग्रह हैं। ये संग्रह ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी में हुए थे। इन दोनों का अनुवाद संसार की प्रायः सभी भाषाओं में हो गया है।

घाईस-संज्ञा पुं० [का०] सधन। कारण। वस्तु।

संज्ञा पुं० दे० "बाईस"।

घाईसवा-वि० दे० "बाईसवा"।

घासिकिल-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रसिद्ध गाढ़ी जिसमें भाग पीले बैंगल से ही बरिष्ठ होते हैं। इससे पीछ में खाकी बैठने भर को छोटा सा स्थान होता है और भाग की चोर दोनों हाथ डेढ़ने और गाढ़ी को मुमाने के लिये कट्टे के पकड़ार की एक डेढ़ होती है। इसमें नाँच की चोर एक पदर लगा रहता है जो पैर के दबाव से घूमता है जिससे गाढ़ी बहुत तेजी से घटती है। पैर-गाढ़ी।

घाई-संज्ञा स्त्री० [सं० बा] विरोधों में से बात दोष जिसके प्रकाश से मनुष्य बेगुन या बागल हो जाता है। दे० "बाध"।

कि० प्र०—भावा।—अवना।

मुहा०—बाई की खीक = (१) बन्धु का प्रयोग। (२) आदेश।

बाई बधना = (१) धाम का प्रयोग होना। (२) धर्म के कारण धर्म की शक्ति करना। बाई बधना = (१) धर्म प्रयोग शक्ति होना। (२) धर्म डटना। रोती मिया। पचाना = धर्म डटना। गर्व चूर करना। संज्ञा स्त्री० [हिं० बन्ध, बन्ध] (१) छिपे के लिये आदरसूचक शब्द। जैसे, बन्धाबाई। लक्ष्मीबाई।

विशेष-इस शब्द में इस शब्द का व्यवहार साधारण, रात और दक्षिण आदि देशों में अधिक होता है।

(२) एक शब्द जो उत्तरी प्रांतों में प्रायः बेशर्मा के के साथ लगाया जाता है।

बाईस-संज्ञा पुं० [सं० दार्शनिक, प्रा० बाईस] भीस और भीस संख्या या एक जो इस प्रकार किला जाता है—१२ वि० जो भीस और दो है। भीस से दो अधिक।

बाईसवा-वि० [हिं० बाईस + वा (प्रत्य०)] गिनने में बाईस स्थान पर पड़नेवाला। जो क्रम में बाईस के स्थान पर।

बाईसी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाईस + ई (प्रत्य०)] (१) बाईस का समूह। (२) बाईस पत्तों का समूह। जैसे, बान बाईसी।

बाउ-संज्ञा पुं० [सं० बाण] हथ। पथन।

बाउर-वि० [सं० बाण] (१) बाउरी। (२) बाउरी। (३) बाउरी। (४) बाउरी। (५) बाउरी। (६) बाउरी। (७) बाउरी। (८) बाउरी। (९) बाउरी। (१०) बाउरी। (११) बाउरी। (१२) बाउरी। (१३) बाउरी। (१४) बाउरी। (१५) बाउरी। (१६) बाउरी। (१७) बाउरी। (१८) बाउरी। (१९) बाउरी। (२०) बाउरी। (२१) बाउरी। (२२) बाउरी। (२३) बाउरी। (२४) बाउरी। (२५) बाउरी। (२६) बाउरी। (२७) बाउरी। (२८) बाउरी। (२९) बाउरी। (३०) बाउरी। (३१) बाउरी। (३२) बाउरी। (३३) बाउरी। (३४) बाउरी। (३५) बाउरी। (३६) बाउरी। (३७) बाउरी। (३८) बाउरी। (३९) बाउरी। (४०) बाउरी। (४१) बाउरी। (४२) बाउरी। (४३) बाउरी। (४४) बाउरी। (४५) बाउरी। (४६) बाउरी। (४७) बाउरी। (४८) बाउरी। (४९) बाउरी। (५०) बाउरी। (५१) बाउरी। (५२) बाउरी। (५३) बाउरी। (५४) बाउरी। (५५) बाउरी। (५६) बाउरी। (५७) बाउरी। (५८) बाउरी। (५९) बाउरी। (६०) बाउरी। (६१) बाउरी। (६२) बाउरी। (६३) बाउरी। (६४) बाउरी। (६५) बाउरी। (६६) बाउरी। (६७) बाउरी। (६८) बाउरी। (६९) बाउरी। (७०) बाउरी। (७१) बाउरी। (७२) बाउरी। (७३) बाउरी। (७४) बाउरी। (७५) बाउरी। (७६) बाउरी। (७७) बाउरी। (७८) बाउरी। (७९) बाउरी। (८०) बाउरी। (८१) बाउरी। (८२) बाउरी। (८३) बाउरी। (८४) बाउरी। (८५) बाउरी। (८६) बाउरी। (८७) बाउरी। (८८) बाउरी। (८९) बाउरी। (९०) बाउरी। (९१) बाउरी। (९२) बाउरी। (९३) बाउरी। (९४) बाउरी। (९५) बाउरी। (९६) बाउरी। (९७) बाउरी। (९८) बाउरी। (९९) बाउरी। (१००) बाउरी।

बाउरी-संज्ञा स्त्री० दे० "बाणरी"।

संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की घास।

बाऊ-संज्ञा पुं० [सं० बाण] हथ। पथन।

बाई-वि० [हिं० बाई] बाई और। बाई तरफ।

बाकचाळी-वि० [सं० बाक + चाल] बहुत अधिक बोझिल। बली। बागती। सुंदर। व०—बाक बाकचाळी। बहुत न काल निम्न। कही तो। निचाली कवि और। भारिये—दुःखमान।

बाकना-वि० [सं० बाक] बकना। प्रकाश करना। धाम को कहत समिखी दी समिखी को साम, धाम समारन को साँकियो करति दे।..... स पूरावे यों विरद चिकानी बाळ, बच बन बाररी साँकियो करति है।—पदाकर।

बाकरी-संज्ञा स्त्री० [दे०] पाल महीने की इगई गाय।

बाकली-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की बड़ी मरा मि। कछियों की प्रकार की बगती है।

बाकली-संज्ञा स्त्री० [सं० बकली] एक प्रकार का बकलिके पत्ते के बीजों को कितने प्रकार से। यह बकलिके बीजों से है। इनकी उकड़ी भूरे रंग की और बहुत मजबूत होती है।

तथा खेती के बीजार आदि बनाने के काम में पाती है। इसकी छाछ से चमड़ा भी सिक्का जाता है। यह आसाम और मध्य-प्रदेश में बहुत अधिकता से होता है। इसे घौरा और घोंदर भी कहते हैं।

याकसी—संज्ञा पुं० दे० "यस्य"।

याकसी—क्रि० प्र० [सं० वैकसे] जहाज के पाठ को एक ओर से दूसरी ओर करने का काम।

याका—संज्ञा स्त्री० [सं० वाक] याणी। बोलने की शक्ति।

याकी—वि० [य०] जो बच रहा हो। अवशिष्ट। शेष। उ०—मन धन हतो पिसात जो सो सोहि दियो बताय। याकी बाकी विरह की भीतम भरी न जाय।—रसनिधि।

क्रि० प्र०—निकलना।—बचना।—रहना।

संज्ञा स्त्री० (१) गणित में वह रीति जिसके अनुसार किसी एक संख्या या मान को किसी दूसरी संख्या या मान में से घटाते हैं। दो संख्याओं या मानों का अंतर निकालने की रीति। (२) वह संख्या जो एक संख्या को दूसरी संख्या में से घटाने पर निकले। घटाने के पीछे बची हुई संख्या या मान।

क्रि० प्र०—निकालना।

याकी—अव्य० [य० वाकी] लेकिन। मगर। परंतु। पर। (बोलचाल) उ०—मन-धन हतो पिसात जो सो सोहि दियो बताय। याकी बाकी विरह की भीतम भरी न जाय।—रसनिधि।

संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार का पान। उ०—कही सो सीपी लाची बाकी। सुमती बगरी धारन पाकी।—जायसी।

याकुंभा—संज्ञा पुं० [हिं० कुंभी] कुंभी के फूल का सुलगाया हुआ केसर जो खासी और सर्दी में दवा की तरह दिया जाता है।

याखरीज—संज्ञा स्त्री० दे० "यखरी"। उ०—आनति हैं। गोरस को लोको याही याखरी मीक।—सूर।

याग—संज्ञा पुं० [य०] यह स्थान जहाँ शोभा और मनोविनोद आदि के लिये अनेक प्रकार के छोटे बड़े पेड़ पौधे लगाए गए हैं। बघान। बपवन। वाटिका।

संज्ञा स्त्री० [सं० वगा] लगाम।

मुहा०—याग मोड़ना=किसी और प्रवृत्त करना। किसी ओर घुमाना। उ०—महमूद गजनवी ने अपने लश्कर की याग हिंदुस्तान की तरफ मोड़ी।—शिवप्रसाद।

यागडोर—संज्ञा स्त्री० [हिं० याग+दोर=रस्सी] (१) वह रस्सी जो घोड़े की लगाम में बांधी जाती है और जिसे पकड़कर सार्वस योग से टटलाते हैं। (२) बगान।

यागना—क्रि० प्र० [सं० वाक=चलना] चलना। फिरना। घूमना। टटलना। उ०—देख देख हम बागिया प्राग प्राग

की खोर। ऐसा जिरा ना भिडा जो खेड़ फटक पड़ेरि।—कबीर।

क्रि० प्र० [सं० वाक=चलना] कटना। बोलना।

यागवान—संज्ञा पुं० [फा०] वह जो बाग की रखवाली, प्रबंध और सजावट आदि करता हो। माली।

यागवानी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) यागवान का पद। माली की जगह। (२) यागवान का काम। माली का काम।

यागर—संज्ञा पुं० [दे०] (१) नदी किनारे की वह ऊँची भूमि जहाँ तक नदी का पानी कभी पहुँचता ही नहीं। उ०—अभिगत गति जानी न परै।यागर से सागर करि राखे चहुँ दिसि नीर भरै। पाहन बीच कमल बिकसाहीं जल में अगिनि नरै।—सूर।

(२) दे० "बागुर"।

यागल—संज्ञा पुं० [सं० वाक] बागल। बाक। उ०—(क) विन विधा सों नर सोहस यो। बहु हंसन में हक बागल स्यों।—रघुनाथदास। (ख) जिन हरि की चोरी करी गए राम गुन भूखि। ते विधवा बागल रचे रहे बरधमुख भूखि।—कबीर।

यागवान—संज्ञा पुं० दे० "यागवान"।

यागवानी—संज्ञा स्त्री० दे० "यागवानी"।

यागा—संज्ञा पुं० [फा० बाग] छोटे की तरह का पुराने समय का एक पहनावा जो मुट्ठी तक लंबा होता है और जिस में छाती पर तीन बंद लगते हैं। जाना।

यागी—संज्ञा पुं० [य०] वह जो प्रचलित शासन-प्रणाली भंग या राज्य के विरुद्ध विद्रोह करे। विद्रोही। राजद्रोही।

यागीचा—संज्ञा पुं० [फा०] छोटा बाग। बपवन। बघान।

यागुरा—संज्ञा पुं० [दे०] पथी या खुर आदि फैलाने का जाल जिसे बागीर भी कहते हैं।

यागोसरी—संज्ञा स्त्री० [सं० वागीपरी] (१) सारस्वती। (२) संपूर्ण जाति की एक रागिनी जो किसी के मत से माउ-कोश राग की छी और किसी के मत से मैत्रव, कैदार, गौरी और वैष्णवी आदि कई रागों तथा रागिनियों के मेल से बनी हुई संकर रागिनी है।

यागवत—संज्ञा पुं० [सं० व्याघ्र] (१) बाघ की खाल जिसे लोग विशेषतः साधु, स्वामी और यमीर, विद्वाने आदि के काम में छाते हैं। (२) एक प्रकार का रोएँदार कंबल जो दूर से देखने पर बाघ की खाल के समान जान पड़ता है।

बाघ—संज्ञा पुं० [सं० व्याघ्र] शेर नाम का प्रसिद्ध हिंसक जंतु। विशेष-दे० "शेर"।

याघा—संज्ञा पुं० [हिं० बाघ] (१) बीमारियों का एक रोग। इसमें पड़ार्थों का पेट फूल जाता है और लस करने से ये मर जाते हैं। (२) कवतों की एक जाति का नाम।

पाघी—पंशा खी० [दे०] एक प्रकार की गिलडी जो अधिकतर गरमी के रोगियों के पेट, और ज्वर की संधि में होती है। यह बहुत कष्टदायक होती है और जल्दी दबती नहीं। बहुतो यह एक जाती है और चीरनी पड़ती है।

पाघुल—पंशा खी० [दे०] एक प्रकार की छोटी मछली।

पाचना [क्रि० अ०] [हि० पचन] पचना। मुरपित रहना।

क्रि० स० पचाना। मुरपित रहना।

क्रि० स० [सं० पचन] पड़ना। पाठ करना। पाचना।

पाचा—पंशा खी० [सं० पाचा] (१) धोलने की थाली। (२)

पचन। पाचपीत। पाचय। व०—(क) रावन कुंभकरन वर

मागत शिव विंवि पाचा चुले।—तुलसी। (ख) तप

कुमार बोल्हो घस बाधा। मैं कंगाल दास हूँ साधा।

—रघुनाथ। (३)। प्रतिज्ञा। प्रण। व०—बाधा पुरुष

तुलक इस यूका। परगट मेरु, गुप्त झुल सूका।—भायसी।

पाचापचक्र—वि० [सं० पाचा + चक्र] जिसने किसी प्रकार

का प्रण किया हो। प्रतिज्ञापद। व०—पात्र चक्री खेली

बरमी आसा कंद। दूटे पर पड़े नहीं आईं तो बाचापचक्र।

—कबीर।

पाछ—पंशा पुं० [सं० पाच, प्रा० पच्य = वर्ग] हजमाळ। गाँव में

मालगुमारी, चंदे, कर आदिका प्रत्येक हिस्सेदार के हिस्से

के अनुसार परता। बटौटा। चेहरी।

पंशा पुं० दे० “पाछा”।

पाछड़ा—पंशा पुं० दे० “बपड़ा”।

पाछा—पंशा पुं० [सं० पाच, प्रा० पच्य] (१) गाँव का बचा।

बपड़ा। (२) लड़का। बचा। व०—मैं भावत हूँ तुम्हरे

पाछे। अथन बाहु तुम मेरे पाछे।—सूर।

पाश—पंशा पुं० [प० पश] (१) एक प्रसिद्ध सिकारी पत्थी जो

प्रायः सारे सार में पाया जाता है। यह प्रायः पीछ से घोंटा

पर बसती अधिक अर्पण होता है। इसका रंग भ्रमंजीला,

पीठ काली और चारों ओर छोटी होती है। यह आकार में

बहुत ही छोटी होती है। प्रायः शीशुन श्लेष्म हने दूसरे

पथियों का शिकार करने के लिये पाछे ही है। इसकी

बड़ी आँखें होती हैं। (२) एक प्रकार का बगला। (३)

तो में लगा हुआ पर।

प्र० [प०] एक प्रसंग जो शब्दों के बीच में लगकर

रहने, छेड़ने, करने या शीघ्र करनेवाले आदि का अर्थ

होता है। जैसे, दगाबाज, कपूतबाज, बघेबाज, दिवज-

नीबाज आदि।

वि० [प०] मंचित। रहित।

मुद्रा—पंशा पुं० [सं० मुद्रा] (१) मुद्रा। (२) मुद्रा। (३) मुद्रा।

(४) मुद्रा। (५) मुद्रा। (६) मुद्रा। (७) मुद्रा। (८) मुद्रा।

(९) मुद्रा। (१०) मुद्रा। (११) मुद्रा। (१२) मुद्रा। (१३) मुद्रा।

जाना। जैसे, तुमको कई बार मना किया, पर तुम हाथ

से बाज नहीं आते हो।—बाज, करना = करना।

करना। व०—देखिये वे चंपियन को बाज के बाज में

आज के भीतर आई।—रघुनाथ। बाज रहना = देना

मना करना। बाज रहना = दूर रहना। बाज रहना।

वि० [प० पचन] कोई कोई। कुछ। थोड़े। कुछ निश्चय

जैसे, (क) बाज आदमी बड़े मिठी होते हैं। (ख) बाज

मौकों पर चुप रहने से भी काम बिगड़ जाता है। (ग) बाज

बाज चीजें देखने में तो बहुत अच्छी होती हैं, पर बाज

बिड़कल नहीं होती।

क्रि० वि० बाज। बिना। (क०) व०—बाज तेरी बाज में

आ डोली। होय सार तो दगरी बोली।—बायली।

पंशा [सं० बाजि] चौड़ा। व०—दूतों साते बाज

हरि वतले भावत राज। देखि हिये देख्य कही गोप

सति बाज।—विश्राम।

पंशा पुं० [सं० बाज] (१) बाज। बाज। व०—महामुद्रा

बाज बसाई। गार्हस्थ रामायन मुर पार।—रघुनाथ। (२)

बजने या बाजे का शब्द। (३) बजाने की शक्ति। (४)

सिद्धांत के २ सारों में से पहला ओ पक्ष छोटे का होना है

पंशा पुं० [दे०] लाने के लिये के बीच में होने

लड़करी।

बाजड़ा—पंशा पुं० दे० “बाजरा”।

बाजड़ाया—पंशा पुं० [प०] अपने अधिकारों का त्याग। बाज

बाजे या त्याग से बाज आना।

क्रि० प्र०—बाजना।—बाजना।

बाजना—पंशा पुं० दे० “बाज”।

बाजना—क्रि० अ० [हि० पचना] (१) बाजे आदि का पचना

व०—मुंजत पचिगन कुंज विदगा। बाजत बाजन क

तरंगा।—विश्राम। (२) लड़ना। झगड़ना।

(३) कदवाना। प्रविष्ट होना। पुरकार जाना। (४) लगना

आपात पहुँचना। व०—बटि बहोते मादकि ठगाम

हने कोपि सेहि बाज बाज।—तुलसी।

[वि०] बजनेवाला। जो बजना हो।

हि० अ० [सं०] जो पहुँचना। सामने मौजूद

जाना। (ब०)।

बाजरा—पंशा पुं० [सं० बजरी] एक प्रकार की बड़ी घास जिसमें

बाजे हैं बरे रंग के छोटे छोटे दाने लगते हैं। इन दानों के

गिनती मोटे बकों में होती है। प्रायः सारे बजरी

चिमड़ी और दूधवी भारत में लोग इसे खाते हैं। इस

अनाज की ज़ेरी बहुत सी बाजों में अना की होती है

मिठनी तुजनी होती है। यह बरीक की चमड़ा है जो

प्रायः अना के कुछ पीछे बर्रा बहुत में मोई होता

वसते कुछ पहले अर्थात् जाड़े के आरम्भ में काटी जाती है। इसके खेतों में खाद देने या सिंचाई करने की विशेष आवश्यकता नहीं होती। इसके लिये पहले तीन चार बार जमीन जोत दी जाती है और तब धीमे धीमे दिए जाते हैं। एकाध बार निराई करना अवश्य आवश्यक होता है। इसके लिये किसी बहुत अच्छी जमीन की आवश्यकता नहीं होती और यह साधारण से साधारण जमीन में भी प्रायः अच्छी तरह होता है। यहाँ तक कि राजपुताने की बलुई मृमि में भी यह अधिकता से होता है। गुजरात आदि देशों में तो अच्छी बरानी हुई होने से पहले जमीन तैयार करने के लिये भी इसे बोते हैं। बाजरे के दानों का भाटा पीसकर और इसकी रोटी बनाकर खाई जाती है। इसकी रोटी बहुत ही बलवर्द्धक और पुष्टिकारक मानी जाती है। कुछ लोग दानों को मोही बगल कर और इसमें मक्क मिर्च आदि डालकर खाते हैं। इस रूप में इसे 'खिचड़ी' कहते हैं। कहीं कहीं लोग इसे पशुओं के चारे के लिये ही बोते हैं। वैद्यक में यह बाढ़ी, गरम, कृशा, अग्निदीपक, पित्त को कुपित करनेवाला, देर में पचनेवाला, कांतिजनक, वल्लभक और खियों के काम को बढ़ानेवाला माना गया है। औषधियां। बाजड़ा।

बाजहर—रंठा पुं० दे० 'जहमेरा (१)'।

बाजा—रंठा पुं० [सं० बाज] कोई ऐसा यंत्र जो गाने के साथ धमका हो, स्वर (विशेषतः राग रागिनी) उत्पन्न करने अथवा ताल देने के लिये बजाया जाता हो। बजाने का यंत्र। बाघ।

विशेष—साधारणतः बाजे दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनमें से स्वर या राग-रागिनियाँ आदि निकलती हैं। जैसे, बीन, सितार, सारंगी, हारमोनियम, बाँसुरी आदि, और दूसरे वे जिनका उपयोग केवल ताल देने में होता है। जैसे, मुद्ग, तबला, ढोल, मजीरा आदि। विशेष दे० "बाघ"।

क्रि० प्र०—बजना।—बजाना।

पौ०—बाजा-गाजा=अनेक प्रकार के बजते हुए बाजों का समूह।

बाजान्ता—क्रि० वि० [का०] जानते के साथ। नियमानुसार। कापदे के सुताधिक। जैसे, बाजान्ता दरास्त दे।

वि० जो जानते के साथ हो। जो नियमानुसृत हो। जैसे, धमी बाजान्ता नकल नहीं सिखी है।

बाजार—रंठा पुं० [का०] (१) वह स्थान जहाँ अनेक प्रकार के पदार्थों की दुकानें हों। वह जगह जहाँ सब तरह की चीजों की, अथवा किसी एक ही तरह की चीज की बहुत सी दुकानें हों।

मुहा०—बाजार करना=चीजें खरीदने के लिये बाजार जाना।

बाजार गर्म होना=(१) बाजार में चीजों या ग्राहकों आदि की अधिकता होना। खूब खेन देन या खरीद विक्री होना।

(२) खूब काम चलना। काम जोरों पर होना। जैसे, आज कल गिरितुतारियों का बाजार गर्म है। बाजार तेज होना=

(१) बाजार में किसी चीज की माँग बहुत अधिक होना। ग्राहकों की अधिकता होना। (२) किसी चीज का मूल्य वृद्धि पर होना। (३) काम जोरों पर होना। खूब काम चलना।

बाजार मंदा होना=(१) बाजार में किसी चीज की माँग कम होना। ग्राहकों की कमी होना। (२) किसी पदार्थ के मूल्य में निरंतर हाव होना। दाम घटना। (३) कारबार कम चलना। बाजार भाव=वह मूल्य जिस पर कोई चीज बाजार में मिलती या विकती हो। प्रचलित मूल्य। बाजार लगाना=

बहुत सी चीजों का इधर उधर ढेर लगाना। बहुत सी चीजों का यो ही सामने रखा होना। बाजार लगाना=चीजों को इधर उधर फैला देना। अटला लगाना।

(२) वह स्थान जहाँ किसी निश्चित समय, वार, तिथि या अवसर आदि पर सब तरह की दुकानें लगती हों। हाट। पेठ।

मुहा०—बाजार लगाना=बाजार में दुकानों का खुलना।

बाजारी—वि० [का०] (१) बाजार-संबंधी। बाजार का। (२) मामूली। साधारण। जो बहुत अच्छा न हो। (३) बाजार में इधर उधर फिरनेवाला। मर्यादा रहित। जैसे, बाजारी खंडा। (४) अशिष्ट। जैसे, बाजारी बोली, बाजारी प्रयोग।

पैर०—बाजारी औरत=बैरवा। रंडी।

बाजारू—वि० दे० "बाजारी"।

बाजि—रंठा पुं० [सं० बाजिर] (१) घोड़ा। (२) बाघ। (३) पक्षी। (४) बहूसा।

वि० चलनेवाला।

बाजी—रंठा स्त्री० [का०] (१) दो व्यक्तियों या दोनों में ऐसी प्रतिष्ठा जिसके अनुसार वह निश्चित हो कि व्यक्त बात होने या न होने पर हम तुम को इतना धन दूँगे अथवा तुमसे इतना धन लेंगे। ऐसी शर्त जिसमें हार जीत के अनुसार कुछ खेन-देन भी हो। शर्त। दाँव। बदान।

क्रि० प्र०—बदना।—लगना।—लगाना।

मुहा०—बाजी सारना=बाजी जीतना। दाँव जीतना। बाजी से जाना=किसी बात में आगे बढ़ जाना। अग्र ठहाना।

(२) आदि से थंत तक कोई ऐसा पूरा खेल जिसमें शर्त या दाँव लगा हो। जैसे, दो बाजी ठारा हो जाय, तो चले। (३) खेल में प्रत्येक खिलाड़ी को खेलने का समय जो एक दूसरे के बाद क्रम से आता है। दाँव।

पंथा पुं० [सं० यन्त्रि] पोड़ा ।

† पंथा पुं० [हिं० पन्था] वह जिसका काम जाना बजाना हो । यजनिषा ।

पाजीगर-पंथा पुं० [फा०] जादू के खेल करनेवाला । जादूगर ।
पेंद भाषिक । उ०—कै कहुँ रं०, कहूँ ईन्दरता नट पाजीगर
जैसे ।—सूर ।

पाजु-अर्थ० [सं० वनन । मि० फा० बाजु] (१) विना । वयैर । उ०—
(क) नए शिख सुभय श्यामयन तन को दूरसन हरत
दियाजु । सूरदास सन रहत बीन विधि बदन पिबोकनि
पाजु ।—सूर । (ख) का भा योग कहानी कये । निकसन
धीर पाजु दधि मये ।—जायसी । (ग) परी कया सुई रोमई
कहै रे जीव बकि भीव । को बडाइ पैसाइ पाजु पिरितम
जीव ।—जायसी । (२) प्रतिरिक्त । सिवा ।

पाजु-पंथा पुं० [फा० बाजु] (१) भुआ । बाहु । बाँह । विशेष—
दे० "बाँह" ।

यौ०—बाजुईद ।

(२) बाँह पर पहनने का बाजुपंद नाम का गहना । विशेष—
दे० "बाजुपंद" । (३) सेना का किसी और का एक पद ।
(४) वह जो हर काम में बराबर साथ रहे और सहायता
दे । जैसे, भाई, मित्र आदि, (बोडघाल) । (५) एक
प्रकार का मोदगा जो बाँह पर मोदा जाता है और बाजुपंद
के आकार का होता है । (६) पछी का देना ।

बाजुपंद-पंथा पुं० [फा०] बाँह पर पहनने का एक प्रकार का
गहना जो कई आकार का होता है । इसमें बहुधा
धीप में एक बड़ा चौकोर लग या पट्टी होती है और उसके
आगे पीछे छोटे छोटे और लग या पट्टियाँ होती हैं जो सब
की सब आगे या पीछे में चिरोई रहती हैं । बाजु । बिजा-
यत । भुजपंद ।

बाजुपीर-पंथा पुं० दे० "बाजुपंद" ।

बासक-पंथा पुं० [हिं० बसना = बैठना] (१) धमके या
कंते के बा भाग । पैसावर । (२) बलभन । पैप । (३)
मंदर । मलेड़ा । (४) लड़ाई । कगाड़ा ।

बासना-हिं० बा० दे० "बसना" । उ०—मऊपेसि बंसी के
रोषम और मीन झकुलान । मनु लाटेक कमठ पूँवट नर
जाके बासि झकुलान ।—सूर ।

बाट-पंथा पुं० [हिं० बट = बट] मार्ग । शाना ।

मुहा०—बाट करना = रास्ता बनाना । मार्ग बनाना । उ०—जीसो
बराबर बंदि सोरी । तुलस कपाट बिद्वारि बाट करि लखनि
नरी गंधि सोरी ।—सूर । बाट जोड़ना या देवना = प्रीति
करना । आश्रय देना । बाट बटका = रास्ते में बाधा
कर देना । रोक करना । पीछे पड़ना । बाट बटका = बटका
पड़ना । हाथ देना । उ०—राविई सुनिपासी होई काई ।

बाट परह, मोरि नाथ बडाई ।—तुलसी । बाट परह
डाका मारना । मार्ग में रुक लेना । उ०—साम की ब
दीनी बाट ही में खरी कीनी बाट पारिये को बसो दू
मर्वान है ।—हनुमान । बाट लगाना = (१) रास्ता नि-
कालना । मार्ग बनाना । (२) किसी काम करने का ईश्वराना
(३) मूर्ख बनाना ।

पंथा पुं० [सं० बटक] (१) पत्थर आदि का बट्टा का
धीपें सीलने के काम आता है । बटखाना । (२) पत्थर
वह टुकड़ा जिससे सिद्ध पर कोई धीम पीसी जाय ।

पंथा धी० [हिं० बटना] बटने का भाव । रम्पी धी
में पड़ी हुई छेड़न । बटन । बल ।

बाटना-कि० सं० [हिं० बट्ना या बट] सिद्ध पर बड़े बने
पीसना । प्यूँ करना । उ०—कुच विप बाटि हन
कपट करि बालघातिनी परम सुहाई ।—सूर ।

कि० सं० दे० "बटना" । उ०—कह गिराय रीति
मुना हो धूर को बाटी ?—गिरधर ।

बाटली-पंथा धी० [सं० बंठलून] अड़ान के पाठ में बसा
और बसा हुआ वह रस्ता जो मस्जिद के ऊपर से होकर
फिर भीचे की ओर जाता है । इसी को कौब का पा
यावते हैं । (लघ०)

मुहा०—बाटली थापना = रस्ते के बीच कर पाठ बनना ।

पंथा धी० [सं० बटव] बोलल । पड़ी सीधी ।

बाटिका-पंथा धी० [सं०] (१) बाग । कुलवारी । (२) लव
काष्ठ का एक भेद । वह गंध जिसमें कुसुम और दुग्ध
गंध मिला हो ।

बाटी-पंथा धी० [सं० बटी] (१) गोखी । चिड़ । (२) बल्ले
या उपरोक्त आदि पर सँपी हुई एक प्रकार की गोखी का
पेड़े के आकार की शेट । आगाकड़ी । खिड़ी । उ०—ए
बा बलम दधि बाटी दाल मरु की दधिवाही ।—सूर ।
पंथा धी० [सं० बटुन । मि० हिं० बटका] (१) बीजा के
कम गहरा करोता । (२) लसटा नाम का बटव ।

बाटुकिन-पंथा पुं० [सं०] (१) धावेप्राप्ते में लान धालेवाला एक
प्रकार का सूया जिसमें पीठ की ओर लकड़ी का टुकड़ा
लगा रहता है । इससे कंठेजिहवा सेना कंठेजिहवा दिने हुए रंग
में से गलती से लेना हुआ अगर निकालने और बलरी
कहा दूसरा अगर बैठाते हैं । (२) दण्डविषाते में
काम धालेवाला एक प्रकार का सूया जिसका निबट्टा गिरा
बहुत मोटा होता है । यह कितानों या दण्डियों आदि में
लौक कर घेर करने के काम में आता है ।

बाटु-पंथा धी० [हिं० बट] (१) बाट । बट्टी । (२) सेड़ी ।
पौर । उ०—बाटु बाटु की बेसी बाटी आगार । हरे ल
बूटे नरी भाई को बाजारपंच ।—बकी ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] खियों का बाँह पर पहनने का टाँट
नामक गहना ।

बाङ्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण । (२) बड़वाग्नि । बड़का-
नल । (३) घोड़ियों का कुंड ।

वि० बड़वा-संबंधी ।

बाङ्गा-संज्ञा पुं० [सं० बाट] (१) चारों ओर से घिरा हुआ कुछ
विस्तृत खाली स्थान । (२) वह स्थान जिसमें पशु रहते
हैं । पशुखाला ।

बाङिस-संज्ञा स्त्री० [सं०] खियों के पहनने की एक प्रकार की
अंगरेजी ढंग की कुर्ती ।

बाङ्गी-संज्ञा स्त्री० [सं० बारी] बाटिका । बारी । कुलबारी ।
संज्ञा स्त्री० दे० "बाङिस" ।

बाङ्गीगाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी राजा या बहुत बड़े
राजकर्मचारी के साथ रहनेवाले उन थोड़े से सैनिकों का
समूह जिनका काम उसके शरीर की रक्षा करना होता है ।
शरीर-रक्षक । (२) इन सैनिकों में से कोई एक सैनिक ।

बाङ्ग-संज्ञा स्त्री० [हिं० बङ्गा] (१) बङ्गे की क्रिया या भाव ।
बङ्गाव । बृद्धि । अधिकता । (२) अधिक वर्षा आदि के
कारण नदी या जलाशय के जल का बहुत तेजी के साथ
और बहुत अधिक मान में बङ्गना । जल-प्लावन । उछलान ।
संयोग० क्रि०—बाना ।—उतरना ।

(१) यह धन जो व्यापार आदि में बड़े । व्यापार आदि से
होनेवाला लाभ । (२) बङ्ग का तोप आदि का लगातार
छूटना ।

मुहाना-बाङ्ग दगना=तोप का लगातार छूटना ।

संज्ञा स्त्री० [सं० बाट हिं० बारी] तलवार, छुरी आदि शस्त्रों
की धार । सान ।

बाङ्गकड़-संज्ञा स्त्री० [हिं०] (१) तलवार । (२) खड्ग ।

बाङ्गना-संज्ञा स्त्री० [हिं०] (१) दे० "बङ्गना" । उ०—(क) मंडल
पाँच दिगुँ दिन बाङ्ग लहर-दार जन ताप नेवारे ।—
देवस्वामी । (ख) एक बार जल बाङ्ग भयङ्क । सब
मझांड बृद्धि तहँ गमक ।—विद्यास ।

(२) दे० "बङ्गना" ।

बाङ्गाली-संज्ञा स्त्री० [हिं०] (१) तलवार । (२) खड्ग ।

बाङ्गि-संज्ञा स्त्री० दे० "बाङ्ग" । उ०—भुज सिर बाङ्गि देखि
रिपु केरी ।—तुलसी ।

बाङ्गी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाङ्ग] (१) बाङ्ग । बङ्गाव । (२) अधिकता ।
ज्यादती । (३) यह ध्यान जो किसी को अथ
अथार देने पर मिलता है । (४) लाभ । मुनाफा । भका ।

बाङ्गीपान-संज्ञा पुं० [हिं० बाङ्ग=बार + सं० पान] यह
जो घुरी, कैंची आदि की धार सेज करता हो । औजारों पर
सान रखनेवाला ।

बाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक लंबा और नुकीला अथ जो
धनुष पर चढ़ा कर चलाया जाता है । तीर । सायक । शर ।
विशेष-प्राचीन काल में प्रायः सारे संसार में इस अथ का
प्रयोग होता था; और अथ भी अनेक स्थानों के जंगली और
अशिक्षित लोग अपने शत्रुओं का संहार या श्रापेष्ट आदि करने
में इसी का व्यवहार करते हैं । यह प्रायः लकड़ी या नरसल
की छेड़ हाथ की छड़ होती है जिसके सिरे पर पैना छोड़ा,
हड्डी, चकमक आदि लगा रहता है जिसे फल या गाली
कहते हैं । यह फल कई प्रकार का होता है, कोई लंबा
कोई बड़ा चन्द्राकार, कोई गोल । छोड़े का फल
कभी कभी जहर में हुका भी लिया जाता है जिससे ब्राह्मण
की शत्रु प्रायः निरिच्छ हो जाती है । कहीं कहीं इसके
पिछले भाग में पर आदि भी बाँध देते हैं जिससे यह
सही और तेजी के साथ जाता है । हमारे यहाँ धनुर्वेद
में बाणों और उसके फलों आदि का विशद रूप से वर्णन
है । वि० दे० "धनुर्वेद" ।

पर्याय०—धुपक । विशिक । खग । बाणग । कलंब ।
मार्गण । पत्री । रोप । वीरतर । कांड । विपयक । शर ।
बाजी । पत्रवाह । अल-कंदक ।

(२) नायक का धन । (३) भाग । (४) भद्रभुज नामक
वृक्ष । रामसर । सरपत । (५) निशाना । लक्ष्य । (६) पाँच
की संख्या । (कामदेव के पाँच बाण माने हैं; इसीसे बाण से
५ की संख्या का बोध होता है ।) (७) शर का अगला
भाग । (८) वीची कटसरैया । (९) हृष्याकृष्णरीषी विकुण्डि
के पुत्र का नाम । (१०) रामा बलि के तीनों पुत्रों में से सब
से बड़े पुत्र का नाम । इनकी राजधानी पाताल की शोणित-
पुरी थी । इन्होंने शिव से वर प्राप्त किया था जिससे देवता
जोग धनुषों के समान इनके साथ रहते थे । कहते हैं कि
युद्ध के समय स्वयं महादेव इनकी सहायता करते थे । इषा,
जो अनिरुद्ध को व्याही थी, इन्हीं की कन्या थी । (११)
संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि । वि० दे० "बाणभट्ट" ।

बाणक-संज्ञा पुं० [सं० बाणिक] (१) महाजन । (२) बनिया ।
(हिं०)

बाणसंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिमालय के सोमेखर गिरि से
निकली हुई एक प्रसिद्ध नदी । कहते हैं कि यह रावण
के बाण चटाने से निकली थी, इसीसे इसका यह नाम
पड़ा ।

बाणपति-संज्ञा पुं० [सं०] बाणासुर के स्वामी, महादेव । (हिं०)
बाणभट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध संस्कृत कवि जो
कादंबरी के 'पुस्तक' का रचयिता था । यह सम्राट् हर्ष-
वर्द्धन की समा का पंडित था और इतने कई काम्य तथा
बादक जिसे थे । कादंबरी को समाप्त करने से पहले ही

संज्ञा पुं० [सं० वाजिन्] घोड़ा ।

† संज्ञा पुं० [हिं० बज्जा] वह जिसका काम घाना बजाना हो । बजनिया ।

वाजीगर-संज्ञा पुं० [फा०] जादू के खेल करनेवाला । जादूगर ।
पेंद्रजालिक । उ०—कै कहुँ रंक, कहुँ ईश्वरता नट वाजीगर
जेसे ।—सूर ।

वाजु-अव० [सं० वर्जन । मि० फा० बज्ज] (१) विना । यनैर । उ०—
(क) नख शिख सुभग इयामघन तन को दूरसन हरत
धियाजु । सूरदास मन रहत कौन विधि बदन बिलोकनि
वाजु ।—सूर । (ख) का भा जोग कहानी कये । निकसन
धीर वाजु दधि मये ।—जायसी । (ग) परी कया सुई रोषई
कहुँ रे जीव बजि भीह । को बड़ाई बैसारह वाजु पिरितम
जीव ।—बायसी । (२) अतिरिक्त । सिवा ।

वाजू-संज्ञा पुं० [फा० बज्ज] (१) भुजा । बाहु । बाह । विशेष—
दे० “बाह” ।

यौ०—वाजुर्द ।

(२) बाह पर पहनने का वाजुर्द नाम का गहना । विशेष—
दे० “वाजुर्द” । (३) सेना का किसी और का एक पक्ष ।
(४) वह जो हर काम में बराबर साथ रहे और सहायता
दे । जैसे, भाई, मित्र आदि, (बोलचाल) । (५) एक
प्रकार का गोदना जो बाह पर गोदा जाता है और वाजुर्द
के आकार का होता है । (६) पफी का डेना ।

वाजुर्द-संज्ञा पुं० [फा०] बाह पर पहनने का एक प्रकार का
गहना जो कई आकार का होता है । इसमें बहुधा
धीच में एक बड़ा चौकोर नग या पटरी होती है और इसके
आगे पीछे छोटे छोटे और नग या पटरी होती हैं जो सब
की सब तारों या रेशम में विरोह रहती हैं । वाजू । विज्ञ-
बट । भुजर्द ।

वाजुवीर-संज्ञा पुं० दे० “वाजुर्द” ।

वाक्मन-संज्ञा स्त्री० [हिं० बक्का = फँसना] (१) बक्कने या
फँसने का भाव । फँसावट । (२) बलभ्रम । पेच । (३)
झंझट । घलेड़ा । (४) लड़ाई । झगड़ा ।

वाक्मना-क्रि० प्र० दे० “वाक्मना” । उ०—नकपेसरि बंसी के
संझम भाँह मीन भकुलात । यमु ताटंक कमठ घूँचत उर
आल बाकि भकुलात ।—सूर ।

वाट-संज्ञा पुं० [सं० वाट = मार्ग] मार्ग । रास्ता ।

मुहा०—वाट करना = रास्ता सोलना । मार्ग बनाना । उ०—जीयो
अरासध बँहि घोरी । लुगल कपाट बिदारी वाट करि लतवि
रुही सँधि घोरी ।—सूर । वाट जगहना या देरना = प्रतीक्षा
करना । आराम देरना । वाट पड़ना = रास्ते में था था
कर भाषा देना । संग करना । पीछे पड़ना । वाट पड़ना = बाका
पड़ना । टरफ होना । उ०—हरनिवै मुनि-पानी होई चाई ।

वाट परह, मोरि भाव बढ़ाई ।—तुलसी । वाट रात
लाका भाना । मार्ग में छूट लेना । उ०—राम हो न
दीनी वाट ही में खरी कीनी वाट पारिने को बनी बन
प्रवीन है ।—हनुमान । वाट लगाना = (१) रास्ता नि-
खाना । मार्ग बनाना । (२) किसी काम करने का दंग बनना ।
(३) मूर्ख बनाना ।

संज्ञा पुं० [सं० वाट] (१) पथर आदि का वह टुकड़ा जो
चीजें सँभलने के काम आता है । बटबारा । (२) पथर
वह टुकड़ा जिससे सिल पर कोई चीज पीसी जाय ।
† संज्ञा स्त्री० [हिं० बटना] बटने का भाव । रसीली चीजों
में पफी डुई पड़ना । बटन । बल ।

वाटना-क्रि० प्र० [हिं० बटना या वाट] सिल पर बड़े बाँधों
पीसना । चूर्ण करना । उ०—कृष विप बाँध बना
कपट करि बालघातिनी परम सुझाई ।—सूर ।

क्रि० प्र० दे० “बटना” । उ०—कह गिरधर रीत
सुनो हो पूर को वाटी ?—गिरधर ।

वाटली-संज्ञा स्त्री० [सं० बटालन] जहाज के पाल में बना हो
छोटा बगाना हुआ वह रस्ता जो मस्तूल के ऊपर से होकर
फिर नीचे की ओर आता है । इसी को लोह का रात
मानते हैं । (लडा)

मुहा०—वाटली चापना = रस्ते को लोच कर पाल चलना ।

संज्ञा स्त्री० [सं० वाट] बोटल । बड़ी सीरी ।

वाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बाग । कुलवारी । (२) गण
काय्य का एक भेद । वह गण जिसमें कुछम और कुछ
गण मिला हो ।

वाट्री-संज्ञा स्त्री० [सं० वाट्री] (१) गोली । पिंड । (२) बंगाली
या उपरोक्त आदि पर सँकी हुई एक प्रकार की गोली या
पेड़े के आकार की रोटरी । चँगाकड़ी । खिड़ी । उ०—दूध
बाग वत्तम दधि वाट्री दाल मसूर की दधिकारी ।—सूर ।
संज्ञा स्त्री० [सं० वलुत । मि० हिं० बड़वा] (१) चौड़ा और
कम गहरा कटोरा । (२) तसला नाम का बरतन ।

वाट्किन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फाँपेखाने में काम आनेवाला एक
प्रकार का सूखा जिसमें पीछे की ओर लकड़ी का इला
लगा रहता है । इससे कंठोजिटर सेना कंठोजि किये हुए मीर
में से गलती से छगा हुआ अण्ड निकालते और इसकी
जगह दूसरा अण्डर बैठाते हैं । (२) दण्डीखाने में
काम आनेवाला एक प्रकार का सूखा जिसका विशुद्ध लिंग
बहुत मोटा होता है । यह कितानों या दण्डीयों आदि में,
टोंक कर लेंद्र करने के काम में आता है ।

वाट्की-संज्ञा स्त्री० [हिं० वाट्] (१) वाट् । वृद्धि । (२) ठेकी ।
जोर । उ०—वाट् चकती बेसी शरमी आमाकंड । हटे प
जुटे नहीं भई जो बाचाबंध ।—कबीर ।

संशा स्त्री० [२५०] स्त्रियों का बाँह पर पहनने का टाँट नामक गहना ।

च-संशा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण । (२) बड़वारिण । बड़वा-गल । (३) घोड़ियों का कुँडा ।

वि० बड़वा-संबंधी ।

च-संशा पुं० [सं० वाट] (१) चारो ओर से घिरा हुआ कुछ विस्तृत खाली स्थान । (२) वह स्थान जिसमें पशु रहते हैं । पशुशाला ।

संशा स्त्री० [सं०] स्त्रियों के पहनने की एक प्रकार की शेरमाली रंग की कुरती ।

संशा स्त्री० [सं० बारी] घाटिका । बारी । कुलवारी ।

संशा स्त्री० दे० "बाडिस" ।

संशा पुं० [सं०] (१) किसी राजा या बहुत बड़े राजकुमारों के साथ रहनेवाले उन घोड़े से सैनिकों का समूह जिनका काम उसके शरीर की रक्षा करना होता है । शरीर-रक्षक । (२) इन सैनिकों में से कोई एक सैनिक ।

संशा स्त्री० [हि० बड़ना] (१) बड़ने की क्रिया या भाव । बढ़ाव । वृद्धि । अधिकता । (२) अधिक वर्षा आदि के कारण नदी या जलवायव के जल का बहुत तेजी के साथ और बहुत अधिक मात्रा में बढ़ना । जल-प्लावन । सैलाव । संयोग क्रि०—भाना ।—उत्तरना ।

(१) यह धन जो व्यापार आदि में बढ़े । व्यापार आदि से होनेवाला लाभ । (२) बढ़क या तोप आदि का लगातार छूटना ।

सुदां०—बाढ़ दगना=तोप का लगातार छूटना ।

संशा स्त्री० [सं० वाट हि० बारी] तलवार, घुरी आदि शस्त्रों की धार । शान ।

दृकद-संशा स्त्री० [हि०] (१) तलवार । (२) खड्ग ।

दृकद-संशा स्त्री० [हि०] (१) दे० "बड़ना" । व०—(क) मंडल बांधि दिगुद्ध दिन बाहुत लहर-दार जन ताप नेवारे ।—देवस्वामी । (ख) एक बार जल बाहुत भयंकर । सन महांत बुद्धि उन्हें गमक ।—विन्यास । (२) दे० "बड़ना" ।

माली-संशा स्त्री० [हि०] (१) तलवार । (२) खड्ग ।

दिक्-संशा स्त्री० दे० "बाड़" । व०—मुज सिर बाकि होलि रिपु केरी ।—मुलसी ।

दी-संशा स्त्री० [हि० बाढ़] (१) बाढ़ । बढ़ाव । (२) अधिकता । वृद्धि । ज्यादा । (३) वह स्थान जो किसी को ब्रह्म प्रचार देने पर मिलता है । (४) लाभ । मुनाफा । नफा ।

दीवान-संशा पुं० [हि० बाड़=बार + सं० बाजू] वह जो घुरी, कैंची आदि की चार तेज करता हो । जोशिलों पर सान रखनेवाला ।

बाण-संशा पुं० [सं०] (१) एक लंबा और नुकीला धनु जो धनुष पर बड़ा कर चलाया जाता है । तीर । सायक । शर ।

विशेष-प्राचीन काल में प्रायः सारे संसार में इस धनु का प्रयोग होता था; और अब भी अनेक स्थानों के जंगली और अशिक्षित लोग अपने शत्रुओं का संहार या घाघेट आदि करने में इसी का व्यवहार करते हैं । यह प्रायः लकड़ी या नरसल की लंबे हाथ की छड़ होती है जिसके सिरे पर पैना लोहा, हड्डी, चकमक आदि लगा रहता है जिसे फल या गोर्सी कहते हैं । यह फल कई प्रकार का होता है, कोई लंबा कोई छोटा, कोई चमड़ाका, कोई गोल । लोहे का फल कभी कभी जहर में भुसा भी लिया जाता है जिससे चाहत की श्रुत प्रायः निरिध हो जाती है । कहीं कहीं इसके पिछले भाग में वर आदि भी बांध देते हैं जिससे वह लीधा और तेजी के साथ जाता है । हमारे यहाँ धनुर्वेद में बाणों और इसके फलों आदि का विराट रूप से वर्णन है । वि० दे० "धनुर्वेद" ।

पट्यां०—पृथक् । विशिष्ट । खग । आशुग । कर्त्तव्य । मार्गण । पत्नी । शेष । शीतल । कांड । विपयक । शर । बाजी । पत्रवाह । अज-कटक ।

(२) गाय का धन । (३) भाग । (४) भद्रसुख नामक लक्ष । रामसर । सरपट । (५) निराना । लक्ष्य । (६) पाँच की संख्या । (कामदेव के पाँच बाण माने हैं, इसीसे बाण से ५ की संख्या का बोध होता है ।) (७) शर का जगला भाग । (८) मीठी कटसरैया । (९) इक्ष्वाकु पंथीय विष्णु के पुत्र का नाम । (१०) राजा बलि के सौ पुत्रों में से सप्त से बड़े पुत्र का नाम । इनकी राजधानी पाताल की दक्षिण-पुरी थी । इन्होंने शिव से वर प्राप्त किया था जिससे देवता लोग धनुषों के समान इनके साथ रहते थे । कहते हैं कि युद्ध के समय स्वर्ग महादेव इनकी सहायता करते थे । उषा, जो अग्निदेव को स्थायी थी, इन्हींकी कन्या थी । (११) संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि । वि० दे० "बाणभट्ट" ।

बाणक-संशा पुं० [सं० बणिक] (१) महाजन । (२) शनिपा । (हिं०)

बाणभट्ट-संशा स्त्री० [सं०] हिमालय के सोमेश्वर गिरि से निकली हुई एक प्रसिद्ध नदी । कहते हैं कि यह रावण के बाण चलाने से निकली थी, इसीसे इसका यह नाम पड़ा ।

बाणपति-संशा पुं० [सं०] बाणानुद के स्वामी, महादेव । (हिं०)

बाणभट्ट-संशा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध संस्कृत कवि जो कादंबरी के 'सुषोम्नी' का रचयिता था । यह सम्राट् 'हर्ष' कादंबरी की सभा का पंडित था और इसने कई काव्य तथा नाटक लिखे थे । कादंबरी को समाप्त करने से पहले ही

हसकी मल्लु हो गई थी। हर्षचरित में हुन्होंने हर्षवर्द्धन का चरित्र लिखा है।

वाणविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विद्या जिससे वाण्य चलाना आवे। वाण्य चलाने की विद्या। तीरंदाजी।

वाणावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] वाणासुर की पत्नी का नाम।

वाणासुर-संज्ञा पुं० [सं०] राजा बलि के सौ पुत्रों में से सब से बड़े पुत्र का नाम जो बहुत ही वीर, गुणी और सहजवाहु था। पाताळ की शोथितपुरी इसकी राजधानी थी। इसने हजारों वर्ष तक तपस्या करके शिव से वर प्राप्त किया था। युद्ध में स्वयं शिव आकर इसकी सहायता किया करते थे। श्री कृष्ण के वीर अमिरुद्ध की पत्नी उषा इसी वाण्य की कन्या थी। उषा के कहने से जब उसकी सखी चित्रलेखा आकाशमार्ग से अमिरुद्ध को खे चाई थी, तब समाचार पाकर वाण्य ने अमिरुद्ध को कैद कर लिया था। यह सुनते ही श्रीकृष्ण ने वाण्य पर आक्रमण किया और युद्धक्षेत्र में उसके सब हाथ काट डाले। शिव जी के कहने से कैवल्य चार हाथ छोड़ दिए गए थे। इसने बरौत वाण्य ने अपनी कथा उषा का दिवाह अमिरुद्ध से साप कर दिया।

वाणिज्य-संज्ञा पुं० [सं०] व्यापार। शोखार। सौदागरी।

वाश-संज्ञा स्त्री० [सं० वाशि] (१) सार्थक शब्द या वाक्य।

किसी वृत्त या विषय को सूचित करनेवाला शब्द या वाक्य। वचन। वचन। वाणी। मोक्ष। जैसे, (क) इसके मुँह से एक बात न निकली। (ख) मुहारी बातें मैं क्यों सहूँ ?

मि० प्र०—कहना।—निकलना।—निकालना।

मौ०—बातचीत।

मुहा०—बात बटाना=(१) कड़वी बातें उठाना। कठोर वचन उठाना। खल्ल मुल्ल धरदास करना। (२) कथन का पालन करना। बात पर चतना। मान रखना। (३) बात न मानना। वचन छली करना। बात बटटना=(१) फटे हुए वचन के शर में उसके विरुद्ध बात कहना। बात का बचाव देना। जैसे, यहाँ की बात नहीं उलटनी चाहिए। (२) एक बार कुछ कह कर फिर दूसरी बार कुछ और कहना। बात पतटना। बात कहते=उत्तरी देर में जितनी मैं मुँह से बात निकले। तुल। भट। फैल। पत भरमें। बात काटना=(१) किसीके बातों समथ बीच में भेजल उठना। बात में हल्ला देना। (२) कथन का खंडन करना। जो कहा गया हो उसके विरुद्ध कहना। बात कान पटना=बात का मना या जाना जाना। जैसे, जहाँ यह बात किसी के कान पड़ी, तुल। फैल। जायागी। बात की बात में=हम भर में। भट। फैल। तुल। बातचापी जाना=प्रपंच या कथन का निरूपण करना।

बात का न माना जाना। बात गड़ना=झूठ बात बताना मिथ्या प्रयोग की उद्भावना करना। बात बनना। इ०—सुं कहत स्वाम जैन सुंदर पातें गढ़तें यनाप।—सु। रा। गाँठ या चाँचल में बाँधना=बात को न मूलना। यह रूप बगवर याद रखना। बात घूँट जाना=दे० "बात घी घूँट"। बात चबा जाना=कुछ कहते कहते एक जगह पर एक बार कही हुई बात को-दंग से दूसरे रूप में छाँटना। (मन में) बात जमाना या बैडाना=हृत् निश्चय करने कि ओ कहा गया वह ठीक है। बात टलना=कथन का वचन होना। बैसा कड़ा गया हो बैसा न होना। बात डालना=(१) पूछी हुई बात का ठीक जवाब न देकर हथ उड़ा कर बात कहना। सुनी अनसुनी करना। (२) वादेवा, प्रसंग शिष्टां के अनुकूल कार्य न करना। कही हुई बात पर न चलना। जैसे, वे हमारी बात कभी दास नहीं सकते। बात डालना कहना न मानना। कथन का पालन न करना। बात दुहाना=(१) पूछी हुई बात फिर कहना। (२) किसीकी कही हुई बात खसत कर जवाब देना। जैसे, यहाँ की बात दुहाते हो। मुँह से बात न बताना=मुँह से शब्द न निकलना। बात पचुना=अपना से ध्यान न देना। कुछ समझ का रा तन न करना। कुछ भी कदर न करना। जैसे, तुम्हारी यही बात रही तो मारे मारे फिरोगे, कोई बात न समझो। उ०—तिर हँड, ऊपर चारन संकट, बात नहीं प्यै कोर।—तुलसी। बात न करना=प्रसंग के बारे में सोचना। बात भीचे डाढना=अपनी बात का खंडन होने देना। जमी बात के ऊपर किसी और की बात होने देना। जैसे, यह ऐसी मुँहजोर है कि एक बात नहीं भीचे डाढली। बात पकड़ना=(१) कथन में परस्पर विरोध या द्वेष दिखाना। किसीके कथन को उसीके कथन द्वारा अचुत पिट करना। यहाँ से कायल करना। (२) ठग करना। हुना करना। (किसी की) बात पर जाना=(१) बात का ख्याल करना। बात पर ध्यान देना। बात का भंडा घुसा मानना। जैसे, तुन की लड़कियों की बात पर जाते हो। (२) कहने पर भरोसा करना। कथन के अनुसार चतना। जैसे, उसकी बात पर जाओगे तो घोला खाओगे। बात पठटना=दे० "फात बदलना"। बात धी जाना=(१) बात सुन भी भी उठ पर ध्यान न देना। सुनी अनसुनी करना। (२) अचुत या कठोर वचन सुनकर भी चुन हो रहना। दर सुनर करना। जाने देना। बात पचना=(१) ठोस रखना। खर खेन। गुण या दुःख है, हमका ध्यान रखना। (२) कदर करना। बात पटना=शब्द मुँह से निकलना। बात फँकना=व्यर्थ छोड़ना। जाने मानना। बोली ठोसी मानना। बात फेरना=(१) चतरे हुए प्रसंग को बीच से उठाकर

दूसरा विषय छेड़ना । बात पलटना । (२) बात बड़ी करना । बात का समर्थन करके उसका महत्व बढ़ाना । बात बढ़ाना = बात का विवाद के रूप में हो जाना । मगड़ा होना । तकरार होना । जैसे, पहले तो लोग चौंही आपस में कह चुन रहे थे, धीरे धीरे-बात बढ़ गई । बात बढ़ाना = विवाद करना । कहा सुनी करना । मगड़ा करना । जैसे, तुम्हीं चुप रह जाओ, बात बढ़ाने से क्या कायदा ! (किसी की) बात बढ़ाना = बात का समर्थन करना । बात की पुष्टि करके उसे महत्व देना । बात बढ़लना = एक बार एक बात कहने दोसरी बार दोसरी । कह कर पलटना । मुकलना । बात बनाना = मिथ्या प्रसंग की बनावत करना । झूठ बोलना । बहाना करना । व्यर्थ वाचिहार करना । ३०—तुम जो राजनीति सब जानत बहुत बनावत बात ।—सूर । बात बात में हर एक बात में जो कुछ कहना है, सब में । जैसे, वह बात बात में कूट पोछता है । (२) बार बार । हर बार । पुनः पुनः । बात मारना = (१) बात दहाना । घुमाफिर कर अक्षय बात न कहना । (२) व्यर्थ बोलना । ताना मारना । बात सुँद पर लाना = बात बोलना । वाक्य का उच्चारण करना । बात में बात निकालना = बात की खास निकालना । किसी के कथन में दोष निकालना । (किसी की) बात रखना = (१) कहना मानना । कथन प्रोत्साहित करना । (२) मेमोरण्डम बनाना । मन रखना । (अपनी) बात रखना = (१) अपने कहे अनुसार करना । जैसा कहा या वैसा करना । (२) हट करना । इराद्वर करना । जैसे, तुम अपनी ही बात रखो कि दूसरे की भी मानोगे ? बात लगाना = किसी के विरुद्ध ह्वाज उधर बात कहना । लगाई बमारी करना । कान मरना । निंदा करना । पिरुनता करना । बात दे = (२) कथन मान लेना । सत्य नहीं है । ठीक नहीं है । जैसे, वह निराधार रहते हैं, यह तो बात है । बातें छुँटना = (१) बहुत बातें करना । व्यर्थ बोलना । (२) बढ़ बढ़ कर बोलना । बातें बघारना = (१) बातें बनाना । बहुत बोलना । ऐसी बातें करना जिनमें तब न हो । (२) बढ़ बढ़ कर बोलना । डोंग हलकना । शैली मारना । बातें बनाना = (१) व्यर्थ बोलना । ऐसी बातें कहना जिनमें तब न हो । झूठनूँ ह्वाज उधर की बातें कहना । (२) पढ़ना करना । (३) छुआमद करना । चापट्टी करना । (४) खींच हलकना । बढ़ बढ़ कर बोलना । बातें मिलावना = हँस में हँस मिलावना । प्रसन्न करने के लिये सुझावी बातें कहना । बातें सुनना = फोहर पचन सहना । दुर्वचन सहना । कड़वी बात बरदस्त करना । बातें सुनाना = ऊँचा नीचा सुनाना । मगड़ा बुरा कहना । फोहर बचन कहना । बातें आना = दे० 'बातों में आना' । बातों की कमी बाँधना = बात पर बात कहते जाना । हातातर बोलते जाना । बातों का घनी = विरक्त ज़बानी जमा

खर्च करनेवाला । बहुत कुछ कहनेवाला पर करनेवाला कुछ नहीं । बातें बनानेवाला । बातों पर जाना = (१) बातों पर ध्यान देना । (२) कहनेके अनुसार चलना । बातों में आना = बातों पर विचार करके उनके अनुसार चलना । बातों में उड़ाना = (१) (किसी विषय को) हँसी में टाकना । ह्वाज उधर की अनावश्यक बातें कह कर अक्षय बात पर ध्यान न देना । (२) पढ़ाई देना । टाकमूक करना । बातों में धर लेना = कहीं हुई बातों में से किसी अंग को लेकर यह सिद्ध कर देना कि बातें यथार्थ नहीं हैं । युक्ति से बातों का खंडन कर देना । कायस करना । बातों में कुसलाना या बहलाना = केवल वचनें ले संतुष्ट या दूसरी ओर प्रवृत्त करना । बातें कहकर संतोष या समाधान करना । बातों में लगाना = बातें कहकर उसमें लीन रहना । वाचाछाप में प्रवृत्त करना । ३०—बातन ही सुत छाय छियो । सब लीं मधि दधि जननि जसोदा माखन करि हरि-हाथ दियो ।—सूर ।

(२) चर्चा । झिक् । प्रसंग ।

मुहा०—बात आना = दे० 'बात उठना' । बात बठना = चर्चा

छिड़ना । प्रसंग आना । किसी विषय पर कुछ कहा सुना जाना । बात बठाना = चर्चा चलाना । झिक् करना । किसी विषय पर कुछ कहना आरंभ करना । ३०—अब समझी मैं बात सयन की भूटे ही यह बात उठावति ।—सूर । बात चलना = प्रसंग आना । चर्चा छिड़ना । किसी विषय पर कुछ कहा सुना जाना । बात बलाना = चर्चा छेड़ना । झिक् करना । ३०—किरि किरि रूपति चढावत बात । कही सुमंत कहाँ तो पलटे मान-जिवन कैसे बन जात ।—सूर । (अमुक की) बात मत चलाओ = इस संबंध में (अमुक की) चर्चा करना (दृष्टांत या उदाहरण आदिके लिए) व्यर्थ है । (अमुक का) दृष्टांत देना ठीक नहीं है । जैसे, उनकी बात मत चलाओ; ये रूपरेखाके ही सब कुछ खर्च कर सकते हैं । बात चलाना = चर्चा चलाना । बात छेड़ना । ३०—ऊनो कत ये बातें खाजी । कछु मीठी कछु कड़ई हरि की अंतर में सब साजी ।—सूर (अमुक की) बात क्या चलाते हो ? = दे० 'बात मत चलाओ' । बात छिड़ना = दे० 'बात चलाना' । बात छेड़ना = दे० 'बात चलाना' । बात निकालना = बात चलाना । बात पढ़ना = किसी विषय का प्रसंग प्राप्त होना । चर्चा छिड़ना । जैसे, बात पढ़ी, इस लिये मैंने कहा, नहीं तो मुझसे क्या मतलब ? बात सुँद पर लाना = (किसी विषय की) चर्चा कर बैठना । जैसे, किसी के सामने यह बात सुँद पर न लाना ।

(२) फैली हुई चर्चा । प्रचलित प्रसंग । तपर । अच-बाह । किंवदंती । प्रवाद ।

मुहा०—बात बढ़ना=चोरा थोर चर्चा फैलना। किसी विषय का लोगों के बीच प्रसिद्ध होना या प्रचार पाना। उ०—कूड़ी ही यह बात रही है राधा काण्ड कहत नर नारी। रिस की बात सुता के मुख सों सुनत हँसी मन ही मन भारी।
—चुर। (किसी पर) बात माना=दोषोपेयण होना। दोष लगना। कलंक लगना। बुराई जाना। बात फैलना=चर्चा फैलना। बात लोगों के मुँह से चारों ओर सुनाई पड़ना। प्रसिद्ध होना। बात फैलाना=इधर उधर लोगों में चर्चा करना। प्रसिद्ध करना। बात बढ़ना=चोरा थोर चर्चा फैलना। बात ठड़ना। उ०—जो हम सुनति रही सो नार्हीं। ऐसी ही यह बात पढ़ानी।—चुर। (किसी पर) बात रखना, लगाना या डालना=दोष लगाना। कलंक मढ़ना। इज्जत खाना। लांछन रखना।

(४) कोई घट या विषय जो राज्यों द्वारा प्रकट किया जा सके या मन में छाया जा सके। जानी जाने या जताई जानेवाली वस्तु या स्थिति। मामला। माजरा। हाल। व्यवस्था। जैसे, (क) बात क्या है कि यह अब तक नहीं आया? (ख) बनकी क्या बात है? (ग) इस चिट्ठी में क्या बात लिखी है? उ०—क्यों करि कूड़ी मानिए सखि सनेरे की बात।—पद्माकर।

मुहा०—बात का बर्तगड़ करना=(१) साधारण विषय या घटना को व्यर्थ विस्तार देकर वर्णन करना। छोटे से मामले को बहुत बड़ा कर कहना। (२) किसी साधारण घटना को बहुत बड़ा या भीषण रूप देना। छोटे से मामले को व्यर्थ बहुत पैचीस या भारी बना देना। बात ठहरना=किसी विषय में यह खिर होना कि ऐसा होगा। मामला तै होना। जैसे, हमारे इनके यह बात ठहरी है कि कुछ सनेरे यहाँ से चल दें। बात डालना=विषय उपस्थित करना। मामला पेश करना। जैसे, यह बात प'चों के बीच डाली जाय। बात न पढ़ना=दया पर ध्यान न देना। ख्याल न करना। परवा न रखना। उ०—मीन पियोग न सहि सकेगीर न पड़े बाज।—चुर। बात बर भूल डालना=किसी काम या घटना को भूल जाना। मामले या ख्याल न करना। गर्द कर जाना। बात पी जाना=जो कुछ ही गया है। उत्तर ख्याल न करना। जाने देना। दर गुजर करना। बात बढ़ना=मामले का सुत लीनना। किसी प्रयोग या घटना का घोर रूप धारण करना। जैसे, अब बात बहुत बढ़ गई है; समझना मुझना व्यर्थ है। बात बढ़ाना=मामले को दृढ़ होना। किसी प्रयोग, परिस्थिति या घटना को घोर रूप देना। जैसे, जो हुआ सो हुआ, रूप अदावत में जाकर क्यों बात बढ़ाते हो। बात बनना=(१) काम बनना। प्रयोजन सिद्ध होना। सामग्री इकट्ठा होना। सिद्धि प्राप्त होना। उ०—खोज मारि रच हाँक

साता। खान बपाय बनहि नहिं बाता।—गुनगुन।
(२) संयोग या घटना का अच्युत होना। कच्ची संज्ञा होना। बोलबाला होना। अच्छा रंग होना। बात बनना या सँवारना=काम बनना। कार्य सिद्ध करना। बड़ा गौटना। सिद्धि प्राप्त करना। संयोग या परिस्थिति का बड़ा करना। जैसे, यह तो सारा मामला बिगाड़ हुआ। हमने भाकर बात बना दी। उ०—(क) बतार मीना त मइतारी। बीच पाय निज बात सँवारी।—गुनगुन। (ग) भरत भगति तुम्हरे मन भाई। तजहु सोच निषिध बनई।—गुनगुन। बात बात पर या बात बात में=प्रयोग पर। थोड़ा या भी कुछ होने पर। हर काम में। बात बात में बिगड़ना=विवाद करने हो, कैसे काम चलेगा। बात बिगड़ना=(१) कार्य नष्ट होना। काम बौध होना। बिगड़ना होना। अच्छी परिस्थिति न होकर बुरी परिस्थिति हो जाना। (२) प्रयोजन सिद्ध न होना। बिगड़ना होना। तुम्हारे यहाँ न जाने से सारी बात बिगड़ गई। बात बिगड़ना=कार्य नष्ट करना। काम बौध करना। मामला खराब करना। बुरी परिस्थिति जाना। उ०—बिधि बनाइ सब बात बिगड़ो तुलसी।

(२) घटित होनेवाली अवस्था। प्राप्त संयोग परिस्थिति। जैसे, (क) इससे एक बात होगी कि बात कभी न आवेगा। (ख) रास्ते में कोई बात हो जाएगी। कौन जिम्मेदार होगा? (३) इससे के पास पहुँचने लिए कहा हुआ 'बचन'। संदेह। संदेह। पैमाना उ०—ऊधो। हरि सों कहियो बात।—चुर। (ग) बात कपोलकपन। संवाद। वाचांलाप। गप-शप। काव्यशास्त्र के अर्थ, क्यों बातों में दिन खोते हो?

यो०—बातचीत।

मुहा०—बातों बातों में=बातचीत करते हुए। कपेयन के बीच में। जैसे, बातों ही बातों में यह बिगड़ रहा।
(क) किसी के साथ कोई व्यवहार या संबंध स्थापित करने लिए पारस्पर कपोलकपन। कोई मामला तै करने के लिये संबंध में चर्चा। जैसे, (क) ब्याह की बात। (ग) इस मामले में मुझसे इनके बात हो गई है। (ग) बात पहले बात हुई है उसी के हाथ छोड़ा बेचेंगे।

यो०—बातचीत।

मुहा०—बात ठहरना=(१) ब्याह ठीक होना। विवाह संबंध स्थापित होना। (२) किसी महार का निश्चय होना। बात लगाना=विवाद के संबंध में प्रस्ताव पेश होना। बात डालना=विवाद का प्रस्ताव। करना। बात संबंध स्थापित करने के लिये बहोती कहना गुनना। बात डालना नर या कन्या पक्ष से विवाह का प्रस्ताव डालना।

(१) फँसने या धोखा देने के लिए कहे हुए शब्द या किए हुए व्यवहार। जैसे, तुम उसकी बातों में न आना। मुहा०—बातों में आना या जाना = कपन या व्यवहार से धोखा खाना।

(१०) मूठ या बनावटी कथन। मिस। बहाना। जैसे—यह सच तो उसकी बात है। (११) अपने भावी आचरण के संबंध में कहा हुआ वचन। प्रतिज्ञा। कौल। वादा। जैसे, वह अपनी बात का पक्का है।

मुहा०—बात का घनी, पक्का या पूरा = प्रतिज्ञा का पालन करने वाला। कौल का सच्चा। मुँह से जो कहे वही करनेवाला। दृढ़प्रतिज्ञा। बात का कच्चा या हट्टा = प्रतिज्ञा भंग करनेवाला। अपनी बात पर न रहनेवाला = प्रतिज्ञा भंग करनेवाला। कौल पूरा न करनेवाला। बात पक्की करना = (१) परस्पर स्थिर करना कि ऐसा ही होगा। दृढ़ निश्चय करना। (२) प्रतिज्ञा या संकल्प पुष्ट करना। वचन देकर और वचन देकर किसी विषय में फलस्वरूप स्थिर करना। बात पक्की होना = (१) स्थिर होना कि ऐसा ही होगा। (२) प्रतिज्ञा या संकल्प का दृढ़ होना। बात पर आना = अपने कहे हुए वचन के अनुसार ही काम करने के लिए उत्तारु होना। जैसा मैंने कहा वैसा ही हो, ऐसा दृढ़ या आग्रह करना। बात पर जाना = कपन या प्रतिज्ञा पर विश्वास करना। कहे का मरोड़ा करना। (अपनी) बात रखना = वचन पूरा करना। प्रतिज्ञा का पालन करना। ३०—वेद विदित बहु धर्म चलाइय राखु हमारी बातों।—रघुनाथ। बात डारना = प्रतिज्ञा करना। वादा करना। वचन देना। जैसे, मैं बात डार चुका हूँ नहीं तो मुझी को देना।

(१२) वचन का प्रमाण। साक्ष। प्रतीति। विश्वास। जैसे, जिसकी बात गई उसकी जात गई।

मुहा०—(किसी की) बात जाना = बात का प्रमाण न रहना। (लोगों को) एतबार न रह जाना। बात खोना = साक्ष विगाड़ना। ऐसा काम करना जिससे लोग एतबार करना छोड़ दें। बात बनना = साक्ष रहना। विश्वास रहना। जैसे, अभी बाजार में उनकी बात बनी है। बात देही होना = बात का प्रमाण या साक्ष न रह जाना। वचन का विश्वास या प्रतिज्ञा उठ जाना। बात की कदर न रह जाना।

(१३) मानमर्षादा। धाप। प्रतिष्ठा। इज्जत। कदर। जैसे, अपनी बात अपने हाथ। ३०—मुनो राजा छं-क-पति, भाजा खेरी बात भति, कीन सुरपति, धनपति, लोकपति है।—मुलसी।

मुहा०—बात खोना = प्रतिज्ञा नष्ट करना। इज्जत गँवाना। ऐसा काम करना जिससे लोग आदर प्रतिज्ञा करना छोड़ दें। बात जाना = प्रतिज्ञा नष्ट होना। इज्जत न रह जाना। ३०—

वचित यासु निग्रह भय भाई। नतह बात बहुकुल की जाई।—गोपाल। बात बनना = प्रतिज्ञा प्राप्त होना। इज्जत पैदा होना। रंग जमना। लोगों पर अच्छा प्रभाव होना। जैसे, इस आदिमियों में उनकी बात बनी हुई है। (अपनी) बात बना लेना = लोगों में प्रतिज्ञा प्राप्त कर लेना। लोगों के बीच इज्जत पैदा करना। नाम या यश प्राप्त करना। हैसियत पैदा करना। बात बिगड़ना = (१) प्रतिज्ञा न रहना। इज्जत न रह जाना। लोगों के बीच वैसा आदर या सम्मान न होना। (२) हैसियत बिगड़ना। दिवाला निकलना। बात बिगाड़ना = प्रतिज्ञा नष्ट करना। इज्जत खोना। ऐसा काम करना जिससे साक्ष या मर्षादा न रह जाय। बात रख लेना = प्रतिज्ञा नष्ट न होने देना। इज्जत न बिगाड़ने देना। बात रह जाना = मान मर्षादा रह जाना। इज्जत रह जाना।

(१३) अपनी हैसियत, योग्यता, गुण, सामर्थ्य इत्यादि के संबंध में कथन या वाक्य। जैसे, भव तो वह बहुत लंबी चौड़ी बातें करता है। (१४) आदेश। उपदेश। सीख। नसीहत। जैसे, वहाँ की बात माना करो।

कि० प्र०—पर चकना।—मानना।

मुहा०—बात बढाना = बात न मानना। कपन या आदेश का पालन न करना। कहे अनुसार न चकना।

(१६) रहस्य। भेद। मर्म। गुप्त विषय। जैसे, इसके भीतर कोई बात है।

मुहा०—बात खुलना = गुप्त विषय प्रकट होना। छिपी व्यवस्था जात होना। छिपा मामला जाहिर होना। बात फूटना = गुप्त विषय का कई आदिमियों पर प्रकट हो जाना। रहस्य प्रकाशित होना।

(१७) तारीफ की बात। प्रशंसा का विषय। जैसे, उससे पहले पहुँचो तब से बात। (१८) शक्ति। चमत्कार पूर्ण कथन। (१९) गुप्त अर्थ। अभिप्राय। मानी। ३०—चतुरन की कहिए कहा बात बात में बात।

मुहा०—बात पाना = छिपा हुआ अर्थ समझ जाना। गूढ़ार्थ जान जाना। जैसे, यह बात पाकर हँसा है, ये ही नहीं।

(२०) गुण या विशेषता। खूबी। जैसे, यह भी अच्छा है, पर उसकी कुछ बात ही और है। (२१) डंटा। डब। तौर। (२२) प्रश्न। सवाल। समस्या। जैसे, उनकी बात का जवाब दो। (२३) अभिप्राय। तात्पर्य। आशय। विचार। भाव। जैसे, किसी के मन की बात क्या जानूँ? (२४) कामना। इच्छा। चाह। ३०—ऊधो! मन की (बात) मन ही माहि रही।—मूर। (२५) कथन का सार। कहने का अन्त

मतलब। तब। ममै। जैसे, तुमने अभी पात नहीं पाई, वो ही बिना समझे बोळ रहे हो।

मुहा०—बात तक पहुँचना=दे० “पात पाना”। बात पाना = अक्षत मतलब समझ जाना।

(२६) काम। काव्य। कर्म। आचरण। व्यवहार। जैसे, (क) उसे इराना कोई बड़ी बात नहीं। (ख) एक बात करो तो वह यहाँ से चला जाय। (ग) कोई बात ऐसी न करो जिससे उन्हें दुःख पहुँचे। (२७) संघर्ष। लड़ाव। तपस्वलोक। जैसे, वन दोनों के बीच जरूर कोई बात है। (२८) स्वभाव। गुण। प्रकृति। लक्षण। जैसे, उसमें बहुत सी बुरी बातें हैं। (२९) वस्तु। वस्तुएँ। चीज। विषय। जैसे, उन्हें कमी किस बात की है जो दूसरों के यहाँ माँगने जायेंगे। ३०—कितक बात यह धनुष शब्द को सकल विरव कर लेंगे। आश्चा पाय देव रघुपति की छिनक माँक इडि गौरी।—सूर। (३०) घेचनेवाली वस्तु का मुख्य फयम। दाम। मोल। जैसे, यहाँ तो एक बात होती है; लीजिए या न लीजिए। (३१) बचिप पय या वपाय। कष्टव्य। जैसे, मुझारे लिये तो थप यही बात है कि जाकर उनसे वमा माँगो। ३०—परयो सोप भारी नृप निपट खिसानो भयो गयो उडि “सागर में घूँई” यही बात है।—प्रियादास।

पातकंडक-उंशा पुं० [सं० वाचकंडक] एक वायु रोग।

पातचीत-उंशा स्त्री० [हिं० वात + चित्त] दो या कई मनुष्यों के बीच कपोपकपन। दो या कई आदमियों का एक दूसरे से कहना सुनना। बाँटलाप।

मुहा०—बातचीत चलना, या चिड़ना=दे० “वात (२)”।

पातड़ा-वि० [सं० वातृ] वायु युक्त। वायुवाला।

पातप-उंशा पुं० [सं० वातप] हिरण। (अनेकार्थ०)

पातफरीश-उंशा पुं० [हिं० वात + फरीश] (१) वात बनानेवाला।

बात गड़नेवाला। (२) कूट मूट दूधर इष की बात कहनेवाला।

पातर-उंशा पुं० [देग०] पंजाब में घान बोने का एक वन।

बातलारोग-उंशा पुं० [सं०] एक योनिरोग जिसमें मुई सुनने की सी पीड़ा होती है।

पाती-१-उंशा स्त्री० [सं० वाती] (१) खंसी सखाई के शाकार में बड़ी हुई खड़े या कपड़ा। (२) कपड़े या खड़े को बटका बनाई हुई सखाई जो खेठ में डुबा कर दिया लटाने के काम में पाती है। बत्ती। ३०—यही सराय सतसागर पूत पाती रोख घनी।—सूर। (२) परम प्रकाश रूप दिन राती। यदि बहुत दिवस दिया पूत पाती।—गुलसी। (३) वद लक्ष्मी जो पान के खेत के ऊपर बिदा कर छुपार पाते हैं।

पातुल-वि० [सं० वातृ] (१) पागल। सनही। खोइहा।

३०—(क) पातुल मातुल की न गुनी सिप का गुलसी

कपि-लंक न जारी। (ख) बातुल भूत-दिवस मरारे। नहिं। मोलहिं। बचन बिचारे।—गुलसी।

पातूनिया-वि० दे० “वातूनी”।

पातूनी-वि० [हिं० वात + ऊनी (प्रत्य०)] बकवासी। गुन। मोलने या बात करनेवाला।

चापू-उंशा पुं० [सं० वातृ, प्रा० वातृप] बहुधा शान का रूप। वाद-उंशा पुं० [सं० वाद] (१) यहल। तर्क। रोडन मंडन की बात। चीत। ३०—सजल कड़ीता भी उड बात निषाद। चहुनु नाव पग घोइ करहु अनि पाइ।—गुलसी।

(२) विवाद। कगड़ा। हुजत। ३०—(क) मौलत पी घानी ज्यों तरनी तरंगी मेरी, प्रभु सों विवाद कै के पान बढ़ावहीं।—गुलसी। (ख) जो अथक से वाद वार्ता विधात।

मुहा०—वाद बढ़ाना=कगड़ा बढ़ाना।

(३) नावा प्रकार के तर्क पितक द्वारा वात का विस्तार। कककक। गुल कलामी। ३०—सों परनास वेद पुरान पढ़यो, पढ़ि कै, बहु वाद बढ़ायो।—पदनाम। (४) प्रतिष्ठा। शक्त। बाजी। होइहाओरी। ३०—दूतभी रघुनाथ-सपथ उपरा उपरी करि वाद।—गुलसी।

मुहा०—वाद मेलना=शर्त बदना। बाजी लगाना। ३०—वाद मेलि कै खेळ पतारा। हार देव जो खेळ हारा।—जायसी।

अथ [सं० वाद] हिं० वादि=वाद करने, हार करने, बर्द। व्यर्थ। निष्प्रयोजन। कजुल। बिना मतलब। ३०—मय बटाऊ वेह सजि वाद बकति बँकाज। धर कलि देव बराहने न उपजति घति लाज।—विहारी।

अथ [सं०] परवाद। अनेतर। पीछे। वि० (१) चलन किया हुआ। मोड़ा हुआ। जैसे, धर्षा वाद देकर मुझारा किताब देखा निहलता है।

कि० प्र०—इला।—देना।

(२) दस्तूरी या कमीशन जो दाम में से काटा जाय।

(३) अतिरिक्त। सिवाय। (४) असल से अधिक दाम जो व्यापारी माळ वर लिख देते और दाम बताते समय भरा देते हैं। उंशा पुं० [वा०] बात। वचा।

यो०—वादानुमा।

वादफाकुल-उंशा पुं० [सं०] ताड़ के सुक २० भेदों में से एक भेद। ३०—पुली लघु चतुर्क प मोही दूत मुग लघु लघु चतुर्क बिना वाद ताड़फाकुल कहिये।—सीतल दामोदर।

वादना-क कि० [सं० वात + ना (प्रत्य०)] (१) ककवाद करना। तर्क विवाद करना। (२) कगड़ा करना। हुकल करना। ३०—(क) वादहिं पुन विजय सम हन कल से कल

पादि ।—गुलसी । (ख) बादति है दिन काम ही घुषा
बड़ावति बार ।—सूर । (३) बोलना । ललकारना ।
४०—बादत बड़े सूर की नाई अग्रहिं लेत हैं प्रान
प्रहारे ।—सूर ।

बादमुमा—संज्ञा पुं० [फा०] वायु की दिशा सूचित करनेवाला
यंत्र । हवा किस ओर से बहती है, यह बतातेवाली कल ।
पवन-प्रकाश । पवन-प्रचार ।

बादधान—संज्ञा पुं० [फा०] पाल ।

बादर †—संज्ञा पुं० [सं० वारिद, विषय्य द्वारा 'बादरि'] बादल ।
मेघ । (क) हेति पवित्रे अरघ चलों ले सादर । उमगि
बल्यो आनंद भुवन भुईं बादर ।—गुलसी । (ख) चाल
बिन कैसे लाज चादर रहैनी, हाथ । कादर करत मोहिं
बादर नष्ट नष्ट ।—श्रीपति ।

वि० [सं०] (१) वदर या वेर नामक फल का, उससे
बल्य या उससे संबंध रखनेवाला । (२) कपास का ।
कपास या रुई का बना हुआ । (३) मोटा या खड़ ।
'सूक्ष्म' का उलटा (कपड़ा) ।

'संज्ञा पुं० नैऋत्य कोण में एक देश । (बृहत्संहिता)

वि० [देश०] आनंदित । प्रसन्न । आह्लादित । ४०—
सादरसली के साथ बादर बदन हूँ के भूपति पथारे महाराजी
के महल को ।

बादरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बदरी या बेर का पेड़ । (२)
कपास का बीजा । (३) जल । पानी । (४) रेशम । (५)
दक्षिणावर्त शंख ।

बादरापण—संज्ञा पुं० [सं०] वेदव्यास का एक नाम ।

बादरिया—संज्ञा स्त्री० दे० 'बादरी' या 'बादली' । ४०—वासन
लागी कारी बादरिया ।—गीत ।

बादरी—संज्ञा स्त्री० दे० 'बादली' ।

बादल—संज्ञा पुं० [सं० वारिद, हिं० बादर] (१) पृथ्वी पर के जल
(समुद्र, स्तब्ध, नदी आदि के) से उठी हुई वह भाप
जो पानी हो कर आकाश में छा जाती है और फिर पानी
की बूँदों के रूप में गिरती है । मेघ । घन ।

विशेष—सूक्ष्म बल-सीकर रूप की इस प्रकार की भाप जो
पृथ्वी पर छा जाती है, उसे नीहार या कुहरा कहते हैं । बादल
साधारणतः पृथ्वी से कोस डेढ़ कोस की ऊँचाई पर रहा
करते हैं । ये आकाश में अनेक विलक्षण रूपरंग धारण
किया करते हैं जिनकी शोभा अनिर्वचनीय होती है ।

किं० प्र०—घाना ।—झाना ।

मुहा०—बादल उठना = बादलों का गिरी और से समुद्र के रूप
में बदले हुए दिखाई पड़ना । बादल चढ़ना = दे० 'बादल
उठना' । बादल गरजना = मेघों के संघर्ष का शोर शब्द ।
परफाट्ट की आवाज जो बादलों से निकलती है । बादल

खिना = मेघों का चारों ओर छाटना । बादल फटना =
मेघों का घटा के रूप में फैलना रहना, तितर बितर हो जाना ।
बादल छँटना = मेघों का खंड खंड होकर हट जाना । आकाश
खच्छ होना । बादलों से बातें करना = आकाश से बातें
करना । बहुत ऊँचा उठना ।

(२) एक प्रकार का पत्थर जो दूधिया रंग का होता है
और जिस पर बैंगनी रंग की बादल की सी धारियाँ
पड़ी होती हैं । यह राजपूताने में निकलता है ।

बादला—संज्ञा पुं० [हिं० पठला ?] सोने या चांदी का बिपटा
चमकीला तार जो मोटे बुनने या कलायत्तू बटने के काम
में आता है । कामदानी का तार । (यह तार एक तोले में
२०० गज के लगभग होता है ।)

बादली—संज्ञा स्त्री० दे० 'बादली' ।

बादशाह—संज्ञा पुं० [फा०] मिश्रभा सं० बादशासक] (१) तख्त
का मालिक । राजसिंहासन पर बैठनेवाला । राजा ।
शासक । (२) सब से श्रेष्ठ पुरुष । सरदार । सप से
बड़ा बादमी । जैसे, कुठों के बादशाह । (३) स्वतंत्र ।
मनमाना करनेवाला । जैसे, तबीयत का बादशाह ।
(४) शतरंज का एक मुहरा जो किस खगने के पहले
केवल एक बार घोड़े की चाल चलता है और दौड़पू से
बचा रहता है । (५) वाद्य का एक पत्ता जिस पर
बादशाह की तखवीर बनी रहती है ।

बादशाहजादा—संज्ञा पुं० [फा०] राजकुमार । कुँवर । कुमार ।

बादशाहजादी—संज्ञा स्त्री० [फा०] राजकुमारी ।

बादशाहत—संज्ञा स्त्री० [फा०] राज्य । शासन । हुकूमत ।

बादशाहपसेद—संज्ञा पुं० [फा०] खुराखारी रंग । दिखपहार
हलका आसमानी रंग ।

बादशाही—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) राज्य । राज्याधिकार ।

(२) शासन । हुकूमत । (३) मनमाना व्यवहार ।

वि० (१) बादशाह का । राजा का । जैसे, बादशाही
मंडा । (२) राजाओं के योग्य ।

बादशवाई—किं० वि० [फा० शर + य + हवा] यों ही ।
व्यर्थ । फ़ज़ूल । निष्प्रयोजन ।

बादाम—संज्ञा पुं० [फा०] (१) ममोले आकार का एक प्रकार का
वृक्ष जो परिचयी पृथिवी में अधिकता से और परिचयी
भारत (काश्मीर और पंजाब आदि) में कहीं कहीं होता
है । इसमें एक प्रकार के छोटे छोटे फल लगते हैं जिनके
ऊपर का छिलका बहुत कड़ा होता है और जिनके सेहने
पर लाठ रंग के एक दूसरे छिन्नके में लिपटी हुई सफ़ेद
रंग की गिरी रहती है । यह गिरी बहुत मोड़ी होती है
और भाप खाने के काम में आती है । यह पीछि-
भी होती है और मेघों में गिनी जाती है । इसका स्प-
-

मतलब । तब । मर्म । जैसे, तुमने अभी बात नहीं पाई, यों ही बिना समझे बोल रहे हो । -

मुहा०—बात तब पहुँचना = दे० “बात पाना” । बात पाना = अथवा मतलब समझ जाना ।

(२१) काम । कार्य । कर्म । आचरण । व्यवहार । जैसे, (क) उसे हराना कोई पड़ी बात नहीं । (ख) एक बात करो तो वह यहाँ से चला जाय । (ग) कोई बात ऐसी न करो जिससे उन्हें दुःख पहुँचे । (२०) संबंध । लगाव । सहायक । जैसे, उन दोनों के बीच जरूर कोई बात है । (२२) स्वभाव । गुण । प्रकृति । लक्षण । जैसे, उसमें बहुत सी गुरी बातें हैं । (२३) यन्त्र । पदार्थ । चीज । विषय । जैसे, उन्हें कमी किस बात की है जो दूसरों के यहाँ माँगने आयेगे । ३०—कितक बात यह धनुष बंद की सकल विरय कर लेंगे । भाषा पाय देव रघुपति की छिनक नामक इति गेहो ।—सूर । (३०) बेचनेवाली वस्तु का मूल्य कथन । दाम । मूल । जैसे, यहाँ तो एक बात होती है, खीजियुं बा न खीजियुं । (३१) ब्रित्तिय या उपाय । कथंभ्य । जैसे, तुम्हारे लिए तो यह यही बात है कि जाकर उनसे भला माँगे । ३०—परयो सोच भारी नृप निषट खिसानो भयो गयो बडि “सागर में यूँ” यही बात है ।—मियादास ।

यातकटक-उंठा पुं० [सं० वातकटक] एक वायु रोग ।

यातचीत-उंठा छी० [हिं० वात + चित्त] दो या कई मनुष्यों के बीच कथोपकथन । दो या कई आदमियों का एक दूसरे से कहना सुनना । वात्तालाप ।

मुहा०—यातचीत चलना, या छिड़ना = दे० “वात (२)” ।

यातङ्ग-वि० [सं० वातङ्ग] वायु युक्त । वायुवाला ।

यातप-उंठा पुं० [सं० वातप] हिरन । (अनेकार्थ०)

यातफरीश-उंठा पुं० [हिं० वात + फरीश] (१) यात बनानेवाला ।

यात गढ़नेवाला । (२) झूठ झूठ बखर बखर की बात कहनेवाला ।

यातर-उंठा पुं० [दे०] संज्ञा में धान बोने का एक ढंग ।

यातलारोग-उंठा पुं० [सं०] एक योगिरोग जिसमें सुई सुमने की सी पीड़ा होती है ।

याती १-उंठा छी० [सं० वाती] (१) लंबी सलाई के आकार में बनी हुई चर्द या कपड़ा । (२) कपड़े या चर्द को बटकर बनाई हुई सलाई जो तेल में डुबा कर दिया जलाने के काम में आती है । बची । ३०—यही सराय सतसागर घृत याती रोज घनी ।—सूर । (ख) परम प्रकाश रूप दिन राती । नहिं कष्ट चहिय दिया घृत याती ।—तुलसी । (३)

यह लकड़ी जो पान के खेत के ऊपर बिछा कर छपर छाते हैं ।

यातुल-वि० [सं० वातुल] (१) पागल । सनकी । नौकड़ा ।

३०—(क) यातुल भातुल की न मुनी सिप का तुलसी

कपि-लंक न जारी । (ख) यातुल भूत-विषय मतारो । नहिं बोलहिं बचन विचारे ।—तुलसी ।

यातूनिया-वि० दे० “वातूनी” ।

यातूनी-वि० [हिं० वात + ऊनी (प्रत्य०)] बकवासी । वा बोलने या बात करनेवाला ।

यायू-उंठा पुं० [सं० वायु, प्रा० वायुप] वायु का नाम का वात । वाद-उंठा पुं० [सं० वाद] (१) यहल । लक । संज्ञा में की बात चीत । ३०—सजल कटीता भरि बत न निपाद । चहुंहु नाव पग पोह करहु अनि बाप ।—तुलसी । (२) विवाद । झगड़ा । हुज्जत । ३०—(क) गौतम धारी ज्यों तरनी तरंगी मेरी, प्रभु को विवाद कै है । न बड़ावरी ।—तुलसी । (ख) जो शयक से वाद बड़ाये विद्याम० ।

मुहा०—वाद बड़ाना = झगड़ा बड़ाना ।

(१) नावा प्रकार के तर्क वितर्क द्वारा बात विस्तार । झगड़क । लूल कलामी । ३०—लौं पदवा वेद पुरान पंडयो, पढ़ि कै, बहु वाद बड़ायो ।—पदनाथ । (२) प्रतिज्ञा । शपथ । याजी । होड़ावोही । ३०—इदव । रघुनाथ-सपथ वपरा वपरी करि वाद ।—तुलसी ।

मुहा०—वाद मेठवा = शर्तें बदना । याजी । लगाना । ३०—वाद मेलि कै खेळ पसारा । हार देय जो खेळत हारा ।—जायसी ।

अव्य [सं० वाद; हिं० वादि = वाद करने, हठ करने, मर्त्य] व्यर्थ । निष्प्रयोजन । फूजल । बिना मतलब । ३०—मप पटाऊ वेह राजि वाद बकति बेंकाम । नर अलि देव बराहने बर वपजति चलि जान ।—मिहारी ।

अव्य० [सं०] परवाद । अनेतर । पीछे ।

वि० (१) अलग किया हुआ । छेड़ा हुआ । जैसे, सबों वाद देकर तुम्हारा कितना रूपका निकलता है ?

कि० प्र०—करना—देना ।

(२) दूसरी या कमीशन जो दाम में से काटा जाय ।

(३) अतिरिक्त । सिवाय । (४) असल से अधिक शीम जो व्यापारी माल पर लिख देते और दाम बताते समय घटा देते हैं । उंठा पुं० [फा०] वात । हवा ।

यौ०—वादनुमा ।

वादकाकुल-उंठा पुं० [सं०] ताड़ के मुख्य ६० भेदों में से एक भेद । ३०—प्लुवी लघु चतुष्कं मौनी द्रुत युग लघु । लघु चतुष्कं विना शब्द ताडवादादकाकुल ।—संगीत दामोदर ।

वादना-क कि० [सं० वाद + ना (प्रत्य०)] (१) बकवाद करना । लक वितर्क करना । (२) झगड़ा करना । हुज्जत करना । ३०—(क) वादहिं धृष्ट द्विजन्त सम हस दृष्ट ते कष्ट

चादि ।—तुलसी । (ख) बादति है विन काज ही घुषा
बड़ावति सार ।—सूर । (३) बोलना । ललकारना ।
३०—बादत यद् सूर की नाई अवहिं खेत हीं प्रान
हुइहारे ।—सूर ।

बादलुमा—संज्ञा पुं० [का०] घायु की दिशा सूचित करनेवाला
यंत्र । हवा किस ओर से बहती है, यह बतानेवाली कल ।
पवन-प्रकाश । पवन-प्रचार ।

बादवान—संज्ञा पुं० [का०] पाल ।

बादर [*—संज्ञा पुं० [सं० वारिद, विपर्यय द्वारा 'वारि'] बादल ।
मेघ । (क) देति पाँवड़े अरघ चलों लै सादर । उमगि
अयो आनंद सुवन भुईं सादर ।—तुलसी । (ख) चाल
विन कैसे लाज सादर रहैगी, हाथ । कादर करत मोहिं
सादर मय मय ।—श्रीपति ।

वि० [सं०] (१) बदर या बेर नामक फल का, बससे
शपथ या बससे संबंध रखनेवाला । (२) कपास का ।
कपास या रुई का बना हुआ । (३) मोटा या खड़ ।
'सूक्ष्म' का उलटा । (कपास) ।

—संज्ञा पुं० नैऋत्य कोण में एक देश । (बृहत्संहिता)

वि० [दे०] आनंदित । प्रसन्न । आह्लादित । ३०—
सादरसणी के साथ बादर बदल हूँ कै भूपति पधार महाराणी
के महल को ।

बादरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बदरी या बेर का पेड़ । (२)
कपास का बीजा । (३) जल । पानी । (४) रोग । (५)
दक्षिणावर्त राक्ष ।

बादरायण—संज्ञा पुं० [सं०] वेदव्यास का एक नाम ।

बादरिया—संज्ञा स्त्री० दे० "बादरी" या "बदली" । ३०—वासन
लागी कारी बादरिया ।—गीत ।

बादरी—संज्ञा स्त्री० दे० "बदली" ।

बादल—संज्ञा पुं० [सं० वारिद, हिं० नदर] (१) पृथ्वी पर के जल
(समुद्र, झील, नदी आदि के) से उठी हुई वह भाप
जो घनी हो कर आकाश में छा जाती है और फिर पानी
की बूँदों के रूप में गिरती है । मेघ । पवन ।

विशेष—सूक्ष्म बाल-सीकृ रूप की इस प्रकार की साप ओ
पृथ्वी पर छा जाती है, उसे नीहार या कुहरा कहते हैं । बादल
साधारणतः पृथ्वी से कोस डेढ़ कोस की ऊँचाई पर रहा
करते हैं । ये आकाश में घनेक विलक्षण रूप रंग धारण
किया करते हैं जिनकी शोभा अनिर्वचनीय होती है ।

दि० प्र०—झाना ।—झाना ।

मुद्रा—बादल उठना = बादलों का किसी ओर से समूह के रूप
में बढ़ते हुए दिखाई पड़ना । बादल चढ़ना = दे० "बादल
उठना" । बादल गरजना = मेघों के संघर्ष का शोर मचाना ।
भरपराहट की आवाज़ जो बादलों से निकलती है । बादल

विना = मेघों का चारों ओर छााना । बादल फटना =
मेघों का धरा के रूप में फैलना रहना, तितर बितर हो जाना ।
बादल छूटना = मेघों का खंड खंड होकर हट जाना । आकाश
स्वच्छ होना । बादलों से बातें करना = आकाश से बातें
करना । बहुत ऊँचा उठना ।

(२) एक प्रकार का पत्थर जो दूधिया रंग का होता है
और जिस पर बैंगनी रंग की बादल की सी धारियाँ
पड़ी होती हैं । यह राजपूताने में निकलता है ।

बादला—संज्ञा पुं० [हिं० पवला ?] सोने या चांदी का चिपटा
चमकीला तार जो गोटे बुनने या कलावस्तु बटने के काम
में आता है । कामदानी का तार । (यह तार एक तोले में
२०० गज के लगभग होता है ।)

बादली—संज्ञा स्त्री० दे० "बदली" ।

बादशाह—संज्ञा पुं० [का० । मिश्राओ सं० पाटणासक] (१) सल्त
का मासिक । राजसिंहासन पर बैठनेवाला । राजा ।
शासक । (२) सब से श्रेष्ठ पुरुष । सरदार । सब से
बड़ा आदमी । जैसे, भूतों के बादशाह । (३) स्वतंत्र ।
मनमाना करनेवाला । जैसे, स्वधीयत का बादशाह ।
(४) शतरंज का एक मुहरा जो किसी बगने के पहले
केवल एक बार धोड़े की चाल चलता है और दौड़भूप से
बचा रहता है । (५) ताश का एक पत्ता जिस पर
बादशाह की सवारी बनी रहती है ।

बादशाहजोदा—संज्ञा पुं० [का०] राजकुमार । कुँवर । कुमार ।
बादशाहजोदी—संज्ञा स्त्री० [का०] राजकुमारी ।

बादशाहत—संज्ञा स्त्री० [का०] राज्य । शासन । हुकूमत ।

बादशाहपसंद—संज्ञा पुं० [का०] खुशखारी रंग । विलंबहार
हलका आसमानी रंग ।

बादशाही—संज्ञा स्त्री० [का०] (१) राज्य । राज्यधिकार ।
(२) शासन । हुकूमत । (३) मनमाना व्यवहार ।

वि० (१) बादशाह का । राजा का । जैसे, बादशाही
खंडा । (२) राजाओं के योग्य ।

बादहवाई—क्रि० वि० [का० बाद + च० हवा] वेही हो ।
व्यर्थ । फजूल । निरप्रयोजन ।

बादाम—संज्ञा पुं० [का०] (१) मकाले आकार का एक प्रकार का
वृक्ष जो परिष्करी पशिया में अधिकता से और परिष्करी
भारत (काश्मीर और पंजाब आदि) में बड़ी फली होता
है । इसमें एक प्रकार के छोटे छोटे फल लगते हैं जिनके
ऊपर का छिलका बहुत कड़ा होता है और जिनके तोड़ने
पर लाल रंग के एक दूसरे छिन्ने के में लिपटी हुई सफ़ेद
रंग की गिरी रहती है । यह गिरी बहुत मीठी होती है
और प्रायः खाने के काम में आती है । यह पौष्टिक-
भी होती है और मेघों में मिली जाती है । इसका व्यव-

हार औपचार्यों में और पकवानों आदि को स्वादिष्ट करने में भी होता है। इसकी एक और जाति होती है जिसका फल या गिरी कड़वी होती है। दोनों प्रकार के बादामों में से एक प्रकार का सेल निकलता है जो औषधों, सुगंधियों और छोटी मशीनों के पुर्जों आदि में डालने के काम में आता है। इस घृष में से एक प्रकार का मोद भी निकलता है जो फारस से हिन्दुस्तान आता और वहाँ से युरोप जाता है। वैद्यक में बादाम (गिरी) गरम, स्निग्ध, वातनाशक, शुक्लवर्णक, भारी और सारक माना गया है और इसका सेल सुहुरेची, बाजीगर, मस्तक-रोगनाशक, पित्तनाशक, वातघ्न, हलका, प्रमेहकारक और शीतल कहा गया है।

बादामा-संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा।

बादामी-वि० [फा० बादाम + ई (भाव०)] (१) बादाम के छिलके के रंग का। (२) कुछ पीलापन लिए खाल रङ्ग का। (३) बादाम के आकार का। बंदाकार। जैसे, बादामी आँस। संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का चान। (२) बादाम के आकार की एक प्रकार की छोटी सिबिया जिसमें गहने आदि रखते हैं। (३) वह बजाजसरा जिसकी हृदय बहुत छोटी हो। (४) एक प्रकार की छोटी सिबिया जो पानी के किनारे रहती और मछलियाँ खाती है। किलकिला। वि० दे० "किलकिला"। (२) बादाम के रंग का घोड़ा। उ०—जीसे लबली, लबल बोज, बादामी, चीनी।—सूदन।

बादि-अप० [सं० बादि, हिं० बादि = १४ काँके] व्यये। विध्यप्राजन। फजूल। निष्फल। उ०—सो भ्रम बादि भाल कवि करहीं।—गुलसी।

बादित्य #—संज्ञा पुं० दे० "बादित्य"।

बादिया-संज्ञा पुं० [दे०] लुहारों का पेच बनाने का एक औजार। बादी-वि० [फा०] (१) बात संबंधी। वायु संबंधी। (२) वायुविकार संबंधी। जैसे, बादी बघासीर। (३) वायु कुपित करनेवाला। बात का विकार उत्पन्न करनेवाला। जैसे, घनन बहुत बादी होता है।

संज्ञा स्त्री० शरीरस्थ वायु। वात। वातविकार। वायु का दोष। जैसे, उनका शरीर बादी से फूला है।

संज्ञा पुं० [सं० बादिन, बादी] (१) किसी के विरुद्ध अभियोग खानेवाला। सुदई। (२) प्रतिद्वन्दी। शत्रु। बैरी। विशेष दे० "बादी"। (३) राग में प्रधान रूप से खानेवाला स्वर जिसके कारण राग शुद्ध होता है।

संज्ञा पुं० [दे०] लुहारों का सिकली करने का औजार।

बायुरा-संज्ञा पुं० [दे०] चमगादड़। चमचटक।

बादूना-संज्ञा पुं० [दे०] एक औजार जो घेवर बनाने में मिठाई बनाने के काम में आता है। यह सौवा चकने के काटवृत्त के समान छोटे वा पीतल का बना होता है। इसे भट्टी के मुँह पर रखकर घमें घी भरते घी पतला मैदा डाल देते हैं। मैदा एक जाने पर इसे चीनी की चाशनी में पाग लेते हैं।

बाघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाघा, रुकावट। भड़पन। (२) पीड़ा। कष्ट। (३) कठिनता। मुश्किल। (४) अर्थ की असेगति। मानी का ठीक न बैठना। व्याघात। जैसे, जहाँ बाघपाय लेने से अर्थ में बाघ पड़ता है वहाँ बपरा से अर्थ निकाला जाता है। (५) वह पंच जिसमें सान का भ्रमाव सा हो। (व्याय)

† संज्ञा पुं० [सं० बट] [स्त्री० बाघी] मूँज की रस्ती।

बाघक-संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिबंधक। रुकावट। डाकनेवाला। रोकनेवाला। विप्रकर्ता। (२) दुःखदायी। हानिकारक। (३) कियों का एक रोग जिसमें गन्धें संतति नहीं होती या संतति होने में बड़ी पीड़ा का कठिनता होती है।

विशेष—वैद्यक के अनुसार चार प्रकार के लोगों से बाघ रोग होता है—रक्तमाद्री, यक्षी, शंकर और जडकुमार। रक्तमाद्री में कटि, नाभि, पेट आदि में वेदना होती और बहुत ठीक समय पर नहीं होता। यक्षी बाघक में बहुत काल में आँसों, हृदयियों और योनि में जलन होती है, और रक्तजाल लालावुक (साग मिला) होता है तथा बहुत महीने में दो बार होता है। शंकर बाघक में बहुत काल में उद्वेग रहता है, शरीर भारी रहता है, रक्तजाल बहुत होता है। नाभि के नीचे शूल होता है, लीन लीन बार बार महीने पर बहुत होता है, हाथ पैर में जलन रहती है। जडकुमार में शरीर सूख जाता है, बहुत दिनों में बहुत दुःख करता है, सो भी बहुत थोड़ा, गर्भ न रहने पर भी गर्भ सा महसूस होता है। इन चारों बाघकों से प्रायः गर्भ नहीं रहता।

बाघकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाघा।

बाघन-संज्ञा पुं० [सं०] [हिं० बाघित, बाघनीय, बाघ्य] (१) रुकावट या विम डालना। (२) पीड़ा पहुँचाना। कष्ट देना।

बाघना-क्रि० सं० [सं० बाघन] (१) बाघा डालना। रुकावट डालना। रोकना। उ०—(क) सुमिरत हरिदि सापगति बाघी। सद्गज विमल गन लागि समाधी।—मुनसी।

(ख) देखत ही बाघे पल बाघी जात बाघा सब राबाज की रसना सुख की सी रानी है।—केशव। (२) मित्र करना। बाघा डालना। उ०—(क) काम सुमाधुम सुमहि न बाघा। श्रव लागि मुमदि न काहू साबा।—

तुलसी । (१) तुल सुख ये बाधै जेहि नाहीं तेहि तुम जानौ शानी । नानक मुकुत साहि तुम मानौ यहि बिधि को जो प्राणी ।

वाधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विघ्न । रुकावट । रोक । अड़चन ।
४०—द्विज भोजन मख होम सराधा । सख के जाइ करहु तुम बाधा ।—तुलसी ।

कि० प्र०—याना ।—करना ।—होना ।

मुहा०—बाधा डालना या देना = रुकावट खड़ी करना ।
विघ्न उपस्थित करना । बाधा पड़ना = रुकावट खड़ी होना ।
विघ्न उपस्थित होना । बाधा पहुँचना = दे० 'बाधा पड़ना' ।

(२) संकट । कष्ट । दुःख । पीड़ा । ४०—(क) तुघा व्याधि बाधा भइ मारी । वेदन नहिं जानै महतारी ।—
तुलसी । (ख) मेरी भय बाधा हरौ राधा नागरि सोइ । जा तन की काँई परे स्याम-हरित दुति होइ ।—बिहारी ।
(३) भय । डर । आशंका । ४०—(क) मारेसि निसिबर कहि अघराधा । कहु सठ तोहिंन प्रान कै बाधा ।—तुलसी ।
(ख) बाहुरी प्राप्त हूँ चरित देख्यो नयो तथहि ते मोहिं यह भई बाधा ।—सूर ।

बाधित-वि० [सं०] (१) जो रोक गया हो । बाधायुक्त ।
(२) जिसके साधन में रुकावट पड़ी हो । (३) जिसके सिद्ध या प्रमाणित होने में रुकावट हो । जो तर्क से डीक न हो । असंगत । (४) प्रसू । गृहीत । प्रभावहीन । जैसे, व्याकरण में यह सूत्र जो किसी अणुवाद या बाधक सूत्र के कारण किसी शब्द विशेष में न लगता हो ।

बाधिर्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहिरापन ।
बाधी-संज्ञा पुं० [सं० बाधिर] बाधा करनेवाला ।
बाध्य-वि० [सं०] (१) जो रोक या दबाया जानेवाला हो ।
(२) विवश किया जानेवाला । मजबूर होनेवाला ।
धान-संज्ञा पुं० [दे०] (१) शक्ति वा जड़हन को रोपने के समय खनी पेड़ियाँ जो एक साथ लेकर एक धान में रोपी जाती हैं । जड़हन के खेत में रोपी हुई धान की जूरी ।

कि० प्र०—धैराना ।—रोपना ।

(२) एक पेड़ जो अफगानिस्तान में तथा हिमालय में आसाम तक सात हजार से नौ हजार फुट की ऊँचाई तक होता है । इसके पेड़ बहुत उँचे होते हैं और यद्यपि इसका पतझड़ नहीं होता तो भी वसंत ऋतु में इसकी पत्तियाँ रंग बदलती हैं । इसकी लकड़ी भीतर से लछाई लिपू सफेद रंग की होती है और बहुत मजबूत होती है । इसका वजन प्रतिघन फुट तीस सेर तक होता है और यह घर और छेती के सामान बनाने में काम आती है । इसकी

छड़ियाँ भी बनती हैं । पत्तियाँ और छाल चमड़े सिक्काने के काम आती है ।

संज्ञा पुं० [सं० बाण] (१) बाण । तीर । (२) एक प्रकार की आतशबाजी जो तीर के आकार की होती है । इसमें घाग लगते ही यह आकाश की ओर बढ़े वेग से छूट जाती है । (३) समुद्र या नदी की ऊँची लहर । (४) वह गुंथद्वारा छोटा दंडा जिससे धुनकी (कमान) की तर्त को झटका देकर रुई धुनते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बनना] (१) बनापट । सजधज । वेश-विन्यास । (२) टेब । आदर । श्रम्यास ।

कि० प्र०—डालना ।—पढ़ना ।—लगाना ।

संज्ञा पुं० [सं० वर्ण] रंग । भाव । कांति । ४०—कनकहि बान चढ़ै तिमि दाहे । तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे ।—
तुलसी ।

यानहृत-वि० [हिं० याना] याना चखाने या खेलनेवाला । दे० 'यानेत' ।

वि० [हिं० बाण] (१) बाण चलानेवाला । ४०—रोपे रन रावन छुलाए वीर बानहृत जानत जे रीति सब छुला सम्राज की ।—तुलसी । (२) पोढ़ा । वीर । बहादुर । ४०—छोकपाल महिपाल बान बानहृत दसानन सके न पाप चढ़ाई ।—तुलसी ।

यानक-संज्ञा स्त्री० [हिं० याना] (१) वेप । भेस । सजधज । ४०—(क) सोमा भरे स्यामहि पै सोइ । बलि बलि आँव लुथीके मुख की या पटर कर को को है ? या यानक अपना देवे को मुक्ति कहा टकटो है ? । देखत श्रंगयके मन में शक्ति केति मदन छवि मोइ ।—सूर । (ख) आपने आपने धक, आपने आपने साज आपनी आपनी घर यानक बनाइये ।—तुलसी । (२) एक प्रकार का रेशम जो पीछा या सफेद होता है । यह तेहरी से कुछ घटिया होता है और रामपुर-हाट बंगाल से आता है ।

यानगी-संज्ञा स्त्री० [हिं० याना + गी (प्रत्य०)] किसी माल का वह श्रंग जो ग्राहक को देखने के लिए निकाल कर दिया या भेजा जाय ।

यानर-संज्ञा पुं० [सं० यानर] [स्त्री० यानरी] बंदर ।
यानवे-वि० [सं० यितवे, प्रा० यानर] जो गिनती में नब्बे से दो अधिक हो । दो ऊपर नब्बे ।

संज्ञा पुं० नब्बे से दो अधिक की संख्या या संक जो इस प्रकार लिखा जाता है—६२ ।

याना-संज्ञा पुं० [हिं० बनना वा सं० वर्ण = रूप] (१) पढ़नावा । यथ । पोशाक । वेशविन्यास । भेस । ४०—(क) याना पहिरे सिद्ध का चहै भेद की डार । थोड़ी बोझे स्थाय की कुशा पाप फार ।—कबीर । (ख) विविध भाँति फूले

तब नाना । अनु धानैत बने बहु धाना ।—मुलसी । (ग) यह है सुहाग का अचल हमारे धाना । असगुन की भूतच न कभी चढ़ाना ।—हरिरश्मि । (२) धीमीकार किया हुआ धान । रीति । चाल । स्वभाव । ४०—(क) राम भक्तवत्सल निज धाने । आति, गोत, कुल, नाम गनत नहि रंक होय कै राने ।—सूर । (ख) आसु पतितपावन पद धाना । गावहि कवि श्रुति संत पुराना ।—मुलसी । (ग) शिव सनकादि आदि ब्रह्मादिक ओग जाप नहि आऊं हे । भक्तवत्सल धाने है मेरे विरुद्धि कहा लज्जा हो ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं० नाथ] (१) एक इष्टियार जो तीन सादे तीन हाथ लंबा होता है । यह सीधा और दुधारा, लल-घार के आकार का होता है । इसकी मूठ के दोनों ओर दो लट्टू होते हैं जिनमें एक लट्टू कुल भागे टूट कर होता है । इसे धानहत पकड़ कर बड़ी तेजी से घुमाते हैं । (२) सांग या भाले के आकार का एक इष्टियार । यह छोदे का होता है और आगे की ओर बराबर पतला होता चला जाता है । इसके सिरे पर कभी कभी फंडा भी गांध देते हैं और नेक के चल जमीन में गांध भी देते हैं । ४०—(क) रोह मृगा संशय वन हाके परध धाना मेले । सायर जै सकल वन दाहे, मच्छ भंहेरा खेले ।—कबीर । (ख) धाने फहराने धहराने घंटा गजन के नाहीं ठहराने राव राने देस देस के ।—सूरधर ।

संज्ञा पुं० [सं० वपन = बुनना] (१) बुनावट । बुन । बुनाई । (२) कपड़े की बुनावट जो साने में की जाती है । (३) कपड़े की बुनावट में वह तागा जो छाड़ेवाल ताने में भर जाता है । भरनी । ४०—सूत पुराना जोड़ने जेठ चिनत दिन जाय । वरन धीन धाना किया जुलहा पड़ा भुलाय ।—कबीर । (४) एक प्रकार का बारीक महीन सूत जिससे पतंग बड़ा जाती है । (५) वह जूताई जो खेत में एक बार या पहली बार की जाय ।

क्रि० सं० [सं० व्यापन] किसी मुकद्दमे और फैलनेवाले पेद का फैलाना । व्याकुचित और प्रसारित होने वाले विद्र के विस्तृत करना । जैसे, सुंद धाना । ४०—(क) सुय कलत्राई लय लाये अनुक नाहें रहें सुंद धाये ।—कबीर । (ख) हा हा करि सनता कही द्वार द्वार बार बार, परी न धार सुंद धाये ।—मुलसी । (ग) व्यास नारि तपही सुख धाये । तब वनु तबि सुख गाहि समाये ।—सूर ।

मुहा०—(किसी वस्तु के लिये) सुंद धाना = खेने की इच्छा करना । धाने का अभिप्रायी होना ।

धानात—संज्ञा स्त्री० [हिं० धाना] एक प्रकार का मोटा रिज की कपड़ा । धनात ।

धानावरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० धाना + वारी (कां० वर)] धान चलाने की विधा या ढंग । ३३—सुनि भासु कवि धाप इच गहि देखि सो मारन लगा । लसि तासु धानावरी हा यकुलाह मरकट दल भगा ।—रघुनाथदास ।

धानि—संज्ञा स्त्री० [हिं० बनना वा बनाना] (१) बनार । ३३—

४०—बा पट पीत की फहरानि । कर बा वर धार की धावनि नहि बिसरति यह धानि ।—सूर । (१) टेव । आदत । स्वभाव । ब्रह्मवास । ४०—(क) वने भगि बिहदे पर खरहा अपनी धानि । बेदन खरहा काँई कहे को खरहा को धानि १—कबीर । (ख) पहले ही हैं हनी पतना बांधे यलि सो धानि । सुपनला ताहुका सोने रयाम सहज यह धानि ।—सूर । (ग) हरिगई ते लुप धानी । पाउल नीति मीति पहिधानी ।—मुलसी । (४) धोरेई गुन रीकने बिसाई यह धानि । तुमहूँ कान्ध मे भये धानुकाळि के धानि ।—बिहारी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० वधि रंग] धमक । आभा । कति । ३३—(क) सुधा । धानि तोरी जस सोना । सिंहलदीप तोर कम खोना ।—जायसी । (ख) हीरा धुन-सावीत में सोहत है धानि । चंद ललन मुख-भीत अनु लायो धुम स धानि ।—रसनिधि ।

धंधा स्त्री० [सं० धान्ये] धाया । धवन । ४०—करति कछु स कानि सकति है कछु धानि निपट निज बैन बिलखहूँ ।—सूर ।

धानिक—संज्ञा स्त्री० [सं० धनिक वा हिं० धनन] देहा । भेता । स-धन । धनाव । सिंगार । ४०—(क) धानिक तैसी बनी ब बनावत केशव प्रयुत हूँ गाहूँ हानी ।—केशव । (ख) भाव पै लाळ गुलाल गुलाल सो गेरि गरे गजरा चलेवेको । सो बनि धानिक सो पदमाकर धाप ॥ खेलन फाग सो खेले ।—पद्माकर । (ग) सीस मुकुट कटि काधनी, कर मुखरी, हर मात । यहि धानिक सो मन सदा बसो बिहारीलाल ।—बिहारी ।

धानिक—संज्ञा स्त्री० [हिं० धनी = धनिया] धनिये की धी ।

धानिया—संज्ञा स्त्री० [सं० धनिक] [की० धानि] एक जाति का धान जो व्यापार दूकानदारी तथा सेन देन का काम करती है । धैर्य । ४०—चैत रहे सो धानिया, धाग रहे सो ग्याल । सागत रहे, सो पाहक तीनहुँ सोनो फाल ।—कबीर ।

धानी—संज्ञा स्त्री० [सं० धान्ये] (१) धवन । सुंद से निकला हुआ शब्द । (२) मनोती । प्रतिज्ञा । ४०—रही एक दिन मार कहूँ सो ससि मानी धानि । देहु जो सोहि जगदीप सुत सो पूर्वी सुख धानि ।—रघुनाथ ।

मुहा०—बानी मानना = प्रतिष्ठा करना । मनेती मानना ।

(२) सरस्वती । (३) साधु महात्मा का उपदेश या वचन । जैसे, कबीर की बानी, दादू की बानी । दे० "वाणी" ।

वंश पुं० [सं० वंश] वनिया । वं०—(क) ब्राह्मण सूत्री श्रीरी बानी । सो तीनहुं तो कहल न मानी ।—कबीर ।

(ख) एक बानी प्रबंधनी अयो निबंधनी फेरि ।

वंश छी० [सं० वंश] (१) वर्ण । रंग । आमा । दमक । जैसे, बारहबानी का सेना । वं०—उतरहिं मेघ कवडिं लै पानी ।

चमकहिं मच्छ पीछ की बानी ।—वापसी । (२) एक प्रकार की पीछी मिट्टी जिससे मिट्टी के बरतन पकाने के पहले रंगते हैं । कपसा ।

वंश पुं० [सं०] (१) बुनियाद डालनेवाला । जड़ जमानेवाला । (२) आरंभ करनेवाला । चलावेवाला । प्रवक्तृक ।

वानैत—वंश पुं० [हिं० वन + नेत (प्रत्य०)] (१) बाना फेरनेवाला ।

(२) बाण चलावेवाला । तीरंदाज । (३) मोहदा । सैनिक । वीर । वं०—(क) मानहु मेघ घटा कति गाढ़ी । बरसत बान बूँद सेनापति सहानदी रन गाढ़ी । जहाँ बरन बादर

वानैत भर दामिनि करि करि बार । उड़त फिर घुला घुर हींसत घुल सकल जलधार ।—सूर । (ख) विविध भोति पूछे सह बाना । जनु वानैत बने यहू पावा ।—गुलसी ।

वंश पुं० [हिं० बाना] बानार धारण करनेवाला ।

वाप—वंश पुं० [सं० वाप = बेल केबनाका] पिता । जनक । वं०—

(क) प्रभूने यहाँ पहुँचते परिया सोक सँताप । एक अर्चने श्रीरी देला वेदी व्याहै वाप ।—कबीर । (ख) वाप दिवे

कानन आनन सुमानन से बैरी भो दसानन सो तीय को

हरन भो ।—गुलसी ।

मुहा०—वापदादा = पूर्वज । पूर्वपुरुष । वाप माँ = रजक ।

पासन करनेवाला । वाप रे = दुःख, भय वा आश्चर्यमयक

वाक्य । वाप बनाना = (१) मान करना । आदर करना ।

(२) खुशामद करना । चापट्टी करना । वाप तक जाना =

वाप की गाढ़ी देना । वाप का = पैतृक ।

वापा—वंश पुं० दे० "वाप्पा" ।

वापिका—वंश छी० दे० "वापिका" । वं०—बन बचन वापिका

बहामा । परम सुमग सप दिसा विभाग ।—गुलसी ।

वापी—वंश छी० दे० "वासी" ।

वापु—वंश पुं० दे० "वाप" ।

वापुरा—वि० [सं० वर = गुच्छ, मूँट ?] [छी० वापुरी] (१) गुच्छ ।

जिसकी कोई गिनती न हो । वं०—(क) तप प्रताप महिमा

भगवाना । का वापुरो पिनारक पुता ।—गुलसी । (ख)

कहाँ गुम त्रिशुवनपति गोपाल । कहाँ वापुरो नर त्रिशुपाल ।

—सूर । (२) दीन । बेघार । वं०—संतप साबन देह में

संगहिं खेल लुघारि । ऐसा घायल बापुरा जीवन मारि

भारि ।—कबीर ।

वापू—वंश पुं० (१) दे० "वाप" । (२) दे० "वावू" ।

वाप्पा—वंश पुं० [दे०] चारणों द्वारा वर्णित इतिहास के

अनुसार बल्लभी वंश के महाराज गुहादित्य से छात्रों

पीढ़ी में बल्लभ नागादित्य का पुत्र । जय यह छोटा था

तब इसके पिता को भीलों ने मार डाला था । इसकी रक्षा

इसकी माता ने और ब्राह्मण पुरोहितों ने की थी । यह

नागोद में ब्राह्मणों की गायें चराया करता था, जहाँ इस

को हारीत ऋषि और एकलिंग शिव का दर्शन हुआ था

और हारीत ने उसे शिव की दीक्षा दी थी । इसने बिलौर

जाकर वहाँ अपना अधिकार जमाया और परिचम के

देवों का भी विग्रह किया । मेवाड़ के राजवंश का यह

प्रादि पुरुष था । इसका जन्म-काल दांड साहब ने सं० ७१६

खि० वा ७४४ ई० लिखा है ।

वाफा—वंश छी० [सं० वाफ] कोई तरह पदार्थ डालने से

उसमें से बड़ा हुआ धूर्त के आकार का पदार्थ । विशेष—

दे० "भाप" ।

वाफता—वंश पुं० [का०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जिस

पर कलाबत्त और रेशम की धड़ियाँ होती हैं । यह दो-

कला भी होता है ।

वाश—वंश पुं० [सं०] (१) पुस्तक का कोई विभाग । परिश्लेष ।

अध्याय । (२) मुकुटमा । (३) प्रकार । तरह । (४)

विषय । (५) बाण्य । मतलब । अनिष्टमाय ।

वायसी—वंश छी० [हिं०] "यकूची" ।

वावत—वंश छी० [सं०] (१) संवेध । (२) विषय । जैसे, इस

आदमी की वावत तुम क्या जानते हो ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग अधिकार्य का चिह्न 'में' ठुस

करके अवयववद् ही होता है ।

वावरची—वंश पुं० दे० "वावरची" ।

वावरलेट, वावनलेट—वंश छी० [सं० वावनलेट] एक प्रकार का

आलीदार कपड़ा जिसमें गोल गोल पटकोण छोटे छोटे छेद

होते हैं । यह मसहरी आदि के काम में आता है ।

वावरी—वंश छी० [हिं० वर = मित्र] लंबे लंबे बाळ जो लोग

सिर पर रखते हैं । खुरफ । पहा ।

वावा—वंश पुं० [गु०] (१) पिता । वं०—(क) दादा वावा

भाई के लेखे चरन होइमा वंश । अथ की बेतियाँ जो न

समुझे सोईं सदा है चंपा ।—कबीर । (ख) पंडे म्हा

वावा के चारों भट्टा जेँ वन लामे । दूसर राख चापु जेँवन

हैं अति आनंद-रुच पागे ।—सूर । (२) पितामह । दादा ।

(३) साधु संन्यासियों के शिष्य धादर-चूचक शब्द । जैसे,

करी पैरी हू न कराहि । चंद्रयदन मृगलोचनी बाबा कहि कहि आहि ।—केव । (१) एक संवोधन जिसका व्यवहार साधु फकीर करते हैं । जैसे, भला हो, बाबा ।

विशेष—मगड़े या बातचीत में जब कोई बहुत साधु या शांत भाव प्रकट करना चाहता है और दूसरे से न्यायपूर्ण विचार करने या शांत होने के लिये कहता है तब वह प्रायः इस शब्द से संवोधन करता है । जैसे, (क) बाबा ! जो कुछ तुम्हारा मेरे जिम्मे निकलता है वह मुझसे ले ले । (ख) एक—प्रभी थका मंदा आ रहा हूँ फिर गहर जाऊँ ? दूसरा—बाबा ! यह कौन कहता है कि तुम थकी जाओ ? संज्ञा पुं० [च०] लड़कों के लिये प्यार का शब्द ।

धाविल—संज्ञा पुं० [बाहुल] एशिया पैज का एक अत्यंत प्राचीन नगर जो फारस के पश्चिम फ्रात नदी के किनारे था । ३००० वर्ष पूर्व यह एक अत्यंत सम्य और प्रतापी जाति की राजधानी था और उस समय सब से बड़ा नगर गिना जाता था ।

धावी—संज्ञा स्त्री० [हिं० धावा] (१) साधु स्त्री । संप्रसाइन । उ०—कामी से फुला भला धावु सिर कोलै कंब । राम नाम जाना नहीं धावी जाय न बाँध ।—कबीर । (२) लड़कियों के लिये प्यार का शब्द ।

धावुना—संज्ञा पुं० [देश०] पीले रंग का एक पत्ती जिसकी धाँव के ऊपर का रंग सफेद, बीच काली और बाँझें लाल होती हैं ।

धावुल—संज्ञा पुं० [हिं० धावू] (१) धावू । उ०—घाही में धावुल ! बाड़ी राति । रंग ठठि ठठि लागै चपल भारि ।—कबीर । (२) हे० “धाविल” ।

धावू—संज्ञा पुं० [हिं० धाव वा धावा] (१) राजा के नीचे उनके धनु बांधों या और कश्चित् जमींदारों के लिए प्रयुक्त शब्द । (२) एक आशु-सूचक शब्द । भलाभास ।

विशेष—आजकल औरतें भी पढ़े लिखे लोगों के लिये इस शब्द का व्यवहार अधिक होता है । उ०—(क) धावू ऐसी है संसार तुम्हारा ये कलि है व्यवहारा । को शय अनल सदै प्रति दिन को नाहिन रहनि हमारा ।—कबीर । (ख) “धावसु आदेश, धावू (१) भलो भलो भाव सिद्ध” तुलसी विचारि जोगी कहत पुकारि हैं ।—तुलसी । † (२) पिता का संवोधन ।

धावुड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० धावू + ढा (प्रत्य०)] “धावू” के लिये हाथ, मग्न या ध्यानासूचक शब्द ।

धावूना—संज्ञा पुं० [फा०] एक छोटा पीपा जो सुरोष और फारस में होता है । इसको पंचाय में भी बोलते हैं । इसका सूखा कुछ बाजारों में मिलता है और सफेद रंग का होता है । इसमें एक प्रकार की गंध होती है और इसका स्वाद कड़वा

होता है । इसके फूल को तेल में डालकर एक तैल बना जाता है जिसे “धावुने का तेल” कहते हैं । यह पेट की शूल और निर्वलता को हटाता है । इसका गमन वमन कराने के लिये दिया जाता है और शिथिल के मर्म बंद होने पर भी उपकारी माना जाता है ।

धामन—संज्ञा पुं० दे० (१) “प्राण्य” । (२) “मूहिदा” । धामन—वि० दे० “धाम” ।

धंज्ञा पुं० [फा०] (१) छटारी । कोड़ा । (२) सफाऊँ ऊपर की छत । धर के ऊपर का सब से ऊँचा भाग । की छोटी । उ०—धू पर जैसे किसी वक् में नल मलका । कुछ सरैयाम से पैसाही उताहा निकला नकीर । (३) साढ़े तीन हाथ का एक मात । धरा । संज्ञा स्त्री० [सं० धात्री] एक मन्त्री जो देखने में सती पतली गोख और लंबी होती है । इसकी पीठ पर चोटी होती है । यह स्थान में स्वादिष्ट होती है और इसमें एक ही काँटा होता है ।

धंज्ञा स्त्री० (१) दे० “धाम” । (२) शिथिल का एक नाम जिसे वे कानों में पहनती हैं ।

धामदेव—संज्ञा पुं० दे० “धामदेव” ।

धामन—संज्ञा पुं० दे० “धामन” ।

धामा—संज्ञा स्त्री० दे० “धामा” ।

धामी—संज्ञा स्त्री० दे० “धामी” ।

धामन—संज्ञा पुं० दे० “प्राण्य” ।

धार्य—वि० [सं० धार] (१) धार्य । (२) धाकी । धाका इम धार्य या लक्ष्य पर न पैदा हुआ ।

मुहा०—धार्य देना—(१) बचा जाना । छोड़ना । (२) देना । कुछ ध्यान न देना । (३) फेर देना । फेर देना । उ०—निंदक न्याय गहन कुरुतेत । धार्ये नारि सिं समेत । चौंसठ कूचा धार्ये दिवाये । सी नी निंदक नारि जाये ।—कबीर ।

धार्य—संज्ञा स्त्री० [सं० धार] (१) धार । धवा । उ०—एक धान बेग ही बहाने जातुधान जात धारि धारे गात पतोषा सये धार के ।—तुलसी । (२) हित करी पठये लगे धा विजना की धार । धरी तनन तन की धावली पलीना न्दराय ।—विहारी । (३) धाई । धात कोष जो प्रायः सविपात होने पर होता है और जिस लोग बहते कहते हैं । उ०—जोवनतुर सुवर्षी कुपय भये मिदोष सरि मदन धार ।—तुलसी ।

धंज्ञा स्त्री० [सं० धात्री] धात्री । देहर । उ०—धामन अति भीषती नदी रूप सर धार । सो ताव सागर जहाँ आकी प्यास मुकाय ।—विहारी ।

वायक—संज्ञा पुं० [सं० वायक] (१) कहनेवाला । बतलाने-
वाला । (२) पढ़नेवाला । धोचनेवाला । (३) दूत ।

वायकाट—संज्ञा पुं० [व०] (१) वह व्यवस्थित बहिष्कार जो किसी व्यक्ति, दल या देश आदि को अपने अनुकूल बनाने या उससे कोई काम कराने के लक्ष्य से उसके साथ उस समय तक के लिए किया जाय जब तक वह अनुकूल न हो जाय या माँग पूरी न करे । (२) संघेद आदि का त्याग या बहिष्कार ।

वायन—संज्ञा पुं० [सं० वायन] (१) वह मिठाई या पकवान आदि जो लोग बसवादि के उपलक्ष में अपने हृष्ट मित्रों के यहाँ भेजते हैं । (२) भेंट । उपहार ।

संज्ञा पुं० [व० वपना] (१) मूल्य का कुछ भ्रंश जो किसी चीज के मोल लेनेवाला उसे ले जाने या पूरा दाम चुकाने के पहले मालिक को दे देता है जिसमें यात पक्की रहे और वह दूसरे के हाथ न भेचे । भागाक । पेशगी ।

विशेष—व्यापारी जब किसी माल को पसंद करते हैं और उसका भाव पट जाता है तब मूल्य का कुछ भ्रंश माल के मालिक को पहले से दे देते हैं और शेष माल ले जाने पर या किसी समय पर देते हैं । इससे माल का मालिक उस माल को किसी दूसरे के हाथ नहीं दे सकता है । वह धन जो माल पसंद होने और हामी पटने पर उसके मालिक को दिया जाता है ध्याना कहलाता है ।

(२) मजदूरी का छोड़ा भ्रंश जो किसीको कोई काम करने की आज्ञा देने के साथ ही इसलिये दे दिया जाता है जिसमें वह समय पर काम करने चाहे, और जगह न जाय । मुहा०—वायन देना = छेड़ छाड़ फराना । व०—भले भवन

अथ वायन दीन्हा । पावहुये फल आपन कीन्हा ।—तुलसी ।
वायपरंग—संज्ञा स्त्री० दे० “वायविर्बग” ।

वायविर्बग—संज्ञा पुं० [सं० विर्बग] एक लता जो हिमालय पर्वत, लंका और यमा में होती है । इसमें छोटे छोटे मटर के बराबर गोल गोल फल गुच्छों में लगते हैं जो सूखने पर औषध के काम आते हैं । ये सूखे फल देखने में कबाब-चीनी की तरह लगते हैं पर उससे अधिक हलके और पोले होते हैं । वैद्यक में इसका स्वाद चरपरा कट्ठा खिला है और इसे रुखा गरम और हल्का माना है । यह कुमिना-रक, कफ और बात को दूर करनेवाला, दीपक तथा बद्ध रोग छोड़ा आदि में लाभकारी होता है ।

पर्याय—भस्मक । मोषा । कैराळ । केवल । वेतुसंदुहा । पोषा । हृषादि ।

वायविल—संज्ञा स्त्री० दे० “बाहविल” ।

वाययी—वि० [सं० वाययी] (१) बाहरी । अपरिचित । अजनबी । अज्ञात । गैर । (२) नया आया हुआ ।

विशेष—इस देश में जितनी विदेशीय जातिवा आईं वे सब की सब प्रायः वायव्य कोण ही से आईं । अतः वाययी शब्द, जो वायवीय का अपभ्रंश है गैर, अज्ञात, अजनबी आदि अर्थों में रूढ़ि हो गया है ।

वायव्य—संज्ञा पुं० दे० “वायव्य” ।

वायरा—संज्ञा पुं० [दे०] कुरती का एक पेश ।

वायल—वि० [हिं० वायल, बर्ध] (दाँव) जो खाली जाय । (दाँव) जो किसीका न पड़े । (लुपारी) ।

संयो० कि०—जाना ।

वायला—वि० [हिं० वाय + ला (प्रत्यय)] वायु उत्पन्न करनेवाला । वायु का विकार बढ़ानेवाला । जैसे, किसीको बैंगन बायला किसी को बैंगन पण्य ।

वायल—संज्ञा पुं० [व०] भाष के हंसन में जोड़े आदि धातु का बना हुआ वह बड़ा कोड़ा जिसमें आप तैयार करने के लिये जल भरकर गरम किया जाता है ।

वायस—संज्ञा पुं० दे० “वायस” ।

वायस्कोप—संज्ञा पुं० [व०] एक यंत्र जिसके द्वारा पदों पर चलते फिरते हिलते डोलते चित्र दिखलाए जाते हैं । इस यंत्र में एक छोटा सा चूड़ होता है जिसमें होकर सामने के पदों पर बिजली का प्रकाश डाला जाता है, फिर एक पतला फीता जिसे ‘फिल्म’ कहते हैं चरखी से इस चूड़ के ऊपर सेबी से फिराया जाता है । यह फीता पतला पारदर्शक और लचीला होता है । इस पर चित्रों की आकृति मिन्न मिन्न चेष्टा की गयी रहती है जिसके शीघ्रता से फिराए जाने से चित्र चलते फिरते हिलते डोलते घनेक चेष्टा करते दिखलाई पड़ते हैं ।

वार्या—वि० [सं० वाय] [की० वर्य] (१) किसी मनुष्य या और प्राणी के शरीर के उस पात्र्य में पड़नेवाला जो उसके पूर्वामिमुख खड़े होने पर उत्तर की ओर हो । ‘दहना’ का बढा । जैसे, वार्या पैर, वार्या हाथ, वार्यो अंग ।

मुहा०—वार्या देना = (१) फिरारे से निकल जाना । बचा जाना । जैसे, रास्ते में कहीं से दिखाई भी पड़े तो वार्या दे जाते हैं । (२) जान बूझकर छोड़ना । भित्तों हुए का त्याग करना । व०—वाय्यो दियो विमय कुरपति को भोजन आप विदुर घर कीन्हो ।—तुलसी । वार्या पाँय पूजना = धान मानना । द्वार मानना ।

(२) बढा । (३) मतिभूल । विद्वद । विज्ञाफ । अहित में प्रवृत्त । व०—बुद्धि बंदि खलगन सति माये । जे विनु काज दाहिनेहु पाये ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० यह तबला जो बायें हाथ से बजाया जाता है । यह मिट्टी या तंबे आदि धातु का होता है । इसे थकेला भी लोग ताल के लिये बजाते हैं ।

वायु-पेशा स्त्री० दे० "वायु" ।

वाये-क्रि० वि० [हि० वायें] (१) धाहें और । (२) विपरीत । विरुद्ध ।

मुहा०-वाये होना = (१) प्रतिकूल होना । विरुद्ध होना ।

(२) अपसन्न होना । खट होना ।

वार-वार-क्रि० वि० [सं० वारवार] वारवार । पुनः पुनः । लगातार ।

वार-पेशा पुं० [का०] प्रसेग । विषय । दे० "वारे में" ।

वार-पेशा पुं० [सं० वार] (१) द्वार । दरवाजा । व०- (क) अकिल बिहना आदमी जानें नाहिँ गँवार । जैसे कपि परबस परबो नाचै घर घर वार ।-कबीर । (ख) वार बड़े यय-पाय बड़े डर मंदिर बालगोविंद न आवै ।-बेनाम । (ग) गोपिन के प्रेसुपन भरी सदा अखोस अपार । डंगर डगर मैं है रही घगड़ वार के वार ।-विहारी ।

यो०-द्वार ।

(२) आशय-स्थान । ठिकाना । व०-रहा समाइ रुखई नाजै । और न मिले वार जहँ जानै ।-जायसी । (३) दरबार ।

पेशा स्त्री० [सं० वार] (१) काल । समय । व०- (क) कथिा पूजा साहु की वू जनि करै सुधार । खरी बिगु-चनि होयगी बेला देती वार ।-कबीर । (ख) सिर लंगूर कपेटि पक्षी । निज सलु प्रगटेसि मारती वार ।-तुलसी । (ग) हक सीमे बडले परे पूड़े बडे हजार । कितनो बीगुन जग करत नय धय चढ़ती वार ।-विहारी । (२) अति-काँके । देर । घेर । विवर्ध । व०- (क) निषङ्क बैठा राम यिनु चेतन करों पुकार । यह तन जल का बुदबुदा बिनसत गोंडो वार ।-कबीर । (ख) देखि रूप मुनि विरति बिसारी । बड़ी वार लगि रहे निहारी ।-तुलसी । (ग) रायही और की-और होत कछु लागै वार । तारें मैं पाती बिखी तुम माने-अंधार ।-घूर ।

क्रि० प्र०-करना ।-लगाना ।-लाना ।-होना ।

(३) समय का कोई अंश जो गिनती में एक गिना जाय । दफा । भातया । जैसे, मैं तुम्हारे वहाँ पात्र तीन वार आया । व०- (क) भरिये सो मरे आइये छूटि परे जंजार । ऐसा सरग के मरे दिन में लो सी वार ।-कबीर । (ख) अहँ खगि कहे पुरान कृति एक एक सय जांगे । मार सहस्र सहस्र रुप किये सहित अयुरांग ।-तुलसी ।

मुहा०-वार वार = पुनः पुनः । फिर फिर । व०- (क) तुलसी सुवित मन पुरनारि जित्ति वार वार हँरे गुण चवच-अयुराज को ।-तुलसी । (ख) फूल बिनय मिस कुंज में परिहरि गुंम मो हार । मग निरसति नंदलाव को सुखलि वार ही वार ।-रसकर ।

पेशा पुं० [सं० वाट = वेरा या किनारा, हि० वट] वा रोक जो किसी स्थान के पाँों और हो । बैरा, खादि । दे० "वाड़", "वाड़" । (१) किनारा । बारी । (२) पार । वाड़ । व०-एक बार वेर है घर से बाहर निकले मंगी । उस नोरी का पही सिर पर नयनी मुँह पर वार । (३) नाव, धावी । अवठ । किनारा ।

† संज्ञा पुं० दे० "वाळ" ।

पेशा पुं० [का० वि० सं० वार] (१) घोडा । मार । जेहि जल वृष पछ वार वृद्धि अपने सँग बोत । गाजत महाभीर सभ तारत अंग नहि डोळत ।-चौ०-बारबरदार । बारबरदारी । बारदाहा ।

मुहा०-वार करना-जहान पर से शोक उठाना । (२) यह माक जो नाव पर लादा जाय । (उप०) † वि० दे० "वाळ" और "वाळा" ।

वारक-पेशा स्त्री० [सं० वारक] छाँघनी खादि में से रहने के लिए बना हुआ पका मकान ।

वारककत-पेशा पुं० [दे०] एक पौधा जो साँप और पक्ष है । इस की जड़ पीस कर बंस स्थान पर जाती है वहाँ साँप कूटता है ।

वारगाह-पेशा स्त्री० [का० वारगाह] (१) डेबड़ी । (२) खेमा । संवू । व०-चितौर साँप वारगाह तानी । सुना कृष सुलतानी ।-जायसी ।

वारगीर-पेशा पुं० [का०] वह जो घोड़े के बिये या और उसकी रचा खादि में साँस को सहायता दे पसियारा ।

वारजा-पेशा पुं० [हि० वार = द्वार + जा = गगण] (१) सामने के दरवाजों के ऊपर पाठकर बसया हुआ । (२) कोरा । छटारी । (३) वरामदा । (४) कमरे का छोटा दालान ।

वारख-पेशा पुं० दे० "वारख" ।

वारता-पेशा स्त्री० दे० "वारता" ।

वारतिय-पेशा स्त्री० दे० "वारकी" ।

वारतुंडी-पेशा स्त्री० [सं०] बाज का पेड़ ।

वारदाना-पेशा पुं० [का०] (१) व्यापार की के रखने का वातन-जैसे, मोड़ा, लुगड़ी, धौल खादि । (२) कोम के खाने पीने का सामान । रसद अंगद खंगद छोड़े, छकड़ी खादि के दूटे सामान ।

वारन-पेशा पुं० दे० "वारन" ।

वारना-क्रि० अ० [सं० वारण] निवारण करना । मना

रोकना । ३०—लिखिसे वात सखिन सो कही । यही ठीव
हैं वारति रही ।—जायसी ।

क्रि० सं० [हि० वरना] घालना । झलाना । प्रवृत्तित
करना । ३०—(क) साँक सकार दिया जै मारै । खसम
छोड़ि सुमिरै लगवारे ।—बधीर । (ख) करि शृंगार सयन
कुंजम में जिसि दिन करत विहार । मीराजन बहु विधि वारति
हैं लखितादिक प्रगनार ।—सूर । (ग) मार सुमार करी
सरी घरी मरीदि न मारि । सींच गुलाब घरी घरी करी
बरीदि न वारि ।—विहारी ।

क्रि० सं० दे० “वारना” ।

वारनिश—संज्ञा स्त्री० [वं०] फेरा हुआ रोगन या चमकीला रंग ।

जैसे, वारनिशदार जूता, कुरसिये पर वारनिश करना ।

मुहा०—वारनिश करना = रोगन या चमकीला रंग चढ़ाना ।

वारचँदाई—संज्ञा स्त्री० [का० वार = बोक + हि० चँदाई] वह विभाग
जो फसल को दाने के पहले किया जाय । बोकचँदाई ।

वारचपू—संज्ञा स्त्री० [सं० वारचपू] वेरवा । ३०—
(क) नाम अशामिल से खल तारन तारन वारन वारचपू
को ।—तुलसी । (ख) कहुँ गोदान करत कहुँ रेसे कहुँ कहु
सुनत पुरान । कहुँ नतंत सब वारचपू कहुँ गंधर्व गुनगान
—सूर । (ग) जनु भति नील झलकिया बँसी लाह । मो
मन वारचपूभवा मीन चमकह ।—राहीम ।

वारचपूटी—संज्ञा स्त्री० [सं० वारचपूटी] वेरवा । ३०—ह्यों न
करै करता बवारक ज्यो चितवै वह वारचपूटी ।—फैयाज ।

वारचपूदाए—संज्ञा पुं० [का०] वह जो सामान आदि ढोने का
काम करता हो । बोका ढोनेवाला ।

वारचपूदारी—संज्ञा स्त्री० [का०] (१) सामग्री आदि ढोने की
क्रिया । सामान ढोने का काम । (२) सामान ढोने की
मजदूरी ।

वारमुखी—संज्ञा स्त्री० [सं० वारमुखी] वेरवा । ३०—(क) वारमुखी
छई संग मानो बाही रंग रंगे जालो यह बात करी दर
पति भीर की ।—मियादास । (ख) वारमुखी मुनिवर
विलोकि कै करत खली कल गानै ।—रघुनाथ ।

वारवा—संज्ञा स्त्री० [दे०] एक रागिनी जिसे कुछ लोग भीराग
की प्रवृत्ति मानते हैं ।

वारह—वि० [सं० वारह, प्रा० वारस, १५० वारह] [हि० वरहवो]
जो संख्या में दस और दो हो । ३०—जहाँ वारह मास बसंत
होय । परमाप यूँ बिरल कोय ।—ऊषीर ।

मुहा०—वारह पानी का = वारह परस का सूखर । वारह बच्चे
पाखी = छुपपी । वारह बाट करना = तितर वितर या छिन्न
भिन करना । इधर उधर कर देना । वारह बाट घालना =
छिन्न भिन करना । तितर वितर या भट भट करना । ३०—
मोहि लगि यह कुडात वेदि छाटा । घाजेसि सब अग वारह

बाटा ।—तुलसी । वारह बाट जाना = (१) तितर वितर होना ।
छिन्न भिन होना । ३०—मन बदले भवसिंधु ते बहुत लगाये
घाट । मनही के घाले गये बहि घर बाह बाट ।—तसनिधि ।
(२) भट भट होना । ३०—(क) लंक असुम चरवा चलति
हाट बाट घर घाट । रावन राहिय समाज भय जाइहि
बारह बाट ।—तुलसी । (ख) राज करत बिनु कानही
छटहि ।—छटात । तुलसी ते कुशाज ज्यों जैहें वारह
बाट ।—तुलसी । वारह बाट होना = तितर वितर
होना । भट होना । ३०—प्रथम एक जे हैं किया भया
सो वारह बाट । कसत कसौटी ना टिका पीतर भया
निराट ।—कधीर ।

संज्ञा पुं० (१) वारह की संख्या । (२) वारह का अंक जो
हस प्रकार लिखा जाता है—१२ ।

वारहखड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० वारह + खड़ी, हि० वारह + खड़ा]
वर्णमाला का वह अंग जिसमें प्रत्येक व्यंजन में अ,
आ, इ, ई, व, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः इन वारह
स्वरों को, मात्रा के रूप में लगाकर बोलते या लिखते हैं ।
वारहदरी—संज्ञा स्त्री० [हि० वारह + का० दर = दरवाजा] चारों
ओर से खुली वह हवादार बैठक जिसमें वारह द्वार हों ।
३०—वारहदरीन बीच वारह तरफ तैसा बरफ बिझाय
तापे सीतल सुपाटी है ।—पद्माकर ।

विशेष—वारह दरवाजों से कम की बैठक भी यदि चारों ओर
खुली और हवादार हो तो वारहदरी कहलाती है । इसमें
अधिकतर खम्भे होते हैं, दरवाजे नहीं होते ।

वारहपत्थर—संज्ञा पुं० [हि० वारह + पत्थर] (१) वह पत्थर
जो छावनी की सरहद पर गाड़ा जाता है । सीमा ।
(२) छावनी ।

मुहा०—वारह पत्थर बाहर करना = निकालना । सीमा बहार
करना ।

वारहबान—संज्ञा पुं० [सं० वारहवने] एक प्रकार का लोग जो
बहुत अन्धता होता है । वारहबानी का लोग ।

वारहबानी—वि० [सं० वारहवने] (१) सूर्य के समान
दमकवाला । (२) खरा । चोखा । (सोने के जिये)
३०—सूरदास प्रसु हय हैं छोटो तुम सो वारह बाने
हो ।—सूर । विशेष—दे० “वारहबानी” ।

वारहवानी—वि० [सं० वारह (वारीय) + वने, प्रा० वरम वरय]
(१) सूर्य के समान दमकवाला । (२) खरा । चोखा ।
(सोने के जिये) । ३०—(क) सोहत जोह पासि पास
ज्यों सुधान वारहवानी ।—सूर । (ख) सिँ पल दीप मई
जेती रानी । तिन्ह मई दीपक वारहवानी ।—जायसी ।
(३) निर्दोष । सच्चा । जिसमें कोई बुराई न हो । पाप-
रहित । (४) जिसमें कुछ कसर न हो । पूरा । पूर्ण ।

पक्षा । ३०—इ वह सब गुन वारहमासी । पृ सखि !
साजन, ना सखि, पानी ।—सुसरो ।
छंशा श्री० सूर्य की श्री दमक । चोरी चमक । जैसे, वारह
मासी का सोना ।

वारहमासा—छंशा पु० [हि० वारह + मास] वह पद्य या गीत
जिसमें वारह महीनों की प्राकृतिक विशेषताओं का वर्णन
किसी विरही या विरहिनी के मुँह से कराया गया हो ।

वारहमासी—वि० [हि० वारह + मास] (१) जिसमें वारहो महीनों
में फल फूल खगा करते हैं । सब वस्तुओं में फलने फूलने-
पाळा । सदाबहार । सदाफल । जैसे, वारहमासी आम,
वारहमासी गुलाब । (२) वारहो महीने होनेवाला । ३०—
कुबजा कान्ह दोह मिलि खेलै वारहमासी काग ।—सूर ।

वारहवफात—छंशा पु० [हि० वारह + व० वफात] वरही महीने
रही-उल-अफवल की ये वारह तिथियाँ जिनमें, मुसलमानों
के विश्वास के अनुसार, महम्मद साहेब बीमार पड़कर
मरे थे ।

वारहवाँ—वि० [हि० वारह] [श्री० वारहवाँ] जो स्थान में
वारहवें के बाद हो । जैसे, वारहवाँ दिन, वारहवाँ तिथि,
वारहवाँ महीना इत्यादि ।

वारहसिंगा—छंशा पु० [हि० वारह + छिंग] हिरन की जाति का
एक पशु जो सीन पार कुट ऊँचा और सात भाट कुट लंबा
होता है । नर के सींगों में कई शाखाएँ निकलती हैं इसीसे
“वारहसिंगा” नाम पड़ा । और चौपायों के सींगों के
समान इसके सींगों पर कड़ा भावरथ नहीं होता, केवल
चमड़ा होता है जिस पर नरम महीन रोएँ होते हैं । इसके
सींग का भावरथ प्रति वर्ष कागुन चैत में उतरता है ।
भावरथ उतरने पर सींग में से एक नई शाखा का अंकुर
दिखाई पड़ता है । इस प्रकार हर साल एक नई शाखा
निकलती है जो कुभार काटिक तक पहुँच जाती है ।
मादा जिस सींग नहीं होते, चैत देसाक्ष में बचा देती है ।

वारहवाँ—वि० दे० “वारहवाँ” ।

वारहवाँ—छंशा श्री० [हि० वारह] वष्वे के जन्म से वारहवाँ दिन,
जिसमें इक्षव आदि किया जाता है । वारही । ३०—कुटी वारहों
लोक वेद विधि करि सुविधान विधानी ।—तुलसी ।

वारहवाँ—छंशा पु० [हि० वारह] (१) किसी मनुष्य के मरने के
दिन से वारहवाँ दिन । वारहवाँ । द्वादशाह । (२) कच्चा या
पुत्र के जन्म से वारहवाँ दिन । इस दिन कुल-व्यवहार के
अनुसार अनेक प्रकार की पूजा होती है । बहुतेरों के यहाँ
इसी दिन नामकरण भी होता है । वारही ।

वारह—वि० [सं० वल] बालक । जो समान न हो । जिसकी
बाधबाधस्था हो ।

यो०—नन्हा बारा ।

मुहा०—वारे तें = जब बालक रहा हो तभी से । बचन से ।
वाल्यावस्था से । ३०—(क) वृत्ति है रुचिनि, सिध, हने
को वृषभानु किसीरी । नेकु हमें दिखरावो अपनी बालक
की ओरी । परम पतुर जिन कीन्हें मोहन भरा बस ही
थोरी । वारे ते जिन यहै पढ़ावो दुषि, बल, कठ विधि
चोरी ।—सूर । (ख) वारेदि ते निज हित पति बानी ।
लखिमन राम चरन रति मानी ।—तुलसी ।

छंशा पु० बालक । लड़का ।

छंशा पु० [फा० बाला = ऊँचा] छोड़े की कँठमी ओ बेल
के सिरे पर लुगाई जाती है और जिसके फिरे से बेल
फिता है ।

छंशा पु० [हि० वार] वह दूध जो खरवादा चौपायों
चराने के बच्चे में आठवें दिन पाला है ।

छंशा पु० [!] (१) एक गीत जिसे ऊँच से मोद होते
समय गाते हैं । (२) वह आदमी जो ऊँच पर राधा रंग
भरकर निकले हुए घरसे या मोद का पानी इकट्ठा
गिराता है । (३) आँख से सार खींचने का काम ।

घारात—छंशा श्री० [सं० वरपान, प्रा० वरपण] (१) किसी के तिरा
में बसके घर के डोनों, संरंधियों, हट मित्रों का मित्र
बधू के घर जाना । वरपात्र । (२) वह समान को वर के साथ
उसे व्याहर्त के लिये सज्जकर बधू के घर जाता है ।

फि० प्र०—निकलना ।—सजना ।

मुहा०—घारात उठना = घारात का प्रस्थान करना ।

घारादरी—छंशा श्री० दे० “वारहदरी” ।

घाराणी—वि० [फा०] वरसाती ।

छंशा श्री० (१) वह भूमि जिसमें केवल वरसात के पानी से
फसल उत्पन्न होती है और सींचने की आवश्यकता नहीं
पड़ती है । (२) वह फसल जो वरसात के पानी से बिना
सिंचाई किये उत्पन्न होती हो । (३) वह कपड़ा जो पानी
से बचने के लिये वरसात में पहना या ओढ़ा जाता हो । या
ऊन को जमाकर या चुली कपड़े पर मोम आदि छेदना
बनाया जाता है ।

घारामीटर—छंशा पु० दे० “वैरामीटर” ।

घाराह—छंशा पु० दे० “वाराह” ।

घारादीर्घद—छंशा श्री० दे० “वारादीर्घद” ।

घारि—छंशा पु० दे० “वारी” ।

छंशा श्री० दे० “वारी” ।

घारिक—छंशा पु० [सं० वारक] ऐसे पैगलों या मर्दानों की श्रेणी
या समूह जिनमें कौम के सिपाही रहते हैं । छावनी ।

घारिक-मास्टर—छंशा पु० [सं०] वह प्रधान कर्मचारी जो वारिक
की देखभाल और प्रबंध करता हो ।

घारिगर—छंशा पु० [हि० वारी + गर] हथियारों पर बाढ़ रखने

बाड़ा। सिरुगीर। ३०—प्रदूत बारिगर तुव दगन घरी
बाड़ जो निच। बाड़े होत जात है कटि कटि नेड़ी चित।
—रसनिधि।

रिज—संज्ञा पुं० दे० “वारिज”।

रिद—संज्ञा पुं० दे० “वारिद”।

रिधर—संज्ञा पुं० [सं० वारिधर] (१) बादल। वारिद। मेघ।

३०—हृदय हरितल्य अति विराजत छवि न घरनी आइ। मने
बालक वारिधर नवचंद्र लई छपाइ।—सूर। (२) एक
वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में गण्य गण्य और दो भग्य
होते हैं। इसे केशवदास ने माना है। ३०—रामयुव हूँ बात
सुनौ सुनि। रामचंद्र मन मंदि कही सुनि। राति दीह जमराज
जनी बन। जातनानि तन मातन केँ अनु।—केशव।

रिधि—संज्ञा पुं० दे० “वारिधि”।

रिवाह—संज्ञा पुं० [सं० वारि + वाह] बादल।

रिश—संज्ञा स्त्री० [का०] (१) वर्षा। वृष्टि। (२) वर्षाऋतु।

रिस्टर—संज्ञा पुं० [सं०] वह धकील जिसने विलायत में रह

कर कानून की परीक्षा पास की हो। ऐसे धकील दीवानी
मौजदारी और माल आदि की सारी छोटी बड़ी अदालतों
में यादी या प्रतिवादी की ओर से मामलों और मुकदमों
में पैरवी, बहस तथा अन्य कारवाहियाँ कर सकते हैं। ऐसे
धकीलों के लिये बकासतनामे या मुकतारनामे की आव-
श्यकता नहीं पड़ती है।

गरी—संज्ञा स्त्री० [सं० गवारी] (१) किनारा। तट। ३०—

जिन न बाई नार चातक घन तमि दुसरोहि। सुरसरि हू
की बारि भरत न मंगिब अथ जल।—तुलसी।

मुहा०—बारी रहे—जिनसे होकर चलो। बच कर चलो।

(पाठकी के कहार कटि आदि सुमने पर)

(१) वह स्थान जहाँ किसी वस्तु के बिखार का शत
हुआ हो। किसी लंबाई-चौड़ाईवाली वस्तु का विनकुल
छोर पर का भाग। हाशिया। (२) वगीचे, खेत आदि
के चारों ओर रोक के लिये बनाया हुआ घेरा। बाड़।
(३) किसी बरतन के मुँह का घेरा या छिड़के बरतन
के चारों ओर रोक के लिये उठा हुआ घेरा या किनारा।
शैंत। जैसे, पाखी की बारी, लोटे की बारी। (४)
घर। याड़। पैनी वस्तु का किनारा।

संज्ञा स्त्री० [सं० वाटी, वाटिका = बगिचा, घेरा, घर] (१)

पेड़ों का समूह या वह स्थान जहाँ से पेड़ लगाए गए हों।
वगीचा। जैसे, आम की बारी। ३०—(क) सरग
पटाळ भूमि ले बारी। एक राम सकल रखवारी।—
कबीर। (ख) बसुं जमीर होइ रखवारी। बुद्ध को सके
राना के बारी।—जायसी। (ग) अरि तुम्हारी चढ
सबति बसारी। रूँधहु करि बपाय बर बारी।—तुलसी।

(ब) लठ्ठो सुमन है सुफल तह छातप-रोस निवारि।
बारी बारी आपनी सींच सुहृदता वारि।—विहारी।

(२) मेड़ आदि से घिरा स्थान। बयारी। ३०—गँदा
गुलदावदी गुलाब थावदार चाह चंपक चमेखिन की
न्यारी करी बारी मैं।—प्रताप। (३) घर। मकान।
दे० “बाड़ी”। (४) खिड़की। झरोखा। (५)
जहाँओं के उठरने का स्थान। बंदरगाह। (६) रास्ते में
पड़े हुए कटि, काहूँ इत्यादि (पाठकी के कहार)

संज्ञा पुं० एक जाति जो अथ पच्छ दोने बना कर व्याह
शादी आदि में देती है और सेवा करती है। पहले इस
जाति के लोग बगीचा लगाने और बनकी रखवाली आदि
का काम करते थे इससे काम काज में पच्छ बनाना बन्हीं
के सुपुर्द रहता था। ३०—(क) बारी बारी आपनी
सींच सुहृदता वारि।—विहारी। (ख) नाक, बारी, मंठ,
नट रामनिवाचरि पाइ। मुदित बसोनिहि नाइ सिर हरष
न हृदय समाह।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बर] बहुत सी बातों में से एक एक
बात के लिये समय का कोई नियत अंश जो पूर्वापर क्रम के
अनुसार हो। आगे पीछे के सिलसिले के मुताबिक जानेवाला
मौका। अवसर। अवसर। पारी। जैसे, घनी दो आह-
मियों के पीछे तुम्हारी बारी आएगी। ३०—(क) घरी
सौ संधि गनह घरिवारी। पहर पहर से। आपनि बारी।—
जायसी। (ख) काहूँ पै दुःख सदा न रह्यो, न रह्यो सुख
काहूँ के निच अगारी। चक्रनिमी सम दोह फिरँ तर ऊपर
आपनि आपनि बारी।—लक्ष्मणसिंह।

मुहा०—बारी बारी से—काहूँ क्रम में एक के पीछे एक हूँ
रिती से। समय के नियत अंतर पर। जैसे, सब लोग एक
साथ मत आओ, बारी बारी से आओ। बारी बँचना =
आगे पीछे के क्रम से एक एक बात के लिये अलग अलग
समय नियत होना। ३०—तीनहुँ डोहन की सरनीन की
बारी बँधी हुती दंड दुहू की।—केशव। बारी बँचना =
एक एक बात के लिये परस्पर आगे पीछे समय नियत करना।
संज्ञा स्त्री० [हिं० बापा = डेरा] (१) लड़की। कन्या।
वह जो सपानी न हो। (२) थोड़े वयस की स्त्री। नव-
यौवना। ३०—बुढ़िया हँसि कह मैं निठदि वारि।
मोहिँ अस तरनी कहुँ कौन नारि?—कबीर।

वि० स्त्री० थोड़ी अवस्था की। जो सपानी न हो। ३०—
बारी बपु सुरभानी चिड़ोकि, जिदानी करे बपचार किते
कौ।—पद्माकर।

संज्ञा स्त्री० दे० “बादी”।

पारीक—वि० [का०] [संज्ञा कटि] (१) जो मोटाई या
घेरे में इतना कम हो कि छूने से हाथ में ऊँच मालूम न

हो। महीन। पतला। जैसे, बारीक तार या तामा, बारीक कपड़ा। (२) बहुत ही छोटा। सूक्ष्म। जैसे, बारीक अक्षर। (३) जिसके अणु बहुत ही छोटे या सूक्ष्म हों। जैसे, (क) बारीक धातु। (ख) इस दवा को खूब बारीक पीसकर लाओ। (घ) जिसकी रचना में दृष्टि की सूक्ष्मता और कला की निपुणता प्रकट हो। जैसे, उस मंदिर में पत्थर पर बहुत बारीक काम बना है। (ङ) जिसे समझने के लिये सूक्ष्म बुद्धि आवश्यक हो। जो बिना अच्छी तरह ध्यान से सोचे समझ में न आए। जैसे, बारीक बात।

बारीका—संज्ञा पुं० [का० बारीक] बालों की वह महीन कलम जिससे ब्रिजकारी में पतली पतली रेखाएँ खींची जाती हैं।

बारीकी—संज्ञा स्त्री० [का०] (१) महीनपन। पतलापन। (२) साधारण दृष्टि से न समझ में आनेवाला गुण या विशेषता। खूबी। जैसे, मज़मून की बारीकी।

मुहा०—बारीकी निकालना = ऐसी बात निकालना जो साधारण दृष्टि से देखने पर समझ में न आ सके। सूझ बझाना करना।

बारीखाना—संज्ञा पुं० [हिं० बरी + का० खाना] नील के कारखाने में वह स्थान अर्थात् नील की बरी या टिकिया सुखाई जाती है।

बारीस—संज्ञा पुं० दे० “बारीश”।

बारणी, बारनी—संज्ञा स्त्री० दे० “बारणी”।

बारु—संज्ञा पुं० दे० “बारू”। इ०—बारु भीत बनाई रचि पछि रहत नहीं दिन चार। ऐसे ही यदि सुख माया के डरकपो कहाँ गया।—तैलकदाहुर।

बारुत—संज्ञा स्त्री० दे० “बारुत”।

बारुद—संज्ञा स्त्री० [इ० बारुत] एक प्रकार का चूर्ण या बुझनी जो गंधक, शोरे और कोयले को एक में पीसकर बनती है और आग पाकर भंक से उड़ जाती है। तीव्र धूँक हूँसी से चञ्चली है। बारू।

विशेष—पेशा पता चलता है कि इसका प्रयोग भारतवर्ष और चीन में बहुत आदि अग्न्यस्त्र और समारोहों में बहुत पुराने जमाने से किया जाता था। अरबों के शिवाजियों में अग्निसंघ बा अग्निसंघ शब्द तमामो (आतंकवादी) के लिये आया है। पर इस बात का पता आज तक विद्वानों को नहीं लगा कि सब से पहले इसका आधिकार कहाँ कब और किसने किया है। इसका प्रचार युरोप में चौदहवीं शताब्दी में शुरू (अरब) लोगों ने किया और सोलहवीं शताब्दी तक इसका प्रयोग केवल वेदुहों को चलाने में होता रहा। आज कल अनेक प्रकार की बारुदें मोटी महीन, सम विषम एवं की बनती हैं। सेनायक दम्पती की

मात्रा निश्चित नहीं है। देश देश में प्रयोगानुसार इस रक़ता है पर साधारण रीति से बारुद बनाने में १० सैकड़े ७२ से ७८ अंश तक थोरा, १० या १२ गैर हो १२ से १२ तक कोयला पड़ता है। ये तीनों चूर्ण एक तरह महीन पीस छानकर एक में मिलाए जाते हैं। निरंतरपीन का तेल वा स्फिडिट डालकर पूर्ण हो भर्ती की मेलना पड़ता है। इसके पीछे उसे धूप से सुखते हैं। समारो की बारुद में कोयले की मात्रा अधिक डाली गई है। कभी कभी लोहजुन भी फूँट लपड़े बंधे हैं। निर डालते हैं। भारतवर्ष में अब बारुद धूँक के कम हो कम बनती है; प्रायः तमामो की ही बारुद रचि जाती है।

मुहा०—गोली बारुद = (१) लड़ाई की सामग्री। (२) सामान। (३) सामग्री। आयेजन।

बारुदखाना—संज्ञा पुं० [हिं० बारुद + का० खाना] वह जगह जहाँ गोला बारुद आदि लड़ाई का सामान रहता है।

बारुदानी—संज्ञा स्त्री० दे० “बारुदानी”।

बारि—क्रि० वि० [का०] चल को।

बारि में—अव्य० [का० बार + हिं० में] प्रसंग में। विषय में। जैसे, मैं इस बारि में कुछ नहीं जानता।

बारोमीटर—संज्ञा पुं० दे० “बैरोमीटर”।

वालंगा—संज्ञा पुं० [का०] ज़िरे की तरह का काँचे रंग का पीन जो बहुत दुष्टकर माना जाता और पीप के फूल में जाता है। इसे पानी में डालने से बहुत सास निकलता है। तुलस वालंगु। तूमलंगा।

वाल—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० वाला] (१) वालक। बच्चा वह जो समाना न हो। वह जो अमान न हुआ हो।

विशेष—मनुष्य जन्मनाल से लेकर प्रायः १९ वर्ष की अवस्था तक वाल या वालक कहा जाता है।

(२) वह जिसको समझ न हो। नासमझ आदमी।

किसी पशु का बच्चा। (४) सुगंधवाला नामक पौधे का संज्ञा स्त्री० दे० “वाला”।

वि० (१) जो समाना न हो। जो पूरी बाढ़ को न पहुँचा हो। (२) जिसे कोई या निकले हुए कोई ही वेर हुँदा है। जैसे, वालरकि।

संज्ञा पुं० [सं०] सूत की ली पशु जो दूध पिनावे के जंतुओं के बमड़े के ऊपर निकली रहती है और जो अधिक जंतुओं में हजनी अधिक होती है कि उनका चमड़ा टका रहता है। होम और देश।

विशेष—बाबू, सींग, पर आदि के ही समान वाल की कड़े पड़े धूप लक के चिकार हो हैं। इनमें न तो सेवन-सूत्र होते हैं, न रक्ताहिनी नाजियाँ। इसीसे ऊपर से दाब

को वतने से किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता। बाल का कुछ भाग त्वचा से बाहर निकला रहता है और कुछ भीतर रहता है। जिस गड्ढे में बाल की जड़ रहती है उसे लोमकूप करते हैं। बाल की जड़ का नीचे का सिरा मोटा और सनेद रंग का होता है। बाल के दो भाग होते हैं एक तो बाहरी तह और दूसरा मध्य का सार भाग। सार भाग थोड़े रेशों से बना हुआ प्राया जाता है। यहाँ तक वायु का संचार होता है।

मुद्रां—बाल बाल न होना = कुल भी कष्ट वा हानि न पहुँचना। पूर्ण रूप से सुरक्षित रहना। ३०—होय न बरिषा बार भक्त को जो कोउ कोटि उपाय करै।—तुलसी। बाल न धाँकना = बाल धाँकना न होना। ३०—जेहि जिय मनहि होय सत बारू। परे पहार न थोके बारू।—जायसी। महाते बाल न लिसना = कुल भी कष्ट वा हानि न पहुँचना। ३०—नित बडि यही मनाबति देवन रहत खसै जनि बार।—सूर। (किसी काम में) बाल पकाना = (कई काम करते करते) मुड़का हो जाना। बहुत दिनों का अनुभव प्राप्त करना। जैसे, मैंने भी पुलिस की चौकरी में ही बाल पकाए हैं। बाल बराबर = बहुत सज्जम। बहुत महीन या पतला। बाल बराबर न समझना = कुल भी परवा न करना। अत्यंत शुच्छ समझना। बाल बाल बचना = कोई अप्रति पड़ने या हानि पहुँचने में बहुत थोड़ी कसर रह जाना। जैसे, परयर आया, वह बाल बाल बच गया।
 संज्ञा स्त्री० [१] कुल अनाजों के बीजों के डंडल का वह अग्र भाग जिसके चारों ओर दाने गुंथे रहते हैं। जैसे, जौ, गेहूँ या ज्वार की बाल।
 संज्ञा स्त्री० [२०] एक प्रकार की मछली।
 संज्ञा पुं० [३०] अंगरेजी नाच।

वालक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लड़का। पुत्र। (२) थोड़ी उम्र का बच्चा। शिशु। (३) अशेष व्यक्ति। अनजान आदमी। (४) हाथी का बच्चा। (५) घोड़े का बच्चा। बछेड़ा। ३०—जात वालका समुंद, यहाए। स्वेत पूँजु जनु संचर बनाए।—जायसी। (६) सुगंधवाला। नेत्रवाला। (७) फंगन। (८) बाल। केश। (९) बैंगड़ा। (१०) हाथी की हड्डी।

वालकताई—संज्ञा स्त्री० [सं० बलकता + ई (प्रत्य०)] (१) बाल्यावस्था। (२) लड़कपन। नासमझी। ३०—तुन प्रसाद रघुकुन कुसलाई। छमा करहु पुनि बालकताई।—रघुनाजसिंह।

वालकपन—संज्ञा पुं० [सं० बलक + पन (प्रत्य०)] (१) बालक होने का भाव। (२) लड़कपन। नासमझी।

वालकप्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केला। (२) हृदयवाची।

वालकांड—संज्ञा पुं० [सं०] रामायण का वह भाग जिसमें रामचंद्रजी के जन्म तथा बाल-लीला आदि का वर्णन है।

वालकाल—संज्ञा पुं० [सं०] बालक होने की अवस्था। बाल्यावस्था। बचपन।

वालकी—संज्ञा स्त्री० [सं० बलक] कन्या। लड़की। पुत्री।

वालकूमि—संज्ञा पुं० [सं०] जूँ।

वालकृष्ण—संज्ञा पुं० [सं०] उस समय के कृष्ण जिस समय वे छोटी अवस्था के थे। बाल्यावस्था के कृष्ण।

वालकेलि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लड़कों का खेल। खिलवाड़।

(२) ऐसा काम जिसके करने में कुछ भी परिश्रम न पड़े। बहुत ही साधारण या सुच्छ काम।

वालकीड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वे कार्य जो छोटे छोटे बच्चे किया करते हैं। लड़कों के खेल और काम।

वालखंडी—संज्ञा पुं० [१] वह हाथी जिसमें कोई दोष हो।

वालखिल्य—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार ब्रह्मा के शेष से ब्रह्म ऋषियों का एक समूह जिसका प्रत्येक ऋषि जीवहौल में थोड़े के बराबर है। इस समूह में साठ हजार ऋषि माने जाते हैं जो सब के सब बड़े भारी तपस्वी हैं। ये सब ऊर्ध्वरेता हैं।

वालखोरा—संज्ञा पुं० [का०] एक रोग जिसमें सिर के बाल ऊँड़ जाते हैं।

वालगोपाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाध्यावस्था के कृष्ण। (२) परिवार के लड़के लड़कियाँ आदि। बाल बच्चे।

वालगोविंद—संज्ञा पुं० [सं०] कृष्ण का बालक-स्वरूप। बालकृष्ण।

वालप्रह—संज्ञा पुं० [सं०] बालकों के प्रायःपातक नी प्रह जिनके नाम ये हैं—(१) स्कंद, (२) स्कंदापसार, (३) हाकनी, (४) रेवती, (५) पूनवा, (६) गंधपूना, (७) शीतपूना, (८) मुखभंडिका और (९) नैगमेय। कहते हैं कि जिस घर में देवताय और पिताय आदि न हो, देवता, ब्राह्मण और भक्तिय का सरकार न हो, आचार विचार आदि का ध्यान न रहता हो, उसमें इन प्रहों में से कोई प्रह धुस कर शुभ रूप से बालक की हत्या कर डालता है। यद्यपि बालक पर भिन्न भिन्न प्रहों के आक्रमण का भिन्न भिन्न परित्याग होता है, तथापि कुछ लक्षण ऐसे हैं जो सभी प्रहों के आक्रमण के समय प्रकट होते हैं। जैसे, बच्चे का बार बार रोना, उद्विग्न होना, नाखों या दातों से अपनी या दूसरों का यदन नोचना, दाँत पीसना, होठ चबाना, भोजन न करना, दिव्य घडकना, बंदोरा हो जाना इत्यादि। बालप्रह का प्रकोप होते ही उनकी शांति के विषय पूजन आदि किया जाना चाहिए। (साधा-

रथातः ये कुछ विरिष्ट रोग ही हैं जो ग्रहों के रूप में मान लिए गए हैं।)

बालचर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बालकों की चर्या। (२) कर्तिकेय।

बालचुड़-संज्ञा स्त्री० [देश०] जटामाली।

बालडी-संज्ञा स्त्री० [सं० शब्द] एक प्रकार की डोल्थी जिसका घेरा विपटा और जिसका घेरा नीचे की ओर सँकरा और ऊपर की ओर अधिक चौड़ा होता है। इसमें ऊपर की ओर उठाने के लिये एक दस्ता भी लगा रहता है।

बालतंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] बालकों के लालनपालन आदि की विद्या। कौमारभूषण। दायागिरी।

बालतनय-संज्ञा पुं० [सं०] खैर का पेड़।

बालदा-संज्ञा पुं० [सं० शब्द] बैल।

बालदण्ड-संज्ञा पुं० [सं०] खैर का पेड़।

बालधि-संज्ञा पुं० [सं०] दुम। पूँछ। इ०—कानन दलि होरी रधि बनाह। इति तेल पसन बालधि बँधाह।—मुलसी।

बालधी-संज्ञा स्त्री० [सं० बालधि] पूँछ। दुम।

बालना-क्रि० सं० [सं० कवचन] (१) जलाना। जैसे, आग बालना। (२) रोशन करना। प्रज्वलित करना। जैसे, दीप्ता बालना।

बालपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खैर का पेड़। (२) जवाता।

बालपन-संज्ञा पुं० [सं० बाल + पन (प्रत्यय)] (१) बालक होने का भाव। (२) बालक होने की अवस्था। लड़कपन। बचपन।

बालपात्रया-संज्ञा स्त्री० [सं०] सिर के बालों में पहनने का प्राचीन काल का एक प्रकार का बाधूपण।

बालपुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही।

बालपञ्चे-संज्ञा पुं० [सं० बाल + हि० पञ्च] लड़केबाले। सेतान। झीडादा।

बालधिधया-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो बाध्यावस्था ही में विधवा हो गई हो।

बालविवाह-संज्ञा पुं० [सं०] वह विवाह जो बाध्यावस्था में ही हो। छोटी अवस्था में होनेवाला विवाह।

बालबुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] बालकों की सी बुद्धि। छोटी बुद्धि। थोड़ी अकल।

वि० जिसकी बुद्धि बच्चों की सी हो। बहुत ही थोड़ी बुद्धि वाला। मंदबुद्धि।

बालमोघ-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवनागरी लिपि।

वि० जो बालकों की समझ में भी आ जाय। बहुत सहज।

बालप्रसवारी-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने बाध्यावस्था से ही प्रसवार्थ-प्रसव प्रारम्भ किया हो। बहुत ही छोटी उम्र से प्रसवार्थ रखनेवाला।

बालमोदक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का विप त्रिने भी कहते हैं।

बालमोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह नैवेद्य जो देवताओं, पि पतः बालकृष्ण आदि की मूर्तियों के सामने

रखा जाता है। (२) जड़-पान। कसेवा। नास्ता।

बालमोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] वना।

बालमोक्ष्य-संज्ञा पुं० [सं०] रसोन्नत।

बालम-संज्ञा पुं० [सं० बरश्म] (१) पति। स्वामी। (प्रणय)। प्रेमी। जार।

बालमस्त्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की छोटी मक्खी जि ऊपर छिड़का नहीं होता। इसका मांस पशु और कारक माना जाता है।

बालमुकुन्द-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाध्यावस्था के और (२) श्री कृष्ण की शिशुकाल की वह मूर्ति जिसमें वे श्र के बल बलते हुए दिखाए जाते हैं।

बालमूलक-संज्ञा पुं० [सं०] छोटी और कच्ची मूली जो र के अनुसार कट्टा, लवण, तिल, तीक्ष्ण तथा स्वाद, व चय और नेत्र रोग आदि की निवारक, वाचक तथा हृदय मानी जाती है।

बालमूलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] आमड़े का पेड़।

बालरस-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार की औ जो पारे, गीचक और सोनामक्खी से बनाई जाती। बालकों को डारने उबर, लाली और शूल आदि में जाती है।

बालराज-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में मणि।

बाललीला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बालकों के खेल। बालों की क्रीडा।

बालध-संज्ञा पुं० [सं०] कलित योगतिथि के अनुसार द्वाव करण जिसमें शुभ कर्म करना घणित नहीं है। कहे हैं कि इस काण्य में जिसका जन्म होता है, वह बहुत काय-कुशल, अथवा परिवार के लोगों का पालन करनेवाला, उच्च शील-सम्पन्न, उदार तथा बलवान् होता है। ये "करण"।

बालवत्स-संज्ञा पुं० [सं०] कपूर।

बालविधु-संज्ञा पुं० [सं०] अमावास्या के पीछे का तथा चंद्रमा। शुक्ल पक्ष की द्वितीया का चंद्रमा।

बालव्यजन-संज्ञा पुं० [सं०] चामर। चंवर।

बालव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] मंजुषी या मंजुषीय का एक भोग।

बालसंगडा, बालसिंगडा-संज्ञा पुं० [सं० बाल + यत्न] कुतली का एक पेच।

बालसूर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रव्यकाल के सूर्य। प्रातःकाल के, उगते हुए सूर्य। (२) वैद्यक में मणि।

बालो-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुष्पती की। जवान की। बार-

तेह वर्ष से सोलह-सत्रह वर्ष तक की अवस्था की थी।
(२) पत्नी। माया। जोरु। (३) जो। शीतल। (४) बहुत छोटी लड़की। दो वर्ष तक की अवस्था की लड़की।
(५) पुत्री। कन्या। (६) नारियल। (७) इल्लडी। (८) येले का पौधा। (९) लैर का पेड़। (१०) हाथ में पहनने का कड़ा। (११) धी-कुभार। (१२) सुगंधबाला। (१३) मोह्या वृक्ष। (१४) नीली फटसरीया। (१५) एक वर्ष की अवस्था की गाय। (१६) इलायची। (१७) चीनी ककड़ी। (१८) दस महाविद्याओं में से एक महाविद्या का नाम। (१९) एक प्रकार की कीड़ी जो मोहू की फसल के लिए बहुत नुकसान होती है। (२०) एक बर्णवृक्ष जिसके प्रत्येक शाखा में तीन रंगण और एक गुरु होता है।
वि० [का०] जो ऊपर की ओर हो। ऊँचा।

मुह्यो—बोल बाला रहना = सम्मान और आदर का उदा बढ़ा रहना। बाला बाला = (१) ऊपर ही ऊपर। उनसे अलग जिनके द्वारा कोई काम होना चाहिए या कोई वस्तु भेजी जानी चाहिए। जैसे, तुमने यात्रा बाला दरवाजा भेज दी।
(२) बाहर बाहर। वहाँ से होते हुए नहीं। जहाँ से होते हुए जाना चाहिए या। जैसे, तुम यात्रा बाला करते गए, मेरे यहाँ उतरे नहीं। (३) इस प्रकार जिसमें किसीका मालूम न हो।
संज्ञा पुं० [हिं० बाल] जो बालकों के समान अज्ञान हो। बहुत ही सीधा सादा। सरल। निरञ्जल।

यौ०—बाला मोला = बहुत ही सीधा सादा। उ०—तन पेसैमार केस को बोलो। चित्त अचेत अनु बाली मोली।—जायसी।

पालार्ह—संज्ञा स्त्री० दे० “मलाई”।

वि० [का०] (१) ऊपरी। ऊपर का। (२) वेतन या नियत भाग के प्रतिरुद्ध। निश्चित भाग के सिवा। जैसे, पालार्ह आमदनी।

बाला-कुप्पी—संज्ञा स्त्री० [का० बाला = ऊँचा + कुप्पी] प्राचीन काल का एक प्रकार का दंड जो अपराधियों को शारीरिक कष्ट पहुँचाने के लिए दिया जाता था। इसमें अपराधी को एक छोटी पीढ़ी पर, जो एक ऊँचे खम्भे से लटकती होती थी, बैठा देते थे; फिर उस पीढ़ी को दस्ती के सहारे ऊपर खींच कर एक दम से नीचे गिरा देते थे। इसमें आदमी के मांस से नहीं आते थे, पर उसे बहुत अधिक शारीरिक कष्ट होता था।

बालाखाना—संज्ञा पुं० [का०] कोठे के ऊपर की चैठक। मकान के ऊपर का कमरा।

बालादस्ती—संज्ञा स्त्री० [का०] (१) अनुचित रूप से हस्तगत करना। अनुनासिध तौर से चूसल करना। (२) बचकदस्ती। बल-प्रयोग।

बालापनी—संज्ञा पुं० [सं० बाल + हिं० पन] लड़कपन। बचपन।

बालावर—संज्ञा पुं० [का०] एक प्रकार का औरला जिसमें चार कलियाँ और छः दंढ होते हैं। विशेष-दे० “औरला”।
बालारोगी—संज्ञा पुं० [हिं० बाल = बेल + रोग] नहरुवा रोग।
बालार्क—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रातःकाल का सूर्य। (२) कन्या राशि में स्थित सूर्य।

बालि—संज्ञा पुं० [सं०] पंथा किर्किंधा का वानर राजा जो श्रीगढ़ का पिता और सुग्रीव का बड़ा भाई था।

विशेष—कहते हैं कि एक बार मेरु पर्वत पर तपस्या करते समय ब्रह्मा की आँखों से गिरे हुए श्रासुओं से एक बंदर उत्पन्न हुआ जिसका नाम ऋचराज था। एक बार ऋचराज पानी में अपनी छाया देख कर क्रोध पड़ा। पानी में गिरते ही उसने एक सुंदर स्त्री का रूप धारण कर लिया। एक बार उस स्त्री को देख कर इंद्र और सूर्य मोहित हो गए। इंद्र ने अपना वीर्य उसके मस्तक पर और सूर्य ने अपना वीर्य उसके गले में डाल दिया। इस प्रकार उस स्त्री को इंद्र के वीर्य से बालि और सूर्य के वीर्य से सुग्रीव नामक दो बंदर उत्पन्न हुए। इसके कुछ दिनों पीछे उस स्त्री ने फिर अपना पूर्व रूप धारण कर लिया। ब्रह्मा की आज्ञा से उसके पुत्र किर्किंधा में राज्य करने लगे। एक बार बालि किसी दैत्य का पीछा करने के लिए पाताल गया था। उसके पीछे सुग्रीव ने उसका राज्य ले लिया; पर बालि ने बातें ही उसे मार मगाया और वह अपनी स्त्री वारा तथा सुग्रीव की स्त्री रुमा को लेकर मुल से रहने लगा। सुग्रीव ने भाग कर अंततः के आश्रम में आश्रय लिया।

एक बार रावण ने किर्किंधा पर आक्रमण किया था। उस समय बालि दक्षिण-भाग में संन्यास कर रहा था। रावण को देखते ही उसने गण्ड में दूबा लिया। अंत में उसके द्वार मानने पर बालि ने उसे छोड़ दिया।

जिस समय रामचंद्र सीता को ढूँढ़ते हुए किर्किंधा पहुँचे थे, उस समय मरुत के आश्रम में सुग्रीव से उनकी भेंट हुई थी। उसी समय सुग्रीव के कहने से बंधूने बालि का वध किया था। सुग्रीव को राज्य दिखाया था और बालि के लड़के श्रीगढ़ को वहाँ का युवागम बनाया था। रावण के साथ युद्ध करने में सुग्रीव और श्रीगढ़ ने रामचंद्र की बहुत सहायता की थी।

बालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी लड़की। कन्या। (२) पुत्री। बेटी। (३) छोटी इलायची। (४) कान में पहनने की बाली। (५) बालू।

बालिकुमार—संज्ञा पुं० [सं०] बालि नामक बंदर का लड़का श्रीगढ़ और रामचंद्र की सेवा में था।

बालिभा—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो यादगारना को पार कर

सुका हो। जो अपनी पूरी अवस्था को पहुँच चुका हो।
जयान। प्राप्त-वयस्क। नाबालिग का उल्टा।

विशेष—कानून के अनुसार कुछ बातों के लिये २१ वर्ष और
कुछ बातों के लिये १८ वर्ष या इससे अधिक अवस्था का
अनुपपन्न बालिग माना जाता है।

वालिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्निनी नपुंर का एक नाम।

वालिन्—संज्ञा स्त्री० [फा०] तकिया।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) बालक। शिशु। (२) मूलं।
अथवा व्यक्ति। नासमर्थ।

वि० [सं०] अथवा। अज्ञान। नासमर्थ। बेवकूफ। उ०—
(क) कुलहि लजावै बाल बालिग बजावै गाल कैधौ
कूर काल बस समकि निदेश है।—तुलसी। (ख) बालिग
बासी अथप के शक्तिवै न राको। ते पाँवर पहुँचै तहाँ
जहाँ मुनि मन पाको।—तुलसी।

वालिन्त—संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार की माप जो प्रायः
बारह अंगुल से कुछ ऊपर और लगभग आध फुट के होती
है। हाथ के पंजे को भरकर फेंकने पर अंगुठे की नोक से
लेकर कानी उँगली की नोक तक की दूरी। बिल्छन।
बीता।

वालिन्त—संज्ञा पुं० [सं०] मूल्यता। अज्ञानता। नासमर्थी।
बेवकूफी।

वालिन्त-टून—संज्ञा स्त्री० [सं० बैसाख टून] वह रेडगाड़ी जिस
पर सड़क बनाने के सामान (बकड़ा आदि) लाद कर
भेजे जाते हैं।

वाली—संज्ञा स्त्री० [सं० बालिका] कान में पहनने का एक प्रसिद्ध
भाभूषण जो सोने या चाँदी के पतले तार का गोलाकार
बना होता है। इसमें गोभा के लिये मोती आदि भी
पिरोए जाते हैं।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बाल] जो मोहूँ ऊपर आदि के पीछों का वह
ऊपरी भाग या सीका जिसमें अन्न के दाने रहते हैं।
दे० “बाल”।

संज्ञा स्त्री० [दे०] हथौड़े के आकार का कसेरों का एक
औद्योगिक निशाने के लोग घरतों की कोर उठाते हैं।

संज्ञा पुं० दे० “वालि”।

वाली-स्यरा—संज्ञा पुं० [बाली ? + हिं० स्यरा] यह सबरा जिस
से कसेरी वाली या परात की कोर उधारते हैं।

वालुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्थर। (२) पत्थर।
वालुका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रेत। बालू। (२) एक
प्रकार का कपूर। (३) ककड़ी।

वालुकायंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] औपम्य आदि को फूँकने का वह
यंत्र जिसमें औपम्य को बालू भरी हाँडी में रख कर आग
पर रखने या आग से चारों ओर से ढँकते हैं।

वालुकास्वेद—संज्ञा पुं० [सं०] आघ्रिकार के अनुसार स्वेद
काने के लिये गरम बालू की गरमी पहुँचाने की विधि।

वालुकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की ककड़ी।

वालू—संज्ञा पुं० [सं० वल्लुका] पथर या पत्थरों आदि का वह
बहुत ही महीन-पूर्ण भाग जो वर्षों के जल धारित
साथ पहाड़ों पर से यह माटा और नदियों के किनारों
आदि पर, अथवा ऊसर जमीन या रेगिस्तानों में बहुत
अधिक पाया जाता है। रेणुका। रेत।

मुहाना—वालू की भीत—ऐसी वस्तु जो शीम ही न हो। अथवा
जिनका भारो न किया जा सके। उ०—विस्तार का
न लागाईं ओखे जान श्री भीत। अथवा लंबाई लंबाई
वालू की भीत।

संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की मछली जो वर्षा का
और लंका के जलाशयों में पाई जाती है।

वालुक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का विप।

वालुकर—संज्ञा पुं० [बालुकर = एक स्थान] बंगाल के बांग्ला
नामक स्थान का गाँवा जो बहुत अच्छा समझा जाता है।
(अथ यह गाँवा और स्थानों में भी होने लगा है।)

वालुकरा—संज्ञा पुं० [हिं० बालू + वर] वह भूमि जिस पर बहुत
वर्षा या झिझका पानी भरा हो। वर। (लघु०)

वालुदानी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बालू + दानी] एक प्रकार की
कैफ़ीदार डिबिया जिसमें लोग बालू रखते हैं। इस बालू
से वे स्पाही सुखाने का काम करते हैं। (साधारणतः
वही खाता लिखने वाले लोग, जो सोल्ने का व्यवहार नहीं
करते, इसी बालुदानी से घरत के लिखे हुए लेखों पर
बालू छिड़कते हैं और फिर उस बालू को उसी डिबिया को
कैफ़ी पर बलट कर उसे डिबिया में भर लेते हैं। मूल्य
काल में इसी प्रकार लोगों की स्पाही सुखाई जाती थी।)

वालुदुर्द—वि० [हिं० बालू + दुर्द = से गया] बालू द्वारा
किया हुआ।

संज्ञा पुं० वह भूमि जिसकी वर्षा शक्ति बालू पतने के
कारण बल हो गई हो।

वालुसाही—संज्ञा स्त्री० [हिं० बालू + साही = चलाना] एक प्रकार की
मिटाई। इसके लिये पहले मिट्टी की छोटी छोटी डिबिया बना
लेते हैं और वनके घी में तल कर दो बार के शोर में डबा
कर निकाल लेते हैं। यह खाने में बाध सी ससयमी
होती है।

वाल्लेय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गद्दा। रर। (२) पात्र।
वि० (१) खुद। कोमल। (२) जो बालों के लिये
लाभदायक हो। (३) जो बालि देने के योग्य हो। बलि-
दान करने लायक।

वाल्लेय—संज्ञा पुं० [सं०] बेर।

वाल्मी-संज्ञा स्त्री० दे० "वाल्मी"।

वाल्म्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाल का भाव । लड़कपन । बचपन । (२) बालक होने की अवस्था ।

वि० (१) बालक-संबन्धी । बालक का । (२) बालक की अवस्था से संबंध रखनेवाला । बचपन का ।

वाल्म्य-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रायः सोलह सत्रह वर्ष तक की अवस्था । बालक होने की अवस्था । युवावस्था से पहले की अवस्था । लड़कपन ।

वाल्म्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । हवा । पवन । ३०—
दाह बलि सुहारे वायु जी गिणत न रांथा ठाव । मीर
मलिक प्रधान पति तुम विन सब ही वाय ।—दाह । (२)
बाह । (३) अपान वायु । पाद । गोम ।

मुहा०—वाय रसना = अपान वायु का निकलना । पाद निकलना ।

संज्ञा पुं० [फा० वा] जमींदारों का एक एक जो इनको
अधामी की कन्या के विवाह के समय मिलता है । मँड़-
वच । झुर ।

वायड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० वाय + डी (प्रत्य०)] (१) वह चौड़ा और
बड़ा कुर्छा जिसमें हस्तरों के लिये सीढ़ियाँ होती हैं ।
वायसी । (२) छोटा तालाब ।

वायन-संज्ञा पुं० दे० "वामन" ।

संज्ञा पुं० [सं० दि० वायत पा० दि० वामना, प्रा० वि० वामना]
पचास और दो की संख्या या इसका सूचक श्रृंख, जो
हस प्रकार लिखा जाता है—२५ ।

वि० पचास और दो । छद्मनाम का दूना ।

मुहा०—वायन तोले पाव रची = जो हर तरह से विभक्त
ठीक हो । विडकुल दुख । जैसे, आपकी सभी बातें वायन
तोले पाव रची हुआ कासी हैं । वायन और = बहुत अधिक
घीर या खुद । बड़ा बहादुर और बालाक ।

वायनर्चा-वि० [दि० वायन + र्चा (प्रत्य०)] गिती में वायन के
स्थान पर पड़नेवाला । जो क्रम में वायन के स्थान पर हो ।

वायना-वि० दे० "वीना" ।

वायभक्त-संज्ञा स्त्री० [हिं० वाय = वायु + भक्त० भक्त] वायुलपन ।
सिद्धिपन । मूक ।

वायर-स्त्री-वि० [सं० वायु, प्रा० वायक, हिं० वायका] (१) वायुल ।
वायल । ३०—विषयवैराग्य वायर जीक । पवित्र अस खोली
पिर पीज ।—जायसी । (२) मूर्त । सेवक । निर्बुद्धि ।
३०—राजें जुहुँ दिसा फिर देखा । पंडित वायर, कौन
सरेखा ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० [फा०] मकीन । विम्वार ।

वायरची-संज्ञा पुं० [फा०] मोमक पकानेवाला । रसोइया ।

यौ०—वायरचीखाना ।

वायरचीखाना-संज्ञा पुं० [फा०] मोमन पकाने का स्थान ।

पाकशाला । रसोइघर ।

वायरा-वि० दे० "बावला" ।

वावरि-संज्ञा स्त्री० दे० "बावली" ।

वावरी-वि० दे० "बावली" ।

वावल-संज्ञा पुं० [सं० वायु] आंधी । शंभु । (हिं० गल)

वावला-वि० [सं० वायु, प्रा० वायल] जिसे वायु का प्रकोप हो ।

वायक । विचित्र । सनकी ।

वायलापन-संज्ञा पुं० [हिं० वायला + पन (प्रत्य०)] वायुलपन ।
सिद्धिपन । मूक ।

वायसी-संज्ञा स्त्री० [सं० वाय + सी या सी (प्रत्य०)] (१) चौड़े मुँह
का कुर्छा जिसमें पानी तक पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनी
हैं । (२) छोटा गहरा तालाब जिसमें पानी तक सीढ़ियाँ
हैं । (३) इनामत का एक प्रकार जिसमें माये से लेकर
चोटी के पास तक के बाल चार पाँच श्रृंगुल चौड़ाई में
भूँड़ दिए जाते हैं जिससे सिर के ऊपर चूहे का सा आकार
बन जाता है ।

वायसी-स्त्री-वि० [सं० वाय] (१) बाईं ओर का । (२)
प्रतिकूल । विरुद्ध । ३०—(क) प्रभु राज निरालि निरास
मरत भूष जाय्यो है सबहि भाति विधि बावें ।—तुलसी ।
(ख) धरतु धीर पछि जावें तात मोहीं आहु विधाता
बावें ।—तुलसी ।

वायिदा-संज्ञा पुं० [फा०] रहनेवाला । निवासी ।

वायकल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक दैत्य का नाम । (२) घीर ।
घोड़ा । (३) एक उपनिषद् का नाम । (४) एक ऋषि
का नाम ।

वाय्य-संज्ञा पुं० [सं० वाय] (१) भाष । (२) जोड़ा । (३)
यशु । आशु । (४) एक प्रकार की जड़ी । (५) गौतम बुद्ध
के एक शिष्य का नाम ।

वाय्यी-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिंदुपत्नी ।

वासंतिक-वि० [सं०] (१) वसंत ऋतु संबंधी । (२) वसंत
ऋतु में होनेवाला ।

वास्तवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्राह्मण । वासा । (२)
माघवीलता ।

वास्त-संज्ञा पुं० [सं० वास] (१) रहने की क्रिया या भाव ।
निवास । (२) रहने का स्थान । निवासस्थान । (३) पू ।
गंध । महक । (४) एक छंद का नाम । (५) वज्र । कपड़ा ।
पोशाक । ३०—(क) जहाँ कोमलै धरकली वास्त मोहैं ।
जिन्हें अरुपणी कल्पशाली विमोहैं ।—केशव । (ख) पाँच
धरी चौथे पहर पहिरति शैले वास्त । करति धंग रचना
विधि भूपन भेष विलास ।—देव ।

संज्ञा स्त्री० [सं० वास्त] वासना । रफ्त । लालपन ।

४०—तिय के सम दूजो नहीं मुख सोई त्रिरेल लिख्यो विधि वास धरे।—लेवकलाम।

संज्ञा छी० [सं० वाणिः] (१) अग्नि। आग। (२) एक प्रकार का अन्न। ४०—गिरधरदास तीर तुपक तमंवा लिपु लरें बहुत अति वास धार बरसैं शरदंड।—गिरधर। (३) तेज धारवाली सुरी, चाकू, कैंची इत्यादि छोटे छोटे शब्द जो रण में लोगों में भर कर फेंके जाते हैं।

संज्ञा पुं० [रेय०] एक घृष्ट जो बहुत ऊँचा होता है और जिसकी लकड़ी रंग में लाली लिपु काजी और इतनी मजबूत होती है कि साधारण कुल्हाड़ियों से नहीं काट सकती। यह लकड़ी पलंग के पाये और दूसरे सजावटी सामान बनाने के काम में आती है। इसमें बहुत ही सुगंधित फूल लगते हैं और गोद निकलता है जो कई कामों में आता है। यहाँमें में यह घृष्ट ३००० फुट की ऊँचाई तक होता है। विपरीता।

वासकर्णी—संज्ञा छी० [सं०] वज्रशाला।

वासकसज्जा—संज्ञा छी० [सं०] वह नायिका जो अपने पति या प्रियतम के जाने के समय केलि-सामग्री सज्जित करे। नायक के जाने के समय उससे मिलने की तैयारी करने वाली नायिका।

वासठ—वि० [सं० द्विष्टि, प्रा० द्विष्टि, वासठि] साठ और दो। इकतीस का दूना।

संज्ञा पुं० साठ और दो की संख्या या उसको सूचित करने वाला अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—१२।

वासठवाँ—वि० [सं० द्विष्टितम, हिं० वासठ + वाँ (प्रत्य०)] जो क्रम में वासठ के स्थान पर हो। गिनती में वासठ के स्थान पर पड़नेवाला।

वासदेव—संज्ञा पुं० [सं० वासुदेवं] अग्नि। आग। (हिं० गल) संज्ञा पुं० दे० “वासुदेव”।

वासन—संज्ञा पुं० [] वस्त्र। माँड़ा।

वासना—संज्ञा छी० [सं० वासना] (१) हृष्टा। बाँझ। चाह। दे० “वासना”। (२) गंध। महक। घू। ४०—आपु और आपुहि कमल आपुहि रंग सुवास। सेत आपुही वासना आपु लसत सब पास।—रसनिधि।

वि० सं० [सं० वास] सुगंधित करना। महकाना। सुवासित करना। ४०—दे दे सुमन तिल वासि के धरु खरि परिहरि रस सेत।—मुलसी।

वासफूल—संज्ञा पुं० [हिं० वास = गंध + फूल] (१) एक प्रकार का घान। (२) इस घान का चाबड़।

वासमती—संज्ञा पुं० [हिं० वास = महक + मती (प्रत्य०)] (१) एक प्रकार का घान। (२) इस घान का चाबड़ जो पकाने पर अच्छी सुगंध देता है।

वासर—संज्ञा पुं० [सं० वासर] (१) दिन। (२) सवेरा। रात। सुबह। (३) वह राग जो सबरे गाया जाता है।

जैसे, प्रमाती, औरची इत्यादि। ४०—सो सो प्रविकस वासर जायें। तन घाय नहीं मन प्राणन क्षति।—नेपथी।

वासव—संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर।

वासवी—संज्ञा पुं० [सं० वासवि] भर्तृन्। (हिं००)

वासवीदिशा—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्व दिशा, जो ईश्वर की दिशा मानी जाती है।

वाससी—संज्ञा पुं० [सं०] कपड़ा। पस ४०—दूध लल रने बेरि जोरि जोरि वाससी। त अपार सार कन दूर सों कसी।—केशव।

वास—संज्ञा पुं० [रेय०] (१) एक प्रकार का पत्ती। (२) महुआ।

संज्ञा पुं० [हिं० वास] एक प्रकार की पास जो बगानों में वस के पत्तों के समान होती है। यह पशुओं के खिलाई जाती है।

संज्ञा पुं० दे० “वास”।

संज्ञा पुं० दे० “पियावाँस”।

वासित—वि० [सं० वासित] सुगंधित किया हुआ।

वासिष्ठी—संज्ञा छी० [सं० वसिष्ठ] ब्रह्मन् नदी का एक मान देसा माना जाता है कि वसिष्ठ जी के तप-प्रभाव से ही यह नदी प्रकट हुई थी।

वासी—वि० [सं० वासर वा वास = गंध] (१) देर का बना हुआ जो वाड़ा न हो। (खाद्य पदार्थ) जिसे तैयार हुए अधिक समय हो चुका हो और जिसका स्वाद, वाकू चुका हो। जैसे, वासी भात, वासी दूरी, वासी मिठाई। (२) जो कुछ समय तक रखा रहा हो। जैसे, वासी पानी। (३) सूखा या कुहलाया हुआ हो। जो दूरा भरा न हो। जैसे, वासी फूल, वासी साग। (४) (कल आदि) जिस डाल से दूरे हुए अधिक समय बीत चुका हो। जिसे पैरों अलग हुए ज्यादा देर हो गई हो। जैसे, वासी भ्रमर, वासी धाम।

मुहा०—वासी कड़ी में बयाळ आना = (१) मुद्दत में आने की उमंग उठना। (२) किसी बात का समय निकलना जानने पर उर के संबंध में कोई वादना उत्पन्न होना। (३) समय में कामगर्भ के लक्षण दिखाई देना। वासी मुँह = (१) जिस मुँह में सबरे से कोई खाद्य पदार्थ न गया हो। जैसे, वासी मुँह दबा पी खेना। (२) जिसने रात के भोजन के उपरान्त फिर भोजनका कुछ भी न खाया हो। जैसे, मुझे क्या भोजन कि आप अभी तक वासी मुँह हैं।

वि० [सं० वासिन्] रदनेवाला। बतनेवाला।

वासु—संज्ञा छी० दे० “वास”।

बासौधी-संज्ञा स्त्री० दे० "बसौधी" ।

बादा-संज्ञा पुं० [सं० बाद] खेत को जोतने की क्रिया । खेत की जोताई । बास ।

संज्ञा पुं० दे० "बाह" ।

बाहकी-संज्ञा स्त्री० [सं० बाहक + ई (प्रत्य०)] पाठकी से चलनेवाली स्त्री । कदाचिन् । ३०-सर्जो बाहकी सखी सुदाई । लीन्दी शिविका कंध उठाई ।-भुराज ।

बाहड़ी-संज्ञा स्त्री० [दे०] वह खिचड़ी जो मसाला और कुन्ह-डूरी डाल कर पकाई गई हो ।

बाहन-संज्ञा पुं० [दे०] (१) एक बहुत लंबा पेड़, जाड़े के दिनों में जिसके पत्तें झड़ जाते हैं । इसके हीर की लकड़ी बहुत ही लाल और भारी होती है और प्रायः खराद और इमारत के काम में जाती है । (२) एक पेड़ जो बहुत ऊँचा होता और जल्दी पड़ जाता है । यह कारमीर और पंजाब के हलाकों में अधिकता से पाया जाता है । इसकी लकड़ी प्रायः भारावयी सामान बनाने के काम में जाती है । कुफेदा ।

बाहना-क्रि० सं० [सं० बहन] (१) डोना, लादना वा चढ़ा कर ले जाना या ले आना । (२) चलाना । फेंकना । (इति-पार) । ३०- (क) छवि रम फिरत भसुर बहु धाए । बाहत बरत नृपति पर बाए ।-पद्माकर । (ख) यो कहि तबहिं धनुष प्रभु तागा । भे बाहत तेहि पर सर माना ।-पद्माकर । (ग) नेही सनमुख छुरत ही तहँ मन की गिरमान । बाहत हैं रन बाहरे सेरे ग किरमान ।-रसनिधि । (१) गाढ़ी, घोड़े आदि को हाँकना । (४) धारण करना । लेना । पकड़ना । (२) बहना । प्रवाहित होना । ३०- (क) तबै रँग ना रँग केसरि को रँग घोवत सो रँग बाहत जात ।-देव । (ख) नावत जगत सिधु मई संग । बाहत कसै भीचहन संग ।-रघुनाथ । (१) खेत जोतना । खेत में हल चलाया । ३०-भाज तो बसने चार शीघा बाहके दम लिया । (४) गौ, बैस आदि को गामिन कराना ।

बाहनी-संज्ञा स्त्री० [सं० बाहिनी] सेना । कौज ।

बाहयली-संज्ञा पुं० [हिं० बाह + यल] कुरती का एक पेंच ।

बाहम-क्रि० वि० [फा०] आपस में । परस्पर । एक दूसरे के साथ ।

बाहर-क्रि० वि० [सं० बाह] (१) स्थान, पद, अवस्था या संबंध आदि के विचार से किसी निश्चित अथवा कल्पित सीमा (या मर्यादा) से दूर कर, अलग वा निकट होना । भीतर या अंदर का उलटा । ३०-मुलसी भीतर धाराई जो बाहेसि उविषार ।-मुलसी ।

मुहा०-बाहर आना या होना = सामने आना । प्रकट होना ।

बाहर करना = अलग करना । दूर करना । हटाना । बाहर बाहर = ऊपर ऊपर । बाहर रहते हुए । अलग से । बिना किसी के बताए । जैसे, बेंकलकत्ते से भाए तो ये, पर बाहर बाहर दिखी चले गए ।

(२) किसी दूसरे स्थान पर । किसी दूसरी जगह । अन्य नगर या गाँव आदि में । जैसे, (क) आप बाहर से कब लौटेंगे ? (ख) वन्हें बाहर जाना था, तो मुझसे मित्र तो बने । ३०-जेहि घर कंता से सुखी तेहि गाँव तेहि गध । कंस पियारे बाहरे हम सुख भूला सब ।-जायसी ।

मुहा०-बाहर का = ऐसा आदमी जिससे किसी प्रकार का संबंध न हो । बेगाना । परया ।

(३) प्रभाव, अधिकार या संबंध आदि से अलग । जैसे, हम आपसे किसी बात में बाहर नहीं हैं, आप जो कुछ कहेंगे, वही हम करेंगे । ३०-साईं मैं तुम बाहरा कीड़ी हूँ नहीं पाव । जो सिर ऊपर तुम धनी महंगे मोल बिहाव ।-कबीर । (४) बाहर । सिधा । (क०)

संज्ञा पुं० [हिं० बाह] वह आदमी जो ऊँचे की जगह पर मोट का पानी उलटता है ।

बाहरजामी-संज्ञा पुं० [सं० बाह्यजामी] ईश्वर का सगुणरूप । राम, कृष्ण, गुरुदेव इत्यादि अवतार ।

बाहरी-वि० [हिं० बाहर + ई (प्रत्य०)] (१) बाहर का । बाहर-बाह्य (२) जो घर का न हो । पराया । गैर । (३) जो आपस का न हो । अजनबी । (४) जो केवल बाहर से देखने भर को हो । ऊपरी । जैसे, यह सब बाहरी ठाठ है, अंदर कुछ भी नहीं है ।

बाहरीडांग-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाहरी + डांग] कुरती का एक पेंच जिसमें प्रतिद्वंद्वी के सामने आते ही उसे खींचकर अपनी बागल में कर लेते हैं और उसके घुड़नों के पीछे की ओर अपने पैर से आपात करके उसे पीठ की ओर उकेरते हुए गिरा देते हैं ।

बाहस-संज्ञा पुं० [हिं०] अजगर ।

बाहजोरी-क्रि० वि० [हिं० बाह + जोरी] भुजा से भुजा मिला कर । हाथ से हाथ मिला कर । ३०- (क) बाहजोरी निकसे कुंज से प्रास रीकि रीकि कई बात ।-सूर । (ख) राजत है दोउ बाहजोरी दंपति अथ जनबाह ।-सूर ।

बाहा-संज्ञा पुं० [हिं० बाहना] वह रस्सी जिससे नाव का डौड़ बंधा रहता है ।

बाहिज-संज्ञा पुं० [सं० बाह] ऊपर से । बाहर से । देखने में । ३०- (क) बाहिज नख देखि मोहि आई । विम पत्राव पुत्र की गाई ।-मुलसी । (ख) बाहिज धिंवा कीन्द विसेली ।-मुलसी ।

बाहिनी-संज्ञा स्त्री० [सं० बाहिनी] (१) वह सेना जिसमें तीन गण

अर्थात् ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ सवार और ४०५ पैदल
हैं। (२) सेना। फौज। (३) सवारी। यान। (४) नदी।

बाहिर-किं० वि० दे० "बाहर"।

बाहीरी-संज्ञा स्त्री० दे० "बाह"।

बाहु-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुजा। हाथ। बाँह।

बाहुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा नल का उस समय का नाम
जब वे अयोध्या के राजा के सारथी बने थे। (२) नकुल
का नाम। (३) एक नाम का नाम।

बाहुज-संज्ञा पुं० [सं०] चत्रिय, जिनकी उरगति प्रसा के हाथ
से मानी जाती है।

बाहुभ्राण-संज्ञा पुं० [सं०] चमड़े या छोड़े आदि का वह
दस्तावा जो युद्ध में हाथों की रक्षा के लिये पहना जाता है।

बाहुवर्ती-संज्ञा पुं० [सं०] बाहुवर्तिन् । हँस।

बाहुदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक नदी
का नाम। (२) राजा परीक्षित की पत्नी का नाम।

बाहुप्रलम्ब-वि० [सं०] जिसकी बाँहें बहुत लंबी हों। आजात-
बाहु। (ऐसा व्यक्ति बहुत वीर माना जाता है।)

बाहुयल-संज्ञा पुं० [सं०] पराक्रम। यहादुरी। ४०—धी हरि-
दास के स्वामी रामा कुलविहारी कहत राखि जे बाहुबल
हैं बपुरा काम दूहा।—लाल हरिदास।

बाहुमेदी-संज्ञा पुं० [सं०] बाहुमेदिन् । विष्णु।

बाहुमूल-संज्ञा पुं० [सं०] कंधे और बाँह का जोड़।

बाहुयुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] कुश्ती।

बाहुरना-किं० अ० दे० "बहुरना"।

बाहुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध के समय हाथ में पहनने की
एक वस्तु जिससे हाथ की रक्षा होती थी। दक्षाना। (२)
काविक मास। (३) अग्नि। आग।

बाहुलभीष-संज्ञा पुं० [सं०] मोर।

बाहुल्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुतायत। अधिकता। उदात्ती।

बाहुविरफोट-संज्ञा पुं० [सं०] ताल टोकना।

बाहुशाली-संज्ञा पुं० [सं०] बाहुशालिन् । (१) शिष्य। (२) भीम।

(३) उत्तराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (४) एक दानव का
नाम।

बाहुशोष-संज्ञा पुं० [सं०] बाँह में होनेवाला एक प्रकार का
वायु रोग जिसमें बहुत पीड़ा होती है।

बाहुश्रुत्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुश्रुत होने का भाव। बहुत
सी बातों की, सुन कर, प्राप्त की हुई जानकारी।

बाहुसंभव-संज्ञा पुं० [सं०] चत्रिय, जिनकी उत्पत्ति प्रसा की
बाँह से मानी जाती है।

बाहुजहार-संज्ञा पुं० दे० "सहस्रबाहु"।

बाहु-संज्ञा स्त्री० दे० "बाह"।

बाहिरा-किं० वि० [हिं० बाहर] अपने स्थान से बाहर आदि से

च्युत। पतित। निकट। ४०—कपटी काय कुपति इत्येति।

लोक वेद बाहिर सष भति। गुलसी।

बाहान-संज्ञा पुं० दे० "माहान"।

बाह्य-वि० [सं०] बाहरी। बाहर का।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) भार होनेवाला पशु। भै-
रव, गधा, ऊँट आदि। (२) सवारी। यान।

बाह्यकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी
का नाम।

बाह्यकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाम का नाम।

बाह्यतपस्वर्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों के अनुसार तपस्य
का एक भेद। यह छः प्रकार की होती है—व्रत, ध-
र्मोपदेय, वृत्तिसंघेय, रसत्याग, कामक्रेश और वीर्य।

बाह्यवृत्ति-संज्ञा पुं० [सं०] चारे का एक संस्कार। (वैदिक)

बाह्यपट्टी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जघनिका। शालक का पट्टा।

बाह्यर्म्यतर-संज्ञा पुं० [सं०] प्राणायाम का एक भेद जिसे
आते और आते हुए श्वास को कुछ कुछ रोकते रहते हैं।

बाह्यर्म्यतरापी-संज्ञा पुं० [सं०] प्राणायाम का एक भेद।
जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगें, तब इसे थोड़ा
न देकर बड़टे लौटाना और जब भीतर जाने लगे तब
उसको बाहर रोकना।

बाह्यनिद्राधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें रोगी
किसी स्थान में सुनन और फोड़े की सी पीड़ा होती है।

इस रोग में रोगी के मुँह चपचा, गुदा से मवाद निकलता
है। यदि मवाद गुदा से निकले तब तो रोगी साध्य माना
जाता है; पर यदि मवाद मुँह से निकले तो वह प्रसाम्य
सम्प्राप्ता जाता है।

बाह्यविषय-संज्ञा पुं० [सं०] प्राण को बाहर अधिक रोकना।

बाह्यवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राणायाम का एक भेद जिसमें
भीतर से निकलते हुए श्वास को थोड़े थोड़े रोकते हैं।

बाह्यचरण-संज्ञा पुं० [सं०] केवल किसी या प्राणायाम। बाह्यं।

बाह्यपाम-संज्ञा पुं० [सं०] वायु संबंधी एक रोग जिसमें रोगी
की पीठ की चोटी खिंचने लगती है और उसका शरीर पीने
की चोर को मुकने लगता है। चतुस्तंभ।

बाह्यीक-संज्ञा पुं० [सं०] काशिम के उत्तर प्रदेश का प्राचीन
नाम जहाँ आज कल पल्लव है। यह स्थान काष्ठ से
उत्तर की ओर पड़ता है। इसका प्राचीन पारसी नाम
बकर है जिससे यूनानी शब्द बैक्ट्रिया बना है।

विषय-संज्ञा पुं० [सं०] विषय। (१) वह सुननी हुई बात
जिसका कुछ गूढ़ अर्थ हो। व्यंग्य। काकोकि। विरोध-
दे० "व्यंग्य"। ४०—(६) कल विंग से विंग
दूसरी। लुक अलंकृत बाहरी। गुरदास भाखिन की बाँहें

को कस समुक्त हाँही ।—(ख) प्रेम प्रशंसा विनय
विंग जुत सुनि विधि की बर घानी । तुलसी सुदित महेस
मगहि मन जगत मातु सुसुकारी ।—तुलसी । (२)
आचन-एणं वाक्य । ताना ।

क्रि० प्र०—छेड़ना ।—गोलना ।

विजन—[सं०] पुं० [सं० व्यंजन] भोजन पदार्थ । खाने की
सामग्री । उ०—मायायव तेहि कीन्हि रसेई । बिजन बहु
गनि सकइ न कोई ।—तुलसी ।

विंद—[सं०] पुं० [सं० बिंदु] (१) पानी की बूँद । (२) दोहों
मेंसे के मध्य का स्थान । अमर्य । (३) वीर्य बुँद । उ०—
जो कामी नर रूपय कहि करे घायनी रिंद । तदपि अकार्य
न जीयेये विद्या बिंदु बिंद ।—रघुनाथदास । (४) बिंदी ।
माये का गोल तिलक । उ०—(क) मृगमद बिंदु अविंद
सास खासिंद हिंद सुख ।—गोपाल । (ख) किर्णों सु
अघवक धाम मैं मानहु मिलो अमंद । किर्णों तनक है तन
दुरी की डोरी को विंद ।—पद्माकर ।

विदा—[सं०] स्त्री० [सं० वृत्ता] एक गोपी का नाम । उ०—हँवा
विदा राधिका श्यामा कामा भारि ।—सूर ।

विदा पुं० [सं० बिंदु] (१) माये पर का गोल और
बड़ा टीका । बँदा । बँदा । बड़ी बिंदी । उ०—मृगमद
विदा सा मैं राजे । निरखत साहि काम सत छाजे ।—
सूर । (२) हल आकार का कोई चिह्न ।

विंदी—[सं०] स्त्री० [सं० बिंदु] (१) सुजा । युव । सिकर ।
बिंदु । (२) माये पर लगाने का गोल छोटा टीका ।
बिंदुली । (३) हल आकार का कोई चिह्न ।

विंदुका—[सं०] पुं० [सं० बिंदु] (१) विंदी । गोल टीका ।
उ०—लट लटकनि मोहन मिस बिंदुका तिलक माल
सुखकारी ।—सूर । (२) हल आकार का कोई चिह्न ।

विंदुली—[सं०] स्त्री० [सं० बिंदु] (१) माये पर का गोल
टीका । बिंदी । बिंदुली । टिकुली । (२) हल आकार
का कोई चिह्न ।

विंदुली—[सं०] स्त्री० [सं० बिंदु] बिंदी । टिकुली । उ०—यदुन
विंदुली माल श्री भुम भाव बनाए ।—सूर ।

विद्रायन—[सं०] पुं० दे० "विद्रायन" ।

विघा—[सं०] पुं० दे० "विघ्याचल" ।

विघना—[सं०] पुं० [सं० वेपन] (१) घोरना का अकर्मक रूप ।
धोषा जाना । छेड़ा जाना । (२) फँसना । खलना ।

विधिया—[सं०] पुं० [सं० विधेय + क्त (प्रत्यय)] वह जो मोती
धोषने का काम करता हो । मोती में छेद करनेवाला ।

विघ—[सं०] पुं० [सं० विघ] (१) प्रतिविध । धाया । अकर्म ।
(२) कर्म उघ । (३) प्रतिविध । (४) कुंदरु नामक
फल । (५) स्य या चंद्रमा का मंडल । (६) कोई

मंडल । (७) गिरगिट । (८) सूर्य । (वि०) । (९)
फलक । आभास । उ०—बिरह बिंघ अकुलाय उर त्यों
पुनि कसु न सुहाय । वित न लगत कहूँ कैसहँ सो उद्वेग
बनाय ।—पद्माकर । (१०) छंद विरोध । उ०—फल
अधर बिंघ जासे । कहि अचरनाय तासे । लहत घृति
कौन मूंगा । बर्यि जग होत मूंगा ।—गुमान ।

चंदा पुं० दे० "बाँधी" । उ०—साकट का मुख बिंघ है
विकसत घचन जुजंग । ताकी औपधि मौन है विप नहि
व्यापै थंग ।—कबीर ।

विचक—[सं०] पुं० [सं०] (१) चंद्रमा या सूर्य का मंडल ।
(२) कुंदरु । (३) साँचा । (४) बहुत प्राचीन काल का
एक प्रकार का बाना जिस पर चमड़ा मढ़ा होता था ।

विचट—[सं०] पुं० [सं०] सरसों ।

विचफल—[सं०] पुं० [सं०] कुंदरु ।

विचसार—[सं०] पुं० दे० "विचिसार" ।

विचा—[सं०] पुं० [सं०] (१) कुंदरु । (२) बिंघ । प्रतिघ्राया ।
(३) चंद्रमा या सूर्य का मंडल ।

विचिसार—[सं०] पुं० [सं०] एक प्राचीन राजा का नाम जो अजा-
तशत्रु के पिता और भीमन बुद्ध के समकालीन थे । कहते
हैं कि ये पहले शाक थे, पर पीछे बुद्ध के उपदेश से बौद्ध
हो गए थे ।

विच—वि० [सं० वि० मि० शु० व०] दो । एक और एक ।

विचहुता—[वि०] [सं० विवाहित] (१) जिसके साथ विवाह
संबंध हुआ हो । (२) विवाह-संबंधी । विवाह का । जैसे,
विचहुता जोड़ा ।

विच्राज—[सं०] पुं० दे० "व्याज" ।

विच्राधि—[सं०] स्त्री० दे० "व्याधि" । उ०—परि हरि सोच रहहु
तुम्ह सोई । बिनु औपध विच्राध विधि सोई ।—तुलसी ।

विच्राधु—[सं०] पुं० दे० "व्याध" । उ०—जोवन पंखी विरह
विच्राधू । फेद अथव कुंरगिनि खाधू ।—जायसी ।

विच्राणा—[सं०] पुं० [सं० व्याह] बरपा देना । जनना । (विरो-
धतः पशुओं आदि के संबंध में ।)

विच्रापी—वि० दे० "व्यापी" ।

विच्रास—[सं०] पुं० [सं० व्यास] वैरागिक कथाएँ आदि सुनाने-
वाला । व्यास । कथक ।

विच्राहना—[सं०] पुं० दे० "व्याहना" ।

विच्राग—[सं०] पुं० दे० "वियोग" ।

विच्रागी—[वि०] दे० "वियोगी" ।

विचट—वि० दे० "विचट" ।

विचन—[सं०] पुं० [सं० विचन] किसी पदार्थ का द्रव्य छेद
दिया जाना । मूल्य छेद दिया जाना । बेचा जाना ।
बिन्दी होना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मुहा०—किसी के हाथ बिकना = किसी के अनुक्त, सेवक या दास होना । किसी के गुलाम बनना । जैसे, हम उनके हाथ कुछ दिने लगे हैं ही नहीं, जो उनका हुक्म मानें ।

विशेष—कभी कभी इस अर्थ में, और विशेषतः मोहित होने के अर्थ में केवल "बिकना" शब्द का भी प्रयोग होता है ।
 व०—ठानहैं ऐसी नहीं करिके कर सोप चिते जेहि कान्ह बिकालु है ।—सोप ।

विकरमा—संज्ञा पुं० दे० "विक्रमादित्य" । व०—भोज भोग जस माना विकरम साका कीन्ह । परिल सो रतन पारखी सबह लखन खिलि दीन्ह ।—जायसी ।

विकरार—वि० [फा० बेकार] व्याकुल । विकल । येचैन ।
 व०—कैवल डार गहि भइ बिकारार । कासु पुकारैं आपन हारा ।—जायसी ।

वि० [सं० विकार] कठिन । भयानक । डरावन । भयंकर ।
 व०—पुष्कर पुष्कर मनन पल्यो दृक्सुत विकारो ।—गोपाल ।
 विकराल—वि० दे० "विकराल" । व०—माखी मेघ माल बनपाळ बिकराल भट नीके सव काल सीधैं सुधासार नीर के ।—दलसी ।

विकल—वि० [सं० विकल] (१) व्याकुल । घबराया हुआ ।
 (२) येचैन ।

विकलाही—संज्ञा स्त्री० [सं० विकल + भाई (प्रत्य०)] व्याकुलता । येचैनी । व०—ऐसी कलाहैं लखे विकलाहैं भई कल आई नहीं दिन राती ।—अयोप्यासिंह ।

विकलाना—क्रि० प्र० [सं० विकल] व्याकुल होना । घबराना । येचैन होना । व०—हरिमुख राधा राधा बानी । भरनी परे अचेत नहीं सुधि सखी देखि बिकलानी ।—सूर ।

क्रि० प्र० व्याकुल करना । येचैन करना ।

विकधाना—क्रि० प्र० [हिं० विक्रान्त का प्र०] येचने का काम दूसरे से कराना । दूसरे को येचने में प्रवृत्त करना । किसी से विक्री कराना ।

विकसना—क्रि० [सं० विकसन] (१) खिलना । फूलना । प्रस्फुटित होना । (२) प्रकुलित होना । बहुत प्रसन्न होना ।

विकसाना—क्रि० प्र० दे० "विकसन" । व०—बाहन बीच कमल बिकसाही जल में अगिनि बरे ।—सूर ।

क्रि० प्र० (१) विकसित करना । खिलाना । (२) प्रकुलित करना । प्रसन्न करना ।

बिकाऊ—वि० [हिं० बिकना + भाऊ (प्रत्य०)] जो बिकने के लिए हो । जो बेचा जानेवाला हो । बिकनेवाला । जैसे, कोई भलमारी बिकाऊ हो तो हम से कहना ।

विकाना—क्रि० प्र० दे० "बिकना" ।

विकार—संज्ञा पुं० [सं० विकार] (१) बिगड़ना दुर्भा रूप ।

विकृति । विक्रिया । व०—बारिद बचन सुनि पुनिके सचिवनि कहे दससीस हंस बांमता बिकार है ।—मुल्की ।
 (२) रोग । पीड़ा । दुःख । (३) दोष । एवं । लाल । बुराई । अचगुण । व०—जड़ चेतन गुन दोषनपसितन करतार । सत हंस गुन गहहि पय परिहरि कारि बिना मुलसी । (४) बुरा फल । पापकर्म । व०—मने खणु कार्यण्य पण्य चौधरी है जग के बिकार जेठे सरे सार है ।—धुराज । (५) कुवासाना । व०—जन सत कांठ अघगजन अंजन विषय बिकारिह ।—मुल्की । विशेष दे० "विकार" ।

विकारी—वि० [सं० विकार] (१) विकृत रूपवाला । कितना रूप बिगड़ कर और का और हो गया हो । (२) शरित्त । बुरा । हानिकारक । व०—अग्रम , दोष जिनके हुंमारे पानर रीध बिकारी ।—मुल्की ।

संज्ञा स्त्री० [सं० विकृत या विक] एक प्रकार की रोगी जो अर्थों आदि के अगोरे संख्या या मान आदि खूब करने के लिये लगाई जाती है । खिलने में खूब रस मन-सेर आदि का चिह्न जिसका रूप सदा होता है । व०—यैक बिकारी देत ज्यों दाम रूपैया होत ।—शारदा ।

विकुंठा—संज्ञा पुं० दे० "बैकुंठ" ।

विक्रमाजीत—संज्ञा पुं० दे० "विक्रमादित्य" ।

विक्रमी—संज्ञा पुं० दे० "वैक्रमीय" ।

विक्री—संज्ञा स्त्री० [सं० विक्रय] (१) किसी पदार्थ के बेचने की क्रिया या भाव । विक्रय । जैसे, आज सपेरे से गिरा ही नहीं हुई । (२) वह धन जो बेचने से प्राप्त हो । बेचने से मिलनेवाला धन । जैसे, यही १०० आज की बिक्री है ।

विक्रि—वि० [हिं० विक्री] बेचने लायक । जो बेचा जाता हो । विक्री का । बिकार । (लश०)

विशेष—जहाजों आदि पर लहर के लोग इस विशेषण का प्रयोग ऐसे बने हुए बरतों के लिये करते हैं जो नव-यौन विभाग से बनें लागत के काम पर मिलते हैं ।

विल—संज्ञा पुं० [सं० विल] बहर । विष ।

विलम्ब—वि० [सं० विल] विष । जहर । तारल । (हिं०) वि० दे० "विलम्ब" ।

विलहरना—क्रि० प्र० [सं० विलीय] खंडों या कणों आदि का इधर उधर गिरना या फैल जाना । विलहरना । तित वितर हो जाना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

विलखना—क्रि० प्र० [हिं० विलखना का प्र०] खंडों या कणों को इधर उधर फैलाना । विलखना । धुँटना ।

विल्लाद—संज्ञा पुं० दे० "विलाद" ।

विल्लेखना—क्रि० प्र० [हिं० विल्लेखना का प्र०] खंडों या कणों

को धुंध उधर फैलाना । तितर बितर करना । छितराना ।
छिटकाना । धौटना ।

संयो० क्रि०—हालना ।—देना ।

बिखाड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० बिख=विप] सारे भारत में पाई जाने-
वाली ज्वार की जाति की एक प्रकार की बड़ी घास जो
बातों महीने हरी रहती है । यह जब अच्छी तरह बढ़ जाती
है, सब चारे के लिये बहुत उपयोगी होती है; पर आरंभिक
अवस्था में इसका प्रभाव खानेवाले पशुओं पर बहुत बुरा
और प्रायः विप के समान होता है । इसमें से एक प्रकार
के दाने भी निकलते हैं जिन्हें गरीब लोग यों ही, पीस
कर अथवा बाजरे आदि के आटे के साथ मिलाकर खाते
हैं । इसकी कहीं खेती नहीं होती, यह खेतों की मेड़ों
पर अथवा जलाशयों के पास पास आपसे आप होती है ।
काठामुच्छ ।

बिगाड़ना—संज्ञा पुं० दे० “बीग” ।

बिगाड़ना—क्रि० अ० [सं० बिख] (१) किसी पदार्थ के गुण
या रूप आदि में ऐसा विकार होना जिससे उसकी उपयो-
गिता घट जाय या नष्ट हो जाय । असली रूप या गुण का
नष्ट हो जाना । खराब हो जाना । जैसे, मशीन बिगाड़ना,
अपार बिगाड़ना, दूध बिगाड़ना, काम बिगाड़ना । उ०—
बिगारत मन सन्यास खेत जल नाथत आम धरो सो ।—
गुलसी । (२) किसी पदार्थ के बनते या गढ़े जाते समय
वसमें कोई ऐसा विकार होना जिससे वह ठीक या पूरा न
बतरे । जैसे, (क) यह तस्वीर बच सके तो ठीक बन रही थी,
पर अब बिगड़ चली है । (ख) देखते हैं कि तुम्हारे ही
कारण यह बनती हुई बात बिगड़ रही है । (३) दुरवस्था
को प्राप्त होना । खराब दशा में जाना । अच्छा न रह
जाना । जैसे, (क) किसी समाने में इनकी हालत बहुत
अच्छी थी; पर आजकल ये बिगड़ गए हैं । (ख) बिगड़े
घर की बात जाने दो । (४) नीति-पथ से अग्र होना ।
बढ़-चलन होना । बाल चलन का खराब होना । जैसे,
आजकल इनका लड़का बिगड़ रहा है, पर ये कुछ ध्यान
ही नहीं देते । (५) क्रुद्ध होना । गुस्से में आकर डाँट डपट
करना । अग्रसन्नता प्रकट करना । जैसे, वे अपने नीकियों
पर बहुत बिगड़ते हैं । (६) विरोधी होना । विमोद करना ।
जैसे, सारी प्रजा बिगड़ खड़ी हुई । (७) पशुओं आदि
का अपने स्वामी या रक्षक की आज्ञा या अधिकार से
बाहर हो जाना । जैसे, घोड़ा बिगड़ना । हाथी बिगड़ना ।
(८) परस्पर विरोध या वैमनस्य होना । लड़ाई-झगड़ा होना ।
लटकना । जैसे, आमकल बन दोनों में बिगड़ी है । (९) व्यर्थ
व्यय होना । बेसाधना रचण होना । जैसे, आज बड़े बेसाध-
२) बिगड़ गए ।

संयो० क्रि०—जाना ।

बिगाड़ेदिल—संज्ञा पुं० [हिं० बिगड़ना + का० दिल] (१) वह जो
बात बान में बिगड़ खड़ा हो । हर बात में लड़ने झगड़ने
वाला । (२) वह जो बिगड़ा हुआ हो । कुमार्ग पर
चलनेवाला ।

बिगाड़ैल—वि० [हिं० बिगड़ना + ऐल (अल) या बिगड़ेदिल] (१) जो बात
बात में बिगड़ने लगता हो । हर बात में कोध करनेवाला ।
जो स्वभाव से क्रोधी हो । (२) हठी । जिद्दी । (३) जो
बिगड़ा हुआ हो । कुमार्ग पर चलनेवाला । बुरे रास्ते पर
चलनेवाला । खराब चाल-चलनवाला ।

बिगार—क्रि० वि० [अ० बीर] बिना । रहित । धरौ । उ०—
तुमहिं सुमिरि सब काम, सिद्धि हो न सुकधीन के ।
रचत कछु रघुनाथ, विचन बिगार पूरण करहु ।—रघु-
नाथ ।

बिगरत—क्रि० अ० दे० “बिगड़ना” । उ०—बिगरत मन
सन्यास खेत जल नाथत आम धरो सो ।—गुलसी ।

बिगराहल, बिगरायल—वि० (१) दे० “बिगड़ैल (२)” । उ०—
हों तो बिगरायल और को बिगरो न बिगरिये ।—गुलसी ।
(२) दे० “बिगड़ैल (३)” । उ०—कुटिल कुरूपिनी बदास
एते पर बैठी येत्या बिगराहल बिलासिन के पास है ।—
दूल्हा ।

बिगसना—क्रि० अ० दे० “बिकसना” ।

बिगसना—क्रि० अ० दे० “बिकसना” ।

क्रि० अ० दे० “बिकसना” । उ०—सियसुल सरद
कमल जिमि किमि कहि जाय । निसि मलीन यह निसि-
दिन यह बिगसाय ।—गुलसी ।

बिगहा—संज्ञा पुं० दे० “बीघा” ।

बिगही—संज्ञा स्त्री० [दे०] ब्याही । बरही ।

बिगाड़—संज्ञा पुं० [हिं० बिगड़ना] (१) बिगड़ने की क्रिया या
भाव । (२) खराबी । बुराई । दोष । (३) वैमनस्य ।
द्वेष । झगड़ा । लड़ाई ।

बिगाड़ना—क्रि० अ० [सं० विकार] (१) किसी वस्तु के स्वाभाव-
विक गुण या रूप को नष्ट कर देना । किसी पदार्थ में ऐसा
विकार उत्पन्न करना जिससे उसकी उपयोगिता नष्ट
हो जाय । जैसे, कल बिगाड़ना, रसाई बिगाड़ना ।
(२) किसी पदार्थ को बनाने समय, या कोई काम
करते समय उसमें कोई ऐसा विकार उत्पन्न कर देना
जिससे वह ठीक या पूरा न बतरे । जैसे, इतना सब कुछ
करके भी थंत में तुमने जरा से के छिये बात बिगाड़ दी ।
(३) दुरवस्था को प्राप्त कराना । बुरी दशा में लाना ।
जैसे, दुर्व्यसन ही युवकों को बिगाड़ते हैं । (४) नीति-
पथ से अग्र करना । कुमार्ग में लगाना । जैसे, सदाजनों

ने रूप दे देकर उनके लड़के को विगाड़ दिया । (१) की का सतीत्य मष्ट करना । पातिप्रत्य. अंग करना । (२) स्वभाव पराध करना । सुरी आदत्त लगाना । (३) वह-काना । (४) व्यर्थ व्यय करना । जैसे, तुम तो यों ही अनावश्यक कामों में रूप विगाड़ा करते हो ।

विद्याना-वि० [फा० वेगना] (१) जो अपना न हो । जिससे आवस्यकारी का कोई संबंध न हो । पराया । गैर । (२) अजनबी । अजनान ।

विद्याना-संज्ञा पुं० दे० " विगाड़ " ।

संज्ञा स्त्री० दे० " वेगार " ।

विद्याना-संज्ञा स्त्री० दे० " वेगार " । व०—नाहिं ली मय विगारि भई परिहै छूटत अति कठिनाई हो ।—तुलसी ।

विद्याना-संज्ञा स्त्री० दे० " वेगारी " ।

संज्ञा पुं० दे० " वेगारी " ।

विद्याना-संज्ञा पुं० दे० " विकास " ।

विद्याना-संज्ञा पुं० दे० " विगाहा " ।

विद्याना-वि० दे० " वगैर " ।

विद्याना-वि० [सं० विगुण] जिसमें कोई गुण न हो । गुणरहित ।

विद्याना-संज्ञा स्त्री० [सं० विवेचन] दे० " विगुण " । व०—कविरा परमा साह की नू जिन करे सुवार । खरी विगुरचिन होयगी लेखा देती वार ।—कबीर ।

विद्याना-संज्ञा पुं० [दे०] प्राचीन काल का एक प्रकार का हथियार । व०—कपटो जय ली कपट भदि साध विगुरदा धार । तप ली कैसे मिलेगी प्रभु साधा रिक्तवार ।—रसनिधि ।

विद्याना-संज्ञा स्त्री० दे० " विगुण " ।

विद्याना-संज्ञा पुं० [सं०] जंगली गंग की एक प्रकार की लुहरी जो प्रायः सैतकों की एकत्र करने अथवा इसी प्रकार का कोई भीर कान करने के लिए सकेत-रूप में बजाई जाती है ।

विद्याना-संज्ञा पुं० [सं०] फौज में विगुल बजानेवाला ।

विद्याना-संज्ञा स्त्री० [सं० विगुण अथवा विवेचन] (१) वह अथ-स्या जिसमें मनुष्य किं-कृत अथ-विमृष्ट हो जाता है । अस-संगत । अदृष्ट । (२) कठिना । दिक्कत । व०—मरदास धंध होत विगुण, अथि ली सारंगना ।—सूर ।

विद्याना-वि० अ० [सं० विगुण] (१) संकोच में पड़ना । दिक्कत में पड़ना । अदृष्ट या असमंजस में पड़ना । व०—(क) संगति तोह विगुण जो है साकट साथ । कंचन कटोरा मोड़ि के सनहक कीही हाथ ।—कबीर । (ख) ताकर हाल होक अथ-ध्या । छह दरान में जैन विगुण ।—कबीर । (२) दवाया जाना । पकड़ा जाना । व०—रामही के

कोप मनुकैम समारे करि ताही ते विगुले बडाम से न मेल है ।—द्वयपाम ।

वि० सं० [सं० विगुण] दशोचना । धर दधाना । जो जेना । व०—लै परनाटो सिंग सरजा करनाटक । ठौ सन देस विगुले ।—भूपन ।

विद्याना-वि० अ० दे० " विगुण " ।

विद्याना-वि० सं० [सं० विगुण] (१) मष्ट करना । विनाश करना । विगाड़ना । व०—(क) सूर सनेह करै जो तुन सों सो पुनि थाप विगोऊ ।—सूर । (ख) मित्र एहि करि न मानस धोए । ते कायर कसिकाल विगोए ।—तुलसी । (ग) पचये सपान न जानि कोई । छुटै मई सब गैह विगोई ।—कबीर । (घ) तुम जम पाप तबहीं चड़ाप स्वाए राम भ्याव नेक कीजे बीर यो विगोइयत है ।—द्वयपाम । (२) विद्याना । दुरावा । व०—द्वैध बचन को स्मरण होवे । है साक्षात नू ताहि विगोये ।—विश्वदास । (३) ना करना । दिक् करना । (४) भ्रम में डालना । बहकाना । व०—(क) प्रथम मोह मोहि बहुत विगोवा । राम बिगुन सुख कष्ट न लेवा ।—तुलसी । (ख) ताहि विगोव सिवा सरजा अति भूपन चीनि छंवा यो पवारयो ।—भूपन । (४) व्यतीत करना । घिताना । व०—बहु तापसा सहित तब के तर तुमरे विरह निज जलन विगोवति ।—तुलसी ।

विद्याना-संज्ञा पुं० [सं० विगाहा] भाव्या धंद का एक भेद जिसे 'वद्वीति' भी कहते हैं । इसके पहले पाँच में १२, दूसरे में १२, तीसरे में १२ और चौथे में १२ मात्राएँ होती हैं । व०—राम अग्रहु मन लाई, तन मन धन के सहित नीता । रामहिं निसि दिन च्याओ, राम भजे ताहि जान जग नीता ।

विद्याना-संज्ञा पुं० [सं० विमर्श] (१) खरीर । देह । व०—मगत देह नर विमर्श सुर पर गुन गोसीत ।—तुलसी । (२) माया । लड़ाई । कलह । विरोध । व०—बचन विमर्श भास न बांसा । सुख मय ताहि सदा संघ धासा ।—तुलसी । (३) विभाग । (४) दे० " विमर्श " ।

विद्याना-वि० सं० [सं० विपत्ति] विनाश करना । विगाड़ना । तोड़ना फोड़ना । व०—(क) रनतीचर मष्ट मण्ड परा विपटै मुगराज के सान लरै ।—तुलसी । (ख) सुघट मीन रस सीध फंड मुकुता विपटत तन ।—द्वयपाम ।

विद्याना-संज्ञा पुं० दे० " विमर्श " । व०—गद्यपति विपन विनाशन हारे ।

विद्याना-वि० [सं० विमर्श] भाषा को दूरानेवाला । भाषा दूर करनेवाला ।

संज्ञा पुं० गणेश । गजानन । ४०—विघनहृत्त मंगलकरन
सदा रहतु धनुर्द्वय ।

विचः—कि० वि० दे० 'वीच' ।

विचकाना—कि० अ० [चकु] (१) किसी को विद्वाने के लिये
(मुँह) टेढ़ा करना । विराना । (मुँह) चिढ़ाना । (२)
(मुँह) को, (स्वाद दिगड़ने के कारण) टेढ़ा करना । (मुँह)
बनाना ।

विचच्छन्—कि० वि० दे० 'विचक्षण' ।

विचरना—कि० अ० [सं० विचरण] (१) हजर जहर घूमना ।
चलना फिरना । (२) पर्यटन करना । यात्रा करना ।
सफर करना ।

विचलना—कि० अ० [सं० विचलन] (१) विचलित होना । हजर
हजर हटना । (२) हिममत हारना । (३) कहकर इनकार
कर जाना । मुकरना ।

विचला—वि० [हिं० वीच + ला (अय०)] [श्री० विचली] जो वीच में
हो । वीचवाला । वीच का । जैसे, विचला लड़का,
विचली किताब ।

विचलाना—कि० अ० [सं० विचलन] (१) चलायमान करना ।
विचलित करना । डिगाना । (२) हिला देना । (३)
लितर लितर करना ।

विचयान, विचयानी—संज्ञा पुं० [हिं० वीच + यान] वीच में पड़ने
वाला । वीच-यथाय करनेवाला । मध्यस्थ । ४०—विनय करे
पंडित विचयान । काहे नहि जेहि जजमाना ।—जायसी ।

विचारना—कि० अ० [सं० विचार + ना (अय०)] (१) विचार
करना । सोचना । गौर करना । (२) पूछना । प्रश्न करना ।
(इस अर्थ में इसका प्रयोग प्रायः "प्रश्न" शब्द के साथ
होता है ।)

विचार—वि० दे० 'वेचारा' ।

विचारी—संज्ञा पुं० [सं० विचारिन्] विचार करनेवाला । ४०—
भारग छानि कुमारग सौ रत मुचि विपरीति विचारी
हो ।—भार ।

विचाली—संज्ञा पुं० [सं० विचाल] (१) चलाना करना । (२)
धरत । फट् ।

विचेत—वि० [सं० विचेत्] (१) मूर्च्छित । बेहोश । अचेत ।
(२) बदब्यास ।

विच्छित्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] शृंगारस के ११ हाथों में से एक
जिसमें किंचित् शृंगार से ही पुरुष को मोहित कर लिया
जाना वर्णन किया जाता है । ४०—बैदी आल समाल
मुस सीस सिद्धिले भार । द्य जाँजे राजै सखी साने सहज
सि गार ।—बिहारी ।

विच्छी—संज्ञा स्त्री० दे० 'विच्छू' ।

विच्छू—संज्ञा पुं० [सं० वृश्चिक] (१) एक प्रसिद्ध छोटा जहरीला

जानवर जो प्रायः गरम देशों में खँधरे स्थानों में, जैसे
लकड़ियों या पत्थरों के नीचे, बिलों में, रहता है । इसके
आठ पैर और आगे की ओर दो बागों में, चिमटी की तरह
जिमक होता है । इन्हीं सूँठों से यह अपने शिकारों को
पकड़ता है । इसका पेट लंबा और भाव-कुमा होता है
जिसके बाद एक और दूसरा थंग होता है जो दुम की
तरह बराबर पतला होता जाता है । यह थंग मुड़कर
जानवर की पीठ पर भी आ जाता है । इसके अंतिम भाग
में एक जहरीला डंक होता है जिससे यह अपने शिकार
को मार डालता है । अपने हानि पहुँचानेवालों को भी
यह इसी डंक से मारता है जिसके कारण सारे शरीर में असह्य
वेदना और जलन होती है जो कई कई दिन तक थोड़ी
बहुत बनी रहती है । कहीं कहीं ८-१० इंच तक के विच्छू
भी पाए जाते हैं जिनके डंक मारने से आदमी मर भी जाते
हैं । इसके संबंध में लोगों में अनेक प्रकार की किंवदंतियों
प्रसिद्ध हैं । कुछ लोग कहते हैं कि यदि विच्छू चारों ओर
से आगे के बीच में फँस जाय तो वह जलना नहीं पसंद
करेगा; बल्कि जलने से पहले अपने डंक से ही अपने प्राणको
मार डालेगा । कुछ लोग कहते हैं कि इसके शरीर में से
किसी प्रकार काकावा हुआ चर्म इसके डंक के विष को
अच्छा कर सकता है; और इसी लिये लोग जीते विच्छू को
पकड़ कर तेल आदि में डाल कर छेड़ देते हैं और विच्छू
के मर जाने पर उस तेल में डंक के विष को दूर करने का
गुण मानने लगते हैं । पर इन सब किंवदंतियों में कोई
सार नहीं है । (२) एक प्रकार की घास जिसके शरीर में छू
जाने से विच्छू के काटने की सी जलन होती है । (३)
काकटु की का पौधा या बसका फल । (क०)

विच्छू—संज्ञा पुं० दे० 'विचेर' ।

विद्युना—कि० अ० [सं० विद्युत्] (१) विद्युता का प्रथम रूप ।
(विस्तर आदि का) विद्युता जाना । फैलाया जाना । (२)
किसी पदार्थ का जमीन पर बिछेरा जाना । बितराया जाना ।
(३) (भार पीट कर) जमीन पर बिछाया या गिराया जाना ।
संयोग कि०—जाना ।

विद्युलना—कि० अ० दे० 'फिसलना' ।

विद्युलाना—कि० अ० दे० 'फिसलना' ।

विद्युवाना—कि० अ० [हिं० विद्वान् का प्रे०] विद्वाने का काम
दूसरे से जानना । दूसरे को विद्वाने में प्रवृत्त करना ।

विद्युना—संज्ञा पुं० दे० 'विद्युना' ।

विद्युना—कि० अ० [सं० विद्युत्] (१) (विस्तर या बरफ आदि
को) जमीन पर बतनी दूर तक फैलाना जितनी दूर तक फैल
सके । जैसे, विद्युना विद्युना, दूरी विद्युना । (२) किसी

चीज को जमीन पर कुछ दूर तक फैला देना । थिखेना ।
विपाराना । जैसे, चूना विपाराना, बतारो विपाराना । (३)
(मार मार कर) जमीन पर गिरा या खेता देना ।

संयो० कि०—डाटना ।—देना ।

विद्यावना—संज्ञा पुं० दे० “विद्योना” ।

विद्यावना—कि० सं० दे० “विद्याना” ।

विद्युत्ता—संज्ञा स्त्री० [हि० विद्युत् + ता (प्रत्य०)] वै की वैगलियो
में पहनने का एक प्रकार का लुगड़ा ।

विद्युत्ता—वि० दे० “विद्युत्” ।

विद्युत्ता—संज्ञा पुं० [हि० विद्युत् + ता (प्रत्य०)] (१) पैर में पहनने का एक
गहना । (२) एक प्रकार की छोटी टेढ़ी लुगी । एक
छोटा सा शस्त्र । (३) मन की पत्नी । (४) अग्निया
या भावर नाम का पोषा । विशेष— दे० “अग्निया” ।

विद्युत्ता—संज्ञा स्त्री० [हि० विद्युत्ता] (१) विद्युत्ने या अलग
होने का भाव । (२) वियोग । विरह । जुदाई ।

विद्युत्ता—कि० अ० [सं० विच्छेद] (१) साथ रहनेवाले दो
व्यक्तियों का एक दूसरे से अलग होना । जुदा होना ।
अलग होना । (२) प्रेमियों का एक दूसरे से अलग
होना । वियोग होना ।

संयो० कि०—जाना ।

विद्युत्ता—संज्ञा पुं० [हि० विद्युत्ता + ता (प्रत्य०)] (१)
विद्युत्नेवाला । (२) जो विद्युत् गया हो ।

विद्युत्ता—कि० अ० दे० “विद्युत्ता” ।

विद्युत्ता—संज्ञा स्त्री० दे० “विद्युत्ता” ।

विद्युत्ता—संज्ञा पुं० दे० “विद्युत्ता” ।

विद्युत्ता—संज्ञा पुं० [हि० विद्युत्ता] विद्युत्ता हुआ । जो विद्युत्
राधा हो । इ०—मिसे रहल चाहिय आ बुना । कित रोहय
जब मित्रा विद्युत्ता ।—गायत्री ।

विद्युत्ता—संज्ञा पुं० [हि० विद्युत्ता + ता (प्रत्य०)] (१) वह जो
विद्युत्ता हुआ हो । मित्रा वियोग हुआ हो । (२) जो विरह
का दुःख सह रहा हो । विरही ।

विद्युत्ता—संज्ञा पुं० [हि० विद्युत्ता] (१) विद्युत्ने की किया या
भाव । अलग होना । (२) विरह होना । प्रेमियों का
वियोग होना ।

विद्युत्ता—संज्ञा पुं० [सं० विच्छेद] वियोग । जुदाई । उ०—
एक दिन ऐसा होयाग सबसे करे विद्युत्ता । राधा राना
राह रैक साथ बयों महि होय ।—कबीर ।

विद्युत्ता—संज्ञा पुं० [हि० विद्युत्ता] विद्युत्ता । जुदाई । विरह ।
वियोग ।

विद्युत्ता—संज्ञा पुं० [हि० विद्युत्ता] (१) वह कपड़ा जो सोने के
काम के लिये विद्याया जाता हो । दरी, गद्दा, चाँदनी आदि
जो सोने के लिये विद्याया जाते हैं । विद्यायन । विस्तर । (२)

वह फालतू सामान और काठ कपड़ा आदि जो श्रावों के
के पैरों में बहुमुख पदार्थों को सीढ़ी आदि से बचाने के
लिये उनके नीचे, भयवा उनकी टकरा आदि से बचाने और
उन्हें कसा रखने के लिये उनके बीच में विद्याया जाता है ।
(लङ्ग)

कि० प्र०—करना ।—डाटना ।—विद्याना ।

विजडरा—संज्ञा पुं० दे० “विजोता” ।

विजडरा—संज्ञा स्त्री० [हि०] लज्जार । लज्ज ।

विजडरा—संज्ञा पुं० [सं० मयज] हवा करने का छोटा पंखा जो
हाथ से हिलाया जाता है । मेना ।

विजनी—संज्ञा स्त्री० [सं० विजनी] हिमालय की एक लंगड़ी बाँटी ।
वह वस प्रदेश में बसती है जहाँ प्रत्युष नव हिमालय को
काट कर तिब्बत से भारत में जाता है ।

विजयधारा—संज्ञा पुं० दे० “विजयधारा” ।

विजयधारा—संज्ञा पुं० [सं० विजय + धारा] बड़ा धारा जो मंदिरों में
लटकाया रहता है ।

विजयधारा—संज्ञा पुं० [सं० विजयधारा] एक प्रकार का बहुत बड़ा
जंगली पेड़ जिसके पत्ते पीपल के पत्तों से कुछ छोटे होते
हैं । इसमें चाँदले के समान एक प्रकार के पीले फल भी
बनते हैं । इसके फूल कड़े, पर पाचक और वादी शक्ति
करनेवाले होते हैं । इसकी लकड़ी कुछ काठान्न विर
लाल रंग की और बहुत मजबूत होती है, और प्रायः बोट,
सबले आदि बनाने के काम में जाती है । इसमें अनेक
प्रकार की खादियाँ और रंग भी बनते हैं । पैरु में इसे
कुछ, विसर्प, प्रमेद, गुदा के रोग, कृमि, कफ, रक्त, और
पित्त का नाशक माना है । विजयधारा ।

विजली—संज्ञा स्त्री० [सं० विजली] (१) एक प्रसिद्ध शक्ति जिसके
कारण बस्तुओं में आक 'य और अपकर्मण होता है और
जिससे कभी कभी ताप और प्रकाश भी उत्पन्न होता है ।
विद्युत् ।

विशेष—यह शक्ति सब वस्तुओं में और सदा नहीं होती,
बल्कि कुछ विशिष्ट क्रियाओं की सहायता से उत्पन्न होती
है । यह शक्ति एक जो धर्म से और दूसरे सापेक्षिक
क्रियाओं से उत्पन्न होती है । मोरपंख को मोड़ दे
तक वैगलियो से, लाह के टुकड़ों को फटाखीन से अथवा
शीशे को रेतस से रगड़ने पर यह शक्ति उत्पन्न होती है ।
ऐसी विजली को अतःप्रकाश और अतःप्रकाश से दो भेद होते
हैं । जब दो वस्तुओं को एक साथ रगड़ते हैं, तो इनमें से
एक में से धन विद्युत् और दूसरी में से धन विद्युत् उत्पन्न
होती है । विजली कुछ विशिष्ट पदार्थों में चटती भी है
और आग्नेय वेग से (प्रति सेकंड २५००० मील अथवा
प्रकाश के वेग की अपेक्षा प्रायः सत्रों वेग से) चटती है ।

ऐसे पदार्थों को चालक कहते हैं। इतके एक सिरे पर यदि विजली पहुँच जाय तो वह तुरंत उनके दूसरे सिरे पर जा पहुँचती है। धातुएँ, जल, वृक्ष, शरीर, वस्त्र आदि पदार्थ चालक हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनमें विजली का संचालन नहीं होता और जिनको धरोपक कहते हैं। जैसे, चूना, हवा, रेशम, शीशा, मोम, ऊन, लाह आदि। धर्म्य से जो विजली उत्पन्न होती है, वह बहुत थोड़ी होती है और उसके उपयोग में परिश्रम भी अधिक होता है। इसलिये वैज्ञानिकों ने अनेक रासायनिक प्रयोगों और क्रियाओं की सहायता से विजली उत्पन्न करने के उपाय निकाले हैं। ऐसे उपायों से थोड़े व्यय और कम परिश्रम से बहुत अधिक विजली उत्पन्न की जाती है जो एकत्र या संग्रह करके भी रखी जाती है। ये सब अनेक आकार और प्रकार के होते हैं और इनसे बहुत अधिक मान में विजली उत्पन्न होती है। इस प्रकार उत्पन्न की हुई विजली से घ्राजकल अनेक प्रकार के कार्य लिए जाते हैं। जैसे, रोशनी करना, पंखा चलाना, अनेक प्रकार की गाड़ियाँ चलाना, एक धातु पर दूसरी धातु बढ़ाना, समाचार भेजना इत्यादि इत्यादि। घ्राजकल भारत के बड़े बड़े नगरों में ऐसी ही विजली की सहायता से टाउन गाड़ियाँ और अनेक प्रकार की मशीनें चलती हैं और रोशनी देती है। इससे अनेक प्रकार के लोगों की विविधताएँ भी होने लगी हैं। यदि यह विजली अधिक मान में हो और मनुष्य के शरीर से उसका स्पर्श हो जाय तो उससे तुरंत ही मृत्यु भी हो सकती है। विजली का आविष्कार पहले पहल वैक्स नामक एक व्यक्ति ने किया था जो ईसा से प्रायः १०० वर्ष पूर्व हुआ था। उसने पहले पहल इस बात का पता लगाया था कि रेशम के साथ कुछ विशिष्ट वस्तुओं को रगड़ने से उसमें पदार्थिक शक्ति प्राप्त होती है कि वह कागज के टुकड़ों अथवा इसी प्रकार के कुछ और वस्तुओं को धड़ती और खिंचने लगती है। बाद में वैज्ञानिकों में से प्रसिद्धिमान का मत था कि विजली एक बहुत ही सूक्ष्म और मुख्य-हीन द्रव्य पदार्थ है। पीछे से समर ने कल्पना की कि यह धन और धन्य दो मुख्यहीन द्रव्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होती है। परंतु अभी तक इसके संबंध में कुछ विशेष निर्णय नहीं हो सका है। तो भी यह बात प्रायः निश्चित ही है कि विजली कोई द्रव पदार्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त इसका द्रव्य होना भी निश्चित नहीं है क्योंकि हममें कोई मुख्य नहीं होता।

(१) आकाश में सहसा उत्पन्न होनेवाला वह प्रकार जो एक बादल से दूसरे बादल में आनेवाली अथवा किसी बादल से पृथ्वी की ओर आनेवाली वातावरण की विजली

के कारण उत्पन्न होता है। चपला।

विशेष—साधारणतः वातावरण में सदा कुछ न कुछ विजली रहती है जो प्रायः धनात्मक होती है और जो पृथ्वी से कुछ ऊँचाई पर पाई जाती है। वैज्ञानिकों का मत है कि सूर्य की किरणों के कारण पानी से जो भाप बनती है, उसके साथ इस विजली का विशेष संबंध है; क्योंकि प्रातःकाल वातावरण में यह विजली थोड़े परिमाण में रहती है और ज्यों ज्यों दिन बढ़ता है, व्यों व्यों बढ़ती जाती है। इसके अतिरिक्त बादलों में भी कहीं धनात्मक और कहीं ऋणात्मक विजली रहती है। जब धनात्मक और ऋणात्मक विजलीवाले दो बादल सामने सामने आते हैं, तब वह दोहरे इन दोनों की विजली में आकर्षण होता है और तब उसका विसर्जन होता है जिससे प्रकाश देखा पड़ता है। जिस समय कोई धनविद्युतवाला बादल पृथ्वी के सामने आता है, उस समय पृथ्वी के ऊपर की ओर ऋणविद्युत उत्पन्न होती है, और तब दोनों मिलकर विसर्जित होती हैं जिससे प्रकाश होता है। यही विजली आकाश से तिरछी रेखा के रूप में पृथ्वी की ओर बढ़े वेग से चलती है और उसके मार्ग में जो कुछ पड़ता है, उसे जला या नष्ट कर देती है। इसी को साधारण शोलचाल में विजली गिरना या विजली पड़ना आदि कहते हैं। इसके मार्ग में पड़नेवाले वृक्ष और घर गिर जाते हैं और मनुष्य या दूसरे जीव मर जाते हैं। यह प्रकाश प्रायः मीलों लंबा होता है और इसकी गति प्रायः एक होती है। गति की वृत्ता का कारण यह है कि वातावरण में इसे जिधर तब से कम अवरोध मिलता है, उधर ही यह बढ़ चलती है। बादलों के गरजने का कारण भी यही विजली है; क्योंकि जब बादलों में से इसका विसर्जन होता है, तब धातु में बहुत अधिक गर्माह्वी उत्पन्न हो जाती है। कभी कभी ऐसा भी होता है, कि यह प्रकाश एक लंबी चादर के रूप में दिखाई पड़ता है। पर यह प्रायः पितृज के पास और इसी समय दिखाई देता है जब कि वर्षा अथवा स्फाफन बहुत दूर पर हो। कभी कभी विजली के गोले भी आकाश से नीचे गिरते हुए दिखाई देते हैं जो पृथ्वी तक पहुँचने से पहले ही भीषण शब्द उत्पन्न करते हुए फट जाते हैं। पर ऐसे गोले बहुत ही कम गिरते हैं और केवल कुछ ही वर्षों तक दिखाई देते हैं।

कि० प्र०—चमकना।

मुहा०—विजली गिरना या पड़ना—दे० ऊपर “विशेष”।

विजली कड़कना—विजली के विसर्जन के कारण आकाश में बहुत जोर का शब्द देना।

(१) आम की गुठली के अंदर की गिरी। (४) गले

में पढ़ने का एक प्रकार का गढ़ना । (२) कान में पढ़ने का एक प्रकार का गढ़ना ।

वि० (१) बहुत अधिक चंचल या तेज । (२) बहुत अधिक चमकनेवाला । चमकीला ।

विजलीमार-संज्ञा पुं० [दि०] एक प्रकार का बड़ा वृष जो बहुत सुन्दर और छायादार होता है। इसके ढीर की लकड़ी बहुत कड़ी होती है और प्रायः सिरिस की लकड़ी की तरह काम में आती है। यह आसाम और दार्जिलिंग के पास पास की तराहों में अधिकता से होता है। आसामवाले इस वृष पर एक प्रकार की लाख भी उत्पन्न करते हैं।

विजहन्-वि० [हिं० बीज + हन्] जिसका बीज नष्ट हो गया हो । जिसकी रोपण शक्ति नष्ट हो गई हो । जैसे, विजहन् गेहूँ ।

विजाती-वि० [सं० विजातीय] (१) दूसरी जाति का । और जाति या तरह का । उ०—शुक्लजन वैन विजातियन परी कीन यह धान । प्रीतम मुख अवलोक तन होन शु भाई धान ।—रसनिधि । (२) जो जाति से बहिष्कृत कर दिया गया हो । जाति से निकाला हुआ । अजाती ।

विज्ञान-संज्ञा पुं० [का० वि० + ज्ञान] अज्ञान । अविज्ञान । उ०—जो यह पक्ष जानिया ती जानी सय जान । जो यह एक न जातिया ती सबही जानु विज्ञान ।—कवीर ।

विजयायु-संज्ञा पुं० [सं० विजय] वह पर पढ़ने का आज्ञावैद्य नामक गढ़ना । धंगद । भुज । बागू ।

विजारा-संज्ञा पुं० [दे०] (१) बैल । (२) साँड़ ।

विजुरी-संज्ञा स्त्री० दे० "विजुरी" ।

विजूका, विजूखाना-संज्ञा पुं० [दे०] (१) लोगों में पवित्रों आदि को उरावर दूर रखने के उद्देश्य से लकड़ी के ऊपर बल्टी रखी हुई काली दाँड़ी । (२) पोखा । कुल । (ब००)

विजैसार-संज्ञा स्त्री० दे० "विजयसार" ।

विजोग-संज्ञा पुं० "विजोग" ।

विजोरा-संज्ञा पुं० दे० "विजोरा" ।

वि० [सं० वि + का० जोर = उक्ता] कमजोर । अशक्त । निपेट ।

विजोहा-संज्ञा पुं० [?] केशव के अनुसार एक छंद का नाम । विरोध—दे० "विजोहा" ।

विजौरा-संज्ञा पुं० [सं० बीजपूर] नीबू की जाति का एक वृष जिसके पत्ते भीष के पत्तों के समान, पर उससे बहुत अधिक चड़े होते हैं । इसके फूलों का रंग सफेद होता है और फल बड़ी गारंगी के पदारूप होते हैं । यह दो प्रकार का होता है, एक पट्टे फलवाला और दूसरा मीठे फलवाला । फलों का दिखला बहुत मोटा होता है । वैद्यक में इसे राहा, नाम, कंठकोष, वीर्य, बलका, वीरक, रुचिकारक, स्वादिष्ट और विदोष, रुखा, पांसी, दिक्की आदि को दूर

करनेवाला माना है । इस वृष की जड़, इसके फल और फलों के बीज सीतों औषध के काम में आते हैं ।

पर्या०—बीजपूर । मातुलुंग । दन्क । फलपूर । दन्क । बीजपूर्ण । पूर्णबीज । सुदेश । बीजक । गुण । बीजफलक । जंगुल । पूरक । रोचनफल ।

विजौरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बीज + औरी (प्रत्य०)] बड़ की पीठ और पेड़ के मेड़ में बनी हुई चूरी । कुम्हड़ी ।

विजुल-संज्ञा स्त्री० दे० "विजली" ।

विजुलपात-संज्ञा पुं० [सं० विजुलपात] विजली का गिरना । वर्षापात ।

विजुल-संज्ञा पुं० [सं० विजुल] त्वचा । छिन्ना । संज्ञा स्त्री० [सं० विजुल] विजुली । दामिनि । कटु । कटु मृग निरञ्जन वन माहीं । चमकत समत मृग की नाई ।—पद्माकर ।

विजु-संज्ञा पुं० [दे०] विजली के प्रकार प्रकार का एक जंगली जानवर जो प्रायः दो हाथ लंबा होता है । यह प्रायः जंगलों में घिड़ खोद कर अपनी आद के साथ स्त्री में रहता है । दिन के समय यह जगदी बाहर नहीं निकलता, पर रात को बाहर निकलकर चूहों, गुरागिर्ष आदि का शिकार करता और, इनको खा जाता है । कभी कभी यह कर्मों को खोदकर इनमें से कुछ-धरीतों को निकाल कर भी खा जाता है । बीजू ।

विजुहा-संज्ञा पुं० [?] एक धार्मिक वृत्त जिसके अत्यंत चरण में दो 'रगण' होते हैं । उ०—पुण्य के पांडे हैं । दीग के पांडे हैं । स्त्री के देव हैं । वैन से भेद हैं । (इली हा नाम विमोहा और विजोहा भी है ।)

विमौपारी-संज्ञा स्त्री० [दे०] छुसीसगढ़ में बोली जानेवाली एक प्रकार की भाषा ।

विमरारी-संज्ञा पुं० [हिं० मेकरना = मिश्रण] एक में मिश्रा हुआ मटर, चना, गेहूँ और जौ ।

विमुक्ताना-संज्ञा पुं० च० [हिं० मुक्त] (१) भद्रकथा । उ०—थोले मुझे बम्के घनधोले फिर विमुक्त से हिये मंद दूके ।—केशव । (२) डरना । भयभीत होना । उ०—हैंसि उजो नरनायक चाहके । रिसमरी विमुक्त सरसाइके ।—गुमान । (३) टेढ़ा होना । तनना । उ०—जेह टाके से मैग देखिने को विमुक्त से विमुक्त सी भीड़ बम्के से उर जान हैं ।—केशव ।

विमुक्ताना-संज्ञा पुं० च० [हिं० विमुक्तता का सं० रूप] (१) भद्रकथा । उ०—माग बड़ो उर रबी तुमसे बर तो विमुक्ताइ कहो कहें कीमि ।—केशव । (२) डरना । उ०—दान द्या धुम बीज सदा विमुक्त धुम विमुक्त को विमुक्ताने ।—केशव ।

विट्-संज्ञा पुं० [सं० विट्] (१) साहित्य में नायक का वह सखा जो सय कलाओं में निपुण हो। उ०—वीरमर्द विट चेत पुनि पहुरि विदूषक होइ। मोचै मान तिथान को वीरमर्द है सोइ।—पद्माकार। (२) वैश्य। उ०—बस घसी ब्रह्म चत्री विट शूद्र जाति अनुसारा।—रघुराज। (३) पवित्रों की विद्या। शीत।

विटरना-क्रि० अ० [हिं० विटारना का थ० रूप] (१) घँघोला जाना। (२) रोना होना।

विटारना-क्रि० स० [सं० विरोधन] (१) घँघोला ना। (२) घँघोल कर रोना करना। उ०—इगुली नीर विटोरिया सायब चढ़ा कलंक। और पलेरु पीविया हंस न मोरै चंच।—कवीर।

विटिनिया, विटिया-संज्ञा स्त्री० दे० “वेटी”।

विट्टल-संज्ञा पुं० [सं० विष्णु, मद्य० विठोबा] (१) विष्णु का एक नाम। (२) यशई प्रांत में सोलापुर के श्रंतगत पंवरपुर नगर की एक प्रधान देवमूर्ति। यह मूर्ति देखने में सुद्ध की मूर्ति जान पड़ती है। जैन लोग इसे अपने तीर्थंकर की मूर्ति और हिंदू लोग विष्णु भगवान की मूर्ति बतलाते हैं। उ०—वाल् दशा विट्टल पानि जाके पय पीयो मुक्त गज जिघाह परचे मधुन को दियो।—नामा।

विठलाना-क्रि० स० दे० “विठाना”।

विठाना-क्रि० स० दे० “विठाना”।

विडंब-संज्ञा पुं० [सं० विडम्ब] आडंबर। दिखावा। उ०—कचहूँ मुड़ पड़ित विडंबरत कचहूँ धमैरत ज्ञानी।

विडंबयना-क्रि० अ० [सं० विडम्बन] (१) नकल। स्वरूप बनाना। (२) उपहास। हँसी। निंदा। बदनामी। उ०—ज्ञानी तापस खर कवि कोविद गुन भागार। केहिके लोभ विडंबना कीन्हि न एहि संसार।—तुलसी।

विड-संज्ञा पुं० [सं० विट] (१) विद्या। (वि०) विशेष—दे० “विट्”। (२) एक प्रकार का जमक। विशेष—दे० “विट्”।

विडट-वि० [हिं० विटल] छितराया हुआ। अलग अलग। दूर दूर। † वि० [हिं० वि = विना + टट = मय] (१) जिसे भय न हो। न डरनेवाला। निमंत्र्य। निजरा। (२) छट। बौद्ध।

विडरना-क्रि० थ० [सं० विट् = शीते खर से पुकलाना, विष्णुना] (१) इधर बहर होना। छितर बितर होना। उ०—मीर भई सुमी सब बिहरीं सुखी मली सँमारी।—सूर। (२) पशुओं का भयभीत होना। बिचकना। उ०—सिखसमाय भय देखन लागे। बिहरी चले वाहन मय भारी।—तुलसी।

विडरना-क्रि० स० [सं० विट् = खरे से विरगाना] (१) इधर बहर करना। छितर बितर करना। (२) भगाना। उ०—रायण फल दल मनु सयन रखयो विडराय।—विग्राम।

विडघना-क्रि०-क्रि० स० [सं० विट् = खरे से विरगाना] तोड़ना। उ०—यद्यपि अलक शंख गहि बाँधे तज चपल गति प्यारे। धूँध पट बागुर ज्यों विडवत जतन करत शयि हारे।—सूर।

विडायते-वि० [सं० वृद्धयते] अधिक। ज्यादा। (दलाल)

विडारना-क्रि० स० [हिं० विडरना] मयभीत करके भगाना। उ०—(क) अछूत आदि चीर जो रहेक। दिवे विडारि विकल सय भयक।—विग्राम। (ख) कुंभकरण कपि फौज पिडारी। सुनि धारै रत्नचीर चारी।—तुलसी।

विडाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिखली। बिलाय। (२) विडालाच नामक दैत्य जिसे दुर्गा ने मारा था। उ०—जै सुरक्त जै रक्तरीज विडाल बिहदिनि। (३) दोहा के तीसरे भेद का नाम जिसमें ३ अक्षर शुद्ध और ४२ अक्षर लघु होते हैं। जैसे, बिहद सुमिरि सुधि करत नित हरि तुव चरन निहार। यह भय जलनिधि सँ सुरत कय प्रभु करिहहु पार। (४) ब्राह्म के पैगों की एक प्रकार की ओपधि।

विडालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्म का गोलक। (२) ब्राह्मों पर लेव चढ़ाने की क्रिया।

विडालपाद-संज्ञा पुं० [सं०] एक लौल जो एक कर्प के बराबर होती है। विशेष दे० “कर्प”।

विडालवृत्तिक-वि० [सं०] पिछी के समान स्वभाववाला। लोभी, कपटी, दंभी, हिंसक, सबको धोखा देनेवाला और सबसे देड़ा रदनेवाला।

विडालात्त-वि० [सं०] जिसकी ब्राह्मों बिखरी की ब्राह्मों के समान हैं।

विडालासी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक राक्षसी का नाम।

विडालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिखली। (२) हारताल।

विडाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिखली। (२) एक प्रकार का ब्राह्म का रोग। (३) एक योगिनी जो इस रोग की अघिघ्रात्री मानी जाती है। (४) एक प्रकार का बीधा।

विडिक-संज्ञा स्त्री० [सं०] पान का बीड़ा। गिडरी।

विडोँजा-संज्ञा पुं० [सं०] इँद का एक नाम।

विद्वतो-संज्ञा पुं० [हिं० वदना = अधिक होना] कमाई। नफा। लाभ। उ०—दे पड़ये पहिलो विद्वतो प्रज सादर सिर धरि बीजे।—तुलसी।

विद्वयना-क्रि०-क्रि० स० [सं० वृद्धि, हिं० वदना] (१) कमना। (२) संघट्ट करना। हकूद करना। उ०—सात राठ नहिं सोचन जोगू। विद्वद सुकृत जस कीन्हैव भोगू।—तुलसी।

विद्वाना-क्रि० स० दे० “विद्वयना”।

वित-संज्ञा पुं० [सं० विप] (१) घन। द्रव्य। (२) सामर्थ्य। शक्ति। (३) कट। छाकार।

वितताना-क्रि० थ० [हिं० विरधना] विटराना। ध्याकुल होना। विशेष संतप्त होना। उ०—(क) रोमति महति

फिरति विततानी । बार बार लै कंठ लगायति अतिहि शिथिल भई बानी ।—सूर । (ख) ताको कहति थाप सुधि नाहीं सो पुनि जानत नाहीं । सूरस्थान रसभरी गोपिका बन में यो वितताहीं ।—सूर । (ग) प्रिया पिय लीन्ही अंक मलाय । खेलत मैं तुम विरह बढायो गई कहां वितताय । तुम ही बहो मान करिये कौं आपुहि बुझि उपाय । काहें विवस भई यिन कारन ऐसी गई डराय ।—सूर ।

किं स० संसप्त करना । सताना । दुःखी करना ।

वितना—संज्ञा पु० दे० “विता” । उ०—इंद्र गरय हर सहज मैं गिरि मख पर घर लीन । इह इतना वितना भरा कहु कितना बल कीन ।—रसनिधि ।

वितरना—किं स० [सं० वितरण] वंटना । वितरण करना । उ०—नहे पदमाकर सुदेम हय गगिन को हलके जगारन के वितर बिचारे ना ।—पद्माकर ।

वितयना—किं स० दे० “विताना” ।

विता—संज्ञा पु० दे० “विता” ।

विताना—किं स० [सं० व्यतीत, हि० वीतना का संज्ञित रूप] (समय) आदि व्यतीत करना । (यत्क) गुजारना । काटना ।

विताला—संज्ञा पु० दे० “विताल” ।

वितायना—किं स० दे० “विताना” ।

विततीतना—किं स० [सं० व्यतीत] व्यतीत होना । गुजारना । उ०—(क) ज्यौं ज्यौं वितीतति है रजनी बढे त्यों त्यों उबई से अगनि फूँडे । (ख) सात चौस यहि रीति वितीते । पंचम इंद्रिन के गुन जीते ।—लाछ । (ग) विधिवन बारह मास वितीते ।—पद्माकर ।

किं स०—विताना । गुजारना ।

विच्छा—संज्ञा पु० दे० “विच्छा” ।

विच्छा—संज्ञा पु० [सं० विच्छा] (१) धन । दौलत । (२) दैसियत । औदात । (३) सामर्थ्य । शक्ति । वृत्ता । उ०—(क) किसी की भूमी में बाधकर अपने विच्छ से बढ़कर काम मत करो । पर बोई यदि अपने विच्छ के बाहर मांगे वा ऐसी बात मांगे जिससे दाता की सर्वस्व हानि होती हो तो बड़ दे कि नहीं ।—हरिश्चंद्र । (ख) रीन विच्छ हीन कैसे दूसरी गढ़ाई ।—तुलसी ।

विच्छा—संज्ञा पु० [?] हाथ की सब रँगबिरंगी फेराने पर बंगरुते के सिरे से कनिष्ठिका के सिरे तक की दूरी । बाविरत ।

विषयकना—किं स० [सं० विषय] (१) यकना । (२) चकित होना । हैरान होना । स्तब्ध होना । उ०—अति अगूँ नहँ अनक विषास । विषयकहिं विषय विशोकि बिनास ।—तुलसी । (३) मोहित होना । उ०—सूर चमर लड़ना गय चमर बिपकी लोक विमारी ।—सूर ।

विधरना, विधुरना—किं स० [सं० विधरण] (१) विधरना ।

विधरना । इधर उधर होना । उ०—(क) बार बीर विधरा दिया । मैया पै तुम कहन चलीं कत दधि माखन सखीन जियो ।—सूर । (ख) पुष्ट पर विधुर पुनि बेठी । ताँतें मैं मानत बख येही ।—पद्माकर । (ग) बीरी री विधरि कषेज पर पीरी परी, धीरी परी बाप गिरी सीरी परी सेज पर ।—पद्माकर । (घ) अयह जिधावहु के मश पिठुरी धार समेटि ।—जायसी । (२) झलम झलम होना । झिज जाना । उ०—परर चिरितिकेंचन भई सीसा । विधरी न मिलहु सार्यो पद सीसा ।—जायसी ।

विधा—संज्ञा पु० [सं० व्यय] वृत्त्य । पीड़ा । बडेय । बड़ । सकलीक । उ०—(क) हृदय की कष्टहु न जानि बरी । विनु गोपाल विधा पा । तनु की कैसे जात बरी ।—सूर । (ख) वैना मोहन रूप सौं मन कौं देत मित्रां । प्रीति छवि मन की विधा सकौं न ये फिर राष ।—रसनिधि ।

विधारना—किं स० [हिं० विधरना का संज्ञित रूप] विधरना । विधरना । विधरना । उ०—(क) मनहुं रविदास सुगतावन निकर करि वलित अति ललित मानिक विधारे ।—तुलसी । (ख) शबकहि मारों पुर भकी माति जाँ, थंड चुंडन विधारों आन राम बल पाहूँ ।—दुनुमान ।

विधित—किं स० [सं० व्यधित] जिसे कष्ट पहुँचा हो । पीड़ित । दुःखित ।

विधोरना—किं स० दे० “विधारना” ।

विदकना—किं स० [सं० विदारण] (१) कटना । चिरना । विरीध होना । (२) घायल होना । जखमी होना । (३) मड़कना । विदकाना—किं स० [सं० विदारण] (१) काटना । विरीध करना । (२) घायल करना । लकमी करना । उ०—चोंच पंगुलन सन विदकायो । मुर्झित भू पुनि भारी सै पायो ।—विधाम ।

विदर—संज्ञा पु० [सं० विदर] (१) देहा विरोध । विदर देह । धरार । उ०—द्विह विदर पंदेरी बाँट । बुद्ध को रोष बाट बुद्ध डाँट ।—जायसी । (२) एक प्रकार की हाथग जो ताने और धरते के मेष से बनी है । (धारम में हथक बनना विदर देह से ही धारम हुआ पा, हथकिये हथक यह नाम पड़ा ।)

विदरन—संज्ञा पु० [सं० विदर] धरार । धार । तपाक । वि० काढ़नेवाला । चीरनेवाला । उ०—ओति रूप खिग मयी अगमित खिगमयी योषवितरनि अगमाल की—तुलसी ।

विदरी—संज्ञा पु० [सं० विदर । सं० विदर] धरते और ताने के मेष से बरतन आदि बनाने का काम जिसमें बीच बीच में खाने वा बाँधी के सारों से बढायी की हुई होती है । विदर

की घातु का काम । (२) विद्वर की घातु का बना हुआ सामान ।

विद्वरीसाज—संज्ञा पुं० [हिं० विद्वर + साज०] वह जो विद्वर की घातु से बरतन आदि बनाता हो । विद्वर का काम बनानेवाला ।

विद्वहना—क्रि० सं० [सं० विद्वहन्] (स्त्री० विद्वहनी) धान या ककूनी आदि की फसल पर भारभ में पाटा या हँगा चलाना ।

विशेष—जिस समय फसल एक बारिख हो जाती है और वर्षा होती है, तब मिट्टी गीली हो जाने पर उस पर हँगा या पाटा चला देते हैं । इससे फसल चेत आती है, और फिर जब ठंडी है, तब जोरों से झट्टी है ।

विद्वहनी—संज्ञा स्त्री० [सं० विद्वहन्] विद्वहने की क्रिया या भाव ।
क्रि० प्र०—करना ।—लगाना ।—लगाना ।

विदा—संज्ञा स्त्री० [प्र० विदाय] (१) प्रस्थान । गमन । रवानगी । रुखसत । उ०—बेटी को विदा के अकुलाने गिरिराज कुल व्याकुल सकल झुझि झुझि बदली गई ।—देव । (२) जाने की आज्ञा । उ०—मार्गद्वि विदा भातु सन आई । आवहु मेनि चलहु धन भाई ।—मुलसी ।

क्रि० प्र०—देना ।—मार्गना ।—मिलना ।

(३) विरागमन । गीना ।

विदाई—संज्ञा स्त्री० [प्र० विदाय] (१) विदा होने की क्रिया या भाव । (२) विदा होने की आज्ञा । (३) वह धन जो किसी को विदा होने के समय, उसका सफा कर देने के लिये दिया जाय ।

विदामी—वि० दे० “दादामी” ।

विदारना—क्रि० सं० [सं० विदारय] (१) चीरना । काटना ।

उ०—सीधबरन सनकेत किशसि हिय हारि । किहेसि भँवर कर हरबा हृदय विदारि ।—मुलसी । (२) नष्ट करना । बिगाड़ना ।

विदारी—संज्ञा पुं० [सं० विदारी] (१) शाकपर्वी । (२) भूमि कुम्मांड । मुद्दे-कुम्हाड़ा । (३) अकार प्रकार के कंद रोगों में से एक प्रकार का रोग ।

विदारीकंद—संज्ञा पुं० [सं० विदारीकंद] एक प्रकार का कंद जिसकी बेल के पत्ते चरई के पत्तों के समान होते हैं । यह कंद बेल की जड़ में होता है । इसका रंग कुछ कुछ लाल होता है और इसके ऊपर एक प्रकार के छोटे छोटे रोएँ होते हैं । बैपक में इसे मधुर, शीतल, मारी, स्निग्ध, रक्त-पित्तायक, कफकारक, दीपक, वणों को सुदृढ़ करने वाला और रक्षित-बिकार, हृदय वामन को दूर करने-वाला माना है । विदाई कंद ।

विदुराना—क्रि० प्र० [सं० विदुर + ना] सुसुकराना ।

घीरे घीरे हूँ सना । उ०—घरें तहाँ जहाँ होइ रजाई । चघो विदेह बचन विदुराई ।—रघुराज ।

विदुरानी—संज्ञा स्त्री० [हिं० विदुराना] सुसुकराइट । सुस-स्थान । उ०—नये चाँद से बदन विदुरानि खासी ला जवाहिर नड़े कड़े दिल कावरे ।—रघुराज ।

विदूयना—क्रि० प्र० [सं० विदूय] (१) दोष लगाना । कलंक लगाना । दोष लगाना । (२) खराब करना । बिगाड़ना । विदेस—संज्ञा पुं० [सं० विदेश] विदेश । परदेश । अपने देश के अतिरिक्त और कोई देश । जैसे, देस-विदेस मारे मारे किया ।

विदेख—संज्ञा पुं० [सं० विदेख] बैर । वैमनस्य ।

विद्वत्—संज्ञा स्त्री० [प्र० विद्वत्] (१) पुरानी बखड़ी बात को बिगाड़नेवाली नई खराब बात । (२) खराबी । बुराई । दोष । (३) कष्ट । तकलीफ । (४) विपत्ति । आफत । (५) अलगाव । छुटन । (६) दुर्दशा ।

क्रि० प्र०—में पढ़ना ।—भोगना ।—सहना ।

विधँसना—क्रि० सं० [सं० विधंसन्] मार करना । विधंस करना । नष्ट करना ।

विध—संज्ञा पुं० [सं० विधि] हाथियों का चारा या रातिय ।

संज्ञा स्त्री० [सं० विधि] (१) प्रकार । तरह । नीति । उ०—अपि करी है करी में हर भाँति मुरार । प्रसु करनी कर आपनी सब विध खेद सुधार ।—रसनिधि । (२) प्रथा । संज्ञा स्त्री० [सं० विधा=ज्ञान] जमा खर्च का हिसाब । आय-व्यय का लेखा ।

मुहा०—विध मिलाना=आय-व्यय का हिसाब ठीक करना । यह देखना कि आय और व्यय की सब मंजूर ठीक मिली गई है या नहीं ।

विधना—संज्ञा पुं० [सं० विधि + ना (प्रत्य०)] प्रथा । कर्तार । विधि । विधाता । उ०—अहो विधना तो पै अचरा पसारि माँगी जनम जनम दीखो याही प्रज बसिषो ।

क्रि० प्र० दे० “विधना” । उ०—(क) विधये मैन सिलारने रूप जाल दग मीन । रहत सराई जे भए चपल मगत रसलीन ।—रसनिधि । (ख) जैसे पथिक अधिक भुग विधवत राग रागिनी ठानि ।—सूर ।

विधवर्दी—संज्ञा स्त्री० [हिं० विधि + वर्द + ई] भूमिकर होने की वह रीति जिसमें धोये चादि के हिसाब से कोई कर नियत नहीं होता बल्कि कुछ जमीन के लिये वे ही धंधाज से कुछ रकम दे दी जाती है । विजयुक्ता ।

विधवपनी—संज्ञा पुं० [सं० विधवा + पनी (प्रत्य०)] रूढ़ाया । विधव्य ।

विधवा—वि० [सं०] (बहू की) जिसका पति मर गया हो । राई । विधवाणा—क्रि० सं० दे “विधवाणा” ।

विधासना-कि० स० [सं० विध्वंसन] विध्वंस करना । नष्ट करना । नाश करना । उ०—जगहूँ लंक सत्र लुसी हनु विधासनी बारि । जागि उठै अस देखत सखि कहु सपन विचारि ।—जायसी ।

विधार्त-संज्ञा पुं० [सं० विधायक] वह जो विधान करता हो । विधायक । उ०—जैति सोमित्रि रघुनंदनानंदकर रीझ कपि कटक संपट विधार्त ।—जुबली ।

विधाना-कि० अ० दे० “विधाना” । उ०—वाहन विधाय चाहि अघन अघन माह कहे धोड़ो माह नाहि गयो चाहै सुधि कै ।—देव ।

विधानी-संज्ञा पुं० [विधान] विधान करनेवाला । बनानेवाला । रचनेवाला ।

विधिना-संज्ञा स्त्री० दे० “विधना” ।

विधुली-संज्ञा पुं० [देव०] एक प्रकार का बाँस जो हिमालय की तराई में पाया जाता है । इसे नल-पाँस और देव-बाँस भी कहते हैं । विशेष दे० “देवबाँस” ।

विन-कि० अ० दे० “विना” ।

संज्ञा पुं० [देव०] एक भीष जाति । पिंद ।

विनई-संज्ञा पुं० [सं० विनयी] (१) विनती करनेवाला । (२) नम्र ।

विनड-संज्ञा स्त्री० दे० “विनय” ।

विनता-संज्ञा पुं० [देव०] पिंडकी नाम की चिड़िया ।

विनति-संज्ञा स्त्री० दे० “विनती” ।

विनती-संज्ञा स्त्री० [सं० विनय] प्रार्थना । निवेदन । अर्ज । उ०—विनती करत मरत हौं लाज ।

विनन-संज्ञा स्त्री० [हिं० विनना = चुनना] (१) चुनने या चुनने की क्रिया या भाव । (२) वह धूँड़ा बकंटा आदि जो किसी चीज में से चुनकर निकाला जाय । चुनन । जैसे, मंन-भर गोहूँ में से चीन सेर तो विनन ही निकल गई । (३) चुनने की क्रिया या भाव । चुनावट ।

विनना-कि० स० [सं० विनय] (१) छोटी छोटी वस्तुओं को एक एक करके इठाना । चुनना । (२) छुट्ट छुट्ट कर अलग करना । हथानुसार संप्रदाय करना ।

हिं० स० [हिं० विनना] डंकवाले वीथ का डंक मारना । काटना । बाँधना ।

हिं० स० दे० “चुनना” ।

विनरी-संज्ञा स्त्री० दे० “मरनी” । (शुच)

विनयना-कि० अ० [सं० विनय] विनय करना । मित्रता करना । प्रार्थना करना ।

विनयना-कि० अ० [सं० विनय] नष्ट होना । बरबाद होना ।

हिं० स० विनाश करना । नष्ट करना ।

विनयना-कि० अ० [सं० विनय] विनष्ट होना । नाश होना ।

हिं० स० नष्ट करना । नष्ट करना ।

विनसाना-कि० स० [सं० विनय] विनाश करना । बिगाड़ डालना । नष्ट कर देना ।

हिं० अ० विनष्ट होना । उ०—(क) कबहुँ कि बंसी सीकरन छीसिं धु विनसाय ।—मुलली । (ख) जग में पर की फूट पुरी । घर की फूटहि तो विनसाई सुमान ईद-पुरी—हरिश्चंद्र ।

विना-अव्य० [सं० विना] छोड़कर । बगैर । जैसे, (क) भारदे विना तो यहाँ कोई काम ही न होगा । (ख) नव बे विवा किताब लिख मैं मानेंगे ।

विनाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० विनना वा विनना] (१) चुनने वा चुनने की क्रिया या भाव । (२) चुनने वा चुनने की मजदूरी । (३) चुनने की क्रिया या भाव । चुनावट । (४) चुनने की मजदूरी ।

विनाती-संज्ञा स्त्री० दे० “विनती” । उ०—यह गोसाईं सई ११ विनाती । भारग कठिन जाब कहि जाती ।—जायसी ।

विनाना-कि० स० दे० “चुनवाना” ।

विनानी वि० [सं० विनय] अज्ञानी । अनजान । उ०—(क) रोवन लागे कृष्ण विनानी ।—अनुमति आह गाँव बै पानी ।—सूर । (ख) पाहन रिझा निरिखि हरि डायो ऊपर खेलत श्याम विनानी ।—सूर । (ग) कबहुँक भाव करत मालन की कबहुँक भेष दिखाइ विनानी ।—सूर । (घ) भवन काज को गई नंदरानी । प्रांगन छुटि श्याम विनानी ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [सं० विज्ञान] विशेष विचार । गौर । उ०—चिह्न रहै सब मंद सुखति सुख मान मन कत विनानी ।—सूर ।

विनापट-संज्ञा स्त्री० दे० “चुनावट” ।

विनासना-कि० स० [सं० विनष्ट] विनष्ट करना । संहार करना । बरबाद करना ।

विनि-अव्य० दे० “विना” ।

विनु-अव्य० दे० “विना” ।

विनूडा-वि० [हिं० चनूडा] चनूडा । चनेवा । धावपंजर ।

विनय-वि० [हिं० विनय] चुनना ।

विनय-संज्ञा स्त्री० दे० “विनय” ।

विनय-संज्ञा पुं० [सं० विनयक] एकवान वगैरे समय का वह एकवान जो पहले घाम में न निकाल कर गले पर के निमित्त चालग रख देने हैं । यह भाग एकवान बनानेवाले को मिलता है ।

विनीरिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० विनीर] एक प्रकार की घास जो शरीर के चेतों में पैदा होती है । इसमें चोटे पीछे फूट निकलते हैं । यह प्रायः चारे के काम में आती है ।

विनीला-संज्ञा पुं० [१] कपान का बीज जो पशुओं के किये

पुष्टिकाक होता है। इससे एक प्रकार का सेल भी निकाला जाता है। धनौर। कुट्टी।

विन्हनी*—संज्ञा स्त्री० [हिं० विंघना] खुलाहों की वह लकड़ी या छड़ जो ताने में लगा रहता है और जो तागे से छपेटन में बँधा रहता है।

विपच्छ*—संज्ञा पुं० [सं० विपत्त] शत्रु। बैरी। दुरमन।

वि० (१) अग्रसत्त। नाराज। प्रतिहृल। विमुख। विरुद्ध। उ०—वि० घ० ई० घन पाइए सायर खुरै न नीर।

परे बपास कुवेर पर जो विपच्छ शत्रुधीर।—मुलसी।

विपच्छी*—संज्ञा पुं० [सं० विपत्तिन्] (१) वह जो विपत्त का हो। विरोधी। (२) शत्रु। दुरमन।

विपत्ति, विपत्ता*—संज्ञा स्त्री० दे० “विपत्ति”।

विपत्त, विपत्ति—संज्ञा स्त्री० दे० “विपत्ति”।

विपद, विपदा*—संज्ञा स्त्री० [सं० विपद] आफत। मुसीबत। संकट। विपत्ति।

विपद*—संज्ञा पुं० [सं० विपद] ब्राह्मण। उ०—विपद अस्तिस्ति विनस्ति अश्वपारा। सुभा जीव नहि कावै निराश।—जायसी।

विफर*—वि० दे० “विफल”।

विफरना*—क्रि० ध० [सं० विफलन] (१) विफल करने पर उद्यत हो जाना। बागी होना। विद्रोही होना। उ०—यूसुफि ई० झुकि भूमति ई० सुख यूमति ई० पिर हूँ न प्रकी ये। औकि परै नितरै विफरै सफरै जलहीन ज्यों प्रेम प्रकी ये। रीकति ई० खुलि लीकति ई० यूसुफान से भौंजती सोन तकी ये। ता छिन तें वृषकी न कहूँ सजनी औखिया हरि रूप प्रकी ये। (२) विगड़ उठना। नाराज होना।

विपलना*—क्रि० ध० [सं० विपलन] (१) विरोधी होना। (२) हलकना। अटकना। फँसना। उ०—विपल गयो मन लागि ज्यों ललित निरंगी संग। सुधो रहै न और तनि बरत रहै वह धंग।—रसनिधि।

विषरन*—वि० [सं० विषर] (१) जिसका रंग घराब हो गया हो। बदरंग। (२) चिंता या श्लानि आदिके कारण जिसके चेहरे का रंग उड़ गया हो। जिसके मुख की शक्ति गट हो गई हो। जिसका चेहरा उतरा हो। उ०—(क) विषरन भयत निपट नरापालू। दामिनी हनेत मनहु तप सालू।—मुलसी। (ख) विषरन भयत न जाइ निहारी। मारेति मनहुँ पित्त महतारी।—मुलसी। संज्ञा पुं० दे० “विषरय”।

विषर*—वि० [सं० विषय] (१) मजबूर। विषय। (२) परेश। पराधीन।

क्रि० वि० [सं० विषय] विषय होकर। लाचारी से। येवसी की हालत में। उ०—विषरहु जासु नाम नर कहही। जनम भनेक रचित अथ दहरी।—मुलसी।

विषहार*—संज्ञा पुं० दे० “व्यवहार”।

विवाह—संज्ञा स्त्री० [सं० विवाह] एक रोग जिसमें पैरों के तलुए का चमड़ा फट जाता है और वहाँ जलम हो जाता है। इससे चलने फिरने में बहुत कष्ट होता है। यह रोग प्रायः जाड़े के दिनों में और बुढ़ों का हुआ करता है। उ०—जिसके पैर न फटी विवाह। वह क्या जाने पीर पराह।

क्रि० प्र०—फटना।

विवाकी—संज्ञा स्त्री० [सं० वेवाकी] (१) वेवाक होने का भाव। हिसाब आदि का साफ होना। (२) समाप्ति। अंत।

विवि—वि० [सं० वि] दे०। उ०—(क) विवि रसना तन व्याम है यक चलनि विप खानि।—मुलसी। (ख) सोभित अवन कनक कुंडल कल लंघित विवि मुजमूले।—मुलसी। (ग) माथिक निखर मुख मेरु के सिखर विवि कनक बनाए विवि कनक सरोज के।—देवदत्त।

विमन*—वि० [सं० विमनम्] (१) जिसे बहुत दुःख हो। (२) उदास। दुस्त। चिंतित।

क्रि० वि० बिना मन के। बिना चित्त लगाए। अनमना होकर।

विमोहना—क्रि० स० [सं० विमोहन्] मोहित करना। लुभाना। मोहना। उ०—एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोह विमोहा जेह कवि सुनी।—जायसी।

विमोरा*—संज्ञा पुं० [सं० वमोर] टीले के आकार का हीमक के रहने का स्थान। वमरीक। बानी।

विय*—वि० [सं० वि] (१) दो। युग्म। (२) दूसरा। *—संज्ञा पुं० दे० “बीज”।

वियर—संज्ञा स्त्री० [सं०] जौ की बनी हुई एक प्रकार की हलकी और गरीब शराब जो प्रायः खियाँ पीती है।

वियरसा—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का बहुत ऊँचा वृक्ष जो पहाड़ों में ३०० फुट की ऊँचाई तक होता है। इसकी लकड़ी ऊँच लाठी लिए फाके रंग की, बहुत मजबूत और कड़ी होती है और बड़ी कठिनता से काटती है। लकड़ी प्रायः इमारत और मेज-कुर्सी आदि बनाने के काम में आती है। इसमें एक प्रकार के सुरंगभित कूल लगते हैं, और गोंद भी होती है जो कई कामों में आती है।

वियहुता*—वि० [विवाहित] स्त्री० विपुत्री जिसके साथ विवाह हुआ हो। जिसके साथ शादी हुई हो। विवाहित।

विया*—संज्ञा पुं० दे० “बीज”।

वि० [सं० वि] दूसरा। अन्य। अग्र।

संज्ञा पुं० [सं० वि] शत्रु। (हिं०)

वियाज*—संज्ञा पुं० दे० “व्याज”।

वियाज*—वि० [सं० व्याज + क] (क) जो व्याज पर लगाया

या दिया जाय । जिस (घन) का व्यास लिया जाय ।
 सूद पर दिया हुआ (रुपय) ।
 बियाड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० बिया + घ (प्रत्य०)] वह खेत जिसमें पहले बीज बोए जाते हैं और छोटे छोटे पौधे हो जाने पर जहाँ से बड़ा कर दूसरे खेत में रोपे जाते हैं ।
 बियादा-संज्ञा पुं० दे० "व्यादा" ।
 बियाधि-संज्ञा स्त्री० दे० "व्याधि" ।
 बियाना-संज्ञा पुं० [हिं० बियाना] (१) प्रसव । बच्चा देने की क्रिया । (२) बच्चा देने का भाव । वि० दे० "व्यान" ।
 विशेष-यह शब्द विशेष कर पशुओं के लिये प्रयुक्त होता है ।
 बियाना-क्रि० स० [सं० विजनन] (पशुओं आदि का) बच्चा देना । जनना ।
 वि० दे० "व्यान" ।
 बियापना-संज्ञा पुं० दे० "व्यापना" ।
 बियापान-संज्ञा पुं० [का०] ऐसा उद्यान जहाँ जंगल जहाँ कोसो तक पानी न मिले ।
 बियापी, बियाऊ-संज्ञा स्त्री० [सं० नि + पृ + क्त] रात का भोजन ।
 विशेष-दे० "व्याल" ।
 बियाळ-संज्ञा पुं० दे० "व्याल" ।
 बियाळ-संज्ञा स्त्री० [नि + पृ + क्त] रात का भोजन । विशेष-दे० "व्याल" ।
 बियाह-संज्ञा पुं० दे० "विवाह" ।
 बियाहता-वि० स्त्री० [सं० विवाहित] जिसके साथ विवाह हुआ हो । जिसके साथ नियमानुसार पाणिपदह हुआ हो ।
 बिया-संज्ञा पुं० [हिं०] घेरे का घेरा । घेरा ।
 बिरंग-वि० [हिं० नि (प्रत्य०) + रंग] (१) कई रंगों का । जिसमें एक से अधिक रंग हों । जैसे, रंग बिरंग । (२) बिना रंग का । जिसमें कोई रंग न हो ।
 बिरङ्ग-संज्ञा पुं० [का०] (१) चावल । (२) पका हुआ चावल । सात ।
 बिरङ्गी-संज्ञा स्त्री० [१] छोड़े की छोटी कील । छोटा काँटा ।
 बिरगिह-संज्ञा स्त्री० [सं० विगृह] (१) सेना का एक विभाग जिसमें कई रेजिमेंटें या बटलिये होती हैं । (२) काम करने-वालों का कोई ऐसा दल जो एक ही तरह की बर्तों पहनता हो और एक ही अधिकारी की अधीनता में काम करता हो । जैसे, पावर गिग्रेड ।
 बिरङ्गी-संज्ञा पुं० दे० "बृष्ट" ।
 बिरङ्गीक, बिरङ्गीक-संज्ञा स्त्री० दे० "बृष्टिक" ।
 बिरङ्गना-क्रि० प्र० [सं० विरङ्ग] छलकना । फगड़ना । व० ।--
 बहुत चतुर के लक्षण के मित्रों की बिरङ्गना है :-रामनिधि ।
 बिरतंत, बिरतंत-संज्ञा पुं० दे० "बृष्टतंत" ।
 बिरताना-संज्ञा पुं० दे० "वृष्टताना" ।
 बिरताना-क्रि० स० [सं० वृष्टताना] विभाग करने का एक अलग अलग देना । बंटना ।

बिरतिया-संज्ञा पुं० [सं० वृष्टि + रण (प्रत्य०)] हजम या स्त्री आदि की जाति का वह व्यक्ति जो बिनाह सर्वत्र होकर के लिये चरपच की ओर से कन्यावालों के पास गया कन्या-पक्ष से चरपच की योग्यता, मर्यादा, श्रवण आदि देखने के लिये जाता है । बरेली करनेवाला ।
 बिरया-वि० [सं० वर्य] निरर्थक । फुल्ल । बेकाम । व्यर्थ ।
 बिरदा-संज्ञा पुं० [सं० बिरद] (१) बड़ाई । पता । नेहनामी । (२) दे० "बिरद" ।
 बिरदत-संज्ञा पुं० [हिं० बिरद + त (प्रत्य०)] बहुत अधिक प्रिय वीर या योद्धा । ऐसा वीर या दानी पुरुष जिसका नाम बहुत दूर तक हो । जिसके नाम का बिरद बसना जाय ।
 वि० बामी । प्रसिद्ध ।
 बिरघ-वि० दे० "बृष्ट" ।
 बिरघा-संज्ञा स्त्री० [हिं० बृष्ट + घ (प्रत्य०)] बुझाया । बुझावला ।
 बिरघापन-संज्ञा पुं० [सं० बृष्ट + हिं० पन (प्रत्य०)] (१) बुझाने का भाव । बुझाया । (२) बुझ होने की प्रवृत्ति । बुझावला ।
 बिरमना-क्रि० प्र० [सं० विरमन] (१) ठहरना । रुकना । (२) सुस्ताना । थाराम करना । (३) मोहित होना फँस रहना ।
 बिरमाना-क्रि० स० [हिं० बिरमना का सं० रूप] (१) ठहरना । रुक रहना । (२) मोहित करने का ऐसा रहना । (३) व्यतीत करना । गुजारना । बिताना ।
 बिरला-वि० [सं० बिरल] कोई कोई । बहुतों में से कोई एक ।
 हुआ हुआ । जैसे, साहित्य क्षेत्र में ऐसा कोई बिरला ही होगा जो आपकी न जानता हो ।
 बिरया-संज्ञा पुं० [सं० बिरय] (१) वृष्ट । (२) वीरता । (३) घना । बृष्ट ।
 बिरयाही-संज्ञा स्त्री० [हिं० बिरया + ही (प्रत्य०)] (१) बड़े पौधों का कुंज या बाग । छोटे पौधों का समूह । (२) वह स्थान जहाँ छोटे छोटे पौधे उगाए गए हों ।
 बिरपम-संज्ञा पुं० दे० "बृष्टपम" ।
 बिरसन-संज्ञा पुं० [हिं०] कहर । विष ।
 बिरही-संज्ञा पुं० [सं० बिरहिन्] [स्त्री० बिरहिनी, बिरहिनी] विवाह से वीरित पुरुष । वह पुरुष जो अपनी प्रेमिका के बिना से दुःखित हो ।
 बिरजना-क्रि० प्र० [सं० नि + रज] (१) मोहित होना । शोभा देना । (२) बँटना ।
 बिरावर-संज्ञा पुं० [का०] माई । प्राना ।
 बिराद-संज्ञा स्त्री० [का०] (१) माई-पिता । बहुत । (२) मातृपितामह । एक ही जाति के लोगों का पद ।

मुहा०—बिनादरी से बाहर या स्थावर होना = जाति से बहि-
ष्कृत होना। जातिव्युत्त होना।

विरान, विराना—वि० [का० बेगाना] (१) पराया। जो अपने
से अलग हो। (२) दूसरे का। जो अपना न हो।

विराना—कि० अ० [अनु०] (मुँह) चिड़ाना। दे० “मुँह” के
मुहा०।

विरावना—कि० अ० [सं० वित = गन्ध] (१) मुँह चिड़ाना।
किसी के मुँह से निकले हुए शब्द को उसे चिड़ाने के लिये
वही प्रकार उच्चारण करना। (२) किसी को दिखलाकर
चिड़ाने के हेतु मुँह की कोई विलक्षण मुद्रा बनाना। उ०—
वह सैन सय सखन को लो गोरस समुदाय। पये निकरि
जय दूरि तब आपहु भरो विराय।—रघुनाथ।

विरास—संज्ञा पुं० दे० “विराम”।

विरिख—संज्ञा पुं० (१) दे० “वृष”। (२) दे० “वृष”।

विरिख—संज्ञा पुं० दे० “वृष”।

विरिख—वि० दे० “वृष”।

विरिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० बेला] समय। वक्त। बेला। उ०—
तु नि आउय यहि बिरिया काली।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० वार] वार। दफा। पारी। उ०—(क)
मूर की बिरियां निदुर भए प्रसु सोते कहु न सखो।—सूर।
(ख) बीस बिरियां चार की लो कहुँ मिछिई साहु।—सूर।

विरिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० गली] (१) चांदी या सोने का बना
हुआ छोटी फोटी के आकार का एक माहमा जो कान में
पहनना जाता है। पश्चिमी जिलों में इसे “वार” कहते हैं।
(२) चले के बेलन में की कपड़े या लकड़ी की बह गोल
रुकिया जो इसलिये लगाई जाती है कि चले की मुँड़ी
छँटे से रगड़ न खाए।

विरि—संज्ञा स्त्री० (१) दे० “बीड़ी” (२) दे० “बीड़ा”।

विरि—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का राजहंस।

विरि—कि० अ० [सं० विरि या हिं० उलमना] कगड़ना।
डलकना। उ०—जो बालक जननी से विरि माता लोके
लेह—बनाह।—सूर।

विरि—कि० अ० [सं० विरि या हिं० उलमना] मृदु होकर
रुझने के लिये प्रस्तुत होना। डलकना।

विरि—संज्ञा पुं० दे० “गंधाविरिजा”।

विरि—कि० अ० [सं० विरोध] विरोध करना। बैर करना।
द्रोष करना। उ०—(क) साहूँ ये न विरोधिने शुरु पंडित
कवि पार। वेदा बनिया बीरिया यज्ञ कथनहार।—
गिरधर। (ख) रायन गर्व विरोधा रामू। मोही गाय भयड
मरामू।—जायसी। (ग) तब मारीष हृदय अनुमान।
नमहि विरोधे नहि कथना—तुलसी।
विरि—संज्ञा स्त्री० [दे०] अन्नगनी। अन्नगनी।

विलंब—वि० [का० दुर्लभ] (१) उँचा। (२) यज्ञ। (३) जो
विफल हो गया हो। (व्यंग्य)

विलंबना—कि० अ० [सं० विषय] (१) विलंब करना। बैर
करना। (२) ठहरना। रुकना।

विलंब—संज्ञा पुं० [सं० विष] (१) वह खाली स्थान जो किसी
चीज में छुदने, फटने आदि के कारण हो गया हो और दूर
तक गया हो। छेद। दरज। विवर। (२) जमीन के धंदर
खोदकर बनाया हुआ कुछ गंगली जीवों के रहने का स्थान।
जैसे, चूहे का बिल, साँप का बिल।

मुहा०—विलंब होत है फिरना = अपनी रक्षा का उपाय हँडते
फिरना। बहुत परेशान होकर अपने बचने की तरकीब हँडना।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह व्योरेवार परचा जो अपना बाकी
रक्का पाने के लिए किसी देनदार के सामने पेश किया
जाता है। पावने के हिसाब का परचा। पुरमा।

विशेष—विल में प्रायः वेची या की हुई चीजों के तिथि
सहित नाम और दाम, किसी के लिए क्या किए हुए धन
का विवरण अथवा किसी के लिए किए हुए कार्य या
सेवा आदि का विवरण और उसके पुरस्कार की रकम का
वखोज होता है। इसके उपस्थित करने पर पाजिब पावना
सुकाया जाता है।

(२) किसी कानून आदि का वह मसौदा जो कानून बनाने-
वाली सभा में उपस्थित किया जाय। कानून की पंहुलिपि।

विलकुल—कि० वि० [अ०] (१) पूरा पूरा। सब। जैसे, उनका
हिसाब विलकुल साफ कर दिया गया। (२) तिर से तिर
तक। आदि से अंत तक। निरा। निरट। जैसे, तुम भी
विलकुल बेवकूफ हो। (३) सब। पूरा पूरा।

विलखना—कि० अ० [सं० विकृ या विलाप] (१) विलाप करना।
रोना। (२) दुखी होना। उ०—सुनहु भारत भावी प्रबल
बिलखि क्यो सुनि नाथ।—तुलसी। (३) संकुचित होना।
सिकुड़ जाना।

विलखाना—कि० अ० [सं० विकृ] (१) विलखना का सक-
मेक रूप। डलाना। (२) दुखी करना।

कि० अ० दे० “विलखना”। उ०—विकसित कर्म कुमुद
विलखाने।—तुलसी।

विलग—वि० [हिं० लि (प्रत्य०) + लगना] अलग। वृषक।
सुदा। उ०—विलग विलग छे छलहु सब निम निम महित
समात्र।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [हिं० लि (प्रत्य०) + लगना] (१) पार्थक्य। अलग
होने का भाव। (२) द्रोप या और कोई बुरा भाव। रंज।
उ०—(क) देखि कहीं कहु विनय सो विलगु न मानव।—
तुलसी। (ख) हनको बिलगुन मायिने कदि केवय पल थायु।
पांती पावक पवन प्रसु लो अमायु लो सायु।—फैयद।

कि० प्र०—मानना ।

विलगना—कि० प्र० [हि० विलग + णा (प्रत्य०)] अलग होना ।

पृथक् होना । दूर होना । उ०—निज निजसेन सहित विलगने ।—मुलसी ।

कि० स० (१) अलग करना । पृथक् करना । दूर करना ।

उ०—(क) ज्यों संकटा मिलै सिक्ता महँ चल ते न कोउ विलगावै ।—मुलसी । (ख) अलेख पोष सब विधि उपजाये । गनि गुन दोष वेद विलगाये ।—मुलसी । (२) छूटना । चुटना ।

विलगी—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का संकर राग ।

विलगु—संज्ञा पुं० दे० 'विलग' । उ०—स्वामिनि अविनय क्षमि हमारी । विलगु न मानव जानि गँवारी ।—मुलसी ।

विलच्छन—वि० दे० 'विलक्षण' ।

विलछुना—कि० प्र० [सं० लृच्] लक्ष करना । ताड़ना ।

विलटी—संज्ञा स्त्री० [सं० विट्टे] रेल के द्वारा भेजे जानेवाले माल की वह रसीद जो रेलवे कंपनी से मिलती है । जिस स्थान से माल भेजा जाता है, उस स्थान पर यह रसीद मिलती है । पीछे से यह रसीद उस व्यक्ति के पास भेज दी जाती है, जिसके नाम माल भेजा जाता है । निर्दिष्ट स्थान पर यही रसीद दिखाने पर माल मिलता है । इसमें माल का विवरण, तोड़, मसूख आदि लिखा रहता है ।

विलनी—संज्ञा स्त्री० [हि० विल] काजी मीठी जो दीवारों या किवाड़ों पर अपने रहने के लिए मिट्टी की बाँधी बनाती है । यही यह भूँगी है जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि यह किसी कीड़े को पकड़ कर भूँगी ही बना डालती है । भ्रमरी ।

संज्ञा स्त्री० भाँव की पलक पर होनेवाली एक छोटी कुंती । गुहामनी ।

विलपना—कि० प्र० [सं० विलप] विलाप करना । रोना ।

विलफेल—कि० वि० [व०] इस समय । अभी । संव्रति । वर्तमान अवस्था में । जैसे, विलफेल १०० लेकर काम बजाइए; फिर और से लीजिएगा ।

विलपिलाना—कि० प्र० [वृ०] (१) छोटे छोटे कीड़ों का हवा उड़र रहना । जैसे, इसके घाव में कीड़े विलपिलाने हैं । (२) व्याकुल होकर बचना । चतपद प्रत्याप करना । (३) कष्ट के कारण व्याकुल होकर रोना पिडाना । (४) मूख से बेचैन हो उठना ।

विलम—संज्ञा स्त्री० दे० 'विलम्ब' ।

विलमना—कि० प्र० [सं० विलम्ब] (१) विलंब करना । देर करना ।

(२) दूर जाना । दूखना । उ०—बीच में विलमें बिगड़े विपुलपट में । मुरगाए के अंत में कन्हाए एक

पल में ।—पचाकर । (३) किसी के प्रेमपात्र में रस कर कहीं रुक रहना । उ०—भाषव विलमि विरस रहे ।—सूर ।

विलमाना—कि० स० [हि० विलमना का सक० रूप] रोक । रोक । टहरा रहना । अटक रहना । उ०—(क) बरसे को मोहि वातन विलमावा । हाथा केर न सोहि देना ।—जायसी । (ख) ठाने कठान जेठानि हूँ सब योग्य । अकलंक लगामे । सामु बरी गहि गल करी गवरीन के चोल न जात गवामे । पती सही निनके बिपु में नहि वै । कहि कोने कहाँ विलमाये । भाये गरे लगि भाव वै कैं । कान्हू धातु बजै नहि धाये ।

विललाना—कि० प्र० [सं० विललप चया वृत्त०] (१) निरत कर रोना । विलाप करना । उ०—बीघारे लीली गुनगुन बिगड़ बरी विललत । बीचहि सुनि गुराव गे । झीड़ी हूँ न यात ।—बिहारी । (२) व्याकुल होकर प्रसन्न भावें कहना ।

विलघाना—कि० स० [सं० विल + लघ] (१) किसी वस्तु को छोटा करना । नष्ट करना । बरबाद करना । (२) किसी वस्तु को दूसरे के द्वारा नष्ट कराना । बरबाद करना । दूसरे को बिलाने में प्रयुक्त करना ।

संयो० कि०—डाढ़ना ।—देना ।

(३) ऐसे स्थान में रखवाना या रहना जहाँ कोई वस्तु न सके । विपाना लपटा विपाने के काम में दूसरे को प्रयुक्त करना ।

संयो० कि०—देना ।

विलसना—कि० प्र० [सं० विलस] विशेष रूप से शोभा देना । बहुत भव्य जान पड़ना । उ०—(क) लीं परमान थोड़े हँसे हुलसे विलसे मुखपट्ट अग्यारी ।—पद्माक्ष । (ख) विलसत वेवस बनत बिकासे ।—मुलसी ।

कि० स० भोग करना । भोगना । उ०—(क) सख्त लीव विभीषन को चखहुँ विलसे पर धनुष्य जो ।—मुलसी । (ख) इंद्रासन बँडे मुख विलसत दूर किये मुकना ।—सूर ।

विलसाना—कि० प्र० [हि० विलसना] (१) भोग करना । बरतना । काम में लगना । उ०—दाव देव काही विलसाही । ता के चन धुनी यह गाही ।—मनका । (२) दूसरे को विलसने में प्रयुक्त करना । दूसरे से भोगवाना ।

विलस्ता—संज्ञा पुं० दे० 'बाहिरत' ।

विलहा—संज्ञा पुं० [हि० विलहा] बाँव की लीखियों या तम काटि का बना हुआ एक प्रकार का संयुक्त त्रिम में पाव के लगे हुए कीड़े रखे जाते हैं ।

विल्ला—कथ्य० [व०] बिना । बरी । उ०—प्राज कपरी जा ली मेहर की निगाह ने हूँ बाह्यादन को बिज्र कीमन

खरीद सकती हो।—गंधाकृष्णदास ।

बिलारि—संज्ञा स्त्री० [हिं० बिखरी] (१) बिखली। बिलारी। उ०—
मधमि नीच के अति दुखदाई। जिमि अंकुश धनु उरग
बिलारि।—मुलसी। (२) कुएँ में गिरा हुआ बरतन या
रस्ती आदि निकालने का कौटा जो प्रायः लोहे का
बनता है। इसके अगले भाग में बहुत सी अँकुरियाँ लगी
रहती हैं जिनमें चीज फँसकर निकल आती है। (३)
लोहे या लकड़ी की एक सितकमी जो किराड़ों में
उनको बँध करने के लिए लगाई जाती है। पटोला।

बिलारिकंद—संज्ञा पुं० दे० “बिदारीकंद”।

बिलाना—क्रि० प्र० [सं० बिलयन] (१) नष्ट होना। बिजली
होना। न रह जाना। उ०—कबहुँ प्रबल चल मारत जहँ
तहँ मेघ बिलहि।—मुलसी। (२) क्षिप जाना। अचरय
हो जाना। गायब होना। उ०—जै वत अधिक सुवासिक
हुँ ह मैं परत बिलाय। सहस स्वाद सो पावै एक कौर जो
क्षाय।—जायसी।

बिलारि—संज्ञा पुं० [सं० बिनाश] [स्त्री० बिलारी] बिस्त्रा।
माजूर।

बिलारि—संज्ञा स्त्री० [हिं० बिलार] बिस्त्रा। माजूर।

बिलारिकंद—संज्ञा पुं० [सं० बिदारीकंद] एक प्रकार का कंद।
दे० “बिदारीकंद”।

बिलाय—संज्ञा पुं० दे० “बिलार”।

बिलाघर—संज्ञा पुं० दे० “बिलौरी”।

बिलाचल—संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो केदार और कल्याण के
योग से बनता है। इसे दीपक राग का पुत्र मानते हैं।
यह सवेरे के समय गाया जाता है।

बिलासन—क्रि० प्र० [सं० बिलसन] भोग करना। भोगना।
बरतना। उ०—चिस सुनाल के धम लसे बहु कंठव कष्ट
बिलासन बिलासे।—केशव।

बिलिपी—संज्ञा स्त्री० [सं० बिलिपी, बलिपी] एक प्रकार की कमरल का
फूल या रसका पेड़।

बिलियड—संज्ञा पुं० [सं०] एक अंगरेजी खेल जो गोल गेंदों
और लंबी लंबी छड़ियों द्वारा बड़ी मेज पर खेला जाता है।
बौ०—बिलियड रूम = वह घर जहाँ यह खेल खेला
जाता है।

बिलिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० बेशा = कटोरा] कटोरी।

बिला—संज्ञा पुं० [दे०] गाय खेल के गले की एक बीमारी।

बिलर—संज्ञा पुं० दे० “बिलौरी”।

बिलिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० बिली] (१) बिखी। (२) पेठा,
कर, मूजी आदि के महीन महीन डोरे से लपेटे काटने
का एक चीज़ार। करूषा।

बिलोप—यह काल में लोहे की एक (चार पायों की)

चीकी ली होती है जिस पर उमरे हुए छेद बने होते हैं।
उमारों से रगड़ धारक कटे हुए कतरे छेदों के नीचे गिरते
जाते हैं।

बिलोकना—क्रि० प्र० [सं० बिलोकन] (१) देखना। (२) जाँच
करना। परीक्षा करना।

बिलोकनि—संज्ञा स्त्री० [सं० बिलोकन] (१) देखने की क्रिया।
चितवन। (२) दृष्टिपात। कटाघ।

बिलोडना—क्रि० प्र० [सं० बिलोडन] (१) मथना। पानी की ली
वस्तु को चारों ओर से खूब हिलाना। (२) अस्तव्यस्त कर
देना। गड़बड़ करना।

बिलोन—वि० [सं० बि + लवण] बिना लावण का। कुरूप।
बदसूरत। उ०—खोन बिलोन तहाँ के कहै। खोनी सोह
कंठ अति चहै।—जायसी।

वि० [सं० बि + लवण] अलौना। बिना नमक का।

बिलोना—क्रि० प्र० [सं० बिलोडन] (१) मथना। किसी वस्तु
विशेषतः पानी की ली वस्तु को खूब हिलाना। जैसे,
बही बिलोना (घी निकालने के लिए)। (२) ढालना।
गिराना। उ०—मुलसी मदेवै रोह रोह कै बिलोवै आँखु
बार बार कछो में चुकरी दाहीजर सो।—मुलसी।

बिलोरना—क्रि० प्र० [सं० बिलोरन] (१) दे० “बिलोडना”।
(२) बिद निस कर ढालना। अस्तव्यस्त कर ढालना।
उ०—घोरि डारी केसरि सुवेसरि बिलोरि डारी चूनरि
बुवाति रंगरैनी अयो।—बघाकर।

बिलोलना—क्रि० प्र० [सं० बिलोलन] डोलना। हिलना।
उ०—डोलति अडोल मन खोलति न खोलति कछो-
बति बिलोडति न खोलति असति सी।—देव।

बिलोचना—क्रि० प्र० दे० “बिलोना”।

बिलौर—संज्ञा पुं० दे० “बिलौरी”।

बिलकुल—क्रि० प्र० दे० बिलकुल।

बिलमुका—वि० [प्र०] जो घट बढ़ न सके। जैसे, लगान-
बिलमुका।

बिला पुं० (१) वह पक्ष जिसकी पंखों के अनुसार लगान
घटाया बढ़ाया न जा सके। (२) वह खगोल जो घटाया
बढ़ाया न जा सके।

बिल्ला—संज्ञा पुं० [सं० बिल्ला] [स्त्री० बिली] माजूर। दे०
“बिली”।

बिला पुं० [सं० बिल्ला, हिं० बिला, बिला] चरवासे की तरह की
पीतल की पल्ली पट्टी जिसे पशुचान के लिए विशेष विशेष
प्रकार के काम करनेवाले (जैसे, चपासी, तुली, लँसम-
हार, हथवेवाले) बाँध पर या गले में पहने रहते हैं।

बिली—संज्ञा स्त्री० [सं० बिल्ला, हिं० बिलार] (१) बंदबंद पंखों के
बल चलनेवाले पुरा लडवा जमीन पर न रखवाले माँसा-

हारी पशुओं में से एक जो सिंह, व्याघ्र, चीते आदि की जाति का है और अपनी जाति में सबसे छोटा है। बिहरी नाम इस पशु की मादा का है पर यही अधिक प्रसिद्ध है। इसका प्रधान अङ्ग चूड़ा है।

विशेष—इसकी लंबाई एक हाथ से कम होती है और पूँछ डेढ़ दो बारितर की होती है। बिहरी की जाति के और पशुओं के जो लक्षण हैं, वे सब बिहरी में भी होते हैं—जैसे टेढ़े पैने नख जो पंखों के भीतर छिपे रहते हैं और आक्रमण के समय निकलते हैं; पंखों के कारण धाँस की सुतली का घटना बढ़ना, सिर की बनावट नीचे की ओर झुकती हुई, २८ या ३० दाँतों में केवल नाम मात्र के लिए एक पैरर होना; दिना आइट दिप चटकर शिकार पर झपटना इत्यादि। कुत्तों आदि के समान बिहरी की नाक में भी प्राणमाही चमके हुए ऊपर होता है। इससे वह पदार्थों को बहुत दूर से सूँघ लेती है।

भारतवर्ष में बिहरी के दो भेद किए जाते हैं, एक बन-बिहारी और दूसरा पाण्डू बिहरी। वास्तव में दोनों प्रकार की बिहरी बस्ती में या उसके आस पास ही पाई जाती हैं। बनबिहारी का रंग स्वामाधिक—गूरा कुछ चिचिदार होता है और यह पाण्डू से क़र और गहिरा होता है। पाण्डू बिहरी सफ़ेद, काली, बादामी, चितकबरी कई रंगों की होती हैं। इनके रोएँ भी मुलायम होते हैं। पाण्डू बिहरी में भंगौरा या पारसी बिहरी बहुत अच्छी समझी जाती है। यह डील में भी बड़ी होती है और उसके रोएँ भी घने, बड़े बड़े और मुलायम होते हैं। ऐसी बिहरी प्रायः काबुली अपने साथ बेचने के लिए लाते हैं। बिहरी बहुत दिनों से मनुष्यों के बीच रहती आई है। रामायण, मनुस्मृति, अष्टाध्यायी सब में बिहरी का उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति में बिहरी का जूझ खाने का निषेध है। बिहरी पहले पहल कहाँ पायी गई, इसके संबंध में कुछ लोगों का अनुमान है कि पहले पहल प्राचीन सिंधुवालों ने बिहरी पायी, क्योंकि सिंध में तिम प्रकार मनुष्यों की गोमियाई छायाँ मिलती हैं, वही प्रकार बिहरी की। निम्नवाले तिस प्रकार मनुष्यों के शव मसाके से सुरक्षित रखने के वही प्रकार पाण्डू जानवरों के भी।

(२) किराड़ की गिटकिनी जिसके कोड़े में डाल देने से दहेजने पर किराड़ नहीं झुल रहते। एक प्रकार का चर्मल। बिहरी। (३) एक प्रकार की मनुष्यी ओ बस्तीय भारत और बरमा की गिटियों में होती है। एकड़े जाने पर यह मनुष्य काटती है जिसमें विष सा भड़ जाता है।

बिहरीछोटन—उंछा पुं० [हिं० बिहरी + छोटन] एक प्रकार की बूढ़ी जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि यद्यपि रीच से बिहरी मस्त

होकर खोटेन लगती है। यह बवा में काम आती है। यूनानी हकीम इसे 'बादर' अथवा कहते हैं।

बिल्लूर—उंछा पुं० दे० "बिल्लौर"।

बिल्लौर—उंछा पुं० [सं० वैद्य, प्रा० वैद्यवि, मि० का० मित्र]

(१) एक प्रकार का स्वच्छ सफ़ेद पत्थर जो पत्थर के समान पारदर्शक होता है। स्फटिक। (अणुओं की क्षेत्रा की विशेषता के कारण इसमें यह गुण होता है—जैसा कि लोकी की स्वच्छ डली में देखा जाता है)। (२) बहुत लम्बे रीशर जिसके भीतर मैल आदि न हो।

बिल्लीरी—वि० [हिं० बिल्ली] (१) बिल्ली का बना हुआ। बिहरी पत्थर का। जैसे बिल्लीरी चूड़ियाँ। (२) बिल्ली के समान स्वच्छ।

बियरन—कि० अ० [सं० बिहार] (१) सुखमान। एक में गुने हुए बस्तुओं को मिला मिला करना। (२) जैसे वा गुने हुए बालों को हाथ, कंधी आदि से मिला मिला करे साफ़ करना। बाल सुलमाना। ४०—दे० "मोता"।

बियरन—कि० अ० [हिं० बिहार का प्रे०] (१) बालों को सुलमा कर सुलमाना। ४०—पुनः निम्न बना राम बिहार। गुण अनुसासन मोगि नहावे।—मुलती १। (२) बाल सुलमाना।

बियरन—उंछा पुं० दे० "व्यवसाय"।

बियरन—उंछा पुं० [हिं०] ईसाई मत का बड़ा पादरी।

बियरन—उंछा पुं० दे० "बिहार"।

बियरन—उंछा पुं० [सं० बि + संचय] (१) संचय का प्रभाव। मनुष्यों की संभाल न रखना। बेपरवाई। ४०—उनु मनुष्य को संचय किपहु बिसेय रंय न होय।—रघुपति। (२) कार्य की क्षमि। बापा। (३) प्रमंगल। भय। ४०—रंयक नहिं बिसेय कौटिक संग बाल छलन सहकारी।—रघुपति।

बियरन—उंछा पुं० दे० "विरमर"।

०—वि [सं० उप० वि + हिं० संभार] (१) जो संभार न सके। जिसके लोकी और व्यवस्थित न हो सकें। ४०—उन बिसेमर भय बावर लख। बरमा प्रेम परी मिर बदा।—जायसी। (२) बेवक़। ग्राफ़िट। प्रमाणधान।

बियरन—वि० [सं० उप० वि + हिं० संभार] जिसकी गुण गुण भरा गई हो। जिसके लय बदन की लवर न हो। बेपरवाई। ग्राफ़िट। असावधान। ४०—परा गुमेम समुद्र भया। उदरहिं उदर होई बित्त भार।—जायसी।

बियर—उंछा पुं० दे० "बिय"।

बियर—उंछा पुं० [सं० बि + धर्म] (१) हाथ लया हाथ लया मोह की भाँति का एक विषमता सरीय भंगु। इसका काटा हुआ जीव धरुं मर जाता है। इसकी जीम रंगीन होती है।

जिसे यह थोड़ी थोड़ी देर पर निकाला जाता है। देखने में यह थोड़ी भारी छिपकली सा होता है। (२) एक प्रकार की जंगली घुटी जिसकी पत्तियाँ बनगोभी की सी परंतु कुछ अधिक हरी रंग की होती हैं। यह औषध में काम आती है। इसे 'बिस्खपरी' भी कहते हैं। (३) पुनर्वा। पयर-घटा। गदहपूरना।

बिस्खापरि—संज्ञा पुं० [सं० बिष + खपरि] दे० "बिस्खपरा"।
३०—श्रीष्ट बिस्खापरि खपित खरन बीच। छपटै फनीजे गहि पदके पदार को।—रामकवि।

बिस्खटी—संज्ञा स्त्री० [दे०] बेगार। (डि०)
बिस्खतरना—क्रि० प्र० [सं० बिस्खा] बिस्तर करना। बड़ाना। फैलाना। ३०—(क) एक पल ठाड़ी डूँके सामुहैं रही बिहारि खेरि के लज्जीही भीहैं सोचै बिस्खरि के।—रघुनाथ। (ख) बिहैंसि मरेसों लग्यो मिली रघुनाथ प्रभा अंगनि सों गुन रूप देखो बिस्खरि गो।—रघुनाथ।

बिस्खार—संज्ञा पुं० दे० "बिस्खार"।
बिस्खद—वि० दे० "बिस्खद"।
बिस्खन—संज्ञा पुं० दे० "बिस्खन"।
बिस्खनी—वि० [सं० बिस्खन] (१) जिसे किसी बात का बिस्खन या शौक हो। (२) जो अपने बिस्खन को बिस्ख सदा बढ़िया बढ़िया चीजें हो। हँस करे। जिसे चीजें जल्दी पसंद न आएँ। जो बिस्खन की साधारण वस्तु सामने आते पर नाक सों तिक्को। (३) जिसे सफाई सजावट या बनाव सिंगार बहुत पसंद हो। छेड़ना। चिकनिया। शीकीन। (४) बेरयागामी। रंजीत।

बिस्खमडा—संज्ञा पुं० दे० "बिस्खम"।
बिस्खमरना—क्रि० प्र० [सं० बिस्खा] मूल जाना। ३०—सुव तिय धन की सुधि बिस्खमरे।—सूर।
बिस्खमय—संज्ञा पुं० दे० "बिस्खम"।
बिस्खमिल—वि० [का० बिस्खम] घायल। जखमी।
बिस्खमिला—(ह) संज्ञा पुं० [च०] भीगपेश। आरंभ। आदि मुद्रा—बिस्खमिला ही गडत होना—आदि ही से गपनी का शुरू होना। किसी कार्य के आरंभ ही में बिस्ख बाता वा मूल का होना। बिस्खमिल करना—आरंभ करना। लगना लगाना। शुरू करना।

बिस्खयक—संज्ञा पुं० [सं० बिस्ख] (१) देव। प्रदेव। (२) रियासत।

बिस्खरना—क्रि० प्र० [सं० बिस्खा, प्र० बिस्खाय, बिस्खाय] मूल जाना। बिस्ख होना। याद न रहना। ध्यान में न रहना। ३०—(क) बिस्खर भोग सेज सुल बाम्।—आवसी। (ख) बिस्खर भान भई रिस गाड़ी।—गुलसी। (ग) सुरति काम धन की सुरति बिस्खरे बिस्खर न।—बिहारी।

बिस्खरा—संज्ञा पुं० [सं० बिस्खर] खरचर। अश्वतर। ३०—'कूत पिक् मानहु गज माते। टक महोष जैट बिस्खराते।—गुलसी।

बिस्खराना—क्रि० प्र० [हि० बिस्खर] झुला देना। बिस्खर करना। ध्यान में न रहना। ३०—(क) दख सकल विज सुता बोटाई। हमरे बयर तुम्हउ बिस्खरई।—गुलसी। (ख) बिस्खरई न याको है सेवकी अयानी।—प्रताप। (ग) थोरेई गुन रीकते बिस्खरई वह बानि। तुमहूँ कान्ह भये मनी आन काब के दानि।—बिहारी।

बिस्खराम—संज्ञा पुं० दे० "बिस्खराम"। ३०—प्यारी की दोड़ी को बिहूँ दिनेस कियो बिस्खराम गुहिंद के जी को। बाब खुम्बो बयिका मयिनीक को कैयों जमाव जम्यो रजनी को।
बिस्खराना—क्रि० प्र० दे० "बिस्खराना"। ३०—कहिके वनके गुन गान सदा अपने दुख को बिस्खरानो है।—हरिचंद्र।

बिस्खार—संज्ञा पुं० [सं० बिस्खर = बख + हि० वार (प्रय०)] हज्जामों की वह पेटी जिसमें वे इस्त्रामल बनाने के चीमार रखते हैं। छुरहड़ी। कितबत।

बिस्खवास—संज्ञा पुं० दे० "बिस्खवास"।
बिस्खवासिनि—वि० स्त्री० [सं० बिस्खवासिन्] (१) बिस्खवास करनेवाली। (२) जिस पर बिस्खवास हो।
*—वि० स्त्री० [सं० बिस्खवासिन्] (१) जिस पर बिस्खवास ग हो। (२) बिस्खवासपातिनी।

बिस्खवासी—वि० [सं० बिस्खवासिन्] (१) जो बिस्खवास करे। (२) जिस पर बिस्खवास हो। जिसका पतवार हो।
वि० [सं० बिस्खवासिन्] (१) जिस पर बिस्खवास न किया जा सके। बेपतवार। (२) जिसका कुछ ठीक न हो कि क्या क्या करे करावेगा। जैसे, बिस्खवासी पेट के कारण परदेस में पड़े हैं। (बोलचाल)

बिस्खसना—क्रि० प्र० [सं० बिस्खस] बिस्खवास करना। पतवार करना। असोसा करना। ३०—न ये बिस्खसिंयं अति नये हुरजन दुसह सुमाव। आदि परि मानन इरत कटि लीं बगि पाव।—बिहारी।

क्रि० प्र० [सं० बिस्खस] (१) पथ करना। मारना। यात करना। ३०—पुनि तरंग को बिस्खसि तहैं कौसल्या कर दीन। कियो होम करि गाय वप इसराय नृपति प्रवीन।—रघुराज। (२) शरीर काटना। चीरना काटना।

बिस्खहना—क्रि० प्र० [हि० बिस्ख] (१) मोल लेना। खरीदना। इम देकर कोई वस्तु लेना। खप करना। (२) जान बूझ कर अपने साथ लगाना। ३०—जो पैं हरि धन के प्रीमुख गहते। ती सुरपति कुराज बाजि सों कन इडि बैर बिस्खते।—गुलसी।

विहङ्गना-कि० सं० [सं० विहङ्गना, प्रा० विहङ्ग] (१) बंद बंद कर डालना । सोढ़ना । (२) काटना । (३) नष्ट कर देना । मार डालना । ३०—(क) जै धमुंड जै चंड मुंड मंडा-
सुर खंडिनि । जै सुगऊ जै रक्षसीय पिशाल विहंडनि ।—
भूपण । (ख) चंड सुगद्वंद खंडनि विहंडनि मुंड महिय
मद भंग करि भंग तोरे ।—तुलसी । (ग) तू अथके अथ
अथयन मंडे । अधिक अनेकन विषय विहंडे ।—लाल ।

विहंसना-कि० अ० [सं० विहंस] सुस्कारना । भंद भंद
हंसना । ३०—जाहू बेगि संकट अति धाता । लविमन
विहंसि कहा सुनु माता ।—तुलसी ।

विहंसना-कि० अ० (१) दे० “विहंसना” । ३०—(क) राता
जगत देखि रंगराती । रक्षि भरी भावहिं विहंसाती ।—
जायसी । (ख) ततमन एक सखी विहंसानी । कौतुक एक न
देखहु रानी ।—जायसी । (२) प्रकुपित होना । विलम्ब
(फूल का) ।

कि० सं० हंसना । हंसित करना ।

विहगा-संज्ञा पुं० दे० “विहगा” ।

विहत्तर-वि० [का०] बहुत अस्त्रा ।

विहत्तरी-संज्ञा स्त्री० [का०] भयार्थ । कुशल ।

विहङ्ग-वि० [का० वेद] असीम । परिमाण से बहुत अधिक ।

३०—(क) भूपण भगत नाद बिहङ्ग नगरन के, मदी नद
मद गीरण के रलस है ।—भूपण । (ख) देवनी कैसी किति
दिपति बिसरी बासु, सुगुण साहिबी बिहङ्गी मनो देव-
राज ।—सुगुण ।

विहङ्गल-वि० [सं०] व्याकुल । ३०—फाई न मिटन फाई
बाए हरि बाधुर है जब जान्यो गन प्राइ लये जात जल
में । बाधोपति धनुनाथ खगपति साथ जन जान्यो बिहङ्गल
तब दाहि दये पल में ।—सूर ।

विहर्गना-कि० अ० [सं० विहर्ग] घूमना फिरना । सोई करना ।
प्रमथ करना । ३०—विन वीथिन बिहरे सव भाई ।

धकिग होई सव लोग सुगाई ।—तुलसी ।

१०—कि० सं० [सं० विहर्ग, प्रा० विहर्ग] (१) कटना ।

हरकना । विदीर्य होना । ३०—(क) तामु दून है हम
कुल बोरा । पेसेदू मति नरविहङ्ग तोरा ।—तुलसी । (ख)

मरु गल काटि निहङ्ग कुटघाली । बल विजोकि बिहङ्गति
महिं पाली ।—तुलसी । (२) टटना फटना ।

विहर्गना-कि० अ० [सं० विहर्ग] कटना । ३०—होरा
के से पात बिहर्गने फन सेम के ।—सूर ।

विहरी-संज्ञा स्त्री० [सं० विहरी] बंद । बरार । खेज ।

विहारा-संज्ञा पुं० [?] एक राग जो आधी रात के बाद लग-
भा २ बजे के गाया जाता है । यह राग दिव्योन्न राग का
पुन माना जाता है ।

विहारा-संज्ञा पुं० [सं० विहारा + प्रा० (मत्त०)] संपूर्ण जगत्
एक राग जिसमें सप्त शुद्ध स्वर लगते हैं । इसके गाने का
मध्य रात के १६ बजे से २० बजे तक है । कोई एवं
हिं कोल राग की रागिनी कहते हैं और कोई इसे मान्य,
केदारा और मारवा के योग से उत्पन्न मानते हैं ।

विहान-संज्ञा पुं० [सं० विहान, प्रा० विहान, विहान] सवेरा । प्रा-
काट । ३०—लसत सेत सारी दब्यो ताल ता योग काय ।
पारो मनी सुरसरि सखिल रवि प्रनिबिध विहान ।—
विहारी ।

कि० वि० आनेवाले नूतने दिन । कहत । कहं । ३०—
मकल यथा क्रम सधरि यत्नाने । राम होई युवाक
विहाने ।—रघुनाथ ।

विहाना-कि० सं० [सं० वि + प्रा० होना] खोदना । खाना ।

३०—(क) सुनु शरीर हरि भगति विहाई । जे नून
बाहिं चान उपाई ।—तुलसी । (ख) सदा सवेरा
खामि सेवकाई । स्थाय छल फल बारि विहाई ।—
तुलसी । (ग) विमल बंस यह अतुलित मूढ़ । वेदु विहाय
बहैहि अमिपेह ।—तुलसी । (घ) देखि विपुल विह्व
वेदेही । निमिष विहात कष्ट सम तेही ।—तुलसी ।

कि० अ० व्यतीत होना । गुजरना । धीरना । ३०—(क)
बड़ी विहद की रैन यह वर्यौह के न विहाय ।—तुलसी ।
(ख) गहै धीन मकु रैन विहाई ।—जायसी ।

विहारना-कि० अ० [सं० विहार] विहार करना । डेढ़ या
झीड़ा करना । ३०—(क) सुर नर भाग नव कल्प के प्रा-
पति पति देवतानहू को दिव्य बिहारे हैं ।—केदार । (ख)
बहुम सहस्रवत तुम धारो । विष्णु कोक में नाव बिहारी ।
—रघुनाथदास ।

विहाल-वि० [का० वेद] व्याकुल । बेचैन । ३०—जादे मर
रघुबीर कृपाल । सकल सुवन में किर्पा विहाल ।—
तुलसी ।

विहिरत-संज्ञा स्त्री० [का०] स्वर्ग । बहंड ।

विही-संज्ञा स्त्री० [का०] (१) एक पेड़ जिसके फल अमरुद से
मिलते जुलते होते हैं । यह पेड़ावर और काजु की ओत
होता है । (२) एक पेड़ का फल जो मेवों में गिना जाता
है । (३) अमरुद ।

विहीदाना-संज्ञा पुं० [का०] विही नामक फल का बीज जो
दवा के काम में आता है । इन बीजों को मिठा देते में
मुवाब निकलता है जो शबन की तरह रिया जाता है ।

विहीन-वि० [सं० विहीन] रहित । बिना । ३०—बारि-विहीन मीन
ज्यो व्याकुल लो भ्रमवार मरे ।—सूर ।

विह्वन-वि० [सं० विह्व] विहा । रहित । ३०—(क) निम मेनी
निम मम काय दुरक्ष मम दुष्ट दून । मलयपत्र है मेन

जब तुलसी दोप बिहान—तुलसी । (ख) डोल बाजता या
सुनै सुगति बिहना कान—कबीर ।

विहोरना—कि० अ० [हिं० विहोरना = भूटना] बिलुटना । घ०—
हाता के विहोरे रती राम में न रह्यो बल दूजे लछिमन
मेवनाद से क्यों जीति है ।—इसुमान ।

वोई—संज्ञा पुं० दे० “बीड़ा” ।

संज्ञा छं० दे० “बाड़ा” ।

बाँड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० बीड़ी + भा (प्रत्य०)] (१) पेड़ की पतली
दहनियों से बुनकर बनाया हुआ मेंदरे के आकार का लंबा
नाल जो कच्चे ऊँचे या चोंड में इसलिये दिया जाता है
कि इसका भगाड़ न गिरे । बीड़ा । (२) भान के पयाल को
बुन और लपेट कर बनाया हुआ गोल आसन जिस पर गाँव
में लोग भाग के किनारे बैठकर तापते हैं । (यह लंबे पयाल
को बुनकर, इसका लंबा फीता बनाते हैं । फिर इस फीते का
धतूलाकार लपेटकर ऊपर से हस्ती से कसकर बांध देते हैं ।
यह गोब होता है और मंडने का काम में आता है ।) (३) घास
आदि को लपेटकर बनाई हुई गड़दों जिस पर चढ़ रहल
जाते हैं । (४) वह गड़दो जिससे सिर पर रखकर चढ़, दोकरे
आदि का भार ठाठ ह । (५) बड़ा बाँधी । हुंडो । (६)
लकान की लकड़ी या बाँस आदि का बाँधकर बनाया हुआ
भोम । (७) बिँडी । बिँड ।

बीँड़ियाँ—संज्ञा पुं० [हिं० बीँडी] वह बँड ओ सीन बँडों की गाड़ी
में सब स आगे रहता है और जिसके गल के नाचे बीँडी
रहती है । बीँड़िया ।

बीँड़ी—संज्ञा छं० [सं० बेकी] (१) वह मोटी और कपड़े आदि
में जपेडा हुई रहती जो उस बँड का आगे गल के सामने
छाती पर रहती है जो तान बँडों की गाड़ी में सब स
आगे रहता है । (२) रहती का सूत की वह पिटी जा
लकड़ी या किसी भार चीज के ऊपर लपेटकर बनाई
जाय । (३) वह लकड़ी जिस पर सूत आदि का लपेटकर
बाँधी बनाई जाता है । (४) वह गड़दो जिस सिर पर रखकर
चढ़ा, टोका या भार काढ़ा काम ठाठ है । (५) कसुला ।

बीँधना—क० अ० [सं० बिध] (१) बाँधना । (२) कलना ।
बलटना । ४०—(क) कल करि आवत स्याम होता । मन
मम बचन और नहिं मोर पदरज त्यागि हित । अतयाँसी
परी न जानत जो मो राह । यही । ज्यों कुजवरि रस बीँध
हारि गयु साधतु पटक ।—सूर । (ख) भूष्या भोंह
माल म सुभ्या के टेंगि पाव मै, ब्रह्मा क छायाजाल क
भीयो बनमाल में ।—पद्माकर ।

हिं० घ० विद करना । छंदना । बेचना । लीसे, कान
बीधना ।

बी—संज्ञा छं० [का० बी के संक्षिप्त रूप] दे० “बीयो” । ४०—

अधुँ बन मीजी बी जी छीजी और पसीजी मीजी पीजी सो
पतोजी राग रंग रैन रितई ।

बीकाँ—वि० [सं० वक्र] टेढ़ा । उ०—तुम अपने नाश को देखा
चाहती हो ? तुम्हारा बाल तक धीका न होगा; परंतु
यदि तुम अपना जीवन चाहती हो तो मौन रहो ।—
अयोध्यासिंह । (दे० मुद्रा—“बाल बाँका करना” ।)

बीखाँ—संज्ञा पुं० [सं० बीखा = गढे] पद । कदम । लंग । उ०—
(क) परा सतगुरु ना भिळा सुनी अंधरी सीख । निरुसा
या हरि भिठन को पाखि सकाया पीख ।—कबीर । (ख)
अरा आग जोरा किया नेत्रन बीनी पीठ । आँखों ऊपर आँगुरी
पीख भरे पवि नीठ ।—कबीर ।

संज्ञा पुं० दे० “विप” ।

बीगाँ—संज्ञा पुं० [सं० एक] [श्री० बीगन] भेंड़िया । ४०—सूक्ति
लीजिए ब्रह्मज्ञानी । सुमरि सुमरि बरका बरसावे परिया बूँद
न पानी । चींटी के पग हस्ती बाँधे छेरी बीगदि छाये ।
उदधि मंदिं से निकसि माँझरी बाँधे गेह कराये ।—कबीर ।
बीगना—कि० घ० [सं० बीकीरण] (१) छोटना । छितराना ।
(२) गिराना ।

बीगहाटी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बीघा + टी (प्रत्य०)] वह लगान जो
बीघे के हिसाब से लिया जाय ।

बीघाँ—संज्ञा पुं० [सं० बिग्रह, भा० बिग्रह] खेत नापने का
एक वर्ग मान जो बीस बिसे का होता है ।

बिरीय—एक जरीब लंबी और एक जरीब चौड़ी भूमि चैत्र-
फल में एक बीघा होती है । मिश्र भिन्न प्रांतों में मिश्र
मिस्र मान की गरीब का प्रचार है । अतः प्रांतिक बीघे का
मान जिते देखी या देहाती बीघा कहते हैं, सब जगह समान
नहीं है । पक्का बीघा, जिससे सरकारी बीघा भी कहते हैं, ३०२५
वर्ग गज का होता है जो एक एकड़ का ५ भाग होता
है । अब सब जगह प्रायः इसी बीघे का प्रयोग होता है ।

बीखी—संज्ञा पुं० [सं० बिष = चक्ष्मा करना] (१) किसी परिधि,
सीमा या मर्यादा का केंद्र अथवा उस केंद्र के आस-पास
का काई ऐसा स्थान जहाँ से चारों ओर की सीमा प्रायः
समान अंतर पर हो । किसी पदार्थ का मध्य भाग । मध्य ।
उ०—(क) मन को सारों पटक कर टूक टूक हो जाय । टूटे
गले फिर लुरे बीच वाटि परि जाय ।—कबीर । (ख) जनम
पत्रिका बाधों के रूखटु मनहि बिचार । दाहन बरी मीसु के
बीच विराहत नारि ।—तुलसी । (ग) जानी न ऐसी चढ़ा
चढ़ी में किहीं धौं कटि बीच । छूट लई ली ।—पद्माकर ।

मुद्रा—बीघ खेत = (१) खुले मैदान । चक्के सामने । प्रकट
रूप में । (२) अवश्य । जरूर । बीच बीच में = (१) आ
रु कर । पोड़ा पोड़ी देर में । (२) पोड़ा पोड़ा दूरी पर । पोड़े
पोड़े अंतर पर ।

(२) भेद । अंतर । फाट । उ०—(क) धँदो संत स-
सन्न घरता । सुखप्रद वयस बीच कहु बरता ।—गुलसी ।
(ख) धन्य हो धन्य हो तुम बीच नारी । मोहि घोखो गये
दारस तुमको भरो तुमहि मोहि देखो ती बीच भारी ।—सूर ।
मुहा०—बीच करना = (१) सद्भावों के लड़ने से रोकने के
लिये प्रयास करना । उ०—लखित भृङ्गटि तिलक
मोल धिबुक धंधा, द्विज रसाल, हास चाखर कपोल
नासिका मुहाई । मधुकर जुग पंकज बिब मुख बिबोकि नीज
पर छरत मधुप अवली मागे बीच कियो भाई ।—गुलसी ।
(२) झगड़ा निवदना । झगड़ा मिटाना । उ०—(क) चोरी
के फल तुमहि दिलाऊँ । कंचन खेम डोर कंचन की देखो
तुमहिँ पै धाऊँ । रंगों एक भंग कहु तुमरो चोरी नाई
मिटायँ । जो चाहे सोह सप लेहों पह कहि डाँड़ मँगाऊँ ।
बीच करम जो चाहे कोऊ ताकी सौह दियाऊँ । सूरयाम
चौरन के राता बहुरि कहा मैं पाऊँ ।—सूर । (ख) रहा कोह
भारहरिया करे जो दोर महीं बीच ।—जायसी । बीच पढ़ना ।
(३) परिवर्तन होना । घाट का चौर होना । बदल जाना । उ०—
कोटि जलन कोऊ करे परे न प्रकृतिहि बीच । नल पल जल
ऊँचे चढ़ै अंत बीच को मीष । (२) झगड़ा निवदने के लिये
पंच बनना । मध्यस्थ होना । बीच पारना वा डालना । =
(१) परिवर्तन करना । (२) विभेद वा पारण्य करना ।
उ०—(क) विधि न सकेत सहि मोर दुलारा । बीच बीच
जननी मित वारा ।—गुलसी । (ख) गिरि छे गिरि
आनि सिद्धायती केरि बराय के बीचहि पारती है ।—
प्रताप । बीच में पढ़ना = (१) मध्यस्थ होना । (२) जिम्मे-
दार बनना । प्रतिभू बनना । बीच रखना = भेद करना । बुराव
रखना । पराया समझना । उ०—कीन्ह प्रीति कहु बीच न
राखा । लक्ष्मिन राम चरित सव भाषा ।—गुलसी । बीच में
पढ़ना = समावेशक हस्तप्रेष करना । व्यर्थ रीति करना ।
कृत्नी को बीच देना वा बीच में देना = (१) मध्यस्थ बनना ।
(२) छापी बनना । (ईश्वर आदि को) बीच में रखकर
कहना = (ईश्वर आदि को) शरण लाना । कर्म लाना ।
मिथोप-हस्त कार्य में कमी कमी जिसकी कसम कानी होती है,
हस्तका नाम लेकर और उसके साथ केवल "बीच" शब्द
लगाकर भी बोलते हैं । जैसे, ईश्वर बीच, हम कुछ नहीं
जानते । उ०—तोहि अलि कीन्ह आप भा केना । हो
पठना गुप्त बीच परेना ।—जायसी ।
(३) दो वस्तुओं का रंगों के बीच का अंतर । अन्तराल ।
उ०—अपवि पारिज जीव केई । महिप बीच विधि भीयु
न होई ।—गुलसी । (४) अन्तर । मीमांसा । अन्तराल ।
उ०—बसु गेभीर राम महतारी । भीयु पाह निज बात
सँवारी ।—गुलसी ।

कि० वि० दारमियान । अंदर । मं० उ०—आनी न दे
चड़ाचुं मे भविषीं पटि बीच ही एटि सरासी ।—
पद्माकर ।
संज्ञा स्त्री० [सं० बीच] लहर । तरंग । उ०—"बीच" ।
बीचु—संज्ञा पुं० [हिं० बीच] (१) अन्तर । मीमांसा । (२)
अंतर । फाट । उ०—चतु गेभीर राम महतारी । भीयु पाह
निज बात सँवारी ।—गुलसी ।
बीचोबीच—कि० वि० [हिं० बीच] बिलकुल बीच में । मीमांसा
में । उ०—शोकपूर्णचंद भी अर्जुन को साथ ले वहाँ
चौर आ के बीचोबीच स्वर्णर के लड़े हुए ।—कृत ।
बीचुना—कि० वि० उ० [सं० बिब वा बिबन] (१) बुरा ।
खुदना । पसंद करके छलना करना । उ०—साधुव साध
दिये आगे है अनक लिपू रचना रचि सव साधर ईश्वर के ।
दिपू दिग्ग्य साधन सुपास साधकास अति आये आये भी
बीधे बिबीमा बिहाइ के ।—गुलसी । (२) एक एक को
छलना छलना देना ।
बीची—संज्ञा स्त्री० [सं० बीच] बिच्छू । उ०—(४) गीत
गीति को मंत्र है माहुर आरे जाय । बिच्छू गीत के साथ
परा काटि करेना राय ।—कबीर । (ख) प्राणुहीत पुनि
बात बस तैहि पुनि बीची मार । ताहि विपारि बान्नी काह
कवन बपवार ।—गुलसी ।
कि० प्र०—भारना ।
मुहा०—बीची बहना = बिच्छू के टंक का चिपचना । उ०—
नगर ब्यापि गई बात सुलीकी । तुलना चड़ी अनु सब लप
बीची ।—गुलसी ।
बीछु—संज्ञा पुं० (१) दे० "बिच्छू" । उ०—सीत अंतर्ग विष
चित चढ़े मुख न मङ्गे परिचंक । बिनु मोहन अगहन बँध
बीछु कैलो डंक ।—अनारम । (२) दे० "बिच्छू" ।
(हथियार) उ०—बीछु के पाय गिरे अकनजिद कर ही
निमाराज निहारयो ।—भूषण ।
बीज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कूलपात्रे वृक्षों का गर्भांज जिसमें
वृक्ष उत्पन्न होकर उत्पन्न होता है । यह गर्भांज एक पिंडके
में पैदा रहता है और इसमें अल्पकाल रूप से माँकी वृद्धि का
प्रत्यक्ष रहता है । जब इस गर्भांज को उपयुक्त भट्टा-भाँट
आदि स्थान मिलता है, तब वह भट्टा मिलने से उपर अल्पक
रहता है, प्रसन्न होकर बढ़ना और फैलकर रूप में परिणत हो
जाता है । यही फैलकर सामय पाकर बढ़ता है और बढ़कर
वैसा ही पैदा हो जाता है वैसे पैदा के गर्भांज से वह सब
निष्पन्न वा । बीजा । वृक्ष । दाना ।
मि० प्र०—जगना ।—उपना ।—योगा ।
(२) प्रधान वाच्य । मूल प्रकृति । (३) दफ । मूल ।
(४) देव । काव्य । (५) एक । बीच । (६) अन्तर

सांकेतिक वर्णसमुदाय वा शब्द जिसको कोई व्यक्ति जो उसके सांकेतिक भाषों को न जानता हो; नहीं समझ सकता। (७) गणित का एक भेद जिसमें अल्पक संख्या के सूचक संकेतों का व्यवहार होता है। दे० "बीजगणित"। (८) अल्पक-संख्या-सूचक संकेत। (९) वह अल्पक ध्वनि वा शब्द जिसमें तंत्रानुसार किसी देवता को प्रसन्न करने की शक्ति मानी गई हो। (मित्र मित्र देवताओं का मित्र मित्र बीज मंत्र होता है।) (१०) मंत्र का प्रधान भाग वा श्रेण।

विशेष-तंत्रानुसार मंत्र के तीन प्रधान श्रेण होते हैं—बीज, शक्ति, और कीलक।

(१) वह भावपूर्ण सांकेतिक अल्पक शब्द जिसमें बहुत से भाव सूक्ष्म रूप से सन्निवेशित हों और जिसका तात्पर्य दूसरे लोग, जिन्हें सांकेतिक शब्दों का ज्ञान न हो, न जान सकें। ऐसे शब्दों का प्रयोग रासायनिक तथा ह्मसी प्रकार के और कार्यों के लिये किया जाता है।

श्रेण छी० दे० "विजली"। उ०—अजहूँ गरी उँह बीज देखावा। बीज परयो कहु कहुँ न थावा।—आवसी। बीजक-श्रेण पु० [सं०] (१) सूची। केहरिस्त। (२) वह सूची जिसमें माल का खोरा, दर और मूल्य आदि लिखा हो। यह सूची वेचनेवाला माल के साथ खरीदनेवाले के पास भेजता है। (३) वह सूची जो किसी गढ़े हुए धन की, उसके साथ, रहती है। (४) असना का वृत्त। (५) विजौरा नीपू (६) बीज। (७) जन्म के समय बच्चे की वह अवस्था जब उसका सिर दोनों भुजाओं के बीच में होकर दोनों के द्वारा पर था जथा। (८) कबीरदास के पदों के तीन संग्रहों में से एक।

बीजकृत-श्रेण पु० [सं०] भाजीकरण।

बीजक्रिया-श्रेण छी० [सं०] बीजगणित के नियमानुसार गणित के किसी प्रश्न की क्रिया।

बीजखान-श्रेण पु० [हि० क्षेत्र + खान] वह रकम जो जमींदारों वा महजनों आदि की ओर से किसानों को बीज और खाद आदि के लिये पेशगी दी जाती है।

बीजगणित-श्रेण पु० [सं०] गणित का वह भेद जिसमें अक्षरों को संख्याओं का सूचक मानकर कुछ सांकेतिक चिह्नों और निश्चित युक्तियों के द्वारा गणना की जाती है, और विशेषतः अज्ञात संख्याएँ आदि जानी जाती हैं।

बीजगर्भ-श्रेण पु० [सं०] परबल।

बीजगुप्ति-श्रेण छी० [सं०] (१) सम। (२) कबी। (३) भूरी।

बीजाय-श्रेण पु० [सं०] बीज का भाव। बीज-पन।

बीजदर्शक-श्रेण पु० [सं०] नाटकों में अभिनय का परिचर्यक। वह व्यक्ति जो नाटक के अभिनय की व्यवस्था करता हो।

बीजधान्य-श्रेण पु० [सं०] धनिर्वा।

बीजन-श्रेण पु० [सं०] अवन। सेना। पंखा। उ०—सासे रम बीजन सुखाने पौन खाने सुखे, स्वम के खजाने, खस-खाने खूब खस खास।—पद्माकर।

बीजापाद-श्रेण पु० [सं०] भिड़ावा।

बीजपुष्प-श्रेण पु० [सं०] (१) महारा। (२) मदन वृत्त।

बीजपूर, बीजपूरक-श्रेण पु० [सं०] (१) विजौरा नीपू। (२) चकोतरा।

बीजपेणिका-श्रेण छी० [सं०] अंडकोप।

बीजफलक-श्रेण पु० [सं०] विजौरा नीपू।

बीजवंद-श्रेण पु० [हि० बीज + वंदना] खिरौटी के बीज। धरि-धारे के बीज। बहारा।

बीजमंत्र-श्रेण पु० [सं०] (१) किसी देवता के उद्धार के निश्चित किया हुआ मूल-मंत्र। (२) किसी काम को करने का धसली श्रेण। मूल-मंत्र। गुर।

बीजमालुका-श्रेण छी० [सं०] कमलगट्टा।

बीजमार्ग-श्रेण पु० [सं०] वाममार्ग का एक भेद।

बीजमार्गी-श्रेण पु० [सं०] बीजमार्गी बीजमार्गी श्रेण के अनुयायी।

बीजरत्न-श्रेण पु० [सं०] रुद्र की दाल।

बीजरी-श्रेण पु० दे० "विजली"।

बीजरचन-श्रेण पु० [सं०] जमालगोटा।

बीजल-श्रेण पु० [सं०] वह जिसमें बीज हो।

वि० बीजवाला। बीजमुक्त।

श्रेण छी० [हि०] सलवार।

बीजवाहन-श्रेण पु० [सं०] शिव।

बीजवृत्त-श्रेण पु० [सं०] असना का पेश।

बीजसू-श्रेण छी० [सं०] धृष्टी।

बीजहरा, बीजहारिणी-श्रेण छी० [सं०] एक ढाकिनी का नाम।

बीजांकुल्याय-श्रेण पु० [सं०] एक न्याय जिसका व्यवहार दो संबंध वस्तुओं के चित्त प्रवाह का दर्शा देने के लिये होता है। बीज से अंकुर होता है और अंकुर से बीज होता है। इन दोनों का प्रवाह अनादि काळ से चला आता है। दो वस्तुओं में ह्मसी प्रकार का प्रवाह वा संबंध दिखलाने के लिये इसका उपयोग होता है।

बीजा-वि० [सं०] द्वितीय, द्वितीय, द्वितीय, द्वितीय, द्वितीय।

उ०—ए मन के गुण गुंथत जे पहिवागत जानकी और न बीजे।—हनुमान।

श्रेण पु० दे० "बीज"।

बीजाक्षर-श्रेण पु० [सं०] किसी बीजमंत्र का पहला अक्षर।

बीजाधय-श्रेण पु० [सं०] जमालगोटा।

बीजाध्यक्ष-श्रेण पु० [सं०] शिव।

बीजित-वि० [सं०] जिसमें बीज बोया जा चुका हो ।

बोया हुआ ।

बीजी-वि० [सं० बीज्] (१) बीजवाला । (२) बीज संवेधी ।

जिसका मध्य बीज से हो ।

संज्ञा स्त्री० [सं० बीज + ई (प्रत्य०)] (१) गिरी । मीरी ।

(२) गुटली ।

संज्ञा पुं० [सं० बीजिन्] पिता ।

बीजु-संज्ञा स्त्री० [सं० विपुय, प्रा० विगुजु] बिजुली । व०—

हरि मुख हेलिपु वसुदेव । केटि काम स्वरूप सुंदर कोट न जानत भेव ।..... ग्यान सूते पढ़वया सब नौदु वपजी मोह । निशि चोचेरी बीजु वमके सचन रापै मोह ।—मूर ।

बीजुपात-संज्ञा पुं० दे० "वज्रपात" ।

बीजुपद-संज्ञा स्त्री० दे० "जिह्वा" ।

बीजू-वि० [हिं० बीज + ऊ (प्रत्य०)] बीज से उत्पन्न । जो बीज बोने से उत्पन्न हुआ हो । कलमी का बलटा । जैसे, बीजू घाम ।

संज्ञा पुं० दे० "विगुजु" ।

बीजोदक-संज्ञा पुं० [सं०] बीजा ।

बीज्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो अपने कुल में उत्पन्न हुआ हो । कुलीन ।

बीकनाङ्क-वि० [सं० बिद, प्रा० बिजक] जिस होना ।

फँसना । व०—(क) डोहें वन वन जोर मौन के पाच-इन राग वरा कीन्हें वन वाली बीकि रहैं हैं ।—देव । (ख) भीकि भीकि मुंकि के विरकि भीकि मेरे बैरी पूरी रीक रीकिरें रिक्कप रिक्कवार री ।—देव ।

बीमाङ्क-वि० [सं० बिजन] जहाँ मनुष्य न हों । निजन । वृ-कत । व०— परेह प्राप अब बनबैड साहो । बँडकाय भीम बन जाहो ।—जायसी ।

बीट-संज्ञा स्त्री० [सं० बिट्] (१) चक्कियों की पिटा । चिक्कियों का गुड़ । (२) गुड़ । मल । (प्रत्य०)

(३) दे० "बिटलपच" ।

बीटल-संज्ञा पुं० दे० "बिटल" ।

बीड़-संज्ञा स्त्री० [हिं० बीड़ा] एक के ऊपर एक रखे हुए वृक्ष जो साधारणतः गुली का साकार चारण कर लेते हैं ।

संज्ञा पुं० दे० "बीड़" ।

बीड़ा-संज्ञा पुं० [सं० बीटम्] (१) सारी गिट्टीजो पान में घना, कपा, गुपारी कादि डालकर भीर होते लपेटकर बनाई जातो है । लीकी । व०—बीडा काव चले मोहन को मि-त्रि के जागो बीर । सगा मोग भव मित्रे बराबर चाप सरजू तीर ।—मूर ।

मुदा०—बीड़ा बरमा = (१) कोई काम करने का संकल्प

करना । किसी काम के करने के लिये हमी मत्ता । पप री-नां। व०—कबिरा निदक मरि गया सब क्या बरिह जा ।

पेसा कोई ना मित्रे बीड़ा खेह उडाह ।—परी । (१)

उपगत होना । सुखी होना व०—कहे कंस मन साध

भालो भयो मंत्री दयो । छोने महा मुलाय भारी कर बीड़ा

लये ।—लल्लू । बीड़ा डालना या रखना = किसी कठिन काम

के करने के लिये यहाँ में लोगों के सम्मेलन की गिरेरी रख

कर वह कहना कि जिसमें वह काम करने की चेष्टा या प्रवृत्ति हो

वह इसे उठा ले । जो पुराने बड़े उठा ले, उसी को ठकुरे रखे

का मार दिया जाता है । (यह प्रायः प्राचीन काल के राजाओं

की रस्म थी, जो सब बंड ही गई है) । बीड़ा बंधा = (१)

कई काम करने की आशा देना । काम का मार देना ।

दे० "बीड़ा बान्ना" । व०—कंस गुपति ने शकर बुदाए बेरा

बीग दीहों । प्रायः अंदगृह द्वार नगर में रूप प्रगट बिज

कीहों ।—मूर । (२) माचने, गाने पढ़ने कादि का मर

साध करनेवालों का किसी कलब में सम्मिलित होकर कलब

करने के लिये नियत करना । माचने, गानेवालों कादि के

देना । पढ़ाना देना ।

(२) वह डोरी जो लकवा की ग्यान में मुँह के पान में बँधी

रहती है । ग्यान में लकवा डालकर यह डोरी लकवा के

वस्ते की रूटी में बाँध दी जाती है जिससे वह स्नान से

निकल नहीं सकती ।

पीछिया-वि० [हिं० पीछा + इया (प्रत्य०)] पीछा करनेवाला ।

अगुया । मेता । दे० "पीछिया" ।

पीड़ो-संज्ञा स्त्री० [हिं० पीड़ा] (१) दे० "पीड़ा" । व०—

धरियन अंचन सैन बोर बंशनि माया बेसरी साजन । बीर

गुल मरि चिबुक दिहीना निरति कपोसन ज्ञात । (१)

गदो । दे० "पीड़ा" । (२) निरसी जिसे बिना बंध रंगों

के बिने मुँह में मजली है । (३) पत्ते में छपे हुए

सुरती का पुर जिसे लोग मिगोट या सुरत कादि के स्थान

में सुकपाकर पीते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पीड़ा] एक प्रकार की माष ।

पीतना-वि० [सं० पीत] (१) समय का विगत होना

कल बरना । गुजाना । व०—(क) कहें बीत मोद के मंग

बोख मन राख्यो है हिंदोर । तहें कूटि कीच ब्रह्म म

लगि कलहु बाहिं धिति हीर । पीतनी लखहु जी

कूटि पीहहि विमुक्त पाय । केटिन कलप गुग पीतिया मा

न सबहुं हाय ।—कबीर । (२) जलन गयो कादि नि

धीति । परमावय पावन न करे कपु अगुनि कवि

पसीत ।—मुहसी । (३) बहुत दिन पन मच कर पीते

कीहों पाणी । कपु दिन पवन किजो अगुनायन रो

ग्यान बढ जाती ।—मूर । (४) गुल सो बीनी सब नि

मनु सोए हक माव । मूका सेकि गहै जु छिन हाथ न छोड़े
हाथ ।—बिहारी । (३) दूर होना । जाना रहना । छूट
जाना । निवृत्त होना । उ०—(क) सब विधि सानुकूल
छवि सीता । मा निमोच हर अपहर धीना—सुलसी । (ख)
मुनि बायमीकि कृपा सातों अघि रामसंन फल पायो ।
गलटा नाम जयत घघ बीयो पुनि वपदेश करायो ।—सूर
(३) संचटित होना । घटना । पड़ना । उ०—(क)
कैसे करि आवत श्याम हूती । मय क्रम बचन और
नहिं मेरे पदर तयागिहूती । संवर्षाभी यही न जानत
जो मो वरदि बिती । ज्यों ज्यों कुहुकारि रस बीधि हार
गुप सोचत पद कि चित्ती ।—सूर । (ख) मय वचन क्रम पल
ओट न भावत छिन युग बरस समाने । सुश्याम के
वश्य मय ये जोहि धोते सो जाने ।—सूर । (ग) बैठी सति
सुंदरि सहैलिन समाज बीध बदन पे चारता चिराक की
बिती रही ।—प्रताप ।

बीता—संज्ञा पुं० दे० “विस्तार” ।

यायित—वि० [सं० व्यायित] दुःखित । पीड़ित । उ०—
पातकी पपीहा जलपान को न प्यासो काहू भीयित बियो-
गिति के प्रानन को प्यासो है ।—पद्माकर ।

बीघना—कि० व० [सं० बि०] फैलना । उलटना । उ०—

(क) हमै सा संघा छुटी कुहिया । गैया पिपू बहकवे
हुहिया ।... धरती घरसे बाढ़ल भीजे भीट भया पैराज ।
हंस उड़ने लाक सुखाने चहले बीघा पाज ।—कबीर ।
(ख) मैना बीधे जोक मेरे । श्याम सुंदर के दास परस में
हूत वत फिरत न परे ।—सूर । (ग) कौन अति रहि है
बिरद अथ देखी मुगदि । बीधे मोसों घाय के तीधे गीघदि
तारि ।—बिहारी । (घ) इंदिरा के मंदिर में सुविष्ट अनेद
मेरे बीधे अब फंद तहाँ कैसे जाहवतु है ।—पद्माकर ।

कि० सं० दे० “बीघना” ।

बीघा—संज्ञा पुं० [सं० बिघन] यह तय करना कि इस गाँव
की हत्तनी मालमुहारी सरकारी होगी । मालमुहारी
निश्चित करना ।

बीन—संज्ञा स्त्री० [सं० बीन] एक प्रसिद्ध बाजा जो सितार की
छाह का पर इससे बड़ा होता है इसमें दोनों ओर बहुत
बड़े बड़े होंसे होते हैं जो बीच के एक छँवे ढाँड़ से मिले
होते हैं । इसमें एक सिर से दूसरे सिर तक साधारणतः २
या ३ तार लगे होते हैं जिनमें से ३ तारों में आवरणकना-
सुमार मित्र मित्र प्रकार के स्वर निकाले जाते हैं । यह
बाजा बहुत उच्च कोटि का माना जाता है और प्रायः
बहुत बड़े बड़े गवैयों के काम का होता है । दे०
“बीन” ।

बीनना—कि० सं० [सं० बिनयन] (१) छोटी छोटी चीजों को

ठठाना । चुनना । उ०—(क) मोर फल बीनवे को गए
कुलवाहैं हैं । सीसनि डेगरे उपवीत पीत पट कटि दोना
वाम करन सखीने मे खाहैं है ।—सुलसी । (ख) नैन किल-
किला भीत के ऐसे कहु प्रवीन । दिय समुद्र से लेत हैं धीन
सुरत मन भीन ।—रसबिधि । (ग) सुंदर नवीन निज करन
सेर धीन धीन मेरा की कली मे आशु कौन धीन लीगई है ।
—प्रताप । (२) छुटकर थलम करना । छुटाना ।

कि० सं० दे० “बीघना” ।

कि० सं० दे० “बुनना” ।

बीफै—संज्ञा पुं० [सं० बूहस्थि] बृहस्पतिवार । गुरुवार ।
बीबी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कुनबू । कुलीन स्त्री (२) पत्नी ।
स्त्री । उ०—चित्त प्रमचन आँख उमगन नैन देखि बीबी कहैं
बैन मियाँ कहित काहि नै ?—भूपण । (३) स्त्रियों के स्त्रिये
आदरापेक शब्द । (४) अविवाहिता लड़की । कन्या ।
(आगरा) ।

बियेरेना—संज्ञा पुं० [सिंधी] एक प्रकार का वृक्ष जो दक्षिण
भारत के पश्चिमी घाटों में बहुत होता है । इसकी लकड़ी
का रंग पीला होता है और यह हमारा और भावें बनाने
के काम में आता है । इस लकड़ी में जखी घुन या कीड़ा
आदि नहीं लगता ।

बीमत्स—वि० [सं०] (१) जिसे देखकर घृणा उत्पन्न हो ।
घृणित । (२) मर । (३) वापी ।

संज्ञा पुं० (१) काव्य के भी रसों के अंतर्गत सातवाँ रस ।
इसमें रक्त भांस आदि ऐसी बातों का वर्णन होता है जिनसे
अरुचि और घृणा तथा ईर्ष्याओं में संकोच उत्पन्न होता है ।
इसका वर्ण नील और देवता महाकाल माने गए हैं ।
उत्पत्ता इसका स्थायी भाव है, पीब, मेद, मज्जा, रक्त, मांस
या उनकी क्षुब्धि आदि विभाव हैं; कंप, रोमांच, आलस्य
संकोच आदि अनुभाव हैं और मोह, मरण, आवेग,
व्याधि आदि स्वभिचारी भाव हैं । उ०—पवत मंत्र अर
यंत्र अंत्र बीमत्स इमि सुगिति । मनहुँ गिळत मद मच
गहड तिय अरुचि उद्विगिति । हरवराय हरपात प्रथम परसत
बल पंगल । अहं प्रताप जिति अंग रंग अंग अंग दमंगत ।
अहं पद्माकर उतपति अति दन रक्तन नदिय बहत । चर
कचित विष चामीन सुमि चक चकाह चंडी रहत ।
—पद्माकर ।

बीमत्सित—वि० [सं०] निंदित । घृणित ।

बीमत्सु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन । (२) अर्जुन वृक्ष ।

बीम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अज्ञान के पापों में लंबाई के बल में
लगा हुआ बड़ा शहतीर । आड़ा । (२) जहाज का
मग्न । (अरा०) ।

बीमा—संज्ञा पुं० [फा० बीम = मय] (१) किसी प्रकार की

विशेषतः आर्थिक हानि पूरी करने की जिम्मेदारी जो कुछ निश्चित धन लेकर उसके बदले में की जाती है। कुछ धन लेकर इस बात की जमानत करना कि यदि असुक्त कार्य में असुक्त प्रकार की हानि होगी तो उसकी पूर्ति इस हस्तान धन लेकर कर देंगे।

विशेष—आजकल बीमों की गणना एक प्रकार से व्यापार के अंतर्गत होती है और इसके लिये अनेक प्रकार की कंपनीयाँ स्थापित हैं। उसमें बीमा करनेवाला कुछ निश्चित नियमों के अनुसार, समय समय पर या एक मास ही कुछ निश्चित धन लेकर अपने ऊपर इस बात का जिम्मा लेता है कि यदि बीमा करनेवाले की असुक्त कार्य या व्यापार आदि में असुक्त प्रकार की हानि या दुर्घटना आदि होगी तो इसके बदले में इस बीमा करनेवाले को इतना धन देगे। आजकल मकानों या गोदामों आदि के जलने का, समुद्र में लहरों के डूबने का, अनेक दुर्घटनाएँ आदि के कारण हाथ-पैर टूटने या शरीर बेकाम हो जाने का बीमा होता है। एक प्रकार का बीमा बीर होता है जो जानपीमा कहलाता है। इसमें बीमा करनेवाले को प्रति मास, प्रति वर्ष अथवा एक साथ ही कुछ निश्चित धन देना पड़ता है और इसके किसी निश्चित अवस्था तक पहुँचने पर उसे बीमों की रकम मिल जाती है; अथवा यदि उस निश्चित अवस्था तक पहुँचने से पहले ही उसकी मृत्यु हो जाय तो उसके परिवारावालों को वह रकम मिल जाती है। आजकल बालकों के विवाह और पढ़ाई-खिलाई के व्यय के संबंध में भी बीमा होने लगता है, और बुढ़ापे में शरीर अस्वस्थ हो जाने की दशा में जीवन-निर्वाह का भी। डाक द्वारा धन या माल आदि भेजने का भी डाक-बिमाग के द्वारा बीमा होता है।

गी०—बीमा-कराई—यह धन जो बीमा करनेवाला बीमा करने के लिये बीमा करनेवाले को देता है।

(१) वह धन या धामक आदि जिसका इस प्रकार बीमा हुआ हो।

बीमार-वि० [का०] [सं० बीमरी] यह जिसे कोई बीमारी हुई हो। रोगग्रस्त। रोगी।

वि० प्र०—युग्म।—होना।

बीमारदार-वि० [का०] रोगी की राक्षस करनेवाला। जो रोगियों की सेवा करे।

बीमारदारी—बीमारी [का०] रोगियों की राक्षस।

बीमारी—बीमारी [का०] (१) रोग। व्याधि। (२) संस्कार (बीजपात्र)। (३) बुरी भावना। (बीज०)

बीमक—वि० दे० “बीमा”।

बीमाक—वि० [सं० बीमक] दूसरा। ३०—(क) तुम और मैं नवाय लो और साथी साथ बीम में। बीम। एक बार बीमो हमें नहीं बात कहनी बीम में।—सूदन। (ग) फिर नेस कुमार लिये सुकते-घड़ी। पैदे इकले जाइ करबसमटन मली।—सूदन।

बीमा पु० [सं० बीम] बीम। दाम।

बीर-वि० दे० “बीर”।

बीमा पु० [सं० बीर] माई। आता। ३०—(क) तब मज दे समुद्र के तीर। कासी माग के धन पर विरत मज-पंथ को बीर।—सूर। (ग) चारिगी जोती भूरे रंगी न सनेह गोमीर। को पटि ये धुपमानुजा ये हलधर के बीर।—बिहारी।

बीमा ली० (१) सखी। सहोदरी। ३०—(क) बार बुद्धि बाटनि के साथ ही बड़ी है बीर कुपति के साथ ही सकुच उर आई है।—केसव। (क) बहक न हृदि बरपा-पने जय तब बीर विनास। बचै न पाई सबीस हूँ बीम रीसुधा मास।—बिहारी। (ग) यह का मसोदा के नाम बड़ी बीर कुलक पूछ अछीस दी कि बी। तब काह बीर कोटि बरस।—लखू। (२) एक आमुष्य जिसे विरो कान में पहनती हैं। यह गोल चक्राकार होता है और इसका ऊपरी भाग हाथुली और उठा हुआ होता है तथा इसके दूसरी ओर एड़ी होती है जो कान के लोह में उग्न कर पहनी जाती है। इसमें बाईं तीम धौलक लंबी कंगनी-दार पूछ ली निकली रहती है जिसमें प्रायः गिरा रत्न आदि का अलंकार लगवाती हैं। यह अलंकार पहनने लगने सामने कान की ओर रहता है। बिरिया। बीरवीर। ३०—(क) लसे बीर-बका ली खले धृति में भूइटी गुग लर रही धुवि सुबो। (ग) धीम धीम धनंजय मजकत गोहल कानन बिरि बीमा दैत देखत ही बनी कोहल में जोहल ली बूझी।—हरिदाम। (३) कलाई में पहनने का एक प्रकार का गजवा। ३०—हाथ पहुँची बीर कंगम अरित सुंदरी आरंभ।—सूर। (४) यद्यपि के जाने का स्थान। अतागढ़। बीर। (५) अतागढ़ में पशुओं को खाने का वह मरतुब जो मनुष्यों की सेवा के अनुसार दिया जाता है।

बीरउक—बीमा पु० दे० “बिरा”।

बीरउक—बीमा पु० दे० “बीर”।

बीरन—बीमा पु० [सं० बीर] माई। ३०—बीरन थाप बिबादे को तिम की सुदुपानि हू माति न लेत ही।—नम्रप।

बीरनि—बीमा ली० [सं०] कान में पहनने का एक प्रकार का गजवा। बीर। लरना। बीर।

बीरबली—बीमा ली० [सं० बीर + बली] एक प्रकार के बने-काता बीर। वह किसी की जानि का रोग है और

प्रायः बरसात आरंभ होने के समय जमीन पर हवा उभर रंगता हुआ दिखाई पड़ता है। इसका रंग गहरा लाल होता है और मसमल की तरह इस पर छोटे छोटे कोमल रोप होते हैं। इसे हनुवत भी कहते हैं। उ०—
(क) केकिल बौन पति भग छूटी। धन निसरी अनु बीर बहूटी।—भायसी। (ख) बीरबहूटी बिराजहि दादुर सुनि चहुँ ओर। मजुर गरज धन बरखहि सुनि सुनि बोलत मोर।—गुलसी।

बीर*—संज्ञा पुं० [हिं बीर] (१) पान का बीड़ा। वि० दे० 'बीड़ा'। (२) वह फूल फल आदि जो देवता के प्रसाद स्वरूप भक्तों आदि को मिलता है। उ०—कत आपनी पर-
तीत नसावत मैं पावो हरि हीरा। सुर पतिव तबही कै उठिई जब हँसि देही बीरा।—सुर।

बीरी—संज्ञा स्त्री० [सं० बीरी वा हिं बीड़ा] (१) चूना, कुर्या और सुपारी पड़ा हुआ पान का बीड़ा। उ०—तरिचन श्रवण नैन होइ आँजलि भासा बोलि सानत। बीरा मुख मरि चिनुक छिनीना निरखि कपोलनि लाजत।—सुर।
(२) शरी के बीच में लंघाई के बल यह छेद जिसमें से नरी भरकर तागा निकाला जाता है। (३) लोहे का वह छेददार टुकड़ा जिस पर कोई दूसरा लोहा रखकर लोहार छेद करते हैं। (४) कान में पड़ने का एक प्रकार का गहना जिसे तरना भी कहते हैं। उ०—बीरी न होई बिरा-
जत कानन जानन को मन लावत धंधे।

बील—वि० [सं० बिब] बोल। अंदर से लाकी।

संज्ञा पुं० वह भूमि जो नीची हो और जहाँ पानी भरा रहता हो। जैसे, झील, साँल आदि की भूमि।

संज्ञा पुं० [सं० बिब] (१) बेल। (२) एक शोधयि का नाम।

बीघर—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नंदु जो उत्तरीय अमे-
रिका और एशिया के उत्तरी किनारे पर होता है और पानी के किनारे मुँह बाँधकर रहता है। इसके मुँह में बड़े बड़े और मजबूत कटीके दाँत होते हैं और ऊपर नीचे चार बाए दाँत होते हैं, जो ऊपर की ओर चिपटी और कबोर होती है। इसके प्रत्येक पाँव में पाँच पाँच डँगलियाँ होती हैं और चिपड़े पैरों की डँगलियाँ लुढ़ी रहती हैं और दूसरी डँगली का गाछन भी दोहरा होता है। इसकी पूँछ भारी, नीचे ऊपर से चपटी और छिड़कों से ढँकी होती है। इसकी नाक और कान की बनावट ऐसी होती है कि पानी में गोता लगाते से आपसे आप इनके छेद बंद हो जाते हैं। इसका चमड़ा जो समूह कहलाता है, कोमल होता और बड़े दाँतों को चिकाता है। इसका मांस स्वादिष्ट होता है पर लोग इसका शिकार विरोधतः चमड़े के लिए ही करते हैं।

बीवी—संज्ञा स्त्री० दे० 'बीवी'।

बीस—वि० [सं० बिंघति, प्रा० बीषति, बीसा] (१) जो संख्या में दस का दूना वा उन्नीस से एक अधिक हो।

मुहा०—बीस बिस्वे = अधिक संभवतः। जैसे, बीस बिस्वे हम सबेरे ही पहुँच जायेंगे। उ०—(क) सातहू द्वीपन के श्रवनीपति हारे रहे जिय में जब जाने। बीस बिसे प्रत भंग भयो सो कहाँ श्रव के शय को धनु ताने—केशव। (ख) बीस बिसे जानी महा मूरख बिधाता है।—पद्माकर।

(३) श्रेष्ठ। अच्छा। उत्तम। उ०—नाथ श्रयान उचकि के, चढ़े ताम्र के भीस। ताकी अनु महिमा करी, भीस राजते भीस।—देवस्यामी।

संज्ञा स्त्री० (१) बीस की संख्या। (२) बीस की संख्या का शतक चिह्न। बीस का श्रक जो इस प्रकार लिखा जाता है—२०।

बीसना—कि० ल० [सं० बिशन वा बिशन] शतरंज वा चौतर आदि खेलने के लिये बिसात विद्यमान। खेल के लिये बिसात फेरना।

बीसघर—वि० [हिं बीस + घर (प्रत्यय)] जो गद्याना में उन्नीस के बाद हो। बीस के स्थान पर पड़नेवाला।

बीसी—संज्ञा स्त्री० [हिं बीस] (१) बीस चीजों का समूह। कोड़ी। (२) ज्योतिष शास्त्र के अनुसार साठ संवत्सरों के बीच बिसागों में से कोई विभाग। इनमें से पहली बीसी प्रहलीबीसी, दूसरी विष्णुबीसी और तीसरी रुद्र वा शिव बीसी कहलाती है। उ०—बीसी विष्णुनाथ को विषाद बड़ो बाराहली बुझिए न ऐसी गति शंकर सहार की।—गुलसी
(३) भूमि की एक प्रकार की नाप जो एक एकड़ से कुछ कम होती है। शतनी भूमि जिसमें बीस नासियाँ हों।

संज्ञा पुं० [सं० बिषिष] सीढ़ने का काँटा। गुला।

संज्ञा स्त्री० [सं० बिं० बिस्ता] प्रति बीघे दो बिस्वे की उपज जो जमींदार को दी जाती है।

बीहड़—वि० [सं० बिंघति, प्रा० बीसा] बीस। उ०—साँवहु में ल्यार भुम बीहा। जी न उपारई तब दुस जीहा।—गुलसी।

बीहड़—वि० [सं० बिहट] (१) ऊँचा नीचा। विपन्न। ऊपड़ सवड़। जैसे, बीहड़ भूमि, बीहड़ जंगल। (२) जो ठीक न हो। जो सरल वा सम न हो। विपन्न। बिहट।
वि० [सं० बिग्न वा बर्ग] अलग। पृथक्। लुदा। उ०—
(क) साज सात बँडैत जस तस सामे बँडै सात। बीहड़ बीहड़ भाव तस रँडै रँडै ऊपर छात।—भायसी। (ग) ना बड़ मिठा न बीहड़ पेसह रह भारपूर।—भायसी
(ग) बीहड़ बीहड़ सब की बोली। बिधि मद कहाँ कहाँ सीं छोली।—भायसी।

सुंद-संज्ञा छी० [सं० सिद्ध] (१) सुंद । कता । टाप । विदु ।
(२) दीर्घ ।

वि० धोड़ा सा । जरा सा ।

संज्ञा पु० [सं०] तीर ।

सुंदकी-संज्ञा छी० [सं० विदु + की (प्रत्य०)] (१) छोटी गोल
बिंदी । (२) किसी चीज पर बना या पड़ा हुआ छोटा
गोल दाग या चक्का ।

सुंदकीदार-वि० [हि० सुंदकी + का० दा०] जिस पर सुंदकियाँ
पड़ी या बनी हों । जिस पर सुंदों के से चिह्न हों ।
सुंदकीवाला ।

सुंदकयारी-संज्ञा छी० [देश०] वह संज्ञा जो वदमाओं से जमींदार
केता है ।

सुंदयानी-संज्ञा पु० [हि० सुंद + यान (प्रत्य०)] छोटी छोटी सुंदों
की बर्ण ।

सुदा-संज्ञा पु० [सं० सिद्ध] (१) सुदाक के आकार का कान में
पहनने का एक प्रकार का गहना । सोलक । (२) माथे
पर लगाने की बड़ी टिकड़ी जो पत्नी या कवि आदि की बगली
और बर्हि बिंदी के आकार की होती है । (३) बड़ी टिकड़ी
के आकार का गोदना जो माथे पर गेदा जाता है और
जिसमें बहुत से छोटे छोटे दाने या गोदने के चिह्न होते हैं ।

सुंदिया-संज्ञा छी० दे० "सुंदी" ।

सुंदीदार-वि० [हि० सुंदी + का० दा० (प्रत्य०)] जिसमें छोटी
छोटी बिंदियाँ बनी या लगी हों ।

सुंदेलसंज्ञ-संज्ञा पु० [हि० सुंदेल] संयुक्त मात का यह संज्ञ जिसमें
जालीन, कांती, हमीपुर आदि के जिले पड़ते हैं । इसके
अतिरिक्त बाँझड़ा, दलिया, पन्ना, चारगारी, विशाख,
धुवापुर आदि अनेक छोटी बड़ी गिणातमें भी इसी के
अंतर्गत हैं । यह विरोधता सुंदेल चरित्रों का निवास स्थान
है । इसी जिले सुंदेलसंज्ञ कहलाता है । (दे० "सुंदेल")
यहाँ पहले गढ़ाधारी, पड़िहारी और चंदेलों आदि का
राज्य था । पर ११८९ में दिल्ली के सुल्तान ने सुंदेलसंज्ञ
पर आक्रमण का एक बड़ा अभियान किया और उसे जीता था ।
१२४६ में सोमनाथ गुरु ने सुंदेलसंज्ञ पर आक्रमण किया
था, पर कालिंजर पर घेरा डालने में ही उसकी मृत्यु
होगा थी । पीछे तो यह प्रदेश मुघलमनों के हाथ में चला
गया था । अब इसके दो विभाग हैं, एक सैमरेजी शासन के
अधीन और दूसरा अनेक छोटे बड़े राज्यों और जमींदारों
आदि के अधीन । इस प्रदेश में अनेक पहाड़ और बड़ी
बड़ी नदियाँ हैं जिनके कारण यहाँ की माहलिक योजना
अत्यंत ही है ।

सुंदेलसंज्ञी-वि० [हि० सुंदेल + सं० (प्रत्य०)] सुंदेलसंज्ञ
गवरी । सुंदेलसंज्ञ का ।

संज्ञा पु० सुंदेलसंज्ञ का निवासी ।

संज्ञा छी० सुंदेलसंज्ञ की भाषा ।

सुंदेल-संज्ञा पु० [हि० सुंद + एल (प्रत्य०)] (१) चरित्रों का
एक वंश जो गढ़ाधारी वंश की एक शाखा माना जाता है ।
पेरस प्रसिद्ध है कि पंचम नामक एक गढ़ाधारी चरित्र ने यह
वंश अपने आप को विध्यवासिनी देवी पर अविश्रान्त बनाया
चाहा था । उस समय उस के शरीर से एक की जो सुंदेलों
पर गिरी थी, वहाँ से सुंदेलों वंश के आदि गुरु की
उत्पत्ति हुई थी । चौदहवीं शताब्दी में सुंदेलसंज्ञ प्रांत में
सुंदेलों का बहुत जोर था; और इसी समय कालिंजर और
कासपी इनके हाथ में आई थी । अब वे लोग बहुत कम,
तब मुसलमानों से इनकी मुठ भेड़ होने लगी । का कता
है कि पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में बाबर ने सुंदेलों के
राजा दलप्रताप को मरना सुंदेल बनाया था । सुंदेलसंज्ञ में
सुंदेलों और मुसलमानों में कई बार बड़े बड़े युद्ध हुए थे ।
बीसिंह देव और छत्रसाल आदि प्रसिद्ध और और मुसल-
मानों से लड़नेवाले इसी सुंदेल वंश के थे । (२) सुंदेल
वंश का कोई व्यक्ति । (३) सुंदेलसंज्ञ का निवासी ।

सुंदेली-संज्ञा छी० [हि० सुंद + एली (प्रत्य०)] सुंदेलों का
सुंदेली नाम की मिठाई । ४०—सुंदेलसंज्ञ और मा-
केरी । मंडि पेरारों और सुंदेली—जायली ।

सुंदेली-संज्ञा पु० [अ०] सहान में विद्युत् का वाहक ।

सुदा-संज्ञा छी० दे० "सुदा" ।

सुका-संज्ञा छी० [अ०] बरत । (१) एक प्रकार का बरत जिस
हुआ महीन पर बहुत करारा करदा जो बरतों की टोपियों
में भरकर देने का उपयोग, डुरी, जमाना आदि आदि
बनाने के काम में आता है । यह साधारण बरत की
अपेक्षा बहुत पतला पर प्रायः चौड़ा ही करता था बड़ा
होता है । (२) एक प्रकार की महीन पत्र ।

संज्ञा छी० [अ०] सुकक । कितान । पोपी ।

सुकका-संज्ञा पु० [अ० सुकक] (१) यह गरीब जिनमें कोई
कंठे हुए हों । (२) गरीब ।

सुकची-संज्ञा छी० [हि० सुकचा + ई (प्रत्य०)] (१) गरीबी
गरीबी, विशेषतः गरीबों की गरीबी । (२) सुकचों की यह
बड़ी जिनमें से सुंदेल, सोरा, कैंची, कपड़े का गन्ना आदि बनते हैं ।

संज्ञा छी० दे० "सुकची" ।

सुकनी-संज्ञा छी० [हि० सुकनी + ई (प्रत्य०)] (१) किसी चीज
का महीन पीसा हुआ पदार्थ । (२) गरम जल जिनमें पानी में
पोखने से कोई रंग बनता हो । जैसे, गुठारी सुकनी ।

सुकपा-संज्ञा पु० [हि० सुक + पा (प्रत्य०)] (१) बरतन । बरत । (२)
दे० "सुक" ।

सुकस-संज्ञा पु० [सं० सुक] मंडी । मंडा । इलाखार ।

शुक्रा-संज्ञा पुं० दे० "शुक्रा" ।

शुक्रार्द्र-संज्ञा पुं० [दे०] वह बाल जो बरसात के बाद नदी अपने तट पर छोड़ जाती हो और जिसमें कुछ घास आदि बोया जा सकता हो । भाट । बाल ।

शुक्रान-संज्ञा पुं० [हिं० शुक्रना] (१) शुक्रनी । (२) किसी प्रकार का पाचक । चूर्ण । उ०—जलित जलेने शरदसा शुक्रने दधि चटनी चटकारी जू ।—विद्याम ।

शुक्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हृदय । कलेजा । (२) सुरदे का मांस । (३) रक्त । लहू । (४) बकरी । (५) प्राचीन काल का एक प्रकार का वाद्य जो मुँह से फूँककर बजाया जाता था ।

संज्ञा पुं० [हिं० शुक्रना = पीसना] (१) कूटे हुए अन्नक का चूर्ण जो प्रायः होली में गुलाब के साथ मिकाया जाता या इसी प्रकार के और कामों में जाता है । (२) बहुत छोटे छोटे सच्चे मोतियों के दाने जो पीतकर औषध के काम में आते हैं अथवा शिरोकर लाभपूर्वकों आदि पर लपेटे जाते हैं ।

संज्ञा पुं० दे० "शुक्र" ।

शुक्रार्द्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । भाप । (२) उबर । ताप । विशेष—दे० "उबर" । (३) हृदय का उद्देग । शोक, क्रोध, दुःख आदि का आवेग ।

शुक्रा—दिल या जी का शुक्र निकालना = दे० "जी" (का शुक्र निकालना) ।

शुक्रार्द्रा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लिङ्गी के आगे का छोटा बरामदा । (२) कोदरी के शंकर तथेयों आदि की बनी हुई छोटी कोदरी ।

शुक्र-संज्ञा पुं० [दे०] मन्त्र । (शुं देलखंड)

संज्ञा पुं० दे० "शुक्र" ।

शुक्रवा-संज्ञा पुं० दे० "शुक्रवा" ।

शुक्रार्द्र-संज्ञा पुं० [दे०] मन्त्र ।

शुक्रार्द्रा-संज्ञा पुं० [सं०] कसाहनों का घुरा जिससे वे पशुओं की हारा करते हैं ।

शुक्रिभल-संज्ञा पुं० [दे०] पशुओं के चरने का स्थान । चरी । चरागाद ।

शुक्रुल-संज्ञा पुं० दे० "शुक्रुल" ।

शुक्रवा-संज्ञा पुं० दे० "शुक्रवा" ।

शुक्रसाय-संज्ञा पुं० [सं०] वह मो पशुओं की हला करता अथवा उनका मांस आदि बेचता हो । पकर-कसाय । कसाई ।

शुक्रदिल-वि० [सं०] कायर । डरोह । भीर ।

शुक्रनी-संज्ञा स्त्री० [दे०] कानकूल के आकार का एक गहना जो कान में पहना जाता है और जिसके नीचे मुमका भी

लटकया जाता है । इसे प्रायः व्याही छिया पहनती हैं ।

शुक्रियाल-संज्ञा पुं० [सं०] वह बकरी का बघा जिसे कलें-दर लोग तमाशा करना सिखाते हैं । (कलें-दर)

संज्ञा पुं० [सं०] वह बंदर जिसे कलें-दर तमाशा करना सिखाते हैं । (कलें-दर)

शुक्रुर्ग-वि० [सं०] (१) जिसकी अवस्था अधिक हो । घृष्ट । बड़ा । (२) पाजी । घुष्ट । (व्यंग्य)

संज्ञा पुं० बाप-दादा । पूर्वज । पुरखा । (इस अर्थ में यह शब्द सदा बहुवचन में बोला जाता है)

शुक्रुर्गी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शुक्रुर्ग होने का भाव । यड़ापन ।

शुक्रार्द्रा-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का पत्ती ।

शुक्रुर्ग-वि० [सं०] बकरी । (हिं०)

शुक्रुर्ग-संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की पिड़िया ।

शुक्रुर्ग-क्रि० प्र० [हिं०] (१) किसी जलते हुए पदार्थ का जलना बंद हो जाना । जलने का अंत हो जाना । अग्नि या अग्निशिखा का शांत होना । जैसे, बकड़ी शुक्रुर्ग, लंप शुक्रुर्ग । (२) किसी जलते या तपे हुए पदार्थ का पानी में पड़ने के कारण ठंडा होना । तपी हुई या गरम चीज का पानी में पड़कर ठंडा होना । (३) पानी का किसी गरम या तपाई हुई चीज से छींका जाना । पानी में किसी चीज का बुकाया जाना जिसमें उस चीज का कुछ प्रमाण पानी में आ जाय । (४) पानी आदि की सहायता से किसी प्रकार का ताप शान्त होना । पानी पड़ने या मिलने के कारण ठंडा होना । जैसे, चूना शुक्रुर्ग । (५) चित्त का आवेग या बरसाद आदि बंद पड़ना । जैसे, ज्यों ज्यों शुक्रुर्ग आता है, त्यों त्यों जी शुक्रुर्ग आता है ।

शुक्रार्द्र-संज्ञा स्त्री० [हिं० शुक्रना = ई (अप्य०)] (१) शुक्राने की क्रिया । शुक्राने का काम ।

शुक्रुर्ग-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह हीम जिसमें नील के पीपे काट कर पहले पहल पानी में मिलाए जाते हैं ।

(२) शुक्राने की मन्त्रद्वी ।

शुक्रुर्ग-क्रि० प्र० [हिं० शुक्रना का सक० रूप] (१) किसी पदार्थ के जलने का (उस पर पानी डालकर, या हवा के जोर से) अंत कर देना । जलते हुए पदार्थ को ठंडा करना या अधिक जलने से रोक देना । अग्नि शांत करना । जैसे, चांग शुक्रुर्ग, दीप्ता शुक्रुर्ग । (२) किसी जलती हुई वस्तु या तेल पदार्थ को ठंडे पानी में डाल देना जिससे वह पदार्थ भी ठंडा हो जाय । उषी हुई चीज को पानी में डालकर ठंडा करना । जैसे, सोनार पदके सोने को तपाते हैं और तब उसे पानी में बुकाकर पीटने आया पत्ता बनाते हैं ।

शुक्रुर्ग-शब्द में शुक्रुर्ग = घुरी, बरछी, तनया आदि शब्दों के

फलों को तथा घर किसी जड़हीने तरल पदार्थ में घुसना जिसमें वह फल भी जड़हीना हो जाय । (ऐसे फलों का घाव लगने पर जहर भी रक्त में मिला जाता है, जिससे घाव ल आधुनी शक्ति मर जाता है) जहर का घुसना हुआ = दे० "जहर" के मुद्रा० ।

(३) ठंडे पानी में इसलिये किसी चीज को तपाकर डालना जिसमें उस चीज का कुछ गुण या प्रभाव उस पानी में था जाय । पानी को धुँकना । जैसे, इनको छोदे का घुसना पानी पिटाया करो । (४) पानी की सहायता से किसी प्रकार का तप दूर करना । पानी डालकर ठंडा करना । जैसे, व्यास घुसना, पूना घुसना, नील घुसना । (५) विष का मायेग या सलाह आदि श्रांत करना । जैसे, दिव की लगी घुसना ।

संज्ञा० फि०-डालना ।—देना ।

फि० स० [हि० घुसना का प्र० रूप] (१) घुसने का काम दूसरे से कहना । किसीके घुसने में प्रवृत्त करना । जैसे, पड़ेली घुसना । (२) बोध कराना । समझाना । (३) संतोष देना । जी भरना ।

सुभारत-संज्ञा सी० [हि० घुसना = समझना] किसी गाँव के जमींदारों के वार्षिक आय-व्यय आदि का लेखा ।

मुद्रा०-संज्ञा सी० दे० "मुद्रा" । आनुमान मुद्रा मुद्राक ल'क जात रूप रत्न जतन आदि किये हैं मुद्राक से ।—मुद्रासी ।

मुद्रना-संज्ञा-फि० अ० [?] दीड़कर चला जाना या हट जाना । भागना । उ०—(क) धारा करि बाये हुतो पाम रावरे मैं गाढ़ के पास दुस दूरी मुद्रि मुद्रि मैं ।—पद्माकर । (ग) राम सिपा विष सि'पु धरा यदि रेपन के दुरा पुंज मुद्रे ।—हनुमान ।

मुद्रकी-संज्ञा सी० [हि० द्रव्य] द्रवकी । गोता । उ०—(क) श्री हरिदास के स्वामी स्वामी कुँव विहारी श्री मुद्रकी गरीं लागि थोकि पती बरीं जाई । हरिदास । (ग) बरि रवान ठव प्रेम मुद्रकी देखि समुक्ति होई अत्रि तीर आवे ।—भूरा ।

मुद्रना-फि० अ० दे० "मुद्रना" ।

मुद्रमुद्रना-फि० अ० [मु०] मन ही मन कुँवर या कोष में धाकर छापट रूप से कुछ डालना । बड़बुद करना ।

मुद्रना-संज्ञा-फि० अ० दे० "मुद्रना" ।

मुद्राय-संज्ञा पु० दे० "मुद्राय" ।

मुद्रा-संज्ञा-फि० [सं० वृत्] जिसकी प्रकृति अधिक हो गई हो । २०-२० वर्षों में अधिक प्रकृतिशाला । मुद्र ।

मुद्रगा-संज्ञा पु० [?] दक्षिण । कपूर कूल ।

मुद्रपा-संज्ञा-फि० दे० "मुद्रपा" ।

मुद्रार्-संज्ञा सी० [हि० द्रव्य + र् (प्र०)] गुण । द्रव्य । द्रव या द्रव्य होने का भाव ।

मुद्राना-फि० अ० [हि० द्रव्य + ना (प्र०)] मुद्राना के प्राप्त होना । मुद्रना होना । उ०—अर्ध में जानी देह गुण । सीस शीघ्र घर कड़ी न मानत तनु की दशा सितामी ।—भूरा ।
मुद्रापा-संज्ञा पु० [हि० द्रव्य + पा (प्र०)] (१) मुद्रापा । मुद्रदे होने की अवस्था । (२) मुद्रदे होने का भाव । मुद्रदा-पन ।

मुद्रिया पैठक-संज्ञा सी० [हि० मुद्रिया + पैठक = प्यास] प्रकार की पैठक (कसरत) । इसमें शीशा, लंगे पानी का सहारा लेकर बार बार उठते बैठते हैं ।

मुद्रौती-संज्ञा सी० [हि० द्रव्य + औती (प्र०)] गुण । द्रव्य ।

मुद्र-संज्ञा पु० [फा० मि० सं० मुद्र] (१) मूर्ति । प्रतिमा । मुद्रा ।

(२) वह जिसके साथ प्रेम किया जाय । प्रियजन । (३) सेसरपुत्र नाम के पेट में वह शक्ति जिसमें सिद्धादी के रूप में केवल तस्वीरें ही हैं, अथवा सीने के गुणों की प्रतिमा जो १०, २०, या ३० हो । विशेष दे० "सेसरपुत्र" ।

मि० मूर्ति की तरह सुपचाय बैठा रहनेवाला । जो कुछ भी बोलता चालता न हो । जैसे, मरो में सुव हो जाना ।

मुद्रना-फि० अ० दे० "घुसना" ।

मुद्रपरस्त-संज्ञा पु० [फा०] वह जो मूर्ति के पूजा हो । मूर्तिपूजक । (२) वह जो शीतल्य का बवासक हो । मित्र ।

मुद्रपरस्ती-संज्ञा सी० [फा०] मूर्तिपूजा ।

मुद्रयिकन-संज्ञा पु० [फा०] वह जो प्रतिमाओं के लोका या मठ करता हो । वह जो मूर्ति पूजा का पौर प्रियी हो ।

मुद्राना-फि० अ० दे० "घुसना" ।

फि० उ० दे० "घुसना" ।

मुद्र-मि० दे० "मुद्र" ।

मुद्र-मि० [दे०] शिव (द्रव्य) ।

मुद्रमुद्र-संज्ञा पु० [सं०] पानी का पुत्रपुत्र । पुत्र ।

मुद्रमुद्र-संज्ञा पु० [सं० वृत्] पानी का पुत्रपुत्र । पुत्र ।

मुद्रलाय-मि० [दशरु उ० + लय (प्र०)] वृद्ध । रूप की शिव । (द्रव्य) ।

मुद्र-मि० [सं०] (१) जो जाता हुआ हो । जाति । (२) जातवा । जानी । (३) संवि । विज्ञान ।

संज्ञा पु० सुप्रसिद्ध बौद्ध धर्म के प्रवर्णक एक बहुत ही महान्ता जिनका जन्म ईसा के लगभग २२० वर्ष पूर्व याचयवर्षी राजा सुशोदन की रानी महामाया के गर्भ में पेरान की तराई के सुविनी नामक स्थान में माय की पत्निया के हुआ था । इनके जन्म के पंद्रह ही दिनों बाद स्वामी माया का देहांत हो गया था और इनका नाम इनकी विधवा महाप्रजापति ने बहुत समयपूर्वक रखा था । इनका नाम गोतम अथवा विद्वाप राजा गया था और

इन्हें कौशिक विद्यामित्र ने अनेक शास्त्रों, भाषाओं और कलाओं आदि की शिक्षा दी थी। बाल्यावस्था में ही ये प्रायः एकांत में बैठकर त्रिविध दुःखों की निवृत्ति के उपाय सोचा करते थे। युवावस्था में इनका विवाह देवदह की राजकुमारी गोपा के साथ हुआ। शुद्धोदन ने इनकी उदासीन वृत्ति देखकर इनके अनादिनाद के लिये अनेक सुंदर मासदा आदि बनवा दिए थे और और सामग्री एकत्र कर दी थी। तिस पर भी एकांतवास और चिंताशीलता कम न होती थी। एक बार एक दुर्बल बुद्ध को, एक बार एक रोगी को और एक बार एक शव को देख कर ये संसार से और भी अधिक विरक्त तथा उदासीन हो गए। पर पीछे एक संन्यासी को देखकर इन्होंने सोचा कि संसार के कष्टों से छुटकारा पाने का उपाय वैराग्य ही है। वे संन्यासी होने की चिंता करने लगे और अंत में एक दिन जब उन्हें समुच्चा मिला कि गोपा के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ है, तब उन्होंने संसार को त्याग देना निश्चित कर लिया। कुछ दिनों बाद आपाङ्ग की पूर्णिमा की रात को अपनी श्री के निद्रावस्था में छोड़कर वस्त्र धारण की अवस्था में वे घर से निकल गए और जंगल में जाकर इन्होंने प्रव्रज्या प्रव्रज्य की। इसके उपरांत इन्होंने गया के समीप निरंजना नदी के किनारे उत्पि प्राम में कुछ दिनों तक रहकर योग-साधन तथा तपश्चर्या की और अपनी काम, क्रोध आदि वृत्तियों का पूर्ण रूप से नाश कर लिया। इसी अवसर पर घर से निकलने के प्रायः सात वर्ष बाद एक दिन आपाङ्ग की पूर्णिमा की रात को महाप्रेमि पुत्र के भीचे इनके उद्बोधन हुआ और इन्होंने दिव्य ज्ञान प्राप्त किया। इसी दिन से वे गौतम-बुद्ध या बुद्धदेव कहलाए। इसके उपरांत ये धर्मप्रचार करने के लिये कार्य आरंभ। इनके उपदेश सुनकर धीरे धीरे बहुत से लोग इनके शिष्य और अनुयायी होने लगे और थोड़े ही दिनों में अनेक राजा, राजकुमार और दूसरे प्रतिष्ठित पुरुष इनके अनुयायी बन गए जिनमें मागध के राजा बिंबिसार भी थे। उस समय तक प्रायः सारे उत्तर भारत में उनकी श्रद्धा हो चुकी थी। कई बार महाराज शुद्धोदन ने इनको देखने के लिये कपिलवस्तु में बुलाना चाहा; पर जो लोग इनको बुलाने के लिये जाते थे, वे इनके उपदेश सुनकर विरक्त हो जाते और इन्हों के साथ रहने लगते थे। अंत में ये एक बार स्वयं कपिलवस्तु गए थे जहाँ इनके पिता अपने वयु-वर्षों सहित इनके दर्शनों के लिये आए थे। उस समय तक शुद्धोदन को आशा थी कि सिद्धार्थ गौतम कहने सुनने से फिर गृहस्थ आश्रम में आ जायेंगे और राजपद ग्रहण कर लेंगे। पर इन्होंने अपने पुत्र से बहुत

को भी अपने उपदेशों से सुगुण करके अपना अनुयायी बना लिया। इसके कुछ दिनों के उपरांत लिच्छिवि महाराज का निमंत्रण पाकर वे वैशाली गए थे। वहाँ से चलकर वे संकश्य, आवस्ती, कोरावी, राजगृह, पाटलिपुत्र, कुशीनगर आदि अनेक स्थानों में भ्रमण करते फिरते थे; और सभी जगह हजारों आत्मीय इनके उपदेश से संसार त्यागते थे। इनके अनेक शिष्य भी चारों ओर घूम घूम कर धर्मप्रचार किया करते थे। इनके धर्म का इनके जीवनकाल में ही बहुत अधिक प्रचार हो गया था। इसका कारण यह था कि इनके समय में कर्मकांड का जोर बहुत बढ़ चुका था और यज्ञों आदि में पशुओं की हत्या बहुत अधिक होने लगी थी। इन्होंने इस निरर्थक हत्या को रोककर लोगों को जीवमात्र पर दया करने का उपदेश दिया था। इन्होंने प्रायः ४४ वर्ष तक विहार तथा कार्य के आस पास के प्रांतों में धर्मप्रचार किया था। अंत में कुशीनगर के पास के वन में एक शालवृक्ष के नीचे वृद्धावस्था में इनका शरीरांत था परिनिर्वाण हुआ था। पीछे से इनके कुछ उपदेशों का संग्रह हुआ जो तीन भागों में होने के कारण त्रिपिटक कहलाया। इनका दार्शनिक सिद्धांत प्रज्ञावाद या सर्वानुवाद था। ये संसार को कार्य-कारण के अविच्छिन्न नियम में बद्ध और अनादि मानते थे तथा छः इंद्रियों और अष्टांग मार्ग को ज्ञान तथा मोक्ष का साधन समझते थे। विशेष-दे- "बीज-धर्म"।

विशेष—हिंदू शास्त्रों के अनुसार बुद्धदेव दस अवतारों में से नवें अवतार और चौबीस अवतारों में से तेरहवें अवतार माने जाते हैं। बिम्बिसाराण और पद्मांत पृथ आदि में इनके संश्लेष की बातें और कथाएँ भी हुई हैं।

बुद्धि—संज्ञा खी० [सं०] (१) यह शक्ति जिसके अनुसार मनुष्य किसी वस्तुस्थित विषय के संबंध में ठीक ठीक विचार या नियंत्रण करता है। विवेक या निश्चय करने की शक्ति। अथवा। समझ।

विशेष—हमारे यहाँ बुद्धि अंतःकरण की चार वृत्तियों में से दूसरी वृत्ति मानी गई है और इसके लिये और अनियत दो अर्थ रखे गए हैं। इसमें से नियम बुद्धि परमात्मा की और अनियत बुद्धि जीव की मानी गई है। सांख्य के मत से त्रिगुणशक्त प्रकृति का पहला विकार यदी बुद्धितत्त्व है; और इसी को मल्लच्छ भी कहा गया है। सांख्य में यह भी माना गया है कि चार अंशों में ज्यों ही जगत् अपनी सुप्रतापस्था से उठा था, उस समय तब से पहले इसी मदान् या बुद्धितत्त्व का विकास हुआ था। नैयायिकों ने इसके अनुभूति और स्मृति ये दो प्रकार माने हैं। कुछ लोगों के मत से बुद्धि के इष्टानिष्ट, विषयि, व्यपत्ताप,

समाधिता, संशय और प्रतिपत्ति ये पाँच गुण और कुछ लोगों के मत से शुद्धता, श्रवण, ग्रहण, धारण, वह, उपोद्घ और अर्थविज्ञान ये सात गुण हैं। पाश्चात्य विद्वान् प्रत्यक्ष के सब व्यापारों का स्थान मस्तिष्क मानते हैं, इसलिये उनके अनुसार बुद्धि का स्थान भी मस्तिष्क ही है। यद्यपि यह एक प्राकृतिक तथ्य है, तथापि ज्ञान और अनुभव की सहायता से इसमें बहुत कुछ वृद्धि हो सकती है।
 पय्यां—मनीषा। धीव्या। धी। प्रज्ञा। मति। प्रेक्षा। चित्। चेतना। धारण। प्रतिपत्ति। मेधा। मन। मनस्। ज्ञान। दीप। प्रतिभा। विज्ञान। संख्या।

मुद्रां—“बुद्धि”—दे० “मन्त्र”।

(२) उपजाति वृक्ष का चौदहवाँ भेद जिसे सिद्धि भी कहते हैं। (१) एक छंद जिसके चारो पादों में कम से १६, १४, १२, १० मात्राएँ होती हैं। इसे “लक्ष्मी” भी कहते हैं। (२) छापण का ४२ वाँ भेद।

मुद्रिक—छंदा पु० [छं०] एक गाय का नाम।

मुद्रिकामा—छंदा छी० [छं०] कातिंठेय की एक मातृका का नाम।

मुद्रिकचु—छंदा पु० [छं०] प्रज्ञावृक्ष। पुराण। उ०—कश्यप द्वासासन वृक्ष मन माना। मुद्रिकचु पर्व कीदृश पयाना।

मुद्रिकीपी—छंदा पु० [छं०] मुद्रिकवृक्ष। यह जो बुद्धि के द्वारा अपनी भीतिका का निर्वाह करता हो।

मुद्रितत्त्व—छंदा पु० दे० “बुद्धि”।

मुद्रिपट—वि० [छं०] जो बुद्धि से बने हो। जिस तक बुद्धि न पहुँच सके। ४०—राम सरूप तुम्हार, बचन जगोपर मुद्रिपट। अविगत कक्ष्य अपार, नेति नेति नित निगम कह।—मुद्रिपट।

मुद्रिमत्ता—मत्ता छी० [छं०] बुद्धिमान् होने का भाव। समझ-बारी। मन्त्रमत्ता भी।

मुद्रिमान्—वि० [छं०] वह जिसकी बुद्धि बहुत प्रबल हो। वह जो बहुत समझदार हो। मन्त्रमत्ता भी।

मुद्रिमान्—मत्ता छी० दे० “बुद्धिमत्ता”।

मुद्रिमत्त—वि० [म० उ० + अ० (अव०)] बुद्धिमान्। मन्त्रमत्ता भी। समझदार।

मुद्रिमात्ता—वि० [म० उ० + अ० (अव०)] बुद्धिमान्। मन्त्रमत्ता भी। समझदार।

मुद्रिमात्ता—वि० [म०] बुद्धिमान्। बुद्धिमात्ता। मन्त्रमत्ता भी।

मुद्रिमात्ता—मत्ता छी० [छं०] एक बोधित्व का नाम।

मुद्रिसहाय—मत्ता छी० [छं०] मन्त्री। अधिव्य। वही।

मुद्रिहत्त—वि० [म०] जिसमें बुद्धि हो। नेत्रहत्त। बुद्धिहीन।

मुद्रिहा—मत्ता छी० [छं०] बुद्धि को नष्ट करनेवाली, गरिहा। मत्ता। मत्ता।

मुद्रिहीन—वि० [छं०] जिसमें बुद्धि न हो। मूर्ख। बेवकूफ।

मुद्रिहीन—मत्ता छी० दे० “ज्ञानहीन”।

मुद्रिहीन—मत्ता छी० दे० “बुद्धि”।

मुद्रि—छंदा पु० [छं०] (१) सौर जगत् का एक प्रद जो सूर्य के तब से अधिक समीप रहता है। यह प्रायः सूर्य से ३६०००००० मील की दूरी पर रहकर ग्रहों की रीति में उसकी परिक्रमा करता है। इसका व्यास प्रायः ३३०० मील के लगभग है और यह २४ घंटे २४ मिनट में अपनी धुरी पर घूमता है। इसकी कक्षा का व्यास ३३०००००० मील है और इसकी गति प्रति घंटे प्रायः एक लाख मील है। सूर्य के बहुत समीप रहने के कारण यह बिना सूर्य की सहायता के बहुत कम दूराने में छाता है। यह न तो सूर्य से कभी बहुत पहले उदय होता है और न कभी उसके बहुत बाद अस्त होता है। इसमें सूर्य अपना कोई प्रकाश नहीं है और यह केवल सूर्य के प्रकाश के प्रतिबिम्ब से ही चमकता है। यह आकाश में पृथ्वी का प्रायः २५ वाँ अंश है। (२) भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार गी मर्हों में से चौथा प्रद जो पुराणानुसार सूर्य-तार्का के गुरु बृहस्पति की रीति तारा के गर्भ से चंद्रमा के बीच से उत्पन्न हुआ था। कहते हैं कि चंद्रमा एक बार तारा को दाय्य कर के गया था। प्रजा तथा दूसरे देवताओं के बहुत समझाने पर भी अथ चंद्रमा ने तारा को छोड़ा था तब बृहस्पति और चंद्रमा में युद्ध हुआ। बाद में प्रजा ने बीच में पड़कर बृहस्पति को तारा दिया था। पर इस समय तक चंद्रमा से तारा गमबंदी हो चुकी थी। बृहस्पति के बिगड़ने पर तारा ने तुरंत प्रसन्न कर दिया जिससे वृक्ष की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त काशीपुर तथा दूसरे अनेक पुराणों में भी वृक्ष के रीत्य की कई बातें हैं। यह वृक्षक, यज्ञ, अथर्ववेद का शास्त्र, शतगुणी, मन्त्र-देव का अधिपति, वातव्यमात्र, धनु के कारक का और कूर्चरामायण के माता जाता है। रवि और शक्र इसके पिता और चंद्रमा इसका माता माना जाता है। किसी किसी का मत है कि इसने वैश्वत मनु की कन्या ईला से विवाह किया था जिसके गर्भ से पुरुषा का जन्म हुआ था। यह भी कहा जाता है कि अथर्ववेद के मंत्रों का इन्होंने प्रकाश किया था। (३) बनिगुणाल के अनुसार एक मूर्ख-वर्ती राजा का नाम। (४) भागवत के अनुसार वैष्णव राजा के पुत्र का नाम जो मृगशिरा का पिता था। (५) देवता। (६) देवता। (७) बुद्धिमान् अथवा विद्वान् पुरुष।
 मुद्रिमात्ता—मत्ता छी० [म० उ० + अ० (अव०)] बुद्धिमान्।
 बुद्धि के पिता, चंद्रमा।
 मुद्रिमात्ता—वि० दे० “बुद्धिमत्ता”।

बुधवार-संज्ञा पु० [सं०] सात वारों में से एक वार जो बुध ग्रह का माना जाता है। यह मंगलवार के बाद और बृहस्पति वार से पहले पड़ता है। शिववार से चौथा दिन।

बुधिः—संज्ञा स्त्री० दे० "बुद्धि"।

बुधना-क्रि० सं० [सं० वयं] (१) जुलाहों की वह क्रिया जिससे वे सूतों या तारों की सहायता से कपड़ा तैयार करते हैं। इस क्रिया में पहले करगह में लंबाई के बल बहुत से सूत धार पर धार पर फेड़ाए जाते हैं, जिसे ताना कहते हैं। इसमें करगह की राधों की सहायता से ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है कि सम संख्याओं पर पड़नेवाले सूत आवश्यकता पड़ने पर विषम संख्याओं पर पड़नेवाले सूतों से अलग करके ऊपर उठाए या नीचे गिराए जा सकें। अब ताने के इन सूतों में से भागे सूतों को कुछ ऊपर उठाते और भागे को कुछ नीचे गिराते हैं और तब दोनों के बीच में से होकर धरती, जिसकी गरी में बाने का सूत लपेटा हुआ होता है, एक ओर से दूसरी ओर को जाती है जिससे बाने का सूत सोनेवाले सूतों में पड़ जाता है। इसके उपरांत फिर ताने के सूतों में से ऊपरवाले सूतों को नीचे और नीचेवाले सूतों को ऊपर करके दोनों के बीच में से इसी प्रकार बाने के सूत को फिर पीछे की ओर ले आते हैं। इसी प्रकार बार बार करने से तानों के सूतों में बाने के सूत पड़ते जाते हैं जिनसे अंत में कपड़ा तैयार हो जाता है। ताने के सूतों में एक नियम के अनुसार बाने के सूतों को बैठाने की यही क्रिया "बुधना" कहलाती है। विनान। (२) बहुत से स्त्रीएँ और बड़े सूतों को मिलाकर उनके कुछ के ऊपर और कुछ के नीचे से निकालकर अथवा उनमें गोंद आदि देकर कोई चीज तैयार करना। जैसे, गुल्बंद बुधना, जाज बुधना। (३) बहुत से तारों आदि की सहायता से एक क्रिया से अथवा उससे मिलती जुलती किसी चीज की क्रिया से कोई चीज तैयार करना। जैसे, मकड़ी का गाल बुधना।

संयोग-क्रि०-डाढ़ना।—देना।

बुधार्द-संज्ञा स्त्री० [हिं० बुधना + ई (प्रत्य०)] (१) बुधने की क्रिया या भाव। बुधावट। (२) बुधने की मजदूरी।

बुधावट-संज्ञा स्त्री० [हिं० बुधना + आवट (प्रत्य०)] बुधने में सूतों की मिलावट का दंग। सूतों के संयोग का प्रकार।

बुधियावट-संज्ञा स्त्री० [का०] (१) जड़। मूल। नींव। (२) प्रसन्नचित्त। वास्तविकता।

बुधुक्ता-क्रि० [सं० वृत्] जोर जोर से रोना। शुका फाड़ना। डाढ़ मारना।

बुधुकारी-संज्ञा स्त्री० [वृत् + उरु + कृ (प्रत्य०)] डाढ़ मार कर देने की क्रिया। शुका फाड़कर रोना। जोर जोर से

रोना। उ०—जहाँ तहाँ बुधुकि बिलोकि बुधुकारी देत जरत निकेत धावो धावो जागि आग रे।—तुलसी।

क्रि० प्र०—देना।—मारना।

बुधुद्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] खाने की इच्छा। बुधा। भूख।

बुधुचित्त-वि० [सं०] जिसे भूख लगी हो। भूखा। बुधित।

बुधुधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यश की इच्छा रखना।

बुधाम-संज्ञा पुं० [सं० ?] चीनी मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का गोल और ऊँचा बड़ा पात्र जो साधारणतः तेजाब और अचार आदि रखने के काम में आता है। जार।

बुरकना-क्रि० सं० [वृत्] किसी पिली हुई या महीन चीज को हाथ से धीरे धीरे किसी दूसरी चीज पर छिड़कना। सुरसुराना।

संज्ञा पुं० बर्छों की वह दावात जिसमें ये पटिया आदि पर लिखने के लिए खरिया मिट्टी घोलकर रखते हैं।

बुरका-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भावः पैने के आकार का मुसलमान स्त्रियों का एक प्रकार का पहनावा जो दूसरे सब वस्त्र पहन चुकने के उपरांत सिर पर से ढाळ लिया जाता है और जिससे सिर से पैर तक सब अंग ढके रहते हैं। इसमें का जो भाग आँखों के भागे पड़ता है, उसमें जाखी लगी रहती है जिसमें चलते समय सामने की चीजें दिखाई पड़ें। (२) वह किसी जिसमें जन्म के समय बचा लिपटा रहता है। खेड़ी।

बुरकाना-क्रि० सं० [हिं० बुरकना का प्रे० रूप] बुरकने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को बुरकने में प्रवृत्त करना।

बुरदू-संज्ञा पुं० [सं० बुरदू] (१) पारवै। बगल। (२) ओर। तरफ। (३) अज्ञान का बगलवाला भाग। (४) अज्ञान का वह भाग जो हवा या दूकान के दर पर न पड़ता हो, बल्कि पीछे की ओर हो। (लश०)

बुरा-वि० [सं० विरुप] जो अच्छा या बचन न हो। पराध। निरुद्ध। मंदा।

मुहा०—बुरा मानना = द्वेष रखना। बैर रखना। लार खाना।

यौ०—बुरा बला = (१) छानि लाभ। अच्छा और लगव।

(२) शस्त्री गणेश। क्षान्त मत्तमत्त।

बुराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० बुरा + ई (प्रत्य०)] (१) बुरे होने का भाव। बुरापन। पराधी। (२) परोक्षपन। नीधडा। जैसे, हमने किसी के साथ बुराई नहीं की। (३) अयगुण। दोष। दुर्गुण। पेश। जैसे, उसमें बुराई यही है कि वह बहुत मूढ़ बोलता है। (४) किसी के मर्यादा में कही हुई कोई बुरी बात। शिकायत। निंदा। जैसे, तुम तो राखी बुराई ही करते फिरते हो।

बुरासा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह द्रव्य जो लड़कियों के भारों से

समाधिता, संशय और प्रतिपत्ति ये पाँच गुण और कुछ लोगों के मत से शुद्धता, अवयव, प्रदण, धारण, वह, उपोद और अर्थविज्ञान ये सात गुण हैं। पाश्चात्य विद्वान् श्रुतःकरण के सब व्यापारों का स्थान मस्तिष्क मानते हैं, इसलिये उनके अनुसार बुद्धि का स्थान भी मस्तिष्क ही है। यद्यपि यह एक प्राकृतिक शक्ति है, तथापि ज्ञान और अनुभव की सहायता से इसमें बहुत कुछ वृद्धि हो सकती है।
पर्याय—मनीषा। पीप्या। धी। प्रज्ञा। मति। मेधा। चित्। चेतना। धारण। प्रतिपत्ति। मेधा। मन। मनस्। ज्ञान। बोध। प्रतिभा। विज्ञान। संख्या।

मुहा०—“बुद्धि”—दे० “अवल”।

(२) उपजाति वृष का चौदहवाँ भेद जिसे सिद्धि भी कहते हैं। (१) एक छंद जिसके चारो पाशों में क्रम से १६, १४, १४, १६ मात्राएँ होती हैं। इसे “लक्ष्मी” भी कहते हैं। (४) छप्पय का ४२ वाँ भेद।

शुद्धिक—संज्ञा पुं० [सं०] एक गाग का नाम।

शुद्धिकामा—संज्ञा स्त्री० [सं०] काति'केय की एक मातृका का नाम।

शुद्धिचक्षु—संज्ञा पुं० [सं०] प्रज्ञाचक्षु। उत्तराष्ट्र। इ०—कण्य दुरासम रूप मन माना। शुद्धिचक्षु पदं कीदृ पयाना।

शुद्धिजीवी—संज्ञा पुं० [सं० शुद्धिजीविन्] वह जो बुद्धि के द्वारा अपनी अविका का निर्वाह करता हो।

शुद्धितत्त्व—संज्ञा पुं० दे० “बुद्धि”।

शुद्धिपर—वि० [सं०] जो बुद्धि से परे हो। जिस तक बुद्धि न पहुँच सके। इ०—राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धिपर। अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह।—गुलसी।

शुद्धिमत्ता—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धिमान् होने का भाव। समक-दात्री। अवलम्बनी।

शुद्धिमान्—वि० [सं०] वह जिसकी बुद्धि बहुत प्रखर हो। वह जो बहुत समझदार हो। अवलम्बनी।

शुद्धिमानी—संज्ञा स्त्री० दे० “शुद्धिमत्ता”।

शुद्धिचत—वि० [सं० शुद्धि + चत (अव०)] बुद्धिमान्। अवल-मन्। समझदार।

शुद्धिशाली—वि० [सं० शुद्धिशालिन्] बुद्धिमान्। समझदार। अवलम्बनी।

शुद्धिशील—वि० [सं०] बुद्धिमान्। बुद्धिशाली। अवलम्बनी।

शुद्धिगीर्गम—संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

शुद्धिसहाय—संज्ञा पुं० [सं०] मंत्री। सचिव। यजीर।

शुद्धिहत—वि० [सं०] जिसमें बुद्धि न हो। मेघबल। बुद्धिहीन।

शुद्धिहा—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धि की नष्ट करनेवाली, मरिचा।

मय। धराव।

बुद्धिहीन—वि० [सं०] जिसे बुद्धि न हो। मूर्ख। बेबुद्ध।

बुद्धिद्विष—संज्ञा स्त्री० दे० “ज्ञानद्विष”।

बुद्धी—संज्ञा स्त्री० दे० “बुद्धि”।

बुध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सौर जगत् का एक ग्रह जो सूर्य के सब से अधिक समीप रहता है। यह माय सूर्य से ३६०००००० मील की दूरी पर रहकर अठ्ठासी दिन में उसकी परिक्रमा करता है। इसका व्यास प्रायः ३१०० मील के लगभग है और यह २४ घंटे ४१ मिनट में अपनी धुरी पर घूमता है। इसकी कक्षा का व्यास ३२०००००० मील है और इसकी गति प्रति घंटे प्रायः एक लाख मील है। सूर्य के बहुत समीप रहने के कारण यह बिना दृशीन आदि की सहायता के बहुत कम देखने में आता है। यह न तो सूर्य से कभी बहुत पहले उदय होता है, और न कभी उसके बहुत बाद अस्त होता है। इसमें सब अपना कोई प्रकाश नहीं है और यह केवल सूर्य के प्रकाश के प्रतिबिम्ब से ही चमकता है। यह आकार में पृथ्वी का प्रायः १२ वाँ अंश है। (२) भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार नौ ग्रहों में से चौथा ग्रह जो पुराणानुसार देव-ताम्रों के युद्ध बृहस्पति की स्त्री तारा के गर्भ से चंद्रमा के बीच से उत्पन्न हुआ था। कहते हैं कि चंद्रमा एक बार तारा की दरख कर के गया था। ब्रह्मा तथा दूसरे देवताओं के बहुत समझाने पर भी जब चंद्रमा ने तारा को नहीं छोड़ा था तब बृहस्पति और चंद्रमा ने युद्ध हुआ। बाद में ब्रह्मा ने बीच में पड़कर बृहस्पति को तारा विलया दी। पर उस समय तक चंद्रमा से तारा गर्भवती हो चुकी थी। बृहस्पति के बिगड़ने पर तारा ने दूरत प्रसव कर दिया जिससे बुध की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त कारीलेड तथा दूसरे अनेक पुराणों में भी बुध के सर्वच की कई कथाएँ हैं। यह वसुधक, युद्ध, अवधवेद का ज्ञाता, रोगाणु, मगध-देश का अधिपति, बाहल्यभाव, धनु के धाकार का और दूधरयाम धर्म का माना जाता है। रवि और शुक्र इसके मित्र और चंद्रमा इसका शत्रु माना जाता है। किसी किसी का मत है कि इसने वैवस्वत मनु की कन्या इंद्रा से विवाह किया था जिसके गर्भ से पुरुषा का जन्म हुआ था। यह भी कहा जाता है कि ऋग्वेद के मंत्रों का इसीने प्रकाश किया था। (३) अग्निपुराण के अनुसार एक सूर्य-वंशी राजा का नाम। (४) भागवत के अनुसार वैवस्वत राजा के पुत्र का नाम जो नृपविंदु का पिता था। (५) देवता। (६) कुशा। (७) बुद्धिमान् अथवा विद्वान् बुध।

बुधजामी—संज्ञा पुं० [सं०] बुध + जामिन् = जलमन् = राजा।

बुध के पिता, चंद्रमा।

बुधवान्—वि० दे० “बुद्धिमान्”।

बुधवार-संज्ञा पुं० [सं०] सात वारों में से एक वार जो बुध ग्रह का माना जाता है। यह मंगलवार के बाद और बृहस्पति वार से पहले पड़ता है। रविवार से चौथा दिन।

बुधि-संज्ञा स्त्री० दे० "बुद्धि"।

बुधना-कि० सं० [सं० वयं] (१) जुलाहों की वह क्रिया जिससे वे सूतों या तारों की सहायता से कपड़ा तैयार करते हैं। इस क्रिया में पहले करगह में लंबाई के बल बहुत से सूत बारबार बारबार फेड़ाए जाते हैं, जिसे ताना कहते हैं। इसमें करगह की राखों की सहायता से ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है कि सम संख्याओं पर पड़नेवाले सूत बारबारकता पड़ने पर विषम संख्याओं पर पड़नेवाले सूतों से अलग करके ऊपर उठाए या नीचे गिराए जा सकें। अथवा ताने के इन सूतों में से आधे सूतों को कुछ ऊपर उठाते और आधे को कुछ नीचे गिराते हैं और तब दोनों के बीच में से होकर डरकी, जिसकी नली में बाने का सूत लपेटा हुआ होता है, एक ओर से दूसरी ओर को जाती है जिससे बाने का सूत तीनेवाले सूतों में पड़ जाता है। इसके उपरांत फिर ताने के सूतों में से ऊपरवाले सूतों को नीचे और नीचेवाले सूतों को ऊपर करके दोनों के बीच में से वही प्रकार बाने के सूत को फिर पीछे की ओर ले जाते हैं। इसी प्रकार बार बार करने से तानों के सूतों में बाने के सूत पड़ते जाते हैं जिससे अंत में कपड़ा तैयार हो जाता है। ताने के एतों में एक नियम के अनुसार बाने के सूतों को बँटाने की पद्धति क्रिया "बुधना" कहलाती है। बिनना।

(२) बहुत से सीधे और बेड़े सूतों को मिलाकर इनके कुछ के ऊपर और कुछ के नीचे से निकालकर अथवा वनमें गोट आदि देकर कोई चीज तैयार करना। जैसे, गुल्बंद बुनना, जाज बुनना। (३) बहुत से तारों आदि की सहायता से एक क्रिया से अथवा उससे मिलती जुलती किसी और क्रिया से कोई चीज तैयार करना। जैसे, मकड़ी का जाज बुनना।

संयोग-कि० डालना।—देना।

बुनाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० बुनाई + ई (प्रत्य०)] (१) बुनने की क्रिया या भाव। बुनावट। (२) बुनने की मशीन।

बुनावट-संज्ञा स्त्री० [हिं० बुनाई + आवट (प्रत्य०)] बुनने में सूतों की मिटावट का ढंग। सूतों के संयोग का प्रकार।

बुनियाई-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) जड़। मृत्। नींव। (२) प्रसिद्धता। वास्तविकता।

बुधकना-हिं० व० [व०] जोर और से रोना। बुद्धा पाड़ना। डाढ़ मारना।

बुधकारी-संज्ञा स्त्री० [व० बुध + कारी (प्रत्य०)] डाढ़ मार कर रोने की क्रिया। बुद्धा पाड़कर रोना। जोर और से

रोना। व०—जहाँ तहाँ बुधुकि बिलोकि बुधुकारी देत जरत निकेत चावो चावो जागि आग रे।—तुलसी।

क्रि० प्र०—देना।—मारना।

बुधुत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] खाने की इच्छा। बुधा। भूख।

बुधुचित-वि० [सं०] जिसे भूख लगी हो। भूखा। बुधित।

बुभूषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यश की इच्छा रखना।

बुयाम-संज्ञा पुं० [सं० ?] चीनी मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का गोल और ऊँचा बड़ा पात्र जो साधारणतः तेजाब और अचार आदि रखने के काम में आता है। जार।

बुरकना-कि० व० [व०] किसी पिरी हुई या महीन चीज को हाथ से धीरे धीरे किसी दूसरी चीज पर धड़कना। मुरमुराना।

संज्ञा पुं० बच्चों की वह दावात जिसमें वे पटिया आदि पर लिखने के लिए खरिया मिट्टी घोलकर रखते हैं।

बुरका-संज्ञा पुं० [व०] (१) प्रायः पैले के प्रकार का मुसलमान क्रियों का एक प्रकार का पहनावा जो दूसरे सब वस्त्र पहन चुकने के उपरांत सिर पर से डाल लिया जाता है और जिससे सिर से पैर तक सब अंग ढके रहते हैं। इसमें का जो भाग आँखों के आगे पड़ता है, उसमें जाजी लगी रहती है जिसमें चलते समय सामने की चीजें दिखाई पड़ें। (२) वह क्रिस्तनी जिसमें जन्म के समय बच्चा लिपटा रहता है। खेड़ी।

बुरकाना-कि० व० [हिं० बुरकना का प्रे० रूप] बुरकने का काम दूसरे से काना। दूसरे को बुरकने में प्रवृत्त करना।

बुरदू-संज्ञा पुं० [सं० बुरदू] (१) पारवै। बगल। (२) और। तरफ। (३) जहाज का बगलवाला भाग। (४) जहाज का वह भाग जो हवा या दूफान के दल पर न पड़ता हो, बल्कि पीछे की ओर हो। (ल००)

बुरा-वि० [सं० विरूप] जो अच्छा या बचम न हो। खराब। निरुद्ध। मंदा।

मुहा०—बुरा मानना = द्वेष रखना। बर रखना। खार खाना।
यौ०—बुरा मला = (१) हानि लाभ। अच्छा और बुरा।
(२) शाली श्लोथ। क्षास्त मताम्रत।

बुराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० बुरा + ई (प्रत्य०)] (१) बुरे होने का भाव। बुरापन। खराबी। (२) खोटापन। नीपता। जैसे, हमने किसी के साथ बुराई नहीं की। (३) अयगुण। दोष। दुर्गुण। ऐव। जैसे, उसमें बुराई यही है कि वह बहुत मूढ़ थोला है। (४) किसी के संबंध में कही हुई कोई बुरी बात। शिकायत। निंदा। जैसे, तुम तो मरबी बुराई ही करने फिरते हो।

बुरावा-संज्ञा पुं० [व०] (१) वह वृत्ति जो लड़कों को भारे से

चीरने पर वसमें से निकलता है। लकड़ी का चूरा।
कुनाई। (२) चूर्ण। चूरा। (क०)

सुतापन-संज्ञा पुं० दे० "सुनाई"।

सुगुल-संज्ञा पुं० [दे०] एक जाति जिसकी भण्डना अंगुष्ठों में
होती है।

सुगुल-संज्ञा पुं० [अं० गग] अंगरेजी रंग की बनी हुई किसी
प्रकार की कूची जो चीजों को रंगने, साफ करने या
पाकित आदि करने के काम में आती है।

घिशोप-सुल्ल प्रायः कूटी हुई मूँज या कुछ विशेष पशुओं के
बालों से बनाए जाते और भिन्न भिन्न कार्यों के लिये
भिन्न भिन्न आकार प्रकर के होते हैं। रंग भरने या पाकित
आदि करने के लिए जो सुल्ल बनते हैं, उनमें प्रायः मूँज
या बालों का एक गुच्छा किसी लंबी लकड़ी या दूले के
एक सिरे पर लगा रहता है। चीजों को साफ करने के
लिए जो सुल्ल बनाए जाते हैं, उनमें प्रायः काठ के एक
घोड़े टुकड़े में छोटे छोटे बहुत से छेद करके उनमें एक
विशेष क्रिया और प्रकार से मूँज या बालों के छोटे छोटे
गुच्छे भर देते हैं। कभी कभी ऐसे काठ के टुकड़ों में एक
दस्ता भी लगा दिया जाता है। सुल्ल प्रायः मूँज या
गोरियल, बैल आदि के रेशों से अथवा घोड़े, गिलहरी,
कैद, सुगर, भालू, बकरी आदि पशुओं के बालों से बनाए
जाते हैं। साधारणतः सुल्ल का उपयोग कपड़े, टोपियाँ,
धिमनियाँ, तरह तरह के दूसरे सामान, बाल, दाँत आदि
साफ करने अथवा किसी चीज पर रंग आदि चढ़ाने में
होता है।

सुल्ल-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का बहुत बड़ा घुघ जो
हिमालय में ११००० फुट की ऊँचाई तक होता है।
इसकी छात बहुत सफेद और चमकीली होती है, जिससे
पहाड़ी लोग मोपड़े बनाते हैं। इसकी लकड़ी घुघ पाटने
और पत्ते चारे के काम में आते हैं।

सुर्ज-संज्ञा पुं० [अं०] (१) किले आदि की दीवारों में, कोनों
पर आगे की ओर निकला अथवा आस पास की इमारत
से ऊपर की ओर उठा हुआ गोला या पहलवार भाग
जिसके बीच में घेदने आदि के लिए थोड़ा सा स्थान होता
है। प्राचीन काल में प्रायः इस पर रखकर तोपें चलाई
जाती थीं। गरगज। (२) मीनार का ऊपरी भाग, अथवा
इसके आकार का इमारत का कोई अंग। (३) सुन्द।
(४) गुधारा। (५) शिथिल। (अंग०)

सुर्द-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) ऊपरी आमदनी। ऊपरी लाभ।
भत्ता। (२) रात। होड़ा। शमी। (३) शतरंज के खेल
में वह अवस्था जब सब मोहरे मर जाते हैं और केवल

यादराह रह जाता है। उस समय भाजी 'सुर्द' कहती
और आधी मात समझी जाती है।

सुरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० सुरक्षा] घेने का वह दंग जिसमें सोर
हल की जोत में लाठ दिए जाते हैं और वसमें से आप
से आप गिरते चलते हैं।

सुरी-संज्ञा पुं० दे० "सुरसा"।

सुलंद-वि० [अं० बंद] (१) भारी। बंधा। जैसे, सुरंद
भावाज, सुलंद हासला। (२) जिसकी ऊँचाई अधिक
हो। बहुत ऊँचा।

सुलंदी-संज्ञा स्त्री० [अं० बंदी] (१) सुलंद होने का भाव।
(२) ऊँचाई।

सुलडाग-संज्ञा पुं० [अं०] मनोले आकार का एक प्रकार का
विलायती कुत्ता जो बहुत बलवान, घुर और बेले में
मग्न कर होता है।

सुलसुल-संज्ञा स्त्री० [अं०, अं०] एक प्रसिद्ध गानेवाली कीर्ती
चिट्ठीया जो कई प्रकार की होती और पुरिया, यूरोप तथा
अमेरिका में पाई जाती है। ऊपर की ओर इसका रंग
काला, पेट के पास भूरा और गले के पास कुछ सफेद
होता है। जब इसकी तुम कुछ लाठ रंग की होती है तब
इसे गुलदुम कहते हैं। यह प्रायः एक बालित लंबी
होती है और आदियों या जंगलों आदि में जमीन पर या
वसने कुछ ही ऊँचाई पर धोसला बना कर रहती है और
४-५ फेदें देती है। यह आत के अनुसार स्थान का
परिवर्तन करती है। इसका स्वर बहुत ही मधुर होता है
और इसी लिये लोग इसे पाठते हैं। कहीं कहीं लोग
इसको लड़ाते भी हैं। जंगलों आदि में यह दिखाई तो
बहुत कम पड़ती है, पर इसका मोहारा शब्द प्रायः सुनाई
पड़ता है। फारसी और उर्दू के कवि इसे कूबों की प्रेमी
नायक के स्थान में मानते हैं। (उर्दूवाले इस शब्द को
पुल्लिग मानते हैं।)

सुलसुलचरम-संज्ञा स्त्री० [अं०] एक प्रकार की सहिबी (परी)।

सुलसुलपाद-संज्ञा पुं० [अं०] वह जो सुलसुल पादवा या
लड़ाता हो। सुलसुल का खिडाई या शीकीन।

सुलसुलथाजी-संज्ञा स्त्री० [अं०] सुलसुल पादने या लड़ाते का
काम। सुलसुलपाज का काम।

सुलसुला-संज्ञा पुं० [अं० उड्ड] पानी का बुल्ला। उड्डा।

सुलयाना-क्रि० ल० [हिं० उराना का प्र० रूप] बुलाने का काम।

दूध से करना। दूसरे को बुलाने में प्रवृत्त करना।

सुलाफ-संज्ञा पुं० [अं०] वह ज्योतार मा सुगंधीदार मोती जिसे
क्षिप्रा प्रायः गध में या दोनो गधों के बीच के परदे में
पहनती है।

बुलाकी-संज्ञा पुं० [बु० बुलाक] घोड़े की एक जाति । उ०—
सुरकी और हिरमंजि हराकी । सुरकी कंठी भुयोपर बुलाकी ।
—जायसी ।

बुलाना-क्रि० सं० [हिं० बोलना का सक० रूप] (१) आवाज
देना । पुकारना । (२) अपने पास आने के लिये कहना ।
(३) किसी को बोलने में प्रवृत्त करना । बोलने में दूसरे
को लगाना ।

बुलावा-संज्ञा पुं० [हिं० बुलाना + वा (प्रत्य०)] बुलाने की
क्रिया या भाव । निमंत्रण ।

क्रि० प्र०—आना ।—जाना ।—मेजना ।

बुलाह-संज्ञा पुं० [सं० बोलह] वह घोड़ा जिसकी गरदन और
पंख के पाठ पीले हों । (अरवैयक)

बुल्लि-संज्ञा स्त्री० [हिं०] बोलि ।

बुल्लिन-संज्ञा स्त्री० [सं० बुल्लिन] एक विशेष प्रकार का रस्सा
जो चौकोर पाठ के लगे में बाँधा जाता है । (लश०)

बुल्लेरी-संज्ञा पुं० [तमिळ] मँकौले आकार का एक पेड़ जो
मैसूर और पूर्वी घाट में अधिकता से होता है । इसकी
लकड़ी सफेद और चिकनी होती है और सस्त्रीयों के
चौखटे, मेज, कुर्सियाँ आदि बनाने के काम में आती है ।
इसके शीशों से एक प्रकार का तेज निकलता है जो मशीनें
आदि के इतरों में डाला जाता है ।

बुल्लेया-संज्ञा पुं० दे० "बुलावा" ।

बुल्लन-संज्ञा पुं० [दे०] (१) झुँद । चेहरा । (दलाजी) । (२)
गिराई की तरह की पर भूरे रंग की एक मछली जिसके
झुँद नहीं होती ।

संज्ञा पुं० [अनु० या हिं० बुल्लन] पानी का बुल्लबुल्ला ।
धुरधुर ।

बुल्ल-संज्ञा पुं० [सं० बुल्ल] अनाज आदि के ऊपर का झिलका ।
भूसी ।

बुल्लरी-संज्ञा स्त्री० दे० "बहरी" ।

बुल्लरना-क्रि० सं० [सं० बुल्लर + ना (प्रत्य०)] झाड़ू से जगह
साफ करना । झाड़ू देना । झाड़ना । उ०—द्वार बुल्लरत
सितल अट सिधि । कोरेम सयिया चीतति नयनिधि ।—सूर ।

बुल्लार-संज्ञा पुं० [हिं० बुल्लरना] झाड़ू की लीकों का बना हुआ
बड़ा झाड़ू ।

बुल्लारी-संज्ञा स्त्री० [सं० बुल्लरी, हिं० बुल्लरना + ई (प्रत्य०)] झाड़ू ।
भूसी । सोहनी ।

बुल्ल, बुल्ल-संज्ञा स्त्री० [हिं० गूँह] एक प्रकार की मछली ।
दे० "गुँह" ।

बुल्ल-संज्ञा स्त्री० [सं० बुल्ल] (१) जल या और किसी तरल
पदार्थ का वह बहुत ही छोड़ा और जो गिरने आदि के
समय प्रायः छोटी सी गोली या दाने आदि का रूप धारण

कर लेता है । कतरा । टोप । जैसे, पानी की बुल्ल, घास
की बुल्ल, खून की बुल्ल, पत्तियों की बुल्ल ।

मुहा०—बुल्ले गिरना या पड़ना = धीमी वर्षा होना । पोड़ा पोड़ा
पानी बरसना । बुल्ल भर = बहुत पोड़ा ।

यौ०—बुल्लबाँदी ।

(२) लीय्य । (३) एक प्रकार का रंगीन देखी कपड़ा
जिसमें बुल्लों के आकार की छोटी छोटी छटियाँ बनी होती
हैं और जो लिये के लट्ठों आदि बनाने के काम में आता है ।

वि० बहुत अच्छा या तेज । (इस अर्थ में इसका
व्यवहार केवल ललवार, कटार आदि काटनेवाले हथियारों
और शराब के संबंध में होता है ।)

बुल्ल-संज्ञा पुं० [हिं०] (१) बड़ी टिकुली । (२) सुगन्धीदार
मणियाँ या मोती जो कान या नथ में पहना जाता है ।

बुल्ल-संज्ञा स्त्री० [हिं० बुल्ल + अनु० नंद] अत्यंत छुट्टि ।
हलकी या थोड़ी वर्षा ।

बुल्ल-संज्ञा स्त्री० [हिं० बुल्ल + ई (प्रत्य०)] (१) एक प्रकार की
मिठाई जो अच्छी तरह फटे हुए बेसन के भरने में से
बुल्ल बुल्ल टपका कर और घी में छान कर बनाई जाती है ।
यह मीठी और नमकीन दो प्रकार की होती है । नमकीन
बुल्ल बनाने के लिये पहले ही बेसन को पोखते समय
इसमें नमक, मिर्च आदि मिला देते हैं; पर मीठी बुल्ल
बनाने के लिये बेसन पोखते समय इसमें और कुछ भी नहीं
मिलाया जाता । उसे घी में छानकर शरीर में हवा देते हैं
और तब फिर काम में लाते हैं । छोड़े दानों की बुल्ल का
लड्डू की बँचते हैं जो बुल्ल का लड्डू कहलाता है ।
ऐसे ही लड्डू पर जब कंद या दाने का पूर लपेट देते हैं;
तब वह मोतीपूर का लड्डू कहलाता है । बुल्लिया । (२)
वर्षा के अल की बुल्ल ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

बुल्ल-संज्ञा स्त्री० [का०] (१) बात । गप । मटक । (२) दुर्गप ।
बदबू ।

क्रि० प्र०—आना ।—निकलना ।

बुल्ल-संज्ञा स्त्री० [दे०] (१) पिता की बहन । भूनी । (२)
बड़ी बहन । (३) लियों का परस्पर आदरसूचक संबोधन ।
(मुसल०) । (४) एक प्रकार की मछली जो भारत की बड़ी
बड़ी नदियों में पाई जाती है । इसका मांस रूखा होता
है । ककसी ।

बुल्ल-संज्ञा पुं० [दे०] ऊमरी और सार आदि की जाति का एक
प्रकार का पौधा जो दिक्की से सिंचित और दुर्लभ भारत
में पाया जाता है । इसे जलाकर समीसार निकालते हैं ।
कोड़ा ।

बुल्ल-संज्ञा पुं० [दे०] मायफुल की जाति का एक प्रकार का

मुख्य उपनिषदों में से और उसके अंतिम ६ अध्यायों या ५ प्रपाठकों में है।

चूह्व-पि० दे० "चूह्व"।

संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

चूह्वप्रह-संज्ञा पुं० [सं०] कदप नामक प्राचीन देश।

चूह्वहती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की दंतरी जिसके पत्ते परंठ के पत्तों के समान होते हैं। दे० "दंतरी"।

चूह्वहल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सफेद लोच। (२) सप्तपथ नामक वृक्ष।

चूह्वहली-संज्ञा स्त्री० [सं०] लजालू। लजावती।

चूह्ववृषला-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महावला। (२) सफेद लोच। (३) लजालू। लजावती।

चूह्ववृषीज-संज्ञा पुं० [सं०] भमड़ा।

चूह्ववृषी-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रायमाणा लता।

चूह्ववृषीरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम।

चूह्ववृषालु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋषि। (२) चित्रक। पीता वृक्ष। (३) वृष। (४) मागवत के अनुसार सत्यमामा के पुत्र का नाम।

चूह्वप्रह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हंस। (२) सामवेद का एक अंश। (३) पशुपत्र। (४) शतधन्या के पुत्र का नाम। (५) देवता के पुत्र का नाम। (६) भगवत देव के राजा जालंध के पिता का नाम।

चूह्ववृषी-संज्ञा पुं० [सं०] सोना मक्खी। स्वर्णमाषिक।

चूह्ववृषी-संज्ञा स्त्री० [सं०] केली।

चूह्ववृषीरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] महेंद्रवाट्या नामक लता।

चूह्वल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन का एक नाम। (२) बाहु। बाह।

चूह्वल-संज्ञा स्त्री० [सं०] अर्जुन का उस समय का नाम जिस समय वे अज्ञातवास में श्री के वेश में रहकर राजा विशाट की कन्या को नाथ गाना सिखाते थे।

चूह्वलापयण-संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम जिसे वाल्मिकी उपनिषद् भी कहते हैं।

चूह्वनिष-संज्ञा पुं० [सं०] महाविष।

चूह्वस्पति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक महसिद्ध वैदिक देवता जो अंगिरस के पुत्र और देवताओं के पुत्र माने जाते हैं। इनकी माता का नाम अद्रा और श्री का नाम तारा था। वे सभी विषयों के पूष पंडित थे और शुक्राचार्य के साथ इनकी स्पर्धा रहती थी। ऋग्वेद के ११ सूक्तों में इनकी स्तुति बरी हुई है। बगैरे कहा गया है कि इनके सात पुत्र हैं, सुंदर जीम, देवे सींग और सीं पंज हैं और इनके हाथ में धनुष-बाण और शीतल का शस्त्र रहता है। एक स्थान में यह भी कहा गया है कि वे अंतरिक्ष के महादेव से उत्पन्न

हुए थे और, इन्होंने सारा संसार गूँथ कर दिया था। यह भी कहा गया है कि वे देवताओं के पुरोहित हैं और इनके बिना यह का कोई कृत्य पूष नहीं होता। वे अग्नि और वसुध के देवता तथा इंद्र के मित्र और सहाय माने गए हैं। ऋग्वेद की अनेक अध्यायों में इनका वर्णन दिया है, यह अग्नि के वर्णन से बहुत कुछ मिलजुलता है। वाचस्पति और सत्यस्पति भी इनके नाम हैं। कई स्थितियाँ और चार्वाक मत के प्रबन्धों के बनाए हुए माने जाते हैं। पुराणानुसार इनकी श्री तारा को सोम (चंद्रमा) उठा ले गया था जिसके कारण सोम से इनका घोर युद्ध हुआ था। अंत में ब्रह्मा ने दक्षिण को सारा दिलवा दी। पर तारा को सोम से गम रह गया था जिसके कारण उसे एक पुत्र हुआ जिसका नाम उष रखा गया था। वैदिक काल के उपरांत इनकी गवना वर्ष ग्रह में होने लगी।

पर्याय—शुक्राचार्य। मीस्पति। विषण। गुरु। जीव। अंगिरस। वाचस्पति। वाह। द्वाद्यारश्मि। गिरा। विवि। वाकपति। वषसापति। वागीश। द्वाद्यारक। गीव।

(२) सौर जगत् का पंचवर्षी ग्रह जो सूर्य से ४४,१०,००,००० मील की दूरी पर है और जिसका परिभ्रमण काल लगभग ४३३३ दिन है। इसका व्यास २१,००० मील है। यह सूर्य से बड़ा ग्रह है और इसका व्यास पृथ्वी के व्यास से ११ गुना बड़ा है। यह बहुत चमकीला भी है और एक को छोड़कर और कोई ग्रह चमक में इससे बड़ा नहीं है। अपने चरण पर यह लगभग १० घंटे में घूमता है। बुरुजिन से देखने से इसके पृष्ठ पर कुछ समानोक्त रेखाएँ दिखाई देती हैं। अनुमान किया जाता है कि यह ग्रह बादलों की झेलवाओं से घिरा हुआ है। यह अभी बालक-ग्रह माना जाता है, क्योंकि इसका निर्माण हुए अभी अधिक समय नहीं बीता है। अभी इस की अवस्था सूर्य की अवस्था से कुछ कुछ मिलती जुलती है और पृथ्वी की अवस्था तक इसे पहुँचने में अभी बहुत समय लगेगा। यह अभी स्वयं प्रकाशमान नहीं है और केवल सूर्य के प्रकाश से ही चमकता है। इसका तल भी अभी पृथ्वी-तल के समान सौम नहीं है। पाँच चारों ओर अनेक प्रकार के वायुओं के झंझल से घिरा हुआ है। इसके साथ कम से कम पाँच उपग्रह या चंद्रमा हैं जिनमें से तीन उपग्रह हमारे चंद्रमा से बड़े हैं और दो छोटे।

चूह्वस्पतिस्तुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंगिरा के पुत्र चूह्वस्पति की कृत एक स्तुति।

चूह्व-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्र। ३०—जैसे व्याट बंग के

हूके बेंग पलारी लकै हो। जैसे सिंद चापु मुख निरले
पर कूर में दाके हो।—सूर।

वे'गंत-संज्ञा पुं० [दे०] यह चीज जो खेतियों को उधार
दिया जाता है और जिसके बच्चे में फसल होने पर लौट
में इससे कुछ अधिक भत्ता मिलता है। वेग। भीट।

वे'गनकुटी-संज्ञा स्त्री० [दे०] अवाली नाम का पत्नी। दे०
"अवाली"।

वे'ख-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लकड़ी, कोड़े या पत्थर आदि की
बनी हुई एक प्रकार की चौकी जो चौड़ी कम और लंबी
अधिक होती है। इस पर बराबर बराबर कई आदमी एक
साथ बैठ सकते हैं। कभी कभी इसमें पीछे की ओर से ऐसी
योजना भी कर दी जाती है जिससे बैठनेवाले की पीठ को
सहारा भी मिल सके। (२) सरकारी न्यायालय के न्याय-
कर्ता।

वे'चना-क्रि० सं० दे० "वेचना"।

वे'ट, वे'ड- संज्ञा स्त्री० [दे०] बीजारी आदि में लगा हुआ
काठ या हस्ती प्रकार की और किसी चीज का दस्ता। मूठ।

वे'डू-संज्ञा पुं० [दे०] (१) वह मेका जो मेहों के कुंड में
बच्चे उपलब्ध करने के लिए छूटा रहता है। (गडरिये)। (२)
नागद कपया पैसा। सिका। (दुलाल) (३) पदार्थ। (क०)

संज्ञा स्त्री० [हिं० वेणु = बाण] यह चीज जो किसी भार
को नीचे गिरने से रोकने के लिये उसके नीचे लगाई जाय।
बाँट। व०—हैं नब नीब आन हैं देवें समुंद मधिं
मेड। फटक ग्राह कर देकै है सुमेर रण वे'ड—आपसी।

वे'ड़ा-संज्ञा पुं० दे० "वे'वड़ा"।

वि० [हिं० बाड़ा] (१) बाड़ा। तिरछा। (२) कठिन।
मुदिकल। टेड़ा।

वे'ड़ी-संज्ञा स्त्री० [दे०] बाल की वह ठोकर जिसमें चार
स्तियाँ बँधी रहती हैं और जिसकी सहायता से ही आदमी
मिलकर किसी गड़बड़े का पानी उठाकर खेत आदि सींचते
हैं। डलिया। सौरी।

वे'डीमसकली-संज्ञा स्त्री० [दे०] इसिया के धाकर का कोड़े
का एक बीजार जिसमें काठ का दस्ता लगा रहता है।
इससे बातनें मर जिन्ना की जाती है।

वे'ट-संज्ञा पुं० [व०] रंगे आदि के ऊपरी पतले भाग में
पहनना हुआ किसी चीज का पतला चौकोर पत्तर या हस्ती
प्रकार का और कोई पदार्थ जिसका उपयोग यह जानने के
लिये होता है कि हवा किस ओर बह रही है। यह चारों
ओर सहज में घूम सकता है और सदा हवा के रुख पर
घूमता रहता है। फरहा।

वे'त-संज्ञा पुं० [सं० वेत] (१) एक प्रसिद्ध लता जो ताड़ या
खर आदि की जाति की मानी जाती है। यह पूर्वी

एशिया और उसके आस पास के टापुओं में जंगलों में के
पास बहुत अधिकता से होती है। इसके पत्ते घास के
पत्तों के समान और कँटीले होते हैं और वहाँ के सड़ारे
यह लता ऊँचे ऊँचे पेड़ों पर चढ़ती है। इसकी छोटी
बड़ी अनेक जातियाँ हैं। इसके डंठल बहुत मजबूत और
लचीले होते हैं और प्रायः छुरियाँ, टोकियाँ तथा हस्ती
प्रकार के दूसरे सामान बनाने के काम में आते हैं। इन
डंठलों के ऊपर की छाल कुसियाँ, मोड़े, पलेग आदि
बुनने के काम में भी आती है। हमारे यहाँ के प्राचीन कवियों
आदि का विश्वास था कि वे'त फूँटता या फलता नहीं,
पर वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। इसमें गुच्छों में एक
प्रकार के छोटे छोटे फल लगते हैं जो खाए जाते हैं। इसकी
जड़ और कोमल पत्तियाँ भी सरकारी की तरह खाई जाती
हैं। वैद्यक में इसे शीतल और सूजन, कफ, पचासीर,
मण, मृदरुचि, रफपित और पयरी आदि का नाशक
माना है।

पट्टी०—वेतस। निचुल। संतुल। दीर्घपत्रक। कलन।
मंजरी मर। बालीर। विरुल। रय। धीत। गंधदुग्धक।
सुपेद। नीरमिय। तोयकाम। अन्नदुग्धक।

(२) वे'त के डंठल की बनी हुई छड़ी।

मुद्रा०—वे'त की तरह कापना = परपर कापना। बहुत अधिक
डरना। जैसे; यह लड़का आपका देखते ही वे'त की तरह
कापता है।

वे'दली-संज्ञा स्त्री० [हिं० पदी] माये पर लगाने की विधि।
टिकली।

वे'दा-संज्ञा पुं० [सं० वेद] (१) माये पर लगाने का गोल
तिलक। टीका। (२) माये पर पहनने का किये का एक
आभूषण। बेदी बिंदी। व०—बाना विधि गंगार बनाए
वे'दा बीनो भाळ—सूर। (३) माये पर लगाने की पट्टी
गोल टिकली। (४) इस प्रकार और प्रकार का माये पर
पहनने का एक आभूषण।

वे'दी-संज्ञा स्त्री० [सं० वेदि, हिं० बिंदी] (१) टिकली। बिंदी।
(२) शय्य। सुखा। व०—कहत सबे वे'दी दिप आँक दस
गुने होत। शिप खिलार वे'दी दिप धगनित बडत वदेत।
—विहारी। (३) दावनी या बेदी नाम का गढ़ना जिते
छियाँ माये पर पहनती हैं। व०—(क) ब्रह्मक सेम रचत
वे'दी कर हृदय दोम घन नैन—सूर। (ख) वे'दी सेवारन
मिस पाहू लगी। चतुर नायकहू पांग मसकी मन ही मन
रीके गुल मेद मीति लज आगी—सूर। (ग) वे'दी भाळ
मैन नित ब्रजकति निरिख रहति तनु गोरी—सूर। (घ)
सरो के पेड़ का सा बेबबूटा।

वे'यड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० देवा = बाण] वेद किवाड़े के पीछे लगाने

की लकड़ी। रागल। गम। व्योङ्गा। दे० “बागल”।
वैताना-क्रि० सं० [हि० व्योतना का प्र० रूप] व्योतने का काम
दूसरे से करना। सिवाने के लिए किसी से रूपड़ा मगवाना।
वे-अव्य० [सं० वि० मि० फा० वे] बिना। बगैर। (इसका प्रयोग
प्रायः फारसी भादि शब्दों के साथ यौगिक में होता है।
जैसे, बेगैरत, बेहजत।)

अव्य० [हि० वे] छोटों के लिए एक संवोधन शब्द जो

प्रायः अविष्टासूचक माना जाता है।

मुहा०-वे से करना = किसी को तुच्छ समझते हुए उसके साथ
अविष्टापूर्वक बातें करना।

वेअंतर्क-क्रि० वि० [हि० वे = बगैर + सं० अंत] जिसका कोई
अंत न हो। अनंत। असीम। बेहद।

वेअकल-वि० [फा० वे + अ० अकल] मूर्ख। नासमझ। बेबक।

वेअकली-संज्ञा स्त्री० [फा० वे + अ० अकल] मूर्खता। बेबक़ी।

वेअद्व-वि० [फा० वे + अ० अद्व] जो किसी का अद्व न
करता हो। जो धर्मों का आदर-सम्मान न करे।

वेअद्वी-संज्ञा स्त्री० [फा० वे + अ० अद्व] वेअद्व होने का भाव।

धर्मों का आदर-सम्मान न करना। पुस्ताली। शोली।

वेआय-वि० [फा० वे + अ० आय] (१) जिसमें आव (घमक)
न हो। (२) जिसकी कोई प्रतिष्ठा न हो।

वेआयक-वि० [फा०] जिसकी कोई प्रतिष्ठा न हो। बेहजत।

वेआयी-संज्ञा स्त्री० [फा० वे + अ० आय] वेआय होने का भाव।
मखिनता। निस्तेजता।

वेआरी-संज्ञा पुं० [दे०] एकमें मिला हुआ जैा और घना।

वेआनी-संज्ञा स्त्री० [दे०] छुलाहों का एक बीमार जो प्रायः
कभी के आकार का होता और ताने के सूत के बीच में
रहता है।

वेइसाफी-संज्ञा स्त्री० [फा०]-इसाफ का अभाव। अग्याय।

वेइजत-वि० [फा० वे + अ० इजत] (१) जिसकी कोई प्रतिष्ठा
न हो। अप्रतिष्ठित। (२) जिसका अपमान किया गया
हो। अपमानित।

वेइजती-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) अप्रतिष्ठा। (२) अपमान।

वेइलि-संज्ञा पुं० दे० “वेडा”। ड०-मीलसिरी बेइलि अत्र
करना। राबड़ फूस फूले बहुत करना।-जायसी।

वेइलम-वि० [फा० वे + अ० इलम] जो कोई विद्या न जानता
हो। जो कुछ पढ़ा खिता न हो।

वेइमान-वि० [फा०] (१) जिसका ईमान ठीक न हो। जिसे
धर्म का विचार न हो। अधर्मी। (२) जो विद्या के
योग्य न हो। अविद्यमान। (३) जो अग्याय, कपट या
और किसी प्रकार का धनापार करता हो।

वेइमानी-संज्ञा स्त्री० [फा० वे + अ० इमान] वेइमान होने
का भाव।

वेउगा-संज्ञा पुं० [दे०] बस का वह बीगा जिसे कांठ के
परिघा घुमते समय ताने की सहाय प्रदान करने के लिए
ताने में रहते हैं।

वेउज-वि० [फा० वे + अ० उज] जो आजापालन प्रथा और
कोई काम करने में कभी किसी प्रकार की आपत्ति न करे।

वेकदर-वि० [फा०] जिसकी कोई कदर या प्रतिष्ठा न हो।
बेहजत। अप्रतिष्ठित।

वेकदरी-संज्ञा स्त्री० [फा०] वेकदर होने का भाव। बेइज्जी।
अप्रतिष्ठा।

वेकरा-संज्ञा पुं० [दे०] पशुओं का खुरपड़ा नामक रोग।
खुरहा।

वेकरार-वि० [फा०] जिसे शांति या चैन न हो। धरापा
हुआ। व्याकुल। विकल।

वेकरारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] वेकरार होने का भाव। धरापट।
बेचैनी। व्याकुलता।

वेकलक-वि० [सं० विकल] व्याकुल। विकल। बेचैन।

वेकली-संज्ञा स्त्री० [हि० वेकल + ई (प्रत्यय)] (१) वेकल होने
का भाव। धरापट। बेचैनी। व्याकुलता। (२) खिले
का एक रोग जिसमें बलकी चर्दन या गर्मिशद अपने स्थान
से कुछ हट जाता है और जिसमें रोगी को बहुत अधिक
पीड़ा होती है।

वेकल-वि० [फा०] (१) निराश्रय। विराधय। (२) गरीब।
मुहताज। दीन। (३) माल-विह्वल। बिना माँ बाप
का। अनाय। यतीम।

वेकहा-वि० [हि० वे + कहना] जो किसी का कहना न माने।
किसी की आज्ञा या परामर्श को न माननेवाला।

वेकानूनी-वि० [फा० वे + अ० कानून] जो कानून या कायदे
के खिलाफ हो। नियमविरुद्ध।

वेकानू-वि० [फा० वे + अ० कानू] (१) जिसका अपने ऊपर
कानून न हो। विवश। लाचार। (२) जिस पर किसी का
कानून न हो। जो किसी के घरा में न हो।

वेकाम-वि० [हि० वे + काम] जिसमें कोई काम न हो। निरुत्तम।
निष्ठा।

कि० वि० व्यर्थ। निरर्थक। बे-मतलब। निष्प्रयोजन।

वेकायदा-वि० [फा० वे + अ० कायदा] कायदे के खिलाफ।
नियमविरुद्ध।

वेकार-वि० [फा०] (१) जिसके पास करने के लिए कोई काम
न हो। निरुत्तम। निष्ठा। (२) जो किसी काम में न आ
सके। जिसका कोई उपयोग न हो सके। निरर्थक। व्यर्थ।

कि० वि० व्यर्थ। बिना किसी काम के। (एव)

वेकरी-संज्ञा स्त्री० [फा०] वेकार होने का भाव। शारी
या निरधम होने का भाव।

वेकान्या-वि० [हि० वेकान्या] किसी को जोर से बुलाने का शब्द । जैसे, भरे, हो आदि । उ०—वेकान्या दे जान कहावत जात पयों की कहा परी बाढ।—हरिदास ।

वेकसूर-वि० [फा० वे + च० कसूर] जिसका कोई कसूर न हो । निरपराध ।

वेख-उंठा छी० [फा०] जड़ । मूल ।

वे-उंठा पु० [सं० वेप] (१) भेस । स्वरूप । (२) सर्वांग । नकल ।

वेखटका-वि० [हि० वे + हि० खटका] बिना किसी प्रकार के खटके के । बिना किसी प्रकार की रुकावट या असमंजस के । निर्वशेष ।

कि० वि० मन में कोई खटका किए बिना । बिना आगा पीछा किए । निर्वशेष ।

वेखता-वि० [फा० वे + च० खता = कसूर] (१) जिसका कोई अपराध न हो । बेकसूर । निरपराध । (२) जो कभी खाली न जाए । अमोघ । अचूक ।

वेखवर-वि० [फा०] (१) जिसको किसी बात की खबर न हो । अनजान । नायाकिल । (२) बेहोश । बेसुध ।

वेखवरी-उंठा छी० [फा०] (१) वेखवर होने का भाव । अज्ञानता । (२) बेहोशी ।

वेखुर-उंठा पु० [दे०] एक प्रकार का पत्थी जिसका शिकार किया जाता है । यह कारनीर, नैपाल और बंगाल में पाया जाता है; पर अफगान में पहाड़ पर से कतरा सम भूमि पर भी आता है । यह केवल फल मूल ही खाता है और प्रायः नदियों या जलाशयों के किनारे छोटे छोटे कुंडों में रहता है ।

वेखीफ-वि० [फा०] जिसे लीक या भय न हो । निमग्न । निद्र ।

वेग-उंठा पु० दे० "वेग" । उ०—जग जय वेगी जाइ परयो सिधु तीर चाहे जब भीर लिए डाटे वेह भोई है ।—प्रियादास ।

उंठा पु० [सं० वेग] कपड़े, चमड़े या कागज आदि लचीले पदार्थों का कोई ऐसा पैठा जिसमें चीजें रली जाती हों और जिसका मुँह ऊपर से बंद किया जा सकता हो । पैठा ।

वेगड़ी-उंठा पु० [दे०] (१) हारा काटनेवाला । हारतारा । (२) गनीमा पनानेवाला । हकाक ।

वेगती-उंठा छी० [दे०] एक प्रकार की मछली जो बंगाल की खाड़ी में पाई जाती है । यह प्रायः ४ हाथ लंबी होती है और हलका मांस खादिष्ट होता है ।

वेगम-उंठा छी० [उ०] (१) राजा । रानी । राजपत्नी । (२) तारा के पथों में से एक जिस पर एक स्त्री या रानी का चित्र बना होता है । यह पथा केवल पृथ्वी और आदराह से छोटा और बारी तारों बना समझा जाता है ।

वेगमी-वि० [उ० वेगम + ई (प्रत्यय)] (१) वेगम-संबंधी । (२) उत्तम । उम्मा । बढ़िया ।

उंठा पु० (१) एक प्रकार का बढ़िया कपरी पान । (२) एक प्रकार का पनीर जिसमें नमक कम होता है । (३) एक प्रकार का बढ़िया चावल जो पंजाब में होता है ।

वेगरा-कि० वि० दे० "बगैर" ।

वेगराज-वि० [फा० वे + च० गराज] जिसे कोई गराज या परवा न हो ।

कि० वि० बिना किसी मतलब के । निःप्रयोजन । व्यर्थ । वेगराजी-उंठा छी० [फा० वे + च० गराज + ई (प्रत्यय)] बेग-राज होने का भाव ।

वेगवती-उंठा छी० [सं०] एक वर्षाई वृक्ष जिसके विपम पार्श्वों में ३ समान, १ गुदा और सम पार्श्वों में ३ अगण और २ शुक्र होते हैं ।

वेगसर-उंठा पु० [सं० वेगसर] वेसर । अत्यन्त । खबर । (हि०)

वेगानगी-उंठा छी० [फा०] वेगाना होने का भाव । परायापन ।

वेगाना-वि० [फा०] (१) जो अपनाना न हो । गैर । दूसरा । पराया । (२) नायाकिल । अनजान ।

वेगाद-उंठा छी० [फा०] (१) वह काम जो राज्य के कर्मचारी आदि अथवा गाँवों के जमींदार आदि छोटी जाति के और गरीब असाधियों से बलपूर्वक लेते हैं और जिसके बदले में उनको बहुत ही कम पुरस्कार मिलता है अथवा कुछ भी पुरस्कार नहीं मिलता । बिना मजदूरी का जबरदस्ती लिया हुआ काम ।

मि० प्र०—वेना ।—खेना ।

(२) वह काम जो चित्त लगाकर न किया जाय । बह काम जो बेमन से किया जाय ।

मुहा०—बेगाद टाकना = बिना चित्त लगाए कोई काम करना । पीछा छुड़ाने के लिए किसी काम को जैसे तैसे पूरा करना ।

वेगारी-उंठा छी० [फा०] वह मजदूर जिससे बिना मजदूरी दिए जबरदस्ती काम लिया जाय । बेगार में काम करनेवाला आदमी ।

वेगि-कि० वि० [सं० वेग] (१) जल्दी से । शीघ्रतापूर्वक । (२) चटपट । फौरन । तुरंत ।

वेगुनी-उंठा पु० दे० "बैगन" ।

वेगुनाह-वि० [फा०] (१) जिसने कोई गुनाह न किया हो । जिसने कोई पाप न किया हो । (२) जिसने कोई अपराध न किया हो । बेकसूर । निर्दोष ।

वेगुनी-उंठा छी० [दे०] एक प्रकार की मुराही ।

वेचका-उंठा पु० [हि० वेचना] बेचनेवाला । किसी करनेवाला ।

वेचना-कि० सं० [सं० मित्र] मूल्य लेकर कोई पदार्थ देना । चीज देना और उसके बदले में धन लेना । विक्रय करना ।

संयो० कि०—डालना।—देना।

मुहा०—वेच खाना = सो देना। गैवा देना। व०—(क) सुनु
मैया याकी टेव लरन की सकुच बँचिसी खाई—मुलती।
(ख) पुष्य केरी सयँ सोदे कृषी के काज। सूर मनु की
कहा कहिए बँच खाई लाज।—सूर।

वेचवाना—कि० सं० दे० “बिचवाना”।

वेचाना—कि० सं० [हि०] दे० “बिचवाना”।

वेचारा—वि० [का०] [ए० वेचारी] जो दीन और निस्सहाय
हो। जिसका कोई साथी या अवलंब न हो। गरीब। दीन।

वेचिराग—वि० [का० वे + च० चिराग] जहाँ दीया एक न
जलता हो। ब्रजड़ा हुआ।

वेचैन—वि० [का०] जिसे किसी प्रकार चैन न पड़ता हो।
व्याकुल। विकल। बेकल।

वेचैनी—संज्ञा स्त्री० [का०] वेचैन होने का भाव। विकलता।
व्याकुलता। बेकली। चषराहट।

वेजड़—वि० [का० वे + हि० ङड़] जिसकी कोई जड़ या बुनि-
याद न हो। जिसके मूल में कोई तत्व या सार न हो।
जो दो ही मन से गढ़ा या बना किया गया हो। निर्मूल।
जैसे, चाप तो रोज में ही वेजड़ की बाते उड़ाया
करते हैं।

वेजवान—वि० [का०] (१) जिसमें बातचीत करने की शक्ति न
हो। जो बोलकर अपने मन के भाव प्रकट न कर सकता
हो। मूँगा। मूक। जैसे, वेजवान जानवरों की रक्षा
करनी चाहिए। (२) जो अपनी दीनता या मन्नता के
कारण किसी प्रकार का विशेष न करे। दीन। गरीब।

वेजा—वि० [का०] (१) जो अपने उचित स्थान पर न हो।
बेठिकाने। बेसीके। (२) अनुचित। नास्तुभासिब। (३)
बराब। ठुरा।

वेजान—वि० [का०] (१) जिसमें जान न हो। मुरदा। मृतक।
(२) जिसमें जीवन शक्ति बहुत ही थोड़ी हो। जिसमें
कुल भी दम न हो। (३) शूरभाया हुआ। कुम्हलाया
हुआ। (४) निर्बल। कमजोर।

वेजान्ता—वि० [का० वे + च० वान्त] जो जागते के अनुसार न
हो। कानून या नियम आदि के विरुद्ध। जैसे, जागते की
कारवाँदे न करके चाप वेजान्ता काम क्यों करने गए।

वेजार—वि० [का०] जो किसी बात से बहुत संगम आ गया हो।
जिसका चित्त किसी बात से बहुत दुःखी हो। जैसे, चाप
तो दिन पर दिन अपनी जिंदगी से बेगार हुए जाते हैं।

वेजू—संज्ञा पुं० [सं० वैश] देड़ दो हाथ लंबा एक प्रकार का
जंगली जानवर जो प्रायः सभी गाम देरों में पाया जाता
है। इसके गरीर का रंग भूरा और पैर छोटे होते हैं।
इसकी दुम बहुत छोटी होती है और पंखे लंबे तथा दुर्ब

होते हैं जिनसे यह अपने रहने के लिए निज कोपता है।
इसका मांस खाया जाता है और इसकी दुम के बालों से
चित्रों आदि में रंग भरने या दाढ़ी में साड़न लगाने के
लिये बनाए जाते हैं। प्रायः शिकारी लोग इसे बिड़ों से
जबड़बुती निकालकर कुत्तों से इसका शिकार कराते हैं।

वेजोड़—वि० [का० वे + हि० जोड़] (१) जिसमें जोड़ न हो।
जो एक ही टुकड़े का टूटा हो। अखंड। (२) जिसके
जोड़ का और कोई न हो। जिसकी समता न हो सके।
अद्वितीय। निरवयव।

वेकटा—संज्ञा पुं० [हि० वेकटा = मिशाना] गेहूँ, जौ, मटर, चने
इत्यादि अनाजों में से कोई दो या तीन मिले हुए अन्न।

वेकटा—संज्ञा पुं० [सं० वेध] निराश। लक्ष्य। व०—(क) वरन
के बने मेरे मयूम कमनैती के बुदारी घर सोदन बदा से
चमकत हैं।—वेच। (ख) तिय कत कमनैती पड़ी निम
जिह भौह कमल। चित चढ बने सुकति नहि बँक
पिबोकनि बान।—बिहारी।

वेठकी—संज्ञा स्त्री० [हि० वेठ] वेठी। कन्या। पुत्री। लड़की।
व०—जैसे भीचे करम धरम अयारम करि वेठकी को पबत
वेचत वेठा वेठकी।—मुलती।

वेठला—संज्ञा पुं० दे० “वेठा”। व०—गाई, गाय के वेठला में
आदि सड़ाई। इनकी हम लज्जा नहीं हम तान बढ़ाई।
—सूर।

वेठया—संज्ञा पुं० दे० “वेठा”।

वेठा—संज्ञा पुं० [सं० वठ = बलक] [ए० वेठी] पुत्र। पुत।
लड़का।

मुहा०—वेठा बवाना = किसी बालक के दूधक लेकर जाना
पुत्र बनाना। वेठवाला = घर का पिता अपना बरपनर का
और कोई बड़ा आदमी। वेठीवाड़ा = बंधू का पिता अपना
बन्धुपक्ष का और कोई बड़ा आदमी।

यो०—वेठा वेठी = संज्ञान। योसाद। वेठे वेते = संज्ञान और
संज्ञान की संज्ञान। पुत्र, पौत्र आदि।

वेठीना—संज्ञा पुं० दे० “वेठा”।

वेष्टा—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का भैंसा जो मीसूर देश में
होता है।

संज्ञा पुं० दे० “वेठा”।

वेठ—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की उत्तर जमीन जिते बोहड़
भी करते हैं।

संज्ञा स्त्री० दे० “वेठ”।

वेठन—संज्ञा पुं० [सं० वेधन] वह कपड़ा जो किसी चीज को
गढ़े आदि से बचाने के लिए डर पर लपेट दिया जाय।
वह कपड़ा जो किसी चीज को लपेटने के काम में आवे।
बँधना।

मुद्रा—पोषी का बैठन = जो अधिक प्रबल-शिक्षा न हो।
वेदिकाने-वि० [पा० वे + दि० दिकाना] (१) जो अपने उचित स्थान पर न हो। स्थान-च्युत। (२) जिसका कोई सिर पैर न हो। अङ्ग-जल्ल। (३) व्यर्थ। निरर्थक।

वेङ्-संज्ञा पु० [वं०] (१) नीचे का भाग। तल। (२) विस्तर। बिछाना। (३) छापेखाने में लोहे का वह तल्ला जिस पर कंठज और शुद्ध किए हुए टाइप, छापने से पहले, रखकर कसे जाते हैं।

वेङ्-संज्ञा पु० [हि० वाङ्] वृक्ष के चारों ओर लगाई हुई बाड़।
मैङ्। उ०—येपन पीड़ी सी मीठी पिडुंरी उमड़ि मैङ् वेङ्गन लगावे वेङ्गाइन युक्तकी।—देव।

संज्ञा पु० [हि० शङ्] समझ रूपवा। सिद्धा। (दबाळ)
वेङ्गना-क्रि० सं० [हि० वेङ् + ना (प्रत्य०)] नष्ट हुएों आदि के चारों ओर उनकी रक्षा के लिए छोटी दीवार आदि खड़ी करना। घाला बाँधना। मैङ् वा बाड़ लगाना। उ०—जिसने हाल की बारी लगाई और उसको चहुँ ओर वेङ्ग दिया।

वेङ्गा-संज्ञा पु० [सं० वेङ्] (१) बड़े बड़े लट्ठों, लकड़ियों या लकड़ों आदि के एक में बाँधकर बनाया हुआ दीवार जिस पर बाँस का टट्टर बिछा देते हैं और जिस पर वेडक नदी आदि पार करते हैं। यह घड़ों की बनी हुई घड़ई से बड़ा होता है। तिरना।

मुद्रा—वेङ्गा पार करना या लगाना = किसी को संकट से पार लगाना या छुड़ाना। विपत्ति के समय सहायता करके किसी का काम पूरा कर देना। जैसे, इस समय तो ईश्वर ही वेङ्गा पार करेगा। वेङ्गा पार होना या लगाना = विपत्ति या संकट से उद्धार होना। कष्ट से छुटकारा होना। वेङ्गा दूबना = विपत्ति में पड़कर नाश होना।

(१) बहुत सी नावों या जहाजों आदि का समूह। जैसे, भारतीय महासागर में सदा एक जंगमनी वेङ्गा रहता है। (२) नाव। (दि०) (५) कुंड। समूह। (पूरव)
मुद्रा—वेङ्गा बाँधना = बहुत से आदिमियों को इकट्ठा करना। जोगों को एकत्र करना।

वि० [हि० भाङ् का धनु० वा सं० बन्धि = टेढ़ा] (१) जो चारों ओर के समानांतर दाहिनी ओर से बाईं ओर अथवा बाईं ओर से दाहिनी ओर गया हो। बाङ्गा। (२) कटित। मुकिल। सिद्ध।

वेङ्गिया—संज्ञा पु० [रेप०] बाँस की कमारियों की बनी हुई एक प्रकार की टोकरि जो पाख के आकार की होती है और जिससे किसान खेत की सींचने के लिए साठाय से पानी निकालते हैं।

वेङ्गिन, वेङ्गिनी—संज्ञा स्त्री० [!] (१) गट जाति की स्त्री जो नाचती-गाती हो। उ०—(क) जानो गति वेङ्गिन

दिखारह। बाँह हुलाय जीव लेह जाई।—जायसी। (२) कहूँ नाँट भाव्यो करँ मान पावे। कहूँ खोजिनी वेङ्गिनी गीत पावे।—केशव। (३) नीच जाति की कोई स्त्री जो नाचती-गाती और कसब कमाती हो।

वेङ्गी—संज्ञा स्त्री० [सं० वङ्ग] (१) बोहरे के कड़ों की जोड़ी या जंजीर जो कैदियों या पशुओं आदि को इसलिये पहनाई जाती है, जिसमें वे स्वतंत्रतापूर्वक घूम फिर न सकें। निगड़। उ०—(क) पहुँचेंगे सब कहेंगे वेही देश की सीच। अर्थात् कहाँ से गाड़िये वेङ्गी पायन बीच।—कबीर। (ख) पायन गाड़ी वेङ्गी परी। साँवर मीव हाथ हचकड़ी।—जायसी।

क्रि० प्र०—डाळना=देना।—पहनाना।—पड़ना।—पहनना। (२) बाँस की टोकरि जिसके दोनों ओर रस्ती बाँधी रहती है और जिसकी सहायता से नीचे से पानी उठाकर खेतों में डाला जाता है। (३) साँप काटने का एक हथौड़ा जिसमें काटे हुए स्थान को गरम छोदे से दाग देते हैं।

संज्ञा स्त्री० [हि० वेङ्गा का ता० चरण०] (१) नदी पार करने का टट्टर आदि का बना हुआ छोटा वेङ्गा। (२) छोटी नाव। (क०)

वेङ्गोल-वि० [हि० वे + ङ्ग = रूप] (१) जिसका डोल या रूप अच्छा न हो। भद्दा। (२) जो अपने स्थान पर बरसुक न जान पड़े। वेङ्गा।

वेदंग-वि० वे० “वेदंगा”।

वेदंगा-वि० [हि० वे + दि० ङ्ग + ना (प्रत्य०)] (१) जिसका ङ्ग सीक न हो। डूरे दंगावाडा। (२) जो सीक तरह से लगाया, रखा या सजाया न गया हो। वेतरतीब। (३) भद्दा। कुत्तप।

वेदंगापन-संज्ञा पु० [हि० वेदंगा + पन (प्रत्य०)] पैरों होने का भाव।

वेङ्-संज्ञा पु० [!] (१) नाग। बरवादी। उ०—दीरि वेङ्ग सिरौत्र की कीन्दी। कुंदा के गिरि डेरा दीन्दी।—लाल। (२) बोया हुआ वह बीज जिसमें रंकुर निकल आया हो।

वेङ्ग-संज्ञा स्त्री० [हि० वेङ्गा = घेरना] वह रोटी या पूरी जिसमें दाल, पीड़ी आदि कोई चीज भरी हो। कचोड़ी।

वेङ्गना—संज्ञा पु० [सं० वेङ्ग] वह जिससे कोई चीज घेरी हुई हो। वेङ्ग। घेरा।

वेङ्गना-क्रि० सं० [सं० वेङ्ग] (१) हुएों या खेतों आदि को, उनकी रक्षा के लिये चारों ओर से टट्टी, बाँधकर, काटे बिछाकर या और किसी प्रकार घेरना। रूँधना। (२) घेरना। घेरकर हीक से जाना।

वेदय-वि० [दि० वे + दय] (१) जिसका दब या दंग अच्छा न हो। (२) जो दूसरे में सीक न जान पड़े। वेङ्गा। भद्दा।

क्रि० वि० बुरी तरह से । अनुचित या अनुपयुक्त रूप से ।
वेतरह ।

वेदा-संज्ञा पुं० [हि० वेदना=वेरना] (१) हाथ में पहनने का एक प्रकार का कड़ा (गहना) । उ०—तोरा कंठी माल रतन चौकी यह सांकर । वेदा पहुँची कटक सुमरनी छाप सुमाकर ।—मुदन । (२) घर के आस पास यह छोटा सा घेरा हुआ स्थान जिसमें तरकारियाँ आदि बोई जाती हैं ।
वेदाना-क्रि० सं० [हि० वेदना का प्रे०] (१) घेरने का काम दूसरे से कराना । घिरवाना । (२) ओढ़ाना ।

वेदुआ-संज्ञा पुं० [दे०] गोल मेथी ।

वेणीफूल-संज्ञा पुं० [सं० वेणी + हि० फूल] फूल के आकार का सिर पर पहनने का एक गहना । सीसफूल ।

वेत-संज्ञा पुं० दे० "वेत" ।

वेतकल्लुफ-वि० [फा० वे + फ० तल्लुफ] (१) जिसे तल्लुफ की कोई परवाह न हो । जिसे ज़मी सिद्दाचार का विशेष ध्यान न हो, बल्कि जो अपने मन का व्यवहार करे । सीधा साधा व्यवहार करनेवाला । (२) जो अपने हृदय की बात साफ साफ कह दे । संतर-गता का भाव रखनेवाला ।

क्रि० वि० (१) बिना किसी प्रकार के तल्लुफ के । (२) बेधड़क । निस्संकोच ।

वेतकल्लुफी-संज्ञा स्त्री० [फा०] वेतकल्लुफ होने का अर्थ । सरलता । सादगी ।

वेतकली-वि० [फा० वे + फ० तल्लुफ] जिसने कोई अपराध न किया हो । निरपराध । निर्दोष । बेगुनाह ।

वेतना-क्रि० प्र० [सं० वेतन] प्रतीत होना । जान पड़ना । उ०—आपनी सुंदरता को गुमान गढ़ी, सुप्रदान हूँ औरहि बेति है ।—रघुनाथ ।

वेतमीज-वि० [फा० वे + फ० तमीज] जिसे शत्रु या तमीज न हो । जिसके मन्त्रता का आचार्य करना न जाता हो । बेहूदा । बख़्त । फुदक ।

वेतरह-क्रि० वि० [फा० वे + फ० तरह] (१) बुरी तरह से । अनुचित रूप से । जैसे, तुम तो वेतरह बिगड़ गए । (२) असामान्य रूप से । विचित्र ढंग से । जैसे, वह वेद वेतरह बड़ रहा है ।

वि० बहुत अधिक । बहुत ज्यादा । जैसे, वह वेतरह मोटा है ।

वेतरीका-वि० [फा० वे + फ० तरीका] जो तरीके या नियम के विरुद्ध हो । बेकामता । अनुचित ।

क्रि० वि० बिना टीक तरीके के । अनुचित रूप से ।

वेतपा-संज्ञा स्त्री० [सं० वेतपत्ति] बुदेलपट्ट की एक गद्दी जो गूपाट के ताल से निकलकर बगुना में मिलती है ।

वेतहाथा-क्रि० वि० [फा० वे + फ० हाथा] (१) बहुत अधिक सेजी से । बहुत शीघ्रता से । जैसे, घोड़ा वेतहाथा भागा । (२) बहुत चबराकर । (३) बिना सोचे समझे । जैसे, तुम तो इतना एक काम इतनी तरह वेतहाथा कर बैठते हो ।

वेताय-वि० [फा०] (१) जिसमें साथ या ताकत न हो । दुर्बल । कमजोर । (२) जो वैचैन हो । निकल । प्याड़न ।

वेतावी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कमजोरी । दुर्बलता । (२) वैचैनी । घबराहट । प्याड़नता ।

वेतार-वि० [हि० वे + तार] बिना तार का । जिसमें तार न हो ।

यौ०—वेतार का तार = विद्युत् की सहायता से बिना तार के समाचार को साधारण तार की सहायता के बिना ही भेजा गया हो । (आवृत्त तार द्वारा समाचार भेजने में यह उपतिर्र है कि समाचार भेजने के स्थान से समाचार पहुँचने के स्थान तक तार के खोंकी की कोई आवश्यकता नहीं होती ।) यैतन दैतन स्थानों पर दैत विद्युत् संबंध होते हैं जिनकी सहायता से एक स्थान का समाचार दूसरे स्थान तक बिना तार की सहायता के ही पहुँच जाता है । इसी प्रकार आए हुए समाचार को बिना तार का तार या वेतार का तार कहते हैं ।)

वेताल-संज्ञा पुं० [सं० वेताल] बैताल । दे० "बैताल" । संज्ञा पुं० [सं० वैतालिक] भाट । बंदी । उ०—समा मध्य बैताल, ताहि समय तो पड़ि हयो । कैराब नुहि विघाल, सुंदर स्रो भूष सो ।—देवय ।

वेतुका-वि० [फा० वे + हि० तुका] (१) जिसमें सामंजस्य न हो । बेमेलन ।

मुदा०—वेतुकी हाँकना=वेतुकी बात कहना । ऐसी बात कहना जिसका कोई तिर-पैर न हो ।

(२) जो आपस कुप्रत्यय का ध्यान न रखता हो । वेदंग । वेदय । जैसे, वह बहुत वेतुका है, वसतो गुँह गरी लगाना चाहिए ।

वेतुका छंद-संज्ञा पुं० [हि० वेतुका + सं० छंद] अमिताभ पूरे ।

वेता छंद जिसके तुल्य आपस में न मिलते हैं ।

वेतीर-क्रि० वि० [फा० वे + फ० तीर] बुरी तरह से । बंदगेन से । बेतरह ।

वि० जिसका तीर तरीका ठीक न हो । बेदंग ।

वेय-संज्ञा पुं० दे० "वेत" ।

संज्ञा पुं० दे० "वेद" ।

वेदक-संज्ञा पुं० [सं० वेद + क (प्रत्यय)] हिंदू । (हिं०) वेदरत्न-वि० [फा०] जिसका दसह, दसह या अधिकार न हो । अधिकांशपुत्र । जैसे, चित्ती होते ही वह पुत्रों के भय कर देगा । (इसका व्यवहार केवल आचार्य संनधि के बिचे ही होता है ।)

वेदवल्ली-संज्ञा स्त्री० [वल०] दखल या कब्जे का हटाया जाना अथवा न होना। अधिकार में न रहने का भाव। (इसका व्यवहार केवल स्थावर संपत्ति के लिये होता है।)

वेदनरोग-संज्ञा पुं० [सं० वेदना + रोग] पशुओं का एक प्रकार का घृतपात्र औषध ज्वर जिसमें रोगी पशु बहुत सुस्त होकर कँपने लगता है, उसका सारा शरीर गरम और लाल हो जाता है, उसे भूख बिलकुल नहीं और प्यास बहुत अधिक लगती है और पालाने के साथ औषधि निकलती है।

वेदम-वि० [वल०] (१) जिसमें दम या जान न हो। मृतक। मृदा। (२) जिसकी जीवनी दानि बहुत घट गई हो। मृतप्राय। अधमरा। (३) जो काम देने योग्य न रह गया हो। जर्जर। बोधा।

वेदमज्ज-संज्ञा पुं० [वल०] एक प्रकार का वृक्ष जिसकी शाखाएँ बहुत झुकी हुई रहती हैं और जो इसी कारण बहुत सुरक्षा और झिुरा हुआ जान पड़ता है। इसकी छाल और फलों आदि का व्यवहार औषध में होता है।

वेदमल-संज्ञा पुं० [वल०] लकड़ी की वह तन्तु जिस पर तेल लगाकर सिकलीगर, लोग अपना मस्जिद नामक भीमार रागकर चमकाते हैं।

वेदमुशक-संज्ञा पुं० [वल०] एक प्रकार का वृक्ष जो पश्चिम भारत और विशेषतः पंजाब में अधिकता से होता है। इसमें एक प्रकार के बहुत ही कोमल और सुगन्धित फूल लगते हैं जिनके अर्क का व्यवहार औषध के रूप में होता है। यह अर्क बहुत ही ठंडा और चित्त को प्रसन्न करनेवाला माना जाता है।

वेदरी-वि० दे० "विदरी"।

वेदर-वि० [वल०] निगके हृदय में किसी के प्रति मोह वा दया न हो। जो किसी की व्यवस्था को न समझे। कठोर हृदय। निर्दय।

वेदरी-संज्ञा स्त्री० [वल०] वेदर होने का भाव। निर्दयता। बेरहमी। कठोरता।

वेद वि० दे० "वेद"।

वेदलैला-संज्ञा पुं० [वल०] एक प्रकार का पौधा जिसमें सुंदर फूल लगते हैं।

वेदा-वि० [वल०] (१) जिसमें कोई दाग या धब्बा न हो। साफ। (२) जिसमें कोई रोग न हो। निर्दय। शुद्ध। (३) जिसने कोई अपराध न किया हो। निरपराध। बेकमूर।

वेदाना-संज्ञा पुं० [वि० विदना या वल० वेद + दाना] (१) एक प्रकार का बरिदा काउली अनाम जिसका छिलका बहुत पतला होता है। (२) विहादाना नामक फल का बीज जिने पानी में भिगाने से लुआव निकलता है। लोग प्रायः इसका दार-पन बनाकर पीते हैं। यह ठंडा और बलकारक माना जाता

जाता है। (३) एक प्रकार का जरिदक जिसे अंदरवारी या कमल भी कहते हैं। दारहल्ली। चित्रा। वि० दे० "अंदर-वारी"। (४) एक प्रकार का मीठा छोटा सहवृत्त। (५) एक प्रकार की छोटे दाने की मीठी पुँदिया जो बहुत रसदार होती है।

वि० [वि० वे (प्रत्य०) + व० दाना = वृद्धमान्] जो दाना या समझदार न हो। मूर्ख। बेवकूफ। उ०—वेदाना से होत हैं दाना एक किनार। वेदाना नहि आदरी दाना एक अनार।—रसनिधि।

वेदाम-संज्ञा पुं० दे० "वादाम"।

वि० वि० बिना दाम का। जिसका कुछ मूल्य न दिया गया हो।

वेधङ्क-कि० वि० [वल० वे + हि० धक्] (१) बिना किसी प्रकार के संकोच के। निःसंकोच। (२) बिना किसी प्रकार के भय वा आशंका के। बे-खौफ। निडर होकर। (३) बिना किसी प्रकार की रोक टोक के। बे रुकावट। (४) बिना आगा-पीछा किए। बिना कुछ सोचे समझे। वि० (१) जिसे किसी प्रकार का संकोच या शर्तका न हो। निर्द्वंद्व। (२) जिसे किसी प्रकार का भय वा आशंका न हो। निडर। निर्भय।

वेधना-कि० सं० [सं० वेधन] (१) किसी लुकीली चीज की सहायता से छेद करना। सूरस करना। छेदना। भेदना। धैरे, झोती वेधना। (२) शरीर में शत करना। घाय करना। वेधर्म-वि० [सं० विधर्म] जिसे अपने धर्म का प्यान न हो। धर्म से गिरा हुआ। धर्मप्युत।

वेधीर-वि० [वल० वे + हि० धीर] जिसका धैर्य टूट गया हो। अधीर। उ०—अधर निधि वेधीर करिक करत भावन हास। किने भौविस्वस् भूषण अति मानो भास।—पूर।

वेधन-संज्ञा पुं० [वल०] छोटी जाति का एक प्रकार का पहाड़ी बंस जो प्रायः लता के समान होता है। इसकी टहनियों से लोग छप्परों की लकड़ियाँ आदि बरिपते हैं। यह जयपिया पहाड़ी में होता है।

वेनी-संज्ञा पुं० [सं० वेड] (१) घंसी। शरली। बौमुरी। (२) सँपों के बजाने की त्मवी। महुवर। (३) बसि। (४) एक प्रकार का वृक्ष। उ०—वेन घेल अह निमिस तमाळा। संज्ञा पुं० [वल० वेन] एक प्रकार की शरी जो जहाज के मसूल पर लगा दी जाती है और जिसके फहराने से यह पता चलता है कि हवा किस तरफ की है। (वल०)

वेनी पुं० [वल० वेन] हवा। वायु। (वल०)

वेनी-वेनवेड।

वेनउर-संज्ञा पुं० दे० "विनीला"।

वेनजूर-वि० [वल० वे + व० जूर] जिसके समान और कोई

न हो। जिसकी कोई समझ न कर सके। अद्वितीय। अनुपम।

घेनट-संज्ञा स्त्री० [सं० कथोनेट] छोटे की वह छोटी किचं जो सितियों की बंदूक के अगले सिरे पर लगी रहती है। संगीन।

घेनघरी-संज्ञा पुं० दे० "विनील"।

घेनसेद्ध-संज्ञा पुं० [सं० घट सेल] जहाज में टाट आदि का बना हुआ नल के आकार का वह बड़ा थैला जिसकी सहायता से जहाज के नाच के भागों में ऊपर की तानी हवा पहुँचाई जाती है। (एता०)

घेना-संज्ञा पुं० [सं० वेणु] (१) बाँस का बना हुआ हाथ से छलने का छोटा पंखा। (२) खस। उशीर। उ०—कीन्हेसि आगर कस्तुरी बेगा। कीन्हेसि भीमसेन अरु चेना।—जायसी। (३) बाँस। संज्ञा पुं० [सं० वेणी] एक गहना जो माथे पर बँदी के बीच में पहना जाता है।

घेना-क्रि० वि० [प्र० वे + ज्ञ० नाया] बिभा नागा डाले। निरतर। लगातार। निर्य।

घेनिमून-क्रि० वि० [प्र० वे + नमूना] अद्वितीय। अनुपम। उ०—घेनिमून है सपके पारा। आखिर काको करी दिवारा।—कबीर।

घेनी-संज्ञा स्त्री० [सं० वेणी] (१) छियों की चोटी। उ०—घँड़ी न राखत प्रासि अछी यह घँड़ी गोपाल के हाथ की घेनी।—सतिराम। (२) गंगा, सरस्वती और यमुना का संगम। त्रिवेणी। उ०—यमु प्रवाग अरयल पिच मिली। बेनी अई सो रोमावली।—जायसी। (३) क्रिवाड़ी के किसी पत्ते में लगी हुई एक छोटी लकड़ी जो दूसरे पत्ते को छुलने से रोकती है। (जिस पत्ते में घेनी लगी होती है, जब तक वह न छुले, तब तक दूसरा पत्ता नहीं छुल सकता। इसलिये किसी एक पत्ते में यह घेनी लगाकर उसी में सितरिनी या सिक्की आदि लगा देने हैं और दूसरा पत्ता आगे करके घेनीवाले पत्ते की सितरिनी या सिक्की लगा देने हैं जिससे दोनों पत्ते बंद हो जाते हैं।) उ०—चौरिन रानी दिखो नितेनी। यदि मोखी कपाट की घेनी।—रघुराज। (४) एक प्रकार का धान जो भादों के अंश या पूँवर के आरंभ में तैयार हो जाता है।

घेनीपान-संज्ञा पुं० दे० "बेंदी"। (गहना)

घेनु-संज्ञा पुं० [सं० वेणु] (१) दे० "वेणु"। (२) बंसा। गुरली। (३) बाँस।

घेनुली-संज्ञा स्त्री० [सं०] जौन या चन्नी में यह छोटी सी लकड़ी जो किट्टे के ऊपर रखी जाती है और जिसके दोनों सिरे पर जोड़ी रहती है।

वेनीटी-वि० [हि० विनीला] कपास के फूल की तरह होने पीले रंग का। कपासी।

वेनी पुं० एक प्रकार का रंग जो कपास के फूल के लाल सा हल्का पीला होता है। कपासी।

वेनीरा-संज्ञा पुं० दे० "विनील"।

वेनीरी-संज्ञा स्त्री० [हि० विनीला] धात्रा से वर्षा के साथ गिरनेवाले छोटे छोटे पत्थर जो प्रायः विनीले के आकार के होते हैं। कोला। पत्थर।

वेपरद-वि० [प्र० वे + परद] (१) जिसके ऊपर कोई परदा न हो। जिसके आगे कोई ओट न हो। भानादृत। (२) गंगा। नम।

वेपरवा, वेपरवाह-वि० [प्र० वेपरवाह] (१) जिसे कोई परदा न हो। बेकिर। (२) जो किसी के हानि-लानों का निवारण न करे और केवल अपने हज्जातुसार काम करे। मन-मौरी। (३) उदार।

वेपरवाही-संज्ञा स्त्री० [प्र०] (१) वेपरवाह होने का भाव। बेकिर। (२) अपने मन के अनुसार काम करना।

वेपर-वि० दे० "वेपरद"।

वेपाह-संज्ञा पुं० [हि० वे + सं० उपाह] जिसे घघाहट के कारण कोई उपाय न सूझे। भीषक। हटा बटा। उ०—घोहर सी घुँघुनि को छाछी देखि सुमाह। पाप महावर देन को आप भई वेपाह।—पिहारी।

वेपार-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का बहुत ऊँचा वृक्ष जो हिमालय की तराई में ६००० से ११००० फुट की ऊँचाई तक अधिकता से पाया जाता है। इसकी लकड़ी यदि सीढ़ से बची रहे तो बहुत दिनों तक ज्यों की त्यों रहती है और प्रायः हमरत में काम आती है। इस लकड़ी का कोपला बहुत तेज होता है और छोटा छलाने के लिये बहुत अच्छा समझा जाता है। इसकी छाल में जंगलों से शोषणियाँ भी छाई जाती हैं। फेल।

वेपारा-संज्ञा पुं० दे० "व्यापार"।

वेपारी-संज्ञा पुं० दे० "व्यापारी"।

वेपीर-वि० [प्र० वे + हि० पीर = पीडा] (१) जिसके हृदय में किसी के दुःख के लिये सहायभूति न हो। हृदयों के बर को कुछ न समझनेवाला। (२) निर्दय। बेरहम।

वेपेंदी-वि० [हि० वे + पेंद] जिसमें पेंदा न हो। जो पेंदा न होने के कारण इधर उधर लुढ़कता हो।

मुहा०—वेपेंदी का खेदा = वह सोचा जाता आदमी जो दूसरों के पड़ने पर ही अपना मत या कार्य आदि बदल देता हो। किसी के जगमग करने पर अपना विचार बदलनेवाला आदमी।

वेपायदा-वि० [प्र०] जिससे कोई फायदा न हो। जिससे कोई लाभ न हो सके। व्यर्थ का।

कि० वि० बिना किसी लाभ के। बिना कारण। व्यर्थ।
नाहक।

वेफिक-वि० [फा०] जिसे कोई फिक न हो। निश्चित। बेपरवा।

वेफिकी-संज्ञा स्त्री० [फा०] वेफिक होने का भाव। निश्चितता।

वेवस-वि० [सं० विरा] (१) जिसका कुछ वंश न चले।

लाचार। (२) जिसका अपने ऊपर कोई अधिकार न हो।

पराधीन। परवश।

वेवसी-संज्ञा स्त्री० [हि० वेवस + ई (प्रत्य०)] (१) वेवस होने का

भाव। लाचारी। मजबूरी। विवशता। (२) पराधीनता।

परवशता।

वेवाक-वि० [फा०] जो चुका दिया गया हो। जो अदा कर

दिया गया हो। चुकता किया हुआ। चुकाया हुआ।

वेवुनियाद-वि० [फा०] जिसकी कोई जड़ न हो। निर्मूल। बेजड़।

वेष्पाहा-वि० [फ० वे + हि० ष्पाहा] [स्त्री० वेष्पाही] जिसका

विवाह न हुआ हो। अविवाहित। ऊँआरा।

वेभाय-वि० [फा० वे + हि० भाय] जिसका कोई हिसाब

या गिनती न हो। बेहद। बेहिसाब।

मुहा०—वेभाय की पड़ना = (१) बहुत अधिक मार पड़ना। (२)

बहुत अधिक फटकार पड़ना।

वेम-संज्ञा स्त्री० [दे०] जुलाहों की कंघी। थय। बैसर। वि०

दे० “कंघी” (२)।

वेमन-वि० [फा० वे + हि० मन] बिना मन लगाए। बिना

दवाचिचा हुए।

वि० जिसका मन न लगता हो।

वेमरम्मत-वि० [फा०] जिसकी मरम्मत होने की हो, पर न

हुई। बिगड़ा हुआ। बिना सुधरा। दूदा फूटा।

वेमरम्मती-संज्ञा स्त्री० [फा०] वेमरम्मत होने का भाव।

वेमार्द-संज्ञा स्त्री० दे० “विवाह”।

वेमारी-संज्ञा स्त्री० दे० “वेमारी”।

वेमालुम-वि० [फा०] ऐसे रंग से जिसमें किसी को मादम

न हो। बिना किसी की पता लगे। जैसे, वह सब मादम

बेमालुम उड़ा ले गए।

वि० जो मादम न पड़ता हो। जो देखने में न आता हो

या जिसका पता न लगना हो। जैसे,—इसकी सिलाई

बिल्कुल बेमालुम होनी चाहिए।

वेमिलायट-वि० [फा० वे + हि० मिलायट] जिसमें किसी प्रकार

की मिलायट न हो। बेमेल। मुट्ठा। गालिस। सारू।

वेमुल-वि० दे० “विमुल”।

वेमुनासिब-वि० [फा०] जो मुनासिब न हो। अनुचित।

वेमुरख्यत-वि० [फा०] जिसमें मुख्यत न हो। जिसमें चीख

या संशय का भाव हो। सोता-बजम।

वेमुख्यनी-संज्ञा स्त्री० [फा०] वेमुख्यत होने का भाव।

वेमौका-वि० [फा०] जो अपने ठीक मौके पर न हो। जो अपने

उपयुक्त अवसर पर न हो।

संज्ञा पुं० मौके का न होना। अवसर का अभाव।

वेयरा-संज्ञा पुं० दे० “वेरा”।

वेर-संज्ञा पुं० [सं० वर] (१) प्रायः सारे भारत में होन्वेल्ल

मसोले आकार का एक प्रसिद्ध कँटीला वृक्ष जिसके छोटे पत्ते

कई भेद होते हैं। यह वृक्ष जय जंगली दवा में होता है,

तय सरयेंरी कहलाता है; और जय कलम लगाकर तैयार

किया जाता है, तय उसे पेधंदी (पेयंदी) कहते हैं। इसकी

पत्तियाँ चबे के काम में और छाल चमड़ा सिलाने के काम

में आती है। बंगाल में इस वृक्ष की पत्तियों पर रेशम के

कोड़े भी पलते हैं। इसकी छकड़ी कड़ी और कुछ छाती

लिये ठुप होती है और प्रायः खेती के औजार बनाने के

और इमारत के काम में आती है। इसमें एक प्रकार के

लंबोतेर फल लगते हैं जिनके अंदर बहुत कड़ी गुठली होती

है। यह फल पकने पर पीले रंग का हो जाता है और मोटा

होने के कारण खूब खाया जाता है। फलम लगाकर इसके

फलों का आकार और स्वाद बहुत कुछ बढ़ाया जाता है।

पर्या०—बदर। कर्कषू। कोल। सौर। कंटकी। बककंटक।

(२) इस वृक्ष का फल।

संज्ञा स्त्री० [हि० वार] (१) वार। दफा। वि० और मुहा०

दे० “वार”। उ०—जो कोई जाया एक घेर मॉगा। जगम

न हो फिर भूया नाँगा।—जावसी। (२) चिल्ल। देर।

वेरजरी-संज्ञा स्त्री० [हि० वेर + जरी ?] झड़वेरी। जंगली पेड़।

उ०—वेरजरी सुविलेया बूटी। बरू पहरेर बायची छटी।—सूदन।

वेरजा-संज्ञा पुं० दे० “विरोजा”।

वेरचा-संज्ञा पुं० [दे०] कलाई में पहनने का सोने या चाँदी

का कड़ा।

संज्ञा पुं० दे० “व्योरा”।

वेरस-वि० [फा० वे + हि० रस] (१) जिसमें रस का अभाव

हो। रस-रहित। (२) जिसमें अच्छा स्वाद न हो। बुरे

स्वादवाला। (३) जिसमें आनंद न हो। वेमजा।

संज्ञा पुं० रस का अभाव। विरसता। (फ०)

वेरहरी-संज्ञा पुं० दे० “वेरह”।

वेरहरी-संज्ञा स्त्री० [वेर + हि० हरी] सुटने के नीचे की हड़ी

में का डेभार।

वेरहम-वि० [फा० वेर + हि० हम] जिसके हृदय में दया न हो। निर्दय।

निष्ठुर। दयान्यय।

वेरहमी-संज्ञा स्त्री० [फा० वेर + हि० हमी] वेरहम होने का भाव।

निर्दयता। दयान्ययता। निष्ठुरता।

वेरती-संज्ञा पुं० [मं० वेरा] (१) समय। पक। बेरा। (२)

नदरा। और। धारावाहक।

संज्ञा पुं० [दे०] एक में मिला हुआ जो और बना । वेरी ।
संज्ञा पुं० दे० "वेदी" ।

संज्ञा पुं० [अ० चपरासी = वाहक] वह चपरासी, विशेषतः
साहब लोगों का वह चपरासी जिसका काम बिट्टी पत्नी या
समाचार आदि पहुँचाना और ले आना आदि होता है ।

वेराद्री-संज्ञा पुं० दे० "जिराद्री" ।

वेरामी-वि० दे० "वीमार" ।

वेरामी-संज्ञा स्त्री० दे० "वीमारी" ।

वेरिया-संज्ञा स्त्री० [रं० वेग = समय] बेला । समय ।

वेरिजा-संज्ञा स्त्री० [दे०] किसी जिले की कुल जमा ।

वेरियाँ-संज्ञा स्त्री० [दि० वेर] समय । यत्न । काल । बेला ।

उ०—विधा आवन की भई वेरियाँ द्रवज्यों ठाढ़ी रहीं ।
—गीत ।

वेरो-संज्ञा स्त्री० [दि० वेर (कग)] (१) एक प्रकार की लता जो
हिमालय में होती है । इसके रेशों से रस्सियाँ और सछड़ी
कैसे के जाल बनते हैं । इसे 'सुरकुल' भी कहते हैं ।
(२) दे० "वेर" । (३) एक में मिली हुई सरसों और
सीसी ।

संज्ञा स्त्री० दे० "वेदी" ।

संज्ञा स्त्री० [दि० वार = दवा] (१) दे० "वेर" । (२)
उतना भनाज जितना एक बार चक्की में डाला जाता है ।
भनाज की मुट्टी जो चक्की में डाली जाती है ।

वेरोलुन-संज्ञा पुं० [दे०] एक शब्द जो महावत लोग हाथी को
किसी काम से रना करने के लिये कहते हैं ।

वेरग्रा-संज्ञा पुं० [दे०] बाल का वह टुकड़ा जो नाव खींचने
की गूल में भागे की ओर बँधा रहता है और जिसे कंधे पर
रखकर सहाइ खींचते हुए चलते हैं ।

वेरई-संज्ञा स्त्री० [दे०] वेरवा । रबी ।

वेरकी-संज्ञा स्त्री० [दे०] एक रोग जिसमें पैरों की जीम पर
काले काले छाने हो जाते हैं और उसे बहुत कष्ट देते हैं ।

वेरल-वि० [य०] (१) जो समय पढ़ने पर रल (मुँह) फेर
ले । बेमुग्यत । (२) नापन । झुड़ ।

क्रि० प्र०—पढ़ना ।—होना ।

वेरुखी-संज्ञा स्त्री० [य०] वेरुख होने का भाव । अक्सर पढ़ने
पर मुँह फेर लेना । बेमुग्यता ।

क्रि० प्र०—करना ।—दिगाना ।

वेरुपी-वि० [म० विर] मरी पाहुवाडा । कुसुप । बद्धबाह ।

वेरोक-क्रि० वि० [य० वे + दि० रोड] बिना किसी प्रकार की
रक्षाके । बेरक्षक । निर्भय ।

पी०—वेरोक टेर = निर्भयता । बिना किसी रक्षा के या
अपने के ।

वेरोजगार-वि० [य०] जिसके हाथ में कोई रोजगार न हो ।
जिसके पास करने की कोई काम-धंधा न हो ।

वेरोजगारी-संज्ञा स्त्री० [य०] वेरोजगार होने का भाव ।

वेरीनक-वि० [य०] जिस पर रीनक न हो । जिसकी गोभा
न रह गई हो । उदात्त ।

क्रि० प्र०—उठना ।—होना ।

वेरीनकी-संज्ञा स्त्री० [य०] वेरीनक होने का भाव ।

वेरी-संज्ञा पुं० [दे०] (१) मित्रे हुए जो और चने का
आटा । (२) कोई का फल ।

वेरीयरा-संज्ञा पुं० [दि० वेर = जो और चना + रा = रात =
लगा हुआ] भस्म की उगाही ।

वेरेंदी-वि० [य० वरद] (१) ऊँचा । उ०—(क) पद वेरेंदी
परे जो पाऊँ । तो लोको घर लोक न टाऊँ ।—विश्राम ।
(ख) मम मुकुल जागी भुरि भागी भयो विश्व वेरेंदी ।—
रघुनाथ । (ग) रघुनाथ ब्याह होत है गई वेरेंदी भौं
मिथिला निवासिन मिताई गई कीरेंदी है ।—रघुनाथ । (२)
जो बुरी तरह परास्त या विकल-मनोरथ हुआ हो । (संग)
वेरेंदियाँ-संज्ञा पुं० दे० "वेरेंद" ।

वेर-संज्ञा पुं० [सं० वर] मसोले भाकार का एक प्रसिद्ध
कैंटील वृक्ष जो प्रायः सारे भारत में पाया जाता है ।
इसकी लकड़ी भारी और मजबूत होती है और प्रायः
खेती के औजार बनाने और इमारत के काम में भावी है ।
इससे ऊँच घेरने के कोरू और गूलर आदि की तरह रस्सियाँ
बनते हैं । इसकी ताजी मीठी लकड़ी चंदन की तरह रसिन्न
मानी जाती है और उसे चीने से एक प्रकार की
सुगंध निकरती है । इसमें सफ़ेद रंग के सुगंधित फूल भी
होते हैं । इसकी पत्तियाँ एक सँके में तीग तीग (एक
सामने और दो दोनों ओर) होती हैं जिन्हें हिंदू लोग
महादेव जी पर चढ़ाते हैं । इसमें केप से निकला
जुलना एक प्रकार का गोल फल भी लगता है, जिसके ऊपर
का छिड़का बहुत कड़ा होता है और जिसके अंदर गुआ
और बीज होते हैं । पके फल का गुआ बहुत मीठा होता है
और साधारणतः खाने या बारबन आदि बनाने के काम में
आता है । फल औषध के काम में भी आता है और उसके
कच्चे गूदे का मुरब्बा भी बनता है । वेरक में ऐसे सफ़ुर,
कमंडा, गरम, हृदय को हितकारी, रसिकारक, रसिन्न,
प्राई, रुखा, निरुद्धारक, पाचक और घानालिप्ता तथा
उपरासाक माना है । धीरल ।
पर्यो—विचर । महाकल्पि । गोहरीनदी । पतिराज ।
मंगलय । मिमिल । मायूर । महाकल । समय । वीरपत्र ।
पत्रभेद । मित्र । गंधपत्र । छर्दकल । गंधकल ।
निवदुम । सदाकल । मायकल ।

संज्ञा पुं० [सं० गल्ल या मल्ली] वह स्थान जहाँ शकर तैयार होती हो ।

संज्ञा पुं० [सं०] कपड़े या कामज़ आदि की वह बड़ी गठरी जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिये बनाई जाती है । गॉठ ।

संज्ञा स्त्री० [सं० बल्ली] (१) यन्त्रपत्ति शास्त्र के अनुसार वे छोटे कोमल पौधे जिनमें काँच या मोटे तने नहीं होते और जो अपने बल पर ऊपर की ओर उठकर नहीं बढ़ सकते । बल्ली । लता । लतर ।

विशेष—साधारणतः बेल दो प्रकार की होती है । एक वह जो अपने उपर्युक्त होने के स्थान से आस-पास के पृथ्वी-तल अथवा और किसी तल पर दूर तक फैलती हुई चली जाती है । जैसे,—कुम्हड़े की बेल । दूसरी वह जो आस-पास के वृक्षों अथवा इसी काम के लिये लगाए हुए बाँसों आदि के सहारे उनके चारों ओर घूमती हुई ऊपर की ओर जाती है । जैसे,—सुरपंचा, मालती आदि । साधारणतः बेलों के तने बहुत ही कोमल और पतले होते हैं और ऊपर की ओर आपसे आप खड़े नहीं रह सकते ।

मुहा०—बेल मेंढे बदन = किसी कार्य का अंत तक ठीक ठीक पूरा उत्तरना । आरंभ किए हुए कार्य में पूरी सफलता होना ।

(२) संतान । वंश ।

मुहा०—बेल बदन = वंश वृद्धि होना । पुत्र-पौत्र आदि होना ।

(३) विवाह आदि में कुछ विशिष्ट अवसरों पर संप्रथियों और थिरादरीवालों की ओर से हज्जामों, गानेवालों और इसी प्रकार के और नेगियों को मिलनेमाला थोड़ा थोड़ा धन ।

कि० प्र०—देना ।—रदना ।

(४) कपड़े या दीवार आदि पर एक पंक्ति में दूर तक बनी हुई फूल पत्तियाँ आदि जो देखने में बेल के समान जान पड़ती हैं । (५) रेसमी या मलमली फीते आदि पर गरदोजी आदि से बनी हुई इसी प्रकार की फूल-पत्तियाँ जो प्रायः पहनने के कपड़ों पर टँकी जाती हैं ।

यो०—बेलवृक्ष ।

कि० प्र०—टोंकना ।—लगाना ।

(१) नाथ लेने का दाँड़ । बल्ली ।

(२) पौधों का एक रोग जिसमें उनका पिर नीचे से ऊपर तक सूज जाता है । बदननाम । गुमनाम ।

संज्ञा पुं० [प्रा० बेजवः] (१) एक प्रकार की कुदाली जिससे मज़दूर ज़मीन खोदते हैं ।

यो०—बेलदार ।

(२) सड़क आदि बनाने के लिये चूने आदि से ज़मीन पर बाँधी हुई सर्पार जो केवल चिह्न के रूप में अथवा सीमा निर्धारित करने के लिये होती है ।

कि० प्र०—ढालना ।

(३) एक प्रकार का लंबा सुरपा ।

संज्ञा पुं० बेल के फूल । उ०—सिय तुव अंगरंग मिलि अधिक उदोत । हार बेल पहिरावों चंपक होत ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० दे० “बेला” ।

बेलकाना—संज्ञा पुं० [दे०] फरसा । फावड़ा ।

बेलकरी—संज्ञा पुं० [दे०] चरवाहा ।

बेलखजी—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का बहुत ऊँचा वृक्ष जिसके हीर की लकड़ी लाल होती है । यह पूर्वी हिमालय में ४००० फुट की ऊँचाई तक होता है । इसकी एकड़ी मज़बूत होती है जिसमें चाय के संदूक, इमारती और आरायशी सामान तैयार किए जाते हैं । वृक्ष को काटने के बाद इसकी जड़ें जल्दी फूट आती हैं ।

बेलगगरा—संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की मछली ।

बेलगिरी—संज्ञा स्त्री० [हि० बेल + गिरी = मीठी] बेल के फल का गुद्दा ।

बेलचफ़ी—संज्ञा पुं० दे० “बेलचा” ।

बेलचा—संज्ञा पुं० [प्रा०] (१) एक प्रकार की छोटी कुदाल जिससे माली खोप बाग की बग़ारियाँ आदि बनाते हैं । (२) कोई छोटी कुदाल । कुदारी । (३) एक प्रकार की लंबी सुरपी ।

बेलज्जत—वि० [प्रा०] जिसमें किसी प्रकार का स्वाद न हो । स्वादु-रहित । (२) जिसमें कोई सुख न मिले । जैसे,—गुलाब बेलज्जत ।

बेलड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० बेल + डी (पत्त०)] छोटी बेल या लता । घीर ।

बेलद्वार—संज्ञा पुं० [प्रा०] यह मज़दूर जो फावड़ा चलाने या ज़मीन खोदने का काम करना हो ।

बेलद्वारी—संज्ञा स्त्री० [प्रा०] फावड़ा चलाने का काम । बेलदार का काम ।

बेलन—संज्ञा पुं० [सं० बलन] (१) लकड़ी, पाथर या लोहे आदि का बना हुआ यह भारी, गोल और दूँड के आकार का चक्र जो अपने अक्ष पर घूमना है और जिसे लुढ़काकर किसी चीज़ की पीसते, किसी स्थान को समतल करते अथवा कंकड़ पत्थर आदि बूटकर सड़कें बनाते हैं । रोलर । (२) किसी यंत्र आदि में लगा हुआ दम जाकार का कोई घड़ा पुरजा जो घुमाकर दबाने आदि के काम में आता है । जैसे,—छापने की मशीन का बेलन, ऊंग घेरने की बल का बेलन । (३) कोन्हा का जाट । (४) करघे में का पौंसार । वि० दे० “पौंसार” । (५) रुई धुनकने की मुठिया या हाथा । वि० दे० “धुनकी” । (६) कोई गोल और लंबा लुढ़कनेवाला पदार्थ । जैसे,—छापने की बल में स्थायी लगावेवाला बेलन । (७) दे० “बेलना” ।

संज्ञा पुं० [दे०] (१) एक प्रकार का जड़हन घान ।
(२) एक में मिलाई हुई वे दो नायें जिनकी सहायता से
द्वीी हुई नाव पानी में से निकाली जाती है ।

वेलनदार-वि० [हि० वेलन + दार (प्रत्य०)] वेलनवाला ।
जिसमें वेलन लगा हो ।

वेलना-संज्ञा पुं० [सं० वलन] काठ का बना हुआ एक प्रकार का
लंबा दस्ता जो बीच में मोटा और दोनों ओर कुछ पतला
होता है और जो प्रायः रोटी, पूरी, कचौरी आदि की छोई
को चकले पर रखकर वेलने के काम आता है । यह कभी
कभी पीतल आदि का भी बनता है ।

कि० सं० (१) रोटी, पूरी, कचौरी आदि को चकले पर
रखकर वेलने की सहायता से दबाते हुए बढ़ाकर बड़ा और
पतला करना । (२) चौपट करना । नष्ट करना ।

मुहा०—पापड़ वेलना = काम बिगाड़ना । चौपट करना ।

(३) विगोद के लिये पानी के छंटे उड़ाना । उ०—पानी
सीर जानि सब धँलें । फुलसहि करहि कटासी देखें ।—
जायसी ।

वेलपत्ती-संज्ञा स्त्री० दे० “वेलपत्र” ।

वेलपत्र-संज्ञा पुं० [सं० विलपत्र] वेल के वृक्ष की पत्तियों जो हर
एक सीक में ३-२ होती हैं और जो तिर्य जी पर चढ़ाई
जाती हैं ।

वेलपात-संज्ञा पुं० दे० “वेलपत्र” ।

वेलवागुरा-संज्ञा पुं० [हि०] हिरनों को पकड़ने का जाल ।

वेलवृद्धेदार-वि० [हि० वेत्तृ + दार (प्रत्य०)] जिसमें वेल-
वृद्धे बने हों । वेल-वृद्धेवाला ।

वेलसना-संज्ञा पुं० [सं० विनाम + ना (प्रत्य०)] मोता करना ।
सुख छटना । आनंद करना ।

वेलदरा-संज्ञा पुं० [हि० वेत्त = धन + दरा (प्रत्य०)] [लो० कल्या०
वेत्तरी] खने हुए पान रखने के लिये एक लंबीगरी पिढारी
जो बाँस या धातुओं आदि की बनी होती है ।

वेलहरी-संज्ञा पुं० [हि० वेत्त + हरी (प्रत्य०)] मूँची पान ।

वेलहारी-संज्ञा स्त्री० [हि० वेत्त + हारी] चोनी आदि के किनारों
पर लट्ठियुद्धा वेल छानने का लकड़ी का टप्पा ।

वेलहाशिया-संज्ञा पुं० [हि० वेत्त + शा० हाशिया] धोती आदि के
किनारों पर वेल छानने का टप्पा ।

पेला-संज्ञा पुं० [सं० मल्लिका] (१) चमेली आदि की जानि का
एक प्रकार का छोटा पीचा जिसमें सफेद रंग के सुगंधित
फूल लगते हैं । ये कुछ सीम प्रकार के होते हैं—(१)
मोलिया, जो मोती के समान मोठ होता है; (२) मोगरा,
जो उससे बड़ा और प्रायः सुगंध के बराबर होता है; और
(३) मारुशन, जिसकी कभी प्रायः एक हीय तक लंबी होती

है । (३) मल्लिका । त्रिपुरा । (३) वेल के फूल के भाका
का एक प्रकार का गहना ।

संज्ञा पुं० [सं० वेला] (१) लहर । उ०—वेला सम बधि
सागर रण में । खब कह कूल सरिस तोहि क्षण में । (२)
चमड़े की बनी हुई एक प्रकार की छोटी कुदिया जिसमें एक
लंबी लकड़ी लगी रहती है और जिसकी सहायता से तेज
नापते या दूसरे पात्र में भरते हैं । (३) कटोरा । उ०—
वेला भरि हलधर की दीन्हों । पीतत पै बल स्तुति कीन्हों।—
सूर । (४) समुद्र का किनारा । उ०—परनि न जाइ कहीं
खैं धरनीं प्रेम जलधि वेला बल भोरे ।—सूर । (५) समय ।
चक्र । (६) दे० “वेला” ।

वेलाग-वि० [का० वे + हि० लाग = लगावट] (१) जिसमें किसी
प्रकार की लगावट या संबंध न हो । बिल्कुल भलग । (२)
साफ । पुरा ।

वेलाडोना-संज्ञा पुं० [चं०] मकोय का सच नौ प्रायः भैंगरी
दवाओं में खाने या पीढ़िन स्थान पर लगाने के काम में
आता है ।

वेलावल-संज्ञा पुं० दे० “बिलावल” ।

वेलि-संज्ञा स्त्री० दे० “वेल” ।

वेलिया-संज्ञा स्त्री० [हि० वेला का भरता] छोटी कटोरी ।

वेलीस-वि० [हि० वे + ला० लोष] (१) सधा । पुरा । जैसे,—
बेचोस आदमी । (२) बेमुरखत । (क०)

वेयकूप-वि० [का०] जिसे किसी प्रकार का बहुत या सझर
न हो । मूर्ख । निर्देहि । नासमझ ।

वेयकूपी-संज्ञा स्त्री० [का०] वेयकूप होने का भार । मूर्खता ।
शादानी । नासमझी ।

वेयक्त-कि० वि० [का०] अनुपयुक्त समय पर । नुसमेष में ।

वेयनन-वि० [प्रा०] (१) बिना घर द्वार का । जिसके रखने
आदि का कोई टिकाना न हो । (२) परदेसी ।

वेयपार-संज्ञा पुं० दे० “व्यापार” ।

वेयपारो-संज्ञा पुं० दे० “व्यापारी” ।

वेयप्रा-वि० [का० वे + प्रा० प्राय] (१) जो मित्रता आदि का
विवाह न करे । (२) बेमुरखत । दुःशील । (३) किए हुए
उपकार को न माननेवाला । कृगार ।

वेयर-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की पात जिसकी तरती साद
मुनने के काम में आती है ।

वेयरा-संज्ञा पुं० [हि० योरा] विवरण । खोरा । उ०—
कपिल बयो तोहि बलि मुनाई । बर ठाको खोरो
समझाई ।—सूर ।

वेयरेबाजी-संज्ञा स्त्री० [हि० वेय + बा० बाजी] पालाही ।
आकबाजी । (आकाश)

वेवरेधार-वि० [हि० वेवरा + वार (प्रत्य०)] तफसीलवार ।
विवरण-सहित ।

वेवस्था-संज्ञा स्त्री० दे० "व्यवस्था" ।

वेवहरना-क्रि० प्र० [सं० व्यवहार] व्यवहार करना । बरताव
करना । बरतना ।

वेवहरिया-संज्ञा पुं० [सं० व्यवहार + रिया (प्रत्य०)] (१) देन
देन करनेवाला । महाजन । उ०—जैहि वेवहरिया कर
वेवहार । का लेह देव जई छेकि हारु ।—जायसी ।
(२) देन देन का हिसाब कित्ताप करनेवाला । मुनीम ।
उ०—अब आनिय वेवहरिया बोली । तुरत देई मैं धैली
बोली ।—तुलसी ।

वेवहार-संज्ञा पुं० दे० "व्यवहार" ।

वेवा-संज्ञा स्त्री० [का०] यह स्त्री जिसका पति मर गया हो ।
विधवा । रौंठ ।

वेवाई-संज्ञा स्त्री० दे० "बिवाई" ।

वेवान-संज्ञा पुं० दे० "बिसान" ।

वेश-संज्ञा पुं० दे० "वेश" ।

वेशऊर-वि० [का० वे + उ० शऊर] जिसे कुछ भी शऊर न हो ।
मूर्ख । फूहड़ । नासमझ । बेसलीका ।

वेशऊरी-संज्ञा स्त्री० [का० वे + उ० शऊर + ई (प्रत्य०)] वैदाऊर
होने का भाव । मूर्खता । नासमझी ।

वेशक-क्रि० वि० [का० वे + उ० शक] बिना किसी शक के ।
अवश्य । निःसंदेह । ज़रूर ।

वेशक्रीमत, वेशक्रीमती-वि० [का० वे + उ० क्रीमत] जिसका
मूल्य बहुत अधिक हो । बहुमूल्य । मूल्यवान ।

वेशदम-वि० [का० वेशम] जिसे धर्म-दया न हो । निर्लज्ज ।
बेहया । उ०—बाँह पकरि मृ स्याई काको अनि वेशदम
गैवारि । सुरस्याम मेरे भागे खेलत जीवन मद मतवारि ।
—सूर ।

वेशरमी-संज्ञा स्त्री० [का० वेशमी] निर्लज्जता । बेहयाई ।

वेशी-संज्ञा स्त्री० [का०] (१) अधिकता । उपादती । (२)
साधारण से अधिक कार्य करने की मजूरी । (३) लाभ ।
नफ़ा ।

वेशमार-वि० [का०] अगणित । असंख्य । अनगिनत ।

वेशम-संज्ञा पुं० [सं० वेशम वा वेशम्] घर । गृह । निवासस्थान ।
उ०—निज रहिये दित वेसम जो पूँछे खो सुनि लेहु ।—
विभ्राम ।

वेशंदर-संज्ञा पुं० [सं० वेशम] अगि । उ०—यह कुबेर जपति
वेशंदर । हँते और अनेक मुनिंदर ।—सबलसिंह ।

वेशैर-संज्ञा-वि० [का० वे + ई० संज्ञा + शय] बेरोस । उ०—
रापो विनकी माता वेशैर कुछ न सँभार ।—जायसी ।

वेसन-संज्ञा पुं० [देश०] चने की ढाल का भाटा । चने का
भाटा । रेहन ।

वेसनी-वि० [हि० वेसन + ई (प्रत्य०)] वेसन का बना हुआ ।

संज्ञा स्त्री० (१) वेसन की बनी हुई पूरी । (२) यह न चौरी
जिसमें वेसन भरा हो ।

वेसवच-क्रि० वि० [का०] बिना किसी सवय या कारण के ।
अकारण ।

वेसवरा-वि० [का० वे + उ० सम + रा (प्रत्य०)] जिसे सम या
संतोष न होता हो । जो संतोष न रख सके । अधीर ।

वेसवरी-संज्ञा स्त्री० [का०] वेसव हीने का भाव । अपैर्य ।
असंतोष ।

वेसमभ-वि० [का० वे + हि० समभ] मूर्ख । निबुद्धि । नासमझ ।

वेसमभी-संज्ञा स्त्री० [हि० वेसमभ + ई (प्रत्य०)] वेसमझ होने
का भाव । नासमझी । मूर्खता ।

वेसरा-वि० [का० वे + रा = ठहरने का रण] जिसे ठहरने का
कोई स्थान न हो । आश्रयहीन । उ०—चिहिरि कहूँ
निबहत सुनी लगर झगर हित वेस । यासौ पावत वेसरा
सही प्रेम के वेस ।—रसगिनि ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का चिकारी पक्षी । उ०—
पहरी सुबेसल कुही संग । जे गहत गौर चर बहुत श्रंग ।
—सूदन ।

वेसरोसामान-वि० [का०] जिसके पास कुछ भी सामग्री न
हो । दरिद्र । कंगाल ।

वेसवा-संज्ञा स्त्री० [सं० वेसव] रंटी । वेदवा । कच्ची ।

वेसवार-संज्ञा पुं० [देश०] यह सदाया हुआ नसाला जिससे
हारव जुवाई जाती है । जाया ।

वेसा-संज्ञा स्त्री० [सं० वेसम] रंटी । पारांगना । कच्ची ।
उ०—पुनि सिंगारहार धनि देमा । कह सिंगार-तहँ पड़हीं
वेसा ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० दे० "वेप" । उ०—जनि दरपहु सुनि सिद्ध
सुरेसा । तुमदि लागि धरिहई नर वेसा ।—तुलसी ।

वेसारा-संज्ञा-वि० [हि० वेसान, गुण वेसाना] (१) वैधानेवाला ।
(२) रखने या जमानेवाला । उ०—मातु भूमि विनु धीन
वेसारा । फाल निजान जीव नृप भासा ।—विभ्राम ।

वेसाहना-क्रि० प्र० [देश०] (१) मोल लेना । खरीदना ।
उ०—भरन कि राठर पूत न होई । आनेहु मौल वेसाहि
कि मोही ।—तुलसी । (२) जान घुमकर अपने पीछे
छानना । (शगदे, धैर, विरोध आदि के संबंध में
'कोन्ते दे ।)

वेसाहा-संज्ञा पुं० [हि० वेसाहना] खरीद । हुई चीज । खीदा ।
सामग्री । उ०—जैहि न हाट यदि लीन वेसाहा । ताकई
भान हाट बित छाहा ।—जायसी ।

वेसिलसिले-कि० वि० [हि० वे + का० सिलसिला] बिना किसी क्रम लादि के । अव्यवस्थित रूप से ।

वेसी-कि० वि० [का० वेता] अधिक । ज्यादा ।

वेसुध-वि० [हि० वे + सुध = दोरा] (१) अचेत । बेहोश । (२) बेखबर । बड़बसास ।

वेसुधी-संज्ञा स्त्री० [हि० वेसुध + ई (प्रत्य०)] अचेतनता । बेखबरी । बेहोशी । (क०)

वेसुर-वि० [हि० वे + सुर = स्वर] संगीत आदि की दृष्टि से जिसका स्वर ठीक न हो । बेमेल स्वरवाला । उ०—बेत होइ न एक सुर है से पयै बनाइ । जइ मृदंग बेसुर भए सुँदे भरेँ लाई ।—रसनिधि ।

वेसुरा-वि० [हि० वे + सुर = स्वर] (१) जो विषमिन् स्वर में न हो । जो अपने नियत स्वर से हटा हुआ हो । (संगीत) । (२) जो अपने ठिकाने या ओके पर न हो । बेमौका ।

वेस्वाद-वि० [हि० वे + सं० = स्वाद] (१) जिसमें कोई अच्छा स्वाद न हो । स्वादरहित । (२) जिसका स्वाद स्वभाव हो । यज्ञायका ।

वेहंगम-वि० [मं० वेहंगम] (१) जो देखने में भरा हो । बेहंगम । जैसे,—वेहंगम मूर्ति । (२) बेधव । बिकट । जैसे,—वह बेहंगम आदमी है, सपने लगाइ पढ़ना है ।

वेहंगमपन संज्ञा पुं० [हि० वेहंगम + पन (प्रत्य०)] (१) बेहंगम होने का भाव । भ्रमपन । बेहंगमपन । (२) बिकटता । भयंकरता ।

वेहंसना-कि० प्र० [हि० हंसना] ठहाकर हँसना । जोर से हँसना । नि० दे० "हंसना" ।

वेहङ्ग-संज्ञा पुं० [रं० वेङ्ग] टिड्डी । मूराण ।

वेहङ्ग-वि० दे० "वीहङ्ग" ।

वेङ्ग पुं० दे० "वीहङ्ग" । उ०—बट बेहङ्ग गिरि कंदह ब्योहर । खब हमार मनु पग पग जोहा ।—तुलसी ।

वेहतर-वि० [पा०] अपेक्षाकृत अच्छा । किसी के मुकाबले में अच्छा । किसी से बड़कर । जैसे,—बुधपाप घर बैठने से तो वहाँ चले जाना बेहतर है ।

प्रत्य० आर्या या आर्य के उतर में स्त्रीकृत-सूचक शब्द । अच्छा । (प्रायः इस भाँ में हरका प्रयोग "बहुत" शब्द के साथ होता है । जैसे,—आप कब मुबह आइयगा । उतर—बहुत बेहतर ।)

बेहतर-संज्ञा स्त्री० [पा०] बेहतर का भाव । अच्छापन । भलाई । जैसे,—भारती बेहतर। हमी में है कि भाव उमका कन्या चुका है ।

बेहद-वि० [का०] (१) जिसकी कोई सीमा न हो । असीम । अतिरिक्त । अतः । (२) बहुत अधिक ।

बेहनी-संज्ञा पुं० [सं० वपन] अनाज आदि का बीज जो लेन में बोया जाता है । बीजा ।

कि० प्र०—डालना ।—पढ़ना ।

वि० [?] पीला । जर्द ।

बेहनी-संज्ञा पुं० [वेता०] (१) जुलाहों की एक जाति जो प्रायः रुई धुनने का काम करती है । (२) रुई धुननेवाला । बुनिया ।

बेहनी-संज्ञा पुं० [हि० बेहन + नीर (प्रत्य०)] वह स्थान जहाँ घान या जड़हन आदि का बीज डाला जाय । पनीर । जिपाड़ा ।

विशेष—गान आदि की फसल के लिये पहले एक स्थान या बीज बोए जाते हैं; और जब वहाँ अंगूर निकल आते हैं, तब उन्हें उखाड़कर दूसरे स्थान में रोपते हैं । पहले जिस स्थान पर बीज बोए जाते हैं, उसी को पुर में बेहनी कहते हैं ।

बेहया-वि० [क०] जिसे हया या लज्जा आदि बिलकुल न हो । निर्लज्ज । बेधर्म ।

बेहयार-संज्ञा स्त्री० [का०] बेहया होने का भाव । बेधर्मता । निर्लज्जता ।

मुहा०—बेहयार का जामा वा झरका पहनना वा ओढ़ना = निर्लज्जता धारण करना । निर्लज्ज हो जाना । पूरा बेधर्म बन जाना । लोहलाज आदि की कुछ भी परवा न करना ।

बेहर-वि० [वेता०] (१) अचर । स्थावर । उ०—रथ के उदर सारा भी छीना । चर बेहर दूनो में छीना ।—कबीर । (२) अलग । भिन्न । पृथक् । लड़ा । उ०—सारी समुंद सब भिया नाय समुंद, अहं नीर । मिले समुंद वे 'सगो' बेहर बेहर नीरन—जायसी ।

पेशा पुं० धार्या । वायनी ।

बेहरनी-कि० प्र० [हि० बेहर] किसी चीज का पढ़ना या लड़क जाना । दूर पढ़ना । चिर जाना ।

बेहरनी-संज्ञा पुं० [वेता०] (१) एक प्रकार की घास जिसे बीराय बहुत पसंद करते हैं । (मुँहेक०) (२) गूँत की पुत्री हुई गौल या चिपटी पिढारी जिसमें माक में पढ़ने की नय रनी जाती है ।

वि० अथवा पृथक् । लड़ा । भिन्न । उ०—ग वद मिल आ बेहरा अहम रहा भरपूर । रितिरितन कई नीरने अथ मुल्क कई दूर ।—जायसी ।

• लड़ा पुं० दे० "बेहरा" ।

बेहरी-संज्ञा स्त्री० [?] (१) किसी वस्तु पर धारण के लिये बहुत से लोगों से बँदे के रूप में सौगन्ध पकड़ दिया हुआ वप । (२) इस प्रकार बँधा उगा देने की क्रिया । (३) वह क्रिया जो अमामी सिद्धीपर की देना है । बाया ।

बेहला-संज्ञा पुं० [अं० बायोलिन] सारंगी के आकार का एक प्रकार का अँगरेज़ी बाजा ।

बेहाना-कि० वि० दे० "विहान" ।

बेहाल-वि० [फ्रा० बे + अ० हाल] व्याकुल । विकल । बेचैन ।

उ०—(क) राम राम रत विकल सुआल । जनु बिनु पंख

बिहंग बेहाल ।—तुलसी । (ख) आपु चढ़े प्रज उपर

काली । कहाँ निकसि जैये को राखे नंद करत बेहाली ।—

सूर । (ग) लागत कुटिल कटाक्ष सर क्यों न होइ बेहाल ।

लगत तु हिये दुसारि करि तब रहत नट साल ।—बिहारी ।

बेहाली-संज्ञा स्त्री० [का०] बेहाल होने का भाव । बेकली ।

बेचैनी । ध्याकुलता ।

बेहिसाब-कि० वि० [फ्रा० बे + अ० हिसाब] बहुत अधिक ।

बहुत ज्यादा । बेहद ।

बेहतरा-वि० [हि० बे + फ्रा० हुनर] (१) जिसे कोई हुनर न

आता हो । जो कुछ भी काम न कर सकता हो । भुल्लू ।

(२) वह भालू या बंदर जो तमाशा करना न जानता हो ।

(कलंदर)

बेहुदमत-वि० [का०] जिसकी कोई प्रतिष्ठा न हो । बेहज्जत ।

बेहूदगी-संज्ञा स्त्री० [का०] बेहूदा होने का भाव । असम्भ्यता ।

अशिष्टता ।

बेहूदा-वि० [फ्रा०] (१) जिसे तमीज़ न हो । जो शिष्टता या

सम्भ्यता न जानता हो । बदतमीज़ । (२) जो शिष्टता या

सम्भ्यता के विरुद्ध हो । अशिष्टतापूर्ण ।

बेहूदापन-संज्ञा पुं० [का० बेहूदा + पन (भय०)] बेहूदा होने का

भाव । बेहूदगी । अशिष्टता । असम्भ्यता ।

बेहून-कि० वि० [सं० बिहोण] बिना । बगर । रहित ।

उ०—भई हुहेली टेक बेहूनी । धर्म नौद उठ सके न

धूनी ।—जायसी ।

बेहैफ़-वि० [का०] बेचिह्न । जिसे कोई चिंता न हो । चिंता-

रहित । उ०—भले छापये गैय ये रूप सूर्या के दैक । देन

न मरु सुसन्धान की तनि आपि बेहैक ।—रसनिधि ।

बेहोश-वि० [फ्रा०] मूर्च्छित । बेसुध । अचेत ।

बेहोशी-संज्ञा स्त्री० [फ्रा०] बेहोश होने का भाव । मूर्च्छा ।

अचेतना ।

बैक-संज्ञा पुं० [सं०] यह स्थान या संस्था जहाँ लोग व्यापन पाने

की इच्छा से रक्का जमा करते हैं और क़ण भी लेते हैं ।

रूप के लेन देन की बड़ी क़ौड़ी ।

बैंगन-संज्ञा पुं० [सं० बैंगण] (१) एक वार्षिक बीजा जिसके फल

की तरकारी बनाई जाती है । यह भटकट्या की जति का है

और अब तक कहीं कहीं जंगलों में आपसे आप उगा हुआ

मिलता है जिसे बन-भंडा कहते हैं । जंगली रूप में इसके

फल छोटे और कटु होते हैं । प्रायः रूप में इसकी दो मुख्य

जातियाँ हैं—एक वह जिसके पत्तों पर कैंटे होते हैं, दूसरी

वह जिसके पत्तों पर कैंटे नहीं होते । इसके अतिरिक्त फल के

आकार, छोटाई, बड़ाई और रंग से भेद से अनेक जातियाँ हैं ।

गोल फलवाले को मास्वा मानिक कहते हैं और लंबोतरे

फलवाले को बधिया । यद्यपि इसके फल प्रायः ललाई लिए

गहरे नीले रंग के होते हैं, पर हरे और सफ़ेद रंग के फल

भी एक ही पेड़ में लगते हैं । इसकी एक छोटी जाति भी

होती है जिसके फल छोटे, लंबे और पतले होते हैं । इस

पौधे की खेती केवल मैदानों में होती है । पर्वतों की अधिक

ऊँचाई पर यह नहीं होता । इसके बीज पहले पनीरी में

बोए जाते हैं; फिर जब पौधा कुछ बड़ा होता है, तब क्यारियों

में हाथ हाथ भर की दूरी पर पौधे रोपे जाते हैं । इसके

बीज की पनीरी साल में तीन बार बोई जाती है—एक

कार्तिक में, दूसरी माघ में और तीसरी जेठ असाढ़ में ।

बैक में यह कटु, मयुर और रुचिकारक तथा पित्तनाशक,

प्रणकारक, पुष्टिजनक, भारी और हृदय को हितकारक माना

गया है । भंडा ।

पर्या०—बार्ताकी । शूतक । मांसफला । वृक्षफला ।

(२) एक प्रकार का चावल जो कनारा और बंमर् प्रान्त में

होता है ।

बैंगनी-वि० [हि० बैंगन + ई [प्रत्य०]] बैंगन के रंग का । जो

ललाई लिए नीले रंग का हो । बैंगनी ।

बौ०—बैंगनी बूँद = एक प्रकार की छोट जिसमें सफ़ेद ज़मीन

पर बैंगनी रंग की छोटी छोटी बूँदियाँ होती हैं ।

बैजनी-वि० [हि० बैगनी] जो ललाई लिए नीले रंग का हो ।

बैंगनी ।

बैँड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हुंड । (२) बाजा बजानेवालों का हुंड

जिसमें सब खेग मिलकर एक साथ बाना बजाते हैं ।

बौ०—बैँड मास्टर = बैँड का वह प्रधान जिसके संकेत के

अनुसार बाना बजाया जाता है ।

बैँडा-वि० दे० "बैँड" । उ०—मेदा भँवर उछालन चक्रा

समेदमाला । बैँडा गँगीर तखता कटेपछार गाँ ।—नजीर ।

बै-संज्ञा स्त्री० [सं० बाय] (१) बैसर । कंपी । (जुलाई) (२)

दे० "बय" ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रूप पैसे आदि के बदले में कोई

वस्तु दूसरे को इस प्रकार दे देना कि उस पर अपना कोई

अधिकार न रह जाय । बेचना । बिक्री ।

कि० प्र०—करना ।—होना ।

बौ०—बैनामा

मुहा०—बै लेना या खरीदना = ज़मीन आदि बैनामा लिखकर

मोल लेना ।

बैकल-वि० [सं० विक्रम, नि० फ्रा० बैकल] पागल । उन्मत्त ।

उ०—(क) कहूँ छतिकन मई अलसति अरही नैह । भइ
पिहाल धैकल सी मुधि नाई देह ।—रघुराज । (ख) यनि-
पति पर पंडित कुमति किय मारन अभिचार । ते बैकल
यागन छगे पिछा करन अहार ।—रघुराज ।

पैकुंड—संज्ञा पुं० दे० “वैकुंड” ।

पैखरी—संज्ञा स्त्री० दे० “वैखरी” ।

पैखानस—वि० दे० “वैखानस” ।

पैग—संज्ञा पुं० [अ०] (१) धैरा । शोला । बोरा । (२) टाट का
यह धैरा जिसमें यात्री अपना असबाब भरकर हाथ में
लटकाकर साथ ले जाते हैं ।

पैगन—संज्ञा पुं० दे० “पैगन” ।

पैगना—संज्ञा पुं० [हि० पैगन] एक प्रकार का पकवान या पकौड़ी
जो पैगन आदि के टुकड़ों को बेसन में लपेटकर और तेल में
तलकर बनाई जाती है ।

पैगनी—स्त्री० दे० “पैगनी” ।

संज्ञा स्त्री० दे० “पैगन” ।

पैजंती—संज्ञा स्त्री० [सं० वैजंती] (१) फूल के एक पौधे का नाम
जिसके पत्ते हाथ हाथ भर नक लंबे और चार पाँच अंगुल
चौड़े पद्म या मूल फाँट से छोटे हुए होते हैं । इसमें दहनिषों
नहीं होतीं, केले की तरह काँड सीधा ऊपर की ओर जाता
है । यह हलदी और कपूर की जाति का पौधा है । काँड के
मिरे पर मान वा पीले फूल लगते हैं । फूल लंबे और कई
दानों के होते हैं और गुच्छों में लगते हैं । फूलों की जड़ में
एक-एक छोटी छुंरी होगी है जो फूल खूबने पर बढ़कर बौड़ी
हो जाती है । यह बौड़ी तिकोनी और लंबोत्तरी होती है
जिस पर छोटी छोटी नोक वा केंचुरे निकले रहते हैं ।
बौड़ी के नीचे नीचे कोठे होते हैं जिनमें काले काले दाने
भरे हुए निकलते हैं । ये दाने कड़े होते हैं और लोग
इन्हें छेदकर माछा बनाकर पढ़ते हैं । यह फूलों के
कारण शोभा के लिये बगीचों में लगाया जाता है । संस्कृत
में इसे वैजयंती कहते हैं । (२) रिण्यु की माछा ।

पैज—संज्ञा पुं० [अ०] (१) पिछा । (२) चपरास ।

पैजई—[अ० पैजा = पैसा] टुकड़े माले रंग का ।

रंग पुं० एक रंग जो बहुत हल्का नीला होता है । इस रंग
की रंगई लालन में होगी है । कपड़े के अंठे के रंग से
मिलता लगता होने के कारण इस रंग को लोग पैजई
कहते हैं ।

पैजनाथ—संज्ञा पुं० दे० “पैजनाथ” ।

पैजयंती—[अ० पैजयंती] पैजंती । पैजयंती ।

पैजला—संज्ञा पुं० [देश०] (१) उड़ने का एक भेद । (२)
बड़ही का लेप ।

पैजा—संज्ञा पुं० [अ०] (१) बंधा । (२) एक प्रकार का छोटा

जिसके नीचे पानी होता है । फाँले की तरह । पैजा ।
गलका ।

पैठरी—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) चीनी वा रांते आदि का पात्र
जिसमें रासायनिक पदार्थों के योग से रासायनिक प्रक्रिया
द्वारा विजली पैदा करके काम में लाई जाती है । (२)
तोपखाना ।

पैठा—संज्ञा स्त्री० [देश०] रुई ओटने की चर्खी । ओटनी ।

पैठ—संज्ञा पुं० [हि० पैठना = पड़ा पाना] सरकारी मालगुजारी
वा लगान या उसकी दर । राजकीय कर वा उसकी दर ।

पैठक—संज्ञा स्त्री० [हि० पैठना] (१) पैठने का स्थान । उ०—
चरण सरोवर ममीप किधौं विठिया, बगिन बलहंसि की
पैठक बनाय की ।—वेदाव । (२) वह स्थान जहाँ कोई
पैठता हो अथवा जहाँ पर दूसरे लोग आकर उससे साथ
पैठा करते हों । चौपाल । अंघाई । उ०—वह अपनी पैठक
में परलंग पर लेटा है, उसकी आँखें कदियों से लगी हैं,
भँहिं कुछ ऊपर की लिख गई हैं और वह चुपचाप देवदूत
की छवि मन ही मन मीच रहा है ।—अपविष्टा फूल ।

पैठ—पैठकराना ।

(१) वह पदार्थ जिस पर पैठा जाता है । भासन । पीठ ।

उ०—(क) अति आदर सों पैठक दीन्हो । मेरे गृह बंदा-
बलि आई अति ही आनंद कीन्हो ।—गूर । (ग)

पिय भावन धैगमैवा उठि के लीन । साथें चतुर निरिपवा
पैठक दीन ।—रहिमन । (घ) किसी मूर्ति वा चित्रे आदि के

नीचे की चौड़ी । आधार । पदस्तल । (५) पैठने का स्था-

पार । पैठाई । जमाप । जमापड़ा । कैते,—उसके यहाँ

शहर के लुचों की पैठक होती है । (६) अग्निपेठान । समा-

सदों का एकत्र होना । जैसे,—समा की पैठक । (७) बीने

की मिया । (८) पैठने का ढंग वा ढेव । जैसे,—जातवनों

की पैठक । (९) साथ उठना पैठना । संग । भेज । उ०—

माधुर लोगन के संग की यह पैठक तोहि भोजीत उषीही—

केशव । (१०) कपड़े वा धातु आदि का दीर्घ त्रिकोण के सिरे

पर बची जलनी या मोमवर्ती स्तंभों ज्ञानी है । पैठकी ।

उ०—पैठक और हँडियों में मोमवर्तियाँ जल रही हैं ।—

अपविष्टा फूल । (११) एक प्रकार की कसरत जिसमें बार

बार गड़ना होता और पैठना पड़ना है ।

पैठका—संज्ञा पुं० [हि० पैठक] यह चौपाल वा हानत आदि जहाँ
कोई पैठता हो और जहाँ जाकर लोग उसमें मिलने वा उसमें
पाम पैठकर बातचीत करते हों । पैठक ।

पैठकी—संज्ञा स्त्री० [हि० पैठक + ई (प्रत्यय)] (१) बार बार पैठने
और उठने की कसरत । पैठक । (२) भागन । आधार ।
उ०—कनक भूमि पर यह चंग घाटा यह नगाणा एक राजन ।

कर कर प्रति पद प्रति मणि यमुषा कमल बैठकी साजत।—
सूर। (३) दे० "बैठक ३, ४, ८"।

बैठन—संज्ञा स्त्री० [वि० बैठना] (१) बैठने की क्रिया। (२) बैठने का भाव। (३) बैठने का ढंग वा दृशा। उ०—धन्य काहं धनि राधा गोरी। धनि वह भाग सुहाग धन्य वह धन्य नवल नवला नव जोरी। धनि यह मिलन धन्य यह बैठन धनि अनुराग नहीं रुचि थोरी। धनि यह अरस परस छवि छटन महा चतुर मुख भोरे भोरी।—सूर। (४) बैठक। आसन।

बैठना—क्रि० प्र० [सं० बैरान, विष्ट, प्रा० विट् + ना वा सं० विविष्टि प्रा० वड्ढर] (१) बैठे के बल किसी स्थान पर इस प्रकार जमना कि धड़ ऊपर को सोंघा रहे और पैर धुत्ने पर से मुड़कर दोहरें हो जायें। किसी जगह पर इस प्रकार टिकना कि कम से कम शरीर का आधा निचला भाग उस जगह से लगा रहे। स्थित होना। आसन्न होना। आसन जमाना। उ०—(क) बैठो कोढ़ राज औ पाटा। अंत सुख कैसे पुनि पाटा।—जायसी। (ख) बैठे बरसन राम जानकि मुदित मन दसरथ भये।—तुलसी। (ग) बैठे सोह काम रिपु कैसे। धरे शरीर शान्त रस जैसे।—तुलसी। (घ) शोभित बैठे तेहि सभा, सात द्वीप के भूप। तहाँ राजा दशरथ लख देवदेव अनुरूप।—केशव।

संयोग—क्रि०—जाना।

मुहा०—कहीं वा किसी के साथ बैठना उठना = (१) संग में समय बिताना। कालक्षेप करना। उ०—जाइ आई जहाँ तहाँ धिँडे उठि जैसे तेरे, दिन तो बितायो मधु पीतलति है कैसे राति।—पद्माकर। (२) रहना। संग में रहना। संगत में रहकर बान्धन फटना या मुक्तता। बैठे बिठाए = (१) अकारण। निरर्थक। जैसे,—बैठे बिठाए यह झगड़ा मोल लिया। (२) अचानक। एकाएक। जैसे,—बैठे बिठाए यह आफत कहाँ से था पड़ी। धिँडे बैठे = (१) निष्प्रयोजन। (२) अचानक। (३) अपारण। धिँडे रहो = (१) अलग रहो। हाथ मत लगाओ। दूरल मत दो। तुम्हारी ऊपर मत नहीं। (२) चुप रहो। कुछ मत बोलो। धिँडे दूँध = एक कसरत जिसमें दंड करके बैठ जाते हैं और बैठते समय हाथों को पृष्ठ की पर रखकर उठाई बैठते हैं। इसके अनेक प्रकार दंड करने लगते हैं। उठ बैठना = (१) लेटा न रहना। (२) जाग पड़ना। जैसे,—पटक सुनते हो यह उठ बैठना। बैठते उठते = उदा। तब अवस्था में। हरदम। जैसे,—बैठते उठते राम राम अपना। बैठ रहना = (१) देर लगाना। वहीं का हो रहना। जैसे,—बाजार जाकर बैठ रहे। (२) सादर स्वागत या निरादर होना। दाकर उद्योग छोड़ देना। (३) किसी स्थान में अवकाश में ठीक रूप से जमना।

ठीक स्थित होना। जैसे,—चूल् का बैठना, अँगूठी के प्रयासे में नग का बैठना, सिर पर टोपी बैठना, छेद में पैरों का बैठना।

मुहा०—नस बैठना = सरकी हुई नम का ठीक जगह पर आना। मोच दूर होना। हाथ या पैर बैठना = दूय वा उसका दुखा हाथ पैर ठीक होना।

(३) कैंडे पर आना। ठीक होना। अभ्यस्त होना। जैसे,—किसी काम में हाथ बैठना। (४) पानी या अन्य द्रव पदार्थों में मिली हुई चीजों वा नीचे तह में जम जाना। जल आदि के स्थिर होने पर उसमें धूलो वस्तु का नीचे आधार में जा लगना। (५) पानी या भूमि में किसी भारी चीज का दाब आदि पाकर नीचे जाना वा धँसना। दबना या हूचना। जैसे,—नाव का बैठना, मचान का बैठना इत्यादि। (६) सूजा या उभरा हुआ न रहना। दबकर बराबर वा गहरा हो जाना। पचक जाना। धँसना। जैसे,—आँख बैठना, फोड़ा बैठना। (७) (कारबार) चलता न रहना। बिगड़ना। जैसे,—कोई बैठना, कारबार बैठना इत्यादि। (८) तौल में ढहरना वा परता पड़ना। जैसे,—(क) दस मन गेहूँ का बी मन पैठा। (ख) रुपय का सेर भर घी पैठता है।

संयोग—क्रि०—जाना।

(९) लगात लगात। खर्च होना। जैसे,—घोड़े का रारी में सी रुपय बैठे। (१०) गुड़ का बह जाना वा पिघल जाना। (११) चायल का पकने में मोला हो जाना। (१२) स्थित वस्तु का निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना। जैसे वा चलाई हुई चीज का ठीक जगह पर जा पड़ना। लक्ष्य पर पड़ना। निशाने पर लगना। जैसे,—गोली बैठना, डंडा बैठना। (१३) घोड़े आदि पर सवार होना। जैसे,—घोड़े पर बैठना, हाथी पर बैठना। (१४) पीछे का जमीन में गाढ़ा जाना। लगना। जैसे,—जड़हन बैठना। (१५) किसी पद पर स्थित होना वा नियत होना। जमना। जैसे,—जब तुम उस पद पर एक बार बैठ जाओगे, तब फिर जल्दी नहीं हटाए जा सकोगे। (१६) एक स्थान पर स्थिर होकर रहना। जमना। (१७) (किसी वस्तु में) समावृत्ति। बैठना। आना। (१८) किसी चीज का किसी पुरुष के यहाँ स्त्री के समावृत्ति रहना। पर में पड़ना। जैसे,—यह स्त्री एक सोनार के घर धँड गई। (१९) परिश्रमों का बँडे सेना। जैसे,—मुर्गा का बैठना। (२०) जोड़ खाना। भोग करना। (वाजारी)। (२१) बेकाम रहना। काम छोड़कर खाली रहना। निरुद्योग रहना। निरुद्योग रहना। बेरोज़गार रहना। जैसे,—यह आज ९ महीने से धँड है, कैसे बर्ग चले? (२२) अन्न होना। जैसे,—मूर्ख का बैठना, दिन बैठना।

वैठनि—संज्ञा स्त्री० दे० “वैठन” ।

वैठनी—संज्ञा स्त्री० [हि० वैठन] करवे में वह स्थान जहाँ जुलाहे कपड़ा बुनते समय बैठते हैं ।

वैठचौरी—वि० [हि० वैठना] धैरा या दया हुआ । जो उठा हुआ न हो । विपदा । जैसे,—वैठचौरी जता ।

वैठचार्ह—संज्ञा स्त्री० [हि० वैठना] धैराने की मञ्जूरी ।

वैठचाना—क्रि० सं० [हि० वैठना का प्रेरण०] (१) धैराने का काम दूसरे से कराना । (२) पैद पौधे लगवाना । रोपाना ।

वैठा—संज्ञा पुं० [हि० वैठना] चमचा या बर्फी करछी । (छटा०)

वैठाना—क्रि० सं० [हि० वैठना] (१) स्थित करना । आसीन करना । उपविष्ट करना । खड़ा न रखकर कुछ विभाम की स्थिति में करना ।

संयोग—क्रि०—देना ।—लेना ।

(१) बैठने के लिये कहना । आसन पर विराजने को कहना । जैसे,—लोग तुम्हारे यहाँ भाए हैं; उन्हें आदर से ले जाकर बैठाओ । (२) पद पर स्थापित करना । प्रतिष्ठित करना । नियत करना । जैसे,—किसी मूल को यहाँ बैठा देने से काम न चलेगा । उ०—नरहरि हिरनकसिपु जय मान्यो । अहं प्रह्लाद राम धैरान्यो ।—सूर । (३) नियत स्थान पर ठीक ठीक ठहरना । ठीक जमाना । भड़गना या ठिकाना । जैसे,—चेंच धैराना, मूर्ति धैराना, चूहे पर बटलौं धैराना, भैरुं गेई नंग धैराना ।

मुँहा—नस धैराना = हठी हुँद नस मलकर ठीक जगह पर खाना । मोच दूर करना । हाथ या पैर धैराना = आघात या चोट के कारण जोड़ पर से उखाड़ हुआ हाथ या पैर ठीक करना । धैरा भात = यह भात जो पानल और पानी एक ही साथ आग पर रखने से पके ।

(५) किसी काम को बार बार करके हाथ को अभ्यस्त करना । मोजना । जैसे,—लिप्यकर हाथ धैराना । (६) पानी आदि में घुली वस्तु को तल में ले जाकर जमाना । जैसे,—यह दवा सब मील गींचे बैठा देगी । (७) पेशाना या धुपाना । गींचे की ओर ले जाना । जैसे,—इतना भारी बोस दीपार बैठा देगा । (८) रूखा या उमरा हुआ न रहने देना । दवाकर पानल या गहरा करना । पचकाना या पेशाना । जैसे,—यह दवा गिळ्टी को बैठा देगी । (९) (कारबार) सज्जान न रहने देना । बिगाड़ना । (१०) सेंक या चलाकर कोई चीज ठीक जगह पर पहुँचाना । स्थित पद को निर्दिष्ट स्थान पर डालना । स्थल पर जमाना । जैसे,—जिसाना धैराना, चंटा धैराना । (११) पौधे आदि पर साधारण करना । (१२) पौधे को पालने के लिये जमीन में गाड़ना । लगाना । जमाना । जैसे,—खरबूट धैराना । (१३) सिद्धि की को वही के रूप में रख खेना । बार में

डालना । (१४) काम पंथ के योग्य न रहना । बेकाम न देना । जैसे,—रोग ने उसे बैठा दिया ।

वैठारना—क्रि० सं० दे० “वैठाना” । उ०—(क) सादर बात सरोज पम्हारे । अनि पुनीत भासन धैरारे ।—गुलरी । (ख) रम्यचित्र सिंहासन धान्यो । तेंद्रि पर कृष्ण है बैठान्यो ।—सूर ।

वैठालना—क्रि० सं० दे० “वैठाना” ।

वैठना—क्रि० सं० [हि० बाध, वेध] बंध करना । वेधना । (पशुओं को) रोककर रखना । उ०—नृ अलि कहा पन्यो कैरि पैदे । मग नृ दयाम भजा भयो हमको हृदय बचन न बेंदे ।—सूर ।

वैठाल—वि० [सं० विनात] बिछी संयंत्री ।

वैठालप्रत—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० वैठालप्रती] बिछी के समान अपने घात में रहना और ऊपर से बहुत सीधा सादा बना रहना ।

वैठालपत्नी—वि० [सं०] बिछी के समान ऊपर से सीधा साधा, पर समय पर घात करनेवाला । कपटी ।

वैण—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों को काटकर उसी से जीविका कानेवाला । बौद्ध का काम करनेवाला ।

वैत—संज्ञा स्त्री० [सं०] पय । शोक । उ०—दरद न जानै पीर कहाँ । धैता पवि पवि जग समुसाँवे ।—कबीर ।

वैतरनी—संज्ञा स्त्री० [सं० वैतरणी] (१) दे० “वैतरणी” । (२) एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है । इसका चावल कई वर्ष तक रहता है ।

वैताल—संज्ञा पुं० दे० “वैताल” ।

वैतालिक—वि० और संज्ञा पुं० दे० “वैतालिक” ।

वैद—संज्ञा पुं० [सं० वैव] [सं० वैदि] चिकित्साशास्त्र का ज्ञानेवाला पुरुष । वैद्य । उ०—(क) कुपय मोग रज न्याकुल रोग । वैद न देह मुनहु सुनि जोगी ।—गुलरी । (ख) बहु धन है अहसास के पारी देग सराहि । वैद बरु हित भेद से रही माह गुल चाहि ।—विहारी ।

वैदेही—संज्ञा स्त्री० [हि० वैद] वैद्य की विद्या या व्यवसाय । वैद्य का काम । उ०—बौचि न आवै लपि कष्ट देता छह न धाम । अर्थ गुनारी वैदेई करि जानत पनि राम ।—देवान ।

वैद्युत्—संज्ञा पुं० दे० “वैद्युत्” ।

वैदेही—संज्ञा स्त्री० दे० “वैदेही” ।

वैन—संज्ञा पुं० [सं० वचन, या० वचन] (१) वचन । बात । उ०—(क) माया होई मोहती बोले कहुआ धैव । कोई धापन ना मिरे, सारै दिवदा धैव ।—कबीर । (ख) विन आह माया दये कहे गुनाम के धैव । सुनि पयातो तब किपे जब देख्यो निज धैव ।—सूर ।

मुदा—वचन खाना का वचन । दे० विचय । उ०—

जसुमति मन अभिलाष करै । कब मेरो लाल सुदुखन रँगै,
कब धरनी पग द्वैक धरै । कब द्वै दंत दूष के देखौं कब
तुनरें मुख धैन हरै ।—सूर । (२) घर में मृत्यु होने पर
कहने के लिये बंधे हुए शोकसूचक वाक्य जिसे स्त्रियाँ कह
कहकर रोती हैं । (पंजाब)

वैनतेय-संज्ञा पुं० दे० "वैनतेय" ।

वैना-संज्ञा पुं० [सं० वायव्य] सह मिठाई आदि जो विवाहादि
उत्सवों के उपलक्ष्य में दूध मिश्रों के यहाँ भेजी जाती है ।

* क्रि० सं० [सं० वपन] बोना ।

संज्ञा पुं० दे० "बंदा" ।

वैपार-संज्ञा पुं० [सं० व्यापार] व्यापार । व्यवसाय । काम धंधा ।
उ०—अगम काटि गम कीन्हो हो रमैपाराम । सहज कियो
वैपार हो रमैया राम ।—कबीर ।

वैपारी-संज्ञा पुं० [सं० व्यापारी] व्यापार करनेवाला । रोजगारी ।
व्यापारी । उ०—उठे हिलोर न जाय सँभारी । भागहि
कोइ निबहै वैपारी ।—जायसी ।

वैयन-संज्ञा पुं० [सं० वायन = वृन्ना] लकड़ी का एक औज़ार
जिससे घाना धेयाया जाता है । यह खदग के आकार का
होता है और गडरिये इसे कंबल की पहियों के घुमने के
काम में लाते हैं ।

वैयर-संज्ञा स्त्री० [सं० वयसर = दि० बडसर] औरत । स्त्री ।
उ०—सरजा समाय चीर तेरे वैर बीजापुर बैरी वैपरनि
कर थोह न नुरीन की ।—भूपाल ।

वैया-संज्ञा पुं० [सं० वाय] वै । वैसर । (छलाहे) उ०—पदे
पढ़ाये कुछ नहीं याम्हन अकि न जान । ब्याह सराधे कारणे
वैया खूँदा तान ।—कबीर ।

वैयंग-वि० [सं० वैयंगि] यह चिट्ठी या पारसल जिसका महमूल
भेजनेवाले की ओर से न दिया गया हो, पानेवाले से बसूल
किया जाय ।

वैर-संज्ञा पुं० [सं० वैर] (१) किसी के साथ वैसा संबंध जिससे
उसे हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति हो और उससे हानि पहुँचने
का दर हो । अनिष्ट-संबंध । शत्रुता । विरोध । अद्वान ।
दुस्मनी । जैसे,—उन दोनों कुलों में पीढ़ियों का वैर चल
आता था ।

(२) किसी के प्रति अहित कामना उत्पन्न करनेवाला भाव ।
मिर्ति का विरुद्ध उत्पत्ता । धमनत्व । दुर्भाव । द्वेष ।
उ०—पीर मिर्ति नहि दुरत दुराप् ।—गुलसी ।

क्रि० प्र०—रखना ।

मुहा०—वैर कादना या निकालना = दुर्भाव द्वारा प्रेरित चार्य
कर पाना । बदला लेना । उ०—यदि बिधि सब नवीन पायो
मन कादत वैर दुरासी ।—सूर । वैर खानना = शत्रुता का
संबंध स्थापित करना । दुस्मनी मान लेना । दुर्भाव रखना धरने

करना । उ० सिर करि धाय कंचुकी भारी अब तो मेरी नाँव
भयो । कालि नहीं यहि मारग ऐही, ऐसो मोसों वैर उयो ।—

सूर । वैर खानना = विरोध उत्पन्न करना । दुस्मनी पैदा
करना । वैर पड़ना = वायक होना । तंग करना । शत्रु होकर
कट पहुँचाना । उ०—कुटुंब वैर मेरे परे बरानि बरे सिख-

पाल ।—सूर । वैर बढ़ाना = अधिक दुर्भाव उत्पन्न करना ।
दुस्मनी बढ़ाना । ऐसा काम करना जिससे अप्रसन्न या कुपित

मनुष्य और भी अप्रसन्न और कुपित होता जाय । उ०—
आवत जात रहत याही पथ मोसों वैर बढ़ैहो ।—सूर ।

वैर बिसाहना या मोल लेना = जिस बात से अपना कोई
संबंध न हो, उसमें योग देकर दूसरे को व्यर्थ अपना विरोधी

या शत्रु बनाना । बिना मतलब किसी से दुस्मनी पैदा करना ।
उ०—चाहो भयो न कछु कबहुँ जमराजहु सों छूया वैर

बिसाहो ।—पद्माकर । वैर मानना = दुर्भाव रखना । शत्रु
मानना । दुस्मनी रखना । वैर लेना = बदला लेना । कसर

निकालना । उ०—(क)लेत केहरि को बयर जनु भेक हति
गोमाय ।—गुलसी । (ख) लेहैं वैर पिना तेरे को, जैहै

कहाँ पराई ।—सूर ।
संज्ञा पुं० [दे०] हल में लगा हुआ चिलम के आकार का

चाँगा जिसमें भरा हुआ बीज हल चलने में बराबर बँट में
पड़ता जाता है ।

† संज्ञा पुं० [सं० बदरी] वैर का फल और पद ।

वैरख-संज्ञा पुं० [सं० वैरख] सेना का झंडा । ध्वजा । पताका ।
जिसान । उ०—(क) वैरख बाहँ बसाइयु पै गुलसी घर

व्याध अजामिल तेरे ।—गुलसी । (ग) घन धावन बग-
पति पदो सिर वैरख तद्विध सोहाई ।—गुलसी । (ग)

वैरख डाल गगन गा छाई । धाल कनक धरती न समाई ।—
जायसी । (घ) चलनी चपला नहि कैरते निरंग भट, ईश

को ग चाप रूप वैरख समाज को ।—भूपाल ।

वैरा-संज्ञा पुं० [दे०] चिलम के आकार का एक चाँगा जो हल
में लगा रहना है और जिसमें बीते समय बीज डाला

जाना है ।
संज्ञा पुं० [सं० वैरार] सेवक । चाकर । शिदमागार ।
संज्ञा पुं० [दे०] ईंट के डुकड़े, रोदे आदि जो मेहराब
बनाते समय उसमें चुनी हुई ईंटों को जमी रखने के लिये

खाली स्थान में भर देने हैं ।

वैराखी-संज्ञा स्त्री० [हि० बड़ + खी] एक गहना जिते स्त्रियाँ
मुजा पर पहनती हैं । इसमें खोपोंसे मोल बड़े बड़े दाते

होते हैं जो घागे में गुथकर पहने जाते हैं । बहूँटा ।

वैराग-संज्ञा पुं० दे० "वैराग्य" ।

वैरागी-संज्ञा पुं० [सं० वैरागी] [स्त्री० वैरागिनी] वैराग्य मन के
साधुओं का एक भेद ।

वैराग्य—संज्ञा पुं० दे० "वैराग्य" ।

वैरागा—क्रि० प्र० [हि० वा, वायु] वायु के प्रकोप से बिगड़ना ।

उ०—जे धँलियाँ घेरा रहँ। लगे विरह की बाढ़। पीतम पगरज को तिरहेँ अंजन देहु लगाइ ।—रसनिधि ।

वैरो—वि० [सं० वैरो] [श्री वैरिन] (१) वैर रखनेवाला । शत्रु ।

दुश्मन । द्वेषी । उ०—(न) शिव घेरी मम दास कहाँ । सो जर सपनेहुँ मोहिँ म पावै ।—मुलसी । (२) लघु मिलने विचरन घनो ता विच धैरिन लाज । दग अनुरागी भाव ते कहु कह करे हलाज ।—रसनिधि । (३) विरोधी ।

वैल—संज्ञा पुं० [सं० वलद या वलीवर्द] [श्री० गाव] (१) एक चौपाया जिसकी मादा को गाव कहते हैं । यह चौपाया बड़ा मेहनती और बोझ उठातेवाला होता है । यह हल में जोता जाता है और गादियों को खींचता है । दे० "गाव" ।

वी०—वैलगाड़ी ।

पर्या०—उक्षा । भद्र । वलीवर्द । वृषभ । भनडान गौ ।

(२) शूल मनुष्य । जड़ बुद्धि का आदमी । जैसे,—यह पूरा वैल है ।

वैलर—संज्ञा पुं० [सं० वसवजर] पीपे के आकार का लोहे का वड़ा देग जो भाप से चलनेवाली कलों में होता है । इसमें पानी भरकर लीलाते और भाप उठाते हैं जिसके जोर से कल के घुरने चलते हैं ।

वैलस—संज्ञा पुं० [सं०] गुच्छारा । (२) पड़ा गुच्छारा जिसके सहारे पहले लोग ऊपर हवा में उड़ा करते थे ।

वैपानस—संज्ञा पुं० दे० "वैपानस" ।

वैसंदर—संज्ञा पुं० [सं० वैसनर] अग्नि । उ०—कविश मीनलना भई उजगा प्रसन्नान । जेहि वैसंदर जग जल सो मेरे उदक समान ।—कवीर ।

वैस—संज्ञा श्री० [सं० वसप] (१) भापु । उग्र । उ०—(क) बुद्धिवा हेमि बह निगदि बारि । मोहिँ देसि तरणि कहु कोम मारि ॥ ये दूनि मये मोर पान ग्यात्र । भी कंस गवल मोर गंग महाउ ॥ भी मयन गवल मोर कमल देन । अह वैस गवल पर पुरन जेन ॥ भी जान पुरपरा मोर भहार । मैं भनमाने की कर गिंगार ॥ बर कबीर बुद्धिवा अनैश गाव । भी एग भनगहि धेडी गाव ॥—कवीर । (ख) पूंमनि है हरिमनि निव । इनमें को वृषभायु रिमोरी । मेरु हर्मि दिगतायो अपनी जानापन की जोरी । पाम पगुर जिन कीजे मोहन सुवस वैस ही धोरी । पारे ते बिहि बड़े पतायो सुधिबल कम बिधि धोरी ।—गूर । (ग) निन पुरुष ही रस वैस बल मन छुट । पहिचन गुणन छिओर हवि खेचन गुणन अनेक ।—विहारी । (२) धीन । जगामी ।

मुहा०—वैस करना=पुनर्वसन करना ।

उ०—वैस चढ़े, घर ही रहु घेति भयानि चढ़े बरतम चढ़ीगो ।—रसनिधि ।

वैरा पुं० [किसी वृत्त वृत्त के नाम पर] क्षत्रियों को एक प्रसिद्ध शाखा जो कबीर से लेकर भक्तवंश तक बसी गई जाती है । यह शाखा पट्टे धानेधर के आम पास बसती थी । पीछे विक्रम संवत् १६३ के लगभग इस शाखा के प्रसिद्ध मराठा हर्षवर्द्धन ने पूरव के प्रदेशों को जीता और कबीर में अपनी राजधानी बनाई ।

† संज्ञा पुं० दे० "वैश्य" ।

वैसना—क्रि० सं० [सं० वैशन] घटना । उ०—(क) रंग श्री सहि पाई वैसे । जन्म और गुहँ पात्रत कैसे ।—जायसी । (ख) वेग्य कपिन जाइ सो विसा । आहुनि देन रनिभ भई भैसा ।—मुलसी । (ग) कडिये तासों जो होइ रिचेरी । तुम तो अलि उनही के संगी अपनी मी के देखी । पैसी की डार्थी विसरि है तो सों भूँद राखावे । हाड़ी बाग गुसी सी बिन कन फटन हाथ न आपे ।—सूर ।

वैसर—संज्ञा श्री० [हि० वय] उल्लाहों का एक भीमार जिससे करघे में कपड़ा घुनते समय धान को घटाते हैं । कभी । वय । यह रॉन की पतली सोलियों को बस के दो कों पर आड़ी धरिये से बनती है ।

वैसवारा—संज्ञा पुं० [हि० वैस + वारा (वृष०)] [सं० वैसवरी] अवध का पश्चिमी प्रांत । यह प्रदेश बहुत दिनों तक मानेधर के वैस क्षत्रियों के अधिकार में रहा । वैस क्षत्रियों की बन्धी होने के कारण यह प्रदेश वैसवारा कहा जाने लगा । वैस वैस के प्रसिद्ध मराठा हर्षवर्द्धन ने अपनी राजधानी कबीर में रानी थी, यह इतिहास प्रसिद्ध है ।

वैसाग्य—संज्ञा पुं० दे० "वैसाग्य" ।

वैसायी—संज्ञा श्री० [सं० विसाया = विष्णु, सातवें निष्क्रमी से] वैराग्य = मरानी । यह लाई जिसके तिरों को कंधे के नीचे बगल में रखकर लँगड़े लगे दोगे हुए चलते हैं । इनके तिरों पर जो अर्द्धचंद्राकार भाड़ी लटकी (अर्द्ध के भास्वर की) लगी होती है, वही बगल में रहती है । लँगड़े के देखने की लाई । उ०—(क) निजत दुभादस मगरु कीरने । हाथ कनक वैसायी लँगड़े ।—जायसी । (ख) वैसायी परि कंच मज्जावारी दिग्मान । दिगि जर्मि रतमेन बड़ी विधि तो वससावन ।—भारत पाठक ।

वैसाग्या—क्रि० सं० [हि० वैसाग्य] घटना । गिनत करना । उ०—नेहि पर गूँद खीप दूर घारे । दूर हथ डूँद नैर बिसारे ।—जायसी ।

वैसिक—संज्ञा पुं० [सं० वैसिक] वैराग्य से प्रतिन बाँधेवाला भावक । वासोपागिण्यासी पुरा ।

वैहर—संज्ञा पुं० [सं० वैहर = वैहर] भावक । कोपाय । उ०—

योभाई—संज्ञा स्त्री० [हि० योभाना + अर् (प्रत्य०)] (१) योभाने या स्नाने का काम । (२) योभाने की मजदूरी ।

योट—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाव । नौका । (२) स्टीमर । अग्नि योट । जहाज़ ।

योटा—संज्ञा पुं० [सं० यृन्, योष्ट = घाल, लड़ा] (१) लकड़ी का काटा हुआ मोटा टुकड़ा जो लंबाई में हाथ दो हाथ के लगभग हो, बड़ा न हो । कुंदा । (२) काटा हुआ टुकड़ा ।

योटी—संज्ञा स्त्री० [हि० योय] मांस का छोटा टुकड़ा ।
मुहा०—योटी योटी काटना = तलवार, छुरी आदि में धार को चाटकर चोट चोट करना ।

योड़—संज्ञा स्त्री० [देश०] सिर पर पहनने का एक आभूषण ।
संज्ञा स्त्री० दे० “बौर”, “बल्ली” ।

योड़री—संज्ञा स्त्री० [हि० योरी] तोंड़ी । नाभी । तुंदरूपिका ।
योडल—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक पक्षी जिसे ‘जेवर’ भी कहते हैं । इसकी पाँच पर एक रंग सा होता है । यह एक प्रकार का पहाड़ी मोहन है ।

योड़ा—संज्ञा पुं० [देश०] अजगर । बड़ा साँप ।
संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की पतली लंबी काली ज़िमकी सरकारी होती है । जेलिया । बजरबट्ट ।

योड़ी—संज्ञा स्त्री० [?] (१) दमड़ी । दमड़ी कौड़ी । (२) अति अवन घन । उ०—जोधी को नोस देस देस को कलेस कर, देदे तो प्रसन्न हो योड़ी बड़ाई योड़िये । गुलसी ।
संज्ञा स्त्री० दे० “योड़ी” “बाँड़ी” ।

योत—संज्ञा पुं० [देश०] योड़ी की एक जाति । उ०—कोइ भारी जंगली पहारी । गिरचें बट चंपा कंधारी । बोह काजुली कैयोन बोह कच्छी । योत मेमना मुंजी लच्छी ।—विभाम ।

योतक—संज्ञा पुं० [देश०] पान की पहले चर्प की गेती ।
योतल—संज्ञा संज्ञा स्त्री० [सं० योत्] कौच का एक लंबी गरदन का गहड़ा बरतन जिसमें दूध पकाई रखा जाता है ।

मुहा०—योतल चढ़ाना = मद्य पीना । योतल पर योतल चढ़ाना = बहुत मद्य पीना ।

योतलिया, योतली—वि० [हि० योतल] योतल के रंग का सा । कामापन लिए हुए ।

योभा—संज्ञा पुं० [सं० यो] ऊँट का बच्चा जिस पर अभी सवारी न होनी हो ।

योदकी—संज्ञा स्त्री० [देश०] डुमरा या बरें की एक जाति जिसमें बाँटे नहीं होते और जिसके केवल फूल लताई के काम में आते हैं । बीजों में सेक नहीं निकाला जाता ।

योदर—संज्ञा स्त्री० [देश०] कर्बली घड़ी ।
योद पुं० [देश०] ताप या उष्णत्व के बिना सिंघाई का पानी पाने के लिये बना हुआ रसाल जिससे कुछ नीचे दो

भादमी इधर उधर खड़े होकर दोकरे भादि से उर्ध्वमुख पानी ऊपर गिराते रहते हैं ।

योदा—वि० [सं० योद] (१) जिसकी बुद्धि तीव्र न हो । गुन गावड़ी । (२) जो तत्पर बुद्धि का न हो । (३) तुल मठर । (४) जो हड़ या कड़ा न हो । कुसकुसा ।

योदापन—संज्ञा पुं० [हि० योद + पन (प्रत्य०)] (१) बुद्धि की तत्परता । अक्ष का तेज न होना । (२) मूर्खता । नायमकी ।
योध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) धर्म का अज्ञान का अभाव । ज्ञान । ज्ञानकारी । जानने का भाव । (२) तसली । धीरज । मर्गत ।

क्रि० प्र०—देना ।—होना ।

योधक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्ञान करानेवाला । ज्ञापक । ज्ञाने-वाला । (२) अंगार रस के हाथों में से एक हाथ जिसमें किसी संकेत या क्रिया द्वारा एक दूसरे को अपना अनोख भाव जताना है । उ०—निरति रहे निधि बन तरक नाम नंदकुमार । सोरि हीर को हार । तिय लगी बगान बा ।—पद्माकर ।

योधगम्य—वि० [सं०] समझ में आने योग्य ।

योधन—संज्ञा पुं० [सं०] [हि० योधीय, योय, योधि] (१) वेदन । ज्ञापन । जताना । सूचित करना । (२) जगाना । (३) उदीपन । अति या दीपक आदि को प्रज्वलित करना । (दिया) जगाना । (४) रंघ स्वीप देना । स्वीपाना । (५) मंत्र जगाना ।

योधना कृ०—क्रि० सं० [सं० योधा] (१) योध देना । समझाना जताना । कुछ कह सुनकर संतुष्ट या शांत करना । उ०—मूर दयाम को जुमुदा योधति गगन चिरीवाँ उदत दिलाती ।—मूर । (२) ज्ञान देना । जताना ।

योधनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रयोधनी युद्धावृत्ति । (२) निष्पत्ति ।
योधि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) समाधिमेद । (२) पीपल का पेड़ ।
योधितक, योधिदुम—संज्ञा पुं० [सं०] गया में गया पीपल का यह पेड़ जिसके नीचे बुद्ध भगवान् ने संन्यास (मुद्राव) प्राप्त की थी ।

योधिरो—योधी के परममंथों के अनुसार इस वृक्ष का कवचा में भी मत्त नहीं होता और इसी के नीचे बुद्ध गल घात संन्यास प्राप्त करते हैं ।

योधिसत्य—संज्ञा पुं० [सं०] यद जो युद्ध में प्राप्त करने का अधिकारी हो, पर युद्ध न हो पाया हो । योधिसाध की तीन अन्तर्भाव होती हैं, जिन्हें प्राप्त करने पर युद्ध की प्रति होती है ।

योधा—क्रि० सं० [सं० यध] (१) यध को लाने के लिये लाने में या मुरमुरी को हुई अर्थात् में उठावाना । किसी काम या कर्म के बीच को हमदिये नहीं हैं बल्कि जिसमें यध में भंडर लूटे और पीपा उत्पन्न हो ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

(२) विश्राना । छितराना । इंधर उधर डालना ।

बोवा-संज्ञा पुं० [देश०] [छा० बो०] (१) स्तन । यन ।
बूँची । उ०—निशु उदास है जय तजि बोवा । तब दोह
मिलि लागत रोवा ।—निध्रल । (२) घर का साज
सामान । बंगद खंगद । (३) गडर । गडरी । उ०—लीन
भयो तहँ घोषी सोयी । ग्वालन पीठ लियो हुत बोयी ।—
गर्गसंहिता ।

बोवो-संज्ञा स्त्री० [देश०] पुत्राग या सुलताना चंपा की जाति
का एक सदायहार पेड़ जो दक्षिण में पच्छिमी घाट की
पहाड़ियों में होता है ।

बोय-संज्ञा स्त्री० [फा० बू] (१) गंध । वास । (२) सुगंध ।
उ०—कल करील की फुंज सो उडन अतर की बोय । भयो
तोहि भाभी कहा उठी अचानक रोय ।—पद्माकर ।

बोर-संज्ञा पुं० [हि० बोरना] डुबाने की क्रिया । डुबाव । जैसे,—
एक बोर में रंग अच्छा नहीं चढ़ेगा, कई बोर दो ।

क्रि० प्र०—देना ।

संज्ञा पुं० [सं० बयुन] (१) चौंदी या सोने का बना हुआ
गोल और फेंकनेदार धुँवरु जो आभूषणों में गूथा जाता है ।
जैसे,—पानेय के बोर । (२) गुंजन के आकार का सिर पर
पहनने का एक गहना जिसमें मीनाकारी का काम होता है
और रत्नादि भी जड़े हुए होते हैं । इसे 'बीजु' भी कहते हैं ।
† संज्ञा पुं० गूथा । खड्ड । बिल ।

बोरका-संज्ञा पुं० [हि० बोरना] (१) दवात । (२) मिट्टी की
दवात जिसमें लकड़ के खड्डिया घोलकर रखते हैं ।

बोरना-क्रि० सं० [हि० बरना] (१) जल या किसी और द्रव
पदार्थ में निमग्न कर देना । पानी या पानी सी चीज़ में
इस प्रकार डालना कि चारों ओर पानी हो जाय । डुबाना ।
(२) डुबाकर भिगोना । पानी आदि में डालकर तर करना ।
जैसे,—रूई धार बोरने से रंग चढ़ेगा । उ०—भाबो मनीठ
की माठ डुरी दूह ओर ते चौंदी बोरनि आवति ।
—गुप्तसंघ । (३) कलंकित करना । बदनाम कर देना ।
जैसे,—तुल बोरना, नाम बोरना । उ०—तासु वृत्त है हम
कुल बोरा ।—तुलसी । (४) बुक या आवेष्टित करना ।
बोग देना या मिलापना । उ०—कपट बोरी बानी मृदुल
बोलेउ लगुनि समेत ।—तुलसी । (५) घुटे रंग में डुबाकर
रंगना । उ०—शमी जय खलिना पहिहावन काह को
बंजुरी केसर बोरी ।—पद्माकर ।

बोरनी-संज्ञा स्त्री० [हि० बोरना] मिट्टी का परतन जिसमें भाग
रगड़कर चलते हैं । भीगीटी ।

बोरा-संज्ञा पुं० [सं० बुरा = बुरा का पत्र] (१) टाट का बना बैद्य
जिसमें अनाज आदि रखते हैं, बिदेयन: नहीं ले जाने के लिये ।

बौ०—बोराबंदी ।

संज्ञा पुं० [हि० बोर] चौंदी या सोने का बना छोटा धुँवरु ।
दे० "बोर" ।

बोरिका-संज्ञा पुं० [हि० बोरना] वह मिट्टी का परतन जिसमें
लकड़ के लिलने के लिये खड्डिया घोलकर रखते हैं । बोका ।

बोरिया-संज्ञा स्त्री० [हि० बोय] छोटा धैला ।

संज्ञा पुं० [फा०] चटाई । बिस्तर ।

बौ०—बोरिया बघना ।

मुहा०—बोरिया उठाना या बोरिया बघना उठाना = चलने की
तैयारी करना । प्रस्थान करना ।

बोरो-संज्ञा स्त्री० [हि० बोय] टाट की छोटी धैली । छोटा बोरा ।
सूर द्याम विप्रन बंदीजन देत रतन कंचन की बोरी ।—सूर ।

मुहा०—गोरी बाँधना = चलने की तैयारी करना । उ०—
जानई लई काहु डगोरी । जन पुकार, खन बाँधे बोरी ।
—जायसी ।

बोरो-संज्ञा पुं० [हि० बोरना] एक प्रकार का मोटा धान जो नदी
के किनारे की सड़ में बोया जाता है ।

बोरोबाँस-संज्ञा पुं० [देश० बोरो + हि० बाँस] एक प्रकार का
बाँस जो पूर्वी बंगाल में होता है ।

बोर्डे-संज्ञा पुं० [बं०] (१) किसी स्थायी कार्य के लिये बनी हुई
समिति । (२) माल के मामलों के फ़ैसले या प्रबंध के लिये
बनी हुई समिति या कमेटी । (३) काग़ज़ की मोटी दस्त ।

बोर्डिंग हाउस-संज्ञा पुं० [बं०] वह घर जो विद्यार्थियों के
रहने के लिये बना हो । छात्रावास ।

बोलंगी बाँस-संज्ञा पुं० [देश० बोलंगी + हि० बाँस] एक प्रकार का
बाँस जो उड़ीसा और चटगाँव की ओर होता है । यह घरों
में लगता है और टोकरे बनाने के काम में आता है ।

बोल-संज्ञा पुं० [हि० बोलना] (१) मनुष्य के मुँह से उच्चारण
किया हुआ शब्द या वाक्य । वचन । वाणी । (२) ताना ।
वर्ण्य । लगगी हुई बात ।

क्रि० प्र०—सुनाना ।

मुहा०—बोल मारना = ताना देना । वर्ण्य वचन कहना ।

(३) वाजों का बँधा या गठ हुआ शब्द । जैसे,—तबले का
बोल, सितार का बोल । (४) कही हुई बात या किया हुआ
पदा । वचन या प्रतिज्ञा । जैसे,—उसके बोल का कोई
मोल नहीं ।

मुहा०—(किसी का) बोल बाण्य रहना = (१) बात की मात्र
बनी रहना । बात स्थिर रहना । मान या मान होना जाना ।
(२) मान मनावा का बना रहना । भाग्य या प्रताप का बना
रहना । बोल बाण्य होना = (१) बात की मात्र होना । बात
का माना जाना या आदर होना । (२) मान मनावा की बकरी
होना । प्रताप या भाग्य बकुर रहना । (३) प्रगट्ट होना ।

कीर्ति होना । (किसी का) बोल रहना = वास रहना । मान मयादा रहना । द्रव्यत रहना ।

(५) गीत का ठुकरा । अंतरा । (६) अद्द । संख्या । (विशेषतः पद्य में चाहे हुई वस्तुओं के संबंध में) (बी०) जैसे,—सो बोल जाय मे, चार चार लट्टू बँट दिव ।

पंथा पुं० [सं०] एक प्रकार का सुगंधित गौर जो स्वाद में कड़वा होता है । यह गुगल की जगि के एक पेड़ से निकलता है जो अरब में होता है ।

बोलक०—संज्ञा पुं० [दे०] जल भ्रमण । (हिं०)

बोलचाल—संज्ञा स्त्री० [हिं० बोल + चाल] (१) वार्तावली । कथनोपस्थान । बातों का बदना सुनना । (२) मेलमिलाप । परस्पर सन्तार । जैसे,—आज कय उन दोनों में बोलचाल नहीं है । (३) छेड़छाड़ । (४) चलीली भाषा । रोज़मर्रा । नियम के व्यवहार की बोली । जैसे,—ये अधिकतर बोलचाल की भाषा का व्यवहार करते हैं ।

बोलता—संज्ञा पुं० [हिं० बोलना] (१) ज्ञान कराने और बोलने-पाला सार । आत्मा । उ०—बोलते को जग ले पड़वान ले । बोलता जो कुछ कहे सो मान ले । (२) जीवन्त सार । प्राण । (३) अर्थयुक्त वाद बोलनेवाला प्राणी । मनुष्य । (४) दुष्ठा । (पृकीर)

वि० लक्ष बोलनेवाला । पाकपुट । पापाय ।

बोलती—संज्ञा स्त्री० [हिं० बोलना] बोलने की शक्ति । वाहू । वाणी । मुद्रा०—बोलती मारी जाना = बोलने की शक्ति न रह जाना । मुँह से शब्द न निकलना ।

बोलना—हिं० व० [सं० 'ब्रू', 'ब्रूवे' से धुने, प्रा० उत्तर] (१) मुँह से शब्द निकालना । मुख से शब्द उच्चारण करना । जैसे,—मादृमियों का बोलना, शिदियों का बोलना, मेढक का बोलना इत्यादि ।

संयो० क्रि०—उठना । उ०—आपही कुंवे के भीतर पड़ि मुषादि के सुंदर सेज चिटाई । बाँके बनाव सदा के नदा करि, माधो सों भाव के राधा मिशर । अर्थ कदा कहीं हॉली की बाप विदूषक जैसी करी निदुरार । जाय रामो निदुरार उम, पुनि बोलि उल्लो मुपमान की नाई ।

यौ०—बोलता बोलना = बोलनीय करना ।

मुद्रा०—बोल जाना = (१) मर जाना । गंधार में न रह जाना । (भविष्य) (२) निरोध हो जाना । कर्दा न रह जाना । चुक जाना । जैसे,—अब मित्रार्थ बोल गई, भीर मेगायो । (३) पुराना का जंगी होना । और व्यवहार के योग्य न रह जाना । सूट फूट जाना, बिग जाना या फट जाना । जैसे,—मुद्राता जुता चार ही महीने में बोल गया । (४) दार मान देना । देन होकर और भाग लब्धी क्रम में लगे रहने का कय का सारग न रहना । जैसे,—हलकी ही दूर में बोल मय, भीर

धौदो । (५) सिद्धिपटा जाना । स्तब्ध हो जाना । (६) सिद्धि निकाल देना । पुख हो जाना ।

(२) किसी वस्तु का दान उपग्र करना । किसी वस्तु का भागान निकालना । जैसे,—(क) पंदा बोलना । (म) ब्रूना चलने में बहुत बोलना है ।

क्रि० व० (१) कुछ कहना । कथन करना । वचन उच्चारण करना । जैसे,—कोई बात बोलना, पचन बोलना ।

संयो० क्रि०—देना ।—जाना ।

मुद्रा०—बोल उठना = पुराण कुछ कहने लगना । सदा वचन निकाल देना । चुप न रहा जाना । जैसे,—हम बोल तो मान कर ही रहे थे, बीच में तुम क्यों बोल उठे ? (२) आज्ञा देकर कोई बात स्थिर करना । ठहराना । दबाना । जैसे,—(क) कुछ बोलना, पढ़ाव बोलना, मुद्राव बोलना । (ख) साहब ने आज वृत्ताने पर नौकरी बोली है । (१) उत्तर में कुछ कहना । उत्तर देना । (५) रोक रोक करना । जैसे,—हम रास्ते में चले जाओ, कोई नहीं बोलता । (५) छेड़छाड़ करना । मताता । दुष्ट देना । जैसे,—मुग सों मय, यहाँ कोई नहीं बोल सक्ता । ०१ (६) किसी का नाम भादि लेकर इसलिये चिल्लाना, जिसमें वह सुनकर वाप चला भावे । भावान देना । मुद्राव । पुरारना । उ०—गाल सदा ऊँचे यदि बोलत बा बा छे नाम ।—सुर ।

संयो० क्रि०—देना ।

०१ (७) भावे के लिये कहना या कहाना । पाप भावे के लिये कहना या सँदेहा भेजना । उ०—कमव बेगि बकी, यकि, बोयकि रीन गई बुपमानु की रानी ।—कैराप ।

मुद्रा०—३०कि पढ़ना = गुला भेजना । उ०—जामावन का भरसर जानी । भूप बोदि पदप मुनि जानी ।—मुद्रा । बोलवाला—संज्ञा पुं० [व० बोल + का० वाग्य = उवाच] एक बहुत ऊँचा रादावहार वेद तिमकी लकड़ी बहुत ममूला की भीतर लट्ठाई दिव होती है । गगन में लगाने के लिये यह बहुत मज्जो होती है ।

बोलवाला—क्रि० व० [हिं० बोलना का प्रेरणा०] (१) उच्चारण करना । जैसे,—पढ़ाई बोलवाना । (२) दे० "बुलवाना" । बोलवान—संज्ञा पुं० [हिं० बोलना] मीठमिरी । उ०—बोरो मो बोलवान, मुद्रव चकोरी । कोई रूप मंडरी मोरी ।—जायसी ।

बोलवाला—संज्ञा पुं० [हिं० बोल + वाग्य] वह अंत या भाग जो किसी का कह दिया गया हो ।

बोलवाना—क्रि० व० दे० "बुलवाना" ।

बोलवाया—संज्ञा पुं० [हिं० बुलवाना] वही भावे के लिये भेजा हुआ सँदेहा या बोलना । निर्मयका या भावावय ।

क्रि० प्र०—आना ।—जाना ।—भेजना ।

बोली—संज्ञा स्त्री० [हि० बोली] (१) किसी प्राणी के मुँह से निकला हुआ शब्द । मुँह से निकली हुई आवाज । वाणी । जैसे,—(क) बचे की बोली, चिड़ियों की बोली । (ख) वह ऐसा घबरा गया कि उसके मुँह से बोली तक न निकली ।

क्रि० प्र०—बोलना ।

मुहा०—मोटी बोली = कानों को अच्छा लगनेवाला सुर या शब्द ।

(२) अर्थयुक्त शब्द या वाक्य । वचन । बात ।

मुहा०—मोटी बोली = शब्द या वाक्य जिसका अर्थ प्रिय हो । मधुर वचन ।

(३) नीलाम करनेवाले और लेनेवाले का जोर से दाम का कहना । (४) वह शब्द समूह जिसका व्यवहार किसी प्रेक्षक के निवासी अपने भाव या विचार प्रकट करने के लिये संक्षेप रूप से करते हैं । भाषा । जैसे,—यहाँ बिहारी नहीं बोली जाती, वहाँ की बोली उर्दूया है । (५) वह वाक्य जो उपहास या कूट व्यंग्य के लिये कहा जाय । हँसी विस्मयी या ताना । ठोड़ी । उ०—सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं ।—जायसी ।

क्रि० प्र०—बोलना ।—सुनाना ।

बो०—बोली बोली ।

मुहा०—बोली छोड़ना, बोलना या मारना = किसी को लक्ष्य करके उपहास या व्यंग्य के शब्द कहना । जैसे,—अब आप भी मुस पर बोली बोलने लगें ।

बोलीदार—संज्ञा पुं० [हि० बोली + का० दार] वह अस्त्री जिसे ज्ञानने के लिये खेत बौंदी ज़बानी कहकर दिया जाय, कोई लिखा-पढ़ी न हो ।

बोलाह—संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ों की एक जाति ।

बोचना—क्रि० सं० दे० “बोना” ।

बोचार्ह—संज्ञा स्त्री० दे० “बोअर्ह” ।

बोचाना—क्रि० सं० [हि० बोना का प्रेरण०] बोने का काम दूसरे से कराना ।

बोह—संज्ञा स्त्री० [हि० बोर । भा सं० बाह] डुपकी । गोता ।

मुहा०—बोह लेना = डुपकी लेना । गोता लगाना । उ०—रूप जलधि घपुष लेता मन गंधर्व घोई ।—तुलसी ।

बोहनी—संज्ञा स्त्री० [सं० बोधन = जगाना] (१) किसी राँदे की पहली बिक्री । (२) किसी दिन की पहली बिक्री । उ०—(क) मारग जात गहि रह्यो री अँचरा मंगे नाहिन देत हीं बिना बोहनी ।—हरिदास । (ख) औरत छौंड़ि परे हठ हमसौं दिन प्रति कलह करत गहि बगरो । बिन बोहनी तनक नाई ईहीं ऐसहि छानि छेह बह सगरो ।—मूर ।

बिरोप—जब तक बोहनी नहीं हुई रहती, तब तक दूधनदार भिड़ों को उपर खींचा नहीं देते । उनका विधास ई कि

पहली बिक्री यदि अच्छी होगी, तो दिन भर अच्छी होगी । इस पहली बिक्री का शत्रुन किसी समय सब देनों में माना जाता था ।

बोहारना—क्रि० सं० दे० “बुहारना” ।

बोहारो—संज्ञा स्त्री० [हि० बोहारना] झाड़ू ।

बोहित—संज्ञा पुं० [सं० बोहित] नाव । जहाज । उ०—(क)

बोहित भरी चला ले रानी । दान माँग सत देखी दानी ।—जायसी । (ख) बँदीं चारिउ वेद, भव-चारिणि बोहित सरिस ।—तुलसी ।

बोहिया—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चाय जो चीन में होती है । इसकी पत्तियाँ छोटी और काली होती हैं ।

बौंझा—संज्ञा स्त्री० [सं० बौद्ध = पून, दान] (१) वहनी जो बूर तक छोरी के रूप में गई हो । (२) लता । बेल । उ०—बृषहि मोद सुनि सचिव सुभाषा । बद्ध बौंझ जनु लही सुसाला ।—तुलसी ।

बौंझना—क्रि० प्र० [हि० बौंझ] लता की तरह बढ़ना । दहनी फँकना । बढ़कर फैलना । उ०—(क) मूल मूल सुर धीधि बेलि तमतोम सुदल अधिकाई । नखत सुमन नम बिटप बौंझि मनो छपा छिटकि छवि छाई ।—तुलसी । (ख) राम-काम तब पाइ बेलि ज्यों बौंझि बनाइ, माँग कोलि तोपि पोषि फैलि फूलि फार के ।—तुलसी । (ग) राम-बाहु-बिटप बिसाउ बौंझि देखियत जनक मनोरथ फलपथल फरी है ।—तुलसी ।

बौंझर—संज्ञा पुं० [सं० बयुमंजल, हि० बँझर] घूम घूमकर चलने-पाछी घाघु का शौकर । बगुला । उ०—(क) तेहि समय बौंझर दूक आहैं । हमें बाहि ले चला उदाई । (ख) जहँ तहँ उड़े कीस भय पाये । यथा पात बौंझर के भाये ।—रघु० दा० ।

बौंझो—संज्ञा स्त्री० [हि० बौंझ] (१) पीयों या लताओं के वे कबे फल जो सार रहित होते हैं । बँझी । टोंड । जैसे,—भदर या सेमर के बौंझे । उ०—गये हैं बहर भूमि तहाँ कृष्ण जमि भाये करी बँझी पूस आक बौंझिन सों मारि कै ।—प्रिया ।

† (२) फली । छीमी ।

बौश्राना—क्रि० प्र० [सं० बापु, हि० बउ + ज्ञाना (भय०)] (१) सपने में कुछ कहना । स्वप्नात्म्या का प्रत्यय । (२) पालन या बाह्य चर्चे मनुष्य की सोचि अदृष्ट दृष्टदृष्टता । बराना । उ०—युकोई बहुस्वप्नि में बाहि लगा अज्ञान । वो मूरत को पंडिता केहि कारण बोभान ।—चरित ।

बौल्ल—वि० [हि० बउ + सं० लल्ल] सनकी । पागल ।

बौल्लाना—क्रि० प्र० [हि० बउ + सं० लल्ल] गुड़ गुड़ पागल हो जाना । बहद जाना । सनक जाना ।

बौना-संज्ञा पुं० [सं० बानन] [ली० बौनी] बहुत छोटे ढील का मनुष्य । बहुत छोटा आदमी जो देखने में लड़के के समान जान पड़े, पर हो पूरी अवस्था का । अत्यंत ढिंगना या नाटा मनुष्य ।

बौर-संज्ञा पुं० [सं० मुकुन्, प्रा० मुक्क] आम की मंजरी । मौर ।

बौरई-संज्ञा स्त्री० [हिं० बौर] पागलपन । सनक ।

बौरना-क्रि० प्र० [हिं० बौर + ना (प्रत्य०)] आम के पेड़ में मंजरी निकलना । आम का फूलना । बौरना । उ०—(क) दहडही बीतीं मंजु डारें सहकारन की, चहचही खुल्लि वहुँ किन अलीन की ।—रसयानि । (ख) वृन् करि डारी खरी बीरी बीरे आम ।—बिहारी । (ग) बीरे रसालन की चदि डारन कूलन झेलिया मौन गई ना ।—ठाकुर ।

बौरहा-वि० [हिं० बौर + हा (प्रत्य०)] पागल । विक्षिप्त ।

बौरा-वि० [सं० बातुल, प्रा० बावड, पुं० हिं० बावर] [ली० बीरी] (१) बावला । पागल । विक्षिप्त । सनकी । सिंधी । जिसका मस्तिष्क ठीक न हो । (२) भोला । अज्ञान । नादान । मूर्ख । उ०—(क) हौं ही बीरी विरह बस के बीरे सय गाउँ ।—बिहारी । (ख) हौं बीरी हँदुन गई रही किनारे धँट ।—कबीर । (३) रूँगा ।

बौराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० बौर + ई] पागलपन । उ०—सुनहु नाथ मन जरत त्रिविध ज्वर करत फिजत बौराई ।—तुलसी ।

बौराना-क्रि० प्र० [हिं० बौर + ना (प्रत्य०)] (१) पागल हो जाना । सनक जाना । विक्षिप्त हो जाना । उ०—या खाये बीरात ई या पाये बीराई ।—कबीर । (२) उन्मत्त हो जाना । विवेक या बुद्धि से रहित हो जाना । उ०—भरतहि श्रव देखि को जाये । जग बीराई राजपद पाये ।—तुलसी । कि० सं० बेवकूफ बनाना । किसी को ऐसा कर देना कि वह भला बुरा न विचार सके । मति फेरना । उ०—(क) मयत सिंधु रुद्धि बीरायी । सुरन प्रेरि विष-पान करावौ ।—तुलसी । (ख) भल भूँछि दुग के बीराये ।—तुलसी ।

बौराह-वि० [हिं० बीरा] (१) बावला । पागल । सनकी । उ०—बर बीराह बरद भसवासा ।—तुलसी ।

बीरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बीरा] बावली स्त्री । दे० "बीरा" ।

बीलड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० बड़ + लड़ा] सिकड़ी के आकार का मिर पर पहनने का एक गहना ।

बीरई-संज्ञा स्त्री० [सं० बहिर, हिं० बडुर] बधू । दुलहिन । स्त्री । पत्नी ।

ब्यंग-संज्ञा पुं० दे० "ब्यंग" ।

ब्यंजन-संज्ञा पुं० दे० "ब्यंजन" ।

ब्यक्ति-संज्ञा स्त्री० पुं० दे० "ब्यक्ति" ।

ब्यजन-संज्ञा पुं० दे० "ब्यजन" ।

ब्यनीतना-क्रि० सं० [सं० बन्ने + हिं० प्रत्य० ना] गुर

जाना । व्यतीत हो जाना । बीत जाना । उ०—(क) जड़े दिवस दस पाँच व्यतीते ।—रघुराज । (ख) एक समय दिन सात व्यतीते । सबै संत भोजन ते रीते ।—रघुराज । (ग) साधु प्रीतिवस मैं नहिं गयऊ । पहरा काल व्यतीतत भयऊ ।—रघुराज ।

व्यथा-संज्ञा स्त्री० दे० "व्यथा" ।

व्यथित-वि० दे० "व्यथित" ।

व्यलीक-वि० दे० "व्यलीक" ।

व्यवसाय-संज्ञा पुं० दे० "व्यवसाय" ।

व्यवस्था-संज्ञा स्त्री० दे० "व्यवस्था" ।

व्यवहार-संज्ञा पुं० [सं० व्यवहार] उधार । कर्ज ।

कि० प्र०—देना ।

व्यवहरिया-संज्ञा पुं० [हिं० व्यवहार] व्यवहार या लेन देने करने-वाला । रुपय का लेन देने करनेवाला । महाजग । उ०—तब आनिव व्यवहरिया थोली । नुरत देउँ मैं धौली खोली ।—तुलसी ।

व्यवहार-संज्ञा पुं० [सं० व्यवहार] (१) दे० "व्यवहार" । (२) रुपय का लेन देने । (३) रुपय के लेन देने का संबंध । (४) सुख दुःख में परस्पर समिलित होने का संबंध । इष्ट मित्र का संबंध । जैसे,—हमारा उनका व्यवहार नहीं है ।

व्यवहारो-संज्ञा पुं० [सं० व्यवहारिन्] (१) कार्यकर्ता । मामला करनेवाला । (२) लेन देने करनेवाला । व्यापारी । (३) जिसके साथ प्रेम का व्यवहार हो । हिन्दा या इष्ट मित्र । (४) जिसके साथ लेन देने हो ।

व्यसन-संज्ञा पुं० दे० "व्यसन" । उ०—भास वसन व्यसन यह तिनहीं । रघुपति चरित होहिं वहुँ सुनहीं ।—तुलसी ।

व्यसनी-वि० दे० "व्यसनी" ।

व्याज-संज्ञा पुं० [सं० व्याज] (१) दे० "व्याज" । (२) रुद्धि । सुद । उ०—कलि का स्वामी खोमिया मनसा रहे बैपाय । देवे पैसा व्याज को लेखा करत दिन जाय ।—कबीर । (ख) सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा । दिन चलि गयेउ व्याज बहु पाढ़ा ।—तुलसी ।

कि० प्र०—गोदना ।—फँगना ।—लगाना ।

व्याध-संज्ञा पुं० दे० "व्याध" ।

व्याधा-संज्ञा स्त्री० दे० "व्याधि" ।

व्याधि-संज्ञा स्त्री० दे० "व्याधि" ।

व्याना-क्रि० सं० [सं० व्याज + हिं० व्या + ना (प्रत्य०)] जनना ।

उत्पन्न करना । पैदा करना । गर्भ से निकालना । जैसे,—गाय का यजुष व्याना ।

कि० प्र०—वधा देना । जनना ।

व्यापना-क्रि० प्र० [सं० व्यापन] (१) किसी वस्तु या स्थान में इस प्रकार फैलना कि उसका कोई भाग बाकी न रह जाय ।

औत-मोल होना । किसी स्थान में भर जाना । कोई जगह
छूँक लेना । (२) चारों ओर जाना । फैलना । उ०—मुनि
नारद के यथन तब सब कर मित्र विवाद । छन महे द्योपेड
सकल पुर घर घर यह संवाद ।—गुलसी । (३) घेरना ।
प्रसना । उ०—जरा अर्धहि तोहि व्यापि आई । अयेउ कृद
तप क्यों तिर नाई ।—मूर । (४) प्रभाव करना । असर
करना । उ०—(२) जिना सौंपिन को नहिं खावा । को
जग जाति न व्यापि भावा ।—गुलसी । (५) गुरु मिला सब
जानिये मित्र मोह तन साथ । हरष शोक व्यापि नहीं तब
हरि आपि आप ।—कबीर ।

संयो० क्रि०—जाना ।

व्यापाट—छंदा पु० दे० “व्यापार” ।

व्यापार—छंदा सी० [सं० विहार ?] (१) रात का भोजन । व्यापल ।

उ०—एक दिन हरि व्यापि करवाई । पूजक बीरी दिवो न
जाई ।—रघुराज ।

क्रि० प्र०—करना ।

(२) यह भोजन जो रात के लिये हो । जैसे,—मेरे लिये
व्यापि यहीं खाया ।

व्याल—छंदा पु० दे० “व्याल” ।

व्यालो—छंदा सी० [सं० व्याला] सौंपिनी । सौंपिन । नागिन ।

उ०—एग पुनरी ह्य सब दिन वाली । निरगत रहिन यथा
मनि व्याली ।—रघु० ६० ।

वि० [सं० व्यापिन्] सपनों को धारण करनेवाला । उ०—निर-
गुण निलज बुद्धे कषाकी । अकुल अगेह दिगंबर व्याली ।—
गुलसी ।

व्यालु—छंदा पु० [सं० विहार ?] यह भोजन जो सायंकाल के
समय किया जाता है । रात का खाना । व्यारी । उ०—
महाराज इधर भाय परमानंद से व्याल कर सोये ।—
रत्न ।

व्याह—छंदा पु० [सं० विहार] देन, काल और जाति के नियमानु-
सार यह रीति या रहम जिससे स्त्री और पुरुष में पति पत्नी
का संबंध स्थापित होता है । विवाह । वि० दे० “विवाह” ।
उ०—(क) वदे पदाये कयु नदी माझ भक्ति भा जान ।
व्याह भादे काले कैषा कृषा लान ।—कबीर । (ग) दिन
दिमयि-मुना-मिर-व्याह । मिमिर गुग्गद प्रभु जनम
उज्जह ।—गुलसी ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

पट्या—विवाद । उपपन्न । परिणय । उद्वाह । उपपाम ।
हारारिषद । पुनिरिषद । वारकम ।

व्याहना—क्रि० [सं० विहार] जिसके साथ विवाह हुआ हो ।

जैसे,—व्याहना भोजन ।

व्य० पु० पति ।

व्याहना—क्रि० सं० [सं० विवाह + ना (प्रत्यय)] [सं० व्याह]

(१) देन, काल और जाति की रीति के अनुसार पुरुष को
किसी स्त्री को अपनी पत्नी या स्त्री का किसी पुरुष को
बदना पति बनाना । उ०—(क) ताल हाँस भय बाज
आये कदरा सब कोई नाच्ये हो । जहि रँग दुलहा ब्यारन
आयो तेहि रँग दुलहिन राख्ये हो ।—कबीर । (ग) वैश
मास पूर्णों को शुभ दिन शुभ नउत शुभ पार । व्याधि हई
हरि देवि स्वमयी बाटयो मुख जो अपार ।—मूर ।

संयो० क्रि०—लेना ।

(२) किसी का किसी के साथ विवाह-संबंध कर देना ।
जैसे,—उसने उसकी अपनी लड़की व्याह दी ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

व्यौगा—छंदा पु० [देश०] लड़कों का एक भोजन जिससे चमार
घमड़े को रगड़ा देकर सुलहाते हैं । यह रीति के भाहार का
होता है, पर इसका अगला भाग अधिक पीड़ा होता है ।

व्यौचन—क्रि० प्र० [सं० विकृषन, प्रा० विचन] (१) हाथ, पैर,
उँगली, गरदन आदि घड़ से अतिरिक्त किसी अंग के एक
बारगी हाँके के साथ मुड़ जाने या देदे ही जाने से मर्तों का
स्थान से हट जाना, जिससे पीड़ा और व्यथन होती है ।
गुरकना । जैसे,—पैर व्यौचन । (२) किसी अंग का एक
बारगी झुपर उधर मुड़ जाना जिससे पीड़ा हो ।

संयो० क्रि०—जाना ।

व्यौच्यी—छंदा सी० [हि० वौचन] उलझा । पसल । कै ।

व्यौत—छंदा सी० पु० [सं० व्यवरण] (१) व्यवस्था । हाव । सामका ।
माजरा । व्योरा । विवरण । उ०—है छिगुनी पहुँची निकल
अति दीनता दिगाय । बलि बामन को व्यौत मुनि को बलि
नुमहि पयाय ।—बिहारी । (२) कोई काम करने का रंग ।
हथ । चिपि । विधान । तरीका । साधन-व्योता ।
(३) मुक्ति । उपाय । उ०—(क) मारिप कागरी मोहि
है ते छिर मेरे ही कैलिकी व्यौत बतावन ।—बेनी ।
(ग) प दई पैसां कटु बट व्यौत तु देते भवेमिन के रंग
दरंग ।—पद्माकर । (घ) भाषोजन । भूमिका । उपपन्न ।
बिगी काम को करने को मयारी । जैसे,—यह कार बटने
की व्यौत कर रहा है ।

मुद्रा—व्यौत बधना = अक्षयन करना ।

(५) संयोग । अवसर । मौका । उ०—छाहि रसो बकि,
मुषराज रसो तकि, और चाहि रसो बकि बने व्यौत अन-
बन के ।—गुप्त । (६) प्रबंध । हुनताम । व्यवस्था ।
रीज । जैसे,—मुझे अपनी व्यौत तो कर छी, और किसी
को चाहे निके या न निके ।

क्रि० प्र०—करना ।—पैदान ।

मुहा०—ज्योति खाना = टोक इंतजाम बैठना । व्यवस्था अनुकूल पड़ना । ज्योति फैलना = दे० “ज्योति खाना” ।

(७) प्राप्त सामग्री से कार्य के साधन की व्यवस्था । काम पूरा उतारने का हिसाब कितना । जैसे,—कपड़ा तो कम है, पूरे कुरते की धाँतें कैसे करें ?

मुहा०—ज्योति खाना = पूरा हिसाब कितान बैठना । ज्योति फैलना = दे० “ज्योति खाना” ।

(८) साधन या सामग्री आदि की सीमा । समाई । जैसे,—जहाँ तक ज्योति होगा, वहीं तक न खर्च करेंगे । (९) पद-नावा पनाने के लिये कपड़े की काट छँट । तरात । किता ।

यी०—कतरज्योति ।

ज्योतिषा-कि० तं० [हि० ज्योति] (१) कोई पहनावार बनाने के लिये कपड़े को नापकर काटना छँटना । नाप से कतरना । उ०—(क).....मोटो एक धान आयो राख्यो है विछाड़ के । लायो बैगि बाही क्षण मन की प्रवीन जानि, लायो दुख आनि ज्योति लई है सिमाइ के ।—प्रिया । (ख) जीयो जरासंधि यदि छोरी । युगल कण्ठ विदारि भाट करि लखनि छुरी संघियोरी..... । कम्बो न काहू को करे बहुनि बहुनि और एक ही पाइ है इक पग पकरि पछायो । सूर स्वामी अति रिखि भीम की भुजा के मिस ज्योतिष यसन ज्यों सुत तन कायो ।—सूर । (ग) दरजी किते तिते धनगरजी । ज्योतिहि पड़ पट निमि वृष भरजी ।—गोपाल । (२) मारना । काटना । मार डालना । (बाजारी)

ज्योतिषा-कि० तं० [हि० ज्योतिष का प्रेरण०] दरजी से नाप के अनुसार कपड़ा काटना ।

ज्योपास-संज्ञा पुं० दे० “ज्योपास” ।

ज्योपासी-संज्ञा पुं० दे० “ज्योपासी” ।

ज्योतना-कि० तं० [गं० विवरण] (१) गुप्ते या उल्लेखे हुए बालों को भलग भलग करना । उ०—वेई फर ज्योतिषि वेई ज्योरो कर न विचार । जिनदी उरसो भों दिव्योतिगदी मुखेयार ।—विहारी । (२) सूत या तागे के रूप की उलसी हुई वस्तुओं के तार तार भलग करना ।

ज्योरा-संज्ञा पुं० [हि० ज्योरा] (१) किसी घटना के अंतर्गत एक एक बात का उल्लेख या बयान । विवरण । तफासी । उ०—एक लड़के ने पेट गिरने का ज्योरा ज्यों त्यों कहा ।—लखन ।

यी०—ज्योरावार = एक एक बात के उल्लेख के साथ । सविस्तर । विस्तार के साथ ।

(२) किसी विषय का अंग प्रत्यंग । किसी एक विषय के भीतर की सारी बात । किसी बात को पूरा करनेवाला एक एक संद । जैसे,—सब १०० खर्च हुआ, जिसका ज्योरा नीचे लिखा है ।

यी०—ज्योरावार ।

(३) वृत्त । वृत्तंत । हाल । समाचार । उ०—उसने वहाँ का सब ज्योरा कह सुनाया ।—लखन ।

ज्योराय-संज्ञा पुं० दे० “ज्योराय” ।

ज्योरा-संज्ञा पुं० [हि० ज्योरा] लेन देन का व्यापार । रूपया कृण देना । उ०—कृण में निपुण व्याज लेने में निपुण भवे, ज्योहर निपुण रसंग नौड़ी की कमाई है ।—रघुराज ।

मुहा०—ज्योहर चलाना = सूद पर रूपया देना । महाजनी करना । **ज्योहरा-संज्ञा** पुं० [हि० ज्योहरा] सूद पर रूपया देनेवाला । हुंडी चलानेवाला ।

ज्योहरिया-संज्ञा पुं० [सं० ज्योहरा] सूद पर रूपय के लेन देन का व्यापार करनेवाला । महाजनी करनेवाला । उ०—(क) अब आनिय ज्योहरिया योली । तुरत देखें मैं धैली खोली ।—तुलसी । (ख) जेहि ज्योहरिया कर ज्योहार । का लेइ देष जो टेरहि वारु ।—जायसी ।

ज्योहार-संज्ञा पुं० दे० “ज्योहार” ।

ज्योहर-संज्ञा पुं० दे० “ज्योहर” ।

ज्योहरिया-संज्ञा पुं० दे० “ज्योहरिया” ।

ज्योहार-संज्ञा पुं० दे० “ज्योहार” ।

ग्रज-संज्ञा पुं० दे० “ग्रज” ।

ग्रजनक्ष-कि० तं० [सं० ग्रजन] जाना । चलना । गमन करना । उ०—(क) ग्रजति ग्रजेस के नियेस ‘सुयनेस’ पैस, चक्षुहृत ग्रजन विवकृत भृकुदि बंक ।—भुवनेश । (ख) अब न ग्रजहु ग्रज में ग्रज प्यारे । हमरे भाय विवस पयु धारे ।—रघुराज । (ग) योद्धम कय कृष्ण सुयसार । हावत कला राम अवनार । योद्धस तजि हावत बस भजहु । समाधान कर नहि घर ग्रजहु ।—रघुराज ।

ग्रजवाद्नी-संज्ञा स्त्री० [सं० ग्रज + वाद्नी ?] एक प्रकार का आम जिसका पेड़ लता के रूप का होता है । इसे रामगुठी भी कहते हैं ।

ग्रज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) वृषमूल । (३) अर्क । आरु का पीया । (४) तिथि । (५) दिन । (६) घोड़ा । (७) चौदहवें मनु औषध के पुत्र का नाम । (मार्त० पु०) (८) एक रोग ।

ग्रज-संज्ञा पुं० [सं० ग्रज] (१) एक मात्र निष्प चेतन माला जो जगत का कारण है । मन, चित्त, आनंद-स्वरूप नाप जिसके अविराग और जो कुछ प्रतीत होता है, सब अस्मत् या मिथ्या है ।

विशेष—ग्रज जगत् का कारण है, यह ग्रज का तत्त्व लक्षण है । ग्रज सच्चिदानंद, असंद, निष्प, निर्गुण, भद्रिणीय इत्यादि है, यह उसका स्वरूप लक्षण है । जगत् का कारण होने पर

मी गैसी कि सार्व्य की प्रकृति या 'वैसेपिक' का परमाणु है, उस प्रकार ब्रह्म परिणामी या धारमक नहीं। यह जगत् का सभित—निमित्तोपादान विधित्त कारण है; जैसे मकड़ी जो जाले का निमित्त और उपादान दोनों बड़ी जाल सज्जनी है। मारानां यह कि जगत् ब्रह्म का परिणाम या विकार नहीं है, विधित्त है। इसी वस्तु का कुछ और हो जाना विकार या परिणाम है। उसका और कुछ प्रतीत होना विवर्त है। जैसे,— दृष्ट का दृष्ट हो जाना विकार है, रस्मी का सौं प्रतीत होना विवर्त है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, अतः मिथ्या या धम रूप है। ब्रह्म के अनिरिक्त और कुछ सत्य नहीं है। और जो कुछ दिखाई पड़ता है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वैश्य आसत्यसु के अनिरिक्त और किसी वस्तु की सत्ता वा स्थान भेद के रूप में, न सत्तामीय भेद के रूप में और न निशामीय भेद के रूप में मिथ हो सकती है। अतः कुछ अर्द्ध रति में ज्ञानमा ब्रह्म का र्जन (स्वगत भेद) नहीं है, अपने को परिचित और माया-विनिष्ट समझना हुआ ब्रह्म ही है। 'मम' पदार्थ केवल एक ही हो सकता है। दो मम पदार्थ मानने से दोनों को देन या काज से परिचित मानना पड़ेगा। नाम और रूप की उत्पत्ति का ही नाम रहित है। नाम और रूप ब्रह्म के अवयव नहीं, क्योंकि वह तीनों प्रकार के भेदों से रहित है। अतः अर्द्ध ज्ञान ही सत्य ज्ञान है, ज्ञेय या नामात्म्य ज्ञान भ्रमण है, धम है। 'ब्रह्म' का सत्यक निरूपण करनेवाले आदि ग्रंथ उपनिषद् हैं। उनमें 'मेनि' 'मेनि' (यह नहीं, यह नहीं) बंदक ब्रह्म प्रपंचों से परे कहा गया है। 'तत्त्वमसि' इस वाच्य द्वारा भा मा और ब्रह्म का अभेद स्पष्टित किया गया है। माग गर्वपी इस ज्ञान का प्राचीन नाम 'ब्रह्मविद्या' है, जिसका उपदेश उपनिषद् में स्थान स्थान पर है। यति ब्रह्मण्य का स्वरचित्त रूप में प्रतिपादन स्थान द्वारा 'ब्रह्मण्य' में हुआ, जो वेदां दर्शन का साधारण हुआ। ६० "वेदान्त"। (३) द्वैध। परमात्मा। (३) आत्मा। वीतव्य। जैसे,—यमा मुक्तता सज्ज घटे, विना करो। (४) ब्रह्मण्य (विशेषः समस्त वही में)। जैसे,—ब्रह्महोरी, ब्रह्महवा। उ०—यम न मम कुछ मम करिआई। माय वही सोउ भुजा उड़ाई—गुणसी। (५) ब्रह्म (समाग में)। जैसे,—ब्रह्ममुता, ब्रह्मस्वभा। (६) ब्रह्मण्य जो मन्दर प्रेक्ष हुआ हो। ब्रह्मण्य भूत। ब्रह्मण्य। उ०—गामु मुता रति मुक्ति विताता। तर्हि मयो हक ब्रह्मकताता।—रघुनाथ।

मुद्रा—ब्रह्म ब्रह्मण्य—विशेष के द्वारा ब्रह्मण्य प्रेक्ष का स्वरचित्त होना।

(०) वेद। (१) एक ही संख्या। (२) कतिन उपोदित में १० संकी से से वर्षमर्षी वीग जो मय कापी के निम्न

हुम कहा गया है। (१०) संगीत में ताल के पार 'किने' से एक।

ब्रह्मकन्यका, ब्रह्मकन्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्रह्मा की स्वर, सारस्वती। (२) भारंगी नाम की पृथी जो दया के रूप में आती है। मायो बूरी।

ब्रह्मकर्म—संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्मकर्म] (१) वेद विहित कर्म (२) ब्रह्मण्य का कर्म।

ब्रह्मकला—संज्ञा स्त्री० [सं०] दाक्षायनी।

ब्रह्मकल्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा मृग। (२) उतना समय जितने में एक ब्रह्मा रहने हैं।

ब्रह्मकांड—संज्ञा पुं० [सं०] वेद का ४६ भाग जिसमें ब्रह्म की सीमाओं की गई है और जो ब्रह्मकांड से प्रसिद्ध है। ज्ञानका अर्थमा।

ब्रह्मकाय—संज्ञा पुं० [सं०] एक विशेष जाति के देवता।

ब्रह्मकाष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] लून का पेड़। ब्रह्मलून।

ब्रह्मकुशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा।

ब्रह्मकूर्च—संज्ञा पुं० [सं०] रजस्वला के रसों या इसी प्रकार की और अशुद्धि दूर करने के निधे एक मल जिसमें एक दिन मिश्राहार रहकर दूसरे दिन पंचांग्य दिया जाता है।

ब्रह्मकोशी—पुं० स्त्री० [सं०] अजमोदा।

ब्रह्मसाय—संज्ञा पुं० [सं०] मातृगण और शयिप से उपर एक अर्द्ध (विष्णु पुं०)

ब्रह्ममणि—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुक्ति। मन्त्रा।

ब्रह्मगंड—संज्ञा स्त्री० [सं०] मल में से। जनेक की गोद।

ब्रह्मगोल—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मगंड।

ब्रह्महृदि—संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञोपवीत का जनेक की मुल्ल ली।

ब्रह्मब्रह्म—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म राक्षस।

ब्रह्मघानक—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मण्य की हत्या करनेवाला।

ब्रह्मघातिनी—[सं० स्त्री०] (१) ब्रह्मण्य की मातेराणी। (२) रजस्वला होने के दूसरे दिन पृथी की संज्ञा (पुं० से विचार से)।

ब्रह्मगानी—[सं०] ब्रह्मण्य [सं०] ब्रह्मण्य की माय कायेवाला। ब्रह्महवा ब्रह्मण्य।

ब्रह्मघोष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेदवाच। (२) वेदवाच। उ०—भाति भाति बहो बहो मनि बाजित बहुधा मनी। ब्रह्मघोष पने मुहो उनु है गिरा लो की धरी।

ब्रह्मवृक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मवृक्ष। (उपनिषद्)

ब्रह्मवृक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मवृक्ष + वृक्ष = वृक्ष। यह मनी जने न जो ब्रह्मण्य को पुरा आदि करने के वारि में की जाल।

ब्रह्मवृक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वीग में एक ब्रह्मण्य का वम। धर्म को विना रहने का प्रतिबंध। धर्म से बचने की साधना।

विशेष—शुक्र धातु को विचलित न होने देने से मन और बुद्धि की शक्ति बहुत बढ़ती है और चित्त की चंचलता नष्ट होती है।

(२) चार आश्रमों में प्रथम आश्रम। आयु या जीवन के कल्याणनुसार चार विभागों में से प्रथम विभाग जिसमें पुरुष को स्त्रीसंयोग आदि व्यसनों से दूर रहकर केवल अध्ययन में लगा रहना चाहिए।

विशेष—प्राचीन काल में उपनयन संस्कार के उपरांत बालक इस आश्रम में प्रवेश करता था और आचार्य के यहाँ रहकर वेद शास्त्र का अध्ययन करता था। ब्रह्मचारी के लिये मद्य मांस ग्रहण, गंध द्रव्यसेवन, स्वादिष्ट और मधुर वस्तुओं का चाना, स्त्री-प्रसंग करना, मूल्य गीतादि देवना-मुनना सारोत यह कि सब प्रकार के व्यसन निषिद्ध थे। उसे अच्छे पवित्र गृहस्थ के यहाँ से शिक्षा लेना और आचार्य के लिये आवश्यक वस्तुओं का जुटाना पड़ता था। शिक्षा माँगने में गुरु का कुल, अपना कुल और नाना का कुल बचाना पड़ता था। पर यदि शिक्षा योग्य कोई गृहस्थ न मिलता तो वह नाना-मामा के कुल से माँगना आरंभ कर सकता था। नित्य समिध-काष्ठ वन से लाकर प्रातः सायं होम करना होता था। वह होम यदि छूट जाता तो अवकीर्णी प्रायश्चित्त करना पड़ता था। ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिये एकान्त भोजन आवश्यक होता था, पर क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी के लिये नहीं। ब्रह्मचारी के लिये शिक्षा के समय आदि की छोड़ सदा आचार्य की आज्ञा के सामने रहना कर्त्तव्य था। आचार्य न हों तो आचार्य्य पुत्र के पास, वह भी न हों तो अभिहोत्र की आज्ञा के पास रहना होता था।

ब्रह्मचर्य्य दो प्रकार का कहा गया है—एक उपबुवांज जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व सब दिनों का कर्त्तव्य है, दूसरा वैदिक जो आजीवन रहता है।

ब्रह्मचारिणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्रह्मचर्य्य मत धारण करनेवाली स्त्री। (२) दुर्गा। पार्वती। गौरी। (३) सरस्वती। (४) भारंगी बूढ़ी।

ब्रह्मचारी—संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्मचारिन्] [स्त्री० ब्रह्मचारिणी] (१) ब्रह्मचर्य्य का मत धारण करनेवाला। (२) ब्रह्मचर्य्य आश्रम के अंतर्गत व्यक्ति। स्त्री-संसर्ग आदि व्यसनों से दूर रहकर पहले आश्रम में विद्याभ्यास करनेवाला पुरुष। प्रथमाश्रमी।

ब्रह्मज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिरण्यगर्भ। (२) ब्रह्मा। (३) ब्रह्म से उत्पन्न जगत्।

ब्रह्मजटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] होने का पौधा। हृमनक।

ब्रह्मजन्म—संज्ञा पुं० [सं०] उपनयन संस्कार।

ब्रह्मज्वर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण का उपपति। (२) ईह।

ब्रह्मजीवी—वि० [सं० ब्रह्मजीविन्] श्रौत आदि कर्म कर जीविका चलानेवाला।

ब्रह्मज्ञ—वि० [सं०] ब्रह्म को जाननेवाला। वेदांत का तत्त्व समझनेवाला। ज्ञानी।

ब्रह्मज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म का बोध। पारमार्थिक सत्ता का बोध। हृदय जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय और एकमात्र शुद्ध निर्गुण चैतन्य की जानकारी। अद्वैत सिद्धांत का बोध। उ०—ब्रह्मज्ञान विनु नारि नर कहाँ न दूसरि पात।— तुलसी।

ब्रह्मज्ञानी—वि० [सं० ब्रह्मज्ञानिन्] परमार्थ तत्त्व का बोध रखनेवाला। अद्वैतवादी।

ब्रह्महृदय—वि० [सं०] (१) ब्राह्मणनिष्ठ। ब्राह्मणों पर भद्रा उत्पन्न करनेवाला। उ०—प्रभु ब्रह्महृदय देव ई जाना। मोहि हित पिता तजै भगवाना।—तुलसी। (२) ब्रह्म या ब्रह्मा संबंधी।

संज्ञा पुं० तत्त्व का पैदा। शब्दार्थ।

ब्रह्मताल—संज्ञा पुं० [सं०] १४ मात्राओं का ताल। इसमें १० आघात और ४ खाली रहते हैं।

ब्रह्मतीर्थ—संज्ञा पुं० [सं०] नर्मदा के तट पर एक प्राचीन तीर्थ (महाभारत)।

ब्रह्मत्व—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुद्ध ब्रह्म भाव। (२) ब्राह्मण्य। (३) ब्रह्म नामक कल्पिक होने का भाव या धर्म।

ब्रह्मदंड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण ब्रह्मचारी का डंडा। (२) तीन सिखावाला केतु। (३) ब्राह्मण का शाप।

ब्रह्मदंडी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक जड़ी जो जंगलों में प्रायः पाई जाती है। इसकी पत्तियों और फलों पर कटि होते हैं। घेक से इसे गरम और कड़वी तथा कफ और वातनाशक माना गया है।

पर्या०—अजंदी। कटपत्रफला।

ब्रह्मदूर्मा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवाइन।

ब्रह्मद्विज्ञा—संज्ञा स्त्री० [सं० ब्रह्मद्वि] वेद पढ़ानेवाला आचार्य्य।

ब्रह्मदान—संज्ञा पुं० [सं०] वेद-विद्या देना। वेद पढ़ाना।

ब्रह्मदाय—संज्ञा पुं० [सं०] वेद का वह भाग जिसमें ब्रह्म का निरूपण है।

ब्रह्मदाय—संज्ञा पुं० [सं०] दान का वेद। शब्दार्थ।

ब्रह्मदिन—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा का एक दिन जो १०० चतुर्दशियों का माना जाता है।

ब्रह्मदेया—वि० स्त्री० [सं०] ब्रह्मविद्या में दी जानेवाली (कन्या)।

ब्रह्मदेव्य—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण भैव। ब्रह्म राक्षस।

ब्रह्मदोष—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण को मारने का दोष। ब्रह्म-हत्या का दुरा प्रभाव। जैसे,—इस कुल में ब्रह्मदोष है।

ब्रह्मदोषी—वि० [सं०] वह जिसे ब्रह्महत्या लगी हो।

ब्रह्मद्वय—संज्ञा पुं० [सं०] गंगाश्रम।

(२) यह गाँव या भूमि जो राजा की ओर से माझग की गई हो।

प्रतापिह—रंग पुं० [मं० प्रकाशित] एक अक्ष जिसका उल्लेख रामायण और महाभारत दोनों में है। इस अक्ष का चलान अगस्त्य से सीधकर शोणाचार्य ने अर्जुन और अश्वत्थामा को सिलाया था।

प्रतापसती—रंग स्त्री० [मं०] सरस्वती नदी।

प्रतापसत्र—रंग पुं० [मं०] विविध प्रकार के वेदपाठ। महापत्र।

प्रतापसदन—रंग पुं० [मं०] यज्ञ में ब्रह्मा नामक ऋषिक का आसन जो धारणी काष्ठ का और कुल से उठा हुआ होता था (काथा० श्रौत०)।

प्रतापनभा—रंग स्त्री० [मं०] (१) ब्रह्मा जी की सभा। (२) ब्राह्मणों की सभा।

प्रतापनभाज—रंग पुं० [मं०] एक नया संभ्रातृ जिसके प्रत्येक पंगाल के राजा राममोहनराय थे। इसमें उपनिषदों में निम्नित एक अक्ष की उपासना और अनुपपन्न के प्रति आभूषण का उपदेश मुख्य है। अंग देश के नवतिरिक्तों में एक समय इसका बहुत प्रचार हो चुका था।

प्रतापसर—रंग पुं० [मं० प्रकाशित] एक प्राचीन सीध (महाभारत)

प्रतापस्यारणि—रंग पुं० [मं०] दसवें अनु का नाम।

विशेष—भागवत के अनुसार इनके सम्यंतर में विष्णुक्रमेण भवतार और इंद्र, यम, सुवासन, विरज इत्यादि देवता होते।

प्रतापमिर्दान—रंग पुं० [मं०] ज्योतिष की एक मिर्दान-पद्धति।

प्रतापसुत—रंग पुं० [मं०] मरिचि आदि ब्रह्मा के पुत्र।

प्रतापसुता—रंग स्त्री० [मं०] सरस्वती।

प्रतापसुचरिता—रंग स्त्री० [मं०] दुःख का दुःख नाम का पीषा। पहले तपस्वी लोग इसका कटुता रस पीते थे।

प्रताप—रंग पुं० [मं०] विष्णु की अनुपूर्वजनक मूर्तियों में से एक।

प्रतापगुप्त—रंग पुं० [मं०] (१) जनेऊ। यज्ञोपवीत। (२) श्याम का शारीरिक रंग जिसमें ब्रह्म का प्रतिगान है और जो वेदांग दर्शन का आधार है।

प्रतापगुप्त—रंग पुं० [मं०] (१) ब्रह्मा को उपास्य करनेवाला। (२) तान का एक नाम।

प्रतापदेव—रंग पुं० [मं०] गुण की बिना अनुमति के अंग को पड़ाया हुआ पाठ मुनकर भाष्यन करना। (मनु०)

प्रताप—रंग पुं० [मं०] ब्राह्मण का आंग। ब्राह्मण का घन।

प्रताप—रंग स्त्री० [मं०] (१) ब्राह्मणत्व। ब्राह्मण को प्राप्त करनेवाला।

विशेष—मनु आदि ने ब्रह्मप्राप्ति, मुरारि, चोरी और मृग-पत्तों के साथ मनुष्य को ब्राह्मणत्व कहा है।

प्रताप—रंग पुं० [मं०] प्रथम पाँच के १९ नक्षत्रों में

नक्षत्र जिसे कैपेली में कैपेल (Capella) बतते

लौंड—रंग पुं० [मं०] (१) चोरी के मुक्तों का समूह।

गोलक। संपूर्ण विश्व, जिसके भीतर अनेक लोक हैं।

विशेष—मनु ने लिखा है कि रचयन्तु भगवान् ने प्रथम दृष्ट्या से पहले जल की सृष्टि की और उसमें बीच बीच पड़ते ही सूर्य के समान प्रकाशवान् रश्मियों का गोल उत्पन्न हुआ। पितामह ब्रह्मा का इसी अंग था। गोलक में जन्म हुआ। उसमें अपने एक संस्था निवास करके उन्होंने उसके आधे भाग को देना दिया। यह अंग में स्वर्ग आदि लोकों की और अयोध्या में पूर्ण की रचना की। विश्वगोलक इसी ने प्रकाश कहा ब्रह्मा द्विष्ट्यागम से सृष्टि की कारिणी धुनियाँ में भी करी म उपनिर्गोमिक की यह कल्पना जगत्पति के आ विवर्तन से कुछ कुछ मिलती है जिसमें आदिम रश्मि गीहारिका मंडल या गोलक से सूर्य और प्रदीप प्रकाश की उत्पत्ति निरूपित की गई है।

(२) मत्स्यपुराण के अनुसार एक महादान जिसमें सो विश्वगोलक (जिसमें लोक, मोक्षपाल आदि चने रश्मि दान दिया जाता है। (३) गोपरी। कपान।

मुहा०—ब्रह्मांड चरकन = (१) मोक्षदा पदार्थ। (२) ताप या गरमी से गिर में शायद पीड़ा होना।

प्रताप—रंग पुं० [मं०] (१) ब्रह्म के तीन सगुण रूपों में से की रचना करनेवाला रूप। सृष्टिकर्ता। विधाया। नि

विशेष—मनुसमिति के अनुसार स्वयंभू भगवान् ने ज सृष्टि करके उसमें जो बीच पड़ा, उसी से उपनिर्गम उत्पन्न हुआ जिसके भीतर से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ ब्रह्मांड)। भागवत आदि पुराणों में लिखा है कि म विष्णु ने पहले महात्मा, अर्द्धकार, संवन्मात्रा आता प ईदियाँ और संवन्मात्रा हन मोक्ष कर्मों में से विस्तार रूप पारण किया। पृथ्वी में योगविद्या में जब उन्होंने शायन किया, तब उनकी माँमि से जो निष्पन्न, उस पर ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा के जन्म जाने जाने हैं इनके संबंध में मत्स्यपुराण में यह वच ब्रह्मा के शरीर से जब एक अर्धमं मुंदरी ब्रह्मा उत्पन्न लगे वे तब पर मोहित होकर उसे ताकने लगे। वह चारों ओर घूमने लगे। जिस वर जाँची, वहाँ देव निवे ब्रह्मा को एक चिर उपास्य होता। इस प्रकार चार मुँह हो गए।

ब्रह्मा के ब्रह्मात्मा द्वा मायम पुत्र हुए—मरिचि, अंतिर, दुर्गा, पुण्ड, मनु, प्रमेता, चरित, चरु

नारद । इन्हें ब्रह्मापति भी कहते हैं । महाभारत में २१ ब्रह्मापति कहे गए हैं । वे० "ब्रजब्रह्मापति" ।

पुराणों में ब्रह्मा वेदों के प्रकटकर्ता कहे गए हैं । कर्मानुसार मनुष्य के शुभाशुभ फल या भाग्य को गर्भ के समय स्थिर करनेवाले ब्रह्मा ही माने जाते हैं ।

(२) यज्ञ का एक कल्पिक । (३) एक प्रकार का धान जो बहुत जल्दी पकता है ।

ब्रह्माणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्रह्मा की स्त्री । ब्रह्मा की शक्ति ।

उ०—असिप दै दे सराईहि सादर उमा रमा महारानी ।—

तुलसी । (२) सरस्वती । (३) रेणुका नामक गंध द्रव्य ।

(४) एक छोटी नदी जो कटक के जिले में वैतरणी नदी से मिली है ।

ब्रह्मादनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] हंसपदी । रक्त लज्जालु ।

ब्रह्मानन्द-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म के स्वरूप के अनुभव का आनन्द ।

ब्रह्मज्ञान से उत्पन्न आनन्द ।

ब्रह्मावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रदेश का प्राचीन नाम । सरस्वती और द्वादशती नदियों के बीच का प्रदेश ।

विशेष—मनु ने इस देश के परंपरागत आचार कें मनु में श्रेष्ठ माना है ।

ब्रह्मासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यह आसन जिसमें वैदिक ब्रह्म का ध्यान किया जाता है । (२) संयोग देवपूजा में एक आसन ।

ब्रह्मास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का अस्त्र जो मंत्र से पवित्र करके चलाया जाता था । यह अमोघ अस्त्र सब अस्त्रों में श्रेष्ठ कहा गया है । (२) एक रक्षापत्र जो सन्निधान में दिया जाता है । यह रस पारे, गंधक, संतिग्ध और काली मिर्च के योग से बनता है ।

ब्रह्मिष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

ब्रह्मी-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की अंगरेजी शराब ।

ब्रह्मरक्ष-संज्ञा पुं० दे० "ब्राह्म्य" ।

ब्रह्म-वि० [सं०] ब्रह्म संबंधी । जैसे,—मास दिन ।

संज्ञा पुं० (१) विवाह का एक भेद । (२) एक पुराण ।

(३) नारद । (४) रामायण का एक धर्म निमके अनुसार बर्ण गुणकृत् से छोटे हुए ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए । (५) मत्स्य ।

ब्राह्मण-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० ब्राह्मणी] (१) चार वर्णों में सबसे श्रेष्ठ वर्ण । प्राचीन भारत के लोक-विभाग के अनुसार सबसे ऊँचा माना जानेवाला विभाग । हिंदुओं में सबसे ऊँची जाति जिसके प्रधान कर्म पढ़ने-पाठाने, यज्ञ, शान्ति-पूजन आदि हैं । (२) एक जाति या वर्ण का मनुष्य ।

विशेष—आर्यभट्ट के पुनरुत्थान में ब्राह्मणों की उत्पत्ति विराट् का मंत्र के मुख से बरी गई है । अध्यापन, अध्यापन, पठन, पाठन, दान और प्रतिग्रह ये छः कर्म ब्राह्मणों के

कहे गए हैं, इसी से उन्हें षट्कर्मों भी कहते हैं । ब्राह्मण के मुख में गड़े हुई सामग्री देवताओं को मिलती है; अर्थात् उन्हीं के मुख से वे उसे प्राप्त करते हैं । ब्राह्मणों को अपने उच्च पद की मर्यादा रक्षित रखने के लिये आचरण अत्यंत शुद्ध और पवित्र रखना पड़ता था । ऐसी जीविका उनके लिये निषेध है जिससे किसी प्राणी को दुःख पहुँचे । मनु ने कहा है कि उन्हें क्रतु, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यामृत द्वारा जीविका निर्वाह करना चाहिए । क्रतु का अर्थ है भूमि पर पड़े हुए अनारज के दानों को चुनना (उंच वृत्ति) या छोटी हुई बालों से दाने झाड़ना (शिल्पवृत्ति) । पिना मीने जो कुछ मिल जाय, उसे ले लेना 'अमृत' वृत्ति है । मिश्रा मीने का नाम है मृत वृत्ति । कृषि प्रमृत वृत्ति है और वाणिज्य सत्यामृत वृत्ति । इन्हीं वृत्तियों के अनुसार ब्राह्मण चार प्रकार के कहे गए हैं—कुशुलधाम्यक, कुमीधाम्यक, श्रृंगिक और अश्वस्तनिक । जो तीन वर्ष के लिये भक्षादि सामग्री संचित कर रखे उसे कुशुलधाम्यक, जो एक वर्ष तक के लिये संचित करे, उसे कुमीधाम्यक, जो तीन दिन के लिये रखे, उसे श्रृंगिक और जो नित्य संग्रह करे और नित्य व्याप, उसे अश्वस्तनिक कहते हैं । चारों में अश्वस्तनिक श्रेष्ठ है ।

आदिम काल में ब्रह्मण या वेदपाठी ऋषि ही ब्राह्मण कहलाते थे । ब्राह्मण का परिचय उसके वेद, गोत्र और प्रवर से ही होता था । संहिता में जो ऋषि आए हैं, धर्म ग्रंथों में उन्हीं के नाम पर गोत्र कहे गए हैं । धर्म ग्रंथों में प्रायः ही गोत्र गिनाए गए हैं ।

वर्ग्यो—द्विज । द्विजाति । अग्रजन्मा । शूद्रव्य । वाङ्मय । विप्र । मृशकंड । ज्येष्ठवर्ण । द्विजन्मा । वक्त्रज । मंत्र । वेद-वास्त । नय । गुरु । षट्कर्मों ।

(३) वेद का वह भाग जो मंत्र नहीं कहलाता । वेद का मंत्रान्तिक अंश । (४) निष्पु । (५) तिर । (६) भरि ।

ब्राह्मणक-संज्ञा पुं० [सं०] निष्प ब्राह्मण ।

ब्राह्मणव्य-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण का भाव, अधिकार या धर्म । ब्राह्मण-वन ।

ब्राह्मणमूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] केवल कहने पर को ब्राह्मण । कर्म और संस्कार से हीन ब्राह्मण ।

ब्राह्मणभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मणों का भोजन । ब्राह्मणों को खिलाता ।

ब्राह्मणपटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] भारंगी । भार्गवी ।

ब्राह्मणार्च्युत्सी-संज्ञा पुं० [सं०] सोमयाग में ब्रह्मा का सहकारी एक कल्पिक । (ऐतरेय ब्राह्मण)

ब्राह्मणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्राह्मण जाति की स्त्री । (२) बुद्धि । (महाभारत) (३) एक तीर्थ । (महाभारत)

ब्राह्मण्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण का धर्म या गुण ।

ब्राह्मण्य । (२) ब्राह्मणों का समूह । (३) धर्म ब्रह्म ।

अ

भ-हिंदी वर्षागला का चौबीसवाँ और पर्व का चौथा वर्ण। इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ है और इसका प्रत्यय संवाह, नाद और धोष है। यह महाप्राण है और इसका अल्पप्राण 'ब' है।

भैंस-संज्ञा स्त्री० दे० "भैंस"।

भैंकारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भुनगा। (२) एक प्रकार का छोटा मच्छर।

भंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तरंग। लहर। (२) पराजय। हार।

(३) खंड। टुकड़ा। (४) भेद। (५) कुटिलता। टेढ़ापन।

(६) रोग। (७) गमन। (८) जलनिर्गम। स्रोत। (९) एक नाग का नाम। (१०) भय। (११) दृष्टने का भाव

विनाश। विध्वंस। उ०—(क) अकिल विहूना सिंह उगो

गयो शासक के संग। अपनी प्रतिमा देखिके भयो जो तारा

को भंग।—कवीर। (ख) प्रभु नारद संवाद कहि मारा

मिलत प्रसंग। सुनि सुमीध भिताई बालि प्राण को भंग।—

सुलसी। (ग) देवराज मल-भंग जानि के बरस्यो प्रज

भाई। सूर दयाम राखे सय निज कर गिरि छै भए सहाई।—

सूर। (१२) बाधा। उच्छृति। अद्वयन। रोक। उ०—

(क) कबीर छुपा है कूकरी करत भजन में भंग। पाओ टुकड़ा

हारि के सुमन करो सुसंग।—कबीर। (ख) छादि मन

हरि विमुखन को संग। जिनके संग कहुदि उपजनि है

परत भजन में भंग।—सूर। (१३) देदे होने वा छुट

का भाव। (१४) लक्ष्म नामक रोग जिसमें रोगी के अंग

देदे और बेकाय हो जाते हैं।

यौ०—अभिसंग। कर्मभंग। गायभंग। प्रीयामंग। भूमंग।

प्रसवभंग। पक्षभंग। भंगवय। भंगसार्थ।

संज्ञा स्त्री० दे० "भंग"।

भंगकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरिवंश के अनुसार सत्राजिग

के पुत्र का नाम। (२) महाभारत के अनुसार राजा अभि-

शिष्य के पुत्र का नाम।

भंगह-वि० [हि० भंग + घट (भय०)] जो नित्य और बहुत अधिक

भंग पीता हो। बहुत भंग पीनेवाला। भंगही।

भंगना-वि० भ० [हि० भंग] (१) टूटना। (२) दबना। हार

मानना। उ०—कहि ग जाय छवि कवि मति भंगी। चपला

मनहुँ करति गति संगी।—गोपाल।

कि० सं० (१) सोदना। (२) दवाना। उ०—राम रंग

ही मे रंगेतना सोरी भंगिना रंगा दे रे। और रंग है निज

घटकीले, देतन देतन होत मटीले, नहीं भसीरी मदि

मरकीले, उन रंगन को भंगि दे रे।—देव स्वामी।

भंगरा-संज्ञा पुं० [हि० भंग + रा = का] भंग के रंग से जुना हुआ

एक प्रकार का मोटा कपड़ा जो पिछाने या घोंरा बनाने के काम में आता है।

संज्ञा पुं० [सं० भंगराज] एक प्रकार की घनस्पति जो बरसात

में विशेष कर प्रायः ऐसी जगह, जहाँ पानी का स्रोत बहता

है, वा कूट आदि के किनारे उगती है। इसकी पत्तियाँ

छोटी, लंबी, लंबी, कटावदार और मोटे दल की होती हैं,

जिनका ऊपरी भाग गहरे हरे रंग का और नीचे का भाग

हल्के रंग का सुंदरा होता है। इसकी पत्तियों को तिचो-

हने से काले रंग का रस निकलता है। वैद्यक में इसका

स्वाद कड़वा, चारपरा, प्रकृति क्ली, गरम तथा गुण

कफनाशक, रक्त-शोधक, नेत्ररोग और सिर की पीड़ा को

दूर करनेवाला लिखा है और इसे रसायन माना है। यह

तीन प्रकार का होता है—एक पीले फूल का जिसे स्वर्णभृंगार,

हरियास, द्वैत्रिय भादि कहते हैं; दूसरा सफेद फूल का

और तीसरा काले फूल का जिसे नील भृंगराज, महानील,

सुनीलक, महाभृंग, नीलपुष्प या दयामल कहते हैं। सफेद

भंगरा से प्रायः सब जगह और पीला भंगरा कहीं कहीं

होता है; पर काले फूल का भंगरा शब्द नहीं मिलता। यह

अल्प है और रसायन माना गया है। लोगों का विश्वास

है कि काले फूल के भंगरे के प्रयोग से सफेद रंग के बाल

सदा के लिये काले हो जाते हैं। सफेद फूल के भंगरे की दो

जातियाँ हैं—एक हरे बंडलवाली, दूसरी काले बंडलवाली।

भंगरया। भंगराज।

पठ्या०—भारंग। भृंगराज। केदारजन। रंगक। कुबेल-

वर्धन। भृंगार। भृंगराज। भंगरे।

भंगराज-संज्ञा पुं० [सं० भंगराज] (१) काले रंग की कोयल के

आकार की एक चिड़िया जो सिर से तुम तक १२ इंच लंबी

होती है और जिसमें ० इंच केवल पूँछ होती है। यह

भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में होती है। यह अल्प

सुरीली और प्रचुर बोली बोलती है और प्रायः सभी पशु-

पक्षियों की बोलियों का अनुकरण करती है। यह लक्ष्मी

भी है। इसका रंग विनम्र काला होता है, केवल पंख पर

दो एक पीछे का सफेद धारियाँ होती हैं। इसकी पूँछ सुन्दर

की पूँछ की तरह केचोनुमा होती है। यह प्रायः जाड़े में

अधिक देखा पड़ती है और कीड़े मकोड़े खाकर रहती है।

(२) दे० "भंगरा"।

भंगरया-संज्ञा स्त्री० दे० "भंगरा"।

भंगराया-संज्ञा स्त्री० [सं०] हलदी।

भंगराय-वि० [सं०] हलदी।

भंगरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] भंगरा।

मंगान-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली ।
 मंगार-छंदा पुं० [सं० भंग] (१) अमीन में का यह गद्दा जो वरसात के दिनों में आप से थाप हो जाना है और जिसमें वर्षा का पानी समाता है । (२) यह गद्दा जो कुर्मी बनाने समय पहले छोड़ा जाता है ।
 छंदा पुं० [रि० मंगि] घास फूस । कुड़ा करकट । उ०—
 (क) माछा फेरे कुछ नहीं दारि मुभा गल भार । ऊपर देल ही गया भीतर भरा भंगार ।—कबीर । (ख) वैष्णव भय तो क्या भया माछा पहिरी चार । ऊपर कछी छपेट के भीन भरा भंगार ।—कबीर ।
 भंगारो-छंदा स्त्री० [सं०] मछड़ ।
 भंगारपन-छंदा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा जिसने पुत्र की कामना से अतिप्रयत्न यज्ञ किया था और जिसे सौ पुत्र हुए थे ।
 भंगि-छंदा स्त्री० [सं०] (१) विच्छेद । (२) कुटिलता । टूटाई । (३) विन्यास । भंगनिवेता । भंडाज । (४) कलोल । लहर । (५) भंग । (६) व्याज । (७) प्रतिकृति ।
 भंगिनी-छंदा पुं० दे० “भंगरा” ।
 भंगी-छंदा पुं० [सं० भंगिन्] [स्त्री० भंगिनी] (१) भंगशील । नष्ट होनेवाला । (२) भंग करनेवाला । भंगकारी । उ०—
 रसना रसालिका रसति हंस मालिका रतन अपेति आनिका सो देव दुख भंगिनी ।—देव । (३) रेशमों के मुकाब से गाँथा हुआ चित्र का बेमरुदा आदि ।
 छंदा पुं० [सं० भंगि] [स्त्री० भंगिन्] एक अलुप्त जाति जिसका काम मल मूत्र आदि उठाना है ।
 वि० [रि० भंगि] भंगि पानेशाला । भंगिड़ी ।
 भंगिल-छंदा पुं० [सं०] शर्मद्विष की विकल्पा ।
 भंगुर-वि० [सं०] (१) भंग होनेवाला । नाशवान् । लीने,—
 लणभंगुर । (२) कुटिल । टूटा ।
 छंदा पुं० नदी का मोड़ या गुहा ।
 भंगुर-छंदा स्त्री० [सं०] (१) भंगविषा । भंगिल । (२) मिथुन ।
 भंगुरी-वि० [रि० भंग + री (क०)] जिसे भंग होने की व्याप्ति हो । बहुत अधिक भंग होनेवाला । भंगदु ।
 भंगुरा-छंदा पुं० [रि० भंग + रा (क०)] भंग की छाक का बना हुआ कपड़ा । भंगरा । भंगरा ।
 छंदा पुं० [सं० भंगुर] भंगरा । भंगुरा ।
 भंगुरा-छंदा पुं० [रि० भंग] भंग की छाक का बना हुआ कपड़ा । भंगरा । भंगरा ।
 भंगुर-वि० [सं०] [स्त्री० भंगुरा] भंगकारी । तोड़नेवाला ।
 भंगुर-छंदा पुं० [सं०] (१) भंगदु । भंग । (२) भंग । (३) भंग । (४) भंग । (५) भंग । (६) भंग । (७) भंग । (८) भंग । (९) भंग । (१०) भंग । (११) भंग । (१२) भंग । (१३) भंग । (१४) भंग । (१५) भंग । (१६) भंग । (१७) भंग । (१८) भंग । (१९) भंग । (२०) भंग । (२१) भंग । (२२) भंग । (२३) भंग । (२४) भंग । (२५) भंग । (२६) भंग । (२७) भंग । (२८) भंग । (२९) भंग । (३०) भंग । (३१) भंग । (३२) भंग । (३३) भंग । (३४) भंग । (३५) भंग । (३६) भंग । (३७) भंग । (३८) भंग । (३९) भंग । (४०) भंग । (४१) भंग । (४२) भंग । (४३) भंग । (४४) भंग । (४५) भंग । (४६) भंग । (४७) भंग । (४८) भंग । (४९) भंग । (५०) भंग । (५१) भंग । (५२) भंग । (५३) भंग । (५४) भंग । (५५) भंग । (५६) भंग । (५७) भंग । (५८) भंग । (५९) भंग । (६०) भंग । (६१) भंग । (६२) भंग । (६३) भंग । (६४) भंग । (६५) भंग । (६६) भंग । (६७) भंग । (६८) भंग । (६९) भंग । (७०) भंग । (७१) भंग । (७२) भंग । (७३) भंग । (७४) भंग । (७५) भंग । (७६) भंग । (७७) भंग । (७८) भंग । (७९) भंग । (८०) भंग । (८१) भंग । (८२) भंग । (८३) भंग । (८४) भंग । (८५) भंग । (८६) भंग । (८७) भंग । (८८) भंग । (८९) भंग । (९०) भंग । (९१) भंग । (९२) भंग । (९३) भंग । (९४) भंग । (९५) भंग । (९६) भंग । (९७) भंग । (९८) भंग । (९९) भंग । (१००) भंग ।

मग की यह बीड़ा जो बापु के कारण होती है ।
 वि० भंगक । तोड़नेवाला । जैसे,—भयभंग, दुःखभंग ।
 भंगनक-छंदा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें मूत्र देना हो जाता है ।
 लक्ष्या । भंग ।
 भंगना-कि० प्र० [सं० भंगन] (१) किसी वस्तु के संयोग अंगों का अलग अलग होना । विभक्त होना । टूटने का होना । टूटना । (२) किसी वस्तु के टूटने का होने के लिए से बढ़ा जाना । भुनना । जैसे,—रसना भंगना ।
 कि० प्र० [रि० भंगना] (१) घटा जाना । जैसे,—रस्मी का तागे का भंगना । (२) कागज के तलों का काँच पतने से मोड़ा जाना । भौंटा जाना ।
 भंग ठाढ़-कि० उ० [सं० भंगन] तोड़ना । टूटने का होना । उ०—
 उठहु राम भंगहु मयचापा । भंगहु राग जगत् संगता ।—
 गुलरी ।
 भंगनगिरि-छंदा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम ।
 भंगना-छंदा स्त्री० [रि० भंगना] कपड़े का एक भंग जो ताने को निरस्त रखने के लिये उसके किनारे पर लगाया जाता है । यह बाँस की तीन चिकनी, सीधी और रूढ़ लकड़ियों से बनता है जो पास पास समानांतर पर रहती हैं । इसी सीधों लकड़ियों के बीच की लकड़ियों में से ऊपर नीचे होकर ताना लगाया जाता है । यह बुननेवाले के सामने किनारे पर रहता है । भेंसरा ।
 भंगरा-छंदा स्त्री० [सं०] भंगपूर्ण का एक नाम ।
 भंगरा-छंदा-कि० उ० [रि० भंगरा] (१) भंगने का सम्बन्ध रूप ।
 आगे का भंगो में परिणत करना । टूटवाना । (२) वस्तु सिक्का आदि देकर दाने की मूल्य के छोटे सिक्के देना । भुनाना । जैसे,—रसना भंगरा ।
 कि० उ० [रि० भंगरा] भंगने का प्रेरणार्थक रूप । वस्तु को भंगने के लिये प्रेरणा करना वा निपुण करना । जैसे,—
 रसरी भंगरा । कागज भंगरा ।
 भंगरा-छंदा पुं० [सं०] यह लकड़ी जो रूढ़ के किनारे के भंगो का ओढ़े के ऊपर आड़ी रखी जाती है और जिस वा गुप्ती लगाकर घुंरे रिकारू जाले हैं ।
 भंगुर-छंदा पुं० [सं०] भंगरा नामक राग ।
 भंगुर-छंदा-वि०-छंदा स्त्री० दे० “भंगुरी” ।
 भंगुरा-छंदा पुं० [सं० भंगुर] भंगन ।
 भंगुरा-छंदा पुं० [सं०] भंगनक ।
 भंगुर-छंदा पुं० [सं०] भंगदु । वि० दे० “भंगदु” ।
 वि० [सं०] (१) लकड़ी का भंगी काँच बंधनेवाला । (२) भंग । (३) भंग । (४) भंग । (५) भंग । (६) भंग । (७) भंग । (८) भंग । (९) भंग । (१०) भंग । (११) भंग । (१२) भंग । (१३) भंग । (१४) भंग । (१५) भंग । (१६) भंग । (१७) भंग । (१८) भंग । (१९) भंग । (२०) भंग । (२१) भंग । (२२) भंग । (२३) भंग । (२४) भंग । (२५) भंग । (२६) भंग । (२७) भंग । (२८) भंग । (२९) भंग । (३०) भंग । (३१) भंग । (३२) भंग । (३३) भंग । (३४) भंग । (३५) भंग । (३६) भंग । (३७) भंग । (३८) भंग । (३९) भंग । (४०) भंग । (४१) भंग । (४२) भंग । (४३) भंग । (४४) भंग । (४५) भंग । (४६) भंग । (४७) भंग । (४८) भंग । (४९) भंग । (५०) भंग । (५१) भंग । (५२) भंग । (५३) भंग । (५४) भंग । (५५) भंग । (५६) भंग । (५७) भंग । (५८) भंग । (५९) भंग । (६०) भंग । (६१) भंग । (६२) भंग । (६३) भंग । (६४) भंग । (६५) भंग । (६६) भंग । (६७) भंग । (६८) भंग । (६९) भंग । (७०) भंग । (७१) भंग । (७२) भंग । (७३) भंग । (७४) भंग । (७५) भंग । (७६) भंग । (७७) भंग । (७८) भंग । (७९) भंग । (८०) भंग । (८१) भंग । (८२) भंग । (८३) भंग । (८४) भंग । (८५) भंग । (८६) भंग । (८७) भंग । (८८) भंग । (८९) भंग । (९०) भंग । (९१) भंग । (९२) भंग । (९३) भंग । (९४) भंग । (९५) भंग । (९६) भंग । (९७) भंग । (९८) भंग । (९९) भंग । (१००) भंग ।

नालियों पीतते हैं। भैंदतिला। उ०—सौँग संगीत भैंदताल
रहस होने लगा।—इंग्राअला।
भंडन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हानि। क्षति। (२) युद्ध। (३)
कवच।

भंडना—क्रि० सं० [सं० भंडन] (१) हानि पहुँचाना। बिगाड़ना।
(२) भंग करना। तोड़ना। (३) गड़बड़ करना। नष्ट अष्ट
करना। (४) बदनाम करना। अपकीर्ति फैलाना।

भैंडफोड़ी—संज्ञा पुं० [हि० भैंडा + फोड़ना] (१) मिट्टी के बर्तनों
को गिराना या तोड़ना फोड़ना। उ०—जय हम देत लेत
नहि छोरा। पाटे आह करन भैंडफोरा।—गि० दा०।

क्रि० प्र०—करना।—मचना।—मचाना।—होना।

(२) मिट्टी के बर्तनों का टूटना फूटना। (३) भेद खोलने
का भाव। रहस्योद्घाटन। भंडाफोड़ करना।

भैंडमोड़—संज्ञा पुं० [सं० भंडीर] एक कैंटीला छुप जिसकी पत्तियाँ
नुकीली, लंबी और कैंटीली होती हैं। यह जाड़े के दिनों में
उगता है। इसका फूल पीले के फूल के आकार का पीले
या पसंती रंग का होता है। फूल के सड़ जाने पर पोम्प
की तरह लंबी और कैंटी से युक्त छेंडी लगती है जिसमें पड़ने
पर काले रंग के पोस्त से और कुछ बड़े दाने निकलते हैं।
इन दानों को परने से तेल निकलता है जो जलाने और दवा
के काम आता है। इसके पीछे से पीले रंग का दूध निकलता
है जो प्राय और घोट पर लगाया जाता है। इसकी
जड़ भी, जोड़े कुन्तियों पर पीसकर लगाई जाती है।
इसके नरम बंडल की गूदी की तरकारी भी बनाई जाती है।
भटमोड़।

भैंडरिया—संज्ञा पुं० [हि० भंडरी] एक जाति का नाम। इस जाति
के लोग फलित ज्योतिष या सामुद्रिक आदि की सहायता
से लोगों को भविष्य बताकर अपना निर्वाह करते हैं और
दानादि महों का दान भी लेते हैं। कहीं कहीं इन
जाति के लोग तीर्थों में यात्रियों को खान और दर्शन आदि
भी कराते हैं। इस जाति के लोग माने तो ब्राह्मण ही माने
हैं, पर ब्राह्मणों में मिलकुल अंतिम श्रेणी के समझे जाते
हैं। भट्ट।

वि० (१) दाँगी। पारखी। (२) धूर्त। भण्डार।

संज्ञा स्त्री० [हि० भंडा + घा (अवयव०)] दीवारों बगवा
उनकी संधियों में बना हुआ वह तास या छोटी कोठी
जिसके आगे छोटे छोटे दरवाजे लगे रहते हैं और जिनमें
छोटी मोटी खीरें रखी जाती हैं।

भैंडसार, भैंडसाली—संज्ञा स्त्री० [हि० भैंड + साला] वह
गोदान जहाँ साला अन्न सारीकर भैंसी में बेचने के लिये
हड़का किया जाता है। खरी। रसाल।

भंडा—संज्ञा पुं० [सं० भंड] (१) बर्तन। पात्र। भाँडा। उ०—

हम गृह फोहहि शिखु बहु भंडा। तिनहि न देत नेक कोउ
दंडा।—गोपाल। (२) भंडारा। (३) भेद। रहस्य।

मुहा०—भंडा फूटना = गुम रहस्य खुलना। भेद खुलना।
भंडा फोड़ना = गुम रहस्य खोलना। भेद खोलना।

(४) वह लकड़ी या बला जिसका सहारा लगाकर मोटे और
भारी बलों को उठाते या खसकाते हैं।

भैंडाना—क्रि० सं० [हि० भैंड] (२) उच्छल-वृद्ध मचाना। उप-
द्रव करना। (२) दौड़ धूप करके वस्तुओं को न्यस्तन्यस्त
करना या तोड़ना फोड़ना। मष्ट करना। उ०—भेद धरनि
सुन मछो पदायो। मज की बांधिन पुरनि धरनि घर बाट
घाट सब सार मचायो। हरिकन मारि भजन वाहु के काहू
को दूधि वृष लुटायो। काहू के घर करत दवाई हैं ज्यों त्यों
करि पकरन पागो। अब तो इन्हें पारुकि बाँधोगी इहि सज
नुम्हरो गाँव भैंदायो। सूरदास भुज गहि भैंदरानी बहुदि
काहू सपने दिग आयो।—सूर।

भंडार—संज्ञा पुं० [सं० भंडार] (१) कोष। खजाना। (२)
अन्नादि रखने का स्थान। कोठार। (३) वह स्थान जहाँ
व्यंजन पकाकर रखे जाते हैं। पाकघाटा। भंडारा। उ०—
कबीर जैनी के हिये बिही को हृत्पाट। साधन व्यंजन
मोक्षहित संपिंड सेहि भंडार।—कबीर। (४) पेट। उदर।
(५) अमिकोण। (६) दे० “भंडारा”।

भंडारा—संज्ञा पुं० [हि० भंडार] (१) दे० “भंडार”। (२)
समूह। छुंद। उ०—बान करत जल पाप भवारा। कोटि
जन्म कर जरा भैंदारा। नास होहि छिन मई महिपाला।
सत्य सत्य यह बचन रत्नाला।

क्रि० प्र०—हुड़ना या जुटना।—जाँड़ना।

(३) साधुओं का भोजन। वह भोजन जिसमें संन्यासी और
साधु आदि शिलापु जाते हैं। उ०—विजय क्रियो भरि
आनंद भारा। होय नाथ इत ही भंडारा।—रघुनाथ।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—होना।—हुड़ना।—जाना।
(४) पेट। उ०—उक पुष्ट ने अपने स्थान से उचक कर
चाहा कि एक हाथ बटार का देसा लगाए कि भंडारा
खुल जाय, पर पथिक ने हाथ कर उसके हाथ से बटार
छीन लिया।—अयोध्यासिंह।

भंडारी—संज्ञा स्त्री० [हि० भंडार + री (प्रत्य०)] (१) छोटी कोठरी।
(२) कोस। खजाना। उ०—दीव पासा कपट बनाये।
धर्मपुत्र को बुवा खेलये। तिन दारी सय भूमि भैंदारी।
हारी बहुरि दोषदी नारी।—सूर।

संज्ञा पुं० [हि० भंडार + री (प्रत्य०)] (१) खजाना।
कोषागार। उ०—(क) पेर ताह सम दृग न कोऊ।
समुंद मुनेर भैंदारी दोऊ।—जायसी। (ख) भूमि देव
देव देखि ना देव मुचारी। बाँक साँव नेक लुका

पट्टाभारि भंडारी।—मुलसी। (२) सोमालाने का दारोगा।
भंडारी का प्रधान अथवा। उ०—पद्मावति पहुँ आह
भंडारी। कहेसि भंडार मई परी मैजारी।—जायसी। (३)
रसोइया। रसोइंदार।

भंडिर-मंडा श्री० [सं०] छहर। वीथि।
भंडिर-मंडा पु० [सं०] एक गोपब्रह्म ज्ञान का नाम।
भंडिर-मंडा पु० [सं०] सिरसा। सिरसि।
भंडिर-मंडा पु० [सं०] (१) सिरसा का पेड़। (२) दूत। (३)
सिली।

वि० भण्डा। शुभ।

भंडोतकी-मंडा श्री० [सं०] मजीठ।
भंडोत-मंडा पु० [सं०] (१) चौलाई। (२) सिरसा। (३) घट।
(४) भैंसभंड।
भंडोतलनिका-मंडा श्री० [सं०] मजीठ।
भंडोत-मंडा श्री० [सं०] मंडिहा। मजीठ।
भंडूक-मंडा पु० [सं०] (१) भाङ्गुर नामक मछली। (२) द्यो-
नाक।

भंडेरिया-मंडा पु० दे० “भैंसरिया”।
भंडेरियावन-मंडा पु० [दि० भंडेरा + वन (पथ०)] (१) डोंग।
महारी। (२) चालासी।
भंडोझा-मंडा पु० [दि० भंडो] (१) भौंदो के गाने का गीत। देसा
गीत जो राज्य अथवा राष्ट्र समान में गाने के योग्य न
माना जाय। (२) हाथ आदि रसों की साधारण अथवा
निम्न-कोटि की कविता।

भैंसूरी-मंडा श्री० [दि० बस] बस की जाति का एक पेड़
जिसे फुलाई भी कहते हैं। दे० “बुवाई”।
भैंसाना-कि० प्र० [दि० भैंस + ना (पथ०)] [मंडा भैंसीका]
अपभ्रंश होना। डरना।

भैंसा-मंडा पु० [सं० भैंस] बिल। छेड़।
भैंसाका-मंडा श्री० [दि० भैंस] अधिक अथवा की गों की भण
(वाक्य)।

भैंसाना-कि० प्र० [पु०] गी आदि वस्तुओं का बिलाना।
बैलाना। उ०—गरने में गरुं खल्ले देलन हौं मुनु भावन
रैउ जगन्मति को मर। का मुगुवरन के भाव बनाय के
सोई हूँय गरी पकॉ पर। गी लमि गाव भैंसाय बही
कवि देव कपू न मयों हवि को मर। जाति परी गी न
काय बरु न बरुं को वृं न काविरि को मर।—देव।

भैंसीरी-मंडा श्री० [सं०] एक शक्ति शिवाई पूँछ लंबी और
चपली, रंग लाल और बिजकुल सिरों के सामान दादुलक
का वर होने के। इसकी ओंसे दिवों की ओंसे की गह
बही और उगार निहकी रहती है। यह वर्ण के अंग में
दिखने रहती है और गार, बासी के बिनाये बासी के उगार

उद्गा है। पकड़ने पर यह अपने पों के बिलाने पर
मन बाध करता है। इसे तुलाहा भी कहते हैं। उ०—
बाळ भवला के तुम धाई। उदत भैंसीरी पकरी जाई।—
सूर।

भैंसेरि-मंडा श्री० [दि० भैंसरा] भय। डर। उ०—गात्र
मात्र को बाळक पेटि है। धारन छात्रन पूरा हो। मुनि
सुंदर सानि सकेल सुवारी के बीज प्रमान उगार हो।
गुन जान गुमान भैंसेरि बड़ी कष्टवदुम कायन मार हो।
कलिकाल अचार विचार हरी नहीं। सूस कपू धमपरा की।—
मुलसी।

भैंसर, भैंसरान-मंडा पु० [सं० भैंसर] (१) बड़ी मज्जली।
सारंग। वंगर। (२) बरें। निधु।

भैंसना-कि० प्र० [सं० भैंस] (१) गुमना। सिरसा। उ०—
(क) छंवर सुपुत्र मन भय से भैंस कहा करि मूर्ख को
लाकी भावना-भयन में।—मनिराम। (ग) और जो उ०
निदि पातक उषों भैंस वषाम नाम सेरोई प्रपन है।—बैरा।
(२) चहर लगाना। उ०—देशवदास भात वाम भैंस
भैंसर जल केसि में जलजमुली जलन सी कीहिये।—कैला।

भैंसर-मंडा पु० [सं० भैंसर, वा० भैंसर, प्रा० भैंसर] (१) भीत।
उ०—बुद्धा पराई गीर सो बिन सो चित मिहाय। भैंसर
पिलंब कमल रस भय कैने उड़ि जाय।—कवीर। (२)
पानी के बहाव में वह स्थान जहाँ पानी की लहर एक दूसरे
पर चलाकर पृथकी है। ऐसे स्थान पर यदि मनुष्य का
नाव आदि पहुँच जाय, तो उसके हूयने की संभावना रहती
है। भावनें। चहर। समझार। उ०—(६) तद्वि
विनिदक पीत पर उदर देन वा सीम। भासि मनोहर लेन
जनु जमुल भैंसर छवि छीन।—मुलसी। (ग) भाङ्गुर
मागी दिया भागानि उषों भायों, परी भय के भयन की
भय को भैंसर है।—कैला।

कि० प्र०—बुद्धा।

मुहा०—भैंसर में बुद्धा का चरकर में पत्ता। पशु जन्म।
भी०—भैंसरकी। भैंसरजान। भैंसर भीस।
(१) गहवा। गने। उ०—उरन भैंसी भैंसर मांसी लंब
मनि की कोनि। भृगुधरन हृदय बिहने राद, गीर जग
बहु भौंनि।—सूर।

भैंसरपत्ती-मंडा श्री० [दि० भैंसर + पत्ती] भैंसे का पीतन की
बद बड़ी जो बीच में हनु प्रकाश मंदी रहती है कि वह
मिचर जादे, उधर गहज में मुहार्द जा गहकी है। पर मन
वस्तुओं के गने की सिक्की या वहे आदि में लगी रहती है।
पगु जाने जिन्ने चहर लगाने, पर हकी गहापरा की
उगरी निहकी में नत नहीं बहने पत्ता। बुद्धेयान
हुंरी या बड़ी।

भैरवगीत-संज्ञा पुं० दे० "भ्रमरगीत" ।
 भैरवजाल-संज्ञा पुं० [हि० भैर + जाल] संसार और सांसारिक
 हावड़े बड़े। भ्रमजाल । उ०—भैरवजाल में आसन
 माड़ा । चाहत सुख दुख संग न छाड़ा ।—कबीर ।
 भैरवभोज-संज्ञा स्त्री० [हि० भैर + भोज] वह भोज जो भैर के
 समान घूम फिरकर मोगी जाय । तीन प्रकार की भिक्षा में
 से दूसरी । उ०—भैरव भोज मध्यम कही सुनी मंग चित
 लाय । कहे कबीर जाको गही मध्यम माहि समाय ।—
 कबीर ।

भैरव-संज्ञा पुं० दे० "भौता" ।
 भैरवे-संज्ञा स्त्री० [हि० भैरवा] (१) पानी का चकर । भैरव ।
 (२) जंतुओं के दारी के ऊपर वह स्थान जहाँ के रोतूँ और
 बाल एक केंद्र पर घुमे हुए हों । बालों का इस प्रकार का
 घुमाव स्थान-भेद से घुम अथवा अनुभूत लक्षण माना जाता
 है । उ०—रूपाम उर सुधा दह मानौ । मलय चंद्र सेर
 कीड़े बरन यह जानौ । मलय तनु मिलि लसति सोमा
 महा जाल नैभीर । निरखि लोचन भ्रमनि पुनि पुनि धरन
 नहि मन धीर । उरज भैरवी भैरव, मानौ मीन मणि की
 कानि । श्रुतधरन हृदय चिह्न ये सब जीव जल यह भौति ।
 मूर ।
 संज्ञा स्त्री० [हि० भैरवा का भैरवा] (१) दे० "भौवर" ।
 (२) बर्तियों का सीरा लेकर घूम घूमकर घेचना । फेंती ।
 (३) पक्षर, कोनवाल या अन्य कर्मचारियों का प्रज्ञा की रक्षा
 के लिये चढ़ा लगाना । फेंती । गन । उ०—फिरे पोंच
 कुतार सु भैरवी । काँवे पाँडे चैपत वहि पैंती ।—
 जायसी ।

कि० प्र०—किना ।—जगाना ।
 (४) पत्रिका । (चिथी)
 कि० प्र०—देना ।
 भैरवाना०—कि० सं० [हि० भैरवा] (१) घुमाना । फिराना ।
 चकर देना । उ०—(क) रपारे चंद पूर्व फिर जाय । बहु
 कलस सों दिवस भैराव ।—जायसी । (घ) तेहि आनंद
 कई लात उठाई । गदि पद पटकें भूमि भैराई ।—गुलसी ।
 (२) भ्रम में डालना । उलझन में डालना ।
 भैरवारा०—वि० [हि० भैरवा + आरा (प्रत्यय)] भ्रमराशील । घुमने-
 वाला । फिरनेवाला । उ०—चिलग मान मानो ऊपे प्यारे ।
 यह मधुरा राजर की रावरी जे आरि ते कारे । तुम कारे
 सुफलक गुन बारे बारे मधुप भैरवारे । ता गुन दयाम अधिक
 छवि उपजन बसल नैन मणि बारे ।—मूर । (ख) छिपरन
 भावन भरिगनी निरति भैरवे मोर । दुरि गह भोगी गई
 फाति उठे बृष कोर ।—शं० सं० ।
 भ्रमना—कि० सं० [हि० भ्रमना] (१) पानी के ऊपर तैरना ।

जैसे,—भैरवा जहाज । (लघु०) । (२) पानी में डाला
 या फेंका जाना । (दे० "भसाना") ।
 भैरवा-संज्ञा पुं० दे० "भैरवी" ।
 भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नक्षत्र । (२) ग्रह । (३) राशि । (४)
 शुक्रवाच्य । (५) भ्रमर । भौता । (६) भूधर । पहाड़ । (७)
 अति । (८) छंद-शास्त्रानुसार एक गण का नाम जिसके
 आदि का वर्ण गुरु और शेष दो लघु होते हैं (शु) । भगण ।
 भइया-संज्ञा पुं० [हि० भइ + या (प्रत्यय)] (१) भाई । (२) एक
 आदर्शचक दण्ड जिसका व्यवहार प्रायः धारावालों के
 लिये होता है ।
 भउजारी-संज्ञा स्त्री० दे० "भौजारी" ।
 भक-संज्ञा स्त्री० [पु०] सहसा अथवा रह रहकर भाग के जल उठने
 अथवा वेग से धूर्ने के निकलने के कारण उत्पन्न होनेवाला
 दण्ड । इसका प्रयोग प्रायः "से" विभक्ति के साथ
 होता है । जैसे,—लंप भक से जल उठा ।
 भकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मक्षप्रकृता ।
 भकटाना-कि० प्र० दे० "भकसाना" ।
 भकडना-कि० प्र० दे० "भगरना" ।
 भकरांध १-संज्ञा स्त्री० [हि० भगरना अथवा भक १ + रांध] भनाज
 के सड़ने की गंध । सड़े हुए भनाज की गंध ।
 भकरांधा १-वि० [हि० भकरांध + या (प्रत्यय)] सड़ा हुआ (भय) ।
 भकसा १-वि० [हि० भकसाना या भकटाना] (व्याय पदार्थ)
 जो अधिक समय तक पड़े रहने के कारण कर्मका हो गया
 हो और जिसमें से एक विशेष प्रकार की दुर्गंध आती हो ।
 दुसा हुआ ।
 भकसाना-कि० प्र० [हि० भकसा] किसी व्याय पदार्थ का
 अधिक समय तक पड़े रहने अथवा और किसी कारण से
 बदबूदार और कर्मका हो जाना ।
 भकडाई-संज्ञा पुं० [पु०] बर्तों को डराने के लिये एक करिषत
 व्यक्ति । डीसा ।
 भकुछा-वि० [सं० भेड] सूई । मूढ़ ।
 भकुछाना-कि० प्र० [हि० भकुछा] चकपका जाना । घबरा जाना ।
 कि० सं० (१) चकपका देना । घबरा देना । (२) मूर्ख
 बनाना ।
 भकुछाई-संज्ञा पुं० [हि० भकुछा] मोटा गज जिसमें मोप में घसी
 बाँड़ी हुई जाती है ।
 भकुछाना-कि० प्र० [हि० भकुछा + छाना (प्रत्यय)] (१) छोटे
 के गज से मोप के मुँह में घसी भरना । (२) छोटे के गज से
 मोप के मुँह का भीतरी भाग माफ बनना ।
 भकुछाई-वि० दे० "भकुछा" ।
 भकुछा-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की रातियों का समूह जो
 विवाह की कन्या में दूध मानी जाती है । (पनिज स्त्री०) ।

पटपारि भँदारी।—मुलसी। (२) तोशाखाने का दासगा।
भँदारे का प्रधान अण्यहा। उ०—पद्यावति पहुँ आइ
भँदारी। कहसि मंदिर मई परी भँदारी।—जायसी। (३)
रसोह्या। रसोह्वार।

भंडि—संज्ञा स्त्री० [सं०] लहर। बीचि।

भंडित—संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रकार ऋषि का नाम।

भंडिर—संज्ञा पुं० [सं०] सिरसा। जित्तिप।

भंडिल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिरसा का पेड़। (२) दूत। (३)
सिली।

वि० अछा। शुभ।

भंडोलकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

भंडोर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चौलाई। (२) सिरसा। (३) बट।
(४) भंडभौड़।

भंडोरलतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

भंडोरो—संज्ञा स्त्री० [सं०] मंजिष्ठा। मजीठ।

भंडूक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाकुर नामक मछली। (२) दयो-
नाक।

भंडेरिया—संज्ञा पुं० दे० “भंडेरिया”।

भंडेरियावन—संज्ञा पुं० [हि० भंडेरिया + वन (वन्य०)] (१) डोंग।
मकारी। (२) चालाकी।

भंडौआ—संज्ञा पुं० [हि० भंड] (१) भौंदो के गाने का गीत। ऐसा
गीत जो सम्य अथवा छिद्र समाज में गाने के योग्य न
समझा जाय। (२) हास्य आदि रसों की साधारण अथवा
निम्न-कोटि की कविता।

भँवूरी—संज्ञा स्त्री० [हि० बवूर] बवूल की जाति का एक पेड़
जिसे फुलाई भी कहते हैं। दे० “फुलाई”।

भँवरना—कि० प्र० [हि० भव + रना (प्रत्य०)] [संज्ञा भँवरिया]
भयभीत होना। डरना।

भँभा—संज्ञा पुं० [सं० भसम्] बिल। छेद।

भँभाका—संज्ञा स्त्री० [हि० भंभा] अधिक अवस्था की स्त्री की भय
(भाजाक)।

भँभाता—कि० प्र० [भुनु०] गी आदि पशुओं का चिलाना।
रैमाना। उ०—सपने में गई सल्ल देखन हैं मुनु नाचत
नंद जसोमति को नट। या मुमुकाय के भाव वताय के
मेरोई ऐति खरो पकरो पट। तो छगि गाय भँभाय उठी
कपि देव बधू न मध्यां दधि को मट। जागि परी तो न
काहू कहू न कदंब को कुंज न काछिरी को तट।—देव।

भँभीरो—संज्ञा स्त्री० [भनु०] एक पक्षिगा जिसकी पूँछ लंबी और
पतली, रंग लाल और विरक्तुल सिरुत के समान पारदर्शक
घार पर होते हैं। इसकी आँखें टिकुरी की आँखों की तरह
बड़ी और ऊपर निकली रहती हैं। यह वर्षा के अंत में
दिखाई पता है और प्रायः पानी के किनारे घासों के ऊपर

उड़ता है। पकड़ने पर यह अपने पंखों को हिलाकर भन
भन शब्द करता है। इसे छुलाहा भी कहते हैं। उ०—
बाल अवस्था के तुम घाई। उदत भँभीरी पकरी जाई।—
सूर।

भँभेरिका—संज्ञा स्त्री० [हि० भँभेरना] भय। डर। उ०—तात
मातक को बालक पैल के पालत छालत पूंस को। मुनि
सुंदर सालि सकेलि सुवारि के चीन बडोरत उसर को।
गुन जान गुमान भँभेरि बड़ी कलपटुम। काठत मूलर को।
कलिकाल अचार विचार हरी नहीं सूर कष्ट धमपूत को।—
मुलसी।

भँभर, भँभरा—संज्ञा पुं० [सं० भनर] (१) बड़ी मनुमक्ती।
सारंग। डंबर। (२) बरें। भिड़।

भँवना—कि० प्र० [सं० भवय] (१) घूमना। किरना। उ०—
(क) लंपट छुनुप मन भव से भँवत कहा करि भूरि भाव
साकी भावना-भवन में।—मतिराम। (ख) और क्यों जगत
निशि पातक क्यों भँवत क्या नाम तेरोई जपत है।—केशव।
(२) चकर लगाना। उ०—कैशवदास भास पास भँवत
भँवर जल केलि में जलमुखी जलज सी होहिये।—केशव।

भँवर—संज्ञा पुं० [सं० भवर, प्रा० भमर, प्रा० भँवर] (१) भौंरा।
उ०—कुंदरत पाई खीर सौं चित सौं चित मिहाय। भँवर
विलंबा कमल रस भव कैसे उड़ि जाय।—कथीर। (२)
पानी के बहाव में वह स्थान जहाँ पानी की लहर एक-दूसरे
पर चकाकार घूमती है। ऐसे स्थान पर यदि मनुष्य या
नाव आदि पहुँच जाय, तो उसके डूबने की संभावना रहती
है। आमतौर पर चकर। यमकातर। उ०—(क) तपित
चिनिंदक पीत पट उदर रेल बर तीम। नाभि मगोहर छेत
जनु जमुन भँवर छवि छीन।—मुलसी। (ख) भागडू है
भागो वैशा भागनि क्यों भाग्यो, परै भय के भवन मौत
भय को भँवर है।—केशव।

कि० प्र०—पड़ना।

मुहुर—भँवर में पड़ना = चक्कर में पड़ना। पबरा जना।

यी०—भँवरकली। भँवरजाल। भँवर भीर।

(३) गड़वा। गलें। उ०—उरज भँवरी भँवर मानो मीन
मणि को कान्ति। मृगचरण हृदय चिद्र वे सब, जीव जग
बहु भौति।—सूर।

भँवरकली—संज्ञा स्त्री० [हि० भँवर + कली] छोटे या पतल की
बह कड़ी जो कील में इस प्रकार जड़ी रहती है कि वह
विपर बाधे, उपर सहज में घुमाई जा सकती है। यह प्रायः
पशुओं के गले की सिकड़ी या पट्टे आदि में लगी रहती है।
पशु जाने जिनने चकर लगाने, पर इसकी सहायता से
उनकी सिकड़ों में बल नहीं पड़ने पाता। घूमनेवालों
कुंडी या कड़ी।

भैंसरगीत—संज्ञा पुं० दे० “भ्रमरगीत” ।

भैंसरजाल—संज्ञा पुं० [हि० भैंसर + जाल] संसार और सांसारिक
सुखदे बसेदे। भ्रमजाल । उ०—भैंसरजाल में आसन
माझ । चाहत सुख दुख संग न छाडा ।—कबीर ।

भैंसरभोल—संज्ञा स्त्री० [हि० भैंसर + भोल] वह भोल जो भैंर के
समान धूम फिरकर भौंती जाय । तीन प्रकार की भिंसा में
से दूसरी । उ०—भैंसर भोल मध्यम कही सुनौ मंग चित
लाय । कई कबीर जाको गद्दी मध्यम माहि समाय ।—
कबीर ।

भैंसर—संज्ञा पुं० दे० “भैंरा” ।

भैंसरो—संज्ञा स्त्री० [हि० भैंरा] (१) पानी का चकर । भैंवर ।
(२) जंतुओं के शरीर के ऊपर वह स्थान जहाँ के रोएँ और
बाल एक केंद्र पर घूमे हुए हों । बालों का इस प्रकार का
घुमाव स्थान-भेद से शुभ अथवा अशुभ लक्षण माना जाता
है । उ०—रथाम उर सुवा दह मानौ । मलय चंदन लेर
कीन्हे धरन यह जानौ । मलय तनु मिलि लसति सोमा
महा जाल भैंसीर । निरलि लोचन भ्रमवि पुनि पुनि धरन
गोह मन धीर । उरज भैंसी भैंवर, मानो मीन मणि की
कोति । भृगुधरन हृदय बिन्दु ये सब जीव जल बहु भौंति ।
सूर ।

भैंसा स्त्री० [हि० भैंसरता वा भैंसता] (१) दे० “भौंवर” ।
(२) बनिषों का सौंदा लेकर धूम धूमकर घेचना । फेरी ।
(३) रक्षक, कौनवाल वा अन्य कर्मचारियों का प्रज्ञा की रक्षा
के लिये चहार लगाना । फेरी । गवन । उ०—फिरे पाँच
कुलधार सु भैंसी । कोई पाँचें चैपन वहि पैंती ।—
जायसी ।

भि० प्र०—फिराना ।—लगाना ।

(४) परिक्रमा । (चिथों)

भि० प्र०—देना ।

भैंसा—संज्ञा पुं० [हि० भैंसा] (१) घुमाना । फिराना ।
घट्टा देना । उ०—(क) गगरे चंद तूँ फिर जाय । बहु
कलेस सों दिवस भैंसाय ।—जायसी । (घ) तेहि भैंसा
कई लात उडाई । गदि पद पटकेउ भूमि भैंसाई ।—तुलसी ।
(२) भ्रम में डालना । उल्लसन में डालना ।

भैंसारा—वि० [हि० भैंसा + आरा (परा०)] भ्रमरासील । घुमे-
पाछा । फिरनेवाला । उ०—बिलग मत मानो उषो प्यारे ।
पद मधुरा काजर की दावरि जे आरि ते करे । गुम बारे
सुफलक गुन बारे बारे मधुप भैंसारे । सा गुण दयास अधिक
पवि उपजन कमल दिन मणि पारे ।—सूर । (र) चिपटन
भानन भरिगनी निरिग भैंसारे मोर । द्राकि गई आँगी नई
पराकि उठे कुच धीर ।—अ० म० ।

भैंसना—वि० प्र० [हि० भैंसा] (१) पानी के ऊपर तैरना ।

जैसे,—भैंसता जहाज । (लटा०) । (२) पानी में डाला
या फेंका जाना । (दे० “मसाना”) ।

भैंरा—संज्ञा पुं० दे० “भैंजनी” ।

भ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नक्षत्र । (२) ग्रह । (३) राशि । (४)
शुकाचार्य । (५) भ्रमर । भैंरा । (६) भूधर । पहाड़ । (७)
आंति । (८) छंद-शास्त्रानुसार एक गण का नाम जिसके
आदि का वर्ण गुरु और शेष दो लघु होते हैं (शा) । भगण ।
भइया—संज्ञा पुं० [हि० भाई + या (प्रत्य०)] (१) भाई । (२) एक
आदरसूचक शब्द जिसका व्यवहार प्रायः बगवतवालों के
लिये होता है ।

भउजई—संज्ञा स्त्री० दे० “भौजई” ।

भक—संज्ञा स्त्री० [सं०] सहसा अथवा रह रहकर भाग के जल बटने
अथवा वेग से धूँके के निकलने के कारण उत्पन्न होनेवाला
शब्द । इसका प्रयोग प्रायः “से” विभक्ति के साथ
होता है । जैसे,—छंफ भक से जल उठा ।

भकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रकक्षा ।

भकटाना—वि० प्र० दे० “भकलाना” ।

भकडुना—वि० प्र० दे० “भगरना” ।

भकराँध—संज्ञा स्त्री० [हि० भगना अथवा भक ? + राँध] भगना
के सड़ने की राँध । सड़े हुए भगना की राँध ।

भकराँध—वि० [हि० भक (प + का (प्रत्य०))] सड़ा हुआ (अन्न) ।

भकसा—वि० [हि० भकलाना वा भकलान] (गया पदार्थ)
जो अधिक समय तक पड़ा रहने के कारण कर्मला हो गया
हो और जिसमें से एक विशेष प्रकार की दुर्गंध आती हो ।
बुरा हुआ ।

भकमाना—वि० प्र० [हि० भक + मान] किसी वस्तु पदार्थ वा
अधिक समय तक पड़े रहने अथवा और किसी कारण से
बदबूदार और कर्मला हो जाना ।

भकाली—संज्ञा पुं० [अनु०] यहाँ की दराने के लिये एक कल्पित
व्यक्ति । होसा ।

भकुआरा—वि० [सं० भेक] मूर्ख । मूढ़ ।

भकुआना—वि० प्र० [हि० भकुआ] धक्का खाता । पवरा जाता ।
वि० स० (१) धक्का देना । पवरा देना । (२) मूर्ख
बनाना ।

भकुआरा—संज्ञा पुं० [हि० भकुआ] मोटा गज जिसमें तोप में बनी
आदि हँसी जाती है ।

भकुआना—वि० प्र० [हि० भकुआ + आना (प्रत्य०)] (१) लोहे
के गज में तोप के मुँद में बनी भरना । (२) लोहे के गज से
तोप के मुँद का भीतरी भाग मारकर करना ।

भकुआरा—वि० दे० “भकुआ” ।

भकुआ—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की रातियों का समूह जो
विवाह की गल्लन में सुभ मानी जाती है । (कश्मि स्थो०) ।

भक्तमना-क्रि० सं० [सं० भगव] (१) किमी चीज को चिन्
अच्छी तरह देखने हुए जल्दी जल्दी खाना। निगलना।
(२) खाना। (स्वर्ग्य)

भक्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिष्टी। हींगुर।

भक्त-वि० [सं०] (१) बौद्ध हुआ। भागों में बँटा हुआ। (२)
बँटकर दिया हुआ। प्रदत्त। (३) अलग किया हुआ।
(४) पक्षपाती। (५) अनुयायी। (६) सेवा करनेवाला।
भजन करनेवाला। भक्ति करनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) पका हुआ चायल। भात। (२) धन। (३)
[सं० भक्ति] सेवा पूजा करनेवाला पुरुष। उपासक।

विशेष—भगवद्गीता के अनुसार भात, जिज्ञासु, अर्थार्थी और
ज्ञानी चार प्रकार के भक्त तथा भागवत के अनुसार नवधा
भक्ति के भेद से नौ प्रकार के भक्त माने गए हैं।

भक्तकर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सुगंधित द्रव्य जो अनेक
मूलों के द्रव्यों के योग से बनाया जाता है।

भक्तकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसोद्भवा। (२) भक्तकर नामक
सुगंधित द्रव्य।

भक्तजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अष्टम।

भक्तना-संज्ञा स्त्री० [सं०] भक्ति।

भक्तनृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का
नाच जो भोजन करते समय बजाया जाता था।

भक्तस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] किसी के अंग या भाग होने वा भाग।
अवयवीभूत होता। अंगवय।

भक्तदास-संज्ञा पुं० [सं०] यह दास जो केवल भोजन लेकर ही
काम करता हो। यह मनु के अनुसार सान प्रकार के दामों
में से दूसरे प्रकार का दास है।

भक्तपत-संज्ञा पुं० [सं० भक्त+पति० १म प्रा०] भक्ति।

भक्तपुलाक-संज्ञा पुं० [सं०] मोड़। पीछ।

भक्तचक्षुल-वि० दे० "भक्तचक्षुल"।

भक्तधरसल-वि० [सं०] [संज्ञा भक्तधरसल] (१) जो भक्तों
पर कृपा करता हो। भक्तों पर स्नेह रखनेवाला। (२)
विष्णु।

भक्तशरण-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ भक्त आन पकाकर खाना
जाता है। रसोईघर।

भक्तशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाकशाला। रसोईघर। (२)
यह स्थान जहाँ भक्त लोग बैठकर धर्मोपदेन सुनते हैं।

भक्तार-संज्ञा स्त्री० [सं० भक्त+आर० (प्रत्य०)] भक्ति।

भक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनेक भागों में विभक्त करना।
बँटना। (२) भाग। विभाग। (३) अंग। अवयव। (४)
बँट। (५) यह विभाग जो रेखा द्वारा किया गया हो। (६)
विभाग करनेवाली रेखा। (७) सेवा शुभषा। (८) पूजा।

अर्चन। (९) श्रद्धा। (१०) मिथ्या। (११) रचना।
(१२) अनुशासन। स्नेह। (१३) शास्त्र के भक्ति मंत्र के
अनुसार ईश्वर में अर्चन अनुराग का होना। यह गुण भेद
से सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की मानी गई
है। भक्तों के अनुसार भक्ति नौ प्रकार की होती है जिसे
नवधा भक्ति कहते हैं। वे नौ प्रकार ये हैं—ध्यान, कर्मन,
स्मरण, पादसेवन, अर्चन, यन्दन, दास्य, सख्य और भाक्-
निवेदन। (१४) जैन मतानुसार यह ज्ञान जिसमें निरतिषय
आनंद हो और जो सर्वप्रिय, अनन्य, प्रयोजन विरहित तथा
विरुद्ध का उदयकारक हो। (१५) योगवृत्ति। (१६)
भंगी। (१७) उपचार। (१८) एक वृत्त का नाम जिसके
प्रत्येक चरण में तराण, योग और अंत हैं हुए होता है।

भक्तिकर-वि० [सं०] (१) भक्ति के योग्य। (२) जिसे ईश्वर
भक्ति उत्पन्न हो। भक्त्युपासक।

भक्तिच्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यह चित्रकारी जो रत्नों
द्वारा की जाय। (२) भक्तों के विरोध विद्वा। जैसे—निष्प,
मुद्रा आदि।

भक्तियोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपास्य देव में अर्चन भक्तिक
रहना। मन्त्र भगवान में श्रद्धापूर्वक मन लगाकर उनकी
उपासना करना। (२) भक्ति का साधन।

भक्तिल-वि० [सं०] भक्तिदायक।

संज्ञा पुं० उत्तम धर्म।

भक्तिसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वैष्णव संप्रदाय का एक सूत्र ग्रंथ।
यह ग्रंथ शास्त्रिय मुनि के नाम से प्रख्यात है। इसमें भक्ति
का वर्णन है।

भक्तोद्देशक-संज्ञा पुं० [सं०] मीठों, के प्राचीन संवसार में
एक कर्मचारी जो इस बात की जाँच करता था कि भक्त
कौन क्या भोजन करेगा।

भक्तोपसाधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसोद्भवा। (२) परिवर्तक।
भिक्षा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खाने का पदार्थ। भक्ष्य। खाना।
भोजन। (२) खाने का काम। भक्षण। उ०—शायी कटुक
बेर तमि मीठे भोषि गोद भरि लाई। जूठे की हनु संक न
मानी भक्ष किये सत आई।—मूर।

भक्षक-वि० [सं०] [सं० भक्षक] खानेवाला। भोजन करने-
वाला। खादक।

भक्षकार-संज्ञा पुं० [सं०] हलवाई।

भक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] छोटा गोबरू।

भक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] [सं० भक्षक, भक्षण, भक्षणी] (१)
भोजन करना। किसी वस्तु को शरीर से काटकर खाना।
जैसे पूजा आदि खाना। (२) आहार। भोजन।

भक्षना-क्रि० सं० [सं० भक्षण] भोजन करना। खाना। उ०—
(६) यह रसोई घरत भागे बड़े मंत्र गुहाद। भी आदि

भक्ष भक्षते गिरि वरणि न जाह ।—सूर । (ख) भनि
तनु घनु रेखा नेत्र नाकी न जाकी । खल दार खर घाघु वयो
सही तिच्छ ताकी । विदु कन घन घुरे भक्षि कयो वाज जीव
निव सिर शशि श्री को राहु कैसे सु छर्व ।—केदाव ।
(ग) जाति छता दुहुँ आँख रहि नाम नही सत्र कोय । मृद
मुख मुख भक्षिने डलते अंतर होय ।—केशव ।

भंक्षित-वि० [सं०] खाया हुआ ।

भक्षी-वि० [सं० भक्षिन्] [स्त्री० भक्षिणी] खायेवाला । भक्षक ।

भक्ष्य-वि० [सं०] भक्षण करने के योग्य । खाने के योग्य ।

संज्ञा पुं० खाद्य । भक्ष । आहार ।

भक्ष्य-संज्ञा पुं० [सं० भक्ष्य, प्रा० भक्ष्य] आहार । भक्ष्य । भोजन ।

उ०—(क) आर्सेद द्याह करे मस-खाया । अब भव जन्म
जन्म कहीं पाया ।—जायसी । (ख) पेद वेदनि उपनिषद्
भरपे सो भव भोक्ता नाहि । गोपी ग्यानि के मंडल में
सो हँसि जूटन खाहि ।—सूर । (ग) पट पारि मल काँक
सकर परेई मंग । सुखी परेया जगन में एक मुहोपिहंग ।

बिहारी ।

मुहा०—भल करना = खाना । उ०—आछे देहु जो गदु त
जनि बालहु रह यात । तिनहि जो पाहन भग्न कहीं अस
केहि के मुख दौत ।—जायसी ।

भक्षनाक-क्रि० सं० [सं० भक्ष्य + प्रा० भक्षन्] (१) खाना ।
भोजन करना । उ०—(क) नीलकंठ कीड़ा भली मुख वाके
है राम । अंगुन वाके लगी नहि दर्शन ही से दाम ।—
कबीर । (ख) कृमि पायक तेरो तन भण्डि समुक्ति
देख मन मोही । पीन दयालु मूर हरि भक्ति के यह
भीतर फिरि नाहीं ।—सूर । (ग) कर्म करि सीतल
वास करि मुख उयो भणिये घनसार के सादे ।—केशव ।
(२) निगलना ।

भक्षी-संज्ञा स्त्री० [देग०] एक प्रकार की घास जो दलदलों में
उत्पन्न होती है और छपर छाते के काम में आती है ।
इसकी दृष्टि भी बनती है । यह नीनीताल में बहुत होती
है । इसके फल में नारंगी की सी मूक होती है । पकने
पर यह घास लाल रंग की हो जाती है । इसे बीपाय बड़े
घाव से चारते हैं । इसे 'पयी' भी कहते हैं ।

भगद्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग का नाम जो गुदावर्त के किनारे
होता है । यह एक प्रकार का फोड़ा है जो फूटकर नाभूर
हो जाता है और इतना बड़ जाता है कि उसमें से मल मूत्र
निकलता है । जब तक यह फोड़ा फूटना नहीं, तब तक
उसे पिड़िका या पीड़िका कहते हैं; और जब फूट जाता है
तब उसे भगद्वर कहते हैं । फूटने पर हमसे अमानार लाल
रंग का घन और धीन निकलता है । यहाँ तक कि यह ऐद
गहरा होना जाता है और अंग को मल और मूत्र के मार्ग

से मिल जाना है और इस राह से मल का अंश निकलने
कमता है । वैद्यक में भगद्वर की उत्पत्ति पाँच कारणों से मानी
गई है और तदनुसार उसमें भेद भी पाँच ही माने गए
हैं—वात, पित्त, कफ, सखिपात और आग्नेय; और इनसे
उत्पन्न होनेवाले भगद्वर क्रमशः शतपानक, उट्टपीय, परिधावी,
जंघुकावर्त और उन्मार्गी कहलाते हैं । वैद्यक में यह रोग,
विशेष कर सखिपातज असाध्य माना गया है । वैद्यों का मन
है कि भगद्वर रोग में फुन्सियों के होने पर यदी सुखलाष्ट
उत्पन्न होती है; फिर पीड़ा, जलन और शोफ होता है । कमर
में पीड़ा होगी है और कपोल में भी पीड़ा होती है । वैद्यक
में इस रोग की चिकित्सा प्रण के समान ही करने का
विधान है । डाक्टर लोग इसे एक प्रकार का नाभूर समझते
हैं और और फाड़ के द्वारा इसकी चिकित्सा करते हैं ।

भग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगि । (२) सूर्य्य । (३) वारह
आश्विनियों में से एक । (४) ऐश्वर्य्य । (५) छ प्रकार की
विभूतियों जिन्हें सत्यधीश्वर्य्य, सत्यगोधीश्वर्य्य, सत्यवयश,
सत्यकृष्ण और सत्यज्ञान कहते हैं । (६) इच्छा । (७)
माहात्म्य । (८) यय । (९) धर्म । (१०) मोक्ष । (११)
सौभाग्य । (१२) कान्ति । (१३) चंद्रमा । (१४) धन ।
(१५) गुदा । (१६) पूर्वाशालगुमी नक्षत्र । (१७) एक
देवता का नाम । पुराणानुसार दक्ष के यज्ञ में वीरभद्र ने
इनकी आँख फोड़ दी थी ।

भगई ३-संज्ञा स्त्री० [हि० भगवा] लँगोटी ।

भगव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वर्गल में ब्रह्म का पूरा चक्र ।
यह ३६० अंश का होता है जिसे ज्योतिषीयण यथेच्छ राशियों
और नक्षत्रों में विभक्त करते हैं । इस चक्र को ब्रह्मगामी
ब्रह्म स्वरूप काल में और मंदगामी दीर्घ काल में पूरा करते
हैं । आजकल के ज्योतिषी इस चक्र का प्रारंभ देवती के
योगवासा से मानते हैं । सूर्य्यसिद्धांत में ब्रह्म का भगव
सत्युग के प्रारंभ से माना गया है; पर सिद्धांत शिरोमणि
आदि में ब्रह्मों के भगव का हिसाब कन्यादि से किया जाता
है । (२) छः भाग्यनुसार एक गण जिसमें आदि का एक
वर्ण मृग और अंग के दो वर्ण लघु होते हैं । त्रिमे,—पापन,
भोजन आदि ।

भगव-वि० [सं० भग्वे] [हि० भगवते] (१) मेघक । उपासक ।

उ०—जंघक भगव कहाइ राम के । किंकर कंचन कोइ काम
के ।—तुलसी । (२) साधु । (३) जो मांस आदि न खाता
हो । सखट का उच्छा । (४) विचारवादी ।

भग पुं० (१) देवत्व का यह साधु जो निकल लगाना और
मांस आदि न खाता हो । (२) राजपूताने की एक जाति
का नाम । इस जाति की कन्याएँ देवता हूनि और माघने
गाने का काम करती हैं । दे० "भगविया" । (३) होरी में

यह स्वींग जो भगन का किया जाता है। इस स्वींग में एक भादमी को संपद बालों की दाढ़ी मोछ लगाकर उसके सिर पर तिलक, गले में तुलसी वा किसी और काठ की माला पहनाते हैं और उसके सारे शरीर पर राख लगाकर उसके हाथ में एक हँसी और सोंटा दे देते हैं। यह भगत बना हुआ स्वींगी जोगीदे में नाचनेवाले लैंडे के साथ रहता है और बीच बीच में नाचता और भोंडों की तरह मसखरापन करता जाता है। (३) भूत भेत उतारनेवाला पुरुष। ओशा। सयाना। भोपा। (४) घेदया के साथ तपला आदि बजाने का काम करनेवाला पुरुष। सकरदाई। (राजपूताना)। मुहा०—भगतपञ्चन = (१) लैंडों या नचावेवाला। (२) स्वींग भरकर लैंडों का अनेक रूप का बगनेवाला पुरुष।

भगतश्रृङ्खल ४-वि० दे० “भक्तयमल”।

भगतिक-पंजा खी० दे० “भक्ति”।

भगनिचा-पंजा खी० दे० [हि० भक्त]। खी० भगनिन। राजपूताने की एक जाति का नाम। इस जाति के लोग वैष्णव साधुओं की संतान हैं जो भय न माने बजाने का काम करते हैं और जिसकी कन्याएँ घेदयाओं की दूति करके अपने कुटुंब का भरण पोषण करती हैं और भगनिन कहलाती हैं। (बंगाल में भी वैष्णव साधुओं की लड़कियाँ वेदयादूति से अपना जीवन निर्वाह करती हैं और अपनी जाति घोघम वा यैष्णव बतलाती हैं।) उ०—सेठ की दीलत पर गीध के समान ताक लगाए धंटे हुए मोर तिकार भोंड भगतिए दूर दूर से भा जमा होने लगे। - बालकृष्ण भट्ट।

भगनी-पंजा खी० दे० “भक्ति”।

भगदत्त-पंजा खी० [भ०] प्रागधोनिपपुर के एक राजा का नाम। इसके पिता का नाम नरक वा नरकामुर था। महाभारत में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय इसका अश्वन से आठ दिन तक लड़कते अंश में पराजित होना लिखा है। महाभारत युद्ध में यह योत्थों की और वा और बड़ी धीराना में लड़कर अश्वन के हाथ से मारा गया था।

भगदत्त-पंजा खी० [हि० भगना] अचानक बहुत से लोगों का किसी कारण से एक ओर ध्यानध्यान होकर भागना। भागने की क्रिया वा भाव।

क्रि० प्र०—पदना।—भगना।

भगनहा-पंजा खी० [सं० भगना] करेखा नामक डींटीली बेल। विशेष दे० “करेखा”।

भगना १-क्रि० प्र० दे० “भागना”।

पंजा खी० [सं० भगना] बहिन का लड़का। भागना।

भगनी १-पंजा खी० दे० “भगिनी”।

भगमुग-पंजा खी० [सं०] घृष्टपति के बाह्य मुणों में से अंतिम मुग। इसके पाँच वर्ष दुंदुभि, उदर्रा, रत्ना, कोष और शय

हैं। इनमें पहले की छोड़ दीप चार वर्ष उत्तरोत्तर भगनर माने जाते हैं।

भगरक-पंजा खी० [दे०] छल। फरेव। बोग। उ०—को जो बहुत साँस, कलत घनेरे घाय, भगर के खेल महा म् पद पावहीं।—केशव।

पंजा खी० [हि० भगरना] सदा हुआ भग।

भगरना-क्रि० प्र० [सं० विकरण, हि० भगना] धत्ते में गती पाकर अनाज का सड़ने लगना।

संयो० क्रि०—जाना।

भगरना-पंजा खी० [दे०] (१) छल। कपट। बोंग। (२) हाथ की सफाई। जादू। इंद्रजाल। राजीगरी।

भगली-पंजा खी० [हि० भगन + ई (प्रय०)] (१) दोगी। छली। (२) राजीगर। उ०—जामन। जामन साँच है साँवत सपना साँच। देह गये दोड़ गये उषों भगली को नाच।—कवीर।

भगचंन-पंजा खी० [सं० भगवत् का बहु० भगवन्] भगवान। ईश्वर। दे० “भगवत्”। उ०—ब्रह्म निरूपण धर्म विधि बरनहि तब विभाग। कइहि भगनि भगवंत के संजुत शान विराग।—तुलसी।

भगवनी-पंजा खी० [सं०] (१) देवी। (२) गौरी। (३) सरस्वती। (४) गंगा। (५) दुर्गा।

भगवन्त-वि० [सं०] [खी० भगती] देशर्षयुक्त। भावात्। पूजनीय।

पंजा खी० (१) ईश्वर। परमेश्वर। (२) विष्णु। (३) शिव। (४) ब्रह्म। (५) कार्तिकेय। (६) सूर्य। (७) जिन।

भगवन्त-पंजा खी० [सं०] गंगा।

भगवन्तो-पंजा खी० [सं०] महाभारत के भीष्मपर्व के अंतिम अध्याय अध्यायों का एक प्रकरण। इसमें उन उपदेशों और प्रवचनों का वर्णन है जो भगवान् कृष्णचंद्र ने अर्जुन का मोह मुद्गने के लिये उसने युद्धस्थल में किए थे। यह ग्रंथ प्रत्येक चतुष्टय में चौथा है और बहुत दिनों से महाभारत से ग्रथ माना जाता है। इस पर शंकराचार्य, रामानुज, वल्लभादि आचार्यों के भाष्य हैं। हिंदू धर्म में यह ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ और सब संप्रदायों का मान्य ग्रंथ है।

भगवद्गुरु-पंजा खी० [सं०] महायोगि गुरु।

भगवद्भक्त-पंजा खी० [सं०] (१) भगवान् का भक्त। ईश्वर-भक्त। (२) विष्णुभक्त। (३) दक्षिण भारत के वैष्णवों का एक संप्रदाय।

भगवद्भिन्न-पंजा खी० [सं०] भगवान् का विग्रह। भगवान् की मूर्ति।

भगवान्, भगवान्-वि० [सं० भगवत् का एक बहु० प्र० भगवन्] (१) भगवत्। देशर्षयुक्त। (२) पदम्। (३) देशर्ष, बट, यन, श्री, ज्ञान और धैर्यग मे संयुक्त।

संज्ञा पुं० (१) ईश्वर । परमेश्वर । (२) विष्णु । (३) शिव ।
(४) बुद्ध । (५) जिन । (६) कातिकेय । (७) कोई पूज्य
और आदरणीय व्यक्ति । जैसे,—भगवान् वेदव्यास ।

भगशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] कामशास्त्र ।

भगहरण-संज्ञा स्त्री० दे० “भगदर” ।

भगहारी-संज्ञा पुं० [सं० भगहारिन्] शिव । महादेव ।

भगांकुर-संज्ञा पुं० [सं०] अर्था रोग । बवासीर ।

भगाना-किं० स० [सं० भग] (१) किसी को भागने में प्रवृत्त
करना । दौड़ाना । (२) हटाना । दूर करना । खदेड़ना ।
उ०—दूरस्त भूख लागे दगन भूखहि देत भगाइ ।—
रसनिधि ।

किं० प्र० दे० “भागना” । उ०—(क) उछरत उतरात हह-
रात मरि जात भभरि भगत जल थल मीचु मई है ।—
तुलसी । (ख) समय लोक सब लोकपनि चाहत भभरि
भगान ।—तुलसी ।

भगाल-संज्ञा पुं० [सं०] आदमी की खोपड़ी ।

भगाली-संज्ञा पुं० [सं० भगालिन्] आदमी की खोपड़ी धारण
करनेवाले, शिव ।

भगाख-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक अख ।

भगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बहन । सहोदरा ।

भगिनीय-संज्ञा पुं० [सं०] बहन का लड़का । भागिनेय ।
भाजूका ।

भगीरथ-संज्ञा पुं० [सं०] अयोध्या के एक प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजा
जो राजा दिलीप के पुत्र थे । कहते हैं कि कपिल के त्राप
से जल जाने के कारण सगरवंशी राजाओं ने गंगा को पृथ्वी
पर लाने का बहुत प्रयत्न किया था; पर उनकी सफलता
नहीं हुई । अंत में भगीरथ धीरे तपस्या करके गंगा को
पृथ्वी पर लाए थे और इस प्रकार उन्होंने अपने पुरस्कारों
का उद्धार किया था । इसी लिये गंगा का एक नाम भगी-
रथी भी है ।

वि० [सं०] भगीरथ की तपस्या के समाप्त भारी ।
बहुत बढ़ा । जैसे,—भगीरथ परिश्रम ।

भगेदु, भगेल्-वि० [हि० भगना + दु, या वल् (पत्य०)] (१) भागा
हुआ । जो कहीं से छिपकर भागा हो । (२) जो काम
पढ़ने पर भाग जाता हो । कायर ।

भगोड़ा-वि० [हि० भगना + ओस (पत्य०)] (१) भागा हुआ ।
(२) भागनेवाला । कायर ।

भगोल-संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्र चक्र । वि० दे० “गगोल” ।

भगोती-संज्ञा स्त्री० दे० “भगवती” ।

भगोर्दा-वि० [हि० भगना + ओस (पत्य०)] (१) भागने की उद्यत ।
(२) कायर ।

वि० [हि० भगना] तेरु में रैगा हुआ । भगवा । गेरभ ।

उ०—बस्नी बधंवर में गृहरी पलक दोऊ, कोए राते बसन
भगौहिं भेप रतियौ ।—देव ।

भगगुल-संज्ञा पुं० [हि० भगना] (१) रण से भागा हुआ ।
भगोड़ा । भगू + उ०—आय भगुल लोग वरनें युद्ध की
सब गाय ।—केशव । (२) भागनेवाला । कायर ।

भगगुर्-वि० [हि० भगना + ऊ (पत्य०)] जो विपत्ति देखकर
भागता हो । कायर । डरपोक । भागनेवाला ।

भग-वि० [सं०] (१) दृष्टा हुआ । (२) जो हारा या हराया गया
हो । पराजित ।

गङ्गा पुं० हट्टियों अथवा उनके जोड़ों का दृष्ट अङ्ग ।

भगदूत-संज्ञा पुं० [सं०] रणक्षेत्र से हारकर भागी हुई बह
सेना जो राजा के पराजय का समाचार देने आती हो ।

भगनपाद-संज्ञा पुं० [सं०] कलित ज्योतिष के अनुसार पुनर्वसु,
उत्तराषाढा, कृत्तिका, उत्तरफाल्गुनी, पूर्वभाद्रपद और
विशाखा ये छः नक्षत्र जिनमें से किसी एक में मनुष्य के
मरने से द्विपाद दोष लगता है । इस दोष की दानि अशौच
काल के अंदर ही कराने का विधान है ।

भगसंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] हट्टी का जोड़ पर से दृष्ट जाना ।

भगसंधिक-संज्ञा पुं० [सं०] मछ ।

भगशा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल द्रव्य का कोई अलग किया
हुआ भाग या अंश । (२) गणित शास्त्र के अनुसार किसी
वस्तु के दो या अधिक हिस्से हुए विभागों में से एक या
अधिक विभाग । जैसे,—किसी वस्तु के किए हुए सान
विभागों में से दो विभाग; अर्थात् ३ मूल वस्तु का
भगना है ।

भगनामा-संज्ञा पुं० [सं० भगना + मा] चंद्रमा ।

भगनाचर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी दूटे चूटे नरान या बजड़ी
हुई बस्ती का बचा हुआ अंश । रौंदहर । (२) किसी दूटे
हुए पदार्थ के बचे हुए टुकड़े ।

भगनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भगिनी । बहन ।

भचक-संज्ञा स्त्री० [हि० भचकना] भचककर चलने का भाव ।
छँगापन ।

भचकना-किं० प्र० [हि० भचक] आश्चर्य में निमग्न होकर
रह जाना ।

किं० प्र० [भचक] चलने के समय पर का इस प्रकार
रुक कर या देड़ा बढ़ना कि देरने में छँगापन मादम हो ।

भचक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रातियों या मर्दों के चलने का मार्ग ।
कक्षा । (२) नक्षत्रों का समूह ।

भचक-संज्ञा पुं० दे० “भचक” ।

भचक-संज्ञा पुं० दे० “भचक” ।

भचक-संज्ञा पुं० दे० “भचक” ।

भचक-संज्ञा पुं०—किं० प्र० [सं० भचक] खाना । भाग करना ।

भजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भजन करनेवाला । भजनेवाला ।
(२) विभाग करनेवाला ।

भजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाग । खंड । (२) मेवा । पूजा ।
(३) बार बार किसी पूज्य या देवता आदि का नाम लेना । स्मरण । जप । (४) वह गीत जिसमें ईश्वर अथवा किसी देवता आदि के गुणों का कीर्तन हो ।

भजना-कि० सं० [सं० भजन] (१) सेवा करना । (२) आश्रय लेना । भाषित होना । उ०—(क) विधिवत् हठि अवि-
पेक्षहि भजई।—गुलसी । (ख) नमो हठ आनि भजो किन मोहि।—केशव । (३) देवता आदि का नाम रटना । स्मरण करना । जपना ।

कि० प्र० [सं० भजन या भजन] (१) भागना । भाग जाना । उ०—भजन कहीं तातें भज्यो भज्यो न पक्यो बार । दूर भजन जातें कहीं सो तैं भज्यो गैवार।—विहारी ।
(२) पहुँचना । प्राप्त होना । उ०—चित्रकूट नथ राम जू तयो । जाय पशुधल अत्रि को भज्यो।—केशव ।

भजनानंद-संज्ञा पुं० [सं०] वह आनंद जो परमेश्वर का नाम स्मरण करने से प्राप्त होता है । भजन से मिलनेवाला आनंद ।

भजनानंदो-संज्ञा पुं० [सं० भजनानंद + ई (प्रत्य०)] वह जो दिन रात भजन करते हैं, ही मगन रहता हो । भजन गाकर सदा प्रसन्न रहनेवाला ।

भजनी-संज्ञा पुं० [हि० भजन + ई (प्रत्य०)] भजन गानेवाला । उ०—करन लगी जप जेहि समय तब भरि मोद अर्गत । भजन सुनि भजनीन सों निर्मित निज बहु संत।—रघुराज ।
भजनीय-वि० [सं०] (१) सेवा करने योग्य । (२) आश्रय लेने योग्य । (३) भजने के योग्य ।

भजना-कि० प्र० [सं० भजन हि० भजना = दीक्षा] दीक्षा । भागना । उ०—मीन को भजाने भलि, घुटे लट केस के।—भूषण ।

कि० प्र० [सं० भजन, हि० भजना का सक० रूप] भागना । दूर कर देना । उ०—(क) पिय तियाहि रिखावै तुलनि भजावै, विविध प्रजावै गुण गीता।—केशव । (ख) सर धरसत रय बरै जलद भद दूरि भजावै।—गोपाल ।

भजियाउर + संज्ञा स्त्री० [हि० भजी + पाउर (पावन)] पावन, दही, घीमा आदि एक साथ पकाकर बनाया हुआ भोजन, जिसमें ममक भी पड़ता है । इसे वसिया और भिजियाउर भी कहते हैं । उ०—अह जाउर भजियाउर सीसी सख गयीनार।—जायसी ।

भज्य-वि० [सं०] (१) विभाग करने के योग्य । (२) सेवा करने के योग्य । (३) भजने के योग्य ।

भट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धुड़ करने या मड़नेवाला । मोटा ।

(२) सिपाही । मैनिक । (३) मार्चन काल की एक वस्त्र-संकर जाति ।

संज्ञा पुं० दे० “भटनास” ।

भटकड़ाई, भटकटैया-संज्ञा स्त्री० [सं० भटका (हि० भट्ट) या कटो] एक छोटा और कौटिल्य धुप जो बहुधा औषध के काम में आता है । इसके पत्तों पर भी कौटिल्य होते हैं । इसके एक पेगनी होते हैं और फूल का जीरा पीला होता है । कहीं कहीं सफेद फूल की भी भटकटैया मिलती है । इसमें एक प्रकार के छोटे फल भी लगते हैं जो पहले कच्चे रहते हैं, पर पकने पर पीले हो जाते हैं । घेयक में होने साक, कड़वी, चरपरी, स्त्री, हलसी, अमिदीपक तथा रसि, उर, कक, पात, पीनस तथा हृदय रोग की नाश करनेवाली माना है ।
पट्यां—भटकारी । कुम्भी । धुड़ा । कासमी । कंटागिरी । रुई । धायनिक । ग्यामी । दुःस्पर्श । दुष्पार्याणी । कं-
श्रेणी । प्रचोदिनी । सिंही । अंठाही । धावनी । बहुरंज । चित्रकला ।

भटकना-कि० प्र० [सं० भय ?] (१) व्यर्थ इधर-उधर घूमने फिरना । उ०—अरे वैदि रहु जायःपर कन भटहन बेकाज । चितचन दोना को अरे होना नहीं हलाज।—रसगिरी ।
(२) रास्ता भूल जाने के कारण इधर-उधर घूमना । (३) भ्रम में पड़ना । उ०—सौंदर्यी मूरति सों भटकी मटकी सी बधु बट की भरे भौरी।—दत्त ।

भटकाना-कि० सं० [हि० भटकना का सक० रूप] (१) गलत रास्ता बताना । ऐसा रास्ता बताना जिसमें आदमी भटके ।
(२) धोखा देना । भ्रम में डालना ।

भटकैया-संज्ञा पुं० [हि० भटकना + वैया (प्रत्य०)] (१) भटकने-वाला । (२) भटकानेवाला ।

भटकाई-वि० [हि० भटकना + भाई (प्रत्य०)] भटकानेवाला । मुलाये में डालनेवाला । उ०—दुम भटकाई बचन मोति हरि करत तिसों हैं।—अभिराम ।

भटनीतर-संज्ञा पुं० [हि० भट = बसा + नीतर] प्रायः एक फुट लंबा एक प्रकार का पत्ती जो उत्तर-पश्चिम भारत में पाया जाता है । इसकी मादा एक बार में तीन बच्चे देती है । खेग प्रायः इसके मांस के लिये इसका शिकार करते हैं ।
भटधर्मा-वि० [सं०] वीर धर्म का पालन करनेवाला । सदा बहादुर ।

भटनास-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता जो चीन, जापान और जावा में बहुत अधिकता से होती है और सब बराना, पूर्वी बंगाल, आसाम तथा गोन्पुर-बस्ती आदि में भी जिसकी लोनी होने लगी है । इसमें एक प्रकार की फलियाँ लगती हैं, और उन्हीं फलियों के लिये इसकी लोनी की जाती है । फलियों के दानों का नाम भी बगईर जानी है ।

भड़कीले होने का भाव । (२) भड़कने का भाव । सहम ।
जैसे,—भभी इसमें कुछ भड़क बाकी है ।

भड़कदार-वि० [हि० भड़क + दार] (१) जिसमें खूब चमकदमक हो । चमकीला । भड़कीला । (२) रोवदार ।

भड़कना-कि० प्र० [भड़क + नु + ना (प्रत्य०)] (१) प्रखलित हो उठना । तेजी से जल उठना । जैसे,—आग भड़कना । (२) सिझिकना । चौंकना । दरकर पीछे हटना । (विशेषतः घोड़े आदि पशुओं के लिये बोलते हैं ।) (३) मुच होना । (४) बढ़ जाना । तेज होना ।

संयो० कि०—उठना ।—जाना ।

भड़काना-कि० सं० [हि० भड़कना का सं० रूप] (१) प्रखलित करना । जलाना । उवाला को बढ़ाना । (२) उत्तेजित करना । उभारना । (३) भयभीत कर देना । चमकाना । (घोड़े आदि पशुओं के लिये) । (४) बढ़ावा देना । (५) किसी को इस प्रकार भ्रम में डालना कि वह कोई काम करने के लिये तैयार न हो । बढ़वाना ।

संयो० कि०—देना ।

भड़कीला-वि० [हि० भड़क + ईला (प्रत्य०)] (१) भड़कदार । चमकीला । जिसमें खूब चमक दमक हो । (२) चौकसा होनेवाला । दरकर उत्तेजित होनेवाला । जैसे,—भड़कीला ईल या घोड़ा । (क०)

भड़कीलापन-संज्ञा पुं० [हि० भड़कीला + पन (प्रत्य०)] चमक-दमक । भड़कीले होने का भाव ।

भड़मड़-संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) भड़मड़ शब्द जो प्रायः एक चीज पर दूसरी चीज जोर जोर से पटकने अथवा बढ़े बढ़े होल आदि बजाने से उत्पन्न होता है । आवासी का शब्द । उ०—कड़ कड़ पगल टाप हर्षद । भड़मड़ होत शब्द पछेंद ।—सूदन । (२) जन समूह जिसमें छोटे बड़े या छोटे धरे का विचार न हो । भीड़ । भ्रमण । (३) व्यर्थ की और बहुत अधिक बात चीत ।

भड़मड़ाना-कि० सं० [अनु०] भड़, भड़ शब्द कर्त्तव्य ।

कि० प्र० किसी चीज में से भड़मड़ शब्द उत्पन्न होना ।

भड़मड़िया-वि० [हि० भड़मड़ + दया (प्रत्य०)] बहुत अधिक और व्यर्थ की बातें करनेवाला । गप्पी ।

भड़मड़ि-संज्ञा पुं० [सं० भड़मड़] एक कैंटीला लोहा । सत्या-भासी । पसीप । वि० दे० “धमोव” या “भड़मड़” ।

भड़मड़ा-संज्ञा पुं० [हि० भड़ + मड़ा] हिंदुओं की एक छोटी जाति जो आदि सोकने और शत्रु भूतने का काम करती है ।

पयां०—मुजरा । मुजरी ।

भड़वा-संज्ञा पुं० दे० “भड़वा” ।

भड़वारी-संज्ञा स्त्री० [हि० भड़ + वारी] भोग्य पदार्थ रखने के लिये फिरोजीदार आला या ताक । भेंदरिया ।

भड़वर-संज्ञा स्त्री० दे० “भेंदर” ।

भड़ार-संज्ञा पुं० दे० “भंडार” ।

भड़ाली-संज्ञा पुं० [सं० भड़] सुभट । योदा । लड़ाका ।

भड़िहा-संज्ञा पुं० [सं० भड़िहा] चोर । तस्कर । (भुंइसंती)

भड़िहाई-कि० वि० [हि० भड़िहा] चोरों की तरह । लुट लूट या दबकर । उ०—इत उत चित चला भड़िहाई ।—गुलसी ।

भड़ो-संज्ञा स्त्री० [हि० बढ़ाना या बढ़ाना] वह उत्तेजना जो किसी को मूर्ख बनाने या उत्तेजित करने के लिये दी जाय । भ्रम बढ़ावा ।

कि० प्र०—देना ।—में माना ।

भड़ुआ-संज्ञा पुं० [हि० भड़] (१) वह जो वेश्याओं की दलाली करता हो । पुंशली छियाँ की दलाली करनेवाला । (२) वेश्याओं के साथ तबरा या सारंगी आदि बजानेवाला । सफरदाई ।

भड़ुर-संज्ञा पुं० [सं० भड़] माकड़ों में बहुत निम्न श्रेणी की एक एक जाति । इस जाति के लोग प्रगाथिक का दान लेते अथवा यात्रियों को दर्शन आदि कराते हैं । भंडर ।

भण-संज्ञा पुं० [?] ताड़ का वृक्ष । (हि०)

भणना-कि० प्र० [सं० भण] कहना । बोलना । उ०—मन कोष मोद मद काम बस भवे न केदारदास भणि । सोह परमल धीराम दे अवतारी भयसार-मणि ।—केशव ।

भणित-संज्ञा स्त्री० [सं०] कही हुई बात । कथा ।

वि० [सं०] कहा हुआ । जो कहा गया हो ।

भतराई-संज्ञा पुं० [हि० भत + ऐक ?] (१) मधुरा और बृहन्न के बीच का एक स्थान जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि यहाँ धीकृष्ण ने चौबानों से आन, मंगवानर लाया था । उ०—भट्ट जमुना भतराई लीं आई ।—रसवान । (२) कैचा स्थान । (३) मंदिर का तिसर ।

भतवान-संज्ञा पुं० [हि० भत + वान (प्रत्य०)] विवाह की एक रीति जिसमें विवाह के एक दिन पहले कन्यापक्ष के लोग आन, दास आदि कच्ची रसोई बनाकर घर और उसके साथ चार और कुँआरे लड़कों को पुष्टाकर भोजन कराते हैं ।

भतारी-संज्ञा पुं० [सं० भतार] पनि । स्वादिद्र । खसम ।

भतीजा-संज्ञा पुं० [सं० भ्रातृ] [स्त्री० भतीजी] भाई का पुत्र । भाई का लड़का ।

भतुआ-संज्ञा पुं० [दे०] सफेद कुल्हाड़ा । पेठा ।

भतुला-संज्ञा पुं० [दे०] गकरिया । बाटी ।

भत्ता-संज्ञा पुं० [सं० भत्ता] दैनिक धन जो किसी कर्मचारी को यात्रा के समय दिया जाता है । सेतन के अनुरिक्त वह धन जो किसी को यात्रा काल में विशेष रूप से दिया जाता है ।

भवई-वि० [हि० भवो] भावों संबंधी । भावों का ।

भद्रदंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दंती वृक्ष का एक भेद । वैद्यक में इसे कटु, उष्ण, रेचक और कृमि, शूल, कुष्ठ, आमदोष आदि का नाशक माना है ।

पर्याय—केशरक्ष । भिषग्भद्रा । जयावहा । आवसर्गकी । जरांगी ।

भद्रदास-संज्ञा पुं० [सं०] देवदास ।

भद्रदेह-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

भद्रहोप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कुहू वर्ष के अंतर्गत एक होप का नाम ।

भद्रनिधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का महादान ।

भद्रपदा-संज्ञा स्त्री० दे० "भाद्रपद" ।

भद्रपर्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रसारिणी ।

भद्रपाल-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

भद्रपीठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भासन जिस पर बैठा जाय ।

(२) यह सिंहासन आदि जिस पर राजाओं या देवताओं का अभिषेक होता है ।

भद्रवन-संज्ञा पुं० [सं०] मधुरा के पास का एक वन ।

भद्रवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] बलराम ।

भद्रवला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रसारिणी लता । (२) माधवी लता ।

भद्रवाहु-संज्ञा पुं० [सं०] रोहिणी के गर्भ से उत्पन्न वसुदेव के एक पुत्र का नाम ।

भद्रमीमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार कदम्ब की एक कन्या का नाम जो दक्ष की कन्या क्रोधा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी ।

भद्रमूर्ध्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवी की एक मूर्ति का नाम ।

भद्रमंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति ।

भद्रमुज-संज्ञा पुं० [सं०] सरपत ।

भद्रमुख-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नाम का नाम ।

भद्रमुस्ता-संज्ञा पुं० [सं०] नागरमोथा ।

भद्रमृग-संज्ञा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति ।

भद्रवय-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रजी ।

भद्रवान-संज्ञा पुं० [सं०] शाला प्रवर्तक एक बौद्ध आचार्य ।

भद्ररेणु-संज्ञा पुं० [सं०] देतावत ।

भद्रघट-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।

भद्रवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटहल । (२) नागजिर्ला के गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्ण की एक कन्या का नाम ।

भद्रवसिष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] भर्तृहरि ।

भद्रवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माधवी लता । (२) यक्षिका ।

भद्रविंद-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

भद्रविराट-संज्ञा पुं० [सं०] एक घणोईसम वृक्ष का नाम जिसके पहले और तीसरे चरण में १० और दूसरे तथा चौथे चरण में ११ अक्षर होते हैं ।

भद्रशाल-संज्ञा पुं० [सं०] कांसिकेय ।

भद्रश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रन ।

भद्रश्रवा-संज्ञा पुं० [सं०] भद्रवाम । पुराणानुसार वर्ष के एक पुत्र का नाम ।

भद्रश्री-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रन का वृक्ष ।

भद्रश्रेयाय-संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार पाराशरों के एक प्राचीन राजा जो शिवोदास से भी पहले हुए थे ।

भद्रश्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

भद्रसेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवकी के गर्भ से उत्पन्न वसुदेव के एक पुत्र का नाम जिसे कंस ने मार डाला था । (२) भागवत के अनुसार कुंतिराज के पुत्र का नाम । (३) बौद्धों के अनुसार मारपांशय आदि कुमति के दण्डित का नाम ।

भद्रसोमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा का एक नाम । (२) मार्कण्डेय पुराण के अनुसार कुरुवर्ष की एक नदी का नाम ।

भद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केकयराज की एक कन्या जो श्रीकृष्ण जी की च्याही थी । (२) रास्ता । (३) भाकास गंगा ।

(४) द्वितिया, सप्तमी, द्वादशी तिथियों की संज्ञा । (५) प्रसारिणी लता । (६) जीर्वाती । (७) बरियारी । (८) शमी । (९) बघ । (१०) दंती । (११) हलदी । (१२) दूर्वा । (१३) चंसुर । (१४) गाय । (१५) दुर्गा । (१६) छाया से उत्पन्न सूर्य की एक कन्या । (१७) विंगल में उत्पन्न वृक्ष का दूसरा भेद । (१८) कंदहल । (१९) कदवाणकारिणी शक्ति । (२०) घृष्णी । (२१) पुराणानुसार भद्राक्षरों की एक नदी का नाम जो गंगा की शाला बड़ी गई है । (२२) बुद्ध की एक शक्ति का नाम । (२३) सुमद्रा का एक नाम । (२४) कामरूप प्रदेश की एक नदी का नाम । (२५) कलिन ज्योतिष के अनुसार एक योग जो कृष्ण पक्ष की पूर्णाया और दशमी के शेषार्द्ध में तथा अश्विनी और पूर्णिमा के पूर्वांश में रहता है । जब यह योग बर्फ, सिंह, कुंभ और मीन राशि में होता है, तब शुक्ली पर, जब मेष, वृष, मिथुन और वृश्चिक राशि में होता है, तब श्वरी-लोक में और जब कन्या, धन, तुला और मकर राशि में होता है, तब पाताल में रहता है । इस योग के लग्न में रहने के समय यदि कोई कार्य किया जाय तो कार्यनिर्वाह और पाताल में रहने के समय किया जाय तो घन का मार्ग होता है । पर यदि इस योग के इस शुक्ली पर राशि के समय कोई कार्य किया जाय तो वह बिलकुल नष्ट हो जाता है ।

भद्रा के समय योग कोई शुभ कार्य नहीं करे । इसे विष्टिभद्रा भी कहते हैं । (२६) पाया । (बालपाय) ।

मुहा०—किसी के सिर की भद्रा उतरना = किसी प्रकार की हानि विध्वंस: आर्थिक हानि होना। भद्रा लगाना = बाधा उत्पन्न करना।

भद्रांग-संज्ञा पुं० [सं०] बलराम।

भद्राकरण-संज्ञा पुं० [सं०] सुन्दन। सिर सुँडाना।

भद्रात्मज-संज्ञा पुं० [सं०] खड्ग।

भद्रानन्द-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की स्वर-साधना प्रणाली जो इस प्रकार है:—आरोही—सा रे ग म, रे ग म प, ग म प ध, म प ध नि, प ध नि सा। अवरोही—सा नि ध प, नि ध प म, ध प म ग, प म ग रे, म ग रे सा।

भद्रागुध-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम।

भद्रारक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार अठारह ध्रुव द्वीपों में से एक द्वीप का नाम।

भद्रायती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटहल का पेड़। (२) महा-भारत के अनुसार एक प्राचीन नगरी।

भद्राश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] चन्दन।

भद्राश्व-संज्ञा पुं० [सं०] जम्बू द्वीप के नौ खंडों या वर्षों में से एक खंड।

भद्रासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मणियों से जड़ा हुआ राजसिंहासन जिस पर राज्याभिषेक होता है। (२) योग साधन का एक आसन।

भद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विंगल में एक वृक्ष का नाम जिसके प्रत्येक चरण में राण, मगण और रणण होते हैं।

(२) भद्रा तिथि। द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी तिथि।

(३) फलित ज्योतिष के अनुसार योगिनी दशा के अंतर्गत पौर्णमी दशा।

भद्री-वि० [सं० भद्रि] भागवान्। उ०—समरथ महा मनोरथ प्राप्त होत भद्रभी भद्री।—रघुसाज।

भद्रादमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बला। (२) नागबला।

भनक-संज्ञा स्त्री० [सं० भगन] (१) धीमा शब्द। ध्वनि। (२) अल्प या उर्ध्व हुँद पहर। जैसे,—हमारे कान में पहले ही इसकी कुछ भनक पड़ गई थी।

भनकना-क्रि० प्र० [सं० भगन] बोलना। कहना।

भनना-क्रि० प्र० [सं० भगन] कहना।

भनभनाना-क्रि० प्र० [सं०] भन भन शब्द करना। गुंजारना।

भनभनाहट-संज्ञा स्त्री० [सं० भनभनाना + आहट (प्रत्य०)] भन-भनाने का शब्द। धीमी आवाज या ध्वनि। गुंजार।

भनित-वि० [सं०] “भगन”।

भनका-संज्ञा पुं० [सं० भन] अर्क उतारने या धाराब नुमाने का बर सूँद का एक प्रकार का बड़ा पदार्थ जिसके ऊपरी भाग में एक संकीर्ण छेद होता है। जिस चीज का अर्क उतारना होता है, वह चीज पानी आदि के साथ दूसरे टाँप

कर आग पर चढ़ा दी जाती है और उसकी भाप बनती है। तब वह भाप उस नली के रास्ते से ठंडी होकर अर्क भाद्रि के रूप में पास रखे हुए दूसरे बर्तन में गिरती है।

भनक-संज्ञा स्त्री० [सं० भन से प्र०] किसी वस्तु का एकाएक गरम होकर ऊपर को उबलना। उबाल।

भनकना-क्रि० प्र० [सं०] (१) उबलना। (२) गरमी पाकर किसी चीज का फूटना। (३) प्रगल्भ होना। जोर से जलना। भड़कना।

भनका-संज्ञा पुं० दे० “भनका”।

भनकी-संज्ञा स्त्री० [सं० भनक] शरी धमकी। घुड़की। जैसे,—बंदरभनकी।

भनभड़, भनभड़-संज्ञा स्त्री० [सं० भन + भा + भन] भनभड़। अव्यवस्थित जन-समुदाय।

भनभनानी-क्रि० प्र० [सं० भन] (१) भनभीत होना। डरना।

उ०—समय लोक सब लोचपति चाहत भनभन भगन।—

तुलसी। (२) घबरा जाना। (३) भ्रम में पड़ना। उ०—

(क) अब ही सुधि भूलिही नैरी भद्र भमरी जिन मीठी सी तानन में। कुलकानि जो आपनी राखो चहो भैरवी दे रही होड कानन में।—नेवाज। (ख) कई पदमाकर सुमंद चलि कंधू तेभ नि भ्रमि आई सी भुजा में लीं भमरि गो।—पद्माकर।

भनूफा-संज्ञा पुं० [सं० भनक] बवाल। लपट। उ०—चातुर शंख कहावत ये ब्रज सुंदरी सोहि रही ज्यौं भनूक। जानी न जात मसाल औ बाल गोपाल गुलाल चलायत नूक।—

शंभू।

भनूत-संज्ञा स्त्री० [सं० भनूति] (१) वह भस्म जो शिव जी लगाया करते थे। (२) शिव की मूर्ति के सामने जलने-वाली अग्नि की भस्म जिसे शिव लोग मस्तक और भुजाभ आदि पर लगाते हैं। भस्म।

क्रि० प्र०—भनना।—भनाना।—भनाना।

(३) दे० “विभूति”।

भनूदर-संज्ञा स्त्री० दे० “भनूत”।

भनकर-वि० [सं०] जिसे देखने में भय लगता हो। डरावना।

भनानक। भीषण। विकराल। डरावनाक।

छा पु० [सं०] (१) एक अक्ष का नाम। (२) हँडल पत्ती।

भनकरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भनकर होने का भाव। डरावन-पन। भनानटना। भीषणता।

भन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध मनोरंजक जो किसी आभूषण की धातु का बड़ा आभूषण होता है और जिसके साथ उस आभूषण की धातु का बड़ा आभूषण होता है और जिसके साथ उस आभूषण की धातु का बड़ा आभूषण होता है।

अनिष्ट या विपत्ति की संभावना से मन में होनेवाला छोम ।

डर । भीति । खौफ ।

विशेष—यदि यह विकार सहसा और अधिक मान में उत्पन्न हो तो शरीर काँपने लगता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, मुँह से शब्द नहीं निकलता और कभी कभी हिलने डुलने तक की शक्ति भी जाती रहती है ।

मुहा० ११—मय खाना = डरना । भयभीत होना ।

यो०—भयभीत । भयानक । भयंकर ।

(२) मालकों का वह रोग जो उनके कहीं डर जाने के कारण होता है । (३) निरुक्ति के एक पुत्र का नाम । (४) द्रोण के एक पुत्र का नाम जो उसकी अनिमित्त नामक स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । (५) कुञ्जक पुष्प । मालती । बि० दे० “मया” या “हुआ” उ०—भय दस मास परि भइ घरी । पद्मावत कन्या अग्रतरी ।—जायसी ।

भयकर-वि० [त०] जिसे देखकर भय लगे । भय उत्पन्न करनेवाला । भयानक ।

भयचक्र-वि० दे० “भीचक” ।

भयडिडिम-छंदा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का लड़ाई का राजा ।

भयत-छंदा पुं० [हि०] चंद्रमा ।

भयद-वि० [मं०] भय उत्पन्न करनेवाला । भयानक । डरापन । खौफनाक ।

भयदोष-छंदा पुं० [सं०] जैनों के अनुसार एक प्रकार का दोष जो उस समय होता है जब मनुष्य अपनी हृष्टा से नहीं बल्कि केवल लोकापवाद के भय से सामयिक कर्म आदि करता है ।

भयनीशन-छंदा पुं० [सं०] विष्णु ।

भयनाशिनी-छंदा स्त्री० [सं०] प्रायमाणा कला ।

भयप्रद-वि० [सं०] जिसे देखकर भय उत्पन्न हो । भय उत्पन्न करनेवाला । भयानक । खौफनाक ।

भयभीत-वि० [सं०] जिसके मन में भय उत्पन्न हो गया हो । डरा हुआ ।

भयभीचन-वि० [मं०] भय घुसानेवाला । डर दूर करनेवाला । निर्भय करनेवाला ।

भयवर्जिता-छंदा स्त्री० [मं०] व्यवहार में दो गाँवों के बीच की वह सीमा जिसे पारी और प्रतिवादी आपस में मिलकर ही मानें और जिसका निर्णय किसी दूसरे को न करना पड़े हो ।

भयवाद-छंदा पुं० [हि० मं० + वार (पय०)] (१) एक ही गोत्र या वंश के लोग । आदि-वंश । (२) विराटी का आदिमी । सम्राज्य ।

भयघृह-छंदा पुं० [मं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का गृह

जो युद्ध-काल में इसलिये रखा जाता था जिसमें सरस स्थित होने पर राजा उसमें आश्रय लेकर अपनी रक्षा के भयहरण-वि० [सं०] भय का नाश करनेवाला । भय करनेवाला ।

भयहारी-वि० [सं० भयहारि] डर घुसानेवाला । भयघ्न । डर दूर करनेवाला ।

भया-छंदा स्त्री० [मं०] एक राक्षसी जो काष्ठ की बहने और तर्कों की थी । विष्णुके हाथों के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । बि० दे० “हुआ” । उ०—जहाँ भय शाप हरि अह नहुष गयाती । हरिभद्र ।

भयाकुल-वि० [सं०] भय से व्याकुल । डर से घबराया हुआ भयभीत ।

भयातिसार-छंदा पुं० [सं०] अतिसार का एक भेद जिसमें देह भय के कारण दस्त आने लगते हैं ।

भयातुर-वि० [सं०] डर से घबराया हुआ । भयभीत ।

भयानक-वि० [सं० भयानक] डरावना । भयानक । उ०—“तुम बिना सोभा न ज्यों गृह बिना दीप भवान् ।” स्वास उतास घट में अवध भासा मान ।—गूर ।

भयानक-वि० [सं०] जिसे देखने से भय लगता हो । भयानक । भयंकर । डरावना ।

छंदा पुं० (१) बाप । (२) गृह । (३) साहित्य में जो रस के भंगवर्ग छंदों रस जिसमें भीषण रसों (तेज, दुःख, क्रोध, हिलने या फटने, समुद्र में डूबने आदि) का वर्ण होता है । इसका वर्ण व्याम, अधिष्ठाता देवता वाम, आश्रयन अयंकर दशैत, उद्धारन उसक घोर वस्त्र और अनुगम कंघ, स्वेद, रोमांच आदि माने गए हैं ।

भयाना-वि० कि० मं० [मं० भय + आना (पय०)] डरना । भयभीत होना । उ०—जो अहि कबहुँ न देखिवा गुरु में भवि दुरखाय । सूर्य ज्ञान जाको भया सो जई तई भवि भयाप ।—कबीर ।

कि० त० भयभीत करना । डराना ।

भयाघन-वि० [हि० भय + घनन (पय०)] डरावना । भयानक । भयंकर ।

भयाघद-वि० [मं०] भयंकर । डरावना । खौफनाक ।

भय्या-छंदा पुं० दे० “भया” ।

भयत-छंदा स्त्री० [मं० जति] भ्रम । संदेह । शक । उ०—“छीला राजा राम की रोलाई सबही संत । आपा न पन भये छूटी सबह अरन ।—दादू ।

भर-वि० [हि० भरना] डक । पूरा । सच । तत्ताम । जैसे—तेरा भर, जादे भर, शब्द भर । उ०—(क) अति कलना मनुष्य गुमाई । तुम भर जान घड़ी ।—गूर । (ग) रई मो नो

जन्म भर सेवा। चले सो यह जिव साथ परेवा।—
जायसी।

भू० कि० वि० [दि० भार] भर से। बल से। द्वारा।
उदा०—(क) सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें
सेवक घरम कछोरा।—तुलसी। (ख) गिरिगो मुँह के भर
भूमि तहाँ। चलि पैठि पराय लजाय जहाँ।—रघुराज।
संज्ञा पुं० [सं० भार] (१) भार। योत्त। वजन। (२)
पुष्टि। मोटाई। उ०—भर लाव्यो परन उरोजनि में रघुनाथ
राजी सेम राजी भौति कल अलि सेमी की।—रघुनाथ
क्रि० प्र०—हालना।—पड़ना।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो भरण पोषण करना हो।
(२) पुष्ट। लड़ाई।

संज्ञा पुं० [सं० भरत या भरतपुत्र] एक छोटी और अष्टद्वय
भाति जो संयुक्त प्रांत और बिहार में पाई जाती है। आज-
कल इस जाति के कुछ लोग अपने आपको भरद्वाज के वंशज
बतलाते हैं।

भरद्वाज—संज्ञा पुं० दे० “भरद्वाज”।

भरक—संज्ञा पुं० [देश०] दलदलों में रहनेवाला एक प्रकार का
बकी जो पंजाब और बंगाल में अधिकता से पाया जाता
है। यह प्रायः अकेला रहता है, पर कभी कभी दो या तीन
भी एक साथ दिखाई देने हैं। मोम के लिये इसका तिकार
कराया जाता है।

संज्ञा पुं० दे० “भरक”।

भरकना—क्रि० प्र० दे० “भरकना”।

भरका—संज्ञा पुं० [देश०] (१) वह जमीन जिसकी मिट्टी काकी
और चिकनी हो, परंतु सूख जाने पर सफेद और भुरभुरी हो
जाय। यह प्रायः होती नहीं जाती। (२) दे० “भरक”।

भरकाना—क्रि० प्र० दे० “भरकाना”।

भरकी—संज्ञा स्त्री० दे० “भरका”।

भरकूट—संज्ञा पुं० [हि०] मलक। माथा।

भरक—प्रत्य० [हि० भरना] एक संकेत जो पाठकी दोनोवाले
कटार वाली आदि से बचकर चलने के लिये करते हैं।

भरचिटी—संज्ञा स्त्री० [देश०] हिसार प्रांत में होनेवाली एक
प्रकार की घास जो वर्षा ऋतु में अधिकता से होती है।
पशुओं के लिये यह बहुत पुष्टिकारक होती है। यह छोटी
और बड़ी दो प्रकार की होती है।

भरट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुम्हार। (२) सेपक। नौकर।

भरटफ—संज्ञा पुं० [सं०] संघासियों का एक संग्रहाय।

भरण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालन। पोषण। उ०—विध भरण
पोषण कर जोई। तारु नाम भान अस होई।—तुलसी।
(२) भरणो नक्षत्र। (३) वेतन। तनवाह। (४) किसी
वस्तु के बटने में जो बूझ दिया जाय। भर्त्ता।

भरण—संज्ञा स्त्री० [सं०] (३) पोषक लता। कढ़वी तराई। चिया-
तराई। (२) सचाहस नक्षत्रों में दूसरा नक्षत्र। तीन तारों
के कारण इसकी आकृति त्रिकोण सी है। इसके अधिष्ठाता
देवता यम हैं। यमदैवत। यमभू। (३) एक लघु जो भूमि
खोदने के लिये अच्छा माना जाता है।

वि० भरण करनेवाली। पालन करनेवाली। उ०—तोही
कणि हरणी। तोही विध भरणी।—विधाम।

भरणीभू—संज्ञा पुं० [सं०] राहू।

भरणीय—वि० [सं०] भरण करने के योग्य। पालने पोसने के
लायक।

भरण्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृष्य। दाम। (२) वेतन।
तनवाह।

भरण्यु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर। (२) चंद्रमा। (३) भक्ति।
(४) मित्र।

भरत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न राजा दश-
रथ के पुत्र और रामचंद्र के छोटे भाई जिनका विवाह
माण्डवी के साथ हुआ था। ये प्रायः अपने मामा के यहाँ
रहते थे और दशरथ के देहांत के उपरान्त अयोध्या आए थे।
दशरथ का आश्रय इन्हीं ने दिया था। कैकेयी ने
इन्हीं को अयोध्या का राज्य दिलवाने के लिये रामचंद्र को
वनवास दिलाया था, पर इसके लिये इन्होंने अपनी माता
की बहुत कुछ निंदा की थी। रामचंद्र को ये सदा अपने
बड़े भाई के तुल्य मानने थे और उनके प्रति बहुत धरदा
रहते थे। पिता के देहांत के उपरान्त रामचंद्र को अयोध्या
वापस लाने के लिये भी यही चित्रकूट गए थे। जब राम-
चंद्र किसी प्रकार आने के लिये तैयार नहीं हुए, तब ये
अपने साथ उनकी पादुका लेते आए और उसी पादुका को
सिंहासन पर रखकर रामचंद्र के आने के समय तक अयोध्या
का शासन करते रहे। और जब रामचंद्र लौट आए, तब
इन्होंने राज्य उन्हें सौंप दिया। इनको तक्ष और पुष्कर
नामक दो पुत्र हुए थे। उन्हीं पुत्रों का साथ लेकर इन्होंने
सर्वदेव देव के राजा दीतुस के साथ युद्ध किया था और उसे
पराजित करके उसका राज्य अपने दोनों पुत्रों में बाँट दिया
था। पंडित ये रामचंद्र के साथ स्वर्ग चले गए थे। (२)
भागवत के अनुसार कृष्णदेव के पुत्र का नाम। वि० दे०
“जय भरत”। (३) लङ्काला के गर्भ से उत्पन्न दुष्यंत
के पुत्र का नाम जिनका प्रथम पत्न्य कृति के आश्रम में हुआ
था। जन्म के समय कृति ने इनका नाम सर्वदमन रखा
था और इनको दक्षिण्य के साथ दुर्यंत के साथ भेंट
दिया था। (४) दे० “दुर्यंत”। बड़े होने पर ये बड़े प्रतापी
और साहसी राजा हुए। विदुरराज की तीन कन्याओं
में इनका विवाह हुआ था। इन्होंने अनेक अधर्मों और

राजमय यह किण्वे। इस देश का "भारतवर्ष" नाम इन्हीं के नाम से पड़ा है (४) एक प्रसिद्ध मुनि जो नाट्य शास्त्र के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। संभवतः ये पाणिनि के बाद हुए थे; क्योंकि पाणिनि के सूत्रों में नामक नाट्य शास्त्र के सिद्धांत और कृताक्ष दो आचार्यों का तो उल्लेख है, पर इनका नाम नहीं आया है। इनका लिखा हुआ नाट्य शास्त्र नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध और प्रामाणिक माना जाता है। कहा जाता है कि इन्होंने नाट्य-कला मझा में और नृत्य कला निच में सीखी थी। (५) लंकीन शास्त्र के एक आचार्य का नाम। (६) वह जो नाटकों में अभिनय करता हो। नट। (७) शायर। (८) तंतुवाय। जुलाहा। (९) क्षेत्र। खेत। (१०) प्राचीन काल का उत्तर भारत का एक देश जिसका उल्लेख वाल्मीकिरामायण में है। सहा पुं० [मं० नाट्य] लड़ा पक्षी का एक भेद जो प्रायः लारे भारत में पाया जाता है। यह लड़ा होता है और झुंड में रहता है। जाड़े के दिनों में चोंचों और मुँहों में दानों में हमके झुंड बहुत पाए जाते हैं। इनका शब्द बहुत मधुर होता है और यह बहुत ऊँचाई तक उड़ सकता है। यह प्रायः अंडे देने के समय जमीन पर घाम में घोंसला बनाता है और एक बार में ४-५ अंडे देता है। यह अनाज के दाने या कोई मकई के आकर अपना निवास करता है। गंधा पुं० [मं०] (१) कौमा नामक धातु। बगवट। रि-दे० "कौमा"। १ (२) वैसे के वरतन बनानेवाला। छेरी।

गंधा स्त्री० [हिं० मन्ना] मालमृगारी (स्त्री) ।

भारतखंड-गंधा पुं० [मं०] (१) राजा भरत के किण्वे हुए कृती के बी बंधों में से एक बंध। भारतवर्ष। हिंदुस्तान। (२)

भारतवर्ष के अंतर्गत कुमायवा बंध।

भारतवर्षक-गंधा पुं० [मं०] नाटक में नाट्य करनेवाला। पुष्प। नट।

भारतवर्षी-गंधा स्त्री० [हिं०] पृथ्वी।

भारतवर्षी-गंधा पुं० दे० "भारतवर्ष"।

भारतवर्षीणा-गंधा स्त्री० [मं०] एक प्रकार की चीला जो कच्छी चीला से बहुत कुछ मिलती जुलती होती है। यह बजाई भी कच्छी चीला की तरह हो जाती है।

भारता-गंधा पुं० [दे०] एक प्रकार का साधन जो बंगन, भाद या भदई आदि की भुज्ज, उनमें नमक मिले आदि मिश्रण और कभी कभी टंगे घी या तेल आदि में लीव कर मीवार दिया जाता है। चीला।

गंधा पुं० दे० "भारता"।

भारता-गंधा पुं० [मं० नट] (१) बलि। श्रमण। शान्ति।

(२) स्वामी। मालिक।

भारतिया-विं० [हिं० भरत + म्या (वप०)] भरत अर्थात् बभ्रु धातु का बना हुआ।

सहा पुं० कमकुट के बर्तन या घड़े आदि धारनेवाला। भार धातु से चीजे बनानेवाला।

भारती-गंधा स्त्री० [हिं० भारता] (१) किसी चीज में भरे जाने का भाव। भरा जाना।

मुहा०—भारती करना = किसी के बीच में रखना, तलाक़ के बेखाना। जैसे,—(क) टीका भारती करना। (ख) इसमें (५) की और भारती करो। भारती का = जो, केवल अपना पुर

करने के लिये अपना जाय। बहुत ही साधारण का है।

(२) नकली, चित्रकारी या कसौदी आदि में बीच का लाली स्थान इस प्रकार भरना जिसमें उसका सौंदर्य बढ़ जाय।

जैसे,—कसौदी के घूटों में भी भारती। बीच में भी भारती।

(३) शक्ति या प्रतिष्ठ होने का भाव। प्रवेश होना।

जैसे,—छपूतों का रङ्ग में भारती होना, चीत में भारती

होना। (४) यह भाव जिसमें माल लपटा जाता हो।

(छा०) (५) यह माल जो देखी भाव में भरा या शरा

जाय। (लघा०) (६) जहाज पर माल लाने की क्रिया।

(लघा०) (७) समुद्र के पानी का चढ़ाव। उथार। (लघा०)

(८) नदी के पानी की बाढ़। (लघा०)

गंधा स्त्री० [मं०] (१) गाँवों नामक कदम्ब। (२) एक

प्रकार की घाम जो पशुओं के चारे के काम में आती है।

भारती-गंधा पुं० [मं०] देश के अनुसार एक प्रकार के छंद का नाम।

भारती-गंधा पुं० दे० "भारत"।

भारती-गंधा पुं० दे० "भारत"।

भारती-गंधा पुं० दे० "भारत"।

भारती-गंधा पुं० दे० "भारत"।

भारती-गंधा पुं० दे० "भारत"।

भारती-गंधा पुं० [मं०] (१) भंगिरस, गोत्र के उत्पत्ति की स्त्री समता के गर्भ में से उत्पन्न के भाई बृहस्पति के वीर

से उत्पन्न एक वैदिक कवि जो गोत्र-प्रवर्तक और संवसार थे। कहते हैं कि एक बार उत्पत्ति की अनुपस्थिति में उनके

भाई बृहस्पति ने उनसे स्त्री प्रसूता के साथ संसर्ग किया था जिससे भारती का जन्म हुआ। अपना व्यक्तिगत

छिपाने के लिये समता ने भारती का त्याग करवा दिया था, पर बृहस्पति ने उससे दो माँ बनने में मना दिया।

दोनों में कुछ विवाद भी हुआ, पर अंत में दोनों ही मरणा

नाटक की छोड़कर चले गए। उनके चले जाने पर, सूर्य

गण इनसे उठा के गए और उन्होंने ईश्वर को प्रार्थना किया। जब भारत ने पुनः जन्म से मरणात्मक पद दिया, तो मरणात्मक ने प्रसन्न होकर भारती को उनके गद्गद कर दिया। महाभारत में लिखा है कि एक बार पद विमलक में

गंगाजान कर रहे थे। उधर से जाती हुई घुत्ती की अप्सरा को देखकर इनका वीर्यपात हो गया, जिससे द्रोणाचार्य का जन्म हुआ। एक बार इन्होंने भ्रम में पड़कर अपने मित्र रैभ्य को शाप दे दिया था; और पीछे से पछताकर जल मारे थे। पर रैभ्य के पुत्र अर्वांसु ने अपनी तपस्या के प्रभाव से इनको फिर जिला लिया था। वनवास के समय एक बार रामचंद्र इनके आश्रम में भी गए थे। भावप्रकाश के अनुसार अनेक ऋषियों के प्रार्थना करने पर ये स्वर्ग जा कर इंद्र से आशुर्वेद सीख आए थे। ये राजा दिवोदास के पुरोहित और सप्तर्षियों में से भी एक नाम जाते हैं। (३) बीदों के अनुसार एक अर्हन् का नाम। (३) एक अग्नि का नाम। (४) एक प्राचीन देस का नाम। (५) अर्द्धाजि के यंधान या गोत्रापत्य। (६) भरत पक्षी।

भरना—कि० सं० [सं० भरण] (१) किसी रिक्त पात्र आदि में कोई पदार्थ इस प्रकार डालना जिसमें यह पूर्ण हो जाय। खाली जगह को पूरा करने के लिये कोई चीज डालना। पूर्ण करना। जैसे,—छोटे में पानी भरना। गड्ढे में मिट्टी भरना। गाड़ी में माल भरना। तबिय में रुई भरना। (२) डँडेलना। डलटना। डालना। (३) रिक्त स्थान को पूर्ण भयवा उसकी भंडारतः पूर्ति करना। स्थान को खाली न रहने देना। जैसे,—(क) सेनापति ने अपनी सेना से सारा साह्य भर दिया। (ख) जुलाहे नेली में सूत भरते हैं। (ग) तस्वीर में रंग भर को। (घ) दो पदार्थों के बीच के भवकाश या छिद्र आदि में कुछ डालकर उसे बंद करना। जैसे,—दरज भरना। (५) तोप या बंदूक आदि में गोली बारूद आदि डालना। जैसे,—बंदूक भरना। (६) पद पर नियुक्त करना। रिक्त पद की पूर्ति करना। जैसे,—उन्होंने अपने संबंधियों को लाकर ही सारे पद भर दिए। (७) भ्रण का परिपोष या हानि की पूर्ति करना। पुकाना। देना। जैसे,—(क) यदि आपकी कोई हानि होगी तो मैं भर दूँगा। (ख) भर्मा तो वे अपने भाई का देना ही भर रहे हैं।

मुहा०—(किसी का) घर भरना = (किसी को) द्रव्य धन देना। जैसे,—पहले आप अपने संबंधियों का तो घर भर लीजिए। (८) खेत में पानी देना। (९) गुप्त रूप से किसी की निंदा करना भयवा कोई बुरी बात मन में धँडाना। जैसे,—किसी ने उनको भर दिया है, इसी विषय के संबंध में वह मेरी बोले। (१०) धातु के छद् आदि को पीटकर भयवा और किसी प्रकार छोटा और मोटा करना। (११) किसी प्रकार स्पर्शित करना। कठिनता से चिनाना। (१२) निबाँह करना। निबाँहना। उ०—मेरे ही किए मान व्याप होत नरक ही कैसे है भरी।—हरिदास । (१३) काटना।

दसना। उ०—जहाँ सौ नागिन भर गईं काला करे सा भंग।—जायसी। (१४) सहना। झेलना। जैसे,—(क) दुःख भरना। (ख) करे कोई, भरे कोई। (१५) पशुओं पर बोझ आदि लादना। (१६) सारे शरीर में लगांना। पोतना। उ०—भूषण कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरे।—तुलसी।

संयोग—कि०—डालना।—देना।

कि० अ०—(१) किसी रिक्त पात्र आदि का कोई और पदार्थ पढ़ने के कारण पूर्ण होना। जैसे,—(क) गगरा भर गया। (ख) ताडाय भर गया। गड्ढा भर गया।

यौ०—भरा पूरा = (१) जो सब प्रकार से सुख्य और संपन्न हो। (२) सब प्रकार से पूर्ण। जिसमें किसी प्रकार की व्युत्ति न हो।

(३) डँडैला या डाला जाना। (३) रिक्त स्थान को पूर्ण होना। स्थान का खाली न रहना। जैसे,—घिप्टर के सब कुरसियाँ भर गईं। (५) पदार्थों के बीच के छिद्र या अवकाश का बंद होना। (५) तोप या बंदूक आदि में गोली बारूद आदि का होना। जैसे,—भरा हुआ नरुंघा। (६) ऋण आदि का परिशील होना। जैसे,—सारा देना भर गया। (७) मन में क्रोध होना। असंतुष्ट या अप्रसन्न रहना। जैसे,—जरा उन्हें आकर देखो तो सही, कैसे भरे धँडे हैं। (८) धातु के छद् आदि का पीटकर मोटा और छोटा किया जाना। (९) पशुओं पर बोझ आदि लादना। (१०) चेषक के दाँवों को सारे शरीर में निकल आना। (११) पात्र में भँगुर आना। पाय का टीक और बराबर होना। (११) किसी भंग का बहुत काम करने के कारण दुर्द्ध करने लगना। जैसे,—छोटा उठाए उठाए हाथ भर गया। (१३) शरीर का हट पुट होना। (१४) पशुओं का गर्भ धारण करना। गाभिन होना। (१५) मितेना चाहिए, बतना हो जाना। कुछ कमी या कसर न रहे जाय। जैसे,—मेला भर गयो। (मिन्न मिन्न शब्दों के साथ अकर्मक और सकर्मक दोनों रूपों में आकर यह शब्द मिन्न-मिन्न-अर्थ देता है। जैसे,—भरक भरना, दम भरना। ऐसे अर्थों के लिये उन शब्दों को देयता चाहिए।)

संज्ञा पुं० (१) भरने की क्रिया या भाव। जैसे,—भरना भरना भरते हैं। (२) रिक्त। पूरा।

भरती—संज्ञा स्त्री० [सं० भरण] वहनावा। पोशाक। कपड़े लपे। उ०—मैंने मेचक मृदुम मेचक ननु भनुहरति भूषन भाषि—मुचमी।

भरती—संज्ञा स्त्री० [हि० भरती] कपड़े में की बरती। नाई।

भंदा स्त्री० [?] (१) छुट्टी। (२) सोरमी। (३) गारदी मंत्र। (४) एक प्रकार की जंगली बूटी।

भरपाई—कि० वि० [हि० भर + पना (भर पाना)] पूर्ण रूप मे । भरी भौति । उ०—आपुन वज्र समान भगु हरि मालां दुरितन भई भरपाई ।—सूर ।

भरपानी—श्री० (१) भर पाने का भाव । जो कुछ चाकी हो, वह पूरा पूरा पा जाना । (२) वह रसीद जो पूरी पूरी बमूली हो जाने पर दी जाय । कुल चाकी चुक जाने पर दी जाने वाली रसीद ।

भरपूर—वि० [हि० भरा + पूरा] (१) जो पूरी तरह से भरा हुआ हो । पूरा पूरा । (२) जिसमें कोई कमी न हो । परिपूर्ण ।

कि० वि० (१) पूर्ण रूप से । अच्छी तरह पूरा करके । (२) भरी भौति ।

बहा पुं० समुद्र की तरंगों का चढ़ाव । उबार । भाटा का उलटा । (लघा०)

भरभराना—कि० प्र० [प्रभु०] (१) (रोओ) लड़ा होना । (इस अर्थ में इसका प्रयोग केवल "रोओ" शब्द के साथ होता है ।) (२) व्याकुल होना । घबराना । उ०—भर-भराय देखे बिना देखे पल न अपायी । रसनिधि नेही नैन ये क्यों समुसाये जायँ ।—रसनिधि ।

भरभूजा—संज्ञा पुं० दे० "भरभूजा" ।

भरभेद—संज्ञा पुं० [हि० भर + भेदना] सामना । मुकाबला । मुहभेद । उ०—भरि साहूका को जाको देवहू-देराते दुते गयो पंथ ही में परितामु भरभेदा है ।—रघुनाथ ।

भरभनी—संज्ञा पुं० [सं० भर] (१) भ्रति । संशय । संदेह । धोखा । (२) भेद । रहस्य ।

मुहा०—भरम गैपाना = अपना भेद पोखना । अपनी याद देना । भरम बिगाड़ना = भेदा फेंकना । रहस्य खोलना ।

भरमना—कि० प्र० [सं० जमण] (१) घुमना । चलना । फिरना । (२) मारा मारा फिरना । भटकना । (३) धोखे में पड़ना ।

संज्ञा श्री० [सं० भर] (१) भूल । गलती । (२) धोखा । भ्रति । भ्रम ।

भरभनी—कि० प्र० [सं० भरना का भक० रूप] (१) भर में डालना । चर में डालना । बहकाना । उ०—कोऊ निरति रही बाह लोचन निमिष भरमाई । सूर प्रभु की निमिष सोभा करन गई भाई ।—सूर । (२) भटकाना । व्यर्थ रूप उबार घुमाना । उ०—माधो नू मोहि कारे की लाज । जम जम कोहं भरमायो अभिमानी बेकाज ।—सूर ।

कि० प्र० चकित होना । हैरान होना । अर्थ में भी आना । उ०—नूर दशम छी निमिष कै चुकनी आमाही ।—सूर ।

भरभार—संज्ञा श्री० [हि० भर + भार = भरभार] बहुत भारी । भार्यत भरभार ।

भरराना—कि० प्र० [प्रभु०] (१) भर शब्द के साथ गिरा । भरराना । (२) पिल पड़ना । टूट पड़ना । उ०—भाप और भारी । डहरान मीय सारी ।—सूर ।

कि० प्र० (१) भर शब्द के साथ गिराना । (२) दूसरों को पिलने अथवा टूट पड़ने में प्रवृत्त करना ।

भरल—संज्ञा श्री० [देग०] नीले रंग की एक प्रकार की जेठी भेद जो हिमालय में भूतान से लहास तक होती है ।

भरवाई—संज्ञा श्री० [सं० भारवाह] घोस उठाने की दौरी । ष डलिया या टोकरी जिसमें घोस रखा जाता है ।

संज्ञा श्री० [हि० भरवाना] (१) भावने की क्रिया या भाव । (२) भरवाने की मजदूरी ।

भरवाना—कि० प्र० [हि० भरना का प्रे० रूप] भरने का काम दूसरे से कराना । दूसरे को भरने में प्रवृत्त करना ।

भरसक—कि० वि० [हि० भर = पूरा + सक = सक्रि] मया सक्रि । जहाँ तक हो सके ।

भरसक—संज्ञा श्री० [सं० भरसका] दाँट । कटकार । उ०—मित्र चितहि हँसि हेरि सधु तेजहि करि भरसन ।

भरसाई—संज्ञा पुं० दे० "भाइ" ।

भरहरना—कि० प्र० दे० "भरभराना" । उ०—जाको गुपत सुनत अरु गावत पाप बूंद जई भवि भरहरि ।—सूर ।

भरहराना—कि० प्र० दे० "भरभराना" ।

भरौति—संज्ञा श्री० दे० "भ्रति" । उ०—प्रपनी अपनी जनि सों सय कोइ विसह पौति । दादु सेवक राम का ताकी नहीं भौति ।—दादु ।

भरार्ह—संज्ञा श्री० [हि० भरना] (१) एक प्रकार का कंज जो पाने बनारस में लगता था और जिसमें से भाया कर उगाहने वाले राजकर्मचारी को मिलता था और भाया सरकार में जमा होता था । (२) भरने की क्रिया या भाव । (३) भरने की मजदूरी ।

भरा पूरा—वि० [हि० भरना + पूरा] (१) जिसे किसी बात की कमी न हो । संपन्न । (२) जिसमें किसी बात की कमी न स्पृन्ता न हो ।

भराप—संज्ञा पुं० [हि० भरना + पाप (भाव०)] (१) भरने का भाव । भरत । (२) भरने का काम । (३) कसीरा कान्हे में, पतियों के बीच के स्थान को तांगों से भरना ।

भरित—वि० [सं०] (१) जो भरा गया हो । भरा हुआ । (२) जिसका भरन या पालनपोषण किया गया हो । पाला पोसा हुआ ।

भरिया—वि० [हि० भरना] (१) भरनेवाला । पूर्ण करनेवाला । (२) कन भरनेवाला । कन चुकनेवाला ।

गदा पुं० वह जो बरतन आदि धारण के काम करता हो । बरहूँ करनेवाला । शक्तिवा ।

भरी-संज्ञा स्त्री० [हि० भर] एक तौल जो दश भागों या एक रूप के बराबर होती है ।

भरु-संज्ञा पुं० [सं० भार] (१) बोझ । वजन । बोझ । उ०—

(क) विविध सिंगार किये आगे ठाढ़ी ठाढ़ी प्रिये सखी भयो भरु आनि रतिपति दल दलकें ।—हरिदास । (ख) भावक उभरीही भयो कष्ट पन्थो भरु आय । सीपहरा के मिल दियो निस छिन हेरत जाय ।—विहारी ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) समुद्र । (३) स्वामी । मालिक । (४) सोना । स्वर्ण । (५) शंकर ।

भरुआ-संज्ञा पुं० [देश०] टसर ।

संज्ञा पुं० दे० "भरुआ" । उ०—घोर चतुर बटपार नट प्रभु प्रिय भंदा भंड । सब अण्डक परमारथी कलि कुपंथ पापंद ।—तुलसी ।

भरुआ-संज्ञा पुं० [हि० भरना] पुरखे के आकार का मिट्टी का घना हुआ कोई छोटा पात्र । मटकना । चुकड़ ।

भरुहाना-संज्ञा पुं० [हि० भर या भारी + आना या हाना (प्रत्य०)] घमंड करना । अभिमान करना । उ०—(क) अब ये भरुहाने फिर कट्टे डरत न भाई । सूरज प्रभु सुंद पाह के मए दोट बगाई ।—सूर । (ख) नीच एहि बीच पति पाह भरुहाइयो सिहाइ प्रभु भजन यजन मन कायको ।—तुलसी ।

भरु स० [हि० भर] (१) बहकाना । धोखा देना । भ्रम में डालना । उ०—धुमको नंदमहर भरुहाए । माता गर्भ नहीं धुम उपजे सौ कही कहाँ ते आए ।—सूर । (२) उत्तेजित करना । बढ़ावा देना । उ०—भरुहाए नट भाट के चरि चढ़े संग्राम । कै ये भाजे भाइ कै बाँधे परिनाम ।

भरुही-संज्ञा स्त्री० [देश०] कलम बनाने की एक प्रकार की कच्ची किल्ल ।

संज्ञा स्त्री० दे० "भरत" (पक्षी) ।

भरुङ्गा-संज्ञा पुं० दे० "रेंड" ।

भरुण्ड-संज्ञा पुं० [हि० भर + ण्ड] दूरवाजे के ऊपर लगी हुई यह लकड़ी जिसके ऊपर दीवार उठाई जाती है । हमें "बराज" भी कहते हैं ।

भरुया-संज्ञा पुं० [सं० भरु + या (प्रत्य०)] पालन करनेवाला । पोषक । पालक । रक्षक ।

वि० [हि० भरु + या (प्रत्य०)] भरनेवाला । जो भरना हो ।

भरोसा-संज्ञा पुं० [सं० भर + सा (प्रत्य०)] (१) आश्रय । आश्रय । (२) सहारा । अवलंब । (३) आशा । उम्मेद । (४) दृढ़ विश्वास । यकीन ।

कि० प्र०—भरना ।—भरना ।

भरोसी-संज्ञा पुं० [हि० भरोसा + ई (प्रत्य०)] (१) भरोसा या आश्रय रखनेवाला । जो किसी बात की आशा रखता हो ।

(२) जो आश्रय में रहता हो । आश्रित । (३) जिसका भरोसा किया जाय । विश्वास करने योग्य । विश्वसनीय ।

भरोटी-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की जंगली घास जो राजपूताने में अधिकता से होती है और जो पशुओं के खाने के काम में आती है । इसमें छोटे छोटे दाने या फल भी लगते हैं जिनके चारों ओर काँटे होते हैं । भुरत ।

भरोती-संज्ञा स्त्री० [हि० भरना + औती (प्रत्य०)] यह रस्म है जिसमें भरोटी की गई हो । भरोटी का कागज ।

भरोना-संज्ञा पुं० [हि० भर + ना (प्रत्य०)] बोलना । बजनी । मारी ।

भर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । महादेव । शंकर । उ०—भर्ग तेज भर्ग भक्त सर्गेश वैष्णवे ।—केशव । (२) बलिहोत्र के पुत्र का नाम । (३) सूर्य का तेज । (४) एक प्राचीन देश का नाम ।

संज्ञा पुं० [सं० भर्ग] ज्योति । दीप्ति । चमक ।

भर्गाजिन-संज्ञा पुं० [सं०] एक शीघ्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

भर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] भाद में भूना हुआ भजन ।

भर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं० भर्त्ता] (१) अधिपति । स्वामी । मालिक । (२) खाबंद । (३) विष्णु ।

संज्ञा पुं० दे० "भरता" ।

भर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं० भर्त्ता] खो का पति । शस्त्री । मालिक । खाबंद । उ०—काम अनि तन दहन सीरी मूरभाम भर्त्ता ।—सूर ।

भर्त्ता-संज्ञा स्त्री० दे० "भरती" ।

भरुहरी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध वैष्णव और कवि जो उग्रवर्णि के राजा विक्रमादित्य के छोटे भाई और गंधर्व-मेन के दासी-पुत्र थे । कहते हैं कि ये भरती खो के साथ बहुत अनुराग रखते थे, पर पंडितों ने उसकी दुश्चिन्ता के कारण संसार से विरक्त हो गए थे । यह भी कहा जाता है कि कान्ति में आकर योगी होने के उपरान्त इन्होंने कई ग्रंथों की रचना की थी । कुछ व्योमों का यह भी विश्वास है कि ये अपने भाई विक्रमादित्य के ही हाथ से मारे गए थे । आज इन्हें कुछ योगी या साधु हाथ में सारंगी छेदा इनके संबंध के गीत गाते और भीज मंगते हैं । ये लोग, अपने आरक्षों इन्हीं के संवसार का बतलाते हैं । (२) एक संस्कार राग जो छल्लिन और पुरन के मेन में बनता है । हमने सा यादों और म संवारी होना है ।

भरुस-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निद्रा । सोना । (२) दार-द्वार ।

भरुस-संज्ञा पुं० दे० "भरुस" ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना । स्वर्ण । (२) गानि ।

भरुस-संज्ञा पुं० दे० "भरुस" ।

भर्ग-संज्ञा पुं० [भर्ग शब्द से भन्तु०] (१) पतिव्रत की उद्गान ।
 (२) एक प्रकार की चिड़िया ।
 भर्गना-क्रि० प्र० [भर्गे मे भन्तु०] भर्गे भर्गे शब्द होना । जैसे,—
 भावांश भर्गना ।
 भर्जन-संज्ञा स्त्री० [भं० भर्जन] (१) निश । अपवाद ।
 सिंहायत । (२) पटकार । बट-बट ।
 भर्जन-संज्ञा पुं० [भं०] पुराणानुसार कन्नौज के एक राजा का
 नाम जिसको पल्लव कुंड से कलवती नाम की एक कन्या
 मिली थी ।
 भर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार डालने की क्रिया । वध । (२)
 दान । (३) निरूपण ।
 भर्गका-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक विशेष आकार का बना हुआ
 सोने या चाँदी का टुकड़ा जो गोभा के लिये लय में उड़ा
 जाता है । (२) एक प्रकार का बौल ।
 भर्गद्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] हँसिया नाम का लोहे का औजार ।
 भर्गपति-संज्ञा पुं० [हिं० भर्गा + सं० पति] -भर्गा रखनेवाला ।
 मेनेवरदार । उ०—ऊपर कनक मनुष्य, लाग पँथर औ
 दार । भर्गपति धैर्य भाल ले औ धैर्य धम्कार ।—जायसी ।
 भर्गमनसत-संज्ञा स्त्री० [हिं० भर्गा + मनुष्य + त (प्रत्य०)] भले
 मानस होने का भाव । संतुष्टता । शराफत ।
 भर्गमनसाहत-संज्ञा स्त्री० दे० "भर्गमनसत" ।
 भर्गमनसो-संज्ञा स्त्री० दे० "भर्गमनसत" ।
 भर्गा-वि० [सं० भर्ग] (१) जो अच्छा हो । उत्तम । श्रेष्ठ ।
 जैसे,—भर्गा काम । भर्गा भावमी । उ०—मल्लिक करि भर्ग
 पाइ सुखी । मिटई ॥ मलिन, सुभाउ भर्ग ।—जुलसी ।
 यौ०—भर्गा भंगा = शरीर से राख ।
 (२) बढ़िया । अच्छा ।
 यौ०—भर्गा बुरा = (१) उल्टी गयी बात । अनुचित
 बात । (२) बटि फटकार । जैसे,—जब तुम भर्गा बुरा
 सुनोगे, तब सोचि होंगे ।
 भर्गा पुं० (१) कल्पना । बुनाई । भर्गाई । जैसे,—गुहाग
 भर्गा हो । (२) कान । नडा । प्रसिद्ध । जैसे,—हम काम में
 उनका भी कुछ भर्गा हो जायगा ।
 यौ०—भर्गा बुरा = क्षति और हानि । नडा-नुकसान । जैसे,—
 हम भर्गा भर्गा बुरा समय को ।
 भर्ग्य (१) अच्छा । श्रेष्ठ । भर्ग्य । जैसे,—भर्गा में उनसे
 समस्त सौगा । उ०—भर्ग्ये माध कदि कृपाविकेता । उतरे
 नहीं मुनि बंद ममेता ।—गुजरी । (२) "भर्गा" का सूचक
 अवयव जो प्रायः वाक्यों के आरंभ अथवा मध्य में रखा
 जाता है । जैसे,—(क) भर्गा कर्त्त देहा छोड़ा भी धर्ममे मे
 दुखन होता है । (गर्गा नहीं होता) (ख) बर्हा भर्गा
 बिचकारी को चीन पड़ता है (अर्गा-बर्हा नहीं पड़ता)

मुहा०—भर्गे ही = ऐसा हुआ करे । हमने कोई काम नहीं
 अच्छा ही है । जैसे,—भर्गे ही वे चले जायें । उ०—हार
 हरि हरेठ सब आता । एकदि भौनि भर्गे भल मोता—
 गुलसी । (इस प्रयोग में कुछ उपेक्षा या संतोष का भाव
 प्रकट होता है ।)

भर्गाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० भर्गा + ई (प्रत्य०)] (१) भले होने का
 भाव । मला-पन । अच्छा-पन । (२) उपकार । वैशि ।
 (३) सौभाग्य ।

भर्गापन-संज्ञा पुं० दे० "भर्गाई" ।
 भर्गे-क्रि० वि० [हिं० भर्गा] (१) भली भौनि । अच्छी तरह ।
 पूर्ण रूप से । जैसे,—भाय भी भर्गे करवा देने भर्ग ।
 (स्वर्ग) (कविता में इसका प्रायः "मलि के" हो जाता है ।
 उ०—हाथ हरि नाथ के बिदने रघुनाथ जनु सीक सिद्ध
 तुलसी भर्गे मायवी मलि के ।—तुलसी ।)

भर्ग्य रूप । बाढ़ । जैसे,—तुम कल शाम को भर्ग्य
 थे, भले भर्ग्य ।

भर्गे-संज्ञा पुं० दे० "भर्गा" । उ०—झेंडे जब तब भर्गे
 से गुलसी को भर्गे ।—तुलसी ।

भर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वध । हत्या । (२) दान । (३)
 भाव । (४) बृहत्संहिता के अनुसार एक प्राचीन देता ।
 (५) पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ । (६) प्राचीन काल की
 एक नाति । (७) प्राचीन काल का एक राज जिसने शरीर
 में पेंसल हुआ तीर निकाला जाता था । (८) एक प्रकार का
 वाण । (९) दे० "भर्गा" ।

भर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाव । (२) हृदय का वृक्ष । (३)
 भिलाव । (४) एक प्रकार की चिड़िया । (५) एक नडा
 का सतिपात । दे० "भर्ग्य" ।

भर्गपुच्छी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरमसुंदरी ।
 भर्ग्य-संज्ञा पुं० [सं०] ईशान दिशा का एक प्राचीन प्रदेव ।
 भर्गा-वि० [सं०] जिसे कम दिमाई देना हो । मंद दिष्ट ।
 भर्गा, भर्गाक-संज्ञा पुं० [सं०] भिलाव ।
 भर्ग्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निवास उर जिसमें
 शरीर के भंदर प्रत्यक्ष और बाहर जाया मादम होता है,
 प्यास बहुत लगती है, निद्रा, गले और छाती में बहुत दार
 रहता है, बड़े कष्ट से कष्ट और निद्रा निद्रा रहता है, राख
 और दिवरी बहुत आती है और भर्ग्य प्रायः बंद रहती है ।

भर्ग्य-संज्ञा पुं० [सं०] भाव ।
 भर्ग्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाव (२) सुभक्त के अनुसार राख
 की तरह का कोम में रहनेवाला एक प्रकार का जीव । (३)
 एक प्रकार का वनोद्गम । (४) बुद्धा ।
 भर्ग्य-संज्ञा स्त्री० दे० "भर्गा" ।

भवंग, भवंगा—संज्ञा पुं० [सं० भवंग] सॉप । सप । उ०—

विष सागर कहर तरंगा । यह अहसा कृप भवंगा ।—दादू ।

भवैर—संज्ञा पुं० [सं० भवैर] दे० “भवैर” ।

भवैरकली—संज्ञा स्त्री० दे० “भवैरकली” ।

भवैरी—संज्ञा स्त्री० [सं० भवैरी] दे० “भवैरी” ।

भवंग-वि० [सं० भवंग] भवत् का बहुवचन । आप लोगों का ।

। भाषका । उ०—भवलंब भवत कथा जिह्वके । प्रिय सत
भतत सदा तिन्हके ।—गुलसी ।

भवैलिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० भवैर] एक प्रकार की नाव जो बजरे
की तरह की पर उससे कुछ छोटी होती है । इसमें भी बजरे
की तरह ऊपर छत पटी होती है । भौलिया ।

भव—संज्ञा पुं०, [सं०] (१) उत्पत्ति । जन्म । (२) निष । (३)

मेघ । बादल । (४) कुशल । (५) संसार । जगत् । (६)

सत्ता । (७) प्राप्ति । (८) कारण । हेतु । (९) कामदेव ।

(१०) संसार का दुःख । जन्म मरण का दुःख । उ०—

कमलनवन मकराकृत कुंडल देखत ही भव भागी ।—सूर ।

(११) सत्ता । (१२) प्राप्ति । (१३) मांस । (हिं०)

संज्ञा पुं० [सं० भव] दर । उ०—(क) राजा प्रजा अणुगति-

भागी । भव संभवित भूरि भव भागी ।—रघुराज । (ख)

भव भजन रंजन सूर गुण । भात सदा तो कृपाकरूपा ।—

गुलसी ।

वि० (१) शुभ । कल्याणकारक । (२) उत्पन्न । जन्मा

हुमा ।

भवकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति के अनुसार एक पुच्छल

तारा जो कभी कभी पूर्वे में दिखाई देता है और जिसकी

दूध क्षी की दूध की भाँति वृश्चिणावर्त्त होती है । कहते हैं

कि जिसने मुहूर्त्त तक यह दिखाई देना है, उसने महीने तक

भीषण अकाल या महामारी आदि होती है ।

भवच्यम—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार यह कल्पित चक्र

जिससे यह जाना जाता है कि कौन कौन कर्म करने से

जीवन्मा को किन किन योगियों में भ्रमण करना पड़ता है ।

(भिन्न भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों के अनुसार ये अवचक्र भी

कुछ भिन्न भिन्न हैं ।)

भयचाप—संज्ञा पुं० [सं०] निष जी के धनुष का नाम । विनाक ।

भयम्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूमि । जमीन । (२) विष्णु ।

वि० मान्य । पुरा ।

भयतप्यता—संज्ञा स्त्री० दे० “भयतप्यता” ।

भयती—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का ऊहरोटा बाण ।

भयदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] कालिकेय की अनुचरी एक मातृका

का नाम ।

भयदार—संज्ञा पुं० [सं०] देवदार ।

भयदीप—संज्ञा पुं० [सं०] भाषका । मुहता । उ०—जाग्रिनी नाथ

भवलंब मोहि आनकी । करम मन बचन प्रत सत्य करना-

निषे एक गति राम भवदीप पदप्रान की ।—गुलसी ।

भवघरख—संज्ञा पुं० [सं०] संसार को धारण करनेवाला, पर-

मेधवर ।

भवन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर । मकान । (२) प्रासाद । महल ।

(३) सर्व शास्त्र में भाव । (४) जन्म । उत्पत्ति । (५) सत्ता ।

(६) छप्पय का एक भेद ।

संज्ञा पुं० [सं० भवन] जगत । संसार । उ०—हरि के जे

वल्लभ हैं दुर्लभ भवन मोक्ष निनही की पदरेणु आता निष-

कारी है ।—प्रियादास ।

संज्ञा पुं० [सं० भवन] कोयलू के चारों ओर का यह चक्कर

जिसमें घैल घूमते हैं ।

भवनपति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिनियों के इस देवताओं का

एक वर्ग जिनके नाम इस प्रकार हैं—अमर कुमार, नाग-

कुमार, लड्डिकुमार, सुपर्णकुमार, यक्षिकुमार, भनिलकुमार,

स्तनिकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ।

(२) गृहस्वामी । घर का मालिक । (३) रातिचक्र के किसी

घर का स्वामी । (लघु०००)

भयना—कि० सं० [सं० भयग] घूमना । फिरना । चक्कर

खाना । उ०—भौर उषा भयत भूतचातुका गणेश पुत मानो

मकरंद दृढ़ माल गंगाजल की ।—कैफा ।

भयनाशिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार सरयू नदी का

एक नाम ।

भयनी—संज्ञा स्त्री० [सं० भयन + ई (लघु०००)] गृहिणी । भाषा । स्त्री ।

उ०—देखि बड़े आचरन तुलकि तन कहनि मुदित भुवि-

भवनी ।—गुलसी ।

भयम्नाथ—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

भयपाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] नात्रिकों के अनुसार भुवनेश्वरी देवी

जो संसार की रक्षा करनेवाली प्राप्ति मानी जाती है ।

भयप्रत्यय—संज्ञा स्त्री० [सं०] समाधि की एक अवस्था जो प्रह-

ति लक्षणों की प्राप्त होती है ।

भयवचन—संज्ञा पुं० [सं०] संसार की संज्ञा । सांसारिक दुःख

और त्रष्ट ।

भयभंजन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमेस्वर । (२) संसार का नाश

करनेवाला । काल ।

भयभय—संज्ञा पुं० [सं०] संसार में बार बार जन्म लेने और मरने

का भय । उ०—त्रिपुराणि त्रिलोचन दिग्वसन विषभोजन

भयभयहृन् ।—मुसम्मी ।

भयभामिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्वती । पद्मावती । उ०—भन-

जामिनी भयभामिनी भयामिनि सो ही बड़ी बड़ी बाढ भातु

भन तो ही त्रिदि ।—मुसम्मी ।

भवभूष-**पं०** पुं० [सं०] संसार के भूषण । उ०—भवभूष
दुरंतरन्त हते दुख मोह मनोज महा सुर को ।—कैदाव ।
भवभूष-**वि०** [सं०] संसार के मयनों से सुहृदनेवाले, भग-
वान् । उ०—दोहृदहि सुफल आज मम लोचन । देखि
यदन पंकेज भवभूषण ।—मुलसी ।
भवभूष-**पं०** पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा
जो श्रुत को अंग्रेषि क्रिया के समय बजाया जाना था ।
प्रेनपट्ट ।
भवयामा-**पं०** स्त्री० [सं०] शिव जी की स्त्री, पार्वती ।
भवानी ।
भवविलास-**पं०** पुं० [सं०] (१) माया । (२) संसार के सुख
जो ज्ञान के अंधकार से उदित होते हैं । उ०—अनहुँ
ज्ञानपन प्रकाश योते सब भवविलास आस पास तिमिर
तोष सरनि तेज जारि ।—मुलसी ।
भवयूल-**पं०** पुं० [सं०] सांसारिक दुःख और श्रेय ।
भवसंभव-**वि०** [सं०] संसार में होनेवाला । सांसारिक । उ०—
तनि माया सेहय परलोका । मिटहि सकल भवसंभव
सोका ।—मुलसी ।
भवर्षी-**पं०** स्त्री० [सं०] भवानी । भैरी । चण्ड । उ०—
जनु यमराज करहि सब भवर्षी । जिव पै चीन्ह बगैं भव-
सर्वी ।—जायसी ।
भवर्षी-**वि०** [सं०] भव । घुमाना । फिराना । चण्ड
देगा । उ०—(क) या विधि के मुनि धन सुगती । मुष्टिक
एक भवर्षी के मारी ।—विभ्राम । (ख) तेहि अंगद कई
लाज उटाई । यहि पद पटकेइ भूमि भवर्षी ।—मुलसी ।
भवानी-**पं०** स्त्री० [सं०] पार्वती । भवानी । दुर्गा ।
भव्याचल-**पं०** पुं० [सं०] कैलास पर्वत जो पुराणानुसार मंदर
पर्वत के पूर्व में है ।
भव्यानी-**पं०** स्त्री० [सं०] भव की भाषा, दुर्गा ।
भव्यानीष्ट-**पं०** पुं० [सं०] गुग्गुलु ।
भव्यापन-**पं०** पुं० [सं०] शिव का उपनाम या अंक । दीउ ।
भव्यापन-**पं०** स्त्री० [सं०] शिव के शिर पर रहनेवाली, गंगा ।
भविन-**पं०** पुं० [सं०] जो हो चुका हो । पीता हुआ । भूत ।
भविनपद-**पं०** पुं० [सं०] अवश्य होनेवाली बात । भवनीय ।
होतहार ।
भविनपद-**पं०** स्त्री० [सं०] (१) होनी । भारी । होतहार ।
(२) भाग । किम्वद ।
भविष्य-**पं०** पुं० दे० “भविष्य” ।
भविष्य-**वि०** [सं०] भविष्य । वर्तमान काल के उपरान्त होनेवाला
बात । वह काल जो प्रत्युक्त काल के समाप्त हो जाने पर
होनेवाला हो । होनेवाला बात ।
भविष्यगुहा-**पं०** स्त्री० [सं०] काठ के अनुसार गुहा भविष्य

का एक भेद । यह नायिका जो रति में प्रवृत्त होनेवाली हो
और पहले से उसे छिपाने का उद्योग करे । भविष्य गुहा
गुहा ।
भविष्यत्-**पं०** पुं० [सं०] वर्तमान काल के उपरान्त होनेवाला
काठ । होनेवाला समय । भागामी काल । भविष्य ।
भविष्यद्वाक्य-**पं०** पुं० [सं०] (१) वह जो होनेवाली बात पहले
से ही कह दे । भविष्यद्वाणी करनेवाला । (२) उगीति ।
भविष्यद्वाणी-**पं०** स्त्री० [सं०] भविष्य में होनेवाली वह बात
जो पहले से ही कह दी गई हो ।
भविष्य सुरति गोपना-**पं०** स्त्री० दे० “भविष्यगुहा” ।
भवोलाह-**वि०** [सं०] भव + ईहा (भाव) । (१) जिसमें कोई
भाव हो । भावयुक्त । भावपूर्ण । (२) बाँका विराज ।
भवेष्ट-**पं०** पुं० [सं०] (१) संसार का स्वामी । (२) महर्षि ।
शिव । उ०—पावनि करीं सी गाढ़ भवेष्ट भवलिहि ।—
मुलसी ।
भव्य-**वि०** [सं०] (१) जो देखने में भारी और सुंदर जान
पड़े । शानदार । (२) शुभ । मंगलसूचक । (३) सत्य ।
सचा । (४) योग्य । लायक । (५) भविष्य में होनेवाला ।
(६) धेद । बड़ा । (७) प्रसन्न ।
पं० पुं० (१) भलना नामक वृक्ष । (२) कमल । (३)
नीम । (४) करेला । (५) वह निम्ने लिंग पद की प्राप्ति हो ।
असिद्धक । (६) जैन । (७) वह जो जन्म ग्रहण करना हो ।
शरीर धारण करनेवाला । (८) नवें सम्यक्तर के एक कृति
का नाम । (९) पुराणानुसार भुव के एक पुत्र का नाम ।
(१०) अनु चातुर्वर्ग के अर्चन देवताओं के एक वर्ग का नाम ।
भवपता-**पं०** स्त्री० [सं०] भव होने का भाव ।
भव्या-**पं०** स्त्री० [सं०] (१) उमा । पार्वती । (२) गजरील ।
भव्य-**पं०** पुं० [सं०] भव्य । आहार । भोजन । उ०—अति भाव्य
भय काय भाई चरन चनन मगई ।—गूर ।
पं० पुं० [सं०] कुत्ता ।
भवन-**पं०** पुं० [सं०] भवन । गगना । भोजन करना ।
भवन-**पं०** स्त्री० [सं०] अनेक, उबेला और बेनी । मारना के
पाँधे चरण की बाद के मारना से संधि ।
भवन-**पं०** पुं० [सं०] भवन । भवन ।
भवनार्थ-**वि०** [सं०] (१) पानों के ऊपर पीना । (२)
पानों में डबना ।
भवन-**पं०** पुं० दे० “भवन” ।
भवनार्थ-**पं०** पुं० [सं०] भवन । (१) पीना हुआ भाग । (भाव) में
की परिभाषा । (२) नीम की पत्ती की कुट्टी ।
पं० पुं० [सं०] भवन का कदु । एक प्रकार का विषम
जिसमें बाज बाँधे किए जाते हैं ।

भसाना-संज्ञा पुं० [सं० भसाना] काली या सरस्वती आदि की मूर्ति को पूजा के उपरान्त किसी नदी में प्रवाहित करना ।
 भसाना-कि० सं० [सं०] (१) किसी चीज को पानी में तैरने के लिये छोड़ना । जैसे,—जहाज भसाना । (लश०) मूर्ति भसाना । (२) किसी चीज को पानी में डालना ।
 भसिड, भसीड-संज्ञा स्त्री० [देश०] कमलनाल । मुरार । कमल की जड़ ।
 भसुंड-संज्ञा पुं० [सं० भसुण्ड] हाथी । गज । उ०—लाखन चले भसुंड सुंड सों नभतल परसत ।—गोपाल ।
 भसुर-संज्ञा पुं० [हि० गसुर का भु०] पति का बड़ा भाई । जेठ ।
 भसुँड-संज्ञा पुं० [सं० भुसुं] हाथी की सूँड़ । (महावत) ।
 भस्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] भाग मुलगाने की भाँसी ।
 भस्म-संज्ञा पुं० [सं० भस्म] (१) लकड़ी आदि के जलने पर बची हुई राख । (२) चिता की राख जिसे पुराणानुसार शिव जी अपने सारे शरीर में लगाते थे । (३) विशेष प्रकार से तैयार की हुई अथवा अभिशोष में की राख जो पवित्र मानी जाती है और जिसे शिव के भक्त मस्तक तथा शरीर में लगाते अथवा साठु लोग सारे शरीर में लगाते हैं ।
 क्रि० प्र०—रमाना ।—लगाना ।
 (४) एक प्रकार का पथरी रोग ।
 वि० जो जलकर राख हो गया हो । जला हुआ ।
 भस्मक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भावप्रकाश के अनुसार एक रोग जिसमें भोजन नुरंत पच जाता है । कहते हैं कि बहुत अधिक और कृपा भोजन करने से मनुष्य का कफ क्षीण हो जाता है और पापु तथा पित्त बढ़कर जठराग्नि को बहुत तीव्र कर देता है और तब जो कुछ खाया जाता है, वह नुरंत भस्म हो जाता है, परंतु शीघ्र बिलकुल नहीं होता । इसमें रोगी को प्यास, पसीना, दाह और मूर्च्छा होती है और वह शीघ्र मर जाता है । इस रोग को भस्मकीट भी कहते हैं । (२) बहुत अधिक भूख । (३) सोना । (४) विदंग ।
 भस्मकारी-वि० [सं० भस्मकारी] भस्म करनेवाला । जलाने-वाला ।
 भस्मार्घा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रेणुका नामक गंधद्रव्य ।
 भस्मार्घ-संज्ञा पुं० [सं०] निजिना नामक वृक्ष ।
 भस्मार्गार्ग-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रेणुका नामक गंध-द्रव्य । (२) वीराम ।
 भस्मजावाल-संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।
 भस्मना-संज्ञा स्त्री० [सं०] भस्म होने का कर्म ।
 भस्मनूल-संज्ञा पुं० [सं०] मुरार । हिम ।
 भस्ममिष-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।

भस्ममेह-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का अमरी रोग जो मेह के कारण होता है ।
 भस्ममेघक-संज्ञा पुं० [सं०] कण ।
 भस्मस्नान-संज्ञा पुं० [सं०] राख से नहाना । सारे शरीर में राख मलना ।
 भस्माग्नि संज्ञा स्त्री० [सं०] भस्मक रोग ।
 भस्माकार-संज्ञा पुं० [सं०] धोषी ।
 भस्माकृत-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कामरूप का एक पर्वत जिस पर शिव जी का वास माना जाता है ।
 भस्माचल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कामरूप के एक पर्वत का नाम ।
 भस्मानुर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रसिद्ध द्रव्य जिससे तप करने के लिये जी तै चर पाया था कि मुम जिसके सिर पर हाथ रखेंगे, वह भस्म हो जायगा । पीछे से यह पार्वती पर मोहित होकर शिव को ही जलने पर उद्यत हुआ । तब शिव जी भागे । यह देखकर श्रीकृष्ण ने बड़ का रूप धरकर छल से इसी के सिर पर इसका हाथ रखवा दिया जिससे यह स्वयं भस्म हो गया । शिव से घर प्राप्त करने से पहले इसका नाम 'बृकासुर' था ।
 भस्माहव्य-संज्ञा पुं० [सं०] कण ।
 भस्मित-वि० [सं०] (१) जलया हुआ । (२) जला हुआ ।
 भस्मीभूत-वि० [सं०] जो जलकर राख हो गया हो । बिल्कुल जला हुआ ।
 भहराना-क्रि० प्र० [भु०] (१) दूट पड़ना । (२) झोंक ले गिर पड़ना । पड़ाएक गिरना । (३) किसल पड़ना ।
 (४) किसी काम में जोरों से लग जाना । (ध्वंश) ।
 भहूँ-संज्ञा स्त्री० दे० "भौह" ।
 भौह-संज्ञा पुं० [हि० भाना = धुना] बरादनेवाला । बरार्हा । कुली ।
 भौँड-संज्ञा पुं० [सं० भाव] भमिप्राय । उ०—जहाँ डौव होई करईसा सो कह केहि भौँड ।—जायसी ।
 भौँउर-संज्ञा स्त्री० दे० "भौवर" ।
 भौँउरि-संज्ञा स्त्री० दे० "भौवर" ।
 भौँकड़ी-संज्ञा पुं० [देश०] एक जंगली झाड़ जिसे इसद सिपाही भी कहते हैं । यह गोबर से मिलता तुल्य होता है ।
 भौंग-संज्ञा स्त्री० [सं० भंगा वा भूंगा] गोजे की जानि वा एक प्रसिद्ध पौधा जिसकी पत्तियाँ मादक होती हैं और जिन्हें पामबर लोग नशे के लिये पीते हैं । भंग । विनश । बूटी । पत्ता ।
 भियेय-यह पौधा भारत के प्रायः सभी स्थानों में और विशेषतः उत्तर भारत में, इन्हीं पत्तियों के लिये बोया जाता है । नेपाल की तराई में कहीं कहीं यह भार में भाव और

जंगली भी होता है। पर जंगली पौधे की पत्तियाँ विशेष मादक नहीं होतीं, और इसी लिये उस पौधे का कोई उपयोग भी नहीं होता। पौधा प्रायः तीन हाथ ऊँचा होता है और पत्तियाँ किताबों पर कटावदार होती हैं। इस पौधे के छी, पुष्प और उभयलिङ्ग तीन भेद होते हैं। की पौधों की पत्तियाँ ही बहुधा मीसछर पीने के काम में आती हैं। पर कभी कभी पुष्प पौधे की पत्तियाँ भी इस काम में आती हैं। इसकी पत्तियाँ उपयुक्त समय पर उतार ली जाती हैं; क्योंकि यदि तब पत्तियाँ उतारी न जायँ और पौधे पर ही रहकर सूखकर पोखी पड़ जायँ, तो फिर उनकी मादकता, और साथ साथ उपयोगिता भी जाती रहती है। भारत के प्रायः सभी स्थानों में लोग इसकी पत्तियों को पीस और छानकर नये के लिये पीते हैं। प्रायः इसके साथ बादाम आदि कई मसाले भी मिला दिए जाते हैं। वैद्यक में इसे कफनाशक, माहक, पाचक, सीधक, गरम, चिचजनक, बलवर्धक, मेघाजनक, रसायन, रुचिकारक, मलायरोधक और निद्राजनक माना गया है।

मुहा०—भौंग छानना = भौंग की पत्तियों को पीस और छानकर नये के लिये पीना। भौंग खा जाना या पी जाना = नये की मो बाँधे करना। नागमोत्री की या पागलपन की बातें करना। घर में भौंगी भौंग न होना = अव्यक्त दण्ड होना। पास में कुछ पानी। उ०—तुम भाग्य काहेमल होली होय रही। घर में भौंगी भाँग नहीं है तो भी न हिममत पस्त। होली होय रही।—भारतेन्दु।

छंदा पु० [१] पैरों की जाति।

भौंगदा—छंदा सी० [दे०] किसी पानु आदि की गई या छोटे छोटे कण।

भौंग—छंदा की० [हि० भौंगना] (१) किसी पदार्थ को मोड़ने या तड़ करने का भाव अथवा क्रिया। (२) भोजन या सुमाने की क्रिया या भाव। (३) बड़ घन को फरवा, गोट आदि सुमाने के बच्चे में दिया जाय। भुनाई। (४) ताने का मृत। (छंदाहा)

भौंगना—कि० प्र० [म० भंजन] (१) तड़ करना। मोड़ना। (२) सुगंध आदि सुमाना। (स्वायाम) (३) दो या कई लोगों को एक में मिलाकर बटना।

भौंगा—छंदा पु० दे० "मानना"।

भौंगी—छंदा की० [हि० भौंगना = भोजन] बड़ भाग जो किसी की ओर से किसी को अमलक या तड़ करने के लिये नहीं लाय। बड़ भाग जो किसी के होने हुए काम में बाधा डालने के लिये कड़ी जाय। सिद्धायन। चुगली।

कि० प्र०—भौंगना।

भौंग—छंदा पु० दे० "भाद"।

छंदा पु० [दे०] देशी छोटों की छपाई में कई रंगों के केवक काले रंग की छपाई जो प्रायः पहले छोटी है।

भौंगी—छंदा पु० दे० "वेगन"।

भौंग—छंदा पु० [म० भंज] (१) विद्वत् । समझा। अधिक ईर्ष्या मजाक करनेवाला। (२) एक प्रकार के रंगों जो प्रायः अपना समाज बनाकर रहते हैं और समाज आदि में जाकर नाचते गाते, हास्यपूर्ण स्वर्ग भरने में नकलें उतारते हैं। (३) ईर्ष्या-रिक्तगी। भौंगन। (४) जिसे किसी की लज्जा न हो। मंगा। बेहया। (५) सतगुरु बरबादी। उ०—तुलसी राम मान जगु भाकस छौं। विमुक्त कलिकाल को भयो न भौंग।—तुलसी।

छंदा पु० [सं० भंज, हि० भौंग] (१) बरतन। भौंगी। भंडाफोड़। रहस्युद्घाटन। उ०—कह गुरु बादि धर्म छौं। इहाँ कपट कर होईई भौंग।—तुलसी। (२) ध्वज। उल्लास। गंदपदी। उ०—कबिता माया मोहनी भौंगी सौंद। सतगुरु की किरपा भई नाशर करती भौंगी कभीर।

छंदा पु० दे० "भाद"।

भौंगना—कि० प्र० [सं० भंज] अर्थात् हुपर उभर घूमना। सारे चितना। उ०—सकल सुख भौंके घने चतुर चरित हार। शत्रु सौ सुख नहीं तिसका वार न पार।—भौंगना। कि० प्र० (१) किसी की शरों और निद्रा करते। किसी को बहुत बड़बाना करते चितना। (२) गड़ करना। बिगाड़ना। खराब करना। उ०—कह की न भौंगई न भावगो बान पिय सहित समाज गढ़ सौंद भौंगियो।—तुलसी।

भौंग—छंदा पु० [सं० भयक] (१) बरतन। बाहन। पाय। बड़ा बरतन। जैसे,—हंवा, कुंडा, हल्लादि।

मुहा०—भौंके में जी देना = किसी पर दिल लगा होना। को घुमे उतर देय हो पाईं। सौ कोमे जोमे भौंके।—जायसी। भौंके भरना = पदबालों का पछानना। उ०—तब घूमिभौंके करि। तिसिं कहि ओ भावनि अब छी भौंके भरति।—सूर।

भौंगी—छंदा पु० [सं०] भंडार। कोस। खजाना।

भौंगी—छंदा पु० [सं०] भंडार का निरीक्षक भा प्रधान भंडारी।

भौंगी—छंदा पु० [म०] एक प्राचीन कवि का नाम।

भौंग—छंदा पु० [सं०] (१) बड़ स्थान जहाँ काम में अनेक बहुत सी चीजें रक्ती जाती हो। भंडार। (२) बड़ स्थान एक ही तरह की बहुत सी चीजें या चीजें हो। (३) कोटी निममें अनाज आदि रखा जाता हो। (४) बड़ कोस।

भांडारिक-संज्ञा पुं० [सं०] भांडार का प्रधान । भंडारी ।
भांडिक-संज्ञा पुं० [सं०] गुरुही आदि यज्ञाकर राजाओं का
जगानेवाला मनुष्य ।

भांडिल-संज्ञा पुं० [सं०] नापित । हल्लाभ ।

भांडियाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ बैठकर हजामत
करवाई या बनवाई जाती है ।

भांडीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चट वृक्ष । बड़ का पेड़ । (२) एक
प्रकार का छुप ।

भाँत-संज्ञा स्त्री० दे० "भाँति" ।

भाँति-संज्ञा स्त्री० [सं० भेर] तरह । क्रिम । प्रकार । रीति ।
जैसे, —(क) अनेक भाँति के फूल लगे हैं । (ख) यह कार्य
इस भाँति होना ।

मुहा०—भाँति भाँति के = तरह तरह के । अनेक प्रकार के ।
उ०—पॉयत के रँग सो रँगि जान सो भाँति भाँति सर-
स्वति सेनी ।—पद्माकर ।

भाँपना-कि० सं० [?] (१) ताड़ना । यहचानना । (२)
(२) देपना । (भाजाले)

भाँभी-संज्ञा पुं० [हि०] कृता सीनेवाला । चमड़े का काम करने-
वाला । मोची । चमार ।

भाँयँ भाँयँ-संज्ञा पुं० [सं०] गिलास एकान स्थान या सभा में
होनेवाला शब्द । जैसे, —उनके चले जाने से पर भाँयँ भाँयँ
करता है ।

भाँदी-संज्ञा स्त्री० दे० "भाँवर" ।

भाँयँ-संज्ञा पुं० दे० "भाँयँ" ।

भाँयँ-कि० सं० [सं० भनक] (१) किसी चीज को खराद या
चकर भाँदि पर घुमाना । घसादना । घुनना । (२) बहुत
अच्छी तरह गवक और तुरंतगर्वक यमाना । उ०—(क)
साँध की सी दाही अति लूण गुणारि कही कैतोदास भंग
भंग भाँड़ के उतारी है ।—देवान । (ख) गदि गुदि छेष्टि
छाति छूँद की सी फाँस भाँड़ पाँवें जोगी मुख कहीं सेनी
वर जष भाँतिही ।—जुगदी । (ग) भाँड़ ऐसी शीमा गुन
पान सों उदुर भव पंडुन सों पाँड़ गति हंस ऐसी जातु
है ।—कैतव ।

भाँवर-संज्ञा स्त्री० [सं० भनक] (१) चारों ओर घुमाना या चकर
काटना । घुमरी लेना । परिक्रमा करना । उ०—जो तेदि
रिये सो भाँवर रहे । सौरि करि रँग रँग न रहे ।—
जायसी । (२) इस जीवन के समय एक बार ऐसे के चारों
ओर घूम जाना । (३) भाँति की वह परिक्रमा जो विषाद
के समय पर और पर मिलकर करते हैं ।

क्रि० प्र०—करना ।—लेना ।

भाँव दे० "भाँति" । उ०—भाँ हरिदास के स्वामी स्वामी
कुंज निवासि धं बारीगी भाँगी भाँगी ।—हरिदास ।

भा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दृष्टि । चमक । प्रकाश । (२) बोभा ।
छटा । छवि । (३) किरण । रश्मि । (४) बिजली । विद्युत् ।
झं भव्य० चाहे । यदि इच्छा हो । वा । उ०—जो भाँव
सो का खटा इन्हें बाँध आ छोरे । हैं तुव सुमन रूप के
ये दग मेरे चोर ।—रसनिधि ।

भाई-संज्ञा पुं० [सं० भाव] (१) प्रेम । प्रीति । मुहब्बत ।
उ०—भाय भागे लेन भाप दिये हैं पठाव जन देखी द्वारा-
वनी लूण मिले यहु भाई कै ।—प्रियादास । (२) स्वभाव ।
भाव । उ०—भोरे भाई भोरही हाँ खेछन गई ही सेछ ही
मैं खुल सेछे कहु और कदि रहोई ।—देव । (३) विचार ।
उ०—पिता पर भागे पति भूल न सतायो अति माँहि
निया पास नहीं दियो यह भाई कै ।—प्रियादास ।

संज्ञा स्त्री० [हि० भाँति] (१) भाँति । प्रकार । तरह ।
उ०—(क) तब प्रथा सों कदो सिर गाढ़ । जै हूँ हमरी
किहि भाई ।—सूर । (ख) आमु वरपि हियरे हरपि सीनल
मुखद सुभाई । निरखि निरखि पिय मुमिकहि बरनति हैं
यहु भाई ।—कैतव । (२) डंग । चालकाल । रंग डंग ।
उ०—यहु विधि देखत पुर के भाई । राज सभा महीं छिं
जाह ।—कैतव ।

भाई-संज्ञा पुं० [हि० भाई + व (त) (प्रत्य०)] (१) भाई-
चारा । भाईपन । (२) मित्रता । संजुव ।

भाई-संज्ञा पुं० [सं० भाई] (१) किसी व्यक्ति के माता-पिता से
उत्पन्न दूसरा पुरुष । किसी के माता-पिता का दूसरा पुत्र ।
बहन का उलटा । बंधु । सहोदर । भ्राता । भैया । (२)
किसी वंश या परिवार की किसी एक पीढ़ी के किसी व्यक्ति
के जैसे उसी पीढ़ी का दूसरा पुत्र । जैसे, —बाबा का
लड़का = चचेरा भाई, कूकी का लड़का = कुँवरा भाई, मौसी
का लड़का = मौसेरा भाई, मामा का लड़का = मामेरा भाई ।
(३) अपनी जानि या समाज का कोई व्यक्ति । पिरादरी ।

सौ०—भाई-पिरादरी ।

(४) बराबरपाछों के लिये एक प्रकार का संजुवन ।
जैसे,—भाई, पहले यहाँ बैठकर सब बातें सोच लो ।
उ०—बर अनुदार बरानन भाई । हंसि बरहद पर पर
जाई ।—मुहल्ली ।

भाईचारा-संज्ञा पुं० [हि० भाई + चारा (प्रत्य०)] (१) भाई के समान
होने का भाव । (२) वरन मित्र या संजु होने का भाव ।

भाईदूज-संज्ञा स्त्री० [हि० भाई + दूज] परमद्विधा । कार्तिक शुद्ध
द्वितीया । भैया दूज । (इस दिन बहन करने भाई को
दोहा लगानी और भोजन करानी है ।)

भाईपन-संज्ञा पुं० [हि० भाई + पन (प्रत्य०)] (१) भाग्य । भाई
होने का भाव । (२) वरन मित्र या संजु होने का भाव ।

भाईवंद-संज्ञा पुं० [हि० भाई + वंद] भाई और मित्र-संजु भाँति ।

अपनी जाति और विरादरी के लोग । नाते और विरादरी के भादमी ।

भार्द विरादरी-रंदा सी० [हि० भार्द + विरादरी] जाति या समाज के लोग ।

भाउ श्री-रंदा पुं० [सं० भाव] (१) चित्तवृत्ति । विचार । भाव । (२) प्रेम । प्रीति । उ०—(क) ते नर यह सर तम्रह न काऊ । मिनके राम चरन भल भाऊ ।—तुलसी । (ख) राम रोप दोष पोये गोगन समेत मन हृन्ड की भगति कीन्ही हृन्डही को भाउ मैं ।—तुलसी ।

रंदा पुं० [सं० भर] उपनि । जन्म । उ०—होत न भूतल भाउ भरत को । अचर सचर पर अचर कुरत को ।—तुलसी ।

रंदा पुं० दे० “भाव” ।

भाऊ०-रंदा पुं० [सं० भाऊ] (१) प्रेम । स्नेह । मुद्रव्यत । उ०—पुनि समेन पोलेउ रग राज । जो रूपाल मोहि ऊपर भाऊ ।—तुलसी । (२) भावना । (३) स्वभाव । उ०—महाराज रघुनाथ प्रभाऊ । फाउ राकल काज सनि भाऊ । (४) हालत । अवस्था । उ०—(क) पारबती मन उपना पाऊ । देखो कुँवर केर मन भाऊ ।—जायसी । (ख) प्रीति का प्रतिपाल दुराऊ । ताते होइ सखि मुख भाऊ ।—सपलसिंह । (५) महाय । महिमा । करार । उ०—या मार पुण्य देन कर राज । उलून जान दिवस कर भाऊ ।—जायसी । (६) रूप । शरीर । स्वरूप । आकृति । उ०—हेतक दिवस रहे तप राज । मोहित भए मोहिनी भाऊ ।—सपल० । (७) सत्ता । प्रभाव । उ०—प्रथम भर्त्स कौन के भाऊ । दूसर प्रगट कौन सो भाऊ ।—कबीर । (८) धूमि । विचार । उ०—(क) बिहँसी धन मुनिके सत भाऊ । हीं रामा वू रावन राज ।—जायसी । (ख) कहीं सारी भावन सत भाऊ । हीं जो बहन जग रावन राज ।—जायसी ।

भार्द०-रंदा-कि० प्रि० [सं० भव] समस्त में । मुद्रि के अनुसार । उ०—ताप ही या मर के लोग चिरनिवा मेरे भाई मात ।—गूर ।

भाकर-रंदा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार वैष्णव लोग में का एक देव । (२) भूय । भाकर । उ०—मनहु सिधु भई धन भरि भाकर धाम छियाव ।—सुराज ।

भाकरी-रंदा की० [सं० भाकरी] मही । घराहूँ । उ०—धूल से पूत गुमान पुराम मी भाकरी में भए धौन गुमाने ।—केशव ।

भादुर-रंदा की० [सं० भादुर] एक प्रकार की मछली जिसका सिर बहुत बड़ा होता है ।

भावा०-रंदा पुं० दे० “भाव” ।

भाखना-रंदा-कि० सं० [सं० भाख] कहना । बोलना ।

भाखर-रंदा पुं० [हि०] पर्यंत । पहाड़ ।

भाखा-रंदा सी० दे० “भाषा” ।

रंदा सी० हिंदी भाषा ।

भाग-रंदा पुं० [सं०] (१) हिस्सा । खंड । भंडा । टैले,—रुखे पार भाग कर डालो । उ०—धनतेय बलि जिमि यह रुज । जिमि सस चहदि नाम भरि भाग ।—तुलसी । (२) पार । तरफ । ओर । उ०—याम भाग सोमिन अनुदना । भाई शक्ति छवि मिथि जगमूला ।—तुलसी । (३) गली । भाग्य । किस्मत । प्रारब्ध । उ०—और गुनो यह मन जवाहर भाग बड़े बिरल कोउ पावै ।—दादुर । (४) सौभाग्य । सुजनसीधी । उ०—पिनि विविधति प्रीति भाग भाग पुरित पराम भर ।—केशव । (५) भाग का कविरा स्थान, भाषा । लडाउ । उ०—लेख है सुहाय की कि भा कीसभाई भुम भागिनी की भाग भई भागवाह संद को ।—केशव । (६) प्रातःकाल । ओर । अष्टादश काल । उ०—राग रजोगुण की प्रगट प्रतिपत्ती को भाग । रंगमूर्ति जायक धरणि को पराम अनुताम ।—केशव । (७) एक भारतीय देव का नाम । (८) देशार्थ । वैभव । (९) पूर्व कलगी मत । (१०) गणित में एक प्रकार की क्रिया जिसमें किसी संख्या को कुछ निश्चित स्थानों या भागों में बाँटना पड़ता है । किसी राशि को अनेक अंशों या भागों में बाँटने की क्रिया । गुणन के विपरीत क्रिया ।

विशेष—जिस राशि के भाग किए जाते हैं, उसे “भाग” और जिससे भाग देने अथवा जितने अंशों में भाग देने हैं, उसे “भाजक” कहते हैं । भाग को भाजक से भाग देने पर जो संख्या निकलती है, उसे फल कहते हैं । जैसे,—

भाग
भाजक १५) १३५ (९ फल
१३५
५

भागजाति-रंदा की० [सं०] विभाग के बार प्रकारों में से एक जिसमें एक दर और एक अंश होता है, बाँटे यह सममित हो या विषम मिलन हो । जैसे,—१, २, ३

भाग्य-रंदा की० [हि० भाग्य + व (न०)] भागने, विशेषः बहुत से लोगों के एक साथ बराबर भागने की क्रिया या भाव ।

कि० प्र०—पढ़ना ।—मधना ।

भागवत्याम-रंदा पुं० दे० “अद्वयब्रह्मणम्” ।

भागधेय-रंदा पुं० [सं०] (१) भाग्य । तक्षक । विघ्न । (२) वह कर जो राजा को दिया जाता है । (३) राक्षस । भवि ।

भागमा-रंदा की० [सं० भाद] (१) किसी भाग से हटने के

लिये दीड़कर निकल जाना। पीछा छुड़ाने के लिये जल्दी जल्दी चले जाना। चटपट दूर हो जाना। पलायन करना। जैसे,—महोदयों की भावना सुनते ही डाढ़ आग गए।

संयो० क्रि०—जाना।—निकलना।—पड़ना।

मुहा०—सिर पर सिर रखकर भागना = बहुत तेजी से भागना। जल्दी जल्दी चले जाना।

(२) दल जाना। हट जाना। जैसे,—अब भागते क्यों हो, जरा सामने बैठकर बातें करो।

संयो० क्रि०—जाना।

(१) कोई काम करने से बचना। पीछा छुड़ाना। पिंड छुड़ाना। जैसे,—(क) आप उनके सामने जाने से सदा भागते हैं। (ख) मैं ऐसे कामों से बहुत भागता हूँ।

भागनेय-संज्ञा पुं० [सं०] वहिन का बेटा। भागजा।

भागफल-संज्ञा पुं० [सं०] वह संख्या जो भाग्य को भाजक से भाग देने पर प्राप्त हो। लघ्वि। जैसे,—यदि १६ को ४ से भाग दें { ४ } १६ { ४ } तो यहाँ ४ भागफल होगा।

भागरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक संकर राग जो किसी किसी के मत से श्रीराग का पुत्र माना जाता है।

भाग्यवंत-वि० [सं० भाग्यवान्] जिसका भाग्य बहुत अच्छा हो। सुख-किस्मत। भाग्यवान्।

भागवत-संज्ञा पुं० [सं०] अठारह पुराणों में से एक जिसमें १२ स्कंध, ११२ अध्याय और १८००० श्लोक हैं। इसमें भक्तिपंथा कृष्ण-संघर्षी प्रेम और भक्ति-पथ की कथाएँ हैं और यह वेदांत का सिलक स्वरूप माना जाता है। वेदांत शास्त्र में ग्रंथ के संबंध में जिन गुरु बातों का उल्लेख है, उनमें से बहुतों की इसमें सरल व्याख्या मिलती है। साधारणतः हिंदूओं में इस ग्रंथ का अत्यन्त पुराणों की अपेक्षा बिनोद भाव है और वेदों के लिये तो यह प्रधान धर्मग्रंथ है। वे इसे महापुराण मानते हैं। पर शास्त्र लोग देवी भागवत की ही भागवत कहते और महापुराण मानते हैं और इसे उपपुराण कहते हैं। श्रीमद्भागवत। (२) देवी भागवत। (१) भागवतक। इतिहास। ईश्वर का भक्त। (३) ११ माताओं के एक पुत्र का नाम। (४) भागवत-संघर्षी।

भागवतो-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैष्णवों की गले में पहनने की गाल दांतों की एक प्रकार की कड़ी।

भागवान-वि० दे० "भागवान्"।

भागवत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का हेतुभास।

भागवत-वि० [सं०] भाग या भाग्य के संबंध में। दिव्यदत्त

भागहार-संज्ञा पुं० [सं०] गणित में किसी राशि को कुछ निश्चित वंशों में विभक्त करने की क्रिया। भाग। तत्कालीन भागह-वि० [सं०] जो भाग देने के योग्य हो। विभक्त करने के योग्य।

भागसुर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक असुर का नाम।

भागिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह ऋण जो व्याज पर दिया जाय। सूद पर दिया हुआ कर्ज।

भागिनेय-संज्ञा पुं० [सं०] [सं० भागिनेय] वहिन का लड़का भागजा।

भागी-संज्ञा पुं० [सं० भागिन्] (१) हिस्सेदार। शरीक। साँझी।

(२) अधिकारी। हकदार। (३) शिष्य।

भागोरथ-संज्ञा पुं० दे० "भगीरथ"। उ०—भागोरथ जय प सप कियो। तब गंगा जू दर्शन दियो।—धूर।

भागोरथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा नदी। जाह्नवी। (कह है कि राजा भगीरथ ही इस लोक में गंगा को लाए थे इसी लिये उसका यह नाम पड़ा।) (२) गंगा का एक शाखा का नाम जो बंगाल में है।

संज्ञा पुं० गढ़वाल के पास की हिमालय की एक चोटी का नाम

भागुरि-संज्ञा पुं० [सं०] सांख्य के भाव्यकला एक प्रपि का नाम

भागू-संज्ञा पुं० [हि० भागना + क (प्रत्यय)] वह जो भाग गये हो। भगोड़ा।

भाग्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अचर्यभावी दैवी विधान जिससे अनुसार प्रत्येक पदार्थ और विशेषतः मनुष्य के सब कार्य-उत्पत्ति, अवनति, नाश आदि—पहले ही से निश्चित रहते हैं और जिससे अन्यथा और कुछ हो ही नहीं सकता। पदार्थों और मनुष्यों आदि के संबंध में पहले ही से निश्चित और अनिवार्य व्यवस्था या क्रम। तत्कालीन। किस्मत। नसीब। विशेष—भाग्य का सिद्धांत प्रायः सभी देशों और जातियों में किसी न किसी रूप में माना जाता है। हमारे शास्त्रकारों का मत है कि हम लोग संसार में आकर जितने अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, उन सबका कुछ न कुछ संस्कार हमारी आत्मा पर पड़ता है और आगे चलकर हमें उन्हीं संस्कारों का फल मिलता है। यही संस्कार भाग्य या कर्म कहलाते हैं और हमें सुख या दुःख देने हैं। एक जन्म में जो सुख या अशुभ कृत्य किए हैं, उनमें से कुछ का फल उसी जन्म में और कुछ का जन्मान्तर में भोगना पड़ता है। इसी विचार से हमारे यहाँ भाग्य के चार विभाग किए गए हैं—

संचित, प्राक्कृत, क्रियमान और भागी। भाग्य: लोगों का यही विश्वास रहता है कि संसार में जो कुछ होता है, वह सदा भाग्य से ही होता है और उस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं होता। साधारणतः दारिद्र्य में भाग्य का स्थान उन्नत माना जाता है।

पर्या—द्वै। दिष्ट। भागधेय। निषति। विधि। प्राक्कन-
कर्म। भवितव्यता। अष्ट।

पौं—भाग्यचक्र। भाग्यबल। भाग्यवान्। भाग्यशाली।
भाग्यहीन। भाग्योदय। भावि।

मुहा—दे० "दिस्मन" के मुहा०। -

(१) उत्तर फल्गुनी गद्यय।

वि० जो भाग करने के योग्य हो। हिरसा करने के लायक।
आगाह।

भाग्यभाष्य—संज्ञा पुं० [सं०] जन्मकुंडली में जन्म-लग्न से नवाँ
स्थान जहाँ से मनुष्य के भाग्य के शुभाशुभ का विचार किया
जाता है।

भाचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] मोतिपूष।

भाजक—वि० [सं०] विभाग करनेवाला। बाँटनेवाला।

संज्ञा पुं० यह अंक जिससे किसी राशि को भाग दिया जाय।
विभाजक। (गणित)

भाजकांश—संज्ञा पुं० [सं०] यह संख्या जिससे किसी राशि को
भाग देने पर दोष कुछ भी न बचे। गुणनीयक।

भाजन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बरतन। (२) आधार। (३) भादुक
नाम की तौल। (४) योग्य। पात्र। जैसे, विधास-भाजन।
उ०—लटन कहा जसभाजन सोई। भाय कृपा तज जापर
होई।—गुरुसी।

भाजनता—संज्ञा स्त्री० [सं०] भाजन होने का भाव। पात्रता।
योग्यता।

भाजना—क्रि० प्र० [सं०] प्रजन = प्र० जनन पु० दि० भजना]
दीक्षक किसी स्थान से दूसरे स्थान को निकल जाना।
भागना। उ०—(क) धारा के मैदान में जापर का क्या
काम। जापर माँवे पीठि है धार करे संग्राम।—कवीर।
(ख) भावत देखि अधिक रस बाजी। बहेउ बराह मदन
गति भाजी।—गुरुसी। (ग) भीर मल मोरे बाल सो
हाक बहुत गये सब आत्र। मल मुक हरि करि गोपन सो
छवि फूले मन्त्रात्र।—सूर। (घ) माल छाल बेई। लटन
भाजत रहे बिरात्रि। हँसु कछा कुत्र में बली मनी राह भय
भात्रि।—बिरहारी।

भाजित—वि० [सं०] (१) जिसमें दूसरी संख्या से भाग दिया
गया हो। (२) अलग किया हुआ। विभक्त।

भाजी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भाँड़। पाँच। (२) सरकारी, राग
भाँड़। उ०—(क) मुम सो मीन भोउ के छत्र तुमने कहा
हुराए। हम सो मीन मीन के सादक भाजी हाक अना-
ए।—सूर। (ख) मीने तेल जना बी भाजी। एक महीनी
है मोदि छात्री।—सूर। (३) मीनी।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवक। भूषक। भौहर।

भाज्य—संज्ञा पुं० [सं०] यह अंक जिसे भाजक अंक से भाग दिया
जाता है।

वि० विभाग करने के योग्य।

भाट—संज्ञा पुं० [सं० भट्ट] [श्री० भट्ट] (१) राजाओं का वह
वर्णन करनेवाला कवि। चारण। भंरी। उ०—मुमग हम
सब कुलिस कपाटा। मूष भीर नट भाग्य भाटा।—
गुरुसी। (२) एक जाति का नाम। इस जाति के लोग
राजाओं के यज्ञ का वर्णन और कविता करते हैं। वह
लोग ब्राह्मण के अंतर्गत माने और दत्तात्री और के नाम से
पुकारे जाते हैं। इस जाति की अनेक शाखाएँ उच्छरीरभाट
में बंगाल से पंजाब तक फैली हुई हैं। उ०—बनी खो-
रिन योंकी नैना। भाटिन यानी मधुर भाग बैना।—
जायसी। (३) सुतामद करनेवाला पुद्गल। सुतामदी। (४)
राजदूत।

संज्ञा पुं० [सं०] भाड़ा।

संज्ञा स्त्री० [सं० भाँड़] (१) वह भूमि जो नदी के दो
काँठों के बीच में हो। देहा। (२) बहाव की वह मिट्टी जो
नदी का चट्टाप उतारने पर उसके किनारों पर की भूमि का
वा बहाव में जमती है। (३) नदी का किनारा। (४) नदी
का बहाव। वह रण क्षिपक की नदी बहाव नदी से
अलगाप में गिरती है। उतार। चट्टाप का उलटा।

भादक—संज्ञा पुं० [सं०] भाड़ा।

भाट्ट—संज्ञा पुं० [सं० भट्ट] (१) पानी का चट्टाप की ओर से
उतार की ओर जाना। चट्टाप का उतरना। (२) समुद्र के
चट्टाप का उतरना। उवार का उलटा। दे० "उवारभाट्ट"।
(३) पथरीली भूमि।

भाट्टिया—संज्ञा पुं० [सं० भट्ट] एक जाति जो गुजरात में रहती
है। इस जाति के लोग अपने को क्षत्रियों के अंतर्गत मानते हैं।

भाट्टी—संज्ञा पुं० [सं० भट्ट] भाद का काम। भट्टा। बल-
कीर्ति। उ०—बहुँ भाद भाट्टी करे मान पाँच। कई
सोमिनी बेदिनी मीत गाँव।—केदार।

भाट्टी—संज्ञा स्त्री० [सं० भट्ट] (१) वह मिट्टी जो नदी
अपने साथ चट्टाप में बहाकर लाती है और उसका सतप
बहाव में छे जाती है। वह मिट्टी नदी के रूप में भूमि का
उम जाती है और बहाव का काम देती है। (२) दे० "भट्ट"।
(३) (४) (५) घास। चट्टाप।

भाट्टा—संज्ञा पुं० [सं० भट्ट] (१) दे० "भाट्ट"। (२) नदी।
भाट्टी—संज्ञा स्त्री० [सं० भट्ट] पानी का उतार। भाट्टा।

भाट्टी—संज्ञा स्त्री० [सं० भट्ट] (१) भट्टी। उ०—भाट्ट
मोदि भाट्टी नाम भाट्टन भाट्टन सोप ही सोपन। देती मीन
मीन मुम भागे बरन कहा दिव दोबन।—सूर। (२) वह
स्थान जहाँ मल चुराया जाता है। भट्टा। उ०—कितना

भाठी प्रेम की, बहुतक धँटे आय। सिर सँपि सो पीवही
और पै दिया न जाय।—कधीर।

भाड़-संज्ञा पुं० [सं० भृष्ट = पो० भट्टे] भट्टेजों की भट्टी जिसमें वे भोजन भूतने के लिये बाढ़ गरम करते हैं। यह एक छोटी कोठरी के आकार का होता है जिसमें एक द्वार होता है और जिसकी छत पर बहुत से मिट्टी के बर्तन ऊपर की मुँह करके जड़े होते हैं। इसकी दीवार हाथ सवा हाथ ऊँची होती है। इसके द्वार से ईंधन डाला जाता है जिससे अलग निकालकर दूसरे बर्तन में दानों के साथ रखकर भूतते हैं। दो तीन बार इस प्रकार गरम बाढ़ डालने और चलाते से दाने सिल जाते हैं।

मुहा०—भाड़ झोंकना = (१) भाड़ में ईंधन झोंकना। भाड़ में कूड़ा फेंकना। भाड़ गरम करना। (२) तुच्छ काम करना। नीच कृति धारण करना। नीच काम करना। अयोग्य काम करना। (३) व्यर्थ समय गँवाना। जैसे,—बारह बरस दिहो में रहे, भाड़ झोंकते रहे। भाड़ में झोंकना वा डालना = (१) काम में डालना। धूँध में डालना। जलाना। (२) फेंकना। नष्ट करना। (३) जल देना। त्यागना। भाड़ में पड़े वा जाय = आग लगे। नष्ट हो। (उपेक्षा)

भाड़ा-संज्ञा पुं० [सं० भाट] किराया।

मुहा०—भाड़े का दह = (१) थोड़े दिन तक रहनेवाला। जो स्थायी न हो। क्षणिक। (२) जिसकी सदा भरमस्त हुआ करे वा जिस पर लाभ में व्यय अधिक पड़ता हो।

संज्ञा पुं० एक घास जो प्रायः हाथ भर ऊँची होती और निर्बल भूमि में उपजती है। यह चारे के काम आती है।

संज्ञा पुं० [सं० भाप] यह दिशा जिस ओर की वायु बहती हो।

मुहा०—भाड़े पड़ना = जिपर वायु जाती हो, उपर गाय की चलना। माय को वायु के गहरे ले जाना। भाड़े फेरना = जिपर हवा का हल हो, उपर नाय का मुँह फेरना।

भाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माव्य शाकानुसार एक प्रकार का रूपक जो भाटकादि दस रूपकों के अंतर्गत है। यह एक अंक का होता है और इसमें हास्य रस की प्रधानता होती है। इसका नायक कोई निपुण, पंडित वा अन्य चतुर व्यक्ति होता है। इसमें गट आक्रान्त की ओर देखकर आप ही आप मारी कदानी उक्ति प्रयुक्ति के रूप में कहता जाता है, मानो वह किसी से बात कर रहा हो। यह बीच बीच में हँसता जाता और क्रोधादि करता जाता है। इसमें पूर्ण के परिचय का अनेक अवसरों में सहित वर्णन होता है। बीच बीच में कहीं कहीं संक्षेप भी होता है। इसमें शीघ्र और खोलाप्य द्वारा शृंगार रस भी सूचित होता है। संस्कृत भाषा में कोसिकी हृषि द्वारा कथा का वर्णन किया जाता

है। यह दृश्यकाव्य है। (२) व्याज। मिस। (३) शान। बोध।

भाणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अंक में समाप्त होनेवाला हास्य रस-प्रधान दृश्य काव्य। भाण।

भात-संज्ञा पुं० [सं० भक्त = पा० भत्त] (१) पानी में उबाला हुआ चावल। पकाया हुआ चावल। उ०—(क) भयपू धो तनुरावल राता। नाचें बाजन वाज बराता। मीर के माथे बूझ दीन्हो भक्त्या जोरि कहाता। मध्ये क चारन संमधी दीन्हो पुत्र बहावल माता। दुलहिन हीपि चौक धँडाय निरभय पद परभाता। भातहि उलटि बरातहि छायो भली बनी कुवालाता।—कथार। (ख) पहिले भात परोसे आना। जनहु सुवास कपूर यसाना। (ग) नंद कुलावत है गोपाल। आवहु बेगि बल्लभा लेहैं सुंदर नैन बिसाल। परसेउ पार घरेउ मग चितवत बेगि चलो तुम लाल। भात सिरात तात दुख पावत क्यों न चलो ततकाल।—सूर। (२) विवाह की एक रसम। यह विवाह के दूसरे वा तीसरे दिन होती है। इसमें समधी को भात खाने के लिये कन्या के घर बुलाया जाता और उसे भात खिलाया जाता है। भात खाने के लिये उसे कुछ द्रव्य आदि भी भेंट किया जाता है। इसमें दोनों समधी मांडव में चौक पर बैठकर भात पारते हैं।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभात। सवेरा। (२) दीप्ति। प्रकाश।

भाता-संज्ञा पुं० [सं० भक्त = भत्त] उपज का वह भाग जो हलवादे को रासि में से गल्लहान में मिलता है। (पूर्व काल में जब मासिक वेतन वा दैनिक मजुरी देने की प्रथा नहीं थी, तब हल जोतनेवाले को भक्ष की उपज का छटा भाग दिया जाता था, और इसके बदले में वह वर्ष भर सपरिवार पत्नी के साथ काम कान करता था। यह प्रथा अब भी नेपाल की तराई में कहीं कहीं है।)

भाति-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोमा। कान्ति। उ०—मनोहर है नैननि की भाति। मानहुँ दूरि बरत पल अपने शरद कमल की भाति।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० “भाति”।

भानु-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

भाया-संज्ञा पुं० [सं० भयना = पा० भयना] (१) चमड़े की बनी हुई छेकी धँडो जिसमें तार भरकर तार चलनेवाले पीठ पर वा कटि में बाँधते थे। भरका। मूलीर। उ०—(क) पाँत बसन परिकर कटि भाया। पार पार सर सोहन हाया।—दुलसी। (ख) नृप बल्यो बान भरि भाप में। छिद्र सरामन हाय मैं।—मोवाला। (२) बढ़ी मायी।

भायी-संज्ञा स्त्री० [सं० भय = पा० भय] (१) चमड़े की छेकी जिसे छत्राकर सोहर भट्टे की भाग मुरगते हैं। पीछनी। (यह चमड़े की छेकी है जो देखनी और सिद्धनी है।

जब इसमें धातु भरना होता है, तो इसे पींचकर फैलाते हैं और फिर दबा कर इसमें से वायु निकालते हैं। वायु एक छोटे छेद या नली से होकर भट्टों में पहुँचता है जिससे आग सुलाती है। (४) उ०—परम प्रभाती परलोह दुईभाषी सम, पुरो यने हाथी सार्था उग्रमेन सेन के।—गोपाल।

माद्रो—रंश पुं० [मं० भाद्र = पा० मरो] एक महीने का नाम जो वर्षा ऋतु में पड़ता है। इस महीने की पूर्णमासी के दिन चंद्रमा भाद्रपदा नक्षत्र में रहता है। सावन के बाद और कार के पहले का महीना। उ०—बरपा ऋतु रघुपति भगति तुलसी सलिल मुदास। राम नाम वर वरन तुंग सावन भाद्रो मास।—तुलसी।

पर्या०—भाद्र। भाद्रपद। ग्रीष्मपद। नमस्य।

माद्रो—रंश पुं० दे० “माद्रो”।

भाद्र—रंश पुं० [गं०] एक महीने का नाम जो वर्षा ऋतु में सावन और कुभार के बीच में पड़ता है। इस महीने की पूर्णमासी के दिन चंद्रमा भाद्रपदा नक्षत्र में रहता है। धैरिक काल में इस महीने का नाम नमस्य था। इसे ग्रीष्मपद भी कहते हैं। भाद्रपद। माद्रो।

भाद्रपद—रंश पुं० [सं०] (१) भाद्र। भाद्रो। (२) वृद्धरागि के एक वर्ष का नाम जब वह पूर्व भाद्रपदा या उत्तर भाद्रपदा में उदय होता है।

भाद्रपदा—रंश स्त्री० [मं०] एक नक्षत्र पुंश का नाम। इसके दो भाग किए गए हैं—पूर्वा भाद्रपदा और उत्तरा भाद्रपदा। पूर्वा भाद्रपदा यमल आहूति की है। यह उत्तर और अश्विना से २४° पर है और इसमें दो तारे हैं। उत्तरा भाद्रपदा की आहूति वाय्या के आहार की है और यह अश्विना से ३६° उत्तर और है। इसमें भी दो तारे हैं। पूर्वा भाद्रपदा का देवता अन्नकृपाण और उत्तरा भाद्रपदा का अहिपुत्र है। पहली कुंभ राशि में और दूसरी मीन में आती जाती है।

भाद्रमातुल—वि० [मं०] सती का पुत्र जिसकी माता सती हो। भाद्र—रंश पुं० [मं०] (१) प्रकाश। रोशनी। (२) शीत। चमक। (३) शान। (४) प्रतीति। आभास। उ०—बादिका उज्ज्वरि अक्षपाति मारि मारि गङ्गा मानुहल मानु को प्रभाय मानु मानु सो।—तुलसी।

रंश पुं० दे० “माद्रु”।

रंश पुं० [दे०] तुंग नामक नदी। दे० “तुंग”।

भाद्रजा—रंश पुं० [रि० अ० + भा] [स्त्री० भाद्रजी] बहिन का कटका। उ०—यह कटका मेरी भाद्रजी है। इसे मय मास।—कल्याण।

भाद्रजा—रंश पुं० [रि० अ० + भा] [स्त्री० भाद्रजी] (१) गोदना। धन। दान। उ०—(क) नील मोक महे मे भट मारी।

सब कै सकति संसु धनु भाती।—तुलसी। (४) कानि करना आहुति रता आतु बनायत आहुति भाते। देवी सुरदास के स्वामी से गोपिन के हाथ बिकाने।—भू। (ग) सहस्र बाहु अति बली बान्धो। परमुरान लको बल आन्यो।—कल्ल। (२) नष्ट करना। नाश करना। मिटाना। ध्वंस करना। उ०—(क) आपनो कंठई कर् जानिहो। राम गरीब-नेत्राज राजमनि चिरद हाथ रा आनिहो..... भारत दीन भनायन को दित मान लौकिक कानि ही। है परिनाम भको मुष्टी को मरनाज भुव आनिहो।—तुलसी। (ल) भाते मड मूढ़ बाप सरार को पानी। गोरीअन पूजन जहै नय तन दल भानी।—तुलसी। (३) हटाना। दूर करना। उ०—(क) देखी सिंहा गोको नंदरानी। अली मुदि तेरे निव उपजी बड़ी वैत बर नई सपानी। छोटा एक भए कैनेहु करि कोन बीन बारा विधि भानी। कर्म कर्म करि अहनी उबन्यो ताको मारि पितर दे पानी।—सूर। (ल) माक में रिनाकनिनि बागता बिलोकि राम रोको परलोह लीक मारी भ्रम भाजिहो।—तुलसी। (ग) मो सों मिलयनि वागुरी न नहि आवन भेद। कहे दैत यह प्रगट ही प्रगळ्यो पूर प्रवेद।—बिहारी। (४) काटना। उ०—(क) अति ही नई भयता जानी बर मुनि सोन आन्यो। करि निज भाय एक पुता तनु में शयक नुष्ट शिर आन्यो।—सूर। (ग) अजहूँ सिय सीतु बनह भीम भुजा भाये। रघुपति यह पैत करी भूतल परिभाषी।—भू। कि० सं० [रि० भाव] समस्तता। अनुमान करना। जानना। उ०—भूय अर्पणी कृत भी कारन, इतनी मृष्टम गति पजान। पंचकृत भूतन ते उपमैड भूल पसारो सारी जान। कारण मृष्टम भूल देह बरु, पंचकोट इहरी में जान। करि विवेक लनि आत्म न्यारी, मूँज हृदयोवागे ज्यों जान।—निबलदास।

भाद्रमती—रंश स्त्री० [मं०] यशुवती। यह यश की मातृ का मेह करती हो। भाग का खेल करनेवाली की। जादूगारी।

भाद्रवी—रंश स्त्री० [मं०] भाद्रवा। जमुना। उ०—देवी देवी दानवी मे मान दान होइ देवी, भाद्रवी मदार भाव जाती पड़ाई है।—केशव।

भाद्रवीय—वि० [मं०] भाद्र संबंधी।

रंश पुं० दाहिनी ओर।

भाद्रा—रंश पुं० [मं०] भाद्र = दान [(१) जान पड़ना। जानना होना। उ०—यै घर को दाईं ही निदारी को मो सार हो जान। सोहै ल्होयो को सो मन भाई भेद मरार की जान चम्य भेद पनि चम्य बसोरा धनि धनि जायो पन। बस भूमि ब्रजराजी धनि धनि भाईर करन अहूत। परा हा होत अर्थक कथाई जई नई लागन भूय।—गर्जित

पाटवर देते लेत न बनत बहुत । हय गय सहन भँडार दिये
सब फेरि भरे से भाति । जयहि देन तब ही फिरि देखत
संपति घर न समाति ।—सूर । (२) अच्छा लगना ।
रचना । पसंद आना । उ०—(क) महमद यात्री प्रेम की
ज्यों भाये त्यों खेल । तेलहि फूलहि संग ज्यों होय फुलायल
तेल ।—जायसी । (ख) गुन अवगुन जानत सब कोई । जो
जेहि भाव नैक तेहि सोई ।—नूरुसी । (ग) भावै सो करहु
तो उदास भाव प्राणनाथ, साथ ले चरहु कैसे लोक लाज
बहाने ।—केशव । (३) शोभा देना । सोहना । फवना ।
उ०—गुम राजा चाही सुख पावा । जोगिहि भोग करत
नहि भावा ।—जायसी ।

संयो० क्रि०—जाना ।

क्रि० सं० [सं० भा = प्रकाश] चमकाना । उ०—कनकरुंद
बुझ भुजा कलाई । जानहुँ फेरि ऊँदरे भाई ।—जायसी ।

भानु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य ।

यौ०—भानुजा । भानुतनया आदि ।

(२) विष्णु । (३) किरण । (४) मंदार । अर्क । (५) एक
देवार्घ्य का नाम । (६) कृष्ण के एक पुत्र का नाम । (७)
शैव ग्रंथों के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी के ग्रंथद्वय अर्ध
के पिता का नाम । (८) राजा । (९) उत्तम मन्वंतर के
एक देवता का नाम ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दक्ष की एक कन्या का नाम ।
पुराणानुसार यह धर्म या मनु से ब्याही थी और इससे
भानु या आदित्य का जन्म हुआ था । (२) कृष्ण की एक
कन्या का नाम ।

भानुफप-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मादि के समय सूर्य के विषय का
काव्य । कवित्व उपाधि में यह अमंगलमूचक माना
गया है ।

भानुपेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य ।

भानुज-संज्ञा पुं० [सं०] भानुज : (१) वाम । (२) तनि-
धर । (३) बर्ण ।

भानुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना ।

भानुतनया-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना ।

भानुनृजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना ।

भानुदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) वांछाल देव के एक
राजकुमार का नाम जो महाभारत में पांडवों की ओर से
सद्वर बर्ण के हाथ में मारा गया था ।

भानुपाक-संज्ञा पुं० [सं०] औषध आदि की सूर्य की गर्मी या
धूप की सहायता से पकने की विधि ।

भानुप्रताप-संज्ञा पुं० [सं०] शमापन के अनुसार एक राजा का
नाम । यह ईरक देव के राजा सूर्यकेतु का पुत्र था ।
मुसलमान रामायण में इसकी वधा इस प्रकार की है—

एक दिन यह शिकार खेलने गया । इसे जंगल में एक स्मर
देख पड़ा । इसने घोड़े को उसके पीछे ढाल दिया । घने
जंगल में जाकर स्मर कहीं छिप गया और राजा जंगल
में भटक गया । उस जंगल में उसे एक तपस्वी का आश्रम
मिला । वह तपस्वी राजा का एक शत्रु था जिसका राग्य
इसने जीत लिया था । राजा व्यासा था और उसने तपस्वी
को पहचाना न था । उससे उसने पानी माँगा । तपस्वी ने
एक सालाष बतला दिया । राजा ने वहाँ जाकर जल पीकर
अपना धर्म मिटाया । रात हो रही थी, इससे तपस्वी राजा
को अपने आश्रम में ले गया । रात के समय दोनों में बात-
चीन हुई । तपस्वी ने कपट से राजा को अपनी मीठी मीठी
बातों से बर्बाधून कर लिया । भानुप्रताप उसी बातें सुन
कर उस पर विधास करके रात को वहाँ आश्रम में सो रहा ।
तपस्वी ने अपने मित्र काष्कैतु राक्षस को बुलाया । यह
राजा को दण भर में उठाकर उसकी राजधानी में पहुँचा
आया और उसके घोड़े को छुड़साल में बाँध आया । साथ
ही उस राजा के पुरोहित की भी उठाकर एक पर्वत की
गुफा में बंध कर भाया और आप पुरोहित का रूप धरकर
उसके स्थान पर बैठ रहा । सबसे जब राजा जागा तो उसे
सुनि पर विशेष अज्ञात हुई । पुरोहित को बुलाकर राजा ने
तीसरे दिन भोजन बनाने की आज्ञा दी और मादणों को
भोजन का निमंत्रण दिया । कपटी पुरोहित ने अनेक माँसों
के साथ मनुष्य का मांस भी पकाया । जब ब्राह्मण लोग
भोजन करने बैठे और राजा परमोत्तम लगा । इसी बीच में
आकाशवाणी हुई कि तुम लोग यह भक्ष मत खाओ, इसमें
मनुष्य का मांस है । ब्राह्मण लोग आकाशवाणी सुनकर
उठ गए और राजा को शाप दिया कि तुम परिवार सहित
राक्षस हो । वहने है कि वहाँ राजा भानुप्रताप ने पर
दूसरे जन्म में रावण हुआ ।

भानुफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] केला ।

भानुमन्-वि० [सं०] शीतलुक । प्रह्लादमात्र ।

संज्ञा पुं० (१) सूर्य । (२) कलिंग के एक राजा का नाम ।

(३) कृष्ण के एक पुत्र का नाम । (४) पुराणानुसार केति-
पुत्र के एक पुत्र का नाम । (५) भर्ग का एक नाम ।

भानुमती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विजयनाथ की रानी का नाम ।
यह राजा भोज की कन्या थी । यह भार्येन रूपवती और
ईश्वराल विद्या की ज्ञानधारिणी थी । (२) भंगिरस की पत्नी
कन्या का नाम । (३) दुर्योधन की स्त्री का नाम । (४)
मगर की एक स्त्री का नाम । (५) वृत्तरार्ध की कन्या का
नाम जो अर्धवर्तिका में ब्याही थी । (६) गंगा । (७)
मादुरवर्मा ।

भानुमान-वि० दे० “भानुमन” ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोशल देश के एक राजा का नाम । यह दशरथ के भ्रातर थे । (२) दे० "मानुमत्र" ।

भातुमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु पुराण के अनुसार चंद्रगिरि के राजा के एक पुत्र का नाम । (२) एक प्राचीन राजा का नाम । यह पुत्रमित्र के पाद गद्दी पर बैठा था ।

भातुमुखी-संज्ञा पुं० [सं०] मुखवैमुखी ।

भातुवार-संज्ञा पुं० [सं०] शनिवार । एतवार ।

भातुसुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाम । (२) मनु । (३) जनिधर । (४) वर्षा ।

भातुसुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना ।

भातुसेन-संज्ञा पुं० [सं०] कर्ग के एक पुत्र का नाम ।

भातेमि-संज्ञा पुं० [सं०] क्षुब्ध ।

भाप-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पानी के बहुत छंटे छोटे कण जो उसके शीथले की दशा में ऊपर से उठने लगाई पड़ते हैं और ठंडक पाकर कुदरे आदि का रस धारण करते हैं । बापर ।

दि० प्र०—उडना ।—निष्प्रज्ञा ।

मुहा०—भाप लेना = औपचारिकता के विषय पानी में कोई औषध आदि उबालकर उमकी भाप में किसी रोगी के शरीर में भरना ।

(२) भौतिक आद्यानुसार घनीभूत या द्रवीभूत पदार्थों की यह भ्रमणा जो उनके परांत ताप जाने पर प्राप्त होती है । ताप के कारण ही घनीभूत या ठोस पदार्थ द्रव होता तथा द्रव पदार्थ भाप का रूप धारण करता है । यों तो भग और वायुभूत या अतिरक्त (गैस) एक ही प्रकार के होते हैं, पर भाप सामान्य दृष्टि और दृष्टांत पाकर द्रव तथा ठोस ही जाना है और प्रायः ये पदार्थ जिनकी यह भव है, द्रव का ठोस रूप में उलटने होते हैं । पर गैस साधारण नहीं और द्रवता जाने पर भी अपनी भ्रमणा नहीं बदलती । भाप ही प्रकार की होती है—एक भाप, दूसरी भ्रमणा । भाप भाप वह है जो अधिक ठंडक धारण करती हो गर्म हो और अति सूक्ष्म द्रवी के रूप में कहीं कुदरे, कहीं बाहर आदि के रूप में दिखाई पड़े । भाप भाप अर्थात् वायु और गैस के समान अतीव पतल है जो वायुमंडल में सब तरह भ्रमणीय रूप में गूनाधिक होती हुई है । यही सब भौतिक दृष्टांत का संकेत पानी है, तथा भाप भाप बन जाती है ।

मुहा०—भाप भला = किसी को रा करने वगैरे के मुँह में मुँह बनकर पड़ना । (किसी भापे वगैरे को भ्रम में लाने पर ही कहते हैं)

भापना-संज्ञा पुं० [सं०] "भापना" ।

भापना-संज्ञा पुं० [सं०] एक पाप का काम जो रिताप, तापमाने, भय भयान दहिल आदि में पदार्थ प्रदत्तों में

होती है और रस्सी बनाने के काम आती है । अतितापनकस ।

भापार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यह जंगल जो पदार्थों के बने और सराई के बीच में होते हैं । यह प्रायः सानू भाप के होते हैं । (२) एक प्रकार की घास जिसे भी रसी भी जाती है । यह पर्वतों पर होती है । इसे बनकर, बनती, यमरी, यवई आदि कहते हैं ।

आमराक्ष-वि० [सं०] आ + भक्ष्ता । लाल । रक्त । उ०—आमराक्ष जगरे जलत आमरे भरा भीर, पाछे चपल पावे मानत भ्रमान कीं ।—गुरुव ।

आमरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गरम रास । पकड़ा । (२) बसों की दोनी में धूत जो रस में होती है । (भव रास में हकी धूत होती है कि उसमें पर भूत साथ, गो वहा भाने नाभिसे को "आमरी" बड़ेतर सचेत करते हैं ।)

आमरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वड़े भाई की स्त्री । भावार्थ । उ०—(क) राहने को कतु भाभी धोती कीरति धीमुर धोले । के ऊपर में धनुष संतुल बच करि हरिनु गोले ।—गूर । (न) दीदी राखी मिर गोबई भाभी के छप के रोग दस्तन डी ।

आम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोष । (२) प्रकाश । दृष्टि । (३) मुख । (४) चरणोद । (५) एक वर्ण वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में भगन, मगन और अंत में तीन मगन होते हैं (अ म ल स ल) ।

अमरा स्त्री० [सं०] अम । उ०—आमि पर आम विधि वाम सेवि राम गौं सकल संप्राप्त द्वापरे ।—गुरुव ।

आमर-संज्ञा पुं० [सं०] वानोद ।

आमनीय-संज्ञा पुं० [सं०] आमनीय का नाम । इस जाति के लोग दक्षिण भारत में पैदा करते हैं और कभी और कभी वे जयिदा नियोज करते हैं ।

आमनी-वि० [सं०] (१) प्रकाशक । (२) मासिक ।

आमनी पुं० पतयेपर ।

आमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री । उ०—पर सुनि आर गोवि सुतामा । उर हस तुम बन गए, सहस्रिन वरर पु की आमा ।—गूर । (२) मुद्रा की ।

आमिनी-संज्ञा स्त्री० दे० "आमिनी" ।

आमिनी-संज्ञा स्त्री० दे० "आमिनी" ।

आमिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोष बननेवाली स्त्री । (२) स्त्री ।

आमी-वि० [सं०] आ + मि । आराम ।

आमी-वि० [सं०] मित्र की ।

आमी-संज्ञा पुं० [सं०] आमी । उ०—आमा आमा

गमस्तिमान्, नागदीप, सौम्य, संघर्ष और घरण ये नौ विभाग बतलाए गए हैं और लिखा है कि प्रजा का भरण पोषण करने के कारण मनु को भारत कहते हैं। उन्हीं भारत के नाम पर हस्त-देश का नाम "भारतवर्ष" पड़ा। कुछ लोगों का मत है कि दुष्यंत के पुत्र भरत के नाम पर हस्त-देश का नाम "भारत" पड़ा। इसी प्रकार भिन्न भिन्न पुराणों में इस संबंध में भिन्न भिन्न बातें दी हैं।

भारतनंद-रंदा पुं० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद का नाम। (संगीत)

भारति-रंदा पुं० [सं० भाषा] (१) सरस्वती। (२) वाणी। उ०—भति भारति षणु भई ओ निहारि, विचारि निरी उपमान साथे।—गुरुमी।

भारती-रंदा स्त्री० [सं०] (१) वचन। वाणी। (२) सरस्वती। (३) एक परी का नाम। (४) एक वृत्ति का नाम। इसके द्वारा तीव्र और धीमास्त रस का वर्णन किया जाता है। यह साधु या संस्कृत भाषा में होती है। (५) माप। (६) संवत्सरियों के दस नामों में से एक। (७) एक नदी का नाम।

भारतीतीर्थ-रंदा पुं० [सं०] एक तीर्थ का नाम।

भारतीय-वि० [सं०] भारत संबंधी। भारत का। जैसे,—भारतीय चित्रकला, भारतीय दर्शन आदि।

भारतुला-रंदा स्त्री० [सं०] चामुन गिणा के अनुसार स्वर्ग के नौ मार्गों में से पंचमो नाम ओ बीच में होता है।

भारती-रंदा पुं० [सं० भाषा] (१) देश "भारत"। (२) पुत्र। संज्ञा। उ०—भारत होय नृप ओ भेषा। होहि महाय आय सब जोषा।—जायसी।

भारती-रंदा पुं० [सं० भाषा] बोद्धा। गिहारी। उ०—अवड अरुण सीत कद कोषी। महाभारती नाउं अयोषी।—जायसी।

भारत-रंदा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का नाम। (२) भारत-विद्वत्। बह्वी।

राधा पुं० [सं० २५ + २०] एक प्रकार का दूध। (वसंतरा) हममें दूध करनेवाला माधवान दूध करने समर्थ भगवान् पीठ पर एक मुद्रा आसी की ईसा ज्ञात है। यह मुख्य उससे पीठ की लकी पर चौक लगाकर हाथों से उसकी चमक की कल्पना का संघन पदार्थ हुआ हुआ है और दूध करने-वाला उसका पीठ से निकले हुए माधवान पीठ से दूध करता जाता है।

भारत-रंदा पुं० [सं०] (१) भारत के मूल में उत्पन्न पुत्र। (२) प्रोत्साहन। (३) संलग्न कद। (४) भारत के नामक परांत। (५) भारत के एक पुत्र का नाम। (६) एक देश का नाम। (७) बह्वी। (८) एक कवि का नाम जिन्होंने एक हजार भोगपुत्र और दूधपुत्र हैं।

भारत-रंदा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

भारत-रंदा-वि० [सं० भाषा] (१) बोस का नाम। भाषा। बोस। बोस। (२) बोस। भाषा। उ०—आपुन तरि तरि औरन तास। असम अथै दमन प्रगट पानी में बनवर कात। इदि विधि उदने गुन पान ज्यो नदी सेन अनि भारत। इदि नसकनु सेनु रचना रवि राम प्रताप विचारत।—भूर।

भार-भारी-वि० [सं० भाषा] बोस होनेवाला। बोस होनेवाला।

भारभू-वि० [सं०] भार धारण करनेवाला। बोस होनेवाला।

भार-रंदा पुं० [सं०] भारत का नामक परांत। भारत।

भार-रंदा पुं० [सं०] बह्वी।

भार-रंदा पुं० [सं०] धनुष की रस्सी। जवा।

भार-रंदा-वि० [सं०] (१) भार ले जानेवाला। (२) बह्वी होनेवाला।

भार-रंदा-वि० [सं०] बोस होनेवाला।

भार पुं० मोरिया।

भार-रंदा-वि० [सं०] बोस होने की क्रिया या भाव।

भार-रंदा-वि० [सं०] भार-रंदा। भार होनेवाला।

भार पुं० मोरिया। समुद्र।

भार-रंदा-वि० [सं० भाषा] [सं० भाषा] भार-रंदा।

बोस होनेवाला।

भार-रंदा [सं०] नीली।

भार-रंदा पुं० [सं०] एक प्राचीन कवि जो किरात-वंशीय नामक महाकाव्य के रचयिता थे।

विशेष—भार-रंदा के जन्म और निवास-स्थान आदि के संबंध में अभी तक कोई बात नहीं लगी। कहते हैं कि वे अपने गुरु की सीढ़ी लेकर जिनमाल की नगरी में चले जाया करते थे। वहीं प्राकृतिक जोषा देवदर वृक्षों की कनिगा करते की मूर्ति हुई थी।

भार-रंदा-वि० [सं० भाषा] भार-रंदा का भार उतारने-वाला, विष्णु।

भार-रंदा-वि० [सं० भाषा] देश "भार"। उ०—(६) ये नदी निमिष अट गये। ते नृप गुण्य भयेन गयो।—भूर। (७) ये नृप पद नरागिष के पद सिधुमुखा रगे नहि टारे। ते पद पद परति अनि पावन मुग्धति पाव करने अथ अति।—भूर।

भार पुं० (१) देश "भार"। (२) देश "भार"।

भार-रंदा-वि० [सं० भाषा] एक कवि का नाम जिन्होंने प्रसिद्ध काव्य में न अथ न और एक मनु और एक मनु की है और जोषे, उर नका लायने चर्च पर कवि होती है।

भारावलंबकत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पदार्थों के परमाणुओं का पारस्परिक आकर्षण ।

विशेष—इससे पदार्थों के परमाणुओं का परस्पर आकर्षण ऐसा रहता है जो उन पदार्थों को दोनों ओर से खींचने में प्रतिबाधक होता है जिससे वह टूट नहीं सकते । इसी धर्म को भारावलंबकत्व कहते हैं ।

भारि—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

भारी—वि० [हि० भार] (१) जिसमें भार हो । जिसमें अधिक बोझ हो । गुरु । बोझिल । उ०—(क) लपटाई कोप पटहि तबारी । औ मोला भंला जस भारी ।—जायसी । (ख) भारी कही तो नहि डकै हलका कहूँ तो सोढ । मैं क्या जानूँ राम को मैना कछु न दीठ ।—कबीर ।

मुहा०—पेट भारी होना = पेट में अन्न होना । खाए हुए पदार्थों का ठीक तरह से न पचना । पैर भारी होना = गर्भिणी होना । पेट में होना । सिर भारी होना = सिर में पीड़ा होना । गल्ला या आवाज भारी होना वा भारी पढ़ना = गला पढ़ना । गला बँटना । मुँह में ठीक आवाज न निकलना । भारी रहना = (१) नाव का रोकना (सहाह) । (२) धीरे चलना (कहार) । (३) भ्रमण । कठिन । कबाल । भीषण । उ०—(क) भर भारी दुपहर अति भारी । कैसे भारी रैन भँविथारी ।—जायसी । (ख) पुनि भर राव कहा करि भारी । बोझ्यो सभा बोध प्रतपारी ।—गोपाल । (ग) गगन निहारि किलकारी भारी, सुनि हनुमान पहिचानि अए सानंद सचेत हैं ।—तुलसी ।

फि० प्र०—लगना ।

(३) विनाश । बड़ा । बृहत् । महा । उ०—(क) दीरघ भायु भूमिपति भारी । हनमें नाहि पदमिनी नारी ।—जायसी । (ख) जपहि नाम जन भारिनि भारी । मिटहि कुसंस्कृत होहि सुपारी ।—तुलसी । (ग) जैसे मिटइ मोर भ्रम भारी । कहहुँ सां कथा नाथ विनारी ।—तुलसी ।

मुहा०—बड़ा भारी = बहुत बड़ा । भारी भरकम या अद्भुत = बहुत बड़ा और भारी । जिसमें अधिक माल-सम्पत्ति लगा हो और जो फलतः अधिक मूल्य का हो । बहुमूल्य । जैसे—भारी जेड़ा, भारी गटरी । (४) अधिक । अर्पत । बहुत । उ०—(क) धाह दामिनी बंगि हैंचारी । वह सीरा हीपरिस भारी ।—जायसी । (ख) यह मुनि गुद बानी घनु मुनि बानी जानी दिन दुखराशि । नाइका सँहारी दारण भारीनारी अतिबल जानि ।—देवाय । (ग) भस तर बरन गयो दिन भारी । चार पहर बनि जग भारी ।—जायसी । (४) असह्य । दृढ़ । जैसे,—मेरा ही दम उम्मे भारी है ।

फि० प्र०—पढ़ना ।—लगना ।

(६) सूजा हुआ । फूला हुआ । जैसे,—मुँह भारी होना ।

(७) प्रबल । जैसे,—वह अकेला दक्ष पर भारी है । (८) गंभीर । शांत ।

मुहा०—भारी रहना = चुप रहना । (दलाल)

भारीपन—संज्ञा पुं० [हि० भार + पन (न्य०)] (१) भार का भोग ।

गुरुत्व । (२) गरिष्ठता । भारी होना ।

भारंड—संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार एक वन का नाम जो पंजाब में सरस्वती नदी के पास पूर्व में था ।

भारंडि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का साम । (गान)

(२) एक ऋषि का नाम जो भारंडि साम के द्रष्टा थे । (३)

एक पक्षी का नाम । पुराणानुसार यह उत्तर कुह का रहनेवाला है ।

भारू—संज्ञा पुं० [हि० भारी] धीरे चलने के लिये एक संकेत जिसका व्यवहार कहार करते हैं ।

भारोद्ध—वि० [सं०] भार ले जानेवाला ।

संज्ञा पुं० मंडिया । मजदूर ।

भार्गव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋगु के ऋषि में उत्पन्न पुरुष ।

(२) परमुराम । (३) शुक्राचार्य । (४) एक देश का नाम ।

यह मार्कण्डेयपुराण के अनुसार भारगवर्ष के अंतर्गत पूर्व और

है । (५) मार्कण्डेय । (६) दयागोक । (७) कुम्हार । (८) नीला

भैरवा । (९) हीरा । (१०) गज । हाथी । (११) एक उप-

पुराण का नाम । (१२) जमदग्नि । (१३) प्यवन । (१४)

एक जाति जो संयुक्त प्रदेश के पश्चिम में पाई जाती है ।

इस जाति के लोग अपने आपको ब्राह्मण कहते हैं; पर

इनकी कृषि बहुधा धैर्यों की सी होती है । कुछ लोग इन्हें

दूतर बनिया भी कहते हैं ।

वि० ऋगु संबंधी । ऋगु का । जैसे,—भार्गव अक्ष ।

भार्गवधन—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार द्वारका के एक वन का नाम ।

भार्गवमित्र—संज्ञा पुं० [सं०] हीरा ।

भार्गवी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती । (२) लक्ष्मी । (३) दुर्गा ।

दूब । (४) नीला दूब । (५) सफेद दूब । (६) उर्दीसा

देश की एक नदी का नाम ।

भार्गायन—संज्ञा पुं० [सं०] अग्ने के गोत्र के लोग ।

भार्गी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भार्गवी ।

भार्गी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भार्गवी ।

भार्गी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भार्गवी । भारद्वाजी । बनकवास ।

भार्ग्य—संज्ञा स्त्री० [सं०] पर्वी । जाया । बोर । खो ।

भार्ग्याट—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी दूसरे पुरुष को माग

के लिये अपनी स्त्री दे । अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष के पास

भेजनेवाला मनुष्य ।

भार्याटिक—वि० [सं०] जो अपनी भार्या में बहुत अनुरक्त हो ।

भक्त ।

सहा पुं० (१) एक शुनि का नाम । (२) एक प्रकार का रिष ।

भाष्यात्-संज्ञा पुं० [भं०] भाषा होने का भाव । पार्श्व ।

भाष्यारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मृग । (२) एक पर्वत का नाम ।

भाटपार्श्व-संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत नामक वृक्ष ।

भाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भैंसों के ऊपर का भाग । कपाल ।

लघट । मलक । माषा । उ०—(क) भाल गुही गुन लाल

हटै लपटी लर मोनिन की सुखदेवी ।—केशव । (ख)

कानन कुंडल पिशाल, गोरोचन तिलक भाल, प्रिया छवि देखि देखि सोमा अधिकाई । (२) तंत्र ।

संज्ञा पुं० [हि० भावा] (१) भाला । वरछा । उ०—(क)

भाल बलि राँडे यह परहीं । जान परसाल बाज के

चढ़हीं ।—जायसी । (ख) भालपनि बैठ भाल ली और बैठ

धनकार ।—जायसी । (३) तीर का फल । तीर की

शोक । गौरी । उ०—तीर पनन भूकटी धनुष बधिक

समर सजि कानि । इनन तदन मृग निलक सर शुकनि

भाल भरि गानि ।

संज्ञा पुं० [मं० भन्तुक] रीछ । भाट । उ०—तहाँ सिंह

बहु ध्यान एक तर्प गीध भट् भाट ।—विधाम ।

भालचंद्र-संज्ञा पुं० [मं०] (१) महादेव । (२) गणेश ।

संज्ञा स्त्री० दुर्गा ।

भालचंद्र-संज्ञा पुं० [मं०] सिद्ध । सेंदुर ।

भालना-क्रि० सं० (१) प्यामपूर्वक देखना । अच्छी तरह देखना ।

अर्थ,—देखना अच्छा । † (२) हँसना । तलाश करना ।

भालनेत्र, भाललोचन-संज्ञा पुं० [मं०] शिव, त्रिनके मलक

में एक तीसरा नेत्र है ।

भालपी-संज्ञा पुं० [मं० भन्तुक] रीछ । भाट । (हि०)

भालाक-संज्ञा पुं० [मं०] (१) करपत्र नामक भक्ष । (२) एक

प्रकार का साग । (३) रोहित मण्डी । (४) कपुआ ।

(५) शिव । (६) घुसा मनुष्य मित्र के शरीर में बहुत

अच्छे अच्छे अन्न खाता है । (सामुद्रिक)

भासा-संज्ञा पुं० [मं० भन्तुक] बरछा नाम का हथियार । साँग ।

भेड़ा ।

भासापरदार-संज्ञा पुं० [हि० भासा + परदार] बरछा कहलने-

वाला । बरछा ।

भासि ७१-संज्ञा स्त्री० [हि० भास + क्त] (१) बरछा ।

गान । (२) धूम । कौश । उ०—(क) बापरी मंत्र भं

की बाजु भासि की है कर में बगनी कसो ।—देव । (ख)

धवने के माने की धूम जोग हृदय में गढ़ी हुई भासि भावने

है ।—अष्टांगिण ।

भासिया-संज्ञा पुं० [देग०] यह भक्ष जो हमसारे को नेत्र में दिया जाता है । भाता ।

भाली-संज्ञा स्त्री० [हि० भाला] (१) भाले की भाँसी का नेत्र ।

उ०—जब वह सुरजि होत उर भँवर लागनि काह बन

की भाली ।—सूर । (२) धूम । कौश । उ०—भाली

कहाँ कयु कहत न बनि आई लगी गाम की भाली से ।—

सूर ।

भालु-संज्ञा पुं० दे० “भाट” ।

गंजा पुं० [मं०] मूख्य ।

भालुक-संज्ञा पुं० [मं०] भाट । रीछ ।

भालुनाथ-संज्ञा पुं० [हि० भालु + नाथ] जामवंत । जामवंत ।

उ०—भालुनाथ बल मील साथ चले कोरी बानि को

जायो ।—तुलसी ।

भालु-संज्ञा पुं० [मं० भन्तुक] एक प्रसिद्ध रत्नपाषाण मीन

चौगावा जो प्रायः सारे संसार के बड़े बड़े जंगलों और

पहाड़ों में पाया जाता है । भाकार और रंग आदि के विचार

से यह कई प्रकार का होता है । यह प्रायः ४ फुट से ६ फुट

तक लंबा और २ १/२ फुट से ४ फुट तक चौड़ा होता है ।

साधारणः यह काले या ग्रे रंग का होता है और इसके

शरीर पर बहुत बड़े बड़े बाल होते हैं । इसकी भुज के भाग

का रंग प्रायः सफेद होता है । यह मोम की काला है और

जल, मूल आदि भी । यह प्रायः दिन भर सौँ में लोधा

रहता है और रात के समय सिकार की लकड़ा ॥ शरीर

निकलता है । भारत में प्रायः मध्याह्ने एकद्वार जागना

और तरह तरह के खेल करना मिलता है । इसकी माता

प्रायः जाड़े के दिनों में एक साथ दो बच्चे देती है । बहुत

बड़े देशों में यह जाड़े के दिनों में प्रायः गुप्ता प्यासा और

शुद्ध रात होकर अरबी सौँ में बढ़ा रहता है, और

बसंत ऋतु आने पर सिकार हँसने निकलता है । उक्त समय

यह और भी जीवण हो जाता है । यह सिकार के बड़े

अवसर का आदि शाने के लिये देशों पर भी बढ़ जाता है ।

जंगलों में यह अकेले चुकेने जान्वाँ पर भी आक्रमण करने

से नहीं चूकता । रीछ ।

भालुक-संज्ञा पुं० [मं०] भाट ।

भाषता-संज्ञा पुं० [हि० भाषा + ता] भाषा का भाव । भाषा ।

भाषा । भाषा । उ०—(क) हरि विधि भाषा

विधि विधि विलेख आदि । केवल भाषा पर भाषा है । यह भाषा

भीमम बौद्ध ।—रसनिधि । (ख) उल्लेख भाषा भाषा

लगा सेने विधि सिद्धांत । भाषा भाषा भाषा ।

भाषा पुं० [मं० भाषा] भाषा । भाषा । उ०—भाषा

हसीर मतमता । जो तस कोसि तोर भावंता ।—
जायसी ।

भाँवर-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की घास जिससे कागज
बनता है ।

संज्ञा स्त्री० दे० "भाँवर" ।

भाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सत्ता । अस्तित्व । होना । अभाव का
उलटा । (२) मन में उत्पन्न होनेवाला विकार या प्रवृत्ति ।
विचार । खयाल । जैसे,—(क) इस समय मेरे मन में
अनेक प्रकार के भाव उठ रहे हैं । (ख) उस समय आपके
मन का भाव आपके चेहरे पर झलक रहा था । (३) अभि-
प्राय । तात्पर्य । मतलब । जैसे,—इस पद का भाव
समझ में नहीं आता । (४) मुख की आकृति या चेष्टा ।
(५) आत्मा । (६) जन्म । (७) चित्त । (८) पदार्थ ।
बीज । (९) क्रिया । कृत्य । (१०) विभूति । (११)
विद्वान् । पंडित । (१२) जंतु । जानवर । (१३) रति आदि
कीड़ा । विषय । (१४) अच्छी तरह देखना । पर्यालोचन ।
(१५) प्रेम । मुहब्बत । उ०—रामहि चितव भाव जेहि
सीया । सो सनेह मुख मंहि कथनीया ।—तुलसी । (१६)
किसी धातु का भय । (१७) योगि । (१८) उपदेश ।
(१९) संसार । जगत् । दुनिया । (२०) जन्म समय का
नाक्षत्र । (२१) कल्पना । उ०—जैसे भाव म संभवै तैसे
करत प्रकास । होत असंभावित नहीं उपमा केजावदास ।—
केशव । (२२) प्रकृति । स्वभाव । मिजाज । (२३) अंतः
करण में ठिपी हुई कोई गूढ़ वृष्टि । (२४) ढंग । तरीका ।
उ०—देखा चोद गुर्यं जस साजा । सहसहिं भाव मदन
तन गाजा ।—जायसी । (२५) प्रकार । तरह । उ०—गुरु
गुरु में भेद है, गुरु गुरु में भाव ।—कबीर । (२६)
दृष्टा । अवस्था । हालत । (२७) आपना । (२८) विधास ।
भरोसा । उ०—अधु लगि जायों घर हैमे ईमे भावै दर
बोली हरि जानियु न भाव पै न भावो है ।—विद्यादास ।
(२९) आदर्श । प्रतिष्ठा । इज्जत । उ०—कहा अयो जो स्तिर
धन्यो तुम्हें काहू करि भाव । पंगो बिनु कालु और गुम
पहो न पैहो भाव ।—रसनिधि । (३०) किसी पदार्थ का
धर्म । गुण । (३१) उद्देश्य । (३२) किसी चीज की बिज्जी
आदि का हिसाब । दर । निर्णय ।

मुहा०—भाव उत्तरना या गिरना = बिगों चीज का दाम घट
जाना । भाव बढ़ना = दाम बढ़ जाना । दर नैज होना ।

(३३) ईश्वर, देवता आदि के प्रति होनेवाली श्रद्धा या
भक्ति । उ०—भाव सहित त्योत्रह जो प्रार्थी । पाय भक्ति
मगि सब सुख तानी ।—गुनगी । (३४) साठ संवत्सरों
में से आठवों संवत्सर । (३५) कर्मिण उद्योगिण में प्रहो की
तारन, उपरोक्षण, प्रशस्ति, गमन आदि वाक्य केनामों में

से कोई चेष्टा या ढंग जिसका ध्यान जन्मकुंडली का विचार
करने के समय रखा जाता है और जिसके आधार पर फल-
फल निर्भर करता है ।

विशेष—किसी किसी के मत से दस, दोन, सुत्य, मुदित
आदि नौ और किसी किसी के मत से दस भाव भी हैं ।
(२५) युवती स्त्रियों के २८ प्रकार के स्वभावज अलंकारों के
अंतर्गत तीन प्रकारके षंगज अलंकारों में से पहला । नायक
आदि को देखने के कारण अथवा और किसी प्रकार नायिका
के मन में उत्पन्न होनेवाला विकार ।

विशेष—साहित्यकारों ने इसके स्थायी, स्थानिकारी और
सात्विक ये तीन भेद किए हैं और रति, हास, शोक, क्रोध,
उत्साह, भय, लुपुप्ता और विस्मय को स्थायी भाव के
अंतर्गत; निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, भ्रम, आलस्य,
दैन्य, चिंता, मोह, धृति, व्रीद्धा, चपलता, हर्ष, भावेग,
जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न,
विरोध, अनर्प, उग्रता, व्याधि, उन्माद, मरण, भास और
वितर्क को स्थानिकारी भाव के अंतर्गत; तथा स्वेद, स्नंभ,
रोमांच, स्वाभंग, वेपथु, धैर्यवर्ष, अधु और प्रलय को सात्विक
भाव के अंतर्गत रखा है ।

(३६) संगीत का पौंचवर्ष अंग जिसमें प्रेमी या प्रेमिका के
संयोग अथवा वियोग से होनेवाला सुख अथवा दुःख या
इसी प्रकार का और कोई अनुभव शारीरिक चेष्टा से प्रत्यक्ष
करके दिखाया जाता है । गीत का अभिप्राय प्रत्यक्ष कराने
के लिये उसके विषय, के अनुसार शरीर या अंगों का संघा-
लन । स्वर, नेत्र, मुख तथा अंगों की आकृति में आवश्य-
कतानुसार परिवर्तन करके वह अनुभव प्रत्यक्ष कराया जाता
है । जैसे,—प्रसन्नता, व्याकुलता, प्रतीक्षा, उद्वेग, आर्तता
आदि का भाव बताना ।

क्रि० प्र०—बताना ।

मुहा०—भाव बताना = संक्षेप वाम ॥ करके बतल हाथ पर मट-
ताना । व्यर्थ पर नगरे के साथ हाथ पर दिखाना । भाव
देना = आकृति आदि से अथवा चेहरे आंग के माध्यम से मन
का भाव प्रकट करना । उ०—श्याम की माय है गढ़े राधा ।
नारि नगरि न काहु लख्यो कोउ नहीं काहू बधु करन है
बहुन अनुराधा ।—सूर ।

(३७) ग्राह्य । नग्नता । ओषध । (३८) वह पदार्थ जो
जन्म लेना हो, रहना हो, बढ़ना हो, शीत होना हो, परि-
नामशील हो और नष्ट होना हो । उ० भावों में दुःख पदार्थ ।
(भाँवर) (३९) बुद्धि का वह गुण जिससे धर्म और
अधर्म, ज्ञान और अज्ञान आदि का ज्ञान चलता है ।
(४०) वैतर्किक के अनुसार प्रत्यक्ष, गुण, कर्म, सामान्य,

विशेष और समवाय ये छः पदार्थ जिनका अस्तित्व होता है। अभाव का उलटा ।

भावग्रहण-संज्ञा पु० [म०] एक प्रकार के तीर्थंकर । (जैन)
भावहृत्-संज्ञा पु० [दि० भाषा या भाषा = भावः स्वभावः मि० पं० भवे] जो चाहे । हृत्ता हो गो । उ०—भावहृत् पानी सिर परह, भावहृत् परे भँगा ।

भावक-क्रि० वि० [म० भाव + क भावः] कृषिन् । खेता सा । जरा सा । छुछ एक । उ०—भावक, उमरीही भयो कायक पर्यो भू भव । सांपहरा के मिस हिवी निसि दिन हेरत जाय ।—चिहारी ।

वि० [सं०] भाव से भरा । भावपूर्ण । उ०—भेद रूपे भवेद् हाव भाव हूँ कुभावे केते, भावक सुखदि पयामति निरधारती ।—रघुराज ।

संज्ञा पु० [म०] (१) भावना करनेवाला । (२) भाव संयुक्त । (३) भक्त । प्रेमी । अनुसारी । उ०—ताहू परजे भावक पूरे मे कुच सुख सुनि गाया ।—रघुराज । (४) भाव ।

वि० [म०] उपायक । उपपन्न करनेवाला ।

भावगनि-संज्ञा स्त्री० [म० भाव + ग + नि] हरादा । हृत्ता । विषार । उ०—जरा छिपे रहो, जितने भी महाराज की भावगनि जान राहूँ । रमावर्मा ।

भावगम्य-वि० [म०] भक्ति भाव से जानने योग्य । जो भाव की सहायता से जाना जा सके । उ०—प्रयः शूल निर्मूलनं शूळगमिन् । भजेहं भवार्थपति भावगम्यम् ।—मुहुरती ।

भावमात्र-वि० [म०] भक्ति से प्रदण करने योग्य । जितने प्रदण करने से पूर्ण मन में भक्ति-भाव माने की आवश्यकता हो ।

भावज-वि० [म०] भाव से उत्पन्न ।

गद्य स्त्री० [म० भाव + ज, (भा० भवे)] भाई की को । भाभी । भौभाई ।

भावता-वि० [दि० भाषा या भाषा = भावः स्वभावः मि० पं० भवे] जो भला लगे । उ०—(क) गुरुदेव विद्वत् शुभ शक्ति । भोराज मयन आरने जीडे ।—मुहुरती । (ख) मुनिवय भव भावने राम हैं शिष्य भावनी भवति है ।—मुहुरती । (ग) बाह विमोद भावनी स्मरण भक्ति मुनिवय भव भावनी हो ।—गुरु ।

संज्ञा पु० प्रेमभाव । प्रियभाव । उ०—दण्डित आरने वय भवनी हरा रही ।—गुराह । रगतमिधे भव भवत है एक भावनी भाई ।—रमावर्मा ।

भावनाय-संज्ञा पु० [म० भाव + नाय] चिन्ता चीज का मूल्य या भाव भक्ति । विमो । दूर ।

क्रि० प्र०—भावना ।—देवता ।

भावदत्त दाव-संज्ञा पु० [म०] भावदत्त से बोला न उठे, बोली

की केवल भावना करना । यह जिनियों के अनुष्ठान का प्रकार का पाप है ।

भावदया-संज्ञा वि० [म०] किसी जीव की दुर्गति देखकर उसके रक्षा के अर्थ धन-करण में दया लाना । (जैन)

भावन-वि० [दि० भावना = भावः स्वभावः मि० पं० भवे] प्रिय लगनेवाला । जो भला लगे । भावना । उ०—हृत्ता कहि के व्याकुल भई सो लज्जि हृत्ताभावना । पौर भव भावन भव भव भावन भवभाव ।—गिरधर ।

यौ—मन-भावना ।

गद्य पु० [म०] (१) भावना । (२) ध्यान । (३) चिन्ता ।

भावना-संज्ञा स्त्री० [म०] (१) मन में बिना प्रकार का चिन्त करना । ध्यान । विचार । व्यापार । उ०—जादी ली भावना जैसी । हरि-मूर्ति देखी गिह लैसी ।—मुहुरती ।

विशेष—धुराणी में तीन प्रकार की भावनाएँ मानी गई हैं—ब्रह्म भावना, स्वयं भावना और उभयार्थिका भावना, और कहा गया है कि मनुष्य का चित्त जैसा होता है, वैसी ही उसकी भावना भी होती है । जिसका चित्त निर्मल होता है, उसकी भावना ब्रह्म-संबंधी होती है, और जिसका चित्त मलम होता है, उसकी भावना विषय-भावना की ओर जाती है । जिनियों में परिकर्म भावना, उद्वार भावना और आत्म भावना ये तीन भावनाएँ मानी गई हैं, और चौदहों में माधविक, योगाचार, श्रौतान्तिक और वैष्णविक ये चार भावनाएँ मानी गई हैं और कहा गया है कि मनुष्य हृदय के द्वारा परम पुरुषार्थ करता है । योगाचार के अनुसार अन्य विषयों को छोड़कर बार बार केवल भगवत् धरतु का ध्यान करना भावना कहलाता है । वैष्णविक के अनुसार यह भावना का एक गुण या संस्कार है जो देखे, सुने या जाने हुए पदार्थ के संबंध में स्मृति या पदचार का हेतु होता है; और ज्ञान, मर, दुःख आदि हमके नाश है ।

(१) चित्त का एक संस्कार जो अनुभव और स्मृति से उत्पन्न होता है । (२) वाचना । वाचना । हृत्ता । पय । उ०—(क) पय के प्रसार नाचे योग होत लोग जणे नाचो पाई आधि व्याधि भावना आधि दादि ।—देवता । (ख) गह भावना करन मन मोटी । पय ही वर-वदव मोटी ।—रघुराज । (४) वापारत विषय का वचन । (५) दैविक के अनुसार विराटी शून्य आदि को किसी वस्तु के रूप या गहन पदार्थ में बार बार निश्चय कर लेना और सुखाना जिसमें उक्त औपचार्य में रूप का गहन पदार्थ के हुए गुण का जगई । पुर ।

क्रि० प्र०—देना ।

क दि० प्र०—भावना । पदार्थ भावना । उ०—(१) मन भाई विराटी शून्य मोटी करी, हृत्ते देह की जगई

निवाहो है। (ख) गुन भवगुन जानत सख कोई। जो जेहि भाव नीक सेहि सोई।—तुलसी। (ग) जग मल कहि भाव सब काहू। हठ कीन्हे अंतहु उर दाहू।—तुलसी।

वि० [हि० भावना = प्रकृष्टा लगना] जो अच्छा बने। प्रिय। प्यारा।

भाषानामय शरीर-संज्ञा पुं० [सं०] सांख्य के अनुसार एक प्रकार का शरीर जो मनुष्य मृत्यु से कुछ ही पहले धारण करता है और जो उसके जन्म भर के किए हुए पापों और पुण्यों के अनुरूप होता है। जब आत्मा इस शरीर में पहुँच जाती है, तभी मृत्यु होती है।

भाषनिष्ठा-संज्ञा स्त्री० [हि० भाषा या भावना = प्रकृष्टा लगना] जो कुछ भी में भावे। इच्छानुसार बात या काम। उ०—जब जम दूत आह घेरत हैं करन आपनी भाषनि।—कादजिह्वा।

भाषनीय-वि० [सं०] भावना करने योग्य। चिन्ता या विचार करने योग्य।

भाषपरिग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] वास्तव में धन का संग्रह न करना, पर धन के संग्रहीतकी मन में अभिलाषा रखना। (जैन)

भाषप्रधान-संज्ञा पुं० दे० “भाषाप्रधान”।

भाषभक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं० भाष + भक्ति] (१) भक्ति-भाव। (२) आदर। सादर। उ०—भक्त भक्ति परमोति घोसायो।

भाषभक्ति से भोग लगायो।—सूर।

भाषमन-संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषों के संयोग से उत्पन्न ज्ञान। (जैन)

भाषमृदायाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर से हाट न बोलना, पर मन में हठी बातों की कलना करना। (२) शास्त्र के पान्थिक अर्थ को द्वापरक भपना देना सिद्ध करने के लिये हाट मूढ़ नया अर्थ करना। (जैन)

भाषमैथुन-संज्ञा पुं० [सं०] मन में मैथुन का विचार या कल्पना करना। (जैन)

भाषय-संज्ञा पुं० [सं०] वह व्यक्ति जो धातु की चट्टा पतले के समान पामे को मैद से पड़े रहना और उलटना रहता है।

भाषलो-संज्ञा स्त्री० [सं०] जमीन और जल के बीच उपर की सतह।

भाषवाक्य-संज्ञा स्त्री० [सं०] वक्ता में वह संज्ञा जिसमें किसी वस्तु का नाम, धर्म या गुण आदि सूचित हो। जैसे,—समनवा, व्यक्ति, उपाय।

भाषवाक्य-संज्ञा पुं० [सं०] वक्ता में किया का वह रूप जिसमें वह जाना जाय कि वाक्य का उद्देश्य उस किया का कर्ता या धर्म को कहें नहीं है, केवल कहें मात्र है। इसमें कर्ता के साथ पुरुष की विभक्ति रहती है, क्रिया को कर्म

की अपेक्षा नहीं होती और वह सदा एकवचन पुष्टिग होती है। भावप्रधान क्रिया। जैसे,—मुझसे बोला नहीं जाता। उससे स्नाना नहीं जाता।

भावविकार-संज्ञा पुं० [सं०] वास्तव के अनुसार जन्म, अस्तित्व, परिणाम, वर्धन, क्षय और नाश ये छः विकार त्रिनके अधीन जीव तब तक रहता है, जब तक उसे ज्ञान नहीं होता।

भावघृष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] प्रज्ञा।

भावव्यञ्जक-वि० [सं०] जिससे अच्छा या अच्छी तरह भाव प्रकट होता हो। भाव प्रकट करनेवाला।

भावशयलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का अलंकार जिसमें कई भावों की संधि होती है।

भावसंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का अलंकार जिसमें दो विरुद्ध भावों की संधि का वर्णन होता है। जैसे,—तुझें समाज दिय हर्ष-विषाद। यहाँ हर्ष और विषाद की संधि है। (साधारणतः यह अलंकार नहीं माना जाता; क्योंकि इसका विषय उस से संबंध रखता है, और अलंकार से रस वृत्त है।)

भावसत्य-वि० [सं०] ऐसा सत्य जो ध्रुव न होने पर भी भाव को सत्य से सत्य हो। जैसे,—यद्यपि तोते कई रंग के होते हैं, तथापि साधारणतः वे हरे कहे जाते जाते हैं। अतः तोतों को हरा कहना “भाव सत्य” है। (जैन)

भावसवलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का अलंकार जिसमें कई एक भावों का एक साथ वर्णन किया जाता है।

भावसर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] नगमात्राओं की उपनि। (सांख्य)

भावहिंसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैष्णव हिंसा जो केवल भाव में हो, पर द्वेष में न हो। कारणतः हिंसा न करना, पर मन में यह इच्छा रखना कि अशुभ व्यक्ति का पर ताल जाय, अशुभ व्यक्ति मर जाय। (जैन)

भाषामाय गदा पुं० [सं०] (१) भाव और भभाव। होना और न होना। (२) उपनि और लय या नाद।

भाषामात्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अलंकार।

भाषार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अर्थ या टीका जिसमें मूल का केवल भाव भा जाय, अक्षरानु अनुवाद न हो। (२) अभिप्राय। तात्पर्य। अनन्वय।

भाषार्थक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अलंकार।

भाषाक्षिप्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रूप जिसमें अंगों से भाव बताया जाय। (संकीर्ण) (२) संकीर्ण में हल्क का एक भेद। गाने के भाव के अनुसार हाथ उठाना, घुमाव और चालना।

भाषिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अनुमान जो किसी वस्तु का हो पर होनेवाला हो। भारी अनुमान। (२) वह अलं-

प्राकृतों का, प्राकृतों से अपभ्रंशों का और अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ है।
 कि० प्र०—जानना।—बोलना।—सीखना।—समझना।
 (२) किसी विशेष जन-समुदाय में प्रचलित बात चीत करने का ढंग। बोली। जैसे,—ठगों की भाषा। दलालों की भाषा। (३) वह अत्यन्त नाद जिससे पशु पक्षी आदि अपने मनोविकार या भाव प्रकट करते हैं। जैसे,—चंदों की भाषा। (४) आधुनिक हिंदी। (५) वह बोली जो वर्तमान समय में किसी देश में प्रचलित हो। (६) एक प्रकार की रागिनी। (७) ताल का एक भेद। (संगीत) (८) पाष्य। (९) वाणी। सरस्वती। (१०) अर्जों दाया। अभियोगपत्र।

भाषावय-वि० [सं०] साधारण देश भाषा में बना हुआ।
 उ०—भाषावय करव में सोई।—हुलसी।

भाषासम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वाद्यालंकार। काव्य में केवल ऐसे शब्दों की योजना जो कई भाषाओं में समान रूप से प्रयुक्त होते हों। उ०—मंजुल मणि मंजरी कल-गंभीरे विहार सरसीतीरे। पिरसासि कैलिकीरे किमालि धीरे च गंधसार समीरे। यह श्लोक संस्कृत, प्राकृत, दौर-सेनी, नागर अपभ्रंश, अवन्ती आदि अनेक भाषाओं में इसी रूप में होगा।

भाषासमिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] जिनियों के अनुसार एक प्रकार का आचार जिसके अंतर्गत ऐसी बात चीत आती है जिससे सब लोग प्रसन्न और संतुष्ट हों।

भाषित-वि० [म०] कथित। कहा हुआ।

संज्ञा पुं० कथन। बातचीत।

यौ०—भाषासमिति।

भाषी-संज्ञा पुं० [म० भाषिन्] बोलनेवाला। जैसे,—हिंदी-भाषी।

भाष्य-यज्ञा पुं० [म०] (१) सूत्र ग्रंथों का विस्तृत विवरण या व्याख्या। श्रुतियों की की हुई व्याख्या या टीका। जैसे,—शेरी का भाष्य। (२) किसी गुरु शाल या वाक्य की विस्तृत व्याख्या। जैसे,—भाषक के इस वच के साथ ही एक भाष्य की आवश्यकता है।

भाष्यकार-संज्ञा पुं० [सं०] श्रुतियों की व्याख्या करनेवाला। भाष्य बनानेवाला।

भाष-संज्ञा पुं० [म०] (१) दीप्ति। प्रकाश। प्रभा। चमक। (२) मण्य। किरण। (३) हृष्टा। (४) गोनाला। (५) इराट। (६) क० क०। (७) गृध्र। गीघ। (८) शार्ङ्ग। पक्षी। (९) रज्ज। लज्ज। (१०) मिथ्या ज्ञान। (१०) महाभाग के अनुगार एक पर्वत का नाम।

भासकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] रावण की सेना का मुख्य नायक जिसकी हनुमान ने प्रमदावन उजाड़ने के समय मारा था।
 भासना-कि० प्र० [सं० भास] (१) प्रकाशित होना। चमकना। (२) मालूम होना। प्रतीत होना। (३) देख पड़ना। (४) फैलना। लिस होना। उ०—अपने मुन दंडन कर गहिये विरह सलिल में भासी।—शूर।

॥ कि० प्र० [म० भाषण] कहना। बोलना।

भासमंत-वि० [सं०] चमकदार। ज्योतिर्पूर्ण।

भासमान-वि० [म०] जान पड़ता हुआ। भासता हुआ।

दिखाई देता हुआ।

संज्ञा पुं० सूर्य। (दि०)

भासिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिखाई पड़नेवाला। (२) मालूम होनेवाला। लक्षित होनेवाला।

भासित-वि० [सं०] तेजोमय। चमकीला। प्रकाशित। प्रकाशमान।

भास-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

भासुर-संज्ञा पुं० [म०] (१) कुट रोग का औषध। कौढ़ की दवा। (२) स्फटिक। बिलौर। (३) वीर। बहादुर।
 वि० चमकदार। चमकीला।

भास्कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) सूर्य। (३) अग्नि। आग। (४) वीर। (५) मदार का पेड़। (६) महादेव। शिव। (७) ज्योतिष शास्त्र के एक आचार्य। इन्होंने सिद्धांत शिरोमणि आदि ज्योतिष के ग्रंथ रचे हैं। (८) महाराष्ट्र शासकों की एक प्रकार की पदवी। (९) पत्थर पर चित्र और बेल घूटे आदि बनाने की कला।

भास्कर-संज्ञा पुं० [म०] (१) सूर्य। (२) मदार का पेड़। (३) चमक। दीप्ति। (४) वीर। बहादुर।

वि० (१) चमकीला। चमकदार। (२) प्रकाश करनेवाला। चमकनेवाला।

भास्करनी-संज्ञा स्त्री० [म०] एक प्राचीन नदी का नाम। (महा-भारत)

भास्कर-संज्ञा पुं० [म०] वृष्ट का औषध। बौद्ध की दवा। (२) दिन। (३) सूर्य। (४) सूर्य का एक अनुवर जो भगवान् सूर्य ने तारकामुर के वध के समय स्कंद की दिया था।

वि० होसियुक्त। चमकदार। प्रकाशमय। चमकीला।

भिगा-संज्ञा पुं० [म० भुंग] (१) भुंगी नाम का कीड़ा जिसे चिन्मो भी कहते हैं। (२) भीता।

संज्ञा स्त्री० [म० भृग वा भंग] बाघ।

भिगाराज-संज्ञा पुं० दे० “भृंगाराज”।
 भिगाना-कि० म० दे० “भिगाना”।

मिगोरा-छंदा पुं० [सं० भृंगराः] (१) भृंगरा । भृंगराज ।
 चमरा । (२) भृंगराज पक्षी ।
 मिगोरा-छंदा स्त्री० [सं० भृंगराज] भृंगराज नामक पक्षी ।
 मिजाना-कि० सं० दे० "मिगोना" ।
 मिडा-छंदा पुं० [दे०] पक्षी सदृक ।
 मी० की० [सं०] मिरी ।
 मिडि-छंदा पुं० [सं० मिडि] मीठाना । देवर्षि ।
 मिडिपाल-छंदा पुं० [सं० मिडिपाल] छोटा छंदा जो प्राचीन काल
 में फेंककर मारा जाता था ।
 मिडो-छंदा स्त्री० [सं० मिडा] एक प्रकार के पीपे की कच्ची
 जिसकी तरकारी बनती है । यह कच्ची चार अंगुल से लेंकर
 चानिदत भर तक लंबी होती है । इसके पीपे केन से
 जेठ तक बांधे जाते हैं, और जब ६-८ अंगुल के हो जाते हैं,
 तब दूसरे स्थान में बांधे जाते हैं । इसकी फसल को खाद
 और निराई की बहुत आवश्यकता होती है । इसके रेशों में
 रस्से भाँड़ बनाए जाते हैं; और बागान भी बनाया जा
 सकता है । वैद्यक में इसे उष्ण, प्रादी और दधिकारक
 माना है । इसे कहीं कहीं रामनरोई भी कहते हैं ।
 मिडिपाल-छंदा पुं० [सं०] दे० "मिडिपाल" ।
 मिसाटी-छंदा पुं० [सं० मिसा + टीका] सख्ता । शुद्ध । प्रान-
 काल ।
 मिश्रा-छंदा पुं० [हि० मिश्रा] भाई । गहवा ।
 मिश्राण-छंदा पुं० [सं०] मिश्रा मँगने की विधा । भीख मँगना ।
 मिश्रमंती ।
 मिश्रा-छंदा स्त्री० [सं०] (१) बाचना । मँगना । जैसे,—
 आपने यह मिश्रा मँगला है कि आप इसे छोड़ दें । (२)
 (३) दीक्षा दिवसमें हुए अपने उद्दिष्टों के निवेदन
 प्रसन्न भवन या धन आदि मँगने का काम । भीष ।
 मि० प्र०—मँगना ।
 (३) इस प्रकार मँगने से किसी दुई वस्तु । भीष । (४)
 तेरा । शीघ्र ।
 मिश्रा-छंदा पुं० [सं०] भीष मँगनेवाला । मिश्रक ।
 मिश्राण-छंदा पुं० [सं०] भीष मँगने की कला । भीष मँगने
 के विवेकपूर्ण उपर धूमना ।
 मिश्राण-छंदा पुं० [सं०] यह पात्र जिसमें मिश्रमंती भीष
 मँगने है ।
 मिश्रा-छंदा पुं० [सं०] (१) भीष मँगनेवाला । मिश्राण । (२)
 मीठाना । (३) संख्या । [सं० मिश्राण] (४)
 कीट संख्या ।
 मिश्राण-छंदा पुं० [सं०] [सं० मिश्राण] मिश्रमंता । मिश्राण ।
 वाचक ।
 [सं०] भीष मँगनेवाला ।

मिश्रक-छंदा पुं० [सं०] मगदह ।
 मिश्रमंता-छंदा पुं० [हि० भीष + मँगना] जो भीष मँगने
 मिलाती । मिश्रक ।
 मिश्राण-छंदा पुं० [हि० भीष + मँगना (वाचक)] भीष मँगनेवाला ।
 जो भीष मँगने । मिश्रक ।
 मिश्राण-छंदा स्त्री० [हि० मिश्राण] यह स्त्री जो मिश्रा मँगने
 भीष मँगनेवाली स्त्री ।
 मिश्राण-छंदा स्त्री० दे० "मिश्राण" ।
 मिश्राण-छंदा पुं० [हि० मग + मँगना (वाचक)] [सं० मिश्राण]
 मिश्राण । भीष मँगनेवाला व्यक्ति । मिश्रक । मिश्रमंता ।
 मिश्राण-छंदा स्त्री० दे० "मिश्राण" ।
 मिश्राण-छंदा पुं० दे० "मिश्राण" ।
 मिश्राण-कि० सं० दे० "मिगोना" ।
 मिगोना-कि० सं० [सं० कर्णज] किसी चीज को पानी में
 तर करना । पानी में इस प्रकार धुवारा जिसमें तर हो
 जाए । मीठा करना । मिगाना । जैसे,—यह दवा पानी
 में मिगो हो ।
 मंगो-कि०—मालना ।—देना ।
 मिश्राण-छंदा स्त्री० दे० "मिश्राण" ।
 मिश्रमंता-छंदा-कि० सं० [हि० मिगोना] मिगोने में दूसरे को
 प्रवृत्त करना । पानी से तर करना । उ०—(४) वा
 समस्त प्रकृति निरति हिय सति अधिक भरी । मिश्राण
 में मंगुल करन भरी भरी भंगुलि मीर ।—मशरु भरी ।
 (५) किसी सुनि सानंद देरि हंसि कलन बरि भुवि
 निमई है ।—मुकरी ।
 मिश्राण-कि० सं० [हि० मंगना का प्रेरण] किसी को धेने
 में प्रवृत्त करना । धेने का काम दूसरे से करना । जैसे,—
 (६) जरा अपने कोहर में यह पत्र मिश्राण शीघ्र । (७)
 उम्हारे सब दया मिश्राण दिया है ।
 मिश्राण-छंदा-छंदा स्त्री० दे० "मिश्राण" ।
 मिश्राण-कि० सं० [सं० मंगना] मिगोना । तर करना । मीठ
 करना । उ०—मुल पगारि मुँहदर निद्रि सीम मगन वा
 गृह । और उरि भूषेनि मैं मरि मरीर मगन ।—
 बिहारी ।
 हि० सं० दे० "मिश्राण" ।
 मिश्राण, मिश्राण-छंदा-कि० सं० दे० "मिगोना" ।
 मिश्राण-हि० [सं०] मगदह । मगदह ।
 मिश्राण-छंदा पुं० [हि० मग] मगदह । मगदह ।
 मिश्राण-छंदा पुं० [दे०] छोटा मीठाना । जैसे,—यह दवा
 का मिश्राण ।
 मिश्राण-छंदा स्त्री० [हि० मिश्राण] पत्र के पानी का मगन ।
 मीठ ।

भित्ताना—कि० सं० दे० “भित्ताना” ।

भिड़—संज्ञा स्त्री० [हि० भि०] बँरे । दूनीया ।

भिड़ना—कि० प्र० [हि० भि० भि०] (१) एक चीज का पद

कर दूसरी चीज से टकरा खाना । टकराना । (२) लड़ना

झगड़ना । लड़ाई करना । (३) समीप पहुँचना । पास पहुँ

चना । सटना । (४) प्रसंग करना । मैथुन करना । (बाजारू)

संज्ञो० कि०—जाना ।—पड़ना ।

भिड़ज—संज्ञा पुं० [हि० भिड़ना] धार । चौर पुरुष । (हि०)

भिड़ज्ज—संज्ञा पुं० [?] घोड़ा । (हि०)

भित्ताना—संज्ञा पुं० [हि० भित्ताना] दोहरे कपड़े में भीतरी ओर का पल्ला । कपड़े के भीतर का परत । अस्तर ।

वि० भीतर को । अन्तर का ।

भित्तानी—संज्ञा स्त्री० [हि० भित्ताना + तन] चक्की के नीचे का पाट ।

भित्ताना—संज्ञा पुं० [मं० भित्त] दरवाजा । अग्रणी होने ।

खीन खाना । उ०—(क) जानि के जोर करो परिनाम

तुम्हें पछनैहो पै मैं न भित्तैहो ।—तुलसी । (ख) हौं सनाय

झैहौं सारी तुमहु अनाथ पति जो लघुतहि न भित्तैहो ।—

तुलसी ।

भित्ति—संज्ञा स्त्री० [मं०] (१) दीवार । (२) डर । भय । भीति ।

(३) डुकड़ा । (हि०) (४) चित्र खींचने का आधार । वह

पदार्थ जिस पर चित्र बनाया जाय ।

भिद—संज्ञा पुं० [मं० भिद] भेद । अंतर । उ०—(क) गम सरूप

के माहि जहाँ समरूप नु निकरै । सो मारूप्य निषंध माहि

भिद पहिलो उकरै ।—मतिराम । (ख) मोक्ष काम गुरु

सिख लखि ताहो साधन जान । वेद उक्त आपण लगे

जीव प्राप्त भिद मान ।—निश्चल ।

भिदना—कि० प्र० [मं० भिद] (१) पंचन होना । घुस जाना ।

पँस जाना । (२) छेदा जाना । (३) घायल होना । उ०—

बस सरित बर बान हन्यो छरहि गिरुदमन पुनि । मिदि

तारो बलवान किया क्षीप मिथ पुन भनि ।—इयामविहारी ।

भिदुर—संज्ञा पुं० [मं० भिदुर] बस उ०—अजानि कृष्ण पवि

मिदुर पुनि बस हृदिनी बाहि ।—मैददास ।

भिमकना—कि० प्र० [भि०] (१) भिन भिन शब्द करना ।

(भिमकना) ।

गुहा—कि० प्र० [हि०] भिन्न भिन्न । (१) किसी का इनना

अपन हो जाना कि उम पर माँझमौं भिन्नभिन्नाया परे और

पद उन्हें उठान सके । निगात अममय हो जाना । (२)

बहुत गंदा होना । अशुचि मलिन रहना ।

(३) किसी काम का अर्थ रह जाना । (४) घृणा उत्पन्न

होना । जैसे,—अब तो उनकी घृणा देखकर जी भिन-

कना है ।

भिमभित्ताना—कि० प्र० [हि०] भिन भिन शब्द करना ।

भिनसारी—संज्ञा पुं० [मं० भिनसा] सवेरा । प्रभात । प्रातः

काल ।

भिनहो—कि० वि० [मं० भिनसा] सवेरे । तड़के । प्रातःकाल ।

भिन-वि० [मं०] (१) अलग । पृथक् । जुदा । जैसे,—ये दोनों

गर्त एक दूसरी से भिन्न हैं । (२) इतर । दूसरा । अन्य ।

जैसे,—इससे भिन्न और कोई कारण हो ही नहीं सकता ।

संज्ञा पुं० (१) नीलम का एक दोष जिसके कारण पद्म-मे-

वाले को पति, पुत्रादि का शोक प्राप्त होता माना जाता है ।

(२) वह संख्या जो एकई से कुछ कम हो । (गणित)

(३) किसी तेज धारवाले द्रव्य आदि से दारार के किसी

भाग का फट जाना । (वैद्यक)

भिमप्र—संज्ञा पुं० [मं०] बीद ।

भिमप्रता—संज्ञा स्त्री० [मं०] भिन्न होने का भाव । अलग होने का

भाव । अलगाव । भेद । अंतर ।

भिमप्रत्य—संज्ञा पुं० [मं०] भिन्न होने का भाव । जुदाई ।

भियना—संज्ञा स्त्री० [सं० भिन] अग्रणी होना । दरना ।

उ०—(क) कलि मल गल दल देखि मारी भीति भियो

है ।—तुलसी । (ख) कीकी करि दौरी बावरी सौरेरि

देखि, सकुचि सहसि सिखु भारी भय भियो है ।—तुलसी ।

भियाना—संज्ञा पुं० [हि० भिया] भाई । भ्राता ।

भिरना—संज्ञा स्त्री० [मं० दे० “भिरना” ।

भिरिगा—संज्ञा स्त्री० [मं० दे० “भिरिगा” ।

भिलनी—संज्ञा स्त्री० [हि० भिन] भिन जाति की ची ।

संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार का धारीदार कपड़ा या

बाररतना ।

भिलतार—संज्ञा पुं० [मं० भिलतार] (१) एक प्रसिद्ध जंगली वृक्ष

जो सारे उत्तरी भारत में आसाम से पंजाब तक और हिमा-

चल की तराई में ३५०० फुट की ऊँचाई तक पाया जाता

है । इसके पत्ते गुला के पत्तों के समान होते हैं । इसके

गन्ने को पाठने से एक प्रकार का रस निकलता है जिससे

पानिनि बनता है । इसमें जामुन के आकार का एक प्रकार

का फल बल लगता है जो घूमने पर चाला और चिपटा

हो जाता है और जो पट्टया भीषण के काम में आता है ।

कच्चे फलों की तरकारी भी बनती है । पत्ते फल को जलाने

से एक प्रकार का तेज निकलता है जिसके दारार में लग

जाने से बहुत जलन और सूजन होगी है । इस तेज से

पट्टया मान के घोषों कपड़ों पर नितान लगाते हैं जो कभी

छूटता नहीं । इसमें सिरिखरी आदि मिश्रण भी भी

बनाया जाता है । कच्चे फल का डरती गुदा या भीखी

गिरी कहीं कहीं जलाने के काम में भी आती है । फल में

हमरे बमेल, ताम्र, मुचबनक, मसुर, दलिया गन्ना, कक, चक,

उदर रोग, कुष्ठ, यवाक्षर, संप्रहणी, गुल्म, उदर आदि का नाशक माना है।

पय्यां—मरुहर । गोयतर । घटिनामा । वीरतर । मणवृत्त । भूतनाशन । घमिमुखी । मारी । दैलबीज । वातारि । धनुर्दश । रीतपादप । यक्षि । महातीक्ष्ण । अमिक । रफोट-हेनु । रक्तहर ।

भिन्न-गङ्गा पुं० दे० “भीम” ।

भिन्नतर-गङ्गा पुं० [भं०] गोप ।

भिन्न-गङ्गा मी० [भं० विदमा]। वैकुण्ठ । स्वर्ग । उ०—

अकल अकल जानै नहीं जीव जहन्म छोय । हरन्म हरि जाम्या नहीं मिरत कहौ ते होय ।—कबीर ।

भिन्नी-गङ्गा पुं० [१] मत्तक द्वारा पानी बोलोवाला व्यक्त । सखा ।

भिन्क-गङ्गा पुं० [भं०] वैष ।

भिन्कभिया-गङ्गा स्त्री० [भं०] गुह्य ।

भिन्म-गङ्गा पुं० [भं०] वैष ।

भिष्टा-गङ्गा पुं० [भं० भिष्ठा] मल । गू । गलीज ।

भिस्त-गङ्गा पुं० [भं० भिस्त] वैष । (हि०)

भिस्त-गङ्गा पुं० [भं० भिष्ठा] गू । मल ।

भिस्त-गङ्गा पुं० [भं० भूत] माहात्म्य । (हि०)

भित्ति-गङ्गा पुं० [भं० भित्ति] भित्तनी । (हि०)

भित्त-गङ्गा स्त्री० दे० “भित्त” ।

भित्त-गङ्गा स्त्री० [भं० भित्त] कमल की जड़ । औसी ।

भीमना-कि० प्र० दे० “भीमना” ।

भीमो-गङ्गा पुं० [भं० भूमी] (१) भैरवा । भक्ति । (२) एक प्रकार का फनिगा जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह किसी भी कृमि का अपने रूप में ले आता है ।

भीमना-कि० प्र० [भं० भूमी] (१) सीपना । कसना । दवाना ।

उ०—वो निय भीमि मुक्ति में पाई । (२) मूरना ।

होना । बंद करना । (भौत के लिये)

भीमना-कि० प्र० [भं० भूमी] (१) भारी होना । गीला होना । तर होना । भीमना । (२) पुष्कल का गहर हो जाना । प्रेम मग्न हो जाना । (३) लोगों के साथ हेममेल करना । मेघ निकार पैदा करना । (४) खान करना । गहना । (५) शान्त जाना । सुप्त जाना ।

भीट-गङ्गा पुं० दे० “भीर” ।

भीम-गङ्गा स्त्री० दे० “भीम” ।

भी-गङ्गा स्त्री० [भं०] भय । डर । फोड़ । उ०—गुप्त आह

अनि कुसरो लाहिरि मंत्र यदि भय भी के ।—गुरुग्री ।

कमल । (हि० गी०) (१) अक्षय । निरव्य काके । अक्षर ।

विशेष—रुद्र अर्प है रुद्रका प्रयोग किसी एक वरार्थ का मनुष्य के साथ रुद्रों वरार्थ का मनुष्य का निजकर्मक होना शक्ति करता है । कै०—(४) द्रवार्थ साथ में भी

चढ़ेगा । (५) वेतन के साथ मंत्र में मिलेगा । (६)

सखा के साथ जुटाना भी होगा ।

(२) अमिक । उपादा । पिरोय । जैने,—इस पर रुद्र और भी आभयजनक है । (३) तक । हो । उ०—मनुष्य की कौन बड़े, जहाँ तक रुद्र जानी थी, वसु भी निजकर्म में देता था ।—भयोरवासिंह ।

भोउं—गङ्गा पुं० [भं० भोव] पुष्टि के छोटे भाई, भिक्षु ।

उ०—जैसे वरत रुद्र पर साहस बँटा भी है । जैन लोग तस काष्ठों के पुरपाथ भी हैं ।—जायसी ।

भीक-वि० [भं०] दरा हुआ । भीम ।

गङ्गा स्त्री० दे० “भीर” ।

भील-गङ्गा मी० [भं० भिष्ठा] (१) किसी दरिद्र का लक्षण

दिलाले हुए उदरस्थों के लिये कुछ मॉगना । भिक्षा ।

कि० प्र०—मॉगना ।

यौ०—मिलमंगा । मिलारी ।

(२) वह धन या वस्तु जो इस प्रकार मॉगने पर दिया जाय । भिक्षा में दी हुई चीज । दान ।

कि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।

भीलन-वि० [भं० भावल] भयानक । भयंकर । दारुण ।

उ०—एही खलु न गुण लखो दुख है दुख रहित ।

भीलन भीलन लगन है सीलन सीलन बनाइ ।—रामलहाय ।

भीलन-गङ्गा पुं० [भं० भावल] राजा जोगनु के पुत्र भील विसाह ।

वि० भयानक । दारुण ।

भीमना-कि० प्र० [भं० भावल] पानी या और किसी लव वस्तु के संयोग के कारण तर होना । भारी होना । जैने,—

वर्षों से कपड़े भीमना । पानी में दवा भीमना । उ०—

गहरी भारत मोरी सारी सीमी, भीमी सुरत पुनरिवा ।—मीन ।

मुहा०—भीमी चिली होना = भय आदि के कारण दब जाना ।

विपुल पुन रहना ।

भीमन-गङ्गा पुं० [भं०] वृष्ट । भीर ।

भीमना-कि० प्र० दे० “भीमना” ।

भीट-गङ्गा पुं० [भं०] (१) द्रवार्थी जमीन । दीर्घतर भूमि ।

जमीन हुई भूमि । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

भीटन-गङ्गा स्त्री० दे० “भीर” ।

भीटा-गङ्गा पुं० [भं०] (१) भारी पानी की भूमि से कुछ उठती हुई भूमि । जमीन या दीर्घतर जमीन । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

भीटा-गङ्गा पुं० [भं०] (१) भारी पानी की भूमि से कुछ उठती हुई भूमि । जमीन या दीर्घतर जमीन । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

भीटा-गङ्गा पुं० [भं०] (१) भारी पानी की भूमि से कुछ उठती हुई भूमि । जमीन या दीर्घतर जमीन । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

भीटा-गङ्गा पुं० [भं०] (१) भारी पानी की भूमि से कुछ उठती हुई भूमि । जमीन या दीर्घतर जमीन । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

भीटा-गङ्गा पुं० [भं०] (१) भारी पानी की भूमि से कुछ उठती हुई भूमि । जमीन या दीर्घतर जमीन । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

भीटा-गङ्गा पुं० [भं०] (१) भारी पानी की भूमि से कुछ उठती हुई भूमि । जमीन या दीर्घतर जमीन । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

भीटा-गङ्गा पुं० [भं०] (१) भारी पानी की भूमि से कुछ उठती हुई भूमि । जमीन या दीर्घतर जमीन । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

भीटा-गङ्गा पुं० [भं०] (१) भारी पानी की भूमि से कुछ उठती हुई भूमि । जमीन या दीर्घतर जमीन । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

भीटा-गङ्गा पुं० [भं०] (१) भारी पानी की भूमि से कुछ उठती हुई भूमि । जमीन या दीर्घतर जमीन । (२) वह जमीन जहाँ पानी की कमी होती है । भीटा । (३) एक प्रकार की लोह जो आकाश पर के बरतार होती है ।

मीड-संज्ञा स्त्री० [हि० मिडना] (१) एक ही स्थान पर बहुत से आश्रमियों का जमाव। जन-समूह। आश्रमियों का झुंड। ठ। जैसे,—(क) इस मेले में बहुत मीड होती है। (ख) रेल में बहुत मीड थी।

क्रि० प्र०—करना।—लगाना।—होना।

मुहा०—मीड चीरना=जन-समूह को हटाकर जने के लिये मार्ग बनाना। मीड छँटना=मीड के लोगों का द्धर उधर हो जाना। मीड न रह जाना।

(२) संकट। आपत्ति। मुसीबत। जैसे,—जब तुम पर कोई मीड पड़े, तब मुझसे कहना।

क्रि० प्र०—कटना।—काटना।—पड़ना।

मीडना-संज्ञा स्त्री० [हि० भीना] मलने, लगाने या भरने की क्रिया।

मीडना-क्रि० स्त्री० [हि० मिडना] (१) मिलाना। लगाना।

(२) मलना। उ०—करि गुलाल सों पुंजुरित सकल ज्वालितरी ग्वाल। रोरी भीडन के सुमिस गोरी गहे गोपाल।—पद्माकर।

मीडभड्गा-संज्ञा पुं० [हि० मीड + गङ्गा धनु०] बहुत से आश्रमियों का समूह। मीड-माड।

मीडभाड़-संज्ञा स्त्री० [हि० मीड + भाड़ धनु०] मनुष्यों का जमाव। जन-समूह। मीड।

मीड़ा-संज्ञा स्त्री० दे० “मीद”।

वि० [हि० मिना] संकुचित। संग। जैसे, मीड़ी गली। उ०—महंत जी ने कहा कि स्वामी, गली बहुत मीड़ी है। लोगों का जाना जाना रुक गया।—अद्वैतराम।

मीड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० मिडी] मिडी। रामतरोई। उ०—बनकोरा पिडि सापी चौडी। खीप पिंढारू कोमल भीड़ी।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [हि० माड] जनसमूह। मीड।

मीत-संज्ञा स्त्री० [म० मिति] (१) मितिका। दीवार।

मुहा०—मीत में दीडना=अपनी सामर्थ्य से बाहर अपना अंगभय कार्य करना। उ०—बालि बलीनरदूषन और अनेक गिरे जे जे मीत में दीरे।—गुलसी। मीत के पिना पित्र बनाना=वे गिर पर की बात करना। बिना प्रमाण की बात करना। उ०—सात रिस करत आता बई मारिहीं मीति बिन पित्र तुम करत देसा।—सूर।

(१) पिनाग करनेवाला पारदा। (२) चट्टाई। (३) कल। गेर। (४) संद। टुकड़ा। (५) स्थान। (६) दार। (७) भोर। (८) कसर। गुट। (९) अवसर। अथकता। मोहा।

वि० [म०] [मी० भीता] डरा हुआ। जिसे भय लगा हो। उ०—कनक गिरे अंग चदि देखि मरिष कटक बदन मंगेर परम भीता।—गुलसी।

संज्ञा पुं० मय। डर।

भीतर-क्रि० वि० [?] अंदर। में। जैसे,—घर के भीतर, महीने भर के भीतर, सौ रूपए के भीतर। उ०—भरत मुनिहि मन भीतर भाए। सहित समाज राम पई आए।—गुलसी।

मुहा०—भीतर का कूआ=वह उपयोगी पदार्थ जिनसे कोई लाभ न उठा सके। अच्छी, पर किसी के काम न आ सकने योग्य चीज। उ०—सूरदास प्रभु तुम बिन जीवन घर भीतर को कूप।—सूर। भीतर पैठकर देखना=तत्व जानना। असुलियत जाँचना।

संज्ञा पुं० (१) अंतःकरण। हृदय। जैसे,—जो बात भीतर से न उठे, वह न करनी चाहिये।

मुहा०—भीतर ही भीतर=मन ही मन। हृदय में।

(२) रतिवास। जनानस्थान। उ०—अवधनाथ चाहत चलन भीतर करहु जनाउ। अपे प्रेम बस सखिब मुनि विप्र समारसद राउ।—गुलसी

भीतरा-वि० [हि० भीतर] भीतर या जनानस्थान में जानेवाला। छिपों में आने जानेवाला।

भीतरि-अव्य० दे० “भीतर”।

भीतरिया-संज्ञा पुं० [हि० भीतर + रिया (भय०)] (१) वह जो भीतर रहता हो। (२) वहभीय ठाकुरों के वे प्रधान पुजारी आदि जो मंदिर के भीतर मूर्ति के पास रहते हैं। (३) सब कोनों को मंदिर के भीतर जाने का अधिकार नहीं होता। वि० भीतरवाला। अंदर का। भीतरी।

भीतरी-वि० [हि० भीतर + री (प्रत्य०)] (१) भीतरवाला। अंदर का। जैसे,—भीतरी कमरा। भीतरी दरवाजा। (२) छिपा हुआ। गुप्त। जैसे,—भीतरी बात। भीतरी दैमनस्य।

भीतरी टाँग-संज्ञा स्त्री० [हि० भीतरी + टाँग] कुल्हाटी का एक टेंब। जब चाय पीठ पर रहता है, तब मोटा पाकर लिहाड़ी भीतर ही से टाँग मारकर चिपसी को गिराता है। इसी को भीतरी टाँग कहते हैं।

भीति-संज्ञा स्त्री० [म० भिं] (१) डर। भय। गौह। उ०—बानरेंद नव पों ईसि सोल्को। भीति भेद जिय को सब सोल्को।—केशव। (२) कंप।

संज्ञा स्त्री० [म० भिं] दीवार।

भीतिकर-वि० [म०] भयंकर। भयावना। डरावना।

भीतिकारी-वि० [म०] भयावक। डरावना। भयावना। चौकनाक।

भीनी-संज्ञा स्त्री० [म० भिं] दीवार। उ०—परम प्रेम मय श्रुत मसि कीनी। चाह विषय भीनी मिलि सीनी।—गुलसी। संज्ञा स्त्री० [म० भिं] डर। भय। उ०—संज की दुनि गई पई सीरी गई सङ्कच भाई दई भनि रि भीनी।—सूर।

संज्ञा की० [सं०] कर्त्तिकेय की एक अनुचरी या मातृका का नाम ।

भूमि-संज्ञा पुं० [हि० विमान] सवेरा । प्रातःकाल । उ०—
क्राहुँ सो न कहो यह गहो मन मक्षि पूरा तेरी सौ सुनैयो
जो पै आत रहै भूमि है ।—प्रियादास ।

भूमिना-कि० प्र० [हि० भोग्या] मर जाना । समा जाना ।
पैवस्त हो जाना । जैसे,—(क) जहर रग रग में भूमि गया
है । (ख) कैसी भोनी भोनी सुशयू आ रही है । उ०—
कौन ठगोरी मरी हरि आउ बजाइ है बसुरिया रँग
भोनी ।—रसखान ।

भूमि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भवानक रस । (२) शिव । (३)
विष्णु । (४) अमलवेल । (५) महादेव की आठ मूर्तियों के
अंतर्गत एक मूर्ति । (६) एक गंधर्व का नाम । (७)
पाँचों पांडवों में से एक जो आशु-संयोग से कुंती के गर्भ
से उत्पन्न हुए थे । (जन्म कथा के लिये दे० “पांडु”) ये
युधिष्ठिर में छोटे और अर्जुन से बड़े थे । ये बहुत बड़े वीर
और बलवान थे । कहते हैं कि जन्म के समय जब ये माता
की गोद से गिरे थे, तब पत्थर टूटकर टुकड़े टुकड़े हो गया
था । इनका और दुर्योधन का जन्म एक ही दिन हुआ था ।
इन्हें बहुत बलवान् देखकर दुर्योधन ने इन्हीं के कारण
एक बार इन्हें विष खिला दिया था और इनके बेहोश हो
जाने पर रत्ताओं आदि से अधिक इन्हें जल में फेंक दिया
था । जल में नागों के दसने के कारण इनका पहला विष
उत्तर गया और नागराज ने इन्हें अमृत पिलाकर और
इनमें दस हजार हाथियों का बल उत्पन्न कराके घर भेज
दिया था । घर पहुँचकर इन्होंने दुर्योधन को दुष्टता का
हाल सप से कहा । पर युधिष्ठिर ने इन्हें मना कर दिया
कि यह बात किसी से मन कहना; और अपने प्राणों की
रक्षा के लिये सदा बहुत सचेत रहना । इसके उपरांत फिर
कई बार कर्ण और दारुनि का सहायता से दुर्योधन ने इनकी
हत्या करने का विचार किया, पर उसे सफलता न हुई ।
गदायुद्ध में भीम पारंगत थे । जब दुर्योधन ने जलमूढ़ में
पांडवों को जलाना चाहा था, तब भीम ही पहले से समा-
चार पाकर माता और भाइयों को साथ लेकर वहाँ से दूट
गए थे । जंगल में जाने पर हिंदिव की बहन हिंदिया इन
पर आसक्त हो गई थी । उस समय इन्होंने हिंदिव को
शुद्ध में मार डाला था और भाई तथा माता की आज्ञा से
हिंदिया में विवाह कर लिया था । इसके गर्भ से इन्हें
घटोत्कच नाम का एक पुत्र भी हुआ था । युधिष्ठिर के राज-
सूययज्ञ के समय ये पूर्व और बैंगदेश तक द्विविजय के लिये
गए थे और अनेक देशों तथा राजाओं पर विजयी हुए थे ।
जिस समय दुर्योधन ने लूट में दौपदी को चोखकर भरी

समा में उसका अपमान किया था, और उसे अपनी जीव
पर बैधाना चाहा था, उस समय इन्होंने प्रतिज्ञा की थी
कि मैं दुर्योधन की यह जीव तोड़ डालूँगा और दुःसासन
से लड़कर उसका रक्त पान करूँगा । वनवास में इन्होंने
अनेक जंगली राजाओं और असुरों को मारा था । ब्रह्म-
वास के समय ये बल्लभ नाम से सुप्रकार बनकर पित्त के
घर में रहे थे । जब श्रीचक्र ने दौपदी से दुष्टाद्व की थी,
तब उसे भी इन्होंने मारा था । महाभारत युद्ध के समय
कुक्षेत्र में इन्होंने अपना प्रतिज्ञा का पालन किया था ।
दुर्योधन के सब भाइयों की मारकर दुर्योधन की बाँप तोड़ी
थी और दुःसासन का रक्त पीया था । महाभारत के समय
भी ये युधिष्ठिर के साथ थे और सहदेव, नकुल तथा अर्जुन
तीनों के मर जाने के उपरांत इनकी मृत्यु हुई थी । भूमि-
मेव । एकंदर ।

मुहा०—भीम के हाथी = भीमसेन के फेंके हुए हाथी । (इहा
जाता है कि एक बार भीमसेन ने सात हाथी आकाश में
फेंक दिए थे जो आज तक वायुमंडल में ही घूमते हैं, लौ-
कर पृथ्वी पर नहीं आए । इसका व्यवहार ऐसे बर्षों
या व्यक्ति के लिये होता है जो एक बार जाच फिर न
लौटे ।) उ०—अब निम्न-निम्न भगनाथ भये । मनुष्य कुने
माधव सजनी कहियत दूरि गये । मधुरा वसत हुंसी निव
आता यह लागन व्यवहार । अम मत भवौ भीम के हाँपी
सुपने भगम अपार ।—मूर ।

(४) चिदम् के एक राजा जिन्हें इमन नामक कवि
के घर से दम, दांत और इमन नामक तीन पुत्र तथा दम-
यंती नाम की कन्या हुई थी । (५) महर्षि विश्वामित्र के
पूर्व पुरुष जो पुरुषवा के पौत्र थे । (६) कुंभकर्ण के पुत्र
का नाम जो रावण की सेना का एक सेनापति था ।

वि० (१) भीमपुत्र । भवानक । भयंकर । (२) बहुत बड़ा ।

भीमक-संज्ञा पुं० [सं०] शृगणुसुसार एक प्रकार के मय जो
पार्वती के श्रोत्र से उत्पन्न हुए थे ।

भीमकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] भीमसेन के पुत्र घटोत्कच ।

भीमचंडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देवी का नाम ।

भीमता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भीम या भवानक होने का भाव ।

भयंकरता । दरावनापन । उ०—कौन के तेज बलसीम भयं

भीम से भीमता निरलि करि नैन टॉके ।—मुलसी ।

भीमतिथि-संज्ञा स्त्री० दे० “भीमसेनी एकादशी” ।

भीमनाद-संज्ञा पुं० [सं०] सिद्ध । सेर ।

भीमपलाशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] संपूर्ण जलिन की एक संकर
रागिनी जिसके गाने का समय २१, दंड-री १४ दंड तक
है । यह घनाली और पूर्वी की मिलाकर बजाई गई है ।
इसमें गांधार, पैचन और मिराद नीचो रहार कोमक और

बाकी शुद्ध लगते हैं। इसमें पंचम वादी और मध्यम संवादी होता है। कुछ लोग इसे धीरांग की पुत्रवधू भी मानते हैं।
भीमबल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की अग्नि। (२) छतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

भीममुख-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाण। (रामायण)
भीमर-संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध। समर।
भीमरथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार. एक असुर जिसे विष्णु ने अपने कूर्म अवतार में मारा था। (२) छतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (३) धिक्कृति के एक पुत्र का नाम।

भीमरथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार. सुष पर्वत में निकली हुई एक नदी जिसमें स्नान करने का बहुत साहाय्य है। (२) वैद्यक के अनुसार मनुष्य की यह अवस्था जो ७७ वर्ष वर्ष के सातवें मास की सातवीं रात समाप्त होने पर होती है। कहते हैं कि मनुष्य के लिये यह रात बहुत कठिन होती है; और जो इसे पार कर जाता है, वह बहुत पुण्यात्मा होता है।

भीमरा-संज्ञा स्त्री० दे० "भीमा"। (नदी)

भीमराज-संज्ञा पुं० [सं० भृगवः] एक प्रसिद्ध चिड़िया जो काले रंग की होती है। इसकी टाँगें छोटी और पंख बड़े होते हैं और इसकी हड्डी में केवल १० पर होते हैं। यह प्रायः कीड़े मकोड़े खाती है और कभी कभी बड़ी चिड़ियों पर भी आक्रमण करती है। यह बहुत लड़ाकी होती है और छोटी छोटी चिड़ियों को, जिन्हें पकड़ सकती है, निगल जाती है। यह बोली की गल बरवा बहुत अच्छा जानती है और अनेक पशुओं तथा मनुष्य की बोली बोल सकती है। इसकी स्वाभाविक बोली भी बहुत सुंदर होती है। यह अपना घोंसला शूल गुप्त स्थानों में बनाती है। इसके अंशों पर लाल वा सुलामी धब्बे होते हैं।

भीमरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार. सत्यभामा के गर्भ में उत्पन्न भीष्म की एक कन्या।

भीमसेन-संज्ञा पुं० [सं०] सुषिष्ठि के छोटे भाई भीम। वि० दे० "भीम"।

भीमसेनी-संज्ञा पुं० [सं० भीमसेन + ई (प्रत्यय)] भीमसेनी कपूर। बरस। वि० दे० "कपूर"।

वि० भीमसेन संबंधी। भीमसेन का। जैसे,—भीमसेनी पुरादनी।

भीमसेनी पुरादनी-संज्ञा स्त्री० [सं० भीमसेनी + पुरादनी] (१) श्वेत शुद्ध पुरादनी। निर्मल पुरादनी। (२) माय शुद्ध पुरादनी।

भीमसेनी कपूर-संज्ञा पुं० दे० "कपूर"।

भीमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शीघ्र नाम का गंध द्रव्य। (२) कोदा। पानक। (३) दक्षिण भारत की एक नदी जो

पश्चिमी घाट से निकलकर कृष्णा नदी में मिलती है। (४) दुर्गा।

वि० स्त्री० मयंकर। भीषण।

भीम-संज्ञा पुं० [सं०] भीमसेन।

भीमोत्तर-संज्ञा पुं० [सं०] कुम्हड़ा।

भीमोदरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

भीमाथली-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों की एक जाति। उ०—जापानी पर्वती चीनिया भोटी महा देशी। घसी भीमाथली काठिया मारवाड़ मधि देशी।—रघुराज।

भीर-संज्ञा स्त्री० [सं० भीर] (१) दे० "भीड़"। (२) कष्ट। दुःख। तकलीफ। (३) संकट। विपत्ति। आफत। उ०—(क) जब जब भीर परत संतन पर तब तब होत सदाई। (ख) भीर बाँह पीर की निपट राखी महावीर कान के सकीय तुलसी है सोच भारी।—तुलसी। (ग) अपर नरेश करै कोट भीरा। वेगि जनाउय धर्मज तीरा।—सचल।

कि० प्र०—भाना।—पढ़ना।

ॐ वि० [सं० भीर] (१) डरा हुआ। भयभीत। उ०—धामदेव राम को सुभाल सील, जानि निय नातो नेह जानि-यत रघुबीर भीर हैं।—तुलसी। (२) डरपोक। डरने-वाला। कायर। साहसहीन। उ०—नृपति प्रान प्रिय तुम रघुबीरा। सील सुनेह न छाड़िहि भीरा।—तुलसी।

भीरना-कि० प्र० [सं० भी या हि + भृ + क्त] डरना। भयभीत होना। उ०—सुनो एक बात सुत तिया है करी तगान चौरें पौरें मोरे नाहि पीछे उग भापिण।—मियादास।

भीरा-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वृक्ष जो मध्य भारत तथा दक्षिण भारत में होता है। इसकी लकड़ियों से साह-नीर बनते हैं और इसमें से गोंद, रंग और तेल निकलता है। गंध स्त्री० दे० "भीर" वा "भीड़"।

वि० [सं० भीर] डरपोक। कायर।

भीरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अरहर का डाल।

भीर-वि० [सं०] डरपोक। कायर। काहर। पुनर्दिल।

बड़ा स्त्री० [सं०] (१) बराबरी। (२) कंडराही। अट-कटपा। (३) बराबरी। (४) छाया।

बड़ा पुं० [सं०] (१) ग्यवाल। विपार। गीदद। (२) व्याघ्र। बाघ। (३) ऊपर की एक जाति।

भीरक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घन। जंगल। (२) डण्ड। (३) एक प्रकार की ईंट। (४) चाँदी।

वि० डरपोक। कायर।

भीरना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) डरपोकपन। कायरता। पुनर्दिली। (२) डर। भय।

भीमताई-संज्ञा स्त्री० दे० "भीमा"।

भीमपत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वनपत्नी।

भीरहृदय-संज्ञा पुं० [सं०] हिरनः ।

भीरु-वि० दे० "भीरु" ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री । (हि०)

भीरु-वि०-वि० [हि० भिन्ना] समीप । नज़दीक । पास ।

भील-संज्ञा पुं० [म० भिल] [भी० मोलनी] एक प्रसिद्ध जंगली जाति जो बहुत प्राचीन काल से राजपूताने, सिंध और मध्य भारत के जंगलों और पहाड़ों में पाई जाती है । इस जाति के लोग बहुत वीर और तीर चलाने में सिद्धहस्त होते हैं । ये मरू, भीषण और अत्याचारी होने पर भी सीधे, सच्चे और स्वामिमक होते हैं । कुछ लोगों का विश्वास है कि ये भारत के आदिम निवासी हैं । पुराणों में इन्हें ब्राह्मणी कन्या और तीव्र पुरुष से उत्पन्न संकर माना गया है । उ०—चौदह बरष पाछे आप रघुनाथ नाथ साथ के जे भील कहैं आप प्रभु देखिये ।—वि० दा० ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] ताल की वह सूखी मिट्टी जो प्रायः पपड़ी के रूप में हो जाती है ।

भीलभूषण-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुंजा । घुँघची ।

भीलु-वि० [सं०] भीरु । डरपोक ।

भीलुक-संज्ञा पुं० [सं०] भाऊ ।

वि० भीरु । डरपोक ।

भीषक-संज्ञा पुं० [सं० भीम] भीमसेन । उ०—कुंभकरन की लोपड़ी घूटत बाँधा भीष ।—जायसी ।

भीषक-संज्ञा स्त्री० [म० भिषा] भीष । वैराग ।

भीषक-वि० [म०] भीषण । अचक्र ।

भीषज-संज्ञा पुं० [सं० भेषज] भेष । चिकित्सक ।

भीषण-वि० [सं०] (१) जो देखने में बहुत भयानक हो ।

भयानक । डरावना । (२) जो बहुत दम या दुष्ट हो ।

महा पुं० [सं०] (१) भयानक रस । (साहित्य) (२) ईदरु ।

(३) कदतर । (४) एक प्रकार का तालवृक्ष । (५) शिव ।

महादेव । (६) सरई । (७) मद्रास ।

भीषणता-संज्ञा स्त्री० [म०] भीषण होने का भाव । डरावनापन । अचक्रता ।

भीषणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता की एक साथी का नाम । उ०—

भी भूलिछा क्रांति कृपा योगी इंशाना । उच्छृण्वा भीषनी चंद्रिका ब्रह्म शाना ।—मियादास ।

भीषन-वि० दे० "भीषण" ।

भीषम-संज्ञा पुं० दे० "भीष्म" ।

भीष्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भयानक रस । (साहित्य) (२)

शिव । महादेव । (३) राक्षस । (४) राजा शांतनु के पुत्र

जो गंगा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । देवप्रत । गोविध ।

पिरोप—कहते हैं कि कुछ देश के राजा शांतनु से गंगा ने

हृदय पर विवाह किया था कि मैं जो चाहूँगी, वही

करूँगी । शांतनु से गंगा की सात पुत्र हुए थे । उन सभी गंगा ने जनमते ही जल में फेंक दिया था । जब आठवाँ पुत्र यही देवप्रत उत्पन्न हुआ था, तब शांतनु ने गंगा को उसे जल में फेंकने से मना किया । गंगा ने कहा—"महाराज, आपने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी, अंतः मैं जानती हूँ मैंने देवकार्य की सिद्धि के लिये आपसे सहायता किया था । आप इस पुत्र को अपने पास रखें । यह बहुत वीर, धर्मात्मा और दृढ़प्रतिज्ञ होगा और आजन्म महावीर रहेगा ।" गंगा के चले जाने पर कुछ दिनों बाद राजा शांतनु सत्यवती या योजनगंधा नाम की एक धीवर कन्या पर आसक्त हुए । पर धीवर ने कहा कि मेरी कन्या के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ही राज्य का अधिकारी होना चाहिए, भीष्म या उसकी संतान नहीं । इस पर देवप्रत ने यह भीष्म प्रतिज्ञा की कि मैं स्वयं राज्य नहीं हूँगा और न आजन्म विवाह ही करूँगा । इसी भीष्म प्रतिज्ञा के काल उनका नाम भीष्म पड़ा । शांतनु की उस धीवर कन्या से चित्रांगद और विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए । शांतनु के उपरांत चित्रांगद को राज्य मिला, और चित्रांगद के एक गंधर्व द्वारा मारे जाने पर विचित्रवीर्य राजा हुए । एक बार काशीराज की स्वयंवर-सभा में से देवप्रत अंबा, अंबिका और अंबालिका नाम की तीन कन्याओं को उठा लाए थे और उनमें से अंबा तथुं अंबालिका का विचित्रवीर्य से विवाह कर दिया था । विचित्रवीर्य के निःसंतान मर जाने पर सत्यवती ने देवप्रत से कहा कि तुम विचित्रवीर्य की खिाँ से नियोग करके संतान उत्पन्न करो । पर देवप्रत ने आजन्म महावीर रहने का जो प्रत किया था, उसे उन्होंने नहीं तोड़ा । अंत में वेदव्यास से नियोग काफ़े अंबिका और अंबालिका से छतराष्ट्र और पांडु नामक दो पुत्र उत्पन्न कराए गए । महाभारत युद्ध के समय देवप्रत ने कौरवों का पक्ष लेकर दम दिन तक बहुत ही वीरतापूर्वक भीष्म युद्ध किया था; और अंत में अर्जुन के हाथों घायल होकर वार-वाया पर पड़े गए थे । युद्ध समाप्त होने पर इन्होंने सुषिष्ठिर को बहुत अच्छे अन्ते उपदेश दिए जिनका उल्लेख महाभारत के शांतिपर्व में है । आप मुझा भट्टी की सूर्य के उत्तरायण होने पर से अपनी इच्छा से मरे थे ।

(५) दे० "भीष्मक" ।

वि० भीषण । अचक्र ।

भीष्मक-संज्ञा पुं० [म०] विदर्भ देश के एक राजा की कन्या की संज्ञा ।

भीष्मकसुता-संज्ञा स्त्री० [म०] भीष्मक की कन्या ।

भीष्मपंचक-संज्ञा पुं० [सं०] कालिक झुझा एकादशी से पंचमी तक के पंच दिन। इन पंच दिनों में लोग प्रायः व्रत रखते हैं।

भीष्मपितामह-संज्ञा पुं० दे० "भीष्म"।

भीष्मपत्नि-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिमालय के उत्तर में होनेवाला एक प्रकार का सफेद रंग का पत्थर या माण जिसका धारण करना बहुत शुभ समझा जाता है।

भीष्मसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा।

भीष्मस्वरराज-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

भीष्माष्टमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ शुक्ल अष्टमी, जिस दिन भीष्म ने प्राण त्यागे थे। इस दिन भीष्म के नाम का तर्पण और दान आदि करने का विधान है।

भीष्मशू-संज्ञा पुं० दे० "भीष्म"।

भुँह-संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] पृथिवी। भूमि। उ०—अति अनीति कुरीति भइ भुँह तरनि हूँ से साति। जाँउ कहँ बलि जाँउ कहँ न डाँउ मति अकुलाति।—गुलसी।

भुँहधरा-संज्ञा पुं० दे० "भुँह"।

भुँहफोर-संज्ञा पुं० [रि० भुँह + फोरना] एक प्रकार की खुंभी जो बरसात के दिनों में बाँसी के आस पास निकलती है। यह तरकारी के काम आती है। गरुडभा।

भुँहहरा-संज्ञा पुं० [रि० भुँह + हर] (१) वह स्थान जो भूमि के नीचे खोदकर बनाया गया हो। उ०—अस कहि धिति भुँहहरा मारी। कियो समाधि तीन दिन काही।—गुराज। (२) पृथ्वी के नीचे बना हुआ कमरा। तहखाना।

भुँहाल-संज्ञा पुं० [भुं०] दुल्ही या भोंवा जिसके द्वारा सैनिक गाँवों पर अभ्यस्य भरनी आज़ा की घोषणा करता है। (छा०)

भुँजना-कि० प्र० [रि० भुजना] (१) भुजने का अकर्मक रूप। भुजा जाना। (२) हलसना।

भुँजपाई-संज्ञा पुं० [रि० भुजना] भद्रगुंठा।

भुटा-संज्ञा पुं० दे० "भुटा"।

भुटली-संज्ञा स्त्री० [रि० भुग + भुल] एक कीड़ा जिसे पिछा भी कहते हैं। इसके शरीर पर बाल होते हैं जो स्पष्ट होते की दूसा में शरीर में घुस जाते हैं और सुखलाहट उत्पन्न करते हैं। कमला। मूँही।

भुँडा-वि० [सं० भुंटा का भुं०] [सं० भुंटी] बिना सींग का। जिसके सींग न हो। (पशु)

भुँदी-संज्ञा स्त्री० [रि० भुंदा] एक छोटी मछली जिसके मूँछें नहीं होतीं। यह गिरह की आँख की होती है। गैबारी की धारणा है कि इसके साने से खानेवाले को मूँछें नहीं निकलती।

भुंदा-संज्ञा पुं० [सं० भुंदा] [सं० भुंदा] खरि। सप। उ०—(क) गिर भुंदाहि लज दसा भंज न लागी कोय। गिर दिपोती पबो जिये जिये तो बीर होय।—कबीर।

(ख) सोह बसुधातल सुधा तागिनि। भय भंजनि भ्रम भेक भुंदागिनि।—गुलसी। (ग) कहा कृपण की भाषा कितनी करत फिरत अपनी अपनी। खाइ न सके खरच नहि जानै ज्यों भुंदा सिर रहत मनी।—सूर।

भुंदागम-संज्ञा पुं० [सं० भुंदाग] सौर। उ०—माई री मोहि डखो भुंदाग करो।—सूर।

भुंदा-संज्ञा पुं० दे० "भुवन"।

भुंदा-संज्ञा पुं० [सं० भुग + भुव भुवना पुं० पुं०] सेमर आदि की रुई जो फलके भीतर मरी रहती है और टोटे के सूखने पर बाहर निकलती है।

भुंदा-संज्ञा पुं० दे० "भुवाल"।

भुंदा-संज्ञा पुं० [सं० भुवाल + भा० भुवाल] राजा। उ०—बंदई अवध भुंदा सरप प्रेम जेहि राम पर। बिगुलत दीन दयाल सजु लन इव परिहरेउ।—गुलसी।

भुंदा-संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] भूमि। पृथ्वी। उ०—विपति बीज बंषां तितु बेरी। भुंदा भद्र कुमति कैकई बेरी।—गुलसी।

भुंदा-संज्ञा पुं० दे० "भुंदा"। उ०—भुंदा गहो सीस भुंदा लावा। पारैर सुभन जहाँ है पावा।—नायसी।

भुंदा-संज्ञा पुं० [सं० भुंदागतक] एक घास का नाम जो बरसात में ठंडे स्थान में प्रायः घाँस के आस पास होती है। इसकी पत्तियाँ छोटी छोटी एक सीके में दोनों ओर होती हैं और इसी सीके में पत्तियों की जड़ों में सरसों के बराबर छोटे छोटे फूलों की कोटियाँ लगती हैं जिनके फूल फूलने पर इतने छोटे होते हैं कि उनकी पंखापि २१६ नहीं दिखाई देती। इसके फूलों के सूँघ जाने पर राई के बराबर छोटा फूल लगता है। यह घास भोपधि के काम में आती है। वैद्यक में इसका स्वाद कटु, कड़वा और मयुर तथा प्रकृति शीतल और गुण शैत्य, रक्तपित्त, कफ और पित्त रोग का नाशक लिखा है। यह वातकारक और दाहनाशक है। अम्रकविला।

पर्या०—भुंदागम्य। शिवा। तात्वी। क्षेत्रमयी। सारिका। भद्रामलकी।

भुंदा-संज्ञा पुं० [रि० भुंदा + भुंदा] एक घास जिसकी पत्तियाँ लघुम की/पत्तियों से जोड़ी होती हैं और जिसकी जड़ में प्याज की तरह गोष्ठ गोष्ठ पत्तियाँ हैं। यह लघुम के दिनारो या जलमायो के पास होता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं। इसके फूल गंधे होते हैं और बीज की एक बंदी के ऊपर सिते पर गुच्छे में लगते हैं। इसे सफेद घास भी कहते हैं।

भुंदा-संज्ञा पुं० [रि० भुंदा + भुंदा] भुंदा। भुंदा।

भुंदा-संज्ञा पुं० [रि० भुंदा + भुंदा] सफाई की जाति का एक पेड़ जिसकी पत्तियाँ घनाक के नाम से जानती हैं।

विकती है। इसका प्रयोग सैनिक के स्थान में होता है। इसका पेड़ चकवट से मिलता जुलता होता है।

भुरदग्धा-संज्ञा पुं० [हिं० भुर + दग्ध (१) वह कर जो भूमि पर चिता जलाने के लिये मृतक के संबंधियों से लिया जाता है। मसान का कर। (२) वह कर जो भूमि का मालिक किसी व्यवसायी से व्यवसाय करने के लिये ले।

भुरधरा-संज्ञा पुं० [हिं० भुर + धरा] आवाँ लगाने की वह रीति वा रंग जिसके अनुसार बिना गद्दा खोदे ही भूमि पर धरतों या अन्य पकाने की चीजों को रखकर भाग सुलगा देते हैं।

भुरनास-संज्ञा पुं० [सं० गुन्नास] (१) किसी वस्तु के एक छोर को भूमि में इस प्रकार दबाकर जमाना कि उसका कुछ अंश पृथ्वी के भीतर गड़ जाय।

किं० प्र०—करना।—देना।

(२) कियाहों की वह सिरकनी जो नीचे की ओर परपर के गद्दे में घटती है। (३) अनाद। (४) एक छोटा पीया जो बिना जड़ का होता है और जो खेलों में प्रायः उगता है।

भुरहार-संज्ञा पुं० [सं० भूमि + हार] (१) मिरापुर जिले के दक्षिण भाग में रहनेवाली एक अवस्थिति। (२) दे० "भूमिहार"।

भुर-संज्ञा स्त्री० [हिं० भू + भा] एक कीड़ा जिसे पिछा भी कहते हैं। इसके शरीर पर लंबे लंबे बाल होते हैं जो छू जाने पर शरीर में गड़ जाते और तुजसाहट उत्पन्न करते हैं। कमला। सुहली।

भुक्त-संज्ञा पुं० [सं० भुज्] (१) भोजन। पात्र। आहार। उ०—पूरा गुसाईं मैं ऐस विप्राता। ज्ञार्थत जीव सबन भुक्त दाता।—जायसी। (२) भस्ति। भाग। उ०—अस कहि मे भुक्त भतदांना। सुनि समाज सखी सुन माना।—विधाम।

भुक्कड़-वि० [हिं० भू + कड़ (शब्द०)] (१) जिसे भूय लगी हो। भूला। (२) वह जो बहुत खाना हो और जिसे प्रायः भूय लगी रहती हो। पेटू। (३) दक्खि। कंगाल।

भुल-वि० [सं०] (१) जो खाय गया हो। भस्ति। (२) भोगा हुआ। उपभुक्त।

भुलशेव-संज्ञा पुं० [सं०] खाने से बचा हुआ। उच्छिष्ट। जूदा।

भुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भोजन। आहार। (२) निषेध-प्रयोग। लौकिक सुख। (३) धर्मसाधनानुसार चार प्रकार के प्रमाणां में है एक। ब्रह्मा। दूसरा। (४) प्रहो का किसी राति में एक एक अंश करके गमन या भोग।

भुक्तिपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] भोजन का पात्र। खाने का बरतन। **भुक्तिप्रद-वि०** [सं०] [भि० भुक्तिप्रद] भोग देने वाला। भोगदाता। **संज्ञा पुं० भोग।**

भुलमारा-वि० [हिं० भू + मारा] (१) जो भूला मारा हो। भूलभुल्ला। भुल्लू। (२) जो खाने के पीठे भरा जाता हो। पेटू।

भुलाना-वि० किं० प्र० [हिं० भू + ल] भूल से पीड़ित होना। भूल होना। भुधित होना। उ०—सुनहु एक दिन एक दिहने। गये चरावन संखा भुलाने।—विधाम।

भुलाल-वि० [हिं० भू + भाल (शब्द०)] जिसे भूय लगी हो। भूला। उ०—तो भी भुलाल और गुस्सल है।—जंगमधे।

भुगत-संज्ञा स्त्री० दे० "भुक्ति"।

भुगतना-किं० सं० [सं० भुक्ति] सहना। सहना। भोगना।

उ०—(क) देह धरे का दंड है सब काहु को होय। हानी भुगतै ज्ञान कर अज्ञानी भुगतै रोय।—कबीर। (ख) हम तो पाप कियो भुगतै को। पुण्य प्रगट क्यों निदुर दिलो रो।—सूर। (ग) पहले ही भुगतों जो पाप। वु धरि के सहिहीं संताप।—उल्ला। (घ) और तो लोग दुखी अपने दुख में भुगतों जग हँसा भपटा।—निधर।

विशेष—इस प्रकाश का प्रयोग 'भुक्ति' भोग के सहने में होता है। जैसे—संज्ञा भुगतना। दुःख भुगतना। संयो० किं०—लेना।

सुहा-संज्ञा स्त्री० भुगत लेना। समझ लेना। निपट लेना। जैसे—

आप धिता न करें, मैं जनसे भुगत लूँगा।

किं० प्र० (१) पूरा होना। निपटना। जैसे—देन का भुगतना। काम का भुगतना। (२) धीतना। धुक्ना। जैसे—

दिन भुगतना।

भुगतान-संज्ञा पुं० [हिं० भुगतना] (१) निपटारा। केलना। (२) मूल्य या देन चुकाना। बेंचोकी। जैसे—हुँरी का भुगतान।

कपड़े का भुगतान। (३) देना। देन।

भुगताना-किं० सं० [हिं० भुगतना का सं० रूप] (१) भुगतने का सकर्मक रूप। पूरा करना। संवादन करना। उ०—धाम भूम नीर औ समीर मिले पड़े देह, ऐसी संग कैसे हूँ काज भुगतानेगो।—रसदशनसिंह। (२) धिताना। लगाना।

जैसे, जरासे काममें सारा दिन भुगता दिया। (३) सुधाना। देना। बेंचक करना। जैसे—हुँरी भुगताना। (४) भुगतना का प्रेरणार्थक रूप। दूसरे को भुगतने में प्रवृत्त करना।

संज्ञाना। भोग कराना। (५) दुःख देना। दुःख सहने के लिये पाध्य करना।

भुगाना-किं० सं० [हिं० भुगना का प्रेर० सं०] भोगना का प्रेरणार्थक रूप। भोग कराना।

भुगुति-संज्ञा स्त्री० दे० "भुक्ति"।

भुस-वि० [सं०] (१) देहा। बक। (२) रोमी। रस। रंमार।

भुसनेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सजिवा। त्रिभुज में रोमी

की आँखें देखी हो जाती हैं। इस रोग में रोगी का ज्वर अधिक बढ़ जाता है, उन्माद के कारण वह बकसक करता है और उसके अवयवों में सूजन आ जाती है। यह असंख्य रोग हैं और इसकी अंशधि शास्त्रों में आठ दिन कही गई है।

भुजङ्ग-वि० [वि० भुज + चन्द्रना] जो समझने पर भी न समझना हो। मूर्ख। बेवकूफ।

भुजङ्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) स्त्री का यार। जार। (३) रामा का एक पार्श्ववर्ती अनुचर। (४) सोसा नामक धान।

भुजङ्गघातिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काकोली।

भुजङ्गजिह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महासमंग। कँगहिया।

भुजङ्गदमनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाकुली कंद।

भुजङ्गपत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदमनी।

भुजङ्गपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक फूल के पंख का नाम। (२) सुश्रुत के अनुसार एक क्षुप का नाम।

भुजङ्गप्रयात-संज्ञा पुं० [सं०] एक वनिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में बारह घण्टे होते हैं, जिनमें पहला, चौथा, सातवाँ और दसवाँ घण्टे लघु और दोष शुद्ध होते हैं; अथवा प्रत्येक चरण चार दण्ड का होता है। उ०—वहूँ कोभना हुंदभी दूँह बाँजें। कहूँ भीम भंकार कनौल साँजें। कहूँ सुंदरी वेनु पीना बजायें। कहूँ चिहरी किररी लय सुनयें।

भुजङ्गमुज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मयूह। (२) मयूर।

भुजङ्गभोजी-संज्ञा पुं० [सं० भुजङ्गभोजिन्] [का० भुजङ्गभोजिनो] (१) मयूह। (२) मयूर। मोर।

भुजङ्गम-संज्ञा पुं० [सं० भुजङ्गम्] (१) साँप। (२) सीसा।

भुजङ्गयिजुभित-संज्ञा पुं० [सं०] एक वनिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में २६ घण्टे इस क्रम से होते हैं—आदि में दो मगन, फिर एक सगन, तीन मगन, फिर रगन, सगन और अंत में एक लघु और एक शुद्ध।

भुजङ्गसंगता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में भी गी घण्टे होते हैं, जिनमें पहले सगन, मध्य में जगन और अंत में रगन होता है।

भुजङ्गा-संज्ञा पुं० [वि० भुजङ्ग] (१) काले रंग का एक पक्षी जिसकी लंबाई प्रायः उड़ पाछिस होती है। यह कंठे मरोड़े घाता है और बड़ा शीत होता है। यह भारत, चीन और जाम देन में पाया जाता है। यह प्रातःकाल बोलता है और इसकी बोली सुहावनी लगती है। यह एक यार में चार अंडे देता है। इसकी अनेक अर्थात् उपवासियाँ होती हैं, जैसे केदाराम, कृष्णाम इत्यादि। मुजैदा। कोरपाठ। (२) दे० “भुजङ्ग”।

भुजङ्गापत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] राधा।

भुजङ्गापुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] नागदेमर।

भुजङ्गिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोपाल नामक छंद का दूसरा नाम। (२) साँपिन। नागिन।

भुजङ्गी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) साँपिन। नागिन। (२) एक वनिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में बारह घण्टे होते हैं जिनमें पहले तीन दण्ड आते हैं और अंत में एक लघु और एक शुद्ध रहता है।

भुजङ्गेरित-संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद का नाम।

भुजङ्गेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वामुनि। (२) दोष। (३) विगल भुज का नाम। (४) पतञ्जलि का एक नाम।

भुज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहु। बाँट।

मुहा०—भुज में भरना = आलिन करना। अंक भरना। गले लगाना। उ०—कहा बात कहि पियहि जाऊँ। कैसे भुज भरि कंठ लगाऊँ।—छन्दः।

(२) हाथ। (३) हाथी का सूँड़। (४) दायाँ। दायीं। (५) माँत। किनारा। मैदा। (६) लपेट। फँदा। (७) उपासित या देखा गणित के अनुसार किसी क्षेत्र का किनारा वा किनारे की रेखा।

यौ०—द्रिभुज। त्रिभुज। चतुर्भुज इत्यादि।

(८) त्रिभुज का आधार। (९) छाया का मूल या आधार। (१०) समरोंणों का एक कोण। (११) दो की संख्या का योग्य शब्द-संकेत। (१२) उपासितगणित के अनुसार तीन राशियों के अंतर्गत प्रहों की स्थिति या खगोल का वह अंश जो तीन राशि से कम हो।

भुजकोटर-संज्ञा पुं० [सं०] बगल। कोण।

भुजग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) भस्मेक नक्षत्र। (३) सीसा।

भुजगनिघृता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वनिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में भी अक्षर होते हैं जिनमें छटा, आठवाँ और नयाँ अक्षर शुद्ध और दोष स्पष्ट होते हैं।

भुजगपति-संज्ञा पुं० [सं०] वासुदेव। अर्जुन।

भुजगपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का फूल। (२) इस फूल का बीधा।

भुजगविशुद्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वनिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में भी अक्षर होते हैं जिनमें पहले दो मगन और अंत में एक मगन होता है। इसे भुजगविशुद्धता भी कहते हैं।

भुजगेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] दोष। वामुनि।

भुजगेश, भुजगेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] भुजगेंद्र। वामुनि।

भुजङ्गा-संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रिकोणमिति के अनुसार भुज की उपा।

भुजदंड-संज्ञा पुं० [सं०] बाहुदंड।

भुजपादा-संज्ञा पुं० [सं०] गच्छादंड। गले में दान दाढ़ियाँ।

भुजप्रतिभुज-संज्ञा पुं० [सं०] सरल क्षेत्र का समानांतर या आधारे सामने की भुजाएँ ।

भुज-संज्ञा पुं० [सं० भुज] (१) दे० "भुजयंत्र" । (२) बाजुबंद । उ०—टॉप भुजबंद चूड़ा पहनाये भूषित, ज्यों देखि देखि दुरदुर इंद निलरन है ।—हनुमान ।

भुजयंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भंगद । (२) भुजवेष्टन ।

भुजवल-संज्ञा पुं० [हि० भुज + वल] शालिहोत्र के अनुसार एक भौरी जो घोड़े के अगले पैर में ऊपर की ओर होती है । लोगों का विश्वास है कि जिस घोड़े की यह भौरी होती है, वह अधिक बलवान होता है ।

भुजशायक-संज्ञा पुं० [हि० भुज + शायक] भैंसवार । उ०—रग मोचत मृगलोचनी अरेड उलटि भुजबाध । जान गई तिय आप की हाथ परसही हाथ ।—विहारी ।

भुजमूल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खवा । पक्का । भोड़ा । (२) काल ।

भुजिया-संज्ञा पुं० [हि० भुज + या] भड़भूना । उ०—भुजिया पदे कविज जीव दस बीस जराय ।—मैताल ।

भुजशिर-संज्ञा पुं० [सं०] कंधा ।

भुजशिर-संज्ञा पुं० [सं०] कंधा ।

भुजांतर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ओढ़ । गोढ़ । (२) वक्ष । छाती । (३) दो भुजाओं का अंतर ।

भुजा-संज्ञा की० [सं०] पाँह । हाथ ।

मुहा०—भुजा उठाना = प्रतिज्ञा करना । प्रण करना । उ०—पल न प्रसक्तुलन परिवाई । सत्य कहैं दोउ भुजा उठाई ।—तुलसी । भुजा देकना = प्रतिज्ञा करना । प्रण करना । उ०—भुजा देकि कै पंडित बोला । छाहि देस नवन जो दांढा ।—जायसी ।

भुजाना-हि० सं० दे० "भुजाना" ।

भुजाली-संज्ञा स्त्री० [हि० भुज + जाला (प्रक०)] (१) एक प्रकार की बड़ी देड़ी घुरी जिसका व्यवहार प्रायः नेपाली आदि करते हैं । इसे कुकरी या घुरी भी कहते हैं । (२) छोटी घुरी ।

भुजाप्र-संज्ञा पुं० [सं०] हाथ ।

भुजादल-संज्ञा पुं० [सं०] करप्रख ।

भुजामूल-संज्ञा पुं० [सं०] कंधे का वह अगल भाग जहाँ हाथ और कंधे का जोड़ होता है । बाहुमूल ।

भुजिया-संज्ञा पुं० [हि० भुज + या] (१) उबाला हुआ धान । भि० प्र०—करना ।—पिठना ।

(२) उबाले हुए धान का चावल । वि० दे० "धान" और "चावल" ।

भुजिष्य-संज्ञा पुं० [सं०] [को० भुजिष्य] दास । सेवक ।

भुजिष्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दासी । (२) गणिका । केन्या ।

भुजना-संज्ञा पुं० [हि० भुजना] भूना हुआ दाना । खैरा । भूना ।

भुजेल-संज्ञा पुं० [सं० भुजेल] भुजंगा नामक पक्षी । उ०—भैरव पतंग जरे भी-नागा । कोकिल सुनैल ओ सब कथा ।—जायसी ।

भुजौना-संज्ञा पुं० [हि० भुजना] (१) भुन हुआ भू । भूना । भूना । भुजौना । उ०—फेर फेर तन कीन भुजौना । भीट रकत रंग हिरदे भवना ।—जायसी । (२) वह धन या अन्न जो भूने के बटले में दिया जाय । भूने की मर-दूरी । (३) वह धन जो रुपया या मोट आदि मुनाने के बटले में दिया जाय ।

भुज्यु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाजन । पात्र । (२) भूमि । (३) वैदिक काल के एक राजा का नाम । यह तुमु का पुत्र था और अश्विनी ने इसे समुद्र में डूबने से बचाया था ।

मुदिया-संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की घाटी जो घोरि और चारखाने के कुने में डाली जाती है । (जुआहे)

मुंडा-संज्ञा पुं० [सं० मुट्टा प्रा० मुट्टे] (१) मक्के की हरी बाल । वि० दे० "मक्का" । (२) गुमार वा बाजरे की बाल । उ०—ओकृष्णचंद्र ने तिरछी कर एक हाथ देसा मारा कि उसका सिर मुंडा सा उड़ गया ।—लल्लू । (३) गुच्छ । घोंद । उ०—कहीं गुलामों की हड्डियों से पत्ते के पत्ते निकालकर मोतियों के मुँहे लगाए हैं ।—शिवप्रसाद ।

मुंडार-संज्ञा पुं० [हि० भू] वह घोड़ा जो ऐसे प्रदेश में जाय जहाँ की भूमि बहुत ही खुरदरी हो ।

मुंडौर-संज्ञा पुं० हि० [भू + ओर] घोड़ों की एक जाति जो गुजरात आदि मरुस्थल देशों में होती है । उ०—मुंरा की भी हिरमिजी इराकी । तुर्की की मुंडौर तुलकी ।—जायसी ।

मुंडली-संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार का फूल ।

मुंडारी-संज्ञा पुं० [हि० भू + दाना] वह अन्न जो रात के दाने पर बाल में डंढल के साथ लगा रहता है । लिहूरी । दोवरी । पकड़ी । चित्ती ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः रबी की फसल के लिये होता है ।

भुन-संज्ञा पुं० [अनु०] मक्का आदि का शब्द । अन्धक गुंजार का शब्द ।

मुहा०—भुनभुन करना = झुंझकर अस्पष्ट स्वर में कुछ कहना ।

भुनगा-संज्ञा पुं० [अनु०] [का० भुनगा] (१) एक छोटा उड़ने-वाला कीड़ा जो प्रायः फूलों और पत्तों में रहता है और सिंघार करत में प्रायः उड़ता रहता है । (२) कोई उड़ने-वाला छोटा कीड़ा । पतिया । (३) बहुत ही दुष्क वा निर्बल मनुष्य ।

भुनगी-संज्ञा स्त्री० [हि० भुनगा] एक छोटा कीड़ा जो ईँक के पौधों की हानि पहुँचाता है ।

भुनना-हि० प्र० [हि० भुनना] (१) भूने का अर्थ कहना ।

भूना जाना । (२) आग की गरमी से पक्कर लाल होना ।
पकना । जैसे,—कसाव का भुनना ।

कि० प्र० [सं० भंजन] भुनाने का अकर्मक रूप । रूप
आदि के बदले में भटखी, चौभट्टी आदि का मिलना ।
अवयवी का अवयव में विभजित वा परिणत होना । बड़े
सिक्के आदि का छोटे छोटे सिक्कों में बदला जाना ।

भुनभुनाना—कि० प्र० [भुनु०] (१) भुन भुन शब्द करना ।
(२) किसी विरोधी वा प्रतिद्वन्द्व दबाव में पड़कर झुँह से
अभयक शब्द निकालना । मन हा मन कुंकर अशरर स्वर
में कुछ कहना । बहबहाना ।

भुनाना—कि० सं० [हि० भूना] भूने का प्रेरणार्थक रूप ।
दूसरे को भूने के लिये प्रेरणा करना ।

कि० सं० [सं० भंजन] रूप्य आदि को भटखी, चौभट्टी
आदि में परिणत कराना । बड़े सिक्के आदि को छोटे सिक्कों
आदि से बदलना । उ०—जो दूक रतन भुनावे कोई । कर
सोई जो मन मई होई ।—जायसी ।

भुनुगा—एक पुं० दे० “भुनगा” ।

भुषि—एक स्त्री० [सं० भू शब्द का सप्तमी एकवचन रूप भुषि]
पृथ्वी । भूमि । उ०—जो जनवैजें विनु भट भुषि भाई ।
सौजन करि होवैजें न हँसाई ।—मुलसी ।

भुमिया—एक पुं० दे० “भूमिवा” ।

भुरकना—कि० प्र० [सं० भुरक = गति वा हि० भुरका] (१) खूब
कर भुरभुरा हो जाना । (२) भूलना । उ०—घोरिषि पैस
विपरी भट्ट प्रमोरी सी बाजन में भुरकी है ।—देव ।

संयो० कि०—जाना ।

(१) पूर्ण के रूप के किसी पदार्थको छिड़कना । भुरभुराना ।
भुरकना । उ०—जहाँ तई लसत महा भद्रमस । वर बानर
बानर दल दस । अंग अंग चारु अति चंदन । मुँहन भुरके
देसिय बंदन ।—केसाव ।

संयो० कि०—देना ।

भुरका—एक पुं० [हि० भुरका वा सं० भुर] भुरकी । भरी ।
एक पुं० [हि० भुरका] (१) मिट्टी का बड़ा कसोरा । कुत्ता ।
बुन्दह । (२) मिट्टी आदि का वह पात्र जिसमें लुढ़के
छिलने के लिये सड़िया मिट्टी घोलकर रखते हैं । उदका ।
उदका ।

भुरकाना—कि० सं० [हि० भुरका] (१) भुरभुरा करना । (२)
छिड़कना । भुरभुराना । (३) भुरकाना । बहकाना । उ०—
करी हँसि देव सोड दूर देखी बड़े भाई कोह बाल भुरकाय
देखा ।—विभास ।

भुरकी—एक स्त्री० [हि० भुरका] (१) भूक रकने के लिये छोटा
कोटिका । पुनकी । (२) पानी का छोटा गट्टा । डीर । (३)
छोटा कुल्हाड़ा ।

भुरकुटा—एक पुं० [हि० भुरकुटे] छोटा कीड़ा वा मच्छर । छोटा
मकोड़ा ।

भुरकुन—एक पुं० [सं० भुरक, हि० भुरकना] पूर्ण । पूरा ।

भुरकुस—एक पुं० [भुनु० वा हि० भुरकना] पूर्ण ।

मुहा०—भुरकुस निकलना = (१) चूर चूर होना । (२) इतना
मार खाना कि हड्डी पसली चूर चूर हो जाय । बेदम होना ।
(३) नष्ट होना । बरबाद होना । भुरकुस निकालना = (१)
इतना मारना कि हड्डी पसली चूर चूर हो जाय । मारते मारते
बेदम करना । (२) बेकाम करना । किसी काम का न रहने
देना (३) नष्ट करना । बरबाद करना ।

भुरजी—एक पुं० [हि० भूजना] भड़भूना ।

भुरत—एक पुं० [दे०] एक प्रकार की घास जो परसात में
होती है । यह स्पर्शत उगती है और जय तक नरम
रहती है, तब तक पशु इसे बड़े घाव से खाते हैं । यह
सुखाने के काम की नहीं होती । भौट ।

भुरता—एक पुं० [हि० भुरकना वा भुरभुरा] (१) दबकर वा
कुचलकर विकृततावस्था को प्राप्त पदार्थ । यह पदार्थ जो
बाहरी दबाव से दबकर वा कुचलकर ऐसा बिगड़ गया हो
कि उसके अवयव और आकृति पूर्व के समान न रह गई हो ।
मुहा०—भुरता करना वा कर देना = कुचलकर पीग डालना ।
दबाकर चूर चूर कर देना ।

(२) चोखा वा भरता काम का सालना । वि० दे० “बोला” ।

भुरभुर—एक स्त्री० [दे०] एक घास का नाम जो ऊसर वा
रेतीली भूमि में होती है । इसे भुरभुरोई वा भुनभी भी
कहते हैं ।

वि० दे० “भुरभुरा” ।

संयो० पुं० [भुनु० वा सं० भुर] भुरा ।

भुरभुरा—वि० पुं० [भुनु०] [का० भुरभुरी] जिसके कण पोषा
आघात लगने पर भी बाध के समान भला भला हो जाय ।
बलभा । जैसे,—यह लकड़ी बिलकुल भुरभुरी हो गई है ।

भुरभुरोई—एक स्त्री० [दे०] एक प्रकार की घास जो ऊसर
और रेतीली भूमि में उपजती है । इसे भुनभी वा भुरभुर
भी कहते हैं ।

भुरलो—एक स्त्री० [हि० भुरली] (१) भुरकी । गूँदी । कमल ।

(२) एक कीड़ा जो रोगों की कसल को हानि पहुँचाता है ।

भुरलना—कि० सं० [सं० भुरल, हि० भुरलना वा भुर०] भुरलाना ।
धन में हालना । फुसलाना । उ०—(६) सरदास प्रभु
रसिक सितोर्मग भुरई संधिका भोरी ।—नूर । (७) उधो
अब यह समझि मई । मैदन्दन के अंग अंग प्रनि उपमा
भ्याई गई । कुंठ कुंठि धैर्य भाँतिन वर मालि भुर
मई । तबत न गहर कियो निन करी जानि निराग
मई ।—नूर ।

संयो० कि०—देना ।—लेना ।—रखना ।

भुराई—संज्ञा स्त्री० [हि० भूना] भूलापन । सीधापन ।

उ०—(क) लखत ताहुकहि ललितमन आई । भुजनि भयकर भेप भुराई ।—पद्माकर । (ख) मोचन लागी भुराई की बातन सीतलिन सोच भुरावन लागी ।—मतिराम । (ग) राई नोन वारति भुराई देखि अगिनि में दुरे न दुराई पै भुराई सो भरति है ।—देव ।

संज्ञा पुं० [हि० भूरा] भूरापन । भूरे होने का भाव ।

भुराना—संज्ञा पुं० [हि० भूलाया वा भूतना] (१) भूलना ।

उ०—(क) मैं अपनी सब गाढ़ चरैहीं । जान होत बल के सँग जैहीं तेरे कहे न भुरैहीं ।—सूर । (ख) मोचन लागी भुराई की बातनि सीतलिन सोच भुरावन लागी ।—मतिराम । (२) दे० "सुरवना" । उ०—तुम भुरये ही नंद कहत हैं तुमसों छोटा । दधि ओदन के काम देह धरि आप छोटा ।—सूर ।

भुंउंड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

(२) भारण्ड पक्षी ।

भुरका—संज्ञा स्त्री० दे० "भुरका" ।

भुलना—संज्ञा पुं० [हि० भूलना] (१) एक घास का नाम जिसके विषय में लोगों में यह प्रवाद है कि इसके खाने से लोग सब बातें भूल जाते हैं ।

मुहा०—भुलना घर जाना = विस्मरणशील होना ।

(२) वह जो भूल जाता हो । भूलनेवाला व्यक्ति ।

भुलमुला—संज्ञा पुं० [भ्रू०] आग का पलका । गरम राख ।

भुलवाना—कि० सं० [हि० भूलना वा भ्रू०] (१) भूलना को प्रेरणार्थक रूप । भूलने के लिये प्रेरणा करना । भ्रम में डालना । (२) विस्मृत करना । विस्तारना । दे० "भुलाना" ।

भुलसना—कि० प्र० [हि० भूलना] पलक में भुलसना । गरम राख में भुलसना । उ०—बाल गुलाब अंगारन हैं पुनि कछु न सुरसी । सुकपि नेह की बेल विरह सर मेकु न सुरसी ।—पद्मा ।

भुलाना—कि० सं० [हि० भूलना] (१) भूलने का प्रेरणार्थक रूप । भ्रम में डालना । धोखा देना । उ०—बंशु कहत घर बैठे भाषि । अपनी माया माँह भुलावै ।—लखरू । (२) भूलना । विस्मृत करना । उ०—(क) हंस हंसि थोलि टेके कौधा । प्रीति भुलाई चढ़े जल थोधा ।—जायसी । (ख) मे है जिन मुख पे दिव्य, करुनि क्यों न दिय होत । ते सब भवहि भुलाइयतु तनक टपन के दोस ।—पद्माकर ।

संज्ञा पुं० प्र० (१) भ्रम में पड़ना । उ०—(क) हाथ चीन मुनि मिरग भुलावै । नर मोहहि मुनि पैग न जावै ।—जायसी । (ख) वैदिक भुलान न जावहि पार । जीव छेत कि पण न काव ।—जायसी । (ग) यमुना अरम भुलानी

झल्ले पालना रे ।—गीत । (२) मदकना । भ्रमना । भू भूलना । उ०—सो सपान मारग रहि जाय । के खोज कयहूँ न मुलाय ।—कबीर । (३) भूल जाना । विस्मरण होना । विस्तरना । उ०—(क) मान महलस भर भुलाना । मानत मानत गवना ठाना ।—कबीर । (ख) घड़ी अचेत होय जा आई । चेतन की सब चेत भुलाई जायसी । (ग) एवमस्तु कहि कपट मुनि बोला कृप कटोर । मिल्य हमार भुलाय जनि कहुत त हमहि न खोरि ।—तुलसी ।

भुलावा—संज्ञा पुं० [हि० भूलना] छल । धोखा । बहाना । जैसे—इस तरह भुलावा देने से काम नहीं चलैगा ।

कि० प्र०—देना ।—में डालना ।

भुवंग—संज्ञा पुं० [सं० भुवङ्ग = मा० भुवङ्ग] [स्त्री० भुवङ्गिनी, उ० भुङ्गि] सर्प । उ०—साकटा का मुख बिंद है निकषा यचन भुवङ्ग । झाकी ओपधि मौन है विप नहि स्पर्श अंग ।—कबीर ।

भुवङ्गम—संज्ञा पुं० [सं० भुवङ्गम, प्रा० भुवङ्गम] सर्प । उ०—

(क) कपट करि प्रजहि पतना आई । रूप स्वरूप विष सब छाड़ रागा कंस पढाई ।... गई सूरदासी धरि पै मत्तों भुवङ्गम लाई । सूरदास प्रभु मुखरी कीश भगवन गाह सुनाई ।—सूर । (ख) माई री मोहि दखो भुवङ्गम कारो ।—सूर ।

भुवङ्ग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह आकाश या अथवा जो भूमि और सूर्य के अंतर्गत है । अंतरिक्षलोक । यह सात लोकों के अंतर्गत दूसरा लोक है । (२) सात महाभाहलियों के अंतर्गत दूसरी महाव्यावृत्ति । अनुस्मृति के अनुसार यह महाव्यावृत्ति ओंधार की उकार-मात्रा के संग यद्वैत से निकली गई है ।

भुव—संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि । आग ।

संज्ञा स्त्री० [सं० भू वा सप्तम्य कथं भुवि वा भूमि] पृथ्वी । उ०—(क) शंखे टपम सुरंग भर नाग । स्वार दिख निसि बोलै काग । कंपे भुव क्यों नहि होई । भये सोच धित यह रूप जोई ।—सूर । (ख) भार उतारन मुख वा गप । साधु संत को बहु गुण दप ।—लखरू ।

संज्ञा स्त्री० [सं० भू] भौंड । भू । उ०—(क) गहन दहन निदहन लोक निःसंक संक भुव ।—तुलसी । (ख) भुव संग सुनिन के बाग लिये मति वेसुरि की संग पासि आई ।

भुवन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जगत । (२) जल । (३) जल । लोग । (४) लोक । पुराणानुसार लोक चार हैं—सान सर्व और सात पाताल । भू, भुव, स्व, महः, जनः, तपः और सत्य ये सात सौं लोक हैं और अतल, तलतल, त्रितल, गभगिरिग, महागिरि, वराहगिरि और पाताक ये सात पाताल

है। (५) चौदह की संख्या का द्योतक शब्द संकेत। (६) सृष्टि। भूतजात। (७) एक मुनि का नाम।
भुवनकोश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूमंडल। पृथिवी। (२) चौदहों भुवन की समष्टि। पद्माब्द। उ०—मो सौ दोस कोस को भुवनकोस दूसरो न आपनी समुद्रि सृष्टि आयो टकयोरि हैं।—तुलसी।
भुवनपति-संज्ञा पुं० [सं०] एक देवता का नाम। महोपर के अनुसार यह अग्नि का भाई है।
भुवनपावन-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा।
भुवनाधोश-संज्ञा पुं० [सं०] एक रुद्र का नाम।
भुवनेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव की एक मूर्ति का नाम। (२) ईश्वर।
भुवनेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शक्ति की एक मूर्ति का नाम।
भुवनेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान का नाम जो उड़ीसा में पुरी के पास है। यहाँ अनेक शिवमंदिर हैं जिनमें प्रधान और प्राचीन मंदिर भुवनेश्वर शिव का है। (२) शिव की यह प्रधान मूर्ति जो भुवनेश्वर में है।
भुवनेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्रानुसार एक देवी का नाम जो दस महाविद्याओं में एक मानी जाती है।
भुवम्यु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) अग्नि। (३) चंद्र। (४) प्रभु।
भुवपति-संज्ञा पुं० [सं०] एक देवता का नाम। महोपर के अनुसार यह अग्नि का भाई है।
भुवपाल-संज्ञा पुं० दे० “भूपाल”।
भुवपति-संज्ञा पुं० [सं०] साग क्षेत्रों में से दूसरे लोक का नाम। पृथ्वी और सूर्य का मध्यवर्ती पंचम भाग। अंतरिक्षलोकोद्।
भुषा-संज्ञा पुं० [हि० भूषा] पूजा। रुद्र। उ०—रानी आह पाह के पास। सुभा भुषा सेमर की आखा।—दायदी।
भुवार-संज्ञा पुं० दे० “भूपाल”। उ०—रामलक्ष्मण सम दैव्य सदाता। तुम हलधर बलभद्र भुवारा।—जायसी।
भुवाल-संज्ञा पुं० [सं० भूगर्भ = भूः भूगर्भ] राजा। उ०—
 (क) बालिकी के तीर एक मधुपुरी नगर रसाखा हो।
 बालिमेमि उपसेन वंश कुल उषजे बंश भुवाखा हो।—
 पूर। (ग) बाँ दल कोट बरगने में जय साह भुवाल।
 उ०—उर भवामुर के पदे ज्यों हरि गाव भुवाल।—पिहारी।
भुवि-संज्ञा स्त्री० [सं० भू का मन्त्रा ३३ रूपका भूमि] भूमि। पृथिवी। उ०—एक बाल पति हेतु प्रभु श्रीन्द मनुज भव-
 तार। मुर रंजन सज्जन सुवद, हरि भोजन भुवि भार।—
 तुलसी।
भुवुंडी-संज्ञा पुं० [सं०] बाल भुवुंडी।
 विरोध—इसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि ये अमरा और

त्रिकालज्ञ हैं और कलियुग में होनेवाली सब बातें देना करते हैं।
संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अक्ष का नाम जिसका प्रयोग महा-
 भारत के काल में होता था। यह चमड़े का बनाया जाता था। इसके बीच में एक गोल चंदपा होता था जिसे चमड़े के कड़े तसमों से बाँधकर दो लंबी दोरियों में लगा देते थे। यह अक्ष दोरी समेत एक छोर से दूसरे छोर तक तीन हाथ लंबा होता था। इसके चँदपे में पत्थर भरकर और दोरियों को बाहने हाथ से घुमाकर लोग दायु पर फेंकते थे। कुछ लोग भ्रमपत्र इस शब्द से बंदूक का शर्थ लेते हैं।
भुस-संज्ञा पुं० [सं० भुम] भूसा। उ०—भगजारे के बेल ज्यों भरम फिरेउ चहुँ देस। खौद लादि भुम खान है चित्तु सत गुरु उपदेस।—कबीर।
भुसी-संज्ञा स्त्री० [हि० भूमा] भूखी। उ०—कबिरा संगति साधु की जो की भुसी जो खाय। खोर खाँड भोजन मिले साक सभा न जाय।—कबीर।
भुमुंडी-संज्ञा पुं० दे० “भुवुंडी”।
भुसेहारा-संज्ञा पुं० दे० “भुसीरा”।
भुसीरा-संज्ञा पुं० [हि० भूमा + पर] [स्त्री० भुसीरी] यह घर जिसमें भूसा रखा जाता हो। भूसा रखने का स्थान।
भूकना-कि० प्र० [भुगु] (१) भूँ भूँ या भीं भीं शब्द करना (कुत्तों का)। इस शब्द का प्रयोग कुत्तों की बोली के लिये होता है। (२) व्यर्थ बहना।
भूख-संज्ञा स्त्री० दे० “भूख”।
भूखा-वि० दे० “भूखा”।
भूखाल-संज्ञा पुं० दे० “भूख”।
भूखना-कि० प्र० [हि० भूख] (१) किसी वस्तु को भाग में टाककर या और किसी प्रकार गर्मी पहुँचाकर पचना। (२) तलना। पचना। (३) दुग्ध देना। सताना।
कि० प्र० [सं० भोग] भोगना। भोग करना। उ०—(क) राज कि भूख भरतपुर मृष कि त्रिपहि विन राम।—
 तुलसी। (ग) कीर्तिसि राजा भूखहि राखे। कीर्तिसि हनिन धोर निम्ह साखे।—जायसी।
भूजा-संज्ञा पुं० [हि० भूजा] (१) भूजा दुभा अन्न। पचैना। (२) भद्रभूजा।
भूजो-संज्ञा स्त्री० [सं० भू] यह भूमि जो भूमिदार नात्र, बारी, पट्टर या किसी संबंधी को माफ़ी के तौर पर देना है।
भूजिया-संज्ञा पुं० [हि० भूजि = मरु अन्न] यह पचन। जो भोजन के हलकीमें से रोमी बनाता हो।
भूजो-संज्ञा पुं० दे० “भूज”।
भूजो-संज्ञा पुं० [सं० भू + ज] यह मनुष्य जिसे गौर का पचामी किसी दूसरे फांश से टुटाकर अपने अहाँ बतावे

और उसे निर्वाह के लिये कुछ साफ़ी खमीन दे।

भूरो-संज्ञा पुं० [सं० भ्रमर] भ्रमर । और । (हिं०)

भूसना-किं० प्र० दे० "भूकना" ।

भू-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी ।

यौ०—भूपति । भूसुर ।

(२) स्थान । जगह । जमीन । (३) सीता जी की एक सखी

का नाम । (४) सत्ता । (५) भासि । (६) यज्ञ की अग्नि ।

संज्ञा पुं० रसातल ।

संज्ञा स्त्री० [सं० भू] भौह । उ०—कीर नासा ह्रद् भव

भू, भँवर सी अलकायली । अथर विद्रुम वक्रकन वाहिम

किर्धौ दशनायली ।—मूर ।

भूआ-संज्ञा पुं० [हिं० पूआ] रूई के समान हलकी और मुलायम

वस्तु का बहुत छोटा टुकड़ा । जैसे,—सेमर का भूआ ।

भूकंद-संज्ञा पुं० [सं०] जमीकंद । सूरन । ओल ।

भूकंप-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी के ऊपरी भाग का सहसा कुछ

प्राकृतिक कारणों से हिल उठना । भूचाल । भूदोल ।

जुलजुला ।

विशेष—यद्यपि पृथ्वी का ऊपरी भाग बिल्कुल ठंडा हो गया

है, तथापि इसके गर्भ में अभी बहुत अधिक आग तथा

गरमी है । यह आग वा गरमी कई रूपों में प्रकट होती है,

जिनमें से एक रूप ज्वालामुखी पर्वत भी है । जब कुछ

विशेष कारणों से भूगर्भ की यह अग्नि विशेष प्रज्वलित

अथवा सीतल होती है, तब भूगर्भ में अनेक प्रकार के परि-

वर्तन होते हैं जिनके कारण पृथ्वी का ऊपरी भाग भी हिलने

या कर्पने लगना है । इसी को भूकंप कहते हैं । कभी तो इस

कंप का मान इतना सूक्ष्म होता है कि साधारणतः हम लोगों

को बिना धँधँ की सहायता के उसका ज्ञान भी नहीं होता,

और कभी इतना भीषण होता है कि उसके कारण पृथ्वी में

बड़ी बड़ी दरारें पड़ जाती हैं, बड़ी बड़ी इमारतें गिर जाती

हैं और यहाँ तक कि कभी कभी जल के स्थान में स्थल और

स्थल के स्थान में जल हो जाता है । कुछ भूकंपों का विस्तार

तो दस बीस मील तक हो जाता है और कुछ का सैकड़ों

हजारों मील तक । कभी तो एक ही दो सेकेंड में दो बार

बार पृथ्वी हिलने के बाद भूकंप एक जाता है और कभी

लगभग मिनटों तक रहता है । कभी कभी तो यह रहकर

लगभग सप्ताहों और महीनों तक पृथ्वी हिलती रहती है ।

भूकंप से कभी कभी सैकड़ों हजारों मनुष्यों के प्राण तक

ख़दे जाते हैं, और लाखों करोड़ों की संपत्ति का नाश हो

जाता है । जिन देशों में ज्वालामुखी पर्वत अधिक होते हैं,

उन्हीं में भूकंप भी अधिक होते हैं । भूस्थलशास्त्र, प्रसृत

महासागर के तट, ईस्ट इंडीय टापुओं में प्रायः भूकंप हुआ

कहते हैं, और उत्तरी अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी भाग, अफ़्रीका

अमेरिका के पूर्वी भाग, एशिया के उत्तरी भाग और अफ़्रीका

के बहुत बड़े भाग में बहुत कम भूकंप होता है । तब

अतिरिक्त जल में भी भूकंप होता है जिसका रूप कभी कभी

बहुत भीषण होता है । हिंदुओं में से बहुतों का विश्वास है

कि पृथ्वी को उठानेवाले दिग्गजों अथवा शेषनाग के सिर

हिलाने से भूकंप होता है ।

किं० प्र०—भाना—होना ।

भूक-संज्ञा स्त्री० दे० "भूख" ।

भूकना-किं० प्र० दे० "भूकना" ।

भूकपिथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कैथ

भूकुर्युदारक-संज्ञा पुं० [सं०] लिखोड़ा ।

भूकुर्युप-संज्ञा पुं० [सं०] वसुदेव ।

भूकान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का छोटा पंक वा गा

(२) बीछा कचरा । (३) क्रीच पक्षी ।

भूकुम्भांडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुई कुम्हार ।

भूकेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवार । (२) बट हार, जिसका

जटाएँ जमीन पर छटकती रहती हैं ।

भूकेशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] राक्षसी ।

भूकेशी-संज्ञा पुं० [सं०] सोमराज नामक वृक्ष ।

भूजिन्-संज्ञा पुं० [सं०] सुअर ।

भूज-संज्ञा स्त्री० [सं० भुज] (१) वह तारीरिक वेग जिससे

भोजन की इच्छा होती है । खाने की इच्छा । भुजा ।

यौ०—भूज व्यास ।

मुहा०—भूज मरना = भूज लगने पर अधिक समय तक भोजन

न मिलने के कारण उस्ता नैट हो जाना । पेट में अन्न

होने पर भी भोजन की इच्छा न रह जाना । भूज लगना =

भोजन की इच्छा होना । खाने की जो चाहना । भूकी मरना

भूज लगने पर भोजन न मिलने के कारण कष्ट-उठाना या मरने

(२) भावदयकता । अस्त । (व्यापारी) जैसे,—भूज

इस सौदे की भूज नहीं है । (३) समाई । गुंथान

(क०) (४) कामना । अभिलाषा । उ०—भूज कंती का

बई जिय में पिय की भूज ।—केशव ।

भूजण, भूजन-संज्ञा पुं० दे० "भूषण" ।

भूजना-किं० सं० [सं० भूषण] भूषित करना । भूषण

करना । समाना । उ०—(क) लातन की बरसीत की

को उदित है भूरिबे को भंग भूषि भूषन न रावने ।—

रघुनाथ । (ख) है तेहि काज अमूषन अंत में हीरा निगा

के भूषन भूषे ।—रघुनाथ । (ग) भूषन भूषे ज्ञान

पहिरि करिवा रंगि सौरभ मीली ।—गोकुल ।

भूजरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० भूज] (१) भूज । भुजा । (२)

हथ्था । कवाहिरा ।

भूजा-वि० पुं० [हिं० भूज + भा (लण०)] [सं० भूजी] (१)

जिसे भोजन की प्रथम इच्छा हो । जिसे भूख लगी हो ।
क्षुधित ।

मुहा०—भूखा रहना = निराहार रहना । भोजन न करना ।

भूखे प्यासे = बिना खाए पिए । बिना अन्न जल ग्रहण किए ।

(२) जिसे किसी बात की इच्छा या चाह हो । चाहनेवाला ।

इच्छुक । जैसे,—हम तो प्रेम के भूखे हैं । उ०—दानि जो

चारि पदारथ को प्रियुरारि तिहूँ पुर में सिर टीको । भोरो

भलो भले भाव को भूखे भलोई कियो सुमिरे तुलसी को ।—

तुलसी । (३) जिसके पास खाने तक की न हो । दरिद्र ।

यौ०—भूखा गंगा ।

भूगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] सुरा नामक गंध द्रव्य ।

भूगर्द—संज्ञा पुं० [सं०] विष । जहर ।

भूगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वी का भीतरी भाग । (२) विष्णु ।

भूगर्भग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] तहखाना । तलघर ।

भूगर्भशास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसके द्वारा इस बात का ज्ञान होता है कि पृथ्वी का संघटन किस प्रकार हुआ है, उसके ऊपरी और भीतरी भाग किन किन तत्वों के बने हैं, उसका आंतरिक रूप क्या था और उसका वर्तमान विकसित रूप किस प्रकार और किन कारणों से हुआ है । इसमें पृथ्वी की आविर्भाव अवस्था से लेकर अब तक का एक प्रकार का इतिहास होता है जो कई युगों में विभक्त होता है और जिनमें से प्रत्येक युग की कुछ विशेषताओं का विवेचन होता है । बड़ी बड़ी चट्टानों, पहाड़ों तथा मैदानों के मिला मिल तत्वों की परीक्षा इसके अंतर्गत होती है, और इसी परीक्षा के द्वारा यह निश्चित होता है कि कौन सा स्तर या भूभाग किस युग का बना है । इस शास्त्र में इस बात का भी विवेचन होता है कि पृथ्वी पर जल-वायु और वातावरण आदि का क्या प्रभाव पड़ता है ।

भूगोल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वी । (२) यह शास्त्र जिसके द्वारा पृथ्वी के ऊपरी स्वरूप और उसके प्राकृतिक विभागों आदि (जैसे पहाड़, मरुदेश, देग, नगर, नदी, समुद्र, झील, वनस्पति, उष्णकट, अल्पकट, वन आदि) का ज्ञान होना है ।

विशेष—विद्वानों ने भूगोल के नाम मुख्य विभाग किए हैं ।

पहले विभाग में पृथ्वी का सौर जगत् के अन्यत्र ग्रहों

और उपग्रहों आदि से संबंध बताया जाता है और उन

संबंधों से उसके ताप-वैद्युत संबंध का वर्णन होता है ।

इस विभाग का बहुत कुछ संबंध गणितीय ज्ञान से भी

है । दूसरे विभाग में पृथ्वी के भौतिक रूप का वर्णन होता

है और उसमें यह जाना जाता है कि नदी, पहाड़, देग,

नगर आदि कैसे बने हैं और अमुक देश, नगर, नदी या

पहाड़ आदि कहाँ हैं । साधारणतः भूगोल से उसके इसी विभाग का अर्थ लिया जाता है । भूगोल का तीसरा विभाग राजनीतिक होता है और उसमें इस बात का विवेचन होता है कि राजनीति, शासन, भाषा, जाति और सम्प्रदाय आदि के विचार से पृथ्वी के कौन कौन विभाग हैं और उन विभागों का विस्तार और सीमा आदि क्या है ।

(३) वह ग्रंथ जिसमें पृथ्वी के ऊपरी स्वरूप और प्राकृतिक विभागों आदि का वर्णन होता है ।

भूचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वी की परिधि । (२) विपुलरेखा ।

(३) भवनचक्र । (४) कतिचक्र ।

भूचर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । महादेव । (२) क्षीमक ।

(३) वह जो पृथ्वी पर रहता हो । भूमि पर रहनेवाला

प्राणी । (४) तंत्र के अनुसार एक प्रकार की सिद्धि । कहते

हैं कि यह सिद्धि प्राप्त हो जाने पर मनुष्य के लिये न तो

कोई स्थान अगम्य रह जाता है, न कोई पदार्थ अप्राप्य रह

जाता है और न कोई बात अप्रत्यक्ष रह जाती है ।

भूचरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] योग शास्त्रानुसार समाधि, भंग की

एक मुद्रा जिसका निवास नाक में है और जिसके द्वारा

प्राण और अपान वायु दोनों एकत्र हो जाती हैं । उ०—

दुसरी मुद्रा भूचरी नामा जासु निवास । प्राण अपान शरी

शुद्धि करि देव एक पास ।—विद्यास ।

भूचाल—संज्ञा पुं० [सं०] भूचलन = पतन । भूचल ।

भूजंतु—संज्ञा पुं० [सं०] सीसा ।

भूजंतु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गेहूँ । (२) वन जासुन ।

भूदान—संज्ञा पुं० [सं०] हिमाद्रय का एक प्रदेश जो मेवाड़ के

पूर्व और आसाम के उत्तर में है । इस देश के निवासी

बहुत बलवान् और साहसी होते हैं और घोड़े बहुत

प्रसिद्ध हैं ।

भूदानी—वि० [सं०] भूदान + ई (पठ०) । भूदान देना का । भूदान

मंत्रेण ।

संज्ञा पुं० (१) भूदान देना का निवासी । (२) भूदान

देना का घोड़ा ।

संज्ञा स्त्री० भूदान देना की भाषा ।

भूटिया यादाम—संज्ञा पुं० [सं०] भूटान + यादाम = यदाम एक पहाड़ी

क्षेत्र जिसे करासी भी कहते हैं । पर्वत हज़ार से ऊंचे दस

हज़ार फुट तक की ऊँचाई तक पहाड़ों पर यह क्षेप होता

है । यह मस्केन आकार का होता है । इसकी एकड़ी

मनुष्य और रंगूम शुष्क होती है, जिसमें दल, पुष्पी

आदि चीजें बनाई जाती हैं । इस क्षेप का जल गंगा

जाता है ।

भूद—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की भूमि जिसमें बाज

मिर्गा होता होता है । कपूर भूमि । (२) दृष्टि। मोल । तिर ।

भूडोल—संज्ञा पुं० [सं० भू + हि० दाना] भूकंप ।

भूय—संज्ञा पुं० [सं० भ्रमण] (१) जलयात्रा । समुद्री सफर ।

(२) जल-भ्रमण । जल-विहार । (हि०)

भूत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वे मूल द्रव्य जो सृष्टि के मुख्य उप-
करण हैं और जिनकी सहायता से सारी सृष्टि की रचना
हुई है । द्रव्य । महाभूत ।

विशेष—प्राचीन भारतीयों ने सावयव सृष्टि के पाँच मूल भूत
या महाभूत माने हैं जो इस प्रकार हैं—पृथ्वी, वायु, जल,
अग्नि और आकाश । पर आधुनिक वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया
है कि वायु और जल मूल भूत या द्रव्य नहीं हैं, बल्कि कई
मूल भूतों या द्रव्यों के संयोग से बने हैं । पाश्चात्य वैज्ञा-
निकों ने प्रायः ७५ मूल भूत माने हैं जिनमें से पाँच पाण्य,
दो तरल तथा दोष दोष हैं । पर इन समस्त मूल भूतों में
भी एक तत्व ऐसा है जो स्वयं समान रूप से पाया जाता
है, जिससे सिद्ध होता है कि ये मूल भूत भी वास्तव में
किसी एक ही भूत के रूपांतर हैं । अभी कुछ ऐसे भूतों का
भी पता लगाई जो मूल भूत हो सकते हैं, पर जिनके विषय
में अभी तक पूर्ण रूप से कुछ निश्चय नहीं हुआ है । वि०
दे० “द्रव्य” ।

(२) सृष्टि का कोई जड़ या चेतन, अचर वा चर पदार्थ
या प्राणी ।

यौ०—भूत-द्रव्य=जड़ और चेतन मन्त्रों के साथ की जाँचवाली द्रव्य ।

(३) प्राणी । जीव । (४) साथ । (५) घृष्ट । (६) कालि-

कंय । (७) योगीन्द्र । (८) वह भीषण जिसके सेवन से प्रेतों

और पिशाचों का उपद्रव शांत होता हो । (९) लोप ।

(१०) कृष्ण पक्ष । (११) पुराणानुसार पीरवी के गर्भ से

उत्पन्न वसुदेव के बारह पुत्रों में से सप्तमे यज्ञे पुत्र का नाम ।

(१२) धीना हुआ समय । गुजरा हुआ जमाना । (१३)

व्याकरण के अनुसार क्रिया के गीग प्रकार के मुख्य कार्यों

में से एक । क्रिया का वह रूप जिससे वह सूचित होता

हो कि क्रिया का व्यापार समाप्त हो चुका । जैसे,—‘मैं गया’

था । पानी बरसा था । (१४) पुराणानुसार एक प्रकार के

पिताच या देव जो रत्न के अनुसार हैं और जिनका गुँद

मोच की ओर लटका हुआ या ऊपर की ओर लटका हुआ

माना जाता है । ये बालकों को पीड़ा देनेवाले प्रद भी बड़े

जाते हैं । (१५) गुप्त चरित्र । शय । (१६) सूत प्राणी की

आत्मा । (१७) वे कल्पित आत्माएँ जिनके विषय में यह

माना जाता है कि वे अनेक प्रकार के उपद्रव करती और

लोगों को बहुत बड़ परेशानी हैं । प्रेत । जिन । प्रेतान ।

विशेष—भूतों और प्रेतों आदि की कल्पना किसी न किसी

रूप में प्रायः सभी जातियों और देशों में पाई जाती है ।

साधारणतः लोग इनके रूपों और व्यासों आदि के संबंध

में अनेक प्रकार की विपक्षग कल्पनाएँ कर लेते हैं और
इनके उपद्रव आदि से बहुत डरते हैं । अनेक भयंकर तत्त्व
इनके उपद्रवों से बचने तथा इन्हें प्रसन्न करने के लिये
अनेक प्रकार के उपाय भी किये जाते हैं । साधारणतः यह माना
जाता है कि मृत प्राणियों की जिन आत्माओं को मुक्ति नहीं
मिलती, वही आत्माएँ चारों ओर घूमी करती हैं और समय
समय पर उपद्रव आदि करके लोगों को कष्ट पहुँचाती हैं ।
इनका विचाराण काठ रात और निवास स्थान चुनते या
भीषण वन आदि माना जाता है । यह भी कहा जाता है
कि ये भूत कभी कभी किसी के सिर पर, विशेषतः खिणों के
सिर पर, आ चढ़ते हैं और उनसे उपद्रव तथा बकवास
कराते हैं ।

कि० प्र०—उतरना ।—उतारना ।—चढ़ना ।—साढ़ना ।—
लगना ।

मुहा०—(किसी बात का) भूत चढ़ना या सवार होना =
(किसी बात के लिये) बहुत अधिक साग्रह ना हठ होना ।
जैसे,—तुम्हें तो हर एक बात का इसी तरह भूत चढ़
जाता है । भूत चढ़ना या सवार होना = बहुत अधिक क्रोध
होना । झुपिन होना । जैसे,—उनसे मत बोली, इस समय
उन पर भूत चढ़ा है ।

विशेष—इन दोनों मुहावरों में “चढ़ना” के स्थान पर “उत-
रना” होने से अर्थ बिल्कुल उलट जाता है ।

मुहा०—भूत बनना = (१) नदी में चूर होना । (२) बहुत

अधिक क्रोध से होना । (३) किसी काम में तमय होना ।

भूत बनकर लगना = पुरी तरह पाछे लगना । किसी तरह

पीछा न छोड़ना । भूत की मिठाई या पकवान = (१) यह

पदार्थ जो अमर न दियाई दे, पर घालव में, जिसका अंश

न हो । (२) लोग कहते हैं कि भूत प्रेत आकर मिठाई ल

जाते हैं, जो देखने में तो मिठाई ही होगी, पर खाते बा

दूने पर मिठाई वहीं रह जाती, शक्, मिट्टी, विष्टा आदि हो

जाती है । (३) राज में भिया हुआ धन जो गीरा ही न

हो जाय । उ०—भूत की मिठाई जैसी साधु की मुद्रा

वैसी स्त्री की मिठाई ऐसी शीशू का हँसू जड़ है ।—केदार ।

वि० (१) गत । खीना हुआ । गुजरा हुआ । जैसे,—मृतपरी ।

भूतकाल । (२) युक्त । मिला हुआ । (३) समान । सरल ।

(४) जो हो चुका हो । हो चुका हुआ । (इन अर्थों में

इसका व्यवहार प्रायः योगिक ग्रन्थों के अंत में होता है ।)

भूतक—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार सुमेध पर के २३ लोगों में

से एक लोक ।

भूतकाल—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की शक्ति जो पंचभूतों

को उपद्रव करनेवाली मानी जाती है ।

भूतकल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता । (२) विष्णु ।

भूतफेनु-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसारं दक्ष सौवर्णि के एक पुत्र का नाम ।

भूतकेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सफेद बूब । (२) ईद्रवारणी । (३) सफेद तुलसी । (४) जटामासी ।

भूतखाना-संज्ञा पुं० [हि० भूत + खाना = घर] बहुल-मैला कुचैला या अँधेरा घर ।

भूतगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुर नामक गंध द्रव्य ।

भूतघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जँट । (२) लहसुन । (३) भोजपत्र का पेड़ ।

वि० भूतों का नाश करनेवाला ।

भूतघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी ।

भूतचतुर्वर्शी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वार्षिक दृष्ट्य चतुर्वर्षी । नरक चौदस । (इस दिन वम की पूजा और तर्पण होता है ।)

भूतचारो-संज्ञा पुं० [सं० भूतचारिण] महादेव ।

भूतजटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामासी ।

भूतवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का वृक्ष । (२) एक प्रकार का गंधद्रव्य ।

भूतत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूत होने का भाव । (२) भूत का धर्म ।

भूतन्यविद्या-संज्ञा स्त्री० दे० "भूतन्यासा" ।

भूतद्राघी-संज्ञा पुं० [सं० भू त्रिभू] लाल रंग ।

भूतघात्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृद्धी ।

भूतधाम-संज्ञा पुं० [सं० भूतधामम्] पुराणानुसार इंद्र के एक पुत्र का नाम ।

भूतनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] तिव ।

भूतनायिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

भूतनाशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुद्राक्ष । (२) सरसों । (३) मिमर्षा ।

भूतपक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] मास का दृष्ट्य पक्ष । अँधेरा घर ।

भूतपनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । (२) बाली तुलसी ।

भूतपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी ।

भूतपाल-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

भूतपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] द्योनाक वृक्ष ।

भूतपूर्णिमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आधिन की पूर्णिमा । श्राद्ध-पूर्णिमा ।

भूतपूर्व-वि० [सं०] पूर्वामे से पहले का । इससे पहले का ।
शब्द—भूतपूर्व मंत्री, भूतपूर्व संपादक ।

भूतमर्ता-संज्ञा पुं० [सं० भू + मर्त] तिव ।

भूतमर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

भूतमायन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । नंहर । (२) विष्णु ।

भूतमात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पितृपिता माता । वि० दे० "पितायी" ।

भूतभृग-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

भूतभय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शैत्य की एक मूर्ति का नाम ।

(२) धैर्यक में एक प्रकार का रस जो हस्ताल और गंधक आदि से बनाया जाता है । इसके सेवन से उषर, दाह, वात-प्रकोप और कुछ आदि का दूर होना माना जाता है ।

भूतमात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पौर्वा तन्माश्राष्ट्र । वि० दे० "तन्मात्र" ।

भूतयक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] गृहस्थ के लिये कर्त्तव्य पंचयज्ञ में से एक यज्ञ । भूतवलि । वलिदेव ।

भूतराज-संज्ञा पुं० [सं०] तिव ।

भूतल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वी का ऊपरी तल । धरातल ।

(२) संसार । दुनिया । जगत् । (३) पाताल ।

भूतलिङ्गा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अक्षयर्ग ।

भूतवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । (२) विष्णु ।

भूतवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव ।

भूतविक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपस्मार रोग ।

भूतविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] आयुर्वेद का यह विभाग जिसमें देवता, असुर, गंधर्व, यक्ष, रिताच, नाग, ग्रह, उपग्रह आदि के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाले मानसिक रोगों का निदान और उपाय होता है । यह उपाय बहुधा प्रद-गानि, पूजा, जप, होम, दान, रस पढ़ने और औषध आदि के सेवन के रूप में होता है ।

भूतविनायक-संज्ञा पुं० [सं०] तिव ।

भूतवृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] द्योनाक ।

भूतवेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्गुडी ।

भूतशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्रियों के अनुसार शरीर की यह शुद्धि जो पूजन आदि से पहले की जाती है और जिससे बिना किए पूजा का अधिकार नहीं होता । भिन्न भिन्न तंत्रों में इस शुद्धि के भिन्न भिन्न विधान दिए गए हैं । इसमें कई प्रकार के जप और मंत्रपाठ आदि करने पड़ते हैं ।

भूतसंचार-संज्ञा पुं० [सं०] भूतोन्माद नामक रोग ।

भूतसंताप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार पुरु दानव का नाम ।

भूतसंसय-संज्ञा पुं० [सं०] प्रलय ।

भूतभिद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रियों के अनुसार यह जन्मने भूत-मेव आदि की मित्र और शत्रु में कर लिया हो ।

भूतसूदम-संज्ञा पुं० दे० "तन्मात्र" ।

भूतहंसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मोठी बूब । (२) बलि कछुई ।

भूतहन्त-संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र का वृक्ष ।

भूतहर-संज्ञा पुं० [सं०] गुरुगुरु ।

भूतहारी-संज्ञा पुं० [सं० भूतहारी] (१) देवदार । (२) काल करनेर ।

भूतहाम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात जिसमें हृदयों अर्थात् हृदय नहीं बढ़ती, सोती रुकने पड़ना पड़ता है और उमे पड़ने हँसी माली है ।

भूतकुश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कवच कवि । (२) गावट्टाज ।

भूतांकुश रस-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जिसमें पारा, लोहा, लौघा, मोती, हस्ताल, गंधक, मैनसिल, रसाग्रन आदि पदार्थ पड़ते हैं। इससे भूतोन्माद आदि अनेक रोग दूर होते हैं।

भूतांतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यम। (२) क्रूर।

भूता-संज्ञा स्त्री० [सं०] कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि।

भूताक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

भूतात्मा-संज्ञा पुं० [सं० भूतात्मन्] (१) शरीर। (२) परमेश्वर। (३) शिव। (४) विष्णु। (५) जीवात्मा। (६) बुद्ध।

भूताधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

भूताधि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमेश्वर। (२) सांख्य के अनुसार अहंकार तत्व जिससे पंचभूतों की उत्पत्ति होती है।

भूतायन-संज्ञा पुं० [सं०] नारायण। परमेश्वर।

भूतारि-संज्ञा पुं० [सं०] हाँग।

भूतावास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संसार। दुनिया। (२) शरीर। देह। (३) बहेदे का कूड़ा। (४) विष्णु।

भूताधि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिसे भूत या पिशाच लगा हो। (२) जो भूतों आदि के प्रभाव से रोगी हुआ हो।

भूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैभव। धनसंपत्ति। राज्यश्री। उ०—धर्मनीति उपदेशिय ताही। कीर्ति भूति सुगति मिय जाही।—मुलसी। (२) भस्म। राख। उ०—अब अंग भूति मसान की सुमिरत सोहावनि पावनी।—मुलसी। (३) उत्पत्ति। (४) बुद्धि। अधिकता। (५) अणिमा आदि भाद प्रकार की सिद्धियाँ। (६) हाथी का मस्तक रँग कर उसका शृंगार करना। (७) पुराणानुसार एक प्रकार के पितृ। (८) लक्ष्मी। (९) बुद्धि नाम की ओपधि। (१०) भूतृण। (११) सत्ता। (१२) पकाया हुआ मांस। (१३) विष्णु। (१४) रूखा घास।

भूतिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कृत्तल। (२) अन्नवायन। (३) चंदन। (४) भूतिव। चिरायता। (५) रूखा घास।

भूतिधाम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा का मंत्री। (२) हृदयपति। वि० जिसे देवर्ष की कामना हो। विभूति की अभिलाषा रखनेवाला।

भूतिहन्-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

भूतितीर्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] कालिंदेय की एक मान्वा का नाम।

भूतिद-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

भूतिदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा।

भूतिनि-संज्ञा स्त्री० दे० "भूतिनी"।

भूतिनिधान-संज्ञा पुं० [सं०] चन्द्रिका नक्षत्र।

भूतिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूत योनि में प्राप्त स्त्री। भूत की स्त्री। (२) साकिनी, प्राकृती श्वादि।

भूतियुक्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार कर्मवृत्त के पूरे देश का नाम। (२) इस देश का निवासी।

भूतिलय-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक तीर्थराज्य।

भूतिवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

भूती-संज्ञा पुं० [सं०] भूत + ई (प्रत्यय)। भूतपूजक।

भूतीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिरायता। (२) अन्नवायन। (३) भूतृण। (४) कष्ट।

भूतीवानो-संज्ञा स्त्री० [सं०] विभूति। भस्म। राख। (वि०)

भूतृण-संज्ञा पुं० [सं०] रूखा घास जिसका सेह बनता है।

वैद्यक में इसे कटु और तिक्त तथा विष-शोषनात्मक माना है।

पथ्यां—रोहिण्य। भूति। कुटुंबक। मालागुन। छत्र। अति-छत्रक। सुगंध। अतिगंध। चपिर। कर्दुक।

भूतेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमेश्वर। (२) शिव। (३) कालिंदेय।

भूतेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। (२) एक तीर्थ का नाम।

भूतेष्ट-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी। (२) आश्विन कृष्ण चतुर्दशी।

भूतोन्माद-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार यह उन्माद रोग जो भूतों या पिशाचों के आक्रमण के कारण हो।

भूत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] सोना।

भूदार-संज्ञा पुं० [सं०] सूक्ष्म।

भूदारक-संज्ञा पुं० [सं०] दूर। वीर।

भूदेय, भूदेयता-संज्ञा पुं० [सं०] दान।

भूधन-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

भूधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहाड़। (२) शेषनाग। (३) विष्णु। (४) राजा। (५) पहाड़ अथवा। (६) वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का संज्ञ जिसमें किसी पात्र में पारा, लोहा, मिट्टीसे उस पात्र का मुँह बंद करके उसे आग में पकाते हैं।

भूपरेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] परवर्ती का राजा, दिगम्बर।

भूधारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुंदर और बाल।

भूध-संज्ञा पुं० [सं०] परवर्त। पहाड़।

भूध-संज्ञा पुं० [सं०] भूध + गन्ध का घण्टा।

भूतना-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूति। (२) भूति में आनंद पड़ाना।

आग पर हथकर पड़ाना। धीरे,—वापड़ भूतना। (३)

गम वाद में दाखल पड़ाना। धीरे,—चला भूतना।

(३) घर में या तेक आदि में दाखल पुष्ट देर तक पड़ाना जिससे उनमें सौंवापन आ जाय। तबना।

संयो० क्रि०—दाखल।—देना।

(४) बहुत अधिक कष्ट देना। लक्ष्मीक पड़ाना।

भूतिव-संज्ञा पुं० [सं०] चिरायता।

भूतीव-संज्ञा पुं० [सं०] भूतिकर्षक।

भूतेता-संज्ञा पुं० [सं०] भूते। राजा।

भूत-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

भूपग-संज्ञा पुं० [सं० भू] राजा । (हिं०)

भूपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा । (२) हनुमत के मत से एक एक राग जो मेघ राग का पुत्र माना जाता है । (३) बटुक भैरव ।

भूपद-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष । पेड़ ।

भूपदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मछिका । चमेली ।

भूपरा-संज्ञा पुं० [सं० भू] सूर्य । (हिं०)

भूपलाश-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वृक्ष ।

भूपवित्र-संज्ञा पुं० [सं०] गोबर ।

भूपाल-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

भूपाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी जिसके विषय में आचार्यों में बहुत मतभेद है । कुछ लोग इसे हिंडोल राग की रागिनी और कुछ मालकोश की पुत्रपथ मानते हैं । कुछ का यह भी मत है कि यह संकर रागिनी है और कल्याण, गौड़ तथा विलावल के मेल से बनी है । कुछ लोग इसे संपूर्ण जाति की और कुछ ओदय जाति की मानते हैं । यह हास्य रस की रागिनी मानी जाती है; पर कुछ लोग इसे धार्मिक उल्लासों पर गाने के लिये उपयुक्त बतलाते हैं । इसके गाने का समय रात को ६ बजे से १० बजे तक कहा गया है । इसका स्वरप्राम इस प्रकार है—सा, ग, म, ध, नि, सा । अथवा—रि, ध, सा, रि, ग, म, प ।

भूपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंगल ग्रह । (२) नरकासुर नामक राक्षस ।

भूपुत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] जानकी । सीता ।

भूपकप-संज्ञा पुं० [सं०] भूकंप ।

भूपल-संज्ञा पुं० [सं०] हरा भूग ।

भूपदरी-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा पेड़ ।

भूपल-संज्ञा स्त्री० [सं० भू + ल + क्तृ० ?] गर्म राग या धूल । गर्म रेत । तपूरी ।

भूपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

भूपुरि-संज्ञा स्त्री० [सं० भू + पुरि] भूपल । तपूरी । गर्म रेत ।

ड०—(क) पोटि पसेर बगारि बरीं अरु पायें बगारिहीं भुगुरि लाई ।—गुलसी । (ग) जायहु बिनी दुपहरी में बलि जाई । भुईं भुगुरि कम धरिही बीजक पाई ।—प्रताप-माराण ।

भूपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा । (२) पहाड़ ।

भूमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी ।

भूम-गंगा पुं० [सं०] पृथ्वी ।

भूमय-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य की पत्नी, छाया ।

भूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी । जमीन । वि० दे० “पृथ्वी” ।

मुद्रा०—भूमि होना है पृथ्वी पर मित्र पदक । ड०—बीरभूति तब भूमि भरो नू ।—हेतु ।

(२) स्थान । जगह ।

यौ०—जन्मभूमि ।

(३) आधार । जड़ । सुनियाद । (४) देना । प्रदेन । मोत । जैसे,—आर्यभूमि । (५) योगशास्त्र के अनुसार ये अवस्थाएँ जो क्रम क्रम से योगी को प्राप्त होती हैं और जिनको पार करके वह पूर्ण योगी होता है । (६) जीम । (७) क्षेत्र ।

भूमिकंदली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता ।

भूमिकप-संज्ञा पुं० [सं०] भूकंप । भूडोल ।

भूमिकदंय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कदम जो घघक में कटु, उष्ण, मृदय और पित्त तथा वीर्यघर्षक माना जाता है ।

भूमिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रचना । (२) भेस बदलना ।

(३) वाक्य के संबंध में पहले की हुई सूचना । (४) किसी ग्रंथ के आरंभ की यह सूचना जिसमें उस ग्रंथ के संबंध की आवश्यक और ज्ञातव्य बातों का पता चले । मुख्य । दीवाया । (५) वेदान्त के अनुसार चित्त की पाँच अवस्थाएँ जिनके नाम ये हैं—क्षिप्त, सूक्ष्म, विक्रिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ।

चिद्यो—जिस समय मन चंचल रहता है, उस समय उसकी अवस्था क्षिप्त; जिस समय वह काम, क्रोध आदि के पशो-भूत रहता है और उस पर तम या अज्ञान छाया रहता है, उस समय सूक्ष्म; जिस समय मन चंचल होने पर भी वीर्य वीर्य में कुछ समय के लिये स्थिर होता है, उस समय विक्रिप्त; जिस क्षण मन बिल्कुल निश्चल होकर किसी एक वस्तु पर जम जाता है, उस समय एकाग्र; और जिस समय मन किसी आधार की अपेक्षा में शरकर स्वतः बिल्कुल शान्त रहता है, उस समय निरुद्ध अवस्था बहलती है ।

संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] पृथ्वी । जमीन । ड०—रसा अनंता भूमिका तिलाह्ला कह जाहि ।—नंददास ।

भूमिकुप्पाट-संज्ञा पुं० [सं०] गरमी के दिनों में होनेवाला बुढ़ड़ा जो जमीन पर होता है । भुईं-बुढ़ड़ा ।

भूमिखलुर्जो-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की छोटी चमुर ।

भूमिगम-संज्ञा पुं० [सं०] कैंटा ।

भूमिगृह-संज्ञा पुं० [सं०] महाराना ।

भूमिचंपक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का फूलराखा पीछा जो भारत, बर्मा, मंडा, जावा आदि में प्रायः होता है । इसके लंबे लंबे पत्ते बहुत ही सुंदर और पूरक बहुत सुगंधित होते हैं; और इसी लिये यह प्रायः बगीचों में लगाया जाता है । इसकी छाल, पत्ते और जड़ आदि का अनेक रोगों में औषधि के रूप में प्रयोग होता है । इसकी जड़ पीचकर कोड़े पर लगाये से यह बहुत जल्दी पक जाता है । छाल का पूर्ण प्रायः पात्र भरने में उपयोगी होता है । भुईंचंरा ।

भूमिचंग-संज्ञा पुं० [सं०] चूने ।

भूमिजंतु-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा जामुन ।

भूलक-संज्ञा पुं० [हि० भू + क (प्रत्यय)] भूल करनेवाला ।
जिससे भूल होती हो ।

भूलना-कि० सं० [सं० विहृत ?] (१) विस्मरण करना । याद न
रहना । ध्यान न रखना । जैसे,—(क) आप तो बहुत सी
यातें यों ही भूल जाते हैं । (ख) कल रात को छोटते समय
मैं रास्ता भूल गया था । (२) गलती करना । (३) छो
देना । गुम कर देना ।

कि० प्र० (१) विस्मृत होना । याद न रहना । जैसे,—
अब वह बात भूल गये । (२) चूकना । गलती होना । (३)
छोले में भाना । जैसे,—आप उनकी बातों में मत मूछिए ।
(४) भुलकर हाना । भासक होना । छुभाना । (५) घमंड
में होना । इतराना । जैसे,—आप १०० का नौटंकी पर हाँ
भूले हुए हैं । (६) गुम होना । खो जाना । उ०—जैस
चौद गोहन सब तारा । पयो मुलाय देखि उँजियाता ।—
जायसी ।

वि० जिसे स्मरण न रहता हो । भूलनेवाला । जैसे,—भूलना
स्वभाव । भूलना आदर्मी ।

भूलभुलैयाँ-संज्ञा स्त्री० [हि० भूल + भुलाना + गेहा (प्रत्यय)] (१)
वह घुमावदार और चारों ओर डालनेवाली इमारत जिसमें
एक ही तरह के बहुत से रास्ते और बहुत से दरवाजे भादि
होते हैं और जिसमें जाकर आदर्मी इस प्रकार भूल जाता
है कि फिर बाहर नहीं निकल सकता । (२) चक्रान्तर । (३)
बहुत घुमाव-फिराव की बात या घटना । बहुत चारों ओर
और पेचीली बात ।

भूलोक-संज्ञा पुं० [सं०] मल्लोक्त । भूतल । संसार । जगत् ।
भूलोदन-वि० [हि० भू + लोदना] पृथ्वी पर लोटनेवाला ।

भूयस-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

भूया-संज्ञा पुं० [हि० भूय] (१) रुई । उ०—सँवर सेव न चेत
कर सूया । पुनि पठतास भंत ही भूया ।—जायसी ।
वि० रुई के समान उकला । सफेद । उ०—जैवर गये
केसादि है भूया । जीवन गयो जीत छे जूया ।—जायसी ।
संज्ञा स्त्री० दे० “भूमा” उ०—अंगद बहनि लगी बाकी
भूया पाँच तारों देवो विष मारो फेरि लुही पग छिये हैं ।
—मिर्च ।

भूयालु-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी पर की हवा । वायु । पवन ।
भूवारि-संज्ञा पुं० [हि०] वह प्यान जहाँ हाथी चरकर रहते
या बधि जाते हैं ।

भुविद्या-संज्ञा स्त्री० दे० “भूगर्भशास्त्र” ।

भूय-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

भूय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) नैबला, गोप भादि
विष् में रहनेवाले तानात्र । वैदिक में इस धर्म के अनुओं

का मांस गुरु, उष्ण, मधुर, त्रिगुण, वायुनाशक और कु-
वर्धक माना जाता है ।

भूय-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दायन करने की शक्ति । (२)
शक्ति पर सोना ।

भूयकरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कंद ।

भूयायो-वि० [सं० भूयान्] (१) पृथ्वी पर सोनेवाला । (२)
पृथ्वी पर गिरा हुआ । (३) मृतक । मरा हुआ ।

भूय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अलंकार । गहना । जेवर । (२) वह
जिससे किसी चीज का मोमा घटती हो । जैसे,—आप
अपने कुल के भूय हैं । (३) विष्णु ।

भूय-संज्ञा स्त्री० [सं०] भूय का भाव या धर्म ।

भूय-संज्ञा पुं० दे० “भूयण” ।

भूय-संज्ञा-कि० सं० [सं० भूय] भूयित करना । अलंकृत करना ।
सजाना । उ०—अथ पराग जलन भरि नके । राशि भूय
अदि लोभ भरी के ।—मुलसी ।

भूया-संज्ञा पुं० [सं० भूय] (१) गहना । जेवर । (२) अलंकृत
करने की क्रिया । सजाने की क्रिया ।

यौ०—वेप-भूया ।

भूयित-वि० [सं०] (१) गहना पहने हुआ । अलंकृत । (२)
सजाया हुआ । सँवारा हुआ । सजित । उ०—राम मणि
भूयित त्रिज जगती । मुनिहृदि मुजंन सरादि मुवानी ।
—मुलसी ।

भूय-वि० [सं०] भूयित करने के योग्य । अलंकार पहनने वा
सजाने के योग्य ।

भूय-संज्ञा पुं० [सं०] वह करनेवाले पहले भूमि को परिष्कृत
करने, मापने, रेखाएँ खींचने भादि की क्रियाएँ । भूमि का
वह संस्कार जो यश से पहले दिया जाता है ।

भूय-संज्ञा पुं० दे० “भूया” ।

भूय-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता । श्वान ।

भूय-संज्ञा पुं० दे० “भूयण” ।

भूय-संज्ञा पुं० [हि० भूय] कुत्तों का नाम करना । भूयना ।

भूय-संज्ञा-कि० प्र० [हि० भूय] कुत्तों का बोलना । भूयना ।

भूय-संज्ञा पुं० [सं० भूय] (१) गेहूँ, जो भादि की बालों का
महीन और दुकंदे दुकंदे किया हुआ एकका दो पसुओं
और विशेषतः गौओं, भैंसों को खिलाया जाता है । भूय । भूय ।

भूय-संज्ञा स्त्री० [सं० भूय] (१) भूय । (२) किसी प्रकार के
अन्न या दाने के ऊपर का छिलका । जैसे,—कैलासी की भूय ।

भूय-संज्ञा पुं० [हि० भूय + द] एक प्रकार का धान जो
अगहन के महीने में पैदा होता है और जिसका धान
सालों रह सकता है ।

भूय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूध । दूध । पीया । (२) मंगल
धर । (३) भगवान्मुर ।

वि० जो पृथ्वी से उत्पन्न हो ।
 भृमुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता ।
 भृसुर-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी के देवता, माहात्म्य ।
 भृस्वृण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की घास । खड़ी । घटियारी ।
 भृष्य-संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य ।
 भृस्वर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] सुमेरु पर्वत ।
 भृंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भैंस । (२) एक प्रकार का कीड़ा, जिसे बिलनी भी कहते हैं । इसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि यह किसी कीड़े के ढोले को पकड़कर ले आता है और उसे मिट्टी से ढक देता है; और उस पर बैठकर और ढंक मार मारकर इतनी देर तक और इतने जोर से "भिन्न भिन्न" शब्द करता है कि वह कीड़ा भी इसी की तरह हो जाता है । उ०—(क) भइ प्रति कीट भृंग की नाई । जई तई में देते रघुराई ।—सुलसी । (ख) कीट भृंग ऐसे उर अंतर । मन स्वरूप करि देन निरंतर ।—लघुल ।
 भृंगक-संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज परी ।
 भृंगज-संज्ञा पुं० [सं०] भगव ।
 भृंगजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] भारंगी ।
 भृंगप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी रत्ना ।
 भृंगयंशु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छंद का पेड़ । (२) कदम का पेड़ ।
 भृंगमोही-संज्ञा पुं० [सं०] भृंगमोहिनी । (१) चंपा । (२) कनकचंपा ।
 भृंगराज-संज्ञा पुं० दे० "भृंगराज" ।
 भृंगराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भैंस नामक पशुवृत्ति । भैंसदेवा । घमरा । (२) काले रंग का एक प्रसिद्ध परी जो प्रायः सारे भारत, बामा, चीन आदि देशों में पाया जाता है । भीम-राज । वि० दे० "भीमराज" ।
 भृंगराजघृत-संज्ञा पुं० [सं०] घृतक में एक प्रकार का घृत जो माधवारण घी में भैंसदेवा का रस मिलाकर बनाया जाता है । कहते हैं कि इसकी नाम लेने से सर्पदं बाल बाले हो जाते हैं ।
 भृंगरीट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव के द्वारपाल । (२) स्त्रोहा ।
 भृंगवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] भूमि बन्धु ।
 भृंगामोष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] काम का वृक्ष ।
 भृंगार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लींग । (२) सोना । रजजं । (३) सोने का बना हुआ सल पीने का पात्र । (४) जल भरकर अभिषेक करने की क्षात्री ।
 भृंगारि-संज्ञा स्त्री० [सं०] देवदा ।
 भृंगारिषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिवी नामक कीड़ा ।
 भृंगार्क-संज्ञा पुं० [सं०] भैंसदेवा ।
 भृंगी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव जी का एक पारिवर्त का नाम । (२) बंद का पेड़ ।
 भृंग स्त्री० [सं०] (१) भैंस । (२) बिलनी नामक कीड़ा

जो और कीड़ों को भी अपने समान रूपवाला बना लेता है । (३) अतिविषा । अतीस । (४) भांग ।

भृंगीफल-संज्ञा पुं० [सं०] अमड़ा ।
 भृंगीश-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।
 भृंगेष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घीकुमार । (२) भारंगी । (३) युवती स्त्री ।

भृङ्गु-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री का वेश धारण करनेवाला नट ।
 भृङ्गुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भैंस ।
 भृङ्गु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध मुनि जो शिव के पुत्र माने जाते हैं । प्रसिद्ध है कि इन्होंने बिष्णु की छाती में लाल मारी थी । इन्हीं के वंश में परशुरामजी हुए थे । कहते हैं कि इन्हीं भृङ्गु और भंगिरा तथा कनि से सारे संसार के मनुष्यों की सृष्टि हुई है । ये सप्तर्षियों में से एक माने जाते हैं । इनकी उत्पत्ति के विषय में मद्राभारत में लिखा है कि एक बार सूर ने एक बड़ा यज्ञ किया था, जिसे देवाने के लिये बहुत से देवता, उनकी कन्याएँ तथा क्षत्रियों आदि भाई थीं । जब मद्रा उस यज्ञ में आहुति देने लगे, तब देवकन्याओं आदि की देखकर उनका वीर्य स्तब्ध हो गया । सूर्य ने अपनी क्षत्रियों से यह वीर्य सोंपकर अग्नि में डाल दिया । उसी वीर्य से अग्निशिक्षा में से भृङ्गु की उत्पत्ति हुई थी । (२) परशुराम । (३) शुक्राचार्य । (४) शुक्राचार्य का दिन । (५) शिव । (६) जन्मदिन । (७) पहाड़ का ऐसा किनारा जहाँ से मिलने पर मनुष्य बिलकुल नीचे आ जाय, बीच में यहाँ रुक न सके ।

भृङ्गुक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार धर्मपक्ष के एक देवता नाम ।
 भृङ्गुकव्यू-संज्ञा पुं० [सं०] आधुनिक भद्रीय जो प्राचीन बाल में एक प्रसिद्ध तीर्थ था ।

भृङ्गुज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भृङ्ग के वंशज । भारंग । (२) शुक्राचार्य ।

भृङ्गुतुंग-संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय की एक छोटी बर नाम । यह एक पवित्र तीर्थ स्थान माना जाता है ।

भृङ्गुन्द, भृङ्गुन्दन-संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम ।

भृङ्गुनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम ।

भृङ्गुनायक-संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम ।

भृङ्गुपति-संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम ।

भृङ्गुराम-संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम ।

भृङ्गुरेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिष्णु की छाती पर या वह चिह्न जो भृङ्गु मुनि के द्वारा मारने से हुआ था । उ०—(क) सवि मुकुट शुभम रत्नाम्बर उर सोनिय भृङ्गुरेखा हो ।—मूर ।
 (ग) सः भृङ्गुरेखा भृङ्गुरेखा भृङ्गुरेखा भृङ्गुरेखा भृङ्गुरेखा ।—मूर ।

भृगुसूता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भृगु मुनि के चरण का चिह्न जो विष्णु की छाती पर है ।

भृगुवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] तैत्तिरीय उपनिषद् की तीसरी वल्ली जिसका अध्ययन भृगु मुनि ने किया था ।

भृगुसूत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुक्राचार्य । (२) शुक्र ग्रह ।

भृत-संज्ञा पुं० [सं०] [छि० भृग] (१) भृत्य । दास । सेवक ।

(२) मिताक्षरा के अनुसार यह दास जो घोस होता हो ।

ऐसा दास भयम कहा गया है ।

वि० [सं०] (१) भरा हुआ । पुरित । उ०—छाट्ट भास

पास दीर्घ और भृत भयमार ।—सुचनेश । (२) पाला

हुआ । पोषण किया हुआ ।

भृतक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो घेतन लेकर काम करता हो ।

(नौकर ।

भृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नौकरी । (२) मजदूरी । (३)

वैतन । तनसाह । (४) मूल्य । दाम । (५) भरणे की क्रिया ।

(६) पालन करना । उ०—धै पथ विरल चकित भति

आनुर भर्मत हेतु दिवो । भृति विलिखि पृष्टि दे दयामा दयाम

दयाम विवो ।—सुर ।

भृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० भृत्या] सेवक । नौकर ।

भृत्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भृत्य का धर्म, भाव या पद ।

भृत्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दासी । (२) घेतन । तनसाह ।

भूमि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घूमनेवाली पायु । सर्पट । (२)

पानी में का भँवर या चक्र । (३) वैदिक काल की एक

प्रकार की पीला ।

वि० घूमनेवाला । चक्रार करनेवाला ।

भृत्यभ्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।

भृश-क्रि० वि० [सं०] अत्यधिक । बहुत अधिक । उ०—तेहि

के भागे मित्रता है जोगन सहृदय अद्वार । यवत आनु भृश

जोत पर तहै भति मुदम भवारे ।—विभास ।

भृशपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मझासीली ।

भृष्ट-वि० [सं०] भूना हुआ ।

भृष्टकार-संज्ञा पुं० [सं०] भद्मेवा ।

भैंसना-संज्ञा स्त्री० दे० "भैंसा" ।

भैंस-संज्ञा स्त्री० [सं० भैंसा] (१) मिलाया । मिलाया । जैसे,—

परि समय मिले तो उनसे भी भैंस कर लीछिण्ण । (२)

उपहार । नम्रता । उपायन । जैसे,—दे ५०) आपकी

भैंस है ।

क्रि० प्र०—पढ़ना ।—बढ़ना ।—देना ।—पाना ।—मिलना ।

—देना ।

भैंसना०—संज्ञा पुं० [सं० भैंसा] भैंस के चरने के चक्र (मिलना)]

(१) मुलाकात करना । मिलना । (२) गले लगना । छाती

जो लगाना । आलिंगन करना ।

भैंसना-क्रि० सं० [सं० भैंसा] (१) मुलाकात होना । मिलना ।

(२) किसी पदार्थतक हाथ पहुँचना । हाथ से छुना जाना ।

भैंस-संज्ञा स्त्री० दे० "भैंसा" ।

भैंसना-क्रि० सं० [सं० भैंसा] भिंगोना । तर करना । उ०—

(क) भैंसल धरल बा दूध में पाना सोरे घरे ।—लेग भरी ।

(ख) लुचई पोह पोह धी भैंस । पाठे वहनि सोई सोई ।

—जायसी ।

भैंसना-संज्ञा पुं० [सं० भैंसा] भैंस । मर्म । रहस्य ।

भैंस-संज्ञा पुं० दे० "भैंसा" ।

भैंसराज-संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज । भैंसरा ।

भैंस-संज्ञा पुं० दे० "भैंसा" ।

भैंसज-संज्ञा पुं० दे० "भैंसा" ।

भैंस-संज्ञा स्त्री० [सं० भैंसा] (१) वह जो कुछ भैंसा ज्ञाप ।

(२) लगान । (३) विविध प्रकार के कर जो भूमि पर

लगाए जाते हैं ।

भैंसना-क्रि० सं० [सं० भैंसा] किसी वस्तु या व्यक्ति को एक

स्थान से दूसरे स्थान के लिये खाना करना । किसी वस्तु

या पदार्थ के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने का भाव ।

जन करना ।

संयो० क्रि०—देना ।

भैंसना-क्रि० सं० [सं० भैंसा] भैंसना के लिये भैंसा

करना । दूसरे को भैंसने में प्रवृत्त करना । भैंसने का काम

दूसरे में कराना ।

संयो० क्रि०—देना ।

भैंसना-संज्ञा पुं० [सं० भैंसा] भैंसना के लिये भैंसा

करना । दूसरे को भैंसने में प्रवृत्त करना । भैंसने का काम

दूसरे में कराना ।

संयो० क्रि०—देना ।

भैंसना-संज्ञा पुं० [सं० भैंसा] भैंसना के लिये भैंसा

करना । दूसरे को भैंसने में प्रवृत्त करना । भैंसने का काम

दूसरे में कराना ।

संयो० क्रि०—देना ।

भैंसना-संज्ञा पुं० [सं० भैंसा] भैंसना के लिये भैंसा

करना । दूसरे को भैंसने में प्रवृत्त करना । भैंसने का काम

दूसरे में कराना ।

संयो० क्रि०—देना ।

भैंसना-संज्ञा पुं० [सं० भैंसा] भैंसना के लिये भैंसा

करना । दूसरे को भैंसने में प्रवृत्त करना । भैंसने का काम

दूसरे में कराना ।

संयो० क्रि०—देना ।

भैंसना-संज्ञा पुं० [सं० भैंसा] भैंसना के लिये भैंसा

करना । दूसरे को भैंसने में प्रवृत्त करना । भैंसने का काम

दूसरे में कराना ।

संयो० क्रि०—देना ।

पाली जाती है। इसका दूध गौ के दूध की अपेक्षा गाढ़ा होता है और उसमें से मक्खन अधिक निकलता है। इसका मांस बकरी के मांस की अपेक्षा कुछ कम स्वादिष्ट होता है; पर प्रास्थ्य देशों में अधिकता से खाया जाता है। इसके शरीर पर से ऊन बहुत निकलता है और प्रायः उसी के लिये इस देश के गायरिष्ट इसे पालते हैं। वहीं वहीं की भेड़ें आकार में बड़ी भी होती हैं और उनका मांस भी बहुत स्वादिष्ट होता है। इसके नर को भेड़ा और बच्चे को भेम्मा कहते हैं। इसकी गूँक जाति की दुम बहुत चौड़ी और भारी होती है जिसे दुंवा कहते हैं। दे० “दुंवा।”

मुद्गा—भेड़ियाधना = बिना परिणाम मोक्ष समस्त दुःखों का अनुसरण करना। (भेड़ों वा यह नियम होता है कि यदि एक भेड़ किसी और को चला पड़ती है, तो शायी सब भेड़ें भी अनुचार उसके पीछे हो ऐसी हैं।)

(२) बहुत सीधा या मूर्ख मनुष्य।

मुद्गा छी० [हि० भिषाणा का भेदना = अपवद मारना] धृष्टवद । (घातार)

भेड़ा-पंछा पु० [हि० भेड] भेड़ जाति का नर । भेड़ा । भेप ।

भेड़िया-पंछा पु० [हि० भेड] एक प्रसिद्ध जंगली मांसाहारी जंतु जो प्रायः सारे एशिया, युरोप और उत्तर अमेरिका में पाया जाता है। यह प्रायः ३-३० हाथ लंबा होता है और जंगली बूतों से बहुत मिष्टान्न चुनता होता है। यह प्रायः यन्त्रियों के भास पास लुंठ लाश्कर रहता है और गरियों में से भेड़-बकरीयों, गुरगों अधम छोटे छोटे बच्चों आदि को उठा-ले जाता है। यह अपने शिकार को झेंड़ाकर उसका पीछा भी करता है और बहुत तेज दौड़ने के कारण दीपक ही उसको पकड़ लेता है। यह प्रायः रात के समय बहुत शोर मचाता है। यह जमीन में गढ़ा या मोँद बनाकर रहता है और उसी में बचे देता है। इसके बच्चों की भोंतें लम्ब के समय बिलकुल बंद रहती हैं और बान लटके हुए होते हैं। इसके काटने से एक प्रकार का बहुत तीव्र निष चढ़ता है जिससे घणना बहुत कठिन होता है। सिधार । ग्याल ।

भेड़ी-पंछा छी० दे० “भेड़” ।

भेड़-पंछा पु० [ता०] (१) भेड़ने की क्रिया। छेड़ने या भण्ड करने की क्रिया। (२) प्राचीन राजनीति के अनुसार राज्य को बत में करने के पार उपायों में से सत्सरा उपाय जिसके अनुसार राज्य पार के लोगों को बकाशर अपनी और मित्रा दिया जाता है अथवा उनमें परस्पर द्वेष उत्पन्न कर दिया जाता है। (३) भीमरी जिहा हुआ हास । शब्दम् ।

मि० प्र०—भेड़ा ।—पाया ।—मिष्टान्न ।—भेन ।

(१) भेड़ने । (२) भण्ड । (३) भीमरी ।—द्वेष्ट ।—द्वेष्ट ।

कपड़ों में बहुत भेड़ है। (६) प्रहार । क्रिया । जाति । जैसे,—इस वृक्ष के कई भेड़ होते हैं ।

भेड़क-वि० [सं०] (१) भेड़न करनेवाला । छेड़नेवाला । (२) रेचक । दस्तावर । (वैद्यक)

भेड़कातिशयोक्ति-पंछा छी० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें “अर्थ” “भेड़” शब्द द्वारा किसी वस्तु की ‘अति’ वर्णन की जाती है। जैसे,—और कछु चितवनि चहनि और मृदु मुसकानि । और कछु सुख देखि है तर्क न रैन बसानि ।

भेड़कारो-पंछा पु० [सं० भेड़कारि] वह जो भेड़न करता हो । भेड़नेवाला ।

भेड़ड़ी-पंछा छी० [सं०] खड़ी । उ०—पतली पंज (भेड़ड़ी, खड़ी) में दूध या छोट या दही मिलाकर भर पेट मिला दो ।—प्रभाषासिद्ध ।

भेड़न-पंछा पु० [सं०] [वि० भेड़ना, भेन] (१) भेड़ने की क्रिया । छेड़ना । पेंचना । निर्दोष बनना । (२) अमलवैत । (३) होंग । (४) सुधार ।

वि० (१) भेड़नेवाला । छेड़नेवाला । (२) दमन करनेवाला । रेचक । दस्तावर ।

भेड़शुद्धि-पंछा छी० [सं०] पुरुष का मांस या अभाव । कूट । बिलगाय ।

भेड़भाय-पंछा पु० [सं०] भंवर । फरक ।

भेड़ित-पंछा पु० [सं०] तंत्र के अनुसार एक प्रकार का मंत्र जो निश्चित समझा जाता है ।

भेड़िनी-पंछा छी० [सं०] तंत्र के अनुसार एक प्रकार की शक्ति जिसकी सहायता से योगी योग पदचक्र को भेड़ सकते हैं । इस शक्ति के साधन में योगी बहुत धैर्य होना चाहिए ।

भेड़िया-पंछा पु० [सं० भेड + पंछा (पञ्च)] (१) भेड़ सेनेवाला । जासूस । गुप्तचर । (२) गुप्त रहस्य जाननेवाला ।

भेड़ी-पंछा पु० [सं० भेड + रं (रण)] (१) गुप्त हाथ बगानेवाला । जासूस । गुप्तचर । (२) गुप्त हाथ जाननेवाला ।

वि० [सं० भेड] भेड़न करनेवाला । छेड़नेवाला ।

भेड़ोसार-पंछा पु० [सं०] बदर्थों का एक भीतार जिसमें ये बातें में छेड़ करते हैं । घटना । उ०—भेड़ि दुष्टार क्रिगे दिखे सन बुनि भेड़ोसार ।—निहारी ।

भेड़ुर-पंछा पु० [सं०] पञ्च ।

भेड़-वि० [सं०] भेड़न करने योग्य । जो भेड़ा या छेड़ा जा सके । पंछा पु०—राज्यों आदि की सहायता से किसी पक्ष में या कोई व्यक्ति को भेड़न करने की क्रिया । परी-पञ्च ।

भेन-पंछा छी० [हि० भेन] बहिन । (दूसरा छेड़ रूप मार भिन्न है ।) उ०—छेड़ पंछ के हस्ताने मे बहनी है दि भेन । मारुड की मारवी है म छेड़ है न देन ।—मर्द ।

त्रिपुर भैरवी, कौण्डा भैरवी, रुद्र भैरवी, निर्या भैरवी, चैतन्य भैरवी आदि । इन सबके ध्यान और पूजन आदि भिन्न भिन्न हैं ।

(२) एक रागिनी जो भैरव राग की पत्नी और किसी किसी के मत से मालव राग की पत्नी मानी जाती है । हनुमन्त के मत से यह संपूर्ण जाति की रागिनी है और शरद ऋतु में प्रातःकाल के समय गाई जाती है । इसका स्वरप्राम इस प्रकार है—म, प, ध, नि, सा, झ, ग । संगीत रत्नाकर के मत से इसमें मध्यम बासी और धैवत संवादी होता है ।

(३) पुराणानुसार एक नदी का नाम । (४) पार्वती । (दि०) भैरवीचक्र-छंदा पुं० [सं०] (१) तान्त्रिकों या याममार्गियों का यह समूह जो कुछ विशिष्ट तिथियों, नक्षत्रों और समयों में देवी का पूजन करने के लिये एकत्र होता है । इसमें सब लोग एक ध्वज में बैठकर पूजन और मद्यपान आदि करते हैं । इसमें केवल दीक्षित लोग ही सम्मिलित होते हैं और पर्णाग्र आदि का कोई विचार नहीं रखा जाता । (२) मद्यपन और अनाचारियों आदि का समूह ।

भैरवीयाचना-छंदा स्त्री० [सं० भैरवी यचना] पुराणानुसार वह वातना जो प्राणिमों को मरते समय उनकी शुद्धि के लिये भैरव जी देते हैं । कहते हैं कि जब इस प्रकार की वातना से प्राणी सब पातलों से शुद्ध हो जाना है, तब महादेवजी उसे मोक्ष प्रदान करते हैं ।

भैरवेश-छंदा पुं० [सं०] शिव ।

भैरा-छंदा पुं० दे० "वहेरा" ।

भैरी-छंदा स्त्री० दे० "वहीरी" । (पत्नी)

भैरु-छंदा पुं० दे० "भैरव" ।

भैरो-छंदा पुं० दे० "भैरव" ।

भैरा-छंदा पुं० दे० "भैरा" ।

भैराङ्गी-छंदा पुं० [दि० भै + ङ (२५०)] (१) आईयात । आईयना । (२) विराट् ।

भैयज-छंदा पुं० [सं०] (१) भौयव । द्यः । (२) पैय के तिथ्य आदि । (३) हया पत्नी ।

भैयज्य-छंदा पुं० [सं०] द्यः । भौयव ।

भैय्यको-छंदा स्त्री० [सं०] भैय्यक की कन्या रुक्मिणी ।

भैहाङ्गी-छंदा पुं० [दि० भय + ङ (२५०)] (१) भयभीत । घरा हुआ । (२) मित पर भूत या किसी देव का आवेष्ट भाव हो । उ—एतन् ह्ये समर मे पैहा । मनु अभुभात भाङ भ्रा ।—छात्र ।

भौ-छंदा स्त्री० [भु०] भौ भौ का शब्द ।

भौकना-दि० सं० [भू के भु०] बाष्प, तपस्वर या हवी प्रकार की और कोई सुकीर्ण चीज और मे घँसना । पुषेदना ।

दि० सं० दे० "भूकना" ।

भौगरा-छंदा पुं० [दे०] एक प्रकार की बेल या लता ।

भौगाल-छंदा पुं० [सं० भूगल] यह बड़ा भौगा जिसका एक ओर का मुँह बहुत छोटा और दूसरी ओर का मुँह बहुत अधिक चौड़ा तथा फटा हुआ होता है । इसका छोटे मुँह वाला सिरा जब मुँह के पास रखकर कुछ बोला जाता है, तब उसका शब्द चौड़े मुँह से निकलकर बहुत दूर तक सुनाई देता है । इसका व्यवहार प्रायः भौद्भाद के समय बहुत है लोगों को कोई बात सुनाने के लिये होता है ।

भौचाङ्ग-छंदा पुं० दे० "भूचंग" ।

भौडा-वि० [दि० भडा वा भौ मे भु०] [भौ, भौडी] भडा । यद्भूत । कुरुप ।

छंदा पुं० [दे०] सुभर की जाति की एक प्रकार की घास जो पशुओं के चारे के काम में आता है । इसमें एक प्रकार के दाने लगते हैं जो गरीब लोग खाते हैं ।

भौडापन-छंदा पुं० [दि० भौडा + पन (२५०)] (१) भद्रपन । (२) बहुदली ।

भौडो-छंदा स्त्री० [दि० भौडा] वह भेड़ जिसकी छाती पर के रोवें स देश और बाकी सारे शरीर के रोवें काले हों । (गर्दिया)

भौतरा-वि० [दि० भुतरा] (शरा) जिसकी धार तेज न हो । कुंठ धारवाला ।

भौनला-वि० [दि० भुनला] जिसकी धार तेज न हो । कुंठ धारवाला ।

भौद-वि० [दि० भूद] (१) बेचकूत । सूखे । (२) सीधा । भौला ।

भौपु-छंदा पुं० [भौ भु० + पु (२५०)] तरु की तरह का या बिजकुल सत्वि एक प्रकार का वाना जो बूँदकर बरसता जाता है । इसका व्यवहार प्रायः पैरागी सारु आदि करते हैं ।

भौतले-छंदा पुं० [दे०] महाराष्ट्रों के एक राजकुल की उपाधि । (महाराज तिसामी और रघुनाथ राव आदि इसी राजकुल के थे ।)

भौक-दि० सं० [दि० भया] भया । हुआ ।

संशोधन [सं०] दे० हो । (छं०)

भौकसङ्गी-वि० [दि० भू + स (२५०)] भुक्त । भूता ।

भौकार-छंदा स्त्री० [भौ भौ भु० + क (२५०)] जो जो ते रोना ।

भौः प्र०—कानुना ।

भौकना-वि० [सं० भौक] (१) भोजन करनेवाला । (२) भोज करनेवाला । भोजनवाला । (३) ऐसा करनेवाला । देवता ।

गंदा पुं० (१) भिन्नु । (२) भर्त्ता । पनि । (३) एक द्रव्य का भेद ।

भौकन्य-छंदा पुं० [सं०] भौक का घर्म या भाव ।

भौकन्य-छंदा स्त्री० [सं०] बुद्धि ।

भोग-वृत्ता पुं० [सं०] (१) सुख-या दुःख आदि का अनुभव करना या करने शरीर पर सहना। (२) सुख। विलास। (३) दुःख। कष्ट। (४) स्त्री-संभोग। विषय। (५) साँप का फन। (६) साँप। (७) घन। (८) गृह। घर। (९) पालन। (१०) भक्षण। आहार करना। (११) देह। (१२) मान। परिमाण। (१३) पाप या पुण्य का वह फल जो सहन किया या भोगा जाता है। प्राप्ति। (१४) पुर। (१५) एक प्रकार का सैनिक व्यूह। (१६) फल। अर्थ। उ०—यद्यपि गुण ये कहाते हैं जिनसे कर्मकांडादि में उपकार लेना होता है। परंतु सर्वत्र कर्मकांड में भी इष्ट भोग की प्राप्ति के लिये परमेश्वर का ग्याग नहीं होता—दयानंद। (१७) मनुष्य प्रमाण के तीन भेदों में से एक। भुक्ति (कर्म)। (१८) देवता आदि के आगे रखे जानेवाले खास पदार्थ। ईश्वर। उ०—गयो लै महल माँस टहल लगायो भोग लागे होग भोग जिय दाँडा तनु छीजिये।—नाभा।

क्रि० प्र०—लगाना।

(१९) आदा। किराया। (२०) सुख आदि वस्तुओं के रासियों में रहने का समय।

भोगदेह-वृत्ता पुं० स्त्री० [सं०] पुराणानुसार यह वृक्ष शरीर जो मनुष्य को मरने के उपरांत स्वर्ग या नरक आदि में जाने के लिये धारण करना पड़ता है।

भोगना-कि० प्र० [सं० भोग] (१) सुख-नृत्य वा सुभासुष कर्मफलों का अनुभव करना। आनंद वा कष्ट आदि की अपने ऊपर सहन करना। भुगतना। (२) सहन करना। सहना। (३) स्त्री-संभोग करना।

भोगपति-वृत्ता पुं० [सं०] किसी नगर वा प्रांत आदि का प्रधान शासक वा अधिकारी।

भोगप्रत्य-वृत्ता पुं० [सं०] पृथक्संहिता के अनुसार एक देव जो उषर विराट में माना गया है।

भोगपंचक-वृत्ता पुं० [सं० भोग + दि० ५५क = वेहन] पंचक या वेहन रगने का वह प्रकार जिसमें उषार लिए हुए रथों का ब्याज नहीं दिया जाता और उस ब्याज के बदले में रथवा उषार देनेवाले को वेहन रथी हुई भूमि या मकान आदि भोग करने अथवा किराण आदि पर चलने का अधिकार प्राप्त होता है। इक्षपंचक वा टहला।

भोगसुखार्द्र-वृत्ता स्त्री० [दि० भोग + सुख =] स्नेह में कषास का रास से बढ़ा पीया जिसके आस पास धैरका देहानी भोग उसकी पूजा करते हैं।

भोगसिन्धवा-वृत्ता स्त्री० [सं०] न्यसुन। लग।

भोगसिन्धवान-वृत्ता स्त्री० [दि०] कटारी नाम का वृक्ष।

भोगसी-वृत्ता स्त्री० [सं०] (१) छोटी नदी। पुनर्नी। (२) नाल में पड़ने का बीज। (३) टेंका वा सरकी नाम का

कान में पड़ने का गहना। (४) वह छोटी पतली पोछी कील जो लौंग या कान के फूल आदि को अटवाने के लिये उसमें लगाई जाती है। (५) चपटे तार वा बादले का बना हुआ सलमा जिससे दोनों किनारों के बीच की जंजीर बनाई जाती है। कैंगनी।

भोगवती-वृत्ता स्त्री० [सं०] (१) पाताल गंगा। (२) गंगा। (३) पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम। (४) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन नदी का नाम। (५) नागों के रहने का स्थान। नागपुरी। (६) कातिकेय की एक मातृका का नाम।

भोगवना-वृत्ता-कि० प्र० [सं० भोग] भोगना। उ०—सनि कजल कल रूप लगने उपर्यो सुदिन सनेह। क्यों न नृपति है भोग्ये लहि सुदेश सय देह।—विहारी।

भोगवान-वृत्ता पुं० [सं०] (१) साँप। (२) नाक्य। (३) गान। गीत। **भोगवाना-कि० सं० [दि० भोगना का प्रे० ४१]** भोगने में दूसरे को प्रवृत्त करना। भोग कराना।

भोगविलास-वृत्ता पुं० [सं०] आनंद प्रमोद। सुख चैन। **भोगांतराय-वृत्ता पुं० [सं०]** वह अनंतराय जिसका उद्भव होने से मनुष्य के भोगों की प्राप्ति में विघ्न पड़ता है। वह पाप कर्म जिनके उदित होने पर मनुष्य भोगने योग्य पदार्थ वाकर भी उनका भोग नहीं कर सकता। (ईन)

भोगाना-कि० सं० [दि० भोगना वा प्रे०] भोगने में दूसरे को प्रवृत्त करना। भोग कराना।

भोगिन-वृत्ता स्त्री० दे० "भोगिनी"।

भोगिनी-वृत्ता स्त्री० [सं०] (१) राजा की उपपत्नी। राजा की रनेछी स्त्री। (२) नागिन।

भोगिंद-वृत्ता पुं० [सं०] पर्वतलि का एक नाम।

भोगी-वृत्ता पुं० [सं० भोगिन् वा भोगिन] (१) भोगनेवाला। वह जो भोगता हो। (२) साँप। (३) जमींदार। (४) मूर। राजा। (५) नागिन। नाक। नाई। (६) दीनानाग। (दि०)

दि० (१) सुखी। (२) इंदियों का सुगंध देनेवाला। (३) भुगतनेवाला। (४) विषय-सक्त। (५) आनंद करनेवाला। रिप्यसी। (६) रिपयी। भोगायक। वसनी। देवाना। (७) गानेवाला।

भोगीन-वृत्ता पुं० दे० "भोगी"।

भोगेश्वर-वृत्ता पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम। **भोग्य-दि० [सं०]** (१) भोगने योग्य। काम में आने योग्य। (२) जिसका भोग बिधा जाय। (३) पाप (पदार्थ)।

वृत्ता पुं० [सं०] (१) घन। (२) पाप। (३) भोगपंचक। **भोग्यभूमि-वृत्ता स्त्री० [सं०]** (१) विद्या की भूमि। आनंद का स्थान। (२) वह भूमि जिसमें बिट्टू हुए वस्तु-वस्तुओं में सुख दुःख प्राप्त हों। भव्य लोक।

भोग्यमान-वि० [सं०] जो भोग जाने को हो, अभी भोग न गया हो। जैसे,—भोग्यमान नक्षत्र।

भोग्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] बेदया। रंजी।

भोज-संज्ञा पुं० [सं० भोजन वा भोज] (१) बहुत से लोगों का एक साथ बैठकर खाना पीना। जेवनार। दावत। (२) भोज्य पदार्थ। खाने की चीज। (३) ज्वार और भौं के योग से बनी हुई एक प्रकार की शराय जो पीने की और मिलती है।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजक नामक देश जिसे आजकल भोजपुर कहते हैं। (२) चंद्रवंशियों के एक वंश का नाम। (३) पुराणानुसार शांति देवी के गर्भ से उत्पन्न वसुदेव के एक पुत्र का नाम। (४) महाभारत के अनुसार राजा द्रुपद के एक पुत्र का नाम। (५) श्रीकृष्ण के सखा एक ग्वाल का नाम। उ०—भजुन, भोज भर सुखल धीदामा मनुमंगल हक ताक।—सूर। (६) कान्यकुब्ज के एक प्रसिद्ध राजा जो महाराज राममद्र देव के पुत्र थे। इन्होंने कान्तिर तक पर अधिकार किया था। ये नवीं वंशस्था में हुए थे। (७) मालवे के परमारवंशी एक प्रसिद्ध राजा जो संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् कवि और विद्याप्रेमी थे।

विरोध—ये धारा नगरी के सिधुल नामक राजा के लड़के थे और इनकी माना का नाम सावित्री था। जब ये पाँच वर्ष के थे, तभी इनके पिता अपना राज्य और इनके पालन पोषण का भार अपने भाई मुंज पर छोड़कर स्वर्गवासी हुए थे। मुंज इनकी हत्या करना चाहता था, इसलिये उसने बंगाल के राजा वासराज को बुलाकर उसको इनकी हत्या का भार सौंपा। वासराज इन्हें पकाने से देखी के सामने बलि देने के लिये ले गया। वहाँ पहुँचने पर जब भोज को मालूम हुआ कि यहाँ मैं बलि पकाना आईगा, तब उन्होंने अपनी जॉय थीरकर उसके रक्त से बड़े के एक पत्र पर दो श्लोक लिखकर वासराज को दिए और कहा कि ये मुंज को दे देना। उस समय वासराज को इनकी हत्या करने का साहस न हुआ और उसने इन्हें अपने यहाँ ले जाकर ठिक राखा। जब वासराज भोज का क्रूरिम कटा हुआ तिर लेकर मुंज के पास गया, और भोज के श्लोक उसने उन्हें दिए, तब मुंज को बहुत पश्चात्ताप हुआ। मुंज को बहुत विचार करते देखकर वासराज ने उन्हें असल हाल बतला दिया और भोज को शस्त्र उनके सामने खड़ा कर दिया। मुंज ने सारा राज्य भोज को दे दिया और आन सखीक वनको चले।

कहते हैं कि भोग बहुत बड़े वीर, प्रगारी, पंडित और गुणकारी थे। इन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की थी और कई विपत्तियों के अनेक झंझों का निर्माण किया था। ये बहुत भग्न बनि, दार्शनिक और उपनिषी थे। सरस्वती

कंठाभरण, शृंगारमंजरी, चंपूराभाषण, चारुचर्या, तन्त्रभाष, श्ववहार समुच्चय आदि अनेक ग्रंथ इनके लिये हुए बरतते जाते हैं। इनकी सभा सदा बड़े बड़े पंडितों से सुशोभित रहती थी। इनकी स्त्री का नाम लीलावती था, जो बहुत बड़ी विदुषी थी।

भोजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोग करनेवाला। भोगी। (२) पेयास। बिलासी। उ०—तुम बारी रिय भोजक राजा। गर्व करोध वही पै छाजा।—जायसी।

भोजदेव-संज्ञा पुं० [सं०] कान्यकुब्ज के महाराज भोज। वि० दे० “भोज” (७)।

भोजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आहार को मुँह में रखकर चराना। मक्षण करना। खाना। (२) वह जो कुछ भक्षण किया जाता हो। खाने की सामग्री। खाने का पदार्थ।

कि० प्र०—करना।—पाना।

मुहा०—भोजन पेट में पड़ना। भोजन होना। खाना जाना। भोजनखानीक-संज्ञा स्त्री० [सं० भोजन+हि० खान] पाकशाला। रसोईघर। उ०—चकित विप्र सब सुनि नमन्वानी। भूत गवत जहाँ भोजनपाणी।—तुलसी।

भोजनमट्ट-संज्ञा पुं० [हि० भोजन+सं० मट्ट] यह जो बहुत अधिक खाता हो। पैट्ट।

भोजनशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] रसोईघर। पाकशाला। भोजनार्च्छादून-संज्ञा पुं० [सं०] खाना कपड़ा। अन्न बर्त। खाने और पहनने की सामग्री।

भोजनशाल-संज्ञा पुं० [सं०] पाकशाला। रसोईघर। भोजनीय-वि० [सं०] भोजन करने योग्य। खाने योग्य। जो खाया जा सके।

भोजपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंसाराम। (२) राजा भोज। वि० दे० “भोज” (७)।

भोजपत्र-संज्ञा पुं० [सं० भोजपत्र] एक प्रकार का मोहोने आहार का वृक्ष जो हिमालय पर १५००० फुट की ऊँचाई तक होता है। इसकी लकड़ी बहुत लचीली होती है और जड़ी ग्रास नहीं होती, इसलिये पहाड़ों में यह मछन और बनाने के काम में आती है। इसकी पत्तियाँ प्रायः घरे के काम में आती हैं। इसकी छाल कागज के समान पतली होती है और कई परतों में होती है। यह छाल प्राचीन काल में लेख और लेख आदि लिखने में बहुत काम आती थी, और अब भी सांघिक लोग इसे बहुत पवित्र मानते और इस पर प्रायः यंत्र मंत्र आदि लिखा करते हैं। इसके अतिरिक्त छाल का उपयोग छाते बनाने और छतें छाने में भी होता है। और कभी कभी यह पहनने के भी काम में आती है। छाल का रंग प्रायः लाली तिर्य लाली होता है और उस पर छोटी छोटी धारियाँ होती हैं। इसके पत्तों का प्रायः बरतना

जाता है । बैद्य में हस्ते धलकारक, कफनाशक, कण्ड, कषाय और उष्ण माना गया है ।

पर्याय—चर्म। बहुलवस्त्रक । छत्रत्र । त्रिप । स्थिच्छद । सुदुर्ग । पत्रपत्रक । भुज । बहुवृत् । बहुलवृत् ।

भोजपुरीशब्दक-संज्ञा पुं० [सं०] रसोई की परीक्षा करनेवाला । यह जो हस्त वास्त की परीक्षा करता हो कि भोजन में विष आदि तो नहीं मिला है ।

भोजपुरिया-संज्ञा पुं० [हिं० भोजपुर + रण (पद०)] भोजपुर का निवासी । भोजपुर का रहनेवाला ।

वि० भोजपुर संबंधी । भोजपुर का ।

भोजपुरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० भोजपुर + री (पद०)] भोजपुर की भाषा । संज्ञा पुं० भोजपुर का निवासी ।

वि० भोजपुर का । भोजपुर संबंधी ।

भोजराज संज्ञा पुं० दे० "भोज" ।

भोजविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं० भोज + विद्या] इंद्रवाल् । वागीश्वरी ।

भोजी-संज्ञा पुं० [सं० भोजन] खानेवाला । भोजन करनेवाला ।

भोजक-संज्ञा पुं० [सं० भोजन] भोजन । आहार ।

भोजेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजराज । (२) फंस । (३) दे० "भोज" (१) ।

भोज्य-संज्ञा पुं० [सं०] भोजन के पदार्थ । खात पदार्थ ।

वि० खाने योग्य । जो खाया जा सके ।

भोट-संज्ञा पुं० [सं० भोग] (१) भूदान देत । (२) एक प्रकार का बड़ा पत्थर जो प्रायः १॥ ईश भोट, २ कुट पंखा और १॥ कुट चौड़ा होता है ।

भोटिया-संज्ञा पुं० [हिं० भोट + रण (पद०)] भोट या भूदान देता का निवासी ।

संज्ञा स्त्री० भूदान देता की भाषा ।

वि० भूदान देता संबंधी । भूदान का । जैसे, भोटिया रहू ।

भोटिया यादम-संज्ञा पुं० [हिं० भोटिया + यम (पद०)] (१) भालभूषण । (२) मूँककली ।

भोटी-वि० [हिं० भो + री (पद०)] भूदान देता का ।

भोडर-संज्ञा पुं० [सं०] भद्रक । भद्रक । उ०—पावल पाय लगी रहै लगे भोडरक लाल । भोडर हू की मासिहै बेदी भामिनि भाय ।—विहारी । (२) भद्रक का पूर जो दोली आदि में गुच्छल के साथ उड़ाया जाता है । बुझा । (३) एक प्रकार का मुक्त विलास ।

भोडस-संज्ञा पुं० दे० "भडरस" ।

भोडगार-संज्ञा पुं० [सं० भोडगर] भंडार । (हिं०)

भोण-संज्ञा पुं० [सं० भवन] मंद । घर । मकान । (हिं०)

भोना-वि० भ० [हिं० भोना] (१) भोना । संघर्षित होता ।

उ०—(क) देव कष्ट कष्ट भंजन की बहू भंजन की भणनहि रही रहे ।—रघुनाथ । (न) गव भणन गवज निभार बीच

ध्याल एक ताल तान मुर की वधान बीच भै रही ।—रघुनाथ । (२) लिप्त होता । लीन होता । (३) आसक्त होता । अनुरक्त होता ।

संयो० क्रि०—जाना ।—पढ़ना ।

भोपा-संज्ञा पुं० [भो से भु०] (१) एक प्रकार की तुम्ही या फूँक कर बजाया जानेवाला वाद्य । भोपू । (२) मूर्त । वैकटुक । भोवरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जिसे क्षेत्र भी कहते हैं ।

भोम-संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] पृथ्वी । (हिं०)

भोमी-संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] पृथ्वी । (हिं०)

भोर-संज्ञा पुं० [सं० विभव] प्रातःकाल । धरारा । तड़का । उ०—जाग भोर दौड़ि जननी में अपने फंट लगायो ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का बड़ा पक्षी जिसके पर बहुत सुंदर होते हैं । यह जल तथा हरियाली को बहुत पसंद करता है । यह फल फूल तथा कीड़े मकोड़े खाता और खेतों की बहुत अधिक हानि पहुँचाता है । रात के समय जैसे वृक्षों पर विश्राम करता है । (२) खमो नामक सड़ा बहार वृक्ष ।

वि० दे० "खमो" ।

भोरा-संज्ञा पुं० [सं० भ्रम] धोरा । भूल । भ्रम । उ०—(क) की दुई राति धौसिलहि परिग भोर हो ।—गुलसी । (ख) हँसत परसर बाहु में खडी जाहि गिय भोर ।—सूर ।

वि० चकित । स्तब्ध । उ०—मूर प्रगु की निरति सोभा भई तखनी भोर ।—सूर ।

क वि० [हिं० भोर] भोला । सीधा । सरल । उ०—धायी राति न भौंनै बाल । विहरी गयध भोहि भोर सुभाऊ ।—गुलसी ।

भोरा-संज्ञा पुं० [देश०] प्रायः एक कुट संबंधी एक प्रकार की मछली जो युष्मान, मूत्राश और मदा देता की नदियों में पाई जाती है ।

भोरा-संज्ञा पुं० दे० "भोर" ।

क १-वि० भोला । सीधा । सरल ।

भोराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० भोरा + री (पद०)] भोलापन ।

विभा० । सरलता ।

भोराना-वि० सं० [हिं० भोर + रण (पद०)] धन में हालना । बहकाना । धोरा देना । उ०—सूरदास छोगन के भोरए काँदे बान्ह भय होत पराए ।—सूर ।

हिं० भ० धन में पढ़ना । धोरे में खाना ।

भोरानाथ-संज्ञा पुं० [हिं० भोरानाथ] भिन्न । उ०—गौरीनाथ भोरानाथ भवन भोनीनाथ विरनाथपूर विरि भान बलि-काट की ।—गुलसी ।

भोरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] भट्ठी का एक रोग ।

भोर-संज्ञा पुं० दे० "भोर" ।

भोला-वि० [दि० भूना] (१) जिसे छल-कपट आदि न आता हो। सीधा-सादा। सरल।

यौ०—भोळानाय। भोला भावा।

(२) मूर्ख। धैर्यहीन।

भोळानाय-संज्ञा पुं० [दि० भोला + सं० नाय,] महादेव। त्रिप।

भोलापन-संज्ञा पुं० [दि० भोला + पन (पद०)] (१) सिपाई।

सरलता। सादगी। (२) नादानी। मूर्खता।

भोला भाला-वि० [दि० भोला + भुल० भाता] सीधा सादा।

सरल चित्त का। निरुद्ध।

भोखरी-वि० [देश०] धैर्यहीन। मूर्ख।

भी-संज्ञा स्त्री० [सं० भू] अँस के ऊपर के बालों की थेली। भूकटी। भीड़।

मुहा०—दे० “भीड़”।

भीकना-कि० प्र० [भी भी से भु०] (१) भी भँसना करना।

कुत्तों का बोलना। भूकना। (२) बहुत बकवाद करना।

निरर्थक बोलना। बक बक करना।

भीगर-संज्ञा पुं० [देश०] छत्रियों की एक जाति।

त्रि० भीटा साता। छत्र छत्र।

भींचाली-संज्ञा पुं० दे० “भूकंप”।

भींडी-संज्ञा स्त्री० [देश०] छोटा पहाड़। पहाड़ी। टीला।

भीड़ा-वि० दे० “भीड़”।

भीनुवा-संज्ञा पुं० [हि० जगना = घुमना] (१) खटमल के आकार

का एक प्रकार का काले रंग का कीड़ा जो प्रायः वर्षा ऋतु

में जंगल-गंधों आदि में जल-तल के ऊपर चकर काटता हुआ

पलता है। (२) एक प्रकार का रोग जिसमें बाहु-हड्डी के

गोथे एक गिल्टी निकल आती है। उ०—बड़ा भयो जो

मन मिलि कलि काटहि किमो भीनुवा ओर की हीं।—

गुलामी। (३) ठोड़ी का घैल जो खपे से ही कोकट में जोता

जाता है और दिन भर धूमा करता है।

भीर-संज्ञा पुं० [सं० भय] (१) भीरा। चंचरीक। (२) तेज

बहने हुए पानी में पड़नेवाला चट्ट। आवर्त। नदि।

कि० प्र०—पड़ना।

भीरकली-संज्ञा स्त्री० दे० “भीरकली”।

भीरा-संज्ञा पुं० [सं० भय = घा० भय, प्रा० भय] [हि० भीरा]

(१) काँटे रोग का उद्गनेवाला एक पतंग जो गोथे-ले के

बराबर होता है और दन्ते में बहुत उद्गम प्रतीत होता है।

इसके ऊपर, दो पर और दो मूर्ते होती हैं। इसके सारे

जरीर पर भूरे रंग के छोटे छोटे चमकदार रोम होते हैं।

इसका रंग प्रायः भोलापन जैसा चमकीला, काला होता है

और इसकी बाँट पर दोनों धों की जड़ के समान का प्रदेन

कोई रंग का होता है। की के रंग होता है और वह रंग के

आली है। वह गुंथना हुआ उड़ा करना है और कुंथे का

रस पीता है। अन्य पतंगों के समान इस जाति के भी के भी

दोले निकलते हैं जो कालीतर में परिवर्तित होकर पीले हो

जाते हैं। यह ढालियों और ठूठी टट्टियों पर भी होता है।

कवि इसकी उपमा और रूपक नायक के लिये लाते हैं।

उनका यह भी कथन है कि यह सब फूलों पर होता है।

पर चंपा के फूल पर नहीं बैठता। उ०—आहुति भीति

आहुति फूल। आतम ज्ञान चित्त जग मूल।—सूर। (१)

बड़ी मधुमक्खी। सारंग। भंमर। वंगर। (२) काला बा

छाल भड़। (३) एक लिलीमा जो लट के आधार का होता

है और जिसमें कील या छोटी डंडी लगी रहती है। इसी

कील में रस्सी लपेटकर लटके होते भूमि पर नपाते हैं।

उ०—लोचन मानत माहिन मोल। ऐसे रहव पान के

आगे मनु है लीन्हें मोल। इत भावत है जात देखाई जो

भीरा चकडोर। उतते सूर न डारत कपड़ें मोहों नाव

कोर।—सूर। (५) हिंडोले की वह लकड़ी जो मयारी में

लगी रहती है और जिसमें छोरी या डंडी पड़ी रहती है।

उ०—हिंडोरना साईं शयत गोपाल। संग राधा वाम सुंदरि

चहुँबा बज्र-माल। सुमग यमुना पुलिन मोहन रथो रथि

हिंदोर। लाल बाँधी कलिक पटुली मगिन सरदा वीर।

भीरा मयारिनि नील मरकत लेंबे पाँति आर। लाल

कंचन खंभ सुंदर रथो वाम द्युतिहार।—सूर। (६) गरी

के पट्टे का वह भाग, जिसके बीच के छेद में धुरे का तान

रहता है और जिसमें आता लगाकर पट्टे की पुट्टी जड़ी

जाती है। नामि। लट्ठा। मूँड़ी। (७) लटकी लटकी चामी

जो गैरियों को फिराती है। चहरी (पुंलिंग)। (८) पट्टी

का एक रोग जिसे चेचक कहते हैं (पुंलिंग)। (९) पट्टी

की मिरगी (पुंलिंग)। (१०) वह वृत्ता जो गहरियों की

मेढ़ों की रसवाली करना है। (११) एक प्रकार का बीरा

जो उमर आदि की फसल की बहुत हानि पहुँचाता है।

संज्ञा पुं० [सं० भय] (१) मरणा के लोभ का पर। वह

स्वार्थ। (२) यह गूहा जिसमें अन्न रखा जाता है। सान।

रखा।

त्रि० पुं० दे० “भीर”।

भीराना-कि० प्र० [सं० भय] (१) घुमाना। परिक्रमा करना।

(२) विवाह करना। विवाह की भीर दिखाना। उ०—

वर जोनाय टीका करो बहुरि देहु भीरनाय।—रामान।

कि० प्र० घुमाना। चकर काटना। फेरि लगाना।

भीरी-संज्ञा स्त्री० [सं० भय] (१) पट्टी आदि के लोच में

रोमों या बाँटों आदि के घुमाप से बना हुआ वह वस्तु

जिसके रथान आदि के विचार से उनके घुम-पैप का निर्धार

होता है। जैसे,—इस घोड़े के आगे दाहिने पैर की भीरी

अधी पड़ी है।

क्रि० प्र०—पदना ।

(२) विवाह के समय घर-घर का भिक्षा की परिक्रमा करना । भौवर ।

क्रि० प्र०—पदना ।—लेना ।

(३) तेज बहते हुए जल में पदनेवाला चक्कर । 'भावसं' ।

क्रि० प्र०—पदना ।

(४) अंगाकड़ी । घाटी । (पठान)

मौह-संज्ञा स्त्री० [सं० भू] भौल के ऊपर की हड्डी पर जमे हुए रोएँ या बाल । मृदुटी । भौं । भैव ।

मुहा०—मौह चढ़ाना या तानना : (१) नाराज होना । क्रुद्ध होना ।

उ०—बदत काहू नहीं निपरक निदरि मोहि न गनत ।

बार बार मुसाहू हारी भौह मोपर सनत ।—सूर । (२) खोरा

बढ़ाना । विगड़ना । मौह जोहना = प्रसन्न रखने के लिये

सौख्य पर चलना । खुशामद करना । उ०—अकलन को

हियू और को है । बिरद गरीबनेवाज कीन को भौह जासु

जन जोहे ।—मुलसी । मौह ताकना = फिंग की प्रशंसा

या विचार का ध्यान रखना । रम्य देखना ।

मौह-संज्ञा पुं० [सं० भ्र] संसार । जगत । दुनियाँ ।

संज्ञा पुं० [सं० भ्र] दर । लौक । भय । उ०—भैरो भलो

क्रियो राम आपनी भलाई ।.....लोक कई राम को

गुलाम हैं कहावै । ए तो पक्षी अपनाय मन भी न पावै ।

—मुलसी ।

मौका-संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० भीका] वकी दौरी । टोकरा ।

मौगिया-संज्ञा पुं० [हिं० भोग + व्या (प्रत्यय)] संसार के सुखों

का भोग करनेवाला । वह जो सांसारिक सुख भोगता हो ।

मौगोलिक-वि० [सं०] भूगोल संबंधी । भूगोल का ।

मौचक-वि० [हिं० मच + चकन] जो कोई विलक्षण बात या

आकस्मिक घटना देखकर बचरा गया हो । हक्का बक्का ।

चक्ककाया हुआ । स्तमित ।

क्रि० प्र०—रह जाना ।—होना ।

मौचाली-संज्ञा पुं० देश० "मूर्कप" ।

माजल-संज्ञा स्त्री० [हिं० भावज] भाई की पत्नी । मौजाई । भावज ।

उ०—नरैद मौज परंपर च्यो है मोर नाम कहि लोहा ।

—कबीर ।

भाजार्ह-संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रातृजाया] भाई की माया । भ्रातृवधू ।

भावज । मामी ।

भाज्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह राज्य प्रबंध जिसमें प्रजा से राजा

लाम तो उठता हो, पर प्रजा के सत्त्वों का कुछ विचार न

करता हो । वह राज्य जो केवल सुख-भोग के विचार से

होता हो, प्रजा-पालन के विचार से नहीं । इसमें प्रजा सदा

दुःखी रहती है ।

मौडा-संज्ञा पुं० [देश०] छोटा पहाड़ । टीला । पहाड़ी ।

मौतिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । (२) मुक्ता । मोती ।
(३) उपद्रव । (४) आधि-व्याधि । (५) भौल, नाक
आदि इंद्रियाँ ।

वि० (१) पंचभूत संबंधी । (२) पौर्वा भूतों से बना हुआ ।

पार्थिव । उ०—भौतिक देह जीव अभिमानी देखत ही

दुख लयो ।—सूर । (३) शरीर संबंधी । शरीर का ।

यौ०—भौतिक सृष्टि ।

(४) भूतयोनि से संबंध रखनेवाला ।

यौ०—भौतिक विद्या ।

भौतिक विद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विद्या जिसके अनुसार भूत
प्रेत आदि से बातें की जाती हैं और उनके अमृत व्यापार
जाने अथवा रोके जाते हैं । भूतों-प्रेतों को धुलाने और बुर
करने की विद्या ।

भौतिक सृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] आठ प्रकार की देव-योनि, पाँच
प्रकार की तिर्यग्योनि और मनुष्य योनि, इन सबकी समाधि ।

भौती-संज्ञा स्त्री० [सं०] रात । रात्रि । रतनी ।

भू संज्ञा स्त्री० [देश०] एक बालिस्त लंबी और पतली लकड़ी

जिसकी सहायता से ताने का चरखा घुमाते हैं । भैरवी ।

(जुलहा)

भौत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भूति मुनि के पुत्र और
चौदहवें मनु का नाम ।

भौन-संज्ञा पुं० [सं० भवन] घर । मकान ।

भौना-संज्ञा-क्रि० प्र० [सं० जगप] चक्कर लगाना । घूमना ।

भौम-वि० [सं०] (१) भूमि संबंधी । भूमि का । (२) भूमि से

उत्पन्न । पृथ्वी से उत्पन्न । जैसे,—मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि ।

संज्ञा पुं० (१) मंगल ग्रह । (२) भूपर । (३) छाल पुनर्नवा ।

(४) योग में एक प्रकार का भासन । (५) वह केतु या

पुच्छल तारा जो दिव्य और अंतरिक्ष के परे हो ।

भौमदेव-संज्ञा पुं० [सं०] संहितविस्तर के अनुसार प्राचीन काल
की एक प्रकार की लिपि ।

भौम प्रदोष-संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रदोष व्रत जो मंगलवार को

पड़े । वह त्रयोदशी जो मंगलवार के सातवें काल में पड़े ।

इस प्रदोष का माहात्म्य साधारण प्रदोष की अपेक्षा कुछ

विशेष माना जाता है ।

भौमरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] मूँग ।

भौमराशि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेष और वृष राशियाँ ।

भौमवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] भौमासुर की स्त्री का नाम ।

भौमवार-संज्ञा पुं० [सं०] मंगलवार ।

भौमासुर-संज्ञा पुं० [सं०] मरकासुर नाम का असुर । वि० देश०

"नरकासुर" ।

भौमिक-संज्ञा पुं० [सं०] भूमि का अधिकारी या स्वामी ।

जमींदार ।

अमरातिथि-संज्ञा पुं० [सं०] चंपा का वृक्ष ।
 अमरावली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मंत्रों की श्रेणी । (२) एक वृक्ष का नाम जिसे नलिनी या मनहरण भी कहते हैं । इसके प्रत्येक पत्र में पाँच सगुण होते हैं । उ०—ससि सौ सु सती शयनंदन को पदना । सरिकें पुलकों मिथिलापुर की छलना । तिनके मुर में दिना फूल रहीं द्यहैं । पुर में नलिनी विकसीं जनु ओर चहैं ।—जगन्नाथ ।
 अमरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलका नामक रत्ता । पुत्रदात्री । पद्मदी । (२) मिरगी रोग । (३) पार्वती । (४) भौरे की मादा । भौरी ।
 अमरेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का द्योनाक ।
 अमरेष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुई-आसुन । (२) मरंगी ।
 अमवात-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश का वह वायुमंडल जो सर्वदा घूमा करता है । उ०—स्वर्गो गत चले मम जात परे अमवात न भूतल आए ।—तुलसी ।
 अमात्मक-वि० [सं०] जिससे अथवा जिसके संबंध में अम उत्पन्न होता हो । संदिग्ध ।
 अमानाक्ष-वि० सं० [हि० अमाना का सं०] (१) घुमाना । फिराना । (२) धोखे में डालना । भटकाना ।
 अमासक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो अन्न दान्य आदि साक करता हो ।
 अमित-वि० [सं०] (१) जिसे अम हुआ हो । शक्ति । (२) घूमता हुआ ।
 अमितनेत्र-वि० [सं०] पंचाताना ।
 अमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घूमना-फिरना । भ्रमण । (२) चकर लगाना । फेरी देना । (३) सेना की वह रचना जिसमें सैनिक मंडल बर्यिकर खड़े होते हैं । (४) तेज बहते हुए पानी में का भीर । नौद । (५) कुहरार का चक्र ।
 वि० [सं० अमि] (१) जिसे अम हुआ हो । (२) चरित । मोक्षक । उ०—किपी वेदविद्या प्रमाई अमी सी ।—केशव ।
 अष्ट-वि० [सं०] (१) नीचे गिरा हुआ । पतित । (२) जो खराब हो गया हो । जो अच्छी दशा में वा काम का न रह गया हो । बहुत बिगड़ा हुआ । (३) जिसमें कोई दोष आ गया हो । दूषित । (४) जिसका आचरण खराब हो गया हो । डूरी चाल-चलनवाला । बद-चलन । दुराचारी ।
 अष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुंश्ली । कुलटा । छिनाल ।
 अष्टा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तलवार के ३२ हाथों में से एक । तलवार को गोलाकार घुमाना । इसके द्वारा दूसरे के चलाए हुए हाथ को, व्यर्थ किया जाता है । (२) राज-घुसरा । (३) मस्त हाथी । (४) घूमना-फिरना । भ्रमण ।
 वि० [सं०] (१) जिसे अति या अम हुआ हो । धोखे में

आया हुआ । भुला हुआ । (२) व्याकुल । घबराया हुआ । हथा हथा । (३) उन्मत्त । (४) घुमाया हुआ ।
 अंतापद्धति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक काव्यालंकार जिसमें किसी अति को दूर करने के लिये सत्य वस्तु का वर्णन होता है ।
 अंति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अम । धोखा । (२) संदेह । संशय । दाक । (३) भ्रमण । (४) पागलपन । (५) भँवरी । घुमेर । (६) भूलचूक । (७) मोह । प्रमाद । (८) एक प्रकार का काव्यालंकार । इसमें किसी वस्तु को, दूसरी वस्तु के साथ उसकी समानता देखकर, अम से वह दूसरी वस्तु ही समझ लेना वर्णित होता है । जैसे,—अटारी पर नायिका को देखकर कहना—हैं ! यह चंद्रमा कहाँ से निकल आया !
 अज-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम को गवामयन स्त्र में विषुव नामक प्रधान दिन में गाया जाता था ।
 अजक-संज्ञा पुं० [सं०] धैर्यक के अनुसार लघा में रहनेवाला पिच । शरीर में जो कुछ तेल आदि मला जाता है, उसका परिष्कार इसी पिच के द्वारा होना माना जाता है ।
 अजनाक्ष-वि० सं० [सं० अजन = शीघ्र] (१) शोभा पाना । शोभायमान होना । उ०—(क) उर आयत अजत बिबिध बाल विभूषन बीर ।—तुलसी । (ख) केही पण्ड मुकुट सिर आवत । गीरी राग मिले सुर गावत ।—सूर ।
 अजमानल-वि० [हि० अजना + मान (प्रत्य०)] शोभायमान ।
 अजिर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भीष मन्वंतर के एक प्रकार के देवता ।
 अजक-संज्ञा पुं० दे० “अजा” ।
 अजा-संज्ञा पुं० [सं० अज] सगा भाई । सहोदर ।
 अजाक-संज्ञा पुं० [सं०] वह धन आदि जो भाई से मिला हो ।
 अजाक-संज्ञा पुं० [सं०] [ओ० अजा] भाई का लड़का । भतीजा ।
 अजाजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] भाई की स्त्री । भौजाई । भाभी ।
 अजाक-संज्ञा पुं० [सं०] भाई होने का भाव या धर्म (भाईपन) ।
 अजाद्वितीया-संज्ञा स्त्री० [सं०] कात्तिक शुद्ध द्वितीया । यम द्वितीया । भाई दूज ।
 विशेष—इस दिन यम और चित्रगुप्त का पूजन किया जाता है, यदनों से तिलक लगाया जाता है, उन्हीं के दिए हुए पदार्थ खाए जाते हैं और उन्हें कुछ द्रव्य दिया जाता है ।
 अजापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] भाई का लड़का । भतीजा ।
 अजापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] भाई का सा प्रेम या संबंध । भाई-चारा । भाईपन ।
 अजापुत्र-संज्ञा स्त्री० [सं०] भौजाई । भाभी । भावज ।
 अजापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] भाई का लड़का । भतीजा ।
 अजापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] पति का बड़ा भाई । जेठ । असुर ।
 अजामक-वि० [सं०] (१) अम में डालनेवाला । यहकानेवाला ।

घोले में डालनेवाला । (२) सँदेह उत्पन्न करनेवाला । (३) घुमानेवाला । चक्कर दिलानेवाला । (४) भूत । चालबाज ।
 घंटा पुं० (१) गीतद । सियार । (२) चुंबक पत्थर । (३) कानि लोहा ।

अमर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमर से उत्पन्न, मधु । सहद ।
 (२) दोहे का दूसरा भेद । इसमें २१ गुरु और ६ लघु मात्राएँ होती हैं । उ०—माघो मेरे ही घसी राखो मेरी छाज । कामो कोयी छंपटी जानि न छोड़ो काज । (३) यह नृप्य जिसमें बहुत से लोग मंडल बनाकर नाचते हैं । रास ।
 (४) चुंबक पाथर । (५) अपस्मार रोग ।
 वि० अमर संपंधी । अमर का ।

आमरी-संज्ञा पुं० [सं० आमरिन्] जिसे आमर या अपस्मार रोग हुआ हो ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती । (२) पुत्रदात्री नाम की उता ।

आम्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश । (२) यह वस्तुन जिसमें भद्रभूजे बनाज रखकर भूजते हैं ।

आम्रकि-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोप-प्रवर्तक क्रिय का नाम ।

आम्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] क्षीर की एक जाड़ी का नाम ।

मुकुंज-संज्ञा पुं० [सं०] यह नट जो स्त्री का वेप धारण करके नाचता हो ।

मुकुटि-संज्ञा स्त्री० दे० “मुकुटी” ।

मुकुटिमुख-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सॉप ।

भू-संज्ञा स्त्री० [सं०] आँखों के ऊपर के बाज । भौ । मूँ ।

मि० प्र०—चलना ।—मटकना ।—दिलाना ।

भूण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्री का गर्भ । (२) बालक हो वह समय की अवस्था जब कि वह गर्भ में रहता है । बाल की जन्म होने से पहले की अवस्था ।

भूणहत्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] गर्भ गिराकर या भीर किसी बच्चे गर्भ में आए हुए बालक की हत्या । गर्भ के बालक की हत्या ।

भूणहृत्-संज्ञा पुं० [सं० भूणहृत्] वह जिसने भूणहत्या की हो ।

भूषकाश-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का काला रंग मिट्टे शृंगार आदि के लिये मँह बनाते हैं ।

भूभंग-संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध आदि प्रवृत्त करने के लिये मँह चढ़ाना । स्त्री की चढ़ाना । उ०—मम रज उर हार कल के काल इत भूभंग की भाँषी ।—सू ।

भूविलेप-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री की चढ़ाना । नाताजगो दिलाना । भूभंग ।

भ्रैय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाश । (२) चलना । गमन । (३) भय । डर ।

भ्रौणहत्या-संज्ञा स्त्री० दे० “भूणहत्या” ।

भ्यहरनाभ-कि० प्र० [हि० भय + हरना (भाव०)] भयभीत होना । डरना ।

भ्यासर्प-वि० [दे०] बेबहक । मूर्त ।

म

म-हिंदी वर्णमाला का पच्चीसवाँ स्वरजन और प-वर्ग का अंतिम वर्ण । इसका उच्चारण स्थान होंठ और नासिका है । गिट्ठा के अगले भाग का दोनों होंठों से स्पर्श होने पर इसका उच्चारण होता है । यह स्पर्श और अनुनासिक वर्ण है । इसके उच्चारण में संवार, नादोप और अल्पप्राण प्रयत्न करते हैं । प, फ, ब और म इसके सवर्ण हैं ।

मंकलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक कर्ष का नाम । (२) महा-भाग के अनुसार एक पक्ष का नाम ।

मंजुर-संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गम । सीमा ।

मंखी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बघों के बंद में पहनाने का एक गहना ।

मंग-संज्ञा पुं० [सं०] माघ का अगला भाग । गणपती ।

मंगला-संज्ञा पुं० [हि० मंगला + ल (भाव०)] मिश्रमंगल । मिश्रक ।

मंगल-संज्ञा पुं० [हि० मंगल] मिश्रमंगल । मिश्रक ।

मंगनी-संज्ञा स्त्री० [हि० मंगल + नी (भाव०)] (१) मँगने की क्रिया या भाव । (२) वह पदार्थ जो किसी भी इस शर्त

पर मँगकर लिया जाय कि कुछ समय तक काम लेने के उपरांत फिर छोटा दिया जायगा । शिमे,—मँगनी की गाड़ी, मँगनी की किताब । (३) इस प्रकार मँगने को मिया या माय ।

मि० प्र०—देना ।—मँगना ।—देना ।

(४) विवाह के पहले की वह रहम जिसके अनुसार भा और कन्या का संबंध निश्चित होता है । शिमे,—बट मँगनी, पट ब्याह ।

विशेष—साधारणतः घर पक्ष के लोग कन्या-वारिकानी में विवाह के लिये कन्या मँगना करते हैं, और जब घर तथा कन्या के विवाह की बातचीत पक्की होती है, तब उन्हें मँगनी कहते हैं । इसके कुछ दिनों के उपरांत विवाह होता है । मँगनी केवल सामाजिक रीति है, कोई धार्मिक रूप नहीं है । अतः एक स्थान पर मँगनी को माने पर सर्वत्र पूरा सत्कार है और दूसरी जगह विवाह ही सत्कार है ।

मंगल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमीट की सिद्धि । मनोकामना का पूर्ण होना । (२) कल्याण । कुशल । मलाई । जैसे,—आपका मंगल हो । (३) सौर जगत का एक प्रसिद्ध ग्रह जो पृथ्वी के उपरांत पहले पहल पड़ता है और जो सूर्य से १४,१५,००,००० मील दूर है । यह हमारी पृथ्वी से बहुत ही छोटा और चंद्रमा से प्रायः दूना है । इसका वर्ष अथवा सूर्य की एक बार परिक्रमा करने का काल हमारे ६८७ दिनों का होता है; और इसका दिन हमारे दिन की अपेक्षा प्रायः आध घंटा बढ़ा होता है । इसके साथ दो उपग्रह या चंद्रमा हैं जिनमें से एक प्रायः आठ घंटे में और दूसरा प्रायः तीस घंटे में इसकी परिक्रमा करता है । इसका रंग गहरा लाल है । अनुमान किया जाता है कि इस ग्रह में स्थल और नहरों आदि की बहुत अधिकता है और यहाँ का जल-वायु हमारी पृथ्वी के जल-वायु के बहुत कुछ समान है । पुराणानुसार यह ग्रह पुरुष, क्षत्रिय, साम-वैश्य, भरद्वाज मुनि का पुत्र, चतुर्भुज, चारों भुजाओं में शक्ति, वर, भय तथा रादा का धारण करनेवाला, पिच प्रकृति, युवा, क्रूर, वनचारी, गेरू आदि पशुओं तथा लाल रंग के समस्त पदार्थों का स्वामी और कुछ अंगहीन माना जाता है । इसके अधिष्ठाता देवता कार्तिकेय कहे गए हैं और यह अवृत्ति देश का अधिपति बतलाया गया है । मूलवैवर्त पुराण में लिखा है कि एक बार पृथ्वी विष्णु भगवान् पर आसक्त होकर पुवती का रूप धारण करने के उनके पास गई थी । जब विष्णु उसका शृंगार करने लगे, तब यह स्मृति हो गई । उसी दशा में विष्णु ने उससे संभोग किया, जिससे मंगल की उत्पत्ति हुई । पद्मपुराण में लिखा है एक बार विष्णु का पत्नीना पृथ्वी पर गिरा था, जिससे मंगल की उत्पत्ति हुई । मत्स्यपुराण में लिखा है कि दक्ष का नाम करने के लिये महादेव ने जिस वीरभद्र को उत्पन्न किया था, वही वीरभद्र पीछे से मंगल हुआ । इसी प्रकार भिन्न भिन्न पुराणों में इसकी उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ दी हुई हैं ।

पर्याय—भंगारक । भीम । कुज । यक्र । महीसुत । छोहिलांग । कृष्णांतक । आवनेय ।

(४) एक बार जो इस ग्रह के नाम से प्रसिद्ध है । मंगल-वार । (५) विष्णु ।

मंगलचंडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम ।

मंगलव्याय-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ का पेड़ ।

मंगलपाठक-संज्ञा पुं० [सं०] यह जो राजाओं की स्तुति आदि करता हो । वंदीजन ।

मंगलप्रद-वि० [सं०] जिससे मंगल होता हो । मंगल करनेवाला ।

मंगलप्रदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हल्दी । (२) शमी का वृक्ष ।

मंगलप्रत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

मंगलवाद-संज्ञा पुं० [सं०] आत्मीवाद । आशोप ।

मंगलवार-संज्ञा पुं० [सं०] सात वारों में तीसरा वार जो सोम-वार के उपरांत और बुधवार के पहले पड़ता है । सोमवार ।

मंगलसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह तामा जो किसी देवता के प्रसाद रूप में किसी शुभ अवसर पर कलाई में बाँधा जाता है ।

मंगलज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्ञान जो मंगल की कामना से अथवा किसी शुभ अवसर पर किया जाता है ।

मंगला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती । (२) सफेद दूध । (३) पतिप्रता स्त्री । (४) एक प्रकार का करंज । (५) हल्दी ।

(६) नीली दूध ।

मंगलाचरण-संज्ञा पुं० [सं०] वह श्लोक या पद आदि जो किसी शुभ कार्य के आरंभ में मंगल की कामना से पढ़ा, लिखा या कहा जाय ।

मंगलामुखी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मंगल + मुखी । वैश्या । रंढी ।

मंगलारंभ-संज्ञा पुं० [सं०] गणेश ।

मंगलालय-संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर ।

मंगलाग्रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) एक ग्रह जो क्षिप्रा पार्वती के उद्देश्य से काती है ।

मंगलो-वि० [सं०] मंगल (ग्रह) जिसकी जन्मकुंडली के चौथे, आठवें या बारहवें स्थान में मंगल ग्रह पड़ा हो । (ऐसा की या पुरुष, फलित ज्योतिष के अनुसार, कई बातों में बुरा और विशेषतः विवाह संबंध के लिये बहुत ही बुरा और अनुपयुक्त समझा जाता है; और वर या कन्या में से जो मंगली होता है, वह दूसरे पर भारी माना जाता है ।)

मंगल्य-वि० [सं०] (१) मंगलकारक । मंगल या कल्याण करने-वाला । (२) सुंदर । (३) साधु ।

संज्ञा पुं० (१) प्रायमाना लता । (२) अश्वत्थ । (३) बेल । (४) मसूर । (५) जीवक वृक्ष । (६) नारियल । (७) कैय । (८) रीठा करंज । (९) दही । (१०) चंदन । (११) सोना । (१२) सिंदूर ।

मंगल्यकुसुमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखपुष्पी ।

मंगल्य-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का अगर जिसमें चमेली की सी गंध होती है । (२) शमी । (३) सफेद बच । (४) रोचना । (५) शंखपुष्पी । (६) जीवन्ती । (७) कद्दि लता । (८) हल्दी । (९) दूध । (१०) दुर्गा का एक नाम ।

मंगवाना-किं० सं० [हिं० मँगना का प्रेर०] (१) मँगने का काम दूसरे से कराना । किसी को मँगने में प्रवृत्त करना । जैसे,—तुम्हारे ये लक्षण तुमसे भीख मँगवाकर छोड़ेंगे । (२) किसी को कोई चीज मोल खरीदकर या किसी से मँगकर लाने में प्रवृत्त करना । जैसे,—(क) अगर मैं किताब मँगवाऊँ,

तो भेज दीजिएगा । (ख) एक रुपय की मिठाई मँगवा लो ।

संघो० भि०—देना ।—रपना ।—लेना ।

मँगाना—कि० सं० [दि० मँगाना का प्रेर०] (१) दे० “मँगवाना” ।

(२) मँगनी का संबंध कराना । विवाह की बातचीत पक्की कराना ।

मँगेतद—वि० [दि० मँगनी + एत (प्रत्य०)] जिसकी किसी के साथ मँगनी हुई हो । किसी के साथ जिसके विवाह की बातचीत पक्की हो गई हो ।

मँगोल—संज्ञा पुं० [मंगोलिया प्रदेश से] मध्य एशिया और उसके पुरुष की ओर (तातर, चीन, जापान में) बसनेवाली एक जाति जिसका रंग पीला, नाक चिपटी और चेहरा चौड़ा होता है ।

विशेष—पृथ्वी के मनुष्यों के जो प्रधान चार वर्ग किए गए हैं, उनमें एक मँगोल भी है जिसके अंतर्गत नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान आदि के निवासी माने जाते हैं । आज से छः सान सौ वर्ष पहले इस जाति के लोगों ने एशिया के बहुत बड़े और यूरोप के कुछ भाग पर भी अधिकार कर लिया था ।

मंच, मंचक—संज्ञा पुं० [मं०] (१) खाट । खटिया । (२) खाट की तरह बुनी हुई पीढ़ने की छोटी पीड़ी । मैचिया । (३) ऊँचा बना हुआ मंचल जिस पर पैदल चलनेवालों के सामने किसी प्रकार का कार्य किया जाय । जैसे,—रंगमंच ।

मंचपत्री—संज्ञा स्त्री० [मं०] मुरपत्री नाम की लता ।

मंचकाधय—संज्ञा पुं० [मं०] गन्धमल ।

मंचकामुर—संज्ञा पुं० [मं०] दुर्गागानुसार एक अनुर का नाम ।

मंचमंडप—संज्ञा पुं० [मं०] मैनों में बनी हुई वह मंगान जिस पर पतिविरा लोग धरकर पशुओं आदि से मैनों की रक्षा करते हैं ।

मंजर—संज्ञा पुं० [मं०] (१) मोती । (२) निज का पीषा ।

मंजरिका—संज्ञा स्त्री० दे० “मंजरी” ।

मंजरी—संज्ञा स्त्री० [मं०] (१) छोटे पीषे या लता आदि का मया निरुद्धा टुप्पा बरता । कौल । (२) कुछ विलिप्त बुरों या पीषों से क्लेश या कलेश के म्यान में एक रसिकों में लगे हुए बहुत से दावों का समूह । जैसे,—गाम की मंजरी, तुलसी की मंजरी । (३) मोती । (४) निज का पीषा । (५) लता । दे० । (६) तुलसी ।

मंजरीक—संज्ञा पुं० [मं०] (१) तुलसी । (२) मोती । (३) निज का पीषा । (४) रसिक (लता) । (५) अनाक का वृक्ष ।

मंजि—संज्ञा स्त्री० दे० “मंजरी” ।

मंजिका—संज्ञा स्त्री० [मं०] बेदिया । रंटी ।

मंजिफाला—संज्ञा स्त्री० [मं०] कंबा ।

मंजिहा—संज्ञा स्त्री० [मं०] मंजिह ।

मंजिहामेह—संज्ञा पुं० [मं०] मनुष्य के अनुसार एक प्रकार का प्रमेद जिसमें मंजिह के पानी के मगान मृत् होता है ।

मंजी—संज्ञा स्त्री० दे० “मंजरी” ।

मंजीर—संज्ञा पुं० [मं०] (१) मुर । सुवर । (२) वह मंजीर लकड़ी जिसमें मथानी का डंढा पैसा रहता है । (३) एक पहाड़ी जाति जो पश्चिमी बंगाल में रहती है ।

मंजु—वि० [मं०] सुंदर । मनोहर ।

मंजुकेशी—संज्ञा पुं० [मं० मंजु + केश] श्रीहृण ।

मंजुगर्त—संज्ञा पुं० [मं०] नेपाल देना का प्राचीन नाम ।

मंजुघोष—संज्ञा पुं० [मं०] (१) तापिहों के एक देवता का नाम । कहते हैं कि इनका पूजन करने से मृत्ता दूर होती है ।

(२) एक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य जो बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये चीन गए थे । कहा जाता है कि मि स्थान पर आजकल नेपाल देता है, उस स्थान पर पहले था । इन्होंने मार्ग बनाकर वह जल निकाला था और वेना को मनुष्यों के रहने के योग्य बनाया था । इन्हें मंजु और मंजुधी भी कहते हैं ।

मंजुघोषा—संज्ञा स्त्री० [मं०] एक अक्षरा का नाम ।

मंजुदेव—संज्ञा पुं० दे० “मंजुघोष” (२) ।

मंजुनाथ—संज्ञा स्त्री० [मं०] (१) दुर्गा का एक नाम । (२) दुर्गा का एक नाम ।

मंजुपाठक—संज्ञा पुं० [मं०] होना ।

मंजुप्राण—संज्ञा पुं० [मं०] मृदा ।

मंजुगद्—संज्ञा पुं० दे० “मंजुघोष” (२) ।

मंजुल—वि० [मं०] सुंदर । मनोहर । मृन्मूलतः ।

संज्ञा पुं० (१) नदी या जलाशय का किनारा । (२) दुर्ग ।

मंजुला—संज्ञा स्त्री० [मं०] एक नदी का नाम ।

मंजुवय—संज्ञा पुं० [मं०] बौद्धों के एक देवता का नाम ।

मंजुथी—संज्ञा पुं० दे० “मंजुघोष” (२) ।

मंजूर—वि० [मं०] जो मान लिया गया हो । स्वीकृत ।

मंजूरी—संज्ञा स्त्री० [मं० मंजूर + ई (प्रत्य०)] मंजूर होने का भाव । स्वीकृति ।

मि० प्र०—देना ।—पाना ।—मँगना ।—मिडना ।—मँगना ।

मंजूवा—संज्ञा स्त्री० [मं०] (१) छोटा निहार या दिवारा । रिता । (२) पाथर । (३) मसीठ ।

मंजूसा—संज्ञा पुं० दे० “मंजूषा” ।

मंजूषा—वि० [मं० मंजु + षा (प्रत्य०)] मंजु का । पीष का । जो हो के पीष में हो ।

संज्ञा पुं० (१) मृत जानने के पक्ष में वह मन्त्र का मन्त्र जिसके ऊपर मान रहती है । मुद्रा । (२) अक्षरों के बीच की लकड़ी । मंजुष ।

संज्ञा स्त्री० वह भुजि जो सोपंड और पाजों के बीच में हो । संज्ञा पुं० [मं० मंजु] (१) पीरी । (२) बर्तन । मंजु (मंजुष) ।

संज्ञा पुं० [हि० मण्डना] यह पदार्थ जिससे रस्सी वा पर्तन की ओर को मँजते हैं । मँझा ।

मुद्रा०—मँझा देना = मँजना । ऐस चढ़ाना ।

मंड-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का मैदे का बना हुआ एकत्रान जो शरीर में ड्रुयोया हुआ होता था ।

मंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपले हुए चावलें आदि का गाढ़ा पानी । भात का पानी । मँद । (२) पिच्छ । सार । (३) दण्ड वृक्ष । भंडी । (४) भूषा । सजावट । (५) मंडक ।

(६) एक प्रकार का साग ।

मंडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का विष्क । मैदे की एक प्रकार की रोटी । मँझा । (२) माधवी लता । (३) गीत का एक अंग ।

मंडन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शृंगार करना । अलंकरण । सजाना । सँवारना । (२) बुक्ति आदि देकर किसी कथन या सिद्धांत का पुष्टीकरण । प्रमाण आदि द्वारा कोई बात सिद्ध करना । 'खंडन' का वलटा । जैसे,—पक्ष का मंडन ।

मंडना-कि० सं० [सं० मंडन] (१) मंडित करना । सुसजित करना । सँवारना । भूषित करना । शृंगार करना । (२) बुक्ति आदि देकर सिद्ध या प्रतिपादित करना । समर्थन या पुष्टिकरण करना ।

कि० सं० [सं० मंदन] मंडित करना । दलित करना । मँझना । उ०—प्रबल प्रचंड भरिबंड बाहुदंड खंडि मंडि मेदिनी को मंडलीक-लीक छोपिहं ।—तुलसी ।

मंडप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐसा स्थान जहाँ बहुत से लोग धूप, वर्षा आदि से बचते हुए बैठ सकें । विग्राम स्थान । घर । जैसे,—देव मंडप । (२) बहुत से आदिमियों के बैठने योग्य चारों ओर से सुला, पर ऊपर से छाया हुआ स्थान । बारहदरी ।

विशेष—ऐसा स्थान प्रायः पट्टे हुए चवुतरों के रूप में होता जिसके ऊपर खंभों पर टिकी छत या छाजन होती है । देवमंदिरों के सामने नृत्य गीत आदि के लिये भी ऐसा स्थान प्रायः होता है ।

(३) किसी उत्सव या समारोह के लिये बॉस, फूस आदि से ढाकर बनाया हुआ स्थान । जैसे,—चक्रमंडप, विवाह-मंडप । (४) देवमंदिर के ऊपर का गोल या गावदुम हिस्सा । (५) चंदोवा । शामियाना ।

मंडपिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा मंडप ।

मंडपी-संज्ञा स्त्री० [सं० मंडप] छोटा मंडप । मंडी ।

मंडर-संज्ञा पुं० दे० "मंडल" ।

मँडरना-कि० प्र० [सं० मंडल] मंडल बाँधकर छा जाना । चारों ओर से घेर लेना । उ०—दक्षिण ताल घुर मंडरे रंग हो हो होरी ।—सूर ।

मँडरना-कि० प्र० [सं० मंडल] (१) मंडल बाँधकर उड़ना ।

किसी वस्तु के चारों ओर घूमते हुए उड़ना । चकर देते हुए उड़ना । जैसे,—घील का मँडरना । उ०—हंस को मैं अंश राख्यो काग दत्त मँडराप ?—सूर । (२) किसी के चारों ओर घूमना । परिक्रमण करना । उ०—मंडप ही मैं फिर मँडरत न जात कहूँ तजि नेह को ओनो ।—पद्माकर । (३) किसी के आस पास ही घूम फिरकर रहना । उ०—देखहु जाप और काहू को हरि पै सदै रहति मँडरानी ।—सूर ।

मँडरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] पयाल की यन्नी हुई गाँदरी या चट्टाई । मंडल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चक्र के आकार का घेरा । किसी एक बिंदु से समान अंतर पर चारों ओर घूमि हुई परिधि । चकर । गोलाई । वृत्त ।

मुद्रा०—मंडल बाँधना = (१) चारों ओर दृष्ट की रेखा के रूप में फिरना । चकर काटना । जैसे, मंडल बाँधकर नाचना । (२) चारों ओर घेरना । चारों ओर से छा जाना । जैसे,—बादलों का मंडल बाँधकर बरसना । (३) अंधेरे का चारों ओर छा जाना ।

(४) गोल फैलाव । वृत्ताकार वा अंडाकार विस्तार । गोला । जैसे,—सूर्यमंडल । (५) चंद्रमा वा सूर्य के चारों ओर पड़ने-वाला घेरा जो कभी कभी आकाश में बादलों की बहुत हलकी तरह या झुहरा रहने पर दिखाई पड़ता है । परिवेश ।

(६) किसी वस्तु का वह गोल भाग जो अपनी दृष्टि के सममुख हो । जैसे,—चंद्रमंडल, सूर्यमंडल, सुलमंडल । (७) चारों दिशाओं का घेरा जो गोल दिखाई पड़ता है । क्षितिज । (८) बारह राश्यों का समूह ।

यौ०—मंडलेघर ।

(९) चाबीस योजन लंबा और बीस योजन चौड़ा भूमिखंड वा प्रदेश । (१०) समाज । समूह । ससुदार । जैसे,—मिश्रमंडल । उ०—गोपिन मंडल मध्य विराजत निसि दिन करत विहार ।—सूर । (११) एक प्रकार का म्यूह । सेना की वृत्ताकार स्थिति । (१२) झुकर । कुत्ता । (१३) एक प्रकार का सर्प । (१४) एक प्रकार का गंधद्रव्य । स्वाग्निरस । बघनही । (१५) एक प्रकार का कुट रोग जिसमें शरीर में चकते से पद जाते हैं । (१६) शरीर की आठ संघियों में से एक । (सुषुप्त) (१७) ग्रह के घूमने की कक्षा । (१८) गेंद । (खेलने का) (१९) कोई गोल दाग वा चिह्न । (२०) कन्देद का एक खंड । (२१) चक्र । चाक । पहिया ।

मंडलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "मंडल" । (२) दर्पण ।

मंडलनृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] गति भेदादुसार नृत्य का एक भेद ।

वृत्त की परिधि के रूप में घूमते हुए नाचना ।

मंडलपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रक्त पुनर्नया । लाल गद्दपत्रिका ।

मंडलपुच्छक-छंदा पुं० [सं०] एक कीड़ा जिसकी सुभ्रत में प्रायःनाशक लिखा है। इसके काँटे से सर्प का सा विष चढ़ता है।

मंडलाकार-वि० [सं०] गोण।

मंडलाग्र-छंदा पुं० [सं०] चौर काढ़ में काम आनेवाला एक प्रकार का शय्य या औज़ार। (सुभ्रत)

मंडलाना-कि० प्र० दे० "मंदराना"।

मंडलायित-वि० [सं०] यत्तुल। गोल।

मंडली-छंदा स्त्री० [सं०] (१) समूह। गोष्टी। समाज। जमाअत। समुदाय। (२) दूध। (३) मुदुच।

छंदा पुं० [सं० मंदरिन्] (१) एक प्रकार का सर्प। सुभ्रत के गिनाए हुए सर्प के आठ भेदों में से एक।

विरोध—इनके शरीर में गोल गोल चित्तियाँ होती हैं और यह भारी होने के कारण चलने में उतने तेज नहीं होते।

(१) घटदूध। (३) बिछी। बिछाल। (४) नेबले की जाति का बिछी की तरह का एक जंतु जिसे बंगाल में छटाश और युग प्रांत में कहीं कहीं सेंचुवार कहते हैं। (५) सूर्य।

उ०—गुरा तेज सहस्र दस मंडली छुपि दस सहस्र कर्मदली। —गोपाल।

मंडलीक-छंदा पुं० [सं० मातृकीक] एक मंडल या १२ राजाओं का अधिपति। उ०—बालक नृपाल जू के कपाल ही रिमाक सोन्यो मंडलीक मंडली प्रताप दाप दाखी री। —गुलसरी।

मंडलेग्र-छंदा पुं० [सं०] एक मंडल का अधिपति। १२ राजाओं का अधिपति।

मैंदुया-छंदा पुं० [सं० मंदर, मा० मंदर] मंदर।

मैंदुहारय-छंदा पुं० [सं०] मंध का व्यवसायी। कठवार।

मैंदो-छंदा पुं० [सं० मंदल] भूमि का एक मान जो दो बिले के धाराय होता है।

मैंदा पुं० [सं०] एक प्रकार की पैंगला मिठाई।

मैंदा स्त्री० [सं०] (१) मुरा। (२) आमलकी।

मैंदाट-छंदा पुं० [सं० मंदर] मुरा।

मैंदित-वि० [सं०] (१) निरुपित। सजाया हुआ। सँवारा हुआ। (२) आप्तादि। छाया हुआ। (३) पूरित। भरा हुआ।

मैंदितार-छंदा पुं० [सं०] शरपरी नामक केंडीली शाही।

मैंदा-छंदा स्त्री० [सं० मंदर] भोज बिछी की जगह। बहुत भारी बाजार जहाँ व्यापार की चीजें बहुत जाती हैं। बड़ा हाट। नीचे—अनाज की मंडी।

मुदा०—मैंदी लगना = बालों, दाढ़ियों को

छंदा स्त्री० [सं० मंदर] भूमि मापने का एक मान जो दो बिलों के बाराय होता है।

मैंदुया-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का दूध।

मैंदुका-छंदा पुं० [सं०] (१) मैंदक। (२) एक फरि। (३) रेत छंद का पाँचवाँ भेद जिसमें १८ गुरु और १२ ह्रस्व आते हैं। (४) रत्नताल के ग्याह भेदों में से एक। (५) प्राचीन काल का एक बाजा। (६) एक प्रकार का नृत्य। (७) घोड़े की एक जाति।

मैंदुकापी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) माछी पुरी। (२) मंत्रि।

मैंदुका-छंदा स्त्री० [सं०] मंत्रि। मंत्री।

मैंदुकी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) माछी। (२) आदिपन्न।

मैंदुर-छंदा पुं० [सं०] लोह कीट। गलपट्ट हुए लोहे की मंड। विषय।

विरोध—यह लोग औपम में इसका व्यवहार कोय कर करते हैं। इसमें लोहे का ही गुण माना जाता है। मंत्रा जितना ही पुराना हो, उतना ही व्यवहार के योग्य और पुनः करी माना जाता है। सौ वर्ष का मैंदुर सब से उन्नत माना गया है। यहदे की लकड़ी में जलाकर सात बार घोड़े में डालने से मैंदुर शुद्ध हो जाता है। इसके सिवम से भा, श्रीहा, कैवल आदि रोग भाराज होते हैं।

मैंटा, मैंदा-छंदा पुं० [सं० मंदर] कमलवाय सुनेवालों का एक औज़ार जो गऊना उठाने में काम आता है। यह पत्ती का होता है जिसमें दो धारें ली निकली होती हैं। जो पर एक टेंद होता है जिसमें एक उंचा पत्ता रहता है।

मैंतकी-छंदा पुं० [सं० मंत्र] (१) सलाह। उ०—(क) रंत मंत्र मैंत कुल अंत किय अंत, दागि हागो रिंरि दिव ये प्रोरो शुज बीस को। —गुलसरी। (ख) मैं जो कहीं रंत मुज मैंत अगयंत सो विमुज दे बाल कल कीन होन्हीं। —गुलसरी।

यौ०—मैंत मैंत = उद्योग। प्रयत्न। उ०—कैसे मैंत मैंत हो देरा। रावो देराय जो वह भा मैरा। —गुलसरी।

(२) मंत्र।

मैंतक्य-वि० [सं०] मानने योग्य। माननीय।

छंदा पुं० विचार। मत।

मैंत्र-छंदा पुं० [सं०] (१) गोप्य या रहस्यपूर्ण बात। रहस्य। परामर्श।

(२) देवाधिपतिव्य गोपनीय आदि वैदिक वाच्य त्रिक के भाग पत्र आदि किया करने का विधान हो।

विरोध—निरुद्ध के अनुसार वैदिक मंत्रों के तीन भेद हैं—परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आप्तामिक। त्रिन मंत्रों द्वारा देवता को परोक्ष मानकर—प्रथम पुरुष की निद्रा का वर्णन करते मन्त्रि आदि की जाती हैं, उतने परोक्षकृत मंत्र कहते हैं। त्रिन मंत्रों में देवता को प्रत्यक्ष मानकर प्रत्यक्षकृत के सर्वनाम और क्रिया का प्रयोग करते उसकी स्तुति की जाती है, उतने प्रत्यक्षकृत कहते हैं। त्रिन मंत्रों में देवता का आशय अपने में करते उक्तप्रत्यक्ष के सर्वनाम और क्रिया

द्वारा उसकी स्तुति आदि की जाती है, ये आप्तात्मिक कहलाते हैं। मंत्रों के विषय प्रायः स्तुति, आशीर्वाद, शपथ, भविष्य, परिदेयता, निन्दा आदि होते हैं। मीमांसा के अनुसार वेदों का वह पात्र जिसके द्वारा किसी कर्म के करने की प्रेरणा पाई जाय, मंत्रपद पात्र्य है। मीमांसक मंत्र को ही देवता मानते हैं और उसके अतिरिक्त देवता नहीं मानते। वैदिक मंत्र गद्य और पद्य दोनों रूपों में पाए जाते हैं। गद्य को यजु और पद्य को ऋचा कहते हैं। जो पद्य गाए जाते हैं, उन्हें साम कहते हैं। इन्हीं तीन प्रकार के मंत्रों द्वारा यज्ञ के सप्त कर्म संपादित होते हैं।

(१) वेदों का वह भाग जिसमें मंत्रों का संग्रह है। संहिता।
(२) मंत्र के अनुसार वे शब्द या पात्र्य जिनका जप मित्र मित्र देवताओं की प्रसन्नता या मित्र मित्र कामनाओं की सिद्धि के लिये करने का विधान है। देसा राज्य या पात्र्य जिसके उच्चारण में कोई वैधी प्रभाव या शक्ति मानी जाती हो। (इन मंत्रों में एकाक्षर मंत्र जो अविस्पष्टार्थ हों, बीज मंत्र कहलाते हैं)।

क्रि० प्र०—पदना।

चौ०—मंत्र संघ वा मंत्र मंत्र = जादू देना। उ०—डाकिनी साकिनी खबर भूचर मंत्र मंत्र मंत्र प्रचल वल्गुपारी।
—गुह्यसी।

मंत्रकार-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्र रचनेवाला व्यक्ति।

मंत्रकृत-वि० [सं०] (१) परामर्शकारी। सलाह देनेवाला।
(२) दौलतकारी।

संज्ञा पुं० [सं०] वेदमंत्र रचनेवाला व्यक्ति। मंत्रकार।

मंत्रगृह-संज्ञा पुं० [सं०] गुह्यघर।

मंत्रगृह-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ मंत्र या सलाह की जाती हो। परामर्श करने के लिये नियत स्थान।

मंत्रजल-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्र से प्रभावित किया हुआ जल।

मंत्रजिह्व-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

मंत्रज्ञ-वि० [सं०] (१) मंत्र जाननेवाला। (२) जिसमें परामर्श देने की योग्यता हो। जो अच्छा परामर्श देना जानता हो। (३) वेद जाननेवाला।

संज्ञा पुं० (१) गुह्यघर। (२) घर। दूत।

मंत्रण-संज्ञा पुं० [सं०] परामर्श। मंत्रणा। सलाह। राय।
—मन्त्रवरा।

मंत्रणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परामर्श। सलाह। मन्त्रवरा।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—लेना।

(२) कई आदमियों की सलाह से स्थिर किया हुआ मत।
मंतव्य।

मंत्रद-वि० [सं०] परामर्श देनेवाला।

संज्ञा पुं० मंत्र देनेवाला, गुरु।

मंत्रदर्शी-वि० [सं० मंत्रदर्शिन] वेदविद। वेदज्ञ।

मंत्रदीधिति-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

मंत्रदुम-संज्ञा पुं० [सं०] चाक्षुष मन्त्रंतर के इंद्र का नाम।

मंत्रधर-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्री।

मंत्रपति-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्र का देवता। मंत्र का अधिष्ठाता देवता।

मंत्रपुत्र-वि० [सं०] जो मंत्र द्वारा पवित्र किया गया हो।

मंत्रवीज-संज्ञा पुं० [सं०] मूल मंत्र।

मंत्रमूल-संज्ञा पुं० [सं०] राज्य।

मंत्रयान-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धधर्म की एक शाखा जिसका प्रचार तिब्बत, नेपाल, भूटान आदि में है। इस संप्रदाय के ग्रंथों में अनेक तंत्र ग्रंथ हैं जिनके अनुसार तांत्रिक उपासना होती है। इस मत के प्रधान आचार्य सिद्ध नागार्जुन माने जाते हैं। इसे यज्ञयान भी कहते हैं।

मंत्रयोग-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्र का प्रयोग। मंत्र पढ़ना।

मंत्रचाद्री-वि० [सं० मंत्रचादित्] (१) मंत्रज्ञ। (२) जो मंत्रोच्चारण करे।

मंत्रविद्-वि० [सं०] (१) मंत्रज्ञ। (२) वेदज्ञ। (३) जो राज्य के रहस्यों को जानता हो।

मंत्रविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] मंत्रविद्या। भोजविद्या। मंत्रशास्त्र। तंत्र।

मंत्रसंस्कार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवाह संस्कार।

यौ०—मंत्र संस्कारकृत = विवाह करनेवाला। विवाहित।

(२) तंत्रानुसार मंत्रों का वह संस्कार जिसके करने का विधान मंत्र ग्रन्थ के पूर्व है और जिसके विना मंत्र फलप्रद नहीं होते। ऐसे संस्कार दस हैं जिनके नाम ये हैं—

(१) जनन—मंत्र का मालुका घंटा से उद्धार करना। इसे मंत्रोद्धार भी कहते हैं।

(२) जीवन—मंत्र के प्रत्येक वर्ण को प्रणय से संसृष्ट करके सौ सौ बार जपना।

(३) तादृन—मंत्र के प्रत्येक वर्ण को दूधरू, दूधरू लिखकर लाल कनेर के फूल से बांधा बीज पद पदकर प्रत्येक वर्ण को सौ सौ बार मारना।

(४) बोधन—मंत्र के लिखे हुए प्रत्येक वर्ण पर 'हुं' बीज से सौ सौ बार लाल कनेर के फूल से मारना।

(५) अभिषेक—मंत्र के प्रत्येक वर्ण को लाल कनेर के फूल से 'हं' बीज द्वारा अभिमंत्रित कर यथाविधि अभिषेक करना।

(६) विमलीकरण—सुपुत्रा नाड़ी में मर्मांगोपादपूर्वक मंत्र की चिन्ता करके मंत्रों के प्रत्येक वर्ण के ऊपर अभ्यर्थ के पल्लव से ज्योति मंत्र द्वारा लाल रत्न चिन्ता।

(७) अय्यापन—ज्योतिर्मंत्र द्वारा सोने के जल, कुम्भोदक या पुष्पोदक से मंत्र के वर्णों को रत्न चिन्ता।

(८) तर्पण—ज्योतिर्मंत्र द्वारा जल से मंत्र के प्रत्येक वर्ण का तर्पण करना ।
 (९) दीपन—ज्योतिर्मंत्र से दीप्ति साधन करना ।
 (१०) गोपन—मंत्र को प्रकट न करके सदा गुप्त रखना और ओठों के बाहर न निकालना ।
 मंत्रसंहिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदों का वह अंश जिसमें मंत्रों का संग्रह हो ।
 मंत्रसिद्ध—वि० [सं०] [स्त्री० मंत्रसिद्धा] जिसको मंत्र सिद्ध हो ।
 जिसका प्रयोग किया हुआ कोई मंत्र निष्फल न जाता हो ।
 मंत्रसिद्धि—संज्ञा स्त्री० [सं०] मंत्र का सिद्ध होना । मंत्र की सफलता । मंत्र में प्रभाव आना ।
 मंत्रसूत्र—संज्ञा पुं० [सं०] वह रेशम या सूत का तागा जो मंत्र पढ़कर धनाया गया हो । गंडा ।
 मंत्रित—वि० [सं०] मंत्र द्वारा संस्कृत । अभिमंत्रित ।
 मंत्रिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मंत्रीका आव वा पद । मंत्रित्र ।
 (२) मंत्री की क्रिया । मंत्री का काम । मंत्रित्व ।
 मंत्रित्व—संज्ञा पुं० [सं०] मंत्री का कार्य वा पद । मंत्रिता । मंत्री-यन ।
 मंत्रिपति—संज्ञा पुं० [सं०] प्रधान अमात्य ।
 मंत्री—संज्ञा पुं० [सं० मंत्रिन्] (१) परामर्श देनेवाला । सलाह देनेवाला । (२) वह पुरुष जिसके परामर्श से राज्य के काम काज होते हैं । सचिव ।
 पर्या—अमात्य । सचिव । धीसल । सामवायिक ।
 (३) शतरंज की एक गोदी का नाम जो राजा से छोटी मानी जाती है और पक्ष की दोष सय गोदियों से श्रेष्ठ होती है । यह देवी सीधी सय प्रकार की चालें चलाती है । इसे यजीर या रानी भी कहते हैं ।
 मंथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मयना । विलोना । (२) हिलाना । झुन्ध करना । (३) मईन । मलना । (४) मारना । ध्वस्त करना । (५) कंपन । (६) एक प्रकार की पीने की वस्तु जो कई द्रव्यों की एक साथ मंथकर बनाते हैं । (७) दूध वा जल में मिलाकर मथा हुआ सत्तू । (८) मथानी । यह औजार जिससे कोई पदार्थ मथा जाता है । (९) मृग की एक जाति का नाम । (१०) सूर्य की किरण । (११) भौल का एक रोग जिसमें भौलों से पानी या कीचड़ बहता है । (१२) एक प्रकार का ज्वर जो घाल-रोग के अंतर्गत माना जाता है । पैचक के अनुसार यह रोग ज्वर में घी खाने और पसीना रोकने से होता है । इसमें रोगी को दाह, भ्रम, नींद और मतली होती है, प्यास अधिक लगती है, मोह नहीं आती, मुँह खल हो जाता है और गले के नीचे छोटे छोटे दागे निकल आते हैं । कभी कभी अतिसार भी होता है । मंथर ।

मंथक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गोत्रकार मुनि का नाम । (२) मंथक मुनि के वंश में उत्पन्न पुरुष ।
 मंथज—संज्ञा पुं० [सं०] नवगीत । नैर्द्व । मंथन ।
 मंथन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मयना । विलोना । (२) भयानक खूब दूध दूधकर तर्कों का पता लगाना । (३) मथानी ।
 मंथपर्वत—संज्ञा पुं० [सं०] मंदर पर्वत ।
 मंथर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) घाल का गुच्छा । (२) कोप । सन्नाना । (३) फल । (४) बाधा । अवरोध । रोक । (५) मथली । (६) कोप । गुस्सा । (७) दूत । गुस्तर । (८) वैताल का महीना । (९) दुर्ग । (१०) भँवर । (११) हरिण । (१२) एक प्रकार का ज्वर । मंथ ज्वर । वि० दे० “मंथ” । (१३) मलत्र । वि० महर । मंद । मुस्त । (२) जड़ । मंदबुद्धि । (३) नाती । स्थूल । (४) झुका हुआ । टेढ़ा । (५) नीच । अधम ।
 मंथरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] रामायण के अनुसार कैकेयी की एक दासी जो उसके साथ मायके से आई थी । इसी के बचाने पर कैकेयी ने रामचंद्र को वनवास और भारत को राज्य देने के लिये महााज दत्तार्थ से अनुरोध किया था ।
 मंथरु—संज्ञा पुं० [सं०] भँवर की वायु ।
 मंथा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी ।
 मंथान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथानी । (२) मंदर नामक पर्वत । (३) महादेव । (४) अमलतास । (५) एक वर्णित छंद जिसके प्रत्येक चरण में दो तगण होते हैं । ४०—गाली कड़ी बान । कौन्ही न सो काम । धयापि आनीन । रे बंदिनी ।—केशव । (६) शेर का एक भेद ।
 मंथिता—वि० [सं० मंथित्] [स्त्री० मंथित्री] मथनेवाला ।
 मंथिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] माठ । मटका ।
 मंथिप—वि० [सं०] मथा हुआ सोम रस पीनेवाला ।
 मंथी—वि० [सं० मंथि] (१) मथनेवाला । (२) पीढ़ाराज । (३) मंथनयुक्त ।
 संज्ञा पुं० मथा हुआ सोम रस ।
 मंद—वि० [सं०] (१) धीमा । सुस्त ।
 फि० प्र०—करना ।—पढ़ना ।—होना ।
 (२) दीछा । सिपिल । (३) आलसी । (४) मूर्ख । दुर्बुद्धि । (५) खल । दुष्ट ।
 संज्ञा पुं० (१) वह हाथी जिसकी छाती और मध्य भाग की चालि दीली हो, पेट खंभा, चमड़ा मोटा, गछा, कोर और पूँछ की चँवरी मोटी हो तथा जिसकी टटि सिंह के समान हो । (२) दानि । (३) यम । (४) अभाव । (५) प्रलय ।
 मंदुली—संज्ञा पुं० [देश०] घोड़े का एक रोग जिससे उसके गले के पास की हड्डी में सूजन आ जाती है ।
 मंदक—वि० [सं०] मूर्ख । निर्बोध ।
 मंदकर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] एक कृत्ति का नाम ।

मंदग-वि० [सं०] [स्त्री० मंदग] घीमा चलनेवाला ।

संज्ञा पुं० महाभारत के अनुसार शक द्वीप के अंतर्गत चार जनपदों में से एक ।

मंदगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] ग्रहों की गति की यह अवस्था जब वे अपनी कक्षा में धूमते हुए सूर्य से दूर निकल जाते हैं ।

मंद-संज्ञा पुं० [सं०] देवदार ।

मंदता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आलस्य । (२) घीमापन । (३) क्षीणता ।

मंदधूप-संज्ञा पुं० [हि० मंद + धूप] काला धूप । काला दामर । वै० "दामर" ।

मंदपरिधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मंदोद्य वृत्ति ।

मंदफल-संज्ञा पुं० [सं०] गणित ज्योतिष में ग्रहगति का एक भेद ।

मंदभागी-वि० [सं०] अभाग्य । हतभाग्य ।

मंदभाग्य-वि० [सं०] दुर्भाग्य । अभाग्य ।

मंदपंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

मंदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत जिससे देवताओं ने समुद्र को मया धा । (२) मंदार । (३) स्वर्ग ।

(४) मोती का वह हार जिसमें आठवा सोलह लक्षियाँ हों ।

(५) मुकुट । वर्षण । आभूषण । (६) इन्द्राद्वीप के एक पर्व का नाम । (७) बृहत्संहिता के अनुसार प्रासादों के बीच भेदों में दूसरा । वह प्रासाद जो छकोना हो और जिसका विस्तार तीस हाथ हो । इसमें दस भूमिकाएँ और अनेक कैंगरे होते हैं । (८) एक वर्ण वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में एक भगण (Sll) होता है ।

वि० (१) मंद । धीमा । (२) मडा ।

मंदरगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंदराचल पर्वत । (२) एक छोटे पहाड़ का नाम जो मैंगर के पास है । इस पर्वत पर हिंदुओं, जैनों और बौद्धों के अनेक मंदिर हैं और सीताकुंड नामक प्रसिद्ध गरम जल का कुंड है ।

मंदरा-वि० [सं० मंदर मि० पं० मंदरा = नाग] [स्त्री० मंदरी] नाटा । डिंगना । उ०—छिवाँ नाटी मंदरी और मंदी से भी जियादः मजबूत होती हैं ।—सिधप्रसाद ।

मंदरा-संज्ञा पुं० [सं० मंडल] एक प्रकार का धान । उ०—मंदरा तुलब सुमह खंजरी डोलक धामक ।—सुदन ।

मंदरी-संज्ञा स्त्री० [देग०] खाने की जाति का एक पेड़ । इसकी लकड़ी मजबूत होती है और खेती के सामान तथा गादियाँ बनाने के काम आती हैं । छाल से चमड़ा सिद्धाया जाता है, फल खाए जाते हैं और पत्तियाँ पशुओं के चारे के काम आती हैं । इसी की जाति का एक और पेड़ होता है जिसे गेंबूली कहते हैं । इसकी छाल पर, जब वे छोटे रहते हैं, कटें होते हैं; पर वृद्धों वृद्धों यदा होता है, छाल साफ होती जाती है । इसकी लकड़ी की लोल प्रति धन फुट २० से ३० सेर

तक होती है और पानी में बहुत दिनों तक रहने पर भी खराब नहीं होती । यह खेरी, गोरखपुर, अजमेर और मध्यप्रान्त के जंगलों में होती है । इसके बीज परसात में बोए जाते हैं ।

मंदसान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि । (२) प्राण । (३) निद्रा ।

मंदसानु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वप्न । (२) जीव ।

मंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सूर्य की वह संक्रांति जो उत्तरा फल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद और रोहिणी नक्षत्र में पड़े । ऐसी संक्रांति में संक्रमणानंतर तीन दंड तक पुण्य काल होता है । (२) वलीकरण । लताकरण ।

वि० [सं० मंद] [स्त्री० मंदी] (१) धीमा । मंद ।

क्रि० प्र०—करना ।—पढ़ना ।—होना ।

(२) शीला । तिथिल । (३) सामान्य मूल्य से कम मूल्य पर विक्रयवाला । जो मईगा न हो । जिसका दाम घोड़ा हो । सस्ता । उ०—मुकुट हॉ नाहिन मन मेरो । गयो लु सग नंद नंदन के बहुरि न कीहौं कैरो । उन नैनन सुसु-कानि मोल है कियो परायो बेरो । जाके हाथ परेउ ताही को बिसरेउ बास बरोरो । को सीछे ता बिनु सुनु चरन योग्य काहे कैरो । मंदो परेउ सिषाउ अनत है यदि निर्गुण मत मेरो ।—सूर । (४) खराब । निरुद्ध । उ०—योग वियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रमफंदा ।—तुलसी ।

(५) विगदा हुआ । नष्ट । झट ।

मंदाकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार गंगा की वह धारा जो स्वर्ग में है । महावैवर्त के अनुसार इसकी धार एक अयुत योजन लंबी है । (२) आकाश गंगा । (३) एक छोटी नदी का नाम जो हिमालय पर्वत में उत्तर काशी में बहती है और माधोरी में मिलती है । (४) महाभारत आदि के अनुसार एक नदी का नाम जो चित्रकूट के पास बहती है । इसे अथ पयस्विनी कहते हैं । उ०—राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट पित चारु । तुलसी सुमग सनेह धन सिय रघुबीर विहार ।—तुलसी । (५) हरिवंश के अनुसार द्वारका के पास की एक नदी का नाम । (६) संक्रांति के सात भेदों में से एक । (७) बारह अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और दो रगण होते हैं (ll, ll, Sll, Sll) ।

मंदाक्रांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सत्रह अक्षरों के एक वर्णवृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में भगण, भगण, नगण और तगण और अंत में दो गुरु होते हैं । अर्थात् ५, ६, ७, ८ और ९ तथा १२ और १३ अक्षर लघु और दीर्घ गुरु होते हैं । (SSS Sll ll Sll Sll Sll) उ०—मेरी भक्ति सुलभ तिहि को शुद्ध है बुद्धि जाकी ।

मंदाग्नि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें रोगी की पाचनशक्ति मंद पड़ जाती है और अन्न नहीं पचा सकती । हारीत का मत है कि मंदाग्नि वात और क्लेमा से होती है । माधव

निदान के मत से कफ की अधिकता से मंदानि होती है। इस रोग में अन्न न पचने के अतिरिक्त रोगी का सिर और उदर भारी रहता है, उसे मतकी आती है, शरीर सिथिल रहता है और पसीना आता है। यह रोग दुःस्वप्न माना जाता है। यद्वज्जमी। अपच।

मंदान-संज्ञा पुं० [?] जहाज का अगला भाग। (लश०)

मंदानल-संज्ञा पुं० [सं०] मंदानि।

मंदार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वर्ग के पाँच धृष्टों में से एक देव-युद्ध। (२) फरहद का पेड़। नहसुत। (३) आक। मंदार। (४) स्वर्ग। (५) हाथ। (६) धनुष। (७) हाथी। (८) हिरण्यकशिपु के एक पुत्र का नाम। (९) मंदराचल पर्वत। (१०) विंध्य पर्वत के किनारे के एक तीर्थ का नाम।

मंदारमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाह्य अक्षरों की एक वर्णवृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सात सगण और अंत में एक गुरु होता है। उ०—मेरी कही मान ले भीत नू जन्म जाई बुधा भापकी सार ले।

मंदारपट्टी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक व्रत जो माघ शुद्ध पक्षी के दिन पड़ता है।

मंदालसा-संज्ञा स्त्री० दे० “मदालसा”।

मंदिकुफुर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली।

मंदिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वासस्थान। (२) घर। (३) देवालय। (४) नगर। (५) सिविर। (६) दालिहोत्र के अनुसार घोड़े की गाय का पिछला भाग। (७) समुद्र। (८) एक गंधर्व का नाम।

मंदिरपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] बिछी।

मंदिरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घोड़साल। अथशाला। (२) मञ्जिरी नामक वाद्य।

मंदिरा-संज्ञा पुं० [सं० मंदिर] (१) घर। (२) देवालय। (३) प्रत्येक रूप या धान आदि के पीछे धूम में से बाटा जानेवाला वह अल्प धन जो किसी मंदिर या धार्मिक कृत्य के लिये दूकानदार दान देते समय कांटे हैं।

कि० प्र०—कटना।—कटना।

मंदी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मंद] भाव का उत्तरना। मँही की क बल्हा। सस्ती।

मंदीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम। (२) मंजीर।

मंदील-संज्ञा पुं० [हिं० मंद] एक प्रकार का सिरपंद जिस पर काम बना रहता है।

मंदुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अथशाला। घोड़साल। (२) बिछाने की थड़ी।

मंदुरिक-संज्ञा पुं० [सं०] सारई।

मंदोद्य-संज्ञा पुं० [सं०] मंही की एक गति जिससे राति यात्रि का संशोधन करते हैं।

मंदोदरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रावण की पटरानी का नाम। या मय की कन्या थी।

वि० सुहम पेटवाली।

मंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गंभीर ध्वनि। (२) संगीत में स्नो के तीन स्वेदों में से एक। इस जाति के स्वर मध्य से अशो दित होते हैं। इसे उदारा या उतार भी कहते हैं। (४) हाथी की एक जाति का नाम। (५) सुदंग।

वि० (१) मनोहर। सुंदर। (२) प्रसन्न। हृष्ट। (३) गंभीर। (४) धीमा। (शब्द आदि)

मंद्राज-संज्ञा पुं० [सं० मद्र] [लो० मंद्राजिन] दक्षिण का एक प्रधान नगर जो पूर्व घाट के किनारे पर है। इस नाम से दक्षिण का पूर्वीय प्रदेश भी म्याता है।

मंद्राजी-वि० [हिं० मंद्राज] (१) मंद्राज में उत्पन्न या मंद्राज वा रहनेवाला। (२) मंद्राज संबंधी। (३) मंद्राज का रत्न हुआ। जैसे, मंद्राजी दुपट्टा।

मंसगा-वि० [सं० रा०] (१) हृष्टा करना। मन से संकल्प करना। (२) दे० “मनसना”।

मंसय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद। स्थान। पदवी। (२) काम। कर्त्तव्य। (३) अधिकार।

मंसा-संज्ञा स्त्री० [सं० मनस्] (१) हृष्टा। चाहना। अभिचि। उ०—कह गिरधर कविराय कैलि की रही न मंसा।—गि० दा०। (२) संकल्प। (३) आशय। अभिप्राय।

विशेष—यह शब्द संस्कृत ‘मनस्’ से निकला है; पर कि लोग भ्रमवश इसे अरबी ‘मंसा’ से निकला हुआ समझते हैं।

मंसूख-वि० [सं०] पारिज किया हुआ। रद। कटा हुआ।

मंसूया-संज्ञा पुं० दे० “मनसूया”।

म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिव। (२) चंद्रमा। (३) महा। (४) यम। (५) समय। (६) विष। जहर। (७) मनुचूरन।

मई-वि० दे० “मै”।

मईका-संज्ञा पुं० दे० “मायका” या “मैका”।

मईमंत-वि० [सं० मंस्वय, प्रा० मंस्वय] मईमंस्वय। मंस्वय। दे० “मैमंत”। उ०—जोयन भस मंस्वय न कोई। मई हसति अउ अंकुश होई।—जायसी।

मईया-संज्ञा स्त्री० दे० “मैया”।

मई-संज्ञा स्त्री० [सं० मय] (१) मय जाति की स्त्री। (२) ईर्ष्या। यज्ञ स्त्री० [सं० मे] ईर्ष्या की परिभाषा मदीना जो मंद के उपरांत और जून से पहले जाना है। यह सदा २१ दिन का होता है और प्रायः वीसाल में पड़ता है।

मउरी-संज्ञा पुं० [सं० मी] कुलों का बना हुआ यह मुद्रा या सेहरा जो विवाह के समय बूढ़े के सिर पर पहनाया जाता है। मीर।

मउरिखोराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० मउरि + खोराई] (१) विवाह के

उपरांत मौर खोलने की रस्म । (जब वर कोहपर में पहुँच जाता है, तब ससुराल की जियाँ उसको कुछ देकर मौर उतार लेती हैं और उसे दही गुद् खिलाकर कुछ नगद देकर बिदा करती हैं ।) (२) वह धन जो वर को मौर खोलने के समय दिया जाता है ।

मउरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मौर] एक प्रकार का कागज का बना हुआ तिकोना छोटा मौर जो विवाह के समय कन्या के सिर पर रखा जाता है ।

मउलसिरी-संज्ञा स्त्री० दे० "मौलसिरी" ।

मउसी-संज्ञा स्त्री० [हि० मासी] माता की बहिन । मासी ।

मकड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० मका] ज्वार नामक भक्ष ।

मकड़ा-संज्ञा पुं० [हि० मकरी] बड़ी मकड़ी ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की वास जो बहुत शीघ्रता से बढ़ती है । यह पशुओं और विशेषतः घोड़ों के लिये बहुत उपकारक होती है । यह दस बरस तक सुखाकर रखी जा सकती है । कहीं कहीं गरीब लोग इसके बीज अनाज की भौंति खाते हैं । मथाना । खमकरा । मनसा ।

मकड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मकडक] (१) एक प्रकार का प्रसिद्ध कीड़ा जिसकी सैकड़ों हजारों जातियाँ होती हैं और जो प्रायः सारे संसार में पाया जाता है । इसका शरीर दो भागों में विभक्त हो सकता है । एक भाग में सिर और छाती तथा दूसरे भाग में पेट होता है । साधारणतः इसके भाट पर और भाट अर्धे होती हैं । पर कुछ मकड़ियों को केवल छः, कुछ को चार और किसी किसी को केवल दो ही अर्धे होती हैं । इनकी प्रत्येक टाँग में प्रायः सात जोड़ होते हैं । प्राणिशास्त्र के ज्ञाता इसे कीट वर्ग में नहीं मानते, क्योंकि कीटों को केवल चार पैर और दो पंख होते हैं । कुछ जाति की मकड़ियाँ विषेय होती हैं और यदि उनके शरीर से निकलनेवाला तरल पदार्थ मनुष्य के शरीर से स्पर्श कर जाय, तो उस स्थान पर छोटे छोटे दागे निकल आते हैं जिनमें जलन होती है और जिनमें से पानी निकलता है । कुछ मकड़ियाँ तो इतनी जहरीली होती हैं कि कभी कभी उनके काटने से मनुष्य की मृत्यु तक हो जाती है । मकड़ी प्रायः घरों में रहती है और अपने उद्गार से एक प्रकार का तरल पदार्थ निकालकर उसके तार से घर के कोनों आदि में जाल बनाती है जिसे जाला या शाला कहते हैं । उसी जाल में यह भवितव्य तथा दूसरे छोटे छोटे कीड़े कैसाकर खाती है । दीवारों की संघियों आदि में यह अपने शरीर से निकाले हुए चमकीले, पतले और पारदर्शी पदार्थों का घर बनाती है और उसी में असंख्य अंडे देती है । साधारणतः घर से आधा बहुत बड़ी होती है और संयोग के समय मादा कभी कभी नर को खा जाती है । कुछ

मकड़ियाँ इतनी बड़ी होती हैं कि छोटे मोटे पक्षियों तक का शिकार कर लेती हैं । मकड़ियाँ प्रायः उछलकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हैं । इसकी कुछ प्रसिद्ध जातियों के नाम इस प्रकार हैं—जंगली मकड़ी, जल मकड़ी, राज-मकड़ी, कोठी मकड़ी, जहरी मकड़ी आदि । (२) मकड़ी के बिष के स्पर्श से शरीर में होनेवाले दागे जिनमें जलन होती है और जिनमें से पानी निकलता है ।

मकतय-संज्ञा पुं० [म०] छोटे बालकों के पढ़ने का स्थान । पाठ-घाछा । चटसाल । मद्रसा ।

मकता-संज्ञा पुं० [सं० मगध] मगध देश । (आर्हण अकबरी में मगध का यही नाम दिया गया है ।)

मकुदूर-संज्ञा पुं० [म०] सामर्थ्य । ताकत । शक्ति ।

मकुनातीस-संज्ञा पुं० [म०] चुंबक पत्थर ।

मकुफूल-वि० [म०] रेहन किया हुआ । गिरा रखा हुआ ।

मकुथरा-संज्ञा पुं० [म०] वह इमारत जिसमें किसी की लाश गाड़ी गई हो । रौजा । मजार । समाधि ।

मकुवृजा-वि० [म०] कट्या किया हुआ । अधिकृत ।

मकरंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूलों का रस जिसे मधुमक्खियाँ और भैंर आदि चूसते हैं । (२) एक वृक्ष का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सात जगमग और एक यगम होता है । इसके 'राम' 'माधवी' और 'मंजरी' भी कहते हैं । उ०—श्लोक यथामति वेद पदै सह आगम औ दश भाठ सयाने । (३) ताल के ९० मुख्य भेदों में से एक । (४) कुंद का पौधा । (५) किन्नर । फूल का केसर ।

मकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगर या घड़ियाल नामक प्रसिद्ध जलजंतु । यह कामदेव की ध्वजा का चिह्न और गंगाजी तथा वरुण का वाहन माना जाता है । (२) बारह राशियों में से दसवीं राशि जिसमें उच्चरापादा नक्षत्र के अंतिम तीन पाद, पूरा श्रवण नक्षत्र और धनिष्ठा के आरंभ के दो पाद हैं । इसे श्रद्धोदय, दक्षिण दिशा का स्वामी, रक्त, भूमिधारी, शीतल स्वभाव और विंगल वर्ण का, वैद्य, वात-प्रकृति और शिथिल अंगोंवाला मानते हैं । ज्योतिष के अनुसार इस 'राशि में जन्म लेनेवाला पुरुष पर-स्त्री का अभिलाषी, धन उद्वाने-वाला, प्रतापशाली, वात चीत में बहुत होशियार, बुद्धिमान् और वीर होता है । (३) फलित ज्योतिष के अनुसार एक लक्ष । (४) सुश्रुत के अनुसार कीड़ों और छोटे जीवों का एक वर्ग । (५) कुबेर की नौ निधियों में से एक । (६) अरुण शब्द आदि को निष्फल बनाने के लिये उन पर पड़ा जानेवाला एक प्रकार का मंत्र । (७) एक वर्षत का नाम । (८) एक प्रकार का न्यूह जिसमें सैनिक लोग इस प्रकार खड़े किए जाते हैं कि उनकी समष्टि मकर के आकार की मान पड़ती है । (९) माघ मास । (१०) मउली । उ०—अति

मंडल कुंडल विधि मकर सुचिह्नसत् सदन सदाई ।—सूर ।
(११) छप्पय के उन्तालीसवें भेद का नाम जिसमें ३२
गुरु, ८८ लघु, १२० वर्ग या १५२ मात्राएँ भवता ३२ गुरु,
८४, लघु ११६ वर्ग, कुल १४८ मात्राएँ होती हैं ।
संज्ञा पुं० [भा०] (१) छल । कपट । फरेब । धोखा (२)
नररा ।

किं प्र०—रचना ।—फैलाना ।

मकरकर्कट—संज्ञा पुं० [सं०] क्रांति च्चक्र की वह सीमा जहाँ से
सूर्य उत्तरायण या दक्षिणायन होकर लौट आता है ।

मकरकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

मकरतार—संज्ञा पुं० [हिं० मुक्ता] बादले का तार । उ०—चलुसखि
चलु सखि प्रेम-विलास । झर झेली सतगुरु के पास । भेंट
सिंहासन छत्र अँजोर । मकरतार पर लागी शेर ।—कबीर ।

मकरभयज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । कंदर्प । (२) रस
सिद्ध । चंद्रोदय नामक रस । (३) इंद्र पुत्र । लोंग ।

(४) पुराणानुसार अहिरावण का एक द्वारपाल जो हनुमान
का पुत्र माना जाता है । कहते हैं कि लंका को जलाने के
उपरांत जब हनुमान ने समुद्र में खान किया था, तब एक
मछली ने उसके पसीने से मिला हुआ जल पीकर गर्म धारण
किया था जिससे इसका जन्म हुआ । मत्स्योदर ।

मकरपति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) ग्राह ।

मकरद्यूह—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ग्यूह या सेना-रचना
जिसमें सैनिक मकर के आकार में खड़े किए जाते हैं ।

मकरसंक्रांति—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह समय जब कि सूर्य मकर
राशि में प्रवेश करता है । यह एक पर्व माना जाता है ।

मकरांक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) समुद्र । (३)
एक मनु का नाम ।

मकरा—संज्ञा पुं० [सं० वरक] महुवा नामक वृक्ष ।

संज्ञा पुं० [हिं० मका] (१) भूरे रंग का एक कीड़ा जो
दीवारों और पेड़ों पर जाला बनाकर रहता है । इसकी टांगें
बढ़ी बढ़ी होती हैं । (२) हलवाइयों की एक प्रकार की
धीड़िया या चौपड़िया जिससे सेव बनाया जाता है । यह
एक चौकी होती है जिसमें छाननी की तरह छेदवाला छोदे
का एक पात्र बड़ा होता है । इसी पात्र में, पोला हुआ
वेसन मारकर ऊपर से एक वस्ते से दबाते हैं जिससे नीचे
सेव बनकर गिरता जाता है ।

मकराकर—संज्ञा स्त्री० [सं०] समुद्र । (हिं०) ।

मकराकार—वि० [सं०] मकर या मछली के आकार का ।

मकराकृत—वि० [सं०] मकर या मछली के आकारवाला ।

मकराक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] शर का पुत्र और रावण का भतीजा ।
यह कुंभ और निर्कुंभ के मारे जाने पर युद्ध में गया था और
राम के द्वारा मारा गया था ।

मकरानन—संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

मकराना—संज्ञा पुं० [देश०] रानपताने का एक प्रदेश जहाँ
संगमरमर बहुत प्रसिद्ध होता है ।

मकरा राई—संज्ञा स्त्री० [मकरा १ + राई] काड़ी राई ।

मकरालय—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

मकराभ्य—संज्ञा पुं० [सं०] मकर पर सवार होनेवाले, वरन ।

मकरासन—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रिकों का एक आसन जिससे
हाथ और पैर पीठ की ओर कर लिए जाते हैं ।

मकरिकापत्र—संज्ञा पुं० [सं०] मछली के आकार का पत्र हुआ
चंदन का चिह्न जो प्राचीन काल में सिद्धों द्वारा कनपट्टियों
पर बनाती थीं ।

मकरो—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मगर की मादा । मगी । उ०—
पोखरी चित्ताल बाहुबल वारिधर पीर मकरी गयीं पकरी के
बदन विदारिये ।—तुलसी । (२) एक प्रकार का वैदिक
गीत । (३) चबूती में लगी हुई एक लकड़ी जो अनुमान
आठ अंगुल की होती है और जो किते की नोक पर तबल
और उसके दोनों सिरों पर जोती छगाकर घुप से लगी
रहती है । इस जोती में दोनों ओर छोटी छोटी लकड़ियाँ
लगी होती हैं जिनके घुमाने से ऊपर का पाट भावश्यकता
नुसार ऊपर उढ़ाया या नीचे गिराया जा सकता है ।
यह ऊपर बर दी जाती है, तब चबूती के ऊपर का पाट भी
कुछ ऊपर उठ जाता है जिससे आधा कुछ मोटा और
दरदरा होने लगता है । और जब इसे घुमाकर कुछ नीचे
करते हैं, तब पाट के नीचे भा जाने के कारण आधा महीन
होने लगता है । (४) जहान में फूसी या जंजीर आदि में लगा
हुआ लकड़ी या लोहे का वह चौकोर डुकड़ा जिसके अगले
दोनों भाग अँकुसे के आकार के होते हैं और जिनमें रास्ता
आदि बाँधकर फँसा देते हैं । (लश०)

मकड़ह—वि० [भा०] (१) नापाक । अपवित्र । (२) मित्र
द्वेषकर घृणा उत्पन्न हो । घृणित ।

मकरोड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० मका + पड़ा (प्रत्य०)] उभार या मूँठ
का ढंडल ।

मकरोड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० मका] एक प्रकार का छोटा कीरा
जो प्रायः आम के पेड़ों पर विपश्चा रहता है ।

मकलई—संज्ञा स्त्री० [मकलिया वंशपाद से] एक प्रकार का मीठा
जो अदन से बँधते में आता है । यह सज्जे या लाली जिप
पीले रंग का होता है और इसके गोल गोल दाने होते हैं ।
यह मकलिया नामक चंदरगाह से आता है; इसी जिने
मकलई कहलाता है ।

मकसुद—संज्ञा पुं० [भा०] (१) मनोरथ । मनोकामना । (२)
अभिप्राय । तात्पर्य । मतलब ।

मकसुद—वि० [भा०] इच्छित । अभिप्रेत ।

संज्ञा पुं० (१) भूमिप्राय । मतलब । (२) मनोरथ ।
मको-संज्ञा पुं० [सं०] गृह । घर । मकान ।
मकोही-संज्ञा स्त्री० [हि० मका] बड़ी जेठरी । ज्वार ।
मकान-संज्ञा पुं० [क०] (१) गृह । घर । (२) निवासस्थान ।
रहने की जगह ।

मकाम-संज्ञा पुं० दे० "मुकाम" ।
मकुंद-संज्ञा पुं० दे० "मुकुंद" ।
मकु-अर्थ० [सं० म] (१) बाढ़ । उ०—(क) तिमिर तरुन सरनिहिं
मकु मिलई । गगन मगन मकु मेघाहिं मिलई ।—तुलसी ।
(ख) मसक भूँक मकु मेरु उदाई । होइ न मृग-मद भरतहिं
भाई ।—तुलसी । (२) बहिर । घरन । उ०—गउँ
एवइ मकु पावई एहि मिस लहरइ देहु ।—जायसी ।
(३) कुरावत । क्या जाने । नायद । उ०—मकु यह
खोज होई निसि भाई । पुइ रोग हरि मधिइ जाई ।—
जायसी ।

मकुआ-संज्ञा पुं० [हि० मका] बाजर के पत्तों का एक रोग ।

मकुट-संज्ञा पुं० दे० "मुकुट" ।

मकुना-संज्ञा पुं० [सं० मनाक = हाना] (१) वह नर हाथी
जिसके दाँत न हों अथवा छोटे छोटे दाँत हों । (२) पिता
मृलों का उल्लेख ।

मकुनी-संज्ञा स्त्री० [दे०] (१) आटे के भीतर घेसल या चने
की पीठी भरकर बनाई हुई कचौरी । घेसनी रोटी । (२) चने
का घेसल और गेहूँ का आटा एक में मिलाकर उसमें मक्क,
मेमी, मँगरेला आदि मिलाकर बाटी की भाँति थूगल में
सँकी हुई बाटी या लिट्टी । (३) मटर के आटे की रोटी ।

मकुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुम्हार का ढंरा जिससे बड़े चारक
धुमाता है । (२) बड़ल । मौलसिरी । (३) शीता । दण ।
(४) कोरक । कटी ।

मकुएक-संज्ञा पुं० [सं०] मोठ नामक अन्न ।

मकुए-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का धान । (२) मोठ
नामक अन्न ।

मकुनी-संज्ञा स्त्री० दे० "मकुनी" । उ०—सीधे तेल चन्ना की
मानो । एक मकुनी है मोहि सज्जी ।—सूर ।

मकुला-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कड़ावत । कहनूत । (२) उचन ।
कथन ।

मकोरा-संज्ञा पुं० [हि० मका] वह खेत जिसमें ज्वार या बाजरा
बोया जाता हो ।

मकोरक-संज्ञा पुं० [सं०] चरक के अनुसार एक प्रकार का रोग
जिसमें मल के साथ कीड़े निकलते हैं ।

मको-संज्ञा स्त्री० दे० "मकोय" ।

मकोइचा-संज्ञा पुं० दे० "मकोई" ।

मकोइया-वि० [हि० मकोय + द्या (प्रत्य०)] मकोय के पके हुए
फल के रंग का । मकोय के रंग के समान । छलाई लिये
पीला । (रंग)

मकोई-संज्ञा स्त्री० [हि० मकोय] जंगली मकोय जिसमें कौंटे होते
हैं । मकोचा । उ०—झाँवर जहाँ सो छँड़हु पंथा । हिलगि

मकोहन फारहु कंथा ।—जायसी ।

मकोड़ा-संज्ञा पुं० [हि० कोटा का मनु०] कोई छोटा कीड़ा ।

जैसे,—बरसात में बहुत से कीड़े मकोड़े पैदा हो जाते हैं ।

मकोय-संज्ञा स्त्री० [सं० काकमान या काकग्री से वि०] (१) एक
प्रकार का छुप जिसके पत्ते गोलाई लिए खंयोते होते हैं
और जिसमें सफेद रंग के छोटे फूल लगते हैं । फल के
विचार से यह छुप दो प्रकार का होता है । एक में लाल
रंग के और दूसरे में काले रंग के बहुत छोटे छोटे, प्रायः
काली मिर्च के आकार और प्रकार के, फल लगते हैं । इसकी
पत्तियों और फलों का व्यवहार औषधि के रूप में होता है ।
इसके पत्ते उबालकर रोगियों को दिए जाते हैं ।
इसके काय की मकोय की भुनिया कहते हैं । वैद्यक
में इसे गरम, चर्बरी, रसायन, क्षिण, वीर्यवर्धक, स्वर
की उत्थम करनेवाली, हृदय और नेत्रों को हितकारी, रुचि-
कारक, दस्तावर और कफ, शूल, पचासी, सूजन, शिदोप,
कुष्ठ, अतिसार, हिचकी, यमन, खास, खाँसी और ज्वर
आदि को दूर करनेवाली माना है । बर्षया । (२) इस छुप
का फल । (३) एक प्रकार का पेड़ोला पौधा जो प्रायः लीचा
जपर की ओर उठता है । इसमें प्रायः सुपारी के आकार के
फल लगते हैं जो पकने पर कुछ छलाई लिए पीछे रंग के
होते हैं । ये फल एक प्रकार के पतले पत्तों के आवरण में
बंद रहते हैं । फल पट-मिठा होता है और उसमें एक
प्रकार का अम्ल होता है जिसके कारण बड़ पाचक होता
है । (४) इस पौधे का फल । रसभरी ।

मकोरना-संज्ञा-वि० सं० दे० "मरोदना" । उ०—सुनि घन धनक
बीह कर केरी । काम कटाछ मकोरत हेरी ।—जायसी ।

मकोसल-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का केंचा पृथ जो सर्वदा
हरा भरा रहता है । इसकी लकड़ी अंदर से लाल और
बहुत कड़ी तथा रूढ़ होती है । यह हमारत के काम में आती
है । आसाम में इससे जाँचें भी बनाई जाती हैं ।

मकोहारी-संज्ञा पुं० [सं० मरुथ या हि० मकोय ?] लाल रंग का
एक प्रकार का कीड़ा जो अनुमान एक इंच लंबा होता है ।
यह प्रायः अनावृष्टि के समय होता है और फसल को बहुत
हानि पहुँचाता है ।

मकोरी-संज्ञा पुं० [सं० मक] (१) छल । कपट । धोखा । (२)
नखरा ।

मि० प्र०—दिखाना ।—केलाना ।—विखाना ।—साधना ।

मक्षि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का स्त्री-रोग जिसमें प्रसव के अनंतर प्रसूता स्त्री की नाभि के नीचे, पसलियों में, मूत्राशय में या उसके ऊपर वायु की एक गाँठ सी पड़ जाती है और पीड़ा होती है। इस रोग में पक्षाशय फूल जाता है और मूत्र रुक जाता है।

मक्षा-संज्ञा पुं० [म०] अरब का एक प्रसिद्ध नगर जहाँ मुहम्मद साहब का जन्म हुआ था। यह मुसलमानों का सबसे बड़ा तीर्थ-स्थान है। हज करने के लिये मुसलमान यहाँ जाते हैं।
संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की उवार। बड़ी जोन्हरी। मकई। वि० दे० "उवार"।

मक्षा-वि० [म०] मकर करनेवाला। फरेबी। कपटी। छली।
मक्षा-संज्ञा स्त्री० [म०] छल। धोखेवाजी। दगावाजी। फरेप।
मक्षी-संज्ञा स्त्री० दे० "मक्षा"।

मक्षन-संज्ञा पुं० [म० मन्त्र] दूध में की, विशेषतः गौ या भैंस के दूध में की, यह चरबी या सार भाग जो दही या मटो की मयने पर अधवा और कुछ विशिष्ट क्रियाओं से निकाला जाता है और जिसको तपासे से घी बनता है। वैद्यक में इसे शीतल, मधुर, मलकारक, संप्रादक, कान्ति-पथक, भौंलों के लिये हितकर और सब दोषों का नाश करनेवाला माना है। नवनीत। मैजू।

मुहा०—कलेजे पर मक्षन मला जाना = वायु की हानि देख कर चान्ति या प्रमत्तता होना। कलेजा ठंडा होना।

मक्षवा-संज्ञा पुं० [हि० मक्ख] (१) बड़ी जाति की मक्खी। (२) नर मक्खी।

मक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं० मक्षि] (१) एक प्रसिद्ध छोटा कीड़ा जो प्रायः सारे संसार में पाया जाता है और जो साधारणतः घरों और मैदानों में सब जगह उड़ता फिरता है। इसके छः पैर और दो पर होते हैं। मक्षिका।

विशेष—मक्खी प्रायः कृदे फतवार और सड़े गले पदार्थों पर बैठती, जहाँ की छाती और जूँहों पर बहुत से भंडे होती हैं। इन भंडों में से बहुधा एक ही दिन में एक प्रकार का बोंला निकलता है, जो बिना सिर पैर का होता है। यह बोंला प्रायः दो सप्ताह में पूरा बढ़ जाता है और तब किसी सूखे स्थान में पहुँचकर अपना रूप परिवर्तित करने लगता है। प्रायः १०-१२ दिन में यह साधारण मक्खी का रूप धारण कर लेता है और द्वापर उधर उड़ने लगता है। मक्खी के पैरों में से एक प्रकार का तारु और लसदार पदार्थ निच्छता है, जिसके कारण यह चिकनी से चिकनी चीज पर पैर ऊपर और पीठ नीचे करके भी चल सकती है।

यौ०—मक्खीचूस। मक्खीमार।

मुहा०—जीती मक्खी निगलना = (१) जान बूझकर कोई ऐसा अनर्थापित कृत्य या पाप करना जिसके कारण पीछे से दानि

हो। (२) अनौचित्य या दोष की ओर ध्यान न देने।
दोष या पाप का उपेक्षा करके वह दोष या पाप पर ध्यान न देना।
नाक पर मक्खी न उड़ने देना = किसी को अपने ऊपर ध्यान करने का तनिक भी अवसर न देना। अनिमग्न।
कारण किसी के सामने न दिवना। मक्खी की तरह निगलना या चूँक देना = किसी को किसी काम से निगलना या चूँक देना। किसी को किसी काम से कोई संबंध न रहने देना।
मक्खी छोड़ना और हाथी निगलना = छोटे छोटे पक्षियों को अपराधों से बचना और बड़े बड़े पाप या अपराध करना।
मक्खी मारना या उड़ाना = बिल्कुल निकम्मा रहना। कुछ भी काम बंधा न करना।

(२) मधुमक्खी। मुमाखी। (३) बंदूक के अगले भाग में वह उभरा हुआ अंग जिसको सहायता से निशाना साधा जाता है।

मक्खीचूस-संज्ञा पुं० [हि० मक्खी + चूसना] घी भार में पड़े हुए मक्खी तक को चूस लेनेवाला व्यक्ति। बहुत क्रूर। कुपण। भारी कंठस।

मक्खीमार-संज्ञा पुं० [हि० मक्खी + मारना] (१) एक प्रकार का बहुत छोटा जानवर जो प्रायः मक्खियों को मार मारकर खाता करता है। (२) एक प्रकार की छड़ी जिसके छिरे पर चमड़ा लगा होता है और जिसकी सहायता से लोग प्रायः मक्खियों उड़ाते हैं। (३) बहुत ही दृष्टि शक्ति।

मक्खीलेट-संज्ञा स्त्री० [हि० मक्खी + लेट] एक प्रकार की जान जिसमें बहुत छोटी छोटी दृष्टियाँ होती हैं।

मक्खीचूर-संज्ञा पुं० [म०] (१) सामर्थ्य। ताकत। शक्ति। बल।
जोर। जैसे—यह अपने अपने मक्खीचूर की पात है।

मुहा०—मक्खीचूर से बाहर पाँव रखना = सामर्थ्य या योग्यता से बढ़कर काम करना।

(२) बल। काबू।

मुहा०—मक्खीचूर चलना = बरा चलना। काबू चलना।

(३) समझ। गुंजाहट। (४) दीलत। धन। दौरी।

यौ०—मक्खीचूराला = धनवान्। संपन्न। धनी।

मक्खी-संज्ञा पुं० [देश०] (१) यह सज्जा पोड़ा जिस पर बोंले फूल या दाग हों। (२) बिल्कुल काले रंग का पोड़ा।

मक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपने दोष को छिपाना। अपना दोष आहिर न होने देना। (२) क्रोध। गुस्सा। (३) समूह।

मक्षहग-संज्ञा पुं० [सं० मक्षहग] एक प्रकार का मोती जिसके विषय में लोगों की यह धारणा है कि इसके पतले से पुत्र मर जाता है।

मक्षीचूर्य-संज्ञा पुं० [सं०] विषाद नाम का वृक्ष।

मक्षिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) साधारण मक्खी। (२) जहाँ की मक्खी।

मक्षिकामल-संज्ञा पुं० [सं०] मोम ।
 मक्षिकासन-संज्ञा पुं० [सं०] शहद की मक्खी का छत्ता ।
 मख-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ ।
 मखजन-संज्ञा पुं० [सं०] राजाना । मंडार । कोप ।
 मखतूल-संज्ञा पुं० [सं० गद्य गूज] काला रेसम ।
 मखतूली-वि० [हि० मखतूल + ई (प्रत्य०)] काले रेसम से बना हुआ । काले रेसम का ।
 मखवाता-संज्ञा पुं० [सं० मखवाट] (१) वह जो यज्ञ की रक्षा करता हो । (२) रामचंद्र जिन्होंने विधामित्र के यज्ञ की रक्षा की थी ।
 मखदूम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसकी जिदमत की जाय । (२) स्वामी । मालिक ।
 वि० सेवा के योग्य । पूज्य ।
 मखद्वेपी-संज्ञा पुं० [सं० मखद्वेपिन्] राक्षस ।
 मखधारी-संज्ञा पुं० [सं० मखधरिन्] यज्ञ करनेवाला । वह जो यज्ञ करता हो ।
 मखनक-संज्ञा पुं० दे० "मक्खन" ।
 मखना-संज्ञा पुं० दे० "मकुना" ।
 मखनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ के स्वामी, विष्णु ।
 मखनिया-संज्ञा पुं० [हि० मखन + ईना (प्रत्य०)] मक्खन बनाने या बेचनेवाला ।
 वि० जिसमें से मक्खन निकाल लिया गया हो । जैसे,—मखनिया कुंभ, मखनिया दही ।
 मखनी-संज्ञा स्त्री० [हि० मखन] प्रायः एक बालिष्ठ लंबी एक प्रकार की मछली जो मध्य भारत की नदियों में पाई जाती है ।
 मखमय-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।
 मखमल-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का बहुत बढिया रेसमी कपड़ा जो एक ओर से रुखा और दूसरी ओर से बहुत चिकना और अत्यंत कीमल होता है । इस ओर छोटे छोटे रेशमी रीपें भी उभरे रहते हैं । (२) एक प्रकार की रंगीन दरी जिसके बीचोबीच एक गोल चँदीभा बना रहता है ।
 मखमली-वि० [सं० मखमल + ई (प्रत्य०)] (१) मखमल का बना हुआ । जैसे,—मखमली टोपी । (२) मखमल का सा । मखमल की तरह का । जैसे,—मखमली किनारे की घोटी ।
 मखमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।
 मखराज-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञों में श्रेष्ठ, राजसूय यज्ञ ।
 मखलूक-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर की सृष्टि । परमेश्वर के बनाए हुए प्राणी ।
 मखचलक-संज्ञा पुं० दे० "याज्ञवल्क्य" ।
 मखशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ करने का स्थान । यज्ञशाला ।

मखसूत-वि० [सं०] जो किसी विनिष्ट कार्य के लिये भलगा कर दिया गया हो । खासतौर पर भलग किया या बनाया हुआ ।
 मखस्वामी-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ के स्वामी, विष्णु ।
 मखाना-संज्ञा पुं० दे० "ताल मखाना" ।
 मखान-संज्ञा पुं० [सं०] ताल मखाना ।
 मखालय-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञशाला ।
 मखीक-संज्ञा स्त्री० दे० "मक्खी" ।
 मखेश-संज्ञा पुं० [सं०] राजसूय यज्ञ ।
 मखोना-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का कपड़ा । उ०—चकवा चीर मखोना खोने । मोति लाग भी छापे सोने ।
 —जायसी ।
 मग-संज्ञा पुं० [सं० मार्ग प्रा० मग] (१) रास्ता । राह ।
 मुहुरा—के लिये दे० "याट" और "रास्ता" ।
 संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार के शाकद्वीपी ब्राह्मण । (२) मगह देश । मगध । उ०—कासी मग सुरसरि कवि नासा । मरु मारव महिदेव गयासा ।—मुलसी । (३) मगध का निवासी । (४) पिप्पलीमूल ।
 मगज-संज्ञा पुं० [सं० मगज] (१) दिमाग । मस्तिष्क ।
 यौ०—मगजपथी ।
 मुहार—मगज खोलना = (१) कार्य की अधिकता के कारण दिमाग का कुछ काम न करना । (२) क्रोध के मारे दिमाग खराब होना । (३) दिमाग में गरमी आ जाना । पागल हो जाना । मगज खाना = थक कर तंग करना । मगज उड़ाना या भिन्नाना = दुर्गंध या शोर के कारण दिमाग खराब होना । मगज उड़ाना = बहुत बक बककर दिक् करना । मगज खाड़ी करना = दे० "मगज पचाना" । मगज खाटना = थक थककर तंग करना । मगज चलना = (१) बहुत अभिमान होना । (२) पागल होना । मगज पचाना = (१) बहुत अधिक दिमाग लड़ाना । सिर खपाना । (२) समझने के लिये बहुत बकना । (२) गिरी । सींगी । गुदा ।
 मगजचट-संज्ञा पुं० [हि० मगज + चटाना] वह जो बहुत बकता हो । बकवादी ।
 मगजचट्टी-संज्ञा स्त्री० [हि० मगज + चट्टाना] थकवाद । थकवक ।
 मगजपथी-संज्ञा स्त्री० [हि० मगज + पथाना] किसी काम के लिये बहुत दिमाग लड़ाना । सिर खपाना ।
 मगजी-संज्ञा स्त्री० [दे०] कपड़े के किनारे पर छगी हुई पतली गोटा ।
 मगण-संज्ञा पुं० [सं०] कविता के आठ गणों में से एक जिसमें ३ गुरुवर्ण होते हैं । लिखने में इसका स्वरूप यह है—SSS । इसका छंद के आदि में आना शुभ माना जाता है । कहते हैं कि इसका देवता धृष्टी है और यह लक्ष्मीदाता है ।
 जैसे,—आमोदी, काकोली, दीवाना ।

मगद-संज्ञा पुं० [सं० मगद] एक प्रकार की मिठाई जो मूँग के आटे और घी से बनती है ।

मगदरी-संज्ञा पुं० दे० "मगदल" ।

मगदल-संज्ञा पुं० [सं० मगद] एक प्रकार का लड्डू जो मूँग वा उड़द के सत्त में चीनी मिलाकर घी में फेंककर बनाया जाता है ।

मगदा-वि० [सं० मग + दा (प्रत्य०)] मार्ग-प्रदर्शक । रास्ता दिखानेवाला । उ०—वे मगदा पग अंधन को गुम चालियो आछेनहूँ को निवारेउ ।—विधाम ।

मगदूर-संज्ञा पुं० दे० "मगदूर" ।

मगध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दक्षिणी विहार का प्राचीन नाम । वैदिक काल में इस देश का नाम कीकट था । (२) इस देश के निवासी । (३) राजाओं की कंसि का वर्णन करनेवाले, बंदीजन । मगध ।

मगधेश-संज्ञा पुं० [सं०] मगध देश का राजा, जरासंध ।

मगधेश्वर-संज्ञा पुं० दे० "मगधेश" ।

मगन-वि० [सं० मग] (१) डूबा हुआ । समाया हुआ । (२) प्रसन्न । हर्षित । सुख । (३) बेहोश । मूर्च्छित । (४) लीन । वि० दे० "मग्न" ।

मगना-वि०-क्रि० प्र० [सं० मग] (१) लीन होना । तन्मय होना । (२) डूबना । उ०—तुलसी लगन के दीन मुनिन्ह महेश आनंद रंग मगे ।—तुलसी ।

मगमा-संज्ञा पुं० [सं०] कागज बनाने में उसके लिये तैयार किए हुए गूदे को धोने की क्रिया ।

मगर-संज्ञा पुं० [सं० मगर] (१) घड़ियाल नामक प्रसिद्ध जल-जंतु । (२) मीन । मछली । (३) मछली के आकार का फल में पहनने का एक गहना । (४) वैपालियों की एक जाति ।

मग्न-लेकिन । परंतु । पर । जैसे,—आप कहते हैं, मगर यहाँ सुनता कौन है ।

मुहा०—भगर मगर करना = आनाकानी करना । हाँसा हवाय करना ।

मगरधर-संज्ञा पुं० [सं० मगर + धर] समुद्र । (हिं०) ।

मगरय-संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम ।

यौ०—मगरय रं: नगद = वह नगद जो सूर्य अस्त होने के समय पड़ा जाता है ।

मगरवास-संज्ञा पुं० [हिं० मगर + वास] एक प्रकार का कैंडर यास जो पौराण और पश्चिमी घाट में अधिकता से होता है ।

मगरवाज-संज्ञा पुं० [हिं० मगर + वाज] (१) मगर वा घड़ियाल नामक प्रसिद्ध जल-जंतु । (२) बड़ी मछली ।

मगदूर-वि० [सं०] घमंड । अभिमान ।

मगदुरी-संज्ञा स्त्री० [सं० मगर + री (प्रत्य०)] घमंड । अभिमान ।

मगरी-संज्ञा पुं० [सं०] नदी का ऐसा किनारा जिसमें कंक के साथ कुछ मिट्टी मिली हो और जो जोतने कोने के कोप हो गया हो ।

मगरोसना-संज्ञा स्त्री० [सं० मरु + रोसना] सुँघनी । मधुपरा ।

मगली परंद-संज्ञा पुं० [सं० मगली + हिं० परंद] रान के पालवेंडा ।

मगल्य-संज्ञा पुं० [सं०] चौबीस शोभाओं में से एक । (संगीत) वि० जो जीत लिया गया हो । पराजित ।

मगस-संज्ञा पुं० [सं०] घरे हुए ऊखों की सीड़ी । कोई ।

संज्ञा पुं० [सं०] राक्षसी की एक प्राचीन योद्धा जाति का नाम ।

मगसिर-संज्ञा पुं० [सं० मगसिर] अगहन मास ।

मगह-संज्ञा पुं० [सं० मगध] मगध देश ।

मगहपति-संज्ञा पुं० [सं० मगधपति] मगध देश का राजा, जरासंध ।

मगहय-संज्ञा पुं० [सं० मगध] मगध देश । उ०—युद्धमग्न

अलु उल्ला । मगहय यंघु चतुर अहि मूका ।—संस्कृत ।

मगह-संज्ञा पुं० [सं० मगध] मगध देश । उ०—सो मगध मैं कीन्ही याना । राहों यस्त बहुत काल रिताना ।—रघुराज ।

मगही-वि० [सं० मगध + री (प्रत्य०)] (१) मगध संबंधी ।

मगध देश का । (२) मगध में उत्पन्न ।

यौ०—मगही पान = मगध देश का पान जो सबसे उपनयनसा जाता है । य० दे० "पान" ।

मगु-संज्ञा पुं० [सं० मग] मग । मग । पध । राह । शाना ।

मगोर-संज्ञा स्त्री० [सं०] साँगी की तरह की एक प्रकार की

मछली जो बिना छिपके की और कुछ खाली लिये लगे

रंग की होती है । यह रंग मारती है । मगुर । मैगुरी ।

मग-संज्ञा पुं० [सं० मग] राह । रास्ता । मग । मार्ग ।

मग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मस्तक । दिमाग । भेजा । (२)

किसी फल के बीज को गिरी । मागी । गूदा । जैसे,—

मगकदू ।

मुहा०—के लिये दे० "मगन" ।

मगुरोशन-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुँघनी । नास । वि० दे० "सुँघनी" ।

मग-वि० [सं०] (१) डूबा हुआ । निमग्न । (२) तन्मय ।

लीन । लिस । (३) प्रसन्न । हर्षित । सुख । (४) मगे भाँ

में घूर । मगमल । (५) नीचे की ओर गिरा या ढल

हुआ । जो उन्नत न हो । जैसे,—मात नासिका । मग मग ।

संज्ञा पुं० एक पर्यंत का नाम ।

मग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घुरकार । हुनाम । (२) घन । सुँघ ।

(३) एक प्रकार का फूल । पुराणानुसार एक द्वीप का नाम

जिसमें मलेच्छ रहते हैं ।

मगई-वि० दे० "मगई" ।

मगया-संज्ञा पुं० [सं० मग + या] (१) बंद । (२) प्रेमी के नाम

चक्रवर्तिनों में से एक । (३) पुराणानुसार सातवें द्वापर के
व्यास का नाम । (४) पुराणानुसार एक दानव का नाम ।
मधवाजित्-संज्ञा पुं० [सं०] रावण का बड़ा पुत्र इंद्रजित् जिसने
इंद्र को जीत लिया था । मेघनाद ।
मध्वान-संज्ञा पुं० [सं० मध्वन्] इंद्र । (हिं०)
मध्वाम्रस-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रप्रस्य नामक प्राचीन नगर । उ०—
किरि आपु हस्तिनपुर पारथ मध्वाम्रस्य यथायो ।—सूर ।
मध्वारिपु-संज्ञा पुं० [हिं० मध्व + रिपु = शत्रु] इंद्र का शत्रु,
मेघनाद ।

मधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अधिनी आदि सत्ताहंस नभश्रीं में
से दसवाँ मक्षत्र जिसमें पंच तारे हैं । यह चूहे की जाति
का माना जाता है और इसके अधिपति पितृगण कहे गये
हैं । जिस समय सूर्य इस मक्षत्र में रहता है, उस समय
सूख वर्षा होती है और उस वर्षा का जल बहुत अच्छा
माना जाता है । उ०—(क) मनुहुं मधा-जल उमगि उदधि
रूप चले नदी नद नारे ।—तुलसी । (ख) दस दिसि रहे
धान नभ छाई । मानहुं मधा मेघ हरि छाई ।—तुलसी ।
(ग) मधा मकरी, पूर्वा छँस । उत्तरा में सबका नास ।
(कहावत) (२) एक प्रकार की ओषधि ।
मधाना-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की परसती घास । वि०
दे० “मकड़ा” ।

मधामय-संज्ञा पुं० [सं०] शुक्र मय ।
मधारता-किं० सं० [हिं० माय + धारता (माय०)] भागामी वर्षा
शत्रु में धान बोने के लिये माय के महीने में हुल चलाना ।
मघोनी-संज्ञा स्त्री० [सं० मघनी] इंद्राणी । इंद्रपत्नी । शची ।
मचक-संज्ञा स्त्री० [हिं० मचकना] दयाव । घोस । दाव । उ०—
, बरने वृत्ती कै चढ़े ना सजुके न सँकाय । टटलि कटि हुमची
मचक लचकै छपकि बधि जाय ।—विहारी ।

मचकना-किं० सं० [मच मच से श्रु०] किसी पदार्थको, विशेषतः
लकड़ी आदि के बने पदार्थको, इस प्रकार जोर से दबाना
कि उसमें से मच मच शब्द निकले । उ०—बोंमिचकी
मचकौ न हवा लचकै करिहौ मचकै मिचकी के ।—पद्माकर ।
किं० प्र० इस प्रकार दबना जिसमें मच मच शब्द हो ।
शटके से हिलना । उ०—उधकि चलत हरि दचकनि दच-
, कत मंच ऐसे मचकत भूतल के थल थल ।—कैदाव ।

मचका-संज्ञा पुं० [हिं० मचकना] [कु० अलवा० मचकी] (१)
शोर । पका । शटका । हुमचन । (२) झूले की पैंग ।
मचना-किं० प्र० [मनु०] (१) किसी ऐसे कार्य का आरंभ या
प्रचलित होना जिसमें, कुछ शोर-मुल हो । जैसे,—क्या
दिखी मचा रही है । (२) छा जाना । फेलना । जैसे,—
होली मच गई । उ०—नाचैगी निकसि ससिपदनी विहंसि
वहाँ को हमें गनत मही माह; मैं मचति सी ।—देव ।

किं० प्र० दे० “मचकना” । उ०—यह सुनि हैसत मचत
अति गिरधर डरत देखि अति नारि ।—सूर ।

मचरंग-संज्ञा पुं० [दे०] किलकिला पत्थी ।
मचकु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक यक्ष
का नाम । (२) कुक्षेत्र के पास का एक पवित्र स्था-
जिसकी रक्षा उक्त यक्ष करता है ।
मचचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तमता । श्रेष्ठता ।
वि० जो सबसे उत्तम हो । सर्वश्रेष्ठ ।

मचल-संज्ञा स्त्री० [हिं० मचलन] मचलने की क्रिया या भाव ।
मचलना-किं० प्र० [मनु०] किसी चीज़ को हेलने अथवा न
देने के लिये म्रिद बौधना । हठ करना । अड़ना । (विशेषतः
वालकों अथवा छिपों के विषय में बोलते हैं ।)
संयो० किं०—जाना ।—पड़ना ।

मचला-वि० [हिं० मचलना प्र० प० मचला] जो बोलने के अवसर
पर जान बूझकर चुप रहे । अनजान बननेवाला ।
मचलाना-किं० प्र० [मनु०] कै मालूम होना । जी मतलाना ।
ओकाई आना ।

किं० सं० किसी को मचलने में प्रवृत्त करना ।
मचलना-किं० प्र० दे० “मचलना” ।
मचचा-संज्ञा पुं० [सं० मंच] (१) खाट । पर्छा । संज्ञा । (२)
खटिया वा चौकी का पाया । (३) नाव । किशती । (क०)
मचगाँ-संज्ञा स्त्री० दे० “मचान” ।

मचान-संज्ञा स्त्री० [सं० मंच + शान (प्रत्य०)] (१) चार खंभों पर
बाँस का दृढ़ बाँधकर बनाया हुआ स्थान जिस पर बैठकर
सिंकार खेलते वा खेल की रखवाली करते हैं । मंच ।
(२) कोई ऊँची बैठक । (३) दीया रखने की टिकड़ी ।
दीपट ।

मचाना-किं० सं० [हिं० मचना का सं०] मचना का सकर्मक
रूप । कोई ऐसा कार्य आरंभ करना जिसमें हुल हो ।
जैसे,—दिखी मचाना, होली मचाना ।

मचामच-संज्ञा स्त्री० [मनु०] किसी पदार्थको दबाने से होने-
वाला मचमच शब्द । हुमचने का शब्द ।

मचिया-संज्ञा स्त्री० [सं० मंच + या (प्रत्य०)] ऊँचे पायों की एक
आदमी के बैठने योग्य छोटी चारपाई । पर्छाड़ी । पीढ़ी ।
मचिलई-संज्ञा स्त्री० [हिं० मचलना] (१) मचलने का भाव ।
(२) इतराहट । (३) मचलापन ।

मचेरी-संज्ञा स्त्री० [दे०] बेलों के जूए के नीचे की लकड़ी ।
मचोला-संज्ञा पुं० [दे०] बंगाल की खारी, दलदलों में होने-
वाला एक पौधा जिससे सुहागा बनता है ।

मच्छ-संज्ञा पुं० [सं० मच्छ, प्रा० मच्छ] (१) बड़ी मछली ।
(२) दोहे के सोलहवें भेद का नाम । इसमें ७ गुरु और
३६ लघु मात्राएँ होती हैं । (३) दे० “मच्छ” ।

मच्छ्रस्यस्यारी-संज्ञा पुं० [हिं० मच्छ्र + स्यारी] कामदेव । मदन । (हिं०)

मच्छ्रधातिनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मच्छ्र + सं० धातिनी] मछली कँसाने की लक्ष्मी । बंसी ।

मच्छ्रङ्ग-संज्ञा पुं० [सं० मशक] एक प्रसिद्ध छोटा पतंगा जो वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में गरम देशों में और केवल ग्रीष्म ऋतु में कुछ ठंडे देशों में पाया जाता है । इसकी मादा पशुओं और मनुष्यों को काटती और ढंक से उमका रक्त चूसती है । इसके कारण से शरीर में खुजली होती है और दाने से पद जाते हैं । यह पानी पर अंडे देता है; और इसी लिये जलाशयों तथा दलदलों के आस पास बहुत अधिक संख्या में पाया जाता है । प्रायः उदने के समय यह भुन्न भुन्न शब्द किया करता है । मलेरिया उग्र इसी के द्वारा फैलता है ।

पि० कृपण । कंजूस ।

मच्छ्र-संज्ञा पुं० दे० "मच्छ्र" ।

संज्ञा पुं० [म० मस्तर] (१) क्रोध । क्रोध । (हिं०) (२) दे० "मस्तर" ।

मच्छ्रता-संज्ञा स्त्री० [म० मस्तर + ता (संज्ञा०)] मस्तर । ईर्ष्या । द्वेष ।

मछुरिया-संज्ञा स्त्री० [सं० मछुर] (१) दे० "मछली" । (२) एक प्रकार की सुशुल ।

मच्छ्रसीमा-संज्ञा स्त्री० [हिं० मच्छ्र + सीमा] भूमि संबंधी क्षादों का वह निपटारा जो किसी नदी आदि की सीमा मानकर किया जाता है । महाझी ।

मच्छ्री-संज्ञा स्त्री० दे० "मछली" ।

मच्छ्रीकाँटा-संज्ञा पुं० [हिं० मछ्री + काँटा] एक प्रकार की सिलाई जिसमें सीप जानेवाले टुकड़ों के बीच में एक प्रकार की पतली जाली सी बन जाती है । (२) कालीन में एक प्रकार की जालीदार बेल ।

मच्छ्रीमार-संज्ञा पुं० [हिं० मच्छ्री + मार (प्रत्य०)] धीवर । महाह ।

मच्छ्रीदरी-संज्ञा स्त्री० [म० मस्त्रोदरी] म्यास जी की माता और शांतनु की भार्या, सत्यवती । दे०—सत्यवती मच्छ्रीदरी नारी । गंगा-तट आदी सुकुमारी ।—सूर ।

मछली-संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य, प्रा० मच्छ] (१) सदा जल में रहनेवाला एक प्रसिद्ध जीव जिसकी छोटी बड़ी असंख्य जातियाँ होती हैं । इसे फेंकड़े के स्थान में गलफड़े होते हैं जिनकी सहायता से वे जल में रहकर ही उसके अंदर की हवा सींचकर साँस लेती हैं; और यदि जल से बाहर निकाली जाय, तो तुरंत मर जाती है । पैरों या हाथों के स्थान में इसके दोनों ओर दो पर होते हैं जिनकी सहायता से यह पानी में तैर सकती है । कुछ विशिष्ट मछलियों के

शरीर पर एक प्रकार का चिकना चिमाचा छिलका होता है जो छीलने पर टुकड़े टुकड़े होकर निकलता है और इसके सजावट के लिये अथवा कुछ उपयोगी सामान बनाए जाते हैं । अधिकतर मछलियों का मांस खाने के काम में जाता है । कुछ मछलियों की चर्बी भी उपयोगी होती है । इसी उत्पत्ति अंडों से होती है । मीन । मत्स्य ।

यौ०—मछली का दाँत = मछे के आकार के एक पशु का दाँत जो प्रायः हाथीदाँत के समान होता है और इसी मम के बिकता है । मछली का मोती = एक प्रकार का कल्पित मंत्र जिसके विषय में लोगों की यह धारणा है कि वह मछली के पेट से निकलता है, गुलाबी रंग का और पुँपनी के समान होता है और यह भाग्य से किसी को मिलता है । मछली की स्वादी = एक प्रकार का काला रोगान जो भूमध्यसागर में परे जनिवाला एक प्रकार की मछली के अंदर से निकलता है और जो नक़्शे आदि खींचने के काम में आता है ।

(२) मछली के आकार का बना हुआ सोने, चाँदी आदि का लटकन जो प्रायः कुछ गहनों में लगाया जाता है ।

(३) मछली के आकार का कोई पदार्थ ।

मछलीगोता-संज्ञा पुं० [हिं० मछली + गोता] कुत्ती का एक पेश ।

मछलीटंड-संज्ञा पुं० [हिं० मछली + टंड] एक प्रकार का ब्रिसमें दोनों हाथ ज़मीन पर पास-पास रखकर छाती और कोहन की ज़मीन से उपर करते हुए मछली के समान उछलते हैं । इसमें बंजों की नीचे ज़मीन पर पड़ने से आवाज़ होती है ।

मछलीदार-संज्ञा पुं० [हिं० मछली + दार (प्रत्य०)] धरी की एक प्रकार की सुनावट ।

मछलीमार-संज्ञा पुं० [हिं० मछली + मार (प्रत्य०)] मछली मारने वाला । मछुआ । धीवर । महाह ।

मछुआ-संज्ञा पुं० [हिं० मछली] (१) वह नाव जिस पर मछली का शिकार करते हैं । (कता०) (२) मछाह ।

मछुआ, मछुआ-संज्ञा पुं० [हिं० मछली + आ (प्रत्य०)] मछली मारनेवाला । धीवर । महाह ।

मछुआ-संज्ञा पुं० [दे०] सड़क का छत्ता ।

मछुआरी-संज्ञा पुं० [म० मत्स्य] मछली के आकार का लकड़ी का वह टुकड़ा जिसकी सहायता से हरिस में हक डाला जाता है ।

मजकूर-वि० [क०] जिसका उल्लेख या चर्चा परछे हो चुकी हो । जिक्र किया हुआ । कथित । उक्त ।

मजकूर-ए-खाला-वि० [क०] ऊपर कहा हुआ । पूर्ण । उपर्युक्त ।

मजकूरात-संज्ञा पुं० [क०] सामान्य देहान भारती का कला जो गीत के स्वर में आता है ।

जम्भवी-संज्ञा पुं० [ज०] (१) तात्त्विकेदार । (२) चपरासी ।
 (३) यह मनुष्य जिसको चपरासी अपनी ओर से अपने सम्मान वगैरह की तामील के लिये रख लेते हैं । (४) बिना वेतन का चपरासी । (५) यह जमीन जिसका घंटवारा न हो सके और जो सर्वसाधारण के लिये छोड़ दी गई हो ।
 जम्भवी-संज्ञा पुं० [ज०] [म० मज्झिमा, मज्झिमा] (१) घोस होनेवाला । मज्झा । कुली । मोटिया । (२) इमारत आदि का कल-कारखानों में छोटा मोटा काम करनेवाला आदमी । जैसे,—राज-मज्झा, मिलों के मज्झा ।
 जम्भवी-संज्ञा स्त्री० [ज०] (१) मज्झा का काम । घोस होने का या इसी प्रकार का और कोई छोटा मोटा काम । (२) घोस होने या और कोई छोटा मोटा काम करने का पुरस्कार । (३) वह धन जो किसी को कोई नियत कार्य करने पर मिले । परिश्रम के बदले में मिला हुआ धन । उन्नत । पारिश्रमिक । (४) जीविका निर्वाह के लिये किया जानेवाला कोई छोटा मोटा और परिश्रम का काम ।
 मज्झा-संज्ञा पुं० [म०] [म० मज्झा] (१) हूयना । निमज्जित होना । (२) भुज्जित होना । उ०—मानत नहीं लोक मर्यादा हरि के रंग मजी । सूर स्वाम को मिलि चूने हरदी ज्यों रंगजी ।—सूर ।
 मज्झा-संज्ञा पुं० [म०] (१) पागल । सिद्धी । बायल । बीवाना । सौदाह । (२) भय के एक प्रसिद्ध सरदार का लड़का जिसका वास्तविक नाम दैस था और जो छेला नाम की एक कन्या पर आसक्त होकर उसके लिये पागल हो गया था, और इसी कारण जो "मज्झा" प्रसिद्ध हुआ था । छेला के साथ मज्झा के प्रेम के बहुत से कथानक प्रसिद्ध हैं । (३) आसक्त । प्रेमी । आसक्त । (४) बहुत दुबला पतला आदमी । सूखा हुआ मनुष्य । अति दुर्बल मनुष्य । (५) एक प्रकार का वृक्ष जिसकी शाखाएँ झुकी हुई होती हैं । इसे 'वेद मज्झा' भी कहते हैं । वि० दे० "वेद मज्झा" ।
 मज्झा-वि० [म०] (१) दृढ़ । पुष्ट । पक्का । (२) अटल । अचल । स्थिर । (३) बलवान् । सबल । तकड़ा । दृढ़पुष्ट ।
 मज्झा-संज्ञा स्त्री० [म० मज्झा-संज्ञा (प्रत्यय)] (१) मज्झा का भाव । दृढ़ता । पुष्टता । पक्कापन । (२) ताकत । बल । (३) हिम्मत । साहस ।
 मज्झा-वि० [म०] जिस पर जय किया गया हो । विजय । लाचार । जैसे,—भाषको यह काम करने के लिये कोई मज्झा नहीं कर सकता ।
 मज्झा-वि० [म०] विजय होकर । लाचारी से ।
 मज्झा-संज्ञा स्त्री० [म० मज्झा-संज्ञा (प्रत्यय)] असमर्थता । लाचारी । बे-बसी ।
 मज्झा-संज्ञा पुं० [म०] बहुत से लोगों का एक स्थान में जमाव । भीड़भाड़ । जमघट ।

मज्झा-वि० [म०] इकट्ठा किया हुआ । जमा किया हुआ । एकत्र किया हुआ । संगृहीत ।
 संज्ञा पुं० [म०] (१) एक ही प्रकार की बहुत सी चीजों का समूह । जड़ियाँ । खजाना । (२) एक प्रकार का द्रव्य जो कई द्रव्यों को एक में मिलाकर बनता है । यह प्रायः जमा हुआ होता है ।
 मज्झा-संज्ञा पुं० [म०] (१) विषय, जिस पर कुछ कहा या लिखा आप ।
 मुद्रा—मज्झा यथाना = किसी विषय अथवा नवीन विचार को गद्य या पद्य में लिखना । मज्झा मिलना या लड़ना = दो अलग अलग लेखकों या कवियों के वर्णित विषयों या भावों का मिल जाना ।
 (२) लेख ।
 मज्झा-वि० [म०] जो जारी हो । प्रवर्तित । (कथ०)
 मज्झा-संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार का क्षाद जिसके ढंठलों से टोकरे बनाए जाते हैं । यह सिंध और पंजाब में अधिकता से होता है ।
 मज्झा-वि० [म०] जोता और बोया हुआ । (वेत)
 मज्झा-वि० [म०] चोट खाया हुआ । बायल । जड़मी ।
 मज्झा-संज्ञा स्त्री० [म०] मज्झा । मज्झा । पढ़ाव । रिकान ।
 मुद्रा—मज्झा मारना = (१) बहुत दूर से पैदल चलकर आना । (२) कोई वृद्धा फाम करना ।
 मज्झा-संज्ञा स्त्री० [म०] (१) बहुत ते लोगों के बैठने की जगह । वह स्थान जहाँ बहुत से मनुष्य एकत्र हैं । (२) सभा । समाज । जलसा ।
 मज्झा-संज्ञा पुं० [म०] (१) जलसा ।—लगना ।
 (३) महकिल । नाच-रंग का स्थान ।
 मज्झा-संज्ञा पुं० [म०] नेवता देकर मज्झा में बुलाया हुआ मनुष्य । निर्मथित व्यक्ति ।
 वि० (१) मज्झा संबंधी । मज्झा का । (२) जो मज्झा में रहने योग्य हो । सब को प्रसन्न करनेवाला ।
 मज्झा-वि० [म०] जिस पर जलम हुआ हो । सताया हुआ । अत्याचार पीड़ित ।
 मज्झा-संज्ञा पुं० [म०] धार्मिक संप्रदाय । पंथ । मत ।
 मज्झा-वि० [म०] किसी धार्मिक मत या संप्रदाय से संबंध रखनेवाला ।
 संज्ञा पुं० मेहतर सिक्क । भंगी सिक्क ।
 मज्झा-संज्ञा पुं० [म०] (१) स्वाद । लज्जत । जैसे,—भय इन आत्मा में कुछ मज्झा नहीं रह गया ।
 मुद्रा—मज्झा चखाना = किसी को उसके किए हुए अपराध का दंड देना । बदला देना । किसी चीज का मज्झा पढ़ना =

चमका । उगना । आदत पड़ना । मञ्जे पर आना = अपनी सबसे अच्छी दशा में आना । जीवन पर आना ।

(२) आनंद । सुख । जैसे,—आपको तो लवाई क्षणों में ही मजा मिलती है ।

मुहा०—मञ्जा उड़ाना या उड़ना = आनंद लेना । सुख भोगना । मञ्जा फिरफिरा होना = आनंद में विग्र पड़ना । रंग में भंग होना । मजे का = अच्छा । बढ़िया । उत्तम । मजे में या मजे से = आनंदपूर्वक । बहुत अच्छे तरह । सुख से ।

(३) दिलगी । हँसी । मजाक । जैसे,—मञ्जा तो तब हो, जब वह आज भी न आवे ।

मुहा०—मञ्जा आ जाना = परिहास या माधन प्रस्तुत होना । दिलगी का सामना होना । जैसे,—अगर आप यहाँ निरें तो मञ्जा आ जाय । मञ्जा देखना या लेना = दिलगी या तमाशा देना । जैसे,—आप चुपचाप बैठे बैठे मञ्जा देता कीधिय ।

मञ्जाक—संज्ञा पुं० [मं०] (१) हँसी । ठहा । दिलगी । ठठोरी ।

फि० प्र०—करना ।—धुसना ।

मुहा०—मञ्जाक उड़ाना = परिहास करना । दिलगी करना ।

यो०—मञ्जाक का भादमी = हँसमुख । दिलगीवाज । ठठोल ।

(२) प्रवृत्ति । रुचि ।

मञ्जाकून्—फि० वि० [मं०] मञ्जाक से । हँसी-दिलगी के तौर पर । जैसे,—मैंने तो बड़ बाल मञ्जाकून् कही थी ।

मञ्जाकिया—फि० वि० दे० "मञ्जाकून्" ।

मञ्जाजी—संज्ञा पुं० [मं०] (१) गर्व । अभिमान । (हि०) (२) दे० "मिज्ञान" ।

मञ्जाङ्ग—संज्ञा पुं० [मं०] अविग्र । हक । हयतिपार ।

मञ्जाङ्गी—वि० [मं०] (१) क्रुमि । यमाङ्गी । बगीचा । नकली । (२) माना हुआ । कल्पित ।

मञ्जार—संज्ञा पुं० [मं०] (१) समाधि । मकबरा । (२) कब्र ।

मञ्जाल—संज्ञा स्त्री० [मं०] सामर्थ्य । शक्ति । ताकत । जैसे,—फिर की मञ्जाल नहीं जो आपने बाँते पर सके ।

मजिल्लगी—संज्ञा स्त्री० दे० "मंजिल" ।

मजिल्लर—संज्ञा पुं० दे० "मजिल्लर" ।

मजिल्लर—संज्ञा पुं० [मं०] कौशिकी अदालत का अफसर, जो ब्रिटिश भारत में प्रायः गिले का माल विभाग का प्रधान अधिकारी भी होता है ।

यो०—भारती मजिल्लर । उवाहट मजिल्लर । डिप्टी मजिल्लर । मजिल्लर—संज्ञा स्त्री० [मं०] मजिल्लर + ई (प्रत्यय) । (१) मजिल्लर का कार्य या पद । (२) मजिल्लर की अदालत ।

मजिद—संज्ञा स्त्री० [मं०] मजिद । एक प्रकार की छाया जो समस्त भारत के पहाड़ी प्रदेशों में पाई जाती है । इसकी सूखी जड़ और टंडलों की पानी में उगाकर एक प्रकार का

बढ़िया खाल या गुलमर रंग तैयार किया जाता है जो स्त्री और देशमी कपड़े रंगने के काम में आता है । पर अब इस विलायती लुक्की के कारण इसका व्यवहार बहुत कम होता जाता है । वैद्यक में भी अनेक रोगों में इसका प्रयोग होता है । यह मधुर, कपाय, उष्ण, गुरु और मृण, प्रमेह, ज्वर, क्षेपमा तथा विष का प्रभाव दूर करनेवाली मानी जाती है ।

पर्या०—विकसा । सभंगा । कालमेयिका । मंहुच्छरी । मंरी ।

हरिणी । रक्षा । तीरी । यौवनवलिता । वरा । रोहिणी ।

चित्रा । चिप्रलता । जगनी । पित्रया । मंग्र्या । रक्षपटिका ।

क्षत्रिणी । छत्रा । अरणी । नागकुमारिका । पद्ममुरली ।

मजीरी—संज्ञा स्त्री० [सं० मञ्ज] (१) वह रस्सी जो जुआने में बँधी रहती है । जोत । (२) रुई ओढ़ने की रस्सी में बँधी हुई बीच की छकड़ी जो धूमती है और जिसके धुमने से रुई में से बिगोले अलग होते हैं ।

मजीरक—संज्ञा स्त्री० [सं० मञ्ज] मंजीरी । घौद । उ०—हरी ईन कुंजर बिटप मारी घमा चार मजीर । चमू पंचन चरन नादिन रही है पुर तीर ।—सूर ।

मजीराक—संज्ञा पुं० [सं० मंजीर]—कॉसे की बनी हुई छोटी छोटी कटोरियों की जोड़ी जिगके मध्य में छेद होता है । एसी छेदों में डोरा पहनाकर उसकी सहायता से एक कटोरी में दूसरी पर चोट देकर संगीत के साथ ताल देते हैं । मोरी । ताल । डुगकी । इसके थोले इस प्रकार हैं—ताँबे, ताँबे, किट् ताँबे, किट् किट्, ताँबे ताँबे ।

मजूर—संज्ञा पुं० [सं० मजूर] मौर ।

संज्ञा पुं० दे० "मजदूर" ।

मजुरा—संज्ञा पुं० दे० "मजदूर" ।

मजुरी—संज्ञा स्त्री० दे० "मजदूरी" ।

मजेजलगी—वि० [मं०] मजिद । दूरे । अर्धकार । अभिमान । उ०—(क) खादिली कुँवरि राधा रागी के सदन सजी मदन मजेज रति सेजहि ससति है ।—देव । (ग) देस की बानी है सहेलिन के संग बलि आई केलि मंदिर छी मुँदर मजेज पर ।—पद्माकर ।

मजेटी—संज्ञा स्त्री० [मं०] मज्ज कानने के चारों में वह लपड़ी जो नीचे से उन दोनों टंडों को जोड़े रहती है जिनमें पवित्र या चट्टर लगा होता है ।

मजेदार—वि० [मं०] (१) स्वादिल । आपकेंदार । (२) अच्छा । बढ़िया । (३) जिसमें आनंद आता हो । जैसे,—आपकी बातें बहुत मजेदार होती हैं ।

मजेदारी—संज्ञा स्त्री० [मं०] मजेदार + ई (प्रत्यय) । (१) स्वाद । (२) आनंद । सुख । मजा ।

मजद—संज्ञा स्त्री० [मं०] मज्ज । हड्डी के नीचे रा मेरु । हड्डी के अंदर का—मज्जा । उ०—आपका मज्जान जो बगन की

ज्यादा यह भादा मल-मूत्र और मज्जा की सखीती है।—
पद्माकर ।

मञ्जन-संज्ञा पुं० [सं० मञ्जन] छान । नहाना । उ०—दरस परस मञ्जन
भर पाता ।—गुलसी ।

मञ्जनाक्ष-किं० प्र० [सं० मञ्जन] (१) छान करना । गोता
लगाना । नहाना । (२) हथपना । निमग्न होना ।

मञ्जा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नली की हड्डी के भीतर का गुद्दा जो
बहुत कोमल और चिकना होता है ।

मञ्जक-किं० वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्जक] मध्य । बीच ।

ममकाट-संज्ञा स्त्री० [हिं० ममक = मध्य + धार] (१) मर्द के मध्य
की धारा । बीच-धारा । (२) किसी काम का मध्य ।

मुहाना—मसधार में छोड़ना = (१) किसी काम को बीच में
हँ छोड़ना । पूरा न करना । (२) किसी को ऐसी अवस्था में
छोड़ना कि वह इधर का रहे, न उधर का ।

ममकासिगहरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] बैलों की एक जाति ।

ममला-वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्जक + ला (प्रत्य०)] मध्य का ।
बीच का । जैसे,—ममला भाई ।

ममलानाक्ष-किं० स० [सं० मध्य] प्रविष्ट करना । बीच में घँसाना ।
किं० प्र० प्रविष्ट होना । पैटना ।

ममलानाक्ष-किं० वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्जक + क्षार (प्रत्य०)] बीच
में । मध्य में । मैं । भीतर ।

ममलानाक्ष-किं० प्र० स० दे० "ममलाना" ।

ममिया-संज्ञा स्त्री० [सं० मध्य, प्रा० मज्जक + मया (प्रत्य०)] एकड़ी
की वह पट्टियाँ जो गाड़ी के पैदों में लगी रहती हैं ।

ममियानाक्ष-किं० प्र० [हिं० मीमी + श्वाना (प्रत्य०)] नाव
खेन । मलाही करना । उ०—प्रथमहि नैन मलाह जे छेल
मुनेह लगाइ । तब मसिपावस जाय के गहिर रूप दरवाइ ।
—रसनिधि ।

किं० प्र० [सं० मध्य + श्वाना (प्रत्य०)] मध्य में होकर आना ।
बीच से होकर निकलना । उ०—सपने हूँ आए न जे हिल
गलियन मसियाइ । तिन सों दिल को दरद कहि मत दे
मेरम गमाइ ।—रसनिधि ।

किं० स० मध्य में से निकलना । बीच में से ले जाना ।

ममियाराक्ष-वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्जक + श्वाना (प्रत्य०)] बीच
का । मध्यम ।

ममुरा-संज्ञा पुं० [सं० मध्य, प्रा० मज्जक + उमा (प्रत्य०)] हाथ
में पहनने की मडिया नामक चूड़ियों में कोहनी की ओर से
पड़नेवाली दूसरी चूड़ी को पछेला के बाद होती है ।

ममेकी-संज्ञा पुं० [सं० मध्य, प्रा० मज्जक + धर (प्रत्य०)] छुलहों के
ऊड़ी नामक जीजार के बीच की एकड़ी ।

ममेला-संज्ञा पुं० [देश०] (१) चमारों का छोटे का एक औजार
जो एक बालिष्ठ का होता है । इससे जूते का तका सिया

जाता है । (२) छोटे का एक औजार जिसमें एकड़ी का
दस्ता लगा रहता है और जिससे चमड़े पर का सुरसुरापन
दूर किया जाता है ।

† संज्ञा पुं० दे० "हमेला" ।

ममोला-वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्जक + मोला (प्रत्य०)] (१) ममला ।
बीच का । मध्य का । (२) जो आकार के विचार से न

बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा । मध्यम आकार का ।

ममोली-संज्ञा स्त्री० [हिं० ममोली] (१) एक प्रकार की बेलगाड़ी ।

(२) टेकुरी की तरह का एक औजार जिससे जूते की नोक
सी जाती है ।

मट-संज्ञा पुं० [हिं० मटका] मिट्टी का बड़ा पात्र जिसमें दूध दही
रहता है । मटका । मटपे । उ०—ती लगी गाय पँचाप
उठी कथि देव बधून मण्यो दधि को मट ।—देव ।

मटक-संज्ञा स्त्री० [सं० मट = चलना + क (प्रत्य०)] (१) गति ।
चाल । उ०—कुँडल लटक सोई भृकुटी मटक मोहि भटकी
चटक पट पीत फहराव की ।—रीनदयाल । (२) मटकने
की क्रिया या भाव ।

यौ०—चटक मटक ।

मटकना-किं० प्र० [सं० मट = चलना] (१) अंग हिलाते हुए
चलना । लचककर नखरे से चलना । (पिनोपत । खियों
का) (२) अंगों बर्थाव नेत्र, भृकुटी, उँगली आदि का हस्त
प्रकार संचालन होना जिसमें कुछ लचक या नखरा जान
पड़े । (३) हटना । छौटना । फिरना । उ०—दयाम सलोजे
रूप में भरी मन अन्यों । ऐसे हँ लटक्यो तहाँ ते फिरि नहिं
मटक्यो बहुत जवन मैं क्यो ।—सूर । (४) विचलित होना ।
हिलना । उ०—उतार न देत मोहनी नौन हँ रही सी सुनि
सब बात नेकहू न मटकी ।—सूर ।

मटकनिस-संज्ञा स्त्री० [हिं० मटकना] (१) गति । चाल । (२)
मटकने का भाव । उ०—भृकुटी मटकनि पीत पट चटक छट-
कती चाल ।—बिहारी । (३) नाचना । नृत्य । (४) नखरा ।
मटक ।

मटका-संज्ञा पुं० [हिं० मिट्टी + क (प्रत्य०)] मिट्टी का बना हुआ
एक प्रकार का बड़ा बड़ा जिसमें अन्न, पानी इत्यादि रखा
जाता है । मट । माट ।

मटकाना-किं० स० [हिं० मटकना का स०] नखरे के साथ अंगों
का संचालन करना । आँखें, हाथ आदि हिलाकर कुछ चेष्टा
करना । चमकाना । जैसे,—हाथ मटकाना, आँखें मटकाना ।
उ०—भृकुटी मटकाय गुणाल के गाल में अँगुरी ग्वाळि
गुणाय गई ।—सुवारक ।

किं० स० दूसरे की मटकने में प्रवृत्त करना ।
मटकी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मटका] छोटा मटका । कमोरी ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मटकाना] मटकाने का भाव । मटक ।

मुहा०—मटकी देना = मटकाना। चमकाना। जैसे,—आँख की एक मटकी देकर चला गया।

मटकीला-वि० [हि० मटकना + रत्ना (प्रत्य०)] मटकनेवाला। नखरे से हिलने सोलनेवाला। उ०—चटकीली सौरि सजै मटकीली भौदन प दीनदयाल दग मोहै लटकीली चाल ने।—दीनदयाल।

मटकौशल, मटकौचल-संज्ञा स्त्री० [हि० मटकना + चोच (प्रत्य०)] मटकाने की क्रिया या भाष। मटक।

मटखोरा-संज्ञा पुं० [हि० मिट्टी + खोरा?] एक प्रकार का हाथों जो दूषित माना जाता है।

मटना-संज्ञा पुं० [दे००] एक प्रकार की ऊल जो कानपुर और बरेली के जिलों में पैदा होती है।

मटमैगरा-संज्ञा पुं० [हि० गादी + मंगल] विवाह के पहले की एक रीति जिसमें किसी शुभ दिन घर या बंधू के घर की छियाँ गाती बजाती हुई गाँव के बाहर मिट्टी लेने जाती हैं और उस मिट्टी से कुछ विविध भयस्रों के लिये गोखियाँ आदि बनाती हैं।

मटमैला-वि० [हि० मिट्टी + मैला] मिट्टी के रंग का। काकी। धूलिया।

मटर-संज्ञा पुं० [सं० मार] एक प्रकार का मोटा भस जो वर्षों या बारद ऋतु में भारत के प्रायः सभी भागों में बोया जाता है। इसके लिये अच्छी तरह और गहरी जोती हुई भूमि और काद की आवश्यकता होती है। इसमें एक प्रकार की लंबी फलियाँ लगती हैं जिन्हें छीमी या छीमी कहते हैं और जिनके अंदर गोल दाने रहते हैं। आरंभ में ये दाने बहुत ही मीठे और स्वादिष्ट होते हैं और प्रायः सरकारी आदि के काम में जाते हैं। तब फलियाँ पक जाती हैं, तब उनके दानों से दाढ़ बनाई जाती है अथवा रांटी के लिये उसका आटा पीसा जाता है। कहीं कहीं इसका सत्तू भी बनाता है। इसकी पत्तियाँ और पंढल पशुओं के घारे के लिये बहुत उपयोगी होते हैं। यह दो प्रकार का होता है। एक को बुनिया और दूसरे को कापुली मटर या केराव कहते हैं। घैरु में इसे मयुर, रयादिष्ट, दीवल, पिचनाराक, कविकारक, पातकारक पुष्टजनक, मल की निवारनेवाला और रक्तविशार को दूर करनेवाला माना है।

पट्याँ—कशाय। मुंघबगल। हरेणु। रेणुक। मंदिक। प्रिष्ट। अतिवृक्ष। शमन। मीलक। कट्टी। सवाल। सतनक।

मटरमदन-संज्ञा स्त्री० पुं० [हि० मटर = मंद + दान + मटर] (१) धीरे धीरे भूमना। रहलना। (२) सैर-सपाटा।

मटरघोर-संज्ञा पुं० [हि० मटर + घोर = पूरक] मटर के बराबर शूकर को पानेव आदि में लगते हैं।

मटराला-संज्ञा पुं० [हि० मटर + आला (प्रत्य०)] जो के साथ मिल हुआ मटर।

मटलनी-संज्ञा स्त्री० [हि० मिट्टी] मिट्टी का कड़ा वर्ण। मट्टा-संज्ञा पुं० [हि० माटा] एक प्रकार का लाल रंग का मिट्टे का अम के पदों पर रखा करते हैं।

मट्टियाना-वि० सं० [हि० मिट्टी + आना (प्रत्य०)] (१) मिट्टी से गाँवना। अशुद्ध धरतन आदि में मिट्टी मलकर देने साक करना। (२) मिट्टी से रोकना। (३) टारने के दो किसी यात को सुनकर भी उसका कुछ जवाब न देना। सुनी अनसुनी करना।

मट्टिया-संज्ञा स्त्री० [हि० मिट्टी] (१) मिट्टी। (२) सूत माल। छात। धाव।

वि० मिट्टी का सा। मटमैला। छाकी।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का लटोरा पत्ती जिसे काटा भी कहते हैं।

मट्टियामसान-वि० [हि० मट्टिया + मसान] गया बीना। बटपा। उ०—छी प्रसंग, चाहे जो फल हो, प्रति दिन करना हमी सरीखे बलवान को भी मट्टियामसान कर चुड़ों की कोटि में कर देता है।—जगन्नाथ।

मट्टियामेट-वि० दे० “मलिया मेट”।

मट्टियार-संज्ञा पुं० [हि० मिट्टी + यार (प्रत्य०)] वह भूमि या क्षेत्र जिसमें चिकनी मिट्टी अधिक हो।

मट्टियाला-वि० दे० “मटमैला”।

मट्टीला-वि० दे० “मटमैला”।

मट्टुका-संज्ञा पुं० दे० “मटका”।

मट्टुफियार-संज्ञा स्त्री० दे० “मटकी”।

मट्टुकी-संज्ञा स्त्री० [हि० मटका] मिट्टी का बना हुआ चॉरुं दे० का धरतन जिसमें भस या दूध आदि रहते हैं। मटकी।

मट्टी-संज्ञा स्त्री० दे० “मिट्टी”।

मट्टा-संज्ञा पुं० [सं० वर्णन] मया हुआ बही जिसमें से मैरू निहाल लिया गया हो। सही। छाट। तक।

मट्टी-संज्ञा स्त्री० [दे००] सिंद के बना हुआ एक प्रकार का मुटु खस्ता एकपान।

मट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निवास स्थान। रहने का जगह। (२) वह मकान जिसमें एक मंदिर की अर्धानता में बहुत से खाट आदि रहते हों।

यौ०—मटघारी। मटपोता। मटपति।

(२) यह स्थान जहाँ विराट पदने के लिये छाट आदि रहते हों। (३) मंदिर। देवालय।

यौ०—मटपति = पुजारी।

मटघारी-संज्ञा पुं० [सं० मटघारि] वह साठ या सारंग जिनके अधिकार में कोई मट हो।

मठपति-संज्ञा पुं० दे० "मठपारी" ।

मठर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन मुनि का नाम ।

मठरना-संज्ञा पुं० [देश०] सोनारों तथा कसगारों का एक औजार जो छोटे हथौड़े की तरह का होता है । इसका व्यवहार उस समय होता है जिस समय हलकी चोट देने का काम पड़ता है ।

मठरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक प्रकार की मिठाई जिसे टिकिया भी कहते हैं । (२) दे० "मट्टी" ।

मठा-संज्ञा पुं० दे० "मट्टा" ।

मठाघोरा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मठ का प्रधान कार्यकर्त्ता या मालिक । (२) मठ में रहनेवाला प्रधान साधु या महंत ।

मठाना-संज्ञा पुं० दे० "मठरना" ।

मठिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० मट्ट + या (प्रत्य०)] (१) छोटी कुटी या मठ ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] फूल (धातु) की बनी हुई चूड़ियाँ जो नीच जाति की स्त्रियाँ पहनती हैं । ये एक एक बॉह में में २०-२५ तक होती हैं और कोहनी से कलाई तक पहनी जाती हैं । इनमें कोहनी के पास की चूड़ीसब से बड़ी होती है, और उसके उपरांत की चूड़ियाँ क्रमशः छोटी होती जाती हैं ।

मठो-संज्ञा स्त्री० [हिं० मठ + ई (प्रत्य०)] (१) छोटा मठ । (२) मठ का अधिकारी । मठ का महंत । मठपारी । उ०—
सुप्रम हंनु गै-हदी मठीन सौं न बोलिये ।—केशव ।

मठुलिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० मठरी] (१) टिकिया या मठरी नाम की मिठाई । (२) दे० "मट्टी" ।

मठौर-संज्ञा स्त्री० [हिं० मट्टा] (१) दूरी मथने या मट्टा रखने की मटकी जो साधारण मटकियों से कुछ बड़ी होती है । (२) नील बनाने की नई । नील का माड ।

मठौरना-संज्ञा पुं० [देश०] (१) किसी लकड़ी को खरादने के लिये रंदा लगाकर रीढ़ करना । (२) मठरना नामक हथौड़े से थोरे थोरे चोट लगाकर गहने आदि रीढ़ करना । (सुनार)

मठौरा-संज्ञा पुं० [हिं० मठौरना] एक प्रकार का रंदा जिससे लकड़ी रंदकर खरादने आदि के योग्य करते हैं ।

मड़री-संज्ञा वि० [सं० मंडरी] (१) छोटा मंडप । (२) कुटिया । पर्णशाला ।

संज्ञा स्त्री० दे० "मंडी" ।

मड़मड़ाना-संज्ञा प्र० सं० दे० "मरमराना" ।

मड़राना-संज्ञा प्र० दे० "मैराना" । उ०—सरस कुसुम मड़-
रात अलिन झुकि झपटि लपटात ।—बिहारी ।

मड़ला-संज्ञा पुं० [सं० मंडल] अनाम रखने की छोटी कोठरी ।

मड़वा-संज्ञा पुं० दे० "मंडप" ।

मड़वासी-संज्ञा पुं० दे० "मारवाड़ी" ।

मड़हा-वि० [हिं० मॉह + हा (प्रत्य०)] मॉह खानेवाला ।

संज्ञा पुं० [सं० गंधप] मिट्टी या घास फूस आदि का बना हुआ छोटा घर ।

संज्ञा पुं० [देश०] सुना हुआ चना ।

मड़ड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] छोटा कच्चा तालाब या गंदहा ।

उ०—मड़ाद, बावली और कुँए का झोंटना ।—जगन्नाथ ।

मड़ियार-संज्ञा पुं० [हिं० गारवाण ?] क्षत्रियों की एक जाति जो मारवाड़ में रहती है ।

मड़ुआ-संज्ञा पुं० [देश०] (१) बाजरे की जाति का एक प्रकार का फसल जो बहुत प्राचीन काल से भारत में बोया जाता है, और अब तक अनेक स्थानों में जंगली दशा में भी मिलता है । यह वर्षा ऋतु में खाद दी हुई भूमि में कभी कभी उबार के साथ और कभी कभी भूखे छोड़ा जाता है । मैदानों में इसकी देख रेख की विशेष आवश्यकता होती है; पर हिमालय की तराई में यह अधिकांश में आप से आप ही तैयार हो जाता है । अधिक वर्षा से इसकी फसल को हानि पहुँचती है । यदि इसकी फसल तैयार होने पर भी खेतों में रहने दी जाय, तो विशेष हानि नहीं होती । फसल काटने के उपरांत इसके दाने बरों तक रखे जा सकते हैं; और इसी कारण अकाल के समय गरीबों के लिये इसका बहुत अधिक उपयोग होता है । इसे पीसकर आटा भी बनाया जाता है और यह पाचलों आदि के साथ उबालकर भी खाया जाता है । इससे एक प्रकार की शराब भी बनती है । वैयक में इसे कसला, कडुआ, हलका, रुसिकारक, बल-वर्धक, मिदोष-निवारक और रक्त दोष को दूर करनेवाला माना है ।

पर्याय—बटक । स्थूलकंगु । रुझ । स्थूल मिश्रगु ।

(२) एक प्रकार का पत्थर ।

मड़ैया-संज्ञा स्त्री० [सं० मंडरी] (१) छोटा मंडप । (२) कुटी । पर्णशाला । श्रोतरी । (३) मिट्टी का बना हुआ छोटा घर ।

मड़ोड़-संज्ञा स्त्री० दे० "मरोड़" ।

मड़ोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मरोड़ना + ई (प्रत्य०)] लोहे की छोटी पेंचदार कटिया ।

मड़-संज्ञा पुं० दे० "मठ" ।

वि० जो जल्दी हटाने से भी न हटे । अड़कर बैठनेवाला ।

मड़ना-संज्ञा प्र० [सं० मंडन] (१) आवेष्टित करना । चारों ओर से घेर देना । लपेट लेना । जैसे,—तख्तपर पर चौखटा मड़ना, टेबल पर कपड़ा मड़ना । (२) दाने के मुँह पर बजाने के लिये चमड़ा लगाना । उ०—(क) कमठ-खपर मड़ि खाल निसान बजावहीं ।—जुलसी । (ख) मड़वी दमामा जात क्यों सी पूहे के घाम ।—बिहारी ।

मुहा०—मड़वाना = घिर आना (जैसे बादलों का) । उ०—

राति दी आई चले घर की दसहू दिस मेय महा मवि आवे ।
—केशव ।

(१) यलपूर्वक किसी पर आरोपित करना । किसी के गले
छगाना । थोपना । जैसे,—अब तो आप सारा दोष मुझ
पर ही मढ़ेंगे ।

संयो० क्रि०—ढालना ।—देना ।

भूकि० प्र० आरंभ होना । मचना । मँदना । (क०)

मद्रव्याना—क्रि० सं० [दि० मद्रना का प्रेर०] मढ़ने का काम दूसरे
से कराना । दूसरे को मढ़ने में प्रवृत्त करना ।

मद्रा—संज्ञा पुं० [दि० मद्रा] मिट्टी का बना हुआ छोटा घर ।

मद्राई—संज्ञा स्त्री० [दि० मद्रना] (१) मढ़ने का भाव । (२)
मढ़ने का काम । (३) मढ़ने की मजदूरी ।

मद्राना—क्रि० सं० दे० “मद्रवाना” ।

मढ़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० मठ] (१) छोटा मठ । (२) छोटा देवालय ।
(३) कुटी । साँपड़ी । पणनाला । (४) छोटा घर । (५)
छोटा मंडप ।

मढ़ैया—संज्ञा स्त्री० दे० “मढ़ी” ।

संज्ञा पुं० [दि० मद्रना + पेशा (प्रत्य०)] मढ़नेवाला ।

मणगयण—संज्ञा पुं० [दि०] सूर्य ।

मणि—संज्ञा स्त्री० [म०] (१) बहुमूल्य रत्न । अयाहिर । जैसे,—
हीरा, पद्म, मोती, माणिक आदि । (२) सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ।
जैसे,—रघुपुत्र-मणि । (३) दहरी के गले की धोली । (४)
पुरुषद्विष का भगला भाग । (५) योनि का भगला भाग ।
(६) यदा । (७) एक प्राचीन मुनि का नाम । (८) एक
नाग का नाम ।

माणिक—संज्ञा पुं० [म०] मिट्टी का यद्दा ।

माणिकानन—संज्ञा पुं० [सं०] गला । बँट ।

माणिकुटिका—संज्ञा स्त्री० [म०] कार्तिकेय की एक मातृका
का नाम ।

माणिकूट—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कामरूप के पास के एक
पर्वत का नाम ।

माणिकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] षडसंदिगा के अनुसार एक बहुत
छोटा पुच्छर तात जिसकी पूँछ दूध सी सफेद मानी गई
है । यह कैतु पञ्चिम में उगता है और केवल एक पहर
दिगाई देता है ।

माणिकुल—संज्ञा पुं० [म०] एक यगिक वृक्ष जिसके प्रत्येक चरण
में पार मनन और एक संगण होना है । इसको “शशिकला”
और “शरम” भी कहते हैं । उ०—नबहु सुखद जमुमति
भूत रादिता । लहदु जनन हृद सुख सखि भमिता । बहुत
चरण रति सु हरि अनु-पला । निमि सित पर नित बहुत
रतिच्छा ।—भातु ।

माणिकुलनिकर—संज्ञा पुं० [म०] मणिगुल नामक छंद का एक

रूप जो उसके ८ वें वर्ण पर विराम करने से होता है ।
इसका दूसरा नाम चंद्रावती भी है ।

माणिकीच—संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर के एक पुत्र का नाम ।

माणिकिन्द्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेधा नाम की कोरन ।
(२) कृपभा नाम की कोरपि ।

माणिकजला—संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक रती
का नाम ।

माणिकारक—संज्ञा पुं० [सं०] सारस ।

माणिकीप—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार रकों का बना हुआ एक
द्वीप जो क्षीरसागर में है । यह त्रिशुमुंदरी देवी का निवास
स्थान माना जाता है ।

माणिकधर—संज्ञा पुं० [सं०] सपे । साँव ।

माणिकपद्म—संज्ञा पुं० [सं०] एक योधिसत्त्व का नाम ।

माणिकपुर—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार छः चक्रों में से तीसरा
चक्र जो नाभि के पास माना जाता है । यह तेजोमय और
विद्युत् के समान आभायुक्त, नीले रंग का, दस प्रकीरण
और शिव का निवासस्थान माना जाता है । कहते हैं कि
यदि इस पर ध्यान लगाया जा सके तो फिर सब शक्तों
का ज्ञान हो जाता है । यह भी कहते हैं कि इस पर “इ”
से “क” तक अक्षर लिखे हैं ।

माणिकपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] सहदेव के शाल का नाम ।

माणिक्य—संज्ञा पुं० [म०] (१) एक गन्धारी वृक्ष जिसके नीचे
वरण में भगण, मगण और सगण होते हैं । उ०—कंदर्प
मये सुखला । दूट परी सोनैं अवला ।—भातु ।

(२) कलार्ह ।

माणिकीज—संज्ञा पुं० [म०] अनार का पेड़ ।

माणिमद्र—संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक प्रधान गण का नाम ।

माणिमद्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जालि का नाम
जिसका वलेख महाभारत में है । (२) एक नाग का नाम ।

माणिमू—संज्ञा स्त्री० [म०] वह नाम जिसमें से रत्न भी
निकलते हैं ।

माणिमूर्मि—संज्ञा स्त्री० [म०] (१) वह पान जिसमें से रत्न भी
निकलते हैं । (२) पुराणानुसार हिमालय के एक शीत
का नाम ।

माणिमप्य—संज्ञा पुं० [सं०] मणिवर्ष नामक छंद ।

माणिमाला—संज्ञा स्त्री० [म०] (१) बारह अक्षरों का एक वृक्ष
जिसके प्रत्येक चरण में तगण, यगण, लगण, दगण होते हैं ।

उ०—छाँदो सब जेते हैं दे मगमाळा । चेतो हरि के नामों
की मणिमाला । (२) मणियों की माला । (३) हार ।

(४) चक्र । आभा ।

माणिमोघ—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार दक्षिण भारत के एक
पर्वत का नाम ।

मशिरत-संज्ञा पुं० [सं०] एक बौद्ध आचार्य का नाम ।

मशिरथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

मशिराग-संज्ञा पुं० [सं०] हिंदुत्व । शिगरफ ।

मशिरोग-संज्ञा पुं० [सं०] सुषुप्तद्विध का एक रोग जिसमें लिंग के भगले माग का चमड़ा उसके मस्तक पर चिपक जाता है और मूत्र मार्ग कुछ चौड़ा होकर उसमें से मूत्र की महीन धारा गिरती है ।

मशिशैल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो मंदराचल के पूर्व में है ।

मशिश्याम-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रनील नामक मणि । नीलम ।

मशिसर-संज्ञा पुं० [सं०] मोतियों की माला ।

मशिरुक्ध-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नाग का नाम ।

मशी-संज्ञा पुं० [सं० मणिवृत्त] सूर्य ।

संज्ञा स्त्री० दे० "मणि" ।

मशीचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रवत् नामक मणि । (२) पुराणानुसार शकटपी के एक चर्च का नाम । (३) एक प्रकार का पत्थर ।

मशीचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्प । फूल ।

मर्तग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी । (२) बाघ । (३) एक दानव का नाम । (४) एक प्राचीन तीर्थ का नाम । (५) कामरूप के भस्मिकों के एक देश का प्राचीन नाम । (६) एक क्षत्रिज का नाम जो शबरी के गुरु थे । महाभारत में लिखा है कि ये एक नापित के वीर्य से एक ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । उस ब्राह्मणी के पति ने इन्हें अपना ही पुत्र और ब्राह्मण संभक्षक पाला था । एक बार ये गंधे के रथ पर सवार होकर पिता के लिये यज्ञ की सामग्री आने जा रहे थे । उस समय इन्होंने गंधे को बहुत निर्दयता से मारा था । इस पर उस गंधे की माता गंधी ने इन्हें मालूम हुआ कि मैं ब्राह्मणकी रूतान नहीं हूँ, चांदल के वीर्य से उत्पन्न हूँ । इन्होंने घर आकर पिता से सब समाचार कहे और ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिये धीरे तपस्या करने लगे । तब इंद्र ने आकर समझाया कि ब्राह्मणत्व प्राप्त करना सहज नहीं है । उसके लिये लाखों वर्षों तक अनेक जन्म धारण करके तपस्या करनी पड़ती है । तब इन्होंने वर माँगा कि मुझे ऐसा पत्नी बना दीजिए जिसकी सभी वर्षवाले पूजा करें, मैं जहाँ चाहूँ, वहाँ जा सकूँ और मेरी कीर्ति अक्षय हो । इंद्र ने इन्हें यही वर दिया और ये छंदोदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए । कुछ दिनों के उपरांत इन्होंने, शरीर त्याग कर उत्तम गति प्राप्त की ।

मर्तगा-संज्ञा पुं० [सं० मर्तग] एक प्रकार का बौद्ध जिसे मूल

भी कहते हैं । यह यंगाल और यरमा में बहुत होता है । इसके पोर खड़े और सुष्ट होते हैं । इसको दीमक नहीं खाती । मर्तगी-संज्ञा पुं० [सं० मर्दिगिन्] हाथी का सवार । उ०—तिमि लच्छ मर्तगी स्वच्छ भट सरी निखंगी भति भले ।— गोपाल ।

मत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निश्चित सिद्धांत । सम्मति । राय ।

मुहा०—**मत उपाना** = सम्मति स्थिर करना । उ०—
कहना कृति कहना-निधान ने मन यह मती उपायो ।

(२) धर्म । धर्म । मज्जहंय । संमदाय । (३) भाष । भाष्य ।

मतलब । (४) ज्ञान । (५) पूजा ।

वि० (१) जिसकी पूजा की गई हो । पूजित । (२) कुत्तित ।

खराब । घुरा ।

कि० वि० [सं० या] निषेधावाचक शब्द । न । नहीं ।

जैसे,—(क) वहाँ मत जाय करो । (ख) इनसे मत बोली ।

मतनाश-कि० प्र० [सं० मति + ना (प्रत्य०)] सम्मति निश्चित करना । राय कायम करना । उ०—विनय कहिँ जैसे गद-पती । च निद्र कीन्ह कीन सति मती ।—जायसी ।

कि० प्र० [सं० मत्] बने आदि में चूर होना । मत्त होना ।

मतदियाया-संज्ञा स्त्री० [हि० माना] दे० "माता" या "माँ" ।

मुहा०—**मतदिया बहिनिया करना** = माँ बहन की गाली देना ।

वि० [सं० मंत्र] (१) मंत्र देनेवाला । मंत्री । सलाहकार ।

(२) मंत्र से प्रभावित । मंत्रित ।

मतलब-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तात्पर्य । अभिप्राय । आशय ।

(२) अर्थ । मानी । (३) अपना हित । निज का लाभ । स्वार्थ ।

मुहा०—**मतलब का यार** = अपना भला देखनेवाला । स्वार्थी ।

मतलब गौठना या निकालना = स्वार्थ साधन करना ।

(४) उद्देश्य । विचार । जैसे,—आप भी किसी मतलब से आए हैं ।

मुहा०—**मतलब हो जाना** = (१) सफल बनोरप होना । (२) चुर छल हो जाना । (३) मर जाना ।

(५) संबंध । वास्ता । जैसे,—अब तुम उनसे कोई मतलब न रखना ।

मतलवियाया-वि० दे० "मतलबी" ।

मतलबी-वि० [सं० मतलब + ई (प्रत्य०)] जो केवल अपने हित का ध्यान रखता हो । स्वार्थी । खुदगम ।

मतवार, मतवारा-वि० दे० "मतवाला" ।

मतवाला-वि० पुं० [सं० मत् + वाला (प्रत्य०)] [की० मतवाली]

(१) नरो आदि के कारण मत्त । मदमत्त । नरो में चूर ।

(२) उन्मत्त । पागल । (३) जिसे अभिमान हो । स्वयं अहं-कार करनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) वह भारी पत्थर जो किले या पहाड़ पर से

नीचे के शायुओं को मारने के लिये लुढ़काया जाता है । (२) कागज का बना हुआ एक प्रकार का पावतुमा पिलौना जिसके नीचे का भाग मिट्टी भादि भरी होने के कारण भारी होता है और जो फेंकने पर सदा खड़ा ही रहता है, जमीन पर छोटता नहीं ।

मता-पंश पुं० दे० "मत" ।

पंश की० दे० "मति" ।

मतानुया-पंश की० [सं०] न्याय दर्शन के अनुसार २१ प्रकार के निग्रह स्थानों में से एक जिसमें अपने पक्ष के दोष पर विचार न करके बार बार विपक्षी के पक्ष के दोष का ही वक्तव्य किया जाता है ।

मतानुयायी-पंश पुं० [सं०] किसी के मत के अनुसार आचरण करनेवाला । किसी के मत को माननेवाला । मनावलंबी ।

मतारी-पंश की० दे० "महत्तारी" ।

मतावलंबी-पंश पुं० [सं० मतावलंबिन्] किसी एक मत, सिद्धांत या सम्प्रदाय भादि का अवलंबन करनेवाला । जैसे,—
जैन-मतावलंबी ।

मति-पंश की० [सं०] (१) बुद्धि । समझ । अह । (२) राय । सलाह । सम्मति । (३) दृष्टि । व्याप्ति । (४) स्मृति ।

वि० बुद्धिमान् । चतुर ।

छा० कि० वि० दे० "मत" ।

मतिमन्-पंश पुं० [सं०] बुद्धिमान् । चतुर । होशियार ।

मतिचित्र-पंश पुं० [सं०] भवषोष का एक नाम ।

मतिदर्शन-पंश पुं० [सं०] वह शक्ति जिसके अनुसार दूसरे की योग्यता या भावों का पता लगाता है ।

मतिद-पंश की० [सं०] (१) उद्योगधमनी नाम की कला । (२) लेमल ।

मतिमंश-पंश पुं० [सं०] उन्माद रोग । पागलपन ।

मतिमन्-वि० [सं० मतिमन्] बुद्धिमान् । विचारवान् । चतुर ।

मतिमान-वि० [सं०] बुद्धिमान् । विचारवान् ।

मतिघन्त-वि० दे० "मतिमन्" ।

मती-पंश की० दे० "मति" ।

कि० वि० दे० "मति" ।

† कि० वि० दे० "मत" ।

मतीरा-पंश पुं० [सं० मे०] तपूत । कर्त्तृदा । उ०—(क) विषय वृथादिन की वृथा त्रिपे मनीरानि सोधि । अथिल अपार भगोष उल मारी भूँद पयोधि ।—विहारी । (ख) प्याये दुपहर जठ के पके सुखे लज सोधि । मर घर पाव मतीर-हू मारु कइत पयोधि ।—विहारी ।

मनीस-पंश पुं० [सं०] एक प्रकार का बाग । उ०—मदनमेरि

अरू घूँरा घंटा घने मतीस । मुदचंगी को भादि ई मार लुटे छतीस ।—सूदन ।

मतेईछा-पंश की० [सं० विमातृ वि० दे० मतर—विपक्ष] मता की संपत्ती । विमाना । उ०—गुलसी सरल मान गुपु माय मानी काय मन यानी हू न जानिए मतेई ई । धम विधि मेरो सुख सिरस सुमन समता की छल पुरी को इन्ति के देई है ।—गुलसी ।

मत्कुण-पंश पुं० [सं०] खटमल ।

मत्स-वि० [सं०] (१) मत्स्य । (२) मतवाला । (३) उन्मत्त । पागल । (४) प्रसन्न । सुत ।

पंश पुं० (१) वह हाथी जिसके मस्तक से मूत्र बरता हो ।

मतवाला हाथी । (२) घट्टा । (३) कोपल ।

छा० पंश की० [सं० माया] माया ।

मत्तकाशिनी-पंश की० [सं०] उत्तम की । अष्टी भीर ।

उ०—इयामा महिला भामिनी मत्तकाशिनी भान ।—
नंददास ।

मत्तकीश-पंश पुं० [सं०] हाथी ।

मत्तगयंद-पंश पुं० [सं०] सवैया छंद का एक भेद जिसके प्रत्येक चरण में ७ अगण और २ गुण होते हैं । इसे 'मालती' भी 'ईदव' भी कहते हैं ।

मत्तता-पंश की० [सं०] मत्त होने का भाव । मतवाला । मत्ती । उ०—सीमाप-मद की मत्तता धीरे धीरे दबती वस नस में सनसन करनी हुई चढ़ने लगी ।—सरस्वती ।

मत्तताई-पंश की० [सं० मत्तता + ई] मतवालापन । मत्ती ।

उ०—आपें बलदेव सदा बदली सों मत्त रहे, पावे ॥
माग्यो प्रेम मत्तनाई चासिये ।—विवादास ।

मत्तमयूर-पंश पुं० [सं०] (१) पंद्रह अक्षरों का एक वृत्त जिसमें प्रत्येक चरण में सगण, सगण, सगण, सगण और सगण होते हैं । (३३३, ३३१, ३३३, ३३३, ३३३) इसका दूसरा नाम माया भी है । उ०—छोड़ पोनी ता कहैं ली आप मयाती । माया या ई घर दई हो हम जानी । (२) मेघ को ईशा उन्मत्त होनेवाला, मोर ।

मत्तमयूरक-पंश पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक घोड़ा चाली का नाम ।

मत्तमानंगलोलाकर-पंश पुं० [सं०] एक दंष्टक वृत्त जिसमें प्रत्येक चरण में ९ सगण होते हैं । जैसे,—सुधिरामंद मरने के कंद बो छौंदि के रे मनीमंद मूली छिरी ना कहैं ।

विरोध—९ से अधिक सगणवाले दंष्टक भी इसी नाम से उक्त जाने हैं । केजदास ने ८ की सगण के छंद का मान मत्त मानगलोलाकर लिखा है । जैसे,—मेघ मंदविनी बर सीदामिनी रूप करे कर्म देह भारी मनो ।

मत्स्यपुराण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मकान के आगे का दालान या बरामदा । (२) अंगन के ऊपर की छत । (३) मत्वाला हाथी ।
मत्स्यसमक-संज्ञा पुं० [सं०] चौपाई छंद का एक भेद जिसमें नवीं मात्रा अवश्य लघु होती है ।

मत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बारह अक्षरों का एक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में मगण, भगण, सगण और एक गुरु होता है और ४, ४ पर यति होती है । जैसे,—मत्ता छंद के हरि रस सानी । धार्य बंसी सुनत सयानी । (२) मदिरा । शराब । प्रत्यं भाववाचक प्रत्यय । पन । (इसका प्रयोग शब्दों को भाववाचक बनाने में उसके अंत में होता है । जैसे,—बुद्धि-मत्ता । नीहिमत्ता ।)

मत्ता संज्ञा स्त्री० दे० "माता" ।

मत्ताभीड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तेईस अक्षरों का एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में दो मगण, एक सगण, चार नगण और अंत में एक लघु और एक गुरु अक्षर होता है । जैसे,—यों रानी माथो की यानी खुनि कह कस तिय असत कहत री ।

मत्था-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य] (१) ललाट । भाल । माथा । (२) सिर । मूँद ।

मुहा०—मत्था टेकना = प्रणाम करना । गिर झुकाकर अभिवादन करना । मत्था मारना = सिर-पच्छी करना । सिर खपाना ।

(३) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी भाग ।

मत्स-संज्ञा पुं० दे० "मत्स्य" ।

मत्सर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी का सुख या विभव न देख सकना । डाह । हसद । जलन । (२) क्रोध । गुस्सा ।

वि० (१) जो दूसरे की सुख संपत्ति देखकर जलता हो ।

डाह करनेवाला (२) कृपण । कंजूस । (३) जो सपको अपनी

मिद्व करके देखकर अपने आपको धिक्कारता हो ।

मत्सररुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मत्सरयुक्त होने का भाव । डाह । हसद ।

मत्सरि-संज्ञा पुं० [सं० मत्सरि] वह जो दूसरों से मत्सर रखता हो । मत्सरपूर्ण शक्ति ।

मत्सरिकृता-संज्ञा स्त्री० [सं०] संगति में एक मूर्च्छना का नाम ।

इसका स्वरूप इस प्रकार है—म, प, घ, नि, स, रे, ग ।

ग, म, प, घ, नि, स, रे, ग, म, प, घ, नि ।

मत्स्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मछली । (२) प्राचीन विराट देश का नाम ।

विशेष—कुछ लोगों का मत है कि वर्तमान दीनाजपुर और रंगपुर ही प्राचीन काल का मत्स्य देश है; और कुछ लोग इसे प्राचीन पांचाल के अंतर्गत मानते हैं ।

(३) छप्य शब्द के २३ वें भेद का नाम । (४) नारायण ।

(५) बारहवीं राशि । मीन राशि । (६) अठारह पुराणों में से एक जो महापुराण माना जाता है । कहते हैं कि जब विष्णु

भगवान् ने मत्स्य अवतार धारण किया था, तब यह पुराण कहा था । (७) विष्णु के दस अवतारों में से पहला अवतार । कहते हैं कि यह अवतार सतयुग में हुआ था । इसका नीचे का अंग रोहू मछली के समान, ऊपर का अंग मनुष्य के समान और रंग धवला था । इसके सिर पर सींग थे, चार हाथ थे, छाती पर लक्ष्मी थी और सारे शरीर में कमल के चिह्न थे ।

विशेष—महाभारत में लिखा है कि प्राचीन काल में विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु एक बहुत ही प्रसिद्ध और बड़े तपस्वी थे । एक बार एक छोटी मछली ने आकर उनसे कहा कि मुझे बड़ी बड़ी मछलियाँ बहुत सताती हैं; आप उनसे मेरी रक्षा कीजिए । मनु ने उसे एक बड़े में रख दिया और वह दिन दिन बढ़ने लगी । जब यह बहुत बड़ गई, तब मनु ने उसे एक कूर् में छोड़ दिया । जब वह और बड़ी हुई, तब उन्होंने उसे गंगा में छोड़ा; और अंत में उसे वहाँ से भी निकालकर समुद्र में छोड़ दिया । समुद्र में पहुँचते ही उस मछली ने ईंसते हुए कहा कि शीघ्र ही प्रलय काल आनेवाला है । इसलिये आप एक अच्छी और दृढ़ नाव बनवा लीजिए और संसर्पियों सहित उसी पर सवार हो जाएँ । सब चीजों के बीच भी अपने पास रख लीजिएगा; और उसी नाव पर मेरी प्रतीक्षा कीजिएगा । वैवस्वत मनु ने ऐसा ही किया । जब प्रलय काल आया और सारा संसार जल-मग्न हो गया, तब वह विशाल मछली उन्हें दिखाई दी । उन्होंने अपनी नाव उस मछली के सींग से बाँध दी । कुछ दिनों बाद वह मछली उस नाव को खींचकर हिमालय के तट से ऊँचे शिखर पर ले गई । वहाँ वैवस्वत मनु और संसर्पियों ने उस मछली के कहने से अपनी नाव उस शिखर में बाँध दी । इसी लिये वह शिखर अब तक मोक्षधन कहलाता है । उस समय उस मछली ने कहा कि मैं स्वयं प्रजापति महा हैं । मैंने तुम लोगों की रक्षा करने और संसार की फिर से सृष्टि करने के लिये मत्स्य का अवतार धारण किया है । अब यही मनु फिर से सारे संसार की सृष्टि करेंगे । यह कहकर वह मछली वहीं अंतर्धान हो गई । मत्स्य पुराण में लिखा है कि प्राचीन काल में मनु नामक एक राजा ने घोर तपस्या करके ब्रह्मा से वर पाया था कि जब महाप्रलय हो, तब मैं ही फिर से सारी सृष्टि की रचना करूँ । और तब प्रलय काल आने से कुछ पहले विष्णु उक्त प्रकार से मछली का रूप धरकर उनके पास आए थे । इसी प्रकार भागवत आदि पुराणों में भी इससे मिलती जुलती अथवा भिन्न कई कथाएँ पाई जाती हैं ।

(८) पुराणानुसार सुनहले रंग की एक प्रकार की शिला जिसका पूजन करने से मुक्ति होती है ।

मत्स्यगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलपीपल । (२) व्यास की माता सत्यवती का एक नाम । वि० दे० "व्यास" ।
मत्स्यजीवी-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्यजीविन्] निषाद जाति का एक नाम ।

मत्स्यद्वादरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अगहन सुदी द्वादशी ।
मत्स्यद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक द्वीप का नाम ।
मत्स्यनाथ-संज्ञा पुं० दे० "मत्स्यनाथ" ।
मत्स्यनाशक-संज्ञा पुं० [सं०] कुरर वृक्ष ।
मत्स्यनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच प्रकार की सीमाओं में से वह सीमा जो नदी वा जलनाथ आदि के द्वारा निर्धारित होती है ।
मत्स्यपुराण-संज्ञा पुं० दे० "मत्स्य" (१) ।
मत्स्यबंध-संज्ञा पुं० [सं०] घीवर । महाह ।
मत्स्यबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] मछली पकड़ने की वंशी ।
मत्स्यमुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्रिकों की एक मुद्रा जो सभी पूजाओं में आवश्यक होती है । इसमें दाहिने हाथ के पिछले भाग पर बाएँ हाथ की हथेली रखकर अँगूठा हिलाते हैं । यह मुद्रा सभी छिद्र करनेवाली मानी जाती है । इसे दूसरे मुद्रा भी कहते हैं ।

मत्स्यराज-संज्ञा पुं० [सं०] रोहू मछली ।
मत्स्याज्ञक-संज्ञा पुं० [सं०] सोम लता ।
मत्स्याक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोम लता । (२) माछी मूरी ।
(१) गाढ वृक्ष ।

मत्स्यायिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलपीपल । (२) दे० "मत्स्याक्षी" ।

मत्स्यायतार-संज्ञा पुं० दे० "मत्स्य" (७) ।
मत्स्यासन-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रिकों के अनुसार योग का एक आसन ।

मत्स्यासुर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक असुर का नाम ।
मत्स्यद्रुनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध साधु और द्रव्य योगी जो गोरक्षनाथ के गुरु थे । नेपाल में ये पद्मपाणि नामक बौधिसंघ के अवतार माने जाते हैं ।

मत्स्योदरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यास जी की माता सत्यवती का एक नाम । मत्स्यगंधा ।

मत्स्योपजीवी-संज्ञा पुं० [सं०] मत्स्योपजीविन् । घीवर । महाह ।
मथन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथने का भाव या क्रिया । विलोना ।
(२) एक ब्रह्म का नाम । (३) मथिपारी नामक वृक्ष ।

वि० मानेवाला । नाशक । उ०—मधुदैतम-मथन मुर और केरी निद्रम कंस कुल बाळ अनुसाळ हातो । जानि युग ज्य मे मूय लक्ष्मणा में बहुत करी करी बहुत भूमिपारी ।—सूर ।

मथना-वि० व० [सं०] मथन या मथन । (१) किसी ताल पदार्थ को लकड़ी आदि से बेगएक हिलाना या चलायाना ।
वि० कोना । रिद्धना । जैसे,—वही मथना, लमूद मथना

हत्यादि । उ०—(क) का भा जोग कहानी कहे । लिले धीव न गिन दधि मये ।—जायसी । (७) दशमेय में नदि जाना मिथ्या स्वाद मुलाना । सलिका मथि के ल को काडैत ताहि समाधि समाना ।—कबीर । (७) मुद्रन मथह विचार मथानी । दम मंधार रह साय मुशारी ।—मुलसी । (७) ज्ञान कथा को मथि मन देखे ज्यो बु धौपी । तरति घरी छिन एक न मतिमा स्थाम रूप तेते ।—सूर ।

कि० सं०—डालना ।—देना ।—लेना ।
(२) चलाकर मिलाता । गति देकर एक में मिलाना । उ०—मथि मृग मलय कपूर सवन के तिलक छिरे । कर ली माला पहिराए सवन विचित्र ठप ।—सूर । (१) मल मन करना । नष्ट करना । ध्वस्त करना । उ०—(क) सेन खीप तब मान मथि बन उजारी पुर जारि । कस रहे सड़ गुण कपि गयेउ जो तब सुत भारि ।—मुलसी । (७) बर ब शकट प्रलंघन हनि मारेउ गज पाणूर । धनुष मंत्रि दू रि पुनि कंस मये मन्दूर ।—केदार । (७) पून पूनर एक लगाना । बार बार प्रमर्त्यक हूँदना । पता लगाना । जैसे—तुम्हारे लिये सारा बाहर मथ जाला गया, पर वही हवा पता न लगा । (५) बार बार किसी क्रिया का करना । किसी कार्य को बहुत अधिक बार करना ।
संज्ञा पुं० मथानी । रई । उ०—आज गहूँ ही मथन में कहा करी दधि धेनु री । यह भंग चतुरंग छठ मो कंठ दुहियतु धेनु री । पूमि रहे जित तित दधि मथन मुख मेय ध्यनि छात्रे री । मरनी कहा सदन की सोमा रईम ते राखे री ।—सूर ।

मथनियाँ-संज्ञा स्त्री० [हि० मथनी] वह मरका जिसमें रईम मथा जाता है । उ०—वही वहेरी रिग करी मरी मथनियाँ थारि । कर केरति उलटी रई गहूँ विलोचनहारि ।—गिरसी ।
मथनी-संज्ञा स्त्री० [हि० मथना] (१) वह मरका जिसमें रईम मथा जाता है । मथनियाँ । उ०—(६) वृक्ष वृक्ष के मथन पाते केहु छान न भाई । मादन चोरि केरि मरनी पीयत छाउ पराई ।—सूर । (२) बारी कहीं मथनि सिंगे कहीं धी को चढ़ा चिकल बगारे कहीं मासन मथनी । (२) दे० "मथानी" । (३) मथने की क्रिया ।

मथपाह-संज्ञा पुं० [हि० मथा + पाह (माथ)] हाथी के सिर से कर कसे हॉकेमेषाला पुरण । महापत । उ०—रिदि ताँ हीवरे भागे । जनु मथपाह रहे सिर भारि ।—जायसी ।
मथानी-संज्ञा स्त्री० [हि० मथना] कट का बना हुआ एक वस्त्र का दूक जिसमें दही से मथकर मरनन निकाला जाता है इसके दो भाग होते हैं—एक स्त्रीया या सिरा की बुनाई होती । स्त्रीया प्रायः गौय, चिपरा और एक और लमूद

दूसरी ओर उल्लोदर होती है। इसके किनारे पर कटाव होता है और जिस ओर समतल रहता है, उधर बीच में वेद दो हाथ लंबी डंडी जड़ी रहती है। मथते समय सुरिया दही के भीतर डालकर डंडी को खंभे की चूल में छपेटकर रस्सी से केवल हाथों से घट बटकर घुमाते हैं जिससे दही खुब हो जाता है और थोड़ा सा पानी डालने पर और मथने से नैनू या मक्खन मट्टे के ऊपर उतरता आता है, जिसे मथानी से समेटकर अलग इकट्ठा करते हैं। रहें। बिछोनी। महनी। छेहर। उ०—को अस साज देह मोहि आनी। बासुकि वाम सुमेर मथानी।—जायसी।

पय्यां—मथान। मंथ। पैशाख। मथा। मंथन। तक्राद। मक्राद।

मुहा०—मथानी पढ़ना या बहना = खलबली मचना। उ०—गढ़ ग्वलियर मई बही मथानी। और कंवार मथा पै पानी।—जायसी।

मथित-वि० [सं०] (१) मथा हुआ। (२) घोलकर भली अँति मिलाया हुआ। आलोकित।

मथी-वि० [सं० मथिर्] [स्त्री० मथिनी] मथनेवाला।

सं० घंटा पुं० मथानी।

मथुरा-संज्ञा स्त्री० [सं० मथुर = मथुरा] पुराणानुसार सात पुरियों में से एक पुरी का नाम। यह प्रज-में यमुना के दाहिने किनारे पर है। रामायण (उत्तर कांड) के अनुसार इसे मधु नामक दैत्य ने बसाया था जिसके पुत्र बाणासुर को पराजित कर बाहुमन ने इसको विजय किया था। पाली भाषा के ग्रंथों में इसे मथुरा लिखा है। महाभारत काल में यहाँ धृष्टकेतु धर्मियों का राज्य था और इसी वंश की एक शाखा में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र का यहाँ जन्म हुआ था। धृष्टकेतु धर्मियों के राज्य के अनंतर अज्ञोक्त के समय में उनके आचार्य उपगुप्त ने इसे बौद्ध धर्म का केंद्र बनाया था। यह शैली का भी तीर्थस्थान है। उनके उन्नीसवें तीर्थंकर महिनाथ का यह जन्म स्थान है। मौर्य साम्राज्य के अनंतर यह स्थान अनेक यूनानी, पारसी और शक क्षत्रपों के अधिकार में रहा। महमूद राजनवी ने सन् १०१७ में आक्रमण कर इस नगर को न्यस्त न्यस्त कर डाला था। अन्य मुसलमान बादशाहों ने भी इस पर समय समय पर आक्रमण कर इसे तहस नहस किया था। यहाँ हिंदुओं के अनेक मंदिर हैं और अनेक कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदाय के आचार्यों का यह केंद्र है। पुराणानुसार यह मोक्षदायिनी पुरी है।

मथुरिया-वि० [हि० मथुरी + रिया (प्रत्य०)] मथुरा से संबंध रखनेवाला। मथुरा का। जैसे—मथुरिया पंटे। उ०—जो पै भलि अंत हुई करिवेहो। सो अवलित आही अवलन की वठिन हिये हरिवेहो। को प्रपंच परिणाम प्रेम फिरि अनु-

चित आचारिवेहो। सो मथुरही महा महिमा कहि सकल बरनि हरिवेहो।—तुलसी।

मथौरा-संज्ञा पुं० [हि० मथौरा] एक प्रकार का भद्रा रंदा जिससे बड़ई लकड़ी को खरादने के पहले छीलकर सीधा करते हैं। उ०—झाड़ दुसाखे शाम बसूल परमा र हथौरा। टोंकी नहनी घनी बरा भारी हू मथौरा।—सूदन।

मथौरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मथा + मीर (प्रत्य०)] एक आभूषण का नाम जिसे छियाँ सिर में पहनती हैं। यह अर्द्ध चंद्राकार होता है जिसमें कई लटकन लगे रहते हैं। यह जंजीर या धागे से बांधा जाता है। चंद्रिका। चंद्रक।

मथ्या-संज्ञा पुं० दे० “माथा” उ०—भटके पटके कटके सुमथ्यं। सटके चलावै भटके न तथ्यं।—सूदन।

मदंग-संज्ञा पुं० [सं० मदंग] एक प्रकार का बौत जो बरमा, आसाम, छोटा नागपुर आदि में होता है। यह खोलला और मोटा होता है। इससे चटाई, घड़नई आदि बनाई जाती है और फलटे चीरकर मकान छाप जाते हैं। इसके पोर में ओग चावल पकते और चीजें भरकर रखते हैं।

मदंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिकृत धैर्य की चार धृतियों में से दूसरी धृति का नाम।

मद्वंश-वि० दे० “मदोच”।

मद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हर्ष। आनंद। (२) यह गंधयुक्त द्रव्य जो मत्तवले हाथियों की कनपटियों से बहता है। दाग। (३) वीर्य। (४) कस्तूरी। (५) मद्य। (६) चित्त का वह उद्वेग वा उन्मग जो मादक पदार्थ के सेवन से होती है। मत्तबाछापन। नशा। (७) उन्मत्तता। पागलपन। विक्षिप्तता। उ०—सत्यवती मद्योदरी नारी। गंगातट दावी सुकुमारी। पारसुर क्षत्रि तहँ चलि आए। विवश होइ तिनके मई धाप।—सूर। (८) गर्व। अहंकार घमंड। (९) अज्ञान। मतिविभ्रम। प्रमाद। (१०) एक रोग का नाम। उन्माद नामक रोग। (११) एक दानव का नाम। (१२) कामदेव। मदन।

मुहा०—मद पर आना = (१) उन्मग पर आना। (२) कामोन्मत्त होना। गरमाना। (३) युवा होना।

वि० मत्त। उ०—मद गजराज द्वार पर दाढ़ी हरि कहेउ नेक बचाय। उन नहि मान्यो संमुख आयो पकरेउ मूछ फिराय।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लम्बी लकड़ी जिसके नीचे लेखा लिखा जाता है। खाता। (२) कार्य या कार्यालय का विभाग। सीमा। सखित। (३) खाता। जैसे—इस मद में सी रूपय खर्च हुए हैं। (४) वीर्यक। अधिकार। (५) ऊँची लहर। ज्वार।

मदक-संज्ञा स्त्री० [हि० मद + क (प्रत्य०)] एक प्रकार का मादक

पदार्थ जो अपनी के सत में भारीक करता हुआ पान पकने से यनता है। पीनेवाले इसकी छोटी छोटी गोलियों को चिलम पर रखकर तमाकू की भाँति पीते हैं।

यी०—मदकची या मदकवाग्र=मदक पीनेवाला।

मदकची-वि० [दि० मदक + ची (मय०)] जो मदक पीता हो।

मदक पीनेवाला।

मदकट-संज्ञा पुं० [सं०] सौँद।

मदकद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] साड़ का पेड़।

मदकर-वि० [सं०] मदकद्रुम। मदकरक। जिससे मद उत्पन्न हो।

संज्ञा पुं० घुघुरा।

मदकल-वि० [सं०] (१) मल। मतवाला। (२) बावला। पागल।

मदकी-वि० [दि० मदक + ई (मय०)] मदक पीनेवाला। मदकची।

मदकूल-वि० [सं०] उन्मादजनक। मादक।

मदकोहल-संज्ञा पुं० [सं०] सौँद।

मदगुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] यह ची जिससे कोई बिना विवाह किए ही रख ले या घर में डाल ले। गृहीता। रखनी। सुरतिन।

मदगंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जितवन। (२) मय।

मदगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा। शराब। (२) अलसी। अलसी।

मदगमन-संज्ञा पुं० [सं०] महिष। भैंसा।

मदगल-वि० [सं० मदकल] मल। मल। उ०—सारिके सिवा-जो गानी सरमा समथ महा मदगल अकथई पंजा बल पटक्यो।—भूषण।

मदमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पोष। प्लिका।

मदच्युत-वि० [सं०] गर्वनाशक।

मदजल-संज्ञा पुं० [सं०] मल हाथी के मस्तक का खाव। हाथी का मद। दान।

मद-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सहायता। सहाय। उ०—यहल-यान सौं बगाने बली। मदद भीर हमना भी बली।—जायसी।

यी०—मदद गये। मददगार।

प्रि० प्र०—दान।—देना।

मुहा०—मदद पहुँचना = उमर पहुँचना। महायता मिलना।

(२) मदद और राय आदि जो किसी काम के ऊपर लगाए जाते हैं। साथ काम करनेवालों का समूह।

प्रि० प्र०—छगना।—छगाना।

मुहा०—मदद बटिना=यान पर लगे हुए मददों को मददगी बोटन का देना। देनक मददगी पुछना।

मददल-संज्ञा पुं० [सं० मदद + ल (मय०)] (१) यह धन जो किसी को सहाय्यार्थ दिया जाय। (२) यह धन जो किसी काम करने के लिये काम करनेवालों को अगाऊ दिया जाय। पैसा।

वि० [सं०] सहायता देनेवाला। मदद करनेवाला।

सहायक।

मदधार-संज्ञा पुं० [सं०] महामारत के अनुसार एक का नाम।

मदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव (२) काम कीटा। (३) कामदास के अनुसार एक प्रकार का आश्रित जिसे नायक अपना एक हाथ नायिका के गले में डालकर दूसरा हाथ मध्यदेश में लगाकर उसका आश्रित बनता है। (४) मैनफल नामक वृक्ष और उसका फल। (५) वार। (६) खैर। (७) मौलसिरी। (८) ब्रमर। (९) मेव। (१०) अलरोट का वृक्ष। (११) महादेव के चार प्रभाव करनेवालों में से तीसरे अवतार का नाम। (१२) मेवा की। सारिका। (१३) ज्योतिष शास्त्र के अनुसार जन्म के समय गृह का नाम। (१४) एक प्रकार का गीत। (१५) देव। (१६) रूपमाल छंद का दूसरा नाम। (१७) छप्पर के लोहे का नाम। (१८) संज्ञन पत्नी।

मदनकंदक-संज्ञा पुं० [सं०] सारिक रोमिय।

मदनक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मदन वृक्ष। मैनक। (२) दीना। (३) मोम। (४) खैर। (५) मौलसिरी। (६) चवड़ा।

मदनगृह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योनि। भग। (२) कर्म ज्योतिष के अनुसार जन्मकुंडली में सप्तम स्थान। (३) मदन हर छंदका दूसरा नाम।

मदनगोपाल-संज्ञा पुं० [दि० मदन + गोपाल] श्रीकृष्ण का एक नाम। उ०—जमुदा मदनगोपाल सुचार। हृदयलगत मिश्रवन कन्यो इस बिरेधि भ्रमाये।—नूर।

मदन चतुर्दशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र मास की चतुर्दशी का नाम। यह मदन महोत्सव के अंतर्गत है।

मदनताल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ताल जिसमें चढ़ने हुए और अंत में धीरे मात्रा होती है। (संगीत)

मदनप्रयोदशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र की शुक्ल चतुर्थी का नाम। यह मदन महोत्सव के अंतर्गत है।

मदनदमन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

मदनदिपस-संज्ञा पुं० [सं०] मदनोत्सव का दिन।

मदनदोला-संज्ञा स्त्री० [सं०] हनुमान के एक भेरी में केदर का नाम। (संगीत)

मदनहादशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र शुक्ल चतुर्थी का नाम। मार्गशीर्ष मास में इस दिन मदनोत्सव प्रारंभ होता है। पुराणों में इस दिन मृत का विधान है।

मदननालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] यह ची जिस का निष्कर्ष होता है। अष्टा की। दुबारी का।

मदनपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनु। (२) विष्णु।

मदनपाठक-संज्ञा पुं० [सं०] कोकिला । कोयल ।

मदनफल-संज्ञा पुं० [सं०] मैनफल । मयनी ।

मदनधान-संज्ञा पुं० [हि० मदन + धान] एक प्रकार का घेला जिसकी कलियाँ लंबी तथा दल एकदरे और चुकीले होते हैं । यह वर्षा में फूलता है और इसकी गंध बहुत अच्छी पर तीव्र होती है ।

मदनमयन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योनि । भग । (२) फलित ज्योतिष के अनुसार जन्म-कुंडली में जन्म से संतप्त स्थान । मदनमनोरमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] केशवदास के मतानुसार सवैया के एक भेद का नाम जिसे दुमिल भी कहते हैं ।

मदनमनोहर-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रक के एक भेद का नाम जिसे मनहर भी कहते हैं ।

मदनमल्लिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका वृत्ति का एक नाम ।

मदनमस्त-संज्ञा पुं० [हि० मदन + मस्त] (१) जंगली सूरन का सुषाया हुआ डुब्बा जिसका प्रयोग औषध में होता है । (२) चंदे की आति का एक प्रकार का फूल जिसकी गंध कदहल से मिलती चुकती पर बहुत उग्र तथा प्रिय होती है ।

मदनमहोरस्य-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक उत्सव जो वैशाख शुद्ध द्वादशी से चतुर्दशी पर्यंत होता था । इस उत्सव में व्रत, कामदेव की पूजा, गीत-वाद्य और रात्रि जागरण आदि होते थे । इस उत्सव में स्त्री पुरुष दोनों सममिल होते थे और उद्यान आदि में अमोद प्रमोद करते थे । मदनमोदक-संज्ञा पुं० [सं०] केलाव के मतानुसार सवैया छंद के एक भेद का नाम जिसे सुंदरी भी कहते हैं ।

मदनमोहन-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्णचंद्र का एक नाम । उ०— जो मोहिं हृषा करी सोई जो हैं तो आचो मोगिन । यन्मु मति सुत अपने पाहन जब खेलत आदि अंगिन । जब तुम मदनमोहन करि देरो इहि सुनि कै घर जाऊँ । हैं तो तेरो घर की बाड़ी सूर दास भट नाऊँ ।—सूर ।

मदनमल्लित-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णिक वृत्ति का नाम । इस वृत्ति के प्रति चरण में सोलह वर्ण होते हैं । पहले मगण क्षिप्र भाग, गगण, मगण, गगण और अंत में गुरु होता है । उ०—मोरियो जो दाननिज पति हैं दासी चरण की ।

मदनलेख-संज्ञा पुं० [सं०] प्रेमी और प्रेमिका के पारस्परिक प्रेम-पत्र ।

मदनशलाका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मैना । (२) कोकिला । कोयल ।

मदनसदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भग । योनि । (२) फलित ज्योतिष के अनुसार जन्म-कुंडली के सप्तम स्थान का नाम ।

मदनसारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सारिका । मैना ।

मदनहर-संज्ञा पुं० दे० "मदनहर" ।

मदनहरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चालीस मात्राओं के एक छंद का

नाम । छंद प्रभाकर में इसे मनहर लिखा है और दस, आठ, चौदह और आठ पर यति तथा आदि की दो मात्राओं का छंद और अंत की मात्रा का ह्रस्व होना लिखा है । उदा०—सँग सीय लक्ष्मण, श्री रघुनंदन, मातन के शुभ पाह्य पर मय दुःख हरे । हमे मदनमृद भी कहते हैं । इसके यति और आदि की छंद मात्रा के नियम को कोई कोई कवि नहीं मानते । जैसे—सादल नजीब, महमूद आक़बत, जैत शूजर सहित देख जुद पदे ।—सूदन ।

मदनांकुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्प की इंद्रिय । लिंग ।

(२) नक्षत्र ।

मदनान्तक-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

मदनान्ध-वि० [सं०] कामान्ध ।

मदना-संज्ञा स्त्री० [सं०] मैना । सारिका ।

मदनाग्रक-संज्ञा पुं० [सं०] कीदंब । कीर्वाँ ।

मदनयुध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव का अस्त्र । (२) भग । (३) एक शास्त्र का नाम ।

मदनारि-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

मदनालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भग । योनि । (२) फलित ज्योतिष के अनुसार जन्म कुंडली में के सप्तम स्थान का नाम ।

मदनयस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कामुकों की विरहावस्था । (२) कामक्रीडा की दशा ।

मदनाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मदनयुध । (२) एक अस्त्र का नाम ।

मदनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुरा । बावणी । (२) कस्तूरी । (३) मेथी । (४) अतिपुष्प नाम का फूल । (५) धातु का पेड़ । धी ।

मदनोयहेतु-संज्ञा पुं० [सं०] धातकी । धातु का पेड़ । धी ।

मदनेच्छाफल-संज्ञा पुं० [सं०] कलमी आम का पेड़ । बदरसाल ।

मदनोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] मदनमहोत्सव ।

मदनोत्सवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वर्ग की वेदया । अमररा ।

मदप्रयोग-संज्ञा पुं० [सं०] हाथियों का मद पशुना ।

मदमंजिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शतमूली ।

मदयंतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका ।

मदयंतो-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका ।

मदयिलु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मय । शराव । (२) कामदेव । (३) कलश । (४) मेघ ।

मदरक-संज्ञा पुं० [सं० मंडल] मंदराना । घेरना । आक्रमण ।

उ०—प्रज पर मदर करत है काम । कहियो अधिक जाइ दयाम सौं राखहि आइ आपनो घाम—सूर ।

मदरसा-संज्ञा पुं० [सं०] पदशाला । विद्यालय ।

मदरास-संज्ञा पुं० भारतवर्ष के अंतर्गत एक प्रांत का नाम जो अपने प्रधान नगर के नाम से प्रख्यात है । यह

प्रदेश दक्षिण प्रांत में पूर्व समुद्र के किनारे उड़ीसा से कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ है। यहाँ द्रविड़ और सैलंग लोग रहते हैं। इस प्रांत की राजधानी समुद्र के किनारे है और उसका भी यही नाम है।

मदलेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्षिक वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक धरण में सात सात वर्ष होते हैं, जिनमें पहले मगध फिर सगण और अंत में गुप्त होता है। उ०—मोरी गोप किशोरी। पैरो ना हरि जोरी।

मदविक्षित-वि० [मं०] मद से पागल। मदमत्त।

संज्ञा पुं० मतवाला हाथी।

मदशाफ-संज्ञा पुं० [सं०] पौष्टि। पोष।

मदसार-संज्ञा पुं० [सं०] चाहत का पैद।

मदसेतु-संज्ञा पुं० [मं०] धातकी। धात या पैद।

मदार्तक-संज्ञा पुं० [मं०] मदारथय नामक रोग।

मदार्थ-वि० [सं०] जिससे मारी, गर्व आदि के कारण भले पुरे का कुछ ज्ञान न हो। मदमत्त। मदोन्मत्त। मद से अंधा।

मदाम्बिलत-संज्ञा स्त्री० [मं०] (१) पथि। रोक। रुकावट।

(२) प्रवेश। अधिकार।

यौ०—मदाम्बिलत श्रेष्ठा।

मदाम्बिलत संज्ञा-संज्ञा स्त्री० [मं० मदाम्बिलत + का० वै०] (१)

किसी ऐसे स्थान में प्रवेश करना जहाँ बैसा करने का अधिकार प्राप्त न हो। अधिकार प्रवेश। (२) किसी ऐसे कार्य में हस्तक्षेप करना जिसमें बैसा करने का अधिकार न हो। अनुचित हस्तक्षेप।

मदाम्बिल-संज्ञा पुं० [मं०] ताल का वृक्ष। ताड़।

मदाम्बिल-संज्ञा पुं० [सं०] एक-रोग का नाम जो लगातार अत्यंत मगपान करने से होता है। इस रोग में रोगी की आंख आंखों हैं, मींद नहीं आती, भयंज होती है, प्यास लगती है, हाथ-पैर में जलन होती है और वे डोल पड़ जाते हैं, संज्ञा आती है और अचंच हो जाता है। कभी कभी उबर भी आता है और रोगी बहुत मलाप करता है।

पर्याय०—मदाम्बिल। मदाम्बिल। मद।

मदाम्बिल-संज्ञा पुं० [सं०] एक कवि का नाम।

मदाम्बिल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हल्दी। हाथी। (२) धूल। धातु। (३) शूकर। गुर। (४) एक गंध द्रव्य का नाम। कामुक।

संज्ञा पुं० [मं० मदाम्बिल] आक।

यौ०—मदाम्बिल।

संज्ञा पुं० दे० "मदाम्बिल"।

मदाम्बिल-संज्ञा पुं० [मं० मदाम्बिल + गंध] धूल में सुगंधवा हुआ मदाम्बिल का द्रव्य जो प्रायः औरंग आदि में डाला जाता है।

मदाम्बिल-संज्ञा पुं० दे० "मदाम्बिल"।

मदारी-संज्ञा पुं० [मं० मदार] (१) एक प्रकार के सुकन्य फकीर जो बंदर, आलू आदि नचाते और हाथ के काने दिखाते हैं। ये लोग शाह मदार के अनुयायी होते हैं। मदारिया। कलंदर।

विशेष—शाह मदार का जन्म १०५० ईसवी में एक बंदरी के घर हुआ था और यह स्वयं इस्लाम धर्म में दीक्षित हुए थे। यह फरसावाद में रहते थे और मुस्लिम कार्य के समय में कानपुर आए थे। उस समय कानपुर में 'मकनदेव' नामक मित्र रहता था। शाह मदार बड़ मित्र को वहाँ से निकालकर वहाँ रहने लगे। इसी से उस स्थान का नाम मकनपुर पड़ा। शाह मदार के विषय में वा प्रसिद्ध है कि यह चार सौ वर्ष जीते रहे और सन् ११११ में मरे थे। शाह मदार की समाधि मकनपुर में सुकन्य हुमाहीम ने बनवाई थी। मुसलमान उन्हें शिद्द शाह करते हैं और अब तक जीवित मानते हैं। शाह मदार का पूरा नाम यद्विहीन था।

(२) बानीगर। समाशा करनेवाला। (३) बंदा 'मदारी' नचातेपाटा।

मदालिस्त-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार विद्यायुक्त लोगों की कन्या का नाम जिसे वज्रकेतु के पुत्र वातालकेतु दानव ने हथ ले जाकर पागल में रखा था। राजा शत्रुघ्न के पुत्र अश्वत्थाम यज्ञ-संध्या गालव जी के आश्रम में राते थे। एक दिन शूकर रूपधारी वातालकेतु के अधिक उपद्रव करने से उन्होंने उसका पीछा किया और उसे मारकर वाताल में मार दिया। वहाँ उन्हें मदालिस्त मिली जिससे उन्होंने ने विवाह किया। थोड़े दिनों बाद जब अश्वत्थाम अपने पिता की आज्ञा से पृथिवी पर्यटन करने निकले, तब उन्हें वातालकेतु का बेटा वातालकेतु मिला जो मुनि का रूप धारण कर लपटा था। वातालकेतु ने अश्वत्थाम से कहा कि मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, पर इतिहास देने के लिये मेरे पास द्रव्य नहीं है। मैं आप अपना हार मुझे दें, तो मैं जल में प्रवेश कर बलवै बन प्राप्त कर सकूँ। राजकुमार ने उसके मोते से अपना हार उसे दे दिया और उसके आश्रम में बैठा। उसके छोटी की प्रतीक्षा करने लगे। वातालकेतु हार प्राप्त कर जलनाथ में घुसा और दूसरे मार्ग से निकलकर वहाँ जाता कि पास पहुँचकर उससे कहा कि राजकुमार वहाँ रक्षा कर रहे थे। राजकुमार ने पौर पुत्र हुआ, जिसमें वाताल ने राजकुमार की मार डाली। मैं वह समाचार देने के लिये आया हूँ। अब अश्वत्थाम के मार्ग जाने का समय। मदालिस्त को बहूँषा, तब उसने प्राण त्याग दिए। राजकुमार वहाँ से छोटा और उसी जलनाथ से निकलकर कन्या से बोला कि आपकी कन्या से मेरा प्रेमोपपन्न हो तो मैं

अथ भाग अपने घर जाहूँ । ऋतुष्वज जब अपने घर आया, तो मदालसा के शरीरपात का समाचार सुनकर अत्यंत दुःखित हुआ। निदान यह सदा चिंतातुर रहा करता था। उसे शोकानुर देश उसके सखा नागराज अश्वतर के दो पुत्रों ने अपने पिता से प्रार्थना की कि आप तप करके मदालसा को फिर राजा को दे उनको दुःख से छुड़ावें। अश्वतर ने शिव की तपस्या कर उनके वरदान से 'मदालसा' तुल्य पुत्री प्राप्त की और राजकुमार ऋतुष्वज को अपने यहाँ निमंत्रित कर उसे प्रदान किया। यह मदालसा परम विदुषी और मन्त्रवादिनी थी। यह अपने पुत्रों को ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश करती हुई खेलाया करती थी। इसके तीन पुत्र विक्रान्त, सुयाहु और शत्रुमर्दन आवाह मन्त्रकारी और वित्तक थे; और चौथा पुत्र अलके गहरी पर पैदा, जिसे राजा ऋतुष्वज ने भेषना उत्तारिफकारी बनाया और अंत को उसी पर राज्य-भार छोड़ सखीकुमारप्रत्याग्रह ग्रहण किया। मार्कण्डेय-पुराण में इसकी कथा विस्तार से आई है।

मदालापी—संज्ञा पुं० [सं०] [म० मालापिनी] कोकिल ।

मदाह—संज्ञा पुं० [सं०] कटहरी ।

मदि—संज्ञा स्त्री० [सं०] पटेली । हंगा ।

मदिर—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल सैर ।

मदिरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भयके से खींच या खड़ाकर बनाया हुआ मसिद्ध मादक रस। वह अर्क जिसके पीने से मद्य हो। शराब। दाह। मद्य।

विशेष—मदिरा के प्रमाण दो भेद हैं। एक वह जिसे भाग पर खड़ाकर भयके से खींचते हैं जिसे अमिसवित कहते हैं। दूसरा वह जिसमें खड़ाकर मद्यकता उत्पन्न की जाती है और जिसे पर्युषित कहते हैं। यह दोनों प्रकार की मदिरा—राई उज्जैन, दाहक, कपाय और मधुर होती हैं। वैदिक काल से ही मादक रसों के प्रयोग की प्रथा पाई जाती है। सोम का रस भी, जिसकी स्तुति प्रायः सभी संहिताओं में है, निषोदकर कई दिन तक ग्राहों में रखा जाता था जिससे एसीर उठकर उसमें मादकता उत्पन्न हो जाती थी। यजुर्वेद में यवसुरा शब्द आया है, जिससे यह पता चलता है कि यजुर्वेद के काल में यव की मदिरा खींचकर बनाई जाती थी। स्थूलियों में सुरा के तीन भेदों—गौरी, पेंठी और माप्ची—का निषेध देखा जाता है। वैद्यक में सुरा, चारणी, घीपु, आसय, माप्चीक, गौरी, पेंठी, माप्ची, हाला, कार्द्वरी आदि के नाम मिलते हैं। जटाघरने मन्त्रीक, पानास, म्राक्ष, खजूर, ताल, पेशव, मरैय, माक्षिक, टाक, मधुक, नातिकेख, अक्षिकारोय, इन बारह प्रकार की मदिराओं का उल्लेख किया है। इनमें खजूर और ताल आदि पर्युषित और शीघ्र अभिस्वित हैं। इन दोनों के अतिरिक्त एक प्रकार की

और मदिरा होती है, जिसे अविष्ट कहते हैं। यह काय से बनाई जाती है। धान वा चावल की मदिरा को सुरा, यव की मदिरा को कोहल, गेहूँ की मदिरा को मधूलिका, मीठे रस की मदिरा को घीपु, गुड़ की मदिरा को गौरी और दाह की मदिरा को मन्त्रीक कहते हैं। धर्मशास्त्रों में गौरी, पेंठी, और माप्ची को सुरा कहा गया है। वैद्यक ग्रंथों में म्लिज म्लिज प्रकार की मदिराओं के गुण लिखे हैं और उनका न्योग म्लिज म्लिज अवस्थाओं के लिये लाभकारी बतलाया गया है।

किं० प्र०—रतीचना।—पीना।—पिलाना।

(२) वासुदेव की एक स्त्री का नाम। (३) बाहस अश्वरों के एक वर्णिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सात भरण और अंत में एक गुरु होता है। इमे मालिनी, उमा और दिवा भी कहते हैं। उ०—तेरि दारासन शंकर के शुभ साथ स्वयंवर मौल्य बरी।—केशव।

मदिरास्त—वि० [सं०] [मदिराकी] जिसकी ओलें मद्य पंती, हों। मन्त्र और्विवाला। मत्तानोचन।

मदी—संज्ञा स्त्री० दे० "मदि"।

मदीना—संज्ञा पुं० [सं०] अरब के एक नगर का नाम। यहाँ मुसलमानों मत के प्रवर्तक मुहम्मद साहब की समाधि है।

मदीय—वि० [सं०] [स्त्री० मदीया] मेरा।

मदीयुत—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो दैनंदिन हो। कर्जदार। कर्णी।

मदीला—वि० [हिं० मद + ईया (प्रत्य०)] मद्य से भरा हुआ। मशीला। उ०—गजन मदीले चढ़ि चले बटकीले हैं।—रघुराज।

मदुकल—संज्ञा पुं० [?] दूध के एक भेद का नाम जिसमें तेरह गुरु और बाहस लघु मात्राएँ होती हैं। इसे गर्पद भी कहते हैं। उ०—राम नाम मणि दीप धर जीह देहरी द्वार। तुलसी भीतर बाहिरे जो चाहसि उजियार।—तुलसी।

मदोक्त—वि० [सं०] मद्य गर्वित। मदोद्धत।

संज्ञा पुं०—मत्त हाथी।

मदोद्धत—वि० [सं०] मत्त। मत्तवाला।

मदोद्धत—वि० [सं०] (१) मदोन्मत्त। मत्त। (२) धमंडी।

मदोन्मत्त—वि० [सं०] मद्य में भरा हुआ। मद्यप।

मदोत्सापी—संज्ञा पुं० [सं०] कोकिल।

मदोवैश—संज्ञा स्त्री० [सं०] मंदोदरी। मंदोदरी। उ०—तुलसी मदोवैश मीनि हाथ धुनि माय कहे काहू कान कियो न मैं केतो कसो कालि है।—तुलसी।

मनु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का जल पत्ती जिसकी लंबाई एक से चौथ तक ३२ से ३४ इंच तक होती है। इसके दोनें कुछ पीलापन लिए होते हैं। एक कांजी, चौच पीली और सुंद, कनपटी और गले के नीचे का भाग सफेद तथा पर काले होते हैं। यह भारतवर्ष के प्रायः सभी

भागों में, विशेषकर पहाड़ी और जंगली प्रदेशों में होता है।
 पैरक में इसका मोंस शीतल, वायुनाशक, छिग्न और
 भेदक माना गया है। यह रक्त पित्त के विकारों को दूर
 करता है। इसे जलपात्र और छमपुच्छर भी कहते हैं।
 (२) पेड़ पर रहनेवाला एक प्रकार का जंतु।
 (३) मधुगुरी मछली। मंगुर। (४) एक प्रकार का साँप।
 (५) एक प्रकार का युद्धपोत। (६) एक वर्णसंस्कर जाति
 का नाम। मनुस्मृति में इसकी उररति माह्यग पिता और
 पंथी आदि की माता से लिखी है और इसका काम वध्य
 पशुओं का मारना बताया गया है।

मधुर-छा पुं० [मं०] (१) मंगुरी या मंगुर नामक मछली।
 (२) प्राचीन काल की एक वर्णसंस्कर जाति जिसका काम
 समुद्र में डूबकर मोती आदि निकालना था।

मधुरक-छा पुं० [मं०] मंगुर नामक मछली। मधुर।
 मधुरसी-छा स्त्री० [मं०] मंगुर या मधुगुरा नामक मछली।
 मधुसूतादी-छा पुं० [हिं० मधुनाह] एक प्रकार का पुराना
 पेना जो ताँबे या चौकीर डुका होता है।

मधिका-छा पुं० [मं०] यह मीरा जो दाढ़ा से बनाई जाती
 है। भास।

मधिम-वि० [मं०] (१) मध्यम। अपेक्षाकृत कम
 भय। (२) मंदा।

मदे-कव्य० [मं० मत्ते] (१) बीच में। में। उ०—गुह संत
 समाप्त मदे भक्ति मुक्ति ददाह्वे।—कबीर। (२) विषय
 में। बाधन। संबंध में। उ०—परंतु भैरवी मित्रने के मदे
 इससे कुछ और पूछ ताछ होनी चाहिये।—रुक्मणिसिंह।
 (३) लेने में। बाधन। अस्ति—भाषको सी रूपए इस मदे
 दिए जा चुके हैं।

मध-छा पुं० [मं०] मधिरा। शराब।

मधदुम-छा पुं० [मं०] मध नामक वृक्ष।

मधपंक-छा पुं० [मं०] शमीर जो मध गाँवने के सिधे उठाया
 जाय।

मधप-वि० [मं०] मध पीनेवाला। सुतापी। शराबी।

मधपान-छा पुं० [मं०] मध पीने की क्रिया। शराब पीना।

मधपाशन-छा पुं० [मं०] मध के साथ खाई जानेवाली चटपटी
 चीज़। गज़क। चाट।

मधपुन्या-छा स्त्री० [मं०] धानकी। धी।

मधपीज-छा पुं० [मं०] शराब के सिधे उठाया हुआ शमीर।

मधमंद-छा पुं० [मं०] यह पेन जो मध का शमीर बढने पर
 ऊपर आता है। मधपेन।

मधमोद-छा पुं० [मं०] बड़क। मौकसिरी।

मधपासिनी-छा स्त्री० [मं०] धानकी। धी।

मधनैधान-छा पुं० [मं०] नय निकालने का यन्त्र।

मधुकर-वि० [मं०] मंगल-कारक।

मद्र-छा पुं० [मं०] (१) एक प्राचीन देश का वैदिक नाम।
 यह देश कश्यप सागर के दक्षिणी किनारे पर स्थित था।
 येनैय माह्यग में इसे उत्तर कुलिका है। (२)
 पुराणानुसार रावी और सेलम नदियों के बीच के देश का
 नाम। (३) हर्ष।

मद्रफ-वि० [मं०] (१) मद्र देश का। मद्र देश संबंधी। (२)
 मद्र देश में उत्पन्न।

मद्रकार-वि० [मं०] मंगलकारक। शुभ।

मद्रसुता-छा स्त्री० [मं०] नकुल और सहदेव की माता, मयी।
 मद्रुकस्थली-छा स्त्री० [मं०] पाणिनि के अनुसार एक देश
 का नाम।

मयन-छा पुं० दे० "मय्य"।

मयन-छा स्त्री० [मं०] एक रागिनी जो शिव राग की पुत्र
 यष्ट मानी जाती है।

मयिक-छा पुं० दे० "मय्य"।

मय्य० [मं० मय्य] में।

मयिम-वि० दे० "मय्यम"।

मधु-छा पुं० [मं०] (१) पानी। जल। (२) शराब। (३) मीठा।
 शराब। (४) कूल का रस। मकरंद। (५) पसंद का।
 (६) चंद्र मास। (७) एक दैत्य जिसे विष्णु ने मारा था और
 जिसके कारण उनका 'मधुसूदन' नाम पड़ा। (८) रूप।
 (९) मिसरी। (१०) वधनीत। मय्यनीत। (११) धी। (१२) दूध
 छंद जिसके प्रत्येक चरण में दो लघु अक्षर होते हैं। (१३)
 शिव। महादेव। (१४) मधुर का पेड़। (१५) भोक्त का
 पेड़। (१६) सुलेरी। (१७) अमृत। सुधा। (१८) एक
 राग जो शिव राग का पुत्र माना जाता है।

छा स्त्री० [मं०] जीवंती का पेड़।

वि० [मं०] (१) मीठा। (२) शराब। उ०—चाही
 भ्रात मिल करत कहेक मधु मेरा पकपाया।—ए।

मधुकंद-छा पुं० [मं०] कोरिल। बीयल।

मधुक-छा पुं० [मं०] (१) मधुर का पेड़। (२) मधुर का
 कूल। (३) सुलेरी। जेदी मधु।

मधुक-छा पुं० [मं०] (१) मीठा। (२) कामी पुरुष। (३)
 भगत। चमत्त।

मधुकरी-छा स्त्री० [मं० मधुर] (१) गहरीवा। भौंठिया।
 बाटी। (२) एक नक्षत्र की मिसा। यह मिसा जिसमें बैराव
 पड़ा हुआ दूध, चायक, रोटी, तरकारी आदि की जाती
 है। (३) शमीरी। भीरी।

मधुकरीटिका-छा स्त्री० [मं०] चंतारा। मोटा नीप।

मधुकरीचन-छा पुं० [मं०] शिव।

मधुकार-छा पुं० [मं०] मधुमय। शराब की मय्यी।

मधुकाश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] मोम ।

मधुकुमा-संज्ञा स्त्री० सं०] कांसिकेय की अनुचरी एक मातृका का नाम ।

मधुकुल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार कुश द्वीप की एक नदी का नाम ।

मधुकैटभ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार मधु और कैटभ नाम के दो दैत्य जो दोनों भाई थे और जिन्हें विष्णु ने मारा था ।

मधुकोप-संज्ञा पुं० [सं०] शहद की मक्खी का छत्ता । मधुचक्र ।

मधुतोष-संज्ञा पुं० [सं०] खजर का पेड़ ।

मधुगंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन का वृक्ष । (२) वकुल । मौलसिरी ।

मधुगुंजन-संज्ञा पुं० [सं०] सहैजन का वृक्ष ।

मधुप्रह-संज्ञा पुं० [सं०] पाजपेय यज्ञ में का एक होम जो मधु से किया जाता है ।

मधुघोष-संज्ञा पुं० [सं०] कोकिल । कोयल ।

मधुचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] शहद की मक्खी का छत्ता ।

मधुचूर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] मधुचूर्णस् । विषामित्र के एक पुत्र का नाम जो क्रमेष्ट के अनेक संतानों के मृदा थे ।

मधुचूर्ण-संज्ञा स्त्री० [सं०] मोरनिष्ठा नाम की मृदा ।

मधुज-संज्ञा पुं० [सं०] मोम ।

मधुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

विशेष-पुराणानुसार पृथ्वी की उत्पत्ति मधु नामक राक्षस के वेद से हुई थी, इसी से उसका यह नाम पड़ा ।

मधुजीरक-संज्ञा पुं० [सं०] रसिक ।

मधुजीवन-संज्ञा पुं० [सं०] यहैदे का वृक्ष ।

मधुवृण-संज्ञा पुं० [सं०] हंस । कल ।

मधुप्रय-संज्ञा पुं० [सं०] बाहद, घी और चीनी इन तीनों का समूह ।

मधुत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मधु वा मधुर होने का भाव । मिठास । मीठापन ।

मधुदीप-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

मधुदूत-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

मधुदूती-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाटला वृक्ष ।

मधुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] भीरा ।

मधुद्रव-संज्ञा पुं० [सं०] लाल सहैजन का वृक्ष ।

मधुदुम-संज्ञा पुं० [सं०] मधुप का पेड़ ।

मधुघारी-संज्ञा पुं० [सं०] सोना मक्खी ।

मधुघुल-संज्ञा स्त्री० [सं०] खरद । शकर ।

मधुघनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का क्षुप जिसे घृतमंडा और सुमंगला भी कहते हैं ।

मधुनेत्रा-संज्ञा पुं० [सं०] मधुनेत्र । अमर । भीरा ।

मधुप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भीरा । (२) शहद की मक्खी ।

वि० मधु पीनेवाला ।

मधुपटल-संज्ञा पुं० [सं०] सहद की मक्खी का छत्ता ।

मधुपति-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण ।

मधुपर्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दही, घी, जल, सहद और चीनी का समूह जो देवताओं को चढ़ाया जाता है और जिससे देवता बहुत संतुष्ट होते हैं । यह भी कहा गया है कि इसका दान करने से सुख और सीमाग्य की वृद्धि तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है । पूजा के सोलह उपचारों में से देवता या पूज्य के सामने मधुपर्क रखना भी एक उपचार है । (२) तंत्र के अनुसार घी, दही और मधु का समूह जिसका उपयोग तांत्रिक पूजन में होता है ।

मधुपर्क-वि० [सं०] मधुपर्क देने के योग्य । जिसके सामने मधुपर्क रक्खा जा सके ।

मधुपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुरुव । (२) गंभारी नामक वृक्ष । (३) नीली नामक पौधा ।

मधुपायी-संज्ञा पुं० [सं०] मधुपायि । भीरा ।

मधुपालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंभारी नामक वृक्ष ।

मधुपिंग-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक मुनि का नाम ।

मधुपीलु-संज्ञा पुं० [सं०] महापीलु । अलोट ।

मधुपुर-संज्ञा पुं० [सं०] मधुरा नगर का प्राचीन नाम ।

मधुपुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मधुरा का प्राचीन नाम ।

मधुपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महुआ । (२) सिरिस का पेड़ । (३) अशोक वृक्ष । (४) मौलसिरी ।

मधुपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नारावंती । (२) भी ।

मधुप्रमेह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रमेह रोग जिसमें पेशाब में शकर आती है । वि० दे० "मधुमेह" ।

मधुप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बलराम । (२) सुहृद्-आमुन ।

मधुफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दास । (२) कंठाय या विकंठ नामक वृक्ष ।

मधुफलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठी खरूर ।

मधुवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वन्यमृग के एक वन का नाम ।

(२) सुप्रिय का बगीचा जिसमें अंगूर के फल बहुत होते थे ।

मधुबहुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वासंती कता । (२) सकेतजूही ।

मधुबिबी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुंदरू ।

मधुबीज-संज्ञा पुं० [सं०] अनार ।

मधुमार-संज्ञा पुं० [सं०] एक मात्रिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में आठ मात्राएँ होती हैं और अंत में जगण होता है । जैसे- प्रभुर्हो सुदीन । तुम हो प्रवीन । जग महै महेश । हरिये कहेस ।

मधुमक्खी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मधुमक्खिका । एक प्रकार-की प्रसिद्ध मक्खी जो फूलों का रस चूसकर शहद एकत्र-करती है । सुमक्खी ।

विशेष—दस हजार से पचास हजार तक मधुमक्षिकाएँ एक साथ एक घर बनाकर रहती हैं, जिसे छत्ता कहते हैं। इस छत्ते में मक्षिकाओं के लिये भण्डा भण्डा बहुत से छोटे छोटे घर बने होते हैं। प्रत्येक छत्ते में तीन प्रकार की मधुमक्षिकाएँ होती हैं। एक तो मादा मक्खी होती है जो रानी कहलाती है। इसका काम केवल गर्भ धारण करके अंडे देना होता है। यह एक दिन में प्रायः दो हजार अंडे देती है। प्रत्येक छत्ते में ऐसी एक ही मक्खी होती है। साधारण मक्षिकाओं की अपेक्षा यह कुछ बड़ी भी होती है। दूसरी जाति नर मक्षिकाएँ की होती है, जिसका काम रानी को गर्भ धारण कराना होता है। और तीसरे वर्ग में ये साधारण मक्षिकाएँ होती हैं जो फलों का रस पी पीकर आती हैं और उन्हें शहद या मधु के रूप में छत्ते में जमा करती हैं। जब नर मक्षिकाएँ गर्भ-धारण का काम करा चुकती हैं, तब उन्हें तीसरे वर्ग की साधारण मक्षिकाएँ मार डालती हैं। इसके अनतिरिक्त छत्ता बनाने और नवजन्म मक्षिकाओं के पालन पोषण का काम भी इसी तीसरे वर्ग की मक्षिकाएँ करती हैं। मादा और काम करनेवाली मक्षिकाओं का ढँक जहरीला होता है जिससे वे अपने शत्रु को मारती हैं। तब एक छत्ता बहुत मर जाता है, तब रानी मक्खी की आज्ञा से काम करनेवाली मक्षिकाएँ किसी दूसरी जगह जाकर नया छत्ता बनाती हैं। शहद में से जो मूल निचरती है, उसी को मोम कहते हैं। बहुत प्राचीन काल से प्रायः सभी देशों में घोंग शहद और मोम के लिये इनका पालन करते आए हैं।

मधुमक्षिका—छंदा खी० [५०] शहद की मक्खी। मधुमक्खी।
मधुमत—छंदा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन देश का नाम जो काश्मीर के पास था।

मधुमती—छंदा खी० [सं०] (१) एक वर्णहृत जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और एक गुह होता है। (२) एक प्राचीन नदी का नाम। (३) ताम्रिक्तों के अनुसार एक प्रकार की प्राणिका जिसकी वृणासना और सिद्धि से मनुष्य अर्द्ध चाहे, अर्द्ध आ जा सकता है। (४) पर्वजल के अनुसार समाधि की वह अवस्था जो अम्यास और वैराग्य के कालन रक्त और तम के पिङ्गुन हूँ हो जाने और यमपुत्र का पूरा प्रकाश होने पर प्राप्त होती है। (५) गंगा का एक नाम। (६) मनु दीप की कम्पा का नाम जो इक्ष्वाकु के पुत्र हर्षवर्धन को स्पर्धी थी। (७) पुराणानुसार मर्मदा की एक शाखा का नाम।

मधुमपण—छंदा पुं० [सं०] विष्णु।
मधुमही—छंदा खी० [सं०] माता।
मधुमसाक—छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का पक्षी जो ईंरे की

धी में भूतकर और ऊपर से शहद में खेपकर मर जाता है। वैद्यक के अनुसार यह बलकारक भी माना होता है।

मधुमाखी—छंदा खी० दे० "मधुमक्खी"।
मधुमात—छंदा पुं० [सं०] एक राग जो मीर राग का वराम माना जाता है।

मधुमात सारंग—छंदा पुं० [सं०] सारंग राग का एक जो जिसके गाने का समय दिन में १० बजे से १० बजे माना जाता है। यह संकर राग है और सारंग तथा मधुमात के योग से बनता है।

मधुमाधव—छंदा पुं० [सं०] माधवी, कल्याण और महार में से से बना हुआ एक संकर राग।

मधुमाधवसारंग—छंदा पुं० [सं०] ओषध जाति का एक संकर राग जिसमें धैर्य और गोपार परित है।

मधुमाधवी—छंदा खी० [सं०] (१) एक रागिनी जो मीर राग की सदृशरी मानी जाती है। हनुमय के मंत्र से एक स्वरमात्र इस प्रकार है—म प य नि सा रे ग म पञ्चम य नि या ग म। (२) वासंती लता। (३) एक प्रकार की वाराय।

मधुमाधवीक—छंदा पुं० [सं०] मधु। शराय।
मधुमारक—छंदा पुं० [सं०] भीरा।

मधुमालती—छंदा खी० [सं०] माधवी नाम की लता जिसके फूल पीले होते हैं। वि० दे० "मालती"।

मधुमूल—छंदा पुं० [सं०] रताड़।

मधुमेह—छंदा पुं० [सं०] किसी प्रकार के प्रमेह का बड़ा हुआ रूप जिसमें पेशाब बहुत अधिक और मधु का या मीठा तथा गाढ़ा आता है। यह रोग प्रायः असाध्य माना जाता है और इससे रोगी की प्रायः मृत्यु हो जाती है। वि० दे० "प्रमेह"।

मधुमेदी—छंदा पुं० [सं०] मधुमेह। जिससे मधु मेह रोग हो।

मधुयष्टि—छंदा खी० [सं०] (१) मुलेटी। सेटी मदी। (२) कला। ईक।

मधुयष्टिका—छंदा खी० [सं०] मुलेटी।

मधुयष्टी—छंदा खी० [सं०] मुलेटी।

मधुर—वि० [सं०] (१) जिसका स्वाद मधु के समान हो। मीठा।

(२) जो सुनने में अच्छा जान पड़े। मीठे—मधुर वचन। (३) सुंदर। मनोरंजक। उ०—सौंदर्य जानकी-वर्मा मधुर मूर्ति।

मोदमय मंगक मई।—मुकली। (४) गुण। मधुर (पुष्प)।

(५) मंदगान। धीरे चमनेवाला। (६) जो किसी प्रकार केतमद न हो। हलका। उ०—मधुर मधुर गानन कर

धोरा।—मुकली। (७) शाला।

छंदा पुं० (१) मीठा रस। (२) जीवक वृक्ष। (३) एक

कस्त। (४) मृदु। (५) पाव। (६) मंद के एक विशेष

कस्त। (७) मृदु। (८) पाव। (९) मंद के एक विशेष

कस्त। (१०) मृदु। (११) पाव। (१२) मंद के एक विशेष

कस्त। (१३) मृदु। (१४) पाव। (१५) मंद के एक विशेष

का नाम । (४) लोहा । (५) विष । जहर । (६) काकोली ।
(१०) जंगली घेर । (११) धादाम का पेड़ । (१२) महुआ ।
(१३) मटर ।

मधुरई-संज्ञा स्त्री० [हि० मधुर + ई (प्रत्य०)] (१) मधुर होने का भाव । मधुरता । (२) मिठास । मीठापन । (३) सुकुमारता । कोमलता ।

मधुरकंदक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली जिसे कजली कहते हैं ।

मधुरक-संज्ञा पुं० [सं०] जीवक वृक्ष ।

मधुरकर्कटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठा मीष ।

मधुरजंघीर-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा लमीरी मीष ।

मधुरज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] घीमा और सदा यना रहनेवाला ज्वर जो वैद्यक के अनुसार अधिक घी खादि खाने भयवा पत्ताना रुकने के कारण होता है । इसमें मुँह खाल हो जाता है; ताल और जीम सूख जाती है, नौद नहीं आती, प्यास बहुत लगती और के मालूम होती है ।

मधुरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मधुर होने का भाव । (२) मिठास । (३) सौंदर्य । सुंदरता । मनोहरता । (४) सुकुमारता । कोमलता ।

मधुरत्रय-संज्ञा पुं० [सं०] शहद, घी और चीनी इन तीनों का समूह ।

मधुत्रिफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] दाल या किशमिश, गंगारी और खजूर इन तीनों का समूह ।

मधुरत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधुर होने का भाव । मधुरता । (२) मीठापन । मिठास । (३) सुंदरता । मनोहरता ।

मधुरत्वच-संज्ञा पुं० [सं०] घी का पेड़ ।

मधुरफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घेर का वृक्ष । (२) तरबूज ।

मधुरफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठा मीष ।

मधुरविषयी-संज्ञा स्त्री० [सं०] ऊँदक ।

मधुरस-संज्ञा पुं० [सं०] ईख । ऊख ।

मधुरस्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूर्खा । (२) दाल । (३) गंवार । (४) दुधिया । (५) शतपुष्पी । (६) मसारीणी लता ।

मधुरसिक-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा ।

मधुरस्रवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिंड खजूर ।

मधुरस्वर-संज्ञा पुं० [सं०] गंधर्व ।

मधुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदरास प्रांत का एक प्राचीन नगर जो अब मदुरा या मदुरा कहलाता है । (२) मधुरा नगर । (३) शतपुष्पी । (४) मीठा मीष । (५) मेदा । (६) मुलेठी । (७) काकोली । (८) सतावर । (९) महामेदा । (१०) पालक का साग । (११) सेम । (१२) केले का रस । (१३) मधुर । (१४) मीठा खजूर । (१५) चीक ।

मधुराई-संज्ञा स्त्री० [हि० मधुर + आई (प्रत्य०)] (१) मधुरता । (२) मिठास । मीठापन । (३) कोमलता । (४) सुंदरता ।

मधुराकर-संज्ञा पुं० [सं०] ईख । ऊख ।

मधुराज-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा । उ०—छूटि रही अलक मलक मधुराज रागी शर्प द्विति तैसीये विराजै पर मोर की ।—रघुनाथ ।

मधुरानाक्ष-किं० प्र० [हि० मधुर + आना (प्रत्य०)] (१) किसी वस्तु में मीठा रस आ जाना । मीठा होना । उ०—ध्वंग दंग तजि बानी हू कछु कछु मधुरानी ।—व्यास । (२) सुंदरता से भर जाना । सुंदर हो जाना । उ०—भाग्य कीन हवाल जयै अंग अंग मधुरई ।—व्यास ।

मधुरासक-संज्ञा पुं० [सं०] अमदा ।

मधुरास्रस्त-संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी का पेड़ ।

मधुरालापा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठा पक्षी ।

मधुरालिक-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की छोटी मछली ।

मधुरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चीक ।

मधुरिपु-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

मधुरिमा-संज्ञा स्त्री० [सं० मधुरिमा] (१) मिठास । मीठापन । (२) सुंदरता । सौंदर्य ।

वि० जो बहुत अधिक मीठा हो ।

मधुरीक्ष-संज्ञा स्त्री० [सं० मधुरी] (१) सौंदर्य । सुंदरता । उ०—सा दिन देख परी सब की छवि कीन मिली इनकी मधुरी में ।—पुराण । (२) बहुत प्राचीन काल का एक प्रकार का बाला जो मुँह से फूँकर बजाया जाता था ।

मधुरीख-संज्ञा पुं० [हि० मधु + रीख] दक्षिणी अमेरिका का एक जंगली जंतु जो ऊँचाई में बिछी या कुत्ते के बराबर और रूप में रीख के समान होता है । यह जंतु शहद के छत्तों से शहद पसने का बड़ा प्रेमी होता है । इसी से इसे लोग मधुरीख कहते हैं ।

मधुरीदक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार सात ससुद्रों में से अंतिम ससुद्र जो मीठे जल का है और जो पुष्कर द्वीप परों और है ।

मधुल-संज्ञा पुं० [सं०] मदिरा ।

मधुलग्न-संज्ञा पुं० [सं०] लाल सोमोजन ।

मधुलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की घास जिसे झुली भी कहते हैं ।

मधुलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की श्रावक जो मधुली नामक गेहूँ से बनाई जाती है । (२) राई । (३) काँचिकेय की एक मातृका का नाम । (४) फूलों का पराग ।

मधुली-संज्ञा पुं० [सं० मधुलिका] आवप्रकार के अनुसार एक प्रकार का गेहूँ ।

मधुलोलुप-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा ।

मधुवटी-रंशा खी० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन स्थान का नाम ।

मधुवन-रंशा पुं० [सं०] (१) मधुरा के पास यमुना के किनारे का एक वन जहाँ द्रुपद ने छवण नामक दैत्य को मारकर मधुपुरी स्थापित की थी । (२) किष्किन्धा के पास का सुमीव का वन जिसमें सीता का समाधार लेकर छोटने पर हनुमान ने मधु-पान किया था । (३) यह वन या कुंज जिसमें प्रेमी और प्रेमिका भावक मिलते हैं । (४) कोयल ।

मधुवर्च-रंशा पुं० [सं०] दार्शिक्य के एक भगवत का नाम ।

मधुवह्नी-रंशा खी० [सं०] (१) मुलेठी । (२) कोला ।

मधुवामन रंशा पुं० [सं०] भीता । उ०—मधुप मधुवत मधु-रसिक मधुवामन वग और —नंददास ।

मधुवार-रंशा पुं० [सं०] (१) मधु पीने का दिन । (२) मधु पीने की रीति । (३) मद्य । मदिरा ।

मधुवाही-रंशा पुं० [सं०] मधुकरिन् महाभारत के अनुसार एक प्राचीन नद का नाम ।

मधुवीज-रंशा पुं० [सं०] अनार ।

मधुवत-रंशा पुं० [सं०] भीता ।

मधु-शर्करा-रंशा खी० [सं०] (१) दाहद से बनाई हुई चीनी जो घृषक के अनुसार बलकारक और वृष्य होती है ।

पय्यां—मोषी । सिता । मधुजा । क्षीरजा । क्षीरनक्षर । (२) सेम । लोबिया ।

मधुशोक-रंशा पुं० [सं०] मधु का वृक्ष ।

मधुशिरसु-रंशा पुं० [सं०] शोभाजन । सुहृन्मन ।

मधुशिला-रंशा खी० [सं०] सेम । लोबिया ।

मधुशिष्ट-रंशा पुं० [सं०] मोम ।

मधुशृंग-रंशा पुं० [सं०] मोम ।

मधुधर्म-रंशा पुं० [सं०] मधुका सखीजन मूरि । सखीपन मूरी । (नंददास)

मधुधेवी-रंशा खी० [सं०] मूर्त्ति ।

मधुधासा-रंशा खी० [सं०] मोमकी नामक वृक्ष ।

मधुधील-रंशा पुं० [सं०] मधु का वृक्ष ।

मधुसंगम-रंशा पुं० [सं०] (१) मोम । (२) दाह ।

मधुसंग-रंशा पुं० [सं०] कामदेव ।

मधुसहाय-रंशा पुं० [सं०] कामदेव ।

मधुसारथि-रंशा पुं० [सं०] कामदेव ।

मधुभिक्षु-रंशा पुं० [सं०] (१) मोम । (२) एक प्रकार का व्यावर विष ।

मधुमुग-रंशा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का रस जो रिण्टी मूक को एक वर्तन में बंद करके तीन दिन तक पुर में रखने से रीपा होता है ।

मधुमुह-रंशा पुं० [सं०] कामदेव ।

मधुसूदन-रंशा पुं० [सं०] (१) मधु नामक दैत्य को मारने वाली कृष्ण । (२) भीता ।

मधुसूवनी-रंशा खी० [सं०] पालक का साग ।

मधुस्कंद-रंशा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम ।

मधुस्थान-रंशा पुं० [सं०] मधुमक्खी का छत्ता ।

मधुस्पंदी-रंशा पुं० [सं०] प्राचीन काष्ठ का एक प्रकार का वृक्ष जिसमें तार छना रहता था ।

मधुस्यंद-रंशा पुं० [सं०] विधामित्र के एक पुत्र का नाम ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] (१) मधु का वृक्ष । (२) सिखर का वृक्ष ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] मधुका वृक्ष ।

रंशा खी० [सं०] (१) सखीपन मूरी । (२) मुलेठी (३) मूर्त्ति । (४) हंसपदी नाम की लता ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] मधु का वृक्ष ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] कोयल ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] मधुका वृक्ष ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] कामदेव ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] (१) मधु का वृक्ष । (२) मधु का वृक्ष । उ०—पदिराई नल के गले नव मधु की माला—गुमान । (३) मुलेठी ।

मधुस्य-रंशा खी० [सं०] अनार ।

मधुस्य-रंशा खी० [सं०] "मधुस्य" ।

मधुस्य-रंशा खी० [सं०] मधु के फल का वृक्ष है निकाली हुई चीनी ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] "मधुस्य" ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] मोम ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] मोम ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] मोम ।

मधुस्य-रंशा खी० [सं०] दाहद से बनाई हुई चीनी ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] (१) वसंतोत्पल । (२) वसंतोत्पल ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] जल-मधुभा ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] (१) जल-मधुभा । (२) मद्य । सरा ।

मधुस्य-रंशा खी० [सं०] (१) मूर्त्ति । (२) मुलेठी । (३) एक प्रकार का मोटा वृक्ष । (४) छोटे दाने का गेहूँ । (५) छोटे दाने के गेहूँ से बनी हुई चारा । (६) एक प्रकार का घास । (७) एक प्रकार की मत्स्य जिसके काठने से मद्य और जलन होती है । (वैद्यक)

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] (१) आम का वृक्ष । (२) आम के रस होवेवाली मुलेठी । (३) मद्य रस का गेहूँ ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] मोम ।

मधुस्य-रंशा पुं० [सं०] (१) किसी प्रकार के चीन का वृक्ष ।

दरमियानी हिस्सा । (२) कमर । कटि । (३) संगीत में एक सप्तक जिसके स्वरों का उच्चारण यद्वा स्थल है, कंठ के अंदर के स्थानों से किया जाता है । यह साधारणतः बीच का सप्तक माना जाता है । (४) मूल्य में वह गति जो न बहुत तेज हो और न बहुत मंद । (५) दस अक्षर की संख्या । (६) विश्राम । (७) मुद्रित के अनुसार १६ वर्ष से ७० वर्ष तक की अवस्था । (८) अंतर । भेद । फरक । (९) पत्रिम रिता ।

वि० (१) उपयुक्त । ठीक । (२) अधम । नीच । (३) मध्यम । बीच का ।

मध्य कुरु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश जो उत्तर कुरु और दक्षिण कुरु के मध्य में था । वि० दे० "कुरु" ।

मध्यखंड-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी का वह भाग जो उत्तर क्रांतिवृत्त और दक्षिण क्रांतिवृत्त के मध्य में पड़ता है ।

मध्यगंध-संज्ञा पुं० [सं०] आग का घृस ।

मध्यगत-वि० [सं०] मध्यम । बीच का ।

मध्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्य का माप वा घर्म्म ।

मध्यतापिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।

मध्य देश-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन भौगोलिक विभाग के अनुसार भारतवर्ष का वह प्रदेश जो हिमालय के दक्षिण, विन्ध्य पर्वत के उत्तर, कुरुक्षेत्र के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में है । यह प्रदेश किसी समय आर्यों का प्रधान निवास-स्थान था और बहुत पवित्र माना जाता था । मध्यम ।

मध्यदेह-संज्ञा पुं० [सं०] उदर । पेट ।

मध्यपदलोपी-संज्ञा पुं० दे० "मध्यम-पद-लोपी" ।

मध्यपात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उद्योतिष में एक प्रकार का पात । (२) जान-पहचान । परिचय ।

मध्यपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] जल-वैत ।

मध्यम-वि० [सं०] जो दो पिपरीत सीमाओं के बीच में हो । जो गुण, विस्तार, मान आदि के विचार से न बहुत बड़ा हो, न बहुत छोटा । मध्य का । बीच का ।

संज्ञा पुं० (१) संगीत के सात स्वरों में से चौथा स्वर जिसका मूल स्थान नासिका, अंतः स्थान कंठ और शरीर में उत्पत्ति स्थान वक्षस्थल माना जाता है । कहते हैं कि यह मयूर का स्वर है, इसके अधिकारी देवता महादेव, आकृति विष्णु की, संतान दीपक राग, वर्ण नील, जाति शुद्ध, क्रतु भीष्म, धार कुप और छंद बृहती है और इसका अधिकार कृष्ण दीप में है । संक्षेप में इसे "म" कहते या लिखते हैं । यह साधारण और तीम दो प्रकार का होता है । इसको स्वर (पदज) बनाने से सप्तक इस प्रकार होता है—मध्यम स्वर, पंचम कृपम, धैवत गान्धार, कोमल निषाद

मध्यम, स्वर (पदज) पंचम, कृपम धैवत, गान्धार निषाद । तीम मध्यम को स्वर (पदज) बनाने से सप्तक इस प्रकार होता है—तीम मध्यम स्वर, कोमल धैवत कृपम, कोमल निषाद गान्धार, निषाद मध्यम, कोमल कृपम पंचम, कोमल गान्धार धैवत, मध्यम निषाद । (२) वह उपपत्ति जो नायिका के क्रोध दिखलाने पर अपना अनुराग न प्रकट करे और उसकी चेष्टाओं से उसके मन का भाव जाने । (३) साहित्य में तीन प्रकार के नायकों में से एक । (४) एक प्रकार का मृग । (५) एक राग का नाम । (६) मध्य देश ।

मध्यमता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्यम होने का भाव ।

मध्यमपदलोपी-संज्ञा पुं० [सं०] मध्यमपदलोपिन् । व्याकरण में वह समास जिसमें पहले पद से दूसरे पद का संबंध बतलाने-वाला शब्द छुट या समास से अर्थात् रहता है । छुट पद समास ।

विशेष—कुछ कर्मधारय और कुछ बहुव्रीहि समास मध्यम-पदलोपी हुआ करते हैं । जैसे—पर्णशाला (पर्णनिर्मित शाला), जेब-बन्दी (जेब में रहनेवाली बन्दी), मृगनयनी (मृग के समान नयनोंवाली) ।

मध्यम पुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण के अनुसार तीन पुरुषों में से वह पुरुष जिससे बात की जाय । वह व्यक्ति जिसके प्रति कुछ कहा जाय ।

मध्यमलोक-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी ।

मध्यमसंग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] मिताक्षरा के अनुसार जो को अपने अधिकार में लाने का वह प्रकार जिसमें पुरुष उसे बल-भाभूषण आदि भेजकर अपने पर अनुरक्त करता है ।

मध्यम साहस-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार पाँच सौ पण तक का अर्ध-दंड या जुमाना ।

मध्यमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाँच रँगिलों में से बीच की रँगिली । (२) वह नायिका जो अपने मियतम के प्रेम वा दोष के अनुसार उसका आदर-मान वा अपमान करे । (३) रजस्वला स्त्री । (४) कनियारी । (५) छोटा जायुन । (६) काकोली ।

मध्यमागम-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के चार प्रकार के भागों में से एक प्रकार का भागम ।

मध्यमानेय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन कृषि का नाम ।

मध्यमान-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ताल जिसमें ८ हस्त अथवा ४ दोहरे भागाँद होते हैं और ३ भागाँद और १ खाली होता है । इसके संवले के घोल ये हैं—धा चिन ताक चिन, धा चिन ताक चिन, धा तिन ताक चिन, धा चिन ताक चिन । धा ।

मध्यमादरण-संज्ञा पुं० [सं०] बीच गणित की वह क्रिया जिसके अनुसार कोई आयत मान निकाला जाता है ।

मध्यमिक-वि० [सं०] बीच का । मध्यम ।

मध्यमिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रजस्वला स्त्री ।

मध्यमीय-वि० दे० "मध्यम" ।

मध्यमय-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक परिमाण जो ६ पीली सरसों के बराबर होता था ।

मध्यरेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष और भूगोल शास्त्र में वह रेखा जिसकी बराबर देशांतर निकालने के लिये की जाती है । यह रेखा उत्तर-दक्षिण मानी जाती है और उत्तरी तथा दक्षिणी भूधों को काटती हुई एक वृत्त बनानी है ।

मध्यलोक-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी ।

मध्ययर्षी-वि० [सं०] जो मध्य में हो । बीच का ।

मध्ययिचर्य-संज्ञा पुं० [सं०] वृत्तसंहिता के अनुसार सूर्य या चंद्र ग्रहण के मोक्ष का एक प्रकार जिसमें सूर्य या चंद्रमा का मध्य भाग पहले प्रकाशित होता है । कहते हैं कि इस प्रकार के मोक्ष से अन्न तो बचेष्ट होता है, पर वृष्टि अधिक नहीं होती ।

मध्यसूत्र-संज्ञा पुं० दे० "मध्यरेखा" ।

मध्यम्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो पादियों के हागड़े को निपटाने-बाका । बीच में पड़कर विवाद मिटानेवाला । (२) जो दोनों पक्षों में से किसी पक्ष में न हो । उदासीन । तटस्थ । उ०—
—दासु मित्र मध्यम्य तीन ये जन कीन्हे बरिवाई—
मुलती । (३) वह जो अपनी हानि न करता हुआ दूसरों का उपहार करना हो ।

मध्यपलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्यम्य होने का माघ या धर्म ।

मध्यपल-संज्ञा पुं० [सं०] धर्म ।

मध्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काम्य शास्त्रानुसार वह नायिका जिसमें लजा और काम समान हों । (२) एक वर्ष पूरा गिराके प्रायिक चरण में तीन अक्षर होते हैं । इसके आठ भेद हैं । (३) बीच की रेंगली ।

मध्यान्-संज्ञा पुं० दे० "मध्याह्न" ।

मध्याह्ना-संज्ञा पुं० दे० "मध्याह्न" ।

मध्याह्निक-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की स्त्रा ।

मध्याहारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एतल गिरनर के अनुसार एक प्रकार की स्त्रियों में से एक प्रकार की स्त्रि ।

मध्याह्न-संज्ञा पुं० [सं०] दिन का मध्य भाग । दोपहर का समय ।

मध्याह्नोत्तर-संज्ञा पुं० [सं०] तीसरा पहर (दिन का) । दोपहर के बाद का समय ।

मध्मे-वि० वि० [सं०] मध्य । बीच में । संबंध में । मध्ये । वि० दे० "मध्य" ।

मध्मेज्योतिः-संज्ञा स्त्री० [सं०] पवि पाद का एक धर्म । जिसके पहले और दूसरे पाग में आठ आठ दर्शनवाले हैं । में ग्यारह, और पुनः चौथे और पाँचवें में आठ आठ होते हैं ।

मध्व-संज्ञा पुं० दे० "मधु" ।

मध्यक-संज्ञा पुं० [सं०] राह की मधुरी ।

मध्यरिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक रोग जो अरिष्ट जो संघट्टणी रोग में उग्रकारी माना जाता है ।

मध्वल-संज्ञा पुं० [सं०] बार बार और बहुत शायर होना ।

मध्याचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण भारत के एक प्रकार के वैष्णव आचार्य और माध्व या मध्वाचारि नामक संतों के प्रवर्तक जो बारहवीं शताब्दी में हुए थे । वे वापुडे भवतार माने जाते थे । पहले इनका नाम वापुडेश्वर था । इन्होंने अष्टम प्रशाचार्य या भट्टानंद नामक एक महामा से दीक्षा ली थी और दीक्षा लेते ही शिष्य हो गए थे । कहते हैं कि वे अपना गीता आध्य वैचार वाले ब्रह्मविद्यालय गए थे और वहाँ इन्होंने उसे वापुडे के अर्थों किया था । वापुडेय से इन्हें तीन शास्त्रिकाम मिले थे जो इन्होंने तीन भिन्न भिन्न मठों में स्थापित किए थे । इन्होंने बहुत से ग्रन्थ रचे और अनेक शास्त्र लिखे थे । इनके सिद्धांत के अनुसार सत्त्वमें पहले केवल शास्त्र है और उन्हीं से समस्त जगत् तथा देवताओं की उत्पत्ति हुई । वे शीघ्र और ईश्वर दोनों की पृथक् पृथक् स्तुति मानते थे । इनके दर्शन का नाम पूर्वाग्रह दर्शन है और इनके अनुयायी मध्वाचारि या माध्व कहलाते हैं ।

मध्वाधार-संज्ञा पुं० [सं०] मधुमक्खी का घाता ।

मध्वालु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के बीध की जड़ जो लाल जाती है । यह स्वाद में मीठी होती है । घृतक में हो जाती है, रक्त-निक्ष-नामक और वीर्यवर्धक माना है ।

मध्वाग्रस-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

मध्वाग्रस-संज्ञा पुं० [सं०] मधु की शराब । मध्वीक ।

मध्वाग्रसयनिक-संज्ञा पुं० [सं०] शराब बनाने के यंत्र ।

मध्वाग्रस-संज्ञा स्त्री० [सं०] मदिरा । मद्य । शराब ।

मध्वाग्र-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद की एक खण्ड ।

मनः-संज्ञा पुं० [सं०] मन ।

मनःदोष-संज्ञा पुं० [सं०] मन का दोष ।

मनःपति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

मनःपर्याप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मन में संतुष्टि विद्यमान होना ।

मनःपर्याय-संज्ञा पुं० [सं०] मन का पर्यायवाची शब्द । मन का पर्यायवाची शब्द । मन का पर्यायवाची शब्द ।

अंतराप नामक ज्ञानावरणों के दूर होने पर निर्वाण या मुक्ति की प्राप्ति के पूर्व की अवस्था में प्राप्त होता है। इसमें जीवों को मन रूपी द्रव्य के पर्यायों का साक्षात् ज्ञान होता है।

मनःप्रसाद-संज्ञा पुं० [सं०] मन की प्रसन्नता।

मनःप्रति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मन की प्रसन्नता।

मनःशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें मन और मनो-

विकारों का वर्णन हो। मनोविज्ञान।

मनःशिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] मैनसिल।

मनःशिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] मैनसिल।

मन-संज्ञा पुं० [सं० मनस्] (१) प्राणियों में वह शक्ति वा

कारण जिससे उनमें वेदना, संस्कार, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,

धोष और विचार आदि होते हैं। अंतःकरण। चित्त।

प्रियेय-वैशेषिक दर्शन में मन एक अभ्यक्ष्य द्रव्य माना गया

है। संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अर्प-

राव और संस्कार इसके गुण बतलाए गए हैं और इसे

अणु रूप माना गया है। इसका धर्म संस्कार-विषय

काना बतलाया गया है तथा इसे उभयात्मक लिखा है;

अर्थात् उसमें ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के धर्म हैं।

योगशास्त्र में इसे चित्त कहा है। बौद्ध आदि इसे छठी

इंद्रिय मानते हैं। वि० दे० "चित्त"।

(२) अंतःकरण की चार वृत्तियों में से एक जिससे संस्कार-

विषय होता है।

मुद्रा-किसी से मन भटकना वा उलझना = प्राप्ति होना।

प्रेम होना। मन आना वा मन में आना = समग्र पढ़ना।

जँचना। उ०—(क) मंगल मूरति फँचन पत्र की मैन रची

मन भावत मीटि है।—दास। (ख) और दीन थहु रतन

पखाना। सोन रूप जो मनहि न आना।—जायसी। मन

का खराब होना = (१) मन फिरना। (२) नाराज होना।

अप्रसन्न होना। (३) रोगी होना। बंसार होना। मन

दृढ़ना = साहस छूटना। हताश होना। उ०—छटो निज

कर्म नहि लटो सुख जानकी की हटो न धनुष दृष्ट गए मन

सबके—हनुमत्पाठक। मन बिगड़ना = (१) मन का हट

जाना। मन का उदासीन हो जाना। (२) मत्थी आना। कै

माथ्स होना। (३) उन्मत्त होना। पागल होना। मन बढ़ना =

साहस बढ़ना। उत्साह बढ़ना। प्रोत्साहित होना। उ०—

(क) मुनि मन धीरज भयल हो रमैया राम। मन बढ़ि

रहल छजाप हो रमैया राम—कबीर। (ख) आपस के तित

के पैर से दागुओं का मन बढ़ा—निमग्नसाद। किसी का

मन बढ़ाना = किसी के मन को चाह देना। उ०—तुम्हारा

मन घुसने के लिये ही मैंने यह बातें कहीं।—हरिऔध।

मन का घुसना वा मानना = मन में द्राप्ति होना। मन में

धैर्य आना। मन मानना = मन में द्राप्ति होना। संतोष

होना। जैसे—हमारा मन नहीं मानता; हम उन्हें देखने

अवश्य जायेंगे। मन का मारा = खिन्न हृदय। दुखी

चित्तवाला। मन का मैला = मन का खोटा। कपटी। घाती।

मन हरा होना = मन प्रसन्न होना। चित्त प्रसन्न रहना।

मन की मन में रहना = इच्छा पूरी न होना। जैसे—मन

की मन में ही रह गई; और वे चले गए। मन के लड़ू

खाना = ऐसी बात को सोचकर प्रसन्न होना, जिसका होना

असंभव वा दुःसाध्य हो। स्वर्ध की आशा पर प्रसन्न होना।

उ०—विरह से पागल प्रेमी लोग मन के लड़ू से भूल

झुता खेते हैं।—हरिश्चंद्र। मन खोलना = उराव छोड़ना।

निकपट होना। झुठ-हृदय होना। मन चलना = इच्छा होना।

प्रवृत्ति होना। जैसे—धीमारी में किसी चीज़ पर मन नहीं

चलता। किसी का मन टोलना वा मन को टोलना = किसी

के मन की चाह लेना। किसी की इच्छा को जानना। जैसे—

आभो, कुछ आभोद प्रमोद की बातें करके उसका मन

टोलें। मन डोलना = (१) मन का चलायमान होना। मन

का चंचल होना। (२) लालच उत्पन्न होना। लोभ आना। मन

डोलना = (१) मन में चंचलता उत्पन्न करना। मनु चलाय-

मान करना। उ०—भोजन करत गहो कर एकमिनि सोई

देहु जो मन न डोलाधि। सुरदास-प्रभु जब निधिदाता

जापर कृपा सोई जन पावै।—सूर। (२) लालच उत्पन्न

करना। लोभ दिलावा। अपना मन डोलाना = लालच

करना। मन देना = (१) जी लगाना। मन लगाना। उ०—

(क) एक बार जो मन देइ सेवा। सेवधि फल प्रसन्न होइ

देवा।—जायसी। (ख) रघुपति पुरी जनमु तज्ज भयक।

पुनि से मन सेवा मम दयक।—तुलसी। (२) ध्यान

देना। किसी को मन देना = किसी पर आसक्त होना।

मोहित होना। किसी पर मन धरना = ध्यान देना। मन

लगाना। उ०—(क) प्रास भयो अपराध आप छलित त्वति

करत खरे। सुरदास स्वामी मनमोहन तामे मन न धरे।

—सूर (ख) जोई भक्ति आजन मन धरे। सोई हरि सों

मिलि अनुसरे।—रसूल। मन सोचना वा हारना = भनो-

त्साह होना। साहस छोड़ना। उ०—अंग बिनु है सदैव नहीं

एको फेरे सुख देखन जय कह्य खोरे। कहीं रसना सुनत

श्रवन दैपत नयन सूर सब भेद गुनि मनहि कोरे।—सूर।

किसी से मन फट जाना वा फिर जाना = घृणा होना। नफरत

होना। मन फिराना = दे० "मन फेरना"। मन फेरना = चित्त

को हटाना। मन को किसी ओर से अलग करना। प्रवृत्ति बद-

लना। उ०—फिरि फिरि फिरि फिरि फेर्यो मैं हरी को मन

फेरि फिरि पुनि आप की मली घरी।—केशव। मन

बढ़ाना = साहस दिलावा। उ०—साहस बढ़ाना। प्रोत्साहित

करना । उ०—दिपो निरपाव नृपराठ ने महर को आप
पहरावनी सब दिखाए । अतिहि सुख पाइ के छियौ सिर
नाह के हारि नंदराह के मन बड़ाए ।—सूर । मन में
बसना = मन में सुभना । पसंद आना । अच्छा लगना ।
रचना । भाना । जैसे,—उनकी सूरत तो मेरे मन में बस
गई है । उ०—गुर के भेला निय बरे काया छीमनहार ।
कुमति कमाई मन बसे छागु जुवा की छार ।—कबीर ।
मन बहलाना = गिन्न वा दुःखी चिन्म को किमी काम में
लगाकर आनंदित करना । दुःख छोड़कर आनंद में
समय फाटना । चिन्म प्रमल करना । जी बहलाना । उ०—
ना किछान अब समाधार तहँ आप सुनिई । ना नाऊ की धाँनें
सब को मन बहलई ।—श्रीधर पाटक । मन भरना =
(१) प्रीति होना । निधय या विश्वास होना । (२) संतोष
होना । मुष्टि होना । तृप्ति होना । उ०—यह बीसौं फूल
पर गया, पर इसका मन न भरा ।—प्रयोग्या । मन
भर जाना = (१) अपा जाना । तृप्ति होना । (२) अधिक
प्रशंसित न रह जाना । मन भाना = भला लगाना । पसंद
होना । रचना । उ०—(क) धामिन की धामदेय कामिनि
की कामदेय रण नयधंन रामदेय मन ये जू ।—केसव ।
(ग) भीति भगेक बिहंगम सुंदर पूर्ति फलें लहते मन
माँये ।—प्रताप । (ग) हरिहर मझा के मन भाई । विवि
बहार छै सुगुति बनाई ।—कबीर । (घ) कहेहु मीक मोरेहु
मन भावा । यह अनुचित मति नेवत पढावा ।—गुरुसी ।
मन भारी करना = दुःखी होना । उदास होना । मन
मानना = (१) संतोष होना । तगही होना । उ०—(क)
भनुकर कहि कैले मन मारि । जिनके एक अनवर मन गुरी
बयो नुनो डर भारी ।—सूर । (ग) राजा भा निधौ मन
माना । बौधा सतन छोड़ि के भाजा ।—जायसी ।
(घ) निधय होना । प्रीति होना । उ०—(क) कै चिनु
सचय न भव मन माना । सचय बीनु बाधा परमाणा ।—
जायसी । (२) अच्छा लगना । रचना । पसंद आना । भाना ।
उ०—सत प्रबंधं सुमग सांपाना । सान नयन निरखन
मन माना ।—गुरुसी । (४) भेद होना । अनुगम होना ।
उ०—तासी री इषाम सौ मन मान्यो । भीके करि
चिन्म कमल नैन सो पाठि एक हो छाँयो ।—
गूर । किसी ने मन मिकना = (१) उष होना ।
अनुगम होना । (२) निमग्न होना । दोस्ती होना ।
मन में आना = (१) मन में दिना । भाव वा उदास होना ।
उ०—तासी उन कटु बरन सुनाये । पै ताके मन कटु न
आये ।—गूर । (२) समाप्त पड़ना । ध्यान में आना । उ०—
यह तनु बयो ही दिवो न जाये । और देन कटु मन मति
जाये ।—गूर । (३) अच्छा मन पड़ना । भय लगना ।

मन में आनना = दे० "मन में आना" । मन में आना
धैरता = (१) ठीक जैयना । उचित वा सुविशुद्ध धैरता
(२) विचार में आना । ध्यान में आना । मन में बसना
निधय करना । दृढ़ संकल्प करना । मन में भरना =
"मन में रखना" । मन में भरना = हृदयंगम करना । मन
जमाना । मन में रखना = (१) गुण रखना । प्रत्यक्ष बात
जैसे—अभी यह बात मन ही में रखना, किसी ने क
मत । (२) स्मरण रखना । जैसे—हमारी सब बातें न
रखना, भूल न जाना । मन में खाना = विचार कर
सोचना । ध्यान देना । उ०—कई पत्रावर हमरे कि
धोरन की मोहन की महत न कोऊ मन ब्यावली—बहा
मन मोहना वा मन को मोहना = किसी के मन
आनना और आकृष्ट करना । लुभाना । मगुरु पर
उ०—जग अद्वि दिगंबर पुण्यवती नर निराल विधि ।
मोहि ।—केसव । मन मिकना = दो मतों की प्रती
प्रशंसितों का अनुकूल अथवा एक गमान होना । जैसे—
मिले का मेला । नहीं तो सबसे भला अच्छेला । मन मारना
(१) रिक्त चित्त होना । उदास होना । उ०—(क) दू
छातु धान किन हेरत कछन मोहि मन मारि । मुनि
पुन-पुन किन बैरिन मोहो देत सवारि ।—सूर । (ग) ई
गही मन मारे रहीं निग पीतम की कहीं कीन कदारी ।
प्रताप । (२) इच्छा के दुःख । मन को मन में फाट
उ०—मन मदि मार मना करी । सका न पौ ब्रह्मा
सील साँप सरपा नहीं अहं हंमि जपारि ।—कबीर
मन मारे हुए वा मन मारे = दुःखी । उदास । चिन्म वि
उ०—(क) कहैं सति सहिय रहिय मन मारे । भाव
धनु हाथ हमारे ।—गुरुसी । (ग) निग विनो न
मारे मन परे सिनु नट आनि । ता मुँहुरि दिव मोहि वन
महौ न हई पहिचानि ।—सूर । (ग) मनन ही मन न
बैरी सबन सखी हूँ आहैं । देखि तनु भनि निह ब्रह्म
कहनि बचन बनाई ।—सूर । (घ) दूर परे पीतम न
दुखारे । पंडरि सहल होनि मन मारे ।—गुरुसी । मन की
कामना = मन में रिक्त होना । अग्रगण्य का शत्रु होना
उ०—माइ मिले मन का करिही मुँह ही के मिले ते मिले
मिले ।—केसव । किसी ने मन मोटा होना = (१) नै भल
होना । किसी का मन मोटा होना = रिक्त होना । उदास
होना । मन मोहना = प्रीति का विचार के दृष्टी और स्मरण
उ०—विधागा ने हमारा मुग्धा । विनो न करिनि, तू
अब मन मोह लेना पड़ा ।—तोतागाम । किसी का मन
रखना = किसी की दृष्टि पूर्ण करना । किसी के मन में
मुँह बना पूर्ण करना । उ०—बहाँ के राजाजी से कौन का
पाद दखे थे और इनका ये लोग सब साद मन रखे थे ।

मन लगना = (१) जी लगना । तबीयत लगना । (२) चित्त विनोद होना । उ०—विरहागि है हनुनी जगै । मन बाग देखत नाली ।—गुमान । मन लगाना = (१) चित्त लगाना । मनोयोग देना । (२) चित्त विनोद करना । मन की उदासी मिटाना । (३) प्रेम करना । अनुराग करना । मन खाना = (१) मन लगाना । जी लगाना । उ०—(क) गगन में डल मौँ भा उजियारा उलटा फेर लगाया । कहीं कबीर जन भये विषे की जिन संझी मन लाया ।—कबीर । (ख) छमिहंदि सज्जन मोर दिटाई । सुनिहंदि बाळ-बचन मन लाई ।—दुलसी । (ग) किये जो परम तब मन लाया । धूमि मात सुनि और न भाया ।—जायसी । (१) प्रेम करना । आसक्त होना । उ०—यवन सौँस तोसों मन लाई । जोषे भारग दहि बिछाई ।—जायसी । मन से उतरना = (१) मन में आदर-भाष न रह जाना । विस्मृत होना । धृष्टित उतरना । (२) याद न रहना । विस्मृत होना । मन से उतरना = (१) मन में पहले का सा आदर भाष न रहना । तिरस्कार करना । धृष्टा करना । (२) चित्त से उतरना । विस्मृत करना । भुलाना । मन हरना = मुग्ध करना । मोहित करना । मोह लेना । अपने ऊपर अनुरक्त करना । उ०—(क) चेटक लाह हराई मन जब छगि हो गिर फेंट । साठ नाट उठि भागई ना पहिचान न मेंट ।—जायसी । (ख) यह देखो युवति बूंद में ठावी सील बसन तबु गोरी । सुरदास मेरी मन बाकी चितवन देखि हरे री ।—सूर । (ग) कानन छसत यिजुरिया मन हरि छीन । तिन घर परै यिजुरिया जिन रचि दीन ।—रहीम । (घ) स्वप्न रूप भाषण सुधि करि करि । गयो दुहुन के यहि विधि मन हरि ।—शं० दि० । किसी का मन हाथ में लेना वा करना = बधीभूत करना । अपने बधा में करना । मन ही मन = हृदय में । चुपचाप । बिना कुछ कहे हुए । भीतर ही भीतर । उ०—(क) छलित मुख चितवत मुसुकाने । आप हँसी पिय मुख अवलोकत दुहुनि मनहि मन जाने ।—सूर । (ख) प्रथम कैलि तिय कलह की, कया न कछु कहि जाय । अतनु ताप तनुही सदै, मन ही मन अकुलाय ।—पद्माकर ।

(३) इच्छा । ह्रादा । विचार ।

मुहा०—मन करना = इच्छा करना । चाहना । उ०—मन न भनावन को करै दैत क्याय क्याय । कौनक लायो पिय प्रिया खिनहु रिझावति आय ।—बिहारी । मनमाना = अपने मन के अनुसार । यथेच्छ । मन होना = इच्छा होना । उ०—उमगत अनुराग सभा के सराहे भाग देखि दसा जनक की कदिये को मनु भयो ।—तुलसी ।

कंछा पुं० [सं० कञ्चि] (१) मणि । बहुमूल्य पत्थर । (२) पालिस सेर का एक मान वा तोल ।

मनई—संज्ञा पुं० [सं० मान] मनुष्य । आदमी । उ०—बसै नीर झरासर मनई उबार न पाये ।—गि० दा० ।

मनकना—कि० प्र० [प्रत्य०] (१) हिलना डोलना । चेष्टा करना । हाथ पैर चलायना । उ०—आए दरबार थिलथिले छरीदार देखि आपता करनहारे नेकहु न मन के ।—भूपण । (२) तर्क वितर्क करना । चीं चपड़ करना ।

मनकरा—कि० [हिं० मण + कर (प्रत्य०)] चमकदार । प्रकाशमान । उ०—दुष्ट छलछट अधिक मनकरा । शंकर देखि माय मुईपरा ।—जायसी ।

मनका—संज्ञा पुं० [सं० मणिक वा मणिका] (१) पत्थर, लकड़ा आदि का केंधा हुआ गोल खंड वा दाना जिसे पिरोंकर माला वा सुमिरनी आदि बनाई जाती है । गुरिया । उ०—माला फेरत जग मुभा गया न मन का फेर । कर का मनका छँड़ि के मन का मनका फेर ।—कबीर । (२) माला वा सुमिरनी । (क०)

संज्ञा पुं० [सं० मण्यय = गले की मस] गरदन के पीछे की इड़ी जो रीढ़ के बिलकुल ऊपर होती है ।

मुहा०—मनका डलना वा डलकना = मरण के समय गरदन टेढ़ी हो जाना । मृत्यु के समय गरदन का एक ओर झुक जाना । (यह अवस्था डीक मरने के समय होती है, और इसके उपरान्त मनुष्य नहीं बचता ।)

मनकामना—संज्ञा, स्त्री० [हिं० मन + कामना] मनोरथ । अभिलाषा । इच्छा । उ०—सुनु सिय सत्य असील हमारी । पूजाहि मनकामना तुम्हारी ।—तुलसी ।

मनकूला—स्त्री० स्त्री० [म०] स्थिर वा स्थावर का उलटा । घर । चौ०—जायदाद मनकूला = घर संपत्ति । गैर मनकूला = स्थिर । स्थायी । स्थावर ।

मनकूहा—वि० स्त्री० [म०] जिसके साथ निकाह हुआ हो । विवाहित । पाणिग्रहीता । जैसे,—मनकूहा औरत ।

मनगढ़त—वि० [हिं० मन + गढ़ना] जिसकी वास्तविक सत्ता न हो, केवल कल्पना कर ली गई हो । कपोल-कल्पित । जैसे,—आपकी सब बातें मनगढ़त ही हुआ करती हैं ।

संज्ञा स्त्री० कोरी कल्पना । कपोल-कल्पना । जैसे,—यह सब आपकी मनगढ़त है ।

मनचला—वि० [हिं० मन + चलना] (१) धीर । निदर । जैसे,—मनचला सिपाही । (२) साहसी । हिम्मतवाला । (३) रसिक ।

मनचाहता—वि० [हिं० मन + चाहना] [स्त्री० मनचाहती] (१) जिसे मन चाहे । प्रिय । (२) मन के अनुकूल । यथेच्छ ।

मनचाहा—वि० [हिं० मन + चाहना] [स्त्री० मनचाही] इच्छित । अभिलषित ।

मनचीता—वि० [हिं० मन + चेतना] [स्त्री० मनचीती] मनबाहा । मनभाया । मन में खोच हुआ । उ०—(क) बार बार

विसरेठ बड़े उछाह । मनचीते हरि पायो नाह ।—सूर ।
(२) मेरे मन को दुख्य परिहरी । मनचीनो कारज सब
करी ।—लता । (३) पूरा अद्वि भयो नहीं मनचीत्यो रति
नाह ।—लक्ष्मणासिंह ।

मनजात-छंदा पुं० [हि० मन + जात] कामदेव । उ०—मन-
जात त्रिरात निपात किए । मृग लोग कुभोग सरे न हिये ।
—तुलसी ।

मनतोरया-छंदा पुं० [दे०] एक प्रकार का पक्षी ।

मनन-छंदा पुं० [मं०] (१) विचार । चिन्तन । सोचना । (२)
अथो मौलि अध्ययन करना । (३) पेशंत वाचनानुसार सुने
हुए पाठ्यों पर बार बार विचार करना और प्रशोधन वा
शंका समाधान द्वारा उसका निश्चय करना ।

मननशील-वि० [मं० मनन + शील] जो किसी विषय पर बहुत
अच्छी तरह विचार करता हो । विचारशील । विचारवात् ।

मननाता-कि० प्र० [मन् मन् से मनु०] गुंजारना । गूँचना ।
उ०—मननात और भूषण भमोल हननात मया मन्नि
सारे ।—गुमान ।

मनयादित-वि० दे० “मनोवादित” । उ०—जागी महिर पुत्र
गुप्त देवेष्ट भाईदूर बजाई । कंचन कलस हेम दिन पूजा
चंदन भवन लिगाई । दिन दसही ते वरले कुमुमनि कूलनि
गोमुख छाई । नंद कई दृष्टा सब पूर्ण मनयादित फलवाई ।
—सूर ।

मनभाया-वि० [हि० मन + भाया] (१) मनभाये । जो मन को
भाये । जो अच्छा लगे । मनोमुहूर्त । उ०—(क) मूरदास
प्रभु शक्ति तिरामणि कियो कान्हू ग्राहिनि मन भायो ।—
सूर । (ख) गणाल मन भाय कहुँ करिके गोपाल घरे भाये
अनि आलस मंडई बड़े तराटे ।—पद्माकर । (ग) करत
मुदाय मुदाय मनभाय कर पाय सखे करि चतुराई अभिजाय
अधिकार है ।—प्रताप । (घ) आतुर है तिय केति करी
सुमरी निज अंक करी मन भाई ।

मनभायता-वि० [हि० मन + भाय] (१) मनभायती । (२) जो
मन की भाषा समझता हो । (३) त्रिप । व्यास । उ०—रूप-
बंध अत दायन घन मूजाय कंज । चारों जिस मनोहर
मित्रा सो मनभायन ।—जायसी । (ग) कहि बटई मनभा-
यनी तिय आनन की बात । कुरी आँगन में तिरै आँगन
भंग सामान ।—विहारी । (घ) मोहि सुई न उई न हई,
मनभायनी सो न मनान देई ।—पद्माकर ।

मनभायन-वि० [हि० मन + भाय] (१) मन को अच्छा लगने-
वाला । उ०—चलन चोहूँ चामोदक सोमो मोगि देई मन-
भायन । सीन पैद कमुपा ही जाही परनकुटी को छारन ।—
सूर । (२) त्रिप । व्यास । उ०—(क) मने मुदिन घने पून
अमा अजायन रे । उग ह्य जीवहु कान्हू सबही मनभायन

रे ।—सूर । (ख) केसवदास सुंदर अरुण प्रभुकी है
मानो मनभायने के भावते भगन है ।—देवतार । (ग) लं
भेरि निजान साहि नबहि मुद सुहायनी । मार के
चिरद भारी बचन कई मनभायनी ।—सूर ।

मनमत-वि० दे० “मंस” ।

मनमति-वि० [हि० मन + मति] अपने मन का काम करनेवाला ।
स्वेच्छाचारी । उ०—आह, ये मनमति होना अच्छा नहीं ।
जिसी की बात भी मान लेना चाहिए ।—मदनाम ।

मनमथ-छंदा पुं० दे० “मन्मथ” ।

मनमाना-वि० [हि० मन + मानना] मनमाना । मनबन्दा ।
मनोवांछित । उ०—सब गाली ने प्रसन्न हो निपा
कूल सोद मनमानवी सोडिया भर ली ।—रघु ।

मनमाना-वि० [हि० मन + मानना] [को० मनमनी] (१) जिसे
मन चाहें । जो मन को अच्छा लगे । उ०—तुलसी निरो
की सुनेद की दस्त सुमिरि, मेरे मन माने राख निरद हारते
हैं ।—तुलसी । (२) मन के अनुकूल । मनोयोग । वर ।
उ०—पाठने भावयो, सबहि भति मन भावयो, केहे हो
जिन धराह, सखिन संगल गवाह, रंगमल में पीगी है
कईवा ।—सूर । (३) यथेच्छ । इच्छानुसार । मनचाहा ।
जैसे,—भाय जिसी की बात सो मानते ही नहीं । इनके
मनमाना करते हैं ।

मनमुखी-वि० [हि० मन + मुख] मनमाना काम करने
वाला । स्वेच्छाचारी । उ०—मुद मोही भी मनमुखी जो
शुभ विचार । ते नर चौरासी धमहि जब लनि ताहि निर
कार ।—कवीर ।

मनमुदाय-छंदा स्त्री० [हि० मन + मोद] मन में भेर दहना ।
मन मोटा होना । पैतृहृष्य होना ।

मि० प्र०—रघुना ।—होना ।

मनमोदक-छंदा पुं० [हि० मन + मोदक] अपनी प्रसन्नता के लिये
बनाई हुई अर्पण या करियन बाण । मन का हर्ष । उ०—
कृपा मरहु जनि गाल बसाई । मन मोदकहि कि पून
सुवाई ।—गुणधर ।

मनमोहन-वि० [हि० मन + मोहन] [मं० मनमोह] (१)
मन को मोहनेवाला । मन को सुभावेवाला । निरुद्ध ।
सुख कारक । उ०—रूप अगत मनमोहन जेहूँ बजाये
गाई । कोटि बरब मुदि देरी आनि कोटि हक टाई ।—
जायसी । (२) त्रिप । व्यास ।

छंदा पुं० (१) अर्हणचंद्र का एक नाम । उ०—रूप-
मोहन लेखन औमान । द्वारायनी बंद कंचन में रत्नी रत्न
मिरान ।—सूर । (२) एक सर्वज्ञ इंद्र का नाम जिसने
अन्येक चरण में चौरद माराई होगी है, जिसमें से अनेक
सौन मारायो नर मरु होना भावना है । उ०—रघु

निहोरे सुले फाम। तुमही मने पावही घरम। (३) एक प्रकार का सदायहार धूस जो बरमा, जावा आदि देशों में होता है। यह सीधा और ऊँचा होता है। इसकी लकड़ी साफ होती है और इस पर रंग खूब खिलता है। इसके फूल बहुत सुगंधित होते हैं जिनसे इतर निकाला जाता है। इस इतर को इलंग कहते हैं और यूरोप में इसकी बहुत ख़ासत होती है। इसे अथ लोग बंगाल में भी बागों में लगाते हैं। यह यीजों से उगता है।

मनमौजी-वि० [हि० मन + मौज] मन की मौज के अनुसार काम करनेवाला। मनमाना काम करनेवाला।

मनरंजक-वि० [हि० मन + रंजना] मनोरंजन करनेवाला। मनोरंजक। उ०—तुमसों कीजै मान क्यों बहु नाहक मन रंज। बात कहत यों बाल के अरि आये रंग कंज।—मतिराम।

मनरंजन-वि० [हि० मन + रंजना] मनोरंजन करनेवाला। मन को प्रसन्न करनेवाला। मनोरंजक। उ०—(क) भूंगी री मन चरण कमल पद जहाँ महि निधि को प्राप्त। जहाँ बिधु भानु समान प्रभा नख सो पारिज सुख-रास। जिहि किजलक मक्ति नय लक्षण काम ज्ञान रस एक। निगम सनक शुक्र नारद हारद मुनि जन भूंग अनेक। तिन विरंचि खंजन मनरंजन छिन छिन करत प्रवेश। बलिल कोश तहँ बसत सुकृत जन परगट दयाम दिनेश। सुनि मधुकरि भरम तनि निर्भय रात्रिय घर की आस। सूरज प्रेम सिंधु में प्रकुलित तहँ बलि करे निवास।—सूर। (ख) धिरकत सहज सुभाव सौं चलत चपल गत सैन। मनरंजन शिखर के खंजन तेरे गै।—रसनिधि।

रंजा पुं० दे० “मनोरंजन”।

मन लाहू-रंजा पुं० दे० “मनमोहक”। उ०—धर्म अर्थ कामना सुनावत सब सुख मुक्ति समेत। काकी भूल गई मन लाहू सो देखतु चित चेत।—सूर।

मनयाँ-रंजा पुं० [देश०] नरमा। देव कपास। रामकपास।

मनघाना-कि० सं० [हि० मानना का प्रेर०] मानने का प्रेरणायक रूप। मानने के लिये प्रेरणा करना। किसी को मानने में प्रवृत्त करना। उ०—भावत ही की सखी सौं अटू भम भावते भावती को मनवायो।—रघुनाथ।

कि० सं० [हि० मानना] मनावे का काम दूसरे से कराना।

दूसरे को मानने में प्रवृत्त करना।

मनशा-रंजा ली० [प्र०] (१) इच्छा। विचार। इरादा। (२) तापवर्ध। मतलब। अर्थ।

मनसना-कि० सं० [हि० मानस, सं० मनस्वर्य] (१) इच्छा करना। विचार करना। इरादा करना। (क)

मैं वर जो मनसा मान सर लीन्ह कमल रस आय। पुन

३३२

हियाव न के सका धार काठ तस खाय।—जायसी। (ख) पवन बाँध अपसरहि अकासा। मनसहि जहाँ जाँहि तहँ बासा।—जायसी (ग) याही ते शूल रही शिशुपालहि। सुमिरि पछताति सदा वह मान भंग के कालहि। दुलहिनि कहति दीरि दीजहु द्विज पाती नंद के लालहि। वर सुबरांत गुहाइ धड़े हित मनसि मनोहर बालहि।—सूर। (२) संकल्प करना। इद्द निश्चय या विचार करना। उ०—जोई चाई सोई लेह मने नहिं कीजै यह शिव के चढ़ाये को मनस्यो हमल है।—रघुनाथ। (३) हाथ में लाल लेकर संकल्प का मंत्र पढ़कर कोई चीज दान करना।

मनसच-रंजा पुं० [प्र०] (१) पद। स्थान। उ०—पका मतो करि मलिच्छ मनसच छोड़ि मका के मिसि उतरत द्रि-याव हैं।—भूपण।

यी०—मनसचदार।

(२) कर्म। काम। (३) अधिकार। (४) वृत्ति।

मनसचदार-रंजा पुं० [प्र०] वह जो किसी मनसच पर हो। उच्चपदस्थ पुरुष। ओहदेदार। उ०—मंसन की कहा है मंतंगनि के मँगिये को मनसचदारनि के मन ललकत हैं।—मतिराम।

मनसा-रंजा ली० [सं०] एक देवी का नाम। पुराणानुसार यह शरकार मुनि की पत्नी और भास्तीक की माता थी तथा कश्यप की पुत्री और बाणकी की बहिन थी।

रंजा ली० [सं०] मानस वा अ० मनशा। (१) कामना। इच्छा।

उ०—(क) तन सराय मन पादरु मनसा उत्तरी आय। कोठ काहू को है नहीं सब देवे ठाँक बजाय।—कबीर।

(ख) छिनम रहे नंदलाल इहाँ यिनु जो कोठ कोटि सिखावै।

सुरदास उयों मन ते मनसा अनत कहूँ नहिं जावै।—सूर।

(२) संकल्प। अभ्यवसाय। इरादा। उ०—(क) देव नदी कहैं जोजन जानि किए मनसा कुलकोटि उधारे।—तुलसी।

(ख) मानहँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विश्व विजय कहैं कीन्ही।—तुलसी। (३) भूमिलाप। मनोरथ। उ०—(क)

मनसा को दाता कहैं भुनि प्रभु प्रवीन को।—तुलसी।

(ख) कहा कभी जाको राम धनी। मनसा नाथ मनोरथ पूरण सुख-निधान जाको मौन धनी।—सूर। (४) मन। उ०—

(क) विफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परप्रोह निरत मनसा के।—तुलसी। (५) बुद्धि। उ०—युगल कमल सौं मिलत कमल युग युगल कमल ले संग। पाँच कमल मधि युगल कमल लखि मनसा मई अपंग।—सूर। (६)

अभिप्राय। तात्पर्य। प्रयोजन। उ०—प्रभु मनसाहि लख-लीन मनु चलत बाजि छवि पाव। भूपति बढगन तदित घन जनु वर वरहि नखान।—तुलसी।

वि० (१) मन से उत्पन्न। (२) मन का। उ०—धर्म

विचारत मनमें होई । मनसा पाप न लागन कोई ।—मूर ।
कि० वि० मन से । मन के द्वारा । उ०—मनसा पाषा
कर्मणा हमें सौं छँदहु मेहु । राजा को विपदा परी तुम
तिनकी सुधि लेहु ।—केशव ।

छंदा पु० दे० “मसी” ।

मनसानी—क्रि० प्र० [हि० मनसा] उमंग में आना । तरंग में आना ।
क्रि० रा० [हि० मनसना का प्रेर०] मनसने का काम दूसरे
से कराना । संकल्प का भंग आदि पढ़कर या पढ़ाकर दूसरे
से दान आदि कराना ।

मनसा पंचमी—छंदा मी० [मं०] आषाढ़ की कृष्ण पंचमी । इस
दिन मनसा देवी का उत्सव होता है ।

मनसायन—वि० [हि० सायुज्य = मनुष्य + आन (प्रव०)] (१)
यह स्थान जहाँ मन-वहलाव के लिये कुछ लोग हैं ।

मुहा०—मनसायन करना या रखना = यात चाँत आदि के
द्वारा दान प्रसार क्रिया का मन बहलाना जिनमें उल्लेख अनेक
ऐसों का पत्र न जान पड़े ।

(२) मनोरम स्थान । सुलज्जर ।

मनसिज्ज—छंदा पु० [रा०] कामदेव ।

मनसूख—वि० [म०] (१) जो भ्रामागिह उद्गार दिया गया हो ।
अविचलित । जैसे—दिलरी मनसूख काना । (२) परित्यक्त ।
त्याग हुआ । जैसे—उमने यहाँ जाने का हवादा मनसूख
कर दिया ।

मनसूखी—छंदा मी० [मं०] मनसूख होने का भाव या क्रिया ।

मनसूया—छंदा पु० [म०] (१) युक्ति । आयोजना । रंग । उ०—
(क) अब कीरी पैसा मनसूया । ई ईसा सौगरे सूया ।—
लाल । (ख) लंक की पिशाचता से उरत उलंग अये रंग
कवि दूषद ई तरे मनसूये को ।—बृहद ।

क्रि० प्र०—करना ।—दाना ।—होना ।

मुहा०—मनसूया कीपना = युक्ति निराकरण । रंग मीनना ।
उ०—उद्यमे पढा मनसूया कीपना भा कि यदि लूटार होतो
आर धनुष राज सेके झापी पर कीज के शाव साये ।—निब-
प्रकाश ।

(२) हवादा । विचार । उ०—राकटाइ अपने मनसूये का
ऐसा पढा का दि हाथु मे बदना मेने की हया से अपने
मान नही त्याग किये ।—हरिभद्र ।

मनहार—छंदा पु० [मं०] एक प्रसिद्ध सुमंगल साधु की मूर्ति
मन की भावार्थ माना जाता है । यह मूर्ति गंगाती में
धरमना में होने लगाऊ के यह उपास हुआ था । यह
“जनपदक” भांगर “अर्ध जपदासि” कहा जाता था ।
बगदाद के मर्यादा मकबरि मे हय हजम धर्म का प्रतीक
राजका सद् ११६ ई० में मूर्ति पर बना दिया और
इसके पद को मजबूत बना दिया था ।

मनसेधूई—छंदा पु० [मं० मनुष्य] पुरुष । आत्मी ।

मनस्क—छंदा पु० [मं०] मन का अवधारक रूप । हृदय को
समस्त पदों में देखा जाता है । जैसे—अन्य मनक ।

मनस्कान्त—वि० [मं०] (१) मनोनीत । मन के अनुकूल । (२)
मिष्ट । प्यारा ।

छंदा पु० मन की अभिलाषा । मनोरथ ।

मनस्काम—छंदा पु० [मं०] मन की अभिलाषा । मनोरथ ।

मनस्ताप—छंदा पु० [मं०] (१) मनःपीडा । अनिष्ट दुःख ।
(२) अनुताप । पश्चात्ताप । पछताप ।

मनस्ताल—छंदा पु० [मं०] (१) हस्ताल । (२) दुर्गा देवी के
सिंह का नाम ।

मनस्तोषा—छंदा मी० [मं०] दुर्गाती का एक नाम ।

मनस्विनी—छंदा मी० [मं०] (१) मृदंग स्त्री की पत्नी का
नाम । (२) प्रजापति की एक स्त्री का नाम जिसमें मंत्र
की उपासि हुई थी ।

मनस्वी—वि० [मं० मनस्वि] [स्त्री० मनस्विनी] (१) मेह का
से संपन्न । युद्धिमान् । उद्य विचारवान् । (२) मनोमौल ।
स्वेष्याचारी ।

छंदा पु० तारम ।

मनहर—छंदा पु० [हि० मन + हर] पंद्रह बजरी के एक बर्तन
छंद का नाम जिसके प्रत्येक परम में सगन, निर दो गण,
निर भाग्य और अंत में रगन होता है (सत्र म म) ।
इसे मानसहर भी कहते हैं । उ०—निर्दोष को वरुण
ही यदि नाम सों । यदि ते पलांग प्रसिद्ध ही गुण वर
सों । कबु दुल लालन लाल हैं तेहि हेतु सों । इति कैकि
पुहमी पुरंदर चेत सों ।

मनहर—वि० [हि० मन + हरना का म० मनोहर] मन हलनेवाला ।
मनोहर ।

छंदा पु० मनहारी छंद का एक नाम । दे० “मनहारी” ।

मनहरण—छंदा पु० [हि० मन + हरण] (१) मन हलने की क्रिया
या भाव । (२) पंद्रह बजरी का एक बर्तन छंद जिसमें
प्रत्येक परम में दोन सगन होते हैं । इसे मन्त्री और
अमरापत्नी भी कहते हैं । उ०—पुत्रन की हानि शिखा
गोटे कर पर पुन रोष होत दूक मोगिन को हारी ।
वि० मनोहर । सुंदर ।

मनहरण—छंदा पु० दे० “मनहरण” ।

वि० [हि० मनहरण] मन हलनेवाला । उ०—कवि
पुनने बकलक सारवर निरद कुषाम । पदे मये मुखा मने
के मनहरण मरण ।—विहारी ।

मनहार—वि० दे० “मनोहारी” ।

मनहारी—वि० दे० “मनोहारी” ।

मनहूँ—कव्य० हि० मन + हूँ का म० माने । जैसे—मना ।

उ०—(क) चाहहु सुनइ राम गुन गुहा । कीन्हहु प्रभ
मनहुँ अति मुदा ।—तुलसी । (ख) पंडित अति सिंगरी
उरी मनहुँ गिरा गति गुद । सिंहनि पुत जनु चंडिका मोहत
सूद अमृद ।—केशव ।

मनहूस-वि० [म०] (१) अशुभ । बुरा । जैसे—दंगलियाँ
छोड़ना बहुत मनहूस है । (२) अप्रिय-दर्शन । जो देखने
में वैरीनक जान पड़े । जैसे—पाह, क्या मनहूस सूरत
है ! (३) सुस्त । आलसी । निरुत्साह ।

मना-वि० [म०] (१) जिसके संबंध में निषेध हो । निषिद्ध ।
वर्जित । जैसे—मनुजी के धर्मशास्त्र में पाप्मा खेलना
मना है । (२) जो कुछ करने से रोका गया हो । थारण
किया हुआ ।

पियोप—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग केवल विधेय रूप
में होता है । जैसे—“यह काम मना है” । यह नहीं कहते—
“मना काम न करना चाहिए ।”

(३) अनुचित । मामुनासिप ।

मनाई-संज्ञा स्त्री० दे० “मनाही” ।

मनाफ़-वि० [सं०] (१) अव्यय । थोड़ा । मंद ।

मनाक, मनाग-वि० [सं० मनाक] अव्यय । थोड़ा । ज़रा सा ।
उ०—(क) दूदत पिनाक के मनाक दाम राम से से नाक
चिनु भये शृंगनायक पलक में ।—तुलसी । (ख) दारिद्र्यो
दियो पिनाक सहसि भयो मनाक महाम्बाल पिंकल बिलोकि
जनु नरी है ।—तुलसी । (ग) अस्थि मात्रहोइ रहे सरिरा ।
तदपि मनाग मनहि नहि पीरा ।—तुलसी ।

मनाका-संज्ञा स्त्री० [सं०] हथिनी ।

मनादी-संज्ञा स्त्री० दे० “सुनादी” ।

मनाना-क्रि० प्र० [हि० मानना का प्र०] (१) दूसरे को मानने
पर उद्यत करना । यह कहलवाना कि हाँ कोई बात ऐसी
ही है । स्वीकार करना । सक्रयाना । (२) जो अप्रसन्न
हो, उसे संतुष्ट या अनुकूल करना । रुठे हुए को प्रसन्न
करना । राखी करना । जैसे—बह रुठा था; हमने मना
लिया । उ०—(क) सो सुकृति सुवि मंत सुसंत सुसील
सपाय सिरमनि रवे । सुर तीर्थ ताहि मनावन आवत
पावन होत है तात न छै ।—तुलसी । (ख) मोहिं तुम्हें न
ऊँई न इन्हीं मनभावती सो न मनावन आहूँ ।—
पद्माकर । (३) अप्रसन्न को प्रसन्न करने के लिये अनुनय
विनय करना । रुठे हुए को प्रसन्न करने के लिये मीठी मीठी
बातें करना । मनुहार करना । उ०—(क) जैसे आव तैसे
साथि सौंहनि मनाई लाई तुम इक मेरीयात एतौ बिखर्यो
मा ।—पद्माकर । (ख) केतो मंगवै पाउँ परि केतो मनावै
रोह । हिंदू पूरै देवता तुमक न काहुक होंह ।—कबीर ।
(ग) लाज किये जो पिय नहि पाऊँ । तजौं लाज कर जोरि

मनाऊँ ।—जायसी । (४) देवता आदि से किसी काम के होने
के लिये प्रार्थना करना । उ०—(क) यह कहि कहि देवता मना-
वति । भोग समग्री धरति उठावति ।—सूर । (ख) सुकृति
सुमिरि मनाइ पितर सुर सीस ईस पद नाइ कै । रघुवर कर
धनुभंग चढ़न सब अपनो सो हित चित लाइ कै ।—तुलसी ।
(५) प्रार्थना करना । स्तुति करना । (क) तुम सब सिद्ध
मनावहुं होइ गणेश सिंधु केहु । चेला को न चलावै मिलै
गुरु जेहि भेट ।—जायसी । (ख) ताके युग पद कमल
मनाऊँ । जासु रूपा निरमल मति पाऊँ ।—तुलसी । (ग)
करी प्रतिज्ञा कहेउ भीम सुख पुनि पुनि देव मनाऊँ । जो
तुम्हरे कर धर न गढ़ाऊँ गंगा-सुत न कहाऊँ ।—सूर ।

मनाउ-संज्ञा पुं० दे० “मीनार” ।

मनाल-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का चबोरे जो भिमले की
और होता है । इसके सुंदर परों के लिये इसका बिकार
किया जाता है ।

मनाखन-संज्ञा पुं० [हि० मनाख] (१) मनाने की क्रिया । (२)
रुठे हुए को प्रसन्न करने का काम । (३) मनाने का भाव ।

मनाघो-संज्ञा स्त्री० [सं०] मनु की स्त्री का नाम ।

मनाही-संज्ञा स्त्री० [हि० मना] न करने की आज्ञा । रोक ।
अवरोध । निषेध । उ०—मुकुरें तादाइ से जियादा जमीन,
गाय-बैल-यकरी रखने की मनाही थी ।—शिवप्रसाद ।

मनि-संज्ञा स्त्री० दे० “मणि” ।

मनिका-संज्ञा स्त्री० [सं० मणि] माला में परोया हुआ दाना ।
गुरिया । दाना । उ०—माला फेरत युग गया गया न मन का
फेर । कर बज मनिका छोड़िकें मन का मनिका फेर ।—कबीर ।

मनित-वि० [सं०] जात । उत्पन्न ।

मनिधर-संज्ञा पुं० दे० “मणिधर” ।

मनिधा-संज्ञा स्त्री० [सं० मणिधर, हि० मनिका] (१) गुरिया ।
मनिका । दाना जो माला में परोया हो । (२) फंडी । गुरिया ।
माला । उ०—हैं करि रही कंठ में मनिधा निर्गुन कहा
रसहि ते काज । मूरदास सगुन मिलि मोहन रोम रोम सुख
साज ।—सूर ।

मनियार-संज्ञा-वि० [हि० मणि + आर प्र०] (१) देदीप्यमान ।
उज्ज्वल । चमकीला । (२) दर्शनीय । शोभायुक्त । स्वच्छ ।
रौनकदार । सुहावना । उ०—बन कुसुमित गिरगान मनि-
यारा । खबहि सकल सरितामृत धारा ।—तुलसी ।

मनिहार-संज्ञा पुं० [हि० मणिधार प्रा० मणिवर] [सं० मनिहारिण]
जूही धननेवाला । जुद्धिहार ।

मनी-संज्ञा स्त्री० [हि० मान = अभिमान] अहंकार । उ०—(क)
हो मे मखो ऐसेही अहं हूँ गये राम सरन परिहरि मनी ।
शुभा उठाइ साविसंकर करि कसम पाह तुलसी मनी ।—
तुलसी । (ख) मति समान जाके मनी मैकिन आवत पास ।

रसनिय आवक करत है तहाँ मन में पात ।—रसनिय ।

० संज्ञा स्त्री० (१) दे० "मनि" । (२) धौव्य ।

मनी आर्डर—संज्ञा पुं० [सं०] रुपय की हुंदी जो किसी के रुपया चुकाने पर एक डाकखाने से दूसरे डाकखाने में इसलिये भेजी जाती है कि यह वहाँ के किसी मनुष्य को हुंदी में डिली, रकम चुका दे । एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया प्रायः सोपा इसी प्रकार डाकखाने की मादकृत भेजा करते हैं ।

मि० प्र०—भाना ।—जाना ।—भेजना ।

मनीक—संज्ञा पुं० [सं०] भक्ति ।

मनीक—संज्ञा स्त्री० [दे०] मीरनी ।

मनीषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बुद्धि । अक्षु । (२) श्रुति । प्रज्ञा ।

मनीषिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धि । मनीषा ।

मनीषित—वि० [सं०] मनीषितचित्त । चिन्तित ।

मनीषिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धिमत्ता । बुद्धिमानी ।

मनीषि—वि० [सं०] (१) पंडित । ज्ञानी । (२) बुद्धिमान् ।

मेपायी । भूतभंड ।

मनु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनु के पुत्र जो मनुष्यों के मूल पुरुष माने जाते हैं ।

यिरोप—संज्ञा पुं० मनु को यज्ञों का आदि प्रवर्तक लिखा है ।

मनुवेद में कथ्य और भविष्य को यज्ञ-प्रवर्तन में मनु का

सहायक लिखा है । सातवें माह्निक में लिखा है कि मनु

एक बार जटादाय में हाथ धोते थे; उसी समय उनके हाथ

में एक छोटी सी मछली आई । उसने मनु से अपनी रक्षा

की प्रार्थना की और कहा कि भाग मेरी रक्षा कीजिए; मैं

आपकी भी रक्षा करूँगी । उसने मनु से एक आनेवाली

बाढ़ की बात कही और उन्हें एक गाव बनाने के

लिये कहा । मनु ने उस मछली की रक्षा की; पर यह

मछली धीरे-धीरे दिनों में बहुत बड़ी हो गई । जब बाढ़

आई, तब मनु अपनी गांव पर बैठकर पानी पर चले और

अपनी माद उस मछली की आद में बँधे हुए । मछली

उपरी की चाली और दिमाग्य पर्वग की चोटी पर उभरी

माद उसने पहुँचा दी । वहाँ मनु ने अपनी माद बँधे

दी । उस बँधे धोप में अनेक मनु की बसे थे । उन्हीं से

कि मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई । ऐतरेय माह्निक में मनु के

मनने पुत्रों में अपनी संतति का विभाग करने का वर्णन

मिलता है । इसमें यह भी लिखा है कि उन्होंने महाभेदिक

को अपनी संतति का भागी नहीं बनाया था । शिष्य में

'मनु' शब्द का बार-बार प्रयोग देव-यज्ञों में है और वास्तव्येय

संहिता में मनु को प्रजापति लिखा है । पुराणों और मुख्य

सिद्धांत आदि अनेक के मंत्रों के अनुसार एक बरस में

चौर मनुष्यों का अतिकार होता है और उनमें अतिकार-

काय को मर्त्य पर करने है । चौर मनुष्यों के नाम हैं—

(१) व्याघ्रम् । (२) स्वारीविष । (३) उल्लस । (४) वामन

(५) रवत । (६) चातुष । (७) धीवरत । (८) सारणि

(९) दश सारणि । (१०) महा सारणि । (११) महा

सारणि । (१२) रुद्र सारणि । (१३) देव सारणि और

(१४) रुद्र सारणि । परंतु मान्यतर वैदिक मनु

है । मनुस्मृति में मनु को पिराट का पुत्र लिखा है और मनु

से दश व्याघ्रपतियों की उत्पत्ति लिखी है । (१) विष्णु । (२)

अंतःकरण । मनु । (३) जैनियों के अनुसार एक जिन का

नाम । (४) कृष्णाक्ष के एक पुत्र का नाम । (५) मेरु

(६) धीवरत मनु । (७) भरि । (८) एक रुद्र का नाम

(१०) १४ की संख्या । (११) मनु ।

संज्ञा स्त्री० (१) मनु की पत्नी । मनाही । (२) समवेपी का

साग । दूका ।

मन्यु—[हि० मान्य] मानों । प्रीति । उ०—(क) तब

जदित कंकण बाजू बंद नाग मुद्रिका लोहे । बार बार मनु

मदन विटप तद विषय देखि मन मोहै ।—गूर । (ख)

मोर मुकुट की चंद्रिकन यों राजन मैमंद । मनु लखि लेगा

की अक्षर किंचे सिखा सत बंद ।—विहारी ।

मनुष्य—संज्ञा पुं० [हि० मनु] मनु । उ०—(क) मनुष्यों का

देव और भोग् । पंच मुसाह विनाय योग् ।—ब्रह्मसू ।

(ख) चंचल मनुष्यें बुद्धिहि धावत अपय आदि उरारो ।

कहु नाटक यहि विधि की सो नर मुनि ताहि ह्य मानो ।

—तेगबदादुर ।

संज्ञा पुं० [हि० मानव] मनुष्य । उ०—पाप पदाय ह्याय

के ये मनुष्यें मेरुबान । लेना होय सो नेह में बड़ी ले

मेशान ।—कबीर ।

संज्ञा पुं० [दे०] देव कथास । मना । मनर्षी ।

मनुष्य—संज्ञा पुं० [सं०] दिव्यमन के लोच और सुनिष्ठा के पुत्र

का नाम ।

मनुष्य—संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य, मनुष्य । मनुष्य । भार्मी ।

मनुजात—वि० [सं०] मनु से उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० मनुष्य । भार्मी ।

मनुजाद—वि० [सं०] मनु-मनुष्य । मनुष्यों की जाति ।

संज्ञा पुं० [सं०] हाथ ।

मनुजाधिप—संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

मनुष्येष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य । (२) दासी ।

मनुष्य—संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य ।

मनुष्येष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य ।

मनुष्य—संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य । भार्मी । उ०—

कह्यो निज मुदि हय मनुष्य जानन नरी जगपति जल

दिन देह भाग्यो । कहेयो जानन नरी दिव्य ना कोर मुनि

किष्ट जल जाव हय पंच रागो ।—गूर । (३) कवि ।

खादि। उ०—माप मोर मनुष्य है अति सुजान। धंधी
कृति कृति करे विहान—कपीर।

मनुषी-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री।

मनुष्य-संज्ञा पुं० [सं०] जरायुज जाति का एक स्तनपायी प्राणी
जो अपने मस्तिष्क या बुद्धि बल की अधिकता के कारण
सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। आदमी। नर।

विशेष—मनुष्य महाभूत कहा गया है। प्राचीन ग्रंथों में
सृष्टि के आदि में प्रायः सब जीव जंतुओं की उत्पत्ति एक
साथ बताई गई है। पर आधुनिक प्राणि-विज्ञान के अनु-
सार मूल मनुष्यों से क्रमशः उन्नति प्राप्त करते हुए
एक के पीछे दूसरे उन्नत जीव होते गए हैं। जैसे बिना
रीढ़वाले जीवों से रीढ़वाले अंडज जीव हुए। फिर उन्हीं
से जरायुज हुए। जरायुजों में सब के पीछे किणुरूप वर्ग के
बंदर या वनमानुस हुए। वनमानुसों से होते होते अंत में
मनुष्य हुए। वैज्ञानिकों ने मनुष्य को पाँच प्रमाण जातियों
में बाँटा है—(१) काकेशी, जिसके अंतर्गत आर्य और
अधुर (सामी) हैं। (२) मंगोल (चीन, जापान आदि
के पीछे लोग)। (३) हन्सी। (४) अमेरिकन। और
(५) मलाया।

एव्या०—मानुष। मनुज। मानव। नर। द्विपद।

मनुष्यकार-संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषकार। उद्योग। प्रयत्न।

मनुष्यगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन साधुजानस यह कर्म जिसके
करने से मनुष्य बार बार मरकर मनुष्य ही का जन्म पाता
है। ऐसे कर्म पर-स्त्रीगमन, मांस-भक्षण, चोरी आदि यत्न-
छाद गए हैं।

मनुष्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मनुष्य का भाव। आदमीपन।

(२) दया भाव। चित्त की कोमलता। दाल। (३) सम्मता,
सिद्धता। व्यवहार ज्ञान। तमीज़। आदमीपन।

मनुष्यत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्यता। आदमीपन।

मनुष्यधर्मा-संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्यधर्म। कुवेर।

मनुष्यवत्-संज्ञा पुं० [सं०] अतिथि का आदर सम्मान। अति-
थिपूज। श्रृणु।

मनुष्यरथ-संज्ञा पुं० [सं०] वह रथ जिसे मनुष्य खींचते हैं।
वर-रथ।

मनुष्यराशि-संज्ञा स्त्री० [सं०] कन्या राशि।

मनुष्यलोक-संज्ञा पुं० [सं०] मर्त्यलोक। मूल लोक।

मनुसाई-संज्ञा स्त्री० [हि० मनुस + साई] (१) पुरुषार्थ।
परामर्श। महादुरी। उ०—(क) साक्षा मूल के बड़े मनु-
साई। साक्षा तं साक्षा पर जाई।—तुलसी। (ख) जो
अस करडें न तदधि बढ़ाई। सुपेहि षष्ठी कछु नहि मनु-
साई।—तुलसी। (२) मनुष्यता। आदमीपन।

मनुस्मृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] धर्म-शास्त्र के एक प्रसिद्ध ग्रंथ का

नाम जो मनु-प्रणीत है। कहा जाता है कि पहले मनुस्मृति
में एक लाख श्लोक थे। फिर उसका संक्षेप बारह
श्लोकों में किया गया और अंत को उसका संक्षेप चार हजार
श्लोकों में किया गया। आज कल की मनुस्मृति में ठाई
हजार से कुछ ही अधिक श्लोक मिलते हैं। यह श्रुति-प्रोक्त
कहलाती है और इसमें बारह अध्याय हैं। इसमें सृष्टि की
उत्पत्ति, संस्कार, नित्य और नैमित्तिक कर्म, आश्रम धर्म,
राजधर्म, वर्णधर्म, प्रायश्चित्त आदि विषयों का वर्णन है।
इसके अतिरिक्त एक नारद प्रोक्त मनु संहिता का भी पता
चलता है; पर वह पूरी नहीं मिलती। मानव धर्मशास्त्र।

मनुहार-संज्ञा स्त्री० [हि० मान + हारना] (१) वह विनती जो
किसी का मान छुड़ाने या क्रोध दूर करने के लिये प्रयत्न करने
के लिये की जाती है। मनोभा। सुशामद। उ०—(क)
मारी मनुहारन भरी गारिउ भरी मिठाहि। वाको अति अन-
खाहरी मुसुकाहट बिनु नाहि।—बिहारी। (ख) तुम न
बिहारी नेकु मानो मनुहारी हम पायें परि हारी अरु करि
हारी नहियाँ।—तोष।

मुहा०—किसी की मनुहार करना = विनती करना। सुशामद
करना। मनाना। उ०—(क) मुहारे हेतु हरि लियो अवतार।
अब तुम जाह करो मनुहार।—सूर। (ख) दुखद रोष
मुरति श्रुपति अति नृपति निकर पयकारी। कयों सँपिउं
सारांग हारि हिय करिहै बहु मनुहारी।—तुलसी। (ग)
कहत रूढ़ मन माहि विचारि। अब हरि की कीजै मनु-
हारि।—तुलसी। (घ) जो मेरी कृत मानहु मोहन करि
लाजो मनुहारि। सूर रसिक तपही पै बहियों मुरली सबी न
सँभारि।—सूर। (२) विनय। प्रार्थना। उ०—(क)
तापसी करि कहा पठवति नृपति को मनुहारि। बहुहि तेहि
विधि आह कहिहै साधु कोउ हितकारि।—तुलसी।
(ख) सधै करति मनुहारि ऊषो कहियो हो जैसे गोकुल।
—सूर। (३) सत्कार। आदर। उ०—सीहैं किये हू
न सोहैं करे मनुहार करहु न सृष्टि निहारि।—केशव।

मनुहारना-संज्ञा-क्रि० सं० [हि० मान + हारना] (१) मनाना।
सुशामद करना। उ०—(क) पूजा करेउ बहुत मनुहारी।
बोले भैंते बचन विचारी।—सचलसिंह। (ख) कैं पटुता
परवीन लिया मनुहारि बाल कहै मन माने।—प्रताप। (२)
विनय करना। प्रार्थना करना। उ०—निप्रहानुपद जो करे
अरु देद आशिष गारि। सो सधै सिर मानि खीजै सदैव
मनुहारि।—केशव। (३) सत्कार करना। आदर करना।
उ०—सुरभी येन कुंभ संम धारी। नंदिनि धेनु सरिस
मनुहारि।—मन्नालाल। (४) सुशामद करना।

मनूरी-संज्ञा स्त्री० [म० मनोवर] एक प्रकार की चुकनी जो
सुरादावादी कलह के बर्तनों को उतला करने में काम आती

है। यह धातुओं को मलने की पुरानी चरियों को बूटकर बनाई जाती है।

मने-वि० दे० "मना"। (क) जानि नाम अज्ञान खींचे नरक जमपुर मने।—मुद्ररत्न। (ख) निवृत्त मुत्तन मने मने करे मनु सो भवकीरिनि सौ भरे।—गुणम।

मनेजर-देहा पुं० [मं०] किसी कार्यालय आदि का यह प्रधान अधिकारी जिसका काम सब प्रकार की व्यवस्था और देख देख कामा हो। प्रबंधकर्ता।

मनो-मन्य० [हि० मानना] मानो। जैने। उ०—(क) मनो सत्यं कोन में कामवाम। इन्मान ऐसीलगीरामरामा।—केशव। (ख) मकराकृत गोपाल के बुँडल सोइत कान। धन्यो मनो हिय पर समर खोदी लखन निसान।—बिहारी।

मनोकामना-देहा स्त्री० [हि० मन + कामना] इच्छा। अभिलाषा। मनोगत-वि० [मं०] जो मन में हो। मन में आया हुआ। दिखी।

मनोगति-देहा स्त्री० [मं०] (१) मन की गति। चित्त-वृत्ति। (२) इच्छा। अतिरिक्त अभीष्ट। राहिस। उ०—किन्तु विधिमा की पही मनोगति थी।—दुर्गाचरणदिनी।

मनोगयी-देहा स्त्री० [मं०] इच्छा। अभिलाषा।

मनोगुमा-देहा स्त्री० [मं०] मैमसिल।

मनोगुति-देहा स्त्री० [मं०] जैन साधनानुसार मन को अनुभव प्रवृत्ति से हटाने की क्रिया या भाव।

मनोज-देहा पुं० [मं०] कामदेव। मदन।

मनोजय-वि० [मं०] (१) मन के समान वेगवान्। अपरम वेगवान् (२) विजय।

मन पुं० (१) विष्णु। (२) अनिल का वायु के एक पुत्र का नाम जो उसकी सिखा नाम की पत्नी से उत्पन्न हुआ था।

(३) वरु के एक पुत्र का नाम। (४) एक तीर्थ का नाम।

(५) छन्दोमयीर में होनेवाले ईद का नाम।

मनोजय-देहा स्त्री० [मं०] (१) बलिहारी। करिषारी।

(२) मारुदेव पुताणानुसार अग्नि की एक विधा का नाम।

(३) रत्न की माता का नाम। (४) कीर्ति हिय की एक लक्ष्मी का नाम।

मनोजयी-वि० [मं० मनोजयी] मनोजय। अति वेगवान्। बहुत तेज चलनेवाला।

मनोजयुधि-देहा स्त्री० [मं०] कामरुद्धि नामक सुव। इसे कर्पाट में कामज कहते हैं।

मनोज-वि० [मं०] मनोजय। मुंदर।

मन पुं० (१) ईद नामक वृक्ष।

मनोजय-देहा स्त्री० [मं०] मुंदरमा। मनोजयमा। गुरुगुपी।

मनोजय-देहा स्त्री० [मं०] (१) बलीही। मीनकरी। (२) ज-

वित्री। (३) मंदिर। शरण। (४) बलि बली। भावनंकी।

मनोजय-देहा पुं० [मं०] मन की वृत्तियों का निरोध। चित्त को संयतता से रोक्कर एकाग्र करना। मन का निग्रह।

मनोजयी-वि० [मं० मनोजयी] [मं० मनोजयी] मन को जलानेवाला। हृदयवादी।

मनोजय-वि० [मं०] जिसका मन दृष्टित हो। जो मन ही से पारी हो। जिसका अंतःकरण कल्पित हो। नुर या भाव हृदयवाला।

मनोजय-देहा पुं० [मं०] अंतरात्मा। चित्तक।

मनोजयान-देहा पुं० [मं०] संपूर्ण जाति का एक तान जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

मनोनिग्रह-देहा पुं० [मं०] चित्त की वृत्तियों का निरोध। मन का निग्रह। मन को यश में रचना। मनोवृत्ति।

मनोनीत-वि० [मं०] (१) जो मन के अनुसर हो। पराई। (२) गुना हुआ।

मनोमय-देहा पुं० [मं०] कामदेव।

मनोगिराम-वि० [मं०] मनोजय। मुंदर।

मनोय-देहा पुं० [मं०] कामदेव। मदन।

मनोजय-देहा पुं० [मं०] चंद्रमा। उ०—मनोजय कोमिमा भी पारीय।—मुद्ररत्न।

मनोमयन-देहा स्त्री० [मं०] कामदेव।

मनोमय-वि० [मं०] मनोमय। मानसिक।

मनोमयकोश-देहा पुं० [मं०] वैद्यक साधनानुसार पचि कोशों में से तीसरा कोश। मन, अहंकार और कर्मेन्द्रियाँ इस कोश के अंतर्भूत मानी जाती हैं। इसे चौदह वर्णों में बाँटा वर्ण बहते हैं।

मनोजय-देहा पुं० [मं०] मन की एकता करने की ईद पर पर्व पर लगाना। चित्त की वृत्ति का निरोध करने एकाग्र करना और उसे एक पदार्थ पर लगाना।

मनोजयी-देहा पुं० [मं०] कामदेव।

मनोजयान-देहा पुं० [मं०] [हि० मनोजय, मने/मनी] (१)

मन को प्रसन्न करने की क्रिया का भाव। मनःसंसार।

मनोजयी-वि० [मं०] दिव्य वदना। (१) एक देवता जिसकी का नाम।

मनोजय-देहा पुं० [मं०] अभिरामा। बाँज। इच्छा।

मनोजयुधि-देहा स्त्री० [मं०] एक वन का नाम जो पंच सुत वर्णों का होता है।

मनोजय-देहा स्त्री० [मं०] एक वन का नाम जो पंच सुत वन की हारों के दिन पड़ता है।

मनोजय-देहा स्त्री० [मं०] देवता। एक प्रकार की वरमा।

मनोजय-वि० [मं०] [मं० मनोजय] मनोजय। मनोजय। मुंदर।

संज्ञा पुं० सखी छंद के एक भेद का नाम । इसके प्रत्येक चरण में चौदह मात्राएँ होती हैं और ५, ४ और ५ पर विराम होता है । इसका मात्राक्रम २+३+२+२+३+२ है और तीसरी और दूसरी मात्रा सदा लघु होती है । उ०—जानकी नाथे, भजो रे । और सब पंथा तजो रे । संह है जग में तु यही । जो प्रभु सों जन सनेही ।

मनोरमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोरोचन । (२) सात सरस्वतियों में से चौथी का नाम । (३) बौद्ध धर्मानुसार बुद्ध की एक शक्ति का नाम । (४) छंदोमंजरी के अनुसार एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में दस वर्ण होते हैं जिनमें पहला, दूसरा, तीसरा, सातवाँ और नववाँ वर्ण लघु और शेष गुरु होते हैं । (५) महाश्वि चंद्रशेखर के अनुसार भार्या के ५० भेदों में एक जिनमें १२ गुरु और ३३ लघु वर्ण होते हैं । (६) दस अक्षर के एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नगण, रगण और अंत में गुरु होता है । उ०—लहत मुक्ति पाप हो छमा । (७) केशव के मतानुसार चौदह अक्षरों का एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक पद में ४ सगण और अंत में दो लघु होते हैं । उ०—यह शासन पड़े चुप कानन । (८) केशव के मतानुसार दोषक छंद का एक नाम जिसके प्रत्येक चरण में ४ भगण और दो गुरु होते हैं । (९) सुंदर के मतानुसार दस अक्षरों के एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में तीन सगण और एक गुरु होता है । उ०—मीते कछु घोस ही में जहाँ । (१०) मार्कंडेय पुराणानुसार इंद्रावर नामक एक गंधर्व की स्त्री का नाम ।

मनोरा—संज्ञा पुं० [सं० मनोहर] दीवार पर गोबर से बनाए हुए चित्र जो कार्तिक के महीने में दिवाली के पीछे बनाए जाते हैं । स्त्रियों और लड़कियों इन्हें रंग बिरंग के फूल पत्तों से सजाती हैं, प्रति दिन सायंकाल को पूजती हैं और दीपक जलाकर गीत गाती जाती हैं । त्रिस्तिया । लाटिया । उ०—वेहि घर सिय सौ मनोरा पूजा । मोकई चिह्न, सवति दुःख दूजा ।—जायसी ।

यौ०—मनोरा श्लोक = एक प्रकार का गीत जिसे स्त्रियाँ फागुन में गाती हैं और जिसके अंत में यह पद आता है । उ०—(क) कहूँ मनोरा श्लोक होई । कर औ फूल लिये सब कोई ।—जायसी । (ख) गोकुल सकल ग्वालिन्यो हो घर खेलें फाग, मनोरा श्लोक रे । तिन में श्रीराधा लखिली हो जिनको अधिक सुखम, मनोरा श्लोक रे ।—सूरदास

मनोराज—संज्ञा पुं० [सं० मनोराज] मानसिक विराम । मन की कल्पना । उ०—राग को न साजन न विराम भोग जाग । जिय, काया नहि छोड़े, देत, राखिषो कुआड को । मनोराज

करत भकाज भयो आनु लागि, चाई चार घोर पै ल व टूक टाट को ।—गुलसी ।

मनोरिया—संज्ञा स्त्री० [हि० मनोहर] एक प्रकार की सिकड़ी का जंजीर जिसकी कड़ियों पर चिकनी चपटी दाँल जड़ी रहती है और जिसमें घुँघरुओं के गुच्छे लगातार बंदनवार की तरह लटकते हैं । यह जंजीर स्त्रियों की साड़ी वा ओढ़नी के किनारे पर उस जगह टाँकी जाती है जो ओढ़ते समय ठीक सिर पर पड़ता है । घुँघट काढ़ने पर यह जंजीर मुँह और सिर के चारों ओर आ जाती है ।

मनोवती—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार मेरु पर्वत पर के एक नगर का नाम । (२) चित्रांगद विद्याधर की कन्या का नाम ।

मनोवांछा—संज्ञा स्त्री० [सं०] इच्छा । अभिलाषा । दयाहिता ।

मनोवांछित—वि० [सं०] इच्छित । मन माँगा । यथेच्छ । जैसे—इससे आपको मनोवांछित फल मिलेगा ।

मनोविकार—संज्ञा पुं० [सं०] मूलकी वह अवस्था जिसमें किसी प्रकार का सुख या दुःखद भाव, विचार वा विकार उत्पन्न होता है । जैसे राग, द्वेष, कौप, दया आदि चित्तवृत्तियाँ । चित्त का विकार ।

विशेष—मनोविकार किसी प्रकार के भाव वा विचार के कारण होता है और उसके साथ मन का लक्ष किसी पदार्थ वा बात की ओर होता है । जैसे—किसी को दुःखी देखकर दया अथवा अयाचारी का अयाचार देखकर क्रोध का उत्पन्न होना । जिस समय कोई मनोविकार उत्पन्न होता है, उस समय कुछ दारिद्रिक विक्रियाएँ भी होती हैं, जैसे—भोनाच, स्वेद, कंप आदि । पर ये विक्रियाएँ साधारणतः इतनी सूक्ष्म होती हैं कि दूसरों को दिखाई नहीं देती । हाँ, यदि मनोविकार बहुत तीव्र रूप में हो, तो उसके कारण होनेवाली शारीरिक विक्रियाएँ अवश्य ही बहुत स्पष्ट होती हैं और यहूदा मनुष्य की आकृति से ही उसके मनोविकारों का स्वरूप प्रकट हो आता है ।

क्रि० प्र०—उठना ।

मनोविज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें चित्त की वृत्तियों का विवेचन होता है । वह विज्ञान जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि मनुष्य के चित्त में कौन सी वृत्ति क्या, क्यों और किस प्रकार उत्पन्न होती है । चित्त की वृत्तियों की मीमांसा करनेवाला शास्त्र ।

मनोवृत्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] चित्त की वृत्ति । मनोविकार । वि० दे० "मनोविकार" ।

मनोवेग—संज्ञा पुं० [सं०] मन का विकार । मनोविकार ।

मनोव्यापार—संज्ञा पुं० [सं०] मन की क्रिया । संकल्प विकल्प । विचार ।

है। यह धानुओं को गठाने की पुरानी परियों को कूटकर बनाई जाती है।

मनी-वि० दे० "मना"। (क) जाति नाम अज्ञान धीमे नरक जमपुर मने।—मुल्लूरी। (ग) तिव मुपुन मॉह मने करे मनहु सो अघरीति मों मरे।—गुमान।

मनेअर-छंदा पु० [गं०] जिसी कार्योत्पत्ति आदि का वह प्रधान अधिकारी जिसका काम सब प्रकार की व्यवस्था और देख रेख करना हो। प्रबंधकर्ता।

मनी-अर्थ० [दि० मानना] मानो। मने। उ०—(क) मनो हाथे कीम मे कामयामा। इन्मान ऐसीलखी रामरामा।—केदार। (ख) मन्नाहूत गोपाल के कुंडल सोहत बान। धरयो मनो हिय घर समर ह्योही छसत निसान।—बिहारी।

मनोनामना-छंदा की० [दि० मन + नामना] हृष्टा। अभिलाषा। मनोगत-वि० [गं०] जो मन में हो। मन में आया हुआ। दिने।

मनोगति-छंदा की० [गं०] (१) मन की गति। चित्त-वृत्ति। (२) हृष्टा। आनंदिक अनीष्ट। सादिस। उ०—किन्तु विधिना की यही मनोगति थी।—दुर्गाचरित्।

मनोगयी-छंदा की० [गं०] हृष्टा। अभिलाषा।

मनोगुमा-छंदा की० [गं०] मीमंसित।

मनोगुति-छंदा की० [गं०] प्रेम साक्षात्पुस्तक मन को अनुभव प्रकृति से हटाने की विद्या या भाष।

मनोज-छंदा पु० [गं०] कामदेव। मदन।

मनोजय-वि० [गं०] (१) मन के समान योगवान्। अर्थात् योगवान् (२) विजयुष्य।

मंदा पु० (१) विष्णु। (२) अजित या वायु के एक पुत्र का नाम जो उसकी विद्या नाम की पत्नी से उत्पन्न हुआ था। (३) दक्ष के एक पुत्र का नाम। (४) एक तीर्थ का नाम। (५) छंदे मर्त्यतर में होनेवाले ईश्वर का नाम।

मनोजय-छंदा की० [गं०] (१) कलिकारी। करिषारी। (२) मार्कंडेय पुराणानुसार अजि की एक विद्या का नाम। (३) वरद की माता का नाम। (४) कीच द्वीप की एक नदी का नाम।

मनोजयी-वि० [गं० मनोजय] मनोजय। अजित योगवान्। बहुत तेज चलनेवाला।

मनोजयुद्धि-छंदा की० [गं०] कामरूप नामक सुदृढ़ होने केपार में कामरूप कहते हैं।

मनोजय-वि० [गं०] मनोजय। सुंदर।

मंदा पु० (१) पुत्र नामक पुत्र।

मनोजय-छंदा की० [गं०] सुंदरता। मनोजयता। नृकपूरणी।

मनोजय-छंदा की० [गं०] (१) कलीकरी। मंदरका। (२) ज्ञा-

विष्ठी। (३) मरिचा। ताताप। (४) वीह बभेता। भावमंदी।

मनोवृद्ध-छंदा पु० [गं०] मन की वृत्तियों का निरोध। चित्त को चंचलता से रोक्कर एकाग्र करना। मन का निग्रह।

मनोवाही-वि० [गं० मनोवाहिन] [गं० मनोवाही] मन की असन्तोषाया। हृदयवाही।

मनोवृद्ध-वि० [गं०] जिसका मन दृढ़ हो। जो मन ही के पारी हो। जिसका अंतःकरण दृढ़ हो। बुद्ध या ज्ञान हृदयवाला।

मनोवैयथा-छंदा पु० [गं०] अंतरायता। विवेक।

मनोवैयथा-छंदा पु० [गं०] संतुलन जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

मनोनिग्रह-छंदा पु० [गं०] चित्त की वृत्तियों का निरोध। मन का निग्रह। मन को वन में रखना। मनोमुक्ति।

मनोनील-वि० [गं०] (१) जो मन के अनुकूल हो। पर्वर। (२) पुनः हुआ।

मनोमय-छंदा पु० [गं०] कामदेव।

मनोभिराम-वि० [गं०] मनोज। सुंदर।

मनोभू-छंदा पु० [गं०] कामदेव। मदन।

मनोभूत-छंदा पु० [गं०] चंद्रमा। उ०—मनोभूत भेदिना भी धरीरम्।—मुल्लूरी।

मनोभयन-छंदा की० [गं०] कामदेव।

मनोमय-वि० [गं०] मनोवृद्ध। मानसिक।

मनोमयकोय-छंदा पु० [गं०] वैदेशी साक्षात्पुस्तक तब कोमों में से साक्षात् होता। मन, अहंकार और कर्मविद्याएँ इस कोष के अंतर्गत मानी जाती हैं। इनसे बौद्ध दर्शन में साक्षात् संबंध बहते हैं।

मनोयोग-छंदा पु० [गं०] मन को एकाग्र करके किसी एक पदार्थ पर लगाया। चित्त की वृत्ति का निरोध करके एकाग्र करना और उसे एक पदार्थ पर लगाया।

मनोयोगि-छंदा पु० [गं०] कामदेव।

मनोवैयथा-छंदा पु० [गं०] [दि० मनोजय, मनोजयनी] (१) मन को अग्रसर करने की विद्या का भाव। मना साक्षात्पुस्तक। मनोविनोद। दिल बहावा। (२) एक हीना विद्या का नाम।

मनोवैयथा-छंदा पु० [गं०] अभिलाषा। वीरता। हृष्टा।

मनोवैयथा-छंदा की० [गं०] एक मन का नाम जो वैयथ्य नृपीया को होता है।

मनोवैयथा-छंदा की० [गं०] एक मन का नाम जो वैयथ्य नृपीया की हारपी के दिन पढ़ता है।

मनोवैयथा-छंदा की० [गं०] एक प्रकार की अक्षता।

मनोवैयथा-छंदा [गं०] [गं० मनोजय] मनोजय। मनोवैयथा। सुंदर।

संज्ञा पुं० सखी छंद के एक भेद का नाम । इसके प्रत्येक चरण में चौदह मात्राएँ होती हैं और ५, ४ और ५ पर विराम होता है । इसका मात्राक्रम २+३+२+२+३+२ है और तीसरी और दूसरी मात्रा सदा लघु होती है । उ०—जानकी नाथे, भनो रे । और सत्र धंधा तनो रे । सार है जग में तु येही । को प्रभू सों जन सनेही ।

मनोरमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोरचन । (२) सात सरस्वतियों में से चौथी का नाम । (३) यौद्ध धर्मानुसार युद्ध की एक शक्ति का नाम । (४) छंदोमंजरी के अनुसार एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में दस वर्ण होते हैं जिनमें पहला, दूसरा, तीसरा, सातवाँ और नवाँ वर्ण लघु और शेष गुरु होते हैं । (५) महाश्वि चंद्रमेखर के अनुसार आर्या के ५० भेदों में एक जिनमें १२ गुरु और ३३ लघु वर्ण होते हैं । (६) दस अक्षर के एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नाग, राग और अंत में गुरु होता है । उ०—लहत मुक्ति पाप हो छमा । (७) केशव के मतानुसार चौदह अक्षरों का एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक पाद में ४ सगण और अंत में दो लघु होते हैं । उ०—यह शासन पठये द्रुप कानन । (८) केशव के मतानुसार दोषध छंद का एक नाम जिसके प्रत्येक चरण में ४ सगण और दो गुरु होते हैं । (९) चूदन के मतानुसार दस अक्षरों के एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में तीन सगण और एक गुरु होता है । उ०—नीते कछु घोस ही में जहाँ । (१०) मार्कंडेय पुराणानुसार इंद्रावर नामक एक गंधर्व की स्त्री का नाम ।

मनोरा—संज्ञा पुं० [सं० मनोहर] दीवार पर गोबर से बनाए हुए चित्र जो कार्तिक के महीने में दिवाली के पीछे बनाए जाते हैं । किर्या और लड़कियाँ इन्हें रंग धिरंग के फूल पत्तों से सजाती हैं, प्रति दिन सायंकाल को पूजती हैं और दीपक जलाकर गीत गाती जाती हैं । सिंधिया । छोड़िया । उ०—जहाँ घर पिय सौ मनोरा पूजा । मोकहैं बिरह, सवति दुःख दूजा ।—जायसी ।

यौ०—मनोरा ह्रस्व = एक प्रकार का गीत जिस स्त्रियों फागुन में गाती हैं और जिसके अंत में यह पद आता है । उ०—(क) कहूँ मनोरा ह्रस्व होई । कर औ फूल लिये सय कोई ।—जायसी । (ख) गोकुल सकल खालिनी हो घर खैले फाग, मनोरा ह्रस्व करे । तिन में श्रीधारा खड़िली हो जिनको अधिक सुहाग, मनोरा ह्रस्व करे ।—सूर

मनोराज—संज्ञा पुं० [सं० मनोरज] मार्गसिंह कल्पना । मन की कल्पना । उ०—राग को न साज न विराग जोग जाग । निय, काया नाई छेदे, देह टारिबो कुठार को । मनोराज

करत अकाज भयो आशु लागि, चाहे चार चौर पै लहे न टूक टाट को ।—मुलसी ।

मनोरिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० मनोहर] एक प्रकार की सिकड़ी का जंजीर जिसकी कड़ियों पर चिकनी चपटी दाँल जड़ी रहती है और जिसमें छुँचरुओं के गुच्छे लगातार बंदनवार की तरह लटकते हैं । यह जंजीर स्त्रियों की साड़ी या ओढ़नी के किनारे पर उस जगह टाँकी जाती है जो ओढ़ते समय ठीक सिर पर पड़ता है । छुँचट काढ़ने पर यह जंजीर छुँह और सिर के चारों ओर आ जाती है ।

मनोचिती—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार मेरु पर्वत पर के एक नगर का नाम । (२) चित्रांगद विद्याधर की कन्या का नाम ।

मनोवांछा—संज्ञा स्त्री० [सं०] इच्छा । अभिलाषा । स्वाहिसा । **मनोवांछित—वि०** [सं०] इच्छित । मन मँगाना । यथेच्छ । जैसे—इससे आपको मनोवांछित फल मिलेगा ।

मनोविकार—संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य की वह अवस्था जिसमें किसी प्रकार का सुख या दुःख भाव, विचार या विकार उत्पन्न होता है । जैसे राग, द्वेष, क्रोध, दया आदि चित्तवृत्तियाँ । चित्त का विकार ।

विशेष—मनोविकार किसी प्रकार के भाव या विचार के कारण होता है और उसके साथ मन का लक्ष किसी पदार्थ या बात की ओर होता है । जैसे—किसी को दुःखी देखकर दया अथवा अत्याचारी का अत्याचार देखकर क्रोध का उत्पन्न होना । जिस समय कोई मनोविकार उत्पन्न होता है, उस समय कुछ शारीरिक विक्रियाएँ भी होती हैं, जैसे—रोनाच, स्वेद, कंप आदि । पर ये विक्रियाएँ साधारणतः हृत् की सूक्ष्म होती हैं कि दूसरों को दिखाई नहीं देती । हाँ, यदि मनोविकार बहुत तीव्र रूप में हो, तो उसके कारण होनेवाली शारीरिक विक्रियाएँ अवश्य ही बहुत स्पष्ट होती हैं और बहुधा मनुष्य की आकृति से ही उसके मनोविकारों का स्वरूप प्रकट हो जाता है ।

कि० प्र०—उठना ।

मनोविज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें चित्त की वृत्तियों का विवेचन होता है । वह विज्ञान जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि मनुष्य के चित्त में कौन सी वृत्ति कब, क्यों और किस प्रकार उत्पन्न होती है । चित्त की वृत्तियों की मीमांसा करनेवाला शास्त्र ।

मनोवृत्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] चित्त की वृत्ति । मनोविकार । वि० दे० “मनोविकार” ।

मनोवेग—संज्ञा पुं० [सं०] मन का विकार । मनोविकार ।

मनोव्यापार—संज्ञा पुं० [सं०] मन की क्रिया । संकल्प विकल्प । विचार ।

महाराज तुम तो ही साथ । मम कन्या से भयो अपराध ।
—सुर ।

ममकार-संज्ञा पुं० [सं०] किसी की निजी संपत्ति । अपनी कमाई हुई संपत्ति ।

ममता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) 'यह मेरा है' इस प्रकार का भाव । किसी पदार्थ को अपना समझने का भाव । ममत्व । अपनापन । (२) स्नेह । प्रेम । (३) वह स्नेह जो माता का पुत्र के साथ होता है । (४) मोह । लोभ । (५) गर्व । अभिमान ।

ममतायुक्त-वि० [सं०] (१) अभिमायी । (२) कृपण । (३) जिसमें ममता हो ।

ममत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ममता । अपनापन । (२) स्नेह । (३) गर्व । अभिमान ।

ममयी-संज्ञा स्त्री० [सं० वारणी] घनतुलसी । बघई ।

ममिया-वि० [हिं० मामा + या (प्रत्य०)] जो संबंध में मामा के स्थान पर पड़ता हो । मामा के स्थान का । जैसे—ममिया ससुर, ममिया सास । (इसका प्रयोग संबंधसूचक शब्दों के साथ होता है ।)

ममियाउर-संज्ञा पुं० दे० "नमियाउर" ।

ममियाउरा-संज्ञा पुं० [हिं० मामा + औरा (प्रत्य०)] मामा का घर । मामा ।

ममीरा-संज्ञा पुं० [च० ममीराम] हल्दी की जलित के एक पौधे की जड़ जिसकी कई जातियाँ होती हैं । यह आँख के रोगों की अथर्व औषधि मानी जाती है । यह पौधा समशीतोष्ण प्रदेशों में होता है । आसाम के पूर्व के देशों के पहाड़ी स्थानों में भी यह बहुत होता है । कुछ दूसरे पौधों की जड़ें भी, जो इससे मिलती जुलती होती हैं, ममीर के नाम से बिकती हैं और उन्हें मकली ममीरा कहते हैं ।

मयंक-संज्ञा पुं० [सं० मयङ्क] चंद्रमा । उ०—सरद-मयंक वदन छवि सीवों । चाह कपोल चिबुक दूर मीवों ।—तुलसी ।

मयंद-संज्ञा पुं० [सं० मयंद] (१) सिंह । उ०—पानि सों बैठे नरिंद भरिदहि मानो मयंद मयंद पछाणो ।—भूपण । (२) राम की सेना के एक बानर अधिनायक का नाम । उ०—द्विचिद मयंद नील नल अंगदादि विचटासि । द्वि-सुख केहरि कुमुद जब जामवंत यलरासि ।

मयंदी-संज्ञा स्त्री० [देश०] छोटे की छोटी सामी जो गाढ़ी में घबो की नाम के दोनों ओर उस छेद के मुँह पर खोदकर पैदाई जाती है, जिसमें घुरे का सिरा रहता है । सामी ।

मय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊँट । (२) अश्वतर । खबर । (३) घोड़ा । (४) सुख । (५) एक देश का नाम । (६) पुराणा-नुसार एक प्रसिद्ध दानव का नाम जो बड़ा शिंखी था । इसे असुरों और दैत्यों का शिखी कहते हैं । वांस्मीकीय

रामायण उत्तर कांड में मय को दिति का पुत्र 'दैत्य' लिखा है । मायाओ और हुंदुमि को उसका पुत्र और मंदोदरी को उसकी कन्या लिखा है । (७) अमेरिका देश के मेक्सिको नामक देश के प्राचीन अधिवासी जो किसी समय में बहुत अधिक उन्नत और सभ्य थे और जिनकी सम्प्रदा भारतवासियों की सम्प्रदा से बहुत कुछ मिलती जुलती है । प्रत्य० [सं०] [सं० मयो] तद्विध का एक प्रत्यय जो तद्रूप, विकार और प्रासुर्य अर्थ में शब्दों के साथ लगाया जाता है । जैसे आनंदमय । उ०—(१) तद्रूप—सिया राममय सय जग जाती । करी प्रणाम जोरि जुग पानी ।—तुलसी । (२) विकार—अभिय मूरिमय चूरन थाल । समन सकल भव रज परितार ।—तुलसी । (३) प्रासुर्य—मुद मंगल मय संत समान् । जो जग जंगम सीरथारान् ।—तुलसी । संज्ञा स्त्री० दे० "मी" ।

मय्य० दे० "मी" ।
मयगल-संज्ञा पुं० [सं० मंदकज, प्र० मयगत] मत्त हाथी । मन्द-मस्त हाथी ।

मयन-संज्ञा पुं० [सं० मदन] कामदेव । उ०—कुंद हुं तुम देह, उमारमन कहवा अयन । जाहि दीन पर नैह, करहु कृपा मदन मयन ।—तुलसी ।

मयना-संज्ञा स्त्री० दे० "मैना" ।

मयमंत, मयमन्त-वि० [सं० मयमन्त मस्त । मयमन्त । उ० (क) महाराज दूसरथ पुनि सोयत । हा रघुपति लछिमन वैदेही सुमिरि सुमिरि गुन रोवत । प्रिया चरित मयमंत न सुखत उति पखाल मुख घोवत । महा विपरीत शीत कछु औरै बार बार मुख ओवत ।—मूर । (ख) जोयन अस मयमंत न कोई । नये हमित जो अँकुश होई ।—जायसी ।

मयप्र, मयप्रक-संज्ञा पुं० [सं०] यन्त्रमय ।

मयस्वर-वि० [प्र०] (१) मिलता या मिला हुआ । प्राप्त । उपलब्ध । सुखम । उ०—मयद महमुद नै यह कंहर पंडितजी की प्रसन्न किया कि आपके इस धूल-धुल्लर जूते की धूल ही के प्रसाद से यह जगलीन सुते मयस्वर हुआ है ।—द्विवेदी ।

मि० प्र०—होना ।

मुहरा—मयस्वर आना = मिलना । प्राप्त होना ।

मया-संज्ञा स्त्री० [सं०] चिकित्सा ।

ॐ संज्ञा स्त्री० [सं० मया] (१) माया । भ्रमजाल । इंद्र जाल । (२) जगत । संसार । (३) जीव और मरीर का संबंध । जीवन । उ०—तुम जिय मैं जन जो लहि मया । कहे जो जीव करे सो क्या ।—जायसी । (४) प्रेम-यात । प्रेम-बंधन । मोह । उ०—(क) बहुत मया सुनि राजा फूटा । चला साथ पहुँचावे मूला—जायसी । (ख) का रानी

ही गरी सोई । ओहि कहैं मया करे भल सोई ।—जायसी ।
 (ग) मयया यहें शूरवार बहरी । बंसी गुननि थार सो पही ।
 जो बेल पितर पर दया । बाल कहे सो बरिष मया ।—
 केशव । (घ) दया । अनुपमा । छोड़ । उ०—(क) गहरी
 चक्रर बोहिका छेदि तन मया परैत । मयनम रकन भरा
 यहि तुम पुनि कीन्दी सोइ ।—जायसी । (ख) कहि भीरी
 बन बेति कहैं तुम देखी । नैर-नंदन । वृत्तो ही माळी
 कहैं सें पावई गनु चंदन ।..... कहि घी सुगी मया करि
 हमसों कहिघी गनुप मराठ । मुरदास प्रभु के तुम संगी
 ही कहैं परम दयाळ ।—मूर ।

मयार-वि० [१० मारा, वि० मया] [१० मयरी] दयालु ।
 दयालु । उ०—(क) रोषत पद उठा संसारु । महादेव
 तब भयो मयारु ।—जायसी । (ख) सारी भरी मुख धोखे
 को आपनी बिसारी सारी सचारी भलि देगत मयारी है ।—
 रघुनाथ ।

मयारी-छंदा की० [देग०] (१) वह छंदा या धरन जिस पर
 हिकोछे की राखी छटकाई जाती है । उ०—मुनि चिनय
 भीरनि चिहंति धोले विषकमो धुनि धारि । पांच ग्रंथ
 कंचन के रांच पंचि राजनि मरदा मयारि । पड़वी रुगे अग
 नाग बहुरै ग वनी हाँसी धारि । औंवा मरै अग्नि केलि भूमे
 अगर नागर मारि ।—मूर । (२) छाजन की वह धरन
 जिस पर बहुधा के आधार पर बैठे रहती है ।

मयी-छंदा की० [१०] छंदनी ।

मय्य० की० दे० "मय" ।

मयु-छंदा पुं० [१०] (१) विचार । (२) मूक ।

मयुराज-छंदा पुं० [१०] कुंजर ।

मयुष्ट-छंदा पुं० [१०] बनरौंग ।

मयुष्टक-छंदा पुं० [१०] बनरौंग ।

मयुक्त-छंदा पुं० [१०] मयूर ।

मयूर-छंदा पुं० [१०] (१) चिरन । सनिय । (२) डींगि । प्रकार ।

(३) शशाप । (४) सीमा । (५) कीज । (६) वन ।

मयूरानिरप-छंदा पुं० [१०] मयूर के एक भेद का नाम ।

मयूरी-छंदा की० [१०] मयूरों का एक एक का नाम ।

मयूर-छंदा पुं० [१०] [१० मयूर] (१) मौर । (२) मयूर
 निरा नामक शूर । (३) एक अमुर का नाम । (४) मारै-
 देव पुतागनुधर शुभेष्ट-वर्ष के उषा के एक वर्ष का
 नाम ।

मयूरक-छंदा पुं० [१०] (१) मयूरानि । विषय । (२) लुनिया ।

(३) मौर । (४) मयूरानि नामक शूर ।

मयूरचैतु-छंदा पुं० [१०] मयूर का एक नाम ।

मयूरानि-छंदा की० [१०] मयूरों का एक एक का नाम ।
 नाम विषय के संबंध का नाम । अग्नि में वन का नाम, विर

मयन, मयन और भंन में मयन होता है । (म य व व य
 म य म) ।

मयूरभीयक-छंदा पुं० [१०] लुनिया ।

मयूरचक्र-छंदा पुं० [१०] एक प्रकार का पहरी ।

मयूरचूड़-छंदा पुं० [१०] पुनर ।

मयूरचूड़ा-छंदा की० [१०] मयूरानि नामक शूर ।

मयूरजंघ-छंदा पुं० [१०] सोनागाड़ा । रसोनाक ।

मयूरनृत्य-छंदा पुं० [१०] एक प्रकार का नाच जिसमें विरह
 अधिक होती है ।

मयूरपदक-छंदा पुं० [१०] मयूरपात । मयूरान ।

मयूररथ-छंदा पुं० [१०] कार्निडेव । रंकर ।

मयूरविदला-छंदा की० [१०] मोहवा । भंवा ।

मयूरशिला-छंदा की० [१०] मयूरानि नामक शूर ।

मयूरसारिणी-छंदा की० [१०] तोड़ भंगों के एक छंद का
 नाम जिसके एक एक पर में राग, जगन तित राग और
 भंन में गुरु होता है ।

मयूरसारी-वि० [१०] मयूरानि । मयूरानि ।

मयूरस्थल-छंदा पुं० [१०] पुतागनुधर एक तीर्थ का नाम ।

मयूरिका-छंदा की० [१०] (१) भंवा । मोहवा । (२) एक
 प्रकार का विष का बीड़ा ।

मयूरेश-छंदा पुं० [१०] कार्निडेव ।

मयोभर-छंदा पुं० [१०] मय दानव । [१० दे० "मय"] ।

मयोमय-छंदा पुं० [१०] मय ।

मयोधू-वि० [१०] यश के एक से उदय ।

मयंद-छंदा पुं० [१०] मयंद का नाम । मयंद ।

मयंदकोश-छंदा पुं० [१०] मयंद का नाम । (१) एक
 भाग जिसमें 'मय' का रस रहता है । मयंदकोश ।
 (२) मय-मयिष्यो का उषा ।

मय-छंदा पुं० [१०] (१) मय । (२) मय । मय (१)
 मय ।

छंदा की० दे० "मय" ।

मयक-छंदा पुं० [१०] (१) मय । मय । (२) वह लोग जिसमें
 घोड़े की काक में अनेक मयूरानि पाए जाते हैं । वह
 भीषण संक्रामक रोग जिसमें बहुत से लोग मरते हैं ।

(३) मयकेव पुतागनुधर एक मयूर का नाम ।

छंदा की० [१०] मयक-छंदा का नाम । (१) दयालु मयूर
 का नाम । छंदा । दयालु । उ०—मयकेव दानव मयरी है
 काक मयूर मय । होहा होरी कति कहे विन मयूरानि है ।—
 शिवरी । (२) दे० "मयक" ।

मयक-छंदा पुं० दे० "मयक" ।

मयक-छंदा पुं० [१०] मय ।

मयकनाम-छंदा पुं० [१०] मयूर की मयि की वन की

सब से अंतिम अवस्था । आटा की चरम अवस्था जो प्रायः भमावास्था और पूर्णिमा से दो चार दिन पहले होती है ।

मरकना-कि० प्र० [यत्न०] (१) दबकर मरमारना । दबाव के नीचे पदक टूटना । दबना । उ०—सुनत ही सौतिन करेजा करकन लागयो मरकन लागयो मान भवन मन हान्यो सो ।—देव । (२) दे० “मुदकना” ।

मरकहा-वि० [हि० मरना + भा प्रत्य०] [ली० मरकही] सींग से मारनेवाला । जो सींग से बहुत मारता हो । (पशु)

मरकाना-कि० सं० [हि० मरकना] (१) दबाकर चूर करना । हतना दबाना कि मरमराहट का शब्द उत्पन्न हो । तोड़ना । (२) दे० “मुदकना” ।

मरकूम-वि० [म०] [ली० मरकूम] लिखित । लिखा हुआ ।

मरकोटी-संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की मिठाई ।

मरखंडा-वि० दे० “मरखन्ना” ।

मरखन्ना-वि० [हि० मरना + खा (प्रत्य०)] [ली० मरखन्ना] सींग से मारनेवाला । मरकहा । (पशु)

मरखम-संज्ञा पुं० [हि० मरखम] वह खँडा जो कातर में गाढ़ा रहता है ।

मरगजा-वि० [हि० मरना + गजना] मला दल । मसला हुआ । गोंजा हुआ । मलित दलित । उ०—(क) सय अरगज मरगज भा लोचन पीत सरोज । सत्य कहहु पद्मावत सखी परी सय खोज ।—जायसी । (ख) घर पठई प्यारी बंक भरि । कर अपने मुख परसि प्रिया के प्रेम सहित दोऊ भुज धरि धरि । सँग सुख छूटि हरष भई हिरदय बली भवन भासिनि गजगति करि । अंग मरगजी पयोरी राजति छवि निरखत डाढ़े डाढ़े हरि ।—चूर । (ग) तुम सौतिन देखत दई अपने हिय से लाल । फिरत सबन में डहडही डही मरगजी भाल ।—विहारी ।

संज्ञा पुं० दे० “मलगजा” ।

मरगी-संज्ञा स्त्री० [हि० मरना + गी० का० गर्ग] कलनेवाला रोग । मरक । मरी ।

मरगोल, मरगोला-संज्ञा पुं० [म०] गाने में ली जानेवाली गिटफिरी । स्वरः कंपन । (संगीत)

क्रि० प्र०—मरना ।—लेना ।

मरघट-संज्ञा पुं० [सं०] यह घाट वा स्थान जहाँ मुँदें फूँके जाते हैं । मुरदों के जलाने की जगह । स्मशान घाट । मसान । उ०—(क) जा घर साधु न सेवह पारमहा पति नाहि । ते घर मरघट सारिखा भूत बसे ता माहि ।—कबीर । (ख) हरिब्रह्म का पुत्र रोहित मर गया । उस मृतक को ले रानी मरघट गई ।—लखर ।

मुखा०—मरघट का सुतना = प्रेत ।

वि० (१) बहुत ही क्रूर और विकराल आकृति का । चेष्टाहीन । क्रूर । (२) जो सदा उदास रहता हो । मनहूस । रोना ।

मरचा-संज्ञा पुं० दे० “मिरचा” ।

मरचोधा-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की तरकारी जिसका व्यवहार युरोप में अधिकता से होता है ।

मरज-संज्ञा पुं० [म० मर्ज] (१) रोग । घीमारी । उ०—(क) आली कलू को कलू उपचार करै पै न पाइ सकै मरजीरी ।—पद्माकर । (ख) नेह तरजनि बिरहागि सरजनि सुनि मान मरजनि गरजनि बदरान की ।—श्रीपति । (२) घुरी छत । खराब आदत । कुदेव । क्रि०—भापको तो प्रकने का मरज है । (इस अर्थ में इसका प्रयोग अनुचित बातों के लिये होता है ।)

मरजाद-संज्ञा स्त्री० [सं० मर्यादा] (१) सीमा । हद्द । उ०—गुरु नाम है गम्य का शिष्य सीख ले सोय । बिनु पद है मरजाद बिनु गुरु शिष्य नहीं होय । (ख) सुंदरता मरजाव भवानी । जाह न कोटिब यदन बखानी ।—तुलसी । (२) प्रतिष्ठा । आदर । इज्जत । सद्भाव । उ०—(क) गुरु मरजाद न भक्तिन नहि हिय का अधिकार । कहै कबीर व्यभिचारिणी भाठ पहर भरतार ।—कबीर । (ख) यह जो अंध बीस हू लोचन छल बल करत भासि सुख हेरी । भाइ शृंगार सिंह बलि साँगत यह मरजाद जात प्रभु तेरी ।—चूर ।

क्रि० प्र०—खोना ।—जाना ।—रखना ।

(३) रीति । परिवादी । नियम । विधि । उ०—संत संजु श्रीपति भगवादा । सुनिय जहाँ तहँ अस मरजादा ।—तुलसी ।

मरजादा-संज्ञा स्त्री० दे० “मर्यादा” वा “मरजाद” ।

मरजिया-वि० [हि० मरना + जीना] (१) मरकर जीनेवाला । जो मरने से बचा हो । उ०—(क) तस राजै रानी कंठ लाई । पिब मरजिया नारि जनु पाई ।—जायसी । (२) मृतप्राय । जो मरने के समीप हो । मरणासन्न । उ०—पद्मावति जो पावा पीक । जनु मरजिये परा तनु बीक ।—जायसी । (३) जो प्राण देने पर उतारु हो । मरनेवाला । उ०—अब यह कौन पानि में पीया । मै तन पॉल पतंग मरजीया ।—(७) अधमरा । उ०—जहँ अस परी समुंद नग दीया । तेहि किम जिया चढ़े मरजीया ।—जायसी । संज्ञा पुं० जो पानी में डूबकर उसके भीतर से चीन्नें को निकालता है । समुद्र में डूबकर उसके भीतर से मोती आदि निकालनेवाला । जिबकिया । उ०—(क) जस मरजिया समुंद भँसि मारे हाथ आव तव सीप । इँवि छेहु जो स्वर्ग दुआरे चढ़े सो ।—सिंहल दीप ।—जायसी । (ख) कविता चेला विधि गुरु सीप सेवारी बुंद । तेहि मानुष की आस का जो मरजिया समुंद ।—जायसी । (ग) तन बसु

मन मरजिया एक बार पेंसि लेहू । की लाक है नीरुमे की
छाहय विह देह ।—इसी ।

मरजी-पंजा खी० [५०] (१) हृत्ता । कामना । चाह । उ०—

(क) बरजी हमी भीर सुनाहये की कहि तोष लक्यो सिगरी
मरजी ।—नोष । (ख) दुरजी किने जिते धन मरजी ।
खोत्रहि पद पर जिनिय लूष करजो ।—गोपाल । (२)
प्रसन्नता । सुनी । (३) भागा । स्वीकृति । उ०—(क) या
रिधि सारिरे सारिरे की म मिली मरजी न मरजा न मरजाय ।—
पद्माकर । (ग) हनकी राबकी मरजी करिके अपने मन को
समुत्तपने दी ।—आरु । (ग) मरजी ओ उठी विष की
सुधि है जगला चमके न रहे बरजी ।

मरजीया-पंजा पु० दे० “मरजिया” । उ०—मोती उपने छीप
मि छीप सगुरर मोहि । कोह मरजिया कादेनी जीवन की
गम माहि ।—इसी ।

मरजु-पंजा पु० [१०] (१) मरने का भाव । मृत्यु । मौत ।
(२) पण्यनाम । घटना ।

मरजुधर्म-वि० [१० मरजुधर्म] मरणशील । मरणवशात् ।
को मरना हो ।

मरजु-पंजा पु० [१० मरजु] मरण । मृत्यु । मौत ।

मरतवा-पंजा पु० [५०] (१) पर । पदवी ।

मि० प्र०—गना ।—बदना ।—बदना ।—मिटना ।

(२) बार । दफा । जैसे—मि आरके पर कई मरतवा
गया था ।

मरतवान-पंजा पु० दे० “अयुधवान” ।

मरदु-पंजा पु० दे० “मर्द” । उ०—अर्थ धर्म काम मोक्ष बसत
विशेषनि में कसी करामान खोगी मागना मरदु की ।
—गुलामी ।

मरदुई-पंजा खी० [१० मरदुई (मर्दुई)] (१) अनुपस्थित ।
आरणीय । (२) सादस । (३) मोला । बदामुली ।

मि० प्र०—इरना ।—रिगना ।

मरदुन-पंजा पु० दे० “मर्दन” ।

मरदुना-वि० ग० [१० मरदुन] (१) मराना । मर्दन करना ।
मचना । उ०—(क) अजि कहि उरख माया । मरदुई
मोहि जनि मरना ।—गुलामी । (ख) वज्र मरदु मर
मदन सगु मुर भोक् पशव ।—गोपाल । (२) ध्वंस
काया । ध्वंस करना । उ०—ममन बसत कुल कलित
मरिष मरि देहि मो बलित सगु मरजी को पादिने । गुल-
मर मरि कल पुरि मरि वन केमि को देवत विनाय
करिबनने ।—देवत । (३) मरदुना । मरना । जैसे—
आर मरदुन ।

मरदुनिवा-पंजा पु० [१० मरदुन] वह धुल जो बड़े आरुमियों
के अंग में लेक मरदु लका करता है । सनि में लेक मरदुने-

वाडा सेवक । उ०—जिसे लेक मरदुनिवा आवे । इरने
सुगंध सुगंध अरुधावे ।—उरदु ।

मरदुनिवा-पंजा खी० [५०] (१) वीरता । दाना । सार ।
(२) सादस ।

मि० प्र०—रिगना ।

मरदुना-वि० [५०] (१) पुरा संघी । पुरानी वा । जैसे—

मरदुनी पैडक । (२) पुरा काता । जैसे—मरदुना मेर ।

(३) वीरता । जैसे—मरदुना काम ।

मि० प्र० [५० मरदुन] मरदुन नाम । वीरता रिगना ।

मरदुद-वि० [५०] (१) निरदृष्ट । (२) लुभा । मर ।

मरन-पंजा पु० दे० “मरण” ।

मरना-वि० म० [१० मरण] (१) प्राणियों वा वस्तुओं के
शरीर में देगा निकास होना जिससे उनकी साध कार्यादि
क्रियाएँ बंद हो जायें । मृत्यु को प्राप्त होना । उ०—(क)
साई की मल जाविओ मोति घटे मम विन । मरै सो दुष
मुमिल मरै जीवनमुमिलो निन ।—कबीर । (ख) बर त्रि
पन्न तोर बध करिहीं मुनि मारिष हर मायो । तमचंद्र के
हृदय मरैमो वाम पुरा कल जायो ।—गुरु । (ग) वृष
आवन उतर देन बड़े करिहें मरिहें करिहें कसु सारे ।—
गुलामी । (घ) मारिष को सादस जियो बड़ी विरह को रीत ।
री नि है पसुरी सखी सरसित मुमिल समीर ।—विहारी ।

मुहा०—मरना जीना = मरती मरती । गुहायुत अन्तर ।
मुघ दुःख । मरने की सुधी न होना वा न मिलना = निर-
तुल मुर्ति । मरना । शरद्वत का अन्तर होना । रिग मर
काव्य में रेंगा होना ।

(२) बहुत अधिक बड़ उदात्त । बहुत तुल्य उदात्त । बचना ।
उ०—(क) एक बार मरि मिर्मि ओ आवे । दूसर बार की
किन जाये ।—जगन्नी । (ग) तुमकी मरौतो न मरेव भेता-
नाथ को लो बोरिक कलेष करो मरौ छार हाकि मो ।—
गुलामी । (घ) तुमकी मेदि मेवम बीब मी, तम से सगु की
करी मेद से मरी ।—गुलामी । (ङ) हरिम दुई रिधि दीन
को तुम हो मीन मुजाय । सब निशि विनु देवे जी मी
बडी तुल्य भाव ।—रसनिधि ।

मुहा०—रिमी के रिने मरना = देहान्त होना । मर जाना ।
रिमी वा मरना = गुहायुत । अन्तर होना । मरदुना =
अन्तर का मरदुन । रिमी की वान वा मरना वा रिमी
वज के रिने मरना = दुःख मरदुन । मर विना = मर
करि बरिने रिमि हो जाना । उ०—गवने मर मरिदे की
हाथ की थी ।—दुलार । मरना जाना = (१) मर जाना ।
मर जाना । जैसे—मरदु देवे देवे मरना हो जगदी ।
(२) मर जाना । मर जाना ।

(३) मर जाना । मर जाना । मर जाना । जैसे—मर वा मरना ।

फल का मरना । (४) मृतक के समान हो जाना । लज्जा, संकोच या घृणा आदि के कारण सिर न उठा सकना । उ०—(क) यदि लाज मरियत ताहि तुम सों भयो नातो नाय जू । अथ और मुख नरिखे न ज्यों स्त्री राखिये रघुपाय जू ।—केशव । (ख) तब सुवि पदुमावति मन भई । संवरि विछोड़ मुरछि मरि गई ।—जायसी । (५) किसी पदार्थ का किसी विकार के कारण काम का न रह जाना । जैसे—आग का मरना, चूने का मरना, सुहागा मरना, धूल मरना ।

मुसल०—पानी मरना = (१) पानी का स्रोत की नींव में धँसना ।

(२) किसी के सिर कोई कलक आना । उ०—पुनि पुनि पानि बही ठौं मरे । फेर न निकसे जो तहें परे ।—जायसी ।

(३) खेल में किसी गोदी या लड़के का खेल के नियमानुसार किसी कारण से खेल से अलग किया जाना । जैसे—

गोदी का मरना, गोहूँयाँ का मरना इत्यादि । (४) किसी वेग का शांत होना । दबना । जैसे—भूख का मरना, प्यास का मरना, सुल का मरना, पित्त का मरना इत्यादि । उ०—

मुँद मोरे मोरे ना मरति रिसि केनाबदास मारहु घौं कहे कमल सनाल सौं ।—केशव । (८) टाढ़ करना । जलना ।

(९) क्षमलना । पलताना । रोना । (१०) हारना । बर्बाद होना । पराजित होना । उ०—यू मन नाथ मा के स्वाँसा । जो पै मरिई आप कर नासा । चारिहु लोक चार कहु बाता । गुल लाव मन जो सो राता ।—जायसी ।

मरनि०—संज्ञा स्त्री० दे “मरनी” ।

मरनी०—संज्ञा स्त्री० [हि० मरना] (१) मरुतु । मीत । (२) दुःख । कष्ट । हैरानी । उ०—सुनि योगी की अम्मर करनी । म्योरी विरह बिया की मरनी ।—जायसी । (३) वह शोक जो किसी के मरने पर उसके संबंधियों को होता है ।

(४) वह क्राय जो किसी के मरने पर उसके संबंधी लोग करते हैं ।

यौ०—मरनी करनी = मरुतु और मृतक की अंत्येष्टि किया ।

मरवुली०—संज्ञा स्त्री० [हि० मरना] एक प्रकार का कंद जो पहाड़ी प्रदेशों में उत्पन्न होता है । इसके टुकड़े गय गय भरे के गह्वे खोद कर बोए जाते हैं । बोवाई सदा हो सकती है; पर गर्मी के दिनों में इसमें पानी देने की आवश्यकता होती है । यह दो प्रकार की होती है—मीठी और तीक्ष्ण या गला काटनेवाली ।

दोनों से तीक्ष्ण बनाया जाता है । इसकी जड़ को, आलू या कंद भी कहते हैं । कंद को धोकर उसके लच्छे बनाते हैं । फिर लच्छे को दवाकर वा कुचलकर रस निकालते हैं जिसे सुसाकर सच बनता है जो तीक्ष्ण कहलाता है । रस निकाले हुए खोदप को भी सुखा और पीसकर कोका के नाम से बेचते हैं । इसकी खेती पहाड़ों में अधिकता से होती है ।

मरभुखला-वि० [हि० मरना + भूख] (१) भूख का मारा हुआ ।

भुखल । (२) कंगाल । दरिद्र ।

मरम-संज्ञा पुं० दे० “मर्म” ।

मरमती०—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जिसकी लकड़ी कड़ी और बहुत टिकाऊ होती है और खेती के औजार और घर के सँगे आदि बनाने के काम आती है । यह पेड़ छोटा होता है और भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में मिलता है । यह बीजों से उत्पन्न होता है ।

मरमर०—संज्ञा पुं० [यू०] एक प्रकार का दानेदार चिकना पत्थर जिस पर घोटने से अच्छी चमक आती है । इसमें चूने का अंश अधिक होता है और इसे जलाने से अच्छी कड़ी निकलती है । यद्यपि संसार के भिन्न भिन्न प्रदेशों में अनेक रंगों के मरमर मिलते हैं, पर सफेद रंग के मरमर ही को लोग विशेष कर मरमर या संग मरमर कहते हैं । जो मरमर काठा होता है, उसे संग मूसा कहते हैं । मरमर पत्थर की मूर्तियाँ, छिछोने, बरतन आदि बनाए जाते हैं और उसकी पटिया और बेंके मकान बनाने में भी काम आते हैं । अच्छा मरमर इटली से आता है; पर भारतवर्ष में भी यह जोधपुर, जयपुर, कुण्जपद और जबलपुर आदि स्थानों में मिलता है ।

मरमरा०—संज्ञा पुं० [हि० मर + मरु०] वह पानी जो थोड़ा खारा हो ।

संज्ञा पुं० [मरु०] एक पक्षी का नाम ।

वि० जो सहज में दूट जाय । ज़रा सा दबाने पर मर मर शब्द करके दूट जानेवाला ।

मरमराना-क० प्र० [मरु०] (१) मरमर शब्द करना । (२) अधिक दबाव या फटने के कारण लकड़ी आदि का मरमर शब्द करके दबना । उ०—भयो मूरि भार धरा चलत जरा कुमार करत चिकार चार दिग्गज सहित सोग । गिरिवर दास भूमि मंडल मरमरात अति धमरात, से परात हैं रिसन लोग । परम बिसेस मार सहि ना सकत सेस एक सिर बल अंड, सहस परन लोग । लटक लटक हीस हटक हटक चित्त, अटक अटक डारै पटक पटक भोग ।—गोपाल ।

मरममत-संज्ञा स्त्री० [म०] किसी वस्तु के टूटे फूटे अंगों को ठीक करने की क्रिया या भाव । दुरुस्ती । जीर्णोद्धार । जैसे—मकान की मरममत, घड़ी की मरममत ।

मुहा०—मरममत करना = (१) टूटे फूटे अंगों को दुरुल करना वा सँवारना । (२) पीटना । ठेंकना । मारना ।

मरल-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मछली । यह दो हाथ तक लंबी होती है, और दलदलों या ऐसे-तालाबों में पाई जाती है जिनमें घास घूस अधिक उगता है ।

मन मरजिया एक बार चँसि लेइ । की लाउ छै नीकसे की
कालच जित देइ ।—कपीर ।

मरजी—पंजा सी० [प्र०] (१) हृष्टा । कामना । चाह । उ०—
(क) बरजी हमें और सुनाहये की कहि तोप लखयो सिगरी
मरजी ।—तोप । (ख) दरजी किते तिते धन गरजी ।
ख्योतिह पड़ पट जमि नृप मरजी ।—गोपाल । (२)
प्रसन्नता । सुतो । (३) भाजा । स्वीकृति । उ०—(क) वा
शिधि सँवरे रावरे की न मिली मरजी न मजा न मजासै ।—
पद्माकर । (ग) इनको सबकी मरजी करिके अपने मन को
समुझायने है ।—ठाकुर । (ग) मरजी जो उठी पिय की
सुधि छै बपला चमके न रहै बरजी ।

मरजीवा—पंजा पुं० दे० “मरजिया” । उ०—मोती उपजे सीप
में सीप समुंदर गाह । कोई मरजिया कादेसी जीवन की
गम नाहि ।—कपीर ।

मरण—पंजा पुं० [रं०] (१) मरने का भाव । मृत्यु । मौत ।
(२) वस्त्रनाभ । बटनाम ।

मरणधर्मा—वि० [सं० मरणधर्मन्] मरणशील । मरणव्यभव ।
जो मरता हो ।

मरतक—पंजा पुं० [सं० मृत्यु] मरण । मृत्यु । मौत ।

मरतपा—पंजा पुं० [म०] (१) पद । पदवी ।

मि० प्र०—पाना ।—बढ़ना ।—बढ़ाना ।—मिलना ।

(२) बार । दफा । जैसे—मैं आपके घर कई मरतपा
गया था ।

मरतपान—पंजा पुं० दे० “अमृतपान” ।

मरद—पंजा पुं० दे० “मर्द” । उ०—अर्थ धर्म काम मोक्ष बसत
विशोकनि में कासी कामान जोगी जागता मरद की ।
—गुलसी ।

मरदई—पंजा सी० [हि० मर्द + ई (प्रत्य०)] (१) मनुष्यत्व ।
भादमीपत । (२) साहस । (३) वीरता । बहादुरी ।

मि० प्र०—करना ।—दिखाना ।

मरदैन—पंजा पुं० दे० “मर्दन” ।

मरदाना—कि० सं० [हि० मर्दन] (१) मसलना । मर्दन करना ।
मलना । उ०—(क) अलि काहि उपद्रव जाया । मरदई
मोहि आनि भाया ।—गुलसी । (ख) पदम मरदि मर
सदन धनु मुर लोक परावत ।—गोपाल । (२) ध्वंस
करना । पूर्ण करना । उ०—भमल बमल कुल कलित
कलित गति बेकि सो बलिन मनु मधरी को पानिये । सुग-
मरद मरदि कर । भूँरि पौर पग केसरी को केसव विनाम
पहिचानिये ।—देनाथ । (३) मर्दाना । मृषणा । जैसे—
भारा मरदाना ।

मरदिनारी—पंजा पुं० [हि० मर्द] वह श्रम्य जो बड़े आहुतियों
के भोग में लेख भादि मठा करता है । चारि में लेख मरने-

वाला लेखक । उ०—लिये तेल मरदिनारी आपे । रस
सुगंध सुपारी अमृवाये ।—कल्ल ।

मरदानगी—पंजा सी० [फ०] (१) वीरता । दानता । शौर्य ।
(२) साहस ।

कि० प्र०—दिखाना ।

मरदाना—वि० [फ०] (१) दुष्ट संघी । दुष्टों का । जैसे—
मरदानी बैटक । (२) दुष्टों का सा । जैसे—मरदाना भेल
(३) वीरवित । जैसे—मरदाना काग ।

कि० प्र० [हि० मर्द] साहस करना । वीरता दिखाना ।

मरदुद—वि० [फ०] (१) तिरस्कृत । (२) लुप्त । नीच ।

मरन—पंजा पुं० दे० “मरण” ।

मरना—कि० प्र० [म० मरण] (१) प्राणियों या वस्तुस्थितियों के
शरीर में ऐसा विकार होगा जिससे उनकी सत् प्राणिक
क्रियाएँ बंद हो जायें । मृत्यु को प्राप्त होना । उ०—(क)
साईं यो मत्त जानियो प्रीति पेटे मम चित । मरै तो प्रेम
सुमिरत मरै जीवत सुमिराँ गित ।—कपीर । (ख) कर गहि
खल्ल तोर बच करिहीं सुनि मारिच बर भाव्यो । रामचंद्र के
हाथ मरैगी परम पुनः फल जान्यो ।—सूर । (ग) मृत्यु
आनन उचर देत बड़े करिहैं मरिहैं करिहैं बसु साके ।—
गुलसी । (घ) मरिये की साहस कियो बड़ी विरह की पार ।
सौ तौ छे सजुहै सखी सरसिम सुनि समीर ।—बिहारी ।

मुहा०—मरना जीना = शारीरी मर्मा । मुहा० मरण
मृत्यु हुआ । मरने की हुंदी न होना या न मिलना = विन-
युक्त मुर्ति न मिलना । अथवा का अभाव होना । दिन रात
कार्य में पैया होना ।

(२) बहुत अधिक कष्ट उठाना । बहुत दुःख सहना । पचना ।
उ०—(क) एक बार मरि मिलें जो आपे । दूसर बार मरि
कित जाये ।—जायसी । (ख) गुलसी भरोसी न भवेस मोर-
नाथ को सो कोटिक कलेस करी मरो पार प्राणि सी ।—
गुलसी । (ग) गुलसी सेहि सेवक बीन मरि, रत्न छे लपु को
करे मेह से मारि ।—गुलसी । (घ) कठिन दुहैं निपि दीन
को सुन हो बीन सुजान । सब निजि विनु देने मरि मरि
छरि मुक्त भाग ।—रसनिधि ।

मुहा०—किसी के किये मरना = हराया होना । हट रहना ।
किसी पर मरना = लुप्त होना । आयात होना । मर पचना =
अत्यंत कष्ट सहना । किसी की बात पर मरना या किसी
बात के लिये मरना = दुःख सहना । मर मिटना = धम
करते करते विनष्ट हो जाना । उ०—सबने मर मिटने की
दान की थी ।—दुना । मर जाना = (१) मृत्यु होना ।
व्यय होना । जैसे—मर देते देते दिखात मरे जाते हैं ।

(२) उलुप्त होना । उपवृत्ती करना ।

(३) मराना । कुदरतना । मूलना । जैसे—पान का मरना,

फल का मरना । (४) मृतक के समान हो जाना । लज्जा, संकोच या घृणा आदि के कारण सिर न उठा सकना । उ०—(क) यदि लाज मरियत ताहि तुम सौं भयो नातो नाय जु । अथ और मुख निरये न ज्यो ल्यो सखिये रघुनाथ जु ।—केशव । (ख) तब सुधि पदुमावति मन भई । सुँवरि विछोह मुरछि मरि गई ।—जायसी । (५) किसी पदार्थ का किसी विकार के कारण काम का न रह जाना । जैसे—आग का मरना, चूने का मरना, सुहागा मरना, धूल मरना ।

मुहा०—पानी मरना = (१) पानी का दीवार की नींव में घँसना ।

(२) किसी के सिर कोई कंकल आना । उ०—पुनि पुनि पानि वहीं ठौं मरे । फेर न निकसे जो तहँ परे ।—जायसी ।

(३) खेल में किसी गोटी या लड्डू के का खेल के नियमानुसार किसी कारण से खेल से भलग किया जाना । जैसे—गोटी का मरना, गोडियाँ का मरना इत्यादि । (४) किसी वेग का शांत होना । दबना । जैसे—भूत का मरना, प्यास का मरना, बुझ का मरना, पित्त का मरना इत्यादि । उ०—

हुँव मोरे मोरे ना मरति रिसि केसवदास मारहु धौं कहे कमल सनाल सौं ।—केशव । (६) डाह करना । जलना ।

(७) क्षमणना । पछताना । रोना । (१०) हारना । बर्शी-भूत होना । पराजित होना । उ०—चू मन नाथ भार के स्वाँसा । जो पै मरहि आप कर नासा । चारिहु लोक चार कहू याता । गुप्त लाव मन जो सो शता ।—जायसी ।

मरनि—संज्ञा स्त्री० दे “मरनी” ।

मरनी—संज्ञा स्त्री० [हि० मरना] (१) मृत्यु । मीत । (२) दुःख । कष्ट । हैरानी । उ०—सुनि योगी की अम्मर करनी । ग्योरी निरह बिया की मरनी ।—जायसी । (३) वह लोक जो किसी के मरने पर उसके संबंधियों को होता है ।

(४) वह कृत्य जो किसी के मरने पर उसके संबंधी लोग करते हैं ।

यौ०—मरनी करनी = मृत्यु और मृतक की अंत्येष्टि किया ।

मरबुली—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का कंद जो पहाड़ी प्रदेशों में उत्पन्न होता है । इसके टुकड़े गाज गाज मर के गड़े खोद कर बोए जाते हैं । बौवाई सदा हो सकती है; पर गर्मी के दिनों में इसमें पानी देने की आवश्यकता होती है । यह दो प्रकार की होती है—मीठी और तीक्ष्ण या गला काटनेवाली ।

दोनों से तीखुर बनाया जाता है । इसकी जड़ को आलू वा कंद भी कहते हैं । कंद को धोकर उसके लच्छे बनाते हैं । फिर लच्छे को दयाकर वा कुचकर रस निकालते हैं जिसे सुसाकर सत्त बनाता है जो तीखुर कहा जाता है । रस निकाले हुए खोदने को भी सुखा और पीसकर कोका के नाम से बेचते हैं । इसकी खेती पहाड़ों में अधिकता से होती है ।

मरल—संज्ञा स्त्री० [हि० मरना] (१) मृत्यु । मीत । (२) दुःख । कष्ट । हैरानी । उ०—सुनि योगी की अम्मर करनी । ग्योरी निरह बिया की मरनी ।—जायसी । (३) वह लोक जो किसी के मरने पर उसके संबंधियों को होता है ।

(४) वह कृत्य जो किसी के मरने पर उसके संबंधी लोग करते हैं ।

यौ०—मरनी करनी = मृत्यु और मृतक की अंत्येष्टि किया ।

मरबुली—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का कंद जो पहाड़ी प्रदेशों में उत्पन्न होता है । इसके टुकड़े गाज गाज मर के गड़े खोद कर बोए जाते हैं । बौवाई सदा हो सकती है; पर गर्मी के दिनों में इसमें पानी देने की आवश्यकता होती है । यह दो प्रकार की होती है—मीठी और तीक्ष्ण या गला काटनेवाली ।

दोनों से तीखुर बनाया जाता है । इसकी जड़ को आलू वा कंद भी कहते हैं । कंद को धोकर उसके लच्छे बनाते हैं । फिर लच्छे को दयाकर वा कुचकर रस निकालते हैं जिसे सुसाकर सत्त बनाता है जो तीखुर कहा जाता है । रस निकाले हुए खोदने को भी सुखा और पीसकर कोका के नाम से बेचते हैं । इसकी खेती पहाड़ों में अधिकता से होती है ।

मरल—संज्ञा स्त्री० [हि० मरना] (१) मृत्यु । मीत । (२) दुःख । कष्ट । हैरानी । उ०—सुनि योगी की अम्मर करनी । ग्योरी निरह बिया की मरनी ।—जायसी । (३) वह लोक जो किसी के मरने पर उसके संबंधियों को होता है ।

मरभुसला—वि० [हि० मरना + भूसा] (१) भूख का मारा हुआ । भुक्काल । (२) कंगाल । दरिद्र ।

मरम—संज्ञा पुं० दे० “मर्म” ।

मरमती—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जिसकी लकड़ी कड़ी होती बहुत टिकाऊ होती है और खेती के औजार और घर के सेंगदे आदि बनाने के काम आती है । यह पेड़ छोटा होता है और भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में मिलता है । यह बीजों से उत्पन्न होता है ।

मरमर—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का दानेदार, चिकना पत्थर जिस पर घोटने से अच्छी चमक आती है । इसमें चूने का अंश अधिक होता है और इसे जलाने से अच्छी कड़ी निकलती है । यद्यपि संसार के मिश्र मिश्र प्रदेशों में अनेक रंगों के मरमर मिलते हैं, पर सफेद रंग के मरमर ही को लोग विशेष कर मरमर वा संग मरमर कहते हैं । जो मरमर काला होता है, उसे संग भूसा कहते हैं । मरमर पत्थर की मूर्तियाँ, खिलोने, बरतन आदि बनाए जाते हैं और उसकी पटिया और ढोंके मकान बनाने में भी काम आते हैं । अच्छा मरमर इटली से आता है; पर भारतवर्ष में भी यह जोधपुर, जयपुर, कुणागढ़ और जबलपुर आदि स्थानों में मिलता है ।

मरमरा—संज्ञा पुं० [हि० मल वा मृदु] वह पानी जो घोड़ा खारा हो ।

संज्ञा पुं० [मृदु] एक पक्षी का नाम ।

वि० जो सहज में दूट जाय । झरा सा दबाने पर मर मर शब्द करके दूट जानेवाला ।

मरमराना—क्रि० प्र० [मृदु] (१) मरमर शब्द करना । (२) अधिक दबाव वाकर पेड़ की शाखा व लकड़ी आदि का मरमर शब्द करके दबना । उ०—भयो मुरि भार धरा चलत जा कुमार करत चिकार चार दिग्गज सहित सोग । गिरिघर-दास भूमि मंडल मरमरात अति घबरात से परात हैं दिप्तन लोग । परम बिसेस आर सदि ना सकत सेस एक सिर मल अंड सहस धारन लोग । लटक लटक सीस शटक शटक चित्त, शटक शटक धारे पटक पटक भोग ।—गोपाल ।

मरमरत—संज्ञा स्त्री० [मृदु] किसी वस्तु के दूटे पूटे अंगों को ठीक करने की क्रिया वा भाव । दुहस्ती । जीर्णोद्धार । जैसे—मकान की मरमरत, घड़ी की मरमरत ।

मुहा०—मरमरत करना = (१) टूटे फूटे अंशों को ठीक करना वा सँवारना । (२) पीटना । ठोक्ना । मारना ।

मरल—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की मछली । यह दो हाथ तक लंबी होती है और दलदलों या ऐसे तावालों में पाई जाती है जिनमें घास घूस अधिक उगता है ।

मरवट्टी—छंदा सी० [रि० मरना] वह माफ़ी जमीन जो किसी के मारे जाने पर उसके लड़के-बालों को दी जाती है।

छंदा सी० [दे०] पट्ट की कच्ची छाल जो निकालकर सुखाई गई हो। सन का उलटा।

छंदा सी० [रि० मरवट्ट] यह लकीरों जो रामलीला आदि के पात्रों के गालों पर चंद्रन या रंग आदि से बनाई जाती हैं।

मरवा—छंदा पुं० दे० “मरवा”।

मरवाना—कि० स० [रि० मरना का मर०] (१) मारने का मरेणा-यक रूप। मारने के लिये मरेणा करना। (२) बध कराना।

संयो० कि०—हालना।

(१) दे० “मराना”।

मरसा—छंदा पुं० [सं० मरिष] एक प्रकार का साग जिसकी पत्तियाँ गोल, झुर्रिदार और कोमल होती हैं। इसके पेड़ तीन चार हाथ तक ऊँचे होते हैं। इसके डंडलों और पत्तियों का साग पकाकर खोग खाते हैं। मरसा दो प्रकार का होता है। एक लाल और दूसरा सफेद। लाल मरसा खाने में अधिक स्वादिष्ट होता है। मरसा बरसात के दिनों में बोया जाता है और भादों कुआँ तक इसका साग खाने योग्य होता है। पूरी बाद के पड़ुने पर इसके सिरे पर एक मंगरी निकलती है जो एक बाधित से एक हाथ तक लंबी होती है। उस समय इसके डंडल और पत्तियाँ भी कड़ी हो जाती हैं और देर तक पकाई जाने पर कठिनाई से गहली हैं। मंगरी में सफेद सफेद छोटे फूल लगते हैं और फूलों के सुरसा जाने पर बीज पड़ते हैं। बीज छोटे, गोल, बिपटे और चमकीले काले रंग के होते हैं। यह बीज ओपचि में काम आते हैं। पैक में इसके स्वाद की मधुर, इसकी प्रकृति शीतल और गुण रक्त-पित्तनाशक, वात-कफ-बर्दक और विषमकारक दिखाई है; और लाल मरने को हल्का, चरपा और सारक बताया गया है।

मरसिया—छंदा पुं० [म०] (१) शोकमूचक कविता जो किसी के मृत्यु के संबंध में बनाई जाती है। यह उर्दू भाषा में अनेक छंदों में लिखी जाती है। इसमें किसी के मरने की घटना और उसके गुणों का ऐसे प्रभावोत्पादक कथनों में वर्णन किया जाता है जिससे सुननेवालों में शोक उत्पन्न हो। ऐसी कविता प्रायः मुहम्मद के दिनों में पढ़ी जाती है।

मि० प्र०—पढ़ना।—लिखना।—सुनना।

(२) विधाया। मरण-शोक। शोका-वीर्यना।

मि० प्र०—पढ़ना।

मरहट्टी—छंदा पुं० [रि० मरना] मसान। मरपट्ट। उ०—कविता मंदिर भाषने मिल उठि करता आलि। मरहट्ट देली हापला कीड़े शीशा बाकि।—कबीर।

छंदा सी० [दे०] मोठ। उ०—मूँग मास मरह की पहिली चनक कनक सम दारी जी।—रघुनाथ।

मरहट्टा—छंदा पुं० [सं० मरहट्ट] (१) महाराष्ट्र देश का रहनेवाला।

मरहट्टा। (२) उन्नीस भाषाओं के एक मात्रिक छंद का नाम जिसमें १०,८, और १२ पर विभ्राम होता है तथा अंत में एक गुरु और लघु होता है। उ०—भति उच्च भगारि बनी पगारिनि अनु बिता मणि मारि। यहनात मल पूरनि धूपित भंगनि हरि की सी भयुहारि। चित्री बहु चित्रिनि परम बिचित्रिनि केसावदास गिहारि। अनु विभरूप को विमल भारसी रचो विरंचि विचारि।—कैसाव।

मरहट्टा—छंदा पुं० [सं० महाराष्ट्र = प्रा० मरहट्ट] [सी० मरहट्टिन] महाराष्ट्र देश का रहनेवाला। महाराष्ट्र। वि० दे० “महाराष्ट्र”।

मरहट्टी—वि० [रि० मरहट्ट] महाराष्ट्र या मरहट्टों से संबंध रखनेवाला। मरहट्टों का। जैसे—मरहट्टी कपड़ा, मरहट्टी चाल।

छंदा सी० यह भाषा जो महाराष्ट्र देश में बोली जाती है। मरहट्टों की बोली। दे० “मराठी”।

मरहम—छंदा पुं० [म०] ओपचियों का वह गाढ़ा और चिकना छेप जो दाँव पर उसे भरने के लिये अथवा पीड़ित स्थानों पर लगाया जाता है।

मि० प्र०—लगाना।

यौ०—मरहम पट्टी = (१) आपात की निश्चिन्ता। पाँव पर मरहम और पट्टी लगाना। (२) किसी जीव संदाई की बोड़ी बहुत मरम्मत।

मरहला—छंदा पुं० [म०] (१) वह स्थान जहाँ रात्री रात के समय ठहर जाते हैं। ठिकाना। मनजिक। पड़ाव।

(२) शौचदी। (३) दमाँ। मरतिव।

मुहा०—मरहला तय करना = समझा निबटना। कठिन काम पूरा करना। मरहला पढ़ना या मचना = हनेका पढ़ना। कठिनाता उपस्थित होना। मरहला हालना = संग्रह माँ करना।

मरहून—वि० [म०] जो रेहम दिया गया हो। गिरी रखा हुआ। (कच)

मरहूना—वि० [म०] जो रेहम दिया गया हो। जो गिरी रखा गया हो। जैसे जायदाद मरहूना। (कच०)

मरहूम—वि० [म०] स्वयंवासी। मृत।

यिशोय—इस शब्द का प्रयोग किसी लादरजीव मृत व्यक्ति की चमो करने हुए उसदे नाम के अन्त्य में किया जाता है। मरातिव—छंदा पुं० [म०] (१) दास। पर। (२) उन्नीस चर भाषेवाली अवस्था।

मुहा०—मरातिव तै करना = किसी विषय के मोरे हाथों का निबेटा करना ।

(३) घुट । तह । (४) मकान का खंड । तह्ना । उ०—
अति उतंग सुंदर शशिनाला सात मरातिवपारे ।—रघुराम ।
(५) ध्वजा । झंडा । उ०—जामवंत हनुमंत नल नील
मरातिव साय । छरी छरीली शोभिअै दिगपालन के हाय ।
—केशव ।

यौ०—माही मरातिव = एक प्रकार की ध्वजा जो मुसलमान राजाओं की सवारी के आगे हाथियों पर चलती है । ये ध्वजाएँ संख्या वा प्रकार में हात होती हैं, जिन पर क्रमशः सूर्य, पंजा, तुला, नाग, मछली गोल तथा सूर्यमुखी के चिह्न होते हैं ।

मराना—कि० सं० [हि० मारना का पर०] (१) मारने के लिये प्रेरणा करना । मरवाना । उ०—(क) पिता तुम्हारे राज कर भोगी ।
पुँने निम मराधे जोगी ।—जायसी । (ख) पंच कहे सिव
सती विवाही । पुनि भवठेरि मरायेहि ताही ।—तुलसी ।
(२) किसी को अपने ऊपर भाषात करने के लिये प्रेरणा करना वा करने देना । (३) गुदा भंजन करना । (शाजाक) ।

मराय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकारवृद्ध । (२) एक प्रकार का साम ।
मरायलक्ष्मी—वि० [हि० मारना + आल (मय०)] (१) जो किसी से कई बार मार खा चुका हो । पीटा हुआ । उ०—सठह
सदा तुम्ह मोर मरायल । कहि अस कोपि गगन पय
धायल ।—तुलसी । (२) निरास्य । सार्वहीन । जैसे मरा-
यल अन्न, मरायल पौधा । (३) मरियल । निरर्थक । निर्जीव ।
(४) पाटा । टोटा ।

कि० प्र०—भाना ।—पढ़ना ।

मार—संज्ञा पुं० [सं०] खलिहान ।

मराल—संज्ञा पुं० [सं०] [ल० मराली] (१) एक प्रकार का बघल जो हलकी छलाई लिये सफेद रंग का होता है । (२) घोड़ा ।
(३) हाथी । (४) कर्कश नामक पक्षी । (५) हंस । उ०—
सेवक मन मानस मराल है । पावन गंग तरेग-माल से ।—
तुलसी । (६) मनार की वाटिका । (७) काजल । (८)
बादल । (९) दुष्ट । खाल ।

मरिद—संज्ञा पुं० (१) दे० “मरिद” । (२) दे० “मरिद”

मरियम—संज्ञा पुं० दे० “मरियम” ।

मरिच—संज्ञा पुं० [सं०] मिरिच ।

मरिचा—संज्ञा पुं० [सं० मरिच] बढ़ी लाल मिरिच ।

वि० दे० “मिरिच” ।

मरिया—संज्ञा स्त्री० [हि० मर्या] (१) वह रस्सी जो खाट में पापगाने की ओर उंचवट लगाकर ऊपर से एक पट्टी से दूसरी पट्टी तक बाने की तरह बाँधी जाती है । (२) नाथ में वह

तन्त्र जो उसके पंटे में गूदे के नीचे बंधे बल में लगा रहता है । मरिया ।

संज्ञा स्त्री० [हि० मारना] छोड़े को एक छोटी इधौड़ी जिससे धातुओं पर सुदाई का काम करने वाले कलम को ठोकते हैं ।

मरी—संज्ञा स्त्री० [सं० मारी] (१) वह रोग जो स्पर्श वीर्य से फैलता है और जिसमें एक साथ बहुत से लोग मरते हैं । मारी ।

संज्ञा स्त्री० [हि० मारना] एक प्रकार का भूत । लोगों का विश्वास है कि यह किसी ऐसी दुष्ट स्वभाववाली स्त्री की प्रेतात्मा होती है जो किसी रोग, आपात अथवा किसी अन्य कारणवश पृथग्यु को न पहुँचकर भयपायु में मरी हो । मरही ।

संज्ञा स्त्री० [दे०] ऐसी सागुदाने का पेड़ । यह भारतवर्ष में तथा लंका, सिंगापुर आदि द्वीपों में उत्पन्न होता है । यह पेड़ देखने में बहुत सुंदर मालूम होता है । इससे ताड़ी निकाली जाती है जिसे लोग पीते हैं और जिससे गुद् भी बनाते हैं । इसकी कोमल बालों वा संत्री की तरकारी बनाई जाती है । इसके पुराने रूखों में के गूदे से सागुदाना निकलता है जो पानी में पकाकर खाया जाता है वा पीस कर जिसकी रोटीयाँ बनाई जाती हैं; और रेरी से झूँची, भुना, रस्सी और जाल बनाए जाते हैं । इसकी लकड़ी मजबूत और टिकाऊ होती है । इसे भेरवा भी कहते हैं ।

मरीचि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम । पुराणों में इन्हें ब्रह्मा का मानसिक पुत्र लिखा है, एक प्रजापति माना है और सप्तर्षियों में गिनाया गया है । किसी किसी पुराण में इनकी छो का नाम ‘कला’ और किसी किसी में ‘संभूति’ लिखा है । (२) एक महर्ष का नाम । (३) एक ऋषि का नाम जो भृगु के पुत्र और कश्यप के पिता थे । (४) द्रु के एक पुत्र का नाम । (५) त्रियम्बत-वंशी एक राजा का नाम । (६) एक प्राचीन मान जो छः वसरेणु के धरावर होता है । (७) एक दैत्य का नाम ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किरण । उ०—(क) अति सुकुमारी वृषभान की दुलारी सो कैसे सदै प्यारी मरीचि मारतंद की ।—सरलाबाई । (ख) कित्ति सुधा दिग वित्त पखारत चंद मरीचिन को करि क्यो ।—मतिराम । (ग) रघुनाथ पिय बस करिबे को चली बाल सुध की मरीचि जल दिखि मदि के लई ।—रघुनाथ । (२) मा । कति । ज्योति । उ०—कीर्षी सृगलोचन मरीचिका मरीचि किर्षी रूप की विहर लचि शुचि सों दुराई है ।—केशव । (३) मरीचिका । शृगलुणा । उ०—बीच मरीचिनु के मृग लीं अथ धावै न रे सुन काहु नरिद के ।—देव ।

मरीचिका-पंखा की० [सं०] (१) मृगवृणा । सिरोंह । (२) किरण । उ०—(क) वारिज वरत विन वारे वारे वार बीच बीच मरीचिका मरीचिका सी उहरी ।—देव । (घ) चहचही सेज चहूँ चहक चमेलिन सों, बेलिन सों मंडु मंडु गुंजन मलिदु जाल । तैसेई मरीचिका दरीचिन के संधि ही में, छवा की छपीडी छवि छहरत तत्काल ।—देव ।

मरीचिगर्म-पंखा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) दक्ष सावर्णि मन्वन्तर में होनेवाले एक प्रकार के देवताओं का गण ।

मरीचिजल-पंखा पुं० [सं०] मृगवृणा ।

मरीचितोय-पंखा पुं० [सं०] मृगवृणा ।

मरीची-वि० [सं० मरीचि] [मरीचिनी] किरणयुक्त । जिसमें किरणें हों ।

पंखा पुं० (१) सूर्य । (२) चंद्रमा ।

मरीज़-वि० [म०] रोगी । रोग-ग्रस्त । शोमार ।

मरीना-पंखा पुं० [रेनी० मेरिनी] एक प्रकार का बहुत मुलायम ऊनी पतला कपड़ा जो मेरीनी नामक भेड़ के ऊन से बनता है ।

मरु-पंखा पुं० [सं०] (१) यह भूमि जहाँ जल न हो और केवल बलुभा मीदान हो । मरुस्थल । निरजल स्थान । रेगिस्तान । मरुभूमि । (२) यह पर्वत जिसमें जल का अभाव हो । (३) भारपाद और उसके आस पास के देश का नाम । (४) मरुभा नामक वीचा । (५) एक भूगर्भपंशी राजा का नाम (६) नरकासुर के एक सहचर असुर का नाम ।

मरुझा-पंखा पुं० [सं० मरु] बन गुलछी या बबरी की जाति के एक वीचे का नाम । यह वीचा बागों में लगाया जाता है । इसकी पत्तियाँ बबरी की पत्तियों से कुछ बड़ी, मुकीली, मोटी, नरम और चिकनी होती हैं जिनमें से उम्र गंध आती है । इसके दल देवताओं पर चढ़ाए जाते हैं । इसका पेड़ देड़ दो हाथ ऊँचा होता है और इसकी पुनगी पर कार्तिक भागदम में तुलसी की भाँति मंत्रा निरुहती है जिसमें नर्म मर्म मर्मद फूल लगते हैं। फूलों के क्षद जाने पर बीजों से भर हुए छंटे छोटे बीज-बीज-निष्कृत जाते हैं जिनमें से पकने पर बहुत बीज निकलते हैं । ये बीज पानी में पड़ने पर हँसप गोल की तरह फूल जाते हैं । यह वीचा बीजों से उगता है, पर यदि इसकी कोमल दलीया या पुनगी लगाई जाय तो यह भी लैग जाती है । रंग के भेद से मरुझा दो प्रकार का होता है, काळा और सफेद । काळे मरुझ का प्रयोग औषधि रूप में नहीं होता और केवल फूल आदि के साथ देवताओं पर चढ़ाने के काम जाता है । सफेद मरुझा औषधियों में काम आता है । घिसक में यह थारपा, कटुभा, रुपा और दधिकर तथा मोगरा, गरम, हमा, तिषपदं, का. और बात का माताक, रिष कृमि

और कुट-रोगनाशक माना गया है । मागसेल । भार्गोरे । उ०—अति ब्याकुल मई गोपिका हँसत गिरिबारी । बृसति हैं बन बोलि सों देखे बनवारी । बृसा मरुमा कुँ सों कहे गोद पसारी । बृकुल बृकुल बटे कदम पै दारी प्रजनारी ।—सूर ।

पर्या०—मरुचक । मरुतक । कणिजक । मरुपुण । समीन । कुलसौरम । गंधपत्र । खटपत्र ।

पंखा पुं० [सं० मंड वा मेर वा भनु०] (१) मकान की छान में सब से ऊपर की बंती जिस पर छान का कपरी सिरा रहता है । बँदेर । (२) जुलाहों के कार्य में लकड़ी का वह टुकड़ा जो डेढ़ पाण्डित संवा और आठ अंगुल मोटा होता है और छत की कड़ी में जड़ा होता है । (३) हिंदोले में वह ऊपर की लकड़ी जिसमें हिंदोला छटकाया जाता है या हिंदोले को छटकाने की लकड़ी मरी वा लगाई जाती है । उ०—कंचन के रस मपारि मरुभा कँडी क्षपित होरा बिचकाल प्रयांक । रसम जुनाई नरतन छाई पाछनो छटकन बहुत चिरोज छाल ।—सूर ।

पंखा पुं० [हि० मरि] मरिद ।

मरुच-पंखा पुं० [सं०] (१) मोर । (२) एक प्रकार का रत्न । मरुचच्छ-पंखा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक प्रदेश का नाम । यह दक्षिण दिशा में है और हला, चिन्ना और स्वाती नक्षत्रों के अधिकार में माना गया है ।

मरुचोत्तार-पंखा पुं० [सं०] बालू वा रेत का मीदान । रेगिस्तान । मरुधूमि ।

मरुकुच-पंखा पुं० दे० "मरुझा" ।

मरुकुत्त-पंखा पुं० [सं०] वाराही संहिता के अनुसार एक देश का नाम जो पूर्व विभाग के अनुसार पश्चिमोत्तर दिशा में है और जो उत्तरापाद, अवय और पश्चिमा नक्षत्रों के अधिकार में है ।

मरुचोपट्टन-पंखा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार दक्षिण दिशा के एक देश का नाम जो हन, चिन्ना और रानी के अधिकार में है ।

मरुज-पंखा पुं० [सं०] (१) मरु नामक सुगंधि द्रव्य । (२) वीस का बरत ।

मरुजा-पंखा की० [सं०] हंजापत्र की जाति की एक लता जो मरुस्थल में होती है ।

मरुजाता-पंखा की० [सं०] कपिकरु । केरौ । बीज । मरुजा-पंखा की० [सं०] यह की जिसका बरत ऊँचा हो ।

मरुज-पंखा पुं० [सं०] (१) एक देवता का नाम । मेरी में दूरे ख और बुधि का पुत्र किया है और इसकी गंगा की चिनुनी मानी गई है, पर पुरातों में दूरे काय और रिमि का पुत्र किया गया है । जिसे उसके पैरनिच मर्म

इंद्र ने गर्ग काटकर एक से उनचास टुकड़े कर डाले थे, जो उनचास 'मरुद्' हुए। वेहीं में मरुद्गण का स्थान अंतरिक्ष लिखा है, उनके घोड़े का नाम वृश्चि वतलाया है तथा उन्हें इंद्र का सखा लिखा है। पुराणों में इन्हें वायु कोण का दिग्पाल माना गया है। (२) वायु। पात। हवा। (३) प्राण। (४) हिरण्य। सोना। (५) एक साध्य का नाम। (६) सौंदर्य। (७) वृद्धराज राजा का एक नाम। (८) मरुभा। (९) फरिक्। (१०) गन्धिन। (११) अस्वर्ग। (१२) दे० "मरुत"।

मरुतवानक्ष-संज्ञा पुं० दे० "मरुतवान्"।

मरुत्कर-संज्ञा पुं० [सं०] राजमाप। उद्ध०।

मरुत्त-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक चक्रवर्ती राजा जो चंद्रवंशी महाराज करंधर के पुत्र अर्वाक्षित का पुत्र था। इसने अनेक बार बड़े बड़े यज्ञ किए थे जिनमें समस्त यज्ञ-पात्र सोमे के वनबाप थे। इसके प्रभावती, सौवीरा, सुदेशी, केकयी, सैरंभी, वसुमती और सुतोभना नाम की सात रानियाँ थीं, जिनसे अठारह लड़के उत्पन्न हुए थे। भागवत में इसे वदुवंशी और करंधर का पुत्र लिखा है।

मरुत्तक-संज्ञा पुं० [सं०] मरुभा नामक पौधा।

मरुत्पति-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

मरुत्पथ-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश।

मरुत्पल-संज्ञा पुं० [सं०] ईंद्र।

मरुत्प्लव-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह। शेर।

मरुत्फल-संज्ञा पुं० [सं०] ओला।

मरुत्त्वती-संज्ञा स्त्री० [सं०] धर्म की पत्नी का नाम। यह प्रजापति की कन्या थी।

मरुत्वान्-संज्ञा पुं० [सं० मरुत्व का प्र० २० २९] (१) इंद्र।

(२) महाभारत के अनुसार देवताओं के एक गण का नाम जो धर्म के पुत्र माने जाते हैं। (३) हनुमान।

मरुत्सख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) अग्नि।

मरुत्सहाय-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

मरुत्सुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान। (२) भीम।

मरुत्स्तोम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पूजाह यज्ञ।

मरुत्सल-संज्ञा पुं० दे० "मरुत्सल"।

मरुत्दांशुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धौकनी। (२) प्राचीन काल की एक प्रकार की धौकनी जो हरिन या भैंस के चमड़े से बनती थी।

मरुदिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुलु। गुग्गुलु।

मरुदेव-संज्ञा पुं० [सं०] अफोमदेव के पिता का नाम।

मरुद्रथ-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा।

मरुद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विट्छदिर। (२) यवूल।

मरुद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश।

मरुद्राह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धूम्र। (२) धाग।

मरुद्रिप-संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट।

मरुद्रोप-संज्ञा पुं० [सं०] वह उपजाऊ और सजल हरा भरा स्थान जो मरुत्सल में हो। ओसिज।

मरुद्रुधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पंजाब की एक नदी का वैदिक नाम।

मरुद्रुग-संज्ञा पुं० [सं०] एक दैत्य का नाम।

मरुद्रुन्वा-संज्ञा पुं० [सं० मरुद्रुन्वा] (१) मरुत्पल। निर्जल प्रदेश।

(२) इंदीवर नामक विद्याधर के पुत्र का नाम।

मरुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] मारवाड़ देश। उ०—प्यासे दुपहर जेठ के थके सब जल सोधि। मरुद्र पाय मतीरह मारु कहत पयोधि।—विहारी।

मरुद्रूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] बालू का निर्जल मैदान जहाँ कोई वृक्ष वा वनस्पति आदि न उगती हो। रेगिस्तान।

मरुद्रुह-संज्ञा पुं० [सं०] करील का पेड़।

मरुद्रुमाला-संज्ञा पुं० [सं०] शृका नाम की लता। अस्वर्ग।

मरुद्र-संज्ञा पुं० [सं० पूर्वा] गोरचकरा।

मरुद्रनाल-कि० प्र० [हि० मरोरना] 'मरोरना' का अकर्मक रूप। उ०टना। बल खाना। उ०—(क) तीखी वीठ रूख सी पत्त सी अहरि अंग ऊल सी मरुद्रि मुख लागति मरुद्र सी।—देव। (ख) मरुद्र अंगन अमर रतरंग केश मरुद्र नाथ देव जितिके जगत है।—देव।

मरुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] जंगली बचक की एक जाति का नाम। कारंदव।

मरुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] मरुभा।

मरुद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक कँटीले पेड़ का नाम जिसे मैनी कहते हैं। (२) मरुभा। नागदौना। (३) तिल का पौधा। (४) स्वाध। नाथ। (५) राहु।

मरुद्रा-संज्ञा पुं० दे० "मरुभा"।

मरुद्रसंभव-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की छेड़ी मूली।

मरुद्रसंभवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मरुद्रवाल्मी। (२) एक प्रकार का छीर जिसका पेड़ बहुत छोटा होता है। (३) छोटा धमास। छुद्र जवास। (४) एक प्रकार का कनैर।

मरुद्रसा-संज्ञा पुं० दे० "मरुद्रसा"।

मरुद्रसल-संज्ञा पुं० [सं०] बालू का मैदान जिसमें निर्जल होने के कारण कोई वृक्ष वा वनस्पति न उगती हो। मरुभूमि। रेगिस्तान।

मरुद्रसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा धमास।

मरुद्र-वि० [सं० मेह वा हिं० मरना] कठिन। 'दुरुद्र'। उ०—कल्प समान रैन तेहि बाढ़ी। तिल तिल मरुद्र अंग अंग पर गाढ़ी।—जायसी।

मुद्रा—मरु करि के वा मरु करि = कठिनाई से। ज्यों त्यों करके। बहुत मुश्किल से। उ०—(क) ता बहैं तो अव छों

घहराह के राखी बसाह मरु करि में है।—कैसाव । (ख) देह में नेकु सगहार रह्यो नहि ह्यो लमि भावि मरु करि भाई।—मनिराम । (ग) भैमुभा ठहरात गरी घहरात मरु करि आधिक यात बही।—देव । (घ) चौस तो बीयो मरु करिके अब भाई है राति सो कैये धौं बीतिहै ।

मरुफ—संज्ञा पुं० [६०] (१) एक प्रकार का गुण । (२) मयूर । मोर ।

मरुझया—संज्ञा स्त्री० [६०] (१) जवास । (२) कपास । (३) एक प्रकार का रेश ।

मरुत—संज्ञा पुं० [६०] गोरचकरा ।

मरुता—संज्ञा पुं० [हि० मरोड़] पेंडन । बल । मरोड़ ।

मुहा०—मरुता देना = बल देना । मरोड़ना । उमेटना । उ०—
मुल के पवन परवर मुलपत गदे पानि चिय जूरो । वृक्षति
जानि मन्मथ चिनगी फिरि मानो दिव्यो मरुतो ।—सूर ।

मरुत—संज्ञा पुं० [सं० मुर] गोरचकरा । मरुत ।

मरोड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० मरुता + पेंडना] यह रस्सी जिससे हेंगा
या पट्टेला बाँधकर रेत में खींचा या चलाया जाता है ।
घरदा । पेड़ । गुरिया । बरार ।

संज्ञा स्त्री० दे० "मुलेठी" ।

मरोड़—संज्ञा पुं० [हि० मरोड़ना] (१) मरोड़ने का भाव या क्रिया ।
उ० (क) मानत लाज लगाम नहि नेकु न गहत मरोर । होत
तोहि लमि बाक के रग तुंगं मुँह जोर ।—मनिराम । (ख)
उतही से मोरति टगन आवत अलि जिहि ओर । सीसति है
गुप्ता मनो भय मिथि श्रुटि मरोर ।—रुद्रमणिसिंह ।

मुहा०—मरोड़ राना = प्यार राना । उ०—न्याय बसन
पहिरन लगी वस न चख्यो चित दोर । स्वाय मरोर खड़े
गिन्यो गढ़े कड़े कुप ओर ।—रामसदाय । मन में मरोड़
करना = मन में दुःख या कष्ट रखना । कष्ट करना ।
उ०—साधू आपत देखि के मन में करत मरोर । सो
होवेगा चूढ़ा बसे गौर की ओर ।—कबीर । मरोड़ की
बान = पंचमर बान । गुमान निरा पी यात ।

(१) मरोड़ने से पड़ा हुआ गुमान । पेंडन । बल ।
(२) उद्वेग आदि के कारण उत्पन्न पीड़ा । चपरा । शोभ ।
उ०—(क) फिरि धाय चहुँ ओर धन सेहि तकि मारिस सोर ।
मोर सोर मुनि होत री तन में बाँधिके मरोर ।—रामसदाय ।
(ग) सिद्धन सहोर रई जोगन की ओर रई समद सोर
मोर रई तब सो ।—पद्माकर । (घ) हक तो मार मरोर ने
सरति मारि है मणि । कृते जारन मास री यह मुनि की
मुनि मति ।—रामसदाय ।

मुहा०—मरोड़ राना = उद्वेग में पड़ना । उ०—गुरुपति को
उत्ते लो गयो करि कवि साहस जोरा । फिर न रिज्यो मुर-
पान करि पिता भनि रान मरोर ।—रामसदाय ।

(२) पेट में पेंडन और पीड़ा होना । पेट पेंडना । (३)
घमंड । गर्व । उ०—भाये आप भली कही भेटन मान मोर ।
दूर करी यह देखिहै छला छिगुनिया ओर ।—विहारी ।
(४) क्रोध । गुस्सा ।

मुहा०—मरोड़ गहना = मोघ करना । उ०—रखो मोह निग्रम
रखो धौं कहि गई मरोर । उत है सतिहि उराहो हन
चिन्हों में ओर ।—विहारी ।

विशेष—कविता में प्रायः "मरोड़" के स्थान में "मरोर" ही
पाया जाता है ।

मरोड़ना—क्रि० सं० [हि० मरोड़ना] (१) एक ओर से गुमाकर
दूसरी ओर फेरना । एक हाटना । पेंडना । उ०—(क)
बाँह मरोरि जात ही मोहि सोवन लियो लगाव । कड़े बचीर
पुकारि के यहि पेंदे छै के जाव ।—कबीर । (ख) गोढ़ बा
के जीम मरोरी । दधि डरकायो भागन कोरी ।—सूर । (ग)
कोपि कृदि दोउ धरेसि बहोरी । नहि पटकत भन भुजा
मरोरी ।—तुलसी । (घ) मोहि हकसोरि डारी कुप नी
मरोर डारी तोरि डारी कसनि विधोरि डारी देनी रवी ।—
पद्माकर ।

मि० प्र०—देना ।—हाटना ।—पड़ना ।

मुहा०—अंग मरोड़ना = अंगड़ाई लेना । उ०—सब अंग
मरोरि मुरो मन में हारि पूरि रही रस में न भई ।—
गुमान । भीड़ मरोड़ना या रग (आदि) मरोड़ना = (१)
ध्रुंग करना । आँख से हड़ारा करना या चमकी भावना ।
उ०—(क) अंतर में पति की सुरति गदि गदि गदि
गुनाह । रग मरोरि गुल मारि गिप सुवन देन नहि गदि ।
—पद्माकर । (ख) पान दियो हैसि प्यार सों प्यारी बह
लापि ल्यो हैसि भीड़ मरोरी ।—देव । (३) नक भीड़
बढ़ाना । भीड़ गिरोड़ना । उ०—(क) ही हूँ गरी पुमान-
कर होरि सो भीड़ मरोरत तेज की भाई ।—पद्माकर ।
(घ) मुनि सौमिन के गुन की-पराचा दिन नूति न भीड़
मरोरन जगि ।—दिग्गज ।

(२) पेंडन नष्ट करना या मार हाटना । उ०—(क)
महावीर बँडुरे बरारी बाँह पीर बयो न लंकिनी ज्यो माप
यात ही मरोर मारियो ।—तुलसी । (ग) मति मान्यो
बन्ध विषाण मान्यो चोरि के मरोरि मान्यो अमिताभ मान्यो
भय मान्यो है ।—वेत्तन । (घ) करि मुनि बचपन बतिरि
सोरी । पंच तेमरति मेव मरोरी ।—पद्माकर ।

मि० प्र०—हाटना ।—देना ।

(१) पीड़ा देना । दुःख देना । वेदना उत्पन्न करना । उ०—
(क) बार बपू निप पंच कसि भोगराजी भंग मोरि । पीड़ा
रही परपंच मनु डारी मदन मरोरि ।—मनिराम । (ग) ६६

आली गई कहि कान में आहूँ परी जहाँ मैं मरोरी गई ।

—वेणी । (४) मलना । मीजना । मसलना ।

मुहा०—हाथ मरोड़ना = हाथ मलना । पछताया । उ०—

(क) भय पड़ताय दूर जस जोरी । करहु स्वर्ग पर हाथ मरोरी ।—जायसी । (ख) घुरघुर पुरातन छाड़ि कर घली आन के साथ । लोभी संगत चीखी खड़ी मरोरद हाथ ।

—दादू ।

विशेष—कविता में “मरोड़ना” का रूप प्रायः “मरोरना” ही पाया जाता है ।

मरोड़फली—संज्ञा स्त्री० [हि० मरोड़ + फली] एक प्रकार की फली जो प्रायः पेट के मरोड़ के लिये गुणकारी होती है । मुराँ । अवतरनी ।

मरोड़ा—संज्ञा पुं० [हि० मरोड़ना] (१) पैंटन । मरोड़ । उमड़ । बल । (२) पेट की वह पीड़ा जिसमें अन्दर की ओर कुछ पैंटन सी जान पड़ती हो । यह एक रोग है जिसमें मलोत्सर्ग के समय पेट में पैंटन सी होती है और प्रायः कोष्ठबद्ध रहता है । कभी कभी आँव के साथ भी मरोड़ होता है ।

कि० प्र०—उठना ।—पड़ना ।

मरोड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० मरोड़ना] (१) पैंटन । घुमाव । बल ।

मुहा०—मरोड़ी करना = खींचातानी करना । इधर उधर करना । उ०—नख सिख लों वित चौर सरल भँग चीन्हे पर कल करत मरोरी । एक सुनि सूर हस्यो मेरो सरस अरु उकटी बोलों सँग डोरी ।—सूर ।

(२) वह बची जो आटे आदि में सने हुए हाथों से मलने पर छटकर निकलती है । (३) गुथी । गाँठ ।

मरोलि—संज्ञा पुं० [सं०] मकर की जाति का एक बड़ा समुद्रिक जन्तु ।

मर्क—संज्ञा पुं० [सं०] (१) देह । शरीर । (२) बायु । हवा ।

(३) शुक्राचार्य के एक पुत्र का नाम । (४) बंदर ।

मर्क—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मकड़ा । (२) हरगीला नामक पक्षी ।

मर्कट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंदर । यानर । (२) मकड़ा । (३) हरगीला नामक पक्षी । (४) एक प्रकार का विप । (५) दोहे के एक भेद का नाम जिसमें सत्रह गुरु और चौदह लघु मात्राएँ होती हैं । उ०—अश्व में गोपन संग मैं राधा देखे दयाम । (६) छप्पय का आठवाँ भेद जिसमें ६३ गुरु, २६ लघु कुल ८९ वर्ण या १५२ मात्राएँ वा ६३ गुरु, २२ लघु कुल ८५ वर्ण या १४८ मात्राएँ होती हैं ।

मर्कटक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यानर । बंदर । (२) मकड़ी । (३) एक प्रकार की मछली । (४) मट्ठना नामक अन्न । (५) मकरा नामक घात । (६) एक दैत्य का नाम ।

मर्कटिदुक्—संज्ञा पुं० [सं०] कुर्पाट ।

मर्कटिदुक्—संज्ञा पुं० [सं०] कुर्पाट ।

मर्कटिदुक्—संज्ञा पुं० [सं०] कुर्पाट ।

मर्कटिदुक्—संज्ञा पुं० [सं०] कुर्पाट ।

मर्कटिदुक्—संज्ञा पुं० [सं०] कुर्पाट ।

मर्कटिदुक्—संज्ञा पुं० [सं०] कुर्पाट ।

मर्कटिदुक्—संज्ञा पुं० [सं०] कुर्पाट ।

मर्कटिदुक्—संज्ञा पुं० [सं०] कुर्पाट ।

मर्कटिदुक्—संज्ञा पुं० [सं०] कुर्पाट ।

मर्कटपाल—संज्ञा पुं० [सं०] बंदरों का राजा, सुप्रीय ।

मर्कटपिप्पली—संज्ञा स्त्री० [सं०] अपामार्ग । चिचड़ा ।

मर्कटप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] खिरनी का पद ।

मर्कटवास—संज्ञा पुं० [सं०] मकड़ी का जाला ।

मर्कटशीर्ष—संज्ञा पुं० [सं०] दिगुल ।

मर्कटी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यानरी । बंदरी । (२) मकड़ी ।

(३) भूरी केवाँच । कौल । (४) अपामार्ग । (५) अन्नमोदा ।

(६) एक प्रकार का करंज । (७) छंद के ९ प्रत्ययों में से अंतिम प्रत्यय । इसके द्वारा मात्रा के प्रसार में छंद के लघु,

गुरु कला और वर्णों की संख्या का परिज्ञान होता है ।

मर्कटदु—संज्ञा पुं० [सं०] कुचिका ।

मर्कटक—संज्ञा पुं० दे० “मरकत” ।

मर्कर—संज्ञा पुं० [सं०] शृंगराज । भेंगरा । भेंगरैया ।

मर्करा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुरंग । (२) तहखाना । (३) मर्दा । बर्तन । (४) शक्ति स्त्री ।

मर्ची—संज्ञा स्त्री० दे० “मिच” ।

मर्जी—संज्ञा स्त्री० दे० “मरजी” ।

मर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य । (२) भूलोक ।

मर्तवा—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद । पदवी । जैसे—आज कल वे अच्छे मरतवे पर हैं ।

कि० प्र०—चढ़ना ।—देना ।—जाना ।—पाना ।—बढ़ना ।

—मिलना ।

(२) बार । बेर । दफा । जैसे—मैं आपके मकान पर कई मर्तवा गया था, पर आप नहीं मिले ।

मर्तयान—संज्ञा पुं० [हि० अमृतयान] रोगी बर्तन जिसमें अचार, मुरच्या, घी आदि रक्खा जाता है । अमृतयान ।

मर्त्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य । (२) भूलोक । (३) क्षारी ।

मर्त्यमुख—संज्ञा पुं० [सं०] [लो० मर्त्यमुखा] किन्नर ।

मर्त्यलोकि—संज्ञा पुं० [सं०] धृष्टी । मनुष्य-लोक ।

मर्द—संज्ञा पुं० [फा०, मि० सं० मर्त्त और मर्त्त] (१) मनुष्य । पुरुष ।

आदमी । (२) साहसी पुरुष । पुरुषार्थी मनुष्य । उ०—

मर्द शीश पर नवे मर्द थोली पहिचाने । मर्द खिलाने खाप

मर्द चिंता नहि आने । मर्द देव औ लेख मर्द को मर्द बचावे ।

गहिरें सँकरे काम मर्द के मर्द भाये । पुनि मर्द उन्हीं को

जानिये दुख सुख साथी कर्म के । पैताल कहै मुन विक्रम, व

ये लक्षण मर्द के ।

मुहा०—मर्द आदमी = (१) भला आदमी । तत्प्य पुरुष ।

(२) वीर । बहादुर ।

(३) वीर पुरुष । योद्धा । जवान । उ०—चलेउ भूप गोन्दे

वर्दे बाहन समान बल । संग लिये वहु मर्द कलि होत अपर-

दल ।—गिरधरादास । (४) पुरुष । नर । जैसे—मर्द और

औतें । (५) पति । मर्ता ।

मर्दाना—कि० पं० [सं० मर्दान] (१) अंग आदि पर जोरसे हाथ फेरना। मालिश करना। मलना। उ०—तन मर्दति पिय के तिया, दरसावति छुट रोष।—प्रभाकर। (२) उबटन रोख आदि की अंगों पर चुपचुकर बलपूर्वक चुपड़े हुए स्थान पर बार बार हाथ फेरना जिससे अंग में उसका सार आ जिये अंग घुस जाय। मलना। (३) चूणित करना। तोड़ फोड़ डालना। (४) मसकट्टर विकृत करना। नास करना। कुचलना। रीटना। उ०—(क) कबहुँ विटप मूषर उपारि पर सेन बरस्ये। कबहुँ बाजि सन बाजि मर्दि गजराज कावये।—गुलसी। (ख) रापेलि फल भर विटप उपारे। रच्छक मर्दि मर्दि मति धरे।—गुलसी। (ग) जेहि शर मयु मर्दि महासुर मर्दन, कीन्हो। माग्यो ककंस गरक हांष हनि हांस मुलीको।—केशव।

मर्दानगी—छंदा सी० दे० “मरदानगी”।

मर्दाना—वि० [क०] (१) पुण्य संबंधी। (२) मनुष्योचित। (३) चोरोचित। (४) नीर। साहसी। (५) पुण्य का सा। पुण्यवत्।

मर्दित—वि० दे० “मर्दित”।

मर्दी—छंदा सी० [श०] मरदानगी। पीरता। बहादुरी।

मर्दुम—छंदा पु० [क०] मनुष्य।

गी०—मर्दुमशुमारी।

मर्दुमशुमारी—छंदा सी० [क०] (१) किसी देश में रहनेवाले मनुष्यों की गणना। मनुष्य-गणना।

वियोग—यद्यपि भारतवर्ष के मद्रास और पंजाब प्रांतों में समय समय पर यहाँ के रहनेवालों की गिनती करने की प्रथा बहुत पूर्व से चली आती थी, पर प्राच्य देशों में मबीन प्रणाली की मनुष्य-गणना की प्रथा रोम से आरम्भ हुई है, जहाँ स्वतंत्र मनुष्यों के डुड्ड, संपत्ति, दास और गुलिया की परिस्थिति आदि का विवरण यथा समय लिखकर मनुष्यों की गणना की जाती थी। ईंग्लैंड में सबसे पहले मनुष्य-गणना सन् १८०१ में आरम्भ हुई और १८११ में आयरलैंड में गणना की चेष्टा हुई। पर सन् १८५१ तक की मनुष्य-गणना परिपूर्ण नहीं कही जा सकती। सन् १८६१ में नियमित रूप से ईंग्लैंड, स्कॉटलैंड और आयरलैंड में मनुष्य-गणना आरम्भ हुई, जिसमें प्रत्येक गाँव और नगर के मनुष्यों की आयु, विवाहिक संबंध, पेशे, जन्म-स्थान आदि का सर्वांगीण विवरण लिया गया, और सन् १८७१ में स्थापित रूप से राजकीय का इंफॉर्मल मनुष्य-गणना हुई। कीक इसी समय अधोक्त सन् १८६० और १८७१ में भारतवर्ष में भी मनुष्य-गणना आरम्भ हुई। पर उस समय काश्मीर, हैदराबाद, राजपूताने और मध्य भारत के देशों राज्यों में मनुष्य-गणना नहीं हुई—और गणना का

प्रबंध भी समुचित नहीं था। भारतवर्ष की रीक कीक मनुष्य-गणना का आरम्भ १८८१ से माना जा सकता है। म मनुष्य-गणना १० फरवरी को हुई थी। तब से प्रति दस वर्ष प्रत्येक ग्राम और नगर में रहनेवालों का नाम, आयु, धर्म, जाति, शिक्षा, भाषा, व्यापार आदि का विवरण लिखा जाता है।

(२) किसी स्थान में रहनेवाले मनुष्यों की संख्या। जन संख्या। आबादी।

मर्दुमी—छंदा सी० [श०] (१) मरदानगी। पीरता। बहादुरी। (२) पुंसंग।

क्रि० प्र०—दिखलाना।—रत्न।

मर्दुद—वि० दे० “मर्दुद”।

मर्दक—वि० [ग०] (१) मर्दन करनेवाला। मर्दनकारक। (२) द्यानेवाला। तिर्यभाषक।

मर्हन—छंदा पु० [सं०] [वि० मर्हन] (१) कुचलना। रीटना।

उ०—(क) भगवान करे, इस दरबार में तुझे यही मिले अ महादेवजी के सिर पर है और तुझे यह शाक यदाया जाओ कौंटो को मर्हन करता है।—हरिमय। (ख) वेरा भाव लमी है, जब यू इस रावण सरीने चातु आ गुड्ड भयों चरण लख में मर्हन करे।—राधाकृष्ण। (२) दूसरे के अंगों पर अपने हाथों से बलपूर्वक रगड़ना। मलना। पीसे—पीस मर्हन करना। उ०—(क) सित लताहें कियो रचि मर्हन वझादि रचि रचि धोये। गिलक बनाई चले हरासी द्वि विपयनि के गुण लोये।—सूर। (ख) हरि मिथल सुदामा आयो। विधि करि भरप पवित्रे दीगड़े अंतर प्रेम बढ़ायो। आदर बहुत कियो यादपराजि मर्हन करि भन्दावायो। घोषा चंदन और कुमकुमा परिमल अंग बढ़ायो।—सूर। (ग) पाद पत्र निजि मर्हन करे। तन छाया सम निति अनुसरहे।—चो० दि०। (३) लेख, उबटन आदि शरीर में छानना। मलना। उ०—माय रिषो आबेगे कंगल अंग अंग आनूपन राजनि राकति मरने धाम। रति लल जानि अंगं गुपति सो आच धुरणि राजति बस जोरनि। अनि मुगंष मर्हन अंग अंग दनि दनि बनि भूवन भेरनि।—सूर। (४) बंद युद्ध में एक भल का दूसरे भल की मर्हन आदि पर हथों से घरसा लगाना। घरसा। उ०—आश्रम मर्हन सुख-बंधन। रचि बदन भेरन परि बंधन।—गीताल। (५) पंच। माया। उ०—जेहि शर मनु-मर्दि महासुर मर्दन कीन्हो। माग्यो ककंस गरक हांष हनि हांस मुलीको।—केशव। (६) रथेधर दत्तों के अनुयायि अर्थात् प्रसाद के शिष्य-संरक्षकों में दूसरा संस्कार। इसमें कोरे आदि की ओजपियों के साथ शरक करते या चोंचते हैं। पीरना। (७) पीरना। पीरना। रगड़ना।

मर्दन—छंदा पु० [सं०] [वि० मर्दन] (१) कुचलना। रीटना। उ०—(क) भगवान करे, इस दरबार में तुझे यही मिले अ महादेवजी के सिर पर है और तुझे यह शाक यदाया जाओ कौंटो को मर्हन करता है।—हरिमय। (ख) वेरा भाव लमी है, जब यू इस रावण सरीने चातु आ गुड्ड भयों चरण लख में मर्हन करे।—राधाकृष्ण। (२) दूसरे के अंगों पर अपने हाथों से बलपूर्वक रगड़ना। मलना। पीसे—पीस मर्हन करना। उ०—(क) सित लताहें कियो रचि मर्हन वझादि रचि रचि धोये। गिलक बनाई चले हरासी द्वि विपयनि के गुण लोये।—सूर। (ख) हरि मिथल सुदामा आयो। विधि करि भरप पवित्रे दीगड़े अंतर प्रेम बढ़ायो। आदर बहुत कियो यादपराजि मर्हन करि भन्दावायो। घोषा चंदन और कुमकुमा परिमल अंग बढ़ायो।—सूर। (ग) पाद पत्र निजि मर्हन करे। तन छाया सम निति अनुसरहे।—चो० दि०। (३) लेख, उबटन आदि शरीर में छानना। मलना। उ०—माय रिषो आबेगे कंगल अंग अंग आनूपन राजनि राकति मरने धाम। रति लल जानि अंगं गुपति सो आच धुरणि राजति बस जोरनि। अनि मुगंष मर्हन अंग अंग दनि दनि बनि भूवन भेरनि।—सूर। (४) बंद युद्ध में एक भल का दूसरे भल की मर्हन आदि पर हथों से घरसा लगाना। घरसा। उ०—आश्रम मर्हन सुख-बंधन। रचि बदन भेरन परि बंधन।—गीताल। (५) पंच। माया। उ०—जेहि शर मनु-मर्दि महासुर मर्दन कीन्हो। माग्यो ककंस गरक हांष हनि हांस मुलीको।—केशव। (६) रथेधर दत्तों के अनुयायि अर्थात् प्रसाद के शिष्य-संरक्षकों में दूसरा संस्कार। इसमें कोरे आदि की ओजपियों के साथ शरक करते या चोंचते हैं। पीरना। (७) पीरना। पीरना। रगड़ना।

वि० [की० महिती] नाशक । विनाशक । संहारकर्ता ।
४०—(क) ऊँट हँसु सम देह उमारमण करना भयन ।
आदि दीन पर नेह करहु कृपा मर्हन भयन ।—गुलसी ।
(ख) किन गजपति मर्हन प्रबल सिंह पीजरा दीन ।—
हरिभद्र ।

महल—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का गृदंग की तरह का एक प्रकार का पाता । इस याने का उल्लेख महाभारत में है और आजकल इसका प्रचार बंगाल में पाया जाता है, जहाँ यह विशेषकर मृतकों की अर्पों के साथ अथवा हरिकीर्तन आदि के समय बजाया जाता है ।

महिती—वि० [सं०] (१) जो मर्हन किया गया हो । मला या मसला हुआ । (२) डुकड़े डुकड़े किया हुआ । (३) नष्ट किया हुआ ।

मर्म—संज्ञा पुं० [सं० मर्म] (१) स्वरूप । (२) रहस्य । तत्व । भेद ।
कि० प्र०—देना ।—पाना ।—लेना ।
यौ०—मर्मज्ञ ।

(१) संधि स्थान । (४) प्राणियों के शरीर में वह स्थान जहाँ आघात पहुँचने से अधिक घेदना होती है । वैद्यक में मांस, शिरा, ज्ञायु, अस्थि और संधि के सन्निपात स्थान को मर्म माना गया है और यहाँ प्राणों का निवास स्थान लिखा गया है । प्रकृति, स्थान और परिणाम भेद से मर्म पाँच प्रकार के होते हैं और कुल मर्मों की संख्या १०० मानी गई है । प्रकृति के विचार से मर्मों की संख्या इस प्रकार है—मांस मर्म ११, अस्थि मर्म ८, संधि मर्म २०, ज्ञायु मर्म २७, शिरा मर्म ४१ । स्थान के विचार से मर्मों की संख्या इस प्रकार है—सिक्थि वा पिरों में २२, भुजाओं में २२, उर और कुक्ष में १२, घट में १४, मीथा और ऊर्ध्व भाग में ३७ । परिणाम के विचार से मर्मों की संख्या इस प्रकार है—सद्यः प्राणहर १९, कालांतर मारक ३३, वैकल्पकारक ४४, रजामारक ८, विशालपक्ष ३ ।

यौ०—मर्मच्छेदन । मर्मप्रहार । मर्मभेदक । मर्मभेदी । मर्म-
बचन । मर्मस्पर्शी ।

मर्मग—वि० [सं०] मर्मज्ञ ।

मर्मचर—संज्ञा पुं० [सं०] हृदय ।

मर्मच्छेदक—वि० [सं०] मर्मभेदक । मर्म भेदनेवाला ।

मर्मच्छेदन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राणघातन । जान लेना ।

(२) अधिक कष्ट देना । बहुत सताना ।

मर्मज्ञ—वि० [सं०] जो किसी बात का मर्म या गुप्त रहस्य जानता हो । तत्त्वज्ञ । (२) भेद की बात जाननेवाला । रहस्य जाननेवाला ।

मर्मपीड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मन को पहुँचनेवाला छेदा । आंतरिक दुःख ।

मर्मप्रहार—संज्ञा पुं० [सं०] वह आघात जो मर्म स्थान पर हो ।

मर्म स्थान की चोट । वैद्यक में इसे घण का एक भेद माना है । इसमें रोगी गिरता पड़ता, अटपट पकता, घबराता और मूर्च्छित होता है, उसके शरीर में गरमी छटकती है और हृदयों बोली पड़ जाती है ।

मर्मभिद्—वि० [सं०] मर्मच्छिद् । मर्मभेदी । उ०—दुष्ट रावण कुम्भकरण पाकारि जित मर्मभिद् कर्म परिपाकदाता ।—
गुलसी ।

मर्मभेदक—वि० [सं०] (१) मर्म छेदनेवाला । (२) हृदय-
विदारक । बहुत अधिक हार्दिक कष्ट पहुँचानेवाला ।

मर्मभेदी—वि० [सं० मर्मभेदिन्] हृदय पर आघात पहुँचानेवाला ।
आंतरिक कष्ट देनेवाला । जैसे—आपको इस प्रकार की मर्मभेदी बातें न कहनी चाहियें ।

मर्मभय—वि० [सं०] रहस्यपूर्ण ।

मर्मर—संज्ञा पुं० दे० “मरमर” ।

मर्मवचन—संज्ञा पुं० [हि० मर्म + वचन] वह बात जिससे सुनने-
वाले को आंतरिक कष्ट पहुँचे । मर्मभेदी बात । उ०—
मर्मवचन सीता तय बोला । हरि प्रेरित लखिमन मन
बोला ।—गुलसी ।

मर्मवाक्य—संज्ञा पुं० [सं०] रहस्य की बात । भेद की या गुप्त
बात ।

मर्मविद्—वि० [सं०] मर्म या तत्व जाननेवाला । मर्मज्ञ ।

मर्मविदारण—संज्ञा पुं० [सं०] मर्मच्छेदन । मर्मच्छेद ।

मर्मवेदी—वि० [सं०] मर्मज्ञ ।

मर्मस्थल—संज्ञा पुं० [सं०] मर्म स्थान । वि० दे० “मर्म” ।

मर्मस्थान—संज्ञा पुं० [सं०] मर्म स्थल । मर्म । वि० दे० “मर्म” ।

मर्मस्पर्श—वि० [सं०] हृदय को स्पर्श करनेवाला । हृदय पर
प्रभाव डालनेवाला । मर्मस्पर्शी ।

मर्मांतक—वि० [सं०] मन में चुभनेवाला । मर्मभेदक । हृदयस्पर्शी ।

मर्मान्वेषण—संज्ञा पुं० [सं०] किसी बात का तत्व या गुप्त रहस्य
जानना । तत्त्वानुसंधान ।

मर्माविद्, मर्माविध—वि० [सं०] मर्म भेदनेवाला । मर्मभेदी ।

मर्मिक—वि० [सं०] मर्मविद् । मर्मज्ञ ।

मर्मि—वि० [हि० भर्म] रहस्य जाननेवाला । तत्त्वज्ञ । मर्मज्ञ ।

उ०—(क) मर्मा मूल गहल मन माना । मर्मी होय सो

मर्महि जाना ।—कबीर । (ख) मर्मी सजन सुमति कुदारी ।

ज्ञान विराग नयन उर भारी ।—गुलसी ।

मर्म्य—संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य ।

मर्यादा—संज्ञा स्त्री० दे० “मर्यादा” ।

मर्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] सीमा ।

मर्याद—संज्ञा स्त्री० [सं० मर्यादा] (१) दे० “मर्यादा” । उ०—

—ओ मर्याद बहुत सुख लागी । यदि लेके सब संस्र

भाग।—कवीर। (२) रीति। रसम। प्रया। (३) चाल।
रंग। (४) पियाह में घर पक्षवालों का वह भोज जो उन्हें
विवाह के तीसरे दिन कन्या पक्ष की ओर से दिया जाता
है। बड़हार। यदार।

मुहा०—मय्याद रहना = यरत का विवाह के तीसरे दिन ठहर-
कर भोज में शामिल होना।

मय्यादा—रंदा छी० [सं०] (१) सीमा। हद। (२) कुल।
नदी का किनारा। (३) दो या दो से अधिक मनुष्यों के
बीच की प्रतिज्ञा। मुभादिदा। करार। (४) नियम। (५)
सदाचार। (६) मान। प्रतिष्ठा। गौरव।

क्रि० प्र०—रखना।

(७) धर्म।

मय्यादायाँ—रंदा पु० [सं०] (१) अधिकार की रक्षा। (२)
गजरबंदी।

मय्यादो—वि० [सं० मय्यादिन्] सीमाप्राप्त। सीमायुक्त।

मरीं—रंदा छी० [रि० मरना] वह भूमि जो कर्म छेनेवाले ने
खुद के बटने में महाजन की दी हो।

मर्य—रंदा पु० [सं०] क्षाति।

मर्यण—रंदा पु० [सं०] (१) क्षमा। माफी। (२) धर्म। रगद।
वि० (१) मासक। ध्वंसक। (२) दूर करनेवाला। रोकने
वा हटानेवाला।

मर्यणीय—वि० [सं०] क्षमा करने के योग्य। क्षम्य।

मलंग—रंदा पु० [सं०] = भारे से काहर। (१) एक प्रकार के मुस-
लमान साधु। ये मदार बाढ़ के अनुयायी होते हैं और सिर
के बाह्य धाते और नंगे सिर और नंगे पैर अकेले भीख
मँगते फिरते हैं। उ०—(क) कौड़ा भाँपूँ रूँ, करि साँकर
बदनी सजल। कौने बदन न मूँद, रंग मलंग घारे रई।—
बिहारी। (ख) किरी मीन मलंग चट्टी यल तुंग भँजरी
भरी न परे सटकी।—मुर्मुदलाख। (२) एक प्रकार का
बड़ा बगला जो स्पष्ट सख्दे रंग का होता है। यह भारत-
वर्ष और बरमा में होता है; और प्रायः पक्षों में और
अकेला रहता है।

मलंगा—रंदा पु० दे० “मलंग”।

मस—रंदा पु० [सं०] (१) मील। कीट। जैसे—घातुओं का मस।
उ०—खोला सगुन जो कहदि बरगामी। सोद खण्डनाकरद
मस हानी।—मुलसी। (२) शरीर में निकलनेवाली मील
वा विकार। ये मस बाढ़ प्रकार के मले गए हैं—(१)
बला, (२) दुष्क, (३) रफ, (४) मज्जा, (५) मूत्र, (६)
विषा, (७) कर्मेमल वा रौद, (८) गध, (९) क्लेशमा वा
कक, (१०) भौं, (११) शरीर के ऊपर जमी हुई मील और
(१२) पसीमा। (३) विषा। घुरीप। (४) कृपण। विचार।
(५) छद्मनामात्क परार्थ। (६) पाप। (७) दोष। दुर्ग।

प्रेष। (८) हारे का एक दोष। (९) मीन प्राक्कमुसत
आध्याश्रित दुष्ट भाव। यह पाँच प्रकार का माना गया है—
मिथ्या ज्ञान, अधर्म, सफि, हेतु और ध्युति। (१०) कर।
(११) प्रकृति। दोष। जैसे,—पात, पिता, कक।

[देग०] फीलवानों का एक सांकेतिक शब्द जो क्षापियों
को उठाने के लिये कहा जाता है।

मलकाना—क्रि० प्र० [रि० मनकाना] (१) हिलना होलना।
(२) हतराना। हटलाना।

मलकारन—रंदा पु० [देग०] यरत पर नदारी करनेवालों का
एक औजार जिससे लोहों पर दोही लकीर पकती है।

मलकाछु—रंदा पु० [रि० मलन + काछ] ठातुओं के शृंगार के लिये
एक प्रकार की कछनी जिसमें तीन हाथ्ये छगे होते हैं।

मलकाना—क्रि० प्र० [अनु०] (१) हिलाना। होलाना। रिच-
लित करना। जैसे भौल मलकाना।
क्रि० प्र० बना बनाकर बातें करना।

मलखम—रंदा पु० दे० “मलखम”।

मलखम—रंदा पु० [सं० मल + रि० खम] (१) लकड़ी का एक
प्रकार का खंभर जिस पर कसरत करनेवाले कुत्तों से बड़
और उतरकर कसरत करते हैं। मलखम तीन प्रकार के होते
हैं—गढ़ा मलखम, छटका मलखम और बेल का मलखम।
गढ़ा मलखम एक खंभर मोटा चार पाँच हाथ लंबा गुगुर
के आकार का खंभर होता है जो भूमि में गढ़ा रहता है।
छटका हुआ वा लटकीला मलखम छत या छिपी और
धरम के सहारे ऊपर से अधोमुख छटका रहता है। जब
हम खंभे की जगह धरम यादि में बेल छटकाया जाता है,
तब इसे बेल का मलखम कहते हैं। इस पर कसरत करने-
वाले बेल की हाथ में पकड़कर उस पर अनेक मुद्राओं से
कसरत करते हैं। इसे बॉल, लगी या मलखानी भी कहते
हैं। मलखम की कसरत भारतवर्ष की एक प्राचीन मल
नामक क्षत्रिय जाति की निहाली हुई है। इसी मल जाति
की आविष्कार की हुई इसकी मलखम भी कहते हैं।
मलखम पर खड़े उगाने को ‘बकद’ कहते हैं। इस
कसरत से मनुष्य में पुजनी भागो है और पैर की रानें दब
शोधी हैं। मलखम। (२) वह कसरत जो मलखम पर की
जसके सहारे ही की जाय। (३) पथर वा लकड़ी के गुगुरों
वाले के कोदू से लकड़ी का एक खंभर जो बाग वा बर
में कोदू से बूझी घोर पर गाढ़ा जाता है और जिसमें
खेंके की रस्सी बाँधी जाती है, अथवा जिसमें रस्सी लगाकर
खेंकी बाँधकर जाद के ऊपर लगाते हैं। इसे मलखम भी
कहते हैं।

मलखाना—क्रि० प्र० [रि० मल + खन] मल खानेवाला। उ०—

कोठ न जग में होत कुटिल मैले मलजाने । उसर वैडि मरजाद अरु आचार न जाने ।—गिरधरदास ।

संज्ञा पुं० [सं० मल + जेन] (१) महोदये के राजा परमाल के भतीजे का नाम । यह पृथ्वीराज चौहान का समकालीन था । (२) पश्चिमी संयुक्त प्रांत में बसनेवाले एक प्रकार के राजपूत जो मुसलमान बना लिए गए थे । इन लोगों का आचार विचार अथ तक प्रायः हिंदुओं का सा है ।

मलखानी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मलखम] एक ऊँचा और सीधा पतला रंग जिस पर बेल से मलखम की कसरत की जाती है । इसे बॉल और लगगी भी कहते हैं । चि० दे० "मलखम" ।
मलजजा-वि० [हिं० मलजा + जीमना] मल्ला दला हुआ । गोंजा हुआ । मरगजा ।

संज्ञा पुं० बेलन में छपेटकर तेल या घी में छाने हुए बैंगन के पतले टुकड़े ।

मलगिरी-संज्ञा पुं० [हिं० मलगिरी] एक प्रकारका हलका कपड़े रंग । यह रंग रँगने के लिये कपड़ा पहले हल्के हलके काढ़े में और फिर कसीस के पानी में डुबोते हैं, और फिर उसे एक रंग में जिसमें कफ़ा, चूना, मैदानी की पत्ती और चंदन का घूरा पीसकर घोला रहता है और छल छपीटा, नाग-मोथा, कपूर कचरी, नख, पौजा, विरमी, सुगंध पांदा, सुगंध कोकल, बालछद्म, जराकुस, शुद्धना, सुगंध मैत्री, लौंग, इलायची, केसर और कस्तूरी का घूर्ण मिला रहता है, ढालकर पहर भर उबालते हैं और उतारने पर उसे दिन रात उसी में पड़ा रहने देते हैं । दूसरे दिन कपड़े को उसमें से निकालकर निचोड़ लेते हैं और बर्तन के रंग को छानकर उसमें हिना का इतर मिलाकर उसमें फिर उस कपड़े को डुबाकर सुखाते हैं । पर भात कल प्रायः रँगरेज मलगिरी रंग रँगने में कपड़े को कच्चे और चूने के रंग में रँगते हैं; फिर उसे कसीस के पानी में डुबा देते हैं । इसके बाद रंगे हुए कपड़े को आहार देशर निचोड़ते और सुखाते हैं और अंत में उसपर हिना का इतर मल देते हैं ।

वि० मलगिरी रंग का ।

मलधन-संज्ञा पुं० [सं० मलधा] एक प्रकार का कचनार, जो लता रूप में होता है और हिमालय की चराई, मध्य भारत और देनासम के जंगलों में पाया जाता है । इसकी छाल मल्ल कहलाती है जिस पर रंग अच्छा चढ़ता है और जो कूटने पर ऊपर की तरह चमकदार हो जाती है । इसे ऊन में मिलाकर तागा काटा जाता है जिससे ऊनी कपड़े बुने जाते हैं । यह छाल ऐसी साफ होती है कि ऊन में मिलाने पर इसकी मिलावट बहुत कम पहचानी जाती है ।

मलम-वि० [सं०] [स्त्री० मलमी] मलनाशक ।

संज्ञा पुं० (१) बाल्मीकीय । सेमल का मुसला । (२) कचनार का एक भेद । मलधन ।

मलप्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदीना ।

मलज-संज्ञा पुं० [सं०] पीव ।

मलज्वर-संज्ञा पुं० [सं० मल + ज्वर] अमृत सागर के अनुसार एक प्रकार का ज्वर जो मल के रुकने के कारण होता है । इससे रोगी के पेट में शूल और सिर में पीड़ा होती है, मुँह सूखा रहता है, जलन होती है, भ्रम होता है और कभी कभी मूर्च्छा भी आती है ।

मलभन-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की बेल जो बागों में लगाई जाती है ।

मलट-संज्ञा पुं० [सं० मेल्ट] (१) लकड़ी का हथौड़ा जिससे लूँटे आदि गाढ़े जाते हैं । (२) काठ का वह हथौड़ा जिससे छापने के पहले सीसे के अक्षर टॉकर बैठाए और बराबर किए जाते हैं ।

मलद-संज्ञा पुं० [सं०] बाल्मीकीय रामायण के अनुसार एक प्रदेश का नाम । कहते हैं कि तादका यहीं रहती थी । इसे मलभूमि भी कहते थे ।

मलदूषित-वि० [सं०] मलीन । मैला ।

मलद्रापी-संज्ञा पुं० [सं० मलद्राप्ति] जयपाल । जमालगोदा ।

मलहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर की वे इंद्रियाँ जिनसे मल निकलते हैं । (२) पाखाने का स्थान । गुद्दा ।

मलधारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह धार जो बच्चों का मल मूत्र धोने पर नियुक्त हो ।

मलधारी-संज्ञा पुं० [सं० मलधारि] एक प्रकार के जैन साधु जो शरीर में मल लगाए रहते हैं और उसको धोते और शुद्ध नहीं करते ।

मलन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मर्दन । मीनना । (२) पोतना । लेप करना । लगाना ।

मलना-क्रि० सं० [सं० मलन] (१) हाथ अथवा किसी और पदार्थ से किसी तल पर उसे साफ, मुलायम या अच्छा करने के लिए रगड़ना । हाथ या किसी और चीज से दबाते हुए घिसना । मर्दन । मीनना । मसलना । जैसे,—लोई मलना, घोड़ा मलना, यरतन मलना । उ०—(क) यदि सर घड़ा न चूड़ता मंगर मलि मलि न्हाय । देवल मुँदा कलस लो पडि पियासा जाय ।—कबीर । (ख) चलि सलि वेहि सरोवर चाहि । जेहि सरोवर कमल कमला रवि निना बिकसाहि । हंस उज्जल पंख निमल भांग मलि मलि न्हाहि । मुक्ति मुक्ता अंश के फल तिन्हें सुनि सुनि साहि ।

—सुर ।

संयो० क्रि०—हालना ।—देना ।

मुहा०—दलना मलना = (१) चूर्ण करना । पीस कर टुकड़े

दुर्द्ध करना । उ०—रन मंच रावण सकल सुभट प्रचंड
मुनयल दलमय ।—मुलसी । (२) मलना । हाथों से रग-
दना । पिसना । हाथ मलना = (१) पछाना । पचासान
करना । उ०—बार बार करल कहैं मलि कै । निज कर
पीठ रदन सों दलि कै ।—गोपाल । (२) मेष प्रगट करना ।
उ०—बघो सुकमां वीर भलो अंबर तन धारे । मलो कहि
भरि मोप हथोरन नद बहु पारे ।—गोपाल ।

(२) किसी वस्तु पदार्थ या पूर्ण आदि को किसी वस्तु पर
रखकर हाथ से रगदना । मालिश करना । जैसे,—सेल
मलना, सुरती मलना । उ०—(क) मनु सों गीले हाथ है
दोषो धनुष न आह । से पराग मलि कुसुम बार वेधत मोहि
बनाय ।—गुमान । (ख) चलेउ भूप पुरमित्र मित्रहृति
मगध मित्र मन । पट पवित्र मनि चित्र सदित मलि हय
भरे तन ।—गोपाल । (३) किसी पदार्थ को डुकड़े डुकड़े
या पूर्ण करने के लिए हाथ से रगदना या दबाना ।
मसलना । मीजना । उ०—जो कदो तिहारो यल पायें बाएँ
हाथ नाथ । अंगुरी सों मेह मलि हारों यह दिन मैं ।—
हनुमन्नाटक । (४) मरोदना । मँडना । जैसे,—मुँद मलना,
नाक मलना, कान मलना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

(५) हाथ से बार बार रगदना या दबाना । जैसे,—छाती
मलना, गाल मलना ।

मलनी—छंदा की० [दि० मन्त्र] भाट इस अंगुल लंबा, दो
अंगुल चौड़ा, सुदीक और चिकना कपड़न के आकार का
बाँस का एक डुकड़ा जिससे कुम्हार मलकर सुराहियों आदि
चिकनी करते हैं ।

मलपंकी—वि० [मं० पारकिन्] (१) मलीन । मैला । (२)
कीचड़ में राना हुआ ।

मलपू—छंदा पुं० [म०] कटहर ।

मलपा—छंदा पुं० [रि० मलर] (१) बूढ़ा कष्ट । कपवार । (२)
दुखी या गिराई हुई इमारत की ईंटें, पत्थर और प्ला
आदि । (३) एक प्रकार की उगाही या देहरी जो गाँव में
पहाड़ों से दूर के हाथियों आदि के गर्भ के लिये बमूल
की जाती है ।

मलमुज—छंदा पुं० [म०] बीया ।

मलमेदिनी—छंदा श्री० [म०] कुटली ।

मलमल—छंदा की० [मं० मलमल] एक प्रकार का पतका
कपड़ा जो बहुत बारीक सूत से बुना जाता है । प्राचीन
काल में यह कपड़ा भाग्यवर्ष में, विजय कर बंगाक और
विजय में बुना जाता था और वहीं से निज मित्र देवों में
जाता था । अब तक छोटे और सुसिंहवार हैं अपनी मल-
मल बनायी है । उ०—(६) मलमल काया पदनो धाते

नागर पान । देहा होकर धालते करते बहुत गुप्तार ।—
कपीर । (६) कमरी योरे दाम की भाँवे बहुत काम । पाता
मलमल बाकता उनकर राही मान ।—गिरधराय ।

मलमला—छंदा पुं० [दे०] कुकुर का साग ।

मलमलाना—कि० सं० [दि० मलना] (१) बार बार रगदना ।

लगातार चुकाना । (२) बार बार खोलना और ढकना ।

जैसे पलक मलमलाना । (३) पुनः पुनः मालिश करना ।

उ०—नवल सुनि नवल पिया मनो मनो दूरत विधि तन
मलमले प्राणवति पीय को भवर धन्यो रो । प्रीति की रीति
प्राण चंचल करत निरति नागरी मैन पियुक्त हो मोरी ।
तब काम केलि कमनीय चंदप चकोर चातक स्वाति दूर
पन्यो री । सुनि सुरदास रस रासि रस बासि कै बली अनु
हरति ले प्रहृ सु गोरी ।—सूर ।

मलमलक—छंदा पुं० [सं०] कोपीन ।

मलमर—छंदा पुं० [रि० मलवा] टूटे टूटे मकानों के गिरे पड़े पत्थर,
रोड़े आदि सामान । मलबा ।

मलमास—छंदा पुं० [सं०] वह अमास मास जिसमें संक्रांति न
पड़ती हो । इसे अधिक मास भी कहते हैं ।

विशेष—यों तो साधारण रीति से बारह महीने का वर्ष माना
जाता है, पर कभी कभी सेरह महीने का भी वर्ष होता है ।
पर यह बात केवल चाँद मास में ही होती है, और मास
सदा वर्ष में बारह ही होते हैं । चाँद मास की इजि का
हेतु यह है कि दिन रात्रि का मान, जिसे दिनमान कहते
हैं, १० वंश का माना जाता है । पर एक निपि का मान
५० वंश का माना जाता है । इसलिये ३० दिन में ३१
निपियों पड़ती हैं । इस हिसाब से चाँद वर्ष और सामान्य
वर्ष में प्रति वर्ष बारह दिन का अंतर पड़ा करता है जो
पाँच वर्ष में पूरे दो महीने का अंतर डाल देता है । ऐसे
अधिक महीने को मलमास कहते हैं । यह चाँद मास,
जिसमें सूर्य की संक्रांति पड़ती है, शुद्ध मास कहलाता
है । पर संक्रांति बहिन मास तीन प्रकार के माने गए हैं
जिन्हें आनुसंगिक, इत्य और मलमास कहते हैं । आनुसंगिक
और मलमास वे मास कहलाते हैं जिसमें सूर्य संक्रांति न
पड़े । पर यदि सूर्य संक्रांति शुक्र प्रतिपदा को पड़ी हो,
तो उसे इत्यमास कहते हैं । बारह महीने दो अर्धवर्ष
में बाँटे गए हैं—एक विमान्य से पूर्वार्ध तक, दूसरा कार्तिक
से शैत तक । यह मलमास आषाढागुन से अगहन तक
दस ही महीनों में पड़ता है । दोष दो महीनों में से एक में
तो कभी मलमास पड़ना ही नहीं, और मास में बहुत ही
कम पड़ा करता है । इसका नियम यह है कि यदि एतिसा-
वन और उत्तराश्विन दोनों अवधों में मलमास शुद्ध मास
पड़े, तो दक्षिणायन का मास आनुसंगिक और उत्तराश्विन का

मास मलमास कहावेगा। पर यदि एक ही अयन में दो मास मलमास लक्षणयुक्त हों, तो पहला मलमास और दूसरा भानुलपित कहावेगा। पर ऐसे दो मास उसी वर्ष में पड़ते हैं जिसमें क्षय मास भी पड़ता है। पर कार्तिक, अगहन और पूष के महीने में क्षय मास नहीं होता। विवाहादि शुभ कृत्य जिस प्रकार मलमास में वर्जित हैं, उसी प्रकार भानुलपित और क्षय मास में भी वर्जित हैं।

पर्याय—अधिक मास। पुरोत्तम। मलिम्लुच। अधिमास। अशंकित मास। समुत्सक मास।

मलय-संज्ञा पुं० [सं० मलय = पर्वत] (१) एक पर्वत का नाम। यह पश्चिमी घाट का वह भाग है जो मैसूर राज्य के दक्षिण और द्राव्यकोर के पूर्व में है। यहाँ चंदन बहुत उत्पन्न होता है। पुराणों में इसे सात कुलपर्वतों में गिनाया गया है।

पर्याय—आपाद। दक्षिणाचल। चंदनादि। मलयाचल।

विशेष—मलय दण्ड पवन, समीर, वायु आदि शब्दों के आदि में समल होकर (१) सुगंधित और (२) दक्षिणी वायु का अर्थ देता है।

(२) मलयावर देश। (३) मलाबार देश के रहनेवाले मनुष्य। (४) एक उपद्वीप का नाम। (५) सफेद चंदन।

(६) गण्ड के एक पुत्र का नाम। (७) चंदन वन। (८)

छप्पय के एक भेद का नाम। इसमें २५ गुरु, १०२ लघु, कुल १२७ वर्ण या १५२ मात्राएँ या २५ गुरु, ९८ लघु, कुल १२३ वर्ण या १४८ मात्राएँ होती हैं। (९) पहाड़ का एक प्रदेश। शैलांग। (१०) अपमदेव के एक पुत्र का नाम।

मलयगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलय नामक पर्वत जो दक्षिण में है। यहाँ चंदन अधिक और उत्तम उत्पन्न होता है। यह पश्चिमी घाट का वह भाग है जो मैसूर के दक्षिण और द्राव्यकोर के पूर्व में है। पुराणों में इसे कुल पर्वतों में गिनाया है। (२) मलयगिरि में उत्पन्न चंदन। उ०—बैथी जानि मलयगिरि बासा। सीस चढ़ी छंटई चहुँ पास।—जायसी। (३) हिमालय पर्वत का वह देश जहाँ कामरूप और आसाम है। (४) दे० “मलयगिरी”।

मलयगिरी-संज्ञा पुं० [हिं० मलयगिरि] दारचीनी की जाति का एक प्रकार का वड़ा और बहुत ऊँचा वृक्ष जो कामरूप, आसाम और दारजिलिंग में उत्पन्न होता है। इसकी छाल दो अंगुल से चार पाँच अंगुल तक मोटी होती है और छरुकी मारी, पीछापन लिये सफेद रंग की होती है। छाल और छरुकी दोनों सुगंधित होती हैं। लकड़ी बहुत मजबूत होती है और साफ करने पर चमकदार निकलती है जिसमें दीमक आदि कीड़े नहीं लगाते। इससे मेज, कुर्सी, खंजूक आदि बनते हैं और इमारत आदि में भी यह काम आती है। वसंत ऋतु में चीज बोने से यह वृक्ष उगता है।

मलयज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) राहु।

मलयद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) मदन। मैता वा मैनी नामक पेड़।

मलयभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिमालय के एक प्रदेश का नाम।

मलयपासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

मलया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विद्वतां। निसोष। (२) सोमराजी। यावची। बकुची।

मलयागिरि-संज्ञा पुं० दे० “मलयगिरि”।

मलयाचल-संज्ञा पुं० [सं०] मलयगिरि। मलय पर्वत।

मलयाचल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलय पर्वत की ओर से आने वाली वायु। दक्षिण की वायु। (२) सुगंधित वायु। (३) बसंत काल की वायु।

मलयालम-संज्ञा पुं० [ताम० मलय = पर्वत + लम = उपत्यका] दक्षिण के एक पहाड़ी देश का नाम जो पश्चिमी घाट के किनारे किनारे फैला हुआ है। इसे केरल भी कहते हैं। यहाँ की भाषा भी मलयालम कहलाती है। यहाँ नायर नामक हिंदुओं और मीपला नामक मुसलमान जाति की आबादी है।

मलयालि-संज्ञा पुं० [ताम० मलयलम] मलयालम में बसनेवाली एक पहाड़ी जाति का नाम। इस जाति के लोग पशुपालन और खेती करते हैं और वामिल भाषा बोलते हैं।

मलयाली-वि० [ताम० मलयालम] (१) मलयावर देश का। मलाबार देश संबंधी। (२) मलाबार देश में उत्पन्न।

संज्ञा स्त्री० मलाबार देश की भाषा।

मलयोज्ज्व-संज्ञा पुं० [सं०] चंदन।

मलरुचि-वि० [सं०] दूषित रुचि का। पापी। उ०—सेह्य सहित सनेह देह भरि कामदेव कलि कासी। समनि सोक संताप पाय रुत सकल सुमंगलरासी।.....दंडपानि बैरव विषान मलरुचि खलगन मे दासी। छोल दिनेस त्रिकोचन लोचन करनदंड घंटा सी।—मुलसी।

मलरोधक-वि० [सं०] जो मल को रोके। जिसके खाने से कोष्ठ बंद हो। कज्जियत करनेवाला। काबिज।

मलरोधन-संज्ञा पुं० [सं०] विरोध। कोष्ठबंद। कज्जियत।

मलवा-संज्ञा पुं० [वरगी] हाथर की जाति का एक पेड़ जो बरमा में होता है। यह बहुत अधिक ऊँचा नहीं होता। इसकी लकड़ी चिकनी और नारंगी रंग की होती है और मेज, कुर्सी आदि बनाने के काम में आती है।

मलवाना-किं० सं० [हिं० मतना] मलने का प्रेरणार्थक रूप।

मलने के लिये प्रेरणा करना। मलने का काम दूसरे से कराना।

मलचिनाशिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शाल्यपुष्पी। (२) धार।

मलवेग-संज्ञा पुं० [सं०] मलीसार।

मलखा-संज्ञा पुं० [सं० मलख] धी रत्न के का गुणा।

मलसी-पंखा सी० [रि० मलमा] मिट्टी का बर्तन जिसमें प्रायः सुखमान खाना पकाते हैं ।

मलसुत-पंखा पु० [म० मलसूत] भारी बोझ उठाकर गादी या नाव आदि पर छादने का यंत्र । गीघ । दमकड़ा ।

मलहता-पंखा पु० [म० मलहंत] सेमल का मूसक ।

मलहम-पंखा पु० [म० मलहम] ओपपियों के योग से बना हुआ चिकना चपड़ीला छेप जो पाव, फोड़े आदि पर लगाया जाता है । मरहम ।

मलहट-पंखा पु० [म०] जमालगोरा । जवपाळ ।

मलहा-पंखा सी० [म०] हरिपंखा के अनुसार राजा रौद्राक्ष की पत्न्या का नाम ।

मलहारक-पंखा पु० [म०] भंगी । मेहतर ।

मला-पंखा सी० [म०] (१) चमड़ा । (२) चमड़े से बना हुआ पदार्थ । (३) कसकूट । (४) मुई आँवला । (५) बिष्टा का ठंठ । (६) आँखा हलदी ।

मलार-पंखा सी० [म०] (१) दूध की साड़ी । उ०—छाछ की छल्लात जैसे राम नाम के प्रसाद ग्राह लून खात सौं पि दूध की मलाई है ।—तुलसी ।

विशेष—जब दूध हलकी आँच पर गरम किया जाता है, तब यह गाढ़ा होता जाता है और उसके ऊपर सार भाग की एक हलकी तह जमती जाती है । यही तह बार बार जमने से मोटी हो जाती है । इसी को मलाई कहते हैं । यह गुलाबम और चिकनाई से भरी होती है । जमाए जाने पर इसी मलाई को मधकर मसका निकाला जाता है ।

कि० प्र०—भावा ।—जमना ।—पंदना ।

(१) सार तण । रस । उ०—गूरि वहें विप भूरि अई मल्लाह सुपाई सुपा की मलाई । (१) एक रंग का नाम जो बहुत हलका बरामही होता है ।

पंखा सी० [रि० मलमा] (१) मलने की किया का माध । (२) मलने की मजदूरी ।

मलाकरी-पंखा पु० [म० मलकरी] [सी० मलकरी] भंगी । मेहतर ।

मलाहा-पंखा सी० [म०] (१) बामिनी सी । (२) बेरपा । (३) दूरी । (४) हरिनी ।

मलाह-पंखा पु० [म०] एक प्रकार का मोटा परिया कागज जो प्रायः बाकी रंग का होता है और कागजों के बंधव बचने का इसी प्रकार के और कामों में भाग्य है ।

मलाह-पंखा पु० [म०] (१) दूध । उ०—(क) बार बारि दूध निरिन बरि करि गिनु वचन प्रमाय । आइ पाई पुनि देगि-हई मन अनि करगि मजान ।—तुलसी । (ख) मुनि मजनी मूर भाग है अति मजान मजिनेह । पुनो बजनी में त निरि देन उमिनि यह बंद ।—पं० म० ।

मलानि-पंखा सी० [म०] "मलानि" । उ०—जानि विप मनुष्य-ही सिय सहस विधि सममानि । राम सद्गुण प्राप्त पानि अई कछु मलानि ।—तुलसी ।

मलापह-पंखा पु० [म०] [सी० मलापह] (१) मलनाटक । मल करानेवाला । (२) पापनाटक ।

मलावार-पंखा पु० [म०] मलवार = दिवाण । भारत के दक्षिणी प्रांत का यह प्रदेश जो पश्चिमी समुद्र के किनारे पर है । यह प्रदेश पश्चिमी घाट के पच्छिमी समुद्र के तट पर है ।

मलामत-पंखा सी० [म०] (१) खानत । फतकार । हुतकार । उ०—भावा रोज बचामत मलामत से पाक हुद, रैगी सलामत सुदाई भाप भापते ।

यौ०—खानत मलामत ।

(२) किसी पदार्थ में का विकृत या परावर्तन । गर्दी । कि० प्र०—निकलना ।

मलामती-पंखा पु० [म०] (१) जो मलामत करने के योग्य हो । हुतकारने या फतकारने योग्य । (२) एलिन । प्रचम्प ।

मलार-पंखा पु० [म०] संगीत शास्त्रानुसार एक राग का नाम । कुछ आचार्यों इसे छः प्रधान रागों के अवर्तन मानते हैं, पर दूसरे इसके बहुतों द्वितीय या मेघ राग को स्थान देते हैं । यह राग यथा, क्रतु में गाया जाता है । बेलावली, पुरवी, कान्हा, माधवी, कौड़ा और केदारिका ये छः इसकी रागिनियाँ हैं । यह संपूर्ण जाति का राग है और इसके गाने की क्रतु यथा और समय रात का दूसरा पर है । संगीत-सारवाले ने इसे मेघ राग का उपा पुत्र माना है । इसका रंग वषाग, आकृति भयानक, गले में सोंई की माला पहने, कुलों के आभूषण धारण किए सखीक वनजाया गया है । इसका एतान विधायक, यथा देते का पला और मुकुट केले की कल्पिका बही जाती है । इसका मज धनुष, क्यारी और तुरा लिखते हैं । उ०—तुम माध मुनि सखिब पे साईं चखत सवार । गदि कर विन परवीन विप रागी राग मलार ।—बिहारी ।

मुदा०—मलार गाना मयहूत प्रयत्न होकर पुत्र बदल, विधेयन गाना । जैसे—आप दिन पर पर देते मलार गाया करते हैं ।

मलारि-पंखा पु० [म०] क्षार ।

मलारी-पंखा सी० [म०] मलारी] वसंत राग की एक रागिनी का नाम ।

मलाव-पंखा पु० [म०] (१) दुग्ध । रस ।

मुदा०—मलाव निकालना = रस में दमा हुआ दूध कुछ बर आकर पर पारना ।

(२) उषासीमता । उदासी ।

मलावह-पंखा पु० [म०] मनु के अनुसार पागों की एक रागिनी

निसमें कृमि-भीटों और पक्षियों की हत्या, मद्य के साथ एक पात्र में लाप हुप पदार्थों को खाना, फल, हृंघन और फूल की घोंरी और अर्घ्य्य समिलित हैं।

मलाह-संज्ञा पुं० दे० "मलाह"। उ०—रुन कहर दरियाव में तरियो है न सलाह। मैदन समुदावत रहे निसि दिन ज्ञान मलाह।—रसनिधि।

मलिंग-संज्ञा पुं० [सं० मलिन] और। उ०—(क) मलिकान मंजुल मलिन मत्तवारे मिले, मंद मंद मासत मुहीम मनसा की है।—पद्माकर। (ख) नेह सरीखी रञ्जु नाई, कविवर करे विचार। वारिज बाँयो मलिन छरि, दार विदारन-हार।—दीनदयाल। (ग) मंजुल मंजरी पै हो मलिन विचारि के भार समारि के दीजियो।—धर्मदाम्य।

मलिक-संज्ञा पुं० [म०] [लो० मलिक] (१) राजा। (२) अधीश्वर। (३) मुसलमानों की एक जाति का नाम जो प्रायः कृषि कर्म करती है। ये लोग मध्यम श्रेणी के माने जाते हैं। (४) किन्नरों और कम्बों के एक वर्ग की उपाधि।

मलिका-संज्ञा स्त्री० [म०] (१) रानी। (२) अधीश्वरी।

संज्ञा स्त्री० दे० "मलिका"।

मलिक-संज्ञा पुं० दे० "मलेच्छ"। उ०—तयही विधाभिन्न सहै विविध सुभायुष दाहि। म्याकुल कीन्ह मलिन दल सब शरु पवन विदाहि।—पद्माकर।

मलिक-संज्ञा पुं० दे० "मलेच्छ"।

मलित-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की छोटी कूँची जिससे छुनार मल्लाशी के गहनों को साफ करते हैं।

मलिन-वि० [सं०] [लो० मलिना, मलिनी] (१) मलयुक्त। मैला। गँदा। हवच्छ का उल्टा। उ०—चाई न चंपकली की थली मलिनी नलिनी की दिशान सिपावे।—केशव। (२) दूषित। खराब। (३) जिसका रंग खराब हो गया हो। मटमैला। धूमिल। बदरंग। उ०—मलिन भये रस माळ सरोवर मुनिजन मानस हंस।—चूर। (४) पापात्मा। पापी। (५) धीमा। फीका। जैसे, उषोति मलिन होना। (६) म्लान। विपण्य। उदासीन। जैसे मलिन मन, मलिन मुख।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार के साधु जो मैला कुचैला कपड़ा पहनते हैं। पाण्डुपत। (२) मट्टा। (३) सोहारा। (४) काला अगर वा अगर चंदन। (५) गौ का ताम्रा दूध। (६) हंस। (७) दस्ता। मूठ। (८) पाप। दोष। (९) रमों की चमक और रंग का पीका और घुँघला होना। रमों के लिये यह एक दोष समझा जाता है।

मलिनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मलिन होने का भाव। मैलापन।

मलिनत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मलिन होने का भाव। मलिनता। मलिन्य।

मलिनमुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमि। आंग। (२) पैल की पूँउ। (३) घेत।

वि० (१) जिसका मुँह उदास हो। उदासीन वदन। (२) क्रूर। (३) खल।

मलिनवि-संज्ञा पुं० [सं०] मसी। स्याही।

मलिना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रजस्वला स्त्री। (२) छाल खाँद। (३) छोटी भटकटैया।

मलिनार्द्र-संज्ञा स्त्री० [हिं० मलिन + आर्द्र (मध्य०)] मैलापन। मलिनता। उ०—(क) सुखी भय सुरसंत भूमिसुर खलपन मन मलिनाई। सवै सुमन निकसत रयि निकसत कुमुद विपिन बिलसाई।—गुलसी। (ख) होम हुताशन धूमनगर एकै मलिनाइय।—केशव।

मलिनानाश-कि० प्र० [हिं० मलिन] मैला होना। उ०—मरे नेह सोई करे निपट रहे मलिनाय। मं० स०।

मलिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रजस्वला स्त्री।

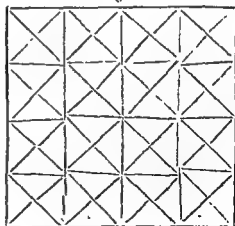
मलिनीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] पापों की एक कोटि का नाम। मलावह।

मलिन्मुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मल मास। (२) अमि। (३) घोर। (४) घासु। (५) पंच यज्ञ न करनेवाला उरुप।

मलिया-संज्ञा स्त्री० [सं० मल्ल वा मल्लिका, हिं० मरिया] (१) मिट्टी के एक वर्तन का नाम जिसका मुँह संग होता है। इसमें घी, दूध, दही आदि पदार्थ रते जाते हैं। (२) गोटी के खेल में यह त्रिकोण चक्र जो चौक के दोनों ओर धींच में बना रहता है। इस खेल को अठारह गोटी कहते हैं। यह



मलिया



चौक

चौक



मलिया

खेल दो आदमी खेलते हैं और प्रत्येक पक्ष में अठारह गोठियाँ होती हैं जिनमें से छः गोठियाँ मलिया में और दो

पारक धाँड़े पंक्तिओं में रखी जाती है। केवल बीच का बिंदु ग्राही रहता है। गोदियों की चाल एक बिंदु से, दूसरे बिंदु तक लक्ष्यों के मार्ग से होती है। जब एक गोदी किसी दूसरी गोदी को उत्पन्न करती है, तब यह पहली गोदी मानों मर जाती है और खेल में से निकालकर अलग कर दी जाती है। दोनों ओर की सब गोदियाँ जब मलिया से चौक में निष्कृत होती हैं, तब यदि किसी पदवाला 'मलिया मेट' वादक कह दे तो दोनों ओर की मलिया मिटा दी जाती है और फिर गोदियाँ चौक में ही रहती हैं। पर यदि कोई मलिया-मेट न करे तो गोदियाँ बराबर मलिया में आती जाती रहती हैं।

यौ०—मलियामेट

(१) घेता। चकर।

मुद्रा०—मलियो यौध्या = रस्सी को मोड़कर यौध्या। (छा०)

मलियामेट-संज्ञा पुं० [हि० मलिया + मलियाम] सत्तानास। तहस नहस। जैसे—उसने सारा घर मलिया मेट कर दिया।

मलिस-वि० [म०] अर्थात् मलिन। बहुत अधिक मैला कुपेला। मलिस-संज्ञा स्त्री० [रंग०] छेनी के आकार का सुनातों का एक भी-जार जिसमें हँसुली की गिरद या चुंछियाँ उगारी जाती हैं।

मलीदा-संज्ञा पुं० [पा०] (१) पूरना। (२) एक प्रकार का ऊनी वस्त्र जो बहुत सुगन्धमान और गरम होता है। यह बुने जाने के बाद मलहर गुरु और सुगन्धमान बनाया जाता है। यह प्रायः कामोद और पंजाब में आता है।

मलीन-वि० [सं० मलिन] (१) मैला। भरपूर। उ०—(क) जिनके जल प्रवाह के भागे। ससि मलीन रवि सीतल लगे।—गुलछी। (ख) मन मलीन हुए सुंदर कैसे। निष रस गात कनक तट किने।—गुलछी। (२) उदास। उ०—मनि मलीन रूपवानु बुभारी। हरि भग्न जल भंगर तनु भीने ता साष्टक न धुरारनि सारी।—गूर।

मलीनता-संज्ञा स्त्री० दे० "मलिनता"। मलीमस्त-संज्ञा पुं० [म०] (१) छोटा। (२) पीछे रंग का बदलना। (३) पार।

वि० (१) मलिन। मिश्र। (२) काला। (३) पानी।

मलीयस्-वि० [सं०] [रंग० मलीयस्] अर्थात् मलिन। बहुत अधिक मैला कुपेला।

मनुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उदर। पेट। (२) एक प्रकार का पशु। मनुक-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मनुष्य नामक कृष्णार की जाति। यह बहुत बड़ा होती है और रंगों पर बूटकर ऊन में गिराई जाती है। (२) मनुष्य नामक वृक्ष।

मनुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का बीड़ा। (२) एक प्रकार का पानी। उ०—मनुक कोटल करीन। कग-

हंस और कलहंस गीत।—मृदल। (१) बौद्ध सामंजस्य एक संन्यास्थान। (२) दे० "भमरक"।

वि० [रंग०] सुंदर। मनोहर। उ०—प्यारी प्यारी के मनुक हरियाली कुंजों।—शोभा छवि आनंद भरी तब मुक्त की पुंजें।—धीवर।

मलेत्त-संज्ञा पुं० दे० "मलेत्त"।

मलेच्छ-संज्ञा पुं० दे० "मलेच्छ"।

मलेरिया-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का उमर जो वर्षों मनु में फैलता है।

यिरोप—पहले दानतों का विघास या कि यानुओं के सहारे या किसी अन्य कारण से पायु में विघ्न फैलता है जिससे सगिराम, अर्थात् अंतरिया, तिजरा, चौधिया आदि उमर, जो मलेरिया के अंतर्गत हैं, फैलते हैं। पर अब उन्होंने पर निषय किया है कि मलेरिया के दंत से मलेरिया का विघ्न मनुष्यों के रक्त में पहुँचता है जिससे सगिराम उमर का रोग उत्पन्न होता है।

मलोलो-संज्ञा पुं० [सं० मलूल वा बलवता] (१) मानसिक अक्षय। दुःख। रंज। उ०—राधे अशो हरि भाषो बों भरिहे धुन भरिहे मेरि मलोलें।—देव।

मुद्रा०—मलोला वा मलोले जाना = दुःख होना। पछाया होना। पश्चात्ताप होना। मलोले जाना = मानसिक अक्षय रहना। दुःख उठाना। उ०—उन्होंने मलोले के मलोले ना के कदा।—दंता भट्टार। दिलके मलोले निडावना = मनुष्य निरासना। कुछ बच बरकर मन या दुःख दूर करना।

(२) यह हृष्य जो उमर उमरकर मानसिक अक्षय उतार करे। अरमान। जैसे—मेरे मन का मलोला कब होना। (गीत)

कि० प्र०—माना।—उटना।—निकालना।

मल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जाति का नाम। इस जाति के लोग इंद्र पुरुष में बड़े नियुक्त होते थे, इसी लिये इंद्र पुरुष का नाम मलपुरुष और कुत्ती लक्ष्मदेवा के नाम मल पद गया है। महाभारत में मल जाति, उनके राजा और उनके देश का उल्लेख है। भारद्वाज के अनेक स्थान जैसे मलजान (मल-जान) माण्य, माण्यमि आदि में (मल) राज्य विह्वल रूप में मिलता है। त्रिपिटक में उल्लेख मात्र में मलों के राज्य का होना पाया जाता है। मनुस्मृति में मलों को मिथिली भाषा के राजा संरक्षकपुत्र का राज्य हासिल किया है। पर मल आदि हासिल आदिवासी बौद्ध मयावर्षी को गर्ह्य थी। इसका उल्लेख स्थान मयावर्षी त्रिपिटक में मिलता है जिससे मलयों के अधिकार से उनका निश्चय जाता और माण्य होना दीक्ष प्राप्त पड़ा है, और कर्त्तव्य इसी लिये स्थानीयों में से माण्य बड़े गद

है। (२) द्रव्य युद्ध करनेवाला। पहलवान। पट्टा। (३) मनुष्य के अनुसार एक प्रायः क्षत्रिय जति का नाम। (४) प्रज्ञा धर्म के अनुसार छेद पिता और तीवरी माता से उत्पन्न एक वर्ण संकर जाति का नाम। (५) परास्तर पद्धति के अनुसार कुंदकार पिता और संतुवाय माता से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति। (६) पात्र। (७) कपोल। (८) एक प्रकार की मछली। (९) एक प्राचीन देश का नाम जो विराट देश के पास था। (१०) दीप। उ०—दग्ग दग्गति जो मल्ल सी अग्नि रासि की कति। सोई मणि मानिक विरे, कति रत्न की भौति।—रघु परीक्षा।

मल्लक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाँत। (२) दीवट। चिरागदान।

(३) दीप। दीया। (४) नारियल के छिलके का यना हुआ पात्र। (५) वर्चन। पात्र। (६) द्रव्य या संयुक्त का पट्टा।

मल्लकीड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लयुद्ध। कुस्ती।

मल्लखंभ-संज्ञा पुं० दे० “मल्लखम्”।

मल्लज-संज्ञा पुं० [सं०] काली मिर्च।

मल्लतद-संज्ञा पुं० [सं०] पियाल या पियार का पेड़। धिरांगी।

मल्लताल-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत शास्त्रानुसार एक ताल का नाम जिसमें पहले चार लघु और फिर दो हुत मात्राएँ होती हैं। यह ताल के आठ मुख्य भेदों में से एक माना जाता है।

मल्लनाग-संज्ञा पुं० [सं०] कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन का एक नाम।

मल्लभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मल्ल नामक देश। (२) कुस्ती लड़ने की जगह। अखाड़ा।

मल्लयुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] परस्पर द्रव्य युद्ध जो बिना बाध के केवल हाथों से किया जाय। बाहुयुद्ध। कुस्ती।

पर्याय—निपुण। बाहु-युद्ध।

विशेष—यह युद्ध प्राचीन मल्ल जाति के नाम से प्रख्यात है।

ये लोग अखाड़ों में व्यायाम और युद्ध किया करते थे। महाभारत काल में इनकी युद्ध प्रणाली की राजा लोग इतना पसंद करते थे कि प्रायः सभी राजाओं के दरबार में मल्ल नियुक्त किए जाते थे और उन्हें अखाड़ों में लड़ाया जाता था। कितने लोग मल्लों की रक्षक उनसे स्वयं शिक्षा प्राप्त करते थे और मल्ल युद्ध में निपुणता बढ़े गौरव की यात मानी जाती थी। जरासंध और भीम मल्लयुद्ध के बड़े श्वसनी थे। जरासंध के यहाँ मल्लों की एक सेना भी थी।

मल्लविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुस्ती की विद्या। मल्लयुद्ध की विद्या।

मल्लखाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लयुद्ध करने का स्थान। मल्लभूमि। अखाड़ा।

मल्ला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। (२) मल्लिका। चमेली। (३) एक लता का नाम। पत्रवर्द्ध।

संज्ञा पुं० [दे०] (१) खूबियों के इत्था नामक औजार का ऊपरी भाग जिसे पकड़कर वह चलाया जाता है। (२) एक प्रकार का छाल रंग जो कपड़े की छाल या गुलाबी रंग के माट में बचे हुए रंग में डुबाने से आता है।

मल्लार-संज्ञा पुं० [सं०] मलार नामक राग। वि० दे० “मलार”।

मल्लारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कृष्ण। (२) शिव।

संज्ञा स्त्री० दे० “मल्लारी”।

मल्लारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वसंत राग की एक रागिनी का नाम।

हलायुध ने इसे मेघ राग की रागिनी और ओद्व जाति की माना है और ध, नि, रि, म, म, ध इसका स्वरप्रामाण्य बताया है।

मल्लाह-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मल्लहिन] एक अन्यजन जाति जो नाव चलाकर और मछलियाँ मारकर अपना निर्वाह करती है। केवट। चीवर। माझी।

मल्लाही-वि० [सं०] मल्लाह संबंधी। मल्लाह का।

मुहरा—मल्लाही कौटा = लोहे का एक कौटा जिसका सिर चिपटा करके मोड़ा या घुमाया होता है। ऐसा कौटा नाव की पटरियों के जड़ने में काम आता है।

संज्ञा स्त्री० मल्लाह का काम या पद।

मल्लि-संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्रानुसार चौबीस जिनों में उच्ची-सर्वे जिन का नाम। इन्हें मल्लिनाथ कहते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका।

मल्लिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का हंस जिसके पंर और चोंच काठी होती है। (२) ओलाहों की ठरकी। (३) माघ का महीना।

संज्ञा पुं० दे० “मल्लिक”।

मल्लिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का पेड़ जिससे मोविया कहते हैं। वैष्णवों में इसका स्वाद कढ़वा और चरपरा, प्रकृति गरम और गुण हल्का, वीर्यवर्द्धक, वात-पित्त-नाशक, अरुचि और विष में हितकर तथा म्रग और कोढ़ का नाशक लिसा है। इसका फूल सफेद और गोल तथा गंध ममोरम होती है। कुछ लोग अवयव इस चमेली समझते हैं। (२) आठ अक्षरों का एक वर्णिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में रगण, जगण और अंत में एक गुण और एक लघु होता है। उ०—एक काल रामदेव। सोधु संघु करत सेव। सोमिनी सबै सो और। मंत्रि मित्र ठौर ठौर। (३) सुसुधी वृत्ति का एक नाम।

मल्लिकाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का घोड़ा जिसकी आँख पर सफेद धब्बे होते हैं। (२) घोड़े की आँख पर के सफेद धब्बे। (३) एक प्रकार के हंस का नाम। वि० सफेद आँखवाला। कंठा।

मलिकामोद-छंदा पुं० [सं०] ताज के सात सुवर्ण भेड़ों में से एक भेड़ का नाम जिसमें चार बिराद्री होते हैं ।

मलिकालुन-छंदा पुं० [सं०] एक निच डिंग का नाम जो धीरे-धीरे पर है ।

मलिकंगी-छंदा पुं० [सं०] अमर ।

मलिकानाथ-छंदा पुं० [सं०] डैलियों के उधरीसर्पें तीर्थंकर का नाम ।

मली-छंदा स्त्री० [सं०] (१) मलिका । (२) मुंदरी वृत्ति का एक नाम ।

मल्ल-छंदा पुं० [सं०] (१) माल । (२) बंदर ।

मल्लहनी-छंदा स्त्री० [छंदा०] एक प्रकार की भाव जिसका अंगुला भाग अधिक चौड़ा होता है ।

मल्लहाना-कि० सं० [सं० मल्ल = गोलन] सुमकारना । पुष्प-कारना । मल्लहाना । उ०—(क) खेज की गई मोहन को मुना उर्ध्व सुपावत है । सरदास प्रभु छोड़ें बगैरे लहरा-पति मल्लहानि है ।—सूर ।

विशेष—गोमों की दुहते समय जब दुहनेवाला उनके लान से दूध निकालता है, तब मंद गोपें बहुत उछलती फूटती और छाल चलाती हैं । इससे किये दुहनेवाले उन्हें सुमछारते पुष्पछारते हैं जिससे ये जागें हैं और दुहने दें । इसी क्रिये मल्ल बाध से, जिसका अर्थ गोलन है, मल्लहाना, मल्लहाना, मल्लहाना आदि क्रियाएँ सुमकारने के अर्थ में बनी हैं ।

मल्लहाना-कि० सं० [सं० मल्ल = गोलन] सुमकारना । पुष्प-कारना । मल्लहाना । उ०—(क) यतीश हरि गालनहि मुकामि । इतरायें मुल्लाह मल्लहार्थ जोर छोड़ें कपु गाथि ।—सूर । (ग) बहुर उषसि लोना छगन गगन गीरे कहनि मल्लह मल्लहार्थ । साधुन हिय हुकसति तुलसी के प्रभु की कलित भरिहार्थ ।—तुलसी । (ग) कहति मल्लह मल्लह उर छिन छिन छगन उषसि छोटे छेगा । मोद बंद हुक वृमद बंद भोरे रामचंद्र स्मृति ।—मुलसी ।

मल्लहार-छंदा पुं० दे० "मलार" ।

मल्लहाना-कि० सं० दे० "मल्लहाना" ।

मल्लिकाल-छंदा पुं० [सं० मल्लिकाल] [सं० मलिकाल (क०)] (१) अरुनी और मे पकील वा मलिनविध नियत करनेवाला पुष्प । मुहुरते में अरुनी और से कपहरी वा म्पावाक्य में काम करने के लिये अधिकारी मलिनविध नियत करनेवाला पुष्प । (२) किसी को अपना काम छोड़ दे देनेवाला । भलायी ।

मल्लर-छंदा पुं० [सं०] बौद्ध धर्मपुजार एक बहुत बड़ी संख्या ।

मल्लरिखा-कि० सं० [सं०] किरिय ।

मल्लप्रिद्ध-छंदा पुं० [सं०] विप्रमित भाषा में विप्रमित समय पर निष्प्रेषणा वार्ता । जैसे केवल, मल्लप्रु आदि । उ०—कहीती के मल्लप्रिद्ध बंद हो गए ।—मिहिरासार ।

मल्लाली-वि० [सं०] अनुमान किता हुआ ।

विशेष—इस तरह का प्रयोग कदप और गोद के भेड़ों का पोतन करने के लिये होता है । जैसे मल्लाली दस भाल, मल्लाली पाँच पीया छः पिरवा ।

मल्लाद-छंदा पुं० [सं०] (१) सामाग्री । सामान । मल्लाज । (२) रीत ।

मल्लास-छंदा पुं० [सं०] (१) रक्षा का स्थान । शालसाज । आश्रय । शरण । उ०—(क) बचन न शरत् निगम दप जय उपजौ अनि प्राप्त । कृप उतांग गिरिब रानी सीत मैन मवात ।—बिहारी । (ग) ऐन ली मय शक्ति जब विरह अहेरी प्राप्त । जाह देव है दीरि तब मीनन मुरख मगात ।—रसनिधि ।

मुहा०—मवात करना = धोखा करना । निवात करना । उ०—कई पचाकर काकिरी के कर्पण में, मगुपन कीनीं जाह महत मवातो है ।—पचाकर ।

(२) छिटा । दुर्ग । गढ़ । उ०—(क) हरी मारही ता में राखी ना मवात कोर छीने हथियार होलें बन बन जारे से ।—भूपण । (ग) रहि न सकी सख जगन में विनि सीत के प्राप्त । गरमि भ्रात गद्वे आई निप पुष अमल मवात ।—बिहारी । (ग) सिंधु तो बड़े बीर दलें बाल जारे हैं लंक से बंक भगले ।—मुलसी । (२) मे पैद जो दुर्ग के मक्कार पर होते हैं । उ०—गहाँ तहाँ होरी जरे हरि होरी है । गनहुँ मवाते भाति अहो हरि होरी है ।—सूर ।

मवाली-छंदा स्त्री० [सं० मवाण] छोटा गढ़ । गढ़ी । उ०—(क) जग ने जाह पुकारिया छंदा दीपा छारि । संत अंबासी है रहा फौसी न परे हमारि ।—कवीर । (ग) कोर बिरि बिदे मलिराम बरे पदु मोर-यकनि मवाली ।—मलिराम ।

मुहा०—मवाली तोड़ना = (१) गढ़ तोड़ना । (२) निजप करना । धोखे धोखे । उ०—कचरुन मवाली तोरी । कच मुकदेप तोरयो जरी ।—कवीर ।

छंदा पुं० (१) गढ़पति । द्विनेहार । उ०—(क) जाह जिसे सब विकट मवासी । मुचवी अमल उयो देवन लार्सी ।—छाल । (ग) हुते बापु जेते भये ते मिहारी । मवाले मवाली की जोग हारी ।—सूरन । (२) प्रपान । मुचिया । अधिनायक । उ०—गोरन पुराद जाह बदन पुराद ली मन म चरन हंदावन को मवाली । गुर वपान छोरि आ पर सब जगि हर्ष को है विहारी हारी ।—सूर ।

मयेरी-छंदा पुं० [सं० मयेरी] पन्ना । बोर । टंगा ।

यौ०—मयेरीखावा ।

मयेरीखाना-छंदा पुं० [सं०] वह बादा जिसमें मयेरी ले जाने हैं ।

विशेष—जन्मदिन सरकारी शास में स्थान स्थान पर देरी मयेरीखाने में जिसमें देरी मयेरी बंद हिय लगे है जिसे कृप बनकी मेरी को हानि पहुँचने पर हॉलर के जे

हैं। वे मवेशी तब तक उस मवेशीखाने में बंद रहते हैं जब तक कि उनका मालिक प्रति मवेशी कुछ दंड और पुराक खर्च वहाँ के कर्मचारी को नहीं दे देता। मवेशीखाने का कर्मचारी मुहरिर मवेशी कहलाता है।

मश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रोध। (२) मच्छद।

मशक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मच्छद (२) गायत्री गोत्र में अथर्व एक आचार्य का नाम। यह एक कल्पसूत्र के रचयिता थे। (३) महाभारत के अनुसार नाक द्वीप में क्षत्रियों का एक निवास स्थान। (४) मसा नामक चर्म रोग।

संज्ञा स्त्री० [सं०] चमड़े का बना हुआ धैला जिसमें पानी भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं।

मशककुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मच्छद हँकने की धोरी।

मशकहरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मसहरी।

मशाकावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

मशकत-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेहनत। श्रम। परिश्रम। (२) वह परिश्रम जो जेलखाने के कैदियों को करना पड़ता है।

जैसे—चक्की पीसना, कोल्हू पेरना, मिट्टी खोदना, रस्सी बटना आदि।

मशगूल-वि० [सं०] काम में लगा हुआ। प्रयुक्त। छीन।

मशक-संज्ञा पुं० [सं०] मशरफ़। एक प्रकार का धारीदार कपड़ा जो रेशम और सूत से बना जाता है। मुसलमान स्त्री पुत्र इसका पापनामा घनाकर पहनते हैं। यह अधिकतर बगारस में बनता है।

मशविरा-संज्ञा पुं० [सं०] सलाह। परामर्श।

यौ०—सलाह मशवरा = परामर्श। उ०—उन्होंने समझा कि सुदूर पूर्व में भी एक प्रबल शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और वही बड़े-नामकीय मामलों में अब आगे उससे भी सलाह मशविरा करने की जरूरत पड़ा करेगी।—द्विवेदी।

मशहूर-वि० [सं०] प्रख्यात। प्रसिद्ध।

मशान-संज्ञा पुं० [सं०] मशान। मरघट। उ०—यस मशान भूत सँग लिये। रक्त फूल की माला दिये।—लल्लू।

मशाल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मोटी बत्ती जिसके नीचे पकड़ने के लिये काठ का एक दस्ता लगा रहता है और जो हाथ में लेकर प्रकाश के लिये जलाई जाती है। यह कपड़े की बनाई जाती है और चार पाँच अंगुल के व्यास की तथा दो दाईं हाथ लंबी होती है। जलते रहने के लिये इसके मुँह पर बार बार तेल की धार डाली जाती है।

मुशाल-मशाल लेकर या जलाकर ईदना = अच्छी तरह ईदना। बहुत ईदना।

मशालची-संज्ञा पुं० [सं०] [सं०] मशालचिन। मशाल दिखलाने-वाला। मशाल जलाकर हाथ में लेकर दिखलानेवाला।

मशालत-संज्ञा स्त्री० [सं०] रोखी। धमंद।

मुशाल—मशालत बघारना = बहुत बड़कर बातें करना। रोखी बघारना।

मशीन-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी प्रकार का यंत्र जिसकी सहायता से कोई चीज तैयार की जाय। कल।

मशीर-संज्ञा पुं० [सं०] मशवरा देनेवाला। सलाह देनेवाला। मंत्री।

मशक-संज्ञा पुं० [सं०] किसी काम की अच्छी तरह करने का अभ्यास।

मशराक-वि० [सं०] जिसे कोई काम करने का खूब अभ्यास हो। अभ्यस्त।

मप-संज्ञा पुं० दे० “मल”।

मयि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काजल। (२) सुरमा। (३) स्थाही।

मयिकूपी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात।

मयिचटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात।

मयिधान-संज्ञा पुं० [सं०] दावात।

मयिपरय-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो लिखने का काम करता हो। लेखक।

मयिप्रसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दावात। (२) कलम।

मयिमयि-संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात।

मयी-संज्ञा स्त्री० दे० “मयि”।

मप-वि० [सं०] मप, मप मप = मप (१) संस्कार-शून्य। जो भूल गया हो। (२) उदासीन। मौन। उ०—सो भवगुन कित कीजिये जिव दीपि जेहि काज। अब कहनो है कहूँ नहीं मप भयो पखिराज।—जायसी।

मुशाल—मप करना = चुप रहना। मुँह न खोलना। उ०—

(क) बोलत लखनहि जबक डेराहीं। मप करहु अनुचित भल नाहीं।—तुलसी। (ख) यूहैसि सचिव उचित मत कहहु। ते सब हैंसे मपि करि रहहु।—तुलसी। (ग)

ग्यालिनी स्वाम तनु देख री आधु तन देखिये। नीति जब होइ तब चित्र अवरेलिये। कहाँ मेरो कान्ह की तनक सी आँगुरी बड़े बड़े नखन के चिन्ह तेरे। मप कर हैंसे गये।

कोयु अँकवार सुन कहाँ पाथे तैं दयाम मेरे।—सूर। मप धारना = मौन धारण करना। चुप्पी साधना। उ०—सुन्यो यमुदेव दोउ नंदसुजन आये। तिया सों कहत कहु सुनत है री नारि, रातिहु सपन कहु ऐसो पाये। गप अकर तेहि नृपति माँगे बोलि, तुरत आए आनि कंस मारे। कहे पिय कहत सुनिहै बात पौरिया, जाय कहिहैं रदी मप धारे।—सूर। मप धारना = मौन धारण करना। चुपचाप रहना।

उ०—एक दिन यह रात्रि समय श्री के पास तेज पर तन छीन मन मलीन मप मारे धैदा मन ही मन कुछ विचार करता था।—छल्लू।

मपणार-संज्ञा पुं० [सं०] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार एक प्राचीन स्थान का नाम।

मस-छाँदा छी० [यं० मस] मस। रोयनाई। उ०—सात रंगों को कागद करई। परती सगुद दुहूँ मस मसई।—जायसी।
छंदा पुं० [यं० मस] मस। मस।
छंदा छी० [यं० मस] मोठ निरुद्ध से पहले उसके स्थान पर की रोमायणी। उ०—उनके भी उगती मसों से रस का टपका पदमा और अपनी परछाई से भकड़ना ह्यादि।—मिश्रप्रसाद।

मुहा०—मस भीतना-गुणों का निकलना आरंभ होना। गुणों की रेखा दिग्गई पड़ने लगना। उ०—डहन पैस मस भीतत खलोने मुटि सोमा देखिया विनु बिच ही बिदेई।

छंदा पुं० दे० “मसा”।

मसका-छंदा पुं० [यं० मस] मसा। मस। उ०—मसक सामान कर कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि मन हरी।—गुलरी।

छंदा छी० दे० “मसाक”। उ०—छुटी मसक पवन पानी पयो सैदेई जल पिशारी हो।—सूर।

छंदा छी० [यं०] मसकने की क्रिया या भाव।

मसकना-छंदा छी० दे० “मसाकत”। उ०—तुम कब मो खों पणिन उषान्यो। काहे को प्रभु बिरह गुलाबत बिन मसकन को लान्यो।—सूर।

मसकना-कि० ल० [यं०] (१) सिंघाव या दुबाव में दाहल करके जो इस प्रकार काढ़ना कि गुनाघट के शप गंध दूधकर भलग हो जाय। (२) छिटी चीज को इस प्रकार दबाना कि यह चीज में जो फट लाय वा टसमें दशर पड़ जाय। उ०—महाबली वालि को दबुन दूधकन भूमि मुलसी टहरि छिपु मेढ मसकतु है।—गुलरी। (३) और तो दबाना। और तो मचना। उ०—मो मुल भागि सई भक को सिस के कसई मसुई छिपिया छिपे।—पद्माकर।

छंदा छी०—दबाना।—दबाना।

कि० प्र० (१) छिटी वस्तु का दबाव या सिंघाव भादि के कारण बीच में से चट जाना। जैसे—कपड़ा मसक गया, चीन्हा मसक गई।

छंदा छी०—जाना।

(१) (बिल का) विनिर्ण होना। मुसके कारण घिसना। उ०—राजकुमार धीरे से उसी स्थान पर बैठ गए। पूर्व-काशीन जाने कारण होमे लगी और कनेजा मसकने लगा।—महाभारत।

मसकना-छंदा पुं० दे० “मसाकत”। उ०—जैसे तब करेये मस कदा करे बनय। और वी मय मसकरा कई छिपों मणि कर।—कवीर।

मसकना-छंदा पुं० [यं०] (१) छिछोरी को का दूक भीजा को छिपवा के आदर का होना है और जिसमें काट का दूक

दस्ता लगा रहता है। इससे लगने से धातु भी दा मस भा जाती है। भावः तलवारें आदि भी इसी से दाब की जाती हैं। उ०—(क) गुद सिखड़ीगर कंठिये, हाथ मसकता देह। मन की मंड सुहाई है, सुनि दनन का मेर।—कवीर। (ख) सिन्धु-खाँद गुद मसकता, कई तन लु-सान। नगर सहे सम्मुख रहे, निरजे सिन्धु सुताय।—कवीर। (२) मसल या सिखी करने की क्रिया।

मसकली-छंदा छी० दे० “मसकल”।

मसका-छंदा पुं० [यं०] (१) नवनीत। मसकन। मैत्रे। (१) राजा निबला हुआ थी। (२) दही का पानी। (३) साधारण परिभाषा में, देवा हुआ पारा। (४) पत्ते की बरी का यह वर्ण जो उस पर पानी छिड़कने से हो जाता है। (५) कादय। (सुनाय)

मसकीन-छंदा पुं० [यं० मसकीन] (१) गरीब। शीत। बेघाता। उ०—है मसकीन कुर्मीय कदायी तुम योगी सांयाली। ज्ञानी गुणो पूर कवि दाता है मति काहु म भासी।—कवीर। (२) साधु। सात। उ०—नवा मूढ़ी मूढिदि तिल गावे क्या गल देह नहाये। मृत कई मसकीन कदाी गुन को रई छिपाये।—कवीर। (३) दरिद्र। कंठा। (४) मोटा। (५) मुसीब।

मसगरी-छंदा पुं० [यं०] (१) बहुत हँसी मजाक करनेवाला। हँसोद। खेला। उ०—बचिरा यह मय मसगरी कर्तू तो माने रोय। जा मारय सादय गिले तहाँ म चाँके कोय।—कवीर। (२) विद्वक। मजान।

मसगरीयन-छंदा पुं० [यं० मसगरीयन (मसगरीयन)] शिष्ट। ठगेली। हँसी। टढ़ा। उ०—मुसको तो भावके मुसगरी में सिंघाव मसगरीयन के भी कोई किपाइन मी लाउय होनी।—भीमराजदास।

मसगरी-छंदा छी० [यं० मसगरीयन (मसगरीयन)] शिष्ट। मसक। उ०—जो कद शूद मसगरी माना। कठिणुन को गुनयत कसाना।—गुलरी।

मसकना-छंदा पुं० [यं० मसकना] यह जो मोठ कला हो। मोसगरी। उ०—दूहिदि हनि धोर मायरा। कई दिग आप देरे मसकना।—जायसी।

मसजिद-छंदा छी० [यं० मसजिद] मसजिद करने का स्थान। मुसलमानों के पढ़व होकर मसजिद करने का स्थान। मसजिद के विषे सिंघाव कर में बना हुआ स्थान।

मसजिद-मसजिद साधारणतया चौधरे बनावी जाती है और उसमें आगे की ओर कुछ शूबा हुआ स्थान तथा बायें ओर बायें के विषे चारों तर होय होता है और पीछे की ओर मसजिद करने के विषे दाखल होता है जिसके ऊपर मसजिद के चार तर में ही मसजिद की होती है जिसके विषे

एक पर चढ़कर भगवान या नमाज के समय की सूचना दी जाती है।

मसङ्गी-संज्ञा स्त्री० [म० मिसरी] कंद । (हि०)

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पत्थरी।

मसती-संज्ञा पुं० [हि० मस] हाथी । (हि०)

मसनद-संज्ञा स्त्री० दे० "मसनद"।

मसन-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का टुकड़ा जिसकी सहायता से ऊन के कई धागे एक साथ मिलाकर बंधे जाते हैं।

मसनद-संज्ञा स्त्री० [म०] (१) बड़ा तकिया। गाय तकिया।

(२) तकिया लगाने की जगह। (३) अमीरों के बैठने की गद्दी। उ०—बया मसनद लखिये मुकद मकौ, बया चौकी कुरसी लखत छतर।—नज़री।

मसनद्वनशीन-संज्ञा पुं० [म० मसनद + म० नशीन] मसनद पर बैठनेवाला। बड़ा आदमी। अमीर।

मसना-कि० सं० [हि० मसलना] (१) मसलना। (२) रूँघना।

उ०—नेत्रों के आस पास उर्दों के मसे हुए आंठों की एक अंगुल जैसी दीवार सी बना दो।

मसमुंद-वि० [मस ? + मूँदा = बंद होना] कक्षमकड़ा। डेल-मठेल। चकमचका। उ०—सबही सूरज के सुमन निकट मचायो हुंद। निकसि सके नहि एकहु फस्यो कटक मस-मुंद।—सूदन।

मसयारा-संज्ञा पुं० [म० मशायन] (१) मशाल। उ०—

(क) जानहुं नखत करहि उजियारा। छिप गए दीपक औ मसयारा।—जायसी। (ख) बारह अमरन सौरह सिंगारा। तोहि सोहे पिय ससि मसयारा।—जायसी। (२) मशाल-बी। मशाल दिखाते राता। उ०—सूँह सुनेदा ससि मसयारा। पवन करि नित बार बोहरा।—जायसी।

मसरफ़-संज्ञा पुं० [म०] व्यवहार में आना। काम में आना। उपयोग।

क्रि० प्र०—में आना।—में लाना।

मसरक-संज्ञा पुं० [म० मसरक] एक प्रकार का रेवमी कपड़ा। बि० दे० "मसरक"।

मसरक़-वि० [म०] चोरी किया हुआ। चुराया हुआ। जैसे—माल मसरक़। (कच०)

मसरक़-वि० [म०] काम में लगा हुआ। काम करता हुआ।

मसल-संज्ञा स्त्री० [म०] कहावत। कहनूत। लोकोक्ति।

मसल-वि० [म०] मिसाल के तौर पर। उदाहरण के रूप में। उदाहरणार्थ। जिस तरह। यथा। जैसे।

• मसलना-क्रि० सं० [हि० मलना] (१) हाथ से दबाते हुए रगड़ना। मलना। उ०—(क) स्वास को चारुप्रकास बयारिन मंद सुगंध दिह्यो मगनी है।—रघुनाथ। (ख) आठ

पन्थो जानि जय आपने मैं सुने कान, वाको संयोगन मोसो कही ही मसतु है।—रघुनाथ। (२) जोर से दवांवा।

संयोग क्रि०—हालना।—देना।

(३) आटा रूँघना।

मसलहत-संज्ञा स्त्री० [म०] ऐसी गुप्त युक्ति अथवा छिपी हुई भलाई जो सहसा ऊपर से देखने से जानी न जा सके। अप्रकट गुप्त हेतु। जैसे—(क) इसमें एक मसलहत है जो अभी तक आपकी समझ में नहीं आई। (ख) इस समय उधे यहाँ से उठा देने में एक मसलहत थी।

मसला-संज्ञा पुं० [म०] कहावत। कहनूत। लोकोक्ति।

मसवाई-संज्ञा स्त्री० [मगोवा शेष] एक प्रकार का बबूल का गोंद जो अदन से आता है। यह पहले मसोवा द्वीप से आता था, इसी से इसका यह नाम पड़ा।

मसवार-संज्ञा पुं० [हि० मास + वार (प्रत्य०)] प्रसूता का वह ज्ञान जो प्रसव के उपरान्त एक मास समाप्त होने पर होता है।

मसवासी-संज्ञा पुं० [सं० मासवासी] (१) एक स्थान पर केवल एक मास तक निवास करनेवाला विरक्त। वह साधु आदि जो एक मास से अधिक किसी स्थान में न रहें। उ०—कोई सुरिलेख कोइ सनिवासी। कोइ सुरामज्रति कोइ मसवासी।—जायसी। (२) एक महीने से अधिक किसी पुरुष के पास न रहनेवाली स्त्री। गणिका। उ०—तिरिया ओ न होइ हरिदासी। औ दासी गणिका सम जानो बुद राई मसवासी।—रघुनाथ।

मसविदा-संज्ञा पुं० [म० मसविदा] (१) वह लेख जो पहली बार काट छोट के लिये तैयार किया गया हो और अभी साफ करने को यात्री हो। खरा। मसीदा। (२) युक्ति। उपाय। तरकीब।

क्रि० प्र०—निकालना।

मुहा०—मसविदा बाँधना = युक्ति रचना। उपाय सोचना।

मसहरी-संज्ञा स्त्री० [सं० मसहरी] (१) पलंग के ऊपर और चारों ओर लटकाया जानेवाला वह जालीदार कपड़ा जिसका उपयोग मच्छों आदि से बचने के लिये होता है। (२) ऐसा पलंग जिसके चारों पानों पर इस प्रकार का जालीदार कपड़ा लटकाने के लिये चार जैची लकड़ियाँ या छद् लगे हों। (उपर की ओर भी ये चारों लकड़ियाँ या छद् लकड़ी की चार पट्टियों या छद्ों से जोड़े रहते हैं।)

मसहारक-संज्ञा पुं० [सं० मांसाहारक] मांसाहारी। मांस खानेवाला। उ०—(क) घंटे नहि कोह भरे उर छोड़। नटे मसहार घरे मन मोह।—सूदन। (ख) मसहार छाए नभ भरनि धाय खार।—सूदन।

मसहूर-वि० दे० "मसहूर"।

मसा-मसा पुं० [मं० मसिके] (१) दाँर पर कहीं कहीं काले रंग का उभरा हुआ मोस का छोटा दाना जो घिसके के अनुसार एक प्रकार का चमके रोग माना जाता है, और जो दाँर में भरने होने के स्थान के विचार से शुभ अथवा अनुशुभ माना जाता है। यह मायः खरसों अथवा मूँग के आकार से छेकर सेर तक के आकार का होता है। (२) बवासीर रोग में मोस के दाने जो गुदा के मुँह पर या भीतर होते हैं। इनमें बहुत पीड़ा होती है और कभी कभी इनमें से रक्त भी बहता है।

छंदा पुं० [मं० मसक] मच्छर।

मसान-छंदा पुं० [मं० मसान] (१) यह स्थान जहाँ मुरदे जलाए जाते हैं। मरघट।

पर्याय—विश्वरूप। शतानक। रज्ज्यादी। दाहसर। अंत-शाम्पा। पितृकालन।

मुदा—मसान जगाना = तंत्र द्वारा के अनुसार जगान पर बैठकर सब की निधि करना। मुरदा निधि करना। ड०—करत ख्याति न कहति कानु जानति मनहु मसान।—मुक्ती। मसान पदना = मसान हो जाना।

(२) मूल, विद्या आदि।

यी—मसान की बीमारी = बगों की होनेवाली एक प्रकार का रोग जिसमें ये पुत्र पुत्रवर भर जाते हैं।

(३) रजभूमि। रजोथ। ड०—मुक्ती महेश विधि ओर-पात देवगन देवत विमान औनुक मसान के।—मुलसी।

मसाना-छंदा पुं० [मं०] फेट में की वह पीली जिसमें पेशाब जमा रहता है। पेशाब की पीली। मूत्राशय। कली।

छंदा पुं० दे० “मसान”।

मसाना-छंदा यी० [मं० मसान] मसान में रहनेवाली विषा-विनी, काँकरी हवादि। ड०—माद मसाना लेदि खोतक। शिर भूत हनुमंत। सादब से स्थाप रहे जो हनको पुर्जन।—कथरी।

मसार-छंदा पुं० [मं०] ईश्वरीय मणि। मीठम।

मसार-छंदा यी० दे० “मसार”। ड०—भानि ह्रीं छग बारि दे छवि चमसा मसार। कीन बाज नईं शत्र मईं गुपन-बदन दुखिजक।—शमसहाय।

मसारपी-छंदा पुं० दे० “मसारपी”।

मसारकुम्भा-छंदा पुं० [मं० मसार + कुम्भ] एक प्रकार का चरती जिसकी धुम बिजुल कापी रहती है, चाकी साया लगी चाहे जिस रंग का हो।

मसार-छंदा पुं० [मं० मसार] (१) किसी वस्तु को मनुष्य करने के लिये आवश्यक सामग्री के चीजें जिसकी सहायता से कोई काम तैयार होती है। जैसे—(२) मसार करने के लिये गुप्ती, मूल, हरे आदि। (३) मसार करने के लिये

हलदी, धनिया, मिर्च, जीरा, तेजपात्रा आदि। (४) चारों पर रईयने के लिये मोटा, पट्टा, किताबी आदि। (५) प्रप या लेख आदि लिखने के लिये वृत्त प्रप आदि।

यी०—गम मसाल। मसालेदार। मसाले का तेल।

(६) भोजनियों अथवा शास्त्राधिक द्रव्यों का योग वा सङ्ग। जैसे—पीतल साक करने का मसाला, दान का मसाला, सिर मकने का मसाला, रोठ में मिखने का मसाला। (७) साधन। जैसे—अब तो भापड़ो भी रितापी का अण्डा मसाला मिल गया। (८) तेल। जैसे—रोतापी गुप्त राती है, मसाला लेते आता। (९) भातिवासी। जैसे—उपरी छात में अच्छे अच्छे मसाले छूटे थे। (१०) मर और म और सुंदरी की। (काका)।

मसाली-छंदा यी० [मं० मसाल]। रसती। चोरी (सत०)

कि० प्र०—रसना।—अरिमा।

मसाले का तेल-छंदा पुं० [मं० मसाल + तेल] एक प्रकार का सुगंधित तेल जो साधारण तेल के तेल में बुरकपरी, वायडक आदि सुगंधित द्रव्य मिलाकर बनाया जाता है।

मसालेदार-वि० [मं० मसाल + दार (०५०)] जिसमें किसी प्रकार का मसाला लगा या मिला हो। (हस्त प्रयोग प्रायः साथ वस्तुओं के लिये ही होता है।)

मसिक-छंदा पुं० [मं० मसिक] जहाज में का वह बहुत बड़ा रस्ता जो चरनी का बीज में भरकर रहता है और जिसकी सहायता से जहाज का गिराया हुआ जंजर चढ़ाया जाता है। (सत०)।

मसि-छंदा यी० [मं०] (१) जिसने की ग्राही। रोसनाई। ड०—मुहरे देस कागद मसि गरी।—मूर। (२) नाम प्रेममय मुकु मसि कीड़ी। बाद चित्त भीनी मिलि कीनी।—मुक्ती। (३) निर्गुनी का फल। (४) काक। (५) कालिब। ड०—अनु मुँह काई गेह मसि भद, कति असाचार।—मुक्ती।

मसिका-छंदा यी० [मं०] शोकादिका। निर्गुनी।

मसिकुपी-छंदा यी० [मं०] दारान।

मसिकल-छंदा पुं० [मं०] जिसने की रवारी। रोसनाई।

मसिकानी-छंदा यी० [मं० मसि + कानी] दारान। मसिकान।

मसिकान-छंदा पुं० [मं०] दारान।

मसिकवृष-छंदा पुं० [मं०] जिसने का बाघ बनेवाला। छेकक।

मसिकपत्र-छंदा पुं० [मं०] कलम।

मसिकपात्र-छंदा पुं० [मं०] दारान।

मसिकपुंदा-छंदा पुं० [मं० मसि + पुंदा] मसिकपुंदा। ड०—(१) छेकक।

मसिकपुंदा-छंदा पुं० [मं० मसि + पुंदा] मसिकपुंदा। ड०—(२) छेकक।

गुलसी । (ख) उर बघनदा कंठ कँडुला सेहले बार । येनी
कटकन मसिबुदा मुनिमनहार ।—सूर ।

मसिमणि—संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात ।

मसिमुख—वि० [सं०] जिसके मुँह में स्याही छाती हो । काले
मुँहवाला । दुष्कर्म करनेवाला । उ०—जो भागै सत छँदि
के मसिमुख चवै बरात ।

मसियाना—क्रि० प्र० [?] भली भाँति भर जाना । पूरा हो
जाना । उ०—नेगी मेज मिले अरकाना । चँवरथ जाने
घर मसियाना ।—जायसी ।

मसिविंदु—संज्ञा पुं० [सं०] काजल का थुंदा जो मजूर से बचने
के लिये बच्चों को लगाया जाता है । दियोना । उ०—(क)
लोयन नील सरोज से भू पर मसिविंदु विराज ।—तुलसी ।
(ख) छलित भाल मसिविंदु विराजें । शृकुटी कुटिल अवण
अति आजें ।—विभ्राम ।

मसिल—संज्ञा पुं० दे० “मैनसिल” ।

मसी—संज्ञा स्त्री० दे० “मसि” ।

मसीका—संज्ञा पुं० [हिं० मसिका] (१) आठ रसी का मान । माशा ।
(२) चबसी । (दाल) ।

मसीतकी—संज्ञा स्त्री० [फा० मसितकी] सुसम्मानों का बंदना स्थान ।
मसजिद । उ०—कबिरा कानी स्वाद बस जीव इसे लख
होय । चदि मसीत एकी कही कयों दरगह साँचा होय ।—
कबीर ।

मसीदकी—संज्ञा स्त्री० [प्र० मसिद] उ०—मौगि कै लोको मसीद
को सोहयो लेनो है एक न देनो है दोक ।—तुलसी ।

मसीह—संज्ञा पुं० [प्र०] ईसाइयों के धर्मगुरु इजरायल ईसा का एक नाम ।

मसीही—वि० [प्र० मसीह + का० ई (भाव०)] ईसा मसीह संबंधी ।
मसीह का ।

संज्ञा पुं० मसीह का अनुयायी । ईसाई ।

मसुरी—संज्ञा पुं० दे० “मसूर” ।

मसुरी—संज्ञा स्त्री० दे० “मसूर” ।

मसुरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मसूर + मि० ०] मसूर = कठिनता से] कठिनाई ।
कठिनता । सुदिकल ।

मुष्टा—मसूर करके = बहुत कठिनता से । बड़ी सुदिकल से ।
उ०—रसखानि तिहारी सौं पूरी जसोमति भागि मसूर करि
छुटन पाई ।—रसखान ।

मसुदा—संज्ञा पुं० [सं० मसु] सुँह के अंदर दाँतों की पंक्ति के
नीचे या उपर का मांस जिस पर दाँत जमे होते हैं ।

मसुदी—संज्ञा स्त्री० [दे०] घातु ग्लाने की भट्टी ।

मसूर—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अन्न जो द्विदल और
विषय होता है और जिसका रंग मसलैला होता है । प्रायः
इसकी दाल बनती है जो गुलाबी रंग की और अरहर की
दाल से कुछ छोटी और पतली होती है । पकाने पर इसका

भो रंग अरहर की दाल का सर हो जाता है । यह दाल
बहुत ही पुष्टिकारक समझी जाती है । इसे प्रायः नीची
जमीनों में, जहाँ पानी उठरता है, खाली खेतों में भयवा
धान के खेतों में बोते हैं । इसकी कच्ची फलियाँ भी खाई
जाती हैं और इसकी सूखी पत्तियाँ और ठंडल चारे के काम
में आते हैं । वैद्यक में इसे मधुर, शीतल, संप्राहक, कफ
और पित्त का नाशक तथा ज्वर को दूर करनेवाला माना
है । दिनों में कुछ लोग इसका खाना कदाचित् इसलिये
अच्छा नहीं समझते कि इसके नाम का “मांस” शब्द के
साथ कुछ मेल मिलता है । पुराणों में रविवार के दिन
इसका खाना निषिद्ध कहा गया है और विषयवाओं के लिये
इसका खाना नितान्त वर्जित किया गया है । मसुरी ।

पर्याय—मांगव्यक । मीढिकाचन । प्रथुबीजक । शूर । कल्याण-
बीज । मसुरिका ।

यौ०—मसूर का सच = भूले मसूर का आटा जो मीठा वा नमक
मिलाकर पानी में चोलकर खाया जाता है ।

मसूरक—संज्ञा पुं० [सं०] गोल लकिया ।

मसूरकण—संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

मसुरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैश्वा । रंडी । (२) मसूर की
दाल । (३) मसूर की बनी हुई बरी । उ०—कीन्ह मसुरा धन
सो रसोई । जो कुछ खय मसूर सो होई ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० दे० “मसदा” ।

मसूरिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शीतला । माता । चैचक ।
(२) छोटी माता जिसमें सारे बरीर में लाल लाल छोटी
कुंसियाँ निकल आती हैं । (३) कुटनी ।

मसूरिकापिडिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की माता या
चैचक जिसमें मसूर की दाल के बराबर छोटे छोटे दाँत
निकलते हैं ।

मसुरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माता । चैचक । (२) दे० “मसूर” ।
संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का पेड़ जो कूद में छोटा
होता है और प्रति वर्ष शिशिर ऋतु में मसिके पत्ते झड़
जाते हैं । इसकी लकड़ी सफेद, पड़िया और बहुत मजबूत
होती है, जिससे संवूक तथा सजावट के अनेक प्रकार के
सामान बनाए जाते हैं । तिमले, शिकम और भूदान
आदि में यह वृक्ष अधिकता से होता है ।

मसुली—संज्ञा पुं० दे० “महसूल” ।

मसुला—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की पतली लंबी नाव ।

मसूस—संज्ञा स्त्री० [हिं० मसूस] मन मसोसने का भाव । कुनन ।
कल्पना । उ०—याही मसूस मरों का करो रिलिनाय परो-
स्तिन मैं परो पैरों ।—रिलिनाय ।

मसूसन—संज्ञा स्त्री० [हिं० मसूसन] मन मसूसने का भाव ।
आंतरिक व्यथा । कुनन । उ०—(क) कीचकड़ा बाँध भगनी

मसा-संज्ञा पुं० [सं० मांसकम्] (१) शरीर पर कहीं कहीं काले रंग का उभरा हुआ मोस का छोटा दाना जो घिसक के अनुसार एक प्रकार का घर्म रोग माना जाता है; और जो शरीर में भयने होने के स्थान के विचार से शुभ अथवा अनुभ माना जाता है। यह प्रायः सरसों अथवा मूँग के आकार से लेकर घेर तक के आकार का होता है। (२) यवाक्षीर रोग में मोस के दाने जो गुदा के मुँह पर या भीतर होते हैं। इनमें बहुत पीड़ा होती है और कभी कभी इनमें से खून भी बहता है।

संज्ञा पुं० [सं० मसाक] मसूँह।

मसान-संज्ञा पुं० [सं० समान] (१) यह स्थान जहाँ मुरदे जलाए जाते हैं। मरघट।

पर्याय—विश्वन। शतानक। द्वायीद। दाहसर। अंत-शय्या। विनृकानन।

मुहान—मसान जगत्ता = तंत्र शास्त्र के अनुसार समान पर बैठकर शपथ की निधि करना। मुरदा निधि करना। उ०—कपट स्थानि न कदमि कसु जानति मगदु मयाग।—मुहली। मसान पदमा = मन्नाग्र हो जाना।

(२) भूत, विनाश आदि।

यौ०—मसान की बीमारी = बच्चों को होनेवाला एक प्रकार का रोग जिसमें वे तुल तुलकर मर जाते हैं।

(३) रणभूमि। रणक्षेत्र। उ०—मुहली महेत पिपि कोट-पाक देवगन देसग विमान कोकुम मसान के।—मुहली।

मसाना-संज्ञा पुं० [सं०] पेट में की यह धैली जिसमें पेशाब जमा रहता है। पेशाब की धैली। मूत्राशय। कली।

कण्डा पुं० दे० “मसान”।

मसानी-संज्ञा स्त्री० [सं० समानी] समान में रहनेवाली विनाशिनी, कात्तिनी इत्यादि। उ०—माइ मसानी सेवि सौतना भिक भूत हनुमंत। साहब से ब्यापार है जो इनको पूजत।—कबीर।

मसाल-संज्ञा पुं० [सं०] इन्द्रगीम मणि। नीलम।

मसाल-संज्ञा स्त्री० दे० “मसाल”। उ०—आनि हूँ उन वारि है छवि पनसार मसान। बीन बाज तहाँ रात्र अई मुपन-बदन दुखिजाल।—रामसहाय।

मसालची-संज्ञा पुं० दे० “मसालची”।

मसालदुम्मा-संज्ञा पुं० [सं० मसाल + दुम्मा] एक प्रकार का पक्षी जिसकी तुम किन्नाल काटी रहती है, बाकी धारा शरीर पादे जिस रंग का हो।

मसाला-संज्ञा पुं० [सं० मसाल] (१) किसी पदार्थ को प्रशुभ करने के लिये आवश्यक सामग्री। वे पौधे जिनकी सहायता से कोई बीज निवार होती हो। जैसे—(क) मकान बनाने के लिये गुली, गुना, ईंट आदि। (ग) रसोई बनाने के लिये

हलदी, धनिया, मिर्च, जीरा, तोमरसा आदि। (ग) बरों पर टॉकने के लिये गोटा, पट्टा, किनारी आदि। (घ) मंत्र या छेप आदि लिखने के लिये दूसरे मंत्र आदि।

यौ०—गरम मसाल। मसालेदार। मसाले का तेल।

(२) ओषधियों अथवा रासायनिक द्रव्यों का योग या सदृश। जैसे—पीतल साक करने का मसाला, पान का मसाला, छिर मछने का मसाला, तेल में मिछने का मसाला। (३) साधन। जैसे—अब तो आपको भी रिस्ती का अच्छा मसाला मिल गया। (४) तेल। जैसे—तैलानी कुछ रही है; मसाला लेते आना। (५) भावितावाजी। जैसे—उनकी चारों तरफ में अच्छे अच्छे मसाने छूटे थे। (६) नव-वीरना और सुंदरी यी। (७) बाराह।

मसाली-संज्ञा स्त्री० [सं० मसाला] रस्सी। डोरी (मसा)। कि० प्र०—कसना।—बधित।

मसाले का तेल-संज्ञा पुं० [सं० मसाला + तेल] एक प्रकार का सुगंधित तेल जो साधारण तेल के तेल में बराबर, बालूछ आदि सुगंधित द्रव्य मिलाकर बनाया जाता है।

मसालेदार-वि० [सं० मसाला + दार (धर)] जिसमें किसी प्रकार का मसाला लगा या मिखा हो। (इसका प्रयोग प्रायः खाद्य पदार्थों के लिये ही होता है।)

मसिंदर-संज्ञा पुं० [सं० मेसूर] जहाँ में का यह बहुत बड़ा रस्ता जो चारों तरफ से घेरा रहता है और जिसकी सहायता से महान का गिराया हुआ जंगल उड़ाना जाता है। (संज्ञा)।

मसि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लिखने की हवाई। शीतलाई। उ०—मुम्हारे देस कागद मसि गये।—मूर। (२) बाम मेसमय मयु मसि कीन्दी। चाद पिता भीसी लिखि कीन्दी।—मुहली। (३) निगुंरी का फल। (४) कागज। (५) काष्ठित। उ०—बहु मुँह लाई मेर मसि मय चाति अक्षर।—मुहली।

मसिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] शोकादि। निगुंरी।

मसिकूपी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दायात।

मसिजल-संज्ञा पुं० [सं०] जिसने की हवाई। शीतलाई।

मसिदानो-संज्ञा स्त्री० [सं० मसि + दानो (दान)] दायात। मसिगात्र।

मसिपान-संज्ञा पुं० [सं०] दायात।

मसिपण्य-संज्ञा पुं० [सं०] लिखने का काम करनेवाला। लेखक।

मसिपय-संज्ञा पुं० [सं०] कदम।

मसिपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] दायात।

मसिपुंदा-संज्ञा पुं० [सं० मसिपुंदा] मसिपुंदा। उ०—(क) मुक्ति मन बरत मंड मसिपुंदा। कलिय बदन बलि काममुंदा।

तुलसी । (ख) उर बघनहा कंठ कँठुला सँहले बार । येनी छटकन मसिबुंदा मुनिमनहार ।—सूर ।

मसिमि—संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात ।

मसिमुख—वि० [सं०] जिसके मुँह में स्याही लगी हो । काले मुँहवाला । दुष्कर्म करनेवाला । उ०—जो माँग सत छौंदि के मसिमुख चढ़े बरात ।

मसिपाना—कि० प्र० [?] मछी भौति भर जाना । पूरा हो जाना । उ०—मेगी गेज मिले भरकाना । पँवरय बाजे घर मसिपाना ।—जायसी ।

मसिबिंदु—संज्ञा पुं० [सं०] काजल का बुँदा जो मजूर से बचने के लिये बच्चों को लगाया जाता है । दिठौना । उ०—(क) लोचन नील सरोज से भू पर मसिबिंदु बिराज ।—तुलसी । (ख) ललित भाल मसिबिंदु विराजें । भृकुटी कुटिल श्रवण भति भ्रजैं ।—विश्राम ।

मसिली—संज्ञा पुं० दे० “मसिल” ।

मसी—संज्ञा स्त्री० दे० “मसि” ।

मसीका—संज्ञा पुं० [हि० मासा] (१) भात रची का भाग । मासा । (२) चवसी । (दुलाल) ।

मसीतली—संज्ञा स्त्री० [सं० मसजिद] मुसलमानों का बंदना स्थान । मसजिद । उ०—कबिरा काजी स्वाद बस जीव हते तप दोय । चढ़ि मसीत एको कही क्यों दरगह साँचा होय ।—कबीर ।

मसीदकी—संज्ञा स्त्री० [सं० मसजिद] उ०—माँगि के शैबो मसीद की सोइयो लेनो है एक न वेनो है दोऊ ।—तुलसी ।

मसीह—संज्ञा पुं० [सं०] ईसाइयों के धर्मग्रन्थ हजरत ईसा का एक नाम ।

मसीही—वि० [सं० मसीह + फा० ई (अय०)] ईसा मसीह संबंधी । मसीह का ।

संज्ञा पुं० मसीह का अनुयायी । ईसाई ।

मसुरी—संज्ञा पुं० दे० “मसूर” ।

मसुरी—संज्ञा स्त्री० दे० “मसूर” ।

मसुरी—संज्ञा स्त्री० [हि० मसूर + फा० मसूर = कठिनता से] कठिनाई । कठिनता । मुश्किल ।

मुहा०—मसूर करके = बहुत कठिनता से । बड़ी मुश्किल से ।

उ०—रसखानि तिहारी सौँ पूरी असोमति भागि मसूर करि छुटन पाई ।—रसखान ।

मसूड़ा—संज्ञा पुं० [सं० मसूदा] मुँह के अंदर दाँतों की पंक्ति के नीचे या उपर का मांस जिस पर दाँत जमे होते हैं ।

मसूद्री—संज्ञा स्त्री० [दे०] धातु गलाने की मट्टी ।

मसूर—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अन्न जो द्विदल और चिपटा होता है और जिसका रंग मट्टीला होता है । प्रायः

इसकी दाल बनती है जो गुलाबी रंग की और अरहर की दाल से कुछ छोटी और पतली होती है । पकाने पर इसका

भी रंग अरहर की दाल का सा हो जाता है । यह दाल बहुत ही शुद्धिकारक समझी जाती है । इसे प्रायः नीची जमीनों में, जहाँ पानी ठहरता है, खाली खेतों में भयवा धान के खेतों में बोते हैं । इसकी कच्ची फलियाँ भी खाई जाती हैं और इसकी सूखी फलियाँ और डंठल चारे के काम में आते हैं । वैद्यक में इसे मधुर, शीतल, संप्रादक, कफ और पित्त का नाशक तथा ज्वर को दूर करनेवाला माना है । दिनों में कुछ लोग इसका खाना कदाचित् इसलिये अच्छा नहीं समझते कि इसके नाम का “मांस” शब्द के साथ कुछ मेल मिलता है । पुराणों में रविवार के दिन इसका खाना निषिद्ध कहा गया है और विधवाओं के लिये इसका खाना नितान्त वर्जित किया गया है । मसुरी ।

पथ्यो—मांगल्यक । ग्रहिकार्य । धृष्टवीर्यक । घृष्ट । कल्याण-वीर्य । मसूरिका ।

यौ०—मसूर का सस = भूते मसूर का आटा जो मीठा वा नमक मिलाकर पानी में चोलकर खाया जाता है ।

मसूरक—संज्ञा पुं० [सं०] गोल तबिया ।

मसूरकर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] एक कर्ण का नाम ।

मसूरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बैद्य । रंजी । (२) मसूर की दाल । (३) मसूर की बनी हुई बरी । उ०—कीन्ह मसूरा धन सो रसोई । जो कछु सब माँखु सो होई ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० दे० “मसूर” ।

मसूरिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शीतल । माता । चेचक ।

(२) छोटी माता जिसमें सारे बारीर में लाल लाल छोटी कुंसियाँ निकल आती हैं । (३) कुटनी ।

मसूरिकापिड्डिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की माता या चेचक जिसमें मसूर की दाल के बराबर छोटे छोटे दाँने निकलते हैं ।

मसूरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माता । चेचक । (२) दे० “मसूर” ।

संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का पेड़ जो कूद में छोटा होता है और प्रति वर्ष तिथिर कृतु में जिसके पत्ते छद् जाते हैं । इसकी लकड़ी सफेद, बढ़िया और बहुत मजबूत होती है, जिससे संदूक तथा सजावट के अनेक प्रकार के सामान बनाए जाते हैं । तिमले, शिकन और भूदान आदि में यह वृक्ष अधिकता से होता है ।

मसूली—संज्ञा पुं० दे० “महसूल” ।

मसूला—संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार की पतली लंबी नाव ।

मसूस—संज्ञा स्त्री० [हि० मसूसा] मन मसूसने का भाव । कुदून । कल्पना । उ०—चाही मसूस मरों का करों रितिनाय परो-सिन मैं परो पयों ।—रितिनाय ।

मसूसन—संज्ञा स्त्री० [हि० मसूसन] मन मसूसने का भाव । आंतरिक व्यथा । कुदून । उ०—(क) कीर्ति कूदों धार भवनी

कत इहाँ मसूसन मरिपु ।—सुर । (९) मूत्रन के मिस ही
मन मूसति होस मसूसनही चिरे कोठनि ।—देव ।

मसूसना—कि० प्र० [दि० मरोठना या धा० रुकनेपुं वं० मसोम १]

(१) घुँटना । मरोठना । बल देना । (२) निचोड़ना । (३)
छिड़ी मनोवेग को रोकना । जल्द करना । (४) मन ही मन
रंज करना । बुझना । कल्पना । (इस अर्थ में यह वाच्य
बहुधा मन कल्प के साथ आता है ।) उ०—(क) टटि
हीनिये, हम मन ही मन मसूसकर रह जायें ।—राधाकृष्ण-
दास । (ख) सोचनि समोवति न वूसति न वूसति मसूसनि
रिसति रस रूसति हँसति सी ।—देव ।

मसूण-वि० [मं०] जो रुला या कड़ा न हो । पिहना और
गुलाबम ।

मसोड़ा—वि० पुं० [दे०] सोना, चाँदी आदि गलाने की
प्रतिष्ठा । (सुमात्रे)

छंदा पु० दे० “मसूदा” ।

मसोसना—कि० प्र० दे० “मसूसना” ।

मसोड़ा-छंदा पु० [म० मसोसना] (१) कटि छोट करने, दोड़-
राने और साक करने के उद्देश्य से पहड़ी चार लिखा हुआ
छेप । रयाँ । मसविदा । (२) उपाय । युक्ति । तरकीब ।

मुहा०—मसोड़ा गठना या चोथमा = बुद्धि काम करने की युक्ति
या उपाय गौचम । तरकीब निकालना ।

चौ०—मसोदेवाज ।

मसोदेवाज—छंदा पु० [म० मसोदा + च० वाज (प००)] (१)
वह जो अच्छा उपाय निकालता हो । अच्छी युक्ति सोचने-
वाला । (२) पूर्ण । चालाक ।

मसकर—छंदा पु० [म०] (१) वंश । खामशाम । (२) गति ।
(३) शाग ।

मसकरा—छंदा पु० दे० “मसकरा” ।

मसकरी—छंदा पु० [मं० मसकरी] (१) वह जो चौथे आश्रम में
हो । संन्यासी । (२) गिरु । (३) चंद्रमा ।

छंदा की० दे० “मसकरी” ।

मसका—छंदा पु० [म०] (१) मसूना । बचतीन । (२) दे० “मसका” ।

मसकुरा—छंदा पु० दे० “मसूदा” ।

मसखरा—छंदा पु० दे० “मसखरा” ।

मसिअद—छंदा की० दे० “मसजिद” । उ०—वया भो यन्त्र मसजन
कीहें वया मसिअद गिर गये । इदया कपर निमात्र मुजारे
कह भो मसका गये ।—कबीर ।

मसल—वि० [म०, वि० मं० मल] (१) जो मले आदि के कारण
मल हो । मलवाला । मसोमल । जैसे—वह दिन रात
मलम में मल रहता है । (२) जिसे किसी बात का वला
न लगता हो । जिसे किसी की बिना या परवाह न होना
हो । मुहा० मसल और निमिअल रहनेवाला । (३) जो अपनी

पूरी जवानी पर जाने के कारण भापे से बाहर हो रहा हो ।
सौजन्य मद् से मरा हुआ । जैसे—मसल हाथी, मसल औरत ।
(४) जिसमें मद् हो । मदपूर्ण । जैसे—मसल मर्त । (५)
परम प्रसन्न । मग्न । आनंदित । जैसे—वह अंदरे बाज
बच्चों में ही मसल रहता है । (६) अभिमान । घमंडी ।
जैसे—आज कल ये मसूर मसल हो रहे हैं, इनसे काम
लेना कुछ सहज नहीं है ।

मस्तक—छंदा पुं० [मं०] सिर । उ०—मस्तक दीक्षा कथि जेऊ ।
कथि विमास पंडित सहदेऊ ।—जायसी ।

मस्तकी—छंदा की० दे० “मस्तगी” ।

मस्तगी—छंदा की० [मं० मस्तगी] एक प्रकार का बहिर्वा पीना
गौड़ जो भूमिप्यसागर के आस पास के प्रदेशों में होनेवाली
एक प्रकार की सुगन्धित झाड़ी के तनों को पावरी
निकाला जाता है, और जो अपने उत्पत्ति स्थान कम के कारण
प्रायः “रूमी मस्तगी” कहलाता है । यह गौड़ बर्तित में
निकाला जाता है और ओषधि रूप में भी काम में आता है ।
रातों के अनेक रोगों में यह बहुत उपकारी होता है । इससे
रातों का हिलना, पीड़ा, दुर्गन्ध आदि दूर होती है । और भी
बड़े रोगों में इसका व्यवहार किया जाता है ।

मस्तरी—छंदा की० [मं० मस्तरी] धान गलाने की अट्टी । (साह-
जहरील) ।

मस्तानी—वि० [म० मस्तानी] (१) मर्तों का सा । मर्तों की
साहक । जैसे—मस्तानी थाल । (२) मग्न । मल ।

कि० प्र० [म० मस्तानी + च० मल (मल)] मस्तनी पर आना ।
मल होना । मल होना ।

संयो० कि०—आना ।

कि० सं०—मस्तनी पर आना । मल करना । मल करना ।

संयो० कि०—देना ।

मस्तिक—छंदा पुं० दे० “मस्तिक” ।

मस्तिकी—छंदा की० दे० “मस्तगी” ।

मस्तिक्या—छंदा पुं० [मं०] (१) मलक के अंदर का गुहा । मेढा ।
मग्न ।

विशेष—कहा जाता है कि मोहन का परिपाक होने पर जो
रस बनता है, वह मस्तिका मग्नक में पहुँचकर लिपि
रूप धारण करता है और उसी के द्वारा स्थिति और पुनर्
काम करती है । उसी को “मस्तिक” कहते हैं ।

(२) बुद्धि के रहने का स्थान । दिमाग ।

मस्तो—छंदा की० [म०] (१) मल होने की क्षिति या भाव ।
मलता । मलवर्णन ।

कि० प्र०—आना ।—उत्तरा ।—धुंधला ।—धुंधला ।

मुहा०—मस्तो हाइना मस्तो दूर होता । मस्तो हाइना म-
मस्तो दूर चला ।

(२) भोग की प्रबल कामना । प्रसंग की उल्ट दृष्टि ।

क्रि० प्र०—भाना ।—उठना ।—चढ़ना ।—झड़ना ।—में भाना ।

मुहा०—मस्ती निकालना = प्रसंग करके वीर्यपात करना । संभोग करके वीर्य स्थलित करना ।

(३) यह स्त्राव जो कुछ विशिष्ट पशुओं के मस्तक, कान, आँख आदि के पास से कुछ विशिष्ट अवसरों पर, विशेषतः उनके मस्त होने के समय होता है । मद् । जैसे—हाथी की मस्ती, ऊँट की मस्ती ।

क्रि० प्र०—उपकना ।—बहना ।

(४) वह स्त्राव जो कुछ विशिष्ट पशुओं अथवा पक्षियों आदि में से कुछ विशेष अवसरों पर होता है । जैसे—नीम की मस्ती । पहाड़ की मस्ती ।

क्रि० प्र०—उपकना ।—बहना ।

मस्तु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दही का पानी । (२) छेने का पानी ।

मस्तुलुग-संज्ञा पुं० [सं०] मस्तिष्क । मगज ।

मस्तूरी-संज्ञा स्त्री० [सं० मस्त्रा] धातु गलाने की भट्टी । (फतहपुर)

मस्तूल-संज्ञा पुं० [पुर्व०] बड़ी नावों आदि के बीच में खड़ा गाड़ा जानेवाला वह बड़ा लट्ठा या गहतीर जिसमें पाल बाँधते हैं ।

मस्सा-संज्ञा पुं० दे० "मसा" ।

महँक-अव्य० [सं० मण्] में ।

महँक-वि० [सं० महा] महान् । भारी । उ०—विदित पट्टावराज महँ रहै । रहे पट्टाव प्रबल तहँ महँहै ।

अव्य० दे० "महँ" ।

महँक-संज्ञा स्त्री० दे० "महक" ।

महँकना-क्रि० प्र० दे० "महकना" ।

महँगा-वि० [सं० महार्ण] जिसका मूल्य साधारण या उचित की अपेक्षा अधिक हो । अधिक मूल्य पर बिकनेवाला । जैसे—आजकल कपड़ा और गहना दोनों महँगे हैं । उ०—आज अगर रहत है संगी । कारज अगर विकत सो महँगा ।—विद्याम ।

महँगारी-संज्ञा स्त्री० दे० "महँगी" ।

महँगी-संज्ञा स्त्री० [हिं० महंगा + ई (प्रत्य०)] (१) महँगे होने का भाव । महँगापन । (२) महँगे होने की अवस्था । (३) दुर्भिक्ष । अकाल । कहत ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

महँड़ी-संज्ञा पुं० [देश०] मुने हुए चने (बिहार) ।

महत-संज्ञा पुं० [सं० महत् = बड़ा] साधु मंडली या मठ का अधिष्ठाता । साधुओं का मुखिया ।

वि० बड़ा । श्रेष्ठ । प्रधान । मुखिया । उ०—सखा प्रवीन हमारे तुम हो तुम नहँ महँत ।

महंताई-संज्ञा स्त्री० दे० "महंती" ।

महंती-संज्ञा स्त्री० [हिं० महंत + ई (प्रत्य०)] (१) महंत का भाव ।

(२) महंत का पद ।

क्रि० प्र०—पाना ।—मिलना ।

महँदी-संज्ञा स्त्री० दे० "महँदी" ।

मह-अव्य० दे० "महँ" ।

वि० [सं० महत्] (१) महा । अति । बहुत । उ०—पिय विन विष मह दुखिया जान । तप यों गौरी क्रियो बलान ।—लल्लू । (२) महत् । श्रेष्ठ । बड़ा ।

महक-संज्ञा स्त्री० [हिं० गमक] गंध । वास । गमक । घृ ।

यौ०—महकदार । महकील ।

महकदार-वि० [हिं० महक + दा० (प्रत्य०)] जिसमें महक हो । महकनेवाला । गंध देनेवाला ।

महकना-क्रि० प्र० [हिं० महक + ना (प्रत्य०)] गंध देना । वास देना ।

महकमा-संज्ञा पुं० [म०] किसी विशिष्ट कार्य के लिये भलग किया हुआ विभाग । सीमा । सरिस्ता । जैसे—चुंगी का महकमा, रजिस्ट्री का महकमा ।

महकान-संज्ञा पुं० दे० "महक" । उ०—कनक बरन जतमग तन में अस चंदन की महकान ।—देव स्वामी ।

महकाली-संज्ञा स्त्री० [सं० महाकाली] पार्वती । (हिं०)

महकाली-वि० [हिं० महक + ईला (प्रत्य०)] जिससे अच्छी महक आती हो । सुगंधित । महकदार । सुतापूर ।

महचक्र-संज्ञा पुं० [हिं०] सूर्य ।

महज-वि० [म०] (१) शुद्ध । शालिस् । जैसे—यह तो महज पानी है । (२) केवल । मात्र । सिर्फ । जैसे—महज आपकी खातिर से मैं यहाँ आ गया ।

महजूरनामा-संज्ञा पुं० [म० महजूर = खून + नामा] वह लेख जिसमें किसी की हत्या होने अथवा किसी के हत्या के अपराधी होने का प्रमाण हो । हत्या अथवा हत्यारे के संबंध का साक्ष्यपत्र । हिंसा विषयक साक्ष्यपत्र ।

महजित-संज्ञा स्त्री० दे० "मसजिद्" ।

महण-संज्ञा पुं० [हिं०] सधु ।

महत-वि० [सं०] (१) महान् । बृहत् । बड़ा । (२) सफल । सर्वश्रेष्ठ ।

संज्ञा पुं० (१) प्रकृति का पहला विकार, महत्ताव । (२) महा । (३) राय । (४) जल ।

महत-संज्ञा पुं० दे० "महत्" । उ०—कई पयाक शरीर सिद्धी शोन को मोरन को महत न कोऊ मन ध्यावतो ।—पद्माकर ।

महतघान-संज्ञा पुं० [देश०] कच्चे में पीठे की ओर लगी हुई वह लूँटी जिसमें ताने को पीठे की ओर कसकर बाँधे रहने-

वाली छोरी छपेटकर मारले में बर्षी जाती है। पिटा।
मुसी। इयेहा।

महता-छंदा पुं० [सं० महत] (१) गाँव का मुखिया। सरदार।
महतो। (२) छेसक। मुहरिं। मुंती।

महता की० [सं० महता] अमिमान। घमंड। उ०—महता
जहाँ तहाँ प्रभु माहीं सो होता क्यों मानो।

महताय-छंदा की० [सं०] (१) चौदनी। चंद्रिका। उ०—
मोद महतायी मन मोहन मिल के काज साजि मणि मंदिर
मनोस देखी महताय।—पद्माकर। (२) एक प्रकार की
आतिशबाजी। दे० “महतायी”। उ०—(क) जय चंद्र
नलायकी देखि चण्डो सब जोति किनी महताय में है।—
कमलापति। (२) चौदनी में कवि संभु मनो चहुँ ओर
पिताजि रही महताय।—संभु। (३) जहाज पर रात के
समय संकेत के लिये होनेवाली एक प्रकार की गैली रोशनी
जो काठ की एक लकी में कुछ मसाले भरकर जलाई जाती
है। (लत०)

छंदा पु० [सं०] (१) चौद। चंद्रमा। जनि। उ०—भाई
बारवू छवि छाई ऐसी गाँव बीच जाके शुभ भाग्य दई जोति
महताय की।—रघुनाथ। (२) एक प्रकार का जंगली बीमा।
मुसरी। महाकत।

महतायी-छंदा की० [सं०] (१) मोमवत्ती के आकार की बनी हुई
एक प्रकार की आतिशबाजी जो मोटे कागज में बासुद,
गंधक आदि मसाले छपेटकर बनाई जाती है और जिसके
जलने से बहुत तेज प्रकाश होता है। इसकी रोगनी सफेद,
छाया, नीली, पीली आदि कई प्रकार की होती है। (२)
किसी बड़े मासाद के आगे अथवा बाग के बीच में बना
हुआ गोल या चौकोर ऊँचा चबूतरा जिस पर लोग रात के
समय बैठकर चौदनी का आनन्द लेते हैं। (३) एक प्रकार
का बड़ा गीद। चबोतरा। (पूर)

महतायी-छंदा की० [सं० महत] माँ। माता। जननी। उ०—
(क) कीराप्या आदि क महतायी भाजि काति बनाइ।—
सूर। (ख) हरपि महतायी मुनि मगहायी, अनुन रूप
विचारी।—गुलशरी।

महती-छंदा की० [सं०] (१) माद की बीजा का नाम। (२)
बूझती। बँझाई। बगमंडा। (३) कुन होय की एक नदी का
नाम जो पारिषात पर्वत से निकळी है। (४) महिमा।
महाय। बड़ाई। उ०—मानु रिनु गुद जाति जायो
भायी कोई महति।—सूर। (५) योग का बहुत बड़ा
जाना जो एक रोग माना जाता है। (६) वह दिवस जिसमें
समस्त मानव पैदा हुए हैं और देह में रूपा हो। (७) पैरों की
दृष्ट जाति।

महती झाड़नी-छंदा की० [सं०] माधव के एक पक्ष की

। यह झाड़नी जो धवज नक्षत्र में पड़े। ऐसी झाड़नी को
आदि करने का विधान है।

महतु-छंदा पु० [सं० महत] महिमा। बड़ाई। महन
उ०—हुंदावन वन को महतु का पंथ मान्यो जाय।—सूर

महतो-छंदा पु० [सं० महत] (१) कुछ गयावाल पंथों की एक
उपाधि। (२) कहर। (पूर) (३) ठुकरा का वह रंग
जो माँस के आगे गढ़ा रहता है और जिसमें माँस की को
कैसाई रहती है।

महत्कथ-छंदा पु० [सं०] यह जो गीली गीली बातें कहे जा
आदिमियों को प्रसन्न करता हो। गुलामरी।

महत्तय-छंदा पु० [सं०] (१) साध्य के अनुसार पचीत तत्वों
में से तीसरा तत्व जो प्रकृति का पृथक् विभाग है और
जिससे आदकार की उत्पत्ति होती है। प्रकृति का पृथक्
कार्य या विचार। पुष्टिपण। वि० दे० “साय” और
“प्रकृति”। (२) कुछ तांत्रिकों के अनुसार संसार के सात
तत्वों में से सप्तमे अथिष्ठ सूक्ष्म तत्व। (३) जीवामा।

महत्तम-वि० [सं०] सबसे अधिक बड़ा या श्रेष्ठ।

महत्तर-वि० [सं०] दो पदार्थों में से बड़ा या श्रेष्ठ।

छंदा पु० बड़ा।

महत्पुरुष-छंदा पु० [सं०] पुनरोत्तम।

महत्प-छंदा पु० [सं०] (१) महत्का भाव। बहपन। बड़ाई।
गुलता। (२) श्रेष्ठता। उत्तमता।

महदु-वि० [सं०] जिसकी हृद ईर्ष्या हो। पैदा हुआ। सीमा-
बद्ध। परिमित।

महदेव्य-छंदा पु० [सं०] मैत्र में होनेवाली पैलों की एक
जाति। इस जाति के धैर्य बहुत कुछ पुष्ट और बलवान
होते हैं।

महद्विक-छंदा पु० [सं०] जैनियों के एक देवता का नाम।

महद्विक-छंदा की० [सं०] महद्विकाली नाम की स्त्रिया।

महद्विक-छंदा पु० दे० “महद्विक”। उ०—महद्विक महद्विक
महद्विक जानि आनि के सब को साद धनुन गड़ायो है।—
गुलशरी।

महद्विक-छंदा पु० [सं०] महद्विक। दही या मछ आदि मयमा।
महद्विक। विमोहा।

छंदा पु० मयमा। दही।

महद्विक-छंदा पु० [सं०] महद्विक का भाव। महद्विक।
जो मयमा हो। महद्विक।

महद्विक-वि० [सं०] महद्विक करने योग्य। महद्विक। महद्विक।

महद्विक-छंदा पु० [सं०] महद्विक। महद्विक। महद्विक।

उ०—जय कामदेव दाहिना दहा अलोक रंग भई मीत
संगता अर्जुन को महद्विक है।—गुलशरी।

महफिल-संज्ञा स्त्री० [घ०] (१) मनुष्यों के एकत्र होने का स्थान। मजलिस। सभा। सभाज। जलसा। (२) नृत्य गीत होने का स्थान। नाच गाना होने का स्थान।

कि० प्र०—जमना।—भरना।—लगना।

महफूज-वि० [घ०] जिसकी हिफाजत की गई हो। सुरक्षित। बचाया हुआ। रक्षा किया हुआ।

महवृत्त-संज्ञा पुं० [घ०] वह जिससे प्रेम किया जाय। जिससे दिल लगाया जाय। उ०—रसनिधि आवत देखिके मन-मोहन महवृत्त। उमड़ी डिठ यरुनी की टगन घघाई दूय।—रसनिधि।

महवृत्ता-संज्ञा स्त्री० [घ०] वह की जिससे प्रेम किया जाय। प्रेमिका। माधुका। उ०—आशिक हू पुनि आव तौ मह-बूदा पुनि आव। चाहनहारो अप रव्यो वेपरवाही आव।—रसनिधि।

महमंत-वि० [सं० महा + मन्त्र] दस्त। उन्मत्त। मद्मत्त। उ०—काया कजरी धन अहै मन कुंजर महमंत। अंकुश ज्ञान रतन है करै साधु संन।—कवीर।

महमद-संज्ञा पुं० दे० “मुहम्मद”।

महमदी-वि० [घ० मुहम्मदी] मुहम्मद का मतानुयायी। मुसलमान।

मह मह-कि० वि० [हि० महकना] सुगंधि के साथ। सुगन्ध के साथ। उ०—(क) मह मह गह मह महकत धरती रोम रोम जनु पुठकि उठी।—देवस्वामी। (ख) चारु चमेरी धन रही मह मह महकि सुवास।—हरिवर्धन।

महमह-संज्ञा पुं० [सं० मह + मधन] विष्णु। (हि०)

महमहा-वि० [हि० महमह] सुगंधित। सुगन्धदार। उ०—(क) महमही मंद मंद भारत मिलनि, मैथी गहगही खिलनि गुलाब के कटीन की।—रसजानि। (ख) महमहै लोक दस घाह सुगंधन तें उमहै महेश भज आदि सुर ठहैं।

महमहाना-कि० प्र० [हि० महमह कथना महकना] गमकना। सुगंधि देना। उ०—मठी हुम बलित, ललित पारिजात पुन, मंहु धन बेलिन, चमेलिन महमहात।—रसकुसुमाकर।

महमात्री-संज्ञा स्त्री० दे० “महिमा”।

महमान-संज्ञा पुं० दे० “मेहमान”।

महमानी-संज्ञा स्त्री० दे० “मेहमानी”।

महमाय-संज्ञा स्त्री० [सं० महमाया] पार्वती। (हि०)।

महमूदी-संज्ञा स्त्री० [फा० महमूद + ई (प्रत्यय)] सलम की तरह का एक प्रकार का मोटा देसी कपड़ा।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का पुराना छोटा सिक्का।

महमेज़-संज्ञा स्त्री० [फा०] एक प्रकार की छोटे की साल जो जूते में पीछे की ओर पैरों के पास लगाई जाती है और

जिसकी सहायता से थोड़े के सवार उसे चलाने के लिये पकड़ लगाते हैं।

महम्मद-संज्ञा पुं० दे० “मुहम्मद”।

महर-संज्ञा पुं० [सं० महर] (१) मजदूरों में बोला जानेवाला एक आदरसूचक शब्द जिसका व्यवहार विशेषतः जमींदारों और धर्मियों आदि के संबंध में होता है। (कभी कभी इस शब्द का व्यवहार केवल शीकुण के पालक और पिता नंद के लिये भी बिना उनका नाम लिख ही होता है।) उ०—(क) महर विनय झुक कर जोरे घृत मिष्ठान पय बहुत मँगायो।—सूर। (ख) पूरि अमिलापन को वासन के माखन है दासन मधुर भरे महर मँगाय दे।—दीन। (ग) मज को यिरह भय संग महर को कुंजरहि यरत न नेकु लजाने।—तुलसी। (२) एक प्रकार का पक्षी। उ०—सारी सुया महर कोकिला। रहसत आह पविदा मिला।—जायसी। (३) दे० “महरा”। उ०—नाक बारी महर सय, धाक धाय समेत।—रघुराज।

वि० [फा० मेहर = दया] दयावान्। दयालु। (हि०)।

संज्ञा पुं० [घ०] सुसलमानों में वह सम्पत्ति या धन जो विवाह के समय दूर की ओर से कन्या को देना निश्चित होता है।

मुहा०—महर बाँधना = महर के लिये धन या सम्पत्ति नियत करना।

वि० [हि० मरक] महमहा। सुगंधित। उ०—मंहर महर घर बाहर राउर देह। लहर लहर छवि तम जिनि।—शुक्लम सनेह।—रहिमन।

महरवान-संज्ञा पुं० दे० “मेहरवान”।

महरम-संज्ञा पुं० [फा०] (१) सुसलमानों में किसी कन्या या की के लिये उसका कोई देसा बहुत पास का संबंधी जिसके साथ उसका विवाह न हो सकता हो। जैसे—पिता, चाचा, नाना, भाई, मामा आदि। (सुसलमानी धर्म के अनुसार) लियों को केवल ऐसे ही पुरुषों के सामने बिना परदे या वृंघट के जाना चाहिए। (२) भेद का जाननेवाला। रहस्य से परिचित। उ०—दिल का महरम कोई न मिलिया जो मिलिया सो गरजी। कह कबीर असमानी फाटा बर्योहर खींचे दरजी।—कबीर।

संज्ञा स्त्री० (१) अँगिया का मुकट। अँगिया की कटोरी।

(२) अँगिया। उ०—गाए जदपि मुनि सूर तन पत्थर घने चलाय। दयापे तन जे फूल ये महरम घाले आय।—रसनिधि।

महरा-संज्ञा पुं० [हि० महना] [कौ० मरती] (१) कदर। (२)

खसुर के लिये आदरसूचक शब्द। (चमरा)

वि० प्रयान। श्रेष्ठ। पड़ा।

महर्ग—गंगा यी० [दि० महर + गं (मन्०)] प्रधानता ।
धेनुता । उ०—कुंडल धवनन देई गलाहैं । महर्ग की सौंहीं
महर्ग ।—जायसी ।

महाराज—गंगा पुं० दे० "महाराज" । उ०—खलेउ मय महाराज
मुमर सिरसाय राज सति ।—गोपाल ।

महाराजा—गंगा पुं० दे० "महाराज" ।

महाराण—गंगा पुं० [दि०] समुद्र ।

महाराणा—गंगा पुं० [दि० महर + णा (मन्०)] महर्ग के रहने
का स्थान । महर्ग के रहने की जगह, महल या गाँव ।

उ०—(क) तुमको राज होत की हमको बात पर जो कहूँ
महाराजे ।—सूर । (ग) गोकुल में आनंद होत है मंगल
रवि महाराजे होल ।—सूर ।

गंगा पुं० दे० "महाराजा" ।

महाराव—गंगा यी० दे० "महाराव" । उ०—बाट बाट बहु द्वार
बिराजन चामीकर महारावे ।—रघुनाथ ।

महरि—गंगा यी० [दि० महर] (१) एक प्रकार का आधरसूचक
वायु जिसका व्यवहार मर में प्रतिष्ठित जियों के संबंध में
होता है ।

विशेष—कमी कमी इस वायु का व्यवहार केवल यज्ञोद्धार के
लिये भी बिना उनका नाम लिए ही होता है ।

(२) गृहपतिमी । माहकित । परवासी । उ०—बाट
बोकि इहकि विरायन चरित मणि गोपीगन महरि मुनि
पुकारित गान ।—गुलसी । (३) स्थानिक नामक पक्षी ।
द्विगुल । उ०—दही दही कर महर्ग पुकारा । हारिल
बिनपद भागु निहारा ।—जायसी ।

महरी—गंगा यी० [दि०] स्थानिक नामक पक्षी । द्विगुल ।

महर्ग—गंगा पुं० [दे०] जन्मा । (गुना)

महर्ग—गंगा पुं० [दे०] (१) बंधू पाने की मन्त्री । (२) एक
प्रकार का वृक्ष ।

महर्ग—गंगा पुं० [य०] जिसे प्राप्त न हो । जिसे न मिले । वंचित ।

क्रि० प्र०—कलना ।—रहना ।—रहना ।

महर्ग—गंगा पुं० [दि० महर + गं (मन्०)] (१) महर का बेटा ।
महर का भ्राता । (२) भ्राता ।

महर्ग—गंगा यी० [दि० महर] बुधमायु महर की लक्ष्मी, धी-
राधिका । उ०—(क) नूर की पुनि मुनि वीरस है महर्ग की
सोमनि न सोते जय जय भागु गति जान ।—रघुनाथ ।
(ख) हाथी महर्ग की भयार सरसाय बागे जयते । बाग
करी बनिषा रमाय की ।—रघुनाथ ।

महर्ग—गंगा यी० [य०] महर्ग होने का भाव । महर्गी ।

महर्ग—गंगा पुं० [य०] गुणानुसार भू, भुव आदि चौदह
लोकों में से एक । उ०—महर्ग लोक जगत् के मध्य और
महर्ग लोक ।—सूर ।

विशेष—१२ लोकों में से ० ऊर्ध्वलोक और ० अधो-
लोक हैं । महर्ग लोक ऊर्ध्वलोकों में से चौथा है ।

महर्ग—गंगा यी० [य०] बौद्ध । कर्षाच ।

महर्ग—गंगा पुं० [य० मरा + गं (मन्०)] (१) बहुत बढ़ा और घेर
करि । करीब । धीमे—वेदस्थास, मारद, भंगिरा इत्यादि ।
(२) एक राग जो मीर के बाट पुत्रों में से एक मन्त्र
जाता है । उ०—पंचम छटिन महर्ग बिसयल । मर
धैराय सुमाधय विगल । सहित सखि भाट सुताता ।
मीर के जानहु नर प्राना ।—गोपाल ।

महर्ग—गंगा यी० [य०] सुन्दर कंठकारी । मरद्वेता ।

महर्ग—गंगा पुं० [य०] (१) राजा या रईस आदि के रहने का
बहुत बढ़ा और बढ़िया मकान । प्रासाद । (२) राजवासी
का वह विभाग जिसमें शनिर्वा आदि रहती हैं । रनिवास ।
भंगनुर । उ०—कुंज कुंज नवकुंज महल में सुख सबी
यह गाँव री ।—स्यो—हरिदास । (३) बढ़ा कमा । (४)
भयसर । मोहा । पक । (५) पहाड़ी मनुष्य । सारंग ।
दंगर ।

महर्ग—गंगा यी० [य० मर + गं + य०] महर्ग का वह भाग
जिसमें शनिर्वा या वेगमें आदि रहती हैं । भंगनुर । रनिवास ।
महर्ग—गंगा पुं० [य०] एक प्रकार का पक्षी जिसकी वृक्ष
छोटी, ठोस कानी, छाती निरी, पीठ लाली रंग की और
पैर काले होते हैं ।

महर्ग—गंगा पुं० [दि० मर + गं (मन्०)] एक प्रकार की
बड़ी माँव जिस पर बैबल लकड़ी या पाषाण आदि पड़ा
जाता है ।

महर्ग—गंगा पुं० [य०] सहर का कोई विभाग या दुकान जिसमें
बहुत से मकान आदि हो ।

यी०—महर्ग = महर्ग पर चौधरी या प्रधान ।

महर्ग—गंगा पुं० [य० गुण + गं] सहर्गिक वस्तु करनेवाला ।

महर्ग आदि वस्तु करनेवाला । उगाहनेवाला । उ०—
सीत धीन महर्गिक मये वीरत जहि दुष्ट सीत । एत कीया
है करन है ये मन की सहर्गिक ।—रसनिधि ।

महर्ग—गंगा यी० [य०] एक प्रकार की मछली । यि० दे०
"महर्गी" ।

महर्ग—गंगा पुं० [य०] (१) वह धन जो राजा या कोई भव-
ि कारी किसी विनिष्ठ कार्य के लिये ले । कर । (२) भाग ।
विभागा । धीमे—आज बस एक कर महर्ग कुछ बंद पड़ा
है । (३) मातृगुणी । समान ।

महर्ग—गंगा पुं० दे० "महर्ग" । उ०—मनु राय की महर्ग
निहा प्रगटे नर कैदाय मंग महर्ग ।—गुलसी ।

यि० दे० "महर्ग" ।

महर्ग—गंगा पुं० [य०] (१) मरद्वेता । बृक्ष मरिच । उ०—महर्ग

अजय संसार रिपु जीति सकहे सो धीर । जाके अस रथ
होइ रथ धनुहु सखा मति धीर ।—तुलसी । (२) सर्व
भेद । सब से बढ़कर । उ०—महामंत्र जोह जपत महेसु ।
कासी मुकुति हेतु उपदेसु ।—तुलसी । (३) बहुत यदा ।
भारी । जैसे—महाबाहु । महासमुद्र । उ०—(क) ऊँद
सोलि गो कहा महासमुद्र जोहई ।—केशव । (ख) कहे
पद्माकर सुभास सैं जवास तैं सुकलन की रास तैं जगी हैं
महा सास तैं ।—पद्माकर ।
विशेष—प्राज्ञ, पात्र, यात्रा, प्रस्थान, तैल और मांस इन
शब्दों में 'महा' शब्द लगाने से इन शब्दों के अर्थ कुत्सित
हो जाते हैं । जैसे—महायाज्ञ = कट्टा प्राज्ञ । महा-
पात्र = कट्टा पात्र । महायात्रा = मृत्यु । महाप्रस्थान =
मृत्यु । महानिद्रा = मृत्यु । महामांस = मनुष्य का मांस ।
महाभरत-वि० [सं० महा + रत = रोर, हलचल] बहुत चोर ।
बहुत हलचल । उ०—नीर होइ तर ऊपर सोई । महाभरत
समुद्र जस होई ।—जायसी ।

महाब्रह्म-संज्ञा पुं० [सं०] शेषनाग ।

महाई-संज्ञा स्त्री० [सं० मयन हिं० महना + आई (प्रय०)] (१)
मयने का काम । (२) नील की महाई । नील के रंग को
मयने का काम । (३) मयने का भाव । (४) मयने की
मजदूरी ।

महाउत्तम-संज्ञा पुं० दे० "महावत" । उ०—हूँ है ते पर मैं
महाउत्त जान के आई परे गधि पावन ।

महाउर-संज्ञा पुं० दे० "महावर" । उ०—(क) प्यारो लगी यह आओ
सनेह महा उर बीच महावर को रंग ।—देव । (ख) मोहि तो
साथ महाउर है री महाउर नाइन लोसैं दिवाजैं ।—दास ।
महाकर्कर-संज्ञा पुं० [सं०] बीड़ों के अनुसार एक बहुत बड़ी
संख्या ।

महाकंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लहसुन । (२) प्याज ।

महाकच्छु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र । (२) वरुणदेव । (३)
पर्वत । पहाड़ । (४) एक प्राचीन देश का नाम ।

महाकंठु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महाकान्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कृषि का नाम ।

महाकपाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक राक्षस का नाम । (२)
शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाकपि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव के एक अनुचर का नाम ।
(२) एक बोधिसत्व का नाम ।

महाकपिरथ-संज्ञा पुं० [सं०] बेल का वृक्ष ।

महाकपोत-संज्ञा पुं० [सं०] मुमुक्षु के अनुसार २६ प्रकार के
बहुत ही विषयों में से एक प्रकार का सर्प ।

महाकपाल-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाकर्तव्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कर्म जो बढ़ा होता

है । इसका व्यवहार औपच्य रूप में होता है । वैद्यक
में इसे तीक्ष्ण, उष्ण, कटु तथा विष, कंडू, दुष्ट, घ्न और
त्वचा के दोषों का नाशक माना है ।

पृथ्वी-हस्तिचारिणी । विपत्ती । काकली । मदहस्तिनी ।

मधुमती । रसायनी । हस्तिकर्त्रज । काकभांडी । मधुमत्ता ।

महाकर-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

महाकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाम का नाम ।

महाकर्ण-संज्ञा स्त्री० [सं०] कांक्षिकेय की एक मातृका का नाम ।

महाकर्णिकार-संज्ञा पुं० [सं०] अमलतास ।

महाकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार उतना काल जितने
में एक ब्रह्मा की आयु पूरी होती है । ब्रह्म-कल्प । वि०
दे० "कल्प" । उ०—महाकल्पांत ब्रह्मांड मंडल द्रव्य भवन
कैलाश आसीन कासी ।—तुलसी ।

महाकांत-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महाकांत-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

महाकांतार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम ।

महाकाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव जी का नंदी नामक गण
और द्वारपाल । (२) हाथी ।

महाकार्तिकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिक की वह पूर्णिमा जो
रोहिणी नक्षत्र में हो । यह बहुत बड़ी पुण्यतिथि मानी
जाती है ।

महाकाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सृष्टि और प्राणियों का अंत
करनेवाले, महादेव । शिव का एक स्वरूप । उ०—कार्तिक
महाकाल कालं कृपालं ।—तुलसी । (२) समय जो विष्णु
समान अर्थात् और अनंत है । (३) शिव के एक गण का
नाम । (४) पुराणानुसार शिव के एक पुत्र का नाम ।

विशेष—कालिका पुराण में लिखा कि एक बार देवताओं ने
अग्नि से शिव का वीर्य धारण करने के लिये कहा था ।
जब वह वीर्य धारण करने लगी, तब उसमें से दो बूँदें
अलग जा पड़ीं जिनसे महाकाल और भृंगी नामक दो पुत्र
उत्पन्न हुए । एक बार इन दोनों पुत्रों ने भवानी की उस
समय देश लिया था जिस समय वे शिव के साथ विहार
करने के उपरांत वाहर निकल रही थीं । भवानी ने इन्हें
शाप दिया जिससे वे दोनों वैताल और भैरव हुए ।

महाकाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाकाल स्वरूप शिव की
पत्नी जिसके पाँच मुख और आठ भुजाएँ मानी जाती हैं ।
(२) दुर्गा की एक मूर्ति । (३) शक्ति की एक अनुचरी का
नाम । (४) जैनों के अनुसार सोलह विद्या-देवियों में से
एक जो अवसंनिधि के पवित्र अर्हत की देवी है ।

महाकालेय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम ।

महाकाल्य-संज्ञा पुं० दे० "काल्य" ।

महाकाश-संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम ।

महाकुंड-पेंडा पुं० [सं०] तिर के एक अनुचर का नाम ।
 महाकुमार-पेंडा पुं० [सं०] रामा का सबसे बड़ा पुत्र । सुवराज ।
 महाकुमुदा-पेंडा स्त्री० [सं०] गंभीरी ।
 महाकुल-पेंडा पुं० [सं०] वह जो बहुत उच्चम कुल में उत्पन्न हुआ हो । कुलीन ।
 महाकुट-पेंडा पुं० [सं०] कुट के अद्भुत भेदों में से वह जिसमें हाव-पर की उँगलियाँ गलकर गिर जाती हैं । गलित कुट ।
 महाकूट-पेंडा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक देव का नाम ।
 महाकृष्ण-पेंडा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम ।
 महाकृष्ण-पेंडा पुं० [सं०] (१) सुभुक्त के अनुसार एक प्रकार का बहुत ज़हरीला मीठ । (२) एक प्रकार का पौधा ।
 महाकेतु-पेंडा पुं० [सं०] तिर ।
 महाकोश-पेंडा पुं० [सं०] तिर ।
 महाकोश-पेंडा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम ।
 महाकोशातकी-पेंडा स्त्री० [सं०] गनुओं का गीमा गराई नाम की लकड़ी ।
 महाकृत-पेंडा पुं० [सं०] बहुत बड़ा मनु । जैसे—राजपूय, अधमेश आदि ।
 महाक्रम-पेंडा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम ।
 महाक्रीच-पेंडा पुं० [सं०] तिर ।
 महाक्रीतन-पेंडा पुं० [सं०] शालिग्रामी ।
 महाक्ष-पेंडा पुं० [सं०] (१) तिर । (२) विष्णु ।
 महाक्षीर-पेंडा पुं० [सं०] दूध । ऊष ।
 महाक्षेत्र-पेंडा पुं० [सं०] कालिका पुराण के अनुसार एक तीर्थ जो शुभदत्ता नदी के पूर्व प्रक्षेत्र के परिग्राम में है ।
 महाक्षीर्य-पेंडा पुं० [सं०] बीसों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या ।
 महाक्षय-पेंडा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या जो बीस लाखों की होती है ।
 महाक्षय-पेंडा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम ।
 महाक्षय-पेंडा पुं० [सं०] (१) कुटन । (२) जल-वैत । (३) चंद्र ।
 महाक्षय-पेंडा स्त्री० [सं०] (१) नागक्षय । (२) वैश्व । (३) चातुर्धा का एक नाम ।
 महाक्षय-पेंडा पुं० [सं०] विष्णु ।
 महाक्षय-पेंडा पुं० [सं०] (१) महाभय । (२) लोगों का भय । भीड़ ।
 महाक्षय-पेंडा पुं० [सं०] (१) तिर के एक अनुचर का नाम । (२) गणपति । ज्येष्ठ ।
 महाक्षय-पेंडा स्त्री० [सं०] बीसों के अनुसार एक बड़ी संख्या ।
 महाक्षय-पेंडा पुं० [सं०] (१) कुटन । सुवराज । (२) वह रोग जो

पतिला से अच्छा हो । जैसे—ज्वर, बोट, मगदर, बहा-सीर आदि । (३) एक प्रकार का औषध जो सौंड, पतिल और मोलमिष आदि से बनती है ।

महाकर्त्त-पेंडा पुं० [सं०] विष्णु ।
 महाकर्म-पेंडा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) तिर । (३) एक दानव का नाम ।
 महाकिरि-पेंडा पुं० [सं०] (१) बड़ा पहाड़ । (२) कुंवर के आठ पुत्रों में से एक जो पिता के नियन्त्रण के विरुद्ध बग़वत कमल पुष्प खाया था । इसी दंग पर कुंवर से तार पार यह कर्म का आई हुआ था और कृष्ण के हाथों मारा गया था ।

महागीत-पेंडा पुं० [सं०] तिर ।
 महागुद-पेंडा पुं० [सं०] एक प्रकार के बीड़ जो कर्म में बग़वत होते हैं । (चरक)

महागुनी-पेंडा पुं०—दे० "महागुनी" ।
 महागुलमा-पेंडा स्त्री० [सं०] गोम लता ।
 महागोधूम-पेंडा पुं० [सं०] बड़े दाने का गेहूँ ।
 महागोपा-पेंडा स्त्री० [सं०] शक्तिदा । अनंतमूल ।
 महागोरी-पेंडा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) पुराणानुसार एक नदी जो विष्णु पर्वत से निकलती है ।
 महाग्रथिक-पेंडा पुं० [सं०] वह औषध जिससे सेवन से रोग निधिग रूप से रुक जाय और बढ़ने न पारे ।

महाग्रह-पेंडा पुं० [सं०] राहु ।
 महाग्रीव-पेंडा पुं० [सं०] (१) तिर । (२) तिर के एक अनुचर का नाम । (३) पुराणानुसार एक देव का नाम । (४) वैश्व ।

महागुर्गा-पेंडा स्त्री० [सं०] मुरा । नाराय ।
 महागुल-पेंडा पुं० [सं०] १११ वर्ष का पुराना गी जो बहुत पुनरावृत्ति माना जाता है । पैतक में इसे कर्मसार, बग़-कार और मेवाजनक माना है ।

महाघोव-पेंडा पुं० [सं०] (१) भारी भार । (२) हाट । बाजार ।
 महाघोष-पेंडा स्त्री० [सं०] कर्कशस्वरी ।
 महाघंघ-पेंडा पुं० [सं०] एक प्रकार का माग । घेंप ।
 महाघंघ-पेंडा पुं० [सं०] (१) वय के दूत । (२) तिर के एक अनुचर का नाम ।
 दि० प्रचंड । भयानक ।

महाघंघा-पेंडा स्त्री० [सं०] चातुर्धा का एक नाम ।
 महाघंघा-पेंडा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।
 महाघंघा-पेंडा पुं० [सं०] महाभय । बहुत बड़ा बग़-वर्षी राजा । भयानक ।
 महाघंघा-पेंडा पुं० [सं०] बीसों के अनुसार एक बड़ी संख्या ।

महाचक्रो-संज्ञा पुं० [सं० महाचक्रिन्] (१) विष्णु । (२) वह जो पड़पत्र रचने में बहुत प्रवीण हो ।

महाचपला-संज्ञा स्त्री० [सं०] यह आर्यो, छंद जिसके दोनों दलों में चपला छंद के लक्षण हैं ।

महाचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महाचिन्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम ।

महाचूडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंद की एक मातृका का नाम ।

महाव्याध-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ वृद्ध । बड़ का पेड़ ।

महाज्योतिर-संज्ञा पुं० [सं०] कमला नाँव ।

महाजनु-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ जानुन ।

महाजम-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ या श्रेष्ठ पुरुष । (२)

साधु । (३) धनी व्यक्ति । धनवान । दीलतमंद । (४)

रुप, पैसे का लेन देन करनेवाला व्यक्ति । कोठीवाल ।

उ०—बहुत महाजन सकल धोलाए ।—तुलसी । (५)

यनिया । उ०—महतो से सुगल, महाजन से महाराज

डाँड़ि लीन्है पकरि पठान पटवारी से ।—भूषण ।

(६) प्रामाणिक आचरणवाला व्यक्ति । भलामानुस ।

उ०—पथ सो जाहि महाजन थापे ।—रघुनाथ ।

महाजनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० महाजन + ई प्रत्य०] (१) रुपए के लेन

देन का व्यवसाय । हुंडी घुरजे का काम । कोठीवाली ।

(२) एक प्रकार की लिपि जिसमें मात्राएँ आदि नहीं लगाई

जातीं । यह लिपि महाजनों के यहाँ बड़ी खाता लिखने में

काम आती है । बुद्धिवा ।

महाजय-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

महाजल-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र । उ०—मलय तनु मिलि

लसति सोभा महाजल गंभीर । निरिख कोचन अमल पुनि

पुनि धरत नहि मन धीर ।—सूर ।

महाजया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुमार की अनुचरी एक मातृका

का नाम । (२) एक नदी का नाम ।

महाजानु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाजायालि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।

महाजिह्वा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) पुराणानुसार एक

दैत्य का नाम ।

महाज्ञानी-संज्ञा पुं० [सं० महाज्ञानिन्] (१) वह जो बड़ा ज्ञानी

हो । (२) शिव ।

महाज्योतिषमती-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी मालकंजी ।

महाज्वाला-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हवन की अग्नि । (२) पुराण-

नुसार एक नरक का नाम । कहते हैं कि जो लोग अपनी

उपवृत्त या कन्या के साथ गमन करते हैं, वे इस नरक में

जते हैं । (३) महादेव ।

महाज्वाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों की एक विद्यादेवी का नाम ।

महातत्त्व-संज्ञा पुं०—दे० “महतत्त्व” । उ०—(क) त्रिगुण तत्त्व

ते महातत्त्व, महातत्त्व ते अहंकार । मन इन्द्रिय शब्दादि पंचो

ताते किण्व विस्तार ।—सूर । (ख) देव, प्रकृति महातत्त्व

सम्बन्धि गुण देवता ज्योम मरुदग्नि अनिलांशु उर्वो ।—

तुलसी ।

महातसकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक मत जिसमें तीन दिन तक

गरम दूध, गरम घी या गरम जल पीकर चौथे दिन उपवास

किया जाता है ।

महातम-संज्ञा पुं०—दे० “माहात्म्य” । उ०—(क) करि प्रणाम

देखन बन पागा । कहत महातम अति अनुरागा ।—

तुलसी । (ख) सय सुखनिधि हरि नाम महातम पायो है

नाहिन पहिचानत ।—सूर ।

महातल-संज्ञा पुं० [सं०] चौदह भुवनों में से पृथ्वी के नीचे का

पाँचवाँ भुवन या तल । उ०—अतल पितल अरु सुतल

तलतल और महातल जान । पाताल और रसातल मिलि

सती भुवन प्रमान ।—सूर ।

महातीरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की एक देवी का नाम ।

महातिक्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महानिष । यकायन । (२)

चिरायता ।

महातीक्ष्ण-वि० [सं०] (१) अत्यंत तीक्ष्ण या तेज़ । (२)

बहुत कड़वा या झालदार ।

संज्ञा पुं० भिलायौ ।

महातेज-संज्ञा पुं० [सं० महातेजस्] (१) शिव । (२) पारा ।

महात्मा-संज्ञा पुं० [सं० महात्मन्] (१) वह जिसकी आत्मा या

आशय बहुत उच्च हों । वह जिसका स्वभाव, आचरण और

विचार आदि बहुत उच्च हों । महाभूष । (२) बहुत बड़ा

साधु, संन्यासी या विरक्त । (३) बुद्ध । पाजी । (प्याय)

(४) परमात्मा । (५) पितरों का एक गण । (६) महादेव ।

शिव । (७) महत्त्व ।

महात्रिफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ेदा, औँला और हड़ इन

तीनों का समूह ।

महात्याग-संज्ञा पुं० [सं०] दान ।

महात्यागी-संज्ञा पुं० [सं० महात्यागिन्] शिव ।

महादंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यम के हाथ का दंड । (२) यम

के दूत ।

महादंडधारी-संज्ञा पुं० [सं० महादंडधारिन्] यमराज । उ०—

करै कोतवाली महादंडधारी । सका मेघमाला, शिरसी पाक

करी ।—केशव ।

महादंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । (२) हाथी-दंत ।

महादंता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नगपेल ।

महादेव-छंदा पुं० [सं०] (१) महादेव । संहर । (२) एक राक्षस का नाम । (३) विष्णुधर ।

महादान-छंदा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार गुला पुरर, सोने की गी या घोड़ा आदि तथा धृषी, हाथी, रथ, कन्या आदि पदार्थों का दान जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है । (२) वह दान जो ग्रहण आदि के समय दोगों, चमारों आदि छोटी जातियों को दिया जाता है ।

महादाय-छंदा पुं० [सं०] देवदार ।

महादूत-छंदा पुं० [सं०] यमदूत ।

महादूतक-छंदा पुं० [सं०] सुधुत के अनुसार एक प्रकार का घात ।

महादैव-छंदा पुं० [सं०] शंकर । शिव ।

महादैवी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) राजा की प्रधान पत्नी या पटरानी की एक पदवी जो हिन्दू काल में भारत में प्रचलित थी ।

महादैव्य-छंदा पुं० [सं०] पुराणानुसार भौव्य मन्वन्तर के एक दैव्य का नाम ।

महादायक-छंदा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का भौषध जो हौतामकृषि, रसायन, समुद्रकेन, सखी आदि से बनाया जाता है ।

महादूत-छंदा पुं० [सं०] (१) अक्षय । पीपल । (२) साद । (३) महुआ । (४) पुराणानुसार एक वर्ष या देव का नाम ।

महाद्रोण-छंदा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) शुभेष्ट परंज ।

महाद्रोणा-छंदा स्त्री० [सं०] द्रोणपुत्री ।

महाद्रोण-छंदा पुं० [सं०] द्रुपदी का वह बड़ा भाग जो चारों ओर वीरगति समाओं से घिरा हुआ हो और जिसमें अनेक देव हैं और अनेक जातियाँ बसती हैं । जैसे—द्रोणा, अर्जुन आदि (आधुनिक भूगोल) ।

महाधन-वि० [सं०] (१) बहुमूल्य । अधिक मूल्य का । उ०—(क) बाहु विद्याम कलित सायक धनु कर कौरव के मूर महाधन ।—गुप्तजी । (ग) तर्ह राजन निज धीर वीरमात साकेत सर करन बरान महाधन धीर ।—सूर । (२) बहुल धनी ।

महाधन-छंदा पुं० [सं०] (१) धन । (२) धन । (३) धन । (४) धन । (५) धन । (६) धन । (७) धन । (८) धन । (९) धन । (१०) धन ।

महाधन-छंदा पुं० [सं०] (१) धन । (२) धन । (३) धन । (४) धन । (५) धन । (६) धन । (७) धन । (८) धन । (९) धन । (१०) धन ।

महाधन-छंदा पुं० [सं०] (१) धन । (२) धन । (३) धन । (४) धन । (५) धन । (६) धन । (७) धन । (८) धन । (९) धन । (१०) धन ।

महाधन-छंदा पुं० [सं०] (१) धन । (२) धन । (३) धन । (४) धन । (५) धन । (६) धन । (७) धन । (८) धन । (९) धन । (१०) धन ।

महाधन-छंदा पुं० [सं०] (१) धन । (२) धन । (३) धन । (४) धन । (५) धन । (६) धन । (७) धन । (८) धन । (९) धन । (१०) धन ।

देव की सौत गया था । (२) दस अंगुल की मुरली । इस धातु के देवता महा माने गए हैं । (३) मुक्ति । मोक्ष ।

महानंदा-छंदा स्त्री० [सं०] (१) नृपा । चाराव । (२) भाव मुद्रा नयनी । इस निधि को दान, होम और भक्त आदि करने का विधान है । (३) बंगाल की एक छोटी नदी का नाम जो हिमालय के अंतर्गत दार्जिलिंग से निकली है ।

महानक-छंदा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाण जिस पर चमड़ा मड़ा होता था ।

महानन-छंदा पुं० [सं०] (१) प्रेमी । प्रेम करनेवाला । (२) स्त्री का चार । उपपत्ति । जार । (३) प्राचीन काल का एक राजकुमारों की जो बहुत ऊँचे पद पर होता था ।

महानट-छंदा पुं० [सं०] शिव ।

महानद-छंदा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक नदी का नाम । (२) एक तीर्थ का नाम ।

महानयमी-छंदा स्त्री० [सं०] आधिन मुद्रा नयनी । आधिन के नयनाय की नयनी ।

महानस-छंदा पुं० [सं०] पाकसाया । रसोद्वंश ।

महानाटक-छंदा पुं० [सं०] नाटक के लक्ष्यों से युक्त दस अक्षरोंवाला नाटक ।

वि०—दे० “नाटक” ।

महानाद-छंदा पुं० [सं०] (१) हाथी । (२) ऊँट । (३) सिंह । (४) भेड़ । (५) बाघ । (६) शंख । (७) बड़ा डोल । (८) महादेव । शिव ।

महानाम-छंदा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मंत्र जिससे वातु के सँके हुए वायु स्वयं जाते हैं । उ०—प्रधानम धन महा नाम दोड हँदु मान गुनामा—चतुर्नाम । (२) एक दानव का नाम । (३) पुराणानुसार शिखरकान्तु के एक पुत्र का नाम ।

महानारायण-छंदा पुं० [सं०] विष्णु ।

महानास-छंदा पुं० [सं०] महादेव ।

महानिब-छंदा पुं० [सं०] चराचर ।

महानिद्रा-छंदा स्त्री० [सं०] शयन । मग्न । नींद ।

महानिधान-छंदा पुं० [सं०] सुप्रसिद्ध धातुगोरी वाता जिसे “बावन मोला पाय रत्न” भी कहते हैं । उ०—महादेव का कल्याण हो, आरक्षी कृपा से महानिधान निद्रा हुआ । आरक्षी कपाई है ।—हरिभद्र ।

महानियम-छंदा पुं० [सं०] विष्णु ।

महानियुत-छंदा पुं० [सं०] बीरों के अनुसार एक बहुत बड़ी शस्त्र का नाम ।

महानियय-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का नाम ।

महानिर्वाण-छंदा पुं० [सं०] परितोषित जिसके अधिकारी केवल भर्षा या बुद्ध नाम माने जाते हैं ।

महानिशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात्रि का मध्य भाग। आधी रात। (२) कल्पित या प्रलय की रात्रि।
 महानिशीय-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के एक संप्रदाय का नाम।
 महानीच-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ी।
 महानीवू-संज्ञा पुं० [सं०] महा + हिं० नीवू [विजौरा नीवू]।
 महानीम-संज्ञा स्त्री० [सं०] महानिम्ब (१) यकायन। (२) तुन का पेड़।
 महानील-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भृंगराज पक्षी। (२) एक प्रकार का नीलम जो सिंहल द्वीप में होता है। (३) एक प्रकार का गुग्गुलु। (४) एक पर्वत का नाम जो मेरु पर्वत के पास माना जाता है। (५) एक प्रकार का साँप। एक नगर का नाम।
 महानीली-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली अपराजिता।
 महाहुभाय-संज्ञा पुं० [सं०] कोई बड़ा और आवरणीय व्यक्ति। महापुरुष। महाप्राय।
 महाहुभायता-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाहुभाय होने का भाव। बड़प्पन। उ०—यह आपकी महाहुभायता है कि आपने अपनी गलती मान ली।
 महानृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।
 महानेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।
 महानेमि-संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।
 महापंचमूल-संज्ञा पुं० [सं०] बेल, अरनी, सोनापाड़ा, काश्मरी और पाटला इन पाँचों वृक्षों की जड़ों का समूह जिसका व्यवहार वैद्यक में होता है।
 महापंचविध-संज्ञा पुं० [सं०] श्रंगी, कालकूट, सुलूक, यछनाग और शंखकर्णी इन पाँचों विषों का समूह।
 महापंचगुल-संज्ञा पुं० [सं०] छाल अडी का वृक्ष।
 महापल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गज। (२) उल्लू। (३) एक प्रकार का राजहंस।
 महापग-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम।
 महापथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत लंबा और चौड़ा रास्ता। राजपथ। (२) वाश्वल्लव स्मृति के अनुसार २१ नरकों में से १६ वीं नरक। (३) परलोक का मार्ग। श्रुत्यु। भौत। (४) सुपुत्रा नदी। (५) हिमालय के एक तीर्थ का नाम। (६) शिव।
 महापथगमन-संज्ञा पुं० [सं०] भ्रमण। देहान्त।
 महापथिक-संज्ञा पुं० [सं०] यह जो मरने के उद्देश्य से हिमालय पर्वत पर जाय।
 महापथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नौ निधियों में से एक निधि। (२) आठ दिगों में से एक दिग्गज जो दक्षिण दिशा में स्थित है। (३) हाथी की एक जाति। (४) पनवाली जाति के वंशगत एक प्रकार का साँप। (५) एक प्रकार का दैत्य।

(६) सफेद कमल। (७) महाभारत काल के एक नगर का नाम जो गंगा के किनारे पर था। (८) सौ पत्र की संख्या। (९) कुबेर के अनुचर एक किन्नर का नाम।
 महापथ-संज्ञा पुं० [सं०] महाकल्प।
 महापनस-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का साँप।
 महापर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का शाल वृक्ष।
 महापवित्र-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।
 महापातक-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार पाँच बहुत बड़े पाप जो ये हैं—ब्रह्महत्या, मद्यपान, चोरी, गुरु की पत्नी के साथ व्यभिचार और ये सब पाप करनेवालों का साथ करना। कहते हैं कि जो लोग ये महापातक करते हैं, वे नरक भोगने के उपरान्त भी सात जन्म तक घोर कष्ट भोगते हैं।
 महापातकी-संज्ञा पुं० [सं०] महापातकीन् [वह जिसने महापातक किया हो]।
 महाप्राज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाब्राह्मण वा कृद्वा ब्राह्मण जो श्रुतकर्म का दान लेता है। (२) महामंत्री। प्रधान मंत्री।
 महापाद-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।
 महापाय-संज्ञा पुं० [सं०] महापातक।
 महापार्श्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक दानव का नाम। (२) एक राक्षस का नाम।
 महापाश-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का यमदूत।
 महापाशुपत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यकूल। मौलसिरी। (२) शैवों का एक प्राचीन संप्रदाय जिसमें पशुपति की उपासना होती थी।
 महापासक-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध भिक्षुक। भ्रमण।
 महापितृयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का आहुत या पितृयज्ञ जो शाकम्भ में दूसरे दिन होता था।
 महापीठ-संज्ञा पुं० दे० "पीठ"।
 महापील-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पील वृक्ष।
 महापुट-संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार रस आदि तैयार करने का एक प्रकार जिसमें दो हाथ लंबा, दो हाथ चौड़ा और दो हाथ गहरा एक गाढ़ा खोदकर उसमें एक हजार उपले रखते हैं; और उन उपलों पर मिट्टी के धर्तन में ओषधि आदि डालकर उसका मुँह बंद करके रख देते हैं; और तब उपर से पाँच सौ उपले रखकर भाग लगा देते हैं।
 महापुण्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।
 महापुण्य-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम।
 महापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] लड़के का पुत्र। पोता।
 महापुमान्-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

महाभाग-छंड़ा सी० [सं०] दादायिणी का एक नाम ।

महाभारत-छंड़ा पुं० [सं०] (१) एक परम प्रसिद्ध प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्य जिसमें कौरवों और पांडवों के युद्ध का वर्णन है । यह ग्रंथ आदि, सभा, वन, विराट्, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, साँसिक, श्री, शांति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासी, मौसल, महाप्रस्थान और स्वर्गारोहण इन अठारह पर्वों में विभक्त है । कुछ लोग हरिवंश पुराण को भी इसी के अंतर्गत और इसका अंतिम अंश मानते हैं । इस ग्रंथ में लगभग ८०-९० हजार श्लोक हैं । ऐतिहासिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से इस ग्रंथ का महत्त्व बहुत अधिक है । यों तो महाभारत ग्रंथ कौरव-पांडव युद्ध का इतिहास ही है, पर इसमें वैदिक काल की यज्ञों में कही जानेवाली अनेक गायत्रियों और आख्यानों आदि के संग्रह के अतिरिक्त धर्म, तत्त्वज्ञान, व्यवहार, राजनीति आदि अनेक विषयों का भी बहुत अच्छा समावेश है । कहते हैं कि कौरव-पांडव युद्ध के उपरान्त ध्यात्मजी ने "जय" नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की थी । वैशंपायन ने उसे और बढ़ाकर उसका नाम "भारत" रखा । सब के पीछे संहिता ने उसमें और भी बहुत सी कथाओं आदि का समावेश करके उसे वर्तमान रूप देकर महाभारत बना दिया । महाभारत में जिन पात्रों का वर्णन है, उनके आधार पर एक ओर तो यह ग्रंथ वैदिक साहित्य तक जा पहुँचता है; और दूसरी ओर जैनों तथा बौद्धों के आरंभिक काल के साहित्य से आ मिलता है । हिंदू इसे बहुत ही प्रामाणिक धर्मग्रंथ मानते हैं । (२) कोई बहुत बड़ा ग्रंथ । (३) कौरवों और पांडवों का प्रसिद्ध युद्ध जिसका वर्णन उक्त महाकाव्य में है । (४) कोई बड़ा युद्ध या लड़ाई-झगड़ा । जैसे—यूरोपीय महाभारत ।

महाभाग-छंड़ा पुं० [सं०] पाणिनि के व्याकरण पर पतञ्जलि का लिखा हुआ प्रसिद्ध भाष्य ।

महाभिलु-छंड़ा पुं० [सं०] भगवान् युद्ध ।

महामोत-छंड़ा पुं० [सं०] (१) राजा शांतनु का एक नाम । (२) शिव के भृंगी नामक द्वारपाल का एक नाम ।

महामीत-छंड़ा पुं० [सं०] लज्जाल ।

महामोम-छंड़ा पुं० [सं०] (१) राजा शांतनु का एक नाम ।

(२) शिव के भृंगी नामक द्वारपाल का एक नाम ।

महामोय-छंड़ा पुं० [सं०] ग्यालिन् नाम का यरसाती कीड़ा ।

महामोप-छंड़ा पुं० [सं०] राजा शांतनु का एक नाम ।

महामुज-छंड़ा पुं० [सं०] वह जिसकी बाँहें बहुत लंबी हों । आज्ञाबुद्ध ।

महामृत-छंड़ा पुं० [सं०] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पंचतत्त्व । उ०—मल्लहू के काल महामृतनि के महामृत,

कर्म के कर्म निदान के निदान ही ।—तुलसी । वि० दे० "मृत" ।

महामृग-छंड़ा पुं० [सं०] नीले फूलवाला भेंगरा ।

महामैरव-छंड़ा पुं० [सं०] शिव ।

महामैरवी-छंड़ा सी० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक विद्या का नाम ।

महामोग-छंड़ा पुं० [सं०] साँप ।

महामोगा-छंड़ा सी० [सं०] दुर्गा ।

महामोगी-छंड़ा पुं० [सं०] महामोगिन् । यद्दे फनवाला साँप ।

महामंत्री-छंड़ा पुं० [सं०] राजा का प्रधान या सब से बड़ा मंत्री ।

महामति-वि० [सं०] जो बहुत बड़ा बुद्धिमान् हो ।

छंड़ा पुं० (१) गणेश । (२) एक वक्त्र का नाम । (३) एक मोक्षित्व का नाम ।

महामद-छंड़ा पुं० [सं०] मस्त हाथी ।

महामयूरी-छंड़ा सी० [सं०] बौद्धों की एक देवी का नाम ।

महामह-छंड़ा पुं० [सं०] बहुत बड़ा उत्सव । महोत्सव ।

महामहोपाध्याय-छंड़ा पुं० [सं०] (१) गुरुओं आ गुरु । बहुत बड़ा गुरु । (२) एक प्रकार की उपाधि जो आज कल भारत में संस्कृत के विद्वानों को ब्रिटिश सरकार की ओर से मिलती है ।

महामांस-छंड़ा पुं० [सं०] (१) गोमांस । गौ का गोस्त । (२) मनुष्य का मांस ।

विशेष—कुछ लोग मनुष्य, गौ, हाथी, घोड़े, भैंस, सूअर, ऊँट और साँप इन आठ जीवों के मांस को महामांस मानते हैं । महामांस खाना परम निषिद्ध कहा गया है ।

महामार्द-छंड़ा सी० [सं०] महा + र्द = मार् । (१) दुर्गा । (२) काली ।

महामातृ-छंड़ा पुं० [सं०] राजा का प्रधान या सब से बड़ा अमात्य । प्रहामंत्री ।

महामात्र-छंड़ा पुं० [सं०] (१) महामातृ । (२) महापुत्र । (३) हाथियों का निरीक्षक ।

वि० (१) प्रधान । बड़ा । (२) समृद्ध । संपन्न । (३) धनवान् । अमीर ।

महामानसिका, महामानसी-छंड़ा सी० [सं०] जैनियों की एक देवी का नाम ।

महामाया-छंड़ा सी० [सं०] (१) प्रकृति । (२) दुर्गा । (३) गंगा । (४) शुद्धोदन की पत्नी और बुद्ध की माता का नाम ।

(५) आर्या छंद का तेरहवाँ भेद जिसमें १५ गुरु और २० लघु वर्ण होते हैं ।

छंड़ा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) शिव । (३) एक असुर का नाम । (४) एक विद्याधर का नाम ।

वि० मायावी ।

महामात्री—पंथा स्त्री० [मं०] (१) यह संक्रान्त और भीमग रोग जिसमें एक माघ ही बहुत से लोग मरें। यथा। मरी।
 कैने—ईना, चेवक, ड्रेग इत्यादि। (२) महाकात्री का एक नाम।

महामाल—पंथा पुं० [मं०] तिथि।

महामालिनी—पंथा स्त्री० [मं०] नाराय छंद का एक नाम।

महामाघ—पंथा पुं० [मं०] राजमाघ। यद्वा उद्गुह।

महामाघतेज—पंथा पुं० [मं०] धैर्य में एक प्रकार का तेज जो साधारण तेज के तेज में चने की दाय, दगमूल और बकरी का मांस आदि मिष्टान्न पकाने से बनता है।

महामुंद—पंथा पुं० [मं०] बोल नामक मंत्र-द्रव्य।

महामुंदनिका—पंथा स्त्री० [मं०] गोमयमुंदी।

महामुन—पंथा पुं० [मं०] (१) पुंमीर नामक जल-जंतु। (२) नदी का मुहाना। यह स्थान जहाँ नदी गिरती है। (३) महादेव।

महामुद्रा—पंथा स्त्री० [मं०] (१) योग में अनुष्मार एक प्रकार की मुद्रा या मंत्रों की स्थिति। (२) एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

महामुनि—पंथा पुं० [मं०] (१) मुनिवों में श्रेष्ठ। बहुत बड़ा मुनि। (२) कपटी धर्मिक। टग। योगेश्वर। (धर्म्य) (३) भगवत्पति। (४) बुद्ध। (५) हृत्पाथर्व्यं। (६) बाल। (७) इषाम। (८) एक जिन का नाम। (९) मुंजु का वृक्ष।

महामूर्ति—पंथा स्त्री० [मं०] विष्णु।

महामूल—पंथा पुं० [मं०] प्याज।

महामूल्य—पंथा पुं० [मं०] मानिक।

वि० (१) जिसका मूल्य बहुत अधिक हो। बहुमूल्य।
 (२) महंगा।

महामृग—पंथा पुं० [मं०] हाथी।

महामृगयुज्य—पंथा पुं० [मं०] (१) तिथि। (२) तिथित्री का एक मंत्र। करते हैं कि इसके जप से अश्वत्थ शत्रु टप जाती और आयु बढ़ती है।

महामेघ—पंथा पुं० [मं०] तिथि।

महामिद—पंथा पुं० दे० "महामिद"।

महामिद—पंथा स्त्री० [मं०] एक प्रकार का चंद्र जो मीरंग देग में पाया जाता है। यह देखने में अरुण के समान होता है। इसकी रंग काली है। कैलक में इसे मीरंग, कचिहर, कक और मुक को कहते हैं। दार, रक्तरित, हाथ, पाग, और मुक से माला करनेवाली माला है।

शिरोग—बड़ नदी भाजक बड़ी मिलती। इसके स्थान पर परचयजग आदि में दूनी ओर खो जाने हैं।

परा०—देवकीय। यमुनिका। देव। मुनिदेव। दिव्य।
 निर्दोष। गोमा।

महामिद—पंथा पुं० [मं०] एक वृक्ष का नाम।

महामोदकारी—पंथा पुं० [मं०] एक धर्मिक वृक्ष जिसके फल में ६ यम होते हैं। इसका दूसरा नाम मोदकार्य भी है।
 महामोह—पंथा पुं० [मं०] सांसारिक सुखों के भोग को हटा जो अविद्या का कारण मानी गई है।

महामोहा—पंथा स्त्री० [मं०] दुर्गा।

महापद—वि० [मं० महा] महात्। बहुत। अधिक। ज्यादा।
 उ०—(क) तीसरे अपने रूप रवि दर्शक माल भाग।
 कभी सकल स्थित करदु यामें प्रीति महाप।—रघुनाथ।
 (ग) पाके सनमुख हम दोक पड़ी रूप बनाए। हमरी तरफ तक नहीं अथवा लगत महाप।—रघुनाथ।

महापद—पंथा पुं० [मं०] (१) पादों का राज। (२) एक प्रकार के षोड देवता।

महापद—पंथा पुं० [मं०] हिंदू धर्मशास्त्र के अनुसार नियमित करनेवाले कर्म। जो मुख्यतः दोष हैं—(१) महाव्रत म मोचोपासन, (२) देवव्रत = हवन, (३) विष्णुव्रत = तप, (४) भूतपद = बलि और (५) मृत्यु = अनिष्ट-साध।
 विशेष—इन पाँचों कर्मों के नियम करने का विधान है। इनमें है कि मनुष्य नियम जो पाए करता है, उनका नाम इन पाँचों के अनुष्ठान से हो जाता है।

महापद—पंथा पुं० [मं०] यमराज।

महापात्रा—पंथा स्त्री० [मं०] शत्रु। मीन।

महापात्रा—पंथा पुं० [मं०] (१) एक विधाया का नाम। (२) पाँचों के तीन मुख्य मंत्रपात्रों में से एक संवत्सर जो महाप्रा पुत्रों के प्रतिनिधियों के घोड़े की रितों बार उनके स्थितियों और अनुपादियों में समभेद होने के कारण बना था। इसका प्रचार वैष्णव, शिखर, चैन, ज्ञान और उपाय देवों में है जहाँ हमें तंत्र भी बहुत कुछ मिल हुआ है। जिस प्रकार तिथि की स्थितियों हैं, उगी प्रकार वृक्ष की कर्म स्थितियों वा देवियों हैं जिनकी उपलब्धि की जाती है।

महापात्रा—पंथा पुं० [मं०] एक प्रकार का साल।

महापात्रा—पंथा पुं० [मं०] विष्णु।

महापात्रा—पंथा पुं० [मं०] पात्र, पैठा, झरार और बलि इन पाँचों सुखों का समूह जो देवताओं का एक सुख माना जाता है।
 महापात्रा—पंथा पुं० [मं०] एक बड़ी संख्या तो भी बहुत की होती है।

महापात्रा—पंथा पुं० [मं०] तिथि।

महापात्रा—पंथा पुं० [मं०] विनायक, दुग्ध, कर्म, पुण्य, योग, शत्रु और कपट जो बहुत बड़े कर्म और योगी माने जाते हैं।

महापात्रा—पंथा स्त्री० [मं०] (१) दुर्गा। (२) अन्नरक्षी।
 महापात्रा—पंथा स्त्री० [मं०] कैलक के अनुष्ठान विधियों का वह यम का योग जिसमें उसके योगी बहुत बड़े उत्तरी हैं।

महायोगिक-संज्ञा पुं० [सं०] २९ मात्राओं के छंदों की संज्ञा ।
महारंभ-वि० [सं०] जिसका आरंभ करने में बहुत अधिक यत्न करना पड़े । बहुत बड़ा । उ०—सच है, छोटे जी के लोग थोड़े ही कामों में ऐसा धक्का जाते हैं मानो सारे संसार का बोझ इन्हीं पर है । पर जो बड़े लोग हैं, उनके सब काम महारंभ होते हैं; तब भी उनके मुख पर कहीं से व्याकुलता नहीं झलकती ।—हरिश्चंद्र ।

महारक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यौद्धों के अनुसार महाप्रतिसरा, महामादुरी, महासहस्रप्रमदिनी, महादीतवती और महामंत्रानुसारिणी ये पाँच देवियाँ ।

महारक्त-संज्ञा पुं० [सं०] रूँगा ।

महारत्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना । सुवर्ण । (२) धत्तुरा ।

महारत्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुमुद का फूल । (२) सोना ।

महारत्न-संज्ञा स्त्री० [सं०] अम्बा । मन्त्र ।

महारत्न-संज्ञा पुं० [सं०] मोती, हीरा, वैद्युत्, पद्मराग, गोमेद, पुष्पाग (पुष्पराज), पद्मा, रूँगा और नीलम इन नौ रत्नों में से कोई रत्न ।

महारत्नधर्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्रिकों की एक देवी का नाम ।

महारथ-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत भारी घोड़ा जो अकेला दस हजार घोड़ों से लड़ सके । उ०—पूरा प्रकृति सात धीर भीर हैं विख्यात रथी महारथी अतिरथी रण साज के ।—रघुराज ।

महारथी-संज्ञा पुं० दे० “महारथ” ।

महारथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] चौड़ा रास्ता । सड़क ।

महारत्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कौंजी । (२) खजूर । (३) कसेरु । (४) जल । (५) पारा । (६) कांतीसार लोहा । (७) ईशुर । (८) सोनामक्खी । (९) रूपामक्खी । (१०) अन्नक । (११) जामुन का वृक्ष ।

महाराज-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महारानी] (१) राजाओं में श्रेष्ठ । बहुत बड़ा राजा । (२) ब्राह्मण, गुरु, धर्मचार्य या और किसी धर्म के लिये एक संरक्षक । (३) एक उपाधि जो आधुनिक भारत में ब्रिटिश सरकार की ओर से बड़े बड़े राजाओं को दी जाती है ।

महाराजाधिराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा राजा । अनेक राजाओं में श्रेष्ठ । (२) एक प्रकार की पदवी जो ब्रिटिश भारत में सरकार की ओर से बड़े राजाओं को मिलती है ।

महाराजिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के देवता जिनकी संख्या कुछ लोगों के मत से २२६ और कुछ लोगों के मत से ४००० है ।

महारात्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) महारानी ।

महाराज्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा राज्य । साम्राज्य ।

महाराष्ट्रा-संज्ञा पुं० [सं० महा + हि० राष्ठा] मेवाड़, चित्तौर और उदयपुर के राजाओं की उपाधि ।

महारात्रि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाप्रलयवाली रात, जब कि महा काल हो जाता है और दूसरा महाकल्प होता है । (२) तंत्रिकों के अनुसार शीत आधी रात बीतने पर दो मुहूर्तों का समय जो बहुत ही पवित्र समझा जाता है । कहते हैं कि इस समय जो पुण्य-कृत्य किया जाता है, उसका फल अक्षय होता है । (३) दुर्गा ।

महारावण-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह रावण जिसके हज़ार मुख और दो हज़ार भुजाएँ थीं । अशुत रामायण के अनुसार इसे जानकी जी ने मारा था ।

महारावल-संज्ञा पुं० [सं० महा + हि० रावल] जैसलमेर, डूंगरपुर आदि राज्यों के राजाओं की उपाधि ।

महाराष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दक्षिण, भारत का एक प्रसिद्ध प्रदेश जो अरब सागर के तट पर, गुजरात के दक्षिण, कर्नाट के उत्तर और सैलंग प्रदेश के पश्चिम में है । कोंकण प्रदेश इसी का दक्षिणी भाग है । बहुत प्राचीन काल में इस प्रदेश का उत्तरी भाग दण्डक वन कहलाता था । यहाँ सातवाहन, चालुक्य, कलचुरी और यादव आदि वंशों का बहुत दिनों तक राज्य था । मुसलमानों के राजत्व काल में यहाँ बहमनी, निज़ामशाही और कुतुबशाही आदि वंशों का राज्य था । पीछे सुप्रसिद्ध वीर महाराज शिवा जी ने इस देश में अपना साम्राज्य स्थापित किया था । यह प्रदेश आधुनिक बम्बई प्रांत के लगभग है और यहाँ के निवासी भी महाराष्ट्र कहलाते हैं । (२) इस देश के निवासी, विशेषतः ब्राह्मण निवासी । (३) बहुत बड़ा राष्ट्र । जैसे—अमेरिकन महाराष्ट्र ।

महाराष्ट्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की प्राकृत भाषा जो प्राचीन काल में महाराष्ट्र देश में बोली जाती थी । (२) महाराष्ट्र की आधुनिक देशभाषा । (३) जल-पीपल ।

महाचन्द्र-संज्ञा पुं० [सं०] तिथि ।

महारूप-संज्ञा पुं० [सं०] तिथि ।

महारूपक-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक ।

महारूप-संज्ञा पुं० [सं०] भूतों की एक जाति ।

महारूप-संज्ञा पुं० [सं० महारूप] (१) यूह । सेंहुद । स्त्री । (२) एक जंगली वृक्ष जो बहुत सुंदर होता है । इसकी लकड़ी से आरायशी सामान बनता है । इसकी छाल में सुगंध होती है । मद्रास और मध्य प्रदेश में यह अधिकता से पाया जाता है ।

महारोग-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा रोग । जैसे,—पागलपन, कोव, खपेदिक, दमा, भगंदर आदि । कहते हैं कि इस प्रकार के रोग पूर्व जन्म के पापों के परिणाम-स्वरूप होते हैं ।

६। पैम योग देमे रंगों की चिकित्सा करने से पहले सौमी से प्रापथित आदि कराने हैं।

महासौमी-रंदा पुं० [सं० महासौमी] जिसे कोई महासौमी हो।

महासौमी-रंदा पुं० [सं०] (१) निव। (२) २२ माघमास के रंदा की संज्ञा।

महासौमी-रंदा श्री० [सं०] दुर्गा।

महासौरीय-रंदा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक नरक का नाम। कहते हैं कि जो लोग देवताओं का धन चुराते या गुरु की परी के साथ गमन करते हैं, वे इस नरक में भेजे जाते हैं। (२) एक प्रकार का साम।

महासौ-वि० [सं०] बहुतव्य। बड़े मोल का। (२) जिसका मूल्य रोक में अधिक हो। महंगा।

रंदा पुं० महा सौमन्य।

महासौता-रंदा श्री० [सं०] महासौ होने का भाव। महिमी।

महासौ-वि० दे० "महासौ"।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा समुद्र। महासागर।

(२) निव। (३) पुराणानुसार एक दैत्य जिसे अगवान् ने दग्ध भवना में अपने दाहिने पैर से उच्छिन्न किया था।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] एक क्षत्रिय का नाम।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] (१) जंगली अदरक। (२) सोंठ।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] श्री कौशु या दस भण्ड की संख्या।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] सफेद चंदन।

वि० दे० "महासौ"।

महासौ-रंदा पुं० [सं० मदन का दण्ड व०] (१) यह स्थान जहाँ बहुत से बड़े मकान हों। गुहला। डोला। उता। पाड़ा। (२) बंदोपन के काम के लिये किया हुआ जमीन का एक विभाग, जिसमें कई गाँव होते हैं। (३) भाग। परी। रिगता। उ०—ईषी रसाग के ताग काले कुच शोक महासौ जगिर भर्ता के।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] (१) सगरी देवी की एक मूर्ति का नाम। (२) पुराणानुसार महासौ की एक शक्ति का नाम। (३) एक वर्जित वृक्ष जिसके फलके खान में भीम राग होते हैं। उ०—(क) रात्रि पौर्णिमा वही कामिनी। (ल) वही ओ ममो-मामिनी। मापरी बोल बोले क्षमी। ज्ञानिसे हो महासौ-रंदा। (ग) रामिसे बलमि गार से। चित्रनी ईश से पाए ले।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] (१) ईश्वर का हृत्पत्र जिसमें विचारों के लिये तर्ज और अज्ञात आदि किया जाता है। विप्रसक्त। (२) मीर। (३) पुराणानुसार एक शक्ति का नाम। (४) महासौ।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] अविधन हृत्पत्र अमरावता, जिस दिन रिच-विचरक होता है। विप्रसक्त की अविधन शक्ति।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] महादेव।

महासौ-रंदा पुं० दे० "महासौ"।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] पठनी शोध।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] बीमा।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] बीमा।

महासौ-रंदा पुं० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महासौ-रंदा श्री० [सं०] महासौ। महादेव।

महावसु-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रावरुण का एक नाम ।

महावाक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) 'सोऽहं' शब्द । (२) शंकराचार्य जी के मतानुयायियों के मत से 'अहं महात्मि', 'तत्त्वमसि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' और 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि उपनिषद् के वाक्य । (३) दान आदि के समय पढ़ा जानेवाला संकल्प ।

महावात-संज्ञा पुं० [सं०] जोर की हवा । आँधी । वृष्टान ।

महावामदेव्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम जो दानि-कर्मों के समय पढ़ा जाता है ।

महावायु-संज्ञा पुं० श्री० [सं०] वृष्टान ।

महावायुपी-संज्ञा श्री० [सं०] गंगा-स्नान का एक योग ।

विशेष—यदि चैत्र कृष्ण त्रयोदशी को शतभिषा नक्षत्र हो तो उस दिन वायुपी योग होता है । यदि यह योग दानिवार को पड़े तो महावायुपी कहलाता है । पुराणों के अनुसार इस योग में गंगा-स्नान का बहुत अधिक फल होता है ।

महावाचाकिनी-संज्ञा श्री० [सं०] वनमंडा । जंगली बैंगन ।

महावाहन-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

महाविक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंह । (२) एक नाग का नाम ।

महाविदेहा-संज्ञा श्री० [सं०] योगशास्त्र के अनुसार मन की एक बहिर्भूति ।

महाविद्या-संज्ञा श्री० [सं०] (१) संत्र में मानी हुई दस देवियों जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) काली, (२) तारा, (३) पोद्दशी, (४) मुचनेश्वरी, (५) धैरवी, (६) छिन्नमस्ता, (७) भूमावती, (८) बगलामुखी, (९) मातंगी और (१०) कमलात्मिका । इन्हें सिद्ध विद्या भी कहते हैं । कुछ तांत्रिकों का यह मत है कि इन्हीं दस महाविद्याओं ने दस अवतार धारण किए थे । (२) दुर्गादेवी । (३) गंगा ।

महाविद्येश्वरी-संज्ञा श्री० [सं०] दुर्गा की एक मूर्ति का नाम ।

महाविभूत-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

महाविभूति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

महाविल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश । (२) अंतरिक्ष ।

महाविष-संज्ञा पुं० [सं०] वह साँप जिसके काटते ही तुरंत मृत्यु हो जाय ।

महाविषुव-संज्ञा पुं० [सं०] वह समय जब सूर्य मीन से मेघ राशि में जाता है और दिन रात दोनों समान होते हैं । मेघ संक्रांति । चैत्र की संक्रांति । (इस दिन की गणना पुण्यतिथियों में होती है ।)

महावीचि-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक नरक का नाम ।

महावीत-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार पुष्कर द्वीप के एक पर्वत का नाम ।

महावीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान जी । (२) गौतम बुद्ध का एक नाम । (३) गण्ड । (४) देवता । (५) सिंह । (६) मनु के पुत्र भरवानल का एक नाम । (७) वज्र । (८)

सफेद घोड़ा । (९) बाज पक्षी । (१०) जैनियों के चौबीसवें और अंतिम जिन या तीर्थंकर जी महापराक्रमी राजा सिद्धार्थ के धीर्य से उनकी रानी त्रिशला के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । कहते हैं कि त्रिशला ने एक दिन सोलह शुभ स्वप्न देखे थे जिनके प्रभाव से वह गर्भवती हो गई थी । जब इनका जन्म हुआ, तब इंद्र इन्हें ऐरावत पर बैठाकर मंदराचल पर ले गए थे और वहाँ इनका पूजन करके फिर इन्हें माता की गोद में पहुँचा गए थे । इनका नाम वर्द्धमान पड़ा था । ये बहुत ही शुद्ध और शक्ति प्रकृति के थे और भोग विलास की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं होती थी । कहते हैं कि तीस वर्ष की अवस्था में कोई बुद्ध या अर्हत् आकर इनमें ज्ञान का संचार कर गए थे । मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को ये अपना राज्य और सारा वैभव छोड़कर वन में चले गए और बारह वर्ष तक इन्होंने वहाँ धीर तपस्या की । इसके उपरान्त ये झर उधर घूमकर उपदेश देने लगे । एक बार इन्होंने भोजन त्याग दिया, जिससे वैशाख कृष्ण दशमी को इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था । इन्होंने मीन धारण करके राजगृह में रहना आरंभ किया । वहाँ देवताओं ने इनके लिये एक रत्न-नटित प्रासाद बनाया था । वहाँ इंद्र के भेजे हुए बहुत से देवता आदि इनके पास आए, जिन्हें इन्होंने अनेक उपदेश दिए और जैन धर्म का प्रचार आरंभ किया । कहते हैं कि इनके जीवन काल में ही सारे मगध देश में जैन धर्म का प्रचार हो गया था । जैनियों के अनुसार ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था; और तभी से धीरे संवत् चला है ।

वि० बहुत बड़ा धीर । बहुत बड़ा बहादुर ।

महावीरार-संज्ञा श्री० [सं०] क्षीरकाकोली ।

महावीर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महा । (२) एक बुद्ध का नाम । (३) जैनों के एक अर्हत् का नाम । (४) तामस शौच्य मन्वन्तर के एक इंद्र का नाम । (५) वराहोदक ।

महावीर्य्य-संज्ञा श्री० [सं०] (१) सूर्य की पत्नी संज्ञा का एक नाम । (२) वनकपास । (३) महावातावरी ।

महावृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सँडुड । धूर । (२) करंज । (३) ताड़ । (४) महापौल ।

महावृष-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ जो सुरभ्य पर्वत के पास है ।

महावेग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिव । (२) गरुड ।

महावेगा-संज्ञा श्री० [सं०] स्कंद की अनुचरी एक मातृका का नाम ।

महाभ्याधि-संज्ञा श्री० दे० "महाराग" ।

महाभ्याहति-संज्ञा श्री० [सं०] पुराणानुसार ऊपरवाले सात

होयों में से पहले तीन होयों का समूह । भू, भुव और
स्वः से तीन होय ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] एक प्रकार की समाधि ।

महाभूट-छंदा पुं० दे० "दुष्टमय" ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] (१) घेद की एक क्षण का नाम । (२)

वह मन जो बारह वर्षों तक चलता रहे । (३) आधिन की
दुर्गा-पूजा ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं० महाभूट] (१) वह जिसने कोई महा-
भूट धारण किया हो । (२) सिव ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] (१) छलाह । (२) कनकरी की हड्डी ।
(३) मनुष्य की टटरी । (४) नौ निधियों में से एक । (५)
बड़ा संतर । (६) एक प्रकार का सप्रे । (७) एक बहुत बड़ी
संत्या का नाम ।

महाभूटि-गण पुं० [ग०] (१) कालिकेय । (२) सिव । (३)
पुराणानुसार हनुम के एक पुत्र का नाम ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] पीला धनुष ।

महाभूटावरी-छंदा स्त्री० [भं०] बड़ी जगहारी । वि० दे०
"समानर" ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] (१) जप आध्यात्मिका स्थिति । महा-
भूमाय । महामा । समन । (२) समुद्र ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] राजाओं की जग्गा या सिंहासन ।

महाभूट-छंदा पुं० दे० "रामार" ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] सिंग मछली ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] जागवन्ता । मंगल ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] (१) राजा की आज्ञा । (२) राजा
का वह मंत्री जो उसकी आज्ञाओं या दानुओं आदि का
प्रचार करता हो ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] महादेव ।

महाभूटावरी-छंदा स्त्री० [भं०] बीड़ों की पाँच महादेवियों में
से एक देवी का नाम ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] जलमूर्त्ति ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] सिव के एक अनुचर का नाम ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] जगन्मय के एक पुत्र का नाम ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] हार्पिभूट नामक भूत ।

महाभूटि-छंदा स्त्री० [भं०] शिव ।

महाभूट-छंदा स्त्री० [भं०] सरस्वती ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] चर्च ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] आशान ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] शिव भद्र ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] काली मूर्त्ति का एक नाम ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] अष्टादश भूत का एक नाम ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] शिवमूर्त्ति ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] भूत की एक शक्ति का नाम ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] (१) एक प्रकार का पातु रोग ।

(२) वह अंतिम सौंसे जो मरने के समय चलाता है ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] (१) सरस्वती । (२) दुर्गा । (३)

सफेद भवराजिता । (४) चीनी ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] दुर्गा ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] आधिन नाम के भूत या की भवनी ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं० महाभूट] १० मासों के
छंदों की संज्ञा ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] (१) कुंवर । (२) साधु भूमि ।
(३) एक वांछिसम्प का नाम ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] समराज ।

महाभूट-छंदा पुं० [भं०] सिंहासन ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] कौटिली या कौटिली नामक वीरा ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] जगत् की वह रचना जो महाभूट के
उपरान्त फिर से होगी है ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] कटहल का दूध ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] एक मन जिसमें पाँच दिन तक
क्रम से पंचमस्य, छठे दिन बुध-ग्रह पौषर नामों से
उपवास किया जाता है ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] घोर ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] दुर्गा देवी का वाहन सिंह ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] एक प्रकार की मछली जो बहारी
नदियों में पाई जाती है और जिसका मांस बहुत अण्ड
माना जाता है ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] (१) मंगल । राजावट । (२) दुर्गरे
का एक नाम ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] एक दानव का नाम ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] दुर्गा ।

महाभूटा-छंदा स्त्री० [भं०] भूत के समूह की एक प्रकार की
बूढ़-रचना ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] शार्पल नाम का एक प्रकार का फल
जो भूत-लोक में बढाया जाता था ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] (१) कालिकेय । शार्पल-कालिक । (२)
सिव । (३) बहुत बड़ा या मय से प्रभावित भवराजिता ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] एक प्रकार का रोग जिसमें बर्तियों
के समूहों में भूत जलते हैं और हँसते हैं बहुत दुर्लभ रोग है ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] एक प्रकार का रोग जिसमें भूत जलते हैं और हँसते हैं बहुत दुर्लभ रोग है ।

महाभूटा-छंदा पुं० [भं०] एक प्रकार का रोग जिसमें भूत जलते हैं और हँसते हैं बहुत दुर्लभ रोग है ।

महासागर-संज्ञा पुं० [सं०] यह प्रधान नदी जिसमें से रक्त बहता है। इसे कंडरा या अस्थिरधन नदी भी कहते हैं।

महास्मृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महाहंस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का हंस। (२) विष्णु।

महाहनु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) तक्षक की जाति का एक प्रकार का साँप। (३) एक दानव का नाम।

महाहस्त-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महाहास-संज्ञा पुं० [सं०] जोर से डकारा हैसना। अट्टहास।

महाहि-संज्ञा पुं० [सं०] यामुकि नाग।

महाहिक्का-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का हिचकी का रोग जिसमें हिचकी आने के समय सारा शरीर काँप उठता है और मर्मस्थान में वेदना होती है।

महाह्व-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महाह्व-संज्ञा पुं० [सं०] केवाँच। कँठ।

महि-संज्ञा पुं० दे० "मह"।

महिजक-संज्ञा पुं० [सं०] चूहा।

महिधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूहा। (२) नेबल। (३) भार उठाने का छोंका। सिकुहर जिसे धँहगी के दीनों छोरों में बाँधकर कहाल बोझ उठाते हैं।

महि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वृषी। (२) महिमा। (३) विज्ञान वाक्। महत्त्व।

महिफा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिम। बर्फ।

महिण-संज्ञा पुं० दे० "महिप"।

महिषरी-संज्ञा स्त्री० [?] अष्टाहस माय्राओं के एक छंद का नाम जिसमें चौदह माय्राओं पर यति होती है।

महिदास-संज्ञा पुं० दे० "महीदास"।

महिदेव-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

महिधर-संज्ञा पुं० दे० "महीधर"।

महिपाल-संज्ञा पुं० दे० "महीपाल"।

महिफर-संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य। मनु। शहद।

महिमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महिम्न। (१) महत्त्व। माहात्म्य।

यद्वाह। गौरव। (२) प्रभाव। प्रताप। उ०—सुनि आचरज करइ जनि कोई। सत संगति महिमा नहीं गोई।—पुलसी। (३) अणिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियाँ वा ऐश्वर्य्यों में से पाँचवीं जिससे सिद्ध योगी अपने आपको बहुत बड़ा धना लेता है।

महिमापान-संज्ञा पुं० [सं०] माकंडेय पुराणानुसार एक प्रकार के पितृगण।

महिष-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक प्रधान स्तोत्र जिसे पुण्य-दत्ताचार्य ने रचा था।

महियाँ-संज्ञा पुं० [सं०] मय्य प्रा० मय्ये = महें] में। उ०—(क) जेती छाज गोपालहि मेरी। तेसी नाहि बंधू हीं जाकी।

अंबर हारत सबन सन हेरी। पति अति रोप करै मनी महियाँ भीषम दर्श वेद विधि देरी।—सूर। (ख) सब मिलि पूजौ हरि की महियाँ। जो नहि लेत उठाइ गोवर्धन की बाँचत ब्रज महियाँ। कोमल कर गिरि धन्यौ घोष पर शरद कमल की छहियाँ। सूरदास प्रभु तुमरे दरस आनंद होत ब्रज महियाँ।—सूर।

महियाँ-संज्ञा पुं० [हि०] मह्या] ईश के रक्त का फेन जो उबाल खाने पर निकलता है।

महिर-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

महिरावण-संज्ञा पुं० [सं०] महिरावण] एक राक्षस का नाम। कहते हैं कि यह रावण का लड़का था और पाताल में रहता था। यह रामचंद्र और लक्ष्मण को लंका के शिविर से उठा कर पाताल ले गया था। रामचंद्र और लक्ष्मण को हूँवते हुए हनुमान जी पाताल गए थे और महिरावण को मारकर राम लक्ष्मण को ले आए थे। यह कथा वाल्मीकि रामायण और पुराणों में नहीं पाई जाती।

महिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। (२) कूलमियं। (२) रेणुका नामक गंध द्रव्य।

महिप-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महिषी] (१) भैंस। (२) वह राजा जिसका अभिषेक शास्त्रानुसार किया गया हो। (३) एक राक्षस का नाम जिसे पुराणानुसार दुर्गा देवी ने मारा था। (४) एक वर्णसंकर जाति का नाम जो द्रुपदियों में क्षत्रिय पिता और तीवरी माता से उत्पन्न कही है। (५) एक साम का नाम। (६) पुराणानुसार कुश द्वीप के एक पर्वत का नाम। (७) कुश द्वीप के एक वर्ष का नाम। (८) (८) भगवत के अनुसार अनुवाद के पुत्र का नाम।

महिपकंद-संज्ञा पुं० [सं०] शुभाक्ष। भैंसा कंद।

महिपक-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णसंकर जाति का नाम।

महिपरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महिपध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज। (२) जैन शास्त्रानुसार एक अर्हत् का नाम।

महिपमत्स्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली जो काले रंग की होती है। इसके सेहरे बड़े बड़े होते हैं। यह बलबीर्य-कारी और दीन-गुण-युक्त मानी जाती है।

महिपमर्दिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम।

महिपमस्तक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जड़हन धान।

महिपवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] छिटेदा।

महिपवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] यमराज।

महिपात-संज्ञा पुं० [सं०] भैंसा गुग्गुलु।

महिपाईन-संज्ञा पुं० [सं०] स्कंद का एक नाम।

महिपासुर-संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर का नाम जो रंभ नामक दैत्य का पुत्र था। कहते हैं कि इसकी आकृति भैंसे की

भी और इन्हे दुर्गा जो ने-मारा था। मार्कंडेय पुराण में इसकी सविस्तर कथा लिखी है।

महिषी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) भैंस। (२) रानी, विशेषतः पट-रानी। (३) मैरिधी। (४) एक ओषधि का नाम।

महिषीकंद-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का कंद जिसे भैंसा कंद भी कहते हैं। शुभ्रालु।

महिषीप्रिया-छंदा पुं० [सं०] झूली नामक घास।

महिषेश-छंदा पुं० [सं०] (१) महिषासुर। उ०—महामाह महिषेश पिनाला। राम कथा कालिका कराळा।—गुलसी।

(२) यमराज। उ०—कह महिषेश यहाँ ले जाओ। चित्र-गुप्तिरी याहि देखाओ।—विश्राम।

महियोत्सर्ग-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ।

महिष्ठ-वि० [सं०] बहुत पड़ा।

महिसुर-छंदा पुं० दे० "महीसुर"।

मही-छंदा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी। (२) मिट्टी। (३) अवकाश। देस। स्थान। (४) नदी। (५) क्षेत्र का आधार। (६) सेना। (७) छंद। समूह। (८) एक की संग्रह। (९) गाय। (१०) दुरदुर। डुलडुल। (११) एक छंद का नाम जिसमें एक लघु और एक गुरु मात्रा होती है। जैसे—मही, लगी, नदी इत्यादि।

छंदा पुं० [हि० महना] मझा। छाछ। उ०—(क) गुलसी मुद्रित दूत भयो मानहुँ भमिय लाहु भोगत मही—गुलसी।

(ख) छौदिक कनक मणि रस अमोलक कंचि की क्रिच गही। ऐसी नूई चतुर विवेकी पय तजि पियत मही।—सूर।

(ग) दूष दही मासक मही वषे नहीं प्रज मौस। ऐसी पौरी करतु हैं फिरतु और अण सौंस।—लल्लू।

महीचिन्त-छंदा पुं० [सं०] राजा।

महीछाड़ी-छंदा स्त्री० [देश०] सिकलीगों का एक औरत जिसकी चार कुंद होती हैं और जिसमें छड़ी का दस्ता लगा रहता है। इससे बर्तन आदि सुरक्षक साक किए जाते हैं और उन पर मिला की जाती है।

महीज-छंदा पुं० [सं०] (१) अदरक। भाड़ी। (२) मंगल ग्रह।

महीतल-छंदा पुं० [सं०] पृथ्वी। संग्रार।

महीदास-छंदा पुं० [सं०] ऐनरये मासक के रचयिता एक क्षत्रिय का नाम। यह इतरा नामक दासी के पुत्र थे।

महीदेय-छंदा पुं० [सं०] मासक।

महीपट-छंदा पुं० [सं०] (१) पर्वत। (२) बौद्धों के अनुयाय एक देवपुत्र का नाम। (३) दोषनाय। उ०—धर्म करन अनि भयं बढ़ायन। संतति दिन रति कोषिद नावन। संतति उपजन ही निजि बांसर। साधन मन मन मुक्ति महीपट।—केनाथ। (४) एक बौद्ध वृक्ष का नाम जिसमें पीरुह बार

क्रम से लघु और गुरु आते हैं। उ०—सदा सुसंग धारिने नहीं कुसंग सारिये लगाय चित्त सीस मानिये खरी।

महीध-छंदा पुं० [सं०] महीधर।

महीधक छंदा पुं० [सं०] (१) महीध। (२) एक राजा का नाम।

महीन-वि० [सं० महा + नीन (सं० घांप)] (१) जिसकी मोटाई या घेरा बहुत ही कम हो। "मोटा" का उल्टा। पतला। सूक्ष्म। जैसे महीन तारा, महीन तार, महीन सुई आदि। (२) जिसके दोनों ओर के तलों के बीच बहुत कम अंतर हो। जो बहुत कम मोटा हो। घाँरीक। क्षीन। पतला। जैसे—महीन कपड़ा, महीन कागज़, महीन छाल। उ०—दास मनोहर जानन बाल को दीपित जासी दिपें सच दीपें। धीन सुहावे विराजि रहे सुवृताहल संतुन ताहि समरि। सारी महीन सी लीन विलोकि मिचारत है कथि के भव-नीरवें। सोदर जानि ससीही मिली सुत संग लियु मनों सिधु की सोंपें।—मनोहरदास।

मुहा०—गईन काम यह काम जिसके करने में बहुत साध-धानी और औल गद्दारी की आवश्यकता पड़ती हो। जैसे—सीना, चित्रकारी, सूची कर्म आदि।

(३) जो बहुत कम ऊँचा या तेज हो। कोमल। धीमा। मंद (इस अर्थ में यह शब्द प्रायः शब्द या स्वर के लिए ही आता है)।

छंदा पुं० [सं०] राजा।

महीना-छंदा पुं० [सं० मात वा मा. वि० का० माह] (१) काल का एक परिमाण जो वर्ष के बारहवें भाग के बराबर होता है। यह साधारणतया तीस दिन का होता है, पर कोई-बोई महीने इससे अधिक और क्यूँ भी होते हैं। आनकल मास-वर्ष में कई प्रकार के महीने प्रचलित हैं—देसी, अर्बी और अंग्रेजी। देसी या हिंदी महीने चार प्रकार के होते हैं, सौर मास, चंद्र मास, नक्षत्र मास और सावन मास। (विषय के लिये देखो "मास") अरबी महीना एक प्रकार का चंद्र मास है जो शुक्र द्वितीया में प्रारंभ होता है। अंग्रेजी महीना सौर मास का एक भेद है जिसमें संक्रांति से महीना नहीं बदलता, किंतु प्रत्येक महीने के दिन नियत होते हैं। जो काल प्रचलित था चंद्र वर्ष में, उसे सौर वर्ष के बराबर करने के लिये जोड़ा जाता है, उसे छोड़ कहते हैं, और यदि यह काल एक महीने का होना है, तो उसे, छोड़ का महीना वा मल मास कहते हैं (देखो "मल मास")। द्वितीया वर्षों में प्रति तीसरे वर्ष मल मास होता है और उस समय वर्ष में बारह महीने न होकर तोरह महीने होते हैं। अंग्रेजी वर्षों में प्रति चौथे वर्ष छोड़ का एक दिन अधिक बढ़ाया जाता है, पर अर्बी महीनों के वर्षों में सौर वर्ष में

मेल मिलाने के लिये हाँद का काल नहीं जोड़ा जाता; इस-
लिये प्रति तीसरे वर्ष सौर वर्ष से लगभग एक महीने का
अंतर पड़ जाता है। देशी महीनों के नाम इस प्रकार हैं—

| | |
|------------------|--------------------|
| संस्कृत | हिंदी |
| चैत्र | चैत |
| वैशाख | वैशाख |
| ज्येष्ठ | जेठ |
| आषाढ़ | असाढ़ |
| श्रावण | सावन |
| भाद्र या भाद्रपद | भादों |
| आश्विन | कुआर, आसोज वा आसों |
| कार्तिक | कार्तिक |
| मार्गशीर्ष | अगहन वा मँगसर। |
| पौष | पूस |
| माघ | माघ वा माह |
| फाल्गुन | फाल्गुन |

अरबी महीनों के नाम इस प्रकार हैं—मुहर्रम, सफर,
रबी-उल-अव्वल, रबी-उल्-सानी, जमदिउल-अव्वल, जमा-
दिउस्सानी, रजब, शाबान, रमजान, शीवाल, जीकाद,
जिल्हिज। अँग्रेजी महीनों के नाम इस प्रकार हैं—
जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल, मई, जून, जुलाई, अगस्त,
सितंबर, अक्टूबर, नवंबर, दिसंबर। (२) वह धेतन जो
महीना भर काम करने के बदले में काम करने वाले को
मिले। मासिक धेतन। दरमाहा। (३) लियों का रजोधर्म
या मासिक धर्म।

मुहा०—महीने से होना = शिवों का रजस्वला होना। रजोधर्म
से छेना।

महीप-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीपति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीपाल-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

महीप्राचीर-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

महीप्रावर-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

महीमर्ता-संज्ञा पुं० [सं० महीमर्त] [लो० महीमर्ती] राजा।

महीमुक्, महीमुज-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीभूत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) पर्वत।

महीमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] धृष्ठी। भूमंडल।

महीम-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का गन्ना जो पीलापन लिए
हरे रंग का होता है। इसे पूरे का पौधा भी कहते हैं।

महीमृग-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जंतु।

महोपस-वि० [सं०] बहुत यदा।

महीर-संज्ञा स्त्री० [हि० मही] यह तलछट जो भस्मन तपाने से

नीचे बैठ जाती है। (२) मट्टे में पकाया हुआ चावल,
मट्टे की खीर।

महीरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार धर्म के एक पुत्र का
नाम। यह त्रिवेदेवा के अंतर्भूत है।

महीरावण-संज्ञा पुं० [सं०] अद्भुत रामायण के अनुसार रावण
के एक पुत्र का नाम। वि० दे० “महिरावण”।

महीरह-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष। पेड़।

महीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] केंबुआ।

महीश-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीसुत-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

महीसुर-संज्ञा पुं० [सं०] प्राहण।

महीसुतु-संज्ञा पुं० [सं०] मंगलग्रह।

महुँ-अभ्य० दे० “महँ”।

महुअर-संज्ञा स्त्री० [हि० महुआ] (१) वह भेड़ जिसका ऊन
कालापन लिए खाल रंग का होता है। (२) वह रोटी जो
महुआ मिलाकर पकाई गई हो।

संज्ञा पुं० [सं० महुकर, प्रा० महुअर] (१) एक प्रकार का
बाजा जिसे तुमड़ी वा लूँ भी कहते हैं। यह कड़वी
पतली दूधी का होता है जिसमें दोनों ओर दो नलियाँ लगी
होती हैं। एक ओर की नली को मुँह में लगाकर और
दूसरी ओर की नली के छेद पर कँगलियाँ रखकर इसे
बजाते हैं। प्रायः मदारी लोग साँपों को मस्त करने के
लिये इसे बजाते हैं। (२) एक प्रकार का इंद्रजाल का खेल
जो महुअर बजाकर किया जाता है। इसमें दो प्रतिद्वंद्वी
खेलाड़ी होते हैं जिनमें से प्रत्येक महुअर बजाकर दूसरे को
सूँछिन अथवा चलने फिरने में असमर्थ करने का प्रयत्न
करता है।

महुअरि-संज्ञा स्त्री० दे० “महुअर”।

महुअरी-संज्ञा स्त्री० [हि० महुआ] यह रोटी जो आटे में महुआ
मिलाकर बनाई जाती है।

महुआ-संज्ञा पुं० [सं० महुँ प्रा० महुअर] एक प्रकार का वृक्ष
जो भारतवर्ष के सभी भागों में होता है और पहाड़ों पर
तीन हजार फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

विशेष—इसकी पत्तियाँ पौँच सात अंगुल चौड़ी, दस बारह
अंगुल लंबी और दोनों ओर चुकीली होती हैं। पत्तियों
का ऊपरी भाग हल्के हरे रंग का और पीठ भूरे रंग की
होती है। हिमालय की तराई तथा पंजाब के अतिरिक्त
सारे उत्तरीय भारत तथा दक्षिण में इसके जंगल पाए जाते
हैं जिनमें यह स्वच्छंद रूप से उगता है। पर पंजाब में
यह सिंचाय बागों के, जहाँ लोग इसे खाने हैं और वहाँ
नहीं पाया जाता। इसका पेड़ ऊँचा और छनार होता है

मुहा०—किसी बात या काम में महेर डालना = (१) अजबग डालना। कुराना खना करना। (२) देर लगाना।

संज्ञा स्त्री० दे० "महेरी"।

महेरा—संज्ञा पुं० [हिं० मही + एरा (प्रत्यय)] [स्त्री० महेरी, महेरी]

(१) एक प्रकार का ध्वज जो दही में चावल पकाकर बनाया जाता है। यह दो प्रकार का होता है—सलोना और मीठा। सलोने में हल्दी, राई आदि मसाले डाले जाते हैं और मीठे में गुड़ पड़ता है। महेरा। महेरी। महेर। (२) एक भोग-पदार्थ जो खेसारी के आटे को दही में उबालने से बनता है।

संज्ञा पुं० दे० "महेरा"।

महेरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० महेर वा मही] महेरा नामक खाद्य-पदार्थ। उ०—भोजन भयो भावती मोहन। तातोइ जेई जाहु गो मोहन। खीर खाइ खाँचरी सँवारी। मधुर महेरी सो गोपन प्यारी।—सूर।

महेरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० महेरा] उबाली हुई ज्वार जिसे लोग नमक-मिर्च से खाते हैं।

वि० [हिं० महेर] अद्वचन डालनेवाला। नखेदा खड़ा करनेवाला।

महेला—संज्ञा पुं० [हिं० माप] पशुओं के खिलाने का एक पदार्थ। यह चने, उड़, मोठ आदि को उबालकर और उसमें गुड़, घी आदि डालकर बनाया जाता है। इसके खिलाने से घोड़े, बैल आदि पुष्ट होते हैं और मोर्छे भैंसें आदि अधिक दूध देती हैं।

महेरा—संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। शिव। (२) ईश्वर।

महेरायधु—संज्ञा पुं० [सं०] बैल।

महेरानि—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महेरानी] शिव।

महेरानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महेश्वर—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महेश्वरी] (१) महादेव। शिव। (२) ईश्वर। परमेश्वर। (३) सफेद मदार। (४) सोना। स्वर्ण।

महेपुथि—वि० [सं०] बड़ा धनुषारी।

महेप्यस्—वि० [सं०] बड़ा धनुषारी।

महेस—संज्ञा पुं० दे० "महेरा"।

महेसिया—संज्ञा पुं० [हिं० महेल] एक प्रकार का उत्तम अगहनी धान।

महेकोदिय—संज्ञा पुं० [सं०] वह आद जो मरने के बाद पहले पहल अशौच के अंत में स्नान प्राणी के उद्देश्य से किया जाता है।

महेतरेय—संज्ञा पुं० [सं०] ऐतरेय उपनिषद्।

महेरंड—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बड़ा रेंद जिसके बीज भी बड़े होते हैं।

महेला—संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी इलायची।

महोक्—संज्ञा पुं० दे० "महोखा"।

महोत्—संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा बैल।

महोख—संज्ञा पुं० दे० "महोखा"।

महोखा संज्ञा पुं० [सं० मूक] एक प्रकार का पक्षी जो कौए के बराबर होता है और भारतवर्ष में विशेष कर उत्तरी भारत में झाड़ियों और घँसवाड़ियों में मिलता है। इसकी चोंच, पैर, और पूँछ काली, आँखें लाल और सिर, गला और डेने खैरे रंग के या लाल होते हैं। यह झाड़ियों के आस पास रहता है और कीड़े मकोड़े खाता है। यह बहुत तेज दौड़ सकता है; पर बहुत दूर तक नहीं उड़ सकता। इसकी बोली बहुत तेज होती है और यह बहुत देर तक लगातार बोलता है। उ०—(क) हारिल शब्द महोख सुहावा। काग कुराहिर करहि सोआवा।—जायसी। (ख) कृत पिक मानों गज भाते। वेंक महोख ऊँट विसराते।—तुलसी।

महोगनी—संज्ञा पुं० [सं०] भारत, मध्य अमेरिका और मेक्सिको आदि में होनेवाला एक प्रकार का बहुत बड़ा पेड़ जो सदा हरा रहता है। इसकी लकड़ी कुछ ललाई लिए घूरे रंग की, बहुत ही हृद और टिकाऊ होती है और उस पर वार्निश बहुत खिलती है। यह लकड़ी बहुत महँगी बिकती है और प्रायः मेजें, कुर्सियाँ और सजावट के दूसरे सामान बनाने के काम में आती है।

महोच्छ्व—संज्ञा पुं० [सं० महोत्सव, प्रा० महोत्सव] बड़ा उत्सव। महोत्सव। उ०—मरना मला बिदेस का जहाँ अपना नहीं कोय। जीव जंतु भोजन करै सहज महोच्छ्व होय।—कवीर।

महोछा—संज्ञा पुं० दे० "महोच्छ्व"।

महोटिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बृहती। कटैया।

महोटी—संज्ञा स्त्री [सं०] बृहती। कटैया।

महोती—संज्ञा स्त्री० [हिं० महुती] महुए का फल। कुल्लेरी।

महोत्का—संज्ञा पुं० [सं०] महोल्का। बड़ी उल्का।

महोत्संग—संज्ञा पुं० [सं०] सप से बड़ी संख्या।

महोत्सव—संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा उत्सव।

महोदधि—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सागर।

महोदय—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महोदया] (१) आधिपत्य। (२) स्वर्ग। (३) महाफल। (४) स्वामी। (५) कान्यकुब्ज। (६) बड़ों के लिये एक आदरसूचक शब्द। महाशय। महाशुभाय।

महोदया—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागबला। गौरीन। गुलराफरी।

महोदर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक नाग का नाम। (२) एक राक्षस का नाम। (३) धनराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (४) शिव।

वि०—जिसका पेट बड़ा हो।

महोना-पं० पुं० [हि० उर] पशुओं के एक रोग का नाम जिसमें उनका मुँह और पैर पक जाते हैं ।

महोवा-पं० पुं० [देश०] मुद्गलसंज्ञक एक प्राचीन नगर । यह हमीरपुर जिले में है और इस नाम की सहस्राल और पराने का प्रधान नगर है । यहाँ बहुत काल तक चंदेल राजाओं की प्रधान राजधानी थी और इस वंश के मूल गुरु चंद्रयमी की छतरी का चिह्न अब तक रामकुंड के किनारे मिलता है । यहाँ प्राचीन हुगो अब तक वर्तमान है । पृथ्वीराज के समय में यहाँ परमाल नामक चंदेल राजा था जिसके यहाँ आस्था और उदयन या उदल नामक दो प्रसिद्ध पीर सोझा थे । यहाँ का पान बहुत अच्छा होता है ।

महोषी-वि० [हि० महोष + रे (भाव०)] महोष का ।

महोषिया-वि०—दे० "महोषी" ।

महोषिहा-वि०—दे० "महोषी" ।

महोरग-पं० पुं० [सं०] (१) बड़ा साँप । (२) तगर का पेड़ ।

(३) जैनियों के एक प्रकार के देवताओं का नाम । यह ध्यंतर नामक देवाण के अंतर्गत है ।

महोरस्क-वि० [सं०] जिसका वक्षःस्थल विशाल हो ।

महोला-पं० पुं० [सं० मुद्रा] (१) होला । बहाना । उ०—वाहर क्या देलाहूँ अंतर जायिरे राम । कहा महोला खलक सौं परेड धनी से काम ।—कबीर । (२) घोला । चक्रमा ।

उ०—सती धूर तन साह्या तन मन कीया पान । दिया महोला पीव को सब महत्त करै बरान ।—कबीर ।

महोपशिष-पं० पुं० [सं०] एक प्रकार का साम ।

महोष-पं० पुं० [सं०] समुद्र की वाड़ । मूलान ।

महोज-वि० [सं० महोज्] अति तेजस्वी ।

पं० पुं० काल के पुत्र एक असुर का नाम ।

महोजहक-वि० [सं०] अति तेजस्वी । बहुत तेजवाद् ।

महोदयादि-पं० पुं० [सं०] आचक्षायन शुद्धमूत्र के अनुसार एक आचार्य का नाम ।

महोपध-पं० पुं० [सं०] (१) मृग्याह्वय । मुक्ति तर । (२) सौंद । (३) लहसुन । (४) बाताहीरुद । मीठी । (५) वस्त्र-नाम । बलनाम । (६) पीपल । (७) असीस ।

महोपधि-पं० पुं० [सं०] (१) दूध । (२) छात्रा । (३) संगीयनी । (४) इष्ट विविध मोरधियों का समूह जिसका पूर्ण महाधान या अभिरेहादि के जल में मिलाया जाता है ।

महोपधी-पं० पुं० [सं०] (१) सुकेतु मटकेया । रत्न केटका । (२) माछी । (३) कुटकी । (४) भनिकना । (५) हिल-मोषिका ।

महापर-पं० पुं० [सं०] महाभाग के अनुसार एक जाति का नाम ।

मौ-पं० पुं० [सं० भंश का नाम] जम्भ देवेवासी, प्राणा ।

जननी । उ०—दोठ भैया जगत में भागे । पुनि ते क्षि प्रगत कन्हाई और जननि पै माँगे ।—घूर ।

मौ—मौ-जाया = मगा भार । सहोदर ।

मौ-मंज्य० [सं० मंज्य] में । उ०—(क) इन युग में को बड़ सुखरासी । बोले सब रघुनाथ उपासी ।—रघुनाथ । (ख) कहु गुरु मोद केर फल का है । तेरी गति सब शाकर माँ है ।—रघुनाथ । (ग) लग्य पीरासी धार माँ तहाँ दोन जिठ बास । चौदह जम रखवारिमा पारि बेद विधास ।—कबीर ।

मौकड़ी-पं० पुं० [हि० मकड़ी] (१) दे० "मकड़ी" । (२) कमलाव पुननेवालों का एक भीमार जिसमें वेद वेद बाहिल की पाँच तीलियाँ होती हैं और नीचे तिरो बल में हथनी ही बड़ी एक और तीली होती है । यह ढाढ़ सया गन लंबी एक एकरी पर बड़ा हुआ होता है जो कपड़े के लगे पर रखी जाती है । (३) पतवार के ऊपरी सिरे पर लगी हुई और दोनों ओर निचली हुई यह एकरी जिसके दोनों सिरे पर ये रस्तिर्यो बँधी होती हैं, जिनकी सहायता से पतवार घुमाते हैं । (लक्ष०) (४) जहाज में रखे बॉम्बे के गैरे भादि का वह बनावटा हुआ ऊपरी भाग जिसमें एकरी या खोहा दोनों या चारों ओर हुए अभिमाय से निहाला हुआ रहता है, जिसमें उस लैट में बाँधा हुआ रस्सा ऊपर न निकल भाये । (लक्ष०) ।

मौज-पं० पुं० [हि०] मस्जन । मयनीत ।

मौजना-पं० पुं० [सं०] मुद्रा होता । मोप करना । गुस्ता करना । वि० दे० "मास्ता" ।

मौजी-पं० पुं० [सं०] "मस्जी" ।

मौग-पं० पुं० [हि० मौग] (१) मौगने की दिया या भाव ।

(२) सिद्धि या वस्तु आदि के कारण किसी पदार्थ के लिये होनेवाली आनन्दयोजना या चाह । जैसे,—भावरुप मात्रा में देवता कपड़ों की मौग बढ़ रही है ।

पं० पुं० [सं० माँ ?] (१) सिर के बाओं के बीच की वह रेखा जो बालों को दो ओर विभक्त करके बगाई जाती है । सीमंत ।

विशेष—हिन्दू सौभाग्यवती जियों मौग में सिद्ध लगती हैं और इसे सौभाग्य का चिह्न समझती हैं ।

मौ—मौग बोटी = मियों का केरियोगम । मौगबन्नी = विन्ना । राह ।

मुहा०—मौग बोले से सुनी रहना या गहरा = निरुप-मौगबन्नी और मौगबन्नी रहना । उ०—भानु भानु रात्र रात्री सब मौगदू बोसु उदासी ।—गुलरी । मौग बरी करना = केरि-विन्ना करना । बागे में बनी काज । मौग पान

या फारना = केशों को दो ओर करके बीच में माँग निकालना ।
 माँग बाँधना = कंधों चोटी करना । (क०) ।
 (२) किसी पदार्थ का ऊपरी भाग । सिरा । (क०) (३)
 सिर का वह ऊपरी भाग जो कूटा हुआ नहीं होता और
 जिस पर पीसी हुई चीज रखी जाती है । (४) नाव का
 गावदुमा सिरा । (५) दे० "माँगी" ।
 माँग-टीका-संज्ञा पुं० [हि० माँग + टीका] छिपों का एक गहना
 जो माँग पर पहना जाता है और जिसके बीच में एक
 प्रकार का टिकड़ा होता है जो माये पर लटका होने के
 कारण टीके के समान जान पड़ता है ।
 माँगना-कि० प्र० [हि० माँगना] (१) माँगने की क्रिया या
 भाव । (२) याचक । मिश्रक । मिलसंगा । मंगन । उ०—
 (क) रूप करि विनय महाजन करे । सादर सकल माँगने
 देरे ।—तुलसी । (ख) रीति महाराज की निपाजिये जी
 माँगने सो दोष दुख दारिद दारिद के कै छोड़िये ।—तुलसी ।
 माँगना-कि० प्र० [सं० मागण = याचना] (१) किसी से यह
 कहना कि तुम अमुक पदार्थ मुझे दो । कुछ पाने के लिये
 प्रार्थना करना या कहना । याचना करना । जैसे,—(क)
 मैंने उनसे १०० माँगें थे । (ख) तुम अपनी पुस्तक उनसे
 माँग लो । उ०—(क) सो प्रभु सों सरिता सरिये कहँ माँगत
 नाउ करारे छे ठाढ़े ।—तुलसी । (ख) माँगते दूसर बार
 कर जोरें ।—तुलसी । (२) किसी से कोई आकांक्षा पूरी
 करने के लिये कहना । जैसे,—हम तो ईश्वर से दिन रात
 यही माँगते हैं कि आप नीरोग हों । उ०—माँगत तुलसि-
 दास कर जोरें । बसहि रामसिय मानस मोरे ।—तुलसी ।
 माँगफूल-संज्ञा पुं० दे० "माँग-टीका" ।
 माँगल गीत-संज्ञा पुं० [सं० मागल्य गीत] वह शुभ गीत जो विवाह
 भादि मंगल के अवसरों पर गाए जाते हैं ।
 माँगलिक-वि० [सं०] मंगल प्रकट करनेवाला । शुभ ।
 संज्ञा पुं० नाटक का वह पात्र जो मंगल-पाठ करता है ।
 माँगल्य-वि० [सं०] शुभ । मंगलकारक ।
 संज्ञा पुं० मंगल का भाव ।
 माँगल्यकाया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूध । (२) हल्दी । (३)
 कद्दि । (४) गोरोचन । (५) हरे ।
 माँगल्यकुसुमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखपुष्पी ।
 माँगल्यप्रचारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वच ।
 माँगल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोरोचन । (२) शमी का वृक्ष ।
 (३) जीवंती ।
 माँगो-संज्ञा स्त्री० [सं० माँग ? हि० माँग] धुनियों की धुनकी में
 को यह हल्की जो उसकी उस डोंड़ी के ऊपर लगी रहती
 है जिस पर सीत चढ़ते हैं ।
 माँच-संज्ञा पुं० [दे०] (१) पाल में हवा लगाने के लिये चले

हुए जहाज का रुख कुछ तिरछा करना । मोस (छा०)
 (२) पाल के नीचेवाले कोने में बँधा हुआ वह रस्सा जिसकी
 सहायता से पाल को आगे बढ़ाकर या पीछे हटाकर हवा
 के रुख पर करते हैं । (छा०)
 माँचना-कि० प्र० [हि० मचना] (१) आरंभ होना । जारी
 होना । शुरू होना । उ०—देव गिरा मुनि सुंदर साँची ।
 प्रीति अलौकिक हुई दिसि माँची ।—तुलसी । (२) प्रसिद्ध
 होना । उ०—श्रीहरिदास के स्वामी स्वामि कुंज चिहारी की
 भटल भटल प्रीति माँची ।—काटजिह्वा ।
 माँचा-संज्ञा पुं० [सं० मंच, हि० मंका] [को० मंचा० माँची]
 (१) पलंग । खाट । मंसा । (२) खाट की तरह की बुनी
 हुई छोटी पीढ़ी जिस पर लोग बैठते हैं । (३) मंचान ।
 माँची-संज्ञा स्त्री० [हि० माँचा] बैल-गाड़ियों आदि में बैठने की जगह
 के आगे लगी हुई वह जालीदार सोली जिसमें माल अस्-
 भाव रखते हैं ।
 माँछी-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य] मछली । उ०—आह सुगुन सगुनि
 अहताहा । द्रिष्टि माँछ रूपइकर डाका ।—जायसी ।
 संज्ञा पुं० दे० "माँच" ।
 माँछना-कि० प्र० [सं० मय ?] घुसना । घँसना । पैठना ।
 (छा०)
 माँछरी-संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य] मछली ।
 माँछली-संज्ञा संज्ञा [सं० मत्स्य] मछली ।
 माँछी-संज्ञा स्त्री० दे० "मत्स्य" ।
 माँजना-कि० प्र० [सं० मज्जन] (१) जोर से मलकर साफ
 करना । किसी वस्तु से रगड़कर मैल छुड़ाना । जैसे,—
 धरतन माँजना । (२) मयुजे के तपे पर पानी देकर उसे
 ठीक करने के लिये उसके किनारे झुकाना । (कुम्हार) (३)
 सरस को पानी में धकाकर उससे तानी के सूत रँगना । (४)
 सोस और घीसे की चुकनी झाड़ लगाकर पतंग की मज
 या दौर को हट करना । माँजा देना ।
 कि० प्र० (१) अभ्यास करना । मदन करना । जैसे,—
 हाथ माँजना । (२) किसी गीत या छंद को बार बार आहूति
 करके पढ़ा करना ।
 माँजर-संज्ञा स्त्री० [हि० पंजर या पॉजर] हड्डियों की ठठरी ।
 पंजर । उ०—हुर हुर माँजर धन भई चिरह की लागी
 भाग ।—जायसी ।
 माँजा-संज्ञा पुं० [दे०] पहली वर्षा का फल जो मछलियों के
 लिये मादक होता है । उ०—(क) नयन सजल तन धर
 धर काँपी । माँजहि खाह मीन जनु माँपी ।—तुलसी । (ख)
 तलफत विषम मोह मन माया । माँजा मनहुँ मीन कह
 व्यापा ।—तुलसी ।

मंजिष्ट-वि० [सं० मंजिष्ट] (१) मजीठ का सा । मजीठ के समान । (२) मजीठ के रंग का ।

घंसा पुं० एक प्रकार का मूत्र रोग या प्रसृति जिसमें मजीठ के रंग का लाल पेशाब होता है ।

मंजिष्ट-प्रत्य० [सं० मंजिष्ट] में । भीतर । बीच । अंदर ।

उ०—(क) प्रजाई चली आई अब साँस । मुरभी सब सेकु आगे करि रैन होइ पुनि बनही मौस ।—सूर । (ख) गुहरे कटक मौस मुनु भंगद । मो सन मिरहि कवन घोषा नद ।—तुलसी । (ग) आपुस मौस महोदर साँचे । क्यों तुम भीर बिरोधनि राँचे ।—केशव । (घ) रोज करि सौलिन मजेज सौं निवेत मौस, पर पति हैत सेज साँस तौ सौवराती ।—प्रताप ।

●१ घंसा पुं० (१) अंतर । फरक ।

मुहा०—मंसि पदना या होमा = बीच पड़ना । अंतर पड़ना ।

उ०—द्वारा पर मौस भयो तब ही गिता सेवा सावधान मन भीमे कर आनिवे ।—मियादास ।

(२) नदी के बीच में पड़ी हुई रेतीली भूमि ।

मंसि-घंसा पुं० [सं० मंसि] (१) नदी के बीच को जमीन । नदी में का टापू । (२) एक प्रकार का आभूषण जो पगड़ी पर पहना जाता है । उ०—धर में लेगर, पाग पर मौसा आदि पावप प्रतिष्ठा बज्जता हूँ ।—राधाकृष्णदास । (३) एक प्रकार का डोंया जो गोदूँ के बीच में रहता है और जो पार्श्व को जमीन पर गिरने से रोकता है । (४) लुहारे । (५) धूल का तना । (६) वे पीले कपड़े जो कहीं कहीं घर और कच्चा को बियाह से दो तीन दिन पहले हलदी चकने पर पड़नाए जाते हैं ।

घंसा पुं० [हि० मंजना] पतंग या गुड़िया बचने के बारे या तल पर सरेस और सीरी के धुरे आदि से चढ़ाया जानेवाला कलक जिससे बंदों या तार में मजबूती भंगी है ।

मि० प्र०—चढ़ाना ।—देना ।

घंसा पुं० दे० “मंसा” ।

मंसि-घंसा-कि० वि० [सं० मंसि] बीच का । मध्य का । बीचवाला । उ०—मोला मंसिल तलय तुरंग सेतिल नू । लखनु मम हित मौसि भ्राम शुद्ध बसि नू ।—विभाम ।

मंसि-घंसा पुं० [सं० मंसि, हि० मंसि] (१) बाज सेनेवाला । जेवर । मन्दाह । (२) दो व्यक्तियों के बीच में बढ़कर मामला री करार देनेवाला । उ०—सँवरि रहत नैनन मरि गुवा । रोद ईकरोसि मंसि गुवा ।—जायसी । (३) जोरावर । बलवान् । (हि०)

मंसि-घंसा पुं० [सं० मंसि] (१) मिट्टी का बड़ा बरतन जिसमें अनाज या पानी आदि रक्खे हैं । मटका । कुंदा । उ०—(क) पुनि कमंडपु चप्यो लहाँ सो बंदि गयो कुँव भरि बहुरि

पुनि मॉटि राख्यो ।—सूर । (ख) मानो नील मॉटि मई थोरे है यमुना शु पखारे ।—सूर । (२) घर का ऊर्जा भाग । अटारी ।

मॉट-घंसा पुं० [सं० मटका] (१) मटका । कुंदा । मिट्टी का बड़ा बरतन । (२) नील घोलने का मिट्टी का बना बड़ा बरतन ।

मॉटि-घंसा की० [दे०] (१) एक प्रकार की गूल धातु की बली हुई धुड़ियाँ जो पृथ्वी में गीच जाति की क्षिप्रा हाथ में कलाई से लेकर कोहनों तक पहनती हैं । इसे ‘मटिया’ भी कहते हैं । (२) मट्टी या मट्टी सामक पकवान जो मई का बना होता है ।

मॉट-घंसा पुं० [सं० मंसि] पकाए हुए चावलों में से निकला हुआ लसदार पानी । भात का पसेप । पीच । पसप ।

घंसा की० [हि० मॉटगा] मॉटने की क्रिया या भाव ।

घंसा पुं० [दे०] एक प्रकार का राग ।

मॉटना-कि० सं० [सं० मंडन] (१) मर्दन करना । मलना । मसलना । मंजना । सानना । घूँघना । जैसे,—आदी मॉटना । उ०—सब पीरि जय पहिले पोये । कातर-कान साँद भल होये ।—जायसी । (२) छगाना । पोतना । छेपन करना । जैसे,—मुँह में केसर या गुलाब मॉटना । (३) रचना । बनाना । सजाना । (४) किसी जगह की बाल में से बाने साड़ना । उ०—मॉटि मॉटि खरिहान कोष को फोना भजन भावै । (५) मधाना । डोना । उ०—और मंत्र कुछ उर जनि आनो आनू मुकपि रन मॉटि ।—सूर ।

मॉटनी-घंसा की० [सं० मंडन] संजाक । मण्डी । मोट । इतिहास । किनारा । उ०—(क) औरिया नील मॉटनी राती निराला नैन सुराई ।—सूर । (ख) नील कंचुकी मॉटिनी झाल । भुजनि मण्ड आभूषणा माल ।—सूर ।

मॉटपो-कि०-घंसा पुं० [सं० मंसि] (१) आंगुल सेलों के दराने का स्थान । अतिथिस्थल । (२) बियाहदि के घर में बँध स्थान जहाँ संपूर्ण आहुत देवताओं का स्थापन किया जाता है । (३) विवाह का मंडप । मंडवा । उ०—बाद बाध द्वारिका भीके रच्यो मॉटपो छाप । ब्याह कति रिनि रची सकल मुख सौंजवनी नहि जाय ।—सूर ।

मॉटलिक-घंसा पुं० [सं०] (१) बंद जो किसी मंदिर या मोर की रक्षा अथवा शासन करता हो । (२) वह छोटा राजा जो किसी सामंती या चक्रवर्ती राजा के अधीन हो और उसे कर देता हो । (३) शासन कार्य ।

मॉटपु-घंसा पुं० [सं० मंसि] निराद आदि मंसवा द्वारा छुं छुं के जिये छाया हुआ मंडप । उ०—(क) अलेखि बँध के मॉटप अनिगन पवन हो । मोनिन हायर ललित बँध रिनि लपन हो ।—तुलसी । (ख) पुनि गन बँधे नूर मॉटप छापन । गार्दधि नील शुभसिनि बाज ब्याचन ।—तुलसी ।

मांडवी-संज्ञा स्त्री० [सं० माण्डवी] राजा जनक के माँई कुशाग्रज की कन्या जो भरत को ब्याही थी । उ०—मांडवी चित्तवातक नवाबुद्वारन सरन तुलसीदास अभयदाता ।—तुलसी ।

मांडव्य-संज्ञा पुं० [सं० माण्डव्य] (१) एक प्राचीन ऋषि जिनको बाल्यायस्या के किए हुए पाप के अपराध के कारण यमराज ने झुली चढ़ा दिया था । इस पर ऋषि ने यमराज को शाप दिया कि तुम शूद्र हो जाओ, जिससे यमराज दासी के गर्भ से पंडु के पहले उत्पन्न हुए थे । उ०—विदुर सुधर्मराह अवतार । ज्यों भयो कहीं सुनो चित्तधार । मांडव्य ऋषि जब झुली दियो । तब सो काठ हन्यो द्वै गयो ।—सूर । (२) एक प्राचीन जाति का नाम । (३) एक प्राचीन नगर का नाम ।

माँझ-संज्ञा पुं० [सं० मंझ] आँख को एक रोग जिसमें उसके ऊपरी पर्दे के अंदर महीन सिस्ली सी पड़ जाती है । इस सिस्ली का रंग चावल के माँड़े के समान होता है और इसके कारण रोगी को दिखाई नहीं पड़ता । यह औषधोपचार या शस्त्र-क्रिया से निकाला भी जाता है ।

संज्ञा पुं० [सं० मंठ] मंडप । मँडवा ।
संज्ञा पुं० [हि० माँडा = मूँढा] (१) एक प्रकार की बहुत पतली रोटी जो मैदे की होती और धी में पकती है । लुचई । उ०—(क) मुद्दों दोजख में जाय या मिहिस्त में, हमें तो अपने हलुवे माँड़े से काम है । (कहावत) (ख) काकी मूँल गई बयारि भल बिना कूष घत माँड़े ।—सूर । (२) एक प्रकार की रोटी जो तब पर थोड़ा धी लगाकर पकाई जाती है । पराँठा । उलटा ।

माँड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मंड] (१) भात का पसावन । पीच । माँड़े । (२) कपड़े या सूत के ऊपर चढ़ाया जानेवाला कलक, जो भिन्न भिन्न कपड़ों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार से तैयार किया जाता है ।

विशेष—यह माँड़ी आदे, मैदे, अनेक प्रकार के चावलों तथा कुछ बीजों से तैयार की जाती है और प्रायः छोड़े के रूप में होती है । कपड़ों में इसकी सहायता से कढ़ावन या कारावन छाया जाता है ।

मि० प्र०—देना ।—लगाना ।
माँड़क-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के ग्राहण जो वैदिक मंडूक शास्त्र के अंतर्गत होते थे ।

माँड़कापनि-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक आचार्य का नाम ।

माँड़भय-संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।
वि० मंडूक संबंधी ।

माँड़ौली-संज्ञा पुं० [सं० मंठ] विवाह का मंडप । मँडवा ।
उ०—माँड़ौ गद्दो रंग-मंदिर के आँगन बंद विधाना । ता ऊपर जरकसी रज्जु मणियम विनाद वितांना ।—रघुराज ।

माँड़ा-संज्ञा पुं० दे० “माँड़व” ।

माँतल-वि० [सं० मत्] (१) उन्मत्त । मस्त । मत्त । बेसुध । (२) दीवाना । पागल ।

वि० [हि० मात या सं० मंद] (१) बे-रौनक । उदास । बद-रंग । उ०—पद्मा माँत गोरख कर चेलों । जिव तन छौंदि स्वर्ग कई खेलो ।—जायसी । (२) हारा हुआ । पराजित । मात ।

माँतनाल-वि० प्र० [सं० मत् + ना (प्रत्य०)] उन्मत्त होना । पागल होना ।

माँतल-वि० [सं० मत्] मत्वाला । उन्मत्त ।

मांत्र-वि० [सं०] मंत्र संबंधी । मंत्र का ।

मांत्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मंत्रों का पाठ करने में पारंगत हो । (२) वह जो तंत्र-मंत्र का काम करता हो ।

माँया-संज्ञा पुं० [सं० मयतक] माया । सिर ।

माँयधंधन-संज्ञा पुं० [हि० माँय + धंधन] (१) सूत या ऊन की डोरी जिससे छिपौं सिर के बाल बाँधती हैं । पराँदा । चक्की । चँवरी । (२) सिर पर लपेटने या बाँधने का कपड़ा । जैसे,—पगड़ी, साफा आदि ।

माँद-वि० [सं० मंद] (१) बेरौनक । उदास । बद-रंग । (२) किसी के मुकाबले में फीका, खराब या हल्का ।

कि० प्र०—करना ।—पढ़ना ।—होना ।

(३) पराजित । हारा हुआ । मात ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) गोबर का वह ढेर जो पड़ा पड़ा सूख जाता है और जो प्रायः जलाने के काम आता है । इसकी आँच उपलों की आँच के मुकाबले में मंद या धीमी होती है । (२) हिंसक जंतुओं के रहने का विवर । बिल । गुफा । सुर । खोह ।

माँद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तालाब का जल । (२) ग्रहों की रवि या चंद्र संबंधी नीचोच्च या मंदोच्च गति ।

माँदगी-संज्ञा स्त्री० [प्रा०] (१) धीमारी । रोग । (२) थकावट ।

माँदर-संज्ञा पुं० [हि० मंदल] मृदंग का एक भेद जिसे मंदल कहते हैं । उ०—बाजहि बोल दुहु अह भेरी । माँदर दूर श्राँस चहुँ पेरी ।—जायसी ।

माँदा-वि० [का० माँद] (१) थका हुआ । (२) बचा हुआ । बाकी । अवशिष्ट ।

संज्ञा पुं० रोगी । बीमारी ।

माँदार-वि० [सं०] मंदार संबंधी । मंदार का ।

माँदाय्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विषयों या राग-द्वेष आदि से परे हो गया हो । धीतराज ।

माँध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमी । न्यूनता । घटी । (२) मंद होने की क्रिया या भाव । जैसे,—अप्रि-माँध । (३) रोग । बीमारी ।

मांघाता—छंदा पुं० [सं० मांघात] एक प्राचीन मूर्धन्येनी राजा जो युवनाथ का पुत्र था और जिसकी राजधानी अयोध्या में थी। कहते हैं कि राजा युवनाथ कोई संतान न होने पर भी संसार त्यागकर वन में क्रियाओं के साथ रहने लगा था। क्रियाओं ने उस पर दया करके उसके घर संतान होने के लिये वन में किया। आधी रात के समय जब यज्ञ समाप्त हो गया, तब क्रियाओं ने एक घड़े में अभिमंत्रित जल भर कर घेरी में रख दिया और आप सो गए। रात के समय जब युवनाथ को बहुत अधिक प्यास लगी, तब उसने उठकर वहाँ जल पी लिया जिसके कारण उसे गर्भ रह गया। समय पाकर उस गर्भ में दाहिनी ओर काटकर एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो यही मांघाता था। इंद्र ने इसे अपना भोग्यता सुताकर पाला था। आगे चलकर यह बहुत प्रतापी और चक्रवर्ती राजा हुआ था और इसने शर्माविन्दु की कन्या विदुमती के साथ विवाह किया था, जिसके गर्भ में इसे सुल्लुप्त, अंबरीष और मुमुकुंद नामक तीन पुत्र और पचास कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं। उ०—कह्यो मांघाता सों जाह । पुत्री एक देहु मोहि राह ।—मूर ।

माँपना—छंदा पुं० [हि० माँपना] नवीं में चार होना। उन्मूल होना। उ०—नयन सजल तन धरधर काँपी । माँजिहि राह मीन जनु माँपी ।—गुलसी ।
कि० उ० दे० “मापना” ।

माँप्यै—मध्य० [सं० मध्य, हि० मोक] में । बीच । मध्य । अंदर । उ०—बार एक के माँप्यै पकड़नी पीपित रई । मुनो सबन के माँप्यै, कल समेत पणन करे ।—विभ्राम ।

मांस—छंदा पुं० [सं०] (१) मनुष्यों और पशुओं आदि के शरीर के अंगगत वह प्रसिद्ध चिकना, मुलायम, लचीला, लाल रंग का पदार्थ जो शरीर का एक मुख्य अवयव है और जो रेशेदार तथा चर्बी मिला हुआ होता है। शरीर का यह अंग हड्डी, धमने, नारी, रक्त और चर्बी आदि से भिन्न है। इसका एक अंग कंकाल से लगा हुआ छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा रहता है और यह ऐच्छिक कहलाता है। अर्थात् इच्छानुसार उसका संवाहन किया जा सकता है। ये टुकड़े आपस में रूखों के द्वारा जुड़े रहते हैं और उन रूखों के इराने पर सहज में अलग हो सकते हैं। इन टुकड़ों को मांसपेशी कहते हैं। ये मांसपेशियाँ छोटी, बड़ी, पतली, मोटी आदि अनेक प्रकार की होती हैं। आगवों, नमियों, माँसों और हृदय आदि अंगों का मांस पेशियों में विभक्त नहीं होता। इन अंगों में मांस की केवल पतली या मोटी तहें रहती हैं, जो आसस में एक दूसरी में बिलग रहती हुई होती हैं। ऐसा मांस अनैच्छिक या रक्षणीय कहलाता है, अर्थात् इच्छानुसार उसका संवाहन नहीं किया जा सकता। मांस अथवा मांसु-पेशी मुला-

यम होने के कारण चाहू आदि से सहज में कट जाती है। शरीर में सभी जगह थोड़ा बहुत मांस रहता है और शरीर के भार में उसका अंश प्रति सैकड़े ४१-४३ के ल्यभाग होता है। शरीर की सब प्रकार की गतिविधियाँ मांस के ही द्वारा होती हैं। मांस आवश्यकता पड़ने पर सिकुड़कर छोटा और मोटा होता है और फिर अपनी पूर्ण अवस्था में आ जाता है। मुश्रुन के अनुसार मांसपेशियों की संख्या ५०० तथा आधुनिक प्राणिक विज्ञानियों के मत से ५१९ है। वैद्यक के अनुसार यह रक्त से उत्पन्न तीसरी धातु है। भावप्रकाश के अनुसार जब शरीर की अग्नि अथवा ताप के द्वारा रक्त का परिपाक होता है और यह वायु के संयोग में पर्वामृत होता है, तब यह मांस का रूप धारण करता है। वैद्यक के अनुसार साधारणतः सभी प्रकार का मांस वायुनात्मक, उत्पन्न-कारक, यलवर्धक, पुष्टिकारक, गुण, हृदयमोही और मज्जुरस होता है। मोदन ।

पदार्थ०—आमिष । पित्तित । पालक । मध्य । पल । भाग्य । यौ०—मांस का रस = चरबी ।

(२) कुछ विभिन्न पशुओं के शरीर का एक अंग जो मांस खाया जाता है। मोदन ।

विशेष—दूसरे यहाँ यह मांस दो प्रकार का माना गया है—जंगल और अनूप । जंगल, बिल्व, गुहाताप, पर्याग, चिन्कि, प्रमुद, प्रसह और मध्य इन आठ प्रकार के जंगली जीवों का मांस जंगल कहलाता है, और वैद्यक के अनुसार मधुर, कषाय, रस, लघु, बलकारक, श्लेष्मक, अम्लीय, दोषघ्न और चरित, अरणि, बरि, ममेह, मुग्धराग, वहीर और गलंगत आदि का नाशक माना जाता है। बुलेभा, हृष, कौस्तभ, पाद्री और मध्य इन पाँच प्रकार के जीवों का मांस आनूप कहलाता है, और वैद्यक के अनुसार ताप-रजनः मधुर रस, क्षिण, गुरु, अग्नि को मंद करनेवाला, ककमरक तथा मांसघोषक होता है। पशियों में से वे पशु जिन अथवा घर का और पौधावों में भी जिन अथवा मादा का मांस अच्छा कहा गया है। इसके अतिरिक्त निम्न जीवों के मांस के गुण भी निम्न निम्न होते हैं। साधारणतः प्रायः सभी देवों और सभी जातियों में कुछ विभिन्न पशुओं, पक्षियों और मत्स्यियों आदि का मांस बहुत अधिकता से खाया जाता है। पर भारत के कुछ पारमिक संप्रदायों के अनुसार मांस खाना बहुत ही निन्दित है। पुराणों में इसका नामा पार माना गया है। कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों और चिकित्सकों आदि का मत है कि मांस मनुष्य का अवनैतिक भोजन नहीं है और उसके खाने से अनेक प्रकार के प्रानक तथा अस्वास्थ्य रोग उत्पन्न होते हैं।

यौ०—मांसाहार ।

संज्ञा पुं० दे० "मांस" ।
 मांसकण्डू-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का रोग जो तालू में होता है ।
 मांसकारी-संज्ञा पुं० [सं० मांसकारिन्] रक्त । बहू ।
 मांसकीलक-संज्ञा पुं० [सं०] घवासीर का मसाला ।
 मांसकेशी-संज्ञा पुं० [सं० मांसकेशिन्] वह घोड़ा जिसके पैरों में मांस के गुदले निकलते हैं ।
 मांसखोर-संज्ञा पुं० [सं० मांस + खोर] मांस खानेवाला । मांसहारी ।
 मांसग्रन्थि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांस की गाँठ जो शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में निकल आती है ।
 मांसच्छ-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी या मांसी नाम की छता ।
 मांसज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मांस से उत्पन्न हो । (२) मांस से उत्पन्न शरीर में की चर्बी ।
 मांसतान-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का भीषण रोग जिसमें गले में सूजन होकर चारों ओर फैल जाती है और जिसमें बहुत अधिक पीड़ा होती है । इससे कभी कभी गले की नाली छुटकर बंद हो जाती है और रोगी मर जाता है ।
 मांसतेज-संज्ञा पुं० [सं० मांसतेजस्] चर्बी ।
 मांसद्राघी-संज्ञा पुं० [सं० मांसद्राघिन्] अग्लवेत ।
 मांसधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार शरीर के चमड़े की सातवीं तह जो स्थूलापर भी कहलाती है ।
 मांसपाक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का लिंग का रोग जिसमें लिंग का मांस फट जाता है और उसमें पीड़ा होती है ।
 मांसपिंड-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर । देह ।
 मांसपिंडी-संज्ञा स्त्री० [सं० मांसपिंड] शरीर के अंदर होनेवाली मांस की गाँठ । (कहते हैं कि पुरुषों के शरीर में इस प्रकार की ५०० और स्त्रियों के शरीर में ५२० गाँठें होती हैं) ।
 मांसपित्त-संज्ञा पुं० [सं०] हड्डी ।
 मांसपुटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पीषा जिसमें सुंदर फूल लगते हैं और जिसे "अमरारि" भी कहते हैं ।
 मांसपेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शरीर के अंदर होनेवाला मांस पिंड । वि० दे० "मांस" । (२) मांसप्रकाश के अनुसार गर्म की यह अवस्था जो गर्म-घारण के सात दिनों के बाद होती है और प्रायः एक सप्ताह तक रहती है ।
 मांसफल-संज्ञा पुं० [सं०] तरबूज ।
 मांसफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिर्ची ।
 मांसमल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मांस खाता हो । मांसहारी । (२) पुराणानुसार एक दानव का नाम ।

मांसमत्ती-संज्ञा पुं० [सं० मांसमत्तिन्] मांस खानेवाला । मांसहारी । गोस्तखोर ।
 मांसभोजी-संज्ञा पुं० [सं० मांसभोजिन्] मांस खानेवाला । मांसहारी ।
 मांसमंड-संज्ञा पुं० [सं०] मांस का झोल या रस । शोरबा । यखनी ।
 मांसमासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसपर्णी ।
 मांसयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] रक्त-मांस से उत्पन्न जीव ।
 मांसरक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी । रोहिणी ।
 मांसरज्जु-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार शरीर के अंदर होनेवाले ज्ञायु जिनसे मांस बँधा रहता है । (१) मांस का रस । शोरबा ।
 मांसरस-संज्ञा पुं० [सं०] मांस का रस । यखनी । शोरबा ।
 मांसरुद्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी ।
 मांसरोहिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का जंगली वृक्ष जिसकी प्रत्येक डाली में खिरनी के पत्तों के आकार के सात सात पत्ते लगते हैं और जिसके फल बहुत छोटे छोटे होते हैं । वैद्यक में इसे उष्ण, त्रिदोषनाशक, वीर्यवर्धक, सारक और मूत्र के लिये हितकारी माना है ।
 पर्याय—अतिरुद्धा । बृत्ता । चर्मकपा । यस्ता । प्रहावरयछी । विकषा । धीरयती । अभिरुद्धा । कनामांसी । महामांसी । मांसरोहा । रसायनी । सुलोमा । लोमकर्णी । रोहिणी । चंद्रवृक्षभा ।
 मांसल-वि० [सं०] (१) मांस से भरा हुआ । मांसपूर्ण । (अंग) जैसे,—चूड़, जाँघ आदि । (२) मोटा, ताजा । पुष्ट । (३) यलवान् । समवृत्त । दृढ़ ।
 संज्ञा पुं० (१) काव्य में गौडी रीति का एक गुण । (२) उद्व ।
 मांसलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मांसल होने का भाव । (२) स्थूलता और पुष्टि ।
 मांसलफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मिर्ची । (२) तरबूज ।
 मांसलित-संज्ञा पुं० [सं०] हड्डी ।
 मांसघारुणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार की मदिरा जो हिरण आदि के मांस से बनाई जाती है ।
 मांसविक्रयी-संज्ञा पुं० [सं० मांसविक्रयिन्] (१) वह जो मांस बेचता हो । कसाव । (२) वह जो धन के लिये अपनी कन्या या पुत्र बेचता हो ।
 मांसवृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर के किसी अंग के मांस का बढ़ जाना । जैसे,—घेघा, फीलपॉव आदि ।
 मांससंघात-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें, तालू में कुछ वृषित मांस बढ़ जाता है । इसमें पीड़ा नहीं होती ।
 मांससमुद्गवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चर्बी ।

मांससार-छंदा पुं० [सं०] (१) शरीर के भंगगत मेद नामक पदार्थ । (२) वह जो हल पुष्ट हो ।
 मांसस्नेह-छंदा पुं० [सं०] चर्मा ।
 मांसहासा-छंदा पुं० [सं०] चमड़ा ।
 मांसाव-छंदा पुं० [सं०] (१) वह जो मांस खाता हो । (२) राक्षस ।
 मांसारि-छंदा पुं० [सं०] अम्बुदेन ।
 मांसावुद-छंदा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का रोग जिसमें लिंग के ऊपर कड़ी कुंठियाँ सी हो जाती हैं । (२) शरीर में मुके आदि के आघात से होनेवाली एक प्रकार की सूजन जिसमें यह स्थान पथर के समान कड़ा हो जाता है और उसमें पीड़ा नहीं होती । येरी सूजन असाध्य मानी जाती है ।
 मांसाग्रज-छंदा पुं० दे० "मांसाली"
 मांसाग्री-छंदा पुं० [सं० मांसग्री] (१) वह जो मांस खाता हो । मांसाहारी । (२) राक्षस ।
 मांसाष्टका-छंदा स्त्री० [सं०] माघ कृष्ण अष्टमी । प्राचीन काल में इस दिन मांस के बने हुए पदार्थों से श्राद्ध करने का विधान था ।
 मांसाहारी-छंदा पुं० [सं० मांसहारिन्] मांसमक्षी । मांस भोजन करनेवाला ।
 मांसिका-छंदा स्त्री० [सं०] जटामांसी ।
 मांसी-वि० [सं० मां] उर्दू के रंग का ।
 छंदा पुं० उर्दू के रंग के समान एक प्रकार का हरा रंग ।
 मांसी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) जटामांसी । (२) काकोली । (३) मांसरोहिणी । (४) चंदन आदि का सेल । (५) हलाम्बी ।
 मांसु-छंदा पुं० दे० "मांस" । उ०—जेहि तन पैम कहीं सेहि मांस । कया त राकन न पैम आंसु ।—जायसी ।
 मांसु-अव्य० [सं० मण] में । बीच । अंदर । भीतर ।
 मांसु-अव्य० दे० "मांस" ।
 मांसि, मांसि-अव्य० दे० "मांस" ।
 मांसि-अव्य० दे० "मांस" ।
 मा-छंदा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी । उ०—सिंधु गुणा मा ईदिरा-विष्णु-यस्तमा सोह ।—भने० (२) माता । (३) जान । (४) रीति । प्रकृति ।
 मांर, मांर-छंदा स्त्री० [सं० मण] छोटा पत्ता जिसमें विषाह में मादुरम छिपा जाता है ।
 मुदा०—मांस में धारना मरिचों के समान कटार करना ।
 उ०—जो भी हो जीवन भर जीवों मदा नाम मुख जपिरी ।
 यदि मोहन होना बूति दीदी अक मांस में बपिरी ।—गूर ।
 छंदा स्त्री० [सं० मण] कड़की । कम्पा ।
 छंदा स्त्री० [सं० मण] माया की छी । मासी ।
 मांस-छंदा स्त्री० दे० "मांस" । उ०—(क) तब पुष्टि

रगुराह । मुख है पित्त तन माह ।—केशव । (क) मे
 मुख को अनुप यह सीता मेरी माह ।—केशव ।
 माहका-छंदा पुं० [सं० माह + गृह] स्त्री के लिये उसके माह-पिना का घर । गृह । उ०—(क) और तो मोहि छै मुख री दुख री यह माहके जान न देन है ।—पद्माब्ज । (क) येरी हुनी तिय माहके में समुहारे को माह सेवक मुकरो ।
 —भनिराम ।
 माह-छंदा स्त्री० [सं० माह] (१) माता । जननी । माँ ।
 यो०—माह का लाल = (१) ऊपर विधाना मरिच । उ०—
 क्या फिर कोई देवचंदन जैसा माह का लाल न जनमैता ।—
 अयोध्या । (२) शीत । शर । पत्ती । शक्ति । उ०—
 (क) क्या ऐसा कोई माह का लाल नहीं है जो मुखो हुनके हाथों से बचाये ।—अयोध्या । (ग) एक बार एक पंजाबी दाजी को बहूतुओं ने घेर लिया । उसने अपनी कमर से रुपये निकालकर सामने रग । दिये और लम्बत कर कहा कि कोई माह का लाल हो, तो इसे मेरे सामने ले जाय ।—सारस्वती ।
 (२) पुरी वा बरी स्त्री के लिये आदरमूक शब्द । उ०—
 (क) सत्य कहीं मोहि जान दे माह ।—गुलसी । (ग) कदाहिं भठ फुरि पात बनार । ते प्रिय मुमहि करूँ मैं माह ।—गुलसी । (ग) सीध स्वयंवर माह होत भाई आपे देवान ।—गुलसी ।
 माउललहम-छंदा पुं० [सं०] हिकमत में मांस का बना हुआ एक प्रकार का अरक जो बहुत अधिक दुष्टिकारक माना जाता है और जिसका व्यवहार प्रायः जादे के दिनों में शरीर का बल बढ़ाने के लिये होता हो ।
 माकंद-छंदा पुं० [सं०] (१) आम का वृक्ष । (२) दे० "मानई" ।
 माकंदी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) भयिला । (२) महामाता का एक गौव का नाम ।
 यिरोप—मुषिचिरे से दुर्बोधन से जो पौष गौव मँगि वे, उनमें से एक यह भी था ।
 (३) पीला चंदन ।
 माकरा-छंदा स्त्री० [सं०] प्रकृति ।
 माकरी-छंदा स्त्री० [सं०] माघ शुक्ला सप्तमी जो एक दुर्बलति मानी जाती है ।
 माकलि-छंदा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । (२) रंज के शारपी मायिक का एक नाम ।
 माकुली-छंदा पुं० [सं०] शुभ्र के अनुगत एक प्रकार का मांस ।
 माकुल-वि० [सं०] (१) उच्छिन्न । काजिब । रीह । (२) माह ।
 योम्य । (३) बधेष्ट । पुरा । (४) अष्टा । कृत्ति । (५) निम्न काय-विचार में मीनरही की बात मान ली हो । जो निम्न हो गया हो ।

माक्षिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शहद । मधु । (२) सोनामक्खी ।
(३) कृपांमक्खी ।

माक्षिकज-संज्ञा पुं० [सं०] मोम ।

माक्षिकोत-संज्ञा पुं० [सं०] मांथवी नामक मय । महुए की शराय ।

माक्षिकाधय-संज्ञा पुं० [सं०] मोम ।

माक्षीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधु । शहद । (२) सोनामक्खी ।
(३) कृपांमक्खी ।

माखल-संज्ञा पुं० [सं० मख] (१) अग्रसन्नता । नाराजगी ।
नामुदगी । क्रोध । रिस । उ०—(क) देखेई आय जो कछु
कपि भाखा । तुम्हरे लाज न रोप न माखा ।—तुलसी ।
(ख) छीये को लाख करै अभिलाष करै कहूँ माख परै कवहुँ
हैसि ।—बेनी । (२) अभिमान । घमंड । (३) पछतावा ।
(४) अपने दोष को उकना ।

माखन-संज्ञा पुं० दे० “मखन” । उ०—(क) माखन से मन
कोमल है यह बानित जानति कौन कठोर है ।—आनंदघन ।
(ख) ता खिन ते इन आंखिन ते न कह्यो यह माखन बाखन-
हारो ।—पद्माकर । (ग) माखन सो मेरे मोहन को मन
काठ सी तेरी कठेरी ये बातें ।—केशव ।

यौ०—माखनचोर = श्लूष्य ।

माखनाक्षी-कि० प्र० [हिं० माख] अग्रसन्न होना । नाराज
होना । क्रोध करना । उ०—(क) अब जनि कोउ माखइ
भट मानी । बीर-विहीन मही मैं जानी ।—तुलसी । (ख)
माखे लपन छटिल भई भौंई । रदपुट फकत नैन रिसीई ।
—तुलसी । (ग) पत्र सुनत रतनावती मुंडन कीन्हो केश ।
सुनत माखि मारन चढ़ी रतनावतिहि नरेश ।—रघुराज ।
(घ) कछु न थिरता लई छनक रीसै छन माखे ।—ध्यास ।

माखीक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं० माक्षिक] (१) मक्खी । उ०—(क)
दूध की माखी उजागर बीर सो हाथ मैं आंखिन देखत
लाई ।—डकुर । (ख) चंदन पास न बैठे माखी ।—जायसी ।
(ग) भामिनि भइत दूध कर माखी ।—तुलसी । (२)
सोनामक्खी ।

मागध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जाति जो मनु के
अनुसार वैश्य के वीर्य से क्षत्रिय कन्या के गर्भ से उत्पन्न
है । इस जाति के लोग बंधाग्रम से विरुदावली का वर्णन
करते हैं और प्रायः “माट” कहलाते हैं । उ०—(क) मागध
बंदी सत गण विरद बदहिं मतिधीर ।—तुलसी । (ख)
मागध बंधावली यथाना ।—रघुराज । (२) जरासंध का
एक नाम । उ०—मागध मगध देश में आयो स्त्रीन्हें फौज
भरार ।—सूर । (३) जीरा । (४) पिप्पलीमूल ।
वि० [सं० माग] मागध देश का ।

मागधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मागध । भाट । (२) मागध देश
का निवासी ।

मागधपुर-संज्ञा पुं० [सं०] मागध की पुरानी राजधानी, राजगृह ।

मागधिक-वि० [सं०] मागध देश संबंधी । मागध का ।

मागधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिप्पली । पीपल ।

मागधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मागध देश की प्राचीन प्राकृत
भाषा । (२) जूही । यूषिका । (३) शकर । जीनी ।
(४) छोटी पीपल । पिप्पली । (५) छोटी इलायची ।

माघ-संज्ञा पुं० [सं०]—(१) स्यारहवाँ चांद मास जो पूस के
बाद और फाल्गुन से पहले पड़ता है । उ०—माघ मकरगत
रवि जय होई । तीरथपतिहिं आय सब कोई ।—तुलसी ।
(२) संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि का नाम । (३) उपर्युक्त
कवि का बनाया हुआ एक प्रसिद्ध काव्यग्रंथ जिसमें कृष्ण
द्वारा शिशुपाल का वध वर्णन किया गया है ।

संज्ञा पुं० [सं० माघ] कुंद का फूल । उ०—सुसुकान कदहिं
रद माघ से फाल्गुन सो जोधा महत ।—गोपाल ।

माघी-संज्ञा स्त्री० [सं० माघ + ई] माघ मास की पूर्णिमा जो मया
नक्षत्र से युक्त होती है । कहते हैं कि कलियुग का आरंभ
इसी तिथि को हुआ था ।

वि० माघ का । जैसे,—माघी मिर्च ।

माघ्य-संज्ञा पुं० [सं०] कुंद का फूल ।

माघ्यक्षी-संज्ञा पुं० दे० “मचान” । उ०—जब यदुपति कुल कंसाहिं
माच्यो । तिहुँ सुवन भयो सौर पसाच्यो । तुरत माघ तें
धरनि गिरायो । ऐमेहि भारत बिलम न लायो ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं०] मार्ग । रास्ता ।

माच्यनाक्षी-कि० प्र० दे० “मचान” । उ०—(क) हमि संगर
माचत भयो मधुवन के सब ओर ।—गोपाल । (ख) द्वादस
दिवस चहुँ दिशि माच्यो फाय सकल प्रज भाँसि ।—सूर ।
(ग) बंदी कोसल्या दिसि प्राची । कीरति जानु सकल जग
माची ।—तुलसी । (घ) कहे पद्माकर त्यों तिनकी अवाहन
के, माचि रहे ओर सुरलोकन में सौर है ।—पद्माकर ।

माचलक्षी-वि० [हिं० मचलना] (१) मचलनेवाला । मिट्टी । हठी ।
उ०—महा माचल मारिये की सुकुच नाहिन मोहिं । पत्नी
हैं प्रण किने द्वारे छाज प्रण की तोहिं ।—सूर । (२) मचल ।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) मट्ट । (२) रोग । पीमारी । (३)
बंदी । कैदी । (४) चोर ।

माच्यो-संज्ञा पुं० [सं० मंच] बैठने की पीढ़ी जो खाद की तरह
हुनी होती है । यड़ी मचिया ।

माचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मक्खी । (२) भमड़े का दूध ।
माची-संज्ञा स्त्री० [सं० मंच] (१) हल जोतने का जुआ । यह
जुआ जो हल जोतते समय मलों के कंधे पर रखा जाता है ।
(२) पैल-गद्दी में यह ध्यान जहाँ गादीमान बैठता और

अपना सामान रखता है। (३) धैर्य की वह पीढ़ी जो रात की तरह चुनी हुई होती है।

माचीक-छंदा पुं० [सं०] देवदार।

माचीपत्र-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग जिसे मुरपण भी कहते हैं।

माछी-छंदा पुं० [सं० मत्स्य] मछली। उ०—चार मेनि धरा जस माछी—जायसी।

माछरछी-छंदा पुं० दे० "मच्छर"।

छंदा पुं० [सं० मत्स्य] मछली। उ०—बह कैलास इंद्र वर वायू। जहाँ न अन्न न माछर भौं—जायसी।

माछी-छंदा स्त्री० [सं० मत्स्य] (१) मछली। उ०—झँची रोटी कुचकुची परनी माछी वार। फुहर बही सराहिये परसन टपके वार।—गिरधर। (२) बंदूक की मछिया। यि० दे० "मछिया"।

माछी-छंदा स्त्री० [सं० मत्स्य] मछली। (क०)।

माजरा-छंदा पुं० [सं०] (१) हाल। बुचाल। (२) घटना।

माजू-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार की झाड़ी जो यूनान और फारस आदि देशों में बहुतायत से होती है। इसकी आगुति स्रोतों की सी होती है। इसकी झलकियों पर से एक प्रकार का गोंद निकलता है जो "माजूकल" कहलाता है और जिसका व्यवहार रंग तथा औषधि के लिये होता है।

माजून-छंदा स्त्री० [सं०] (१) औषध के रूप में काम आनेवाला बनेई मीठा अथलेह। (२) यह बरफी या अथलेह जिसमें भोज मिली हो।

माजूकल-छंदा पुं० [सं० माजू+कल] माजू नामक झाड़ी का गोदा या गोंद जो औषधि तथा रंगाई के काम में आता है। पय०—मायाकला। माईकल। सागरगोदा।

माट-छंदा पुं० [हि० मट्टा] (१) मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का बड़ा बरतन जिसमें रँगरेज लोग रंग बनाने हैं। इसे 'मटोर' भी कहते हैं।

मुहा०—माट बिगड़ जाना = किसी के बग़ावत या पैसा भिड़ जाना कि कमाया हुआ कर्मभंग हो।

(२) बड़ी मट्टी जिसमें घड़ी रखा जाता है। उ०—सिर दधि मानव के माट गावान गीन भये। कर शक्ति श्रद्धा बजाइ क्षय नैद भवन गये।—सूर।

माटा-छंदा पुं० [हि० मट] काल चूर्ण जिसके छंद के छंद आम के पेड़ों पर रहते हैं।

माटो-छंदा स्त्री० [हि० मट्टी] (१) दे० "मिट्टी"। (२) मिट्टी की जोलाई या कसकी मिट्टा। उ०—यह बंदूक माटो का बना है। (३) घन चरित। वायु। उ०—(क) कडवा गुनगा देखा देगा देना घन। दादु सो बहई गया माटो परी मगान। (ख) मनो भये बिदेस

को जहाँ न अपना कोय। माटी गाये जनार्णो महा मोच्य होय। (ग) काल भाइ दियराई सौरी। उँठि निचल छौंड़ि के माटी।—जायसी। (घ) शरीर। दे०। (५) पाँच तथ्यों के अंतर्गत पृथ्वी नामक तत्व। उ०—पानी परत भाग भद माटी। सब की पीठ तोर है सौरी।—जायसी। (६) धूल। रज। उ०—(क) गढ़ गिरि कूटि मने सप माटी। हस्ति होतन तहाँ का चोटी।—जायसी। (ख) मईति गरी मय ॥ की मृगमद साथ जू।—गुलसी। (गुहा० के लिये दे० "मिट्टी"।)

माठ-छंदा पुं० [हि० मीठा] एक प्रकार की मिठाई।

वियोष—मिठे की एक मोटी और बड़ी पूरी पकाकर टकर के पाग में उसे पाग गेते हैं। इसी को माठ कहते हैं। बड़ी मिठाई जय छोटे आकार में बनाई जाती है, तब उसे 'मटोरी' या 'दिकिया' कहते हैं। उ०—भद्र जो मिठाई बड़ी न जाई। मुर मेलन खन जाय बिलाई। मतलब छान भी मरकोरी। माठ पिराँके और मुँदरी।—जायसी।

छंदा पुं० [हि० मछली] मिट्टी का पात्र जिसमें कोई तत्व पदार्थ भरा जाय। मटकी। उ०—(क) मानो मीठ की माठ डूरी दूक ओर से चोँदनी बोरन आवत।—संतु करि। (ख) भरत जहाँ ही जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ, भंडुख मीठ ही की माठ सी बरत जान।—पद्माकर। (ग) रंगमिरछा खनि लखन सखा करि पछिले हैं औच माठ मानो पिय के।—गुलसी। (घ) दूट कंप सिर परे गितो। माठ मीठी जानु रण कोरे।—जायसी।

वियोष—बवित्त में यह वायु प्रायः कीलिंग ही मिलता है।

माटर-छंदा पुं० [सं०] (१) सूर्य के एक पारिवर्तक जो वन माने जाते हैं। (२) व्यास। (३) माधन। (४) कपल।

माटा-छंदा पुं० दे० "मटो" या "मटा"।

छंदा पुं० [हि०] हृष्य। कर्म।

माटी-छंदा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की बपास जो बंगाल, आसाम और संयुक्त प्रदेश में अधिकता से होती है। आजकल यह बपास बहुत मिठा खेती की मानी जाती है। उ०—सूर प्रभु को औरैर अनिही भई अवेर री, देग बधि लज्जित शंकर कान्ति माटी गग बरो भाई साज।—सूर।

माटो-छंदा पुं० [सं०] ताड़ की जाति का एक पेड़।

छंदा पुं० दे० "मिट्टी"।

माटूना स्त्री०—हि० मा० [सं० मट्टन] दानवा। मणवा। बरवा। उ०—(क) निरान चक्रवर्त को रहन मन में मनो पैनि अनिष्ट नो मुख माटूनी।—सूर। (ख) मट्टगुलन वा जिह्व भद भारि विन साधन सर। कर्मनिधि नव रति समक अवरो बिहई विचार।—हस्तिनि। (ग) तपो करि कृत्तर भव समधि होइ ह्य माटू।—केशव। (घ) ही दुष्ट

सों फिर युद्धहि माँदों । क्षत्रिय वंश को बैर छे छाँदों ।—

केशव । (६) मनोज मल माझी नामि कुंड में ।—देव ।

कि० सं० [सं० मंडन] (१) मंडित करना । भूपित करना ।

(२) धारण करना । पहनना । उ०—सुख शोकन छाँदी

भूषण माझी कीजै विविध बाधये ।—केशव । (२) आदर

करना । पूजना । उ०—ताते क्रपिराज सवै तुम छाँदी ।

भूदेव सनायन के पद माझी ।—केशव ।

कि० सं० [सं० मर्दन] (१) मर्दन करना । पैर या हाथ से

मसलना । मलना । उ०—कोउ काजर कोउ बदन माझी

हर्षहि करहि क्योलो ।—सूर । (२) घूमना । फिरना । उ०—

हर्दी वस्तु फिर ताहि न छाई । माखन हित सब के घर

माझै ।—विधाम ।

माझ-संज्ञा पुं० दे० "माँझी" वा "मंडप" ।

संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णसंकर जाति जो पुराणानुसार छेद

पिता और तीव्र माता के गर्भ से उत्पन्न है ।

माझा-संज्ञा पुं० [सं० मंज] (१) अटारी पर का वह चौबारा

जिसकी छत गोल मंडप के आकार की हो । (२) अटारी

पर का चौबारा (चाहे वह किसी बनावट का हो) ।

उ०—को पल्ला पीई को माझै । सोवनहार परा बैद माझै ।

—जायसी । (३) दे० "मज" ।

माझी-संज्ञा स्त्री० दे० "मदी" । उ०—अँगिया बनी हुचन सो

माझी ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] दाँतों का मूल ।

माणक-संज्ञा पुं० [सं०] मानकंद ।

माणतुंडिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जलपर पक्षी ।

माणव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य । आदमी । (२) बालक ।

बच्चा । (३) सोलह लड़ी का हार ।

माणयक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोलह वर्ष की अवस्थावाला

युवक । (२) धीस वा सोलह लड़ी का हार । (३) विधायी ।

पड़ । (४) निमित्त या नीच आदमी ।

माणयकीड़ा-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक पद में

आठ वर्ण (एक भगण, एक-लगण और दो लघु) होते हैं ।

माणिक-संज्ञा पुं० दे० "माणिक्य" ।

माणिक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल रंग का एक एक रत्न जो

"लाल" कहलाता है । पद्मराग । जुही । वि० दे० "लाल" ।

उ०—(क) परिपूर्ण सिंदूर पूर कैयों मंगल घट कियो शक्र

को छत्र मटरी माणिक मणूय पट ।—केशव । (ख) अनेक

राजा गणों के मुकुट-माणिक्य से सज्जदा जिनके पदतल लाल

रहते हैं, उन महाराज चंद्रगुप्त ने आपके चरणों में दंडवत

करके निवेदन किया है ।

पर्या०—रिवरलक । श्रंगारी । रंगमाणिक्य । तरंग । रत्ननायक ।

रत्न । सौमंषिक । ओहितिक । कुविन्द ।

(२) भाव प्रकाश के अनुसार एक प्रकार का कला ।

वि० सर्व० श्रेष्ठ । शिरोमणि । परम आदरणीय । उ०—नृप

माणिक्य सुदेश, दक्षिण तिय जिय भावती । कटि तट सुपट

सुदेश, कल काँची-मुम मंडई ।—केशव ।

माणिक्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] छिपकली ।

माणिक्य-संज्ञा पुं० [सं०] संधा नमक ।

माणिमंथ-संज्ञा पुं० [सं०] संधा नमक ।

मातंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी । (२) शयच । चांडाल ।

उ०—मद्रमत्त यदपि मातंग संग । अति तदपि पतित पावन

तरंग ।—केशव ।

विशेष—इस उदाहरण में श्लेष से यह शब्द दोनों अर्थों में

प्रयुक्त है ।

(३) एक कृषि का नाम जो शायरी के गुरु शौर मातंगी

देवी के उपासक थे । ये मीन रहा करते थे; इसी लिये

जिस पर्वत पर ये रहते थे, उसका नाम कल्पमूक पड़ गया

था । (४) अश्वत्थ । (५) संवर्त्तक मेघ का एक नाम । (६)

एक नाग का नाम ।

मातंगमक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बहुत बड़ा कुंभीर

(जलजंतु) ।

मातंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कल्प का एक कन्या । कहते

हैं कि हाथी इसी से उत्पन्न हुए थे । (२) तांत्रिकों के

अनुसार दस महाविद्याओं में से नवीं महाविद्या ।

मात-संज्ञा स्त्री० दे० "माता" । उ०—तात को न् मात को न

आत को कहा कियो ।—पद्माकर ।

संज्ञा स्त्री० [भ०] पराजय । हार । उ०—रविकुल रवि

प्रताप के आगे रिपुकुल मानत मात ।—राधाकृष्णदास ।

क्रि० प्र०—करना ।—देना ।

वि० [भ०] पराजित । उ०—(क) तुष-हम सुतर्ज याज

सों मेरो बस न बसाव । पातसाह मन को करै छपि सह

देखत मात ।—रसनिधि । (ख) देख्यो बादशाह माय, कृदि

परे गहे पाय, देखि करामात मात भये सय लोक हैं ।—

विश्वनाथसिंह । (ग) जासों मातलि मात अरुण गति जाति

सदा एक ।—गोपाल ।

स्ववि० [सं० भव] मद्रमत्त । मतवाला । (क०)

मातदिल-वि० [भ० जोषदिल] मध्यम प्रकृति का । जो गुण के

विचार से न बहुत उँडा हो और न बहुत गरम ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः ओषधियों या जल-वायु

आदि के संबंध में होता है ।

मातना-संज्ञा-क्रि० भ० [सं० मत्त] मन्न होना । मद्रमत्त हो

जाना । नरो में हो जाना । उ०—(क) जो भँववत मातहि

यूप तेई । नाहिन साधु समा जिन मेई ।—नुलसी । (ख)

पियन जाई मधु रसना मानत नैन । मुक्त भननुगनि भय-

रति कहत यनै न ।—रहीम । (ग) साधू रहै लगाये छाता ।
 - साहि देखि नृप अमरप माता ।—रघुराज ।
 मातबर-वि० [म० मोक्षितर] विश्वास करने योग्य । विश्वसनीय ।
 जैसे,—इन्हें रूपद दे दीतिव; ये मातबर आदमी हैं ।
 मातबरयो-छंदा स्त्री० [म०] मातबर होने का भाव । विश्वस-
 नीयता ।
 मातम-छंदा पुं० [म०] (१) मृतक का शोक । यह रोना-पीटना
 आदि जो किसी के मरने पर होता है । उ०—जय बादसाह
 मर जाता है, तो सारे मुल्क के आदमी सौ दिन तक मातम
 रराते हैं और कोई काम खुशी का नहीं करते ।—शिव-
 प्रसाद ।
 यो०—मातमपुत्तरी ।
 (२) किसी दुःखदायिनी घटना के कारण उत्पन्न शोक ।
 मातमपुत्तरी-छंदा स्त्री० [म०] जिसके यहाँ कोई मर गया हो,
 उसके यहाँ जाकर उसे दारस देने का काम । मृतक के
 संबंधियों को सात्वना देना ।
 मातमी-वि० [म०] मातम-संबंधी । शोक-बूझक । जैसे,—
 मातमी पोशाक, मातमी भूत, मातमी रंग ।
 मातमुल-वि० [दि०] मूल ।
 मातरिपुत्र-छंदा पुं० [सं०] यह जो केवल घर में अपनी माता
 आदि के सामने ही अपनी पीरता प्रकट करता हो, बाहर
 या औरों के सामने कुछ भी न कर सकता हो ।
 मातरिभ्रा-छंदा पुं० [सं० मातरिभ्र] (१) अंतरिक्ष में चलने-
 वाला, पवन । वायु । हवा । (२) एक प्रकार की अग्नि ।
 मातलि-छंदा पुं० [सं०] इंद्र के सारथी या रथ हाँकनेवाले का
 नाम । उ०—सुरपति निज रथ तुरल पठाया । हरष सहित
 मातलि लै आया ।—गुलसी ।
 यो०—मातलिग्न = ३६ ।
 मातलिग्न-छंदा पुं० [सं०] इंद्र । उ०—कौशिक वासव वृषदा
 गयवा मातलिग्न ।—नंददास ।
 मातली-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार के वैदिक देवता जो यम
 और पितरों के साथ उत्पन्न माने गए हैं ।
 मातहत-छंदा पुं० [म०] किसी की अधीनता में काम करने-
 वाला । अधीनस्थ कर्मचारी ।
 मातहृती-छंदा स्त्री० [म० मत्तहृ + ई (मत्त०)] मातहत या
 अधीनता में होने का काम या भाव ।
 माता-छंदा स्त्री० [सं० मातृ] (१) जन्म देनेवाली स्त्री । जननी ।
 उ०—अं बालक बहु संतति पाया । सुबह सुदिन मग
 निद्रु अह माता ।—गुलसी । (२) कोई पुरुष या आदु-
 र्भाव स्त्री स्त्री । (३) माँ । (४) भूमि । (५) त्वष्टि ।
 (६) मर्यादा । (७) तैयारी । (८) इंद्रधारिणी । (९) यदा-
 मायी । (१०) संतति । वंश ।

वि० [सं० मत्] [स्त्री० मातृ] मद्रमल । मद्रमल ।
 उ०—(क) भाउ गाँठ कोपीन के साथ ॥ माने शंक । मद्र
 अमल माता रहै गिरी इंद्र को रंक ।—कबीर । (ख) जे
 जगी जमुना जलधार में घाम घँसी जग केति की मानी ।
 —पद्माकर । (ग) चली सोनारि सोहान सोहानी । भी
 कलधारि प्रेम-मद माती ।—जायसी ।
 मातामह-छंदा पुं० [सं०] [स्त्री० मातृजो] माता का पिता ।
 नाना ।
 मातृ-छंदा स्त्री० [सं० मातृ] माता । माँ । जननी । उ०—
 (क) कवई करताल बजाय के मातृ मातृ सब मन मोद
 मरै ।—गुलसी । (ख) गुलसी प्रभु भंजिहैं संधु प्रभु भूमि
 भाग सिय मातृ पितृ री ।—गुलसी ।
 मातुल-छंदा पुं० [सं०] [स्त्री० मातुल, मातुलानी] (१) मामा
 का भाई । मामा । उ०—कबीर मत मातुल विनीतन हू
 बार बार अंचल पसारि पिय पवि ठै लै हँ परी ।—गुलसी ।
 (२) पत्नी । उ०—(क) कमलपत्र मातुल चढ़ि । जब
 मुदि यह प्यान लगावे ।—सूर । (ख) है मृगाल मातुल
 उभे है कदली राम चिन पात ।—सूर । (३) एक प्रकार का
 धान । (४) एक प्रकार का सर्प । (५) मदन वृत्त ।
 मातुला, मातुलानी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) मामा की स्त्री ।
 मामी । (२) हान । (३) त्रिपुंजु । (४) माँग ।
 मातुलाहि-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का सर्प ।
 मातुली-छंदा स्त्री० [सं०] (१) मामा की स्त्री । मामी ।
 (२) माँग ।
 मातुलुंग-छंदा पुं० [सं०] चितौरा नीपु ।
 मातुलुंग-छंदा पुं० [सं०] [स्त्री० मातुलुंगी] मामा का लड़का ।
 ममेरा भाई ।
 मातृ-छंदा स्त्री० दे० “माता” ।
 मातृक-वि० [सं०] माता-संबंधी ।
 छंदा पुं० माता का भाई । मामा ।
 मातृकविद्वद-छंदा पुं० [सं०] पत्तुसाम ।
 मातृका-छंदा स्त्री० [सं०] (१) वृष विलम्बवासी स्त्री । पाव ।
 (२) माता । जननी । (३) उपमाता । गौरीजी माता ।
 (४) तमिःकी स्त्री के साथ देवियों—माही, माहिनी,
 बीमारी, विष्णुकी, वाराही, इंद्राणी और चामुंडा । (५) वन-
 माता की वारहवस्त्री । (६) वंशी पर की आर विजि
 नत ।
 मातृकावृद्ध-छंदा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार गुहा का दूध
 कोड़ा या मन की चट्टन छोड़े कभी हो होता है ।
 मातृकजट-छंदा पुं० [म०] माता ।
 मातृगंधिनी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) विमाता । तमिःकी माता ।
 (२) रिता की उपवर्गी ।

मातृतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] हथेली में सब से छोटी उँगली के नीचे का स्थान ।

मातृदेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक देवी का नाम ।

मातृन्दन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय । (२) महाकरंज का पेड़ ।

मातृन्दा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शकों की एक देवी का नाम ।

मातृपालित-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।

मातृपूजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मातृपूजन विवाह की एक रीति जिसमें विवाह के दिन से एक वा दो दिन पूर्व छोटे छोटे मीठे एवं बनाकर पितरों का पूजन किया जाता है, इसी को 'मातृ-पूजा' या 'मातृकापूजन' कहते हैं ।

मातृघृषु-संज्ञा पुं० [सं०] माता के संबंध का कोई आत्मीय ।

मातृभापा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह भापा जो बालक माता की गोद में रहते हुए बोलना सीखता है । माता-पिता के बोलने की और सब से पहले सीखी जानेवाली भापा ।

मातृमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] दोनों आँखों के बीच का स्थान ।

मातृमाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मातृमातृ । (१) माता की माता । मायी । (२) दुर्गा ।

मातृयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जो मातृकाओं के उद्देश्य से किया जाता है ।

मातृरिपु-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार एक दीप जो संतान के ऐसे बुरे लक्ष्म में जन्म लेने से होता है जिसके कारण माता पर संकट आने या उसके प्राण चले जायें ।

मातृशस्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय ।

मातृशासित-वि० [सं०] मूर्ख ।

मातृश्वसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मातृश्वसु । माँ की बहन । मासी । मासी ।

मातृश्वसेय-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री०] मातृश्वसेयी । माँ की बहन का लड़का । माँसिरा भाई ।

मातृसपत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीतेली माता । विमाता ।

मात्र-प्रत्य० [सं०] केवल । भर । सिर्फ । जैसे,—नाम मात्र । तिल मात्र । उ०—(क) रहे तुम सत्य कहावत मात्र । अथ सह सत्य करी सब गात्र —गोपाल । (ख) केवल भक्त चारि दुग करे । तिनके जे हैं चरित घनेरे । सोई मात्र कर्यौ यहि माहौ । कछु कया उपयोगिन काहौ ।—रघुराज ।

मात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिमाण । मिक्दर । जैसे—इसमें पानी की मात्रा अधिक है । (२) एक बार खाने योग्य औषध ।

(३) उतना काल जितना एक ह्रस्व अक्षर का उच्चारण करने में लगता है । छंदःशास्त्र में इसे मत्त, मत्ता, कल या कला भी कहते हैं । (४) यारहलक्षी लिखते समय वह स्वर-सूचक रेखा जो अक्षर के ऊपर या आगे-पीछे लगाई जाती है । (५) किसी चीज़ का कोई निश्चित छोटा भाग । (६)

हाथी, घोड़ा आदि । परिच्छद । (७) कान में पहनने का एक आभूषण । (८) इंद्रिय जिसके द्वारा विषयों का अनुभव होता है । (९) शक्ति । (१०) अवयव । अंग । (११) रूप । (१२) संगीत में गीत और वाद्य का समय-निरूपित करने के लिये उतना काल जितना एक स्वर के उच्चारण में लगता है ।

विशेष—एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे ह्रस्व मात्रा कहते हैं; दो ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे दीर्घ मात्रा कहते हैं; और तीन अथवा उससे अधिक स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे लुप्त मात्रा कहते हैं ।

मात्रावसिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक की एक क्रिया जिसमें रोगी को दस्त कराने के लिये उसकी गुदा में पिचकारी आदि से तेल आदि मिला हुआ कोई तरल पदार्थ भरते हैं ।

मात्रासमक-संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद जिसके प्रत्येक वरण में १६ मात्राएँ और अंत में गुरु होता है । चौपाई नामक छंद के मत्तसमक, बानवासिका, चित्रा और विशोक नामक चार भेद इसी के अंतर्गत हैं ।

मात्रिक-वि० [सं०] (१) मात्रा संबंधी । मात्रा का । (२) मात्राओं के हिसाबवाला । जिसमें मात्राओं की गणना की जाय । जैसे—मात्रिक छंद ।

मातस्वी-संज्ञा पुं० [सं०] मत्सर का भाव । किसी का मुख वा उसकी संपदा न देख सकने का स्वभाव । किसी को अच्छी दृष्टा न देखकर जलना । ईर्ष्या । डाह ।

मातस्य-वि० [सं०] मछली संबंधी । मछली का ।

संज्ञा पुं० एक क्षत्रि का नाम ।

मातस्यिक-संज्ञा पुं० [सं०] मछली मारनेवाला । मछुआ ।

माथ-संज्ञा पुं० दे० "माथा" ।

माथा-संज्ञा पुं० [सं०] मस्तक । (१) सिर का ऊपरी भाग । मस्तक ।

मुहा०—माथा कूटना = दे० "माथा पीटना" । माथा घिसना = नम्रता प्रकट करना । भिन्न सुचारु करना । माथा खपाना या खाली करना = बहुत अधिक समझाना या सीखाना । सिर खपाना । मगन-पथी करना । (किसी के आगे) माथा धुकाना या नवाना = बहुत अधिक नम्रता या अधीनता प्रकट करना । माथा टेकना = सिर झुककर प्रणाम करना । माथा टनकना = पहले से ही किसी दुर्घटना या विपरीत बात होने की आशंका होना । माथा चुनना = दे० "माथा पीटना" । माथा पीटना = सिर पर हाथ मारकर बहुत अधिक दुःख या शोक करना । माथा रगड़ना = दे० "माथा घिसना" । माथे चढ़ाना या धरना = शिरोधार्य करना । सादर स्वीकार करना । उ०—मम आयसु मम माथे धरी । छल बल करि मम कारज करी ।—सूर । माथे टीका होना = किसी प्रकार की विशेषता या अभिष्टता होना ।

रति कहत मन न ।—रहीम । (ग) साधू रहै लगाये छाता ।
ताहि देखि नृप अमरप माता ।—रघुराज ।

मातवर-वि० [अ० मोतवरि] विश्वास करने योग्य । विश्वसनीय ।
जैसे,—इन्हें रूप्य दे दीजियुं, ये मातवर आदमी हैं ।

मातवरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] मातवर होने का भाव । विश्वसनीयता ।

मातम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मृतक का शोक । यह रोना-पीटना आदि जो किसी के मरने पर होता है । उ०—जब बादशाह मर जाता है, तो सारे मुल्क के आदमी सौ दिन तक मातम रखते हैं और कोई काम सुत्ती का नहीं करते ।—शिव-प्रसाद ।

यौ०—मातमप्रसूति ।

(२) किसी दुःखदायिनी घटना के कारण उत्पन्न शोक ।
मातमप्रसूति-संज्ञा स्त्री० [अ०] जिसके यहाँ कोई मर गया हो, उसके यहाँ जाकर उसे धारस देने का काम । मृतक के संबंधियों को सार्वना देना ।

मातमी-वि० [अ०] मातम-संबंधी । शोक-सूचक । जैसे,—मातमी पोशाक, मातमी सुरत, मातमी रंग ।

मातमुख-वि० [हि०] मूर्ख ।

मातरिपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] यह जो केवल घर में अपनी माता आदि के सामने ही अपनी घोरता प्रकट करता हो, बाहर या औरों के सामने कुछ भी न कर सकता हो ।

मातरिभ्रा-संज्ञा पुं० [सं० मातरिभ्र] (१) अंतरिक्ष में चलने-वाला, पवन । वायु । हवा । (२) एक प्रकार की अग्नि ।

मातलि-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के सारथी या रथ हाँकनेवाले का नाम । उ०—सुरपति निज रथ सुत पठावा । हरप सहित मातलि छै आवा ।—तुलसी ।

यौ०—मातलिसूत = रत्न ।

मातलिसूत-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र । उ०—कौशिक वासव वृष्टहा मधवा मातलिसूत ।—नंददास ।

मातली-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के वैदिक देवता जो यम और पितरों के साथ उत्पन्न माने गए हैं ।

मातहत-संज्ञा पुं० [अ०] किसी की अधीनता में काम करने-वाला । अधीनस्थ कर्मचारी ।

मातहती-संज्ञा स्त्री० [अ० मातहत + ई (प्रत्य०)] मातहत या अधीनता में होने का काम या भाव ।

माता-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] (१) जन्म देनेवाली स्त्री । जननी । उ०—जो बालक कह सोतरि याता । सुनाई सुदित मन पितु अह माना ।—तुलसी । (२) कोई पुत्र या आवरणीय बच्चा स्त्री । (३) माँ । (४) भूमि । (५) विभूति । (६) छद्मी । (७) रवती । (८) ईश्वरार्पण । (९) जटा-मांसी । (१०) शाला । चैपक ।

वि० [सं० मतृ] [स्त्री० माती] मदमस्त । मतवाला ।

उ०—(क) आठ गौँठ कौपीन के साधु न माने शंक । नाम अमल माता रहै गिनै इंद्र को रंक ।—कबीर । (ख) जोर जगी जमुना जलधार में धाम धँसी जल केलि की माती ।—पद्माकर । (ग) चली सोनारि सोहाण सोहानी । औ कलवारि प्रेम-मद माती ।—जायसी ।

मातामह-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मागमही] माता का पिता । नाना ।

मातृ-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] माता । माँ । जननी । उ०—(क) कपहुँ करताल यमाय के नाचत मातृ ससै मन मोद भरी ।—तुलसी । (ख) तुलसी प्रभु भंजिहैं संसु धनु मुरि भाग सिप मातृ पिसी री ।—तुलसी ।

मातुल-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातुला, मातुलानी] (१) माता का भाई । मामा । उ०—कसी मत मातुल विभीषण हू बार बार-अंचल पसरारि पिय पाँप छै छै हीं परी ।—तुलसी । (२) धररा । उ०—(क) कमलपत्र मातुल बदायँ । नयन मँदिर यह प्यान लगायँ ।—सूर । (ख) द्वै मृगाल-मातुल उमे द्वै कदली खंभ पिन पात ।—सूर । (३) एक प्रकार का धान । (४) एक प्रकार का सोंप । (५) मदन वृक्ष ।

मातुला, मातुलानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मामा की स्त्री । मामी । (२) सन । (३) प्रियंगु । (४) माँ ।

मातुलाहि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सोंप ।

मातुली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मामा की स्त्री । मामी । (२) माँ ।

मातुलुंग-संज्ञा पुं० [सं०] विजोरा नीपू ।

मातुलेय-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातुलेयी] मामा का लड़का । भैया भाई ।

मातृ-संज्ञा स्त्री० दे० “मातर” ।

मातृक-वि० [सं०] माता-संबंधी ।

संज्ञा पुं० माता का भाई । मामा ।

मातृकच्छिद-संज्ञा पुं० [सं०] पशुराम ।

मातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूध पिलानेवाली दाई । धाय ।

(२) माता । जननी । (३) उपमाता । सीतेली माता ।

(४) तांत्रिकों की ये सात देवियाँ—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कोमारी, वैष्णवी, वाराही, इंद्राणी और चामुंडा । (५) वर्षा-माता की चारहखड़ी । (६) दोही पर की आठ विविध नर्त ।

मातृकाकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार गुदा का एक कोड़ा या मण जो बहुत छोटे बच्चों को होता है ।

मातृकेश्य-संज्ञा पुं० [सं०] मामा ।

मातृगंधिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विमाता । सीतेली माता ।

(२) पिता की उपपत्नी ।

मातृतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] हथेली में सब से छोटी उँगली के नीचे का स्थान ।
 मातृदेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्रिकों की एक देवी का नाम ।
 मातृनंदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय । (२) महाकर्ज का पेड़ ।
 मातृनंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शालों की एक देवी का नाम ।
 मातृपालित-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।
 मातृपूजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मातृपूजन विवाह की एक रीति जिसमें विवाह के दिन से एक या दो दिन पूर्व छोटे छोटे सींठे पूए बनाकर पितरों का पूजन किया जाता है। इसी को 'मातृ-पूजा' या 'मातृकापूजन' कहते हैं ।
 मातृवंधु-संज्ञा पुं० [सं०] माता के संबंध का कोई आत्मीय ।
 मातृभाषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह भाषा जो बालक माता की गोद में रहते हुए बोलना सीखता है। माता-पिता के बोलने की और सब से पहले सीखी जानेवाली भाषा ।
 मातृमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] दोनों आँखों के बीच का स्थान ।
 मातृमाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मातृमातृ] (१) माता की माता । नानी । (२) दुर्गा ।
 मातृयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जो मातृकाओं के उद्देश्य से किया जाता है ।
 मातृरिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार एक दोष जो संतान के पेटे बुरे लग्न में जन्म लेने से होता है जिसके कारण माता पर संकट आवे या उसके प्राण चले जायँ ।
 मातृवत्सल-संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय ।
 मातृशालित-वि० [सं०] मूख ।
 मातृप्वसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मातृप्वस] माँ की बहन । मासी । मासी ।
 मातृप्वसेय-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री०] मातृप्वसेयी] माँ की बहन का लड़का । मासीरा भाई ।
 मातृसपत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सौतेली माता । विमाता ।
 मात्र-प्रत्यय [सं०] केवल । भर । सिर्फ । जैसे,—नाम मात्र । तिल मात्र । उ०—(क) रहे तुम सत्य कहावत मात्र । अथ सह सत्य करीं सब मात्र ।—गोपाल । (ख) केवल भक्त पारि युग केरे । तिनके जे हैं चरित धनेरे । सोई मात्र कयौं भदि मोही । कलुक कया उपयोगिन कहीं ।—रघुराज ।
 मात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिमाण । मिकदार । जैसे—ह्रस्वमें पांजी की मात्रा अधिक है । (२) एक बार खाने योग्य औषध । (३) उतना काल जितना एक ह्रस्व अक्षर का उच्चारण करने में लगता है । छंदःशास्त्र में ह्रस्व मात्र, सप्ता, कल या कला भी कहते हैं । (४) बारहलड़ी छिछले समय वह स्वर-सूचक रेखा जो अक्षर के ऊपर या आगे-पीछे लगाई जाती है । (५) किसी चीज़ का कोई निश्चित छोटा भाग । (६)

हाथी, घोड़ा आदि । परिच्छद । (७) कान में पहनने का एक आभूषण । (८) इंद्रिय जिसके द्वारा विषयों का अनुभव होता है । (९) शक्ति । (१०) अवयव । अंग । (११) रूप । (१२) संगीत में गीत और वाद्य का समय निरूपित करने के लिये उतना काल जितना एक स्वर के उच्चारण में लगता है ।

विशेष—एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे ह्रस्व मात्रा कहते हैं; दो ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे दीर्घ मात्रा कहते हैं; और तीन अथवा उससे अधिक स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे झुत मात्रा कहते हैं ।

मात्रावस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक की एक क्रिया जिसमें रोगी को दस्त कराने के लिये उसकी गुदा में पिचकारी आदि से तेल आदि मिला हुआ कोई तरल पदार्थ भरते हैं ।

मात्रासमक-संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ और अंत में शुभ होता है । चौपाई नामक छंद के मत्समक, बानवासिका, चित्रा और विश्वोक्त नामक चार भेद इसी के अंतर्गत हैं ।

मात्रिक-वि० [सं०] (१) मात्रा संबंधी । मात्रा का । (२) मात्राओं के हिसाबवाला । जिसमें मात्राओं की गणना की जाय । जैसे—मात्रिक छंद ।

मातृस्य-संज्ञा पुं० [सं०] मातृ का भाव । किसी का सुलु वा उसकी संपत्ति न देख सकने का स्वभाव । किसी को अच्छी दृष्टि में देखकर जलना । ईर्ष्या । डाह ।

मातृस्य-वि० [सं०] मछली संबंधी । मछली का ।

संज्ञा पुं० एक ऋषि का नाम ।

मातृस्यक-संज्ञा पुं० [सं०] मछली मारनेवाला । मछुआ ।

माथ-संज्ञा पुं० दे० "माथा" ।

माथा-संज्ञा पुं० [सं०] मस्तक । (१) सिर का ऊपरी भाग । मस्तक ।

मुहा०—माथा कूटना = दे० "माथा पीटना" । माथा पिसना = नम्रता प्रकट करना । मिन्नता सुरापान करना । माथा खपाना या खाली करना = बहुत अधिक समझाना या सोचना । सिर खपाना । मगज-पथी करना । (किसी के भागे) माथा छुकाना या नवाना = बहुत अधिक नम्रता या क्षीयता प्रकट करना । माथा ठेकना = सिर झुककर प्रणाम करना । माथा ठगकना = पहले से ही किसी दुर्बलता या बिपरीत बात होने की चाराका होना । माथा धुनना = दे० "माथा पीटना" । माथा पीटना = सिर पर हाथ मारकर बहुत अधिक दुःख या शोक करना । माथा रगड़ना = दे० "माथा पिसना" । माथा धुनना या धरना = शिरोधार्य करना । सादर स्वीकार करना । उ०—मम आयु तुम माथे धरी । छल बल करि मम काज करी ।—सूर । माथे टीका होना = किसी प्रकार की शिरोपना या ऋण होना ।

जैसे—वधा तुम्हारे माथे टीका है जो तुम्हीं को सब चीजें दे दी जायें। माथे पद्मना = उचरदायिन् आभूषणा । ऊपर आ पद्मना । जैसे—वह तो स्विसक गण्ड; अब सब काम हमारे माथे आ पद्म । माथे पर पद्मना = दे० “सिर पर पद्मना” । माथे पर चल पद्मना = छात्रि से मोक्ष, दुष्ट या अव्यवस्था आदि के चिह्न प्रकट होना । राक्ष से नाराजगी जाहिर होना । जैसे—रूपण की बात सुनते ही उनके माथे पर चल पद्म गण्ड । माथे भाग होना = भाग्यवान् होना । सकृद्वर होना । माथे मद्मना = गले बाँधना । गले मद्मना । ज्वरदस्ती देना । माथे मानना = शिरोधार्य करना । सादर स्वीकार करना । उ०—(क) कह रवि सुत मम फारज होई । माथे मानि करव हम सोई—सखलसिंह । (ख) सुरदास प्रभु के जिये भावै आसु माथे मानि ।—सुर । माथे मारना = बहुत ही उपेक्षा या तिरस्कारपूर्वक मिसा को डुब देना । बहुत तुच्छ भाव से देना । जैसे—यह रोज़ तगादा करता है; उसकी किताब उसके माथे मारी ।

यौ०—माथा-पच्ची या माथा-पिट्टन = बहुत अधिक बढ़ना या समझना । सिर खपाना । मजबूत-पच्ची करना ।

(१) यह चित्र आदि जिसमें मुख और मस्तक की भाकृति यनी हो । (लक्ष०) (३) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी भाग । जैसे—नाव का माथा, अलमारी का माथा ।

मुहा०—माथा मारना = जहान का वायु के विपरीत इस प्रकार घोर मारफर चलना कि मरनु, जान तथा ऊपरी भागों पर बहुत और पड़े ।

(४) यात्रा । सफर । खेप । (लक्ष०) ।

पंथा पुं० [दे०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा ।

माथुर-पंथा पुं० [सं०] [ली० माथुराणी] (१) मथुरा का निवासी । वह जो मथुरा का रहनेवाला हो । (२) प्राणियों की एक जाति । बिये । (३) कामर्यों की एक जाति । (४) वैद्यों की जाति । (५) मथुरा जात । वि० मथुरा संघी । मथुरा का ।

माथे-कि० वि० [हि० माथा] (१) माथे पर । मस्तक पर । सिर पर । उ०—नागरि गूलरि उमि लीनो मेरो लाल मोरोचन को तिलक माथे मोहनी ।—हरिदास । (२) भरोसे । सहारे पर । उ०—सो जनु हमरे माथे कावा । दिन चलि गपट प्योत्र बहु बाका ।—गुलसी ।

माथेछाँ-कि० वि० दे० “माथे” ।

माद-पंथा पुं० [सं०] (१) अनिमान । बेस्ती । घमंड । (२) हर्ष । प्रसन्नता । (३) मत्तता । मस्ती ।

पंथा पुं० [दे०] छोटा रस्सा । (लक्ष०) ।

मादक-वि० [सं०] नशा उत्पन्न करनेवाला । जिससे नशा हो । नशीला ।

पंथा पुं० (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का अन्न जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसके प्रयोग से शत्रु में प्रमाद उत्पन्न होता था । (२) वह चीज जिसके खाने से मत्ता हो । नशा उत्पन्न करनेवाला पदार्थ । जैसे—अफीम, भाँग, शराब आदि । (३) एक प्रकार का हिरन ।

मादकता-पंथा ली० [सं०] मादक होने का भाव । नशीलपन । उ०—कनक कनक तैं सोगुनी मादकता अधिकप । वह खाद वीरत है, यह पाप वीरताय ।

मादन-पंथा पुं० [सं०] (१) लौंग । (२) मदन वृक्ष । (३) कामदेव । (४) धनुरा ।

मादनी-पंथा ली० [सं०] भाँग ।

मादनीय-वि० [सं०] मादकता उत्पन्न करनेवाला । मादक । नशील ।

मादर-पंथा ली० [का० मि० सं० मांर] माँ । माता । जननी ।

मादरज़ाद-वि० [का०] (१) जन्म का । पैदावाही । जैसे—मादरज़ाद अंधा । (२) एक माँ से उत्पन्न । सहोदर । (भाई) (३) जैसा माँ के पेट से निकला था, वैसा ही । बिल्कुल गंगा । दिगंबर ।

मादरिया-पंथा ली० दे० “मादर” उ०—सासु नगदि मिळि अदल चलाई । मादरिया घर पैदी भाई ।—कबीर ।

मादा-पंथा ली० [का०] स्त्री जाति का प्राणी । नर का उल्टा । जैसे,—(क) सौँह की मादा गाय कहेलाती है । (ख) इस कव्तर की मादां कहीं खो गई है ।

चिरोप-इस शब्द का व्यवहार बहुधा जीव-जंतुओं के लिये ही होता है ।

मादिकल-वि० दे० “मादक” ।

मादिकला-पंथा ली० दे० “मादकता” ।

मादिनी-पंथा ली० दे० “मादा” ।

मादी-पंथा ली० दे० “मादा” ।

मादीनी-पंथा ली० दे० “मादा” ।

मादा-पंथा पुं० [सं०] (१) वह मूल तत्त्व जिससे कोई पदार्थ बना हो । (२) शब्द की व्युत्पत्ति । शब्द का मूल । (३) योग्यता । जैसे,—आप में यह बात समझने का मादा ही नहीं है । (४) मवाद । पीय ।

माद्वत्ती-पंथा ली० [सं०] राजा परीक्षित की स्त्री का नाम ।

माद्रिमुत-पंथा पुं० [सं०] नकुल और सहदेव ।

माद्री-पंथा ली० [सं०] (१) पांडु राजा की पत्नी और नकुल तथा सहदेव की माता जो मद्र के राजा की कन्या थी । (२) राजा पांडु के मरने पर यह उनके साथ सती हुई थी । (३) अनिविधा । अतीत ।

माद्रेय-पंथा पुं० [सं०] माद्री के पुत्र नकुल और सहदेव ।

माधय-पंथा पुं० [सं०] (१) विष्णु भगवान् । नारायण । (२)

वैताल मास । उ०—क्रियो गवध जनु दिननाथ उत्तर
सन साधु माधव लिये ।—तुलसी । (३) वसंत कतु ।
(४) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में ८ जगण
होते हैं । इसी का दूसरा नाम 'मुक्तहरा' है । (५) एक राग
जो शैरव राग के आठ पुत्रों में से एक माना जाता है ।
(६) एक प्रकार का संकर राग जो मल्लार, विलावल और
नट नारायण को मिलाकर बनाया गया है । (७) मधुक वृक्ष ।
मधुआ । (८) काला उर्द ।

माधवक-संज्ञा पुं० [सं०] मधुप की शराव ।

माधविका-संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी लता ।

माधवी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध लता जिसमें इसी
नाम के प्रसिद्ध सुगंधित फूल लगते हैं । यह चमेली का
एक भेद है । वैद्यक के अनुसार यह कटु, तिक्त, कषाय,
मधुर, शीतल, लघु और पित्त, खाँसी, प्रण, दाह आदि
की नाशक मानी जाती है । (२) ओड्ड जाति की एक
रागिनी जिसमें गांधार और धैवत वर्जित हैं । (३) सवैया
छंद का एक भेद । (४) एक प्रकार की शराव । (५) तुलसी ।
(६) दुर्गा । (७) माधव की पत्नी । (८) कुटनी । (९)
शाहद की धनी ।

मधवीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी नामक सुगंधित फूलों की
लता । वि० दे० "माधवी (१)" ।

माधवीद्वय-संज्ञा पुं० [सं०] शिरनी का पेड़ ।

माधी-संज्ञा पुं० [देश०] शैरव राग के एक वृत्त का नाम । (संदिग्ध)

माधुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मैत्रेयक नाम की वर्णसंकर जाति ।

(२) मधुप की शराव ।

माधुपार्किक-संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जो मधुपर्क देने के
समय दिया जाता है ।

माधुर-संज्ञा पुं० [सं०] मल्लिका । चमेली ।

माधुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] माधुरी । मधुरता । मिठास । उ०—
ए मलि धा दलि के अघराणि में आनि मदी कछु माधुरई
सी ।—पद्माकर ।

माधुरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मधुरता । मीठापन । मिठास ।
उ०—गिती चारुता कोमलता सुकुमारता माधुरता अघरा
में अहै ।

माधुरिया-संज्ञा स्त्री० दे० "माधुरी" । उ०—लक्षण को बकसी
कछु चासि सुमालि के माधुरिया अधिकाहै ।—रघुराज ।

माधुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मिठास । (२) माधुर्य । शोभा ।
सुंदरता । उ०—(क) माधव मलि चहुँ बंधु की जल माधुरी
सुवास ।—तुलसी । (ख) रामचंद्र की देसि माधुरी दर्पण
देख दिगवाई ।—पूर । (३) मध । शराव ।

माधुर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधुर होने का भाव । मधुरता ।
(२) सुंदरता । लालच । (३) मिठाई । मिठास । मीठापन ।

(४) पांचाली रीति के अंतर्गत काव्य का एक गुण जिसके
द्वारा चित्त बहुत ही प्रसन्न होता है । यह शृंगार, करुण
और शान्त रस में ही अधिक होता है । ऐसी रचना में
माधव ट, ठ, ड, ड और ण नहीं रखते; क्योंकि इनसे
माधुर्य का नाश होना माना जाता है । "उपनागरिका"
वृत्ति में यह गुण अधिकता से होता है । (५) सौत्त्विक नायक
का एक गुण । बिना किसी प्रकार के शृंगार आदि के ही
नायक का सुंदर जान पड़ना । (६) वाक्य में एक से अधिक
अर्थों का होना । वाक्य का श्लेष ।

माधुर्य-प्रधान-संज्ञा पुं० [सं०] गाने का एक प्रकार । वह गाना
जिसमें माधुर्य का अधिक ध्यान रखा जाय और उसके शुद्ध
रूप के बिगड़ने की परवाह न की जाय ।

माधूक-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक वर्ण संकर जाति
का नाम । इस जाति के लोग मधुर शब्दों में लोगों की
प्रशंसा करते हैं; इसी लिये ये "माधूक" कहलाते हैं । कुछ
लोग "बन्दी" को ही "माधूक" मानते हैं ।

माधैया-संज्ञा पुं० दे० "माधव" । उ०—हरि हित मेरी
माधैया । वैहरी चढ़त परत गिरि गिरि कर पल्लव जो गहत
है री मिया ।—सूर ।

माधो-संज्ञा पुं० [सं०] माधव । (१) श्रीकृष्ण । उ०—(क) जब
माधो होइ जात सकल तनु राधा बिरह दहै ।—सूर । (ख)
शरीर नाह कर जोरि कबो तब नारद सभा सहैस । तक्षक
भीम धनंजय माधो धन्य द्विजन की भैस ।—सूर । (३)
श्री रामचंद्रजी । उ०—आधो पल माधो जू के देखे बिन
सोई शक्ति सीता को यदन कहूँ होत दुखदाई है ।—केशव ।

माधी-संज्ञा पुं० दे० "माधव" ।

माध्यंदिन-संज्ञा पुं० [सं०] दिन का मध्य भाग । मध्याह्न ।
दोपहर ।

माध्यंदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शुद्ध यजुर्वेद की एक शाखा
का नाम ।

माध्यंदिनीय-संज्ञा पुं० [सं०] नारायण । परमेश्वर ।

माध्यम-वि० [सं०] मध्य का । जो मध्य में हो । बीचवाला ।
संज्ञा पुं० वह जिसके द्वारा कोई कार्य संपन्न हो । कार्यसिद्धि
का उपाय या साधन ।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुत हाल में
होने लगा है ।

माध्यमिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बौद्धों का एक भेद । इस वर्ग
के बौद्धों का विश्वास है कि सब पदार्थ धन्य में उत्पन्न
होते हैं और अंत में धन्य हो जाते हैं । बीच में जो कुछ
प्रतीत होता है, वह केवल उसी समय तक रहता है; पश्चात्
सब धन्य हो जाता है । जैसे 'घट' उत्पत्ति के पूर्व न तो
था और टूटने के पश्चात् ही रहता है । बीच में जो ज्ञान

होता है, वह चित्त के पदार्थों में जाने से नष्ट हो जाता है। अतः एक शून्य ही तत्त्व है। इनके मत से सब पदार्थ क्षणिक हैं और समस्त संसार स्वप्न के समान है। जिन लोगों ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने नहीं प्राप्त किया है, उन दोनों को ये लोग समान ही मानते हैं।
(२) मध्य देहा। (३) मध्य देहन का निवासी।

भाष्यस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो दो मनुष्यों या पक्षों के बीच में पड़कर किसी पाद-विवाद आदि का निपटारा करे। पंच। विचरह। मध्यस्थ। (२) दलाल। (३) कुटना।
(४) व्याह करानेवाला ब्राह्मण। बरेली।

भाष्यस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] मध्यस्थ होने का भाव। मध्यस्थता।
भाष्यार्कपर्य-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी के मध्य भाग का वह आकर्षण जो सदा सब पदार्थों को अपनी ओर खींचता रहता है और जिसके कारण सब पदार्थ गिरकर जमीन पर आ पड़ते हैं।

विशेष-इंग्लैंड के प्रसिद्ध तात्ववेत्ता न्यूटन ने बृहत् से एक सेब को जमीन पर गिरते हुए देखकर यह सिद्धांत स्थिर किया था कि पृथ्वी के मध्य भाग में एक ऐसी आकर्षण शक्ति है, जिसके द्वारा सब पदार्थ, यदि बीच में कोई चीज बाधक न हो तो, उसकी ओर खिंच आते हैं।

भाष्याहिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह कार्य जो ठीक मध्याह्न के समय किया जाता हो। ठीक दोपहर के समय किया जाने-वाला कार्य, विशेषतः धार्मिक कृत्य।

भाष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धैर्यों के चार मुख्य संप्रदायों में से एक जो मध्याह्न का चलाया हुआ है। इस मतवाले काका तिलक लगाते हैं और प्रति वर्ष चक्रांकित होते रहते हैं।
(२) महुष की शराब। (३) मधुर-कंटक नाम की मछली।

भाष्यक-संज्ञा पुं० [सं०] महुष की शराब।
भाष्यी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा। शराब। (२) वह शराब जो महुष से बनाई जाती है। (३) मधुरकंटक नाम की मछली। (४) पुराणानुसार एक नदी का नाम।
भाष्यीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महुष की शराब। (२) मधु। मकरंद। (३) दास की शराब। (४) सेम।

भाष्यीका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेम।
भाष्यीमधुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठी शराब।
मान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का भार, तोल या नाप आदि। परिमाण। निकटार। (२) वह साधन जिसके द्वारा कोई चीज नापी या तोली जाय। पैमाना। डैसे,—मात्र, मेर आदि। (३) किसी विषय में वह समझना कि हमारे समान कोई नहीं है। अभिमान। अहंकार। गर्व। नेछी।
(व्यापकमान के अनुसार जो गुण अपने में न हो, उमे

भ्रम से अपने में, समझकर उसके कारण दूसरों से अपने आपको श्रेष्ठ समझना मान कहलाता है।)

मुहा०—मान मयना = मान भंग करना। गर्व चूर्ण करना। रोना तोड़ना। उ०—इन जरासंध, मदभंभ मम मान मधि बैधि बिनु काज बल इहाँ आने।—सुर।

(४) प्रतिष्ठा। इज्जत। सम्मान। उ०—भोजन करत तु घर उनके राजे मान भोग टारत।—सुर।

मुहा०—मान रखना = इज्जत रखना। प्रतिष्ठा करना। उ०—कमरी थारे दाम की आबै बहुते काम। खासा मलमल बाफता उन कर राखे मान।—गिरधर।

यौ०—मान-महत्त = भादुर-सत्कार। प्रतिष्ठा।

(५) साहित्य के अनुसार मन में होनेवाला वह विकार जो अपने प्रिय व्यक्ति को कोई दोष या अपराध करते देखकर होता है। मान यहूधा खियाई ही करती हैं। अपने प्रेमी को किसी दूसरी स्त्री की ओर देखते अथवा उससे बातचीत करते देखकर, कोई अभिलषित पदार्थ न मिलने पर अथवा कोई कार्य इच्छानुसार न होने पर ही प्रायः मान किया जाता है। यह लज्ज, मध्यम और गुरु तीन प्रकार का कहा गया है। रुठना। उ०—विधि विधि के निकरी टरे नहीं परोह पान। चिते किते हैं ले पच्यो इती इते तन मान।—विहारी।

मुहा०—मान मनाना = दूसरे का मान झूट करना। रटे हुए की मनाना। उ०—चरी चारि परम सुजाण विष्य प्यारी रीति, मान न मनाओ मानिनी की मान देखि रह्यो।—रघुनाथ।
मान मोरना = मान का त्याग करना। मान झौट देना। उ०—मुख को निहारो जो न मान्यो सो भली करी न कैतोराय की सीं तोहि जो नू मान मोरिहै।—केशव।

(१) पुराणानुसार पुष्कर द्वीप के एक पर्वत का नाम।
(७) सामर्थ्य। शक्ति। (८) उत्तर दिशा के एक देश का नाम। (९) ग्रह। (१०) मंत्र। (११) संगीत-शास्त्र के अनुसार ताल में का विराम जो सम, विषम, अतीत और अनागत चार प्रकार का होता है।

मानकंद-संज्ञा पुं० [सं०] मानक। (१) एक प्रकार का मीठा कंद जो बंगाल में बहुत अधिकता से होता है। यह प्रायः सरकारी के रूप में या दूसरे अनाजों के साथ मिलाया जाता है। यह बहुत जल्दी पचता है, इसलिये दुर्बल रोगियों आदि के लिये बहुत लाभदायक होता है। कहीं कहीं भारोद या सागूदाने की जगह भी इसका व्यवहार होता है। यह खुट्टा, विरेचक, मूत्रकारक और यवासी तथा कज्जित के लिये बहुत उपयोगी माना जाता है। (२) एक प्रकार की मिछी जो साखिल मिछी के नाम से बागारों में मिलती है।

मानक-संज्ञा पुं० [सं०] मानकपञ्च। मानकंद।

मानकपञ्च-संज्ञा पुं० दे० "मानकंद"।

मानकलह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईर्ष्या । डाह । (२) प्रतिद्वंद्विता ।

चढ़ा-ऊपरी ।

मानक्रीडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूदन के अनुसार एक प्रकार का छंद । उ०—यदन सुत पाहैं । भरतपुर जाहैं । थपित सिरदार कौं । जतन पितरार कौं ।—सूदन ।

मानगृह-संज्ञा पुं० [सं०] रूठकर बैठने का स्थान । कोपभवन । उ०—येही जाय एकांत भवन में जहाँ मानगृह चार ।—सूर ।

मानप्रथि-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपराध । गुर्म ।

मानचित्र-संज्ञा पुं० [सं०] किसी स्थान का बना हुआ नक्शा । जैसे,—दशिया का मानचित्र ।

मानज-संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध ।

वि० मान से उपपन्न ।

मानतव-संज्ञा पुं० [सं०] खेतपापड़ा ।

मानता-संज्ञा स्त्री० [हिं० मानना + ता (पठ०)] मनौती । मन्नत । कि० प्र०—उतारना ।—चढ़ाना ।—मानना ।

मानदंड-संज्ञा पुं० [सं०] वह डंडा या लकड़ी जिससे कोई चीज नापी जाय ।

मानद-संज्ञा पुं० [सं०] विषय ।

मानदुम-संज्ञा पुं० [सं०] सेमल का पेड़ ।

मानधन-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत बड़ा अभिमानी हो ।

मानघाता-संज्ञा पुं० दे० "मांघाता" ।

मानधानिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी ।

मानना-कि० प्र० [सं० मानन] (१) अंगीकार करना । स्वीकार करना । मंजूर करना । जैसे,—(क) हम मानते हैं कि आप उनकी छुट्टी नहीं कर रहे हैं । (ख) मान न मान, मैं तेरा मेहमान । (कहा०) (२) कल्पना करना । फनं करना । समझना । जैसे,—मान लीजिए कि हम लोग वहाँ न जा सकें; तो फिर क्या होगा ? (३) ध्यान में लाना । समझना । जैसे,—बुरा मानना । भला मानना ।

संयो० कि०—जाना ।—लेना ।

(४) ठीक मार्ग पर आना । अनुकूल होना । जैसे,—यह लड़का सीधी तरह से नहीं मानेगा ।

संयो० कि०—जाना ।

कि० सं० (१) कोई बात स्वीकृत करना । कुल मंजूर करना । जैसे,—आप किसी का कहना ही नहीं मानते । (२) किसी को पूज्य, आदरणीय या योग्य समझना । किसी के बड़प्पन या शिष्यावृत्त का कायल होना । आदर करना । जैसे,—(क) उन महात्मा को यहाँ के बहुत से लोग मानते हैं । (ख) लड़ाई सगढ़ा लगाने में मैं तुम्हें मानता हूँ ।

विशेष—कमी कमी कलाओं को छोड़कर उसके गुण या कार्य के संबंध में भी इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग होता है ।

जैसे,—उनका गाना-प्रजाना अच्छे अच्छे उस्ताद मानते थे ।

(३) दक्ष समझना । पारंगत समझना । उस्ताद समझना ।

(४) धार्मिक दृष्टि से श्रद्धा या विश्वास करना । जैसे,—

शिव को माननेवाले शैव कहलाते हैं । (५) वेचंता आदि की भेंट करने का प्रण करना । चढ़ावा चढ़ाने आदि का हठ संकल्प करना । मन्नत करना । जैसे,—१) के लड़कूँ गणेशजी की मानो तो इम्तहान में पास हो जाओगे । (६) स्थान में लाना । समझना । जैसे,—यह तो किसी को कुछ भी नहीं मानता । (७) स्वीकृत करके अनुकूल कार्य करना । जैसे,—

शिवरात्रि किसी ने आज मानी है और किसी ने कल । (८) किसी पर बहुत अनुरक्त होना । किसी के साथ बहुत प्रेम करना । (बाबुरक)

माननीय-वि० [सं०] [स्त्री० माननीया] जो मान करने के योग्य हो । पूजनीय । आदरणीय । मान्य ।

मामपात-संज्ञा पुं० दे० "मानकंद" ।

मानभाष-संज्ञा पुं० [सं०] बोलचाल । नवरा ।

मानमंदिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिखाँ के रूठकर बैठने का एकान्त स्थान । (२) वह स्थान जिसमें ग्रहों आदि का वैद्य करने के ग्रंथ तथा सामग्री हो । वैद्यशाला ।

मानमनौती-संज्ञा स्त्री० [हिं० मान + मनौती] (१) मानता । मन्नत । मनौती । (२) पारस्परिक प्रेम । (३) रुठने और मगाने की क्रिया ।

मानमरोर-संज्ञा स्त्री० [हिं० मान + मरोर] मन-मुटाव । रंजिश । उ०—राधे सुजान हूँ चित दै हित में कत कीजतु मानमरोर है ।—बनारस ।

मानमान्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] इज्जत । प्रतिष्ठा ।

मानमोचन-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य के अनुसार रुठे हुए प्रिय को मगाना जो नीचे लिखे छः उपायों के द्वारा बतलाया गया है—(१) साम, (२) दाम, (३) भेद, (४) प्रणति, (५) उपेक्षा, और (६) प्रसंग-विच्यंस ।

मानरंध्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जल-घड़ी जिसका व्ययहार प्राचीन काल में समय जानने के लिये होता था ।

विशेष—इसमें एक छोटा कटोरा होता था जिसके पेंदे में एक छोटा सा छेद होता था । यह कटोरा किसी बड़े जल-पात्र में छोड़ दिया जाता था और उस छेद के द्वारा धीरे धीरे कटोरे में पानी भरने लगता था । यह कटोरा ठीक एक दंड या घड़ी में भर जाता था और पानी में डूब जाता था । फिर उसे निकालकर खाली करके उसी प्रकार पानी में छोड़ देते थे और इस प्रकार समय का निरूपण करते थे ।

मानव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनु से उत्पन्न, मनुष्य । आदमी । मनुज । (२) १४ माप्राणों के छंदों की संज्ञा । इनके १११ भेद हैं ।

मानवक-संज्ञा पुं० [सं० मानव] (१) छोटे कद का आदमी ।
 बामन । सीना । (२) शुद्ध आदमी ।

मानवत्-संज्ञा पुं० [सं०] [खो० मानवत्] वह जो मान करता हो । रुढ़ा हुआ ।

मानवपति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

मानवजित-वि० [सं०] नीच । अप्रतिष्ठित ।

मानवचित्त-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन देश का नाम जो पूरे विश्व में था । जैनों के हरिवंश के अनुसार यह देश वर्तमान मानभूमि है ।

मानव शास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] यह शास्त्र जिसमें मानव जाति की उत्पत्ति और विकास आदि का विवेचन होता है । इस शास्त्र से यह भी जाना जाता है कि संसार के भिन्न भिन्न भागों में मनुष्य की कितनी जातियाँ हैं, सृष्टि के अन्यान्य जीवों में मनुष्य का क्या स्थान है, मनुष्यों की सृष्टि कब और कैसे हुई, उसकी सभ्यता का कैसे विकास हुआ, इत्यादि इत्यादि ।

मानवाचल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

मानवाचल-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अक्ष ।

मानवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री । नारी । औरत । (२) पुराणानुसार स्वर्णयुग मनु की कन्या का नाम ।
 वि० [सं० मानवीय] मानव-संबंधी । मनुष्य का ।

मानवीय-वि० [सं०] मानव संबंधी । मनुष्य का ।

मानवेंद्र, मानवेश-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

मानव्य-संज्ञा पुं० दे० "मानव" ।

मानस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मन । हृदय । उ०—मौलित हृत्पिदास फल जोरे । बसहि राम सिध मानस मोरे ।—
 तुलसी । (२) मान सरोवर । उ०—रीप महाभारी परतोष महतारी दुनी देखिरे दुखारी सुनि, मानस संगलि के । (३) कामदेव । (४) संकल्प-विकल्प । (५) एक नाग का नाम । (६) बाल्मीकी द्वीप के पुन वर्ष का नाम । (७) पुष्कर द्वीप के एक पर्वत का नाम । (८) मनुष्य । आदमी । उ०—कोमल मृगालका सी बल्लिअ की मालिका सी बालिका तु झारी माइ मानस के पगु है ।—केशव । (९) पुत्र । पर । उ०—(क) मानस पराण सुधि छाप सचि बाल लगी को साष्टांग धान मानी भाग फले हैं ।—प्रियादास । (ख) दैके पदु भौति सों पटाप संग मागसतू भायो पुँछाह तब तुन पर रीतिथि ।—प्रियादास ।
 वि० (१) मन में उत्पन्न । मनोभव । (२) मन का विचार । हुआ । उ०—मिल कर एक पुनीन प्रताप । मानस पुन्य होइ नहि पाप ।—तुलसी ।

कि० वि० मन के द्वारा । उ०—रहै गंडकी सुत मुख सीता ।
 पुण्यो मानस सिर करि नीचा ।—विश्राम ।

मानसचारी संज्ञा पुं० [सं० मानसचारि] एक प्रकार का हंस जो मान सरोवर में होता है ।

मानस तीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] यह मन जो राग द्वेष आदि से निरंतर रहित हो गया हो ।

मानसपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार यह पुत्र या संतान जिसकी उत्पत्ति इच्छा मात्र से ही हुई हो । जैसे,—सतक, सनंदन आदि महा के मानस-पुत्र हैं ।

मानस पूजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूजा के दो प्रकारों में से एक । यह पूजा जो मन ही मन की जाय और जिसमें अर्घ्य, पाद आदि बाह्य उपकरणों की आवश्यकता न रहे ।

मानसर-संज्ञा पुं० दे० "मान सरोवर" ।

मान सरोवर-संज्ञा पुं० [सं० मानस + सरोवर] हिमालय के उत्तर की एक प्रसिद्ध बड़ी झील जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि महा ने अपनी हारण मात्र से ही इसका निर्माण किया था । इस सरोवर का जल बहुत ही मुरर, स्वच्छ और गुणकारी है तथा इसके चारों ओर की प्राकृतिक शोभा बहुत ही अद्भुत है । हमारे यहाँ के प्राचीन कवियों ने इसके आस पास की भूमि को स्वर्ग कहा है ।

मानस धृत-संज्ञा पुं० [सं०] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, प्रसन्नता आदि मूल ।

मानस शास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] इस शास्त्र जिसमें इस बात का विवेचन होता है कि मन किस प्रकार कार्य करता है और उसकी वृत्तियाँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं । मनोविज्ञान ।

मानस संन्यासी-संज्ञा पुं० [सं०] दुरातमी संन्यासियों के अंतर्गत एक प्रकार के संन्यासी । ऐसे संन्यासी मन में सबका वैराग्य उत्पन्न होने पर गृहत्याग का त्याग करके जंगल में जा रहते हैं और वहाँ तपस्या करते हैं । ये लोग गैरिक वस्त्र आदि नहीं धारण करते ।

मानस स्वर-संज्ञा पुं० [सं०] मानस सरोवर । मान सरोवर ।

मानस हंस-संज्ञा पुं० [सं०] एक वृक्ष का नाम । इसके प्रत्येक धारण में 'स ज ज म र' होता है । इसका दूसरा नाम मानहंस वा रणहंस है ।

मानसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम । कहते हैं कि कृष्णपिंड नामक एक ऋषि इसे मान सरोवर से छाप गे ।

मानसालय-संज्ञा पुं० [सं०] हंस ।

मानसिक-वि० [सं०] (१) मन की कल्पना से उत्पन्न । (२) मन संबंधी । मन का । जैसे,—मानसिक कष्ट । मानसिक क्लेश ।

संज्ञा पुं० [सं०] निष्पुण ।

मानसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मानस पूजा। वह पूजा जो मन ही मन की जाय। उ०—आभरण नाम हरि साधु सेवा कर्ण फूल मानसी सुनय संग अंजन बनाइये—प्रियादास। (२) पुराणानुसार एक विद्या देवी का नाम। वि० मन का। मन से उत्पन्न। उ०—मानसी सरूप में भद्रदास जब करत ब्यापार नामो मधुर सोमर सो—प्रियादास।

मानसी गंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोवर्धन पर्वत के पास के एक सरोवर का नाम।

मानसून-संज्ञा पुं० [सं०] करघनी।

मानसून-संज्ञा पुं० [सं० मि० अ० मोसिम] (१) एक प्रकार की धातु जो भारतीय महासागर में अम्रेल से अक्तूबर मास तक बराबर दक्षिण-पश्चिम के कोण से चलती है और अक्तूबर से अम्रेल तक उत्तर-पूर्व के कोण से चलती है। अम्रेल से अक्तूबर तक जो हवा चलती है, प्रायः उसी के द्वारा भारत में वर्षा भी हुआ करती है।

कि० प्र०—आना।—उठना।—दबना।

(२) वह धातु जो महादेशों और महाद्वीपों तथा उनके आस पास के समुद्रों में पड़नेवाले वातावरण संबंधी पारस्परिक अंतर के कारण उत्पन्न होती है और जो प्रायः छः मास तक एक निश्चित दिशा में और छः मास तक उसकी विपरीत दिशा में बहती है।

मानहंस-संज्ञा पुं० [सं०] एक बृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में 'स ज ज भ र' होते हैं। इसके अन्य नाम 'मनहंस' 'रण-हंस' और 'मानसहंस' भी हैं।

मानहानि-संज्ञा स्त्री० [सं०] अप्रतिष्ठा। अपमान। बेहज्जती। हतक हज्जत।

मानहूँ-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "मानो"।

मानो-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मीठा निवास जो इटली और एशिया माइनर आदि देशों के कुछ विविध बूझों में से छेव लगाकर निकाला जाता है; अथवा कभी कभी उन बूझों पर कुछ कीड़ों आदि की कई क्रियाओं से उत्पन्न होता है और जो पीले से कई रासायनिक क्रियाओं से शुद्ध करके ओपधि के रूप में काम में लाया जाता है। भारत के कई प्रकार के बॉसों तथा दूसरे अनेक बूझों पर भी यह कभी कभी पाया जाता है। यह रसक होता है और इसके व्यंघ-हार के उपरान्त मनुष्य विशेष निर्बल नहीं होता। देखने में यह पीले रंग का, पारदर्शी और हल्का होता है और प्रायः बहुत महीना मिलता है।

मांस पुं० [सं० मांस] भद्रादि नापने का एक पात्र जिसमें पाव भर भक्षण आता है। यह लकड़ी, मिट्टी या धातु का बना होता है। इससे तरल पदार्थ भी नापे जाते हैं।

मांस कि० सं० [सं० मांस अंगका हि० मापना] (१) नापना। तोलना। उ०—देखि विवेक सुधि पाय गीध सँ सयनि अपने बेल मायो—तुलसी। (२) जँचना। परीक्षा करना।

मांस कि० प्र० दे० "समानो" या "भमाना"। उ०—(क) हतनो बचन श्रवण सुनि हार्यो फूलो अंग न मोत। ले ले चरेन रेनु निज प्रभु की रिपु के शोणित न्हात।—सूर।

(ख) माई कहाँ यह माहंगी दीपति जो दिन दो यहि भौंति बदेगी—केशव।

मानिद-वि० [का०] समान। तुल्य। सदृश। जैसे,—वे जो आपके ही मानिद शरीर हैं।

मानिक-संज्ञा पुं० [सं० माणिक्य] एक मणि का नाम। यह लाल रंग का होता है और हरे को छोड़कर सब 'से' कहाँ पत्थर है। रासायनिक विश्लेषण द्वारा मानिक में दो भाग अल्युमिनम और तीन भाग आक्सीजन का पाया जाता है, जिससे रासायन-शास्त्रियों के मत से यह कुरंड की जाति का पत्थर प्रतीत होता है। इसमें एक और विशेषता यह भी है कि बहुत अधिक ताप से सुहागे के योग से यह कंचि की भाँति गल जाता है और गलने पर इसमें कोई रंग नहीं रह जाता। आजकल के रासायनिकों ने कँच से नकली मानिक बनाया है जो असली मानिक से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है। मानिक परयर गहरे लाल रंग से लेकर गुलाबी रंग और नारंगी से लेकर बैंगनी रंग तक के मिलते हैं। मानिक की प्रधान दो जातियाँ हैं—नरम खुबी और मानिक। नरम खुबी का विश्लेषण करने से मैग्नेसियम, अल्युमिनम और आक्सीजन मिलते हैं। उस पर यदि मानिक से रंग हट जाय, तो लकीर पड़ जाती है। अगस्त जी के मत से मानिक के तीन प्रधान भेद हैं—पमराग, कुरुविंद और सीगंधिक। कमल पुष्प के समान रंगवाला पमराग, गाड़ रक्तवर्ण सा हैपट नीले वर्ण सीगंधिक और रेडू के फूल के रंग का कुरुविंद कहलाता है। इनमें सिहल में पमराग, कालपुर और अंध्र में कुरुविंद और तुंकर में सीगंधिक उत्पन्न होता है। मतांतर से भीलगंधिक नामक एक और जाति का मानिक होता है जो नीलापन लिए रक्त वर्ण या छाखी रंग का माना गया है। इसकी खानें यरमा, एपान, ठंका, मण्य एशिया, यूरोप, आस्ट्रेलिया आदि अनेक भूमणों में पाई जाती हैं। जिस मानिक में चिह्न नहीं होते और चमक अधिक होती है, वह उत्तम माना जाता और अधिक मूल्यवान् होता है। वैयंक में मानिक को मयुर, प्रिग्थ और वात-रिषत-नाशक लिखा है।

पयारो—पमराग। कुरुविंद। सीगंधिक। सीहितक।

सल्ला। गंधारी। रविरथक।

संज्ञा पुं० [सं०] भाट पल का एक मान।

मानिकखंभ-छंदा पुं० [हि० मानिक + खंभ] (१) वह लूटा जो कातर के किनारे गड़ा रहता है और जिसमें घुसे को रस्सी से थोपकर जाट के सिरे पर अटकते हैं। मरसम। (२) वह खंभा जो विवाह में मंडप के बीच में गाड़ा जाता है।
(३) मालखंभ। मलखंभ।

मानिकचंदी-छंदा स्त्री० [हि० मानिकचंद] साधारण छोटी सुपारी।
मानिकजोड़-छंदा पुं० [हि० मानिक + जोड़] एक प्रकार का बड़ा बगुला जिसकी चोंच और टोंगें लंबी होती हैं।

मानिकजोर-छंदा पुं० दे० "मानिकजोड़"।

मानिक रेत-छंदा स्त्री० [हि० मानिक + रेत] मानिक का चूरा जिससे गहने सारक किए जाते हैं और उन पर चमक लाई जाती है।

मानिका छंदा स्त्री० [सं०] (१) मय। (२) भाट पल या साठ सोलह का एक मान।

मानिटार-छंदा पुं० [सं०] पाठशाला की श्रृंखलाओं में वह प्रधान छात्र जो अन्य छात्रों पर कुछ विरिष्ट अधिकार रखता हो।

मानित-वि० [सं०] सम्मानित। प्रतिष्ठित। आदर।

मानिता-छंदा स्त्री० [सं०] (१) मानित्व। सम्मान। आदर।
(२) गौरव। (३) अहंकार। गर्व।

मानिनी-वि० स्त्री० [सं०] (१) मानवती। गर्ववती। अभिमान-युक्त। (२) मान करनेवाली। रुद्रा।

छंदा स्त्री० साहित्य में वह नायिका जो नायक के दोष को देखकर उससे रुठ गई हो। उ०—मान करत बरजत न ही बलटि दियावत सोंह। फरी रिखीही जायेंगी सहज हँसोही भीह।

मानी-वि० [सं० मानिन्] [स्त्री० मानिनी] (१) अहंकारी। घमंडी। (२) सम्मानित। गौरवान्वित। (३) मनोयोगी।
छंदा पुं० (१) सिंह। (२) साहित्य में वह नायक जो नायिका से अपमानित होकर रुठ गया हो।

छंदा स्त्री० [सं०] (१) कुंभ। पड़ा। (२) प्राचीन काल का एक प्रकार का मान पात्र जिसमें दो अंगुली या आठ पल आता था। (३) चक्की के ऊपर के पाट में छगी हुई वह लकड़ी जिसके बीच के छेद में कीली रहती है। नूआ न होने पर वह लकड़ी ऊपर के पाट के छेद में जड़ी रहती है। (४) बुदाल, बसूल आदि का वह छेद जिसमें बंद लगाई जाती है। (५) किसी चीज में बनाया हुआ छेद जिसमें कुछ जड़ा जाय। (६) अन्न का एक मान जो सोलह सेर का होता है।

(७) साधारण छेद।
छंदा स्त्री० [सं०] (१) अर्थ। मतलब। तात्पर्य। (२) ताप। रहस्य। (३) प्रयोजन। (४) हेतु। कारण।

मानुष-छंदा पुं० दे० "मानुष्य"।
मानुष-वि० [सं०] [स्त्री० मानुषी] मानुष्य संबंधी। मानुष्य का।

छंदा पुं० [सं०] (१) मानुष्य। (२) मानुष्यत्व रखने के

अनुसार प्रमाण के दो भेदों में से एक। इसके तीन उपभेद हैं—लिखित, श्रुति और साक्षी।

मानुषक-वि० [सं०] मानुष्य संबंधी। मानुष्य का।

मानुषता-छंदा स्त्री० [सं०] मानुष्य का भाव या धर्म। मानुष्यता। आदमीयत।

मानुषिक-वि० [सं०] मानुष्य संबंधी। मानुष्य का।

मानुषियुक्त-छंदा पुं० [सं०] मानुष्य धारिधारी युक्त। जैसे, गौतम युक्त आदि। (ये ध्यानी युक्त से युक्त होते हैं।)

मानुषी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। भोक्त। (२) तीन प्रकार की चिकित्साओं में से एक। मानुष्यों के उपयुक्त चिकित्सा। (सोप दो चिकित्साएँ आसुरी और दैवी कहलाती हैं।)

वि० [सं० मानुषीय] मानुष्य संबंधी। मानुष्य का। उ०—कुरि जय छौं बरा संगव चलत इंद्री भाइ। आपनो कल्याण करि से मानुषी तनु पाइ।—सूर।

मानुषीय-वि० [सं०] मानुष्य संबंधी। मानुष्य का।

मानुष्य-वि० [सं०] मानुष्य संबंधी। मानुष्य का।

मानुष्यक-वि० [सं०] मानुष्य संबंधी। मानुष्य का।

मानुस-छंदा पुं० [सं० मानुष] मानुष्य। आदमी। उ०—का निश्चित रे मानुस अपनी पिता आछ। छेहु सजग होइ भग-मन पुनि पछतासि न पाछ।—जायसी।

यौ०—भला मानुस।

माने-छंदा पुं० [सं० मानी] अर्थ। मतलब। आशय।

मानो-अव्य० [हि० मानना] जैसे, गोया। उ०—(क) मयन मदन पुर दहन गहन जानि आनि कै सखे को साव धनुष गढ़ायो है। जनक सदसि जहाँ भले भले भूमिपाल कियो बलहीन बल आपनो यदायो है। कुलिस कदोर कुर्म पंड वें कठिन भति हठनि पितक काहु चपरी यदायो है। तुलसी सो राम के सरोज पानि परसत हृदयी मानो भारे से दुपारी ही यदायो है।—तुलसी। (ख) तिलक आल पर परम मनोहर गोरोचन को दीखो। मानों तीन लोक की सोम अधिक उदय सो कीन्हो।—सूर। (ग) मिय पदयो मानों सति मुजान। जगभूषण को भूषण निधान। निज भारें दम को सीप देन। यह किछो भला भरम लेन।—केशव।

मानोखी-छंदा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की चिड़िया।

मानौं-अव्य० दे० "मानों"।

मान्य-वि० [सं०] [स्त्री० मान्या] (१) मानने योग्य। मान-नीय। (२) आदर के योग्य। सम्मान के योग्य। पूजनीय। पूज्य। (३) प्रायश्चित्त।

छंदा पुं० (१) विष्णु। (२) शिव। महादेव। (३) मैत्रावरुण।

छंदा पुं० दे० "मान्य"।

मान्यस्थान-छंदा पुं० [सं०] आदर या मान का कारण। विशेष—मनु जी ने पाँच मान्यस्थान लिखे हैं—विष, वज्र,

वय, कर्म और विया। अर्थात् धन-संपत्ति, संबंध, अवस्था, कार्य और योग्यता इन पाँच कारणों से मनुष्य का आदर किया जाता है।

माप-संज्ञा स्त्री० [हि० मापना] (१) मापने की क्रिया या भाव। नाप।

यौ०—माप सौल = जौंच।

(२) वह मान जिससे कोई पदार्थ मापा जाय। अहँदा। मान। (३) परिमाण।

मापक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मान। नाप। अहँदा। पैमाना।

(२) वह जिससे कुछ मापा जाय। मापने की चीज। (३) वह जो मापता हो।

मापना—क्रि० सं० [सं० मापन] (१) किसी पदार्थ के विस्तार, आयत या घनत्व और घनत्व का किसी नियत मान से परिमाण करना। नापना। जैसे—अंगुल के मान से किसी पट्टी की लंबाई और चौड़ाई का मान निकालना कि इसकी लंबाई इतने अंगुल या चौड़ाई इतने अंगुल है। किसी कोठरी के वर्गत्व का मान करना कि वह इतने वर्ग गज की है। उ०—(क) कहि धौं झुग कहा धौं कीने आपुन अपु मिखारी। जै जैकार भयो भुव मापत तीन पैड़ भइ सारी।

—सूर। (ख) घावन को पद लोकन मापि ज्यों घावन यहु माहँ सिंहायो।—केशव। (ग) हँसन लगीं सहपरि सयै देखि नयन दुराह। मानों मापति लोचननि कर परसनि फैलाह।—गुमान। (२) किसी मान या पैमाने में भरकर द्रव या धूर्ण या अज्ञादि पदार्थों का नापना। जैसे,—दूध मापना, चूना मापना। (३) पदार्थ के परिमाण को जानने के लिये कोई क्रिया करना। नापना।

क्रि० प्र० [सं० मप] मतवाला होना। उ०—(क) नयन सजल तर धर धर काँपी। मौंजिह खाइ मीन जनु मापी।—तुलसी। (ख) लफन विषम मोह मन मापा। मौंजा मनुहु मीन कहँ व्यापा।—तुलसी।

माफ-वि० [अ०] जो क्षमा कर दिया गया हो। क्षमित।

मुहा०—माफ करना = क्षमा करना। उ०—(क) प्रभु जू मैं ऐसो अमल कमायो। साविक जमा हुती जो जोरी मीजीं कुल तल लायो।..... यद्यो तुम्हारे बरामद तू को लिखि कीन्हों है साफ। सूरदास को वह मुहासिवा वस्तु कहती माफ।—सूर। (ख) खलनि को योग जहाँ नाज ही मैं देखियतु माफ करिदेही माहँ होतु कर नाजु है।—गुमान।

माफकत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुजाफिक होने का भाव। अनुकूलता। (२) मेल। मैत्री।

यौ०—मेल-माफकत।

माफकत-संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का खटा नीव।

माफिक-वि० [अ० मुजाफिक] (१) अनुकूल। अनुसार।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—होना।

(२) योग्य।

माफिकत-संज्ञा स्त्री० दे० 'माफकत'।

माफी-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) क्षमा।

मुहा०—माफी चाहना वा माँगना = क्षमा माँगना। माफ किए जाने के लिये माँगना करना।

(२) वह भूमि जिसका कर सरकार से माफ हो। बाध।

यौ०—माफीदार = माफी की भूमि का मालिक। जिसकी भूमि को मालगुजारी सरकार ने माफ की हो।

(३) वह भूमि जो किसी को बिना कर के दी गई हो।

क्रि० प्र०—देना।—पाना। मिलना।

मामला-संज्ञा पुं० [सं० माप] (१) ममत। अहंकार। उ०—

रहहु सँनारे राम विचारे कहत अहौ जो उफारे हो। मूँड़ मुँदिय फुलिके दँदे मुद्रा पहिर मँज्सा हो। ताहि उपर कहु छार लपेटे मितर मितर घर मूसा हो। गार्ड बसत है गर्व भारती माम काम हंकारा हो। मोहनि जहाँ तहाँ छे जैहें नाहीं रहे तुम्हारा हो।—कबीर। (२) शक्ति। अधिकार। इत्तिपार।

मामला-संज्ञा स्त्री० [सं० ममता] (१) अपनापन। आत्मीयता।

(२) प्रेम। मुहब्बत। अनुराग।

मामरी संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पेड़ जो हिमालय की तराई में रावी नदी से पूर्व की ओर तथा मद्रास और मध्य भारत में होता है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत और चिकनी होती है, जिस पर रोगन करने से बहुत अच्छी चमक आती है। इसकी लकड़ी से मेज, कुर्सी, आलमारी आदि आरापशी चीजें बनाई जाती हैं। इसकी छाल ओपधि के काम में आती है और जड़ साँप के काटने की ओपधि है। यह बीजों से उगता है। इसे चोरी और रूही भी कहते हैं।

मामलत, मामलतिस्त्री-संज्ञा स्त्री० [अ० मुभामलत] (१) मामिला। व्यवहार की बात। (२) विवादास्पद विषय। उ०—वही जो मामिलत पहले चुकाई। करी सो जाह तेरे हाथ भाई।—सूदन।

मामला-संज्ञा पुं० [अ० मुभामला] (१) व्यापार। काम। धंधा। उद्यम।

मुहा०—मामला बनाना = काम साधना।

(२) पारस्परिक व्यवहार। जैसे छेन देन, द्रव्य विक्रय इत्यादि। (३) व्यावहारिक, व्यापारिक या विवादास्पद विषय।

मुहा०—मामला करना = (१) बात बीच करना। बात पकी करना। (२) पारस्परिक वैयर्थ दूर करके निस्वयर्थक मुद्द निर्धारण करना। फैसला करना। मामला बनाना = काम ठीक करना। बात पकी करना।

(४) पकी या ते की हुई बात । कौल करार । (५) क्षगड़ा । विवाद (६) मुकदमा ।

मुहा०—दे० "मुकदमा" के मुहा० ।

(७) प्रधान विषय । मुख्य बात । (८) सुंदर स्त्री । युवती । (भाजारू) (९) संभोग । स्त्री-संसर्ग ।

मुहा०—मांमला यनाना = संभोग करना । प्रसंग करना ।

मामा—संज्ञा पुं० [अन्त० मि० सं० मातुन] [स्त्री० मामी] माता का भाई । मौं का भाई ।

संज्ञा स्त्री० [पा०] (१) माता । मौं । उ०—आदम भादि सिद्धि माई पाया । मामा हीवा कहैं से आवा ।—कबीर ।

(२) रोटी पकानेवाली स्त्री ।

यौ०—मामागौरी = दूसरी को रोटी पकाने का काम ।

(३) बुढ़ी स्त्री । बुढ़िया । (४) नौकरानी । दाई । दासी । लोदी ।

मामिला—संज्ञा पुं० दे० "मामला" ।

मामी—संज्ञा स्त्री० [सं० मा = निवेद्यार्थक] आरोप की ध्यान में न लाना । अपने दोष पर ध्यान न देना ।

मुहा०—मामी पीना = दोषारोपण की ध्यान में न लाना । मुकर जाना । अपने दोष पर ध्यान न देना । उ०—(क) ऊधो हरि कहे के अंतर्दामी । अजहुं न आइ मिले यहि भौसर भविष्य यतावन लामी । कीन्ही प्रीति डुधुप संढा की अपने काज के कामी । तिनको कौन परेखा कींजे जेहैं गढ़ के गामी । आई उपरि प्रीति कलई सी जैसे छाटी आमी । मूर इत पर चुनसनि मरियत ऊधो पीवत मामी ।—सूर । (ख) लाज कि और कहा कहे केराव जे मुनिये गुण से सब डये । मामी पिपे इनकी मेरी माह की हं हरि भाठहू गाँठ हडाये ।—केशव ।

मामूँ—संज्ञा स्त्री० [अन्त० मि० सं० मातुन] [स्त्री० मामानी] माता का भाई । मामा । (मुसलमान)

मामूल—संज्ञा पुं० [अ०] (१) टेव । लन । (२) रीति । रवाज । परिपाटी । (३) वह धन जो किसी को रवाज भादि के कारण मिलता हो ।

मामूली—वि० [अ०] (१) नियमित । नियत । (२) सामान्य । साधारण ।

मायल—संज्ञा स्त्री० [सं० मातु] (१) माता । मौं । जननी । उ०—जमुनि माय लाल अपने को शुभ दिन डोल मुखायो ।—सूर । (२) किसी वरी या भाद्राणीय स्त्री के लिये संवोधन का शब्द । उ०—तब जानकी सामु पग लागी । मुनिय माय में परम भगानी ।—मुलसी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० माया] दे० "माया" । उ०—(क) इत माय विलोकि कै उपजाइयो मन पूत ।—केशव । (ख) गुनि बेर दिचे किर्पौ मझा जीव माय हैं ।—मुलसी ।

माय्य० [सं० माय्य] दे० "माहि" । उ०—पाउं लोकत सब जीते सुरपति दियो उठाव । बरुण कुबेर भूमि पम मास्त स्वस्त किये शान माय ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीतांबर । (२) भसुर ।

मायक—संज्ञा पुं० [सं०] माया करनेवाला । मायावी । उ०—(क)

सायक सम मायक नयन रंगी विविधि रंग गात । हस्तौ छरि दुरि जाति जल लखि जलजात छजात ।—विद्या ।

(ख) हंसगति नायक कि पृथु गुण गायक कि भयन सुशायक कि मायक हैं मय के ।—केशव ।

† संज्ञा पुं० दे० "मायका" ।

मायक—संज्ञा पुं० [सं० मातु + का (माय्य०)] शैव । पीर ।

उ०—(क) पठई समुद्राय सहैलिन यौ कोउ मायके मिल्यौ न कहा । (ख) हो जा हस्ती भरी मति री वद खोजा हमारे ही मायके पारो ।—बृहद । (ग) मायके में मन भायन की रति कीरति शोभु गिरा न पायति ।—शंभु ।

मायण—संज्ञा पुं० [सं०] वेद का माय्य करनेवाले सायण के पिता का नाम ।

मायन—संज्ञा पुं० [सं० मातुका + मायन] (१) वह दिन या तिथि जिस में विवाह में मातृका-पूजन और पितृ-निमंत्रण होता है । उ०—यनि यनि भावत नारि जानि गृह मायन हो ।—मुलसी । (२) उपर्युक्त दिन का कृत्य । मातृका-पूजन या पितृ-निमंत्रण आदि कार्य । उ०—अशुभनिक करवाय अद्व विधि सब विवाह के पारो । कृत्य तेल मायन करवई व्याह विधान अपरा ।—रघुराज ।

मायनी—संज्ञा स्त्री० दे० "मायाविनी" । उ०—प्रबंड को ताइका अर्थात् ओम मायनी । गिरी धरा पदाक है सुते शोक-दायनी ।—रघुराज ।

संज्ञा स्त्री० [अ०] अर्थ । मतलब । भाषण ।

मायल—वि० [अ०] (१) लुका हुआ । छुप । प्रकृत । उ०—इक तो हायल रहत हो मायल है वा चार । तापर हायल के गई पायल भाग बजाय ।—रामसहाय । (२) मिश्रित । मिला हुआ । जैसे,—सबजी मायल सके रंग का पदवी देखने में बहुत सुंदर लगता है ।

मायव—संज्ञा पुं० [सं०] मातु के गोत्र के लोग ।

माया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी । (२) द्रव्य । धन । संपत्ति । होख । उ०—(क) माया त्यागो पदा भवा मान तजा माई जाय ।—कबीर । (ख) वद माया को दोष यह-ओ कबहुं बडि जाय । ती रहीम मरियो मछो हुप सहि त्रिपि पलाय ।—रहीम । (ग) जो बादे मया बहु जोरी । करे अवध तो छाव करोरी ।—निचल । (घ) अपिधा । अज्ञानता । मन । (ङ) छल । कपट । धोखा । पापघाती । उ०—(ह) मर माया बस केकरे कुसमय कीन्ह कुशल ।—मुलसी । (ड)

धरि है कपट भेष भिक्षुक को दसकंधर तहँ आयो । हरि
छीनों छिन में माया करि अपने रथ बैठायो ।—सूर ।
(ग) तब रावण मन में कहे करी एक अथ काम । माया को
परंपंच के रचौ सु लछमन राम ।—हनुमन्नाटक । (घ)
साहस अतुल चपलता माया ।—तुलसी । (५) सृष्टि की
व्यपत्ति का मुख्य कारण । प्रकृति । उ०—(क) माया, ब्रह्म
जीव जगदीश । लच्छि अलच्छि रंक अवनसी ।—तुलसी ।
(ख) माया माहिं नित्य ले पाये । माया हरि पद माहिं
समाये ।—सूर । (ग) माया जीव काल के करम के सुभाव
के करैया राम वेद कहे ऐसी मन गुनिये ।—तुलसी । (६)
ईश्वर की वह कल्पित शक्ति जो उसकी आशा से सब काम
करती हुई मानी गई है । उ०—तहँ लखि माया की प्रभुताई ।
भणि मंदिर सुवि सेज सुहाई । (७) इंद्रजाल । जादू । छल-
मय रचना । उ०—जीति को सबे अजय रघुराई । माया से
अस रची न जाई ।—तुलसी । (८) इंद्रयज्ञ नामक वर्ण
वृत्त का एक उपभेद । यह वर्ण वृत्त इंद्रयज्ञ और उषेव्रयज्ञ
के मेल से बनता है । इस के दूसरे तथा तीसरे चरण का
प्रथम वर्ण लघु होता है । जैसे,—राधा रमा गौर गिरा सु
सीमा । इन्हें विचारे नित नित्य गीता । कहेँ अपारे अघ ओष
मीता । हूँ सदा सोर भला सुवीता । (९) मगन, तगन,
यगन, सगन और एक गुरु का एक वर्ण वृत्त । उ०—छीला
ही सौं यासव जी में अनुरागी । तानी लोके पालत नीके सुल
पागी । जो जो चाहो सो तुम वा सौं सय लीजी । कीरे
मेरी ओर कृपा सो सर भीजी ।—गुमान । (१०) मय
दानव की कन्या जो विश्रवा को प्याही थी और जिससे
वृष, दूषण, त्रिशिरा और सूर्यनखा पैदा हुए । उ०—माया
सुन जनमें करि लेला । खर दूषण त्रिशिरा सुपनेला ।—
विश्राम । (११) देवताओं में से किसी की कोई
छीला, शक्ति, दृष्टा या मरणा । उ०—(क) राम जी की
माया । कहाँ भूष कहाँ छाया । (कहावत) (ख) अति प्रबंड
रघुपति के माया । जेहि न मोह अस को जग जाया ।—
तुलसी । (ग) तेहि आश्रमहि भदन जब गयक । निज माया
बसंत निरमयक ।—तुलसी । (घ) बोले बिहँसि मोहन,
हरि माया बल जानि जिय ।—तुलसी । (१२) कोई
बादरणीय स्त्री । (१३) सुद्धि । अरु । (१४) दुर्गा का एक
नाम । (१५) बुद्धदेव (गौतम) की माता का नाम ।

सो०—मायाकार । मायाजीवी ।

छींछा, छी० [हि० माता] माता । माँ । जननी ।
उ०—पिनयै रतनसेन की माया । माये छात पाट नित
पाया ।—जायसी ।

* छंछा छी० [हि० ममता] (१) किसी को अपना समझने का
भाव । ममत्व । (२) कृपा । दया । अनुग्रह । उ०—(क)

मोहिं आय अथ माया कीजे । पहनाई कहेँ भायसु दीजे ।
—जायसी । (ख) साँचेहु उनके मोह न माया । उदासीन
घन घाम ॥ जाया ।—तुलसी । (ग) डंड एक माया कर
मोरे । जोगिन होउं चलोँ सँग तोरे ।—जायसी ।

मायाकार-छंछा पुं० [सं०] जादूगर । ऐंद्रजालिक ।

मायाक्षेत्र-छंछा पुं० [सं०] दक्षिण के एक तीर्थ का नाम ।

मायाचार-छंछा पुं० [सं०] मायावी ।

मायाजीवी-छंछा पुं० [सं०] मायाजीविन् । जादूगरी से जीविका
निवाह करनेवाला । जादूगर ।

मायातंत्र-छंछा पुं० [सं०] एक प्रकार का तंत्र ।

मायाति-छंछा पुं० [सं०] तापिकों की वह नर-बलि जो अष्टमी
या नवमी को दुर्गा के सामने दी जाती है ।

मायाद-छंछा पुं० [सं०] कुंभीर । मगर ।

मायादेवी-छंछा स्त्री० [सं०] बुद्ध की माता का नाम ।

मायाघर, मायापट्ट छंछा पुं० [सं०] मायावी ।

मायापुरी-छंछा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नगरी का नाम ।

मायाफल-छंछा पुं० [सं०] माजुफल ।

माया-मोह-छंछा पुं० [सं०] उपाणनुसार विष्णु के शरीर से
निकला हुआ एक कल्पित पुरुष जिसकी सृष्टि अहुरों का
दमन करने के लिये हुई थी ।

मायायंत्र-छंछा पुं० [सं०] किसी को मोहने की विद्या।सम्मोहन ।

मायावरि-छंछा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें
सब शुद्ध स्वर लगते हैं ।

मायावत-छंछा पुं० [सं०] (१) मायावी । (२) राक्षस । असुर ।

(३) कंस का एक नाम ।

मायावती-छंछा स्त्री० [सं०] कामदेव की खी राति का एक नाम ।

माया वाद-छंछा पुं० [सं०] ईश्वर के अतिरिक्त सृष्टि की समस्त
वस्तुओं को अनित्य और असत्य मानने का सिद्धांत जिसके
अनुसार यह सारी सृष्टि केवल माया या मिथ्या समझी
जाती है ।

मायावादी-छंछा पुं० [सं०] मायावादिन् । ईश्वर के सिवा प्रत्येक वस्तु
को अनित्य माननेवाला । वह जो मायावाद के अनुसार सारी
सृष्टि को माया या भ्रम समझता हो ।

मायाविनी-छंछा स्त्री० [सं०] छल या कपट करनेवाली स्त्री ।
उगिनी ।

मायावी-छंछा पुं० [सं०] मायाविन् । [स्त्री० मायाविनी] (१)

बहुत बड़ा चालाक । छलिया । धोखेयाज़ । फरेबी । (२)
एक दानव का नाम जो मय का पुत्र था और बालि से
लड़ने के लिये किष्किंधा में आया था । पाल्मीनिक के
अनुसार यह हनुमन्त नामक दैत्य का पुत्र था । उ०—मय
सुत मायावी तेहि नाई । आया सो प्रभु हमारे गाई ।—
तुलसी । (३) बिल्ली । (४) परमात्मा ।

मायावीज-संज्ञा पुं० [सं०] 'ही' नामक तांत्रिक मंत्र ।

मायासीता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार यह कल्पित सीता जिसकी सृष्टि सीता-हरण के समय अग्नि के योग से हुई थी । (कुछ पुराणों तथा रामायणों में यह कहा है कि सीता-हरण के समय अग्नि ने वास्तविक सीता को हटाकर उनके स्थान पर माया से एक दूसरी सीता खड़ी कर दी थी ।)

मायासुत-संज्ञा पुं० [सं०] मायादेवी के पुत्र, बुद्ध ।

मायाछत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कथित अस्त्र जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि इसका प्रयोग विधामित्र ने भी रामचंद्र जी को सिखाया था ।

मायिक-संज्ञा पुं० [सं०] मायुकूल ।

वि० [सं०] (१) माया से बना हुआ । जो वास्तविक न हो । यनावदी । जाली । उ०—कहि जग गति मायिक मुनि नाथा । कहे कछु परमार्य गाथा ।—तुलसी । (२) मायावी । माया करनेवाला ।

मायी-संज्ञा पुं० [सं० मायिन्] (१) माया का अधिष्ठाता, परब्रह्म । ईश्वर । (२) माया करनेवाला व्यक्ति । (३) जादूगर ।

संज्ञा स्त्री० दे० "माई" ।

मायु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पित्त । (२) वायु । (३) वायव्य ।

मायुक-वि० [सं०] वायु करनेवाला ।

मायुताज-संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर के एक पुत्र का नाम ।

मायूत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रथ जो मयूतों से चलता हो । (२) मयूर । मोर ।

वि० मयूर-संघर्षी । मोर का ।

मायूरक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो जंगली मोरों को पकड़ता हो ।

मायूरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कटुमर ।

मायूरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा ।

मायूस-वि० [का०] निराश । ना-उत्साह ।

मायूसी-संज्ञा स्त्री० [का०] निराशा । ना-उत्साह ।

मायोमय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भ्रम । अप्प । (२) सीमाव्य ।

मार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) विना । (३) विष । जहर । (४) धनुष ।

संज्ञा स्त्री० [हि० मारना] (१) मारने की क्रिया या भाव ।

(२) भाषातः । चोट । (३) जिस वस्तु पर मार पड़े ।

निशाना । (४) मार-पीट । (५) युद्ध । लड़ाई ।

पौ०—मार-कार । मार पीट ।

मय० [हि० मारना] (१) अत्यंत । बहुत । उ०—(क)

मुनित द्वारावती मार उतसी मयो.....।—सूर । (ख) सोने की अठारी धनसारी मार जारी जैसे घास की अठारी जर गई पिते सौत में ।—राम ।

● संज्ञा स्त्री० [हि० मार] माला । उ०—अमल कपोले आरसी बाह पंख मार ।—बैजय ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] काली मिट्टी की जमीन । काले मिट्टी की भूमि । मरवा भूमि ।

मारकंडेय-संज्ञा पुं० [सं० मार्कंडेय] पुराणानुसार एक ऋषि का नाम जो अष्ट चिरंजीवियों में से एक माने जाते हैं । इनके पिता का नाम मरुचंद्र था । इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे सदा जीवित रहते हैं और रहेंगे । मार्कंडेय ।

मुद्गा०—मारकंडेय की आयु होना = शतंजीवी होना । पितृ पोता । (आश्विनार्द्र)

मारक-वि० [सं०] (१) मार डालनेवाला । मरुद्वारक । संहारक । उ०—(क) छै उतारि याति रूपति भलो वरापो यान । निरदोषिन मारक नहीं यह तारक सुखियान ।—छंदमणिसिंह । (ख) सुखवि मिलन की आस एक अरुण उधारक । नहि तो कैसे बचती मात्मी मार तु मारक ।—ग्यास । (२) किसी के प्रभाव आदि को नष्ट करनेवाला । घात पर प्रतिघात करनेवाला । जैसे,—यह औपय भनेक प्रकार के विघों का मारक है ।

मारका-संज्ञा पुं० [सं० मार्क] (१) चिह्न । निशान । (२) किसी प्रकार का चिह्न जिससे कोई विशेषता सूचित होती हो । संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध । लड़ाई । (२) बहुत बड़ी या महत्वपूर्ण घटना ।

मुद्गा०—मारके की यात या काम = कोई महत्वपूर्ण या बड़ी या काम ।

मार काट-संज्ञा स्त्री० [हि० मारना + काटना] (१) युद्ध । लड़ाई । खेल । (२) मारने काटने का काम । (३) मारने काटने का भाव ।

मारकायिक-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धों के अनुसार मार के अनुसार । मारकीन-संज्ञा स्त्री० [सं० नैर्गुण] एक प्रकार का मोटा कोरा कपड़ा जो प्रायः गरीबों के पहनने के काम में आता है ।

मारखोर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की बकरी या भेड़ जो काश्मीर और अफगानिस्तान में होती है । यह प्रायः तीन हाथ ऊँची होती है और बहुत के अनुसार बगल्ली है । इसके सींग लंबे में प्रायः सटे रहते हैं और इसकी दाढ़ी बहुत लंबी और घनी होती है ।

मारगडा-संज्ञा पुं० [सं० मार्ग] राह । रास्ता । मार्ग । उ०—(क) दीपक लेसि जगत कहें दीप्ता । भा निमल जग माया चीन्हा ।—जायसी । (ख) मारग हुन जो भैंर अस्सा । भा उजरे सब जाना घसा ।—जायसी । (ग) मारग चलहि पयादेहि पाये । कोतल संग जाहि कोरि पाये ।—गुप्त । (घ) संपर्हि भौनि विष सेवा करी । मारग जनिम सकल भ्रम हरिही ।—गुलसी ।

मुद्गा०—मारग मारना = राने में बलि को मार लेना । उ०—मारग मारि महीपुत्र मारि सुमारग बोरिक छे पन कीयो ।

—तुलसी । मारग लगाना = रास्ते लगाना । रास्ता लेना । चला जाना । उ०—(क) जोगी होहु तो बुकि सों मँगहु । भुगति लेहु लै । मारग लगानु ।—जायसी । (ख) खपर लिपे बार भा मँगौ । भुगति देहु है मारग लग्यौ ।—जायसी । (ग) यह मुनि मुनि मारग लगे सुख पायो नर देव ।—केशव । मारग लेना = दे० “मारग लगाना” ।

मारगनछ-संज्ञा पुं० [सं० मार्गण] (१) यात्रा । तीर । उ०—तानेउ चॉप खयन लगि छाँदे विसिख कराल । राम मारगन-गन चले लहलहात जनु ब्याल ।—तुलसी । (२) शिक्षक । याचक । निखमंगा ।

मारजन-संज्ञा पुं० दे० “मार्जन” ।

मारजनी-संज्ञा स्त्री० दे० “मार्जनी” ।

मारजार-संज्ञा पुं० दे० “मार्जार” ।

मारजित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने कामदेव को जीत लिया हो । (२) बुद्ध ।

मारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार डालना । प्राण लेना । हत्या करना । (२) एक कवित्व तांत्रिक प्रयोग जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि जिस मनुष्य के मारने के लिये यह प्रयोग किया जाता है, वह मर जाता है । उ०—(क) मारण मोहन बसिकरण उच्चाटन अस्थंभ । आकर्षण बहु भौति के पदें सदा करि वंभ ।—रघुनाथदास । (ख) सीखी सयै मिलि धातु कर्मणि द्रव्य बाहुत जाह । आकर्षणादि उच्चाट मारण वशीकरण उपाह ।—केशव ।

मारतंड-संज्ञा पुं० दे० “मार्तंड” ।

मारतंड मंडल-संज्ञा पुं० दे० “मार्तंड मंडल” ।

मारतंडसुत-संज्ञा पुं० दे० “मार्तंडसुत” ।

मारतील-संज्ञा पुं० [पुं० मारेली] एक प्रकार का बड़ा हथौड़ा ।

मारना-किं० सं० [सं० मारण] (१) बध करना । हनन करना । घात करना । प्राण लेना । उ०—(क) जिन वेधत सुख लक्ष लक्ष थप कुँवर कुँवरमनि । तिन यानन बारह बाघ मारत नाँहि सिंहनि ।—केशव । (ख) घाय सुवा है मारन गई । समुसि शान दिखे मई भई । सुभा सो राजा करविसरामी । मारि न जाय चहै जेहि स्वामी ।—जायसी । (२) दंड देने के लिये किसी को किसी वस्तु से पीटना वा आघात पहुँचाना । जैसे,—छात, यण्ड, मुक्का, लाठी, जूता, तलवार आदि मारना । उ०—(क) एक ठौर देखत मयो धूपम एक एक गाय । भय यस भागे जात दोउ एक नर मारत जाय ।—विद्याम । (ख) जो न मुदित मन आवा देही । लाग्यो मारन तुरतै तेही ।—विद्याम । (३) जरब लगाना । ठेंकना । उ०—जय मैं परेग को मातौल से मारता हूँ, तो यह परेग इस लकड़ी में घुस जाती है ।—बेलेंद्रादन । (४) दुःख देना । सताना । जैसे,—मुझे तुम्हारी चिंता

मार रही है । उ०—देखी राम दुखित महतारी । जेनु सुबेलि बबली हिम मारी ।—तुलसी । (५) इस्ती या मलयुद्ध में विपक्षी को पछाड़ देना । जैसे,—इस पहलवान को मेरे पहलवान ने दो बार मारा है । (६) बंद कर देना । जैसे,—किवाड़ा मारना । (७) दण्ड आदि चलाना । फेंकना । जैसे,—उसने कई तीर मारे । उ०—पारथ बाण चहूँ दिशि मारै । युध यूध छवी संहारै ।—सबलसिंह ।

मुहा०—गोली मारना = (१) किसी को बंदूक की गोली से मार देना । किसी पर बंदूक चपाना वा छोड़ना । (२) जाने देना । त्याग देना । ध्यान न देना । तुच्छ वा अन्यायक समझना । जैसे,—भरे मारो गोली, इस बात में धरा ही क्या है । बंदूक मारना = किसी पर बंदूक की गोली छोड़ना । बंदूक दगाना । फेंक देना । उ०—दुश्मनों ने भी हर तरफ से यहाँ आकर मुकाबिले के पास्ते दीवारों और छुरजें बनाई जिनमें बंदूकों के मारने के बालते जगह रही ।—देवीप्रसाद ।

(८) किसी शारीरिक आवेग वा मनोविकार आदि को रोकना । (९) नष्ट कर देना । अंत कर देना । न रहने देना । जैसे,—(क) पाले ने फसल मार दी । (ख) तुमने उनका रोगमार मार दिया । (ग) उसने बार बार उपवासों काके अपनी भूख मार ली है । (घ) भूख मारने से अश्वि, तन्त्रा, दाह और वल का नाश होता है । (ङ) उसने बहुतेरे घर मारे हैं । (१०) नकार करना । अहेर करना । आखेट करना । जैसे,—मछली मारना, हिरन मारना । (११) किसी वस्तु को इस प्रकार फेंकना कि यह किसी दूसरी वस्तु से जोर से टकरा जाय । उ०—उसने ठोंके को ऊँचा करके जोर से उस खंभे पर मारा जिससे यह खंभा हिल उठा ।—देवकीर्तन ।

मुहा०—दे मारना = (१) पटकना । (२) पछानना । वह मारा = उस अब कार्य सिद्ध हो गया । विनय प्राप्त हुई । जो चाहते थे, सो हो गया । उ०—यह आपकी मेहरबानी है, मैं किस कायिल हूँ । (मन में) यह मारा—अब कहाँ जाती है । आज का नकार तो बहुत ही नफीस है ।—राधाकृष्णदास । (१२) गुस्स रखना । छिपाना । दयाना । उ०—(क) रिस उर मारि रंक जिमि राजा । विपिन् बसे तापस के साजा ।—तुलसी । (ख) खोज मारि रय हँकिहु ताता । ब्रान उपाय बनाहि नाँहि बाता ।—तुलसी । (१३) धलाना । संचालित करना ।

मुहा०—गाल मारना = सीटना । बंद बंदकर बोलें करना । उ०—(क) मूढ़ मृषा जनि मारसि गाला । राम धर होइहि अस हाल ।—तुलसी । (ख) काहु को सर ध्यो न परै मारन गाल गली गली हाट ।—हरिदास । (ग) मारन गाल कदा इतनो मनमोहन न अपने मन उटे ।—रघुनाथ ।

कुछ पदकर मारना = भंव में फूँकर कोई चीज किसी पर फेंकना । जैसे,—सूँग मारना । साँप पर सरसों मारना । जादू मारना = किसी पर जादू का प्रयोग करना । किसी पर भंव या तंत्र करना । डींग मारना = शेरी बघारना । बड़ी बड़ी बातें करना । ऐसी बातें करना निम्न होना असंभव हो । उ०—घाह देसा ही था तो घूरी पहिर छेदे; जहाँमर्दी की डींग क्यों मारते हैं ।—देवकीन्दन । मंत्र मारना = जादू करना । भंव पदकर फूँकना । उ०—गड़ी को एक दिवाल पर फेंक देना और देसा मंत्र मारना कि पहिचाना हुआ ही ताता उसमें चिपक जाय, याकी सप गिर पड़े ।—रामकृष्ण । (१४) धातु आदि को जलकर उसकी मसम सैवार करना । जैसे,—पारा मारना, सोना मारना । (१५) अनुचित रूप से, बिना परिश्रम के अथवा बहुत अधिक प्राप्ति करना । (इस अर्थ में इसका प्रयोग प्रायः माल या रकम आदि शब्दों के ही साथ होता है ।) जैसे,—माल मारना, किसी का दक मारना । (१६) करना । लगाना । जैसे—गोला मारना । चक्कर मारना । (१७) विजय प्राप्त करना । जीतना । जैसे,—मैदान मारना । (१८) तावा या शतरंज आदि खेलों में विपक्षी के पत्ते या गोठ आदि को जीतना । (१९) जो कुछ देना पागिब हो, यह न देना । अनुचित रूप से रख लेना । जैसे,—हमारे १००) उसने मार लिए । (२०) बल या प्रभाव कम करना । मारक होना । जैसे,—जहर को जहर मारता है । (२१) किसी योग्य न रहने देना । निर्जीव सा कर देना । जैसे,—इन्हें तो फगूलखर्ची ने मारा है । (२२) बसना । फाटना । टंक मारना । (२३) लगाना । देना । जैसे,—ढँका मारना । (२४) गुदा संजम करना । पुटप का पुटप के साथ संभोग करना । (२५) संभोग करना । स्त्री-प्रसंग करना ।

विशेष—(क) यह धातु मिश्र मिश्र संज्ञाओं तथा कुछ विसिष्ट क्रियाओं के साथ मुहावरों के रूप में अनेक प्रकार के अर्थ देता है । जैसे,—दम मारना, लकीर मारना, कौर मारना, धार मारना, धील मारना, सता मारना आदि । (ख) इसके शाप प्रायः “ढालना” और “देना” आदि संयोग कियारे आती हैं ।

मारपेच—छंछा पुं० [हि० मारना + पेच] वह पुक्ति जो किसी को धोरे में रखकर उसकी हानि करे या उसे नीचा दिखाने के छिपे की जाय । धूर्तता । चालबाजी ।

मारफत-भजन्य [भ०] द्वारा । बराने से । जतिये मे । उ०—(क) सधै मागय मारफन यह काज भ्रम विनु आयु ।—गोपाल । (ख) नैराश में एक भैरोगी बृज रहना है । उमे रेगिडेंट बड़े हैं । उली की मारफन पैगल राज्य

और हिंदुस्तान की गवर्नमेंट से आवश्यकतानुसार लिखा-पढ़ी होती है ।—विदेदी ।

मारय—छंछा पुं० [सं०] (१) मार देवता । (२) राजतरंगिणी के अनुसार एक प्राचीन देव ।

मारवा—छंछा पुं० [देव०] (१) एक संकर राग जो पञ्च, विमास और गौरी को मिलाकर बनाया जाता है । इस खग इसे भ्रम से धीराय का पुत्र मानते हैं । (२) एक प्रकार का खयाल जो तिलवाड़ा ताल पर बजाया जाता है ।

मारवाड़—छंछा पुं० [हि० मेवाड़] (१) मेवाड़ राज्य । दे० “मेवाड़” । (२) राजपूताने का एक प्रांत जहाँ अथ बीकानेर और जोधपुर के राज्य हैं । मेवाड़ के भास-भास का प्रांत । मारवाड़ी—छंछा पुं० [हि० मारवाड़] [स्त्री० मारवाड़] (१) मारवाड़ देश का निवासी । (२) मारवाड़ देश की भाषा । वि० [हि० मारवाड़] मारवाड़ देश का । मारवाड़ देश संबंधी ।

मारवीज—छंछा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र ।

मारक—वि० [हि० मारना] जो मार डाला गया हो । मारा हुआ । निहत । उ०—परसेतु मोहि एक पलयाही । नहि आवहुँ जो जानेतु मारा ।—तुलसी ।

मुहा०—मारा फिरना, मारा मारा फिरना = बर्ष पुनरा किया । बुरी दशा में पर बर पुनरा । उ०—हुक हिस हवा को छोड़ मियाँ मन देस विदेस फिरे मारा ।—मज़ीर ।

मारामक—वि० [सं०] (१) हिसक । (२) दुष्ट । (३) मान-मासक । सांपातिक ।

मारामिभू—छंछा पुं० [सं०] बुद्धदेव ।

मारामार—कि० वि० [हि० मारना] अत्यंत शीघ्रता से । बहुत जल्दी । उ०—मैं अयोध्या के राजा का सारापी हूँ । दमपती का स्वयंवर आज ही सुनके मारामार घोड़ों को यहाँ लाया हूँ ।—शिवप्रसाद ।

छंछा स्त्री० दे० “मारपीट” ।

मारि—छंछा स्त्री० [सं०] (१) मार डालना । बघ करना । (२) मरी (सोग) ।

मारिचल—छंछा पुं० दे० “मारिच” ।

छंछा पुं० दे० “मारच” ।

मारित—वि० [सं०] (१) जो मार डाला गया हो । निहत । (२) जो मस कर दिया गया हो । (दूधक)

मारिप—छंछा पुं० [सं०] (१) नाटक का पृथ्वार । (२) नाटक में किसी मान्य या प्रतिष्ठित व्यक्ति के छिपे संभोग । (३) मरसा नामक साग ।

मारिया—छंछा स्त्री० [सं०] दूध की माता का नाम ।

मारी—छंछा स्त्री० [हि० मारना] कोई ऐसा संक्रामक रोग जिसके कारण बहुत से लोग एक साथ मरें । मारी । जैसे,—ईम,

प्रेम, वैचक इत्यादि । दे० "मरी" । उ०—(क) ईति भीति
ग्रह प्रते चौरानल व्याधि याथा समनघोर मारी ।—मुलसी ।

(ख) सब जदपि अमारीपर तदपि मारी सम परदल
धैसत ।—गोपाल ।

संज्ञा पुं० [सं० मारिच] हत्या करनेवाला । घातक ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चंडी । (२) माहेचरी शक्ति । (३)
मरी । (रोग)

मारीच-संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार वह राक्षस जिसने
सोने का हिरन बनकर रामचंद्र को धोखा दिया था ।

मारीचपत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] सरल वृक्ष ।

मारीचचल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिर्च का पेड़ ।

मारीच-संज्ञा पुं० [सं०] मरसा साग ।

मारीची-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के देवता ।

मारीच्य-संज्ञा पुं० [सं०] अस्मिता ।

मारुंड-संज्ञा पुं० [सं०] साँप का अंडा ।

मारुण-संज्ञा स्त्री० दे० "मार" ।

मारुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । पवन । हवा । (२) वायु
का अधिपति देवता ।

यौ०—मारुतनंदन, मारुतसुत, मापुततनय = हनुमान ।

मारुतसुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान । (२) भीम ।

मारुतापह-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण वृक्ष ।

मारुताशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय । (२) साँप ।

मारुति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान । (२) भीम ।

मारुदेव-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन पर्वत का नाम ।

मारुध-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम ।

मारु-संज्ञा पुं० [हि० मारु] (१) एक राग जो युद्ध के समय
बनाया और गाया जाता है । इसमें सब शुद्ध स्वर लगते

हैं । यह श्रीराग का पुत्र माना जाता है । उ०—(क) मेरी
मारीर बाज सहनाई । मारु राग सुभट सुखदाई ।—मुलसी ।

(ख) सैयद समर्थ भूत अली अकबर दल चलत बजाय मारु
हुंनुमी प्रकान की ।—गुमान । (ग) रण की टंकार गाजे

हुंनुमी मैं मारु बाजे तेरे जीय ऐसो रद मेरी ओर
छरेगे ।—हनु । (२) बहुत बढ़ा टंकार था मगाड़ा । जंगी

पौसा । उ०—उस काल मारु जो बाजता था, सो तो
मेघ सा गानता था ।—लल्लू ।

संज्ञा पुं० [सं० मरुभि] मरुदेश निवासी । मारवादी ।

उ०—प्यासे हुपहर जेठ के थके सबै जल सोधि । मरुधर
पाय मतीरू मारु कहत पयोधि ।—विहारी ।

वि० [हि० मारु] (१) मारनेवाला । (२) हृदयवैद्यक ।

कथील । उ०—कानल लगे हुए मारु नयनों के कटाक्ष
धरने सामने तरणियों को क्या समझते थे ।—गदाधरसिंह ।

संज्ञा पुं० [दे०] (१) एक प्रकार का शाहबख्त जो शिमले

और नैनीताल में अधिकता से पाया जाता है । इसकी
लकड़ी केवल जलाने और कोयला बनाने के काम में आती
है । इसके पत्ते और गोंद चमड़ा रँगने में काम आते हैं ।

(२) काकरोजी रंग ।

मारुत-संज्ञा स्त्री० [हि० मारु] घोड़ों के पिछले पैरों की एक
भीरी जो मनहूस समझी जाती है ।

संज्ञा पुं० [सं० मारुति] हनुमान । (हि०)

मारु-अर्थ [हि० मारु] बजह से । कारण से । उ०—(क) मैं
गये फिरि, फेन बहै मुख, चैन रह्यो नहि मैं के मारे ।—

पद्माकर । (ख) परंतु आश्रम की छांटे हुए दुःख के मारे
पाँव आगे नहीं पड़ते ।—लक्ष्मणसिंह । (ग) मेरे नाम से

चूल्हे की राख भी रखी रहे, तौ भी लोगों के मारे बचने नहीं
पाती ।—दुर्गाप्रसाद मिश्र । (घ) कुँअर कहीं वे बूढ़

दिचारे । छँदेन धर्म प्यास के मारे ।—रघुनाथदास ।

(ङ) तिस समय एक बड़ी आँधी चली कि जिसके मारे
पृथ्वी डोलने लगी ।—लल्लू ।

मार्कंड-संज्ञा पुं० दे० "मार्कंडेय" ।

मार्कंडेय-संज्ञा पुं० [सं०] मुकंद ऋषि के पुत्र जिनके विषय में
यह प्रसिद्ध है कि वे अपने तपोबल से सदा जीवित रहते

हैं और रहेंगे ।

मार्क-संज्ञा पुं० दे० "मार्क" ।

संज्ञा पुं० [सं०] शृंगराज । भैरव ।

मार्कर, मार्कव-संज्ञा पुं० [सं०] शृंगराज । भैरव ।

मार्क-संज्ञा पुं० [सं०] कोई अंक वा चिह्न जो किसी विशेष बात
का सूचक हो । संकेत । छाप ।

मार्कंड-संज्ञा पुं० [सं०] बाजरा । हट ।

मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रास्ता । रथ । (२) गुदा । (३)

कस्तुरी । (४) अंगहन का महीना । उ०—हिम श्रुत मार्ग
मांस सुखमूल । ग्रह तिथि मखत योग अनुकूल ।—रघु

नाथदास । (५) श्रुतिरा नक्षत्र । (६) विष्णु । (७) लाल
अपमार्ग ।

वि० [सं०] शृंग-संबंधी ।

मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] अंगहन का महीना ।

मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्वेषण । द्वंद्व । (२) प्रेम । (३)

वाचक । मिश्रमंगा ।

मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] केवट ।

मार्गधेनु-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक योजन का परिमाण ।

मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] मार्ग । यात्रा । तीर ।

मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] राज्य का वह कर्मचारी जो
मार्गों का निरीक्षण करता हो ।

मार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति निपाद

पिता और आपोगवी माता से मानी जाती है ।

मार्गपत्ती-संज्ञा स्त्री० [सं०] यह देवी जो मार्ग चलनेवालों की रक्षा करनेवाली मानी जाती है ।

मार्गवेद-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक कृषिकुमार का नाम ।

मार्गथिर-संज्ञा पुं० [सं० मार्गथी] अगहन का महीना । मार्ग-दीर्घ ।

मार्गशिरस्-संज्ञा पुं० दे० "मार्गशीर्ष" ।

मार्गशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] अगहन का महीना ।

मार्गिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पथिक । यात्री । (२) मृगों को मारनेवाला, श्वाश ।

मार्गी-संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में एक सृष्टेना जिसका स्वर ग्राम इस प्रकार है—नि, स, रे, ग, म, प, ध । म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स ।

मार्ग पुं० [सं० मार्गिन] मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति । रास्ता चलनेवाला । यथोद्दी ।

मार्गीय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम गान ।

मार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अँगरेजी तीसरा मास जो प्रायः फागुन में पड़ता है । फरवरी के बाद और अमैल के पहले पड़नेवाला अँगरेजी महीना । (२) गमन । गति । (३) सेना का कूच । सेना का प्रस्थान ।

मार्ज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार्जन । (२) विष्णु । (३) धोबी ।

मार्जन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साफ करने का भाव । स्वच्छ करना । (२) सफाई । (३) लोच का दूध । (४) लोच ।

मार्जना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफाई । (२) क्षमा । माफी ।

मार्जनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्षमा । माफी । (२) अथवा स्वर की चार ध्रुतियों में से अंतिम ध्रुति । (संगीत)

मार्जनीय-संज्ञा पुं० [सं०] अमि ।

वि० मार्जन करने योग्य ।

मार्जार-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मार्जरा] (१) बिलार । बिल्ली । (२) काल चीता (वृक्ष) । (३) वृषिसारथी ।

मार्जारक-संज्ञा पुं० [सं०] मोर ।

मार्जारकक्षिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] धातुका का एक नाम ।

मार्जारवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुद्रागर्णी ।

मार्जारपाद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धुरे लक्ष्मणाला घोड़ा ।

मार्जरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कस्तूरी । (२) मृगनाम्नी ।

मार्जरी टोड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मार्जरी + टोड़ी] संज्ञां जाति की एक रागिनी जिसमें सप्त कोमल स्वर-स्वराते हैं ।

मार्जरीय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिल्ली । (२) घृष्ट ।

मार्जरीय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिल्ली । (२) घृष्ट । (३) शिव । (४) एक कवि का नाम ।

मार्जित-वि० [सं०] स्वच्छ किया हुआ । साफ किया हुआ ।

मार्ग पुं० [सं०] एक प्रकार का प्राचीन राश पदार्थ जो

दही, चीनी, शहद और मिर्च आदि को मिलाकर और उसमें कपूर डालकर बनाया जाता था ।

मार्तंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) आक का दृष्ट । (३) सूर्य । (४) सोनामन्त्री ।

मार्तंडवल्गमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य की पत्नी, प्राया ।

मार्त्तिकावत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणावतार केदि राज्य का एक प्राचीन नगर । (२) उस देश का निवासी ।

मार्द्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अहंकार का रवण । अभिमान रहित होना । (२) दूसरे को दुखी देखकर दुखी होना । (३) सरलता । (४) एक प्राचीन संस्कार जानि । इस जानि के लोग बहुत मृदु स्वभाव के होते थे ।

मार्द्विक-संज्ञा पुं० [सं०] अंगूर की शराप ।

मार्फत-मध्य [सं०] द्वारा । जरिए से । जैसे,—आपकी मार्फत सब काम हो जायगा ।

मार्मिक-वि० [सं०] मर्म स्थान पर प्रभाव डालनेवाला । जिसका प्रभाव मर्म पर पड़े । विशेष प्रभावशाली । जैसे,—मार्मिक व्याख्यान । मार्मिक कवित ।

मार्मिकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मार्मिक होने का भाव । (२) किसी वस्तु के मर्म तक पहुँचने का भाव । पूर्ण अभिज्ञता । जैसे,—संगीत के संबंध में आपकी मार्मिकता प्रसिद्ध है ।

मार्य-संज्ञा पुं० दे० "मारिय" ।

माल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षेत्र । (२) पट । (३) बन । जंगल । (४) हस्ताल । (५) विष्णु । (६) एक प्राचीन जनार्ण जानि । भागवत में इसे श्लेष लिखा है । (७) एक देश का नाम ।

छ संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ती लड़नेवाला । दे० "मल" । उ०—(क) कहूँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गजेंहीं ।—तुलसी । (ख) योगी घर मेंले सप पावें । उनी माल आपे रन काटे ।—जायसी ।

† संज्ञा स्त्री० [सं०] माला । हार । उ०—(क) विनय प्रेम-यस अहं भवानी । रासी माल मूलि मुमुक्षुनी ।—तुलसी । (ख) पहिरि छिंयो छन मलि भ्रमुर बल और नमन विदारी । रक्षिर वान करि अति माल परि अप बल शब्द सुकारी ।—घूर । (ग) चंदन चित्रित रंग, सिंधुपान बह जानिपु । बहुत बादिनी संग, मुकुटा माल बिसाल बर ।—केशव । (घ) बिजने काज पलाइपु चपराई की बाज । बहै देत गुन राखैः सप गुन सिंगुन माल ।—बिरारी ।

(२) यह रस्सी या सूत की सोरी जो चारों में मुरी का बेलन पर से होकर जाती है और देखु को घुमानी है ।

(३) धंकि । पंती । उ०—(क) सेबक मन । मानस माल से । पवन गंग सरंग माल से ।—तुलसी । (ख) बाली बिसाल बिकराल ज्वाल माल मानो संक ललित की काज

रसना पसारी है।—तुलसी। (ग) धाम धामनि भागि की
बहु ज्वाल माल विराजहीं। पवन के शकलोर से हैंदरी
झरोते याजहीं।—केशव। (घ) गीधन की माल कहुं बंधु
कराल कहुं नाचत धैताल छै कपल जाल जात से।—
हनुमन्नाटक।

संज्ञा पुं० [म०] (१) संपत्ति। धन। उ०—(क) भली
करी उन प्रयास यँथापु। बरज्यो नहीं कछो उन मेरी अति
आतुर उठि पापु। अल्प चोर बहु माल छुमाने संगी सबन
धरापु। निदरि गए तैसो फल पायो अच वे भए परापु।—
सूर। (ख) धाम औ धरा को माल बाल अवला को अरि
सजत परान राह चहत परान की—गुमान। (ग) मालन
चोरी सौं अरी परकि रहैउ नैदलाल। चोरन लागी अब
छली नैहिन को मन-माल।—रसनिधि।

यौ०—मालजाना। मालगाड़ी। मालगोदाम। मालज्ञानि।
माल मनकूला। माल गैरमनकूला। मालदार आदि।

मुहा०—माल उदाना = (१) बहुत रूपया खर्च करना। धन का
अपव्यय करना। (२) किसी की संपत्ति को हड़प लेना। दूसरे का
माल अतृप्त रूप से ले लेना। माल काटना = किसी के धन
को अतृप्त रूप से अधिकार में लाना। माल उड़ाना। माल
धीरना = पराया धन हड़पना। माल उड़ाना। माल मारना।
माल मारना = अनुचित रूप से पराया धन पर अधिकार करना।
पराया धन हड़पना। दूसरे की संपत्ति दबा बैठना।

(२) सामग्री। सामान। असबाब। उ०—(क) कछो तुमहिं
हम को का वृत्ति-। छै लै नाम सुनावहु तुम हीं ओ सौं
कहा अरुणति। तुम जानति मैं हूँ कछु जानत जो जो
माल तुम्हारे। डारि देहु जा पर जो लागी मारग चली
हमारे।—सूर। (ख) मिठी ज्वार भाटा हू की नीम ही
निकरि। छीग कहत है भरे माल कूँ कृति हु दारे।—धीरधर।

मुहा०—माल काटना = चलती रेलगाड़ी में से बा मालगुदाम आदि
में से माल चुराना। माल ढाल = धन संपत्ति। माल असवान।
माल मत्ता = माल असवान।

(३) क्रय विक्रय का पदार्थ। (४) वह धन जो कर में
मिलता है। (५) फसल की उपज। (६) उत्तम और सुखादु
भोजन।

मुहा०—माल उड़ाना = सुखादु और बहुमूल्य भोजन करना।

(७) गणित में वर्ग का घात। वर्ग अंक। (८) किसी वस्तु
का सार द्रव्य। वह द्रव्य जिससे कोई चीज बनी हो।
जैसे,—(क) इस शँगूड़ी का माल अच्छा है। (ख) इस
कढ़े का माल खोटा है। (ग) एक धोबे पोस्त से दो सेर
अच्छा माल निकलता है। (९) सुंदर स्त्री। युवती।
(बाजारू)।

मालकैंगनी-संज्ञा स्त्री० [हि० माल + कैंगनी] एक छता का

नाम जो हिमालय पर्वत पर सेलम नदी से आसाम तक
४००० फुट की ऊँचाई तक तथा उत्तरीय भारत, बरमा और
लंका में पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ गोल और कुछ
कुछ नुकीली होती हैं। यह लता पेड़ों पर फैलती है और
उन्हीं आच्छादित कर लेती है। चैत के महीने में इसमें घोंद
के घोंद फूल लगते हैं और सारी लता-फूलों से लदी हुई
दिखाई पड़ती है। फूलों के शब्द जाने पर इसमें नीले नीले
फल लगते हैं जो पकने पर पीले रंग के और मटर के दरावर
होते हैं, जिनके भीतर से लाल लाल दाने निकलते हैं। इन
दानों में तेल का अंश अधिक होता है जिससे इन्हें पेरकर
तेल निकाला जाता है। मद्रास में उत्तरीय सरकार तथा
ब्रिजिगापट्टम, दलीरा आदि स्थानों में इसका तेल बहुत
अधिक तैयार होता है। यह तेल नारंगी रंग का होता है
और औषध में काम आता है। वैद्यक के अनुसार इसका
स्वाद चरपरापन लिए कड़वा, इसकी प्रकृति रस और
गर्म तथा इसका गुण अग्नि, मेधा, स्मृतिवर्द्धक और वात,
कफ तथा दाह की वाशक बतलाई गई है।

पर्या०—महागोपेलिष्मती। तीक्ष्ण। तेजोवती। कनकप्रभा।
सुरलता। अक्षिकला। मेधावती। पीता इत्यादि।

मालकैंगनी-संज्ञा स्त्री० दे० "मालकैंगनी"।

मालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थल पत्र। (२) नीम।

† संज्ञा पुं० दे० "मालिक"।

मालकगुनी-संज्ञा स्त्री० दे० "मालकैंगनी"।

मालका-संज्ञा स्त्री० [सं०] माला।

मालकुंडा-संज्ञा पुं० [हि० माल + हि० कुंडा] वह कुंडा जिसमें
नील कड़ाहें में ढाले जाने के पहले रखा जाता है।

मालकौश-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग का नाम जिसे कौशिक राग
भी कहते हैं। हनुमन्त ने इसे छः रागों के अंतर्गत माना है।
यह संपूर्ण जाति का राग है। इसका स्वरूप धीर रस
युक्त, रक्त वर्ण, धीर पुरुषों से आवेष्टित, हाथ में रक्त वर्ण
का दंड लिए और गले में मुंड माला धारण किए लिखा
गया है। कोई कोई इसे नील वक्षधारी, श्वेत दंड लिए और
गले में मोतियों की माला धारण किए हुए मानते हैं।
इसकी ऋतु शरद और काल रात का पिछला पहर है।
कोई कोई निश्चिर और वसंत ऋतु को भी इसकी ऋतु
बतलाते हैं। हनुमन्त के मत से कौशिकी, देवगिरी, घरवारी,
सोहनी और नीलवती ये पाँच इसकी प्रियाएँ और बागिचरी,
ककुमा, पर्यंका, शोमनी और खंभाती ये पाँच भाव्याएँ
तथा माधव, भोजन, सिंधु, मारु, मेवाड़, कुंतल, कटिया,
सोम, पिहार और नीलरंग ये दश पुत्र हैं। परंतु अन्यत्र
बागिचरी, बहार, दाहना, अताना, छाया और कुमारी
नाम की इसकी रागिनियाँ, मंकी और जपजयवती

सहचरियाँ, केदारा, हम्मीर नट, कामोद, सन्माच और यहार नामक पुत्र और भूगली, कामिनी, सिंहादी, कामोदी और विजया नाम की पुत्र-पुत्रियाँ मानी गई हैं। कुछ लोग इसे संकर राग मानते हैं और इसकी उत्पत्ति पट सारंग, हिंदोल, पसंत, जयजयवंती और पंचम के योग से बतलाते हैं। रागमाला में इसे पाटल वर्ण, नीलपरिच्छद, यौवन-मदमय, यष्टिधारी और स्त्री-गण से परिवेष्टित, गले में दागुओं के मुंड की माला पहने, हाथ में निरत लिखा है; और चौरी, गौरी, गुणकरी, खमाती और ककुमा नाम की पाँच छियाँ, मारु, मेयाइ, बहंस, प्रबल, चंद्रक, मंद, अमर और सुवर नामक आठ पुत्र बतलाए हैं; और भरत ने गौरी, देवावती, देवदासी, संभावती और कौकमा नाम की पाँच भाव्याँ और गोधार, शुद्ध, मकर, त्रिजन, सहान, मल्लकलन, मालीगौर और कामोद नामक आठ पुत्र और घनाश्री, मालश्री, जयश्री, सुगोरायी, दुर्गा, गोंधारी, भीमपहासी और कामोदी नाम की उनकी भाव्याँ लिखी हैं।

मालकोस—पंथा पुं० दे० “मालकोस”।

मालखाना—पंथा पुं० [फा०] यह स्थान जहाँ पर माल असबाब जमा होता हो या रखा जाता हो। भंडार।

मालगाड़ी—पंथा पुं० [हि० माल + गाड़ी] रेल में वह गाड़ी जिसमें केवल माल असबाब भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाता है। ऐसी गाड़ियों में यात्री नहीं जाने पाते।

मालगुजारी—पंथा पुं० [फा०] (१) मालगुजारी देनेवाला पुरुष। (२) मध्य-प्रदेश में एक प्रकार के जमींदार जो किसानों से बहुत बरके सरकार को मालगुजारी देते हैं।

मालगुजारी—पंथा स्त्री० [फा०] (१) वह भूमि-कर जो जमींदार से सरकार लेती है। (२) लगान।

मालगुजारी—पंथा स्त्री० [सं०] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। कुछ लोग इसे गौरी और शोड से बनी हुई संकर रागिनी मानते हैं।

मालगोदाम—पंथा पुं० [हि० माल + गोदाम] (१) वह स्थान जहाँ पर ब्यापार का माल रखा जाता है या जमा रहता है। (२) रेल के स्टेशनों पर वह स्थान जहाँ मालगाड़ी से भेजा जानेवाला अथवा आया हुआ माल रहता है।

मालचमक—पंथा पुं० [सं०] उठे पर का वह जोड़ जो कमर के नीचे जाँघ की हड्डी और कूद में होता है। कूहा। थका।

मालजातक—पंथा पुं० [सं०] गंधमिद्राव। गंधमाजोर।

मालटा—पंथा स्त्री० [सं०] मध्य। एक प्रकार की लाल रंग की भारी जो देग में सुँवर और खाने में बहुत स्वादिष्ट होती है। गुजराती और लखनऊ में यह बहुत पावत से होती है।

मालती—पंथा स्त्री० दे० “मालती”।

मालतिका—पंथा स्त्री० [सं०] कात्तिकेय की एक नाम का नाम।

मालती—पंथा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की लता का नाम जो हिमालय और विश्व पर्वत के जंगलों में अधिकता से होती है। इसकी पत्तियाँ लंबोती और मुकीली, बाई तीन अंगुल चौड़ी और चार पाँच अंगुल लंबी होती हैं। यह सुगन्धक लता है और बड़े से बड़े वृक्ष पर भी घटाटोप फैली है। यह बरसात के प्रारंभ में फूलती है। इसमें फूलों के भीड़ लगते हैं। फूल सफेद होता है जिसमें वैष्णवियाँ होती हैं, जिनके नीचे दो अंगुल का लंबा डंठल होता है। इस वृक्ष में भीनी मधुर सुगंध होती है। फूल लहने पर वृक्ष के नीचे फूलों का बिछोना सा बिछ जाता है। जब वह लता फूलती है, तब भीरे और मधुमक्खियाँ प्रातःकाल उस पर चारों ओर गुंमारती फिरती हैं। यह उद्यानों में भी लगाई जाती है; पर इसके फैलने के लिये थड़े वृक्ष या मंडप आदि की आवश्यकता होती है। यह कथियों की बड़ी पुरानी परिचित पुष्पलता है। कालिदास से लेकर आज तक के प्रायः सभी कथियों ने अपनी कथिता में इसका वर्णन बराबर किया है। कितने कोसकारों ने धनयथा होने चमेरी भी लिखा है। उ०—(क) सोनजई मगू फूली सेवती। रूप-मंजरी और मालती।—जयमसी। (ख) देखहु यों प्रागर्षि निकल बढी की गति, मालती सों मिच्यो चाँह छीने साप आलिनी।—केशव। (ग) धाम प्रदीक निवारि कलित ललित अलि पुंज। जमुना तीर तमाल सह मिलित मालती कुंज।—विहारी। (घ) छः अक्षरों की एक वर्णवृत्ति का नाम। इसके प्रत्येक चरण में दो गणन होते हैं। उ०—जो वै जिय जोर। तजौ सब शोर। सरासन सोर। हरी गुन कोरि।—केशव। (२) बारह अक्षरों की एक वर्णिक वृत्ति का नाम। इसके प्रत्येक चरण में नगण, दो गणन और भंन में गणन होता है। उ०—निपिन विराध बलिह दूखिये। नृप तनया भयभीत लेखिये। तब रघुनाथ बाध के हयो। निज निर्गथा पंथ को डयो।—केशव। (३) सदैव के मधुगर्वद नामक भेद का दूसरा नाम। (४) सुपत्नी। (५) चंद्रिनी। ज्योतरना। (६) सखि। राव। (७) पादा। पादा। (८) जायफल का पेड़। जाती।

मालतीसारक—पंथा पुं० [सं०] सोहागा।

मालतीजात—पंथा पुं० [सं०] सोहागा।

मालती टोड़ी—पंथा स्त्री० [हि० मालती + टोरी] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

मालतीतीरज—पंथा पुं० [सं०] सोहागा।

मालतीपत्रिका—पंथा स्त्री० [सं०] जानीपत्री। जानिप्री।

मालती फल—पंथा पुं० [सं०] जायफल।

मालद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माल्मीकीय रामायण के अनुसार एक प्रदेश का नाम जिसे तादका ने उजाड़ दिया था । (२)

मालदेय पुराण के अनुसार एक अनार्य्य जाति का नाम ।

मालदह-संज्ञा पुं० [देश०] (१) भागलपुर के पास के एक नगर का नाम जहाँ का आम अच्छा होता है । (२) उक्त नगर के आस पास होनेवाला एक प्रकार का बड़ा आम जो प्रायः कलमी होता है ।

मालदही-संज्ञा स्त्री० [हिं० मालदह] (१) एक प्रकार की नाव जिसमें माझी छप्पर के नीचे बैठकर खेते हैं । (२) एक प्रकार का रेशमी डोरिया (कपड़ा) जो पहले मालदह में बनता था और जिसके लहंगे बनाए जाते थे ।

मालदा-संज्ञा पुं० दे० "मालदह" ।

मालदार-वि० [फा०] धनवान् । धनी । संपन्न ।

मालद्वीप-संज्ञा पुं० [सं० मलयद्वीप] भारतीय महासागर में भारत-वर्ष के पश्चिम ओर के एक द्वीपसमूह का नाम । इस द्वीप-समूह में बार छोटे छोटे द्वीप हैं ।

मालन-संज्ञा स्त्री० दे० "माली" ।

मालपुत्रा-संज्ञा पुं० दे० "मालपूत्रा" ।

मालपूत्रा-संज्ञा पुं० [सं० पूष] एक पक्षवान का नाम । गेहूँ के भाटे या सूजी को शक्कर के रस में गीला घोलते हैं । फिर उसमें चिरौंजी, पिस्ता आदि मिलाकर धीमी आँच पर धी में थोड़ा थोड़ा डालकर सिकाकर छान लेते हैं । कभी कभी पानी की जगह घोलते समय इसमें दूध या दही भी मिलते हैं ।

मालपूत्रा-संज्ञा पुं० दे० "मालपूत्रा" ।

मालपरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मालावार] एक प्रकार की ईंट जो चूरा में होती है ।

मालमजिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के खेल का नाम ।

मालमंडारी-संज्ञा पुं० [हिं० माल + मंडारी] जहान पर का वह कर्मचारी जिसके अधिकार में लदे हुए माल रहते हैं । (लडा०)

मालभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं० मलभूमि] एक प्रदेश का नाम जो नेपाल के पूर्व में है ।

मालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन । (२) गरुड़ के पुत्र को नाम । (३) व्यापारियों का झुंड ।

वि० मलय संबंधी ।

मालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मालवा देश । (२) एक राग का नाम, जिसे भैरव राग भी कहते हैं । संगीत दामोदर में इसका रूप माला पहने, हरित वस्त्रधारी, कानों में कुंडल धारण किए, संगीत शाला में छियाँ के साथ बैठा हुआ लिखा है । इसकी धनश्री, मालश्री, रामश्री, सिंधुदा, भासावरी और भैरवी नाम की छः रागिनियाँ हैं । कोई कोई

इसे पांडव जाति का और कोई संपूर्ण जाति का राग मानते हैं । पांडव माननेवाले इसमें 'मध्यम' स्वर वर्जित मानते हैं । यह रात को १६ दंड से २० दंड तक गाया जाता है ।

(३) मालव देश-वासी या मालव देश में उत्पन्न पुरुष ।

(४) सफेद लोच ।

वि० मालव देश संबंधी । मालवे का ।

मालवक-वि० [सं०] मालवा देश संबंधी । मालवे का ।

संज्ञा पुं० मालव देश का निवासी ।

मालवगौड़-संज्ञा पुं० [सं०] पांडव जाति का एक संकर राग जिसमें पंचम स्वर नहीं लगता । इसका स्वर ग्राम म, ध, नि, स, रि, ग, म है । इसका उपयोग धीरे रस में किया जाता है । कुछ लोग इसे संपूर्ण जाति का मानते हैं और इसके गाने का समय सार्यकाल बतलाते हैं ।

मालवर्त्ति-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जाति का नाम ।

मालवश्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रीराग की एक रागिनी का नाम । यह संपूर्ण जाति की रागिनी है और इसके गाने का समय सार्यकाल है । नादव इसे मालव की रागिनी मानते हैं और हनुमन्व इसे हिंदोल राग की रागिनी लिखते हैं । हनुमन्व इसे ओढ़व जाति की मानते हैं और इसके गाने में धैर्य और गांधार को वर्जित लिखते हैं । इसे मालश्री और मालसी भी कहते हैं ।

मालवा-संज्ञा पुं० [सं० मालव] एक प्राचीन देश का नाम जो अब मध्य भारत में है । इसकी प्रधान नगरी अवन्ती है जो समलोकश्रवतिनी नदियों में गिनी गई है और जिसे भाजकल उज्जैन कहते हैं । इंदौर, भूपाल, धार, रतलाम, जावरा, राजगढ़, मृसिहगढ़ और ग्वालियर का राज्य नीमच तक इसी मालवा राज्य की सीमा के अंतर्गत है । यह बहुत प्राचीन देश है और अथर्व वेद की संहिता तक में इसका नाम मिलता है ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम ।

मालविका-संज्ञा स्त्री० [सं०] निसोय ।

मालविटपो-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुंभी पृष्ठ ।

मालवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) श्रीराग की एक रागिनी का नाम । यह ओढ़व जाति की है और हनुमन्व के मत में इसका स्वर ग्राम नि, सा, ग, म, ध, नि है । इसमें ध्रुपम और पंचम स्वर वर्जित हैं । कोई कोई इसे हिंदोल राग की रागिनी मानते हैं । (२) पाड़ा ।

वि० दे० "मालवीय" ।

मालवीय-वि० [सं०] मालव देश संबंधी । मालवे का । (२) मालव देश का निवासी । मालवे का रहनेवाला ।

मालश्री-संज्ञा स्त्री० दे० "मालवश्री" ।

मालसी-संज्ञा स्त्री० दे० "मालवश्री" ।

मालहायन—रंगा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।
मालांक—रंगा पुं० [सं०] भूस्त्रुण ।
माला—रंगा स्त्री० [सं०] (१) पंक्ति । अवली । जैसे—पर्वतमाला ।

(२) फूलों का हार । गजरा ।

विशेष—मालाएँ प्रायः फूलों, मोतियों, काठ या पत्थर के मनकों, लुह वृक्षों के पत्तों अथवा सोने, चाँदी आदि धातुओं से बने हुए दानों से बनाई जाती हैं । फूल या मनके आदि धागे में गुँथे होते हैं और धागे के दोनों छोर एक साथ किसी बड़े फूल या उसके गुच्छे या दाने में पिरोकर बाँध दिए जाते हैं । मालाएँ प्रायः शोभा के लिये धारण की जाती हैं । भिन्न भिन्न संप्रदायों की मालाएँ भिन्न भिन्न आकार और प्रकार की होती हैं और उनका उपयोग भी भिन्न होता है । हिंदुओं की जप करने की मालाएँ १०८ दानों या मनकों की अथवा इसके आधे, चौथाई या छठे भाग की होती हैं । भिन्न भिन्न संप्रदायों के लोग भिन्न भिन्न पदार्थों की मालाएँ धारण करते हैं । जैसे ध्वज्य वृक्ष की, दीव वृक्ष की, शाक रक्तचंदन, रक्तिक या वृक्ष की तथा अन्य संप्रदाय के लोग अन्य पदार्थों की मालाएँ धारण करते हैं । यह माला जिसमें अठारह या नौ दाने होते हैं, मुनिरानी कहलाती है ।

पद्यों—माल्य । चक्र । माहिक । गुणिक । गुणितिक ।

मुद्रा—माला केरना = जपना । जप करना । भजन करना ।

(३) समूह । हुंड । जैसे,—मेघमाला । (४) एक नदी का नाम । (५) दूध । (६) सुई आँवला । (७) उपजाति छंद के छंद के नाम । इसके प्रथम और द्वितीय चरण में जगण, तगण, जगण और अंत में दो गुरु तथा मीसर और चौथे चरण में दो तगण, फिर जगण और अंत में दो गुरु होते हैं । (८) काठ की लंबी छोटिया जिसमें बच्चों के लगाने का उबटन और तेल आदि रखा जाता है ।

मालाकंद—रंगा पुं० [सं०] (१) अपामार्ग । (२) एक शुक्ल का नाम ।

मालवर्द्ध—रंगा पुं० [सं०] एक प्रकार का वृक्ष । वृक्ष में इसे सीधे, दीपन, शुक्ल और गंधमाला रोग को दूरनेवाला तथा घात और कफ का नाशक लिखा है ।

पद्यों—मालवर्द्ध । वलवर्द्ध । पंक्तिवर्द्ध । त्रितान्त्रिदला । प्रविष्टदला । वंदलता ।

मालाकार—रंगा पुं० [सं०] [स्त्री०] मातृकार । (१) पुराणानुसार एक वर्णसंकर जाति का नाम । महावैवर्ष पुराण के अनुसार यह जाति विषयकर्म और गृह्य से उत्पन्न है, पर पराशर पद्धति के अनुसार यह तैत्तिरीय और कर्मकार से उत्पन्न है । (२) माही ।

मालागिरी—रंगा पुं० [सं०] मालगिरी । एक रंग का नाम । यह

रंग देख और नासफल से बनाया जाता है । सेर भर देह का फूल पानी में आठ दिन तक भिगोया जाता है जिसे दिन में दो बार चलाया जाता है । इसी प्रकार आप से नासफल की चुकनी पानी में भिगोई जाती और प्रतिदिन दो बार चलाई जाती है । फिर आठ दिन बाद दोनों के रंग अलग अलग छान लिए जाते और फिर मिला दिए जाते हैं । फिर इसमें छेद मारो हार रंग मिला दिया जाता है और तब उसमें दो बार कपड़ा रंगा जाता है । गुण के लिये इसमें, कपूर कचरी की जड़ भी पीसकर मिलाई जाती है ।

वि० मालागिरी रंग में रंगा हुआ ।

मालागुच्छ—रंगा पुं० [सं०] गले का हार ।

मालागुच्छा—रंगा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का अस्वास्थ्य रोग जिसे छत्रा कहते हैं ।

मालातृण—रंगा पुं० [सं०] भूस्त्रुण ।

मालादीपक—रंगा पुं० [सं०] एक अलंकार का नाम । इसमें एक धर्म के साथ उत्तरोत्तर धर्मियों का संबंध वर्णित होता है या पूर्व-कथित वस्तु को उत्तरोत्तर वस्तु के उत्कर्ष का हेतु बतलाया जाता है । इस अलंकार को कविराम मुरारिदास ने संकर अलंकार माना है और इसे दीपक तथा श्रृंखलालंकार का समुच्चय कहा है । उ०—रस को काम्य अरु काय्य सौं सोहत बचन महान । वाणी ही सौं रतिकरन निन सौं सभा सुजाय ।

मालादुर्घा—रंगा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की वृक्ष जिसमें बहुत सी गोटें होती हैं । इसे गंद दुर्घा भी कहते हैं । वृक्ष में इसका स्वाद मधुर, तिक्त और गुण पित्र तथा कर्क-नाशक माना गया है ।

मालाधर—रंगा पुं० [सं०] सप्रह भक्तों के एक धर्मिक हार का नाम जिसके प्रत्येक चरण में गगन, सगन, जगन फिर सगन और सगन और अंत में एक लघु और द्वि गुरु होता है । उ०—चित्त हम सायं धनुं तुम्हरी चिता भो ।

मालाधार—रंगा पुं० [सं०] दिव्यावदान के अनुसार बीहों के एक देवता का नाम ।

मालाप्रस्थ—रंगा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर का नाम ।

मालाफल—रंगा पुं० [सं०] पदार्थ ।

मालामंत्र—रंगा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र ।

मालामणि—रंगा पुं० [सं०] वृक्ष ।

मालामनु—रंगा पुं० [सं०] माल-मंत्र ।

मालामाल—वि० [सं०] घन-घन्य से पूर्ण । संतत ।

मालारिद्धा—रंगा स्त्री० [सं०] पारी गन्ता जिसके पत्तों की गन्ना मुंगी प्रत्य में होती है ।

मालालिका—रंगा स्त्री० [सं०] वृक्ष । भगवत्पात्र ।

मालाती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दृक्का । असवरग ।

मालावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक संकर रागिनी का नाम जो पंचम, हम्मिर, नट और कामोद के संयोग से बनती है । कुछ लोग इसे मेघ राग की पुत्रवधू भी मानते हैं ।

मालिच-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन पर्वत का नाम ।

मालिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माली । (२) एक प्रकार की चिड़िया । (३) रजक । खोबी ।

संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० मालिका] (१) ईश्वर । अधिपति ।

३०—माया जीव ब्रह्म अनुमाना । मानत ही मालिक बौराना ।—कपीर । (२) स्वामी । (३) पति । सौहर ।

मालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रंगि । (२) माला । (३) गले में पहनने के एक आभूषण का नाम । (४) पक्षे मकान के ऊपर का खंड । राबटी । (५) द्राक्षा मद्य । अंगूर की शराब । (६) मद्य । (७) पुत्री । (८) चमेली । चंद्रमल्लिका । (९) अलंसी । (१०) मालिन । (११) मुरा । (१२) सेसला । सातरा ।

मालिकाना-संज्ञा पुं० [फा०] (१) यह कर, दस्तूरी वा हक जो मालिक-अदना या कब्जेदार मालिक तालुकदार को देते हैं । (२) स्वामी का अधिकार या स्वत्व । मिलकियत । स्वामित्व ।

कि० वि० मालिक की भौति । मालिक की तरह । जैसे,—मालिकाना तौर पर ।

मालिकी-संज्ञा स्त्री० [फा० मालिक + ई (भाव०)] (१) मालिक होने का भाव । (२) मालिक का स्वत्व ।

मालिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मालिन । (२) चंपा नगरी का एक नाम । (३) स्कंद की सात माताओं में से (जिन्हें मातृकाएँ कहते हैं) एक माता का नाम । (४) गौरी । (५) एक नदी का नाम जो हिमालय पर्वत में है । पुराणानुसार इसी के तट पर मेनका के गर्भ से शकुंतला का जन्म हुआ था । (६) मंदकिनी । गंगा । (७) कलियात्री । करियारी । (८) दुरालभा । जवासा । (९) एक वर्षिक वृक्ष का नाम । इसके प्रत्येक पाद में १५ अक्षर होते हैं जिनमें पहले छः वर्ण, दसवाँ और तेरहवाँ अक्षर लघु और दोष गुरु होते हैं (न न म य य) । जैसे,—‘अतुलित मलयाम् स्वर्णशैलामदेह’ वा ‘दसरथ सुत द्वैषी रद्व प्रज्ञा न भासै’ । इसे कोई कोई मात्रिक भी मानते हैं । (१०) मविरा नाम की एक वृत्ति का नाम । (११) महाभारत के अनुसार एक राजसी का नाम । (१२) मार्कंडेय पुराण के अनुसार रोष्य मनु की माता का नाम ।

मालिन्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलीनता । मैलापन । (२) गंधकार । भैंसेरा ।

मालिगंडन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक राजा का नाम ।

मालियत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कीमत । मूल्य । (२) संपत्ति । धन । (३) मूल्यवान् पदार्थ । कीमती चीज ।

मालिया-संज्ञा पुं० [देश०] मोटे रस्सों में दी जानेवाली एक प्रकार की गाँठ जिसका व्यवहार जहाज के पाल बाँधने में होता है । (लघा०)

मालिवान-संज्ञा पुं० दे० “माल्यावान्” ।

मालिश-संज्ञा स्त्री० [फा०] मलने का भाव वा क्रिया । मलवाई । मर्दन ।

माली-संज्ञा पुं० [सं० मालिक = प्रा० मालिय ।] [स्त्री० मालिनि, मालिन, मालन, मालिनी ।] (१) बाग की साँचने और पौधों को ठीक स्थान पर लगानेवाला पुरुष । यह जो पौधों को लगाने और उनकी रक्षा करने की विद्या जानता और इसी का व्यवसाय करता हो । ३०—पुलक घाटिका बाग बन सुख सुविहंग विहार । माली सुमन सनेह जल साँचत खेचन चार ।—मुलसी । (२) एक छोटी जाति का नाम । इस जाति के लोग बागों में फूल और फल के वृक्ष लगाते, उनकी कलमें काटते, फूलों को चुनते और उनकी मालाएँ बनाते और फूल तथा माला बेचते हैं । इस जाति को लोग शूद्र वर्ण के भंसेवत माने जाते हैं । इनके हाथ का छूभा जल ब्राह्मण-क्षत्रियपदि पीते हैं ।

वि० [सं० मालिन्] [स्त्री० मालिनी] जो माला धारण किए हो । माला पहने हुए ।

संज्ञा पुं० (१) वाल्मीकीय रामायण के अनुसार सुकेश राक्षस का पुत्र जो माल्यवान् और सुमाली का भाई था । (२) राजीवगण नामक छंद का दूसरा नाम ।

वि० [फा०, अ० माल से] माल से संबंध रखनेवाला । बाथिक । धन संबंधी । जैसे,—भाज कल उसकी माली हालत खराब है ।

माली गौड़-संज्ञा पुं० दे० “मालव गौड़” ।

मालीद-संज्ञा पुं० [अ० मालिवेना ?] एक धातु का नाम जो चाँदी की भाँति उज्ज्वल और चमकदार पर चाँदी से अधिक कड़ी होती है और बहुत तेज आँच में गलती है । इसका अठवीं भार ९९ होता है । इसका क्रोमियम, टंगस्टन और यूरेनियम से रासायनिक संबंध है और उनके स्रस्त्र ही इससे श्रव्यनिष्ठ बनता और सार के गुणों को धारण करता है । यह सफेद के रूप में मिलता है ।

मालीदा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मलीदा । घुरमा । (२) एक प्रकार का ऊनी कपड़ा जो बहुत कोमल और गरम होता है । यह कश्मीर और अमृतसर आदि स्थानों में बनता है । ऊनी चादर को छेकर गरम पानी में धुएँ मलने हैं जिससे उसके रोई बहुत गाढ़े और मुलायम हो जाते हैं । मालीदे की गिनती बढ़िया ऊनी कपड़ों में होती है ।

मालु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक लता का नाम जो पेड़ों में लिपटी है। (२) नारी।

मालुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मटमेल रंग का राजहंस।

मालुका-संज्ञा पुं० [सं०] अरमंतक। यहैदा।

मालुद-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध मतानुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

मालुधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का खोप। (२) आठ नागों में से एक नाग नाम। (३) महापुत्र।

मालुधानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक लता का नाम।

मालुक-संज्ञा पुं० [सं०] काली तुलसी। कृष्ण तुलसी।

मालुधानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता।

मालुस-वि० [सं०] जाना हुआ। ज्ञान। उ०—रिपि नारि उधार कियो, सह केवट मीत पुनीत सुकीर्ति लही। निज लोक दियो सेवरी लग को कपि थाप्पौ सो मालुस है सय ही। दससौस-विरोध-समीत विनीचन भूप कियो जन लोक रही। कदनानिधि को भजु रे तुलसी रघुनाथ अनाय के नाथ सही।—तुलसी।

मालु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घेह का पेड़। (२) कपित्थ। कैथ।

मालोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का उपमालंकार जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमान होते हैं और प्रत्येक उपमान के भिन्न भिन्न धर्म होते हैं। जैसे,—परम पयिनि है पुनीत पृथिवी में काज, पन प्रजापालन में जैसे भगपेस को। जाके भुज छगल सिराग धर्म क्षत्रिय को धरि भुविभार पन मंडन ज्यों लेस को। भक्त भुजार सच जगत उचार रहौ देली धन्य माग यहै मज्जर देस को। अथक समंद सोई, ताप-हर चंद सोई सुतमा सुदिंद सोई नंद तपस्व को।—सुरादास।

मालु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कूल। (२) माला। (३) वह माला जो स्त्रि पर धारण की जाय।

मालुयक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दमक। दीना। (२) माला।

मालुयजीयक-संज्ञा पुं० [सं०] माला बनानेवाला। मालाकार। माली।

मालुयपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] सज का पेड़। समई।

मालुयधन-संज्ञा पुं० दे० "मालुयवा"।

मालुयवा-संज्ञा पुं० दे० "मालुयवा"।

वि० [सं०] मालासी जो माला पहने हो।

मालुयपती-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन नदी का नाम।

वि० स्त्री० जो माला पहने हो।

मालुयवा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम। निर्दालि निर्दामलि में इन केतुमाल और ह्यवाहन पर्व के बीच का शिखर-पर्वत शिखर है और नील पर्वत से

निपथ पर्वत तक इसका विस्तार कहा है। (२) एक ताम्र जो सुकेला का पुत्र था और एक गंधर्व की कन्या सेवकी से उत्पन्न हुआ था। इसके भाई का नाम सुमाली था जिसकी कन्या कैकसी से रावण उत्पन्न हुआ था। (३) बंधई प्रांत में रयागिरि जिले के अंगैत एक परगने का नाम।

वि० [सं०] मालुयवा [सं०] मालासी जो माला पहने हो।

मालुय-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की घास।

मालु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वर्णसंकर जाति जो महादेवने में छोट पिता और धीयरी माता से उत्पन्न कही गई है। (२) दे० "मल"।

मालुय-संज्ञा स्त्री० [सं०] मलों की विद्या या कला।

मालु-संज्ञा स्त्री० दे० "माल"।

संज्ञा पुं० दे० "मल"।

मायत-संज्ञा पुं० दे० "महावत"। उ०—दियो पदाय स्थान निज पुर को मायत सह गजराज। आगे बले सुमा में पहुँचे जहाँ गुप सकल समाज।—सूर।

मायली-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण भारत की एक पहाड़ी वीर जाति का नाम। इस जाति के लोग सिंधा जी की सेना में अधिकृत थे। उ०—सावन भादों की भारी छह की भैय्या चढ़ि दुग पर जात मायलीदल सचैत है।—भूषण।

मायस-संज्ञा स्त्री० दे० "अमायस"। उ०—दुसह दुराज प्रमान को क्यों न करि अति दूँ। अधिक धँपेरे जाग कल मिलि मायस रहि चंद।—विहारी।

माया-संज्ञा पुं० [सं० मंद, दि० मंद] (१) मंद। पीछ। (२) सच। निष्कर्ष।

मुहा०—माया निकालना = मूख घोटना। कपूर निकालना।

(१) वह मूख जो नेहूँ आदि को निकाले वा कपूर निकाले

निचोढ़ने से निरुल्ला है। (२) प्रहृष्ट। (३) सोपा।

(४) बंधे के भीतर का पीला रस। मुरदा। (५) चंदन का

इस जिसे आधार बनावकर फूलों और गंध द्रव्यों का रूप

उतारा जाता है। जूमान। (६) वह गाढ़ा कटार मुगंभिज

द्रव्य जिसे तमाह में ढाँढकर उसे मुगंभिज करते हैं।

मुरीर। (७) मसाला। रामान। (८) हीरे की चुन्नी

जिससे मसखर सोने चोरी को चमकाने हैं वा उन वा

चुन्नी का शिल्प करते हैं।

मायासी १-संज्ञा स्त्री० दे० "मयासी"।

माया-संज्ञा पुं० दे० "माय"।

माया-संज्ञा पुं० [सं०] माय, चंद माय, मार। एक प्रकार का बाँस या मान निम्नका व्यवहार मोने, चोरी, रसों और भोजनियों के मालने में होता है। यह आठ रत्नी के बराबर होता है और एक तोके का बाराहवाँ भाग होता है।

संज्ञा पुं० [सं० महाराय] (१) भला आदमी । सखन ।
 शरीर । (बंगाली) (२) बंग देश का निवासी । बंगाली ।
 माशी-संज्ञा पुं० [हिं० माप = उद्द] (१) एक रंग जो कालापन
 लिए हरा होता है । कपड़े पर यह रंग कई पदार्थों में रंगने
 से आता है जिनमें हड़ का पानी, कसीस, हल्दी और
 अमर की छाल प्रधान हैं । इनमें रंगे जाने के बाद कपड़े
 को फिटकरी के पानी में धुवना पड़ता है । (२) जमीन की
 एक नाप जो २५० वर्ग गज की होती है ।
 वि० उद्द के रंग का । कालापन लिए हरे रंग का । माशी
 रंग का ।

माशूक-संज्ञा पुं० [अ०] [लो० माशूक] वह जिसके साथ प्रेम
 किया जाय । प्रेम-पात्र ।
 माशूकी-संज्ञा स्त्री० [का०] माशूक होने का भाव । प्रेम-पात्रता ।
 यौ०—आशिकी माशूकी ।
 माप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उद्द । (२) माशा । (३) शरीर के
 ऊपर काले रंग का उभरा हुआ दाग या दाग । मसा ।
 वि० मूँल ।
 संज्ञा स्त्री० दे० “मास” ।

मापक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माशा (तौल) । (२) उद्द ।
 मापतेल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का तेल
 जो अर्द्धाङ्ग, कंज आदि रोगों में उपयोगी माना जाता है ।
 मापन[क]-कि० सं० दे० “माखना” ।
 मापपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मापपत्री ।
 मापपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] वन माप । जंगली उद्द । वैद्यक में
 इसको घृष्य, बलकारक, शीतल और दुष्टिघर्दक माना है ।
 पत्र्यां—सिंहपुच्छी । क्षपिप्रोक्ता । कृष्णवृत्ता । पांडु ।
 होमपत्री ।
 मापयत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] उद्द की बनी हुई बड़ी । वि०
 दे० “मदी” ।

मापमकयलि-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक प्रकार
 का बलि जो दुर्गा, काली आदि को चढ़ाया जाता है । इसमें
 उद्द, भात, दही आदि कई पदार्थ होते हैं ।
 मापयोनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाण्ड ।
 मापरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीड़ । पीच ।
 मापरावि-संज्ञा पुं० [सं०] लाज्यायन सूत्रानुसार एक श्रुति का
 नाम । ये मापराविश्रुति के गोत्र में थे ।
 मापवर्द्धक-संज्ञा पुं० [सं०] स्पर्णकार । सुनार ।
 मापाव-संज्ञा पुं० [सं०] कबुआ ।
 मापाश-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा ।
 मापीण-संज्ञा पुं० [सं०] माप का सेत ।
 माप्य-संज्ञा पुं० [सं०] माप होने योग्य सेत । मशार ।

मास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । (२) महीना । मास ।
 मास-संज्ञा पुं० [सं०] काल के एक विभाग का नाम जो वर्ष
 के बारहवें भाग के बराबर होता है । महीना ।

विशेष—मास सौर, चांद्र, नाक्षत्र और सावन भेद से चार
 प्रकार का होता है । (क) सौर मास—उत्तरे काल की
 कहते हैं कितने काल तक सूर्य का उदय किसी एक राशि
 में हो; अर्थात् सूर्य की एक संक्रांति से दूसरी संक्रांति
 तक का समय सौर मास कहलाता है । यह मास प्रायः
 तीस, द्वातीस और कभी कभी उन्तीस और बत्तीस दिन का
 भी होता है । (ख) चांद्र मास—चंद्रमा की कला की वृद्धि
 और ह्रासवाले दो पक्षों का होता है जिन्हें शुक्ल और कृष्ण
 पक्ष कहते हैं । यह मास दो प्रकार का होता है—एक
 मुख्य और दूसरा गौण । जो मास शुक्ल प्रतिपदा से आरंभ
 होकर अमावास्या को समाप्त होता है, उसे मुख्य चांद्र
 मास कहते हैं । इसका दूसरा नाम अमांत भी है । गौण
 चांद्र मास कृष्ण प्रतिपदा से आरंभ होता और पूर्णिमा को
 समाप्त होता है । इसे पूर्णिमांत भी कहते हैं । दोनों प्रकार
 के मास अष्टादश दिन के और कभी कभी घट बढ़कर
 उन्तीस, तीस और सत्ताईस दिन के भी होते हैं । (ग)
 नाक्षत्र मास—उत्तरे काल है जितने में चंद्रमा सत्ताईस नक्षत्रों
 में भ्रमण करता है । यह मास लगभग २७ दिन का होता
 है और उस दिन से प्रारंभ होता है, जिस दिन चंद्रमा
 अधिनी नक्षत्र में प्रवेश करता है; और उस दिन समाप्त
 होता है, जिस दिन वह रेवती नक्षत्र से निकलता है । (घ)
 सावन मास का व्यवहार व्यापार आदि व्यावहारिक कामों
 में होता है और यह तीस दिन तक का होता है । यह
 किसी दिन से प्रारंभ होकर तीसवें दिन समाप्त होता है ।
 सौर और चांद्र भेद से इसके भी दो भेद हैं । सौर सावन
 मास सौर मास की किसी तिथि से और चांद्र सावन मास
 चांद्र मास की किसी तिथि या दिन से प्रारंभ होकर उसके
 तीसवें दिन समाप्त होता है । प्रत्येक संवत्सर में बारह सौर
 और बारह ही चांद्र मास होते हैं; पर सौर वर्ष ३६५ दिन
 का और चांद्र वर्ष ३५५ दिन का होता है, जिससे दोनों में
 प्रति वर्ष १० दिन का अंतर पड़ता है । इस वैषम्य को दूर
 करने के लिये प्रति तीसरे वर्ष बारह के स्थान में तेरह चांद्र
 मास होते हैं । ऐसे बड़े हुए मास को अधिमास या मलमास
 कहते हैं । वि० दे० “अधिमास” और “मलमास” ।

वैदिक काल में मास शब्द का व्यवहार चांद्र मास के लिये
 ही होता था । इसी से संहिताओं और ब्राह्मणों में कहीं
 बारह महीने का संवत्सर और कहीं तेरह महीने का संवत्सर
 मिलता है ।

अ-संज्ञा पुं० दे० “मांस” । उ०—बहक न यदि बहनापने

जय तय थीर विनास । कवि न बड़ी सखीलहू पील्ह धौमुभा
मास ।—विहारी ।

मासक-छंदा पुं० [सं०] महीना । मास ।

मासचारिक-वि० [सं०] जो एक मास तक कर्तव्य हो ।

मासद-छंदा पुं० [सं०] (१) दायूह नामक पक्षी । वनमुर्गी ।

(२) एक प्रकार का हिरन ।

मासताला-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाजा ।

मासन-छंदा पुं० [सं०] सोमराज के धौन ।

मासनाक्ष-कि० प्र० [सं०] मित्रव, हि० मीलना] मिलना ।

उ०—पंडित दूति पिबो घुम पानी । जा माटी के घर में
ढंढे सामें छुटि समानी । छप्पन कोटि जादो जहँ पिनसे
मुनि जन सहज भटासी । परग परग पिंगवर गाड़े ते सति
माटी मासी ।—कबीर ।

कि० प्र० मिलाना ।

मासप्रवेश-छंदा पुं० [सं०] महीने का प्रारंभ होना ।

मासकल-छंदा पुं० [सं०] यह पत्र जिसमें कलित ज्योतिष के
अनुसार महीने भर का शुभाशुभ फल लिखा हो । इसे मास-
पत्र भी कहते हैं ।

मासर-छंदा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का पेय पदार्थ जो
धानल के मोई और भंगूर के छटे हुए रस से बनाया जाता
था । इसका प्रयोग घरों में होता था । यह मादक होता
था । (काव्या० शीत खुर)

पदार्थ०—अधाम । निज्वाब ।

(२) कौजी ।

मासवर्धिका-छंदा स्त्री० [सं०] वषाभा या पवई की जाति का
एक पक्षी । सर्पघी ।

मासस्तोम-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का पूजाह यज्ञ ।

मासोत-छंदा पुं० [सं०] (१) महीने का अंत । (२) अमावास्या ।

(३) संक्रांति ।

मासा-छंदा पुं० दे० “मासा” ।

मासाधिप-छंदा पुं० [सं०] यह माह जो मास का स्वामी
हो । मासेषा ।

मासानुमासिक-वि० [सं०] प्रति मास संबंधी । प्रति मास का ।

मासिक-वि० [सं०] (१) मास संबंधी । महीने का । ईमे,—

मासिक भाप । मासिक कृष्य । मासिक वेतन । (२)

महीने में एक बार होनेवाला । ईमे,—मासिक आद ।

मासिक पत्र ।

यौ०—प्रमासिक । वामासिक ।

मासी-छंदा स्त्री० [सं०] माघमा, घा० मघुमा, प्रा० मघमा]
माँ की कहिन । मीसी । उ०—हम तो निरट अहीर बावरी
जोग हारिषे जानन । कड़ा कपन मासी के आने जानन
मानी पावन ।—सूर ।

मासीन-वि० [सं०] जिसकी अवस्था एक महीने की हो । महीने
भर का । एक महीने का ।

यौ०—द्विमासीन । पंचमासीन । पंचमासीन इत्यादि ।

मासुरकर्ण-छंदा पुं० [सं०] मासुरकर्ण के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।

मासुरी-छंदा स्त्री० [सं०] सुधुत के अनुसार चीर काढ़ के एक
दास या औजार का नाम ।

मासेधि-छंदा स्त्री० [सं०] यह इष्टि या यज्ञ जो प्रति मास हो ।

मास्टर-छंदा पुं० [सं०] (१) स्वामी । मालिक । (२) शिक्षक ।

गुरु । अध्यापक । उस्ताद । (३) किसी विषय में परम

प्रवीण । (४) बालकों के लिये व्यवहृत शब्द ।

मास्टरी-छंदा स्त्री० [सं०] मास्टर + री (प्रत्य०)] (१) मास्टर का

काम । पढ़ाने का काम । अध्यापकी । (२) मास्टर का भाव ।

मास्य-वि० [सं०] महीने भर का । जो एक महीने का हो ।

मासीन ।

माहँ०—मध्य० [सं०] मध्य, प्रा० मज्ज०] बीच । में । उ०—वा

सिमुपाल भ्रति थी दीनयंघु मज्जनाय कथै मुल वैतिहौ ।

कहि एसिमणि मन माहँ सयै सुख लेयिहौ ।—सूर ।

माह०—छंदा पुं० [सं०] माघ, प्रा० माह] माघ । उ०—(क)

गहली गरम सँ बोजिये समै सुहागहि पाप । तिय बी

जीवन जेठ सो माह न छाई सुहाय ।—विहारी । (ख)

गर्षणी निकसि बसिबदनी विहँसि तहाँ को हर्म गनत मरी

माह में मचति सी ।—देव ।

छंदा पुं० [सं०] माघ, प्रा० माह] माघ । उद्भूत ।

छंदा पुं० [प्रा०] मास । महीना ।

माहकस्थलक-वि० [सं०] (१) माहकस्थली में रहनेवाला ।

(२) माहकस्थली में उत्पन्न । (३) माहकस्थली संबंधी ।

माहकस्थली का ।

माहकस्थली-छंदा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम ।

माहकि-छंदा पुं० [सं०] (१) माहक नामक क्षत्रि के गोत्र में

उत्पन्न पुरुष । (२) एक आध्यात्म का नाम ।

माहक-छंदा स्त्री० [सं०] महता । महता । पढ़ाई ।

माहताय-छंदा पुं० [सं०] (१) महता (२) दे० “महताय” ।

माहतायी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) दे० “महतायी” । (२) एक

प्रकार का कपड़ा जिस पर धूल्य, चंद्रादि की सुनरी या

रंगवली आरतियाँ बनी रहती हैं । (३) अंगन में रेंवा

खुल हुआ चक्करा जिस पर लोग खरिनी में बंधते हैं । (४)

सरपट । (५) चक्रीगत मीन ।

माहन-छंदा पुं० [सं०] माघन (जो मघन होता है) ।

माहमाह-वि० प्र० दे० “उमाहमा” ।

माहनीय-छंदा पुं० [सं०] माघन ।

माहर-छंदा पुं० [सं०] माहर = रेंवा] रेंवावन । हनाक ।

माहली—माहर का फल = धो देखने में सुंदर हो, पर दुर्गुणों से मरा हो।

वि० दे० "माहिर"।

माहली-संज्ञा पुं० [हि० महल] (१) वह पुरुष जो अंतःपुर में जाता जाता हो। मछली। खोजा। (२) सेवक। दास। उ०—तुलसी सुभाद कहे नहीं किपु पक्षताप कौन ईस कियो, कीस आलु खास माहली।—तुलसी।

माहधार-क्रि० वि० [फा०] प्रति मास। महीने महीने।

वि० हर महीने का। मासिक।

संज्ञा पुं० महीने का वेतन।

माहद्वारी-वि० [फा०] हर महीने का। मासिक।

माहौं छूट-अव्य० दे० "महौं"।

माहात्म्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महिमा। गौरव। महत्व। बड़ाई। (२) आदर। मान।

माहिंछ-अव्य० [सं० मध्य, प्रा० मज्ज] (१) भीतर। अंदर। उ०—कर कमान सर सौंधिके लैचिजो मारा माहिं। भीतर बिधे सो मारिहै जीव पै जीवै नाहिं।—कबीर। (२) अधिकरण कारक का चिह्न, में या पर। उ०—घनघर देह घरी छिति माहिं। अनुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं।—तुलसी।

माहिक-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जाति का नाम।

माहित-संज्ञा पुं० [सं०] महित ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

माहित्य-संज्ञा पुं० [सं०] दातपय ब्राह्मण के अनुसार एक ऋषि का नाम।

माहित्य-संज्ञा पुं० [सं०] महित ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

माहित्र-संज्ञा पुं० [सं०] मनुस्मृति के अनुसार एक ऋषि का नाम।

माहित्य-संज्ञा स्त्री० [म०] (१) तत्व। भेद। (२) प्रकृति। (३) विवरण।

माहियाना-वि० [फा०] माह्यार।

संज्ञा पुं० मासिक वेतन।

माहिर-वि० [म०] ज्ञाता। जानकार। हाथर। उ०—सुधी सुधा सी सुभाष भरी पै, खरी रति केल कलान में माहिर।—नवाहिर।

संज्ञा पुं० [सं०] इन्द्र।

माहिला स्त्री-संज्ञा पुं० [म० मल्ल] मर्त्ति। मल्ल। उ०—कविरा मन का माहिला भयला बहै असोस। देखत ही दह में पड़े वेद किसी को दोस।—कबीर।

माहिय-वि० [सं०] (१) भैस का (दूध आदि)। (२) भैस संबंधी।

माहियक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन देश का नाम। (२) इस देश में रहनेवाली एक जाति का नाम।

माहियचल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] कालाविधारा। कृष्ण वृद्धदारक।

माहियचल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] छिरहटी।

माहियस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम।

माहियात्त-संज्ञा पुं० [सं०] भैसा गुग्गुलु।

माहियिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यामिचरिणी स्त्री का पति।

(२) भैस से जीविका निर्वाह करनेवाला व्यक्ति।

माहियिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

माहिष्मती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण देश के एक प्रसिद्ध प्राचीन

नगर का नाम। इसका उल्लेख पुराणों, महाभारत और बौद्ध ग्रंथों में आया है। यह माहिषमंडल नामक जनपद की राजधानी थी। पुराणों में इसे नर्मदा नदी के किनारे लिखा है। सह्याद्रि के यहाँ का रहनेवाला था। महाभारत में माहिष्मती और त्रिपुर का नाम साथ आया है। त्रिपुर को आजकल त्रिपुरी कहते हैं; पर माहिष्मती का अब तक ठीक पता नहीं है। पुरातत्वविद् कनिंघम साहब ने 'माहिषमंडल' के 'मंडल' शब्द को लेकर 'मंडला' नगर को माहिष्मती लिखा है।

माहिय्य-संज्ञा पुं० [सं०] स्मृतियों के अनुसार एक संकर जाति।

विशेष—याज्ञवल्क्य इसे क्षत्रिय पिता और वैश्य माता की औरस संतान मानते हैं। आश्वलायन इसे सुवर्ण नामक जाति से करण जाति की माता में उत्पन्न मानते हैं। सत्याद्रि खंड में इसको यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का वैश्यों के समान अधिकारी कहा है; पर आश्वलायन इसे यज्ञ कराने का निषेध करते हैं। इस जाति के लोग अब तक बालि द्वीप में मिलते हैं और अपने को माहिय्य क्षत्रिय कहते हैं। संभवतः ये लोग किसी समय माहिषमंडल देश के रहनेवाले होंगे।

माहौंछ-अव्य० दे० "माहिं"।

माही-संज्ञा स्त्री० [फा०] मछली।

यौ०—माहीगीर। माहीपुस्त। माही-मरातिव।

संज्ञा स्त्री० [सं० माहेय] दक्षिण देश की एक नदी का नाम जो खंभात की खाड़ी में गिरती है।

माहीगीर-संज्ञा पुं० [फा०] मछली पकड़नेवाला। मछुवा।

माहीपुस्त-वि० [फा०] जो मछली की पीठ की तरह बीच में उभरा हुआ और किनारे किनारे दालुओं होता हो।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का कारचोरी का काम जो बीच में उभरा हुआ और इधर उधर दालुओं होता है।

माही मरातिव संज्ञा पुं० [फा०] राजाओं के भागे शायी पर चलनेवाले सात संदे जिन पर अलग अव्यय मछली, सातों प्रहों आदि की आठवियाँ कारचोरी की बनी होती हैं। इस प्रकार के संदों का आरंभ मुसलमानों के राज्य काल में हुआ था।

विशेष—(१) सूर्य, (२) पंचा, (३) सुला, (४) अजगर, (५) सूर्यमुखी, (६) मछली और (७) गोले, ये सात चक्रों संतों पर होती हैं।

माहुर—संज्ञा पुं० [सं० मपुर, प्रा० महर = विष] विष । जहर ।

उ०—(क) सौंप यीछ को मंत्र है, माहुर सारे जाय ।

विषट् मारि के पाले परा काटि करेना व्याय ।—कवीर ।

(ख) दानव देवें ऊँच अर नीच । अमिय सजीवन माहुर मोच ।—मुलसी ।

मुहा०—माहुर की गोट = (१) भारी विपत्ती बात । (२) जलन दुःख या कुटिल मनुष्य ।

माहुल—संज्ञा पुं० [सं०] माहुल के गोश में उत्पन्न पुरुष ।

माह—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक छोटा कीड़ा जो राई, सरसों, मूली आदि की फसल में उनके डंठलों पर फूलने के समय या उसके पहले भंडे दे देता है, जिससे फसल नितान्त हीन होकर नष्ट हो जाती है। यह काले रंग का परदार भुंगे के आकार का कीड़ा होता है और जाड़े के दिनों में फसल पर लगाता है। यदि पानी बरस जाय तो कीड़े नष्ट हो जाते हैं। प्रायः अधिक बढ़ली के दिनों में, जब पानी नहीं बरसता, ये कीड़े भंडे देते हैं और फसल के डंठलों पर फूलों के आस पास उत्पन्न हो जाते हैं।

मुहा०—माहूँ लगना = माहूँ का फसल के हरे डंठल पर भंडे देना ।

माहेंद्र—वि० [सं०] (१) जिसका देवता महेन्द्र हो । (२) महेन्द्र संबंधी । इंद्र संबंधी ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनियों के एक देवता जो कल्पमन नामक वैमानिक देवगण में है । (२) एक अष्ट का नाम ।

(३) बार के अनुसार मित्र मित्र दंडों में पड़नेवाला एक योग जिसमें यात्रा करने का विधान है। यह योग प्रति बार को क्रमानुसार पंद्रह बार आता है। प्रति दिन के दंडों में ये बार चार योग मित्र मित्र क्रम से आते रहते हैं—माहेंद्र, बरण, वायु और यम । ये चारों योग संसद् के प्रति दिन इस प्रकार आया करते हैं।—

| दिन | प्रथम दंड | द्वितीय दंड | तृतीय दंड | चतुर्थ दंड |
|-------|-----------|-------------|-----------|------------|
| रवि | वायु | बरण | यम | माहेंद्र |
| सोम | माहेंद्र | वायु | बरण | यम |
| मंगल | बरण | यम | माहेंद्र | वायु |
| बुध | माहेंद्र | वायु | बरण | यम |
| गुरु | वायु | बरण | यम | माहेंद्र |
| शुक्र | माहेंद्र | वायु | यम | बरण |
| शनि | यम | माहेंद्र | वायु | बरण |

इस

विजयाष्टक, बरण यम-यम-सूर्यदायक कहा

अकिमण करने से ब्रह्मस्त पुरुष में माहात्म्य, लीला शास्त्र-सुद्धिता, मृत्युमरण आदि गुण प्रत्यक्ष आ जाते हैं।

माहेंद्रवासी—संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक का नाम ।

माहेंद्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्राणी । (२) गाथ । (३) इंद्र यन । (४) सात मातृकाओं में से एक । यह रुद्र की अनुचरी है । (५) इंद्र की शक्ति ।

माहेताया—संज्ञा पुं० [प्रा०] चिलमची ।

माहेय—वि० [सं०] मिट्टी का बना हुआ ।

संज्ञा पुं० मूंगा । चिद्रुम ।

माहेथी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गाथ । (२) गादी मरी ।

माहेल—संज्ञा पुं० [सं०] एक गोम-प्रवर्तक क्षत्रि का नाम ।

माहेश—वि० [सं०] महेश संबंधी । महेश का ।

माहेशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

माहेश्वर—वि० [सं०] महेश्वर संबंधी । महेश्वर का ।

संज्ञा पुं० (१) एक वस्त्र का नाम । (२) एक उपपुत्र का नाम । (३) पालिनि के ये पौरुष सूत्र निम्नमें स्वर और व्यंजन वर्णों का संग्रह प्रत्याहारार्थ किया गया है। इसमें विषय में लोगों का विश्वास है कि ये सूत्र शिवजी के तान्त्रिक गुरु के समय उनके डमरू से निकले थे। सूत्र ये हैं—अइउण् । कल्क् । एमोह् । ऐभीच् । इपरद् । एन् । यमरुणम् । समन् । घडपच् । जयगड् । रुक्कडप । चटपच् । कपच् । वापसर । बह् । (४) दीव संसद् का एक भेद । (५) एक अष्ट का नाम । माहेधराक्ष ।

माहेधरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) एक मातृका का नाम । (३) एक पीठ का नाम । (४) एक नदी का नाम । (५) वैश्यों की एक जाति ।

माहोी—संज्ञा स्त्री० दे० "माहूँ" ।

मिगनी—संज्ञा स्त्री० दे० "मंगनी" ।

मिगी—संज्ञा स्त्री० दे० "मिंगी" ।

मिद्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यह स्थान जहाँ सिके डरते हैं । टक्काठ । (२) एक प्रकार का बगिया सोना । टक्काली सोना ।

† संज्ञा स्त्री० दे० "मिन्ट" ।

मिहारी—संज्ञा स्त्री० [हि० मीहारा] (१) मीहने या मीहने की किया या भाव । (२) मीहने की मजदूरी । (३) देशी सिर की छलाई में एक किया जो कान्ठे को छापने के बरतन और खोले से पकड़े होती है । हमके छिपे पानी में भरी एक मीह में कुछ रेंदी का तेल और बखरी की मीगनी तथा दो एक और मसाले डाले जाते हैं, और उसमें छाया हुआ कड़ा तीन बार दिन तक मिगोया जाता है । भावयोजना करने पर यह किया दो तीन बार भी की जाती है । और से ही

निकालकर कपड़ा धोबी के यहाँ भेजा जाता है। इससे छीट का रंग पक्का और चमकदार हो जाता है। इसे तेल-चलाई भी कहते हैं।

मिहदी-संज्ञा स्त्री० दे० "मिहदी"।

मिहदी-संज्ञा स्त्री० दे० "मीहदी"।

मिहदी-वि० दे० "मीहदी"।

मिहदी-वि० दे० "मिहदी"।

संज्ञा पुं० दे० "मिहदी"।

मिहदी-संज्ञा स्त्री० [का० मिहदी] मलद्वार । गुदा ।

मिहदी-संज्ञा स्त्री० [अ०] परिमाण । माया । मान । जैसे,— यह दवा ज्यादा मिहदी में नहीं खानी चाहिए ।

मिहदी-संज्ञा पुं० [का०] बुलक पावर ।

मिहदी-संज्ञा पुं० [जा०] जापान के सम्राट् की उपाधि ।

मिहदी-वि० दे० [हि० मिहदी] (१) (औलों का) बार बार छुलना और बंद होना । (२) (पलकों का) झपकना या बंद होना ।

मिहदी-वि० दे० [हि० मिहदी] (१) बार बार (औलों) खोलना और बंद करना । (२) (पलक) झपकना या बंद करके देवाना । जैसे,—औलें मिहदी ।

संज्ञा पुं० दे० "मिहदी" ।

मिहदी-वि० दे० [हि० मिहदी का अर्थ रूप] (औलों का) बंद होना । जैसे,—सारे नौद के औलें मिहदी जाती हैं ।

मिहदी-वि० दे० [मिहदी, चालने के शब्द से अनु०] बिना भूख के खाना । इच्छा न होने पर भी भोजन करना । (विशेषतः बालकों के संबंध में बोलते हैं ।)

मिहदी-वि० दे० [हि० मचना, मलाना] के आने को होना । डबकाई आना । मतली आना ।

मिहदी-वि० दे० [हि० मचना का प्रेर० रूप] मीचने का काम दूसरे से कराना । दूसरे को मीचने में प्रवृत्त करना । दूसरे से औलें बंद कराना ।

मिहदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम ।

मिहदी-संज्ञा पुं० दे० "मीचना" ।

मिहदी-संज्ञा पुं० [सं०] एक यौद्ध स्वरि का नाम ।

मिहदी-वि० दे० "मिहदी" ।

मिहदी-संज्ञा स्त्री० [अ०] तार का बना हुआ एक प्रकार का छल्ला जिसमें मुड़े तार की एक मोक आगे निकली रहती है और जिससे सितार आदि के तार पर आघात करके बजाते हैं । डंका । नासुना ।

मिहदी-संज्ञा पुं० [अ०] (१) किसी पदार्थ का वह मूल गुण जो सदा बना रहे । तासीर । (२) प्राणी की प्रधान प्रवृत्ति । स्वभाव । प्रकृति । जैसे,—उनका मिहदी बहुत सख्त है ;

वे बात बात पर बिगड़ जाते हैं । (३) शरीर या मन की दशा । तबीयत । दिल ।

यौ०—मिहदी आली । मिहदी शरीफ । मिहदी-पुरसी ।

मुहा०—मिहदी खराब होना = (१) मन में किसी प्रकार की अपसन्नता आदि उत्पन्न होना । यत्ना आदि होना (२) अस्वस्थता होना । मिहदी बिगड़ना = दे० "मिहदी खराब होना" । मिहदी बिगड़ना = किसी के मन में क्रोध, अभिमान आदि मनोविकार उत्पन्न करना । मिहदी पाना = (१) किसी के स्वभाव से परिचित होना । (२) किसी को अनुकूल या प्रसन्न देखना । मिहदी पछना = (१) तबीयत का हाल पछना । यह पछना कि आपका शरीर तो अच्छा है । (२) अच्छी तरह खबर लेना । दंड देना । मिहदी में आना = ध्यान में आना । समझ में आना । जैसे,—अगर आपके मिहदी में आवे तो आप भी वहाँ चलिपु । मिहदी सीधा होना = अनुकूल या प्रसन्न होना । तबीयत ठिकाने होना ।

(४) अभिमान । घमंड । नोखी ।

मुहा०—मिहदी आना = अभिमान करना । घमंड होना । मिहदी में आना = अभिमान करना । घमंड करना । जैसे,—इस तक कुछ न पूछो, आप मिहदी में आ गए हैं । मिहदी में मिलना = अभिमान के कारण किसी का अलग रहना । घमंड के कारण बात न करना । जैसे,—आजकल तो आपके मिहदी ही नहीं मिलते ।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुधा बहुवचन में होता है ।

यौ०—मिहदीदार ।

मिहदी आली ?—[अ०] एक वाक्यांश जिसका व्यवहार किसी का शारीरिक कुशल-मंगल पूछने के समय होता है । आप अच्छे तो हैं ?

मिहदीदार-वि० [अ० मिहदी + दा० (दा०)] जिसे बहुत अभिमान हो । घमंडी ।

मिहदीपरी-वि० [अ० मिहदी + हि० पीना] [स्त्री० मिहदीपी] जिसे बहुत अधिक घमंड हो । अभिमानी । (हि०)

मिहदीपुरसी-संज्ञा स्त्री० [अ० मिहदी + पुरसी] किसी से यह पूछना कि आपका मिहदी तो अच्छा है । तबीयत का हाल पूछना । शारीरिक कुशल-मंगल पूछना ।

मिहदी शरीफ ?—[अ०] एक वाक्यांश जिसका व्यवहार किसी का शारीरिक कुशल-मंगल पूछने के लिये होता है । आप अच्छे तो हैं ? आप सकुशल तो हैं ?

मिहदीजी-वि० स्त्री० [हि० मिहदी + जी (जी)] अभिमानी । घमंडी ।

मिमोना-संज्ञा पुं० [सं० मय, पु० हि० मीक] यह मूँटी जो हल में बड़े बल में लगी हुई लकड़ी के बीच में रहती है । (पुंल०)

मिटका-संज्ञा पुं० दे० "मटका"

मिटना-क्रि० प्र० [सं० गृध्र, प्रा० मिट्] (१) किसी अंकित चिह्न आदि का न रह जाना । जैसे,—इस पन्ने के कई अक्षर मिट गए हैं । (२) नष्ट हो जाना । न रह जाना । (३) खराब होना । बरबाद होना । जैसे,—घर मिटना । (४) रह होना । जैसे,—विधाता का खेल मिटना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मिटाना-क्रि० स० [हि० मिटना का सक० रूप] (१) रेखा, दाग, चिह्न आदि दूर करना । (२) नष्ट करना । न रहने देना । (३) खराब करना । चौपट करना । बरबाद करना । (४) रह करना ।

संयो० क्रि०—जाना ।—देना ।

मिटिया+संज्ञा स्त्री० [हि० मिश्र रत्न + (प्रत्य०)] मिट्टी का छोटा बरतन जिसमें प्रायः दूध आदि रखा जाता है । मटकी । वि० [हि० मिट्टी + रत्न (प्रत्य०)] मिट्टी का ।

मिटियाना-क्रि० स० [हि० मिट्टी + आना (प्रत्य०)] मिट्टी लगाकर साफ करना, रंग देना या चिकना करना । जैसे,—जोटा मिटियाना ।

मिटिया फूस-वि० [हि० मिटिया + फूस] जो कुछ भी दृढ़ न हो । बहुत ही कमजोर ।

मिटिया महल-संज्ञा पुं० [हि० मिटिया + फा० महल] मिट्टी का मकान । झोंपड़ी । (स्वयं)

मिटिया साँप-संज्ञा पुं० [हि० मिटिया + साँप] मटमैले रंग का एक प्रकार का साँप जिसके ऊपर काले रंग की चित्तियाँ होती हैं ।

मिट्टी-संज्ञा स्त्री० [सं० गृधिका प्रा० मिट्टिण] (१) पृथ्वी । भूमि । जमीन । जैसे,—जो धीज मिट्टी से बनती है, वह मिट्टी में ही मिल जाती है ।

मुहा०—मिट्टी पकड़ना = जमीन पर इतना पकड़ कर जम जाना ।

(२) यह भुरभुरा पदार्थ जो पृथ्वी के ठोस विभाग अथवा स्थल में साधारणतः सब जगह पाया जाता है और जो उसके ऊपरी तल की प्रधान वस्तु है । राख । धूल ।

मुहा०—मिट्टी करना = नष्ट करना । चराब करना । चौपट करना ।

जैसे,—रुपया मिट्टी करना, इस्मत् मिट्टी करना, शरीर मिट्टी करना, कपड़े मिट्टी करना । मिट्टी के मोल = बहुत सस्ता । बहुत ही थोड़े मूल्य पर । जैसे,—यह मकान तो मिट्टी के मोल विक्रि रहा है । मिट्टी डालना = (१) किसी बात को जाने देना । छोड़ देना । (२) किसी के दोष को छिपाना । पगदा चलाना । (३) एक प्रकार का प्रयोग जिसमें किसी की कोई छोटी सी चीज, विशेषतः गहना आदि, रखी जाने पर सब लोग एक स्थान पर जाकर उसी की ही मिट्टी डाल जाते हैं इस प्रकार कभी कभी जुगुप्सियाना भी भरावा कपरा और किसी कारखाने से जुगुप्स हुन चीज उनी मिट्टी के साथ

वहाँ रख जाता है, जिससे माणिक को चोट तो नित पानी ही पड़े यह जहाँ प्रकट होने पाता कि चोर कौन है । मिट्टी डालना = चोरी गई हुई चीज का पता लगाने के लिये लोगों से किसी स्थान पर मिट्टी डालने के लिये कहना । वि० दे० "मिट्टी डालना" । (४) मिट्टी देना = (१) मुमत्तमानों में किसी के मरने पर सल्लोह का उसकी कज में तीन तीन मुट्ठी मिट्टी डालना या पुत्र का दर्जे सम्भाल जाना है । (२) कज में गाड़ना । (मुसल्ले०) मिट्टी पकड़े या छुप सोना होना = भाग्य का प्रकट होना । किताब चमकना । साधारण काम में भी विशेष काम होना । मिट्टी में मिटटना = (१) नष्ट होना । चौपट होना । चराब होना । (२) मरना । मिट्टी में मिलाना = नष्ट करना । चौपट करना । बरबाद करना । मिट्टी होना = (१) नष्ट होना । खराब होना । (२) मरना या मरना शुरू होना ।

यौ०—मिट्टी का पुतला = मानव शरीर । मिट्टी की सूरत = मानव शरीर । मिट्टी के माथप = मूल्य । बेकूफ । भौंड । मिट्टी खराबी = (१) दुर्दशा । (२) बरपाई । नारा ।

(३) किसी चीज को जलाकर तैयार की हुई राख । मल्ल । जैसे,—पारे की मिट्टी, सोने की मिट्टी । (४) कुछ विशेष प्रकार की अथवा साफ की हुई मिट्टी जो भिन्न भिन्न कामों में आती है । जैसे,—मुलतानी मिट्टी, पीली मिट्टी । (५) शरीर । जिसम । बदन ।

मुहा०—किसी की मिट्टी पलीद या बरबाद करना = दुर्दशा करना । खराबी करना । (इस अर्थ में यह मुहावा अर्थ न० १ के साथ भी लगता है ।)

(१) शव । लाश ।

मुहा०—मिट्टी ठिकाने लगाना = शव की उचित कब्रदेहि मिला होना । मिट्टी ठिकाने लगाना = शव की उचित कब्रदेहि मिला करना ।

(२) खाने का गोहन । मांस । कलिया । (क०) (४) शारीरिक गहन । बदन की बनावट । जैसे,—उसकी मिट्टी बहुत अच्छी है; साठ बरस का होने पर भी जवान जान पड़ता है ।

मुहा०—मिट्टी बह जाना = शरीर में दुबने के चिह्न दिखाए देना ।

(५) बदन की जमीन जो ह्रस्व में दी जाती है ।

मिट्टी का तेल-संज्ञा पुं० [हि० मिट्टी + का + तेल] एक प्रसिद्ध ज्वलन-शील, खनिज, तरल पदार्थ जिसका व्यवहार प्रायः सारे संसार में दीपक आदि जलाने और प्रकाश करने के लिये होता है । यह संसार के भिन्न भिन्न भागों में जमीन के अंदर पाया जाता है । कभी कभी तो जमीन में आप से आप दूर-दूर हो जाते हैं जिनमें से यह तेल निकलने लगता है; और इस प्रकार यहाँ इसके पश्चिमे घन लाते हैं । पर प्रायः यह जमीन में बड़े बड़े खानों या छिद्र करके पिचकारी की तरह के बड़े बड़े बरतों की सहायता से ही निकाला जाता है ।

कमी कमी जमीन के अंदर की गैसों के जोर करने के कारण भी यह आप से आप फूट निकलता है। कुछ लोग कहते हैं कि जमीन के अंदर जो छोड़-मिश्रित बहुत गरम कार्बाइड होता है, उस पर जल पड़ने से यह तैयार होता है, और कुछ लोगों का मत है कि जमीन के अंदर अनेक प्रकार के जीवों के मृत शरीरों के सड़ने आदि से यह तैयार होता है। एक मन यह भी है कि इसकी उत्पत्ति का संबंध नमक की उत्पत्ति से है; क्योंकि अनेक स्थानों में यह नमक की खान के पास ही पाया जाता है। इसी प्रकार इसकी उत्पत्ति के संबंध में और भी अनेक मत हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्यों तथा रूस में इसकी खानें बहुत अधिक हैं; और इन्हीं दोनों देशों से सब से अधिक मिट्टी का तेल निकलता है। भारत में इसकी खानें या तो पंजाब और बलोचिस्तान की ओर हैं या आसाम तथा बरमा की ओर। परंतु पश्चिमी प्रांतों से अभी तक बहुत थोड़ा तेल निकाला जाता है और पूर्वी प्रांतों से अपेक्षाकृत अधिक। बहुत बढ़िया तेल का रंग सफेद और स्वच्छ जल के समान होता है; पर साधारण तेल का रंग कुछ छाछी या पीलापन लिए और घटिया तेल का रंग प्रायः काला होता है। बढ़िया साफ किया हुआ तेल पतला और घटिया तेल गाढ़ा होता है। प्रकाश करने के अतिरिक्त इसका उपयोग छोटे इंजन चलाने, गैस तैयार करने, अनेक प्रकार के तेलों और वारिशों आदि को गलाने और मोमबत्तियाँ आदि बनाने में होता है। इसमें एक प्रकार की उम्र और अमिय गंध होती है। थोड़ी मात्रा में जपान पर लगने या तले के नीचे उतारने पर यह फैलता है, और अधिक मात्रा में भीषण विष का काम करता है। मोटरों आदि में जो पेट्रोलियम जलाया जाता है, वह भी इसी का एक भेद है।

मिट्टी का फूल—संज्ञा पुं० [हिं० मिट्टी + फूल] मिट्टी या जमीन के ऊपर जल जानेवाला एक प्रकार का क्षार जिसका व्यवहार कपड़ा धोने और दाँतों ब्रश करने में होता है। रेह।

मिट्टी खरिया—संज्ञा स्त्री० दे० "सहिया"।

मिट्टा १—वि० संज्ञा पुं० दे० "मीठा"।

मिट्टी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठा] चुंबन। चूसा। (इस शब्द का व्यवहार छियाँ प्रायः छोटे बालकों के साथ करती हैं।)

मि० प्र०—देना।—लेना।

मिट्टू—संज्ञा पुं० [हिं० मीठा + ऊ (प्रत्य०)] (१) मीठा बोलनेवाला। (२) तोता।

मुहा०—अपने मुँह से आप मियाँ मिट्टू बनना = अपनी प्रशंसा आप करना। अपने मुँह से अपनी बड़ाई करना।

मि० (१) चुप रहनेवाला। न बोलनेवाला। (२) प्रिय बोलनेवाला। मधुर-भाषी।

संज्ञा स्त्री० दे० "मिट्टी"।

मिट्टी—संज्ञा स्त्री० दे० "मिट्टी"।

मिट—वि० [हिं० मीठा] मीठा का संक्षिप्त रूप जिसका व्यवहार प्रायः यौगिक बनाने के लिये होता है और जो किसी शब्द के पहले जोड़ा जाता है। जैसे,—मिठलोना, मिठबोला।

मिठबोलना—संज्ञा पुं० दे० "मिठबोला"।

मिठबोला—संज्ञा पुं० [हिं० मीठा + बोलना-] (१) वह जो मीठी मीठी बातें कहता हो। मधुर-भाषी। (२) वह जो मन में कटप रखकर ऊपर से मीठी बातें करता हो।

मिठरी १—संज्ञा स्त्री० दे० "मठरी"।

मिठलोना—संज्ञा पुं० [हिं० मीठा = कम + लोना = गीन] वह जिसमें नमक बहुत ही कम हो। थोड़े नमकवाला।

मिठाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठा + आर (प्रत्य०)] (१) मीठे होने का भाव। मिठास। माधुरी। (२) कोई मीठी खाने की चीज़। जैसे,—लड्डू, पेड़ा, बरफ़ी, जलेबी आदि। (३) कोई अच्छा पदार्थ या बात।

मिठास—संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठा + आस (प्रत्य०)] मीठे होने का भाव। मीठापन। माधुर्य। जैसे,—इसकी मिठास तो बिलकुल मिस्र की समान है।

मिठौरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठा + वरी] पीसे हुए उड़द या चने की बनी हुई वरी।

मिठाई—संज्ञा स्त्री० दे० "मिठाई"।

मिडिल—वि० [सं०] किसी पदार्थ का मध्य। बीच।

संज्ञा पुं० शिक्षाक्रम में एक छोटी कक्षा या दरजा जो स्कूल के अंतिम दर्जे इंट्रेंस से छोटा होता था। अब यह नाम प्रचलित नहीं है।

मिडिलची—संज्ञा पुं० [हिं० मिडिल + ची (प्रत्य०)] वह जो मिडिल की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ हो। मिडिल पास। (उपेक्षा)

मिडिल स्कूल—संज्ञा पुं० [सं०] यह स्कूल या विद्यालय जिसमें केवल मिडिल तक की पढ़ाई होती हो।

मितंगल—संज्ञा पुं० [सं० मितंगम] हाथी।

मित—वि० [सं०] (१) जो सीमा के अंदर हो। परिमित। (२) थोड़ा। कम। जैसे,—मित व्यय। मित-भाषी। (३) फेंका हुआ। क्षिप्त।

मितदु—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सागर।

मितभाषी—संज्ञा पुं० [सं० मितभाषी] वह जो बहुत कम बोलता हो। थोड़ा बोलनेवाला। समस्त घृष्टकर बात कहनेवाला।

मितमति—संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें बहुत कम बुद्धि हो। थोड़ी बुद्धिवाला।

मितव्यय—संज्ञा पुं० [सं०] कम खर्च करना। किरायत।

मितव्ययता—संज्ञा स्त्री० [सं०] कम खर्च करने का भाव।

मितव्ययी-संज्ञा पुं० [सं० मित्रव्ययिन्] वह जो कम खर्च करता हो । कफायत करनेवाला ।

मिताई-संज्ञा स्त्री० [सं० मित्र । हि० मीठ + आइ (प्रत्य०)] मित्रता । दोस्ती ।

मितासुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] याज्ञवल्क्य स्मृति की विज्ञानेश्वर कृत टीका ।

मितार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में तीन प्रकार के दूतों में से एक प्रकार का दूत । वह दूत जो बुद्धिमत्तापूर्वक थोड़ी बातें कहकर अपना काम पूरा करे ।

मिताशन-संज्ञा पुं० [सं०] कम भोजन करना । थोड़ा खाना ।

मिताशी-संज्ञा पुं० [सं० मिताशिव] [स्त्री० मिताशिली] वह जो बहुत थोड़ा खाता हो । कम भोजन करनेवाला ।

मिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मान । परिमाण । (२) सीमा । हद । (३) काल की अवधि । दिया हुआ यत्न ।

मुहा०—मिति पूजना = शत्रु के दिन पूरे होगा । दे० “मिती” । मिती-संज्ञा स्त्री० [सं० मिति] (१) देसी महीने की तिथि या तारीख । जैसे,—मिनी आपाद सुदी ४ सं० १९८१ की चिट्ठी मिली ।

मुहा०—मिती चढ़ाना = तिथि तिरगना । तिथि टोलना । मिती पुगना या पूजना = हुंरी की नियत समय पूरा होना । हुंरी के गुगाना । दिन आना । जैसे,—इस हुंरी की मिती पूरे दो दिन हो गए, पर रुपया नहीं आया । (२) दिन । वियस । जैसे,—उसके यहाँ अभी तीन मिती का व्याज और बाकी है । (३) वह तिथि अवतक का व्याज देना हो । जैसे,—इस हुंरी की मिनी में अभी चार दिन बाकी हैं । (महाजन)

मुहा०—मिती काटना = सूर काटना ।

मित्र-संज्ञा पुं० [सं० मित्र] (१) वह लड़का जो किसी खेल में और सब लड़कों का प्रधान या अग्रगण्य होता है । (२) मित्र । दोस्त ।

मित्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो सब बानों में अपना साथी, साथी, समर्थक और सुमार्गदर्शक हो । सब प्रकार से अपने अनुकूल रहनेवाला और अपना हित चाहनेवाला । शत्रु या विरोधी का उलटा । वंशु । सत्ता । सुहृद् । दोस्त । (२) अतिविषय नाम की छता । अतीस । (३) सूर्य का एक नाम । (४) बारह आदित्यों में से पहले आदित्य का नाम । (५) पुराणानुसार भरद्वाज में से पहले मरु का नाम । (६) बसिष्ठ के एक पुत्र का नाम जो ऊँचाँ के गर्भ से क्षत्रप हुआ था । (७) आर्यों के एक प्राचीन देवता का नाम । ऋक्संहिता में लिखा है कि मनु से अद्विज को जो आठ पुत्र हुए थे, उनमें से सात को अपने साथ लेकर अद्विज देवलोक को चली गई थी, बेषल मार्तण्ड नामक पुत्र को पीछे दिया

था । ये आठ पुत्र मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंग, मन, विवस्वान और आदित्य या मार्तण्ड थे । इनमें से पहले सातों की गिनती आदित्यों में होती है । परंतु महाभारत और पुराणों में द्वादश आदित्य का वर्णन है; जिनमें से एक मित्र भी है । वेदों में मित्र ही सर्वप्रधान आदित्य माने गए हैं; परंतु पुराणों आदि में उनका स्थान गौतम है । वेदों में मित्र और वरुण की बहुत अधिक स्तुति की गई है, जिससे जान पड़ता है कि वे दोनों वैदिक ऋषियों के प्रधान देवता थे । वेदों में यह भी लिखा है कि मित्र के द्वारा दिन और वरुण के द्वारा रात होती है । यद्यपि पीछे से मित्र का महत्त्व घटने लगा था, तथापि पहले किसी समय सभी आर्य मित्र की पूजा करते थे । पारसियों में इनकी पूजा ‘मित्र’ के नाम से होती थी । मित्र की पत्नी मित्रा भी उनमें पूजनीय थी और अग्नि की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी । कदाचित् असुरियारालों की माहौल तथा अरबशाहों की आलित देवी भी यही मित्रा थी । (६) भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध प्राचीन राजवंश का नाम जिसका राज्य उज्जैन और पंचाल आदि स्थानों में था । कुछ लोग इसे गुंग वंश की एक शाखा बतलाते हैं; तथा कुछ लोग इसे बंसवालकों की शाकद्वीपी ब्राह्मण और गुजरात शासक मानते हैं । इसी पहाड़ी और दूसरी शताब्दी में इस वंश का बहुत जोर था । भागुमित्र, सूर्यमित्र, अग्निमित्र, जयमित्र, इन्द्रमित्र आदि इस वंश के प्रधान राजा थे । इनके जो सिक्के पाए गए हैं, उनमें से कुछ में वीरों के, कुछ में धैर्यों के और कुछ में सौतों के चिह्न पाए जाते हैं ।

मित्रकृत्-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार यारहवें मनु के एक पुत्र का नाम ।

मित्रग्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मित्र की हत्या करनेवाला हो । (२) विधासघातक । (३) एक राक्षस का नाम ।

मित्रग्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नखी का नाम ।

मित्रग्न-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम जो यहू की सामग्री आदि छीन ले जाता करता था ।

मित्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मित्र होने का भाव । दोस्ती । (२) मित्र का धर्म ।

मित्रत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मित्र होने का धर्म या भाव । दोस्ती । मित्रता ।

मित्रदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम । (२) महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम ।

(३) मित्र नाम के आदित्य । वि० दे० “मित्र” ।

मित्रपंचक-संज्ञा पुं० [सं०] धी, नाहद, गुंता, सुदगा और गुग्गुलू इन पाँचों का समूह । (वैद्यक)

मित्रपद-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।

मित्रवाहू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम । (२) श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।
 मित्रभानु-संज्ञा पुं० [सं०] मेघाभारत के अनुसार एक राज-कुमार का नाम ।
 मित्रभेद-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो दो मित्रों में लड़ाई करावा करता हो । मित्रों में झगड़ा करानेवाला ।
 मित्रघती-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण की एक कन्या का नाम ।
 मित्रघन-संज्ञा पुं० [सं०] पंजाब के मुलतान नामक नगर का प्राचीन नाम ।
 मित्रवर्द्धन-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम ।
 मित्रवन्द-वि० [सं० मित्रवत्] जो मित्रवत् । जिसे मित्र हो ।
 संज्ञा पुं० (१) एक असुर का नाम । (२) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम । (३) पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।
 मित्रवाहू-संज्ञा पुं० [सं०] बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम ।
 मित्रविदू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि । (२) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम । (३) पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।
 मित्रविदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण की एक पत्नी का नाम ।
 मित्रविदू-संज्ञा पुं० [सं०] गुप्तचर । जासूस ।
 मित्रवैर-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मित्र से वैर या द्वेष करता हो ।
 मित्र स्वामी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी । कहते हैं कि इसी दिन कश्यप के धर्म से अदिति के गर्भ से मित्र नामक दिवाकर की उत्पत्ति हुई थी; इसी से इसका यह नाम पड़ा ।
 मित्रसह-संज्ञा पुं० [सं०] कल्याणपाद राजा का एक नाम ।
 मित्रसाहस-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार स्वर्ग में रहनेवाली एक देवी का नाम ।
 मित्रसेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम । (२) श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम । (३) एक युद्ध का नाम ।
 मित्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मित्र नामक देवता की स्त्री का नाम । वि० दे० "मित्र" (७) । (२) शत्रु की माता सुमित्रा । (३) महाभारत के अनुसार एक अप्सरा का नाम । (४) परात्पर के सत्त्व मंत्र की माता का नाम ।
 मित्रार्थ-संज्ञा स्त्री० [सं० मित्र + अर्थ (हि० प्रत्यय०)] मित्रता । दोस्ती ।
 मित्राक्षर-संज्ञा पुं० [सं०] छंद के रूप में बना हुआ पद ।
 मित्रायु-संज्ञा पुं० [सं०] राजा दिवोदास के एक पुत्र का नाम ।

मित्रावरुण-संज्ञा पुं० [सं०] मित्र और वरुण नामक देवता ।
 मित्रावसु-संज्ञा पुं० [सं०] मित्रावसु के एक पुत्र का नाम ।
 मित्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दशरथ की पत्नी सुमित्रा जो लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता थीं । सुमित्रा ।
 मित्रेयु-संज्ञा पुं० [सं०] राजा दिवोदास के एक पुत्र का नाम ।
 मिथनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी ।
 मिथि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार राजा निमि के पुत्र जनक का एक नाम । कहते हैं कि राजा निमि को कोई पुत्र नहीं था । सुनियों को यह भय हुआ कि निमि के मरने के उपरान्त कहीं अराजकता न उत्पन्न हो, इसलिये उन लोगों ने निमि के शरीर की अरणी से मया जिसमें जनक की उत्पत्ति हुई । ये मयन से उत्पन्न हुए थे; इसलिये इनका एक नाम मिथि भी था । इन्हें उदावसु नामक एक पुत्र हुआ था ।
 मिथिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी ।
 मिथिल-संज्ञा पुं० [सं०] राजा जनक का एक नाम ।
 मिथिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वर्तमान तिरहुत का प्राचीन नाम । राजा जनक इसी प्रदेश के राजा थे । (२) इस प्रांत की प्राचीन राजधानी ।
 मिथु-संज्ञा पुं० [सं०] असत्य । मिथ्या । झूठ ।
 मिथुन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्री और पुरुष का युग्म । मर्द और औरत का जोड़ा । (२) संयोग । सन्नागम । (३) मेघ आदि राशियों में से तीसरी राशि जिसमें मृगशिरा नक्षत्र के अंतिम दो पाद, पूरा आर्द्रा नक्षत्र और पुनर्वसु के आरंभिक तीन पाद हैं । इसके अधिपति देवता गदाधारी पुरुष और वीणाधारिणी स्त्री मार्वी गई हैं । इसका दूसरा नाम जितुम है । (४) ज्योतिष में मेघ आदि छमां में से तीसरा छमां । कहते हैं कि इस छमां में जन्म लेनेवाला मिथ्याभाषी, द्विमात्रिक, शत्रुओं का नाश करनेवाला, गुणी, धार्मिक, कार्यकुशल और प्रायः रोगी रहनेवाला होता है; और उसकी मृत्यु मनुष्य, साँप, जहर या पानी आदि के द्वारा होती है ।
 मिथुनत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मिथुन का भाव या धर्म ।
 मिथ्या-वि० [सं०] असत्य । झूठ ।
 मिथ्याचर्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] झूठा या कपटपूर्ण व्यवहार ।
 मिथ्याचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपटपूर्ण आचरण । (२) वह जो कपटपूर्ण आचरण करता हो ।
 मिथ्यात्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिथ्या होने का भाव । (२) माया । (३) जैनों के अनुसार अठारह दोषों में से एक ।
 मिथ्यादृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] नास्तिकता ।
 मिथ्याध्यवसिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें कोई एक असंभव या मिथ्या बात निश्चित करके तब कोई दूसरी बात कही जाती है; और इस प्रकार वह दूसरी बात

भी मिथ्या ही होती है। उ०—जो औंज नभ-कुसुम-रस, लक्ष्य सो अहि के कान।

मिथ्यानिरसन-संज्ञा पुं० [सं०] शपथपूर्वक किसी सच्ची बात का अस्वीकार करना।

मिथ्यापण्डित-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कुछ न जानता हो और झूठ मूठ पण्डित बनता हो।

मिथ्यापुरुष-संज्ञा पुं० दे० “छायापुरुष”।

मिथ्याभियोग-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पर झूठ मूठ अभियोग लगाना। अभ्याख्यान।

मिथ्याभिज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पर झूठ मूठ कलंक लगाना।

मिथ्यामति-संज्ञा स्त्री० [सं०] भ्रांति। धोखा। भ्रूल। गलती।

मिथ्यायोग-संज्ञा पुं० [सं०] चरक के अनुसार यह कार्य जो रूप, रस या प्रकृति आदि के विरुद्ध हो। जैसे,—मल, मूत्र आदि का वेग रोकना शरीर का मिथ्या योग है, कठोर वचन आदि कहना वाणी का मिथ्यायोग है; तीव्र गंध आदि सूँघना और भीषण शब्द आदि सुना श्रावण और श्रवण का मिथ्यायोग है।

मिथ्यावादी-संज्ञा पुं० [सं० मिथ्यावादिन्] [स्त्री० मिथ्यावादिनी] यह जो झूठ बोलता हो। असत्यवादी। झूठा।

मिथ्याव्याहार-संज्ञा पुं० [सं०] किसी विषय को न जानते हुए भी उसमें दखल देना। अनधिकार चर्चा।

मिथ्यासाक्षी-संज्ञा पुं० [सं० मिथ्यासाक्षिन्] यह जो झूठी गवाही देता हो। झूठा गवाह।

मिथ्याहार-संज्ञा पुं० [सं०] अनुचित या प्रकृति के विरुद्ध भोजन करना। जैसे,—मछली के साथ दूध।

मिथ्याउत्तर-संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहार में चार प्रकार के उत्तरों में से एक प्रकार का उत्तर। अभिवृक्त का अपना अपराध छिपाने के लिये झूठ बोलना। (वाचस्पत्ययन स्मृति)

मिनती—संज्ञा स्त्री० दे० “मिनति”।

संज्ञा पुं० [अनु० भास्वी के शब्द से] मक्खी की बोली के समान, धीमा, कुछ नाक से निकला हुआ स्वर।

मिनमिन-क्रि० वि० [अनु०] मक्खी की भनभनाहट के रूप में। धीमे दूधे हुए स्वर में। कुछ नाक से निकले धीमे स्वर में। जैसे,—यह मिनमिन बोलता है; इसी से उसे सीधा समझते हैं।

मिनमिना-वि० [हि० मिनमिन] (१) मिनमिन शब्द करनेवाला। नाक से स्वर निकालकर धीमे बोलनेवाला। (२) बोधी सी बान पर बुझनेवाला। (३) मुल। महर।

मिनमिना-क्रि० प्र० [मिन् मिन् से अनु०] (१) मिन् मिन् शब्द करना। नाक से बोलना। नफियाना। (२) कोई काम बहुत धीरे धीरे करना। बहुत मुला से काम करना।

मिनवाल-संज्ञा पुं० [अ०] करघे में का यह बेलन जिस पर बुना हुआ कपड़ा खिंचा जाता है और जो बुननेवाले के पैर आगे रहता है।

मिनहा-वि० [अ०] जो काट या घटा लिया गया हो। मुड़ा किया हुआ। जैसे,—अभी इसमें दो तीन रकमें मिनहा होने को हैं।

मिनारा—संज्ञा पुं० दे० “मीनार”।

मिन्जानिघ-क्रि० वि० [अ०] ओर से। तरफ से। (कच०)

मिन्जुमला-क्रि० वि० [अ०] सप में से। कुल में से।

मिन्नत-संज्ञा स्त्री० [अ०, मि० सं० विनति] (१) प्रार्थना। निवेदन।

(२) दीनता।

यौ०—मिन्नत बुधामद = दीनतापूर्वक को हुई प्रार्थना।

(१) पदसाय। कृतज्ञता। (क०)

क्रि० प्र०—उठाना।

मिमत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

मिमियाई—संज्ञा स्त्री० [हि० मिमियाना + ई (प्रत्य०)] बकरी।

संज्ञा स्त्री० दे० “मोमियाई”।

मिमियाना-क्रि० प्र० [मिन मिन से अनु०] बकरी या भेड़ का ‘मि मि’ शब्द करना। भेड़ या बकरी का बोलना।

मियाँ—संज्ञा पुं० [अ०] (१) स्वामी। मालिक। (२) पति। स्वसम। जैसे,—मियाँ के मियाँ गए, घुरे घुरे सुपने आए।

यौ०—मियाँ बीबी।

(३) बच्चों के लिये एक प्रकार का संशोधन। महाराष्ट्र।

(मुसल०) (४) बच्चों के लिये एक प्रकार का संशोधन।

(५) शिक्षक। उस्ताद। (६) पहाड़ी राजपूतों की एक उपाधि। जैसे,—मियाँ रामसिंह। (७) मुसलमान। जैसे,—

ये सब मियाँ ठहरे, एक ही में खा पका लेंगे।

मियाँ मिट्ठू—संज्ञा पुं० [हि० मियाँ + मिट्ठू] (१) मीठी बोधी बोलनेवाला। मधुर-सारी।

मुहा०—अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना = बोलने मुँह से बोलने प्रशंसा करना।

(२) तोता।

मुहा०—मियाँ मिट्ठू बनाना = तोते की तरह बोलना। बिना समझप पढ़ाना।

(३) मूर्ख। बेवकूफ।

मियान-संज्ञा स्त्री० दे० “म्यान”।

संज्ञा पुं० [अ०] मध्य भाग। बीच का हिस्सा।

यौ०—दरमियान = मध्य में। बीच में।

मियानतद-संज्ञा स्त्री० [अ०] मियान = मध्य + हि० तद = यह साधारण कपड़ा जो चित्ती अच्छे कपड़ों के बीचें उसी रखा आदि के लिये दिया जाता है। जैसे,—रमाई की मियानतद।

मियानतही-संज्ञा स्त्री० दे० "मियानतह" ।

मियाना-वि० [फा०] न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा । मध्यम आकार का ।

संज्ञा पुं० (१) वे खेल जो किसी गँव के बीच में हों । (२) एक प्रकार की पालकी । (३) गाड़ी में आगे की ओर बीच में लगा हुआ यह यौंस जिसके दोनों ओर घोड़े जोते जाते हैं । यम । धल्लो ।

मियानी-संज्ञा स्त्री० [फा० मियान + ई (प्रत्य०)] पायजामे में वह कपड़ा जो दोनों पायों के बीच में पड़ता है । इसे कहीं कहीं स्माल भी कहते हैं ।

मियार, मियाली-संज्ञा पुं० [हि० मंकार ?] वह लकड़ी जो कुँड़े के ऊपर दो छानों पर लगी होती है और जिसमें गराही पड़ी रहती है ।

मियेध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशु । (२) यज्ञ ।

मिरंगा-संज्ञा पुं० [फा०] प्रवाल । शृंगा ।

मिरकी-संज्ञा स्त्री० [देश०] चौपायों को होनेवाली एक प्रकार की सुँह की बीमारी । (अवयव)

मिरखंभ-संज्ञा पुं० दे० "मिरखम" ।

मिरखम-संज्ञा पुं० [सं० मेरुतम्भ, प्रा० मेरखंभ ।] कोहू में वह लकड़ी जो बैठकर हँकने की जगह खदे धल में लगी रहती है ।

मिरगल-संज्ञा पुं० [सं० मृग] मृग । हरिन ।

मिरगचिड़वा-संज्ञा पुं० [हि० मिरग + चिड़ा] एक प्रकार का छोटा पक्षी ।

मिरगछाला-संज्ञा स्त्री० दे० "मृगछाला" ।

मिरगिया-संज्ञा पुं० [हि० मिरगी + या (प्रत्य०)] वह जिसे मिरगी का रोग हो ।

मिरगी-संज्ञा स्त्री० [सं० मृगी] एक प्रसिद्ध मानसिक रोग जिसका बीच बीच में दौरा हुआ करता है और जिसमें रोगी प्रायः मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है, उसके हाथ-पैर पेंडने लगते हैं और उसके सुँह से क्षाण निकलने लगता है । कभी कभी रोगी के केवल हाथ-पैर ही पेंडते हैं और उसे मूर्च्छा नहीं आती । अपस्मार रोग ।

फि० प्र०—आना ।

मिरघ-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या ।

मिरचा-संज्ञा पुं० [सं० मरिच] लाल मिर्च ।

मिरचार्दे-संज्ञा स्त्री० दे० (१) "मिर्च" । (२) दे० "काला दाना" ।

मिरचियागंध-संज्ञा पुं० [हि० मिर्च + गंध] रुसा घास ।

मिरची-संज्ञा स्त्री० [हि० मिर्च] छोटी, पर बहुत तेज लाल मिर्च ।

मिरज़ाई-संज्ञा स्त्री० [फा० मिरजा] एक प्रकार का बंदरगाह भांग जो कमर तक और प्रायः पूरी चौड़ा होता है ।

मिरज़ा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मीर या अमीर का लड़का ।

मीर-जाया । अमीर-जादा । (२) राजकुमार । कुँवर । (३) मुगलों की एक उपाधि । (४) तैमूर वंश के शाहजादों की उपाधि ।

वि० कोमल । नाजुक । (व्यक्ति)

मिरजाई-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) मिरजा का भाव या पद ।

(२) सरदार । नेतृत्व । (३) अभिमान । घमंड । (४)

दे० "मिरजई" ।

मिरजान-संज्ञा पुं० [फा०] प्रवाल । शृंगा ।

मिरजामिजाज-वि० [फा० मिरजा + मिजाज] नाजुक दिमाग का ।

मिरत-संज्ञा स्त्री० दे० "मृत्यु" ।

मिरदंग-संज्ञा पुं० दे० "मृदंग" ।

मिरदंगी-संज्ञा पुं० [हि० मिरदंग + ई (प्रत्य०)] वह जो मृदंग बजाता हो । पखावजी ।

मिरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूर्च्छा । (२) मदिरा । शराब ।

मिरासी-संज्ञा पुं० दे० "मीरासी" ।

मिरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता ।

मिरिच-संज्ञा स्त्री० दे० "मिर्च" ।

मिरिचिया कंद-संज्ञा पुं० [हि० मिरिच + गंध] रोहिंस घास ।

मिरगी-संज्ञा स्त्री० दे० "मिरगी" ।

मिर्च-संज्ञा स्त्री० [सं० मरिच] (१) कुछ प्रसिद्ध तिक फलों और फलियों का एक वर्ग जिसके अंतर्गत काली मिर्च, लाल मिर्च और उनकी कई जातियाँ हैं । (२) इस वर्ग की एक प्रसिद्ध तिक फली जिसका व्यवहार प्रायः सारे संसार में व्यंजनों में मसाले के रूप में होता है और जिसे प्रायः लाल मिर्च और कहीं कहीं मिरचा, मरिचा या मिरचार्दे भी कहते हैं ।

विशेष—इस फली का छुप मकोय के छुप के समान, पर देखने में उससे अधिक शाददार होता है; और प्रायः सारे भारत में इसी फली के लिये उसकी खेती की जाती है । इसके पत्ते पीछे की ओर चौड़े और आगे की ओर अनीदार होते हैं । इसके लिये काली चिकनी मिट्टी की अपवा याही बाँगर मिट्टी की जमीन अच्छी होती है । दुम्माट जमीन में भी यह छुप होता है; पर कड़ी और अधिक वाटवाली मिट्टी इसके लिये उपयुक्त नहीं होती । इसकी पोसाई असाढ़ से फाल्गुन तक होती है । जाड़े में इसमें पहले सफेद रंग के फूल आते हैं और तब फलियाँ लगती हैं । ये फलियाँ आकार में छोटी, बड़ी, लंबी, गोल बनेक प्रकार की होती हैं । कहीं कहीं इसका आकार नारंगी के समान गोल और कहीं कहीं गाजर के समान भी होता है; पर साधारणतः यह खंडी के दरार लंबी और उतनी ही मोटी होती है । इन फलियों का रंग हरा, पीला, काला, नारंगी या लाल होता है और ये कई महीनों तक लगातार फलती

रहती हैं। प्रायः कभी दशा में इनका रंग हरा और पकने पर लाल हो जाता है। मसाले में कभी फलियाँ भी काम आती हैं और पकी तथा सुखाई हुई फलियाँ भी। कुछ जाति की फलियाँ बहुत अधिक तिक तथा कुछ बहुत कम तिक होती हैं। ल्यचारों आदि में तो ये फलियाँ और मसालों के साथ ढाही ही जाती हैं, पर स्वयं इन फलियों का भी अचार पड़ता है। इसके पत्तों की तरकारी भी बनाई जाती है। इसका स्वाद तिक होने के कारण तथा इसके गरम होने के कारण कुछ लोग इसका बहुत कम व्यवहार करते हैं अपवा विलकुल ही वहीं करते। वैद्यक में यह तिक, अमिदीपक, दाहजनक तथा कफ, अरुचि, विद्रुचिका, प्रण, आर्द्रता, तन्द्रा, मोह, प्रलाप और स्वर-भेद आदि को दूर करनेवाली मानी गई है। ल्यचा पर इसका रस लगाने से जलन होती है; और यदि इसका लेप किया जाय तो सुरत छाले पड़ जाते हैं। इसके सेवन से हृदय, त्वचा, वृक् और जननेंद्रिय में अधिक उत्तेजना होती है। पर यदि इसका बहुत अधिक सेवन किया जाय, तो बल और बोंय की हानि होती है। वैद्यक, हिकमत और डाक्टरों सभी में इसका व्यवहार ओषधि रूप में होता है।

पर्याय—कड़वीरा। रक्त मरिच। कुमरिच। तीक्ष्ण। उज्ज्वला।

सिप्रायक। अजड़ा।

(२) एक प्रकार का प्रसिद्ध तिक, काठा, छोटा दाना जिसे “काठी मिर्च” या “गोल मिर्च” कहते हैं और जिसका व्यवहार रस्यों में मसाले के रूप में होता है।

विशेष—यह दाना एक लता का फल होता है। इस लता की खेती पूर्व भारत में आसाम में, तथा दक्षिण भारत में मलबार, कोचीन, ट्रावनकोर आदि प्रदेशों में अधिकता से होती है। देहरादून और सहारनपुर आदि कुछ स्थानों में भी इसकी थोड़ी बहुत खेती होती है। यह लता प्रायः दूसरे वृक्षों पर चढ़ती और उन्हीं के सहारे फैलती है। यह लता बहुत बढ़ जाती है और इसके पत्ते पीपल के पत्तों के समान और ५-७ इंच लंबे तथा ३-४ इंच चौड़े होते हैं। इसकी लंबी लंबी बँटियों में गुच्छों में फूल और फल लगते हैं। प्रायः वर्षा ऋतु में पान की बेल की तरह इस लता के भी छोटे छोटे टुकड़े फरके बड़े बड़े वृक्षों की अड़ों के पास गाढ़ दिए जाते हैं, जो बोढ़े दिनों में लता के रूप में बढ़कर उन वृक्षों पर फैलने लगते हैं। नारियल, कटहल और आम के वृक्षों पर यह लता बहुत अच्छी तरह फैलती है। तीसरे या चौथे वर्ष इन लताओं में फल लगने लगते हैं और प्रायः बीस वर्ष तक लगते रहते हैं। कभी दशा में ये फल लाल रंग के होते हैं; पर पकने और सुखने पर काले रंग के हो जाते हैं; और प्रायः इसी रूप में बाजारों में मिलते हैं। कभी

कभी इन सूखे फलों को पानी में भिगोकर उन्का कटा छिलका अलग कर लिया जाता है जिससे भंडर से सजेर या मटमैले रंग के फल निकल आते हैं और जो बाजारों में “सफेद मिर्च” के नाम से विकते हैं। इस दशा में उनका सीतापन भी कुछ कम हो जाता है। भारतवर्ष में इसका व्यवहार और उपज बहुत प्राचीन काल से होती आई है और यहाँ से बहुत अधिक मात्रा में विदेश में भेजा जाती रही है। वैद्यक में यह कड़वी, हल्की, चारपरी, गरम, रुखी, तीक्ष्ण, अतृप्य, छेदक, शोषक, पित्तहारी, अतिप्रदीपक, रक्तिकारी, तथा कफ, घात, खास, दृष्ट, कृमि, खाँसी, हृदय रोग, प्रमेह और यवासीर का नाश करनेवाली मानी गई है। साधारणतः इसका व्यवहार मसाले के रूप में ही होता है; पर वैद्यक, हिकमत और डाक्टरों में यह ओषधि के रूप में भी काम धाती है। गिन लोगों को लाल मिर्च भक्षण या हानिकारक होती है, वे प्रायः इसी का व्यवहार करते हैं। क्योंकि यह उससे तिक भी कम होती है, और उत्तेजक तथा दाहजनक भी कम होती है।

पर्याय—मरिच। येनुज। धवनमिय। यलीज। कोलर। इण।

मुद्र। कोलक। धर्मपत्तन। ऊपण। परिष्ट। कटुक। येयुर।

सिरोधुच। चार आदि।

वि० जिसका स्वभाव बहुत ही उम, तीक्ष्ण या कटु हो। (क०)

मिर्चन—संज्ञा स्त्री० [हि० मिर्च + न (प्रत्य०)] मटमैले के फलों का चूर्ण जो नमक मिर्च मिलाकर चाट के रूप में खाया जाता है।

मिर्चिया—संज्ञा स्त्री० [हि० मिर्च] रोहिड़ पास।

मिलक १—संज्ञा स्त्री० [म० मिल्क] (१) जमीन-जायदाद। जमीन

दारी। मिलरिबत। (२) जागीर। उ०—मज की भूमि

इन् में मानो मदन मिलक करि पाई।—सूर।

मिलकी १—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलक + ई (प्रत्य०)] (१) यह जिसके

पास जमीन-जायदाद हो। जमींदार। (२) वह जिसके

पास धन-संपर्क हो। दोलनमंद। अमीर।

मिलन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिलने की क्रिया या भाव।

मिलण। मँट। समागम। योग। (२) मिश्रण। मिश्रावट।

मिलनसार—वि० [हि० मिलन + सार (प्रत्य०)] जो सब से प्रेम-

पूर्वक मिलता हो। सब से हेल-मेल रखनेवाला। सहृदय-

हार रखनेवाला और सुधीर।

मिलनसारी—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलनसार + ई (प्रत्य०)] सब से

प्रेमपूर्वक मिलने का गुण। सब से हेल मेल रखना। सह-

व्यवहार और सुधीलता।

मिलना—क्रि० व० [सं० मिलन] (१) एक पदार्थ या दूसरे पदार्थ

में घुसना। सम्मिलित होना। मिश्रित होना। जैसे,—हाल

में नमक मिलना। (२) दो मित्र मित्र पदार्थों का घुस

होना। बीच में का अंतर मिटना। जैसे,—अप ने दोनों

मकान मिश्रकर एक हो गए हैं। (३) सम्मिलित होना। समूह या समुदाय के भीतर होना। जैसे,—(क) हमारी कितनी भी इन्हीं में मिल गई हैं। (ख) अब वह भी जात में मिल गए हैं।

यौ०—मिलना जुलना = (१) सम्मिलित। (२) मिश्रित।

(४) सटना। जुड़ना। चिपकना। (५) आकृति, गुण आदि में समान होना। विलकुल या बहुत कुछ बराबर होना। जैसे,—(क) इन दोनों पुस्तकों का विषय बहुत कुछ मिलता है। (ख) इन दोनों का स्वभाव बहुत कुछ मिलता है।

यौ०—मिलना जुलना = एक सा। समान। तुल्य।

(१) आलिंगन करना। छाती से लगाना। भेंटना। जैसे,—राम और भरत का मिलना। (२) भेंट होना। मुलाकात होना। देखा देखा होना। जैसे,—वह मुझे रोज मिलते हैं। (३) विरोध या द्वेष दूर होना। मेल-मिलाप होना। (४) संयोग करना। मैथुन करना। (५) किसी के पक्ष में हो जाना। जैसे,—अब तो आप भी उधर ही जा मिले। (६) लाभ होना। फायदा होना। नफा होना। जैसे,—इस सौदे में आपको भी कुछ न कुछ मिल रहेगा। (७) प्रत्यक्ष होना। सामने आना। पता लगना। जैसे,—रास्ता मिलना।

संयो० कि०—जाना।

(१३) बजने से पहले बाजों का सुर या आवाज ठीक होना। जैसे,—तयला मिलना। सारंगी मिलना।

ऊ० कि० सं० [?] गौ आदि का दूध दूहना।

मिलनी—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलना + ई (प्रत्य०)] (१) विवाह की एक रस्म जो कहीं सो कन्यादान हो चुकने के उपरांत और कहीं उससे पहले होती है। इसमें कन्या-पक्ष के लोग घर-पक्ष के लोगों से गले मिलते और उन्हें कुछ नरुद देते हैं। कहीं कहीं यह रस्म छियाँ में भी होती है। (२) दे० “मिलन”।

मिलपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] अश्वमेधक दूध। यह दे का पेड़।

मिलवाई—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलवाना + ई (प्रत्य०)] (१) मिलवाने की क्रिया या भाव। (२) वह धन या पुरस्कार जो मिलवाने के बदले में दिया जाय।

मिलवाना—कि० सं० [हि० मिलाना वा प्रेर० रूप] (१) मिलने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को मिलने में प्रवृत्त करना। (२) भेंट या परिचय कराना। (३) मेल कराना। (४) संयोग कराना।

मिलार—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलाना + ई (प्रत्य०)] (१) मिलाने की क्रिया या भाव। (२) मिलाने की मजदूरी। (३) विवाह की मिलनी नामक रस्म। हि० दे० “मिलनी”। (४)

आति-से निकाले हुए आदमी को फिर से जाति में मिलाने का काम।

मिलान—संज्ञा पुं० [हि० मिलाना] (१) मिलाने की क्रिया या भाव। (२) तुलना। मुकाबला। (३) ठीक होने की जाँच।

कि० प्र०—करना।—मिलाना।—होना।

मिलाना—कि० सं० [सं० मिलन। हि० मिलना वा सक० रूप] (१) एक पदार्थ में दूसरा पदार्थ डालना। मिश्रण करना। जैसे,—दूध में पानी मिलाना। (२) दो भिन्न भिन्न पदार्थों को एक करना। बीच में अंतर न रहने देना। जैसे,—दोनों दीवारों में मिटा दी गई। (३) सम्मिलित करना। एक करना। जैसे,—यह रकम भी उसी में मिला दी गई है।

संयो० कि०—डालना।—देना।

(४) सटाना। जोड़ना। चिपकाना। (५) दो पदार्थों में तुलना करना। मुकाबला करना। जैसे,—दोनों कपड़े मिला कर देख लीजिए। (६) यह देखना कि प्रतिलिपि आदि मूल के अनुसार है या नहीं। ठीक होने की जाँच करना। जैसे,—नकल तो पूरी हो चुकी है; पर अभी मिलाना बाकी है।

संयो० कि०—लेना।

(७) भेंट या परिचय कराना। (८) दो व्यक्तियों का विरोध या द्वेष दूर करके उनमें मेल कराना। सुलह या संधि कराना। (९) श्री और पुरुष का संयोग कराना। संयोग या संबंध कराना।

संयो० कि०—देना।

(१०) किसी को अपने पक्ष में करना। अपना भेदिया या साथी बनाना। सौदना। जैसे,—इसमें उन्हें अपनी ओर मिला लेंगे।

संयो० कि०—लेना।

यौ०—मिलाना-जुलाना।

(११) बजने से पहले बाजों का सुर या आवाज ठीक करना। जैसे,—तयलाज मिलाना। सारंगी मिलाना।

मिलाप—संज्ञा पुं० [हि० मिलना + आप (प्रत्य०)] (१) मिलने की क्रिया या भाव। (२) मेल या सद्भाव होना। मिश्रता।

यौ०—मेल-मिलाप।

(३) भेंट। मुलाकात। (४) एक साथ बजनेवालों बाजों का एक सुर में होना। (५) संयोग। संयोग। (६) दे० “मिलवाई”।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग अधिकतर मनुष्यों या प्राणियों के संबंध में होता है, वस्तुओं के मिश्रण के लिए नहीं।

मिलावट—संज्ञा पुं० [हि० मिलाना + वाट (प्रत्य०)] (१) मिश्रण की क्रिया या भाव। मिलावट। (२) मिलाप।

मिलावट—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलाना + वाट (प्रत्य०)] (१) मिश्रण

जाने का भाव । (२) किसी अच्छी या बुरिया चीज में कोई बुरी या घटिया चीज का मेल । खोट । जैसे,—यह सोना ठीक नहीं है; इसमें कुछ मिलावट है ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग केवल वस्तुओं के मिश्रण के लिये होता है, प्राणियों के संयोग के लिये नहीं ।

मिलिंदक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप ।

मिलिक—संज्ञा स्त्री० [सं० मिल्क] (१) जमींदार । मिलिकयत (२) जागीर । उ०—मज की भूमि इंद्र तें मानो मदन मिलिक करि पाई ।—सूर ।

मिलित—वि० [सं०] मिला हुआ । युक्त ।

मिलेठी—संज्ञा स्त्री० दे० “मुलेठी” ।

मिलोनी—क्रि० सं० [हि० मिलाना] (१) दे० “मिलाना” । (२) गौ का दूध दूहना ।

संज्ञा पुं० एक प्रकार की बुरिया जमीन जिसमें कुछ बाल भी मिला होता है ।

मिलोनी—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलना + नीनी (प्रत्य०)] (१) मुसलमानों में विवाह की एक रस्म जिसमें बरातियों आदि को कुछ नकद या वस्तुएँ भेंट की जाती हैं । मिलाई । (२) किसी अच्छी चीज में कोई बुरा चीज मिलाना । (३) दे० “मिलाई” । (४) मिलने की क्रिया या भाव । मिटावट । (५) मिलाने के बदले में मिला हुआ धन ।

मिलक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जमींदारी । (२) जागीर । मुभाफी । (३) जमीनी एक प्रकार की मिलकियत या मालिकाना हक । जिसे यह हक प्राप्त होना है, यह जमींदार की किसी प्रकार का लगान आदि नहीं देता । इस प्रकार की मिलकियत जमींदारी और फास्तकारी के बीच की होनी है और मुरादाबाद आदि कुछ पश्चिमी जिलों में ही पाई जाती है । (४) धन-संपत्ति । (५) अधिकार । मिलकियत ।

मिलिकयत—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जमींदारी । (२) जागीर । माफी । (३) धन-संपत्ति । आयदाद । (४) यह पदार्थ या धन-संपत्ति जिस पर नियमानुसार अपना स्वामित्व हो सकता हो या अधिकार पहुँच सकता हो । जिस पर मालिकों का हा हक हो । जैसे,—यह रूप तो हमारी मिलिकयत रहरी; हम छोड़ देंगे ?

मिलकी—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिल्क का स्वामी या अधिकारी । जमींदार । (२) जागीदार । माफीदार ।

मिल्लत—संज्ञा स्त्री० [हि० मिलन + त (प्रत्य०)] (१) मेल-जोल । घनिष्टता । मिलन । जैसे,—उन दोनों में बहुत मिल्लत है । (२) मिलनसारी । जैसे,—उनमें मिल्लत बहुत है ।

मुहल्ल—मिल्लत का अतिशय घनिष्टता से । गहनता ।

जैसे,—यह बहुत मिल्लत का आदमी है ।

(२) समूह । मंडली । जथा । (३०)

संज्ञा स्त्री० [सं०] मजहब । सम्प्रदाय । पंथ । मत । जैसे,—हर मिल्लत के आदमी से यह अच्छा व्यवहार करता है ।

मिशन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह जो किसी विशेष कार्य या उद्देश्य से कहीं भेजा जाय । विशेष कार्य के लिये भेजे हुए आदमी । (२) उद्देश्य । (३) वह संस्था, विशेषतः ईसाईयों की संस्था जो संचालित रूप से धर्म-प्रचार का उद्योग करती है । (४) ऐसी संस्था का केंद्र या कार्यालय आदि । (५) राजनीतिक उद्देश्य से भेजा हुआ दून-मंडल ।

मिशनरी—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह ईसाई पादरी जो किसी मिशन का सदस्य होता है और अनेक स्थानों में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये जाता है । (२) ईसाईयों का कोई धर्म-पुरोहित । पादरी ।

मिशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामोसी । (२) मसुरिका । सोभा । (३) सीक । (४) मेथी । (५) दाम । बड़ी दामी ।

मिश्र—वि० [सं०] (१) मिला या मिलाया हुआ । मिश्रित । संयुक्त । जैसे,—मिश्र धातु । (२) छेद । बड़ा । (३) जिसमें कई भिन्न भिन्न प्रकार की रक्तों (जैसे, रक्त, आना, पाई, मन, सेर, छर्दक) की संस्था हो । जैसे,—मिश्र भाग, मिश्र गुण । (गणित)

संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथियों की चार जातियों में से एक जाति । (२) सत्पिता । (३) रक्त । रूढ़ । (४) मूली । (५) ज्योतिष के अनुसार उम्र आदि सात प्रकार के भागों में से अंतिम या सातवाँ गण जो कृत्तिका और विशाखा नक्षत्र के योग में होता है । (६) सूर्यपारीक कान्यकुब्ज और सारस्वत आदि ब्राह्मणों के एक वर्गों की एक उपजाति ।

मिश्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) खारी नमक । (२) वैद्यक में एक प्रकार का रंग या रँग जिससे पुरा रँग भी कहते हैं । (३) देवताओं का उद्यान । नंदन वन । (४) एक तीर्थ का नाम । (५) जला । (६) मूली ।

वि० (१) मिलानेवाला । मिश्रण करनेवाला । (२) मूलक । मिश्रकस्नेह—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का औषध जो चिकन, दशमूल और दंती की जड़ आदि से बनाई जाती है और जिसका व्यवहार मुख्य आदि रोगों में होता है । (चिकित्सा) मिश्रकेशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम जो मेनका की सखी थी ।

मिश्रज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यह जो दो भिन्न जातियों के मिश्रण से बना या उत्पन्न हुआ हो । (२) गधर ।

मिश्रजाति—वि० [सं०] जो दो जातियों के मिश्रण से उत्पन्न हुआ हो । वर्णसंकर । दोगला ।

मिश्रण—संज्ञा पुं० [सं०] [हि० मिश्रण, मिश्र] (१) दो या

अधिक पदार्थों को एक में मिलाने की क्रिया । मेल ।
मिलवट । (२) जोड़ लगाने की क्रिया । जोड़ना । (गणित)
मिश्रणीय-वि० [सं०] जो मिश्रण करने योग्य हो । मिलाने
योग्य ।

मिश्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिश्रित होने का भाव । मिलने या
मिलाने का भाव ।

मिश्रधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक में मिलाए हुए कई प्रकार के
धान्य ।

मिश्रपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी ।

मिश्रधन-संज्ञा पुं० [सं०] भंडा ।

मिश्रवर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काला अथवा । (२) गन्ना । पौंड़ा ।

मिश्रव्यवहार-संज्ञा पुं० [सं०] गणित की एक क्रिया ।

मिश्रशब्द-संज्ञा पुं० [सं०] खबर ।

मिश्रित-वि० [सं०] एक में मिलाया हुआ । मिश्रण किया हुआ ।

मिश्रिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भंडा आदि सात प्रकार की संक्रांतियों
में से एक प्रकार की संक्रांति । यह सूर्य-संक्रमण जो
हस्तिका और विशाखा नक्षत्र के मध्य हो ।

मिश्री-संज्ञा पुं० [सं० मिश्र] (१) मिठावनेवाला । मिश्रण करने-
वाला । (२) एक नाग का नाम ।

संज्ञा स्त्री० दे० "मिसरी" ।

मिश्रीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] मिलाने की क्रिया । मिश्रण करना ।

मिश्रीतुरथ-संज्ञा पुं० [सं०] खपरिया । खपर । संग धसरी ।

मिश्रेया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मधुरिका । मीरी । (२) एक
प्रकार का साग । (३) शतपुष्पा । तालपर्ण ।

मिश्रोदन-संज्ञा पुं० [सं०] खिचड़ी ।

मिष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छल । कपट । (२) बहाना । हीला ।
मिस । (३) हँपरा । काह । (४) स्पष्ट । होइ । (५) दर्शन ।
(६) सेवक । सींचना ।

मिषि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जयमाली । (२) सोभा । (३)
सौक । (४) अजमोदा । (५) खस । उगरी ।

मिषिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोभा । (२) सौक । (३)
जयमाली । बालछद्म ।

मिषी-संज्ञा स्त्री० दे० "मिषि" ।

मिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा रस ।

वि० (१) मीठा । मधुर । (२) सौका, भूना या पकाया
हुआ ।

मिष्टनिय-संज्ञा पुं० [सं०] मीठी नीम ।

मिष्टनिबु-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा नीबू । जमीरी नीबू ।

मिष्टपाक-संज्ञा पुं० [सं०] मुरखा ।

मिष्टपाचक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत अम्ल भोजन बनाता
हो । जिसका बनाया भोजन बहुत स्वादिष्ट होता हो ।

मिष्टभाषी-संज्ञा पुं० [सं० मिष्टभाषिन्] वह जो मीठा बोलता
हो । मधुरभाषी ।

मिष्टवाताद-संज्ञा पुं० [सं०] मीठा वादाम ।

मिष्टाव-संज्ञा पुं० [सं०] मिठाई ।

मिस-संज्ञा पुं० [सं० मिष] (१) बहाना । हीला । जैसे,—उन्होंने
उपदेश के मिस ही उन्हें बहुत कुछ खरी खोटी कह सुनाई ।
(२) मकूल । पापुद । उ०—भाँड़ पुकारे पीर-बस, मिस
समुझे सब कोय—चंद्र ।

संज्ञा पुं० [पा०] तौया ।

यौ०—मिसगर = तौये का काम करनेवाला । सेनरा ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] कुँमारी लड़की । कुमारी ।

मिसकीन-वि० [सं० मिसकीन] (१) जिसमें कुछ भी सामर्थ्य या
बल न हो । बेबारा । दीन । (२) गरीब । निर्धन । (३)
सीधा-सादा ।

मिसकीनता-संज्ञा स्त्री० [सं० मिसकीन + ता (सं० प्रत्य०)]
दीनता । गरीबी । नश्वता । उ०—एही दरवार है गरब से
सरब हानि, लाभ जोग छैन को गरीबी मिसकीनता ।
—जुलसी ।

मिसकीनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिसकीन होने का भाव । दीन
या दरिद्र होने का भाव ।

मिसन-संज्ञा स्त्री० [हि० मिसना = मिटना] ऐसी भूमि जिसकी
मिट्टी में बाल भी मिला हुआ हो । बाल मिट्टी हुई मिट्टी
की जमीन ।

मिसना-संज्ञा पुं०—कि० प्र० [सं० मिषण] मिश्रित होना । मिलना ।
कि० प्र० [हि० मीसना का अर्थ २५] मीजा या मला
जाना । मीसा जाना ।

मिसर-संज्ञा पुं० दे० "मिष" ।

संज्ञा पुं० दे० "मिष" ।

मिसरा-संज्ञा पुं० [सं० मिसरा] कविता, विशेषतः उर्दू या
फारसी आदि की कविता का एक चरण । पद ।

मुहा०—मिसरा ख्याना = किसी एक मिसरे में बरानी और से
रचना करके दूसरा मिसरा जोड़ना ।

यौ०—मिसरा तरह ।

मिसरा तरह-संज्ञा पुं० [सं० मिसरा + का० तरह] वह दिया
हुआ मिसरा जिसके आधार पर उसी तरह की गज़ल कही
जाती है । पूर्व के लिये दी हुई (उर्दू या फारसी कविता
की) समस्या ।

मिसरी-संज्ञा स्त्री० [मिष देर के] (१) मिष देर का निवासी । (२)
मिष देर की भाषा । (३) दोबारा बहुत मात्र करके जमाई
हुई दानेदार या खेदार बीनी जो प्रायः बूने या कने के
रूप में बाजारों में बिकती है । यह धैरक में मिश्र,
घातुवर्धक, मुखमिष, बलकारक, दस्तार, दलही, हस्तिकारी,

सब प्रकार के रोगों को धात करानेवाली और रक्तपिच्छ को नष्ट करनेवाली मानी गई है।

मुहा०—मिसरी की दृष्टि = बहुत ही गीला या मगुर पदार्थ।

छंशा की० [देश०] एक प्रकार की नाइट की मक्ली।

मिसरोटी-छंशा की० [हि० मिरसा + रोटी] (१) मिस्से आटे की बनी हुई रोटी। वि० दे० "मिस्सा"। (२) कंटे आदि पर लेंकर बनाई हुई बाटी। भेंगाकड़ी।

मिसल-छंशा की० [अ० मिश्रित] सिक्कों के ये अनेक समूह जो अलग अलग नायकों की अधीनता में स्वतंत्र हो गए थे। (गुल नानक के यंदा नामक सिष्य की देखा-देरती और भी अनेक सिक्ख सरदारों ने अपने अपने समूह स्थापित कर लिए थे, जिन्हें ये मिसल कहते थे। जैसे,—भंगियों की मिसल, रामगढ़िया मिसल, अहलूवालिया मिसल आदि।

मिसाल-छंशा की० [अ०] (१) उपमा। (२) जैसे,—लोग आँखों की मिसाल बराम से देते हैं। (३) उदाहरण। नमूना। नमूना। जैसे,—यों ही कहने से काम न चलेगा, कोई मिसाल भी दीजिए।

फि० प्र०—देना।

(१) कहायत। लोकोक्ति। मसल।

मिसि-छंशा की० [सं०] (१) जटामोसी। घालछद्। (२) सीक।

(३) सोभा। (४) अजमोदा। (५) खस।

मिसिरी-छंशा की० दे० "मिसरी"।

मिसिल-वि० [अ०] समान। मुख्य। बराबर। दे० "मिस्ल"। छंशा की० (१) किसी एक मुकदमे या विषय से संबंध रखनेवाले कुल कागज़-पत्रों आदि का समूह। (२) किसी पुस्तक के अलग अलग छपे फार्म जो सिलाई आदि के काम के लिये क्रम से लगाकर रखे गए हों।

मुहा०—मिसिल उठाना = पुस्तक के अलग अलग फार्मों को छाने के लिये पहले एक प्रश्न से लगाना। (दफ्तरी)

मिसिली-वि० [हि० मिश्रित + ई (प्रत्य०)] (१) जिसके संबंध में अज्ञातत्व में कोई मिसिल बन चुकी हो। (२) जिसे न्यायालय से बंद मिल चुका हो। साक्ष्याभूता।

मुहा०—मिसिली घोर या बदमास = बहुत बुरा। घोर या बदमास जिसके बरपाव अदालत की मिसिलों तक से प्रभावित होते हैं।

मिसी-छंशा की० दे० (१) "मिसी"। (२) दे० "मिसि"।

मिसीन-छंशा की० दे० "मसीन"।

मिरकला-छंशा पुं० [अ०] सिक्खी करनेवालों का वह औज़ार जिसकी सहायता से ये सिक्खी करते हैं।

मिस्कीन-छंशा पुं० [अ०] (१) दीन। बेपारा। (२) दरिद्र। गरीब। (३) भूखा-भंगा। बंगाल। (४) सीपा-सादा। शूरील।

यो०—मिस्कीन सूरत।

मिस्कीन सूरत-वि० [अ० मिस्कीन + का० सूरत] जो देखने में सीपा-सादा या दीन, पर वास्तव में दुष्ट या पापी हो।

मिस्कीनी-छंशा की० [अ० मिस्कीन + ई (प्रत्य०)] (१) दीनता।

(२) गरीबी। (३) सुसीलता।

मिस्कोट-छंशा पुं० [अ० मेघ = भोज] (१) भोजन। खाना।

(२) एक साथ बैठकर खाने पीनेवालों का समूह। (३) गुल परामर्श।

मिस्टर-छंशा पुं० [अ०] महाशय। महोदय।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार प्रायः अंगरेजों में अथवा अंगरेजी बंग से रहनेवाले लोगों के नाम के साथ होता है।

जैसे,—मिस्टर जॉन, मिस्टर गुप्त।

मिस्टर-छंशा पुं० [हि० मिस्तर ?] (१) काठ का यह औज़ार जिससे राज लोग छत या पल्लर आदि पीटते हैं। पिटना। (२) वह कल जिससे नील की टिकियाँ बनाई जाती हैं।

छंशा पुं० [अ०] दफ्तरी का यह बड़ा डुकड़ा जिस पर समानांतर पर दोरे लपेटे जा सी लेते हैं और जो लिपने के समय छकीरों सीधी रखने के लिये लिखे जानेवाले कागज़ के नीचे रख लिया जाता है, अथवा जिस पर रस्सकर कागज़ दबा लिया जाता है।

छंशा पुं० दे० "मिस्तर"।

मिस्तरी-छंशा पुं० [अ० मास्टर = उस्ताद] वह जो हाथ का बहुत अच्छा कारीगर हो। चतुर शिल्पकार।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग बहुत ही छोहारी, बड़हारी, राज-गोरी और कल-पेच आदि का काम करनेवालों के लिये ही होता है।

मिस्तरीखाना-छंशा पुं० [हि० मिस्तरी + का० खाना] वह स्थान जहाँ छोहारा, बड़हारा या कल-पेच का काम जाननेवाले बैठकर काम करते हैं।

मिस्तगी-छंशा पुं० [देश०] (१) वह मैदान जिसमें किसी प्रकार की हरियाली न हो। बंजर। (२) अनाज दानों के लिये तैयार की हुई सभ भूमि।

मिस्न-छंशा पुं० [अ० = मगर] एक प्रसिद्ध देश जो अफ्रीका के उत्तर-पूर्वी भाग में समुद्र के तट पर है और जो बहुत प्राचीन काल में अपनी सम्यता और उन्नति के लिये बहुत विख्यात था। इसके उत्तर में भूमध्य सागर, पूर्व में रेड की सागरी और पश्चिम में सहारा का रेगिस्तान है। दक्षिण में यह नील नदी के उद्गम तक चला गया है। नील नदी में मृत्ति वर्ष बहुत बड़ी बाढ़ आती है जिसके कारण उसके आस-पास का प्रदेश बहुत अधिक उपजाऊ है। इसके अंगरेज और फ्रांस प्रांत हैं। इसका राजनगर फाहरा है और इसका सब से बड़ा बंदरगाह अलेक्जेंद्रिया है। इसर बहुत दिनों से यह देश तुर्कों के अधीन था और वहीं का राजमन्त्रिणि इसका

शासन करता था; पर अब इसे बैंगरेजों ने अपने संरक्षण में ले लिया है। इस देश के विशुद्ध प्राचीन निवासी अब नहीं रह गए हैं और उनकी यण-संकर संतान बची है, जिसका धर्म प्रायः इस्लाम और भाषा अरबी से उत्पन्न है। किसी समय में इस देश के निवासी उच्चता और सम्पत्ता के बहुत ही उच्च शिखर पर पहुँच गए थे; और यह देश रोम, भारत तथा चीन आदि का समीकश माना जाता है; पर अब इसका बहुत कुछ पतन हो गया है। कहते हैं कि नूह के पुत्र मिस्स ने अपने नाम पर एक नगर बसाया था, जिसके नाम पर इस देश का यह नाम पड़ा। बड़े बड़े भयनों और इमारतों के जितने प्राचीन खंडहर इस देश में मिलते हैं, उतने और कहीं नहीं पाए जाते।

मिन्ना-संज्ञा पुं० दे० "मिसरा"।

मिन्नी-संज्ञा स्त्री० दे० "मिसरी"।

मिस्ल-वि० [म०] समान। तुल्य। बराबर। जैसे,—यह घोड़ा मिस्ल सार के जाता है।

मिस्सा-संज्ञा पुं० [हि० मिसना = मिलना या मीमना = मलना] (१) मूँग, मोठ आदि का भूसा जो भेड़ों और ऊँटों के लिये बहुत अच्छा समझा जाता है। (२) कई तरह की दालों आदि को पीसकर तैयार किया हुआ भाटा जिसकी रोटी गरीब लोग बनाकर खाया करते हैं।

पौ०—मिस्सा कुरसा = बहुत ही मोटा भ्रान्त या उत्का बना खाद्य-वस्तु।

मिस्ली-संज्ञा स्त्री० [फा० मिसली = तॉवे फा] (१) एक प्रकार का प्रसिद्ध मंजन जो मानूफल, छोहचून और वृत्तिप आदि से तैयार किया जाता है और जिसे प्रायः सपना खियाँ दाँतों में लगाती हैं। इससे दाँत काले हो जाते और सुंदर जान पड़ते हैं।

क्रि० प्र०—मलना।—लगाना।

मुहा०—मिस्ली काजल करना = खियों का बनाव-सिगार करना।

मिस्ली और काजल आदि लगाना।

(२) किसी वेश्या का पहले पहल किसी पुरुष से समागम होना, जिसके उपलक्ष्य में प्रायः कुछ गाना बजाना और जलसा भी होता है। सिर-ढकाई। (मुसलमान वेश्या)

मिह-संज्ञा पुं० [सं०] बरसता हुआ बादल। मेघ।

मिहतर-संज्ञा पुं० दे० "मेहर"।

मिहदार-संज्ञा पुं० [फा० मिह = मिहन्ती + दार (प्रत्यय)] यह मजदूर जिसे नकद मजदूरी दी जाती हो, अब आदि के रूप में दी जाती हो। (रुहेल०)

मिहन्त-संज्ञा स्त्री० दे० "मेहनत"।

मिहन्ताना-संज्ञा पुं० दे० "मेहनताना"।

मिहन्ती-वि० दे० "मेहनती"।

मिहना-संज्ञा पुं० दे० "मेहन"।

मिहमान-संज्ञा पुं० दे० "मेहमान"।

मिहमानदारी-संज्ञा स्त्री० दे० "मेहमानदारी"।

मिहमानी-संज्ञा स्त्री० दे० "मेहमानी"।

मिहर-संज्ञा स्त्री० दे० "मेहर"।

मिहरवान-संज्ञा पुं० दे० "मेहरवान"।

मिहरवानी-संज्ञा स्त्री० दे० "मेहरवानी"।

मिहरा-संज्ञा पुं० (१) दे० "मेहरा"। (२) दे० "महरा"।

मिहराय-संज्ञा स्त्री० दे० "मेहराय"।

मिहराऊ-संज्ञा स्त्री० दे० "मेहराऊ"।

मिहानो-संज्ञा स्त्री० दे० "मयानो"।

मिहिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आसमान से पड़नेवाला बरफ। पाछा। (२) ओस। (३) कपूर।

मिहिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) आक का पौधा। (३) तौबा। (४) बादल। (५) हवा। (६) चंद्रमा। (७) राजा। (८) दे० "बराहमिहिर"।

वि० बृद्ध। बुढ़ा।

मिहिरकुल-संज्ञा पुं० [फा० महुकुल का सं० रूप] शाकल प्रदेश के प्रसिद्ध हूण राजा तोरमाण (तुरमान शाह) के पुत्र का नाम जिसने तुस सत्राओं पर विजय प्राप्त करके मध्य भारत तक अधिकार जमाया था। यह सौदा का बहुत बड़ा शत्रु था। एक बार मगध के राजा बालादित्य ने इसे पकड़ लिया था; पर फिर अपनी माता के कहने से छोड़ दिया था। इसने कुछ दिनों तक काश्मीर पर भी शासन किया था। यह ईसवी छठी शताब्दी के मध्य में हुआ था।

मिहिराय-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

मिही-संज्ञा स्त्री० [दे०] मध्य प्रदेश में होनेवाली एक प्रकार की अरहर जिसके दाने कुछ बड़े होते हैं और जो कुछ देर में तैयार होती है।

मिहीनी-वि० दे० "महीन"।

मींगनी-संज्ञा स्त्री० दे० "मंगनी"।

मींगी-संज्ञा स्त्री० [सं० मुह्य = दाल] बीज के अंदर का गुहा। गिरी।

मीजना-क्रि० सं० [हि० मीजना] (१) हाथों से मलना। मसलना। जैसे,—छाती मीजना, हाथ मीजना। (२) मर्दन करना। दलना।

मीड-संज्ञा स्त्री० [सं० मीड] संगीत में एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाते समय मध्य का भंग इस सुंदरता से कहना जिसमें दोनों स्वरों के बीच का संबंध स्पष्ट हो जाय; और यह न जान पड़े कि मानेवाला एक स्वर से दूसरे स्वर पर चला आया है। जैसे,—"सा" का उच्चारण करने के उप-

रंत 'रि' का उच्चारण करते समय पहले कोमल रिपम का उच्चारण करना। गमक।

विशेष—मीड की आवश्यकता किसी स्वर से केवल उसके दूसरे परवर्ती स्वर पर ही जाने में नहीं पड़ती, बल्कि किसी एक स्वर से किसी दूसरे स्वर पर जाने अथवा उतरने में भी पड़ती है। अर्थात् आरोहण और अवरोहण दोनों में उसके लिये स्थान है। जैसे,—सा के उपरंत ग का अथवा नि के उपरंत ग का उच्चारण करने में भी मीड का प्रयोग हो सकता और होता है। स्वरों की सूच्यताओं का उच्चारण मीड की सहायता से ही होता है। देशी याजों में से बीन, रबाब, सरोद, सितार, सारंगी आदि में मीड बहुत अच्छी तरह निकाली जाती है; पर पियानो और हारमोनियम आदि बैंगरणी रंग के याजों में यह किसी प्रकार निकल ही नहीं सकती। विद्वानों का यह भी मत है कि मीड निकालने के लिये चित्रों के फंड की अपेक्षा पुरुषों का फंड बहुत अधिक उपयुक्त होता है; और इसका कारण यह है कि पुरुषों की स्वर-नालिका स्त्रियों की स्वर-नालिका की अपेक्षा अधिक लंबी होती है।

मीडना—कि० सं० [हि० मीडना] हाथों से मलना। मसलना।

जैसे,—आदा मीडना।

मीडालीगी—छंदा ली० दे० "मीडालीगी"।

मीडार्ध—छंदा ली० [म०] (१) किसी कार्य की समाप्ति आदि के लिये नियत समय। अर्ध।

कि० प्र०—गुजरना।—बढ़ना।—बढ़ना।—मीटना।

(२) कारागार के दंड का काल। कैद की अवधि।

मुद्दा—मीडार्ध काटना—कारागार का दंड भोगना। सजा भुगतना। मीडार्ध चोलना = कारागार-वास का दंड देना। कैद की सजा देना।

मीडार्ध—वि० [हि० मीडार्ध + ई (प्रत्यय)] (१) जिसके लिये कोई समय या अवधि नियत हो। जैसे,—मीडार्ध हुंडी।

(२) जो कारागार में रह चुका हो। जो जेलघराने में रह कर सजा भुगत चुका हो। जैसे,—मीडार्ध पंजर।

मीडार्ध हुंडी—छंदा ली० [हि० मीडार्ध + हुंडी] यह हुंडी जिसका समय तुरंत न देना पड़े, बल्कि कुछ नियत समय या अवधि पर देना पड़े। यह हुंडी जो मित्ती पूजने पर भुगतवाई जाय।

मीचन—कि० सं० [सं० मिच = मचाना या मिच = रोकना] (आँखें) बंद करना। मूँदना।

मिचु—छंदा ली० [सं० मिच, प्रा० मिचु] मारु। मीत।

मीडार्ध—छंदा ली० [म० मीडार्ध] (१) अतुल्यता। (२) स्वभाव।

मुद्दा—मीडार्ध पटना या मिट्टना = दो बालियों का परस्पर मेघ लेन होना। स्वभाव मिलने के कारण मेघ होना।

(३) सम्मति। राय।

कि० प्र०—देना।

मीडान—छंदा ली० [म०] (१) छेदा। तराई। (२) गुदा।

(३) कुछ संख्याओं का योग। जोड़। (गणित)।

कि० प्र०—देना।—छगाना।

(४) दे० "मीड"।

मीडना—कि० प्र० दे० "मीचना"।

मीडिंग—छंदा ली० [म०] परामर्श आदि के लिये एक स्थान पर बहुत से लोगों का जमावड़ा। अभिवेदन। सभा।

मीड—वि० [सं० मिड, प्रा० मिड] [ली० मीड] (१) जो स्था में मधुर और प्रिय हो। चीनी या शर्करा आदि के स्वाद वाला। 'खटा' या 'नमकीन' का उलटा। मधुर। जैसे,—(क) रितना गुड़ डालोगे, उतना मीड होगा। (ख) या आम बहुत मीड है।

मुद्दा—मीड होना = किसी प्रकार के साम या चार्ज की द्वा प्राप्ति होना। अपने पत्र में कुछ गलत होना। जैसे,—दुर्गम देस क्या मीड है, जो हम नित्य दीड़ दीड़कर तुम्हारे पास आया करें।

(२) जिसका स्वाद बहुत अच्छा हो। स्वादिष्ट। पायकदार। जैसे,—मीड मीड हप, कड़ुभा कड़ुभा पू। (३) घिसा मुक्त। जैसे,—यह घोड़ा कुछ मीड चलता है। (४) न बहुत अच्छा न हो। साधारण या मध्यम श्रेणी का मामूली। (५) जो तीव्र या अधिक न हो। हल्का। मरिम मंद। जैसे,—आज खेले से वेद में मीड मीड दूर रहा है। (६) जिसमें पुंसाय न हो, या कम हो। नार्म नपुंसक। (७) जो शुद्ध-भोजन करता हो। मीठा। (८) जो बहुत अधिक सुगंधित हो। किसी का गुण भी अनिष्ट करनेवाला। बहुत अधिक सीधा। जैसे,—इतने मीठे न बन कि कोई चट कर जाय। (९) प्रिय। प्रतिकर। जैसे,—मीठे बचन, मीठी बात। उ०—यह चाहता है कि प्रत्येक से मीठे बने रहें।

छंदा पुं० (१) मीड साथ पदार्थ। मिठाई। (२) गुड़। (३) हल्का। (४) एक प्रकार का कपड़ा जो प्रायः मुक्त आन लोग पहनते हैं और जिसे मीठियाँ भी पहने हैं। (५) मीडा तेलिया या यजमान नामक विष। (६) मीडा मीष।

मीडार्ध अमृतफल—छंदा पुं० [हि० मीडार्ध + अमृतफल] मीडा बनी तरा।

मीडार्ध आल—छंदा पुं० [हि० मीडार्ध + आल] शक्करकर।

मीडार्ध रंजनी—छंदा पुं० [हि० मीडार्ध + रंजनी] रंजना। कुरंग। बाली। कुरा।

मीडार्ध कड़ु—छंदा पुं० [हि० मीडार्ध + कड़ु] कुरंग।

मीडार्ध गोखरु—छंदा पुं० [हि० मीडार्ध + गोखरु] छोटा गोखरु।

मीठा चावल-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + चावल] वह चावल जो चीनी या गुड़ के शरबत में पकाया गया हो ।

मीठा जूहर-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + जू० जूहर] वस्त्रनाम । बटनाम विप ।

मीठा जीरा-संज्ञा पुं० [हि० 'मीठा + जीरा] (१) काला जीरा । (२) सौंफ ।

मीठा ठग-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + ठग] छद्म और कपटी मित्र । जो ऊपर से मिला रहे, पर धोखा दे ।

मीठा तेल-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + तेल] (१) तिल का तेल । (२) पोस्त के दाने या खस-खस का तेल ।

मीठा तेलिया-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + तेलिया] बटनाम । वस्त्रनाम विप ।

मीठा नीबू-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + नीबू] जमीरी नीबू । चकोतरा ।

मीठा नीम-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + नीम] एकप्रकार का छोटा वृक्ष जो प्रायः सारे भारत में पाया और कहीं कहीं लगाया जाता है । इसमें से एक प्रकार की मीठी गंध निकलती है । इसकी छाल पतली और खाकी रंग की होती है और पत्ते पकायन या नीम के पत्तों के समान होते हैं । फल भी नीम के फल के ही समान होते हैं जो कच्चे रहने पर हरे, और पकने पर काले हो जाते हैं । इनमें दो बीज रहते हैं । चैत-वैशाख में इसके गुच्छों में छोटे छोटे फूल लगते हैं । इसकी जड़, छाल और पत्तियाँ भीषण के रूप में काम आती हैं । वैद्यक में इसे चरपा, कड़वा, कसैला और दाह, कवासीर, घृल आदि का नाशक माना है ।

मीठा पानी-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + पानी] नीबू का अँगरेजी खल मिला हुआ पानी जो बाजारों में बंद बोतलों में मिलता है । डेमनैड ।

मीठा पोटिया-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + पोटिया] छोड़े की यह चाल जो न बहुत तेज हो और न बहुत धीमी ।

मीठा प्रमेह-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + सं० प्रमेह] मधुमेह ।

मीठा घरस-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + घरस] स्त्रियों की अवस्था का अठारहवाँ और कुल लोगों के विचार से तेरहवाँ घरस जो उनके लिये कठिन समझा जाता है । मीठा साल ।

मीठा भात-संज्ञा पुं० दे० "मीठा चावल" ।

मीठा विप-संज्ञा पुं० [हि० मीठा + सं० विप] वस्त्रनाम । बटनाम ।

मीठा साल-संज्ञा पुं० दे० "मीठा घरस" ।

मीठी खरखोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + खरखोड़ी] पीली जीवंती । स्वर्ण जीवंती ।

मीठी छुरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + छुरी] (१) वह जो देखने में मित्र पर वास्तव में शत्रु हो । विश्वासघातक । (२) वह जो देखने में सीधा पर वास्तव में झुट हो । कपटी । झुटिल ।

मीठी तूँथी-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + तूँथी] कद्दू ।

मीठी दिया-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठा + दिया] महापील वृक्ष ।

मीठी मार-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + मार] ऐसी मार जिसकी चोट अंदर हो और जिसका ऊपर से कोई चिह्न न दिखाई दे । भीतरी मार ।

मीठी लकड़ी-संज्ञा स्त्री० [हि० मीठी + लकड़ी] मुलेठी ।

मीढ़-वि० [सं०] (१) पेशाव किया हुआ । मूत्र के मार्ग से निकला या निकाला हुआ । (२) मूत्र के समान । मूत्र का सा ।

मीहुप-संज्ञा पुं० [सं०] इन्द्र के पुत्र का नाम । वि० दयार्द्र । रहमदिल ।

मीहुधम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । महादेव । (२) सूर्य । (३) चोर ।

मीन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मछली । (२) मेघ आदि राशियों में से अंतिम या बारहवीं राशि । इस राशि में पूर्वभाद्रपद नक्षत्र का अंतिम पद, और उत्तर भाद्रपद तथा रेवती नक्षत्र हैं । इस राशि की अधिपति देवियाँ दो मछलियाँ हैं और यह चरण-रहित, कफ-प्रकृति, जलचारी, निःशब्द, विंगल वर्ण, स्निग्ध, बहुत संतानवादी और ब्राह्मण वर्ण की मानी गई है । कहते हैं कि इस राशि में जो जन्म होता है, वह क्रोधी, तेज चलनेवाला, अपवित्र और अनेक विवाह करनेवाला होता है ।

पर्याय—कीट । जलज । सौम्य । अंगन । सुम । सुय । भक्ष्य । गुरुद्वेज । दिनारमक ।

(३) मेघ आदि बारह लग्नों में से अंतिम लग्न । कलित ज्योतिष के अनुसार इस लग्न में जन्म लेनेवाला कार्यवृद्ध, अल्पभोजी, स्त्री का बहुत कम साथ करनेवाला, चंचल, अनेक प्रकार की बातें करनेवाला, धूर्त, तेजस्वी, बलवान्, विद्वान्, धनवान्, चरमरोगी, विद्वत्सुख, पराक्रमी, पवित्रता-पूर्वक और साजानुपूर्वक आचार आदि से रहनेवाला, विनीत, संगीतप्रेमी, कन्या-संततिवाला, कीर्तिवादी, पिशाची और घोर होता है और इसकी शत्रु मूहकृष्ण, गुण रोग या उपवास आदि से होती है ।

मीनक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नयनांजन । एक तरह का मुरमा ।

मीनकात-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद कनेर ।

मीनकेतन-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

मीनगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मत्स्यगंधा या सत्यवती का एक नाम ।

मीनगोधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जलमाय, लटाय या झीट आदि ।

मीनघाती-संज्ञा पुं० [सं० मीनघाति] बगला । वि० मछली मारनेवाला ।

मीननाथ-संज्ञा पुं० [सं०] गोरगनाथ के गुरु मत्स्यगंधा का एक नाम । मट्टननाथ ।

मीननेत्रा—छंदा श्री० [सं०] गाढर दूय ।
मीनपित्त—छंदा पुं० [सं०] लुटकी नामक ओषधि ।
मीनरंक—छंदा पुं० [सं०] जलक्रीड़ा । मुरगायी ।
मीनरंग—छंदा पुं० [सं०] (१) मकरंग नामक पक्षी जो मछली खाता है । (२) जलक्रीड़ा ।

मीनर—छंदा पुं० [सं०] साखोट वृक्ष । सहोरा ।

मीनांडी—छंदा श्री० [सं०] एक प्रकार की शकर ।

मीना—छंदा श्री० [सं०] ऊप्रा की कन्या का नाम जिसका विवाह कश्यप से हुआ था ।

छंदा पुं० [देश०] राजपूताने की एक प्रसिद्ध योद्धा जाति । इस जाति के लोग बहुत धीर होते हैं और युद्ध में इनकी बहुत प्रशंसा होती है । किसी समय ये बहुत बल-शाली थे और प्रायः लड़मार करके अपना निर्वाह करते थे । महाराणा प्रताप को अपने युद्धों में इनसे बहुत सहायता मिली थी ।

छंदा पुं० [अ०] (१) रंग विरंगा सीसा । (२) एक प्रकार का नीले रंग का कीमती पत्थर । (३) कीमिया । (४) सोने, चाँदी आदि पर किया जानेवाला रंग विरंग का काम ।

यौ०—मीनाकारी ।

(५) शराब रखने का कंटर या मुराही ।

मीनाकार—छंदा पुं० [अ०] यह जो चाँदी या सोने आदि पर रंगीन काम बनाया हो । मीना करनेवाला ।

मीनाकारी—छंदा श्री० [अ०] (१) सोने या चाँदी पर होनेवाला रंगीन काम । (२) किसी काम में निकासी या की हुई बहुत बड़ी भारीकी ।

मुहा०—मीनाकारी छटना = व्यर्थ का प्रियवचन करना । निरर्थक वचन बोलना । बात की छान निगलना ।

मीनाश—वि० [सं०] मछली के समान सुंदर भालेवाला ।

छंदा पुं० [सं०] एक शास्त्र का नाम ।

मीनासी—छंदा श्री० [सं०] (१) डूबेर की कन्या का नाम । (२) गाढर दूय । (३) माछी घुटी । (४) बाघर । चीनी ।

मीनासीध—छंदा पुं० [सं०] राजरीट पक्षी । गमोला । खंजन ।

मीनार—छंदा श्री० [अ०] (१) हट, पत्थर आदि की वह बुनाई जो प्रायः गोलाकार चलती है और ऊपर की ओर बहुत अधिक ऊँचाई तक चली जाती है । यह प्रायः किसी प्रकार की स्थिति के रूप में तैयार की जाती है । स्तंभ । स्तूप । (२) मसजिदों आदि के कोनों पर बहुत ऊँची उठी हुई स्तंभों के आकार की गोला इमारत जो सभे के रूप में होती है ।

मीनार—अ० "मीनार" ।

मीनार—अ० "मीनार" ।

(३) यह जो किसी बात की मीमांसा करने के लिये मीमांसा शास्त्र का शास्त्र हो ।

मीमांसा का पंडित । (३) पूर्व मीमांसा के सूत्रकार । अथि । (४) कुमारिल भट्ट का एक नाम । (५) माधवरायणी का एक नाम । (६) रामानुज का एक नाम । (७) माधवाचार्य का एक नाम ।

मीमांसन—छंदा पुं० [सं०] [वि०] शोभासित । किसी प्रसंग में मीमांसा या निर्णय करने का काम ।

मीमांसा—छंदा श्री० [सं०] (१) किसी तथ्य का विनिर्णय या विवेचन । अनुमान, तर्क आदि द्वारा यह करना कि कोई बात कैसी है । (२) हिंदुओं के धर्म में जो दो दर्शन जो पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा कहते हैं । (साधारणतः 'मीमांसा' शब्द से पूर्व मीमांसा ही ग्रहण होता है; उत्तर मीमांसा 'वेदान्त' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है) । (३) जैमिनि कृत दर्शन जिसे पूर्व मीमांसा कहते हैं और जिसमें वेद के शब्द-परक वचनों की व्याख्या बड़े विचार के साथ की गई है ।

विशेष—सूत्र जैमिनि के हैं और भाष्य शबर 'शस्त्री' का मीमांसा पर कुमारिल भट्ट के 'कार्तप्रवर्तिका' और 'संक्षेपवर्तिका' भी प्रसिद्ध हैं । माधवाचार्य ने भी 'जैमिनि्यायमाला विस्तार' नामक एक भाष्य रचा है । मीमांसा में चर्चा का विरहीत विवेचन है, इससे इसे 'विद्या' भी कहते हैं । बारह अध्यायों में विभक्त होने कारण यह मीमांसा 'द्वादशलक्षणी' भी कहलाती है ।

न्यायमाला-विस्तार में माधवाचार्य ने मीमांसा-सूत्रों विषय को संक्षेप में इस प्रकार बतलाया है—पहले अर्थ में विधि, अर्थवाद, मंत्र, स्मृति और नामधेय की प्रमाण का विचार है; दूसरे में अपूर्व कर्म और उसके फल प्रतिपादन तथा विधि और नियम की प्रक्रिया है; तीसरे श्रुतिलिखित वाक्यादि की प्रमाणता और अप्रमाणता की है; चौथे में नियम और नैमित्तिक वशों का विचार है; पाँचवें में अर्थ-वाक्यों के पूर्णतः संबंध पर विचार किया गया है; छठे में वशों के करने और कानिवाहों अधिकार का निर्णय है; सातवें और आठवें में एक वश की विधि को दूसरे वश में करने का पंगन है; नवें में मंत्र के प्रयोग का विचार है; दसवें में वशों में कुछ कर्मों करने या न करने से होनेवाले दोष का पंगन है; ग्यारहवें में वशों का विचार है; और बारहवें में प्रसंग का तथा कोटि हट्या पूर्ण करने के हेतु वशों के करने का विवेचन है । इस बारहवें अध्याय में शब्द के नियमानुसार होने के संबंध में सूक्ष्म विचार करने के शब्द की नियमता प्रतिपादित की गई है । मीमांसा में अनेक अधिहरण के लिये प्राग है—नियम, मंत्र, अपूर्व, उत्तरपक्ष और सिद्धांत ।

सूत्रों के समझने के लिये यह जानना आवश्यक होता है कि कोई सूत्र इन पाँचों में से किसका प्रतिपादक है।

इस शास्त्र में वाक्य, प्रकरण, प्रसंग या ग्रंथ का तात्पर्य निकालने के बहुत सूक्ष्म नियम और युक्तियाँ दी गई हैं। मीमांसकों का यह श्लोक सामान्यतः तात्पर्य-निर्णय के लिये प्रसिद्ध है—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।

अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग-तात्पर्य-निर्णये ॥

अर्थात् किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य-निर्णय के लिये सात बातों पर ध्यान देना चाहिए—उपक्रम (आरंभ), उपसंहार (अंत), अभ्यास (बार बार कथन), अपूर्वता (नवीनता), फल (ग्रंथ का परिणाम या लाभ जो बताया गया हो), अर्थवाद (किसी बात को जी में जमाने के लिये इरादा, उपमा, गुण-कथन आदि के रूप में जो कुछ कहा जाय और जो मुख्य बात के रूप में न हो) और उपपत्ति (साधक प्रमाणों द्वारा सिद्धि)। मीमांसक ऐसे ही नियमों के द्वारा वेद के वचनों का तात्पर्य निकालते हैं। शब्दार्थों का निर्णय भी विचारपूर्वक किया गया है। जैसे, वज्र के लिये जहाँ 'सहस्र-संवासर' हो, वहाँ 'संवत्सर' का अर्थ दिवस लेना चाहिए। इत्यादि।

मीमांसा शास्त्र कर्मकांड का प्रतिपादक है; अतः मीमांसक पौरुषेय, अपौरुषेय सभी वाक्यों को कार्य-परक मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक वाक्य किसी भ्यापार या कर्म का बोधक होता है, जिसका कोई फल होता है। अतः वे किसी बात के संबंध में यह निर्णय करना बहुत आवश्यक मानते हैं कि वह 'विधि वाक्य' (प्रधान कर्मसूचक) है अथवा केवल अर्थवाद (गौण कथन, जो केवल किसी दूसरी बात को जी में बैठावे, उसके प्रति उत्तेजना उत्पन्न करने आदि के लिये हो)। जैसे,—“रणक्षेत्र में जाओ; वहाँ स्वर्ग रत्ना है।” इस वाक्य में दो खंड हैं—“रणक्षेत्र में जाओ” यह तो 'विधि वाक्य' या मुख्य कथन है; और “वहाँ स्वर्ग रत्ना है” यह केवल 'अर्थवाद' या गौण बात है।

मीमांसा का तात्त्व-सिद्धांत विलक्षण है। इसकी गणना अनीश्वरवादी दर्शनों में है। आत्मा, प्रल, जगत् आदि का विवेचन इसमें नहीं है। यह केवल वेद या उसके शब्द की नियता का ही प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार ग्रंथ ही सब कुछ है। वे ही देवता हैं; देवताओं की अलया कोई सत्ता नहीं। 'भट्टदीपिका' में स्पष्ट कहा है “शब्द मार्ग देवता”। मीमांसकों का तर्क यह है कि सब कर्म फल के उद्देश्य से होते हैं। फल की प्राप्ति कर्म द्वारा ही होती है। अतः वे कहते हैं कि कर्म और उनके प्रतिपादक वचनों के अतिरिक्त कुर से और किसी देवता या ईश्वर की मानने की क्या

आवश्यकता है। मीमांसकों और नैयायिकों में बड़ा भारी भेद यह है कि मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिक अनित्य। सांख्य और मीमांसा दोनों अनीश्वरवादी हैं; पर वेद की प्रामाणिकता दोनों मानते हैं। भेद इतना ही है कि सांख्य प्रत्येक कल्प में वेद का नवीन प्रकाशन मानता है और मीमांसक उसे नित्य अर्थात् कल्पांत में भी नष्ट न होने-वाला कहते हैं।

इस शास्त्र का 'पूर्वमीमांसा' नाम इस अभिप्राय से नहीं रखा गया है कि यह उत्तर मीमांसा से पहले बना। 'पूर्व' कहने का तात्पर्य यह है कि 'कर्मकांड' मनुष्य का प्रथम धर्म है; ज्ञान-कांड का अधिकार उसके उपरांत आता है।

मीमांसित-वि० [सं०] जिसकी मीमांसा की जा चुकी हो। जो विचारपूर्वक स्थिर किया जा चुका हो।

मीमांस्य-वि० [सं०] (१) जो मीमांसा करने के योग्य हो।

(२) जिसकी मीमांसा करनी हो।

मीर-छंदा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) पर्यंत का एक भाग।

(३) सीमा। हृद। (४) जल।

छंदा पुं० [का०] (१) सरदार। प्रधान। नेता। (२) धार्मिक आचार्य। (३) सैन्य जाति की उपाधि। जैसे,—मीर सुलतानअली। (४) किसी बड़े सरदार या रहस का पुत्र। (५) तास या गंजीक में का सच से बड़ा पत्ता। (६) वह जो खेल में औरों से पहले जीतकर या अपना दौंव खेल कर अलग हो गया हो। (लड्के) (७) यह जो सब से पहले कोई काम विशेषतः प्रतियोगिता का काम कर डाले। किसी काम में स्त्रो हुए कई आदमियों में से वह जो सब से पहले काम कर ले।

मीर अर्जुन-छंदा पुं० [का० मीर + अ० अर्जुन] यह कर्मचारी जो बादशाहों की सेवा में लोगों के निवेदनपत्र आदि उपस्थित करे।

मीर आतिश-छंदा पुं० [का०] वह कर्मचारी जिसकी अधीनता में तोपखाना हो।

मीरज़ा-छंदा पुं० [का०] (१) अमीर या सरदार का लड्का। अमीरजादा। (२) मुगल शाहजादों की एक उपाधि। (३) सैन्य मुखलमानों की एक उपाधि। वि० दे० “मिरजा”।

मीरज़ाई-छंदा स्त्री० [का०] (१) मीरजा होने का भाव। (२) मीरजा का पद या उपाधि। (३) सरदारी। अमीरी। (४) अमीरों या शाहजादों का सात ऊँचा दिमाग होना। (५) अभिमान। धमंड। गोपी। (६) दे० “मिराई”।

मीर फ़री-छंदा पुं० [का०] वे गोल्, ऊँचे और भारी कपूर जो बड़े बड़े फ़त्तों या चाँदनियाँ आदि के दोनों पर इसलिये रखे जाते हैं जिसमें वे हवा से उड़ न जायें।

मीर घुसरी-छंदा पुं० [जा०] मुसलमानी राजत्व काल का एक प्रधान कर्मचारी जिसका काम बैठन घौटना होता था ।
 मीर यहर-छंदा पुं० दे० "मीर यहरी" ।
 मीर यहरी-छंदा पुं० [जा०] (१) मुसलमानी राजत्व काल में जल-सेना का प्रधान अधिकारी । (२) यह प्रधान कर्मचारी जो यंदराहों आदि का निरीक्षण करता था ।
 मीर यार-छंदा पुं० [जा०] पुराने मुसलमानी समय का यह अधिकारी जो लोगों को किसी सरदार या यादशाह के सामने उपस्थित होने से पहले उन्हें देखता और तब उपस्थित होने की आज्ञा देता था ।
 मीर भुचड़ी-छंदा पुं० [जा० मीर + च० भुचरी] एक कल्पित पौर जिसे हीजदे अपना आदि पुरख और आचार्य मानते हैं और जिसके बंधा में वे अपने आपको समझते हैं। कहते हैं कि ये क्षत्रियों के वेता में रहते, चरखा कातकर अपना निर्वाह करते और छः महीने की तथा छः महीने पुरख रहा करते थे । जब हीजदों में कोई नया हीजदा आकर सम्मिलित होता है, तब ये इन्हीं के नाम की कड़ाही रखते और उसे पकवान खिलाते हैं। कहते हैं कि जो कोई यह पकवान खा लेता है, वह भी हीजदों की तरह हाथ पैर मटझने लगता है ।
 मीर मंजिल-छंदा पुं० [जा० मीर + च० मंजिल] यह कर्मचारी जो यादशाहों या लखर आदि के पहुँचने से पहले ही मंजिल या पश्ता पर पहुँचकर यहाँ सब प्रकार की व्यवस्था करे ।
 मीर मजलिस-छंदा पुं० [जा०] सभा या अजिवैतान का प्रधान अधिकारी । सभापति ।
 मीर महल्ला-छंदा पुं० [जा० मीर + च० महल्ला] किसी महल्ले का प्रधान या सरदार ।
 मीर मुंसी-छंदा पुं० [जा० मीर + च० मुंसी] मुंशियों में प्रधान या सरदार । सब से बड़ा मुंसी ।
 मीर शिकार-छंदा पुं० [जा०] यह प्रधान कर्मचारी जो अमीतों या बादशाहों के शिकार की व्यवस्था करता है ।
 मीर सामान-छंदा पुं० [जा०] यह प्रधान कर्मचारी जो अमीतों या बादशाहों की पाकछाला की व्यवस्था करता है ।
 मीर हाज-छंदा पुं० [जा० मीर + च० हाज] हाजियों का सरदार । हाजियों के समूह का प्रधान ।
 मीरास-छंदा की० [च०] यह धन-संपत्ति जो किसी के मरने पर उसके उत्तराधिकारी को मिले । वारस । वसीती ।
 मीरासी-छंदा पुं० [च० मीरास] [श्री० मीरमिन] एक प्रकार के मुसलमान को पश्चिम में जाना जाता है । ये प्रायः माने जाते हैं कि काम करने हैं और मोर्तों की तरह मसलपावन करके लोगों की प्रशंसा करते हैं ।
 मीरी-छंदा की० [जा० मीर + ई (सय-०)] (१) मीर होने का

भाव । (२) खेल में किसी लड़के का सर्वप्रथम होना । (३) खेल में लड़कों का अपना दौष खेलकर खेल से भ्रम हो जाना ।
 मील-छंदा पुं० [सं०] वन । जंगल ।
 छंदा पुं० [म०] दूरी की एक गाँव जो १०१० गज भी होनी है । इसे साधारणतः कोस का आधा मानते हैं ।
 मीलक-छंदा पुं० [सं०] रोहित मटवी । रोह ।
 मीलन-छंदा पुं० [सं०] [वि० मीलन, मीलन] (१) बंद करना । जैसे,—नेग्रमीलन । (२) संकुचित करना । सिंकोरना ।
 मीलित-वि० [सं०] (१) बंद किया हुआ । (२) सिंकोरना हुआ ।
 छंदा पुं० एक अलंकार जिसमें यह कहा जाता है कि एक होने के कारण दो वस्तुओं (उपमेय और उपमान) में भेद नहीं जान पड़ता, वे एक में मिली जान पड़ती हैं । उ०—
 पँखुरी खनी मुकाम की गात न जानी जाय ।
 मीचम-छंदा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी खम्बा का नाम । (वीर)
 मीचर-वि० [सं०] (१) हिंसक । (२) प्रयत्न ।
 छंदा पुं० सेनापति ।
 मीचा-छंदा पुं० [सं० मीचर] (१) घट में का कीड़ा । (२) बापु । हवा । (३) सार । तप ।
 मीशान-छंदा पुं० [सं०] महारज्य वृक्ष । अमलतास ।
 मुंगना-छंदा पुं० [हि० मुन्गा] सहजिन । मुन्गा ।
 मुंगरा-छंदा पुं० [सं० मुंगर] [श्री० मुंगरी] हथौड़े के आकार का काठ का बना हुआ यह औजार जो किसी प्रकार का आघात करने या किसी चीज को पीटने-डोँकने आदि के काम आता है । जैसे,—टूटा गद्दने का मुंगरा, चंदा बजाने की मुंगरी, रंगरोजों की मुंगरी ।
 † छंदा पुं० [हि० मुंगरा] नमकीन मुँडिया ।
 मुंगा-छंदा की० [सं०] पुराणानुसार एक देवी का नाम ।
 मुंगिया-छंदा पुं० [हि० मुंग] एक प्रकार का घासीदार या चार-बानेदार कपड़ा । हिं० दे० "मुंगिया" ।
 मुंगौरी-छंदा की० [हि० मुंग + वरी] मुंग की बनी हुई वरी ।
 मुंज-छंदा पुं० [सं० मुंजात] मूँज ।
 मुंजक-छंदा पुं० [सं०] घोड़ों की आँख का एक रोग जो बीड़ों के कारण नेत्र-पटल पर होता है । जब यह बढ़ जाता है, तब मुंजालक कहलाता है ।
 मुंजकेतु-छंदा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम ।
 मुंजकेय-छंदा पुं० [सं०] (१) निष । (२) विष्णु । (३) महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम ।
 मुंजकेयी-छंदा पुं० [सं० मुंजकेय] विष्णु ।
 मुंजप्राम-छंदा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राम्नीत नगर का नाम ।

मुंजजालक-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों की आँख के मुंजक रोग का उस समय का नाम जब यह बहुत बढ़ जाता है ।

मुंजपृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन प्रदेश का नाम जो हिमालय पर्वत में था ।

मुंजमणि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्पराग मणि । पुष्कराज ।

मुंजमेखला-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुँज की बनी हुई वह मेखला जो यज्ञोपवीत के समय पहनी जाती है ।

मुंजमेखली-संज्ञा पुं० [सं०] मुंजमेखलिय् । (१) विष्णु । (२) शिव ।

मुंजर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल की जड़ । (२) कमल की माल । मृगाल ।

मुंजघट-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन सीध का नाम ।

मुंजधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] मुंजधन्य । (१) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार की सोम लता । (२) महाभारत के अनुसार कैलाश पर्वत के पास के एक पर्वत का नाम ।

मुंजातक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँज । (२) मुजरा कंद ।

मुंजाद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

मुंजारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कंद । मुजरा कंद ।

मुंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गर्दन के ऊपर का अंग जिसमें केस, मस्तक, आँख, मुँह आदि होते हैं । सिर । (२) पुराणानुसार राजा बलि के सेनापति एक दैत्य का नाम । (३) शुभ के सेनापति एक दैत्य का नाम जो उसकी आशा से भगवती के साथ लड़ा था और उन्हीं के हाथों मारा गया था । बंड और मुंड को मारने के कारण ही भगवती का नाम चामुंडा पड़ा था । (४) राहु ग्रह । (५) मुंडन करनेवाला, हजाम । (६) धृष्ट का हुँद । (७) कटा हुआ सिर । (८) थोक नामक गंध द्रव्य । (९) एक उपनिषद् का नाम । (१०) मंहर । (११) गाँवों का समूह या मंडल ।

वि० (१) मुंडा हुआ । मुंडा । बिना चमक का । (२) अथम । नीच ।

मुंडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मस्तक । सिर । (२) हजाम । (३) एक उपनिषद् का नाम ।

मुंडकरी-संज्ञा स्त्री० [हि०] मुंड + करी (प्रत्य०) । छुटनों में सिर देकर बैठना या सोना, जो प्रायः बहुत दुःख के समय होता है ।

मुंडा०—मुंडकरी मारना = छुटनों में सिर देकर, बहुत दुःखी होकर बैठना ।

मुंडकिट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] मंहर ।

मुंडचणक-संज्ञा पुं० [सं०] चना ।

मुंडचिरा-संज्ञा पुं० [हि०] मुँह + चिराज् । (१) एक प्रकार के फरीर जो प्रायः अपना सिर, आँख या नाक आदि छुरे या

किसी चुकीले हथियार से घायल करके निश्चा मॉगते हैं, और निश्चा न मिलने पर अड़कर बैठ जाते और अपने अंगों को और भी अधिक घायल करते हैं । ऐसे फरीर प्रायः मुसलमान ही होते हैं । (२) वह जो लेन देन में बहुत हुजत और दृढ़ करे ।

मुंडचिरापन-संज्ञा पुं० [हि०] मुंडचिरा + पन (प्रत्य०) । लेन-देन आदि में बहुत हुजत और दृढ़ ।

मुंडधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का शाखिधान्य जो मुंडनालि भी कहलाता है । बोरो धान ।

मुंडन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिर को उल्टे से मुँहने की क्रिया ।

(२) द्विजातियों के १६ संस्कारों में से एक जो वाय्यावस्था में यज्ञोपवीत से पहले होता है और जिसमें पालक का सिर मुँहा जाता है ।

मुंडनक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुंडनालि नामक धान्य । बोरो धान । (२) घट का दूध ।

मुंडना-कि० व० [सं०] मुंडन । (१) मुँहा जाना । सिर के बालों की सफाई होना । (२) लुटना । (३) ठगा जाना । धोखे में आना । (४) हानि उठाना ।

संयो० कि०—जाना ।

मुंडनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुंडनालि । बोरो धान ।

मुंडसप्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम ।

मुंडफल-संज्ञा पुं० [सं०] नारियल ।

मुंडमंडली-संज्ञा स्त्री० [सं०] अशिक्षित सेना । बिना सीखी हुई सैन्य ।

मुंडमाल-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "मुंडमाला" ।

मुंडमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटे हुए सिरों या लोपदियों की माला जो शिव या काली देवी के गले में होती है ।

(२) बंगाल की एक नदी का नाम ।

मुंडमालिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गले में लोपदियों की माला पहननेवाली, काली ।

मुंडमाली-संज्ञा पुं० [सं०] मुण्डमालिन् । मुंड की माला धारण करनेवाले, शिव ।

मुंडलोह-संज्ञा पुं० [सं०] मंहर ।

मुंडवेदांग-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नागाधुर का नाम ।

मुंडशालि-संज्ञा पुं० [सं०] बोरो धान ।

मुंडा-संज्ञा पुं० [सं०] मुंड । [स्त्री०] मुंडी । (१) वह जिसके सिर के बाल न हों या मुँदे हुए हों । (२) वह जो सिर मुँहाकर किसी सार्व या जोगी आदि का शिष्य हो गया हो । (३) वह पशु जिसके सींग होने चाहिये, पर न हों । जैसे,—मुंडा बैल । मुंडा पकरा । (४) वह जिसके उपरी भयवा इयर उपर फैलनेवाले अंग न हों । जैसे,—मुंडा पंख ।

एक प्रकार की लिपि जिसमें मात्राएँ आदि नहीं होतीं और जिसका व्यवहार प्रायः कोटीवाल करते हैं। कोटीवाली।

(१) एक प्रकार का जूना जिसमें नोक नहीं होती और जो प्रायः सिपाही लोग पहना करते हैं।

छंदा री० [सं०] गोरखमुंडी।

छंदा पुं० [देश०] छोटा नागपुर में रहनेवाली एक असम्य जाति।

मुँडाई-छंदा स्त्री० [हि० मुँदना + आई (प्रत्य०)] (१) मुँदने या मुँदने की क्रिया अथवा भाव। (२) मुँदने या मुँदने के बदले में मिला हुआ धन।

मुँडासपा-छंदा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

मुँडासन-छंदा पुं० [सं०] धोने के अनुसार एक प्रकार का आसन।

मुँडासाँ-छंदा पुं० [हि० मुँद = सिर + साँ (प्रत्य०)] सिर पर बाँधने का साधन।

कि० प्र०—कसना।—बाँधना।

मुँडासार्यद-छंदा पुं० [हि० मुँडासा + र्यद (प्रत्य०)] यह जो कपड़े से पगड़ी बनाने का काम करता हो। दुस्तार्यद।

मुँडा हिरन-छंदा पुं० [हि० मुँडा + हिरन] पासी शृंग।

मुँडित-छंदा पुं० [सं०] छोटा।

वि० मुँडा हुआ।

मुँडितिका-छंदा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

मुँडिनी-छंदा स्त्री० [सं०] कस्तूरी शृंग।

मुँडिम-छंदा पुं० [सं०] एक प्राचीन फ़रिष जो पात्रनेय संहिता के कई मंत्रों के प्रारंभ या कर्त्तों कहे जाते हैं।

मुँडिया ङ-छंदा स्त्री० [हि० मुँड = सिर का स्त्री०] मुँड। सिर।

छंदा पुं० [हि० मुँडना + या (प्रत्य०)] यह जो सिर मुँडाकर किसी साधू या जोगी आदि का निष्प हो गया हो। संप्यासी। उ०—जिनके जोग जोग यह ऊपों, से मुँडिया बसँ कासी।—सूर।

मुँडी-छंदा स्त्री० [हि० मुँडना + ई (प्रत्य०)] (१) वह स्त्री जिसका सिर मुँडा हो। (२) विधवा। रंदि। (गाली) (३) एक प्रकार की बिना मोटावाली जूती।

छंदा री० [सं०] गोरखमुंडी।

छंदा पुं० [सं० मुँडिर] (१) वह जिसका मुँडन हुआ हो।

मुँडा हुआ। (१) भाषित। हुआ। (३) संप्यासी। मुँडिया।

मुँडीरिका-छंदा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

मुँडेरा-छंदा स्त्री० [हि० मुँडेरा] (१) मुँडेरा। (२) सेत के पारों और सीमा पर अथवा बचारियों में का उभरा हुआ गंगा। मेड़। बोझ।

कि० प्र०—बाँधना।—बाँधना।

मुँडेरा-छंदा पुं० [हि० मुँडे = सिर + रा (प्रत्य०)] (१) दीवार का

वह ऊपरी भाग जो सबसे ऊपर की छत के पारों और ऊपर कुछ उठा हुआ होता है। (२) किसी प्रकार का बाँध हुआ पुस्ता।

कि० प्र०—बाँधना।—बाँधना।

मुँडेरी-छंदा स्त्री० दे "मुँडर"।

मुँडो-छंदा स्त्री० [हि० मुँडना + ओ (प्रत्य०)] (१) वह स्त्री जिसका सिर मुँडा गया हो। (२) स्त्रियों की एक प्रकार की गाली जिससे प्रायः विधवा का बोझ होता है। रंदि।

मुँडा०—मुँडो का = एक प्रकार की नाकरी मानी जिगला काँ हथपी या बर्षेकर आदि होता है। जिगला की के गले से ऊपर वैषम्य काल में खपन पुरष।

मुँडिया-छंदा स्त्री० [हि० मुँडा + या (प्रत्य०)] बँधने का छोटा मोटा।

मुँडफिल-वि० [सं०] एक स्थान से दूसरे स्थान पर गया हुआ।

मुँडा०—मुँडफिल करना = एक के नाम से दूसरे दूसरे के नाम करना। दूसरे को देना। जैसे, जायदाद मुँडफिल करना।

मुँडफिम-छंदा पुं० [सं०] यह जो हुंजाम करता हो। प्रबंध करनेवाला। व्यवस्था करनेवाला।

मुँडजिर-वि० [सं०] हुंजाम करनेवाला। प्रतीक्षा करनेवाला। राह देखनेवाला।

कि० प्र०—रखना।—रखना।—होना।

मुँडना-कि० प्र० [सं० मुँडना] (१) छुली हुई घल्ल का ढक जाना। बंद होना। जैसे,—आँख मुँडना। (२) छल होना। छिपना। जैसे,—दिन मुँडना। सूर्य मुँडना। (३) छिप आदि का पूर्ण होना। छेद, बिल आदि बंद होना।

संयो० कि०—जाना।

मुँडरा-छंदा पुं० [हि० मुँडरा] (१) एक प्रकार का कुँडल जो जोगी लोग कान में पहनते हैं। (२) एक प्रकार का आभूषण जो कान में पहना जाता है।

मुँडरी-छंदा स्त्री० [सं० मुँडा] (१) उँगली में पहनने का सादा छला। (२) बेंगरी।

मुँडियाना-वि० [सं० मुँड + हि० रयाना (प्रत्य०)] मुँडियों का सा। मुँडियों की तरह का।

मुँडी-छंदा पुं० [सं०] (१) लेख या निबंध आदि लिखनेवाला। लेखक। (२) लिखा-पढ़ी का काम या प्रतिनिधि आदि करनेवाला। मुँडरि। लेखक। (३) वह जो बहुत दूर अक्षर, विशेषतः क्षारकी आदि के अक्षर, लिखता हो।

मुँडीखाना-छंदा पुं० [सं० मुँडी + खाना] यह स्थान जहाँ मुँडी या मुँडरि आदि बैठकर काम करते हैं। दफ्तर।

मुँडीमिरी-छंदा स्त्री० [सं० मुँडी + मीरी (प्रत्य०)] मुँडी का काम या पद।

मुँसरिम-छंदा पुं० [सं०] (१) प्रबंध या व्यवस्था करनेवाला।

इंतजाम करनेवाला । (२) कचहरी का वह कर्मचारी जो दफ्तर का प्रधान होता है और जिसके सपुर्द मिसलें आदि रीक करना और ठिकाने से रखना होता है ।

मुंसलिक-वि० [अ०] साथ में बोधा या नथी किया हुआ । (कच०)

मुंसलिक-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जो न्याय करता हो । इन्साफ करनेवाला । (२) दीवानी विभाग का एक न्यायाधीश जो छोटे छोटे मुकदमों का निर्णय करता है और जो सच-जब से छोटा होता है ।

मुंसलिकी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुंसलिक + ई (प्रत्य०)] (१) न्याय करने का काम । (२) मुंसलिक का काम या पद । (३) मुंसलिक की अवदलत । मुंसलिक की कचहरी ।

मुंह-संज्ञा पुं० [सं० मुख] (१) प्राणी का वह अंग जिससे वह बोलता और भोजन करता है । मुख-विवर ।

विशेष—प्रायः सभी प्राणियों का मुंह सिर में होता है और उससे वे खाने का काम लेते हैं । शब्द निकालनेवाले प्राणी उससे बोलने का भी काम लेते हैं । अधिकांश जीवों के मुंह में जीभ, दाँत और जवड़े होते हैं, और उसे खोलने या बंद करने के लिये आगे की ओर आँठ होते हैं । पक्षियों तथा कुछ और जीवों के मुंह में दाँत नहीं होते । कुछ छोटे छोटे जीव ऐसे भी होते हैं जिनका मुंह पेट या शरीर के किसी और भाग में होता है ।

(२) मनुष्य का मुख-विवर ।

मुहा०—मुंह धाना = मुंह के पंजर छले पड़ना और चेहरा सूजना । (प्रायः गरमी आदि के रोग में पारा आदि कुछ विशिष्ट औषध खाने से ऐसा होता है ।) मुंह का कच्चा = (१) (घोड़ा) जो लगातार भटका न सह सके । (२) जिसपर बात का कोई विश्वास न हो । (३) (३) जो किसी बात को गुप्त न रख सकता हो । हर एक बात सब से कह देनेवाला । मुंह का कड़ा = (१) (बेड़ा) जो हकनेवाले के बन्धानुसार न चले । लगातार के संकेत को कुछ न समझनेवाला । (२) कड़ा । तेज । (३) उर्ध्वतार्युक्त नातों करने-वाला । मुंह किलना = मुंह का कोला या बंद किया जाना । मुंह की बात छीनना = जो बात कोई दूसरा करना चाहता हो, वही आप कह देना । मुंह की मक्की न उड़ा सकना = बहुत अधिक दुर्लभ होना । मुंह कीलना = बोलने से रोचना । चुप करना । मुंह खराब करना = (१) जवान का स्वाद बिगाड़ना । (२) जवान से गंदी बातें कहना । मुंह खुलना = उर्ध्वतार्युक्त नातों करने की आरत पड़ना । जैसे,—आजकल गृहहारा मुंह बहुत खुल गया है; किसी दिन थोखा साभोगे । मुंह खुलवाना = किसी को उर्ध्वतार्युक्त नातों करने के लिये काय्य करना । मुंह खुलना होना = दे० "मुंह खुलना" । मुंह खोलकर रह जाना = कुछ कहते कहते लज्जा या शंभेय के

कारण चुप हो जाना । सहमकर चुप रह जाना । मुंह खोलना = (१) कहना । बोलना । (२) गालियों देना । खराब बातें कहना । (किसी को) मुंह चढ़ाना = (१) किसी को बहुत उर्द्व बनाना । बातें करने में घुट करना । खोल करना । जैसे,—आपने इस नौकर को बहुत मुंह चढ़ा रखा है । (२) अपना पार्श्ववर्ती और शिथिल बनाना । मुंह चलना = (१) भोजन होना । खाया जाना । (२) मुंह से व्यर्थ की बातें या दुर्वचन निकलना । मुंह चलाना = (१) खाना । भोजन करना । (२) बोलना । बकना । (३) गालियों देना । दुर्वचन कहना । (४) दाँत से काटना, विरोधता पोषे या काटना । मुंह चिढ़ाना = किसी को, चिढ़ाने के लिये उसकी भावति, हाव-भाव या कथन की बहुत बिगाड़कर नकल करना । मुंह चूमकर छोड़ देना = लज्जित करके छोड़ देना । शर्मिदा करके छोड़ देना । मुंह छुआना = दे० "मुंह छूना" । मुंह छूना [संज्ञा मुंह-छुआर] = (१) नाम मात्र के लिये कहना । मन से नहीं, बल्कि कपूर से कहना । जैसे,—मुंह छूने के लिये वे मुझे भी निमंत्रण दे गए थे । (२) दिलीला मत करना । मुंह जहर होना = कट्टा पदार्थ खाने के कारण मुंह में बहुत अधिक कड़वाहट होना । मुंह जुझारना या जुझा करना = नाम मात्र के लिये कुछ खाना । मुंह जोड़ना = बात होकर आपस में धीरे धीरे बातें करना । काना फूसी करना । मुंह डालना = (१) किसी पशु आदि का खाप पदार्थ पर मुंह चलाना । (२) सुराओं का लड़ना या आक्रमण करना । (३) मुंह शाय = मुंह तक आना = जवान पर आना । कहा जाना । मुंह धकना = बहुत अधिक बोलने के कारण शिथिलता भाना । मुंह धकाना = बहुत अधिक बोलकर अपने आपको शिथिल करना । मुंह देना = किसी पशु आदि का किसी वस्तु या खाद्य पदार्थ में मुंह डालना । जैसे,—इस दूध में विली मुंह दे गई है । मुंह पकड़ना = बोलने से रोचना । बोलने न देना । जैसे,—कहो न, कोई गृहहारा मुंह पकड़ता है ! मुंह पर न रखना = तनिक भी स्पर्श न लेना । बरा भी न खाना । जैसे,—कड़के से कल से एक दाना भी मुंह पर नहीं रखा । मुंह पर बात आना = (१) कुछ कहने की भी चाहना । (२) कुछ कहना । मुंह पर मोहर करना = बोलने से रोचना । कहने न देना । चुप करना । मुंह पर खाना = मुंह से कहना । बर्णन करना । जैसे,—अपनी की हुई नेकी मुंह पर नहीं छानी चाहिए । मुंह पर हाथ रखना = बोलने से जबरदस्ती रोचना या मना करना । मुंह पसारकर खोदना = कुछ पाने के लक्षण में कुछ उद्युक्त होकर आगे बढ़ना । मुंह पसारकर रह जाना = (१) परम नरित हो जाना । हक्का, बक्का हो जाना । (२) लज्जित होकर रह जाना । गरमाकर रह जाना । मुंह पेट चलना = भोजन होना । देखा होना । मुंह फटना = पूना आदि लगने के कारण मुंह में छंदे छंदे, पान हो जाना । मुंह फाड़कर खदना = बरदाश बनकर

न जाना । मुँह उजाले या मुँह उडे = प्रभात के समय । उसके ।
 कुन तबे । मुँह उठना = किसी और चलने की प्रवृत्ति होना ।
 जैसे,—हमारा क्या, जिपर मुँह उठा, उधर ही चल देंगे ।
 मुँह उठाए चले जाना = बेशक चले जाना । बिना रके हुए चले
 जाना । मुँह उठाकर कहना = बिना सोचे समझे कहना । जो
 मुँह में अग्रे, तो कहना । मुँह उठाकर चलना = नीचे की ओर
 बिना देखे हुए, केवल ऊपर की ओर मुँह करके चलना । अंगभुष
 चलना । मुँह उतरना = (१) दुर्बलता के कारण मुँह होना ।
 चेहरे पर रीनक न रह जाना । (२) विफलता, हानि या दुःख
 आदि के कारण उदास होना । विवर्णा होना । चेहरे का तेज
 जाता रहना । (अपना) मुँह काला करना = (१) न्यविचार करना ।
 अतृप्त संतोष करना । (२) अपनी बदनामी करना । (दूसरे का)
 मुँह काला करना = उपेक्षा से हटना । त्यागना । जैसे,—मुँह
 काला करो, क्यों इसे अपने पास रखे हो ? मुँह की खाना =
 (१) भण्ड खाना । तमाका खाना । (२) वैज्ञान होना । दुर्गता
 करना । (३) मुँह-तोड़ उठार चुनना । (४) लजित होना । शर्मिन्दा
 होना । (५) भोखा खाना । चूक जाना । (६) गुरी तरह परास्त होना
 मुँह के बल गिरना = (१) ठोकर खाना । भोखा खाना । (२)
 बिना सोचे समझे किसी और प्रवृत्त होना । कोई वस्तु प्राप्त करने के
 लिये लपकना । मुँह खोलना = चेहरे पर से रूपाद आदि हटाना ।
 चेहरे के भागे का परदा हटाना । मुँह चढ़ाना = दे० “मुँह
 फूलाना” । मुँह घाटना = सुरामद करना । ड़ुर सह्यती
 कहना । लल्लो पयो करना । मुँह छिपाना = लज्जा के भावे सामने
 न होना । मुँह झटक जाना = रोग या दुर्बलता आदि के कारण
 चेहरा उतर जाना । मुँह झलसना = (१) मुँह में आग लगाना ।
 मुँह फूँकना । (खि० गाली) (२) दाह-कर्म करना । मुरदे को जलाना ।
 (उपेक्षा) (३) कुछ दे लेकर दूर करना । (अपना) मुँह देढ़ा करना =
 मुँह फूलाना । अप्रसन्नता या असंतोष प्रकट करना । (दूसरे का)
 मुँह देढ़ा करना = दे० “मुँह तोड़ना” । मुँह रौंकना = किसी के
 नाले पर उसके लिये रौंफ करना या रौना । (उत्पल०) (किसी का)
 मुँह ताकना = (१) किसी का मुखापेक्षी होना । किसी के मुँह की
 ओर, कुछ पाने आदि की आशा से, देखना । (२) एक लगाकर देखना ।
 (३) विचारा होकर देखना । (४) चकित होकर देखना । आश्चर्य से
 देखना । मुँह ताकना = शर्मभक्ष्य होकर मुखापेक्ष बैठे रहना ।
 जैसे,—साथ लोग अपने अपने रूपए छे आप, और आप
 मुँह ताकते रहे । मुँह तोड़कर जवाब देना = पूरा पूरा जवाब
 देना । पेडा जवाब देना कि कोई बोल ही न सके । मुँह घुसाना =
 मुँह को घुसाने से तरह बनाना । मुँह फूलाना । कोष या
 अप्रसन्नता प्रकट करना । मुँह दिखाना = सामने आना । मुँह
 देखकर उठना = प्रातःकाल सोकर उठने के समय किसी को
 सामने पाना । जैसे,—आज न जाने किसका मुँह देखकर उठे
 थे कि दिन भर भोजन ही न मिला । (प्रायः लोग मानते हैं

कि प्रातःकाल सोकर उठने के समय शुभ या अशुभ आदमी
 का मुँह देखने का फल दिन भर मिला करता है ।) मुँह
 देख कर बात कहना = सुरामद करना । (किसी का) मुँह
 देखना = (१) सामना करना । किसी के सामने जाना । किसी के
 साथ देखादेखी या साक्षात्कार करना । (२) चकित होकर देखना ।
 (अपना) मुँह देखना = दर्शक में अपने मुँह का प्रतिबिम्ब देखना ।
 (किसी का) मुँह देखकर = (१) किसी के प्रेम में लगकर । किसी
 के प्रेम के आशे । जैसे,—पति मर गया, पर वहाँ का मुँह
 देखकर धीरज धरो । (२) किसी को संतुष्ट या प्रसन्न करने के
 विचार से । जैसे,—तुम तो उनका मुँह देखकर बात करते हो ।
 मुँह धो रखना = किसी पदार्थ की प्राप्ति की ओर से निराशा हो
 जाना । आशा न रखना । (व्यंग्य) जैसे,—आपको यह पुस्तक मिल
 चुकी; मुँह धो रखिए । मुँह न देखना = किसी से बहुत अधिक
 वृथा करना । किसी से देखा देखी तक न करना । न मिलना जुलना ।
 जैसे,—मैं तो उस दिन से उनका मुँह नहीं देखना । मुँह
 न करना या मोड़ना = (१) दुर्बलापूर्वक समझ ठहरे रहना ।
 पंखे न हटना । (२) विमुख न होना । अर्थकार न करना । मुँह
 निकल आना = रोग या दुर्बलता आदि के कारण चेहरे का तेज
 जाता रहना । चेहरा उतर जाना । मुँह पर = सामने । प्रत्यक्ष ।
 स्वरः । जैसे,—(क) तुम तो मुँह पर हूँ बोलते हो । (ख)
 वह मुँह पर सुशामद करता है और पीठ पीछे गालियाँ
 देता है । मुँह पर चढ़ना = लड़ने या प्रतिरोधिता करने के
 लिये सामने आना । मुकाबला करना । मुँह पर धूकना =
 बहुत अधिक अप्रतिष्ठ और लजित करना । मुँह पर नाक न
 होना = शर्म न होना । लज्जा न होना । निर्लज्ज होना । जैसे,—
 तुम्हारे मुँह पर नाक तो है ही नहीं; तुमसे कोई क्या बात
 करे । मुँह पर पानी फिर जाना = चेहरे पर तेज आना ।
 प्रसन्न वदत होना । मुँह पर फेंकना या फेंक मारना = बहुत
 अप्रसन्न होकर किसी को मोर्दे मार देना । मुँह पर या से
 बरसना = आहत से प्रकट होना । चेहरे से जाहिर होना ।
 जैसे,—प्राज्ञपन तो तुम्हारे मुँह पर बरस रहा है । मुँह
 पर बरसत फूलना या सिलखना = (१) चेहरा पीना पड़ जाना ।
 (२) उदास या अशुभ हो जाना । मुँह पर मारना = दे०
 “मुँह पर फेंकना” । मुँह दर मुँह कहना = मुँह पर कहना ।
 सामने कहना । मुँह पर मुरदनी फिरना या छाना = (१)
 युव के चिह्न प्रकट होना । वंशिन समय स्वीय आना । (२) चेहरा
 पीना पड़ना (३) अपमान, लजित या उदास होना । मुँह पर
 रखना = किसी के सामने हो कोई बात कर देना । पूरा पूरा उतर
 देना । मुँह पर हवाई उड़ना, या छूटना = मग या लड़ा आदि
 के कारण चेहरा पीना पड़ जाना । जैसे,—मुझे दम्पते ही उनके
 मुँह पर हवाई उड़ने लगी । (किसी का) मुँह पाना =
 प्रवृत्ति को अपने अनुरूप देना । उग्र पाना । मुँह पीट देना =

बहुत अधिक शोध या दुःख की अवस्था में दोनों हाथों से अपने मुँह पर प्रहार करना । मुँह फट होना = चेहरे का रंग उड़ जाना । विरयंश होना । भय या आशंका से चेहरा पीला पड़ जाना । मुँह फिरना या फिर जाना = (१) मुँह का देगा, कुत्तप या रावण हो जाना । जैसे,—एक चप्पड़ दूँगा, मुँह फिर जायगा । (२) लकड़ का रोग हो जाना । (३) सामना करने के योग्य न रह जाना । सामने से हट या भाग जाना । जैसे,—पेटे भर की छड़ाई में ही हाथ का मुँह फिर गया । मुँह फुलना या फुलाकर फटना = आह्वित हो अंतर्लेप या अभ्यस्तता प्रकट करना । जैसे,—तुम तो जरा सी बात पर मुँह फुलकर बैठ जाते हो । मुँह फूँटना = (१) मुँह में भाग लगाना । मुँह फुमराना । (वि० गाली) जैसे,—देखे नीकर का तो मुँह फूँक देना चाहिये । (२) दाह कर्म करना । मरने को जानना । (अपवा) (३) गुप्त दे लेकर दूर करना । हटाना । मुँह फूलना = अभ्यस्तता या अंतर्लेप होना । नाराजी होना । जैसे,—ईं कुछ कहूँगा, तो भभी तुम्हारा मुँह फूल जायगा । (किसी का) मुँह फेरना = पारल करना । दबा लेना । (अपना) मुँह फेरना = (१) किसी को भोर पीठ करना । (२) उपेक्षा प्रकट करना । (३) किम कीर से अपना मन हटा लेना । मुँह बनना या बग जाना = ऐसी आह्वित होना जिसमें अंतर्लेप या अभ्यस्तता प्रकट हो । जैसे,—मेरी बात सुनते ही उनका मुँह बन गया । मुँह बनवाना = किसी काय्ये अथवा प्राति के योग्य अपनी आह्वित बनवाना । (अपन) जैसे,—पहले आप अपना मुँह बनवा लीजिए, तब यह कोट मैं गिणुगा । मुँह बनाना = ऐसी आह्वित बनाना जिससे अंतर्लेप या अभ्यस्तता प्रकट हो । (इसके साथ संयो० कि० लेना या बैठना आदि का भी प्रयोग होता है ।) मुँह बिगाड़ना = चेहरे की आह्वित राख होना । (नूसरे का) मुँह बिगाड़ना = (१) भार बोध कर चेहरे की आह्वित राख कर देना । बहुत मारना । जैसे,—मारते मारते मुँह बिगाड़ दूँगा । (अपना) मुँह बिगाड़ना = अंतर्लेप या अभ्यस्तता प्रकट करना । मुँह बुरा बनाना = अंतर्लेप या अभ्यस्तता प्रकट करना । मुँह में कालिय पुगना या लगाना = बहुत अधिक हदनामी होना । कर्मक लगाना । (अपना) मुँह मोड़ना = किसी को र प्रवृत्त हट लेना । ध्यान न देना । हि० दे “मुँह फेरना” । (२) प्रकाश करना । प्रदर्शित करना । जैसे,—हम कर्म विरती बात से मुँह नहीं मोड़ते । (नूसरे का) मुँह मोड़ना = दास्य करना । हटाना । जैसे,—घोड़ा ही देर में सैलियों में हाथों का मुँह मोड़ दिया । (किसी के) मुँह खाना = (१) किसी के फिर पढ़ना । किसी के सामने बड़ बड़कर बातें करना । जर्द बनना । (२) बर्त करना । अवत मारना करना । जैसे,—राय के मुँह खगना ठीक नहीं । मुँह खगाना = फिर पढ़ना । बर्द बनाना । जैसे,—मुझसे भी खर्दों की मुँह खगा रहा

है । मुँह खपेटकर पढ़ना = बहुत ही दुःखी होकर, पढ़ा रहना । मुँह खाल करना = (१) मुँह पर चप्पड़ आदि मारकर खे गुन देना । (२) पान-उमाहू से मारकर भत्कार करना । मुँह खल होना = मारे शोध के चेहरा लमलमाना । आह्वित से बहुत अधिक शोध प्रकट होना । मुँह खपेट होना = भय या हड्डा से चेहरे का रंग उड़ जाना । उदासी हो जाना । मुँह खिरोड़ना = आह्वित से अभ्यस्तता या अंतर्लेप प्रकट करना । गाल भी फटाना । (अपना) मुँह खुजाना = आह्वित से अंतर्लेप या अभ्यस्तता प्रकट करना । गाराजी आदि करना । (किसी का) मुँह खुजाना = चप्पड़ मार कारकर मुँह खाल करना । मुँह खुल होना = शोध के मोरे चेहरा लमलमाना । गुस्से से चेहरा खल होना । मुँह खुरलना = भय या हड्डा आदि से चेहरे का खेन पाना रहना । (५) किसी पदार्थ के ऊपरी भाग का पियर जो आहार आदि में मुँह से मिलता चुलता हो । जैसे,—इस बालन को मुँह बाँधकर रख दो । (५) खुराल । छेड़ । छिड़ । जैसे,—दो दिन में इस फोदे में मुँह हो जायगा । (६) मुलाहजा । मुरखत । लिहान । जैसे,—हमें तो सारी तुम्हारा मुँह है; उससे तो हम फनी बात ही नहीं करते ।

यौ०—मुँह-मुलाहजा ।

मुदा—मुँह करना = मुलतजा करना । खान करना । जैसे,—धनधानों का तो सभी खोंग मुँह करते हैं; पर गरीबों को कोई नहीं पूछता । मुँह देवे का = जो शक्ति न हो, केन करी या विरोध हो । जो केन सामना होने पर हो । मुलतजा । मुलतज का । जैसे,—(क) आपका प्रेम तो मुँह देवे का है । (ख) ये सारी बातें मुँह देवे की हैं । मुँह पर जाना = किसी का ध्यान करना । गिहान करना । जैसे,—मैं तुम्हारे मुँह पर जाता हूँ; नहीं तो अभी इसकी गल बनावर रख देता । मुँह मुलाहजे का = जान पढ़वान का । पढ़ाना । मुँह रगाना = किसी का लिहान इतना । ध्यान खगना । जैसे,—आप इतनी दूर से चलकर आये हैं; आपका मुँह रगो । (७) योग्यता । सामर्थ्य । शक्ति । जैसे,—तुम्हारा मुँह नहीं है कि तुम उसके सामने जाओ ।

मुदा—(अपना) मुँह तो दंगो = पहले पर ही देखो कि यह योग्य हो नही । (अपन) मुँह देखकर बात करना = किसी के साथ उनकी योग्यता के अनुसार बात करना । (८) साक्ष्य । दिग्गज ।

मुदा—मुँह पढ़ना = गान होना । दिग्गज होना । जैसे,—उसके सामने कुछ पढ़ने भी का तो मुँह नहीं पढ़ता । (९) ऊपरी भाग । ऊपर की छत या छिन्ना ।

मुदा—मुँह तक आना या मरना = पूरी तरह से मर जाना । मरण होना । जैसे,—साहब में फनी मुँह तक आया है ।

मुहमखरी-वि० [हि० मुह + खर] जो केवल मुह से कहा जाय, लिखा न जाय । जयानी । शाब्दिक ।

मुहकाला-संज्ञा पुं० [हि० मुह + काला] (१) अमृतिष्ठा । बेइज्जती ।

(२) बदनामी । (३) एक प्रकार की गाली । जैसे,—जा तेरा मुह काला हो ।

मुहचटोवल-संज्ञा स्त्री० [हि० मुह + चटना + औवल (प्रत्य०)] (१) जुवन । चूमाचटी । (२) बक बक । बकबाद ।

मुहचोर-संज्ञा पुं० [हि० मुह + चोर] वह जो दूसरों के सामने जाने से मुह छिपाता हो । लोगों के सामने जाने में संकोच करनेवाला ।

मुहछुआई-संज्ञा स्त्री० [हि० मुह + छूना + आई (प्रत्य०)] केवल मुह छूने के लिये, ऊपरी मन से कुछ कहना ।

मुहछुट-वि० [हि० मुह + छटना] जिसका मुह ओछी या कटु बातें कहने के लिये खुला रहे । मुहफट ।

मुहजोर-वि० [हि० मुह + जोर] (१) वह जो बहुत अधिक बोलता हो । बकबादी । (२) दे० "मुहफट" । (३) जो जल्दी किसी के वश में न आता हो । तेज । उद्दंड । जैसे,—मुहजोर घोड़ा ।

मुहजोरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुहजोर + ई (प्रत्य०)] (१) मुहजोर होने की क्रिया या भाव । (२) तेज़ी । उद्दंडता ।

मुहदिलखार-संज्ञा स्त्री० दे० "मुहदिलखार" ।

मुहदिलखार-संज्ञा स्त्री० [हि० मुह + दिखार] (१) नई वस्त्र का मुह देखने की रस्म । मुह देखनी । (२) वह धन जो मुह देखने पर वस्त्र को दिया जाय ।

मुहदेखा-वि० [हि० मुह + देखा] [स्त्री० मुहदेखी] (१) केवल सामना होने पर होनेवाला (काम या व्यवहार) । जो हार्दिक या आंतरिक न हो । जो किसी को केवल संतुष्ट या प्रसन्न करने के लिये हो । जैसे, मुहदेखी बात । (२) सदा आशा की प्रतीक्षा में रहनेवाला । सदा मुह तकव रहनेवाला ।

मुहनाल-संज्ञा स्त्री० [हि० मुह + नाल = नली] (१) घातु की पनी हुई वह नली जो हुके की सटक या नै आदि के अगले भाग में लगा देते हैं और जिसे मुह में लगाकर धूर्ज सींचते हैं । (२) घातु का वह टुकड़ा जो म्यान के सिरे पर लगा होता है ।

मुहपड़ा-संज्ञा पुं० [हि० मुह + पड़ना] वह जो सय लोगों के मुह पर हो । प्रसिद्ध । महाहूर । (फ०)

मुहफट-वि० [हि० मुह + फटना] जो अपनी जवान को वश में न रख सके और जो कुछ मुह में भावे, कह दे । ओछी या कटु बात कहने में संकोच न करनेवाला । जिसकी घाजी संपत न हो । सोलने में इस बात का विचार न करनेवाला कि कोई बात किसी को बुरी लगेगी या नहीं । बद-जवान ।

मुहबंद-वि० [हि० मुह + बंद] (१) जिसका मुह बंद हो, खुला न हो । जैसे,—मुहबंद योतल । (२) ऊँचारी । अक्षत-योनित । (बाजारी)

मुहबँधा-संज्ञा पुं० [हि० मुह + बंधना] जैन साधु जो प्रायः मुह पर कपड़ा बंधि रहते हैं ।

मुहबोला-वि० [हि० मुह + बोला] (संबंधी) जो वास्तविक न हो, केवल मुह से कहकर बनाया गया हो । बचन द्वारा निरूपित । जैसे,—मुहबोला भाई, मुहबोली बेटा ।

मुहमर्राई-संज्ञा स्त्री० [हि० मुह + मरना + आई (प्रत्य०)] (१) मुह मरने की क्रिया या भाव । (२) वह धन आदि जो किसी का मुह बंद करने के लिये, उसे कुछ कहने या करने से रोकने के लिये, दिया जाय । रिश्वत । घूस ।

कि० प्र०—देना ।—लेना ।

मुहमाँगा-वि० [हि० मुह + माँगा] अपनी इच्छा के अनुसार । अपने माँगे के अनुसार । मनोनुकूल । जैसे,—मुह माँगा वर पाना । मुह माँगी मुराद पाना । मुह माँगा दाम पाना । मुह माँगी मोत नहीं मिलती । (कहा०)

मुहामुह-कि० वि० [हि० मुह + मुह] मुह तक । अंदर से बिल्कुल ऊपर तक । खालखाल । भरपूर । जैसे,—(क) गगरा मुहामुह तो भरा है, और पानी क्वाँ डालते हो । (ख) अब की एक ही वर्षा में तालाब मुहामुह भर गया ।

मुहाम्मा-संज्ञा पुं० [हि० मुह + आमा (प्रत्य०)] मुह पर के ये दाँने या कुँसियाँ जो युवा अवस्था में निकलती हैं और यौवन का चिह्न मानी जाती हैं । इनसे चेहरा कुछ भड़ा हो जाता है । इन्हें 'वोँसा' भी कहते हैं । ये केवल युवावस्था में ही २० से २५ वर्ष तक प्रकट होती हैं; इसके पूर्व या पर बहुत कम रहती हैं ।

मुअज्जन-संज्ञा पुं० [अ०] वह जो मसजिद में नमाज के समय अज्ञान देता है । नमाज के लिये सय लोगों को पुकारनेवाला ।

मुअत्तल-वि० [अ०] (१) जिसके पास काम न हो । खाली । (२) जो काम से कुछ समय के लिये, दंड स्वरूप, अलग कर दिया गया हो ।

कि० प्र०—करना ।—होना ।

मुअत्तली-संज्ञा स्त्री० [अ० मुअत्तल + ई (प्रत्य०)] (१) मुअत्तल होने का भाव । बेकारी । (२) काम से कुछ दिन के लिये अलग कर दिया जाना ।

मुअम्मा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) रहस्य । भेद ।

मुहा—मुअम्मा खुलना या हल होना = रहस्य खुलना । भेद प्रकट होना ।

(२) पहेंली । (३) घुमाव-किराव की बात । ऐसी बात जो जल्दी समझ में न आवे ।

मुद्राक्षिप्त-पं० पुं० [अ०] इक्ष्म सिमानेवाला । सिंहा देनेवाला ।
निर्वाक ।

मुद्राफ-वि० दे० "माफ" ।

मुद्राफुक्त-पं० स्त्री० [अ०] (१) मुद्राफुक्त या अनुप्लु होने
का भार (२) साथ । दोस्ती । मेलजोल । हेलमेल ।

यौ०—मेल मुद्राफुक्त ।

मुद्राफुक्त-वि० [अ०] (१) जो विरुद्ध न हो । अनुप्लु । (२)
खरस । समान । (३) ठीक ठीक । न अधिक, न कम ।
बराबर । (४) मनोपुल्ल । हृष्टानुसार ।

मुद्राफुक्त-पं० स्त्री० [अ०] (१) अनुप्लुता । (२) अनु-
प्लुता । (३) मित्रता । दोस्ती ।

यौ०—मेल मुद्राफुक्त ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।

मुद्राफु-पं० स्त्री० दे० "माफ़ी" ।

मुद्रामला-पं० पुं० दे० "मामला" ।

मुद्रायना-पं० पुं० [अ०] देण भाग करना । जीव पक्षताल ।
निरीक्षण ।

मुद्रालिज-पं० पुं० [अ०] इलाज करनेवाला । चिकित्सक ।

मुद्रालिजा-पं० पुं० [अ०] इलाज । चिकित्सा ।

यौ०—इलाज मुद्रालिजा ।

मुद्रायज्ञा-पं० पुं० [अ०] (१) बदला । पलटा । (२) वह धन
जो किसी कार्य अथवा हानि आदि के बदले में मिले ।
(३) वह रक्कम जो ज़मींदार को उस ज़मीन के बदले में
मिलती है, जो किसी सार्वजनिक काम के लिये कानून की
सहायता से ले ली जाती है ।

क्रि० प्र०—दिलाना ।—देना ।—पाना ।—मिलना ।

मुद्राहिदा-पं० पुं० [अ०] पक्षी यातपीत । रङ्ग निक्षय । बरार ।
मुकद-पं० पुं० [अ०] (१) कुँदरू । (२) प्याज । (३) सादी
धान ।

मुकदफ-पं० पुं० [अ०] (१) प्याज । (२) एक प्रकार का
सादी धान ।

मुकद-पं० पुं० दे० "मुकद" ।

मुकटा-पं० पुं० [देश०] एक प्रकार की रेशमी धोती जो प्रायः
पूजन या भोजन आदि के समय पहनी जाती है ।

मुकता-पं० पुं० दे० "मुकता" ।

वि० [हि० (पञ्च०) अ + मुकता = मृत्वाप होना] [अ० मुकती]
जो जन्मी समाप्त न हो । बहुत अधिक । प्रचुर । जैसे,—
उनके पास मुकते कपड़े हैं; कहीं तक पहुँचेंगे ।

मुकता-वि० [अ० मुकता] (१) काट लट्ठकर टुकड़ों किया
हुआ । टाँक तरह से बनाया हुआ । जैसे,—मुकता दाढ़ी ।
(२) सम्प । मिष्ट । जैसे,—मुकता मूल ।

मुकदमा-पं० पुं० [अ०] (१) दो पक्षों के बीच का धन, अवि-

कार आदि से संबंध रखनेवाला कोई समुदाय अथवा किसी
अपराध (जुर्म) का मामला जो निबटारे या विचार के
लिये न्यायालय में जाय । व्यवहार या अभिप्राय । जैसे,—
वह सबील जो मुकदमा हाथ में लेता है, पक्षी जीतता है ।

क्रि० प्र०—उठाना ।—खड़ा करना ।—पठना ।—
चलाना ।—जीतना ।—हारना ।

मुहा०—मुकदमा खड़ा = मुकदमे में अपने पक्ष में प्रकट करना ।
(२) धन का अधिकार आदि पाने के लिये अपना किए हुए
अपराध पर दंड दिलाने के लिये किसी के विरुद्ध न्यायालय
में कारवाई । दावा । नालिसा ।

क्रि० प्र०—न्याय करना ।

यौ०—मुकदमेवाजी ।

मुकदमेवाज-पं० पुं० [अ० मुकदमा + वा० वाज (पञ्च०)] वा
जो प्रायः मुकदमे खड़ा करता हो ।

मुकदमेवाजी-पं० स्त्री० [अ० मुकदमा + वा० वाजी] मुकदमा
खदने का काम ।

मुकदम-वि० [अ०] (१) प्राचीन । पुराना । (२) सर्वभेद ।
(३) ज़रूरी । आवश्यक ।

क्रि० प्र०—जानना ।—समझना ।

पं० पुं० (१) मुक्तिवा । नेता । (२) राज का कर्तरी भाग
जो क़स्बे से जुड़ा होता है । (कसाई)

मुकदमा-पं० पुं० दे० "मुकदमा" ।

मुकदर-पं० पुं० [अ०] प्रारम्भ । भाग्य । तकरीर ।

मुदर०—मुकदर काजमाना = भाग्य की परीक्षा करना । मुकदर
चमकना = भाग्यश्रेय होना ।

मुकदस-वि० [अ०] पवित्र । सुवि । पार ।

यौ०—मुकदस किताब = ऐसी फर्ग्युलक की कड़ीयेय नाम
पत्री हो ।

मुकना-पं० पुं० दे० "मुकना" ।

छाँ क्रि० प्र० [अ० मुक] (१) मुक होना । घुटना ।
(२) रुतम होना । मुकना ।

मुकमल-वि० [अ०] पूरा किया हुआ । जिसमें कुछ भी बचने
की बाकी न हो । सब तरह से तैयार ।

मुकरना-क्रि० प्र० [सं० या = नर + करना] कोई बात कहकर
उससे फिर जाना । कड़ी हुई बात से या किए हुए बात से
हनहार करना । नटना । जैसे,—उनका सो पक्षी काम है,
सदा कहकर मुकर जाने हैं ।

संयो० क्रि०—जाना ।—पढ़ना ।

पं० पुं० कदर मुकर जानेवाला । वह जो बड़े और फिर
मुकर जाय ।

मुकरनी-पं० स्त्री० [हि० मुकरनी] मुकरी या वह-मुकरी नामक
कपिया । वि० दे० "मुकरी" ।

मुकराना-किं सं० [हि० मुकरना का सं० रूप] (१) दूसरे को मुकरने में प्रवृत्त करना । (२) दूसरे को झूठा बनाना । (क०) मुकरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुकरना + ई (प्रत्य०)] एक प्रकार की कविता जो प्रायः चार चरणों की होती है । इसके पहले तीन चरण ऐसे होते हैं, जिनका आसय दो जगह घट सकता है । इनसे प्रत्यक्ष रूप से जिस पदार्थ का आसय निकलता है, वैसे रण में किसी और पदार्थ का नाम लेकर, उससे इन्कार कर दिया जाता है । इस प्रकार भावों कहीं हुई बात से मुकरते हुए कुछ और ही अभिप्राय प्रकट किया जाता है । कह-मुकरी । उ०—(क) बा बिन मोको चैन न आवे । यह मेरी तिस आन सुसावे । है यह सब गुन बरह पानी । ऐ सखि साजन ? ना सखि पानी । (ख) आप हिले औ मोहिं हिलावे । बाका हिलना मोको आवे । हिल हिल के बह हुआ निसंरा । ऐ सखि साजन ? ना सखि पंखा । (ग) रात समय मेरे घर आवे । भोर भए वह घर उठ जावे । यह भचरज है सब से न्यारा । ऐ सखि साजन ? ना सखि तारा । (घ) सारि रैन वह भो सँग जागा । भोर भई तब विबुद्धन लाग़ा । बाके विबुद्धन काटे दिया । ऐ सखि साजन ? ना सखि दिया ।

विरोध—अभीर सुसो ने इस प्रकार की बहुत सी मुकरियाँ कही हैं । इसके अंत में प्रायः 'सखि' शब्द आता है, अतः कुछ लोग इसे सखी या सखिया भी कहते हैं ।

मुकरर-किं वि० [अ०] दोघारा । फिर से । दूसरी बार ।

मुहा०—मुकरर सिकरर = दूसरी और तीसरी बार फिर । ३३ बार । मुकरर-वि० [अ०] (१) जिसका इन्कार किया गया हो । जो ठहराया गया हो । सब किया हुआ । निश्चित । जैसे,—इस काम का उनसे सौ रुपया मुकरर हुआ है । (२) जो सैनात किया गया हो । नियुक्त । जैसे,—किसी आदमी को इस काम पर मुकरर कर दो ।

किं वि० अवयव ही । निस्संदेह ।

मुकररी-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुकरर होने की किया या भाव । नियुक्ति । (२) नियत राजकर । माल्युजारी । (३) नियत वेतन या वृत्ति आदि ।

मुकल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आरम्यध । अमलतास । (२) गुग्गुल ।

मुकुर्यी-वि० [अ०] ताकत बढ़ानेवाला । चलचर्चक । पुष्टिकारक ।

मुकुर्यला-संज्ञा पुं० [अ०] (१) आमना सामना । (२) मुठभेड़ । (३) बराबरी । समानता । (४) मुलजा । (५) मिलान । (६) विरोध । लड़ाई ।

मुहा०—मुकुर्यले पर आना = विरोध या प्रतिद्वंद्विता करने का मतलब के लिये सामने आना ।

मुकुरित-किं वि० [अ०] समुत्त । सामने ।

वि० (१) सामनेवाला । (२) समान । बराबर का ।

संज्ञा पुं० (३) प्रतिद्वंद्वी । (४) राघु । दुश्मन ।

मुकाम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) ठहरने का स्थान । ठिकान । पड़ाव । (२) ठहरने की किया । कूच का उलटा । विराम ।

मुहा०—मुकाम बोलना = अधिकारी का अपने अधीनस्थ कर्मचारियों या सैनिकों को ठहरने की आज्ञा देना । मुकाम देना = किसी के घर जाने पर उनके घर मातमपुरी करने जाना ।

(३) रहने का स्थान । घर । (४) अवसर । मौका । (५) सरोवर का कोई पड़ाव । (संगीत)

मुकियल-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का बॉस जिसे नल-बॉस या बिबुली भी कहते हैं ।

मुकियाना-किं सं० [हि० मुक्री + शाना (प्रत्य०)] (१) किसी के शरीर पर मुकियों से बार बार आघात करना जिसमें उसके अंगों की सिपिलता बृद्ध हो । (२) आटा पीसने के उपरान्त उसे नरम करने के लिये मुकियों से बार बार ध्वाना । (३) मुका लगाना या मारना । पूँसे लगाना ।

मुकिर-वि० [अ०] (१) इकट्ठा करनेवाला । प्रतिष्ठा करनेवाला । (२) किसी दस्तावेज या अजीबाये आदि का लिखनेवाला, जिसके हस्ताक्षर से वह प्रस्तुत हो । (क०)

मुकुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक भूष ।

मुकुंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुक्ति देनेवाले, विष्णु । (२) सुराणा-नुसार एक प्रकार की तिथि । (३) एक प्रकार का रत्न । (४) कुँदरू । (५) पतरा । (६) सफेद कनेर । (७) गंगाती नामक वृक्ष । (८) पौई का साग ।

मुकुंदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्याज । (२) साठी धान । मुकुंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुँदरू । (२) सफेद कनेर । (३) पतरा । (४) गंगाती । (५) पौई का साग ।

मुकु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुक्ति । मोक्ष । (२) सुदकार । रिहाई ।

मुकुट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का प्रसिद्ध शिरोभूषण जो प्रायः राजा आदि धारण किया करते थे । यह प्रायः बीच में ऊँचा और ऊँगेदार होता था और सारे मस्तक के ऊपर एक कान के पास से दूसरे कान के पास तक होता था । यह सोने, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं का और कभी कभी रत्न-जड़ित भी होता था । यह माथे पर बाधे की ओर रबरदर पीछे से बाँध लिया जाता था । इसमें कभी कभी किरिट भी सोंसा जाता था ।

पर्याय—मौलि । कोटीर । नेतर । अवनंत । उन्नत ।

(२) सुराणुसार एक देश का नाम ।

संज्ञा स्त्री० एक मातृगण ।

मुकुटी-संज्ञा पुं० [सं० द्रविड] वह जिसने मुकुट धारण किया हो ।

मुकुटेकार्पाण-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का राजकर जो राजा का मुकुट बनवाने के लिये लिया जाता था।

मुकुटेधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक शिव-लिंग का नाम। (२) एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मुकुट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जाति का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

मुकुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुख देखने का शीशा। आईना। दर्पण। (२) बकुल का वृक्ष। मौलसिरी। (३) कुम्हार का वह ढंढा जिससे वह थाक चलाता है। (४) मोतिया। (५) कली। (६) घेर का पेड़।

मुकुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कली। (२) शरीर। (३) आत्मा। (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का राजकर्मचारी। (५) एक प्रकार का छंद। (६) जमालगोदा। (७) भूमि। पृथ्वी। संज्ञा पुं० दे० "गुगुल"।

मुकुलक-संज्ञा पुं० [सं०] दंती वृक्ष।

मुकुलाप्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जो कली की आकृति का होता था।

मुकुलित-वि० [सं०] (१) जिसमें कलियाँ आई हों। (२) कुछ खिली हुई। (कली) (३) आधा खुला, आधा बंद। कुछ कुछ खुला। (४) झपकता हुआ। (नेत्र)।

मुकुली-संज्ञा पुं० [सं० मुकुलित्] वह जिसमें कलियाँ आई हों।

मुकुप-संज्ञा [सं०] मोड़।

मुकुपक-संज्ञा पुं० [सं०] मोड़।

मुक्ता-संज्ञा पुं० [सं० मुष्टिका] [स्त्री० मत्स्या० मुक्ता] हाथ का वह रूप जो उँगलियों और अँगूठे को बंध कर छेने पर होता है और जिससे प्रायः आभूषण किया जाता है। बँधी मुट्टी जो मारने के लिये उड़ाई जाय।

मुहो-मुक्ता चलाता या मारना = मुक्ते से आघात करना। मुक्ता सा लगाना = हादिक कट पहुँचाना।

यौ०—मुक्तेवाजी।

मुष्णी-संज्ञा पुं० [हिं० मुक्ता + ई (प्रत्य०)] (१) मुक्ता। पैंता। (२) वह छद्माई जिसमें मुक्कों की मार हो। (३) आटा गूँघने के उपरांत उसे मुट्टियों से बार बार दवाना जिससे आटा नरम हो जाता है।

कि० प्र०—देना।—लगाना।

(४) मुट्टियाँ योंपकर उससे किसी के शरीर पर घीरे घीरे आघात करना, जिससे शरीर की शिथिलता और पीड़ा दूर होती है। (यह हाथ-पैर आदि दवाने की एक क्रिया है।)

कि० प्र०—मारना।—लगाना।

मुष्केवाजी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मुक्ता + वाजी (प्रत्य०)] मुक्कों की छद्माई। पैंसेवाजी। घूसमूँसा।

मुक्कैश-संज्ञा पुं० [अ०] (१) चौड़ी या सोने का एक विसिष्ट

रूप में काटा हुआ तार जिसे चादल कहते हैं। (२) मुन-हले या स्पहले तारों का बना हुआ कपड़ा। तारा। तमानी। जयपुत्र।

मुक्कैशी-वि० [अ० मुक्कैश + ई (प्रत्य०)] (१) चादले का बना हुआ। (२) जूरी या तारा का बना हुआ।

मुक्कैशी गोखरू-संज्ञा पुं० [हिं० मुक्कैशी + गोखरू] एक प्रकार का महीन गोखरू जो तारों को मोड़कर बनाया जाता है।

मुक्कली-संज्ञा पुं० [हिं० मुक्क + ई (प्रत्य०)] (१) गोले कपूर से मिलाकर जुलता एक प्रकार का कपूर जो प्रायः उन्हीं के साथ मिलकर उड़ता है और अपनी गरदन जरा कसे रहता है। (२) वह कपूर जिसका सारा शरीर तो काला, हा या लाल हो, पर जिसके सिर और डैनों पर एक या दो सफेद पर हों।

मुक्क-वि० [सं०] (१) जिसे मोक्ष प्राप्त हो गया हो। जिसे मुक्ति मिल गई हो। जैसे,—काशी में मरने से मनुष्य मुक्क हो जाता है। (२) जो पंचन से छूटा गया हो। जिसका छुटकारा हो गया हो। जैसे,—वह कारागार से मुक्क हो गया।

संज्ञा पुं० पुराणावसार एक प्राचीन ऋषि का नाम।

(३) जो पकड़ या दबाव से इस प्रकार अलग हुआ हो कि दूर जा पड़े। चलने के लिये छूटा हुआ। फँका हुआ। सिस। जैसे,—बाण का मुक्क होना।

मुक्ककचुक्क-संज्ञा पुं० [सं०] वह सौपर जिसने अभी हाल में कँधुली छोड़ी हो।

मुक्ककंड-वि० [सं०] (१) जो ज़ोर से बोलता हो। चिंताकर बोलनेवाला। (२) जो बोलने में शेषद्वक हो। जिससे कहने में आगा-पीछा न हो। जैसे—मुक्ककंड होकर कोई बात स्वीकार करना।

मुक्कक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जो फेंककर मारा जाता था। (२) एक प्रकार का काय जो एक ही पक्ष में घूरा होता है। यह कविता जिसमें कोई एक कथा या प्रसंग कुछ दूर तक न चले। छुटकर कविता। 'प्रबंध' का उलटा जिसे 'उन्मट' भी कहते हैं।

मुक्ककच्छु-संज्ञा पुं० [सं०] एक बीज का नाम।

मुक्ककैशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काठी घेरी का एक नाम।

मुक्कचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] लाल चंदन।

मुक्कचंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चिंचा नामक साग। चंचु।

मुक्कचल्लु-संज्ञा पुं० [मं० मुक्कचल्लु] सिंह। शेर।

मुक्कचेता-संज्ञा पुं० [सं० मुक्कचेत्] वह जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की मुद्दि आ गई हो।

मुक्कता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्क होने का भाव। मुक्ति। मोक्ष। (२) छुटकारा।

मुकनिर्मोक-संज्ञा पुं० [सं०] वह सौंप जिसने अभी हाल में कँचुली छोड़ी हो ।

मुकपशाख-संज्ञा पुं० [सं०] तालीश ।

मुकपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी आत्मा मुक्त हो । वह जिसका मोक्ष हो गया हो ।

मुकवंधना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का मोतिया । (२) बेल ।

मुकवृद्धि-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें मुक्ति प्राप्त करने के योग्य बुद्धि आ गई हो । मुक्तपेता ।

मुकमाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीप । मुक्ति ।

मुक्तरत्न-संज्ञा स्त्री० [सं०] रासना ।

मुक्तसज्ज-वि० [सं०] (१) जिसने छुड़ा का परित्याग कर दिया हो । (२) निर्लज्ज । बेधवा ।

मुक्तवर्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अद्वितमंजरी । रुद्रा ।

मुक्तवर्षीय-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्ण ।

मुक्तवसन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके शरीर पर कोई वस्त्र न हो । (२) वह जिसने वस्त्र पहनना छोड़ दिया हो । नंगा रहनेवाला । (३) जैन यतियों या संन्यासियों का एक भेद ।

मुक्तवास-संज्ञा पुं० [सं०] सीप । मुक्ति ।

मुक्तवेणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शीपदी का एक नाम । (२) प्रयाग का त्रिवेणी संगम ।

मुक्तव्यापार-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसका संसार के कार्यों वा व्यापारों से कोई संबंध न रह गया हो । संसार-त्यागी ।

मुक्तवृंग-संज्ञा पुं० [सं०] रोहू मछली ।

मुक्तसंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विषय-वासना से रहित हो गया हो । (२) परिमाजक ।

मुक्तसार-संज्ञा पुं० [सं०] केले का पेड़ ।

मुक्तहस्त-वि० [सं०] [संज्ञा मुक्तहस्ता] जो सुले हाथों दान करता हो । बहुत बड़ा दानी ।

मुक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मोती । (२) रासना ।

मुक्ताकिरी-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बहुत बरिय्या रंगन ।

मुक्तागार-संज्ञा पुं० [सं०] सीप । मुक्ति ।

मुक्ताग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] सीप । मुक्ति ।

मुक्तापात-संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ता + हि० पात = पत्ता । एक प्रकार की श्रादी जिसके कंटलों से सीतलपाटी नामक चटाई बनाई जाती है । यह श्रादी पूर्व बंगाल, आसाम और बरमा की नीची तर भूमि में अधिकता से होती है और प्रायः इसकी पीनीरी लगाई जाती है ।

मुक्तापुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] कुंद का पौधा या फूल ।

मुक्तामस-संज्ञा पुं० [सं०] सीप । मुक्ति ।

मुक्ताफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोती । (२) कपूर । (३) हरफ रेवरी । खनीफल । (४) एक प्रकार का छोटा लिस्नोडा ।

मुक्तामा-संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रिपुर-मल्लिका । त्रिपुरमाली ।

मुक्तामाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीप । मुक्ति ।

मुक्तामोदक-संज्ञा पुं० [सं०] मोतीचूर का लड्डू ।

मुक्तालता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मोतियों का कंड़ा ।

मुक्तावास-संज्ञा पुं० [सं०] सीप । मुक्ति ।

मुक्तास्फोट-संज्ञा पुं० [सं०] सीप । मुक्ति ।

मुक्तािका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम जिसमें मुक्ति के संबंध में नीमांसा की गई है ।

मुक्तिक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाराणसी । काशी । (२) कावेरी नदी के पास का एक प्राचीन तीर्थ जिसका दूसरा नाम बकुलारण्य भी था ।

मुक्तितीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ति देनेवाले, विष्णु ।

मुक्तिप्रद-संज्ञा पुं० [सं०] हरा मूँग ।

मुक्तिमती-संज्ञा स्त्री० [सं०] महामारत के अनुसार एक नदी का नाम ।

मुक्तिमुक्त-संज्ञा पुं० [सं०] शिलारस । सिक्कर ।

मुक्तिसाधन-संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ति प्राप्त करने की कामना से हृत्तर और आत्मा के स्वरूप का चिंतन करना ।

मुक्तेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक शिव-लिंग का नाम ।

मुखंडा-संज्ञा पुं० [हिं० मुख + बंडा (प्रत्य०)] हारी भादि डोंटीदार बरतनों में किया हुआ वह छेद जिसमें डोंटी जड़ी जाती है ।

मुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह । आदन । (२) घर का द्वार । दरवाजा । (३) नाटक में एक प्रकार की संधि । (४) नाटक का पहला शब्द । (५) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी स्रुल भाग । (६) शब्द । (७) नाटक । (८) वेद । (९) पक्षी की चोंच । (१०) जीरा । (११) भादि । आरंभ । (१२) बदहर । (१३) मुरगायी । (१४) किसी पत्तु से पहले पहनेवाली वस्तु । आगे या पहले जानेवाली वस्तु । जैसे,— राजनीमुख = संघा काल ।

वि० प्रधान । मुख्य ।

मुखचुर-संज्ञा पुं० [सं०] दाँत ।

मुखगंधक-संज्ञा पुं० [सं०] प्याज ।

मुखचपल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो बहुत अधिक या बड़ बड़कर बोलता हो । (२) वह जो कटु वचन कहता हो ।

मुखचपलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुत अधिक या बड़ बड़कर बोलना । (२) कटु भाषण ।

मुखचपलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्राव्यं छंद का एक भेद ।

मुखचपेटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कान के भंदर का एक अवयव ।

मुखचोरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जीम । जिह्वा । (२) पात्र ।

मुखज-वि० [सं०] मुँह से उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० ब्राह्मण (जो भगवान् के मुख से उल्लेख माने गए हैं) ।

मुखड़ा-संज्ञा पुं० [सं० मुख + हि० ङा (प्रत्य०)] मुख । चेहरा । आनन ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः बहुत ही सुंदर मुख के लिये होता है । जैसे,—चौद सा मुखड़ा ।

मुखतार-संज्ञा पुं० [अ०] (१) जिस किसी ने अपना प्रतिनिधि बनाकर कोई काम करने का अधिकार दिया हो ।

यौ०—मुखतार आम । मुखतार खास ।

(२) एक प्रकार के फान्सी सलाहकार और काम करनेवाले जो पकील से छोटे होते हैं और प्रायः छोटी अदालतों में फौजदारी या माल के मुकदमे लड़ते हैं ।

मुखतार आम-संज्ञा पुं० [अ०] वह गुमास्ता या प्रतिनिधि जिसे सब प्रकार के काम करने, विशेषतः मुकदमे आदि लड़ने का अधिकार दिया गया हो ।

मुखतारकार-संज्ञा पुं० [अ० मुखतार + फा० कार] वह जो किसी काम की देख-रेख के लिये नियुक्त किया गया हो ।

मुखतारकारी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुखतारकार + ई (प्रत्य०)] (१) मुखतारकार का काम या पद । (२) दे० "मुखतारी" ।

मुखतार खास-संज्ञा पुं० [अ० मुखतार + फा० खास] वह जो किसी विशिष्ट कार्य या मुकदमे के लिये प्रतिनिधि बनाया गया हो ।

मुखतारनामा-संज्ञा पुं० [अ० मुखतार + फा० नामा] (१) वह अधिकार-पत्र जिसके द्वारा कोई व्यक्ति किसी की ओर से अदालती कार्रवाई करने के लिये मुखतार बनाया जाय । यह दो प्रकार का होता है—मुखतारनामा खास और मुखतारनामा आम । (२) वह अधिकार-पत्र जिसके अनुसार कोई पैवोर मुखतार कोई मुकदमा लड़ने के लिये नियुक्त किया जाय ।

मुखतारनामा आम-संज्ञा पुं० [हि० मुखतारनामा + फा० आम] वह अधिकारपत्र जिसके द्वारा कोई मुखतार आम नियुक्त किया जाय ।

मुखतारनामा खास-संज्ञा पुं० [हि० मुखतारनामा + फा० खास] वह अधिकारपत्र जिसके द्वारा कोई मुखतारखास नियुक्त किया जाय ।

मुखतारी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुखतार + ई (प्रत्य०)] (१) मुखतार होकर दूसरे के मुकदमे लड़ने का काम । (२) मुखतार का पेशा । (३) प्रतिनिधित्व ।

मुखला-संज्ञा पुं० [हि० मुख + ला] किसी गीत का पहला पद । टेक ।

मुखदूषण-संज्ञा पुं० [सं०] प्याज ।

मुखदूषिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुँह का एक प्रकार का क्षुर रोग जिसमें चेहरे पर छोटी छोटी कुत्तियाँ निकल आती हैं । मुँहसा ।

मुखदूषी-संज्ञा पुं० [सं० मुखदूषिन्] छहसुन ।

मुखघौता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भारंगी । भार्गी । (२) ब्राह्मण-यष्टिका ।

मुखघस-वि० [अ०] नपुंसक ।

मुखपट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह ढकने का वस्त्र । नहाय । (२) घूँघट ।

मुखपाक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जो मनुष्यों और घोड़ों की होता है और जिसमें उनके मुँह में छोटे छोटे घाव हो जाते हैं ।

मुखपान-संज्ञा पुं० [हि० मुख + पान] पान के आकार का पीतल या किसी और धातु का कटा हुआ वह टुकड़ा जो संतुष्ट या अलमारी आदि में ताली लगाने के स्थान में सुंदरता के लिये जड़ा जाता है और जिसके बीच में ताली लगाने के लिये छेद होता है ।

मुखपिंड-संज्ञा पुं० [सं०] वह पिंड जो मृत व्यक्ति के उदर से उसकी अंत्येष्टि किया से पहले दिया जाता है ।

मुखपिंडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुँहसा ।

मुखपूरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह में पानी भरकर फेंकना । कुला । (२) मुँह में कुली के लिये लिया हुआ पानी ।

मुखप्रसेक-संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार मुँह का एक रोग जो दलेष्मा के विकार से होता है ।

मुखप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो खाने में अच्छा हो । स्वादिष्ट । (२) नारंगी । (३) ककड़ी ।

मुखफूफ-वि० [अ०] जो खड़ीर या हलका किया गया हो । जो बटाकर कम किया गया हो ।

खेस पुं० किसी पदार्थ या शब्द आदि का संक्षिप्त रूप । जैसे,—“मीठा” का मुखफूफ “मिठ” या “घोड़ा” का मुखफूफ “घुद” होता है ।

मुखबंद-संज्ञा पुं० [सं० मुख + हि० बंद] घोड़ों का एक रोग जिसमें उनका मुँह बंद हो जाता है और अल्दी नहीं सुलता । इसमें उसके मुँह से खर भी बहुत बहती है ।

मुखबंध-संज्ञा पुं० [सं०] किसी ग्रंथ की प्रस्तापना या भूमिका । मुखबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] मुखबंध । प्रस्तापना ।

मुखविर-संज्ञा पुं० [अ०] राखर देनेवाला । जासूस । गोर्दा ।

मुखविरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुखविर + ई (प्रत्य०)] (१) खरर देने का काम । मुखविर का काम । (२) मुखविर का पद ।

मुखमूषण-संज्ञा पुं० [सं०] ताँतुल । पान ।

मुखमेड़ुली-संज्ञा स्त्री० दे० “मुठमेद” ।

मुखमंडनक-संज्ञा पुं० [सं०] तिल का पीसा ।

मुखमंडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का मुख-रोग । (२) इस रोग की अधिष्ठात्री देवी ।

मुखमंडितिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बालकों का एक प्रकार का रोग ।

मुखमत्सा-संज्ञा पुं० [अ० मुखमत्सा = विकलता या कठिनता] क्षगद्वा । क्षमेला । क्षंसट । यलेडा ।

कि० प्र०—में पड़ना ।

मुखमाधुर्य-संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार श्लेष्मा के विकार से होनेवाला एक प्रकार का रोग जिसमें मुँह सीढ़ा सा बर्ना रहता है ।

मुखमोद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सलई का वृक्ष । शल्लकी । (२) काला सहिजन ।

मुखम्मस-वि० [अ०] जिसमें पाँच कोने या अंग आदि हों । संज्ञा पुं० उई या फारसी की एक प्रकार की कविता जिसमें एक साथ पाँच चरण या पद होते हैं ।

मुखव्यग्र-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े या बैल आदि की लगाम ।

मुखर-वि० [सं०] (१) जो अभ्रिय बोलता हो । कटुभाषी । (२) बहुत बोलनेवाला । वक्ता । (३) प्रधान । अग्रगण्य । संज्ञा पुं० (१) कौशा । (२) शाल ।

मुखरोग-संज्ञा पुं० [सं०] ओंठ, मसूदे, दाँत, जीभ, तालू या गले आदि में होनेवाले रोग जो वैद्यक के अनुसार सप्त निहाकर ६० प्रकार के माने गए हैं । इनमें से ओंठों में होनेवाले ८ प्रकार के, मसूदों में होनेवाले १६ प्रकार के, दाँतों में होनेवाले ८ प्रकार के, जीभ में होनेवाले ५ प्रकार के, तालू में होनेवाले ९ प्रकार के, कंठ में होनेवाले १८ प्रकार के और सारे मुख में होनेवाले ३ प्रकार के हैं ।

मुखलांगल-संज्ञा पुं० [सं०] चूजर ।

मुखलिंसी-संज्ञा स्त्री० [अ०] छुटकारा । रिहाई ।

कि० प्र०—करना ।—देना । पाना ।—मिलना ।—होना ।

मुखलेप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मुख-रोग । मुँह का चट चट करना । (२) यह लेप जो मुँह पर शोभा या सुगंध के लिये लगाया जाय ।

मुखल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो खाने में अच्छा लगे । स्वादिष्ट । (२) अनार का पेड़ ।

मुखयाचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ग्राहणी या पादा नाम की छता । अंधड़ा ।

मुखयाध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह से वम्य वम्य शब्द करना । (शिक्कन में) (२) मुँह से कँकड़ बनाया जानेवाला पाज । जैसे,—दाँख, दाहनाई आदि ।

मुखयास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गंधवृण । (२) तरवृज की छता ।

मुखयासन-संज्ञा पुं० [सं०] अनेक प्रकार की सुगंधित ओषधियों

आदि को मिलाकर बनाया हुआ वह चूर्ण जिससे मुँह की दुर्गंध दूर होती है और उसमें सुवास आती है ।

मुखवासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती ।

मुखविपुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्या छंद का एक भेद ।

मुखविष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तेलचट या सनकिरवा नाम का कीड़ा ।

मुखवैदल-संज्ञा पुं० [सं०] शुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का कीड़ा जिसके काटने से वायु-जन्य पीड़ा होती है ।

मुखव्यग-संज्ञा पुं० [सं०] मुँह पर पड़नेवाले छोटे छोटे दाग । वैद्यक के अनुसार अधिक क्रोध या परिश्रम करने के कारण वायु और पित्त के मिल जाने से ये दाग होते हैं । इनसे कोई कष्ट तो नहीं होता, पर मुख की शोभा बिगड़ जाती है ।

मुखशफ-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कटु वचन कहता हो । मुखर ।

मुखशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मंजन या दातन आदि की सहायता से मुँह साफ़ करना । (२) भोजन के उपरांत पान, सुपारी आदि खाकर मुँह शुद्ध करना ।

मुखशीघ्रन-संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जिसके खाने से मुँह शुद्ध होता हो । (२) दालचीनी । (३) तज ।

वि० चरपरा ।

मुखशीघी-संज्ञा पुं० [सं० मुखशीघी] (१) मुँह को शुद्ध करनेवाला पदार्थ । (२) जैवरी नीचू ।

मुखशीघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शृणु । प्यास । (२) प्यास या गरमी से मुँह सूखना ।

मुखसंभव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भगवान् के मुख से उत्पन्न, ग्राहण । (२) पुष्करमूल । पुष्करमूल ।

मुखसिचन मंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र जिससे जल कूँकर उस आदमी के मुँह पर छिंटे दिए जाते हैं, जिसके पेट में किसी प्रकार का विष उतर जाता है ।

मुखसुर-संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ी ।

मुखसूची-संज्ञा स्त्री० [सं०] अमड़े का वृक्ष । आघ्रातरु ।

मुखस्य-वि० [सं०] जो ज़ुबानी याद हो । कंठस्थ । धर-ज्ञापन ।

मुखस्नाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) थूक । छार । (२) बालकों का एक रोग जिसमें उनके मुँह से बहुत अधिक छार बहती है । कहते हैं कि कफ़ से दूषित स्तन पीने से यह रोग होता है ।

मुखाग्नि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जंगल की भाग । दाधानल । (२) श्वेत भूमि को चिता पर रसास्त्र पड़ने उसके मुँह में आग लगाने की क्रिया ।

मुखाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ओंठ । (२) किसी पदार्थ का अगला भाग ।

वि० जो ज़ुबानी याद हो । कंठस्थ । धर-ज्ञापन । शीघ्र,—उसे सारी गीता मुराफ़ है ।

मुखातिव-वि० [सं०] जिससे बात की जाय । जिससे कुछ कहा जाय ।

मुहा०—(किसी की तरफ) मुखातिव होना = (१) किसी की ओर ध्यान कर उससे बातें करना । (२) किसी की बात सुनने के लिये उसकी ओर प्रवृत्त होना ।

मुखापेक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] दूसरों का मुँह ताकनेवाला । दूसरों के सहारे रहनेवाला । दूसरों की कृपा पर रहनेवाला ।

मुखापेक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दूसरों का मुँह ताकना । दूसरों के आश्रित रहना ।

मुखापेक्षी-संज्ञा पुं० [सं० मुखापेक्षिन्] वह जो दूसरों का मुँह ताकता हो । दूसरों के सहारे रहनेवाला । दूसरे की कृपा-रहित के भरोसे रहनेवाला । आश्रित ।

मुखामय-संज्ञा पुं० [सं०] मुँह में होनेवाला रोग । मुखरोग ।

मुखार्जक-संज्ञा पुं० [सं०] घनतुलसी का पौधा । यथरी तुलसी ।

मुखालिफ-वि० [अ०] (१) जो खिलाफ हो । विरुद्ध पक्ष का । विरोधी । (२) शत्रु । दुश्मन । (३) प्रतिद्वंद्वी ।

मुखालिफत-वि० [अ०] विरोध । (२) शत्रुता । दुश्मनी ।

मुखालु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बड़ा मीठा कंद जिसे दूधकंद, महाकंद या दीर्घकंद भी कहते हैं । वैष्णव में यह मधुर, शीतल, रुचिकारी, पातवर्षक तथा पित्त, शोथ, दाह और प्यास को दूर करनेवाला माना गया है ।

मुखासय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) थूक । (२) लार ।

मुखाब्ज-संज्ञा पुं० [सं०] केकड़ा ।

मुखाब्जय-संज्ञा पुं० [सं०] मुँह से यहनेवाली थूक या लार ।

मुखिक-संज्ञा पुं० [सं०] मोखा नामक पक्ष ।

मुखिया-संज्ञा पुं० [सं० मुख + या (अर्थ०)] (१) नेता । प्रधान । सरदार । जैसे,—मे अपने गाँव के मुखिया हैं । (२) वह जो किसी काम में सब से आगे हो । किसी काम की संवे से पहले करनेवाला । अग्रभा । (३) बल्लभ संप्रदाय के मंदिरों का यह कर्मचारी जो मूर्ति का पूजन करता और भोग आदि छगाता है । ऐसा कर्मचारी प्रायः पारु-बिला में भी नियुक्त हुआ जाता है ।

मुखली-संज्ञा स्त्री० [सं०] यीर्षों की एक देवी का नाम ।

मुखोलका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दायाग्री ।

मुखतलिफ-वि० [अ०] (१) भिन्न । अलग । वृत्त । (२) अनेक प्रकार का । तरह तरह का ।

मुखतसर-वि० [अ०] (१) जो बोधे में हो । संक्षिप्त । (२) छोटा । (३) अल्प । थोड़ा ।

मुस्तार-संज्ञा पुं० दे० "मुस्तान" ।

विरोध—इसके मौलिक शब्दों के लिये दे० "मुखतार" के पौलिक ।

मुख्य-वि० [सं०] सब में बड़ा । ऊपर या आगे रहनेवाला । प्रधान । श्रेष्ठ ।

संज्ञा पुं० (१) यज्ञ का पहला कथ । (२) वेद का अध्ययन और अध्यापन । (३) अर्थात् मास ।

मुख्यचांद्र-संज्ञा पुं० [सं०] चांद्र मास के दो विभागों में से एक । शुक्ल प्रतिपदा से लेकर अमावास्या तक का काल जो 'अर्थात् चांद्र मास' भी कहलाता है । वि० दे० "मास" ।

मुख्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुख्य होने का भाव । प्रधानता । श्रेष्ठता ।

मुख्यसर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] स्थावर सृष्टि ।

मुगदर-संज्ञा पुं० [सं० मुदर] लकड़ी की एक प्रकार की गावुनी, लंबी और भारी मुगरी जिसका प्रायः जोड़ा होता है और जिसका उपयोग व्यायाम के लिये किया जाता है । गोरी । **विरोध—**इसमें ऊपर की ओर पकड़ने के लिये पतली मुगिया होती है और नीचे का भाग बहुत मोटा होता है । दोनों हाथों में एक एक मुगदर उठा लिया जाता है और धीरे धीरे से हर एक मुगदर पीठ के पीछे से घुमाकर सामने लाते और उल्टे चल में ऊपर की ओर खड़ा करते हैं । इससे बाहुओं में बहुत बल आता है ।

कि० प्र०—फेरता ।—हिलाना ।

मुगना-संज्ञा पुं० [हिं० मुग्न] सहिजन । मुग्ना ।

मुगर-संज्ञा पुं० दे० "मोगरा" ।

मुगरेली-संज्ञा पुं० [हिं० मंगरेला] कलौजी या मंगरेला नामक दाना, जिसका व्यवहार मसाले में होता है ।

मुगल-संज्ञा पुं० [फा०] [खी० मुगलानी] (१) मंगोल देश का निवासी । (२) तुर्कों का एक श्रेष्ठ वर्ग जो तैमूर देश का निवासी था । इस वर्ग के लोगों ने इधर कुछ दिनों तक भारत में आकर अपना साम्राज्य स्थापित करके चलाया था । इस वर्ग का पहला सम्राट् बाबर था, जिसने सन् १५१९ ई० में भारत पर विजय प्राप्त की थी । अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब इसी जाति के और बाबर के वंशज थे । इन लोगों के शासन काल में साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया था । परंतु औरंगजेब की मृत्यु (सन् १७०० ई०) के उपरांत इस साम्राज्य का पतन होने लगा और सन् १८५७ में उसका अंत हो गया । (३) मुसलमानों के बातचीत में एक वर्ग जो शेरों और सैयदों से छोटा तथा पठानों से बड़ा और श्रेष्ठ समझा जाता है ।

मुगलई-वि० [फा० मुगल + ई (अर्थ०)] मुगलों का सा । मुगलों की तरह का । जैसे,—मुगलई पाजामा, मुगलई उता, मुगलई हड्डी ।

मुगल पठान-संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार का खेल जो जमीन पर खाने-पीनेकर सोलह कंकड़ों से खेला जाता है । गोरी ।

मूगलार्ह-वि० दे० "मूगलार्ह" ।

संज्ञा स्त्री० [म० मूगल + आर्ह (प्रत्य०)] मूगल होने का भाव ।
मूगलपन ।

मूगलानी-संज्ञा स्त्री० [म० मूगल + आनी (प्रत्य०)] (१) मूगल जाति की स्त्री । (२) कपड़ा सीनेवाली स्त्री । (३) दासी । मजदूरनी । (मुसल०)

मूगली-संज्ञा स्त्री० [म० मूगल + ई (प्रत्य०)] बच्चों को होनेवाला पसली का रोग जिसमें उनके हाथ पैर टूट जाते हैं और वे बेहोश हो जाते हैं ।

मूगवत-संज्ञा पुं० [सं० वनस्पति + वत (प्रत्य०)] मोठ ।

मूगवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिस्त्रवा । मधुरवस्त्री ।

मूगलता-संज्ञा पुं० [म०] घोषा । छल । झोठा ।

कि० प्र०—खाना ।—देना ।—मैं डालना ।

मूगल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पपीहा । (२) एक प्रकार का हिरन ।

मूगधम-वि० [देश०] (यात) जो बहुत खोलकर या स्पष्ट करके न कही जाय, संकेत रूप में कही हुई (यात) ।

मुह्रा—मूगधम रहना = (१) चुप रहना । कुच न बोलना । (व्यक्ति के संबंध में) (२) किसी का रहस्य प्रकट न होना । भेद न सुलना । परदा टका रह जाना ।

संज्ञा पुं० दायि में वह अवस्था जिसमें न हार हो और न जीत । (शुभारी)

कि० प्र०—रहना ।

मुग्ध-वि० [सं०] (१) मोह या भ्रम में पड़ा हुआ । मूढ़ । (२) दुंदर । खूबसूरत । (३) नया । नवीन । (४) आसक्त । मोहित । लुभाया हुआ ।

मुग्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुग्ध का भाव । मूढ़ता । (२) दुंदरता । खूबसूरती । (३) मोहित या आसक्त होने का भाव ।

मुग्धवृद्धि-वि० [सं०] जिसकी वृद्धि भ्रांत हो । बेवकूफ ।

मुग्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] साहित्य में वह नायिका जो जीवन को तो प्राप्त हो चुकी हो, पर जिसमें काम-चेष्टा न हो । इसके दो भेद होते हैं—अज्ञात-जीवना और ज्ञात-जीवना । इसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ बहुत ही मनोहारिणी होती हैं । इसका कोप बहुत ही मृदु होता है और इसे साज-सिंघार का बहुत चाव रहता है ।

मुग्धगड-वि० [हि० मुग्धा + गड (प्रत्य०)] मोटा और मढ़ा । नीचे,—मुग्धगड रोटा ।

मुचक-संज्ञा पुं० [सं०] छात्र । लड़क ।

† संज्ञा स्त्री० दे० "मोच" ।

मुचकुंद-संज्ञा पुं० [सं० मुचकुंद] एक बड़ा पेड़ जिसके पत्ते फाल्गुने के पत्तों के आकार के और बड़े बड़े होते हैं । पत्तों में महीन महीन रोई होती है जिससे वे छूने में सुदृढ़ लगते

हैं । फूल में पाँच छः अंगुल लंबे और एक अंगुल के लगभग चौड़े सफेद दल होते हैं । दलों के मध्य से सूत के समान कई केसर निकले होते हैं । दलों के नीचे का कोश भी बहुत लंबा होता है । फूल की सुगंध बहुत ही मीठी और मनोहर होती है । ये फूल सिर के दर्द में बहुत लाभकारी होते हैं । इसके फल कटहल के प्रारंभिक फलों के समान छोटे लंबे और पथर की तरह कड़े होते हैं । इसके फूल और छाल औषध के काम में आती है । दैयक में यह चरपरा, गरम, कड़वा, स्वर को मधुर करनेवाला तथा कफ, खाँसी, त्वचा के विकार, सूजन, सिर का दर्द, विदोष, रक्त-पित्त और रधिर-विकार को दूर करनेवाला माना गया है ।

पदार्थ—छत्रपुष्प । चित्र । प्रतिविष्णुक । दीर्घपुष्प । बहुपत्र । सुदल । सुपुष्प । हरिवल्लभ । रक्तप्रसव ।

मुचलका-संज्ञा पुं० [उ०] वह प्रतिज्ञापत्र जिसके द्वारा अभिषेक में कोई काम, विशेषतः अनुचित काम, न करने अथवा किसी नियत समय पर अदालत में उपस्थित होने की प्रतिज्ञा की जाती है; और कहा जाता है कि यदि मुसले अमुक अनुचित काम हो जायगा, अथवा मैं अमुक समय पर अमुक अदालत में उपस्थित न होऊँगा, तो मैं इतना आर्थिक दंड दूँगा ।

कि० प्र०—लिखना ।—लिखाना ।—लेना ।

मुचिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाता । उदार । (२) धर्म । (३) वायु । (४) देवता ।

मुचिलिंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुचकुंद पुत्र । (२) तिलक का पौधा । तिलपुष्पी । (३) एक नाग का नाम । (४) एक पर्वत का नाम ।

मुचिलिंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुचकुंद । (२) तिलक । तिलपुष्पी ।

मुचुक-संज्ञा पुं० [सं०] मैनफल ।

† संज्ञा स्त्री० दे० "मोच" ।

मुचुकुंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुचकुंद । (२) भागवत के अनुसार मान्वाचार के एक पुत्र का नाम ।

मुचुटो-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उँगली मटकाना । (२) मुट्ठी ।

मुच्चा-संज्ञा पुं० [देश०] मोस का पड़ा टुकड़ा । गोस्त का लोथड़ा ।

मुकुंद-संज्ञा पुं० [हि० मुकुं] (१) जिसकी मूर्तें बड़ी बड़ी हैं । (२) कुसुम और मूल्य । भरा और घेवक । (३) पूजा । (४) मुद्रियल-वि० [हि० मुकुं + लय (प्रत्य०)] जिसकी मूर्तें बड़ी बड़ी हैं ।

मुकुंदर-वि० [म०] प्रसिद्ध ।

मुजम्मा-संज्ञा पुं० [म०] धमड़े या रस्सी का वह फंदा जो घोड़े

को आगे बढ़ने से रोकने के लिये उसकी गामची या दुमची में पिछाड़ी की रस्ती के साथ लगा रहता है।

कि० प्र०—रॉथना।—ल्लाना।

मुहार०—मुजम्मा लगाना = ऐसा काम करना जिससे कोई बात या काम रुक जाय। रोक या आड़ लगाना। मुजम्मा लेना = आड़े हाथों लेना। खर लेना। ठीक करना।

मुजरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जो जारी किया गया हो। (२) वह रकम जो किसी रकम में से काट ली गई हो। जैसे,—
१०) हमारे निकलते थे, वह हमने उसमें से मुजरा कर लिए।

कि० प्र०—करना।—देना।—पाना।—लेना।

(३) किसी बड़े या धनवान आदि के सामने जाकर उसे सलाम करना। अभिवादन। (४) घेन्सा का वह गाना जो पैठर हो और जिसमें उसका नाच न हो।

कि० प्र०—करना।—मुनना।—मुनाना।—होना।

मुजरद-वि० [अ०] (१) जिसके साथ और कोई न हो। अकेला। (२) जिसका विवाह न हुआ हो। बिन-व्याह। (३) जिसने संसार का त्याग कर दिया हो।

मुजरद-वि० [अ०] उज्रदया किया हुआ। आजनाया हुआ। परीक्षित। जैसे,—मुजरद दया, मुजरद सुसत्ता।

मुजराई-संज्ञा पुं० [हि० मुजरा + ई (प्रत्य०)] (१) वह जो मुजरा या सलाम करता हो। (२) वह व्यक्ति जो केवल सलाम करने के लिये बैठन पाता हो। (३) वह जो मसिया पढ़ता हो। (४) काटने या घटाने की किया। (५) काटी या मुजरा की हुई रकम।

मुजराकद-संज्ञा पुं० [सं० मुजर] एक प्रकार का कंद जो उत्तर भारत में होता है और जिसे मुंग्रात भी कहते हैं। वैद्यक में यह अल्पत स्वादिष्ट, धीर्यवर्धक तथा पात-पित्त नाशक माना गया है।

मुजरिम-संज्ञा पुं० [अ०] वह जिस पर कोई जुर्म या अपराध लगाया गया हो। जिस पर अभियोग लगाया गया हो। अभियुक्त।

मुजल्लद-वि० [अ०] जिसकी जिल्द खींची हो। जिल्ददार।

मुजस्सिम-वि० [अ०] स-चरित। प्रत्यक्ष। जैसे,—खीजिप, आपके सामने मुजस्सिम खड़े हैं।

मुजारिया-वि० [अ०] जो जारी किया या कराया गया हो। (कच०)

मुजावर-संज्ञा पुं० [अ०] वह मुसलमान जो किसी पीर आदि की दरगाह या रौने पर रहकर वहाँ की सेवा का कार्य करता हो और चढ़ावा आदि लेता हो।

मुज़िर-वि० [अ०] नुकसान पहुँचानेवाला। हानिकारक।

मुभ-सर्व० [हि० मुभे] मैं का वह रूप जो उसे कर्ता और

संयंघ कारक को छोड़कर शेष कारकों में, विभक्ति लेने से पहले प्राप्त होता है। जैसे,—मुसको, मुससे, मुसमें।

मुभे-सर्व० [सं० मभय, प्रा० मभम] एक पुरुषवाचक सर्वनाम जो उत्तम पुरुष, एकवचन और उभयलिंग है और वक्ता या उसके नाम की ओर संकेत करता है। यह "मैं" का वह रूप है जो उसे कर्म और संप्रदान कारक में प्राप्त होता है। इसमें लगी हुई प्रकार की मात्रा विभक्ति का चिह्न है, इसलिये इसके आगे कारक चिह्न नहीं लगता। मुसको। जैसे,—
(क) मुसे वहाँ गए कई दिन हो गए। (ख) मुसे आज कई पत्र लिखते हैं।

मुटकना-वि० [हि० मोटा + कना (प्रत्य०)] आकार में छोटा या साधारण, पर सुंदर। जैसे,—मुटकना सा बाग।

मुटका-संज्ञा पुं० [हि० मोटा + क] एक प्रकार का देशी वस्त्र जो अधिकतर बंगाल में बनता है और धोती के स्थान में पहनने के काम में आता है।

मुटकी-संज्ञा स्त्री० [दे०] कुलुषी नामक अन्न। सुरभी।

मुटमुरी-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का अदुई पान।

मुटारै-संज्ञा स्त्री० [हि० मोटा + ई (प्रत्य०)] (१) मोटापन। स्थूलता। (२) मुटि। (३) अहंकार। घमंड। शैली। (४) वह बेपरवाही या अभिमान जो भरपूर भोजन मिलने या कुछ धन हो जाने से हो जाय।

मुटारै-मुटारै चढ़ना = बहुत अति अभिमान होना। शैली होना। मुटारै सक्ता = अभिमान पूर्ण होना। शैली होना।

मुटाना-कि० अ० [हि० मोटा + णा (प्रत्य०)] (१) मोटा हो जाना। स्थूल हो जाना। (२) शैलीप्राप्त हो जाना। अहंकारी हो जाना। अहंमन्य हो जाना। इ०—हमारे आगत रिस करत अस तुम गये मुटान।—विश्राम।

मुटोसा-वि० [हि० मोटा + आसा (प्रत्य०)] वह जो लाने पीने से मग्न में हो जाने या कुछ धन कमा लेने से बेपरवा और घमंडी हो गया हो।

मुटिया-संज्ञा पुं० [हि० मोट = गड्ढी + रया (प्रत्य०)] मोटा होनेवाला। मजदूर।

मुट्टा-संज्ञा पुं० [हि० मुट्ट] (१) घास, फूस, रूख या बंटल का उतना पृष्ठा जितना हाथ की मुट्ठी में आ सके। (२) चंगुल भर वस्तु। जितनी एक मुट्ठी में आ सके, उतनी वस्तु। जैसे,—एक मुट्टा आटा। (३) समेटा या बँधा हुआ समूह जो मुट्ठी में आ सके। पुरिदा। जैसे,—कागज़ का मुट्टा, तार का मुट्टा। (४) श्राद्ध या वंश आदि का वह अंश जो उसके प्रयोग के समय मुट्ठी में पकड़ा जाय। बँट। दन्ता। (५) पुनियाँ का बेलन के आकार का वह भीतार जिससे रुई पुनवे समय तौल पर आयात किया जाता है। (६) कपड़े की गरी जो

प्रायः पहलवान आदि बाँहों पर मोटाई दिखलाने या सुंदरता बढ़ाने के लिये बाँधते हैं।

मुद्रामुहुर-संज्ञा स्त्री० [दे०] युवती स्त्री । (कहार)

मुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं० मुद्रिका प्रा० मुद्रिआ] (१) हाथ की वह मुद्रा जो उँगलियों को मोड़कर हथेली पर दबा लेने से बनती है। बाँधी हुई हथेली । (२) उतनी वस्तु जितनी उपर्युक्त मुद्रा के समय हाथ में आ सके। जैसे,—एक मुद्रा चावल।

मुद्रा—मुद्रा में = बच्चे में। अधिकार में। कार में। वरा में।

उ०—नीच कहा भिरहा करतो सखी होती कहूँ तु ये मीथु मुद्रा में।—पचाकर। मुद्रा गरम करना = रक्का देना। धन देना। मुद्रा बंद या बाँधी होना = घर का भेद किसी को मालूम न होना। रहस्य प्रकट न होना। मुद्रा में रखा होना = बहुत समीप होना। पास होना। जैसे,—कपड़े क्या यहाँ मुद्रा में रखे हैं जो तुम्हें दे दिए जायें!

(३) उपर्युक्त मुद्रा के समय बाँचे हुए पंजे की चौड़ाई का मान। बाँधी हथेली के बराबर का विस्तार। जैसे,—इसका किनारा मुद्रा भर ऊँचा होना चाहिये। (४) हाथों से किसी के भाँगों को विशेषतः हाथ पैर को पकड़ पकड़कर धक्के की क्रिया जिससे शरीर की अकामत दूर होती है। चंपी।

कि० प्र०—भरना।

(५) एक प्रकार की छोटी पतली लकड़ी जिसके दोनों सिरे कुछ मोटे और गोल होते हैं और जो छोटे बच्चों को खेलने के लिये दी जाती है। इसे बच्चे प्रायः घुसा करते हैं। चुलती। (६) घोड़े के सुम और रखने के बीच का भाग।

मुद्रमंड-संज्ञा स्त्री० [हि० मूठ + मण्डना] (१) टकर। भिड़ंत। लड़ाई। (२) अंड। सामना।

मुद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं० मुद्रिका] (१) मुद्रा। उ०—रावण सी भद्र भयो मुद्रिका के धाय को।—तुलसी। (२) घुंसा। मुद्रा। उ०—मुद्रिका एक ताहि कपि हनी। रक्षित वमत भारती वनमनी।—तुलसी।

मुद्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं० मुद्रिका] (१) हुरी, हंसिया आदि औजारों का वह भाग जो मुद्रा में पकड़ा जाय। दस्ता। बेंद। (२) हाथ में रखी या ली जानेवाली वस्तु का वह भाग जो मुद्रा में पकड़ा जाता है। जैसे—छड़ी की मुद्रिका, छाले की मुद्रिका। (३) धुनियों का वह औजार जिससे वे धुनकी की तान पर आघात करते हैं।

मुद्रिका-संज्ञा स्त्री० दे० "मुद्रा"।

मुद्रुकी-संज्ञा स्त्री० [हि० मूठ] काट का बना हुआ यहाँ का एक रिलौना जिसके दोनों सिरों पर गोलीबाँसी होती है और बीच में पकड़ने की मूठ होती है। गोलीबाँसी में कंकड़ भरे रहते हैं जिनके कारण दिलाने से वह बजना है। मुद्रा।

उ०—कोठ मुद्रकी धुनधुना डुलावै कोठ कंताल बजावै।—रघुराज।

मुद्रक-संज्ञा स्त्री० दे० "मुद्रक"।

मुद्रकना-कि० प्र० दे० "मुद्रकना"।

मुद्रना-कि० प्र० [सं० मुद्रु = लिपिज्ञा, फेरा खाना] (१) छद् की तरह सीधी गई हुई वस्तु का कहीं से बल साकर दूसरी ओर फिरना। दबाव या आघात से छड़ना या झुक जाना। घुमाव लेना। जैसे,—(क) छद् पर दाब पड़ी, इससे वह मुद्र गई। (ख) यह तार तो मुद्रता ही नहीं है; इसे कैसे छपेटें। (२) किसी धारदार किनारे या नोक का इस प्रकार झुक जाना कि वह आगे की ओर न रह जाय। जैसे,—धुरी की धार या सूई की नोक मुद्रना। (३) लकड़ी की तरह सीधे न जाकर घूमकर किसी ओर झुकना। घक होकर मिला दिना में प्रवृत्त होना। जैसे,—आगे चलकर यह नदी (या सड़क) दक्खिन की ओर मुद्र गई है। (४) चलते चलते सामने से किसी दूसरी ओर फिर जाना। दायें भयवा दायें घूम जाना। जैसे,—कुछ दूर जाकर दाहिनी ओर मुद्र जाना, तो उसका घर मिला जायगा। (५) घूमकर फिर पीछे की ओर चल पड़ना। पलटना। लौटना।

संयो० कि०—जाना।

कि० प्र० दे० "मुद्रना"।

मुद्रला-संज्ञा स्त्री० [सं० मुद्र] [स्त्री० मुद्रनी] जिसके सिर पर बाल न हों। बिना बालवाला। मुद्रा। उ०—कच सुविभ्रां धर काजर कानो सकृद पहरै बैसरि। मुद्रली पटिया पारि सँवारे कोड़ी लखै केसरि।—चूर।

मुद्रयाना-कि० प्र० [हि० मुद्रना का प्र० रूप] (१) किसी को मुद्रने में प्रवृत्त करना। उस्तरे से बाल या रोमों दूर करना। (२) दे० "मुद्रयाना"।

कि० प्र० [हि० मुद्रना का प्र० रूप] मुद्रने या घूमने में प्रवृत्त करना।

मुद्रवापी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुद्र + वापी (मय०)] (१) अंदरी की दीवार का सिरा। मुद्रिरा। उ०—मुद्रवापी रश्मिगिनि सँवारी। अनल झार छूटी छविपारी।—गुमान। (२) छेदे हुए मनुष्य का वह पार्श्व जिधर सिर हो। सिरहाना। (३) वह पार्श्व जिधर किसी पिशाच का सिरा अथवा ऊपरी भाग हो।

मुद्रवर्ण-संज्ञा पुं० [हि० मुद्र + वर्ण (वर्ण०)] (१) पिपों की सादी या चादर का वह भाग जो टीक सिर पर रहता है। उ०—मुख पगारि मुद्रवर निवे सीस सजल कर द्वाह।—विहारी। (२) सिर का अगला भाग।

मुद्राना-कि० प्र० [सं० मुद्र] सिर के मय बाल मनवाना। मुद्रन करना। मुद्राना।

मुद्रिया-संज्ञा पुं० [हि० मुद्रना + रिया (वर्ण०)] यह निम्न

सिर सुँदा हुआ हो। विशेषतः कोई संन्यासी, साधु या धार्मिक आदि। उ०—यह निर्गुण है तिनहि सुनावहु जे मुदिआ धरैं काशी—सूर। वि० दे० “मुँदिआ”।

[दे०] एक प्रकार की मछली।

मुडरा-संज्ञा पुं० दे० “मुँदेरा”।

मुतझ्रिक्क-वि० [अ०] (१) संबंध रखनेवाला। लगाव रखनेवाला। संबंध। (२) मिला हुआ। सम्मिलित।

कि० वि० संबंध में। विषय में। जैसे,—उसके मुतझ्रिक्क मुझे कुछ नहीं कहना है।

मुतफा-संज्ञा पुं० [हि० मुँह + टेक] (१) कोठे के छज्जे या चौक के ऊपर पादल के किनारे खड़ी की हुई पटिया या नीची दीवार जो गिरने से रोकने के लिये हो। (२) संभा। (३) मीनार। छत।

मुतदायरा-वि० [अ०] (मुकदमा) जो दायर किया गया हो। (कच०)

मुतफ़्फ़ी-वि० [अ०] बहुत यद्दा भूतें। चालाक। धोखेबाज़। मुतफ़्फ़ी-वि० [अ०] (१) निन्न निन्न। अलग अलग। (२) विविध। कई प्रकार का।

मुतयफ़्फ़ा-संज्ञा पुं० [अ०] गोद लिया हुआ पुत्र। दत्तक पुत्र।

मुतमौयल-वि० [अ०] धनवान्। संपत्तिवाली। अमीर।

मुतरज्जिम-संज्ञा पुं० [अ०] जो अनुवाद करे। तरजुमा करनेवाला। अनुवादक।

मुतलक-कि० वि० [अ०] ज़रा भी। तनिक भी। रत्ती भर भी।

वि० बिल्कुल। निरा। निपट।

मुतयफ़्फ़ा-वि० [अ०] परलोकवासी। मृत। स्वर्गीय। (कच०)

मुतयल्ली-संज्ञा पुं० [अ०] किसी नावालिग और उसकी संपत्ति का रतक। किसी यद्दी संपत्ति और उसके अल्पपरक अधिकारी का कानूनी संरक्षक। धडी।

मुतघातिर-कि० वि० [अ०] लगातार। निरंतर।

मुतसाही-संज्ञा पुं० [अ०] (१) लेखक। मुंशी। (२) पैतृकार। दीवान। (३) जिम्मेदार। उचरदायी। (४) इंतज़ाम करनेवाला प्रबंधकर्ता। (५) हिसाब रखनेवाला। जमा-खर्च लिखनेवाला। (६) मुनीम। गुमास्ता।

मतसिरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मोती + सं० शी] कंठ में पहनने की मोतियों की कंठी। उ०—प्रीय मुतसिरी सोरि के अँधारा सों पाँयो।—सूर।

मतहम्मिल-वि० [अ०] घरदास्त करनेवाला। सहिष्णु। सहनशील।

मुतायिक-कि० वि० [अ०] अनुसार। वयुजिय। वि० अनुकूल।

मुतालया-संज्ञा पुं० [अ०] उतना धन जितना पाया जाति हो। प्राप्त्य धन। बाकी रकबा।

मुताह-संज्ञा पुं० [अ० मुतय] मुसलमानों में एक प्रकार का अस्थायी विवाह जो “निकाह” से निकट समझा जाता है।

इस प्रकार का विवाह प्रायः शीघ्र लोगों में होता है।

मुताही-वि० [हि० मुताह + ई (अय०)] (१) वह जिसके साथ मुताह किया गया हो। (२) रखेली (स्त्री)।

मुतिलाइ-संज्ञा पुं० [हि० मोती + लइ] मोतीचूर का लड्डू। उ०—मुतिलाइ है अति मीठे। वै धात न कहूँ उबीठे।—सूर।

मुतेहरा-संज्ञा पुं० [हि० मोती + हार] कंठ की आकृति का एक प्रकार का आभूषण जो खियाँ कलाई पर पहनती है।

मुत्तफ़िक्क-वि० [अ०] राय से इत्फ़ाक करनेवाला। सहमत।

मुत्तसिल-वि० [अ०] निकट। नज़दीक। समीप। पास। लगा हुआ।

कि० वि० लगातार। निरंतर।

मुद-संज्ञा पुं० [सं०] हर्ष। आनंद। प्रसन्नता। उ०—मुद-भंगल मय संत-समाज।—तुलसी।

मुदगर संज्ञा पुं० दे० (१) “मुदर”। (२) दे० “मुगदर”।

मुदरा-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का मादक पेय पदार्थ जो अफीम, भाँग, शराब और धुर्रे के योग से बनता है और जिसका व्यवहार पश्चिमी पंजाब तथा बलोचिस्तान में होता है।

मुदरिस्त-संज्ञा पुं० [अ०] पाठशाला का शिक्षक। अध्यापक। मुदा-अर्थ [अ० मुदरा = अभिप्राय] (१) तात्पर्य यह कि।

(२) मगर। लेकिन।

संज्ञा स्त्री० [सं०] हर्ष। आनंद। प्रसन्नता।

मुदाम-कि० वि० [फा०] (१) सदा। हमेशा। सदैव। उ०—

उमय राम ललत सीता की छवि को सीयराम अभिरामे। उमय हाँसल भये अचंचल प्रीति-पुनीत मुदामे।—रसुराज। (२) वह हम सत्य धरा सरनाम। करं तव में पर सत्य मुदाम।—गोपाल। (३) निरंतर। लगातार।

† (३) ठीक ठीक। हू-य-हू। (क०)

मुदामी-वि० [फा०] जो सदा होता रहे। सार्वकालिक। उ०—वही मुकामी फेरि सखामी। यँही पंचदश जीव

मुदामी।—रसुराज।

मुदायस-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार प्रजापति के एक पुत्र का नाम।

मुवित-वि० [सं०] हर्षित। आनंदित। प्रसन्न। सुख। संज्ञा पुं० काम शास्त्र के अनुसार एक प्रकार का आभूषण।

नायिका काना तक की दाईं ओर लेटकर उसकी दोनों जाँघों के बीच में अपना बायाँ पैर रखना।

मुविता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परकीया के अंतर्गत एक प्रकार

की नायिका जो पर-पुरुष-भ्रति संबंधी कामना की आकस्मिक भाति से प्रसन्न होती है । उ०—परलि मेमवश पर पुरुष हरिप रही मन मैन । तब लगी झुकि आई घटा अधिक धैरि रैन ।—पद्याकर । (२) हर्ष । आनंद । (३) योग शास्त्र में समाधि-योग्य संस्कार उत्पन्न करनेवाला एक परिकर्म जिसका अभिप्राय है—पुण्यात्माओं को देखकर हर्ष उत्पन्न करना । (ये परिकर्म चार कहे गए हैं—मैत्री, कल्या, मुद्रिता और उपेक्षा ।)

मुद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यादल । मेघ । उ०—(क) घाराघर जलघर जलद जग-जीवन जीमूत । मुद्रि बलाहक तदितपति परजन जल-मुपत ।—नंददास । (ख) कै मतिराम दीने शीरय दुरदृष्ट मुद्रि से मेदुर मुद्रित मतवारे हैं ।—मतिराम । (२) वह जिसे काम-वासना बहुत अधिक हो । कामुक । (३) मंदक ।

मुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] मूंग नामक अन्न जिससे ढाल बनाई जाती है । वि० दे० “मूंग” ।

मुद्रगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] मूँगेर और उसके आस पास के प्रांत का प्राचीन नाम ।

मुद्रदला-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुद्रपर्णी । बनमूंग ।

मुद्रपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यनमूंग । मुगवन ।

मुद्रमोजी-संज्ञा पुं० [सं०] मुद्रमोजि । घोड़ा ।

मुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काठ का बना हुआ एक प्रकार का गायदुना दंड जो मूठ की ओर पतला और आगे की ओर बहुत भारी होता है । इसे हाथ में लेकर हिलाते हुए पहलवान लोग कई तरह की कसरतें करते हैं । इससे कलाहर्षों और योद्धों में बल आता है । इसकी प्रायः जोड़ी होती है जो दोनों हाथों में लेकर पारी पारी से पीठ के पीछे से घुमाते हुए सामने लाकर तानी जाती है । मुगदर ।

कि० प्र०—कैरना ।—हिलाना ।

(२) प्राचीन काल का एक अन्न जो दंड के आकार का होता था और जिसके सिरे पर बड़ा भारी गोल पत्थर लगा होता था । (३) एक प्रकार की चमेली । मोगरा । (४) एक प्रकार की मछली ।

मुद्रल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोहिण नामक ग्रह । (२) एक गोत्रकार मुनि का नाम, जिनकी की इंद्रसेना थी । (३) एक उपनिषद् का नाम ।

मुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] मुगवन । बनमूंग ।

मुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] अभिप्राय । तात्पर्य । मतलब ।

मुद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] [सं०] मुद्रय । (१) दावा करनेवाला । दावादार । यादी । (२) दुश्मन । धीरी । दायु । उ०—मोहन नीत समीत गो हरि सेतो सनमान । भव झु दगा है दू पत्थो अरे मुद्रि मान ।—पद्याकर ।

मुद्र-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अवधि । जैसे,—इस हुंडी की मुद्रत पूरी हो गई है ।

मुद्रा०—मुद्रत काटना = थोक माल का मूल्य अवधि से पहले देने पर अवधि के बाकी दिनों का सूद काटना । (कोठीवाला) (२) बहुत दिन । अरसा । जैसे,—बाद मुद्रत के आज आपकी शक्ति दिखाई दी है ।

मुद्रती-वि० [सं०] मुद्रत + ई (प्रत्य०) । वह जिसके साथ कोई मुद्रत लगी हो । वह जिसमें कोई अवधि हो । जैसे,—मुद्रती हुंडी = वह हुंडी जिसका रुपया कुछ निश्चित समय पर देना पड़े ।

मुद्राश्लेह-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके ऊपर कोई दावा किया जाय । वह जिस पर कोई मुकदमा चलाया गया हो । प्रतिवादी ।

मुद्राश्लेह-संज्ञा पुं० दे० “मुद्राश्लेह” ।

मुद्र-वि० दे० “मुद्र” ।

मुद्रण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी चीज पर अक्षर भादि अंकित करना । छपाई । (२) उप्पे आदि की सहायता से अंकित करके मुद्रा तैयार करना । (३) ठीक तरह से काम चलाने के लिये नियम आदि बनाना और लगाना ।

मुद्रणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अँगूठी ।

मुद्रणालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ किसी प्रकार का मुद्रण होता हो । (२) छापाखाना । प्रेस ।

मुद्रांक-संज्ञा पुं० [सं०] मुद्रा पर का चिह्न ।

मुद्रांकन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि०] मुद्रांकित । (१) किसी प्रकार की मुद्रा की सहायता से अंकित करने का काम । (२) छापने का काम । छपाई ।

मुद्रांकित-वि० [सं०] (१) मोहर किया हुआ (२) जिसके शरीर पर विष्णु के आयुध के चिह्न गरम होदे से दागकर बनाए गए हों । (विष्णु)

मुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी के नाम की छाप । मोहर ।

उ०—मुद्रित ससुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै, आई दिंसि दसो जीति सेना रघुनाथ की ।—केदार । (२) रुपया, अक्षरही आदि । सिक्का । (३) अँगूठी । छाप । छटा ।

उ०—यनवर कौन देत तैं आयो । कहैं ये राम कहैं ये लछिमन क्यों करि मुद्रा पायो ।—सूर । (४) दाहप से छपे हुए अक्षर । (५) मोरक्षरंथी सायुधों के पहनने का एक कर्मभूषण जो प्रायः काँच या स्फटिक का होता है । यह कान की छी के बीच में एक बड़ा छेद करके पहना जाता है ।

उ०—(क) श्यां मुद्रा कनकरपर है करिहीं जोगिन भेस ।—सूर । (ख) भसम लगाईं गात चंदन उतारों तात, कुंठल उतारों मुद्रा कान पहिराय चीं ।—दत्तमान । (४) हाथ, पाँव, आँख, मुँह, गर्दन आदि की कोई स्थिति । (७)

घटने, छेदने या खड़े होने का कोई दंग । अंगों की कोई स्थिति । (८) चेहरे का दंग । मुख की आकृति । मुख की चेष्टा । उ०—मायावती अकेले इस याग में टहल रही थी और एक ऐसी मुद्रा बनाये हुए थी, जिससे मालूम होता था कि यह किसी बड़े गंभीर विचार में मग्न है ।—मालकृष्ण भट्ट । (९) पिप्पु के आयुषों के चिह्न जो प्रायः भक्त लोग अपने शरीर पर तिलक आदि के रूप में अंकित करते हैं या गरम लोहे से दगाते हैं । (जैसे,—शंख, चक्र, गदा आदि के चिह्न ।) छाप । (१०) तांत्रिकों के अनुसार कोई भूना हुआ भक्त । (११) तंत्र में उँगलियों आदि की अनेक रूपों की स्थिति जो किसी देवता के पूजन में बनाई जाती है । जैसे,—धेनु मुद्रा, योनि मुद्रा । (१२) हठ योग में विशेष अंगविन्यास । ये मुद्राएँ पाँच होती हैं । यथा—लेचरी, भूचरी, चाचरी, गोचरी और उन्मुनी । (१३) भगवत् प्रपि की स्त्री, लोपामुद्रा । (१४) वह अलंकार जिसमें प्रकृत या प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त पद्य में कुछ और भी सामिप्राय नाम निकलते हैं । यथा—कत छपदेयत ओ गये सोन खुही निरि सैन । जेहि चंपकवरनी किये गुल अनाद दंग नैन ।—विहारी । (इस पद्य में प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त 'मोगरा' 'सोनखुही' 'चंपक' इत्यादि फूलों के नाम भी निकलते हैं ।)

मुद्राकर-छंदा सी० [सं०] (१) राज्य का वह प्रधान अधिकारी जिसके अधिकार में राजा की मोहर रहती है । (२) वह जो किसी प्रकार की मुद्रा तैयार करता हो । (३) वह जो किसी प्रकार के मुद्रण का काम करता हो ।

मुद्रा फागड़डा-छंदा पु० [सं०] एक प्रकार का राग जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं ।

मुद्राक्षर-छंदा पु० [सं०] (१) वह अक्षर जिसका उपयोग किसी प्रकार के मुद्रण के लिये होता हो । (२) सीते के दले हुए अक्षर जो छापने के काम में आते हैं । टाहप ।

मुद्रा टोरी-छंदा सी० [सं०] एक प्रकार की रागिनी जिसके गाने में सब कोमल स्वर लगते हैं ।

मुद्रा तत्त्व-छंदा पु० [सं०] वह शास्त्र जिसके अनुसार किसी देश के पुराने सिद्धांतों आदि की सहायता से उस देश की ऐतिहासिक बातें जानी जाती हैं ।

मुद्रायल-छंदा पु० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संस्था का नाम ।

मुद्रामार्ग-छंदा पु० [सं०] मस्तक के भीतर का वह स्थान जहाँ प्राणवायु चवती है । मद्गरंघ्र ।

मुद्राबंध-छंदा पु० [सं०] छापने या मुद्रण करने का यंत्र । छापे आदि की कल ।

मुद्राविह्वान-छंदा पु० दे० "मुद्रा तत्त्व" ।

मुद्रा शास्त्र-छंदा पु० दे० "मुद्रा तत्त्व" ।

मुद्रिक-छंदा सी० दे० "मुद्रिका" । उ०—कर कंकग के पुर मनो हर दोत मोद मुद्रिक न्यारी ।—मुलसी ।

मुद्रिका-छंदा सी० [सं०] (१) अँगूठी । उ०—टीर पाह पान-धुव डारि मुद्रिका दई ।—कैदाय । (२) डरा की बनी हुई अँगूठी जो पित्त-कार्य में अनामिका में पहनी जाती है । पवित्री । पैंती । उ०—पहिरि दर्म मुद्रिका सुमरी । समिप अनेक लोन्ह कर स्त्री ।—मधुसूदन । (३) मुद्रा । सिक्का । रुपया । उ०—भरसी पैजय संत सब वहे सकोपित धन । उग उगि लीन्ही मुद्रिका चढ्यो मारि तेहि छेन ।—रघुनाथ ।

मुद्रित-वि० [सं०] (१) मुद्रण किया हुआ । अंकित किया हुआ । छपा हुआ । (२) मुँदा हुआ । बंद । उ०—(क) नासिका अग्र की ओर दिये अर्ध-मुद्रित लोचन कोर समन्वित ।—देव । (ख) राजिव दल हंसीवर सतदल कमल कुसेसे जाति । निशि मुद्रित प्रातर्हि वे विगसत वे गिगसत दिन राति ।—सूर । (ग) नील कंज मुद्रित निहार विपमान मानु, सिंधु मकरंदहि अलिंद पान करिगो । (४) ल्याग हुआ । छोड़ा हुआ ।

मुधा-कि० वि० [सं०] स्पर्ध । दृधा । वैकायदा । उ०—(क) यह सब जायबक कहि राखा । देवि न होइ मुधा गुनि भाया ।—मुलसी । (ख) तेहि वहाँ पिय पुनि पुनि न करइ । मुधा सान समता मद बहइ ।—मुलसी । वि० (१) स्पर्ध का । निष्प्रयोजन । (२) असह्य । निष्ठा । शत्रु । उ०—मुधा भेद जगपि कृत माया ।—मुलसी । छंदा पु० असह्य । निष्ठा । उ०—मृतल माँहि बली सार । रात जो भूपन भापत शत्रु मुधा को ।—भूपन ।

मुनका-छंदा पु० [प्र० नि० सं० श्रद्धा] एक प्रकार की बरी किताबित या सूत्रा हुआ अंगूर जो देयक होता और प्रायः दवा के काम में आता है । वि० दे० "अंगूर" ।

मुनगा १-छंदा पु० [सं० मधुरंजन, वा देत०] सहिजन । **मुनव्यतकारी-छंदा की०** [प्र०] परतों पर उतरे हुए बेल-पत्तों का काम ।

मुनमुना-छंदा पु० [देत०] मैदे का बना हुआ एक प्रकार का पकवान, जो रस्सी की तरह बद्ध रहता जाता है ।

मुनरा १-छंदा पु० [सं० मुद्रा] कान में पहनने का एक प्रकार का गहना जो कमाऊँ आदि पहाड़ी जिलों के निवासी पहनते हैं । यह अधिकतर छोटे का ही बनता है ।

मुनरी १-छंदा सी० दे० "मुँदरी" । **मुनादी-छंदा सी०** [प्र०] किसी बात की यह घोषणा जो कोई मनुष्य डुण्णी या बोल आदि पीठवा हुआ सारे शहर में करता पिते । डिबोरा । टुण्णी ।

मि० प्र०—करना ।—पिटवा ।—फिटना ।—पेरना ।—होना ।

मुनाफा-संज्ञा पुं० [भ०] किसी व्यापार आदि में प्राप्त वह धन जो मूल धन के अतिरिक्त होता है। लाभ। नफा। फायदा।
 क्रि० प्र०—उठाना।—करना। निकालना।—होना।
 मुनारा-संज्ञा पुं० दे० “मीनार”। ड०—भने रघुराज नव पल-वित मंत्रिका के, अमल अगारा हैं मुनारा हैं दुआरा हैं।—रघुराज।
 मुनासिब-वि० [भ०] उचित। योग्य। वाजिब। ठीक।
 मुनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मनन करे। ईश्वर, धर्म और सत्यासत्य आदि का सूक्ष्म विचार करनेवाला व्यक्ति। मनन-शील महात्मा। जैसे,—अंगिरा, पुलस्त्य, श्रुग, कर्दम, पंच-शिल आदि। (२) तपस्वी। त्यागी।
 यौ०—मुनिचर, मुनिपट = वस्त्र। मुनिघत = तपस्या।
 (३) सात की संख्या। ड०—तय प्रभु मुनि धर मारि गिराया। (४) जिन। (५) पियाल या पयार का वृक्ष। (६) पलाश का वृक्ष। (७) आठ वसुओं के अंतर्गत आप नामक वसु के पुत्र का नाम। (८) क्रीच द्वीप के एक देश का नाम। (९) छुतिमान के सय से बड़े पुत्र का नाम। (१०) कुरु के एक पुत्र का नाम। (११) दौना। दमनक। संज्ञा स्त्री० दक्ष की एक कन्या जो कन्यप की सय से बड़ी थी थी।
 मुनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मी का छुप।
 मुनिच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] मेघी।
 मुनितरु-संज्ञा पुं० [सं०] बकम। पतंग।
 मुनिद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्योनाक वृक्ष। (२) बकम। पतंग।
 मुनिधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] तिथी का चावल। तिनी।
 मुनिपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दौना। दमनक।
 मुनिपादप-संज्ञा पुं० [सं०] बकम। पतंग।
 मुनिपिल्ल-संज्ञा पुं० [सं०] तौंवा।
 मुनिपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दमनक। दौना।
 मुनिपुत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] संजन पक्षी।
 मुनिपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार का फूल।
 मुनिप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का धान्य जिसे पक्षि-राज भी कहते हैं। (२) विंध्यज्वर। (३) बिरोजे का पेड़। पियार।
 मुनिमक्त-संज्ञा पुं० [सं०] तिथी का चावल। तिनी।
 मुनिमयज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगस्त का फूल। (२) हड़। हरे। (३) लंपन। उपवास।
 मुनिमोजन-संज्ञा पुं० [सं०] तिथी का चावल। तिनी।
 मुनियों-संज्ञा स्त्री० [सं०] छाल नामक पक्षी की मादा। ड०—
 छंद वें क्षपति गहि आनी प्रेम सीजरा में, छाल मुनियों ज्यों
 गुण छाल गहि सागो है।—देव।

संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है।
 मुनिवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुंडरीक वृक्ष। पुंडरिया। (२) दौना।
 मुनिवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार। पियासाल।
 मुनिवीर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग के विश्वदेवा आदि देवताओं के अंतर्गत एक देवता।
 मुनिवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बकम। पतंग।
 मुनिशख-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद कुश। सफेद दाम।
 मुनिसत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ का नाम।
 मुनिमुत्त-संज्ञा पुं० [सं०] दौना।
 मुनिमुवत-संज्ञा पुं० [सं०] मैनीयों के एक तीर्थकर का नाम।
 मुनिहत-संज्ञा पुं० [सं०] राजा मुष्यमित्र की एक उपाधि।
 मुनीन्द्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुद्धदेव का एक नाम। (२) पुराण-नुसार एक दानव का नाम।
 मुनी-संज्ञा पुं० दे० “मुनि”।
 मुनीध-संज्ञा पुं० दे० “मुनीम”।
 मुनीम-संज्ञा पुं० [भ०] मुनीय = नायब रखनेवाला। (१) नायब। मददगार। सहायक। (२) साहूकारों का हिसाब-किताब लिखनेवाला।
 यौ०—मुनीमखाना = वह स्थान जहाँ किसी कोठी के हिसाब-किताब लिखनेवाले मुनीम बैठकर काम करें।
 मुनीश, मुनीश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुनियों में श्रेष्ठ। (२) बुद्धदेव का एक नाम। (३) विष्णु।
 मुन्ना-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटी के लिये प्रेमसूचक शब्द। प्रिय। प्यारा। ड०—मुन्ना! मैंने तो यह कहा था कि इस मिट्टी के मोर को देख।—छद्मगसिंह। (२) तारफशी के कारखाने के वे दोनों खैंटे जिनमें जंता लगा रहता है।
 मुन्त-संज्ञा पुं० दे० “मुन्ना”।
 मुन्यध-संज्ञा पुं० [सं०] मुनियों के खाने का भक्ष। जैसे,—
 तिथी का चावल आदि।
 मुन्ययन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ।
 मुन्यालय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम।
 मुफलिस-वि० [भ०] धनहीन। निर्धन। दरिद्र। गरीब।
 मुफलिसी-संज्ञा स्त्री० [भ०] गरीबी। निर्धनता। दरिद्रता।
 मुफसिद-संज्ञा पुं० [भ०] वह जो फसाद पढ़ा करे। क्षण्ड या फसाद करनेवाला आदमी।
 मुफस्सल-वि० [भ०] वह जिसकी तफ़सील भी गई हो। व्योरेवार। विरल।
 संज्ञा पुं० किसी केंद्रस्थ नगर के चारों ओर के कुछ दूर के स्थान। जैसे,—मुफस्सल से कई तरह की खेपें आ रही हैं।
 मुफीद-वि० [भ०] फायदेमंद। लाभकारी। लाभदायक।

येठने, लेठने या लंठे होने का कोई ढंग । अंगों की कोई स्थिति । (८) चेहरे का ढंग । मुख की अकृति । मुख की चेष्टा । उ०—भायायती अकेले इस बाग में टहल रही थी और एक ऐसी मुद्रा बनाये हुए थी, जिससे मालूम होता था कि यह किसी बड़े गंभीर विचार में मग्न है ।—बालकृष्ण भट । (९) विष्णु के आशुओं के चिह्न जो प्रायः मत्त लोग अपने शरीर पर तिलक आदि ने रूप में अंकित करते हैं या गरम लोहे से दगते हैं । (जैसे,—घाँस, चक्र, गदा आदि के चिह्न ।) छाप । (१०) तांत्रिकों के अनुसार कोई भूना हुआ अक्ष । (११) संज्ञ में उँगलियों आदि की अनेक रूपों की स्थिति जो किसी देवता के पूजन में बनाई जाती है । जैसे,—धेनु मुद्रा, मोनि मुद्रा । (१२) हठ योग में विशेष अंगविन्यास । ये मुद्राएँ पाँच होती हैं । यथा—लेचरी, भूचरी, चाचरी, गोचरी और उनमुनी । (१३) अगस्त्य ऋषि की कबी, खोपामुद्रा । (१४) यह अलंकार जिसमें प्रकृत या प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त पद्य में कुछ और भी सामिप्राय नाम निकलते हैं । यथा—कत लपटैयत मो गये सोन लुही निशि सैन । जेहि चंपकवरनी किये गुल अनार रंग नैन ।—विहारी । (इस पद्य में प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त 'मोगरा' 'सोनहरी' 'चंपक' इत्यादि फूलों के नाम भी निकलते हैं ।)

मुद्राकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राग्य का यह प्रधान अधिकारी जिसके अधिकार में राजा की मोहर रहती है । (२) वह जो किसी प्रकार की मुद्रा तैयार करता हो । (३) वह जो किसी प्रकार के मुद्रण का काम करता हो ।

मुद्रा कान्हड़ा-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का राग जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं ।

मुद्राक्षर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यह अक्षर जिसका उपयोग किसी प्रकार के मुद्रण के लिये होता हो । (२) सीसे के डले हुए अक्षर जो छापने के काम में आते हैं । दाढ़प ।

मुद्रा क्षोरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की राखिनी जिसके गाने में सब कोमल स्वर लगते हैं ।

मुद्रा तरय-संज्ञा पुं० [सं०] यह शास्त्र जिसके अनुसार किसी देश के पुराने सिक्कों आदि की सहायता से उस देश की ऐतिहासिक बातें जानी जाती हैं ।

मुद्रायल-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संस्था का नाम ।

मुद्रामार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] मस्तर के भीतर का वह स्थान जहाँ मागवायु चढ़ती है । प्रहरंभ ।

मुद्रापंच-संज्ञा पुं० [सं०] छापने या मुद्रण करने का पंच । छापे आदि की कल ।

मुद्राविहान-संज्ञा पुं० दे० "मुद्रा तप" ।

मुद्रा शास्त्र-संज्ञा पुं० दे० "मुद्रा तप" ।

मुद्रिक-संज्ञा स्त्री० दे० "मुद्रिका" । उ०—कर कंकण केयूर मनोहर दोत मोद मुद्रिक न्यारी ।—तुलसी ।

मुद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अँगूठी । उ०—और पाद पौन पुत्र टारि मुद्रिका दर्द ।—केशव । (२) कुत्ता की बनी हुई अँगूठी जो पितृ-कार्य में अनामिका में पहनी जाती है । पवित्री । पेंती । उ०—पहिरि दर्भ मुद्रिका सुभूरी । समिप अनेक स्त्रीहर कर स्त्री ।—मधुसूदन । (३) मुद्रा । सिक्का । रुपया । उ०—नरसी-पै-जय संत सय बहे सकोपित बन । ठग ठगि स्त्रीन्ही मुद्रिका चल्तो मारि सेहि छैन ।—रघुराज ।

मुद्रित-वि० [सं०] (१) मुद्रण किया हुआ । अंकित किया हुआ । छपा हुआ । (२) मुँदा हुआ । बंद । उ०—(क) नासिका अग्र की ओर दिये अध-मुद्रित लोचन कोर सम-पित ।—देव । (ख) राजिय दल इंदीवर सतदल कमल कुसेसै जाति । निशि मुद्रित प्रार्तिहि ये विगसंत ये विगलत दिन राति ।—सूर । (ग) नील कंठ मुद्रित निहार विप्रमान भाव, सिंधु मकरंदहि अलिंद पान करिगो । (३) ब्याग हुआ । छोड़ा हुआ ।

मुधा-किं० वि० [सं०] व्यर्थ । व्यथा । बेफायदा । उ०—(क) यह सब जगम्बदक कहि राख । वेपि न होइ मुधा मुनि भाष ।—तुलसी । (ख) सेहि कहैं पिय मुनि पुनि न कहइ । मुधा सान ममता मद यहहू ।—तुलसी ।

वि० (१) व्यर्थ का । निष्प्रयोजन । (२) असत्य । मिथ्या । शब्द । उ०—मुधा भेद जयपि हृत माया ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० असत्य । मिथ्या । उ०—भूगल मर्दि बली तिर राज भो भूजन भाषत शत्रु मुधा को ।—भूपण ।

मुनका-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की बड़ी किरामिस या सूता हुआ अंगूर जो रेषक होता और माया दया के काम में आता है । वि० दे० "अंगूर" ।

मुनगा १-संज्ञा पुं० [सं०] मधुपूजन का देश । सहिजन ।

मुनव्यतफारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पर्याप्त पर । उमरे हुए बेल-पत्तों का काम ।

मुनमुना-संज्ञा पुं० [सं०] मैद को चना हुआ एक प्रकार का पकवान, जो रस्सी की तरह बटकर छाना जाता है ।

मुनरा १-संज्ञा पुं० [सं०] मुद्रा । कान्त में पहनने का एक प्रकार का गहना जो कमाई आदि पद्माक्षी जिलों के निवासी पहनते हैं । यह अधिकतर छोटे वा हाँ बनता है ।

मुनरी १-संज्ञा स्त्री० दे० "मुँदरी" ।

मुनादी-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी बात की यह घोषणा जो कोई मनुष्य दुगगी या बोल आदि पीठता हुआ सारे शहर में करता फिरे । दिवोरा । दुगगी ।

क्रि० प्र०—करना ।—पिटना ।—फिरना ।—पेटना ।—होना ।

मुनाफा-संज्ञा पुं० [अ०] किसी व्यापार आदि में प्राप्त वह धन जो मूल धन के अतिरिक्त होता है। लाभ। नफा। फायदा।
कि० प्र०—उठाना।—करना। निकालना।—होना।

मुनारा-संज्ञा पुं० दे० “मीनार”। उ०—भनै रघुराज नव पल-
वित मलिका के, अमल अगारा हैं मुनारा हैं दुआरा हैं।—
रघुराज।

मुनासिब-वि० [अ०] उचित। योग्य। वाजिब। ठीक।

मुनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यह जो मनन करे। ईश्वर, धर्म और
सत्वास्त्व आदि का सूक्ष्म विचार करनेवाला व्यक्ति। मनन-
शील महात्मा। जैसे,—अंगिरा, पुलस्त्य, श्वश्रु, कर्दम, पंच-
शिख आदि। (२) तपस्वी। त्यागी।

यौ०—मुनिवीर, मुनिपट = परकल, मुनिमत = तपस्या।

(३) सात की संख्या। उ०—तय प्रभु मुनि शर मारि
गिरावा। (४) जिन। (५) पिवाल या पयार का वृक्ष।
(६) पलास का वृक्ष। (७) आठ वसुओं के अंतर्गत आप
नामक वसु के पुत्र का नाम। (८) कौच द्वीप के एक देश
का नाम। (९) मुत्तमान के सभ से बड़े पुत्र का नाम।
(१०) कुल के एक पुत्र का नाम। (११) दौना। दमनक।
संज्ञा स्त्री० वक्ष की एक कन्या जो कदयप की सब से बड़ी
की थी।

मुनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मी का शुभ।

मुनिच्छुद-संज्ञा पुं० [सं०] मेयी।

मुनितरु-संज्ञा पुं० [सं०] बकम। पतंग।

मुनिद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्योनाक वृक्ष। (२) बकम।
पतंग।

मुनिधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] तिथी का चावल। तिनी।

मुनिपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दौना। दमनक।

मुनिपादप-संज्ञा पुं० [सं०] बकम। पतंग।

मुनिपिल्ल-संज्ञा पुं० [सं०] तौषा।

मुनिपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दमनक। दौना।

मुनिपुत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] संजन पक्षी।

मुनिपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार का फूल।

मुनिमिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का धान्य जिसे पक्षि-
राज भी कहते हैं। (२) पिंजलगूर। (३) बिरोजे का पेड़।
चियार।

मुनिमक-संज्ञा पुं० [सं०] तिथी का चावल। तिनी।

मुनिभेषज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनास का फूल। (२) हड़।
हरें। (३) लंघन। उपवास।

मुनिभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] तिथी का चावल। तिनी।

मुनियों-संज्ञा स्त्री० [देश०] खाल नामक पक्षी की मादा। उ०—
हृद से हृपटि यदि आनी प्रेम रीजता में, खाल मुनियों ज्यों
गुण खाल गाहि लागी है।—देव।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार
होता है।

मुनिवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुंडरीक वृक्ष। पुंडरिया। (२)
दौना।

मुनिवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार। पियासाल।

मुनिवीर्य-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग के विरवेदेवा आदि देवताओं
के अंतर्गत एक देवता।

मुनिवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बकम। पतंग।

मुनिशख-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद कुशा। सफेद दाम।

मुनिसत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ का नाम।

मुनिस्त-संज्ञा पुं० [सं०] दौना।

मुनिस्तवत-संज्ञा पुं० [सं०] अग्निओं के एक तीर्थकार का नाम।

मुनिहत-संज्ञा पुं० [सं०] राजा पुष्पमित्र की एक उपधि।

मुनींद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुद्धदेव का एक नाम। (२) पुराणा-
नुसार एक दानव का नाम।

मुनी-संज्ञा पुं० दे० “मुनि”।

मुनीव-संज्ञा पुं० दे० “मुनीम”।

मुनीम-संज्ञा पुं० [अ० मुनीव = नायव रखनेवाला] (१) नायव।
मददगार। सहायक। (२) साहूकारों का हिसाब-किताब
लिखनेवाला।

यौ०—मुनीमखाना = वह स्थान जहाँ किसी कोठी के हिसाब-किताब
लिखनेवाले मुनीम बैठकर काम करें।

मुनीश, मुनीश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुनियों में श्रेष्ठ।
(२) बुद्धदेव का एक नाम। (३) विष्णु।

मुन्ना-संज्ञा पुं० [देश०] (१) छोटों के लिये प्रेमसूचक शब्द।
प्रिय। प्यारा। उ०—मुन्ना! मैंने तो यह कहा था कि इस
मिट्टी के मोर को देख।—लक्ष्मणसिंह। (२) तारकनी के
कारखाने के वे दोनों खंटे जिनमें जंता लगा रहता है।

मुन्ने-संज्ञा पुं० दे० “मुन्ना”।

मुन्यश-संज्ञा पुं० [सं०] मुनियों के राने का अन्न। जैसे,—
तिथी का चावल आदि।

मुन्ययन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ।

मुन्यालय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मुफ्तिस-वि० [अ०] घनहीन। निर्घन। द्रिष्ट। गरीब।

मुफ्तिली-संज्ञा स्त्री० [अ०] गरीबी। निर्धनता। दरिद्रता।

मुफ्तिलिद-संज्ञा पुं० [अ०] यह जो फसाद रखा करे। शगदा या
फसाद करनेवाला आदमी।

मुफ्तसल-वि० [अ०] यह जिसकी तफ्तील भी गई हो।
ज्योरेवार। विरघ्न।

संज्ञा पुं० किसी केंद्रस्थ नगर के चारों ओर के कुछ दूर के
स्थान। जैसे,—मुफ्तसल मे बड़े तरह की मुररें भा रही हैं।

मुफ्फाद-वि० [अ०] क्रोधमंद। खामोशी। खामोश।

मुक्त-वि० [अ०] जिसमें कुछ मूल्य न लगे। बिना दाम का।
संत का।

यौ०—मुफ्तखोर = वह व्यक्ति जो दूसरों के भन पर मुफ्त-भोग करे।
मुक्त का मत खानेवाला।

मुहूर्त०—मुफ्त में = (१) बिना दाम के। बिना मूल्यदिए या लिए।
जैसे—यह घड़ी मुझे मुफ्त में मिली। (२) व्यर्थ। बेमूल्य।
निष्प्रयोजन। जैसे,—(क) मुफ्त में उसकी जान गई। (ख)
मुफ्त में क्यों हिरान होते हो!

मुस्ली-बंशा पुं० [अ०] धर्म-शास्त्री।

वि० [अ० मुक्त + ई (प्रत्य०)] जो बिना दाम दिए मिला
हो। मुफ्त का।

मुयतिला-वि० [अ० मुयतिला] पकड़ा हुआ। फँसा हुआ। प्रस्त। घृहीत।
विशेष—इस शब्द का व्यवहार प्रायः रोग, विपत्ति आदि के
संबंध में ही होता है। जैसे,—(क) ये कई दिनों से सुखार
में मुयतिला हैं। (ख) मैं भी आजकल एक आफत में
मुयतिला हो गया हूँ।

मुयादिला-बंशा पुं० [अ०] बदला। पलटा। एवज।

मुयारक-वि० [अ०] (१) जिसके कारण वरकत हो। (२) शुभ।
मंगलप्रद। मंगलमय। नेक। अच्छा।

मुयारकवादी-बंशा पुं० [अ० मुयारक + वा० वाद] कोई शुभ बात
होने पर यह कहना कि "मुयारक हो"। बधाई।

क्रि० प्र०—देना—पाना।—मिलना।

मुयारकवादी-बंशा स्त्री० [अ० मुयारक + वा० वादी] (१)
"मुयारक" कहने की क्रिया। बधाई। (२) वे गीत आदि
जो शुभ अवसरों पर बधाई देने के लिये गाए जायें।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।

मुयारकी-बंशा स्त्री० दे० "मुयारकवादी"।

मुयालिगा-बंशा पुं० [अ०] बहुत बढ़ाकर कही हुई बात।
लंबी-चौड़ी बात। अलुकि।

मुंयाहिंसा-बंशा पुं० [अ०] किसी विषय के निर्णय के लिये
होनेवाला विवाद। बहस।

मुमकिन-वि० [अ०] जो हो सकता हो। संभव।

मुमतहिन-बंशा पुं० [अ०] इम्तहान देनेवाला। परीक्षा देने-
वाला। परीक्षक।

मुमुत्ता-बंशा स्त्री० [सं०] मुक्ति की इच्छा। मोक्ष की अभिलाषा।

मुमुत्तु-वि० [सं०] मुक्ति पाने का इच्छुक। मोक्ष का अभिलाषी।
जो मुक्ति की कामना करता हो।

मुमुत्तुना-बंशा स्त्री० [सं०] मुमुत्तु का भाव या धर्म।

मुमुत्तान-बंशा पुं० [सं०] (१) वह जो मुक्त हो गया हो। वह
निरत मोक्ष हो गया हो। (२) मेघ। शब्द।

ममुर्पा-बंशा स्त्री० [सं०] शत्रु की अभिलाषा। मरने की इच्छा।

मुमुर्पु-वि० [सं०] जो मरने के समीप हो। जो मर रहा हो।
आसन्न-शत्रु।

मुयस्सर-वि० दे० "मयस्सर"।

मुरंगिका-बंशा स्त्री० [सं०] मूर्ख।

मुरंडा-बंशा पुं० [देश०] भूते हुए गमगात्र गेहूँ में गुद मिला-
कर बनाया हुआ लड्डू। गुद-धानी। उ०—(क) अठर दूरी
के मुरंडा बॉंधे। जो सँधान यह भौलिन साथे।—जायसी।
(ख) पुनि सँधान 'भाने' बहु सौंधी। दूध दही के मुरंडा
बॉंधी।—जायसी।

मुहा०—मुरंडा करना = (१) गठरी सा बना देना। समेट कर
सज्ज सा कर देना। (२) भून बनाना। (३) श्रुत मारना-देना।
(४) मोह लेना। मृग्य कर लेना। भ्रमिल बन लेना।

वि० सूजा हुआ। शुष्क।

मुहा०—मुरंडा होना = (१) सूख कर काँटा हो जाना। जैसे,—
चार दिन की मेहनत में मुरंडा हो गए। (२) मृग्य होना।
मोहित होना।

मुरंदला-बंशा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी का एक नाम।

मुरंदा-बंशा पुं० दे० "मुरंदा"।

मुर-बंशा पुं० [सं०] (१) बेघन। बेघन। (२) एक देव जिसे
विष्णु ने मारा था और जिसे मारने के कारण उनका नाम
'मुरारि' पड़ा। उ०—मयूकंदम मयन मुर-भौम केशी-निधन
कंस-कुल-काल अनुसाल हारी।—सूर।
ब्रह्म० फिर। दोषांतर।

मुरं १-बंशा स्त्री० दे० "मूली"।

मुरक-बंशा स्त्री० [हिं० मुरकना] मुरकने की क्रिया या भाव।

मुरकना-क्रि० अ० [हिं० मुरना] (१) लचककर किसी ओर
झुकना। मुदना। (२) किरना। घूमना। (३) छोटना।
घाबरना होना। फिर जाना। (४) किसी अंग का झटके आदि के
कारण किसी ओर तन जाना। किसी अंग का किसी ओर
इस प्रकार मुड़ जाना कि जल्दी सीधा न हो। मोच खाना।
जैसे,—बॉह मुरकना, कलह मुरकना। (५) हिचकना।
रुकना। उ०—सोचन भरी भरी दोह 'माता के कनपेन
देखत जिय मुरकी।—सूर। (६) विनम्र होना। पीठ
होना। उ०—साहि शय महा पाहु सिबाजी सलह निन
कौन पातसाह की न पातसाही मुरकी।—सूरग।

मुरका-बंशा पुं० [देश०] (१) बहुत ऊँचा और बड़े बड़े हल्ल-
वाला सुंदर हाथी। (२) गदरियों का भोज जो वे अपनी
बिरादरी को देते हैं।

मुरकाना-क्रि० अ० [हिं० मुरकना का सं० रूप] (१) घेरना।
घुमाना। (२) छोटाना। घुमाना। घाबरना। (३)
किसी अंग में मोच खाना। (४) नम्र करना। पीठ करना।

मुरकी-पंशा की० [हि० मुरकना = घुसना] कान में पहनने की छोटी पाली ।

मुरकुल-पंशा की० [देश०] एक प्रकार की लता जो हिमालय में होती है और शिकिम तक पाई जाती है । इसकी शाखाओं में से एक प्रकार का रेशा निकलता है जिससे रस्सियाँ आदि बनाई जाती हैं । इसे 'देरी' भी कहते हैं ।

मुरखारि-पंशा की० [सं० मूर्ख + आरे (प्रत्य०)] मूर्खता । बेवकूफी । अज्ञता । उ०—तपु करति हर-हित सुनि विहंसि यह कहत मुरखारि महार ।—तुलसी ।

मुरगा-पंशा पुं० [का० मृग] [की० मुरगी] (१) एक प्रसिद्ध पक्षी जो सज्जेद, पीले आदि कई रंगों का और खड़ा होने पर प्रायः एक हाथ से कुछ कम ऊँचा होता है । इसके नर के सिर पर एक कलगी होती है । यह अपनी शानदार चाल और प्रमात के समय "कुहूँ हूँ" बोलने के लिये प्रसिद्ध है । यह प्रायः घरों में पाला जाता है । लोग इसे लड़ते और इसका मांस भी खाते हैं । इसके बच्चे को चूड़ा कहते हैं । (२) पक्षी । चिड़िया ।

पंशा की० दे० "मृग" ।

मुरगायी-पंशा की० [का०] मुरग की जाति का एक पक्षी जो जल में तैरता और मछलियाँ पकड़कर खाता है । यह पानी के भीतर बहुत दूर तक गोता मारकर रह सकता है । इसके पर कीमल होते हैं और नर मादा दोनों प्रायः एक से ही होते हैं । जल-कुक्कुट । जल-मुरगा ।

मुरगाली-पंशा की० [सं० मुरगिणा] मृग ।

मुरचंग-पंशा पुं० [हि० मुरचंग] छोड़े का बना हुआ मुँह से बजाने का एक प्रकार का बाजा जिससे ताल देते हैं । मुँहचंग ।

मुहा०—मुरचंग झाड़ना = जानें करना । चैन करना । (ध्वंज्य)

मुरचा-पंशा पुं० दे० "मोरचा" ।

मुरची-पंशा पुं० [सं०] पश्चिम दिशा के एक देव का नाम ।

मुरछना छ-कि० प्र० [सं० मूर्च्छन] (१) निथिल होना । (२) अचेत होना । बेसुध होना । बेहोश होना । उ०—अधर दसनन भरे कठिन कुच उर छरे परे सुख सेव मन मुरछि दोख ।—सूर ।

मुरछल-पंशा पुं० दे० "मोरछल" ।

मुरछा-पंशा की० दे० "मूर्च्छा" ।

मुरछाना छ-कि० प्र० [सं० मूर्च्छा] अचेत होना । मूर्च्छित होना । बेहोश होना । उ०—चात मरन सुधि शयन कृपा-निधि परणि परे मुरछाई । मोह भगन खोचन चल धारा विपनि हृदय न समाई ।—सूर ।

मुरछावंत-वि० [सं० मूर्च्छा + वंत (प्रत्य०)] मूर्च्छित । बेहोश । अचेत । उ०—याम घुरंवर भी रघुराई । मुरछावंत भय मुनिराई ।—मधुसूदन ।

मुरछित छ-वि० दे० "मूर्च्छित" । उ०—जोगी अर्कटक भंग पति-गति सुनत रति मुरछित भई ।—तुलसी ।

मुरज-पंशा पुं० [सं०] मृदंग । पखावज । उ०—(क) कोउ मंछ मुरज अमोल बोलन तबल अमल अपार है ।—रघुराज । (ख) रुज मुरज बफ ताल बौसुरी झालर को झंकार ।—सूर ।

मुरजफल-पंशा पुं० [सं०] कटहल का वृक्ष ।

मुरजित-पंशा पुं० [सं०] मुर नामक राक्षस को जीतनेवाले, श्रीकृष्ण । मुरारि ।

मुरझाना-कि० प्र० [सं० मूर्च्छन] (१) फूल या पत्ती आदि का कुहलाना । सूखने पर होना । (२) सुस्त हो जाना । उदास होना । उ०—(क) गिरि मुरझाई दया आह कछु भाय भरे डर प्रभु ओर मति आनंद सों भीनी है ।—प्रिया-दास । (ख) सखी कुरंगिके, यह हिम-उपचार तो मुक्त कमल की लता को और भी मुरझा देगा ।—हरिश्चंद्र । (ग) देव मुरझाई उरमाल कछो दीप्ति मुरझाई बात पछी है ऐम की ।—देव ।

संयो० कि०—जाना ।

मुरझ-पंशा पुं० [हि०] गर्व । अभिमान । दुर्प । अहंकार ।

मुरझफी-पंशा की० दे० "मरोड़" ।

मुरतंगा-पंशा पुं० [देश०] एक प्रकार का ऊँचा पेड़ जिसके हीरे की लकड़ी लाल और कड़ी होती है और जिससे सजावट के सामान बनाए जाते हैं । यह पेड़ आसाम, बंगाल और बर्मा में अधिकतर से पाया जाता है ।

मुरतहिन-पंशा पुं० [प्र०] वह जिसके पास कोई पसु रहन या गिरों रखी जाय । जिसके पास बंधक रखा जाय । रहनदार ।

मुरता-पंशा पुं० [देश०] एक प्रकार का जंगली झाड़ जो पूर्वी बंगाल और आसाम में होता है । इससे प्रायः चटाई या सीतलपाटी बनाई जाती है ।

मुरदर-पंशा पुं० [सं०] मुरारि । श्रीकृष्ण । उ०—गिरि मुरदर तकि अचुर कंध धरि धुनकर सराधुर ।—गोपाल ।

मुरदा-पंशा पुं० [प्र० मि० सं० मृतक] पड़ जो मर गया हो । मरा हुआ प्राणी । मृतक ।

मुहा०—मुरदा उठना = मर जाना । (गाली) जैसे,—उसका मुरदा उठे । मुरदा उठाना = मृतक को उठाकर जलाने या गाढ़ने आदि के लिये से जाना । भ्रंशित किया के लिये से जाना । मुरदे से शर्च बंधिकर सोना = बहुत अधिक सोना । मुरदे का माल = वह माल जिसका कोई धरिय न हो ।

वि० (१) मरा हुआ । मृत्यु को प्राप्त । मृत । (२) जो बहुत ही दुर्बल हो । जिसमें कुछ भी दम न हो । (३) मुरसाया हुआ । कुहलाया हुआ । जैसे,—मुरदा पान ।

मुरदार-वि० [प्र०] (१) अपनी मौत में मरा हुआ । मृत ।

सुरेखा-कि० सं० दे० "मरोद्व" ।

सुरेखा-संज्ञा पुं० (१) दे० "मुंवेरा" । (२) दे० "मरोद्व" ।

सुरेखा-संज्ञा पुं० [हि० सुरेखा] नाव की उंबाई में चारों ओर घूमी हुई गोद जो तीन चार इंच मोटे तख्तों से बनाई जाती है और "गुदा" के ऊपर रहती है ।

सुरोद्यत-संज्ञा स्त्री० दे० "सुरोद्यत" ।

सुरोद्यत-संज्ञा स्त्री० [सं० सुरोद्यत] (१) शील । संकोच । लिहाज ।

मुहा०—सुरोद्यत सोइना = रुतारों का व्यवहार करना । शील के विरुद्ध व्यवहार करना ।

(२) भलमनसी । आदमीयत ।

कि० प्र०—फरना ।—भरतना ।

सुर्य-संज्ञा पुं० दे० "सुरगा" ।

सुर्यकेश-संज्ञा पुं० [प्रा० सुर्य + केश (चोटी)] मरसे की जाति का एक पीचा जिसमें सुर्य की चोटी के से गहरे लाल रंग के चौड़े चौड़े फूल लगते हैं । इन्ने जटापारी भी कहते हैं ।

सुर्यलाना-संज्ञा पुं० [प्रा०] सुर्यों के रहने के लिये बनाया हुआ स्थान ।

सुर्यायी-संज्ञा पुं० दे० "सुरगायी" ।

सुर्या-संज्ञा पुं० दे० "मोरचा" ।

सुर्येकिय-वि० [सं०] अपराध करनेवाला । अपराधी । कसूरवार । मुजरिम ।

सुर्यनी-संज्ञा स्त्री० [का० सुर्यन = मरना + ई (प्रत्य०)] (१) आकृति का यह विकार जो मरने के समय अथवा मृत्यु के कारण होता है । मुख पर प्रकट होनेवाले मृत्यु के चिह्न ।

मुहा०—चेहरे पर सुर्यनी छाना या फिरना = (१) मुख पर मृत्यु के चिह्न प्रकट होना । (२) बहुत अधिक निराश या उदास होना ।

(२) शय के साथ उसकी अंत्येष्टि किया के लिये जाना ।

सुर्य के साथ उसे गाढ़ने या जलाने के स्थान तक जाना ।

(३) मृतक की अंत्येष्टि किया के लिये जानेवालों का समूह ।

कि० प्र०—में जाना ।

सुर्या-संज्ञा पुं० दे० "सुरदा" ।

सुर्यायली-संज्ञा स्त्री० दे० "सुर्यनी" ।

वि० मृतक के संबंध का । सुर्य के का ।

सुर्यासिंगी-संज्ञा पुं० दे० "सुरदासस" ।

सुर्युर-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कामदेव । (२) सूर्य के रथ के घोड़े । (३) मूसी की आग । गुणसि ।

सुर्या-संज्ञा पुं० [हि० मरोद्व या मुद्रना] (१) मरोद्वफली नाम की ओषधि । इसकी लता जंगलों में होती है । (२) पेट में पेटन होकर पतला भल निरुक्तता और बार बार दान होना । मरोद्व । (३) पेट का दर्द ।

संज्ञा स्त्री० [हि० मुद्रना] हिसार और दिल्ली आदि होनेवाली एक प्रकार की भैंस जिसके सांग छोटे, पंख पास पतले और ऊपर की ओर मुड़े हुए होते हैं । जाति की भैंसें और भैंसे दोनों बहुत अच्छे समझे जाते हैं ।

सुर्यातिसार-संज्ञा पुं० दे० "मरोद्व" ।

सुरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मुद्रना या मरोद्वना] (१) दो दोनों के रथ को आरप में जोड़ने की एक क्रिया जिसमें गठि का प्रयोग नहीं होता, केवल दोनों सिरों को मिलाकर मरोद्व या देते हैं । (२) कपड़े आदि में लपेटकर डाली हुई पेटन बल । जैसे,—चोरी की सुरी ।

मुहा०—सुरी देना = (१) कपड़ा फाड़ते समय बसके पड़े का को बगल में धुमाते या मोड़ते जाना जिसमें कपड़ा फिटाने में पड़े । (बगल) (२) धोनी को उठाने के लिये कपड़ों पर बल लपेटकर धुना सा बनाना ।

(३) कपड़े आदि को मरोद्वकर घड़ी मुड़े घसी ।

यौ०—सुरी का मैचा ।

(४) चिकन या कशीदी की कड़ाई का एक प्रकार जिसमें बड़े हुए सूत का व्यवहार होता है और जिसका काम उनासार होता है । (५) एक प्रकार की जंगली लकड़ी ।

सुरी का मैचा-संज्ञा पुं० [हि० सुरी + मैचा] एक प्रकार का मैचा जिसमें कपड़े की सुरी या घसी बनाकर कसकर लपेटे जाते हैं । यह देखने में उल्टी चीन ही की तरह जान पड़ती है । परंतु यस्तुतः बची होती है । इस बनावट का मैचा उतना हल्का नहीं होता । जहाँ कपड़ा सड़ता है, वहाँ से घसी टूटने लगती है । और बराबर सुधारी ही बन जाती है ।

सुरीदार-वि० [हि० सुरी + का० दार (प्रत्य०)] जिसमें सुरी बंधी हो । पेटनदार ।

सुर्या-संज्ञा पुं० [सं०] मरुज या गोरपका नाम का जंगली पीचा जिससे प्राचीन काल में प्रत्यंचा की रस्सी बनाई जाती थी । वि० दे० "गोरचर्रा" ।

सुर्या-वि० [सं०] घनुष की प्रत्यंचा ।

सुरिंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुर्याग पतानेवाला । मार्गदर्शक । (२) श्रेष्ठ । बड़ा । (३) उल्लास । चतुर । चालाक । होशियार । (४) राजा । नरलट । पूर्ण । (व्यंग्य) ।

मुलपद-संज्ञा पुं० दे० "मलक" । उ०—नय नागरी तन मुलक लहि जीवन आसिल जोर । धरि यदि मैं बहि धरि रमन करी और की और ।—बिहारी ।

मुलकना-कि० प्र० [सं० पुनर्जित] मंद मंद हँसना । मुलकित होना । नेत्रों में हँसी प्रकट करना । मुलकना । उ०—(क) पर-तिय कोय पुरान मुनि हँसि सुर्या मुगदनि । कसि करि राणी मिसरहू सुग आई मुमुकनि ।—मुलकना ।

मुसकान मिसरहू कस करि राखी । सर्व दोपहर राम नाम की कीर्ति भाषी । घातन ही चहराय और की और कथा क्रिय । सुकवि चतुर सब समुक्ति गण्ड लखि मुलकित परनिय ।—सुकवि । (ख) सकुचि सरकि पिय निकट तें मुलक कछुक तन तोरि । कर आँख की ओट करि जमुहानी मुख मोरि ।—विहारी । (ग) कवि देव कछु मुलकै पुलकै उरकै उर प्रेम कलोलनि पै ।—देव ।

मुलकी-वि० [प्र० मुक्त] (१) दे० “मुल्की” । (२) देसी । विलायती का उलटा । उ०—पॉति सिंध मुल्की सुरंगन के कुलकी विसाल देसी पुलकी सुबाल तैसी हुलकी ।—गोपाल ।

मुलज़िम-वि० [प्र०] जिसके ऊपर किसी प्रकार का इल्ज़ाम लगाया गया हो । जिस पर कोई अभियोग हो । अभियुक्त ।

मुलतबी-वि० [प्र० मुलतबी] जो कुछ समय के लिये रोक दिया गया हो । जिसका समय डाल दिया गया हो । स्थगित । जैसे,—(क) अब आज वहाँ का जाना मुलतबी रखिए । (ख) जलसा दो दिन के लिये मुलतबी हो गया ।

फि० प्र०—करना ।—रखना ।—रहना ।—होना ।

मुलतानी-वि० [हि० मुलतान (नगर)] मुलतान का । मुलतान संबंधी ।

सहा की० (१) एक रागिनी जिसमें गोपार और पैवत कोमल, शुद्ध निषाद और तीक्ष्ण मध्यम लगता है । इनके अतिरिक्त तीनों स्वर शुद्ध लगते हैं । शास्त्र में इसे श्रीराग की रागिनी कहा है और हनुमान के मत से यह दीपक राग की रागिनी है । इसके गाने का समय २१ से २४ बंद तक है । (२) एक प्रकार की बहुत कोमल और चिकनी मिट्टी जो मुलतान से आती है । इसका रंग यादामी होता है और यह प्रायः सिर मलने में साधुन की तरह काम में आती है । इससे सोनार लोग सोना भी साफ करते हैं और छीपी लोग इससे अनेक प्रकार के रंगों में अस्तर देते हैं । साधु आदि इससे कपड़ा रंगते हैं ।

मुदा०—मुलतानी करना = धीट धापने के पहले कपड़े को मुलतानी मिट्टी में रंगना ।

मुलतानी-संज्ञा पुं० [प्र० मौलाना] मौलवी । मुला । उ०—बाम्हन तें गद्गद भला आन देव तें छुत्ता । मुलना ते मुलगा भला सहर जगावे सुचा ।—कबीर ।

मुलमची-संज्ञा पुं० [हि० मुलम्मा + ची (प्रत्यय)] किसी चीज़ पर सोने या चाँदी आदि का मुलम्मा करनेवाला । गिळट करनेवाला । मुलम्मासाज़ ।

मुलम्मा-वि० [प्र०] (१) चमकना हुआ । (२) जिस पर सोना या चाँदी चढ़ाई गई हो । सोना या चाँदी चढ़ा हुआ ।

फेरा पुं० (१) वह सोना या चाँदी जो पत्तर के रूप में, पारे

या बिजली आदि की सहायता से, अथवा और किसी विशेष प्रक्रिया से किसी धातु पर चढ़ाया जाता है । किसी चीज़ पर चढ़ाई हुई सोने या चाँदी की पतली तह । गिळट । कलई । सोल ।

विशेष—साधारणतः मुलम्मा गरम और ठंडा दो प्रकार का होता है । जो मुलम्मा कुछ विविध क्रियाओं से आग की सहायता से चढ़ाया जाता है, वह गरम कहलाता है; और जो बिजली की बैटरी से अथवा और किसी प्रकार बिना आग की सहायता से चढ़ाया जाता है, वह ठंडा मुलम्मा कहलाता है । ठंडे की अपेक्षा गरम मुलम्मा अधिक स्थायी होता है ।

यौ०—मुलम्मासाज़ = मुलम्मा चढ़ानेवाला । मुलमची

(२) किसी पदार्थ, विशेषतः धातु आदि को चाँदी या सोने का दिया हुआ रूप ।

फि० प्र०—करना ।—चढ़ना ।—चढ़ाना ।—होना ।

(३) वह बाहरी मढ़कीला रूप जिसके अंदर कुछ भी न हो । ऊपरी तड़क-मढ़क ।

मुलम्मासाज़-संज्ञा पुं० [प्र० + सा०] किसी धातु पर सोना या चाँदी आदि चढ़ानेवाला । मुलम्मा करनेवाला । मुलमची ।

मुलहडी-संज्ञा स्त्री० दे० “मुल्हडी”

मुलहा-वि० [सं० मूल = नवध + हा (प्रत्यय)] (१) जिसका जन्म मूल नक्षत्र में हुआ हो । (२) उपजवी । शारत्सी । नटसट । उ०—उर में उलहे मुल्हे हूँ उठोन सरोज करे गुनदास के ।—सुंदरीसंबल ।

मुल्ला-संज्ञा पुं० [प्र० मुल्ला] मौलवी । मुला । उ०—आठ बाट थकरी गई मौल मुल्ला गण्ड लाय । अजहूँ खाल छट्टीक के निस्त कहाँ ते जाय ।—कबीर ।

मुलाक़ात-संज्ञा स्त्री० [प्र०] (१) आपस में मिलना । एक दूसरे का मिलना । भेंट । मिलन । (२) मेल-मिलाप । हेल-मेल । रन्त-जवै । (३) प्रसंग । रति-प्रीति ।

मुलाक़ाती-संज्ञा पुं० [प्र० मुलाक़ात + रे (प्रत्यय)] वह जिससे मुलाक़ात या जान पहचान हो । परिचित ।

मुलाज़िम-संज्ञा पुं० [प्र०] (१) पास रहनेवाला । प्रत्युत रहनेवाला । उपस्थित रहनेवाला । (२) नौकर । चाकर । सेवक । दास ।

मुलाज़िमत-संज्ञा स्त्री० [प्र०] सेवा । नौकरी । चाकारी ।

मुलायम-वि० दे० “मुलायम” ।

मुलायम-वि० [प्र०] (१) ‘सत्त्व’ का उलटा । जो कड़ा न हो । (२) नरम । हलका । मन्द । घीमा । टीला । जैसे,—आजकल सोने का बाज़ार मुलायम है । (३) नायक । सुन्दार । (४) जिसमें किसी प्रकार की कठोरता या

मुरेना†-कि० स० दे० "मरोदना" ।

मुरेना †-छंश पुं० (१) दे० "मुँरेना" । (२) दे० "मरोद" ।

मुरेना †-छंश पुं० [हि० मुरेना] नाव की लंबाई में चारों ओर घूमि हुई गोद जो तीन चार इंच मोटे तलों से बनाई जाती है और "गुद्दा" के ऊपर रहती है ।

मुरौवत-छंश स्त्री० दे० "मुरौवत" ।

मुरौवत-छंश स्त्री० [म० मुस्वत] (१) शील। संकोच । लिहाज ।

मुहा०—मुरौवत तोड़ना = रसार्द्र का व्यवहार करना । शील के विरुद्ध आचरण करना ।

(२) भलमनसी । आदमीवत ।

कि० प्र०—करना ।—भरतना ।

मुरां-छंश पुं० दे० "मुरगा" ।

मुरां-छंश पुं० [म० मुरां + फरा (चोटी)] मरसे की जाति का एक पीछा जिसमें मुरने की चोटी के से गहरे लाल रंग के चौड़े चौड़े कूल लगते हैं । इसे जटाधारी भी कहते हैं ।

मुरांजाना-छंश पुं० [म०] मुरां के रहने के लिये बनाया हुआ स्थान ।

मुरांगी-छंश पुं० दे० "मुरगाभी" ।

मुरां-छंश पुं० दे० "मोरचा" ।

मुरां-छंश पुं० [म०] अपराध करनेवाला । अपराधी । कसूरवार । मुजरिम ।

मुरां-छंश स्त्री० [म० मुरां = मरना + ई (प्रत्यय)] (१) आरुति का यह विकार जो मरने के समय अधया मृत्यु के कारण होता है । मुख पर प्रकट होनेवाले मृत्यु के चिह्न ।

मुहा०—चेहरे पर मुरां छाना या फिरना = (१) मुख पर मृत्यु के चिह्न प्रकट होना । (२) बहुत अधिक निराशा या उदास होना ।

(२) शय के साथ उसकी अंत्येष्टि क्रिया के लिये जाना ।

मुरां के साथ उसे गाढ़ने या अलाने के स्थान तक जाना ।

(३) मृतक की अंत्येष्टि क्रिया के लिये जानेवालों का समूह ।

कि० प्र०—में जाना ।

मुरां-छंश पुं० दे० "मुरदा" ।

मुरां-छंश स्त्री० दे० "मुरां" ।

वि० मृतक के संबंध का । मुरां का ।

मुरां-छंश पुं० दे० "मुरदासंख" ।

मुरां-छंश स्त्री० [सं०] (१) क्रमदेव । (२) सूर्य के रथ के घोड़े । (३) मूली की भाग । तुपाति ।

मुरां-छंश पुं० [हि० मुरां का मुना] (१) मरोदकली नाम की ओषधि । इसकी लता जंगलों में होती है । (२) पेट में ऐंठन दोकर पतला भल निकलना और बार बार दमन होना ।

मरोद । (३) पेट का दर्द ।

छंश स्त्री० [हि० मुना] हिसार और दिल्ली आदि में होनेवाली एक प्रकार की भैंस जिसके सींग छोटे, जड़ के पास पतले और ऊपर की ओर मुड़े हुए होते हैं । इस जाति की भैंस और भैंसे दोनों बहुत अच्छे समझे जाते हैं ।

मुरां-छंश पुं० दे० "मरोद" ।

मुरां-छंश स्त्री० [हि० मुना या मरोदना] (१) दो डोरों के सिमें को आपस में जोड़ने की एक क्रिया जिसमें गाँठ का प्रयोजन नहीं होता, केवल दोनों सिरों को मिलाकर मरोद या बंध देते हैं । (२) कपड़े आदि में लपेटकर ढाली हुई ऐंठन या बंध । जैसे,—घोती की मुरां ।

मुहा०—मुरां देना = (१) बरफ पड़ने समय लकड़े के टुकड़े पर जो बरफ जमने लगने के लिये जाना जिसमें बरफ जमने लगे पड़े । (बनान) (२) धोती को ठहराने के लिये बन्ध पर धीरे से धकेलकर झुका सा बनाना ।

(३) कपड़े आदि को मरोदकर बर्तन हुई बची ।

यौ०—मुरां का मैचा ।

(४) चिकन या कसीदे की कड़ाई का एक प्रकार जिसमें बड़े हुए सूत का व्यवहार होता है और जिसका काम बगारदार होता है । (५) एक प्रकार की जंगली छकरी ।

मुरां का मैचा-छंश पुं० [हि० मुरां + मैचा] एक प्रकार का मैचा जिसमें कपड़े की मुरां या बची बनाकर कसकर छंदोते जाते हैं । यह देखने में ठंडी चीन ही की तरह जान पड़ती है, परंतु वास्तव में गर्मी होती है । इस बनावट का मैचा उतना बड़ नहीं होता । जहाँ कपड़ा सड़ता है, वहाँ से बची टूटने लगती है । और बराबर ठंडी ही बची जाती है ।

मुरां-छंश-वि० [हि० मुरां + म० दार (प्रत्यय)] जिसमें मुरां पड़ी हो । ऐंठनदार ।

मुरां-छंश पुं० [सं०] मरुल या गोरबकरा नाम का जंगली पीछा जिससे प्राचीन काल में प्रायः काजी की रस्ती बनाई जाती थी । वि० दे० "गोरबकरा" ।

मुरां-छंश-वि० [सं०] धनुष की प्रत्येका ।

मुरां-छंश पुं० [म०] (१) सुमारां बतानेवाला । मार्गदर्शक । हुन । (२) श्रेष्ठ । यद्वा । (३) उल्लास । चतुर । बालक ।

होसियार । (४) पाजी । मरलट । भूषण । (व्यापक)

मुलक-छंश पुं० दे० "मलक" । उ०—नव मागरी तन मुलक लहि जोवन आमिल जोर । घटि पटि में बटि पटि रम बरी और की ओर ।—विहारी ।

मुलकना-छंश-कि० प्र० [सं० मुलकना] मंद मंद हँसना । मुलकित होना । नेत्रों में हँसी प्रकट करना । मुलकाना ।

उ०—(क) पर-लिय दोष पुरान मुनि हँसि मुलकी मुलकाना । कसि बरि राखी मिसरहू मुन आहं मुलकानि ।—सुम आहं

मुसकानि मिसरह कस करि राखी । सर्व दोषहर राम नाम की करित भाखी । बातन ही बहराय और की और कया क्रिय । मुकवि चतुर सब समुक्ति गए लखि मुलकित पर-तिय ।—मुकवि । (ख) सकुचि सारकि मिय निवृत्त तें मुलकि कहुक तन तोरि । कर औंघर की खोट करि जमु-हानी मुख मोरि ।—निहारी । (ग) कवि देव कछू मुलके पुलक उरके वर प्रेम कलोलनि पै ।—देव ।

लकी-वि० [भ० मुलकी] (१) दे० “मुलकी” । (२) देशी । विलायती का उलटा । उ०—पौति सिंघ मुलकी तुरंगन के कुलकी बिसाल ऐसी मुलकी मुचाल तैसी दुलकी ।—गोपाल ।

लज्जिम-वि० [भ०] जिसके ऊपर किसी प्रकार का इल्जाम लगाया गया हो । जिस पर कोई अभियोग हो । अभियुक्त । लतवी-वि० [भ० मुलतवी] जो कुछ समय के लिये रोक दिया गया हो । जिसका समय टाल दिया गया हो । स्थगित । जैसे,—(क) अब आज वहाँ का जाना मुलतवी रखिए । (ख) जलसा दो दिन के लिये मुलतवी हो गया ।

क्रि० प्र०—करना ।—रखना ।—रहना ।—होना । लतानी-वि० [हि० मुलतान (नगर)] मुलतान का । मुलतान संबंधी ।

लला ली० (१) एक रागिनी जिसमें गांधार और धैवत कोमल, शुद्ध निषाद और तीक्ष्ण मध्यम लगता है । इनके भक्तिरक्त तीनों स्वर शुद्ध लगते हैं । शास्त्र में इसे श्रीराग की रागिनी कहा है और इसमुद्रा के मत से यह दीपक राग की रागिनी है । इसके गाने का समय २१ से २४ दंड तक है । (२) एक प्रकार की बहुत कोमल और चिकनी मिट्टी जो मुलतान से आती है । इसका रंग बादामी होता है और यह प्रायः सिर मलने में साधुन की तरह काम में आती है । इससे खोतार लोग सोना भी साफ करते हैं और छीपी लोग इससे अनेक प्रकार के रंगों में अस्तर देते हैं । साधु आदि इससे कपड़ा रँगते हैं ।

मुहा०—मुलतानी करना = छोट खापने के पहले कपड़े को मुलतानी मिट्टी में रँगना ।

मुलतानी-लला ली० [भ० मौलाना] मौलवी । मुला । उ०—बाम्हन तें गदहा भला आन देव तें कुत्ता । मुलना से मुरगा भला सहर जगावे सुत्ता ।—कबीर ।

मुलमची-लला ली० [हि० मुलम्मा + ची (प्रत्यय)] किसी चीज़ पर सोने या चाँदी आदि का मुलम्मा करनेवाला । गिळट करनेवाला । मुलम्मासाज़ ।

मुलम्मा-वि० [भ०] (१) चमकता हुआ । (२) जिस पर सोना या चाँदी चढ़ाई गई हो । सोना या चाँदी चढ़ा हुआ ।

लला ली० (१) वह सोना या चाँदी जो पचर के रूप में, पारे

या बिजली आदि की सहायता से, अथवा और किसी विशेष प्रक्रिया से किसी धातु पर चढ़ाया जाता है । किसी चीज़ पर चढ़ाई हुई सोने या चाँदी की पतली तह । गिळट । कलई । सोल ।

विशेष—साधारणतः मुलम्मा गरम और ठंडा दो प्रकार का होता है । जो मुलम्मा कुछ विशिष्ट क्रियाओं से आग की सहायता से चढ़ाया जाता है, वह गरम कहलाता है; और जो बिजली की धैद्री से अथवा और किसी प्रकार बिना आग की सहायता के चढ़ाया जाता है, वह ठंडा मुलम्मा कहलाता है । ठंडे की अपेक्षा गरम मुलम्मा अधिक स्थायी होता है ।

पौ०—मुलम्मासाज़ = मुलम्मा चढ़ानेवाला । मुलमची

(२) किसी पदार्थ, विशेषतः धातु आदि को चाँदी या सोने का दिया हुआ रूप ।

क्रि० प्र०—करना ।—चढ़ना ।—चढ़ाना ।—होना ।

(३) वह बाहरी भट्ठीला रूप जिसके अंदर कुछ भी न हो । ऊपरी तदृक्-भट्ठक ।

मुलम्मासाज़-लला ली० [भ० + लला] किसी धातु पर सोना या चाँदी आदि चढ़ानेवाला । मुलम्मा करनेवाला । मुलमची ।

मुलहडी-लला ली० दे० “मुलेडी” ।

मुलहा-वि० [सं० मूल = मूल + हा (प्रत्यय)] (१) जिसका जन्म मूल नक्षत्र में हुआ हो । (२) उपद्रवी । दारारती । नटखट । उ०—उर में उलहे मुलहे हैं उरोज सरोज कई गुनदास के ।—सुंदरीसंबल ।

मुलौ-लला ली० [भ० मुला] मौलवी । मुला । उ०—आठ बाट थकरी गई मौस मुलौ गप खाय । अजहूँ खाल लटकी के भिस्त कहीं से जाय ।—कबीर ।

मुलाकात-लला ली० [भ०] (१) आपस में मिलना । एक दूसरे का मिलाप । भेंट । मिलन । (२) मेल-मिलाप । हेल-मेल । रम्य-जन्त । (३) प्रसंग । रति-क्रीड़ा ।

मुलाकाती-लला ली० [भ० मुलाकात + ती (प्रत्यय)] वह जिससे मुलाकात या जान पहचान हो । परिचित ।

मुलाज़िम-लला ली० [भ०] (१) पास रहनेवाला । प्रस्तुत रहनेवाला । उपस्थित रहनेवाला । (२) नौकर । चाकर । सेवक । दास ।

मुलाज़िमत-लला ली० [भ०] सेवा । नौकरी । चाकरी ।

मुलामा-वि० दे० “मुलायम” ।

मुलायम-वि० [भ०] (१) ‘सत्त्व’ का उलटा । जो कड़ा न हो । (२) नरम । हलका । मन्द । घीमा । ढीला । जैसे,—आजकल सोने का याज्ञात मुलायम है । (३) नाजुक । मुकभार । (४) जिसमें किसी प्रकार की कठोरता या

विधाव आदि नहो। जैसे,—(क) उनका मुलायम स्वरभाव है।

(ख) जरा मुलायम चौको; यह तो सभी परा भी नहीं हुआ।

मुह०—मुलायम करना = किसी का स्नेह राख करना।

वौ०—मुलायम चारा = (१) हलका भोजन। (२) वह जो सड़न में दूसरों की दागों में आ पाय। (३) वह जो सड़न में प्राप्त किया जा सके। (४) कोमल या सुकुमार शरीरवाला।

मुलायमत-पंथा की० [भ०] (१) मुलायम होने का भाव।

(२) सुकुमारता। (३) नम्रकृत। कोमलता।

मुलायम रोशनी-पंथा पुं० [हि० मुलायन + रोशनी] सफ़ेद और लाल रोशनी जो मुलायम होता है। (गद्यतिपा)

मुलायमित-पंथा की० [भ० मुलायमत] (१) मुलायम होने का भाव। नर्म। (२) नम्रकृत। कोमलता।

मुलायमी-पंथा की० दे० “मुलायमत”।

मुलाहड़ा-पंथा पुं० [भ०] (१) निरीक्षण। देख-भाल। मुभायना। (२) संकोच। (३) रियायत।

कि० प्र०—करना।—रखना।—होना।

मुलुक-पंथा पुं० दे० “मुल्क”।

मुलेठी-पंथा की० [सं० (मल्लघटि) मूलमले, प्रा० मूलघटी] सुँपची या गुंजा नाम की छता की जड़ जो औषध के काम में आती है। जेदी मधु। सुलही।

विशेष—यह रॉसी की बहुत प्रसिद्ध और अच्छी औषधि मानी जाती है। वैद्यक में इसे मधुर, तीक्ष्ण, यलकारक, नेत्रों के लिये हितकारी, मीरंजनक तथा पिप्प, वात, मूत्र, विष, धमन, दृषा, ग्लानि और क्षय-रोगनाशक माना है। इसका रस भी तैयार किया जाता है जो काले रंग का होता है और बाजारों में कपूस के नाम से मिलता है। यह साधारण जड़ की अपेक्षा अधिक गुणकारी समझा जाता है।

पर्या०—यक्षिमधु। झीतफा। मधुक। यक्षिका। मधुस्तना। मधुन। मधुवली। मधुली। मधुरसा। कतिरसा। मधुर-नाम। गोपायदा। सीमा।

मुल्क-पंथा पुं० [भ०] (१) देश। (२) सूबा। प्रांत। प्रदेश। (३) संसार। जगत्।

मुल्कगोरी-पंथा की० [भ०] देश पर अधिकार प्राप्त करना। मुल्क जीतना।

मुल्की-वि० [भ०] (१) देश संबंधी। देसी। (२) शासन या व्यवस्था संबंधी।

मुल्तवी-वि० [भ०] जो रोक दिया गया हो। जिसका समय आगे दबा दिया गया हो। स्थगित। वि० दे० “मुल्तवी”।

मुल्ता-पंथा पुं० [भ०] मुसलमानों का आचार्य वा पुरोहित। मौलवी। वि० दे० “मौलवी”।

मुयमित-पंथा पुं० [भ०] वह जो अपने किसी काम के लिये कोई पारीक नियुक्त करे। बकौल करनेवाला।

मुघना-कि० भं० [सं० मृत्, प्रा० मिम ना मुघ + ना (मृग०)]

मरना। मृत होता। उ०—(क) गड़ तनि सहरें पुरन

पाता। मुवडँ धूप सिर अहा न छाता।—जायसी। (न)

जैस पतंग आगि घँसि लीन्ही। एक मुघे दूसरे तिर

दीन्ही।—जायसी। (ग) नारि मुहँ, घर संपति नासी—

तुलसी।

मुघाना-कि० भं० [हि० मुघना का सं० मृग] हत्या करना। प्रम

लेना। मार डालना। उ०—इक सखी मिलि हैंसनि एगि

चैचि कर की ओर। तजि मुघाइ मुमलन नाहों नितो

उनकी ओर।—सुर।

मुशज्जर-पंथा पुं० [भ०] एक प्रकार का छपा हुआ कपड़ा।

मुशफिक-वि० [भ०] (१) कृपालु। दयालु। (२) मित्र।

कोस्त। (३) तरस खानेवाला। दयावान। रहम-लिल।

मुशल-पंथा पुं० [सं०] धान आदि पदार्थ का ढंडा। मूसल।

मुशली-पंथा पुं० [सं०] मूसल धारण करनेवाले, श्री बलदेव।

मुश्क-पंथा पुं० [का०] (१) कस्तूरी। मृगमद। मृगनामि।

† (२) गंध। वृ०।

पंथा की० [दे०] कंधे और कोहनी के बीच का भाग।

मुजा। बँह।

मुश्क—मुश्क कसना या बाँधना = (घपरापी कर की)

कोने मुजाओं को पीठ की ओर करके बांध देना। (शस्त्रे प्रायः

बैधन हो जाता है।)

मुश्कदाना-पंथा पुं० [का०] एक प्रकार की छता का बीम जो

इलायची के दाने के समान होता है और जिसके टुकड़े पर

कस्तूरी की सी मुगंध निकलती है। संस्कृत में इसे लला-

कस्तूरी कहते हैं। वैद्यक में इसे स्वादिष्ट, मीरंजनक, शीतल,

कटु, नेत्रों के लिये हितकारी, कफ, दृषा, मुखरोग और

दुर्गंध आदि का नाश करनेवाला माना है।

मुश्कनाफा-पंथा पुं० [का०] कस्तूरी का नाफ़ जिसके अंतर

कस्तूरी रहती है।

मुश्कनाम-पंथा पुं० [का० मुल्क + ना० नाम] वह मृग जिसकी

नाभि में कस्तूरी होती है। कस्तूरी मृग। वि० दे०

“कस्तूरीमृग”।

मुश्कविलास-पंथा की० [का० मुश्क + हि० विलास = विली] एक

प्रकार का जंगली विलास जिसके बंधकोंनों का पसीना बहुत

मुगंधित होता है। गंधे विलास।

विशेष—आरवी में इसे जुबाद और संस्कृत में गंधमाजरी

कहते हैं। इसके बदन गोल और छोटे होते हैं और रंग भूरा

होता है। दुम काटवी होती है, पर उस पर सफ़ेद फले

पड़े रहते हैं। संघर्ष प्रायः ४० इंच होती है। यह जंग

राजस्थान और पंजाब के सिपावारी सारं हिंदुस्थान में

पाया जाता है। यह रिसों में रहता है; तिफारी होता है।

और पाला भी जा सकता है। यह घूरे, गिलहरी आदि खाकर रहता है। इसकी कई जातियाँ होती हैं। जैसे,—मोंद, लकाटी इत्यादि।

मुद्रकमहर्षी-संज्ञा स्त्री० [फा० मुद्रक + महर्षी] एक प्रकार का छोटा पौधा जो बगैरों में रोभा के लिये लगाया जाता है।

दिक्कल-वि० [अ०] कठिन। दुष्कर। दुस्साध्य।

संज्ञा स्त्री० (१) कठिनता। दिक्कल। (२) मुसीबत। विपत्ति। संकट।

कि० प्र०—आना। पढ़ना।—में पढ़ना।

मुद्रा०—मुद्रिकल आसान होना = संकट खलना।

एकी-वि० [फा०] (१) कस्तूरी के रंग का। काला। श्याम।

(२) जिसमें मुद्रक मिला हो। जिसमें कस्तूरी पड़ी हो।

जैसे,—मुद्रकी झरदा।

संज्ञा पुं० यह पौधा जिसका सारा शरीर काला हो।

मुद्रत-संज्ञा पुं० [फा०] मुद्दी।

यौ०—एकमुद्रत = पन्ना साथ। एक ही बार। (प्रायः रुपयों के लेन देन के संबंध में ही बोलते हैं।) जैसे,—उसने सय रुपय एक-मुद्रत दे दिए।

मुद्रतहिर-वि० [अ०] जिसका हस्तहार दिया गया हो। जो प्रसिद्ध किया गया हो।

मुद्रताफ-वि० [अ०] (१) इच्छा रखनेवाला। चाहनेवाला।

(२) प्रेमी। आशिक।

मुद्रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूलतः। (२) विश्वामित्र के पुत्र का नाम।

मुद्रली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तालमूलिका। (२) छिपकली।

मुद्रित-वि० [सं०] (१) लुताया हुआ। मूसा हुआ। (२) दगा हुआ। बंचित।

मुद्रोचन-संज्ञा पुं० [सं०] चोर।

मुद्रु ७१-संज्ञा स्त्री० [सं० मुद्रु] गूँजेना का शब्द। गुंजार।

उ०—हेम लखन कल कलिन मध्य जसु मधुकर मुद्रु सोहाई।—तुलसी।

मुद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडकोष। (२) मोला नाम का वृक्ष। (३) चोरी। (४) देर। राति।

वि० मौसल।

मुद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] मोला नाम का वृक्ष।

मुद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडकोष। (२) मुद्रु की मूर्तिद्वय।

मुद्रकाल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके अंडकोष निकाल लिए गए हों। यथिया। (२) वह जो इस क्रिया के उपरांत अन्तःपुर में काम करने के लिये नियुक्त हो।

मुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] चोरी।

मुद्रि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुद्दी। (२) मुक्का। घूँसा। उ०—सर मुदीर विकल होइ भागा। मुद्रि प्रहार बज राम

लगा।—तुलसी। (३) एक प्राचीन परिमाण जो किसी के मत से ३ तोले का और किसी के मत से ८ तोले का होता था। (४) चोरी। (५) दुर्मिष्ट। अकाल। (६) कद्रि नामक ओषधि। (७) मोला नामक वृक्ष। (८) राज्य का एक नाम। (९) कंस के दरबार का एक मन्त्र। मुद्रिक। उ०—कल्लो चापूर मुद्रि सब मिलिकै जानत ही सय जी के।—सूर। (१०) छुरे, तलवार आदि की मूँठ। बेंट।

पय्या०—आम्र। चतुर्धिका। प्रकुंच। पोद्दी। बिल्व।

मुद्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा कंस के पहलवानों में से एक जिसे यलदेवजी ने मारा था। उ०—सहै नृप सुत मल है शल तोलल चानूर। मुद्रिक फूट नू पाँच वे समर सूर भरपूर।—गोपाल। (२) मुक्का। घूँसा। उ०—एक थार हनि मुद्रिक मारा। गिरा अयनि करि घोर चिकारा।—विश्राम। (३) चार अंगुल की नाप। उ०—पट तिल थव त्रे अंगुल होई। चतुरंगुल कर मुद्रिक सोई।—विश्राम। (४) मुद्दी। (५) सुनार। (६) तंत्रिकों के अनुसार एक उपकरण जो अलिङ्गन के योग्य होता है।

मुद्रिकांतक-संज्ञा पुं० [सं०] मुद्रिक नामक मल को मारनेवाले, बलदेव।

मुद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्का। घूँसा। उ०—वृक्ष पापाण को जब उर्हाँ नाश भयो मुद्रिका युद्ध दोऊ प्रचारी।—सूर। (२) मुद्दी।

मुद्रिदेश-संज्ञा पुं० [सं०] धनुष का मध्य भाग जो मुद्दी में पकड़ा जाता है।

मुद्रियुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] वह लड़ाई जिसमें केवल मुद्दों से प्रहार किया जाय। घूँसेवाजी।

मुद्रियोर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हठ योग की कुछ क्रियाएँ जो शरीर की रक्षा करने, बल बढ़ाने और रोग दूर करनेवाली मानी जाती हैं। (२) किसी बात का कोई छोटा और सहज उपाय।

मुद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] सरसों।

मुसक-संज्ञा पुं० दे० “मुस्क”।

मुसकनिष्ठा-संज्ञा स्त्री० [हि० मुस्क + निष्ठा] मुसकराहट। उ०—(क) सकल सुगंध अंग भरि भोरी पिय निरतत मुसकनि मुखमोरी परिभ्रम रसोरी।—हरिदास। (ख) भटके नैन माधुरी मुसकनि अमृतवचन कवचन को भावत।—सूर।

मुसकनिया-संज्ञा स्त्री० दे० “मुसकान” उ०—मनमोहन की तुतरी योलन मुनि मन हरत सुहँस मुसकनियों।—सूर।

मुसकराना-कि० प्र० [सं० लय + कृ] ऐसी आरुति बनाना जिससे जान पड़े कि हँसना चाहते हैं। ऐसी कम हँसी जिसमें न दाँत निकले, न शब्द हो। बहुत ही मन्द रूप से हँसना। हँसों में हँसना। मुद्द हास। मंद हास।

मुहताज-वि० [अ०] (१) जिसे किसी ऐसे पदार्थ की बहुत अधिक आवश्यकता हो जो उसके पास विलकुल न हो। जैसे,—दाने दाने को मुहताज। (२) दरिद्र। गरीब। कंगाल। निर्धन। (३) निर्भर। अधिष्ठित। (४) चाहनेवाला। आकांक्षी। जैसे,—हम तुम्हारे रुपय के मुहताज नहीं।

मुहयनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का फल जो नारंगी की तरह का होता है।

मुहय्यत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) प्रीति। प्रेम। प्यार। चाह।

मुहा०—मुहय्यत उछलना = प्रेम का आवेश होना।

(२) दोली। निग्रहा। (३) इन्क। लगन। ली।

कि० प्र०—करना। रखना।

मुहम्मद-संज्ञा पुं० [अ०] शरय के एक प्रसिद्ध धर्माचार्यों जिन्होंने इस्लाम या मुसलमानी धर्म का प्रवर्तन किया था। इनका जन्म मकके में सन् ५७० ई० के लगभग और मक्का नदी में सन् ६३२ ई० में हुई थी। इनके पिता का नाम अब्दुल्ला और माता का अमीना था। इन्होंने अपने जीवन के आरम्भिक काल में ही बहूविधों और ईसाइयों की बहुत सी धार्मिक बातों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसी समय से वे स्वयं रूप से अपना एक धर्म चलाने की चिन्ता में थे और उसी उद्देश्य से लोगों को कुछ उपदेश भी देने लगे थे। प्रायः ४० वर्ष की अवस्था में इन्होंने यह प्रसिद्ध किया था कि ईश्वर ने मुझे इस संसार में अपना पैगंबर (दूत) बनाकर धर्म-प्रचार करने के लिये भेजा है। इसके उपरांत इन्होंने कुरान की रचना की; और उसके संरूप में यह प्रसिद्ध किया कि इसकी सत्य बातें खुदा अपने फरिश्तों जिब्रिल के द्वारा समय समय पर मुसल्ले कहलाता रहा है। धीरे धीरे कुछ लोग इनके अनुयायी हो गए। पर बहुत से लोग इनके विरोधी भी थे, जिनसे समय समय पर इन्हें युद्ध करना पड़ता था। यह भी प्रसिद्ध है कि ये एक बार सदेह रोगों गए थे और वहाँ ईश्वर से मिले थे। अरबवालों ने कई बार इनके प्राण लेने की चेष्टा की थी; पर ये किसी न किसी प्रकार बचाकर बचने ही गए। ये मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी और एकेश्वरवाद के प्रचारक थे। अपने आपको वे पैगंबर या ईश्वरीय दूत बतलाते थे। इन्होंने कई विवाद भी किए थे। वे जैसे उदार और दृष्टान्त, वे जैसे ही कट्टर और निर्दय भी थे।

मुहम्मदी-संज्ञा पुं० [अ०] मुहम्मद साहब का अनुयायी। मुसलमान।

मुहय्या-वि० दे० “मुहय्या”।

मुहर-संज्ञा स्त्री० दे० “मोहर”।

मुहरा-संज्ञा पुं० [हि० मुह + ग (अण०)] (१) सामने का भाग। भाग। सिरा। सामना।

मुहरा—मुहरा लेना = मुद्रांकित करना। मानने होकर लगना।

(२) निशाना। (३) मुँह की भाङ्गति।

मौ०—चेहरा मोहरा।

(४) चतुरंज की कोई गेटी। उ०—घोड़ा है फूटनी बर-लाया। जेहि मुहरा दस चढ़े सो पावा।—जायसी। (५) पत्नी घोटने का शीता। (६) घोड़े का एक साज जो उसके मुँह पर पहनाया जाता है। उ०—अनुपम सुखि मुहरी लगाम लगाम दुमची जीन की।—रघुनाथ।

मुहरी-संज्ञा स्त्री० (१) दे० “मोरी”। (२) दे० “मोहरी”।

मुहरम-संज्ञा पुं० [अ०] अरबी वर्ष का पहला महीना। इसी महीने में इस्लाम हुसैन शाहीद हुए थे। मुसलमानों में यह महीना शोक का माना जाता है।

मुहर०—मुहरमी सूत = रेशी सूत। मनुहस सूत। मुहरम की पैदाइश होना = मनुहस होना। सदा दुल्लो और चिड़चिड़ा रहना।

मुहरमी-वि० [अ० मुहरम + ई (प्रत्य०)] (१) मुहरम संबंधी।

मुहरम का। (२) शोक-स्पर्धक। (३) मनुहस।

मौ०—मुहरमी सूत = रेशी सूत। मनुहस सूत।

मुहरिर-संज्ञा पुं० [अ०] खेलक। मुंसी। उ०—पौष मुहरिर साथ करि दीने तिनकी पक्षी विपरीत। जिम्मे बनके, मौँ। भोंते यह तो बड़ी अनीत।—सूर।

मुहरिरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] मुहरिर का काम। खिलने का काम।

मुहलत-संज्ञा स्त्री० दे० “मोहलत”।

मुहलैटी-संज्ञा स्त्री० दे० “मुलेटी”।

मुहल्ला-संज्ञा पुं० दे० “महल्ला”।

मुहसिन-वि० [अ०] पढ़सान करनेवाला। अनुग्रह करनेवाला।

मुहसिल-वि० [अ० मुहासिल] सहसीक पन्ना करनेवाला। उगाहनेवाला।

संज्ञा पुं० प्यादा। करीदार। उ०—मैं न दियो, मन बन लियो, मुहसिल मैं पढाय।—रसनिधि।

मुहाफिज़-वि० [अ०] हिफाजत करनेवाला। संरक्षक। रक्षक।

मुहाफिज़खाना-संज्ञा पुं० [अ० + खान] कचहरी में वह स्थान जहाँ सब प्रकार की मिसलें आदि रहती हैं।

मुहाफिज़ फुस्तर-संज्ञा पुं० [अ०] कचहरी का वह अधिकारी जिसके निरीक्षण में मुहाफिज़खाना रहता है।

मुहाल-वि० [अ०] (१) अंतर्गम। ना-मुमकिन। (२) कतिन। दुष्प्र। दुःसाध्य।

संज्ञा पुं० (१) दे० “महान”। (२) दे० “महल”।

मुहाला-संज्ञा पुं० [हि० मुह + भाग (अण०)] पीतल या बरतन या वस्त्र जो हाथी के दाँत में घोभा के लिये पदारथ जाती है। उ०—बारन बदन सुदंग, निराजि हाथक नै।

मुहाले। मनुहुं हैज दाशि दयाम मेध मधि उमय नोक छवि
माले।—रघुराज।

मुहावरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध
वाक्य या प्रयोग जो किसी एक ही बोली या लिखी जाने-
वाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष
(अभिप्रेय) अर्थ से विलक्षण हो। किसी एक भाषा में
दिसाई पढ़नेवाली असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग।
जैसे,—“छाटी खाना” मुहावरा है; क्योंकि इसमें “खाना”
शब्द अपने साधारण अर्थ में नहीं आया है, लाक्षणिक अर्थ
में आया है। छाटी खाने की चीज़ नहीं है, पर बोल-चाल
में “छाटी खाना” का अर्थ “छाटी का प्रहार सहना” लिया
जाता है। इसी प्रकार “गुल खिलाना”, “बर करना”,
“चमका खींचना”, “चिकनी चुपड़ी बातें” आदि मुहावरे
के अंतर्गत हैं। कुछ लोग इसे “रोजमर्रा” या “बोलचाल”
भी कहते हैं। (२) अभ्यास। आदत। जैसे,—आजकल
मेरा लिखने का मुहावरा छूट गया गया है।

कि० प्र०—छूटना।—डालना।—पढ़ना।

मुहासिय-संज्ञा पुं० [अ०] (१) हिसाब जाननेवाला। गणितज्ञ।
(२) पदताल करनेवाला। आँकनेवाला। हिसाब लेनेवाला।
उ०—सूर आप गुजरान मुहासिय लै जवाय पहुँचावै—सूर।
मुहासिया-संज्ञा पुं० [अ०] (१) हिसाब। लेखा। उ०—सूर-
दास को यह मुहासिया दलक कीमै माफ।—सूर।
(२) पृष्ठ-तांछ।

मुहासिरा-संज्ञा पुं० [अ०] युद्ध आदि के समय किले या
बाग़-सेना को चारों ओर से घेरने का काम। घेरा।

मुहासिल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) आय। आमदनी। (२) लाभ।
मुनाफ़ा। नफ़ा। (३) थिकी आदि से होनेवाली आय।

मुहिब-सर्व० दे० “मोहि”।

मुहिब्य-संज्ञा पुं० [अ०] मीम रखनेवाला। दोस्ती रखनेवाला।
दोस्त। मित्र।

मुहिम-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कोई कठिन या बड़ा काम।
भारी, भारके का या जान जोखों का काम। (२) लड़ाई।
युद्ध। समर। जंग। (३) फौज की चढ़ाई। आक्रमण।
उ०—भाये तेरे दगन पै जे मुहिम अखल्यार। कितेन
मनव्या गये हन सौं लुरके हार।—रसनिधि।

मुहिर-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

वि० मूर्ख। जड़बुद्धि।

मुहिम-संज्ञा स्त्री० दे० “मुहिम”।

मुहु-मध्य० [सं०] यार यार। फिर फिर।

यौ०—मुहँडँडः

मुहुपुची-संज्ञा स्त्री० [देश०] काले रंग का एक प्रकार का छोटा
कीटा जो मूँगफली की फसल को नष्ट कर देता है। ये

कीड़े रात को अधिक उड़ते हैं। ये पत्तियों पर बंधे देते हैं
जिससे पत्तियाँ सूख जाती हैं। ये कीड़े धूप और साफ दिनों
में बहुत हानि पहुँचाते हैं। इससे खेत के खेत की फसल
काली हो जाती है। पानी धरसे पर ये नष्ट हो जाते हैं।
सुरल।

मुहूर्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काल का एक मान। दिन रात का
तीसवाँ भाग। (२) निर्दिष्ट क्षण या काल। समय। जैसे,
शुभ मुहूर्त। (३) कथित ज्योतिष के अनुसार गणना करके
निकाला हुआ कोई समय जिस पर कोई शुभ काम (यात्रा,
विवाह) आदि किया जाय।

कि० प्र०—निकलना।—निकालना।—देखना।—दिखलाना।

मूँग-संज्ञा स्त्री० पुं० [सं० यु०] एक अन्न जिसकी दाल बनती है।
विशेष—मूँग आदों में प्रायः सार्वी आदि और अन्नो के साथ
बोई जाती है और अगहन में कटती है। इसके पीछे की
टहनियाँ लता के रूप में इधर उधर फैली होती हैं। एक
एक सँके में सेम की तरह तीन तीन पत्तियाँ होती हैं।
फूल नीले या बैंगनी होते हैं। फलियाँ ढाई तीन अंगुल की
पतली पतली होती हैं और गुच्छों में लगती हैं। फलियों के
भीतर ५-६ लम्बे गोल दाने होते हैं, जिनके मुँह पर की
चिंदी उई की तरह स्पष्ट नहीं होती। मूँग के लिये बहुत
मिठी और थोड़ी बर्षा चाहिए। मूँग कई प्रकार की होती
है—हरी, काली, पीली। हरी या पीली मूँग अच्छी समझी
जाती है और सोना मूँग कहलता है। वैद्यक में मूँग रूखी,
लघु, धारक, कफम, पित्तनाशक, कुछ वायुघर्षक, नेत्रों के लिये
हितकर और ज्वरनाशक कही गई है। बनमूँग के भी प्रायः
वही गुण हैं। मूँग की दाल बहुत हल्की और पच्य समझी
जाती है; इसी से रोगियों को प्रायः दी जाती है। इससे
बढ़ी, पापड़, लड्डू आदि भी बनते हैं।

पर्या०—सूपग्रैह। पर्णाहं। रसोत्तम। मुक्तिप्रद। हयानंद।
सुकल। धात्रिभोजन।

मुहा०—छाटी पर मूँग दलना=दे० “दाणी”। मूँग की
दाल खानेवाला=प्रसन्न-धीन। निर्दल। दलपेक।

मूँगफली-संज्ञा स्त्री० [हिं० मूँग + फली] (१) एक प्रकार का
छुप जिसकी खेती फलों के लिये प्रायः उत्तर भारत में की
जाती है। यह छुप तीन चार फुट तक ऊँचा होकर पृथ्वी
पर चारों ओर फैल जाता है। इसके टंडल रोपेदार होते हैं
और सँकों पर दो दो जोड़े पत्ते होते हैं, जो आकार में
चक्रवर्द्ध के पत्तों के समान अंडाकार, पर कुछ लंबाई लिए
होते हैं। सूर्यास्त होने पर इसके पत्तों के जोड़े आपस में
मिल जाते हैं और सूर्योदय होने पर फिर अलग हो जाते
हैं। इसमें अरहर के फूलों के से चमकीले पीले रंग के २-३
फूल एक साथ और एक जगह लगते हैं। इसकी जड़ में

मिठी के अंदर फल स्थाने हैं जिनके ऊपर कड़ा और सुखदुरा छिड़का होता है तथा अंदर गोख, कुछ खंखोरा और पतले छाल छिड़ेवाला फल होता है, जो रूप-रंग तथा स्वाद आदि में यादाम से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है। इसी कारण इसे चिनिया यादाम भी कहते हैं।

फागुन के आरंभ में ही जमीन को अच्छी तरह जोतकर दो दो फुट की दूरी पर छः छः इंच के गड्ढे बनाकर इसके बीच बो देने हैं; और यदि एक सप्ताह में बीच अंकुरित नहीं होता, तो कुछ सिंचाई करते हैं। आधिन कार्तिक में पीले रंग के फूल लगते हैं जो मटर के फूलों के समान होते हैं। इसके डंठलों की गाँठों में से जो सोंरें निकलती हैं, यही जमीन के अंदर जाकर फल बन जाती हैं। इस फल के एक जाने पर मिट्टी पोंदकर उन्हें निकाल लेते हैं और धूप में सुलाकर काम में लाते हैं। ये फल या तो साधारणता यों ही भयवा ऊपरी छिलकों समेत भाद में भूनकर खाए जाते हैं। इनसे तेल भी निकाला जाता है जो पाने तथा दूसरे अनेक कार्यों में आता है। यह तेल विलूक के तेल की तरह का होता और प्रायः उसके स्थान में काम आता है। दैत्य में इसका फल मयूर, जिरण्य, पात तथा कफकाक और कोष्ठ को बंद करनेवाला माना जाता है; और किसी किसी के मत से गरम है और मसक तथा धीर्य में गरमी उत्पन्न करनेवाला है। (२) इस ध्रुप का फल। चिनिया यादाम। विद्यायती मृग।

पट्यां—भूषणक। भूतिषिका।

मृगा-पंछा पुं० [हि० मृग] (१) समुद्र में रहनेवाले एक प्रकार के कृमियों के समूह-पिंड की छाल डहरी जिसकी सुनिया बगानर पहनते हैं। इसकी गिनती रत्नों में की जाती है।

विशेष—समुद्र-तल में एक प्रकार के कृमि खोल्की की तरह का घर बनाकर एक दूसरे से छगे हुए जमते चंगे जाते हैं। ये कृमि श्वर जीवों में हैं। ज्यों ज्यों इनकी संशुद्धि होती जाती है, त्यों त्यों इनका समूह-पिंड चूहर के पेंड के आकार में बढ़ता चला जाता है। सुमात्रा और जापान के आस पास प्रसिद्ध महासागर में समुद्र के तल में ऐसे समूह-पिंड हजारों मील तक राखे मिलते हैं। इनकी बुद्धि बहुत जल्दी जल्दी होती है। इनके समूह एक दूसरे के ऊपर पड़ते खड़े जगें हैं जिससे समुद्र की सतह पर एक रास्ता या निकल आता है। ऐसे या प्रसिद्ध महासागर में बहुत से हैं जो 'मशाल-हीन' कहलाते हैं। मृगे की केवल सुनिया ही नहीं बनती, एही, डुरसी आदि बड़ी बड़ी चीजें भी बनती हैं। आनुगुण के रूप में मृगे का व्यवहार भी मोनी के समान बहुत दिनों से है। मोती और मृगे का नाम प्रायः साथ साथ लिखा जाता है। रज-परीक्षा की पुस्तकें में मृगे का

भी वर्णन रहता है। साधारणता मृगे का दाना जितना ही बड़ा होता है, उतना ही अधिक उसका मूल्य भी होता है। कवि लोग बहुत पुराने समय से मृगों की उपमा मृगे से देते आए हैं।

पट्यां—प्रवाल। विदुम।

(२) एक प्रकार का रेशम का कीड़ा जो आसाम में होता है।

पंछा की० एक प्रकार का गन्ना जिसके रस का गुड़ भण्डा होता है।

मृगिया-वि० [हि० मृग + यत् (अण०)] मृग का सा। मृग के रंग का। हरे रंग का।

पंछा पुं० (१) एक प्रकार का भमौआ रंग जो मृग का सा हरा होता है। (२) एक प्रकार धारीदार घासदान।

मृग-पंछा की० [सं० मयू, प्रा० मयू से मयू] ऊपरी भाँठ के ऊपर के बाल जो केवल पुएयों के जगते हैं। ये बाल पुएय का विशेष चिह्न माने जाते हैं।

विशेष—'मृगों पर हाथ करना' विदुओं में बहुत दिनों से बीरता की अक्षुप्त दिखाने का संकेत माना जाता है। रामोत्र में भीर लोग मृगों पर ताव देते हुए चढ़ाई करते बंदे जाने हैं। किसी कठिन काम में सफलता होने पर भी लोग मृगों पर ताव देने हैं। शृष्ठीराय के बाबा 'कराह के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी भाँटों पर दरबार में सदा पड़ी बंदी रहती थी; क्योंकि जिस किसी का हाथ ये मृगों पर जाते देखते थे, उसका सिर उड़ा देते थे।

मुहा०—मृग उरावना = धर्म दंड देना। फर्म पूर करना। (गाली)। मृगों पर ताव देना = फसिमान से मूल मरेजना।

मोटा की अक्षुप्त दिखाना। मृगेंनीची होना = (१) तनुप होना। फर्म डूट जाना। (२) अवस्था होना। वेडुगी होना। मृगों पर हाथ करना = ३० "मृगों पर ताव देना"। मृगों का कंडा करना =

एक गुप्ततमानी रस को बंदे के मृग निकलने पर होना है।

मृगो-पंछा की० [देश०] बेतान की यमी हुई एक प्रकार की बड़ी जिसमें बेतान के सेव या पकीदियों आदि पड़ी होती हैं।

सेव या पकीदियों की बड़ी।

मृग-पंछा की० [सं० मृग] एक प्रकार का मृग जिसमें डंडा का टहनियाँ नहीं होतीं; जड़ से बहुत ही पतली (जो भार से कम पीछी) दो दो हाथ लंबी पतियाँ चारों ओर निकली

रहती हैं। ये पतियाँ बहुत पनी निकलती हैं; जिससे जल बहुत सा स्थान घेरता है। पतियों के मध्य में

यहाँ से यहाँ तक रहता है।

सीपा कांड पतली छड़ के रूप में खिंचे पर अंजनी या धूप के से इसमें यह भेद होता

आल बंदी चमकीली तथा चिकनी होती है। सींके से यह आल उतारकर बहुत सुंदर सुंदर डलियाँ बुनी जाती हैं।
 मूँद प्रायः ऊँचे डालुपं स्थानों पर बागीचे की बाढ़ों या ऊँची भेड़ों पर लगाई जाती है। मूँज बहुत पवित्र मानी जाती है। ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार के समय बड़ को मुंज-मेखला (मूँज की करपनी) पहनाने का विधान है।
 पय्या—मैत्रीगृण। ब्राह्मण्य। तेजनाह्वय। चानीरक।
 मुंजनक। शरीरी। दर्माद्वय। दूरमूल। ददमूल। यदुप्रज।
 रंजन। शशुभंग।

मूँड १—संज्ञा पुं० [सं० मुंज] सिर। कपाल। उ०—(क) तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम, नत अँट पितरन को न मुँह हूँ मैं बाह है।—तुलसी।

मुह्ना—मूँद चढ़ना = दिखाने करना। सिर चढ़ना। मूँद चढ़ाना = ढीठ करना। निडर कर देना। सिर चढ़ाना। मूँद मारना = बहुत कोशिश करना। उ०—मूँद मारि दिय हारि के हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो।—तुलसी। मूँद मुँहाना = चंचली होना। वि० दे० “सिर”।
 मूँडकटा—संज्ञा पुं० [हि० मूँड + काटना] दूसरे का सिर काटने-वाला। दूसरे की हानि करनेवाला। धोखा देकर दूसरे को नुकसान पहुँचानेवाला।

मूँडन—संज्ञा पुं० [सं० मुंजन] मुंजन जिसमें बालक के बाल पहले पहल मुँदाए जाते हैं। ब्रह्मकरण संस्कार।

मूँडना—कि० पु० [सं० मुंजन] (१) सिर के बाल बनाना। हजामत करना। (२) धोखा देकर माल उड़ाना। ठगना। जैसे,—उसने १० तुमसे मूँड लिए। (३) भेड़ों के शरीर पर से ऊन कतरना। (४) चेला बनाना। दीक्षित करना। जैसे,—चेला मूँडना।

मूँडी—संज्ञा स्त्री० [सं० मुंज] (१) सिर। मस्तक।

मुह्ना—मूँडी काटे = सिरों की बोलचाप में पुरुषों के लिये एक गाली। मूँडी मरोड़ना = (१) गला दबाकर-मार बलना। (२) गोधा देकर हानि पहुँचाना।

(१) किसी वस्तु का शिरोभाग (जो मूँड के आकार का हो)।
 मूँडीय—संज्ञा पुं० [हि० मूँडी + य] कुत्ती का एक पेश जिसमें एक पहलवान दूसरे की पीठ पर चढ़कर उसकी बगलों के नीचे से अपने हाथ ले जाकर उसकी गर्दन दबाता है।

मूँदना—कि० सं० [सं० मुंदय] (१) ऊपर से कोई वस्तु ढाल या फेंकाकर किसी वस्तु को छिपाना। आच्छादित करना। बंद करना। ढँकना। जैसे,—आँख मूँदना। उ०—मूँदिय आँख कतहुँ कोउ नाहीं।—तुलसी। (२) छेद, डार, मुँद भादि पर कोई वस्तु फैला या रखाकर उसे बंद करना। खुला न रहने देना।—जैसे, नाक कान मूँदना, छेद मूँदना, लिहकी मूँदना, घड़े का मुँह मूँदना।

कि० प्र०—देना।—लेना।

मूक—वि० [सं०] (१) जिसके मुँह से अलग अलग वर्ण न निकल सकते हों। गूँगा। अवाक। उ०—मूक होइ बाबाल, पंगु चढ़े गिरिवर गहन।—तुलसी।

विशेष—सुश्रुत ने लिखा है कि गर्भवती को जिस वस्तु के खाने की इच्छा हो, उसके न मिलने से वायु कुपित होता है और गर्भस्थ शिशु कुबड़ा, गूँगा इत्यादि होता है।

(२) दीन। विवश। लाचार।

संज्ञा पुं० (१) दैत्य। दानव। (२) तक्षक के एक पुत्र का नाम।

मूकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] गूँगापन।

मूकना—क्रि० सं० [सं० मुक] (१) दूर करना। अलग करना। छोड़ना। त्यागना। उ०—(क) पात्थो तेरे दूक को परेहु चूक मूकिये न कर कौडी दूको हूँ आपनी ओर हेरिये।—तुलसी। (ख) अब जोर जरा जरि गात गयो मन मानि गलानि कृपानि न मूकी।—तुलसी। (२) पंचन खोलना। बंधन हटाना। (३) बंधन खोलकर मुक्त करना। बंधन से छुड़ाना।

मूकायिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हुगाँ का एक नाम। (२) एक प्राचीन नगरी का नाम।

मूका—संज्ञा पुं० [सं० मूपा = गवाक] (१) किसी दीवार के आर पार बना हुआ छेद। (२) छोटा गोल शरोखा। मोला। उ०—मूका मेलि गहे उ छिन हाथ न छोड़े हाथ।—विहारी।
 संज्ञा पुं० [हि० मुका] सँधी हुई मुट्ठी का प्रहार। मूँसा।

मूकमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूकता। गूँगापन।

मूखना—क्रि० सं० दे० “मूसना”।

मूखना—क्रि० सं० दे० “मोचना”।

मुह्नी—संज्ञा पुं० [म०] कट पहुँचानेवाला। दुष्ट। दुर्जन। खल।

मुठ—संज्ञा स्त्री० [सं० मुठि, प्रा० मुठ्ठि] (१) रँगलियों को मोड़ कर बाँधी हुई हथेली। मुठ्ठी। मुट्ठी। वि० दे० “मुट्ठी”।

मुह्ना—मुठ करना = कौर, बटेर भादि की मुट्ठी में पकड़कर उनके शरीर में गरमी पहुँचाना जिससे उनमें बग का भ्रान माना जाता है। मुठ मारना = (१) बन्दर की मुट्ठी में पकड़ना। (२) हस्त-विन्या करना।

(२) किसी औजार या हथियार का वह भाग जो स्पन्दार करते समय हाथ में रहता है। मुठिया। दन्ना। कच्चा। जैसे,—तलवार की मुठ, छाले की मुठ, कमान की मुठ। उ०—(क) मुठि कुबुदि धार निद्रुताई। परी क्यरी सान पनाई।—तुलसी। (ख) दृष्टि दष्टि गोसा गण, कृति फाटि मुठ गई, जेवनि न सारो जोर जानन जगन द।—धनुम-पादक। (३) उतनी वस्तु जितनी मुट्ठी में आ सके। (४)

एक प्रकार का जुआ जिसमें मुठी में कौड़ियों बंध करके सुझाते हैं। (५) मंत्र संघ का प्रयोग। जादू। येना

मुहा०—मूठ चलाना या मारना = जादू करना। येना मारना। संघ संघ का प्रयोग करना। उ०—(क) काहु, देवनानि मिलि मोटी मूठ मार दी।—गुलसी। (ख) पीठि दिपु ही नेकु मुरि कर धूँध-पट टारि। भरि गुलाल की मूठि सों गई मूठि सी मारि।—विहारी। (ग) कोउ पै कोउ मारि मूठ यथा।—गोपाल। (घ) अदिर उदयि मूठि मूठि सी चल्यै, ससी देखिपु छुनाई गटनागर गोपाल की।—वीनदयाल। मूठ छाना = जादू का असर होना। येना लगना। मंत्र संघ का प्रयोग करना। उ०—पीठि सी पीठि लगी उनको, इनको लगी मूठि सी मूठि गुलाल की।—पद्माकर।

मूठना—कि० प्र० [सं० मुठ प्रा० मुठ] नष्ट होना। मर मिटना। न रह जाना। उ०—दुइ सुरंग दुइ नाव पाँच धरि ते कहि कथन न मूठे।—सूर।

मूठा-छंदा पुं० [हि० मूठ] पास फूस की रस्सी से बाँध बाँध कर बनाए हुए छठे के आकार के छंटे छंटे पूले जो खपरिल की छाना में छगाए जाते हैं। मुठा।

मूठासी-छंदा सी० [हि० मूठ + सी (अव०)] सलवार। (हि०) मूठि-छंदा सी० (१) दे० "मूठ"। (२) दे० "मुठी"।

मूठी श-छंदा सी० दे० "मुठी"।

मूड़-छंदा पुं० दे० "मूँड़"।

मूड़-वि० [सं०] (१) अज्ञान। मूर्ख। जड़बुद्धि। बेचकूट। अह-मत्त। (२) ठक। स्तब्ध। निश्चेष्ट। (३) जिससे आगा-पीछा न सूझता हो। छगमारा।

मूड़गर्भ-छंदा पुं० [सं०] गर्भ का विगड़ना जिससे गर्भ-ग्राह भादि होता है। विगड़ा हुआ गर्भ।

विशेष—सुषुप्त में छिपा है कि रास्ता चलने, सवारी पर चढ़ने, गिरने-पड़ने, चोट छगने, उलझा डेटने, मलमूत्र का वेग रोकने, रुखा, कटुआ या तीखा भोजन करने, यमन, चिरपन, हिलने-डोलने आदि से गर्भ का बंधन ढीला हो जाता है और उसकी स्थिति बिगड़ जाती है। इससे पेट, पार्श्व, पंक्ति आदि में पीड़ा होती है तथा और भी अनेक उपद्रव होते हैं। मूड़गर्भ चार प्रकार का होता है—कील, प्रतिमुर, पीनक और परिम। यदि गर्भ कील की तरह आकर मोनि-मुग बंध कर दे, तो उसे कील कहते हैं। यदि एक हाथ, एक पैर और माया भर बाहर निकले और बाकी देह रुकी रहे, तो उसे प्रतिमुर कहते हैं। यदि एक हाथ और माया निकले, तो पीनक कहलाता है, और यदि भ्रूज छंटे की तरह आकर अड़े, तो वह गर्भ परिम कहलाता है। इसमें प्रायः सत्य चिकित्सा ही जाती है।

मूड़ता-छंदा सी० [सं०] मूर्खा। अज्ञान। बेरहसी। उ०—

ऐसी मूठता या मन की। परिहरि राममकि सुखसिमा आस करत ओस कन की।—गुलसी।

मूड़यात-छंदा पुं० [सं०] किसी कोरा में रुकी या बँधी हुई पायु।

मूढ़ारमा-वि० [सं० मूढ़ारम्] निर्वोध। मूर्ख। अहमक। **मूठ-छंदा पुं०** [सं० मूठ] (१) यह जल जो खरीर के विपरीत पदार्थों को लेकर प्राणियों के उपस्थ मार्ग से निकलता है। पेशाब। वि० दे० "मूत्र"।

मुहा०—मूठ निकल पड़ना = बर के मारे उरो दशा हो जाना। जैसे,—उसे देखोने तो मूठ निकल पड़ेगा। मूठ से निकल कर मू में पड़ना = और भी गुरो दशा में पड़ना।

(२) पुत्र। संतान। (विरस्कार)

मूठना-कि० प्र० [हि० मूठ + ना (प्रत्य०)] खरीर के गंदे जल को उपस्थ मार्ग से निकालना। पेशाब करना।

संयो० कि०—देना।—लेना।

मुहा०—मूठ मारना = मूठ देना। मूठ देना = बर से पराजित होना।

मूठरी-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का जंगली कीड़ा। महाकाव्य।

मूत्र-छंदा पुं० [सं०] खरीर के विपरीत पदार्थों को लेकर प्राणियों के उपस्थ मार्ग से निकलनेवाला जल। पेशाब। मूत।

विशेष—मूत्र के द्वारा खरीर के अनावश्यक और हानिकारक क्षार, अम्ल या और विषैली वस्तुएँ निकलती रहती हैं। इससे मूत्र का वेग रोकना बहुत हानिकर होता है। कई प्रकार के प्रमेहों में मूत्र के मार्ग से विषैली वस्तुओं के अतिरिक्त शर्करा तथा खरीर की कुछ धातुएँ भी गल गल कर गिरने लगती हैं। अतः मूत्र-परीक्षा चिकित्साशास्त्र का एक प्रधान अंग पहले की था और अब भी है। मातृ-वर्ष में गोमूत्र पवित्र माना गया है और पंचगव्य के अतिरिक्त धातुओं और औषधियों के कोषण में भी उसका व्यवहार होता है। पैरक में गोमूत्र, अहिषमूत्र, छागमूत्र, मेघमूत्र, अश्वमूत्र आदि सब के गुणों का विवेचन किया गया है और विविध रोगों में उनका प्रयोग भी कहा गया है। मूत्र-दोष मे अम्ली, मूत्ररुद्ध आदि अनेक रोग हो जाते हैं।

मूत्ररुद्ध-छंदा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें पेशाब बहुत कम हो या रुक रुककर थोड़ा थोड़ा होता है।

विशेष—आयुर्वेद के अनुसार यह रोग अधिक व्यापान करने, तीव्र भीषण सेवन करने, बहुत तेज यौने पर चढ़ने, बहुत रुखा भोजन करने, अधिक मद्य सेवन करने तथा अजीर्न रहने से होता है। मूत्ररुद्ध आठ प्रकार का कहा गया है—ग्राम, पिच्छ, कृत्र, सामानिक, रायत्र, पुरीत्र, शुक्रत्र और अम्लीत्र। वातत्र में विष और पवित्र

में बहुत पीड़ा होती है और मूत्र थोड़ा थोड़ा आता है। पित्त में पीला या लाल पेशाब पीड़ा और जलन के साथ उठता है। कफज में वस्ति और शिश्न में सूजन होती है और पेशाब कुछ झाग लिए होता है। सान्निपातिक में वायु के सब उपद्रव दिखाई देते हैं और यह बहुत कष्टसाध्य होता है। शल्यज मूत्र-नली में कौड़े आदि के द्वारा घाव हो जाने से होता है और इसमें वातज के से लक्षण देखे जाते हैं। युरियज में मल-रोध होता है और वात की पीड़ा के साथ पेशाब भी रुक रुककर आता है। शुक्रज शुक्र-रोध से होता है और इसके पेशाब में धीर्य मिला आता है और पीड़ा भी बहुत होती है। अमरीज, अमरी या पथरी होने से होता है और मूत्र बहुत कष्ट से उतरता है। सुश्रुत के मत से शर्कराज्य मूत्ररूप ही कई प्रकार का होता है। शर्करा भी एक प्रकार की अमरी ही है।

मृगशय-संज्ञा पुं० [सं०] मृगशय रोग का एक भेद।
मृगप्रथि-संज्ञा पुं० [सं०] मृगशय रोग का एक भेद।
मृगग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का मृगसंग रोग जिसमें झाग लिए थोड़ा थोड़ा पेशाब आता है।

मृगजठर-संज्ञा पुं० [सं०] मृगशय से उत्पन्न एक दोष।
मृगदशक-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी, भेड़ा, ऊँट, गाय, बकरा, घोड़ा, बैसा, गवहा, मनुष्य और की इन दस के मूत्रों का समूह।
मृगवतन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूत्र गिरना। (२) गंध भाजोर। गंधविलाय।

मृगमलेक-संज्ञा पुं० [सं०] मृगनाली।
मृगफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी।
मृगपोथ-संज्ञा पुं० [सं०] एकबारगी पेशाब रुक जाने का रोग।
मृगला-वि० [सं०] पेशाब छानेवाली। (ओपधि)
संज्ञा स्त्री० ककड़ी।

मृगविक्षान-संज्ञा पुं० [सं०] मूत्र-परीक्षा पर आयुर्वेद का एक ग्रंथ जो जानुक्य कृपि का बनाया हुआ कहा जाता है। इसमें मूत्र-परीक्षा करने की अनेक प्रणालियों का सविस्तर वर्णन है। चरक, सुश्रुत आदि में इस विषय का विशेष विवेचन नहीं है; इससे नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ कहीं तक प्राचीन है।

मृगशय-संज्ञा पुं० [सं०] पेशाब बंद होने का रोग। मूत्र का रुक जाना।

विशेष—वैद्यक में यह रोग बारह प्रकार का कहा गया है—
(१) पाण्डुली, जिसमें वायु कुपित होकर वस्तिदेश में ऊँटली के आकार में टिक जाती है, जिससे पेशाब बंद हो जाता है। (२) वातघीला, जिसमें वायु मूत्र द्वारा या वस्ति-देश में गाँठ या गोले के आकार में होकर पेशाब रोकती है। (३) वातवस्ति, जो मूत्र के वेग के साथ ही वस्ति की

वायु वस्ति का मुख रोक देती है। (४) मृगशीत, जिसमें बार बार पेशाब लगता और थोड़ा थोड़ा होता है। (५) मृग-जठर, जिसमें मूत्र का प्रवाह रुकने से अधोवायु कुपित होकर नाभि के नीचे पीड़ा उत्पन्न करती है। (६) मृगोत्संग, जिसमें उतरा हुआ पेशाब वायु की अधिकता से मृगनाल या वस्ति में एक बार रुक जाता है और फिर बड़े वेग के साथ कभी कभी रुक लिए हुए निकलता है। (७) मृगशय, जिसमें सुक्री के कारण वायु-पित्त के योग से दाह होता है और मूत्र सूख सा जाता है। (८) मृगप्रथि, जिसमें वस्ति-मुख के भीतर पथरी की तरह गाँठ सी हो जाती है और पेशाब करने में बहुत कष्ट होता है। (९) मृगशुक्र, जिसमें इस मूत्र के साथ अथवा आगे पीछे शुक्र भी निकलता है। (१०) उष्णवात जिसमें व्यायाम या अधिक परिश्रम करने, और गरमी या धूप सहने से पित्त कुपित होकर वस्तिदेश में वायु से आवृत हो जाता है। इसमें दाह होता है और मूत्र हल्दी की तरह पीला और कभी कभी रुक मिठा आता है। इसे 'कदक' कहते हैं। (११) पित्तज मृग्रीकसाद, जिसमें पेशाब कुछ जलन के साथ गाढ़ा गाढ़ा होकर निकलता है और सूखने पर गोरोचन के चूर्ण की तरह हो जाता है। और (१२) कफज मृग्रीकसाद जिसमें सफ़ेद और छुआबदार पेशाब कष्ट से निकलता है।

मृगशय-संज्ञा पुं० [सं०] नाभि के नीचे का वह स्थान जिसमें मूत्र संचित रहता है। मसाना। कुकना।

मृगसाद-संज्ञा पुं० [सं०] मृग्रीकसाद नामक मृगशय रोग।
मृगिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सलकी बुल। सलई का पेड़।
मृग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीतल वा छोड़े की अँकुरी जो टेढ़ूप के सिरे पर जड़ी रहती है और जिसमें रस्सी या डोरा फँसा रहता है। (२) एक झाड़ी जिसके फल ढेर के समान सुंदर सुंदर होते हैं।

मृ-कि० प्र० [सं०] मृग, प्रा० मृग + ना (मृग०) मरना।
वि० दे० "मृगना"।

मृग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल। जड़। (२) जड़ी।
(३) मूलधन। असल। उ०—(क) दस मू देतो नहीं जो छँ मीत चुकाय। विरह व्याज वादो भरे नित्य वादत जाय—रसनिधि। (ख) कोई चले लाम सों कोई मू गँवाय।—जायसी। (ग) चलयो यनिक जिम मू गँवाई।—नुलही।

मृग-वि० दे० "मृग"।
मृगशय-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृगशय + र (मृग०) मृगना। अज्ञात। नासमसी। नादाना। उ०—(क) घों पछिनाग कई पदमावर कासों कई निज मृगनाई।—पद्माधर। (ख) ल्यों ये सय बेदना सेद पीदा दुगदाई। जिन कपसीसनि सदा धमंछि मृगनाई।—भीरव पाटक।

मूरचा-पंथा पुं० दे० "मोरचा" ।

मूरछना-पंथा स्त्री० दे० "मूरछना" । उ०—(क) पंचम नाद निखादहि में सुर मूरछना गन ग्राम सुभावन ।—देव ।
(ख) मूरछना उर्पट उत वे इत मो हिय मूरछना सरसानी ।
—गुमान ।

पंथा स्त्री० दे० "मूरछा" ।

कि० प्र० मूरछिन होना । बेहोरा होना ।

मूरछा-पंथा स्त्री० दे० "मूरछा" । उ०—दिन दिन तनु तनुता गही छही मूरछा तापु । पिक द्विज ये मोलत न जनु विरहिनि दैत सरापु ।—गुमान ।

मूरत, मूरति-पंथा स्त्री० दे० "मूरति" ।

मूरतिवत-वि० [सं० मूरति + वत (भव०)] मूरतिमान् । देहधारी । सगरीर उ०—रिपिन दीरि देखी तहँ कैसी । मूरतिवत तपस्या जैसी ।—गुच्छी ।

मूरध-पंथा पुं० दे० "मूरध" । उ०—(क) कीन्हे पाहु करघ को मूरध के सोले केस, छेवा ना दया को ताको कोपहि को भारा ई ।—रघुराज । (ख) मूरध करघपुंछ दिये अघ छुंछ छीन कर ।—गोपाल ।

मूरार्-पंथा पुं० [सं० मूर] मूरली ।

मूरि-पंथा स्त्री० [सं० मूर] (१) मूर । जड़ । (२) गद्दी । घड़ी । यनस्त्रा । जैसे,—जीवनमूरि । उ०—सूरदास प्रभु बिन बरी जीमैं जात समीवनमूरि ।—सूर ।

मूरि-पंथा स्त्री० दे० "मूरि" ।

मूरख-पंथा-वि० दे० "मूरख" ।

मूरख-वि० [सं०] बेवकूफ । अज्ञ । मूर्ख । नादान । नासमझ । छंड । अपढ़ । पाहिल ।

पंथा पुं० (१) उर्द । (२) वन मूरंग ।

मूर्यता-पंथा स्त्री० [सं०] अज्ञता । मूर्खता । नासमझी । बेवकूफी ।

मूर्यत्व-पंथा पुं० [सं०] भादानी । नासमझी । बेवकूफी । अज्ञता ।

मूर्यिनी-पंथा स्त्री० [सं० मूर्य] मूर्या स्त्री । बे-समझ औरत । उ०—ई मोहन निय को दिखरायो । कहीं मूर्यिनी कहँ ते आयो ।—रघुराज ।

मूर्यिमा-पंथा स्त्री० [सं०] मूर्यिनी । जड़ता । बेवकूफी ।

मूर्युन-पंथा पुं० [सं०] (१) संज्ञा छोप होना या करना । बेहोरा करना । (२) मूर्युन करने का मंत्र या प्रयोग । उ०—भाउ हीं राज काज करि भाऊँ । रगि सँहारी सकल पोव निजु जो मुग आबनु पाऊँ । ती मोहन मूर्युन पारीकरन पदि अमिल देह बड़ाई ।—सूर । (३) पारे का तीसरा संस्कार जिसमें मूर्युन तिरुल्लिह में सात दिन तक भारना दी जाती है । (४) कामदेव का एक वार्य ।

मूर्युना-पंथा स्त्री० [सं०] संगीन में एक ग्राम मे दूसरे ग्राम तक जाने में सारा रातों का आरोह-अवरोह । उ०—

(क) सुर नाद ग्राम नृपति सताल । मुख बगं विषि आलाप काल । बहु कला जाति मूर्युना मानि । बह भाग गमक गुन चलत जानि ।—केशव । (ख) सुर मूर्युना ग्राम है ताल । गावत कृष्ण वरित सब काल ।—रघुराज ।

विशेष—ग्राम के सातवें भाग का नाम मूर्युना है । रात के मत से गाते समय गले को कँपाने से ही मूर्युना होती है, और किसी किसी का मत है कि स्वर के सूक्ष्म पिराम को ही मूर्युना कहते हैं । तीन ग्राम होने के कारण ११ मूर्युनाएँ होती हैं जिनका व्योरा इस प्रकार है—

पड़ज ग्राम की मध्यम ग्राम की गांधार ग्राम की

ललित पंचमा रौद्री

मध्यमा मसूरी माही

पित्रा शुद्धमध्या वीणवी

रोहिणी शुद्धा खेद्री

मर्तंजया भंडा सुरा

सौवीरी कलावती नादावती

पडमध्या तीमा विताला

अन्य मत से मूर्युनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

उत्तरसुद्धा सौवीरी मंडा

रजनी हरिणाथा गिताला

उत्तरावली कपोलता सोमरी

शुद्ध पडंगा शुद्धमध्या विचित्रा

मसूरीकांता मार्गी रोहिणी

अधकांता पौरवी शुष्का

अमिलता मंडाक्री अलावी

मूर्यु-पंथा स्त्री० [सं०] (१) मूर्या की यह अपत्या जिसमें उसे किसी बात का ज्ञान नहीं रहता, यह निश्चय पड़ा रहता है । संज्ञा का छोप । अचेत होना । बेहोरी । उ०—गढ़ मूर्यु तप भूपति जागे । बोलि सुमंग कहन अल लगे ।—गुच्छी ।

कि० प्र०—आना ।—पारकर गिरना ।—होना ।

विशेष—आयुर्वेद में मूर्यु रोग के दो कारण कहे गए हैं—विषद वस्तु का खा जाना, मल मूत्र का भोग रोकना, मल नाभ से सिर भादि मरने एरातों में थोटा छाना अथवा सख गुन का स्वभावतः कम होना । इनहीं सब कारणों से पानीय द्रव्य मनोपिष्टान में प्रविष्ट होकर अथवा जिन मादियों द्वारा हृदयों और मन का व्यापार चलता है, उनमें अविहित होकर तमोगुण की वृद्धि करके मूर्यु उत्पन्न करते हैं । मूर्यु आने के पहले वैमल्य होगा है, जैसा आती है और कभी कभी स्तिर या हृदय में पीड़ा भी जान पड़ती है । मूर्यु रोग सात प्रकार का कहा गया है—वातज, रिक्तज, कफज, श्लिष्मज, रज्जज, मलज और विपज । वातज

मूर्च्छा में रोगी को पहले आकाश नीला या काला दिखाई देने लगता है और वह बेहोश हो जाता है; पर थोड़ी ही देर में होश में आ जाता है। इसमें कंप और अंग में पीड़ा भी होती है और शरीर भी बहुत दुर्बल और काला हो जाता है। पिप्पल मूर्च्छा में बेहोशी के पहले आकाश लाल, पीला या हरा दिखाई पड़ता है और मूर्च्छा छूटते समय आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर में गरमी मालूम होती है, प्यास लगती है और शरीर पीला पड़ जाता है। श्लेष्मज मूर्च्छा में रोगी स्वच्छ आकाश को भी बादलों से ढका और अँधेरा देखते देखते बेहोश हो जाता है और बहुत देर में होश में आता है। मूर्च्छा छूटते समय शरीर ठीला और भारी मालूम होता है और पेशाब तथा वमन की इच्छा होती है। सलिपातज में उपर्युक्त तीनों लक्षण मिले जुले प्रकट होते हैं और मिरगी के रोगी की तरह रोगी जमीन पर अकस्मात् गिर पड़ता है और बहुत देर में होश में आता है। मिरगी से भेद इतना होता है कि इसमें मुँह से फेन नहीं आता और दौँत नहीं बैठते। रक्तज मूर्च्छा में अंग ठक और एहि स्थिर सी हो जाती है और साँस साफ चलती नहीं दिखाई देती। मयज मूर्च्छा में रोगी हाथ पैर मारता और अनाप-शानाप सकता हुआ भूमि पर गिर पड़ता है। विपज मूर्च्छा में कंप, प्यास और शपकी मालूम होती है तथा जैसा विप हो, उसके अनुसार और भी लक्षण देखे जाते हैं।

मूर्ध्ति, मूर्ध्जित-वि० [सं०] (१) जिससे मूर्च्छा आई हो। मेसुप। बेहोश। अचेत। उ०—(क) सुमन्त गदाधर भट्ट तहाँ ही। मूर्ध्ति गिरत भये महि माहीं।—रघुराज। (ख) यह सुन कंस मूर्ध्जित हो गिरा।—लल्लुलाल। (२) मारा हुआ (पारे आदि धातुओं के लिये)। (३) दृढ़। (४) व्यास।

मूर्ध-वि० [सं०] (१) जिसका कुछ रूप या आकार हो। साकार। विशेष—नैयायिकों के मत से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन मूर्ध पदार्थ हैं। इनके गुण रूप, रस, गंध, स्पर्श, पराव, अपराव, गुरु, स्नेह और वेग हैं। (२) कठिन। टोस। (३) मूर्च्छित।

मूर्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्ध होने का भाव।

मूर्ध-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कठिनता। टोसपन। (२) शरीर। देह। (३) आकृति। शकल। स्वरूप। सूरत। जैसे,—उस मनुष्य की भयंकर मूर्ध देखकर वह डर गया। (४) किसी के रूप या आकृति के सदृश गढ़ी हुई वस्तु। प्रतिमा। विग्रह। जैसे,—हृण की मूर्ध, देवी की मूर्ध।

मृदा०—मूर्ध के समान = ठक। सत्त्व। निश्चय।

(४) रंग या रेषा द्वारा बनी हुई आकृति। चित्र। तस्वीर।

(५) महा सावर्णि के एक पुत्र का नाम।

मूर्धिका-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूर्ति बनानेवाला। (२) तस्वीर बनानेवाला। मुसौवर।

मूर्धिप-संज्ञा पुं० [सं०] पुजारी।

मूर्धिपूजक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मूर्ति या प्रतिमा की पूजा करता हो। मूर्धि पूजनेवाला।

मूर्धिपूजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्ति में ईश्वर या देवता की भावना करके उसकी पूजा करना।

मूर्धिमान-वि० [सं०] [स्त्री० मूर्धिमती] (१) जो रूप धारण किए हो। सन्धारी। (२) साक्षात्। गोचर। प्रत्यक्ष।

मूर्धिविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतिमा गढ़ने की कला। (२) चित्रकारी।

मूर्ध-संज्ञा पुं० [सं० मूर्ध] मस्तक। सिर।

मूर्धक-संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रिय।

मूर्धकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] छाता या और कोई वस्तु (जैसे, डेकरा) जो धूप, पानी आदि से वधने के लिये सिर पर रखा जाय।

मूर्धकपारी-संज्ञा स्त्री० दे० “मूर्धकर्णी”।

मूर्धखोल-संज्ञा पुं० दे० “मूर्धकर्णी”।

मूर्धज-वि० [सं०] सिर से उत्पन्न होनेवाला।

संज्ञा पुं० केश। बाल।

मूर्धज्योति-संज्ञा स्त्री० [सं० मूर्धज्योतिस्] मक्षरप्रभ। (योग)

मूर्धन्य-वि० [सं०] (१) मूर्ध से संबंध रखनेवाला। मूर्ध संबंधी। (२) सिर या मूलक में स्थित।

मूर्धन्य वर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वे वर्ण जिनका उच्चारण मूर्ध में होता है।

विशेष—मूर्धन्य वर्ण ये हैं—अ, ऋ, ए, उ, ऋ, ऌ, ऒ, ङ, र और य।

मूर्धन्यान्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गंधर्व का नाम। (२) वाग्देव ऋषि जो ऋग्वेद के इषाम मंडल के अष्टम सूक्त के गृहा थे।

मूर्धपिंड-संज्ञा पुं० [सं०] गजकुंड। हाथी का मस्तक।

मूर्धपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] सिर पर पुष्प।

मूर्धरस-संज्ञा पुं० [सं०] मान का फेन।

मूर्ध-संज्ञा पुं० [सं० मूर्ध] मस्तक। सिर।

मूर्धभिपेक-वि० [सं०] जिसके सिर पर अभिपेक किया गया हो।

संज्ञा पुं० (१) क्षत्रिय। (२) राजा। (३) एक मिथ जाति जिसकी उत्पत्ति माह्मण से विवाही क्षत्रिय स्त्री के गर्भ से कही गई है। इस जाति की वृत्ति हाथी, घोड़े और रथ की शिक्षा तथा दाक्ष-धारण है।

मूर्धभिपेक-संज्ञा पुं० [सं०] सिर पर अभिपेक या उल्लिखन

होना (जैसा कि राजाओं के गद्दी पर बैठने के समय होता है)।

मूर्धा-पंथा स्त्री० [सं०] मरोदफली नाम की लता जो हिमालय के उत्तरांचल की छोटी भारतवर्ष में और सब जगह होती है।

चिरोप—इसमें सात आठ बंडल निकलकर ऊपर उपर लता की तरह फैलते हैं। फूल छोटे छोटे, द्वापरन लिप्य सफेद रंग के होते हैं। इसके रेशे बहुत मजबूत होते हैं जिससे प्राचीन काल में उन्हें बटकर घनुष की खोरी बनाते थे। उपनयन में क्षत्रिय लोग मूर्धा की मेखला धारण करते थे। एक मन पत्तियों से आय सेर के लगभग सूखा रेशा निकलता है, जिससे कहीं कहीं जाल बुने जाते हैं। त्रिचिनापल्ली में मूर्धा के रेशों से बहुत अच्छा कपड़ा बनता है। ये रेशे रेशम की तरह चमकीले और सफेद होते हैं। मूर्धा की जड़ भीषण के काम में भी आती है। यह लोग इसे यक्ष्मा और पाली में देते हैं। आयुर्वेद में यह अति तिक्त, फोसी, उष्ण तथा हृदय, कफ, पित्त, प्रमेह, कुष्ठ और विषम ज्वर को दूर करनेवाली मानी जाती है।

पर्या०—देवी। मधुरसा। मोरदा। तेजनी। सवा। मधु-लिका। पनुप्रेणी। गोपर्णी। पीतुर्णी। सुवा। मूर्धा। मधुप्रेणी। मधुप्रेणी। सुसंगिका। तृषक्यथा। दिव्यलता। गोपल्ली। ज्यलिनी।

मूर्धिका-पंथा स्त्री० [सं०] मूर्धा।

मूल-पंथा पुं० [सं०] (१) पेशों का वह भाग जो धृष्टी के नीचे रहता है। जड़। उ०—गृहि भासा अटक्की रहे अलि मुलाय के मूल।—विहारी। (२) राने योग्य मोटी भीठी जड़। कंद। उ०—संवत सहस्र मूल फल ग्राह्य। साक ग्राह्य सत वर्ष गैपाह्य।—तुलसी।

यी०—कंद मूल।

(१) आदि। आरंभ। शुरु। उ०—(क) उमा संसु लीगारमन जो मोपर अनुहल। गी बरनी सो होइ सुर अंत मय भर मूल।—विधाम। (ख) सेतु मूल सिव सोमिनि केसव परम प्रदास।—केसाव। (ग) आदि कारण। उत्पत्ति का हेतु। उ०—कर्म की मूल तग, तन मूल जीव जग, जीवन की मूल अति आनंद ही परिषी।—पद्माकर। (४) असल उमा या धन जो किसी व्यवहार या व्यवसाय में लगाया जाय। असल। पूंजी। उ०—और पतिन में गदरी लार, होन मूल में दानि।—सूर। (५) किसी वस्तु के आरंभ का भाग। शुरु का हिस्सा। प्रीमे,—शुभमूल। (६) नीचे। मुनिपाद। (७) प्रथमकार का निज का भाग या स्वयं जिस पर दीक्षा आदि की जाय। प्रीमे,—इस प्रथम में समापन मूल और दीक्षा दोनों हैं। (८) सगर्भ नक्षत्रों में से उर्ध्वस्थ नक्षत्र।

विशेष—इस नक्षत्र के अधिपति निरंति हैं। इसमें भी तारे हैं जिनकी आकृति मिलकर सिंह की पूँछ के समान होती है। यह अचोमुख नक्षत्र है। फलित के अनुसार इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला बुद्धायसा में दरिद्र, शरीर से पीड़ित, कल-नुरागी, मादविह्वल और आत्मीय लोगों का उपकार करने वाला होता है।

(१०) निजुज। (११) पात। समीर। (१२) मूल। त्रिमीकंद। (१३) विष्णुकी मूल। (१४) पुष्करमूल। (१५) दुर्ग राष्ट्र। (१६) किसी देवता का आदि मंत्र या मंत्र। वि० [सं०] मुख्य। प्रधान। खास। उ०—खास मूल सब बोलि हमारे सोई सैन्य हजरी। पर चर दीर्घ मोनि ख्याये हुत सैन्य भयंकर भूरी।—रघुराज।

मूलक-पंथा पुं० [सं०] (१) मूर्धा। उ०—(क) कौंचे बट जिमि चारडे फोरी। सकडें मेर मूलक ह्व तोरी।—तुलसी। (ख) जिनके दसन करालक बूटे। उर छात मूक ह्व बूटे।—तुलसी। (२) यौतिस प्रकार के स्थार विषों में से एक प्रकार का विष। (३) मूल स्वरूप। वि० उत्पन्न करनेवाला जनक। जैसे,—जनयंमूलक।

मूलकपर्णी-पंथा स्त्री० [सं०] सोमाजिन। सहजिन का पैर। मूलकर्म-पंथा पुं० [सं०] धनकर्म। (१) प्राप्त, उद्धार, संगम यशीकरण आदि का वह प्रयोग जो भोपविषों के मूल (जड़ी) द्वारा किया जाता है। मूढ। डोहा। डोटका।

विशेष—मनु ने इसे उपपातकों में गिना है। (२) प्रधान कर्म।

विशेष—पूजा आदि में कुछ कर्म प्रधान होते हैं और कुछ भंग। मूलकारिका-पंथा स्त्री० [सं०] (१) मूल ग्रंथ के पत्र। (२) मूल धन की एक विशेष प्रकार की वृद्धि। (३) बंडी। मूलहृच्छ-पंथा पुं० [सं०] स्थितियों में घणित ग्राह्य प्रकार के पणकृष्ण मंत्रों में से एक मंत्र जिसमें मूर्धा आदि कुछ विशेष जड़ों के काय या रस को पीकर एक मास तक रोग बरना पड़ता था। (सिगातरा)

मूलकेशर-पंथा पुं० [सं०] नीच। मूलजानक-पंथा पुं० [सं०] एक प्राचीन वर्णसंज्ञा जिनकी वेदों की जड़ मोदकर जीविषा निषेध करती थी। मूल ग्रंथ-पंथा पुं० [सं०] अष्टल ग्रंथ। मिताका। भागीर, गीता आदि की गई हो।

मूलचंद्र-पंथा पुं० [सं०] (१) जड़ से बारा। (२) रत्न माल। मूलज-पंथा पुं० [सं०] भयंकर। मूलशिक्षण-पंथा पुं० [सं०] मूर्ध्व आदि ग्रंथों की कुछ विशेष स्थितियों में मिलित। यह सब मूलशिक्षण में रहते हैं, सब मध्यम बल के माने जाते हैं।

विशेष—रवि का मूलशिक्षण सिंह राशि, चंद्र का बुध, शनि

का मेप, बुध का कन्या, बृहस्पति का घनु, शुक्र का तुला और शनि का कुंभ है। मतलब यह कि इन इन राशियों में यदि ये ये ग्रह होंगे, तो मूलत्रिकोण में कहे जायेंगे। (फलित ज्योतिष)

मूलद्रव्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल धन। (२) आदिम द्रव्य या भूत जिससे और द्रव्यों या भूतों की उत्पत्ति हुई हो।

मूलद्वार-संज्ञा पुं० [सं०] प्रधान द्वार। सिंहद्वार। सदर फाटक।

मूलद्वारायती-संज्ञा स्त्री० [सं०] द्वारायती नगरी का प्राचीन अंश जो आजकल की. द्वाराक से कुछ दूर प्रायः समुद्र के भीतर पड़ती है।

मूलधन-संज्ञा पुं० [सं०] वह असल धन जो किसी व्यापार में लगाया जाय। पूँजी।

मूलधातु-संज्ञा स्त्री० [सं०] मज्जा।

मूलधर्मा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मंडूकपर्णी नाम की ओषधि।

मूलधुरूप-संज्ञा पुं० [सं०] किसी वंश का आदि पुरुष। सब से पहला पुरुष जिससे वंश चल्य हो।

मूलधुक्कर-संज्ञा पुं० [सं०] धुक्करमूल।

मूलपोती-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी पोथ नाम का शाक।

मूल प्रकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] संसार की बीज-शक्ति या वह आदिम सत्ता, संसार जिसका परिणाम या विकास है। आत्मा शक्ति। हिं० दे० "प्रकृति"।

मूलफलद-संज्ञा पुं० [सं०] फलदल।

मूलबंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हठ योग की एक क्रिया जिसमें सिद्धासन या वज्रासन द्वारा शिख और गुदा के मध्यवाले भाग को दबाकर कपान यागु को ऊपर की ओर बढ़ाते हैं। (२) तंत्रोपचार पूजन में एक प्रकार का अंगुलिन्यास।

मूलवर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूलोच्छेदन। (२) मूल नक्षत्र।

मूलभृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पुस्तकी नौकर।

मूलरस-संज्ञा पुं० [सं०] मोरट लता। मूवां।

मूलविष-संज्ञा पुं० [सं०] जिसकी जड़ विषयी हो। जैसे, — कनेर।

मूलव्यसन-संज्ञा पुं० [सं०] बंध का दंड। भारण।

मूलयाकट-संज्ञा पुं० [सं०] वह चैन जिसमें मूली, गाजर आदि मोटी जड़वाले पौधे बांध जायें।

मूलशोधन-संज्ञा पुं० [सं०] पुंडरीक कृष्ट।

मूलसर्वास्तिन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] बीजों का एक संयुक्त।

मूलस्थिती-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्थिति। आख्यात। उ०—कहूँ बृह मूलस्थिती मोय पविं । महात्मन मानेन सीमा न सीतं ।—बंगाल।

मूलस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आदि स्थान। बाप दादा की जगह। पुरातन का स्थान। (२) प्रधान स्थान। (३) भोजन।

दीवार। (४) ईश्वर। (५) मूलतान नगर जहाँ भास्कर सीधें था।

मूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सतावर। (२) मूल नक्षत्र। (३) धृष्टी। (हिं०)

मूलाधार-संज्ञा पुं० [सं०] योग में माने हुए मानव शरीर के भीतर के छः चक्रों में से एक चक्र जिसका स्थान गुदा और शिश्न के मध्य में है। इसका रंग लाल और देवता गणेश माने गए हैं। इसके दलों की संख्या ४ और अक्षर य, श, प तथा स हैं।

मूलिक-वि० [सं०] मूल संबंधी।

संज्ञा पुं० कंद मूल खाकर रहनेवाला संन्यासी।

मूलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ओषधियों की जड़। जड़ी। उ०—

(क) वैधिक विधान अनेक लौकिक आचरत सुनि जानि कै।

बलिदान पूजा मूलिका मनि साधि राखी अनि कै।—

सुलसी। (ख) आन्यो सदन सहित सीवत ही जी लौं पलक

पर न। जिये कुँवर निजि मिले मूलिका कीन्दी विनय

सुखेन।—सुलसी।

मूलिनी वर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार ये सोलह प्रकार के मूल (जड़ें)—नागवंती, श्वेतवचा, दयामा, त्रिहुत, बृहदारका, सखला, श्वेतापराजिता, मृगपर्णी, गोहंवा, ज्योतिष्मती, बिबि, क्षणपुष्पी, विषाणिका, अचगंधा, ब्रवंती और क्षीरिणी।

मूली-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूलक। (१) एक पौधा जो अपनी लंबी मुलायम जड़ के लिये खोया जाता है। यह जड़ खाने में मोटी, चरपरी और तीक्ष्ण होती है।

विशेष—मूली साल में दो बार बोई जाती है; इसके प्रायः सब दिन मिलती है। मूली की जड़ नीचे की ओर पतली और ऊपर की ओर मोटी होती जाती है। इसकी कई जातियाँ होती हैं। साधारण मूली एक बालिन लंबी और दो बार्दे अंगुल मोटी होती है। पर बड़ी मूली हाथ हाथ भर लंबी और चार पाँच अंगुल तक मोटी होती है। नैपाल देश में उत्पन्न होने के कारण इसे नेपाल या मेवार भी कहते हैं। यह खाने में मोटी होती है और इसमें कड़वापन या चरपराहट नहीं होती। मूली का रंग सफेद होता है; पर लाल रंग की मूली भी अब हिंदुस्तान में बोई जाने लगी है, जिसे चिल्लावती मूली कहते हैं। जड़ से गारसों के मे लंबे छेदे पत्ते ऊपर की ओर निकलते हैं। बीज छोटे और काले होते हैं। इन बीजों में से एक प्रकार का दुर्गंधयुक्त तेल निकलता है, जिसमें गंधक का बहुत कुछ भंडा रहता है। मूल अधिकतर कच्चा, पा दाढ़ के रूप में पकाकर खाया जाता है। बीज हटा के काम में आते हैं। मूली

होना (जैसा कि राजाओं के गद्दी पर बैठने के समय होता है)।

मूर्धा-पंथा श्री० [सं०] मरोदफली नाम की लता जो हिमालय के उत्तराखण्ड की छोटी भारतवर्ष में और सुब जगह होती है।

विशेष—इसमें सात आठ बंटल निकलकर ऊपर उभर लता की तरह फैलते हैं। फूल छोटे छोटे, हराभन लिय सफेद रंग के होते हैं। इसके रेशे बहुत मजबूत होते हैं जिससे प्राचीन काल में उन्हें बटकर घण्टी की बोरी बनाते थे। उपनयन आसने में 'मोटा, मूर्धा' की मेलका धारण करते थे। एक

मुहा०—(किसी को) मूर्धा गाजरें लटका देना निकलता मममता। (गोपी गिनता)।

(१) एक प्रकार का घोंस। (२) जड़ी बूटी। मूढका।

पंथा श्री० [सं०] (१) जेठरी। (२) मन्सपुराण के अनुसार एक नदी का नाम।

मूल्य-पंथा पुं० [सं०] किसी वस्तु के बदले में मिलनेवाला धन। दाम। कीमत।

वि० (१) प्रविष्टा के योग्य। कदर के लायक। (२) सोपने या छानने योग्य (पीया)। (३) जड़ से उखाड़ने योग्य (चैन की फूसल, जैसे उर्द, मूंग आदि)।

मूल्यवान्-वि० [सं०] जिसका दाम बहुत अधिक हो। बड़े दाम का। कीमती।

मूलश्री-पंथा श्री० [सं०] साप्ताहिकी।

मूय, मूयक-पंथा पुं० [सं०] पृथा। उ०—सक विनु स्वारथ पर अरगरी। यदि मूयक हथ मुनु अरगरी।—मुलसी।

मूयककर्णी-पंथा श्री० [सं०] मूसासानी नाम की लता। आयुष्मणी।

मूयकयाहन-पंथा पुं० [सं०] गणेश।

मूयकामारी-पंथा श्री० [सं०] भूतप्रेमी नाम की लता।

मूया-पंथा श्री० [सं०] (१) सोना आदि गलने की धरिया। सैरसायसिनी। (२) देवगाढ़ वृक्ष। (३) गोररु का पौधा। (४) गयदा। सुरेया।

मूयाकली-पंथा श्री० [सं०] मूया कानी लता।

मूयानुरय-पंथा पुं० [सं०] भोज्य पोषा। मृतिवा।

मूयिक-पंथा पुं० [सं०] (१) पृथा। मूया। (२) महाभारत के अनुसार दक्षिण के एक जनपद का प्राचीन नाम।

मूयिकपर्व-पंथा श्री० [सं०] जन्म होनेवाला एक प्रकार का वृक्ष। पर्व्या० न्यमोषी। विद्या। उपविद्या। द्वयंती। संवरी। दूरा। दूरपर्वी। आयुपर्वी।

मूयिकसमय-पंथा पुं० [सं०] संकट का एक साधन जिसके सिद्ध हो जाने से, कहा जाता है कि मनुष्य पृथ्वी को बोली समझकर उगमे शुभ अनुम कर्म कर सकता है।

मूयिकारु-पंथा पुं० [सं०] गणेश।

विशेष—इस नक्षत्र के अधिपति निकर्ति हैं। इसमें जो लोग हैं जिनकी आकृति मिथुन सिंह की पृष्ठ के समान होती है। यह अधोमुख नक्षत्र है। कलित के अनुसार इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला बृद्धावस्था में दरिद्र, शरीर से पीड़ित, कष्ट-सुरागी, मातृपितृहन्ता और आत्मीय लोगों का उपकार करने वाला होता है।

(१०) निहुंज। (११) पास। समीप। (१२) सूरन। निर्माकंद। (१३) विप्लवी मूख। (१४) उपकारमूल। (१५) हुगं राष्ट्र। (१६) किसी देवता का आदि मंत्र या बीज।

वि० [सं०] अमृत। प्रधान। सास। उ०—स्वाय मूख पैसाने का पिंडदा।

मूसना-कि० सं० [सं० मूय] सुराकर दहा ले जाता। उ०—(क) मूसन पाँच घोर करि दंगा। रहत हिए है नित रिन संग।—रघुनाथदास। (ख) सूरन के मिस ही मन मूसन होत ममूसन ही किर कोटन।—देव। (ग) मुनिवत विरद रूप रस नागरी छिन्दी पकटि कटू सी। से इनी मेल संपति सखि सो संगति कैहि मूसी।—ए। (घ) दिया मैदिर निति करे उजरा। दिया नाहि पर मूसन चोरा।—जायसी।

संयो० मि०—ले जाता।

मूसर-पंथा पुं० [सं० मूल] (१) दे० “मूसल”। उ०—गुन ज्ञान गुमान अमेरि बड़ी कलपवृक्ष। काटत मूसर को।—तुलसी। (२) गैवार। अपक। असम्य।

मूसरखंड-पंथा पुं० [सं० मूसर + खंड] (१) अपक। गैवार। असम्य। जड़। (२) दहा कटा पर निकरमा। गुपेडा।

मूसल-पंथा पुं० [सं० मूल] (१) धान बटने का एक औजार जो लंबा मोटा बंटा सा होता है और जिसके गन्ध भाग में पकड़ने के लिये लकड़ का होता है और छोर पर लोहे की साम जड़ी रहती है। (२) एक भक्त जिसने कलाम धारण करते थे। (३) राम का कृष्ण के पद का एक चिह्न।

मूसलधार-कि० वि० [सं० मूल + धार] हथौड़ी मोटी धार में, जितना मोटा मूसल होता है। बहुत अधिक वेग से। धारासार। जैसे—मूसलधार पानी बरसता। उ०—बनसे आते ही मरमंडल को घेर दिया और गरज गरज बड़ी बड़ी गैदों लगा मूसलधार जल बरसाने।—लक्ष्मणदास।

मूसला-पंथा पुं० [सं० मूल] यह वृक्ष जो मोटी और सीधी कुछ दूर तक जमीन में धबकी गई हो, जिसमें हवा दबा मूल या धाराएँ न बूटी हों। शगरा का उल्टा।

विशेष—जड़ दो प्रकार की होती है—एक लम्बा, दूसरी मूसला।

मूसली-पंथा पुं० [सं० मूल] हथौड़ी की जगह को एक पीठ जिसकी जड़ औरत के काम में आती है और पुष्ट होती

का मेप, घृष का कन्या, बृहस्पति का धनु, शुक्र का तुला और शनि का कुंभ है। मतलब यह कि इन इन राशियों में यदि ये ये ग्रह होंगे, तो मूलत्रिकोण में कहे जायेंगे। (फलित ज्योतिष)

मूलद्रव्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल धन। (२) आदिम द्रव्य या भूत जिससे और द्रव्यों या भूतों की उत्पत्ति हुई हो।
मूलद्वार-संज्ञा पुं० [सं०] प्रधान द्वार। सिंहद्वार। सदर फाटक।

मूलद्वारावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] द्वारावती नगरी का प्राचीन भंष जो आजकल की दुआका के पास है।
मूलद्रव्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो देखने में चूहे के कान के समान, पीच में कमजोर और रोएँदार होती है। इसकी शाखाएँ बहुत घनी होती हैं और इसकी गोंडों में से जड़ निकलकर जमीन में जम जाती है। इसमें बैंगनी या गुलाबी रंग के छोटे छोटे फूल और चने के समान गोल फल लगते हैं, जो पहले हरे अथवा बैंगनी रंग के और पकने पर भूरे रंग के हो जाते हैं। ये फल चौरने पर दो दुलों में विभक्त हो जाते हैं और प्रत्येक दुल में से एक बीज निकलता है। इसके प्रायः सभी अंग ओषधि के रूप में काम में आते हैं। विशेषतः चूहे के विष की दूर करने के लिये इसे लगाया और इसका काढ़ा पीया जाता है। वैद्यक में यह चरपरी, कड़वी, कसैली, शीतल, हल्की, दस्तावर, रसायन तथा कफ, पित्त, क्रुमि, शूल, ज्वर, ग्रंथि, भूजाक, प्रमेह, पांडू, मग्नद और कोढ़ आदि रोगों को दूर करनेवाली मानी जाती है। मूत्र रोग, उदर रोग, हृदय रोग आदि में भी इसका व्यवहार होता है और यह रक्त-शोधक भी होती है। यह यड़ी और छोटी दो प्रकार की होती है। इसके अनिरुक्त इसके और भी कई भेद होते हैं, जिनमें से एक भेद के पत्ते गोभी के पत्तों की तरह लंबे और किनारे पर कटावदार होते हैं। एक और भेद छुप जाति का होता है, जो एक से चार फुट तक ऊँचा होता है। इसका डंठल मोला होता है, जिसमें से बहुत सी शाखाएँ निकलती हैं। इन सब का व्यवहार पयरी के समान होता है। इसे चूहा-कानी भी कहते हैं।

पयरी-जासुकी। द्रवती। मृषिकपणी। मृषिकाहदा।

मृग-संज्ञा पुं० [सं०] एक मुनि, जिनके पुत्र मार्कण्डेय ऋषि थे।
मृग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशु मात्र, विशेषतः बन्धु पशु। जंगली जानवर। (२) हिरण।

विशेष-मृग नौ प्रकार के कहे गए हैं—मसृक, रोहित, न्यकु, संग, यमूण, रुद्र, शरा, पुण और हरिण। वि० दे० "हिरण"।

दीवार। (४) ईश्वर। (५) मुलतान नगर जहाँ भारत तीर्थ था।

मूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सतावर। (२) मूल पक्षधर। (३) पृथ्वी। (दि०)

मूलाधार-संज्ञा पुं० [सं०] योग में माने हुए मानव शरीर भीतर के छः चक्रों में से एक चक्र जिसका स्थान गुदा व शिश्न के मध्य में है। इसका रंग लाल और देवता गण माने गए हैं। इसके दुलों की संख्या ४ और अक्षर ४, प तथा स हैं।

मृगधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कस्तूरी का नाम। (२) जवा नामक गंधद्रव्य।

मृगचर्म-संज्ञा पुं० [सं०] हिरण का चमड़ा जो पवित्र माना जाता है। इसका व्यवहार उपासक संस्कार में होता है। इसे साधु संन्यासी विछाते हैं।

मृगचैटक-संज्ञा पुं० [सं०] गंधविलास। मुद्रक विलास। खट्वा मृगछाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृग + हि० छाला। मृगचर्म।

मृगज-रस-संज्ञा पुं० [सं०] एक रसोषध जिसका व्यवहार रक्त में होता है।

विशेष-शोधा हुआ पारा और सृष्टिका लयण- (लोनी) के रस में एक दिव तक घोड़ने से यह तैयार होता है।

मृगजल-संज्ञा पुं० [सं०] मृगवृणा की लहरें। उ०—(क) ससुद्र समीप विहाई। मृगजल निरलि मरुदु कत धाई। हुलसी। (ख) श्या जाह बर मृगजल पाना। बह जाम सस सांस विपाना।—गुलसी।

मृगजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी।

मृगजुभ-संज्ञा पुं० [सं०] खोप या थोरी गुप हुए धन की को मृगवृणा, मृगवृणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जल या जल की लहरें। यह मिथ्या प्रतीति जो कभी कभी उत्तर मैदानों में धूप पड़ने के समय होती है। मृगमरीचिका।

विशेष-गरमी के दिनों में जय वायु की तर्हों का घन उष्णता के कारण असमान होता है, तब पृथ्वी के निकट वायु अधिक उष्ण होकर ऊपर की उठना चाहती है; पर ऊपर की तर्हें उसे उठने नहीं देती, इसने उस वायु लहरें पृथ्वी के समानांतर बहने लगती हैं। यही लहरें दूर देखने में जल की धारा सी दिखाई देती हैं। मृग इससे मा जोखा खाते हैं; इससे इसे मृगवृणा, मृगजल आदि कहते हैं।

मृगवृणा-संज्ञा स्त्री० दे० "मृगवृणा"।

मृगदंशक-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।

मृगदाघ-संज्ञा पुं० [सं०] मृग + दाघ = घों या घन। (१) यह व जिसमें बहुत मृग हों। (२) मानी के पास 'मारना' नामक यज्ञ का प्राचीन नाम।

शृंगधर-छंदा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

शृंगधूम-छंदा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।

शृंगधूर्ध-छंदा पुं० [सं०] शृंगाल ।

शृंगनाथ-छंदा पुं० [सं०] सिंह ।

विशेष—“शृंग” शब्द के आगे पति, नाथ, राम आदि शब्द लगाने से सिंहशायक शब्द बनता है ।

शृंगनाभि-छंदा पुं० [सं०] कस्तूरी ।

शृंगनाभिजा-छंदा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

शृंगनेत्रा-छंदा स्त्री० [सं०] शृंगसिरा नक्षत्र में युक्त राशि । अगहन महीने के बीसवें दिन के २० वृंक्ष के उपरांत से लेकर मंजोति तक के काल को शृंगनेत्रा कहते हैं, जिसमें श्राद्ध, नयाग आदि वर्जित हैं ।

शृंगपति-छंदा पुं० [सं०] सिंह ।

शृंगपद्-छंदा पुं० [सं०] (१) शृंग का पैर । (२) शृंग के तुर का चिह्न या गह्रा जो ज़मीन पर पड़ गया हो ।

शृंगपालिका-छंदा स्त्री० [सं०] करगुरी शृंग ।

शृंगपित्त-छंदा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

शृंगमिय-छंदा पुं० [सं०] (१) शृंग । (२) जल-कदली ।

शृंगमहा-छंदा स्त्री० [सं०] (१) जटामासी । (२) इंद्रवाणी । ईश्वर ।

शृंगमद्-छंदा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति । उ०—मद् और शृंगमद् आदि बहु जे जगजानि विजयानी ।—रघुराज ।

शृंगमंदा-छंदा स्त्री० [सं०] कदवप ऋषि की श्लोषवत्ता नागरी पत्रों से उत्पन्न दस कन्पाओं में से एक, जिसमें कक्ष, मूर और चमर जानि के शृंग उत्पन्न हुए थे ।

शृंगमंदा-छंदा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति ।

शृंगमद्-छंदा पुं० [सं०] कस्तूरी ।

शृंगमदा-छंदा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

शृंगमरोचिका-छंदा स्त्री० [सं०] शृंगगुप्ता ।

शृंगमातृक-छंदा पुं० [सं०] लंबोदर शृंग । कस्तूरी शृंग ।

शृंगमिय-छंदा पुं० [सं०] चंद्रमा । उ०—शृंगमिय त्रिवेणी पित्त जरे मिले चंद्र नितापगच्छति को ।—केशव ।

शृंगमेद-छंदा पुं० [सं०] कस्तूरी । मुद्रक । उ०—(क) सब और छिप्यो शृंगमेद महा । तम हंत मयो दिग भेद कहा ।—गुमान । (ग) पुष्पन के जल घोरि घने घनसार मिले शृंगमेद ददाइन ।—गुमान । (ग) घोषा निर्द शृंगमेद मय घन सार सो केशरि गारग डोल ।—देव ।

शृंगपा-छंदा पुं० [सं०] शिखर । अक्षर । आने । उ०—(क) हम पत्नी शृंगपा बन करी । हमने गल गुण लोचन धरि ।—मुद्रक । (ग) एक दिवस शृंगपा को निरूप्यो बंद मशामनि लाइ ।—गूर । (ग) मूलि वरी मूल को मूल बादि भई शृंगपा की मूनी शृंगपी ।—देव ।

शृंगय-छंदा पुं० [सं०] (१) पक्ष । (२) गीत । (३) गाय ।

शृंगरसा-छंदा स्त्री० [सं०] सहदेव्या नाम का पोषा । सररो । महावला ।

शृंगराज-छंदा पुं० [सं०] सिंह ।

शृंगराटिका-छंदा स्त्री० [सं०] जीवती ।

शृंग रोग-छंदा पुं० [सं०] घोड़ों का एक घातक रोग जिसमें जल्दी जल्दी ससि खेते हैं और उनके नपुने सूज से भाने हैं ।

शृंगरोचन-छंदा पुं० [सं०] कस्तूरी । मुद्रक ।

शृंगलांछन-छंदा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

शृंगलेखा-छंदा स्त्री० [सं०] चंद्रमा का धर्या ।

शृंगलोचना-वि० स्त्री० [सं०] हरिण के समान नेत्रवाली (की) ।

शृंगलोचनी-छंदा स्त्री० दे० “शृंगलोचना” ।

शृंगच-छंदा पुं० [सं०] कीट प्राणियों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

शृंगचक्षु-छंदा पुं० [सं०] कुंदुप गुण ।

शृंगवारि-छंदा पुं० [सं०] शृंगगुप्ता का जल । उ०—राते राते ही सदै संयत संताप रे । यूयो शृंगवारि खायो जेवारि के सौं रे ।—मुद्रक ।

शृंगवाहन-छंदा पुं० [सं०] वायु ।

शृंगवीथी-छंदा स्त्री० [सं०] उशोतिष के अनुसार शुक्र की नौ वीथियों में से एक जिसमें शुक्र ग्रह अनुराग, रेवता और मूल पर आता है ।

शृंगशिर-छंदा पुं० [सं०] शृंगशिर । सदाईस नामों में से पाँचवाँ नक्षत्र ।

विशेष—इसके अधिपति चंद्रमा हैं और यह आसु पा त्रिपुत्र नक्षत्र है । यह तीन तारों से मिलकर बना हुआ और बिहरी के पैर के आकार का है । आकाश में यह नक्षत्र कन्पा हरा के बाईस वल बीतने पर उदित होता है । शृंगसिरा नक्षत्र के पुराई में (अर्ध २० वृंक्ष के बीच) वृष राशि और अपराई में मिथुन राशि होती है । इस तार में उत्पन्न मनुष्य शृंगवत्, अग्नि बलशाली, सुंदर कपोत-आकार, कामुक, साहसी, गिर प्रहृति, मित्र-पुत्र से युक्त और अनेक धनवान् होता है ।

शृंगशीर्ष-छंदा पुं० [सं०] शृंगसिरा नक्षत्र ।

शृंगसत्र-छंदा पुं० [सं०] उशीर दिन का एक रात्र ।

शृंगांक-छंदा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । उ०—द्वित्रासा सतपत उदयननय सारांक शृंगांक ।—मंदराग । (१) एक रात्र को शृंगर्ष और सदाई से बनता है और हाथ रोग में विशेष उपकारी होता है । वि० दे० “शृंगांक रात्र” । उ०—(क) रात्र की रजाई में सदाईनी खमीर गुन उतारि पयोधि पार सोधि शृंगांक हो । अनुपान पुर पुर पार मंक लाकर रात्र जगन जाति कियो है शृंगांक हो ।—मुद्रक । (ग) विनी

विराट के सुरारि राजरोग जानि जू । निमित्त तासु वैद
ज्यों जन्मी मृगांक टानि जू ।—रघुनाथदास ।

मृगांक रस—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रसौषध ।

विशेष—पारा एक भाग, सोना एक भाग, मोती दो भाग,
गंधक दो भाग और सोहागा एक भाग, इन सब चीजों को
कौनों में पीसकर नमक के भोंडे में रखकर चार पहर
पकाते हैं । चार रस्ती की भाथा में सेवन करने से राजयक्ष्मा
रोग नष्ट हो जाता है । राजमृगांक और महामृगांक रस भी
होते हैं, जिनमें द्रव्यों की संख्या अधिक होती है ।

मृगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] सहदेव का पौषा ।

मृगाक्षी—वि० स्त्री० [सं०] हरिण के से, मेघोंवाली ।

मृगाजीव—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वारणी लता । (२) कस्तूरी ।

मृगाहृ—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह, चीता, बाघ इत्यादि वन जंतु जो
मृगों को खाते हैं ।

मृगादनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्रावाणी । इंद्रायन । (२)
सहदेव । (३) ककड़ी ।

मृगाराति—संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता ।

मृगाश, मृगाशन—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह । उ०—(क) मृपकादि
ग्रह में रहें यहिर मृगाश शकुंतु । गो अश्वदिग जीव बहु
भीवहिं सप छुड़ जंतु ।—शंकरदि० वि० । (ख) दबति
श्रीपदी देखि दुशासन । जिमि वन में लखि मृगी मृगाशन ।
—रघुराज ।

मृगित—वि० [सं०] अन्वेषित ।

मृगिनीछूँ—संज्ञा स्त्री० [सं०] हरिणी । उ०—(क) ज्यों
मृगिनी दूक छुंड के थासा । त्यों ये अंपसुतन के थासा ।
ललललल । (ख) मृग मृगिनी हुम वन सारस लग काहू
महीं पतायो री ।—सूर । (ग) यँसुरी को शब्द सुनिकै
अधिक की मृगिनी आई ।—सूर ।

मृगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृग नामक वन्य पशु की मादा ।
हरिणी । हिरनी । उ०—मनहु मृगी मृग देखि दिया से ।—
हनुमती । (२) एक वर्षा घुस जिसके प्रत्येक चरण में एक
नाग (३१५) होता है । जैसे,—री प्रिया । मान दू । मान
रा । दान दू । इसे 'मिष घुस' भी कहते हैं । (३) कल्पप
क्षत्रि की क्रोधवशा नासरी पत्नी से उत्पन्न दस कन्याओं में
से एक, जिससे मृगों की उत्पत्ति हुई है और जो पुलह क्षत्रि
की पत्नी थी । (४) पीले रंग की एक प्रकार की कौड़ी
जिसका पेट सफेद होता है । (५) अपस्मार नामक रोग ।
(६) कस्तूरी ।

मृगीपति—संज्ञा पुं० [सं०] मीरुज ।

मृगेंद्र—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

मृगेंद्रचटक—संज्ञा पुं० [सं०] बाघ पक्षी ।

मृगेंद्रास्य—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

मृगेल—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो युक्त प्रांत,
बंगाल, पंजाब तथा दक्षिण की नदियों में पाई जाती है ।
इसकी आँखें सुनहरी होती हैं । यह डेढ़ हाथ के लगभग
लंबी होती है और तेल में नौ या दस सेर होती है ।

मृगेश—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

मृगैर्वास—संज्ञा पुं० [सं०] श्वेतेंद्रवाणी । सफेद इंद्रायन ।

मृगोत्तम—संज्ञा पुं० [सं०] मृगशिरा नक्षत्र ।

मृचुकटिक—संज्ञा पुं० [सं०] संस्कृत का एक प्रसिद्ध नाटक ।

मृज—संज्ञा पुं० [सं०] मुरज नाम का याज्ञा ।

मृड—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री०] मृदानी । शिव । महादेव ।

मृडा—संज्ञा स्त्री० [सं०] हुर्गा । पार्वती । उ०—मृडा चंडिका
अंबिका भवा भवानी सोय ।—नंददास ।

मृडानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] हुर्गा । भवानी । पार्वती । उ०—
अदेवी मृदेवीन की होहु रानी । करै सेव यानी मघौनी
मृदानी ।—केशव ।

मृडीक—संज्ञा पुं० [सं०] हिरन ।

मृणाल—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमल का डंठल जिसमें फूल
लगा रहता है । कमल नाल । उ०—(क) ली शिव पञ्चुप
मृणाल कि नाई । सोरहिं राम गणेश गोसाईं ।—गुलसी ।
(ख) आईं लु चलि गोपाल घरै ब्रजनाल बिनाल मृणाल सी
बाहीं ।—पद्माकर । (२) कमल की जड़ । मुरार । भसींदा ।
(३) उत्तरी । खस ।

मृणालकंड—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जलपशु ।

मृणालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कमल की डंडी । कमलनाल ।
उ०—मौरिन ज्यों भँवत रहत यत धीपिकान, हस्तिनि ज्यों
मृदुल मृणालिका चहति है ।—केशव ।

मृणालिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमलिनी । (२) वह स्थान
जहाँ कमल हों । (३) कमलों का समूह ।

मृणाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] कमल का डंठल । कमलनाल
उ०—(क) धरे एक बेणी मिली मैल सारी । मृणाली मनो
पंक सों कादि हारी ।—केशव । (ख) मैलते सहित मानों
कंचन की लता लेनी, पंक लपटानी ज्यों मृणाली दरसाई
है ।—रघुराज ।

मृत—वि० [सं०] (१) मरा हुआ । मुदा । (२) मॉगा हुआ ।
याचित ।

मृतकंधल—संज्ञा पुं० [सं०] यह कपड़ा जिससे मुद्दे को ढँकते हैं,
कफन ।

मृतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरा हुआ प्राणी । मुदा । (२)
मरण का अशौच ।

मृतक कर्म—संज्ञा पुं० [सं०] मृतक पुरुष की शुद्ध गति के लिये
दिया जानेवाला कृत्य । मृत कर्म । जैसे, दाह, पोदनी,

शृंगधर-छंदा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

शृंगधूम-छंदा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।

शृंगधूर्त्त-छंदा पुं० [सं०] शृंगाल ।

शृंगनाथ-छंदा पुं० [सं०] सिंह ।

विशेष—“शृंग” शब्द के आगे पति, नाथ, राज आदि शब्द लगने से सिंहवाचक शब्द बनता है ।

शृंगनाभि-छंदा पुं० [सं०] कस्तूरी ।

शृंगनाभिजा-छंदा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

शृंगनेत्रा-छंदा स्त्री० [सं०] शृंगसिरा नक्षत्र से युक्त राशि । अगहन महीने के बीसवें दिन के २० दंड के उपरांत से लेकर सकांति तक के काल को शृंगनेत्रा कहते हैं, जिसमें धाद, नयात्र आदि वर्जित हैं ।

शृंगपति-छंदा पुं० [सं०] सिंह ।

शृंगपद्-छंदा पुं० [सं०] (१) शृंग का पैर । (२) शृंग के सुर का चिह्न या गट्टा जो जूझान पर पड़ गया हो ।

शृंगपालिका-छंदा स्त्री० [सं०] कस्तूरी शृंग ।

शृंगपिलु-छंदा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

शृंगमित्र-छंदा पुं० [सं०] (१) शृंग । (२) जल-कदली ।

शृंगमहा-छंदा स्त्री० [सं०] (१) जलमासी । (२) इंद्रवाष्पि । ईशपन ।

शृंगभद्र-छंदा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति । उ०—भद्र भी शृंगभद्र आदि बहु जे जग जानि विष्णवानी ।—रघुराज ।

शृंगमंदा-छंदा स्त्री० [सं०] कनकप कवि की क्रीडवत्ता नागरी पत्री से उत्पन्न दस कथाओं में से एक, जिसमें कदा, समर और धमर जाति के शृंग उत्पन्न हुए थे ।

शृंगमंज-छंदा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति ।

शृंगमद-छंदा पुं० [सं०] कस्तूरी ।

शृंगमदा-छंदा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

शृंगमरोचिका-छंदा स्त्री० [सं०] शृंगगुप्ता ।

शृंगमातृक-छंदा पुं० [सं०] अंबेदार शृंग । कस्तूरी शृंग ।

शृंगमित्र-छंदा पुं० [सं०] चंद्रमा । उ०—शृंगमित्र विलोकन धिग जरे लिये चंद्र निगावरपद्धति को ।—बैराग ।

शृंगमेद-छंदा पुं० [सं०] कस्तूरी । मुद्रक । उ०—(क) सख और छिप्यो शृंगमेद महा । तम डेत भयो दिग भेद कहा ।—गुमान । (ग) पुष्पन के जल धोरि घने घनसार मिले शृंगमेद दृढ़ार ।—गुमान । (ग) घोषा मिले शृंगमेद घरी घन गार सों केगिरि गाल डोलें ।—देव ।

शृंगमा-छंदा पुं० [सं०] निम्बर । अहेर । आगेट । उ०—(क) हम घरी शृंगमा घन खरी । तुममे लख शृंग रोजन छिरी ।—दुपत्ती । (ग) एक दिवस शृंगमा को निम्नो के अग्रमणि काट ।—गूर । (ग) मुक्ति परी सूर को शृंगमा काट भई शृंगमा की शृंगी शृंगनी ।—देव ।

शृंगयू-छंदा पुं० [सं०] (१) महा । (२) गीदद । (३) आग ।

शृंगरखा-छंदा स्त्री० [सं०] सहदेव्या नाम का पोषा । सतेन । महायला ।

शृंगराज-छंदा पुं० [सं०] सिंह ।

शृंगराटिका-छंदा स्त्री० [सं०] जीवती ।

शृंग रोग-छंदा पुं० [सं०] घोड़ों का एक घातक रोग जिसमें जल्दी जल्दी सॉस रुकते हैं और उनके नयने सूज से भले हैं ।

शृंगरोचन-छंदा पुं० [सं०] कस्तूरी । मुद्रक ।

शृंगलांछन-छंदा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

शृंगलेखा-छंदा स्त्री० [सं०] चंद्रमा का घग्घा ।

शृंगलोचना-वि० स्त्री० [सं०] हरिण के समान नेत्रवाली (स्त्री) ।

शृंगलोचनी-छंदा स्त्री० दे० “शृंगलोचना” ।

शृंगय-छंदा पुं० [सं०] बौद्ध शाकों के अनुसार एक बहुत बड़ी संस्था का नाम ।

शृंगयल्लभ-छंदा पुं० [सं०] डुंदुप शृंग ।

शृंगवारि-छंदा पुं० [सं०] शृंगगुप्ता का जल । उ०—सूखे संपने ही सई संवत संताप रे । पूको शृंगवारि राखी जैवरि के सॉप रे ।—तुलसी ।

शृंगघाहन-छंदा पुं० [सं०] बाघ ।

शृंगवीथी-छंदा स्त्री० [सं०] उगोलिप के अनुसार शृंग की ली वीथियों में से एक जिसमें शृंग प्रह अनुतापा, पेड़ा और मूल पर आता है ।

शृंगशिर-छंदा पुं० [सं०] शृंगशिरस] सत्ताईस नक्षत्रों में से पौषवो नक्षत्र ।

विशेष—इसके अधिपति चंद्रमा हैं और यह आसुता विषयुक्त नक्षत्र है । यह तीन तारों से मिलकर बना हुआ और विली के पैर के आकार का है । आकाश में यह नक्षत्र कम्पा छात्र के बाईस पल बीतने पर उदित होता है । यह तारा नक्षत्र के पूर्वार्द्ध में (अर्थात् १० दंड के नीचे) दृश्य रहति और अवरार्द्ध में मिथुन राशि होगी है । इस तारा में उत्पन्न मनुष्य शृंगवधु, अनि बलवान्, सुंदर कर्णवान्, कामुक, साहसी, स्थिर मूर्ति, मित्र-पुत्र से युक्त और अनेक धनवान् होता है ।

शृंगशीर्ष-छंदा पुं० [सं०] शृंगसिरा नक्षत्र ।

शृंगराज-छंदा पुं० [सं०] उज्ज्वल दिन का एक सूर ।

शृंगार्क-छंदा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । उ०—रिमारा सतपत उज्ज्वलनय सहस्रक शृंगार्क ।—मंदरा । (१) एक रात को मुनन और हमारि से घनता है और शाय रोग में निरोग उबकारी होता है । वि० दे० “शृंगार्क रम” । उ०—(२) राम की रजाई से सत्ताईसी समीर शृंग उत्तरी पयोधि पार सीधे शृंगार्क लो । जापुषान बुर पुट पाक लंक जालकर लख जनन जारि रिवो है शृंगार्क लो ।—मुपत्ती । (३) किं

सिंह के सुगारि राजयोग जानि जू । निमिष तासु वैद
ज्यों ज्यों सृगांक रानि जू ।—रघुनाथदास ।

सृगांक रस-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रसोपध ।

विशेष—पारा एक भाग, सोना एक भाग, भोती दो भाग,
गंधक दो भाग और सोहागा एक भाग, इन सब चीजों को
कौजी में पीसकर नमक के भौंड़े में रखकर चार पहर
पकते हैं । चार रत्ती की मात्रा में सेवन करने से राजयक्ष्मा
रोग नष्ट हो जाता है । राजसृगांक और महासृगांक रस भी
होते हैं, जिनमें द्रव्यों की संख्या अधिक होती है ।

सृगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सहदेव का पौधा ।

सृगासो-वि० स्त्री० [सं०] हरिण के से. नेत्रोंवाली ।

सृगाजीव-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वाष्णी लता । (२) कस्तूरी ।

सृगाह-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह, पीता, बाघ इत्यादि यन जंतु जो
सृगों को खाते हैं ।

सृगादनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्रावाष्णी । इंद्रायन । (२)
सहदेव । (३) ककड़ी ।

सृगादाति-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता ।

सृगाश, सृगाशन-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह । उ०—(क) मृषकादि
ग्रह में रहें बहिर सृगादा बाहुतु । गो अश्वदिक जीव बहु
भीरों सह सब लघु जंतु ।—शंकरदि० वि० । (ख) दबति
द्रौपदी देखि दुःशासन । जिमि यन में लखि सृगी सृगाशन ।
—रघुराज ।

सृगित-वि० [सं०] अन्वेषित ।

सृगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सृग] हरिणी । उ०—(क) ज्यों
सृगिनी हृष्ट हृष्ट के बासा । त्यों ये अंधसुतन के बासा ।
लखलाल । (ख) सृग सृगिनी वृम यन सारस खग कोह
भरों बजायो री ।—सूर । (ग) बाँसुरी को तान्य सुनिके
धीरक की सृगिनी भई ।—सूर ।

सृगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृग नामक वन्य पशु की मादा ।
हरिणी । हिरनी । उ०—मनहु सृगी सृग देखि दिया से ।—
गुलसी । (२) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक
राग (९१५) होता है । जैसे,—री प्रिया । मान वृ । मान
ना । रान वृ । इसे 'प्रिय वृत्त' भी कहते हैं । (३) कन्यप
क्षिपि की कोषवसा नास्त्री पत्नी से उत्पन्न दस कन्याओं में
से एक, जिससे सृगों की उत्पत्ति हुई है और जो पुलह क्षिपि
की पत्नी थी । (४) पीले रंग की एक प्रकार की कौड़ी
जिसका पेट सफेद होता है । (५) अपस्मार नामक रोग ।
(६) कस्तूरी ।

सृगीपति-संज्ञा पुं० [सं०] धीकृष्ण ।

सृगेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

सृगेंद्रचटक-संज्ञा पुं० [सं०] याज्ञ पत्नी ।

सृगेंद्रास्य-संज्ञा पुं० [सं०] शिप ।

सृगेर-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मछली जो युक्त प्रांत,
बंगाल, पंजाब तथा दक्षिण की नदियों में पाई जाती है ।
इसकी आँखें सुनहरी होती हैं । यह डेढ़ हाथ के लगभग
लंबी होती है और सौल में नौ या दस सेर होती है ।

सृगेर-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

सृगेर-संज्ञा पुं० [सं०] श्वेतेंद्रवाष्णी । सफेद इंद्रायन ।

सृगेर-संज्ञा पुं० [सं०] सृगतिरा नक्षत्र ।

सृगुल्लुटिक-संज्ञा पुं० [सं०] संस्कृत का एक प्रसिद्ध नाटक ।

सृज-संज्ञा पुं० [सं०] मुरज नाम का बाजा ।

सृज-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री०] शिव । महादेव ।

सृज-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा । पार्वती । उ०—सृज चंडिका
बंकिा भवा भवानी सोय ।—नंददास ।

सृजानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा । भवानी । पार्वती । उ०—
बदेवी नृदेवीन की होहु रानी । करै सेव बानी मघौनी
सृजानी ।—केदाय ।

सृजीक-संज्ञा पुं० [सं०] हिरन ।

सृजाल-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमल का डंठल जिसमें फूल
लगा रहता है । कमल नाल । उ०—(क) तौ शिव धनुष
सृजाल कि नाई । तोरहिं राम गणेश गोसाईं ।—मुल्सी ।
(ख) भाई जु चलि गोपाल धरे प्रजवाल बिनाल सृजाल सी
बाहीं ।—पद्माकर । (२) कमल की जड़ । मुरार । भर्साई ।
(३) उधार । खस ।

सृजालकट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जलपशु ।

सृजालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कमल की डंडी । कमलनाल
उ०—भोरिन ज्यों भैवल रहत यन भीषिकान, हंसिन ज्यों
सृजालिका चहति है ।—केदाय ।

सृजालिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमलिनी । (२) यह स्थान
जहाँ कमल हों । (३) कमलों का समूह ।

सृजाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] कमल का डंठल । कमलनाल
उ०—(क) धरे एक बेणी मिली मेल सारी । सृजाली मनो
पंक सों काढ़ि डारी ।—केदाय । (ख) मैलते सहित मानों
कंचन की लता लोनी, पंक लपटानी ज्यों सृजाली दरसाई
है ।—रघुराज ।

सृज-वि० [सं०] (१) मरा हुआ । मुरा । (२) मारा हुआ ।
याचित ।

सृजकवल-संज्ञा पुं० [सं०] यह कपड़ा जिससे मुर्दे को ढँकने के
कफन ।

सृजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरा हुआ प्राणी । मुरा । (२)
मरण का अवस्य ।

सृजक फर्म-संज्ञा पुं० [सं०] सृजक पुस्तक की मुद्र गति के लिये
किया जानेवाला कृत्य । प्रेस वर्क । प्रेस, दाद, मोदनी,

दशगात्र इत्यादि । उ०—नव सुमीरहि आयसु दोन्हा ।
मृतकधूम विधियत् सब कीन्हा ।—गुल्लरी ।

मृतकधूम—छंदा पुं० [सं०] रास । मस । उ०—जग्यो मोह भर
भर रधिर ऊपर धरि उदाय । जिमि बैंगार रासीन्ह पर
मृतकधूम रह लाय ।—गुल्लरी ।

मृतकौतक—छंदा पुं० [सं०] शृगाल । गीदह ।
मृतजंघ—छंदा पुं० [सं०] (१) मरा हुआ प्राणी । (२) मिलाक वृद्ध ।
मृतजीयनी—छंदा छी० [सं०] (१) यह विद्या जिसमें मुरे को
जिखाया जाता है । उ०—बयौ न जियायै बसुर-गुर तम
अमुरै परमान । संख्यात मृत-जीयनी विद्या कही न
जान ।—गुमान । (२) बुधिया पास । बुधिया ।

मृतधर्मा—वि० [सं०] मृतपन्थ । मर हो जानेवाला । मर ।
मृतमत्त—छंदा पुं० [सं०] शृगाल । गीदह ।
मृतवरसा—वि० छी० [सं०] (स्त्री) जिसकी संतति मर मर
जाती हो ।

मृतसंजीवन रस—छंदा पुं० [सं०] एक रसोपध जिसका व्यवहार
उपर में होता है ।

मृतसंजीवनी—छंदा छी० [सं०] (१) एक पृथी जिसके विषय में
यह मसिद्ध है कि इसके गिजाने से मृतों की जी उठना है ।
उ०—मृतसंजीवनि भीषयी अरु कानी संवाजा । अरु गिजल्य
बागी मुरद व्यावहु मृत हुनुमान ।—रघुराज । (२) उपर
का एक भीषण जो मृत के रस में मरुन किया जाता है ।

मृतसंजीवनी सुरा—छंदा छी० [सं०] एक नागिकरण भीषण ।
मृतसूत—छंदा पुं० [सं०] रसोपध ।
मृतसूतक—छंदा छी० [सं०] (१) मृत संतान उत्पन्न करनेवाली
पत्नी । (२) भरण किया हुआ पाला ।

मृतस्तान—वि० [सं०] (१) जिसने किसी सज्जान या बन्धु के
मरण पर उसके उदरप मे खान किया हो । (२) यह मुरदा,
जिसे शव के पुरे खान कराया गया हो ।

मृतस्तान—छंदा पुं० [सं०] (१) किसी भाई बंधु के मरण पर
किया जानेवाला खान । (२) मृतक का खान ।

मृतामद—छंदा पुं० [सं०] मृष । मृषा ।

मृतासक—छंदा पुं० [सं०] (१) अरहर । (२) गोपीचंदन ।

मृताशौच—छंदा पुं० [सं०] यह अशौच (अवधिप्रता) जो
किसी कामीय, संबंधी, गुरु, पक्षी आदि के मरण पर
लगना है और जिसमें कुछ होने तक महापर्व के साथ देव-
कर्म तथा गृहकर्म में अचना रहना पड़ता है ।

मृति—छंदा छी० [सं०] मरत । मृत्यु ।

मृतिदा—छंदा छी० [सं०] (१) मिट्टी । मरक । उ०—(७)
बंधन को मृतिदा करि मान्य । कामिनि कष्टसिन्धु पदिका-
न ।—नर्मदा । (२) जथा हट नउ घर । मृतिदा सरं गग
दाद भारि कनक करकीनशरी ।—गुल्लरी । (३) अरहर ।

मृत्तिका लवण—छंदा पुं० [सं०] मिट्टी का लोगा । (पुराने पते
की मिट्टी की दीवारों पर सीढ़ होने से एक प्रकार का
नमक छग जाता है ।)

मृत्तिकायती—छंदा छी० [सं०] नर्मदा के किनारे की एक प्राचीन
नगरी । (महाभारत)

मृत्युंजय—छंदा पुं० [सं०] (१) यह जिसने मृत्यु की जीन रिखा
हो । (२) सिर का एक रूप । (३) सिर का एक मंत्र
जिसके विधिवत्क अपने से अमाल मृत्यु टल जाती है ।

मृत्युंजय रस—छंदा पुं० [सं०] गूर के छिले उपयोगी एक
रसोपध ।

विशेष—पारा एक माता, गंधक दो माते, सोहला चार माते,
विष भाट माते, धरु के बीज सोलह माते तथा सौं, मिर्च
और पीपल दस दस माते साथ साथ रखी, इन सबको धरु
की पद के रस में पीसकर माते माते भर की गोमिर्चा
पना छे, और जैसा उबर हो, उसके अनुसार अनुपान के
साथ सेवन करे ।

मृत्यु—छंदा छी० [सं०] (१) मारी में जीवामा का निरोध ।
प्राण छूटना । मरण । मौन । (२) पमोत्र । (३) प्यास
रक्तों में से एक । (४) विष्णु । (५) मन्ना । (६) माया ।
(७) कलि । (८) कलिका ज्योतिष में आठवाँ ग्रह । (९)
कामदेव । (१०) एक साम मंत्र । (११) बौद्ध देवता
पद्मपाणि के एक अनुचर ।

मृत्युनाशक—छंदा पुं० [सं०] पारा ।

मृत्युपा—छंदा पुं० [सं०] सिय ।

मृत्युपुष्प—छंदा पुं० [सं०] (१) ईश । गन्ध । (२) कैला ।

मृत्युफल—छंदा पुं० [सं०] (१) कैला । (२) महाशाल नाम की लता ।

मृत्युबंधु—छंदा पुं० [सं०] यम ।

मृत्युबीज—छंदा पुं० [सं०] बीज ।

मृत्युकपी—छंदा पुं० [सं०] मृत्युपति । (१) यमदूत । (२) यम-
माता का "श" अक्षर ।

मृत्युलोक—छंदा पुं० [सं०] (१) यमलोक । (२) मर्त्यलोक ।

मृत्युसूति—छंदा छी० [सं०] केरुके की मादा (जो भंटे देने की
मर जाती है) ।

मृतम—वि० [सं०] विधविधा ।

मृषा—छंदा—वि० [सं०] (१) दे० "ब्रूया" । (२) दे० "मृषा" ।

मृष्ट—छंदा छी० [सं०] मृलिय । मिट्टी ।

विशेष—इन मृत्यु का अधिकतर व्यवहार समान पर
बनाने में होता है ।

मृदंग—छंदा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का बाजा जो दोन्धक में
रुद्ध अथा होता है । तबले की तरह इसके दोनों छोरों में बड़े धमके
से मड़े जते हैं । इसका दोना पक्षी मिट्टी का होता है,
इससे यह मृदंग कण्ठगत है । उ०—(७) बाजरी नाम मृदंग

अनल। सोह रव मयुर सुनह सुरभूषा । - तुलसी । (४)
 अह बीन गहा कर काहू नाद मृदंग । सत्र दिन अनैद
 बजा रहस हृद हृद संग । - जायसी । (२) बौस ।

मृदंगकल-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल । पनरा ।
 मृदंगफलनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तोरई । तोरई ।
 मृदंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तोरई । तोरई ।
 मृदव-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक की भाषा में गुण के साथ दोष के
 वैषम्य का प्रदर्शन (नाट्य शास्त्र) ।
 मृदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्तिका । मिट्टी ।
 मृदाकर-संज्ञा पुं० [सं०] वज्र ।
 मृदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अच्छी मिट्टी । (२) गोपीचंदन ।
 मृदु-वि० [सं०] [स्त्री०] (१) जो छूने में कड़ा न हो ।
 कोमल । मुलायम । नरम । (२) जो सुनने में कर्कश या
 अभिपय न हो । जैसे,—मृदु वचन । (३) सुकुमार । नाजुक ।
 (४) जो सीम या वेगयुक्त न हो । धीमा । मंद । जैसे,—
 मृदु स्वर, मृदु गति ।
 मृदा-संज्ञा स्त्री० (१) घृत कुमारी । घीकुआँर । (२) सज्जद जाति
 पुष्प । जाही नामक फूल का पेड़ा ।
 मृदुकंटक-संज्ञा पुं० [सं०] कटसरैया ।
 मृदुलु-संज्ञा पुं० [सं०] प्रोढ़ों के खुर का एक रोग ।
 मृदुगण-संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों का एक गण जिसमें चित्रा,
 अश्लेषा, मृगशिरा और रेवती ये चार नक्षत्र हैं ।
 मृदुच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजपत्र का पेड़ । (२) पील
 वृक्ष । (३) लाल लंजाल ।
 मृदुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोमलता । मुलायमिपत् । (२)
 धीमापन । मंदता ।
 मृदुदर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] सज्जद कुत्ता ।
 मृदुपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] शिरीष वृक्ष । सिरिस
 मृदुफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधु नारिकेल । नारियल । (२)
 विक्रंत वृक्ष ।
 मृदुल-वि० [सं०] कोमल । मुलायम । नरम । उ०—सुमन
 सेन से लगी रहे सुंदरि तेरे गात । सुरमित हूँ मिडि कै अये
 मृदुल नाल जलजात । - लक्ष्मणसिंह । (२) कोमल हृदय ।
 दयामय । कृपाल । उ०—मृदुल चित अजित कृत गरल-
 पान—तुलसी । (३) नाजुक । सुकुमार । उ०—मृदुल
 मनोहर सुंदर गाता । सहत दुसह बन आतप बाता । -
 तुलसी ।
 मृदा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल । पानी । (२) अंजीर ।
 मृदो-वि० स्त्री० [सं०] (१) मृदु । कोमल । (२) कोमलांगी ।
 मृदा-संज्ञा स्त्री० कपिल द्राक्षा । सज्जद अंगूर ।
 मृदोका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कपिल द्राक्षा । सज्जद अंगूर ।
 (२) अंगूर की शराब । द्राक्षासव ।

मृद्रीकासव-संज्ञा पुं० [सं०] द्राक्षासव । अंगूर की शराब ।
 मृध-संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध । लड़ाई ।
 मृनालक-संज्ञा पुं० दे० "मृणाल" ।
 मृन्मय-वि० [सं०] मिट्टी का बना हुआ ।
 मृन्मान-संज्ञा पुं० [सं०] कुआँ । कूप ।
 मृषा-अव्य० [सं०] झूठमूठ । व्यर्थ ।
 वि० असत्य । झूठ ।
 मृषात्व-संज्ञा पुं० [सं०] मिथ्यात्व । असत्यता । झूठपन ।
 मृषामापी-क्रि० [सं०] मृषामपिन् झूठ बोलनेवाला ।
 मृषालक-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ । (इसमें थोड़े ही
 दिन मंजरियों का अलंकार रहता है, इसी से इसका यह नाम
 रखा गया है ।)
 मृषावाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) झूठ बोलना । (२) झूठ बात ।
 असत्य वचन ।
 मृष्ट-वि० [सं०] शोषित ।
 संज्ञा पुं० मिर्च ।
 मृष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिशुद्धि । शोधन ।
 म्र-अव्य० [सं०] मध्य, प्रा० मरु, पु० हिं० मरें] अधिकरण कारक
 का चिह्न जो किसी शब्द के आगे लगाकर उसके भीतर,
 उसके बीच या उसके चारों ओर होना सूचित करता है ।
 आधार या अवस्थान-सूचक शब्द । जैसे,—यह घर में बैठा
 है । पड़े में पानी है । वह चार दिन में आवेगा । पैर में मोजे
 या जूता पहनना ।
 संज्ञा पुं० [शत०] बकरी के बोलने का शब्द ।
 म्रगनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मंगी ?] ऐसे पशुओं की विष्टा जो छोटी
 छोटी गोदियों के आकार में होती है । लैंडी । जैसे, बकरी की
 म्रगनी, ऊँट की म्रगनी ।
 म्रयर-संज्ञा पुं० [मं०] किसी समाज, समाज या गोष्ठी में सम्मिलित
 व्यक्ति । सभासद । सदस्य । जैसे,—काउन्सिल का म्रयर ।
 मेकदार-संज्ञा पुं० [मं०] मित्रदार । परिमाण । मात्रा । अंदाज़ ।
 मेकल-संज्ञा पुं० [सं०] विषय पर्वत का एक भाग जो रीची राज्य
 के अंतर्गत है और जिसमें अमरकंटक है । इसी पर्वत से
 नर्मदा नदी निकलती है । यह मेकल के आकार का है,
 इसी से इसे मेकल भी कहते हैं ।
 मेकलकन्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी ।
 मेकलसुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी ।
 मेक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञपात्र ।
 विशेष—यह चम्मच या करी के आकार का और चार अंगुल
 चौड़ा तथा आगे की ओर निम्न हुआ होता है ।
 मेल-संज्ञा पुं० दे० "मेघ" ।
 मेल-संज्ञा पुं० [मं०] (१) जमीन में गाढ़ने के लिये एक ओर
 चुकीली गद्दी हुई एकड़ी । मँदा ।

क्रि० प्र०—उलादना ।—गाढ़ना ।—ढोंकना ।—मारना ।

मुहा०—मेख टोंकना = (१) हाथ पैर में कील ठोकर कटो खिल कर देना । खुद कटोर दंड देना । (रस प्रकार का दंड पहले प्रयुक्त था ।) (२) झुटना । दबाना । घेर करना । तोप के मुँह में मेख टोंकना = तोप या मुँह बंद करके उसे निष्क्रिय कर देना । मेख मारना = (१) कील ठोकर चतना या हलना बंद कर देना । (२) बंदे भेरी बल बोल देना जिससे किसी का होना हुआ काम हो । खोजी मारना । (३) चपले हुए काम में रुकावट डालना ।

(१) कील । काँटा । (२) एकड़ी की फट्टी जो किसी छेद में डेढ़ाई हुंई बल को खीली होने से रोकने के लिये झुधर-झुधर पैसी जाय । पचड़ । (३) घोड़े का हँगाघात जो माल जड़ने समय किसी कील के ऊपर टुक जाने से होता है ।

मेखड़ा—छंछा खी० [छं० मेखला] बॉस की वह फट्टी जिसे डले या हाथ के मुँह पर गोल घेरा बनाकर बाँध देते हैं ।

मेखला—छंछा खी० [छं० मेखला] (१) करघनी । किन्नी । उ०—कटि मेखल बर हार प्रीय दह रघिर बाहु भूपन पहिराय ।—सुखसी । (२) वह बल जो किसी दूसरी बल के मध्य भाग में डाले पारों ओर से घेरे हो । वि० दे० “मेखला” ।

मेखला—छंछा खी० [छं०] (१) वह बल जो किसी दूसरी बल के मध्य भाग में डाले पारों ओर से घेरे हुए पड़ी हो ।

(२) चिकड़ी या माला के आकार का एक गहना जो कमर को घेरकर पहना जाता है । करघनी । तागड़ी । किन्नी ।

पर्या०—सतरी । काँची । रसना । रसना । कसा । कसाप ।

(३) कमर में लपेटकर पहनने का सूत या डोरी । करघनी ।

निये,—मुंन मेखला । (४) कोई मंडलाकार वस्तु । गोल घेरा । मंडल । मैदरा । (५) पेटी या कमरबंद जिसमें गहवार बाँधी जाती है । (६) डंडे, मूलल आदि के छोर पर या औजारों की मूट पर लगा हुआ छोटे आदि का घेरदार बंद । सामी । साम । (७) परत का मध्य भाग । (८) नर्मदा नदी । (९) एभिर्गो । (१०) होम-मुँह के ऊपर पारों ओर बना हुआ मिठी का घेरा । (११) वनस्पेय वृक्ष । (१२) करड़े का टुकड़ा जो हाथ लोग गले में डाले रहते हैं । करघनी । अलसी ।

मेखली—छंछा खी० [छं० मेखला] (१) एक प्रकार का पहनावा जिसे गले में डालने से घेठ और पीठ बची रहती है और दोनों हाथ मुड़े रहते हैं । यह डेरने में निरोधक होता है और ऊपर चौड़ा तथा नीचे मुंडीला होता है । इसे देव-मूर्तियों को सामयिक, सामयिक आदि में पहनाते हैं । भाव-शास्त्र भी पहनते हैं । (२) करघनी । करिष । उ०—बचहुँक अर निगमरी मायन बचहुँ मेखली उदर मायनी ।—भूर ।

मेखला—छंछा पुं० [छं० मेख] सवारी लेकर चलने पर जब लम्बे में आगे झुँटा मिलता है, तब उससे बचने के लिये भागना कहार यह शब्द बोलता है ।

मेखलीन—छंछा पुं० [छं०] (१) यह स्थान जहाँ सेना के लिये बास्तु रखी जाती है । बास्तुगोला । (२) सामयिक पर, विशेषतः मासिक पर जिसमें लेख लगते हैं ।

मेख—छंछा पुं० [छं०] (१) आकाश में धनीभूत जलवायु जिससे वर्षा होती है । बादल । उ०—बचहुँ प्रबल घन माल जहाँ तहाँ मेख उड़हि ।—सुखसी । (२) संगीत में छः रागों में से एक ।

विशेष—इनुमत् के मत से यह राग प्रज्ञा के मस्तक से उत्पन्न है और किसी किसी के मत से आकाश से इसकी उत्पत्ति है । यह ओषध जाति का राग है; और इसमें घनिष्ठ सारे गये पाँच स्वर से लगते हैं । इनुमत् के मत से इसका सङ्गम ह्रस्व प्रकार है—घ नि सा रे ग म प ध । वर्षा काल में रात के पिछले पहर इसे गाता बाहिर । इसकी चिन्ता या रागिनियाँ मलारी, सोरी, सारंगी या हंसिका और मधुमाधवी हैं (इनुमत्) । अन्य मत से ये रागिनियाँ हैं—मलारी, देसी, सारंग, माटिका, वल्ली और कार्विनी । इसके पुत्र—मलार, गौर, कर्गार, जलपर, मालाहक, वीरंग, कमल, बुगुम, मेखनार, सामन, लस, भूपनि, माट और बंगाल हैं ।

(१) मुस्तक । मोथा । (२) मंडलीय वादक । (३) रागण ।

मेयकली—छंछा खी० [छं०] रक्षायुध आनुमेद ।

मेयकाल—छंछा पुं० [छं०] वर्षा ऋतु ।

मेयगर्जन—छंछा पुं० [छं०] बादल की गरज ।

विशेष—मेयगर्जन के समय मेयशयन निवृद्ध है । उपनयन के दिन यदि बादल गरजे, तो उपनयन डाल देना चाहिए ।

मेयज्योति—छंछा खी० [छं०] वज्रपति । विजली ।

मेयहंवर—छंछा पुं० [छं०] (१) मेयगर्जन । (२) बड़ा बौद्ध । बड़ा सामयिक । हल बादल । (३) एक प्रकार का पुत्र ।

मेयहंवर वस्त्र—छंछा पुं० [छं०] एक रस्सीज जो काल और विपद् के रोग में भी जाती है ।

विशेष—कासर कासर, पार और गंधक की कजरी चीमरी के रस में पाँच दिन छाछ करके मज्जित गरिया में रखकर बाहुक चंद्र से एक दिन भर की आँव देने में यह वज्रपा है । इसकी मात्रा १ रती है ।

मेयधुनि—छंछा पुं० [छं०] (१) मेयगर्जन । (२) एक रागण का नाम ।

मेयधार—छंछा पुं० [छं०] आकाश ।

मेयधनु—छंछा पुं० [छं०] रक्षायुध ।

मेघनाद-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो मेघ राग का पुत्र माना जाता है ।

मेघनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

मेघनाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ का गर्जन । (२) वरुण ।

(१) रावण का पुत्र इंद्रजित् जो लक्ष्मण के हाथ से मारा गया था । (४) पलाश का पेड़ । (५) एक दानव । (हरविश)

(१) मयूर । मोर । (७) विद्याल । विल्ली ।

मेघनादमूल-संज्ञा स्त्री० [सं०] चोलाई की जड़ ।

मेघनाद रस-संज्ञा पुं० [सं०] एक रसोपध जो ज्वर में दी जाती है ।

विशेष—एक एक तोला रूप्य, काँसा और ताँबा तितराज की जड़ के काढ़े में डालकर छः बार गजपुट पाक करने से यह बनता है । इसकी मात्र पान के साथ दो रत्ती है ।

मेघनीलक-संज्ञा पुं० [सं०] तालीश वृक्ष ।

मेघपदल-संज्ञा पुं० [सं०] बादल की घटा ।

मेघपति-संज्ञा पुं० [सं०] बादलों का राजा या स्वामी, इंद्र ।

मेघपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र का घोड़ा । (२) श्रीकृष्ण के रथ के चार घोड़ों में से एक । उ०—दीप्य, बलाहक,

मेघपुष्प, सुमीव बाजीरथ ।—गोपाल । (३) वर्षा वा जल ।

(४) बकरे का सींग । (५) मोथा । मुस्तक ।

मेघपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जल । (२) व्रत । (३) ओला ।

मेघपृष्ठि-संज्ञा पुं० [सं०] ग्रीव द्वीप के एक खंड का नाम ।

मेघफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ के वर्षा द्वारा वर्ष के शुभाशुभ फल का निर्णय । (२) विक्रंत वृक्ष ।

मेघभूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिजली ।

मेघमल्लार-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग जो मेघ राग और उसकी पत्नी मल्लारी के योग से बनता है ।

इसमें सब छन्द स्वर लगते हैं ।

मेघमाल-संज्ञा स्त्री० [सं०] बादलों की घटा । उ०—माली मेघमाल बनपाल विकराल अह नीके सब काल सीधे सुधासार नीर के ।—तुलसी ।

रंभा पुं० (१) रंभा के गर्भ से उत्पन्न कलिक के पुत्र का नाम ।

(कलिक पुराण) (२) उत्तर द्वीप का एक पर्वत । (३) एक राजस का नाम ।

मेघमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बादलों की घटा । कादंबिनी ।

(२) स्कंद की अनुचरी एक मातृका का नाम ।

मेघमाली-संज्ञा पुं० [सं०] मेघमालिन् । (१) स्कंद का एक अनुचर ।

(२) एक असुर ।

मेघयानि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) धूर्त । (२) कुहरा ।

मेघराज-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करावर्त्त आदि मेघों के नायक, इंद्र ।

मेघवर्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नील का पीया ।

मेघवर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] प्रलय काल के मेघों में से एक का नाम ।

उ०—सुनि मेघवर्त्त साजि सैन लै आए । जलवर्त्त वारिवर्त्त पवनवर्त्त वज्रवर्त्त आगिवर्त्त जलद संग लाए ।

—सूर ।

मेघवाइष्ण्वी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मेघ + वाई (वाय०)] बादल की घटा । उ०—चली सैय कछु वरनि न जाई । मनुहुँ उठी पूर्व मेघवाइ ।—रघुराज ।

मेघवान-संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम दिशा का एक पर्वत । (बृहत्संहिता)

मेघवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) एक बौद्ध राजा का नाम ।

मेघविस्फूर्जिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, टगण, रागण और एक गुरु होता है ।

मेघसार-संज्ञा पुं० [सं०] यनसार । चीनिया कपूर ।

मेघस्वन-संज्ञा पुं० [सं०] बादलों का शब्द । मेघों का गर्जन ।

वि० बादल की तरह गरजनेवाला ।

मेघरचनाङ्कुर-संज्ञा पुं० [सं०] वैदूर्य मणि । बिहीर । (पेसा प्रवाद है कि बादल के गरजने पर वैदूर्य मणि की उत्पत्ति होती है ।)

मेघस्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम ।

मेघा-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ = बादल (के जाने पर जो दिखाई दे)] मेघक । संज्ञक ।

मेघागम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वर्षा काल । (२) धारा कर्दव ।

मेघाच्छन्न-वि० [सं०] बादलों से ढका हुआ ।

मेघाच्छादित-वि० [सं०] बादलों से ढका हुआ । बादलों से छाया हुआ ।

मेघाङ्कुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघगर्जन । बादल की गरज । (२) बादल का फैलाव ।

मेघानन्द-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोर । मयूर । (२) बलाका । यगला ।

मेघावलिङ्गी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेघपति । बादलों की घटा । उ०—केस मेघावरि सिर ता पाई । चमकहि दसन धौनु के नाई ।—जायसी ।

मेघास्थि-संज्ञा पुं० [सं०] ओला ।

मेघा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेघ । (१) पर्वक । पल्लव । (२) बँत की धुनी हुई छाट ।

मेघ-संज्ञा स्त्री० दे० “मेघ” ।

संज्ञा पुं० [दे०] आत्मा की एक पराई जानि ।

मेघक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंधकार । अँधेरा । (२) नीलाजन ।

सुरमा । (३) मोर की चंद्रिका । (४) धूर्त । धूम । (५)

मेघ । (६) दोमोजन । सुदिन । (७) पीतसाज ।

गिरासाह । (८) काला नमक । (९) विषहृ की एक छोटी जाति ।

वि० इयाम्प । बाला । ग्याह ।

मेचकता—छंदा स्त्री० [सं०] कालपन । इयाम्पता ।

मेचकताईछ—छंदा स्त्री० दे० "मेचकता" ।

मेज—छंदा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की पहाड़ी घास जो हिमालय पर ५००० फुट की ऊँचाई तक पाई जाती है और जिसे घोड़े और चीत्तर पड़े घास से गाने हैं ।

मेज—छंदा स्त्री० [का०] लंबी चौड़ी चीन्ही जो बँटे हुए आदमी के सामने उस पर रखकर खाना खाने, लिगने पढ़ने या और कोई काम करने के लिये रखी जाती है । टेबुल ।

मेजपोश—छंदा पुं० [का०] चीन्ही या मेज पर बिछाने का कपड़ा ।

मेजवान—छंदा पुं० [का०] भोजन कराने या आतिथ्य करने-वाला । मेहमानदार । "मेहमान" का उलटा ।

मेजर—छंदा पुं० [सं०] जूत का एक अङ्गसर ।

मेजा—छंदा पुं० [सं०] मंडक, हिं० मेजक, पूरबी हिं० मेजका । मेजक । मंडक । उ०—केवट हँसि जो सुनात गयेगा । समुद्र न जानु कुर्त कर मेजा ।—जयसी ।

मेज—छंदा पुं० [सं०] मज्जूरी का अङ्गसर या सरदार । रंडैल । जमादार ।

मेजक—छंदा पुं० [हिं०] मेजका (मि० सं० मज्जू) । मासक । मिटानेवाला । उ०—देव नू को न हिये हुलसी तुलसी बन में चुलसीउ को मेजक ।—देव ।

मेजनहार, मेजनहार—छंदा पुं० [हिं०] मेजका + हार (धन०) । मिटानेवाला । गूर करनेवाला । हटानेवाला । उ०—विधि कर लिपा को मेजनहारा ।—तुलसी ।

मेजना—हिं० सं० [सं०] गृह + माक किया हुआ, या० मिट + ना (धन०) । (१) पिस कर साफ़ करना । मिटाना । (२) गूर करना । न रहने देना । (३) गट करना । वि० दे० "मिटाना" ।

मेजिया—छंदा स्त्री० [सं०] शूच्य, हिं० मज्जू । बड़े से छोटा मिट्टी का बरतन जिसमें मूष, दही आदि रखते हैं । मटकी ।

मेजो—छंदा स्त्री० दे० "मेजिया" ।

मेजुकी—छंदा स्त्री० दे० "मज्जूकी" ।

मेजुपा—हिं० [हिं०] मेजका । किए हुए उपकार को न माननेवाला । दूषण ।

मेज—छंदा पुं० [सं०] हाथीपान । कीचपान ।

मेजु—छंदा पुं० [सं०] मिट्टी । (१) मिट्टी बालकर बनाया हुआ धरा या जमीन का घेरा । छोटा चौर । (२) दो गेहों के बीच में हट्ट या गीमा के रूप में बना हुआ रास्ता ।

मि० प्र०—मज्जू ।—कविता ।

- यौ०—मेजुवंधी ।

(३) ऊँची छहर या तरंग । (लता०)

मि० प्र०—पड़ना ।

मेजुपंदी—छंदा स्त्री० [हिं०] मेज + पंदा, या हिं० पंधा । (१) मिट्टी बालकर बनाया हुआ घेरा । (२) इस प्रकार घेरा बनने को मिया । हट्टवंधी ।

मेजक—छंदा पुं० दे० "मेजक" ।

मेजुरा—छंदा पुं० [सं०] मंडक, हिं० मंडता । [स्त्री०] मज्जू । मेजरी ।

(१) किसी गोल वस्तु का उमरा हुआ किनारा । (२) किसी वस्तु का मंडलकार टोपा । जैसे,—छकनी या मैत्री का मेजुरा ।

मेजुराना—हिं० प्र० दे० "मंडराना" ।

मेजुरी—छंदा स्त्री० [हिं०] मेजरा । (१) किसी गोम या मंडलाकार वस्तु का उमरा हुआ किनारा । (२) मंडलकार वस्तु का टोपा । (३) चढी के चारों ओर का वह स्थान जहाँ भाटा पिसकर गिरता है ।

मेजल—छंदा पुं० [सं०] चाँदी, सोने आदि की वह विशेष प्रकाश की सुझा जो कोई अथवा वा यद्वा काम करने अपना विशेष निपुणता दिखाने पर किसी को दी जाय और जिस वा देनेवाले का नाम सुना हो, तथा जिस बात के लिये वह दी गई हो, उसका भी बोध हो । समगा । पदक ।

मेजिया—छंदा स्त्री० [सं०] मज्जू, हिं० मज्जी । मज्जी । मंडर । छोटा घर । उ०—बड़ा चुनारी मेजिया चुना माटी छाप । गोच चुनारी पापिनी घोरि के कैसी आय ।—कबीर ।

मेजक—छंदा पुं० [सं०] मंडक । एक जलस्थल-पारी जंगु जो तीव्र धार अंगुष्ठ से केवल एक यादितन तक लंबा होता है । यह पानी में तैरता है और जमीन पर गूद गूदकर चलता है । इसके धार पीर होते हैं जिनमें पानीदार पंजे होते हैं । यह केचनों से खाँस होता है, मछलियों की तरह गमकती से नहीं ।

पय्या—मंडक । मूँद ।

विशेष—चिकान मज्जी में यह जलपारी और गमकपारी जंगुओं के बीच का नामा जाता है । मछलियों से ही इसका निवास-परंपराानुसार जलस्थलपारी जंगुओं की उत्पत्ति हुई है, जिनमें हाथ से अधिक ध्यान देने योग्य मेजक है । शीतल जंगुओं में जो टखन कोटि के हैं, वे केचनों से खाँस लेते हैं । यह निश्चय ही साक्षात् है और जिनमें मज्जी में रहना पड़ता है, वे मज्जी में से खाँस लेते हैं । मज्जी के हथि से उन्नत बरते मेजक का होंवा बना है, इसका आभास मेजक की बुद्धि की देखने से मिल्क सकता है । अंके के चुनारी पर मेजक का निवास करने की कल्पना है, जल में रहता है, मज्जी में रहता है, मज्जी में रहता है और पाप-पाप करता है । उसे लंबी नूद होती है, पीर नहीं होते । बरी बरी रंग "मज्जी"

मछली" भी कहते हैं। धीरे धीरे कायाकल्प करता हुआ यह उन्मयचारी जंतु का रूप प्राप्त करता है और जालीदार पंजों से युक्त पैरवाला, फेफड़े से साँस लेनेवाला और कीड़े-पतंगों खानेवाला मेढक हो जाता है।

मेढ़ा-संज्ञा पुं० [सं० मेढ़] [को० मेघ] साँगवाला एक चौपाया जो लगभग डेढ़ हाथ ऊँचा और घने रोयों से ढका होता है। इसका रोयों बहुत मुलायम होता है और ऊन कहलाता है। इसका माथा और साँग बहुत मजबूत होते हैं। ये आपस में बड़े वेग से लड़ते हैं, इससे बहुत से शीक्रीन इन्हें लड़ाने के लिये पालते हैं। मादा मेढ़ जितनी ही सौधी होती है, उतने ही मेढ़े शोधी होते हैं। मेढ़े की एक जाति ऐसी होती है जिसकी पूँछ में चरबी का इतना अधिक संचय होता है कि यह चक्की के पाट की तरह फेरकर चौड़ी हो जाती है। ऐसा मेढ़ा "हुंया" कहलाता है। वि० दे० "मेढ़"।

मेढ़ासिगी-संज्ञा स्त्री० [सं० मेढ़सिगी] एक साड़ीदार छत्ता जो मध्य प्रदेश और दक्षिण के जंगलों में तथा बंबई के आस-पास बहुत होती है। इसकी जड़ औषध के काम में आती है और सर्प का विष दूर करने के लिये प्रसिद्ध है। इसकी पत्तियाँ चवाने से जीम वैर तक सुख रहती हैं। वैद्यक में यह तिक्त, वातवर्द्धक, खासकास-वर्द्धक, पाक में रुक्ष, कड़ु तथा म्रण, हलेष्मा और आँस के दर्द को दूर करनेवाली मानी जाती है। इसके फल दीपन तथा कास, कृमि, म्रण, विष और कुष्ठ को दूर करनेवाले कहे जाते हैं।

मेढ़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मेघी] (१) तीन लड़ियों में गूथी हुई चौटी। उ०—कटकन पाक, भृकुटिया देदी मेढ़ी सुमग सुदेस सुभाष।—मुलसी। (२) घोड़ों के माने पर की एक भीरी।

मेढ़-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिखर। लिग। (२) मेढ़ा।

मेयिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेयी।

मेयी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छोटा पौधा जो भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होता है और जिसकी पत्तियाँ कुछ गोल होती हैं और साग की तरह खाई जाती हैं। इसकी फलियों के दाने मसाले और औषध के काम में आते हैं और देखने में कुछ चौड़े होते हैं। इसकी फसल जाड़े में तैयार होती है। वैद्यक में इसका गुण कड़ु, उष्ण, अल्पिनासक, दीप्ति-काक, वातघ्न तथा रुक पित्त प्रकोपन माना गया है।

पयरी-संज्ञा स्त्री० यहुमृत्तिका। गंधवीजा। ज्योति। गंधफला। बंदरी। चंदिका। मंया। मिश्रपुष्पा। कैरवी। यहुपर्णी। पीतवीजा।

मेयोरी-संज्ञा स्त्री० [हि० मेघो + री] मेयी का साग मिलाकर बनाई हुई उद की पीठी की यरी।

मेद-संज्ञा पुं० [सं० मेद, मेर] (१) शरीर के अंदर की वषा नामक धातु। चरबी।

विशेष-सुश्रुत के अनुसार मेद मांस से उत्पन्न धातु है जिससे अस्थि बनती है। भावप्रकाश आदि वैद्यक ग्रंथों में लिखा है कि जब शरीर के अंदर की स्वाभाविक अग्नि से मांस का परिपाक होता है, तब मेद बनता है। इसके इकट्ठा होने का स्थान उदर कहा गया है।

(२) मोटाई या चर्बी बढ़ने का रोग। (३) कष्टुरी। उ०—(क) रचि रचि सजें चंदन चौता। पोते अगर मेद औ गौरा।—जायसी। (ख) कहि केसव मेद जवादि सों मोजि हते पर ओजें में अंजन है।—केशव। (घ) नीलम की एक छाया। (रत्नपरीक्षा) (५) एक अंत्यज जाति जिसकी उत्पत्ति मनुस्मृति में वैश्वदिक पुरुष और निपाद स्त्री से कही गई है।

मेदपुच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] हुंया मेढ़ा।

मेढ़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वशर्म में से एक प्रसिद्ध औषधि जो ज्वर और राजवधमा में अत्यंत उपकारी कही गई है। कहते हैं कि इसकी जड़ अदरक की तरह, पर बहुत सफेद होती है और नाखून बढ़ाने से उसमें से मेद के समान दूध निकलता है। वैद्यक में यह मधुर, शीतल तथा पित्त, वाद, खाँसी, ज्वर और राजवधमा को दूर करनेवाली कही गई है। यह मोरंग की ओर पाई जाती है।

संज्ञा पुं० [म०] पाकाशय। पेट। कोठा। जैसे,—मेदे की शिकायत।

मुदा-संज्ञा स्त्री०—मेदर कहा होता—भौतों को किया एग प्रकार भी होता कि बरसी दल न हो। मेदर साक होना—मनुस्मृति होना। दल होने से कोष साक होना।

मेदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेढ़ा। (२) गृष्णी। धरती। (पुराणों में मनुस्मृतिक के मेद से गृष्णी की उत्पत्ति कही गई है, इसी से यह नाम पड़ा है।)

मेदुर-वि० [सं०] चिकना। लिग्ध।

मेदोज-संज्ञा पुं० [सं०] इहरी। अस्थि।

मेदोघरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर की तीसरी कला या सिंही जिसमें मेद या चर्बी रहती है।

मेदोर्बुद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेदयुक्त गॉट या गिल्दी जिसमें पीड़ा हो। (२) ओठ का एक रोग।

मेदोर्बुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चरबी का पदना। मोटाई। (२) अंडबुद्धि।

मेघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ। (२) हवि। (३) यज्ञ में बलि दिया जानेवाला पशु।

मेघज-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मेघा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंतःकरण की यह शक्ति जिससे जानी, देखी, सुनी या पढ़ी हुई बातें मन में बराबर धनी रहती हैं, भूलती नहीं। बाल को स्मरण रखने की मानसिक

नक्ति । धारणावाली बुद्धि । (२) एक प्रजापति की एक नन्या । (३) मोक्ष मानवधर्मों में से एक जिसका पूजन नांदीमुखा आदि में होता है । (४) कण्व छंद का एक भेद ।

मेधाजिन्-छंदा पुं० [सं०] कात्यायन मुनि ।

मेधात्रित्-छंदा पुं० [सं०] एक तान और बहुत से छंदों का है—(१) कण्वछंद में अथवा एक ऋषि जो ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १२-३३ सूक्तों के द्वारा थे । (२) कण्व मुनि के द्वारा । (महाभारत) (३) मष्ट रीत्यवामी के पुत्र जो अनु-संहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं । (४) त्रिवर्मल के पुत्र और शास्त्रीय के प्रशिक्षण । (भाष्य) (५) कर्म प्रजापति के पुत्र ।

मेधावती-छंदा स्त्री० [सं०] महाशक्तिवती लता ।

मेधावन्-वि० [सं० मेधावन्] [सं० मेधावती] जिसकी स्मरण शक्ति तीव्र हो । धारणाशक्तिवाला ।

मेधावी-वि० [सं० मेधावि] [स्त्री० मेधावती] (१) मेधा शक्ति-वाला । जिसकी धारणाशक्ति तीव्र हो । (२) बुद्धिमान् । चतुर । (३) पंडित । विद्वान् ।

छंदा पुं० (१) मुक्त पक्षी । मृगा । तोता । (२) मछ । शराव । (३) कवच के एक पुत्र । (४) प्यवन के एक पुत्र । ३०—प्यवनपुत्र मेधावी नाम । कई तपस्या विधिन अवसान ।—विधाम ।

मेधि-छंदा पुं० [सं०] उस स्थान पर गदा हुआ लोहा जहाँ रोग से खाकर प्रत्यक्ष पीयाई जाती है । दानेवाले धूल दूरी लंबे से दूधे हुए चारों ओर घूमकर वहाँ से डंडलों के दाने हाफते हैं ।

मेधिर-वि० [सं०] तपत्र बुद्धिवाला । मेधावी । बुद्धिमान् ।

मेधय-वि० [सं०] (१) बुद्धि बढ़ानेवाला । मेधाजनक । (२) पवित्र । शुचि ।

छंदा पुं० (१) रीत । कथा । (२) जी । (३) यकरा ।

मेधा-छंदा स्त्री० [सं०] (१) रवर्ग की एक अक्षरा जो ह्रस्व की बाह्य से विद्वान्मित्र का तप भंग करने के लिये गई थी और विद्वान्मित्र के संबंधों से जिसे क्षुब्धता नाम की कन्या उत्पन्न हुई थी । (२) उमा या पार्वती की माया जो हिम-वान् की पत्नी थी ।

मेधावामश-छंदा स्त्री० [सं०] (१) शत्रुनका । (२) पार्वती । दुर्गा ।

मेधावदित-छंदा पुं० [सं०] रासक नामक शरक का एक भेद । मेधा-छंदा स्त्री० [सं०] (१) जिसकी धारणाशक्ति मेधावती । (२) हिमवान् की पत्नी, मेधावती । (३) स्त्री । (४) कृष्णक की मातंगी कन्या । (कर्पूर) (५) काष्ठ ।

मेधा-छंदा पुं० [सं० मेधावन्] (१) दक्षि । (२) यक्षी । (३) गौर ।

मेधावय-छंदा पुं० [सं०] हिमालय ।

मेम-छंदा स्त्री० [सं० मेम का संज्ञक रूप] (१) सुगंध या अमरिषा आदि की स्त्री । (२) तास या एक पत्ता जिसे पीरी या लो भी कहते हैं । यह पत्ता यादगाह में छोटा और सुगंध के बढ़ा माना जाता है ।

मेमना-छंदा पुं० [सं० मेम] (१) मेह का यक्ष । (२) बों की एक जाति । उ०—कोई कागुल कैंजेज कोह बघी । मोत मेमना मुंजी खरती ।—विधाम ।

मेमार-छंदा पुं० [सं०] अन्न-निर्माण करनेवाला तिल्ली । हुमातन बनानेवाला । थवाई । राजगीर ।

मेमोस्विल-छंदा पुं० [सं०] (१) यह प्रायःनाम जो किसी पक्षे अधिपति के पास विचारार्थ भेजा जाय । (२) स्मारक-चिह्न । यादगार ।

मेय-वि० [सं०] (१) जिसकी नाप जोर हो सके । जिसका परिमाण या विस्तार सीक बताया जा सके । (२) जो बात जोरा जानेवाला हो ।

मेरछी-छंदा पुं० दे० “मेक” । उ०—(क) यदि हो कृष्ण बरगान जल कीन्हे चढ़े छर चोछ । मन विचार हमे भावरी मैरी रीत न कर्ष ।—जायसी । (ख) अपने अपने मेरिन मानो जनि होरी हारन कगार ।—सूर ।

मेरक-छंदा पुं० [सं०] एक अमुर जिसे विष्णु ने मारा था ।

मेरठी-छंदा पुं० [मेरठ नगर से] गन्ने की एक जाति जो गैठ की ओर होती है ।

मेरयना-वि०-कि० उ० [सं० मेरन] (१) दो या कई वस्तुओं को एक में करना । मिश्रित करना । मिलाना । उ०—मे मेरु परि पुरि सुनोधन जे चकरो यह छत्र की छादी ।—मुहली । (२) दो या कई व्यक्तियों को एक साथ करना । संगोप करना । मिलाव करना । उ०—(क) चतुर्वेद ही रीति हीतम मोहि नाई । वरतन ही मेरवी लेव करो मैत्रि नाई ।—जायसी । (ख) है मोहि भास मित्रि के जी मेरै करारा ।—जायसी ।

मेरा-तर्ब० [हि० मे + रा (भा० मेरी, हि० मेरा)] [सं० मेरी] “मे” के संबंधसारक का रूप । मुक्तो संबंध रखनेवाला । मदीय । मम । जैसे—यह घोड़ा मेरा है ।

● मेरा पुं० दे० “मेरा” । उ०—यह संगार सुवन मा मेरा । भोग न भावन की बेदि मेरा ।—जायसी ।

मेराउ-वि०-छंदा पुं० दे० “मेराव” । उ०—यनि मोदि और रीत विधि भाइ । दूह का मुँह देह कर मेराउ ।—जायसी ।

मेराव-वि०-छंदा पुं० [हि० मे + रा (भा० मेरी, हि० मेरा)] दे० “मेरा” । उ०—यनुमावनि पुनि दूह भारा । होरि मोदि मिगु दिह मेराव ।—जायसी ।

मेरी-गर्भ० “मेरा” का स्त्री० रूप ।

संज्ञा स्त्री० अर्धकार । उ०—मेरी मिट्टी मुका भया पाया ब्रह्म विद्यास । मेरे दूजा कोट नहीं एक तुम्हारी आस।—कबीर ।
मेरु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पुराणिक पर्वत जो सोने का कहा गया है । वि० दे० "सुमेरु" ।

पर्ययी०—हेमाद्रि । रत्नसागु । सुखल्य ।

(२) जपमाला के बीच का बड़ा दाना जो और सब दानों के ऊपर होता है । इसी से जप का आरंभ और इसी पर उस की समाप्ति होती है । सुमेरु (जप करते समय 'मेरु' का उल्लेख नहीं करना चाहिये) उ०—कविता माला काष्ठ की बहुत जलत का फेर । माला फेरी सँस की जामें गाँठि न मेर ।—कबीर । (३) एक विशेष ढाँचे का देवमंदिर ।

विशेष—यह पदकोण होता है और इसमें १२ भूमिकाएँ या खंड होते हैं । अंदर अनेक प्रकार के गवाक्ष (मोने) और चारों दिशाओं में द्वार होते हैं । इसका विस्तार ३२ हाथ और ऊँचाई ६४ हाथ होनी चाहिये । (पृहस्तहिता)

(४) वीणा का एक अंग । (५) पिंगल या छंदःशास्त्र की एक गणना जिससे यह पता लगता है कि कितने कितने लघु गुरु के कितने छंद हो सकते हैं ।

मेरुका-संज्ञा पुं० [सं० मेरु + का (प्रत्य०)] खेत बराबर करने के पाटे का छोर पर का भाग जिसमें रस्सियाँ बँधी होती हैं ।

मेरु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईशान कोण में स्थित एक देव । (पृहस्तहिता) (२) यमभूष । धूना ।

मेरुकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम ।

मेरुदंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ के बीच की हड्डी । रीढ़ । (२)

रुखी के दोनों धुनों के बीच गई हुई सीधी कल्पित रेखा ।

मेरुदेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेरु की कन्या और नाभि की पत्नी जो विष्णु के अवतार अप्समदेवी की माता थी ।

मेरुघामा-संज्ञा पुं० [सं० मेरुघाम्] शिव । महादेव ।

मेरुवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश । (२) स्वर्ग ।

मेरुमूल-संज्ञा पुं० [सं०] एक जाति का नाम ।

मेरुमूलसिंधु-संज्ञा पुं० [सं०] पहाव देव का दूसरा नाम ।

मेरुयंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चरखा । (२) बीजगणित में एक प्रकार का चक्र ।

मेरुशिरस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेरु की चोटी । (२) हठ योग में माने हुए मस्तक के छः चक्रों में से सबसे ऊपर का चक्र । इसका स्थान प्रसन्न, रंग अवर्णनीय और देवता चिन्मय शक्ति है । इसके दलों की संख्या १०० और दलों का अक्षर ओंकार है । इसे 'सहस्रार' भी कहते हैं ।

मेरुश्रीराम-संज्ञा पुं० [सं०] एक योगिसत्त्व का नाम ।

मेरुसावर्ण्य-संज्ञा पुं० [सं०] ग्यारहवें मनु का नाम ।

मेरे-सर्व० [हि० मेरा] (१) 'मेरा' का बहुवचन । जैसे,—ये आम मेरे हैं । (२) 'मेरा' का वह रूप जो उसे संबंधवान्

शब्द के आगे विभक्ति लगाने के कारण प्राप्त होता है । जैसे,—मेरे घर पर आना ।

मेल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो या अधिक वस्तुओं या व्यक्तियों के एकट्ठा होने का स्थापार अथवा भाव । मिलने की क्रिया या भाव । संयोग । समागम । मिलाप । जैसे,—(क) इधर से यह चला, उधर से वह; बीच में दोनों का मेल हो गया । (ख) इसी स्थान पर दोनों गांधियों का मेल होता है ।

कि० प्र०—करना ।—कराना ।—रखना ।—होना ।

यौ०—मेल मिलाप ।

(२) एक साथ प्रीतिपूर्वक रहने का भाव । अनयन का न रहना । एकता । सुलह । जैसे,—दोनों भाइयों में यद्वा मेल है ।

यौ०—मेल जोर ।

मुहा०—मेल करना = विरोध दूर करना और परस्पर हित-संबंध स्थापित करना । सुलह करना । संधि करना । मेल होना = मगना मिटना । सुलह होना ।

(३) पारस्परिक घनिष्ठ व्यवहार । मैत्री । मित्रता । दोस्ती । प्रीति संबंध । जैसे,—उसने अथ मेरे शत्रुओं से मेल किया है ।

मुहा०—मेल बढ़ाना = घनिष्ठ व्यवहार करना । अधिक परिचय और साथ करना । मैत्री करना । जैसे,—उससे बहुत मेल मत बढ़ाओ; नहीं तो पोखा खाओगे ।

(४) अनुकूलता । अनुरूपता । उपयुक्तता । संगति । सामंजस्य । सुभाषिकृत ।

मुहा०—मेल खाना = (१) साथ या ठीक होना । संगति का उपयुक्त होना । पट्टी बैठना । साथ निभाना । जैसे,—हमारा इनका मेल नहीं खा सकता । (२) वस्तुओं की एक साथ स्थिति का अच्छा ढंग ठीक होना । दो चीजों का जोड़ ठीक बैठना । जैसे,—

इसका रंग कपड़े के रंग के साथ मेल नहीं खाता । मेल बैठना = दे० "मेघ खाना" । मेल मिलना = दे० "मेघ बैठना" ।

(५) जोड़ । टकर । बराबरी । समता । जैसे,—दूसके मेल की चीज का मिलना तो कठिन है । (६) रंग । प्रकार । चाल । तरह । जैसे,—इसकी दूकान पर कई मेल की चीजें हैं । (७) दो वस्तुओं का एक में होना । मिश्रण । मिलावट । जैसे,—हरा रंग नीले और पीले रंगों के मेल से बनता है ।

मेलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संग । सहवास । (२) मेघ । (३) समूह । जमावड़ा । (४) मिलन । समागम । (५) पर और कन्या की राशि, नक्षत्र आदि का निषाह के लिये किया जानेवाला मिलान ।

मेलन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साथ होना । इकट्ठा होना । मिलन । (२) जमावड़ा । (३) मिलाने की क्रिया या भाव ।

मेखनाछी-कि० स० [हि० मेख + ना (प्रत्य०)] (१) मिलाता ।

(२) बालना । रचना । उ०—जै कर कनक कपोत भरि भरि

मेखत लेख चुकेल ।—सूर । (३) धारन करना । पहनाना ।

उ०—सिध अयमात राम वर मेखी ।—मुलसी ।

कि० स० इच्छा होना । पसन्द होना । जुटना । उ०—

बलसागर कलमन सहित कपिसागर रनधीर । अससागर
रघुनाथ जू मेले सागर तीर ।

मेखमसार-छंदा पुं० [छं०] एक रागिनी जिसकी स्वरलिपि
इस प्रकार है—स स स रे म प ध स स ध प म ग रे स ।

मेलापु-छंदा पुं० [छं०] दयाल ।

मेला-छंदा पुं० [छं० मेख] (१) बहुत से लोगों का जमावड़ा ।

भीड़ भाड़ । (२) देवदत्तन, उसख, खेल, छमाते आदि के
छिमे बहुत से लोगों का जमावड़ा । जैसे,—माघ मेला,
हरिहर क्षेत्र का मेला ।

यौ०—मेला डेला ।

छंदा सी० [छं०] (१) बहुत से लोगों का जमावड़ा । (२)

मिछल । समागम । मिलाप । (३) स्वाही । रोनाहट । (४)

भजन । (५) महानदी ।

मेला डेला-छंदा पुं० [हि० मेला + डेला = पड़ा] भीड़ भाड़ और
धक्का । जमावड़ा । जैसे,—मेले डेले में छिपों का जाना
ठीक नहीं ।

मेलागर्दा-छंदा स्त्री० [छं०] दयाल ।

मेलागो-कि० स० [हि० मेख] (१) मेखना का प्रेरणार्थक रूप ।

(२) देहन या गिरवी रती हुई वस्तु को खवा देकर सुहाना ।

मेली-छंदा पुं० [हि० मेख] यह निम्नले मेख जाल हो । यह

जिसने धनिष्ठ परिचय हो । मुग्धाङ्गनी । संगी । साथी ।

नि० हेड मेख रहनेवाला । ऊपरी दिल मिल जानेवाला ।

जिसकी प्रवृत्ति लोगों को मित्र बनाने की हो । पारवारा ।

जैसे,—यह बहुत मेली आदर्मी है ।

मेहिंद्रा केरुल-छंदा पुं० [छं०] खरख गलाने की देवणी ।

यह एक इन्द्रेन्द्रा मूहरा बरतन होता है । नीचे के बरतन
में पानी भरकर उसके अंदर मूहरा बरतन रखकर उसमें

खरख भर देने हैं और इकट्ठा और पर चढ़ा देने हैं ।

पानी की भाव से खरख गल जाता है । गल जाने पर उसे

रीतर मोंफ में डाल देते हैं, जिससे वह लम जाता है

और गहरी देने का संकेत तैयार होकर निकल जाता है ।

(छात्रागता)

मेखना-छंदा स्त्री० [छं०] एक प्रकार की भाव जिसका सिद्धा

पदा रहता है ।

न०-वि० स० (१) ज्ञेय या सीढ़ी से बार-बार इस तरह से

उछल करत होता । उलटता । उलटता । (२) कोई

काम करने में आना-जाती करने का समय विपणन ।

मेख-छंदा पुं० [छं०] रामचूताने की ओर बहनेवाली एक नदी

जाति । मेवाती । उ०—प्रिय-धन में दोरम लगे पर

तब हय मेव । तब से कड़े सनेहिया मन उन से के टेर

—रसनिधि ।

विशेष—मेव पहले हिंदू थे भीर मेखन में पसते थे ।

मुसलमानी बादशाहत के जमाने में ये मुसलमान हो गए
बच ये लोग छठ पाट प्रायः छोड़ते जा रहे हैं ।

मेवड़ी-छंदा स्त्री० [छं०] निर्गुटी । सैमाह ।

मेवा-छंदा पुं० [छं०] (१) खाने का कण । (२) छिन्नमि

पादम, भस्मोट आदि गुलाब हुए चढ़िया फल ।

छंदा पुं० [छं०] पुरत के गन्ने की एक जाति जिसे

“खडिरिया” भी कहते हैं ।

मेवाटी-छंदा स्त्री० [छं० मेवा + टी] एक पकवान जिसके अंदर

मेवे भरे रहते हैं । उ०—कूटि जाय फल फनीराज की समोसा

सम फटि जाय कचर की पीठ हू मेवाटी सी ।—गोशाम

मेवाड़-छंदा पुं० [छं०] (१) रामचूताने का एक प्रान्त जिसकी

प्राचीन रामचूतानी बिसौर धी और आनंदल उद्वपुर् है ।

(२) एक राग जो मालहोस राग का पुत्र माना जाता है ।

मेवाड़ी-छंदा पुं० [हि० मेवाड़] मेवाड़ प्रदेश का निवासी ।

वि० मेवाड़ में होनेवाला । मेवाड़ से संबंध रखनेवाला ।

मेवाड़ का ।

मेवाण-छंदा पुं० [छं०] रामचूताने और सिंध के बीच के प्रदेश

का पुराना नाम ।

मेवाती-छंदा पुं० [हि० मेवाण + टी० (प्रत्य०)] मेवाण का रहनेवाला ।

मेवाफतोश-छंदा पुं० [छं०] फल का मेवे बेचनेवाला ।

मेवासा-छंदा पुं० [हि० मेवासा] (१) कृष्ण । गढ़ । (२) राग

का स्थान । (३) घर । उ०—कबीर हरि की गति का मग

में बहुत हुकात । मेवासा मॉदि नहीं होम करे निज

दास ।—कबीर ।

मेवासी-छंदा पुं० [हि० मेवासा] (१) घर में रहनेवाला । घर

का आलोक । उ०—मन मेवासी गृहनि केसरि की

कहि । नो कुछ छिपा रां मन छिगा डेतां छिपा बनु

महि ।—कबीर । (२) छिने में रहनेवाला । संततिन और

प्रवक्त । उ०—कथित मन मेवासी भवा वरु की छै न

कोय । खनछादिक रिनि सारगे निनके गया चितोय ।—

कबीर ।

मेव-छंदा पुं० [छं०] (१) मेढ़ । (२) बाहर । रासियों में से एक

जिसके अंतर्गत बघिनी, भाली और हुमिका मयूर का

प्रथम पार चढ़ता है । इस रासि पर मूल्य केवल में

रहते हैं । रासियों की गणना में इसका नाम छठ से

पहले चढ़ता है । इसकी आरंभिक मेल के मतलब माली मई

है । यह रासि मूल्य का बच रहता है । इसमें सत्रह मूल्य

रहते हैं, तब तक बहुत प्रबल रहते हैं। उषांश काल वैशाख में प्रथम दस दिन तक रहता है। इसके उपरांत सूर्य उषांश-युक्त होने लगते हैं। (१) एक लग्न जो सूर्य के मेप राशि में रहने पर माना जाता है। जैसे,—यदि किसी का जन्म सूर्य के मेप राशि में रहने पर होगा, तो कहा जायगा कि उसका जन्म मेप लग्न में हुआ।

६ मुहा०—मेप करना=मौन मेप करना। आगा पीछा करना। संकर विकल्प करना। उ०—कियो आकर भोजन दुहुन संग है, नर नारी मज लोग संधि देखे। मनो आप संग, देखि देखे संग, मनहि मन परस्पर करत मेपे।—सूर।

(५) एक ओपधि। (५) जीयशाक। सुसना।

मेपकुसुम-छंदा पुं० [सं०] चकवैद नाम का पौधा। चक्रमर्द।

मेपपाल-छंदा पुं० [सं०] गदरिप।

मेपपुण्या-छंदा स्त्री० [सं०] मेपासिंगी।

मेपलोचन-छंदा पुं० [सं०] चक्रमर्द। चकवैद।

मेपचल्ली-छंदा स्त्री० [सं०] मेपासिंगी।

मेपयियाणिका-छंदा स्त्री० [सं०] मेपासिंगी।

मेपवृषण-छंदा पुं० [सं०] इंद्र का एक नाम। उ०—मेप वृषण अस नाम शक्र को है हे सय संसारा। अवृषण मेप देव पितरन को है हे तोहि अपारा।—रघुराज।

मेपशृंग-छंदा पुं० [सं०] सिंगिया नामक स्थावर विप।

मेपशृंगी-छंदा स्त्री० [सं०] मेपासिंगी।

मेप संक्रांति-छंदा स्त्री० [सं०] मेप राशि पर सूर्य के आने का योग वा काल।

विशेष—इसी दिन से सौर मास के वैशाख का आरंभ होता है। इस दिन हिंदू लोग सच्च दान करते हैं, इससे इसे 'सत्तुआ' संक्रांति भी कहते हैं।

मेपड-छंदा पुं० [सं०] इंद्र।

मेपा-छंदा स्त्री० [सं०] (१) गुजराती इलायची। (२) चमड़े का एक भेद जो लाल भेद की जाल से बनता है।

मेपालु-छंदा पुं० [सं०] वर्षरी। दान तुलसी। यहुई।

मेपी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) भेद। स्त्री मेप। (२) तिनिश वृक्ष। (१) जटामासी।

मेसूरण-छंदा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में दशम लग्न जो कर्मस्थान कहा जाता है।

मेहंदी-छंदा स्त्री० [सं०] मेणी। पत्ती झाड़ू नेवाली एक झाड़ी जो यलोचिस्तान के जंगलों में आप से आप होती है और सारे हिंदुस्तान में लगाई जाती है। इसमें मंजरी के रूप में सफ़ेद फूल लगते हैं जिनमें मीनी मीनी सुगंध होती है। फल गोल मिर्च की तरह के होते हैं और गुच्छों में लगते हैं। इसकी पत्ती को पीसकर चूना से लाल रंग आता है, इसी से खिली इसे हाथ-पैर में लगाती हैं। यगीचे

आदि के किनारे भी लोग शोभा के लिये एक पंक्ति में इसकी टट्टी लगाते हैं।

पर्या०—नखरंज। कोकदंता। रागगर्भा।

मुहा०—क्या पैर में मेहंदी लगी है ? = क्या पैर काम में नहीं ला सकते जो छठकर नहीं आते ? मेहंदी रचना = मेहंदी का अच्छा रंग आना। जैसे,—उसके पैर में मेहंदी खूब रचती है। मेहंदी योचना = मेहंदी की पतियों पीसकर लगाना। मेहंदी रचाना = मेहंदी लगाना। मेहंदी लगाना = मेहंदी की पतियों पीसकर हथेली या तलुए में लगाना।

मेह-छंदा पुं० [सं०] (१) प्रघाव। मृद। (२) प्रमेह रोग। (३) मेप। मेदा।

छंदा पुं० [सं०] मेप, प्र० मेह] (१) मेघ। बादल। (२) वर्षा। झड़ी। मंह।

कि० प्र०—आना।—पड़ना।—बरसना।

मेहतर-छंदा पुं० [का०] (१) बुढ़ा। सयसे पढ़ा। जैसे—सरदार, शाहशादा, मालिक, हाकिम, अमीर आदि। (२) [स्त्री०] मेहतरानी] नीच मुसलमान जाति जो शाहू देने, गंदगी उठाने आदि का काम करती है। मुसलमान मंत्री। हलालखोर।

मेहन-छंदा पुं० [सं०] (१) शिथल। क्षिण। (२) मृद। मृत।

मेहनत-छंदा स्त्री० [स्त्री०] मिहनत। धम। प्रयास।

कि० प्र०—करना।—पड़ना।—लेना।—होना।

मेहनतानी-छंदा पुं० [का० + तानी] किसी काम की मजदूरी। परिश्रम का मूल्य। जैसे,—यकील का मेहनतानी।

मेहनती-वि० [का०] मेहनत। मेहनत करनेवाला। परिश्रमी।

मेहना-छंदा स्त्री० [सं०] महिला। स्त्री।

मेहमान-छंदा पुं० [का०] अतिथि। पाहुना।

मेहमानदारी-छंदा स्त्री० [का०] अतिथि। अनिधि सत्कार। पहुनाई।

मेहमानी-छंदा स्त्री० [का०] मेहमान + ई (प्रत्य०)] (१) अतिथि। अतिथि सत्कार। पहुनाई।

मुहा०—मेहमानी करना = मृत्यु भय बनाना। मारना घातना। दंड देना। (अर्थ) उ०—नंदमहरी की कानि करणि हों ना सह करति मेहमानी।—गूर।

‡ (२) मेहमान बनकर रहने का भाव। जैसे,—पह मेहमानी करने गए हैं।

मेहर-छंदा स्त्री० [का०] मेहरवानी। रूपा। अनुग्रह। दया।

मेहरवान-वि० [सं०] रूपाणु। दयाणु। अनुग्रह करनेवाला।

विशेष—यहों के संवोधन के लिये अथवा स्त्रियों के प्रति भाव दियाने के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

मेहरवानगी-छंदा स्त्री० दे० "मेहरवानी"।

मेहरवानी-छंदा स्त्री० [का०] दया। रूपा। अनुग्रह।

कि० प्र०—करना।—दियाना।—होना।

मेहरा-यंश पुं० [हि० मेहरी] (१) पियों की सी चेष्टावाला ।
 यी-मृदुलिवाला । जनमा । (२) पियों में बहुत रहनेवाला ।
 (३) सुताओं की चरमी का घेरा ।

यंश पुं० [देहचर (भूत युग)] यंत्रियों की एक जाति ।
 मेहराव-यंश स्त्री० [यं०] हार के ऊपर का अर्द्धमंडलाकार
 बनाया हुआ भाग । दरवाने के ऊपर का गोला किया हुआ
 दरवाजा ।

यिरोप-मेहराव बनाने की रीति प्राचीन हिन्दू शास्त्र में प्रच-
 लित न थी । विदेशियों, विशेषतः मुसलमानों के द्वारा ही,
 इस देश में इसका प्रचार हुआ है ।

मेहरावदार-वि० [यं० + दा०] ऊपर की ओर गोला बड़ा हुआ ।
 (दरवाजा)

मेहराव १-यंश स्त्री० [यं० मेहरा] स्त्री । भीतर ।
 मेहरिया १-यंश स्त्री० दे० "मेहरी" ।
 मेहरी-यंश स्त्री० [यं० मेहरा] (१) स्त्री । भीतर । (२) पसी ।
 जोरु । उ०—मेहरिह सुँवर मेहरा, चंदन रोहरा देह ।—
 जायसी ।

मै-मर्ग० [यं० मर्ग] सुचैनाम उत्तम पुरुष में कर्ता का रूप ।
 स्वर्ग । मुद ।
 ० मय्य० दे० "मै" ।

मैदल १-यंश पुं० [हि० मैदाल] मैदफल । मदनफल ।
 मै०-मय्य० दे० "मय" । उ०—भक्त सीकर साँवरी देह लस मनो
 रासि महामन मारक मै ।—मुल्सी ।

महरा-यंश पुं० दे० "माहरा" । उ०—(क) येवते गदलि मने-
 दिया मैके सागु । दुहदिनि गोरी राबतिया भारी औगु ।—
 रहीम । (ख) रोरे मैके ते हम आये । पुष रिग जगनी जवक
 पठाये ।—रघुनाथ ।

मैगल-यंश पुं० [यं० मरगल] मल हाथी । मग्न हाथी । उ०—
 (क) माथव नू मग्न राव ही विवि घोष । प्रति उगमल
 निरंजुस मैकम विना रहित असोच ।—भूर । (ख) पैदलि
 भदलि पैद मय्य मल मैगल स्त्री, नाथ करि हैं यल स्त्री
 लगनि लगनह लंक ।—मुपनेस । (ग) मणि द्वार है साँवरा
 राई दसव भा । मग लो मैगल दौ रह्यो कैमे होय समाया ।
 —कबीर ।

वि० मग्न । मग्न । (हाथी के लिये)
 मैघ-यंश पुं० [यं०] किसी प्रकार के गैर के गैर की अपघा
 हारी प्रकार के और किसी गैर की बाढी ।
 मैगल-यंश स्त्री० [यं० मैगल] (१) उनकी बुरी चिनची
 कोरे पुरा एक दिन भर चालूय है बरे । संजिय । (२)
 मय्य । माया । उ०—मैगल कतु पुनि मैगल मारी ।
 पर लालचन ललकन कतु कारी ।—रिदास ।
 मैघ-यंश पुं० [यं०] (१) अनुप्रास मय्य । (२) मय्य-मय्य ।

(३) मय्यार । मुदा । (४) माहाय । (५) मय्य
 समय के उपरान्त उससे सोसरा मुहूर्त । (६) मय्य
 की एक वर्णसंकर जाति । (७) मित्र का भार ।
 दोस्ती । (८) वेद की एक शाखा ।
 वि० मित्र-संबंधी । मित्र का ।

मैत्रक-यंश पुं० [यं०] मित्रता । दोस्ती ।
 मैत्रम-यंश पुं० [यं०] अनुप्रास मय्य ।
 मैत्राव-यंश पुं० [यं०] एक प्रकार का मेल ।
 मैत्राव्योतिक-यंश पुं० [यं०] मनु के अनुसार द
 जिसमें अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होनेवाला वैश्य जाता

मैत्राव्य-यंश पुं० [यं०] (१) यक्षयक्ष के प्रभेदा एक
 कवि । (२) मैत्र नामक वैदिक वाक्ता ।

मैत्राव्य-यंश पुं० [यं०] एक उपनिषद् का नाम ।
 मैत्राव्य-यंश पुं० [यं०] (१) सोलह कवियों में से
 कविता । (२) मित्र और वरुण के पुत्र, भगवत् ।
 ई कि वर्चसी को देव्यकर मित्र और वरुण दोनों
 का धीर्य एक जगह स्थापित हो गया था । उसी
 भगवत् और वरुण हन दो कवियों का जन्म हुआ

मैत्रि-यंश पुं० [यं०] एक वैदिक आचार्य त्रिवेदे के
 मय्युपनिषद् की रचना हुई है ।

मैत्री-यंश स्त्री० [यं०] दो व्यक्तियों के बीच का मित्र
 मित्रता । दोस्ती ।

मैत्रीयल यंश पुं० [यं०] पुत्र का एक नाम । (मैत्री,
 आदि योग के चार साधन धर्म हैं, जो पुत्र को
 मय्ये पुं; इसी लिये उनका यह नाम पड़ा ।)

मैत्रेय-यंश पुं० [यं०] (१) एक पुत्र का नाम जो अपनी
 बाले हैं । (२) भागवत के अनुसार एक कवि का
 चराम के लिये थे और जिनके विष्णु पुराण बड़ा था
 (३) सूर्य । (४) प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जा
 विदेह विना और अयोग्य माना ये जगह करी
 इसका काम दिन रात की धरियों को पुकारकर बनाने

मैत्रेयी-यंश स्त्री० [यं०] (१) पाण्डवों की स्त्री का
 प्रसवार्थी और बड़ी पेटिका थी । (२) भद्र
 एक नाम ।

मैत्र्य-यंश पुं० [यं०] मित्रता । दोस्ती ।
 मैथिल-वि० [यं०] (१) मिथिला देश का । (२) मि
 मय्यकी ।

यंश पुं० (१) मिथिल देश का मिथिली । (२) मय्य
 का एक नाम ।

मैथिली-यंश स्त्री० [यं०] मिथिला देश के राजा की
 मातृकी । सीता ।

मैथुन-पुं० संज्ञा [सं०] स्त्री के साथ प्ररूप का समागम । संयोग ।
रति-प्रीति ।

मैथुन्य-संज्ञा पुं० [सं०] गांधर्व विवाह ।

मैदा-संज्ञा पुं० [फा०] बहुत महीन आटा । उ०—नेह मौन
छवि मधुरता मैदा रूप मिलाय । बेंचत हलुवाई मदन हलुआ
सरस बनाय ।—रसनिधि ।

मैदान-संज्ञा पुं० [फा०] (१) परती का वह लंबा-चौड़ा विभाग
जो समथल हो और जिसमें पहाड़ी या घाटी आदि न हो ।
दूर तक फैली हुई सपाट भूमि । उ०—जय कादी कोसल
नगर तें मैदान माहि बरात । तय भयो देवन मोर मानहु
लिखु दिलिय दिखात ।—पुरुषराज ।

मुहा०—मैदान छोड़ना या करना = किसी काम के लिये बीच में
कुछ जगह छोली होना । मैदान जाना = रौबादि के लिये जाना ।
(विशेषतः बली के बाहर)

(२) वह लंबी चौड़ी भूमि जिसमें कोई सैल खेला जाय
अथवा इसी प्रकार का और कोई प्रतियोगिता या प्रतिद्वंद्विता
का काम हो । उ०—(क) बहुत दिसि आव अखेपत मारुं ।
अय यह गोय यही मैदान ।—जायसी । (ख) भीमनमोहन
खेलत बीगान । द्वारवती कोट कंचन में रच्यो रुचिर मैदान ।
—सूर ।

मुहा०—मैदान में आना = मुकाबले पर आना । प्रतियोगिता या
प्रतिद्वंद्विता के लिये सामने आना । मैदान साफ होना = मार्ग में
कोई बाधा आदि न होना । मैदान मारना = प्रतियोगिता में
जीतना । खेल, बाजी आदि में जीतना ।

(३) वह स्थान जहाँ लड़ाई हो । युद्ध-क्षेत्र । रण-क्षेत्र ।

मुहा०—मैदान करना = लड़ना । युद्ध करना । उ०—जेहि पर
पवि करि मैं मैदाना । जीतहुं सकल धीर बलवाना ।—
विश्राम । मैदान छोड़ना = लड़ने के स्थान से हट जाना ।
मैदान मारना = विजय प्राप्त करना । मैदान हाथ रहना =
लड़ाई में विजयी होना । जीतना । मैदान होना = युद्ध होना ।

(४) किसी पदार्थ का विस्तार । (५) सब आदि का विस्तार ।
ज्याहिर की लंबाई चौड़ाई । (जीहरी)

मैदा लफाड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मेदा + हि० लफाड़ी] एक प्रकार की
नड़ी जो औषध के काम में आती है । यह सफेद रंग की
और बहुत मुलायम होती है । पैचक में इसे मधुर, शीतल,
भारी, धातुवर्धक, और पित्त, दाह, ज्वर तथा खाँसी आदि
को दूर करनेवाली माना है ।

मैन-संज्ञा पुं० [सं० मदन] (१) कामदेव । मदन । (२) मोम ।
उ०—(क) मैन के दसन कुलिस के भोदक कहत मुनत
बौराई ।—बुलसी । (ख) जा रँग जामे ही निसा जासों
छमे नैन । जा पग गहि भति मैन भै मैन-नियस सो मैं
न ।—रामसहाय । (ग) मैन यत्नित नव यसन सुदेत ।

भिदत नहीं जल ज्यों उपदेश ।—केशव । (घ) दयाम
रंगे रँगिले नैन । धोये छुटत नहीं यह बैसेहु मिले
हूँ मैन ।—सूर । (३) राल में मिलाया हुआ मोम जिससे
पीतल वा तँबे की मूर्ति बनानेवाले पहले उसका नमूना
बनाते हैं और तब उस नमूने पर से उसका साँचा तैयार
करते हैं ।

मैनफल १-संज्ञा पुं० दे० “मैनफल” ।

मैनफल-संज्ञा पुं० [सं० मदनफल] (१) मण्डोले आकार का एक
प्रकार का साइदार और कँटीला वृक्ष जिसकी छाल खाकी
रँग की, लकड़ी सफेद अथवा हलके मूरे रँग की, पत्ते एक
से दो इंच तक लंबे और भंडाकार तथा देरने में चिड़चिड़े
के पत्तों के समान, फूल पीलापन लिए सफेद रंग के,
पाँच पँखड़ियाँवाले धीरे दो या तीन एक साथ होते हैं ।
इसमें अलरोट की तरह के एक प्रकार के फल लगते हैं जो
पकने पर कुछ पीलापन लिए सफेद रंग के होते हैं । इसकी
छाल और फल का व्यवहार औषधि के रूप में होता है ।
(२) इस वृक्ष का फल जिसमें दो दल होते हैं और जिसके
बीज चिड़ीदाने के समान चिपटे होते हैं । इसका गूदा
पीलापन लिए लाल रंग का और स्वाद कड़ुआ होता है ।
इस फल को प्रायः मधुर लोग पीसकर पानी में छाल देते
हैं, जिससे सब मलखियाँ एकत्र होकर एक ही जगह पर आ
जाती हैं और तब ये उन्हें सहज में पकड़ लेते हैं । यदि ये
फल वर्षा ऋतु में अन्न की बस्तियों में रख दिए जायँ, तो उसमें
कीड़े नहीं लगते । बमन कराने के लिये मैनफल बहुत अच्छा
अमला जाता है । वैद्यक में इसे मधुर, कड़ुआ, हल्का,
गरम, बमनकारक, रक्ता, मेदक, चरपरा, तथा विद्रधि,
सुकाम, घाव, कफ, आनाह, सूजन, त्वचा रोग, विषविकार,
यवासीर और ज्वर का नाशक माना है ।

मैनर १-संज्ञा पुं० दे० “मैनफल” ।

मैनशिल-संज्ञा पुं० दे० “मैनसिल”

मैनसिल-संज्ञा पुं० [सं० मनशिला] एक प्रकार की धातु जो
मिट्टी की तरह पीली होती है और जो नैपाल के पहाड़ों में
बहुतायन से होती है । पैचक में इसे शोषकर अनेक प्रकार
के रोगों पर काम में लते हैं और इसे गुठ, पंगुद्ध, सारक,
उष्णबीर्य, कटु, तिक्त, स्निग्ध और विष, भास, कुष्ठ, ज्वर,
पांडु, कफ तथा रक्त दोष-नाशक मानते हैं ।

पर्याय—मनोज्ञा । नागजिह्वा । नैपाली । निला । कप्ला-
जिह्वा । रोगनिहा । गोला । दिष्पीरपि । बुनटी । मनोगुहा ।

मैना-संज्ञा स्त्री० [सं० मदन, मदनतन्त्र] काले रंग का एक
प्रसिद्ध पक्षी जिसकी चोंच पीली या नारंगी रंग की होती
है और जो सिंगाने में मनुष्य की सी पोंकी सोझने लगता

है। यह रूमी बोनी के छिपे प्रसिद्ध है। साविता। सारो।
गंगा श्री० [सं० मेनका] पारसोनी की माता, मेनका।
गंगा पुं० [देवा०] एक जाति जो रातपुत्राने में पाई जाती
है और "मैना" कहलाती है। उ०—(क) वृष उतंग
गिरिवर गङ्गा मैना मेन मयास।—विहारी। (र) मुकपि
गुल्फ बदे अतिर उपाधिहारी मैना मारि मारि करे अग्निय
भग्न फात।—गुप्ता।

मैनाक-गंगा पुं० [गी०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम
जो हिमालय का पुत्र माना जाता है। कहते हैं कि इंद्र से
वरकर यह पर्वत समुद्र में जा गिरा था; इस कारण यह
अब गड सरल है। गंगा जाने समय समुद्र की भांसा से
हसने इनुमान जी को आश्रय देना चाहता था। उ०—सिंधु
बचन सुनि कान तुलन उठ्यो मैनाक तप।—मुकसी।

पया०—दिरप्यनाम। तुनाम। हिमपर्वत।

(२) हिमालय की एक ऊँची चोटी का नाम।

मैनापत्री-गंगा श्री० [गी०] एक पर्वत जिसका प्रत्येक चरण
चार लक्षण का होता है।

मैनापत्री-वि० [गी० मदमत्त] (१) मदोन्मत्त। मनपात्रा।
उ०—कुंभ समन दौड गन मैना। (२) अर्द्धवृत्त।
भगिनी। उ०—(क) पारि पैस गई मीनि न जानी।
तदन भई मैना गुलाबी।—जायसी। (ख) अरी सावि
मैना बचन बोला जो अनेरी।—सूर।

मैया-गंगा श्री० [गी० माया, मा० माया, माया] माता। माँ।
उ०—बहन छागे मोहन मैया मैया।—सूर।

मैपात्री-गंगा पुं० [हि० मयिकार] एक प्रकार की अतिपात्र जमीन
जो बहुत सारा होती है।

मैपात्री-गंगा पुं० [देवा०] सोमार्थ की एक जाति।

गंगा श्री० [गी० सर मा० मयिकार = पयिक] सार के विन
की तरह। उ०—(क) मोदि बने विन जाइ यदि भाइ
जान मन मर। बंसी तेरे वर को पर पर सुनियन फिर।
—रसनिधि। (ख) मेनि के चालु मणी विवि सौं तन सों
हम हेनिने मर मरी सों।

मैरा-गंगा पुं० [गी० मय, मा० मय] मैनों में यह सारा हुआ
मयास जिस पर मयिकार विमान लोग अपने मैनों की रक्षा
करते हैं।

मैरेप-गंगा श्री० [गी०] (१) मदिरा। मारन। (२) गुद और
पी के हल की बनी हुई एक प्रकार की माचिस कास की
मदिरा। (३) एक में मिश्र हुआ अमृत और अमृत जिसमें
ऊपर से बादर भी मिश्र दिया गया हो।

मैमद-गंगा पुं० [गी०] मय। मीत।

मैम-गंगा पुं० [गी० मय, मा० मय] मयि। मैम। वि० दे०
"मैम"।

गंगा पुं० (१) गर्द, भूल, बिह आदि जिसके पदने का करने
में किसी वस्तु की तोषा या चमक दमक नष्ट हो जाती
है। मलिन बरदेवाली वस्तु। मल। गर्दी। ईमे,—(२)
घड़ी के पुरजों में बहुत मील जम गई है। (३) मीन का
कान आदि में मय जमने देनी चाहिए।

यौ०—मैलगात्र

मुहा०—हाथ की मील = हाथ बाल, जिसे वह गर्द हो जाय
से। जैसे, रफवा पैसा हाथ की मील है।

(२) दोष। निरार। जैसे,—मन-मील मिट, तन-मील पौ,
करे मंग मंग की मोटा। (गीत)

मुहा०—मन में मील रहना = मन में किसी प्रकार का दुर्भाव
नैवभाव आदि रहना।

गंगा पुं० [देवा०] कीलवानों का एक संकेत जिसका
व्यवहार हाथी को चलाने में होता है।

मैलखोरा-वि० [हि० मैल + ख० खोर = खनित] (१) रंग
आदि जिस पर जमी हुई मील जल्दी गिराई गई।
मील को छिपा लेनेवाला (रंग)। जैसे,—काला या सारी
रंग मैलखोरा होता है।

गंगा पुं० (१) यह वस्तु जो शरीर की मील से मोव करने
की रक्षा करने के छिपे अंदर पहना जाय। जैसे,—गंभी,
कमीन आदि। (२) काली या जीन के नीचे रखा जानेवाला
मनमा। (३) सापुन।

मैला-वि० [गी० मयिन, मा० मय] (१) जिस तर मील जमी
हो। जिस पर गर्द, भूल आ कीट आदि हो। जिसकी
चमक दमक मारी गई हो। मलिन। मरगपट। हाक
का उलटा।

यौ०—मैला कुचन।

(२) विरार-मुक। सन्तोष। क्षुब्ध। (३) गंरा। गुणवृद्ध।

गंगा पुं० (१) गलीज। गू। विष। (२) दूध बने।
(३) दे० "मैल"।

मैलाकुचिया-वि० [हि० मैल + कु० कुचन = कुचन] (१)
जो बहुत मैले बपड़े आदि पहने हुए हो। (२) गूला
मैला। गंरा।

मैलापन-गंगा पुं० [हि० मैल + पन (पान)] मैला होने का
कारण। मलिनता। गंदगी।

मैहाजी-गंगा पुं० [हि० मही = मछली] यह लगभग ओ की मा
मरतन को घायल करने पर भीषे बंद जाती है। की मा
प्रलयन मराने में निराला हुआ महा।

गंगा पुं० दे० "मैदा"।

मौ०—म-म-दे० "मै"। उ०—ननोपक आदि मय मितने। न
मिदू के जग सों चले।—मुकसी।
गर्द-मारी बोनी के "गुम" के समान मय और मयरी है

'मैं' का वह रूप जो उसे कर्त्ता-कारक के अतिरिक्त और किसी कारक-विद्म लगने के पहले प्राप्त होता है। जैसे,—मौको, मौपे इत्यादि।

मौगरा-संज्ञा पुं० [सं० मुद्रा] [जी० मौगरी] काठ का बना हुआ एक प्रकार का हथौड़ा जिससे मेल इत्यादि ठोकी जाती है।

संज्ञा पुं० (१) दे० "मोगरा"। (२) दे० "मुंगरा"।

मौगला-संज्ञा पुं० [देश०] मध्यम श्रेणी का और साधारणतः यात्रा में मिलनेवाला केसर। वि० दे० "केसर"।

मौछु-संज्ञा स्त्री० दे० "मूछ"। उ०—इसके सहारे स्वदेश तक श्रीमान् मौछों पर ताव देते चले जा सकते हैं।—बाल-मुकंद गुप्त।

मौढ़ा-संज्ञा पुं० [सं० मूढा, प्रा० मूढा = अघार] (१) बाँस, सरकंडे या बँत का बना हुआ एक प्रकार का ऊँचा गोलाकार आसन जो प्रायः तिरपाई से मिलता जुलता होता है। (२) बाहु के जोड़ के पास कंधे का घेरा। कंधा।

यौ०—सीना मौढ़ा = छाती और कंधा।

मौक्ष-सर्व० [सं० मुक्] (१) मेरा। उ०—मो संपति ननुति सदा विपति विदारनहार।—विहारी। (२) मज्जी और मज्जा भाषा में "मैं" का वह रूप जो उसे कर्त्ताकारक के अतिरिक्त और किसी कारक-विद्म लगने के पहले प्राप्त होता है। जैसे,—मौको, मौसो, इत्यादि।

मौई-संज्ञा स्त्री० [हि० मौता] धी में साना हुआ आटा जो छोट की छपाई के लिये काला रंग धनाने में कसीस और धी के फूलों के काढ़े में डाला जाता है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की जड़ी जो मारबाढ़ देश में होती है। कहीं कहीं इसे ग्वालिया भी कहते हैं।

मौकदमा-संज्ञा पुं० दे० "मुकदमा"।

मौकना-संज्ञा-कि० सं० [सं० मुक्त, हि० मुक्ता] (१) छोड़ना। परित्याग करना। उ०—कंपित स्वास प्रास अति मौकति यो मृग केहरि कोर।—सूर। (२) श्रित करना। फेंकना। उ०—आखी तहाँ एक बाले बिलोक्यौ। रोक्यो नहीं जोर नाराय मौक्यौ।—केशव।

मौकल-संज्ञा-वि० [सं० मुक्त, हि० मुक्ता] छूटा हुआ। जो बँधा न हो। आजाद। स्वच्छंद। उ०—(क) पोचन वरय महा रूप के गरव गति मदन के मद् मद् मौकल सतंग की।—मति-राम। (ख) गोडुल में मौकल फिर गली गली गज प्रेम। ऊयो हाँ से जाउ छे तुम अपने सख नेम।—रसनिधि।

मौकला-संज्ञा-वि० [हि० मौकल] (१) अधिक चौड़ा। कुशादा। (२) खुला हुआ। छुटा हुआ। स्वच्छंद। उ०—खिरा मोई सरमा जिन पँचो राते चू। जिनके पँचो मौकले निनचू सहेव दूर।—कबीर।

† संज्ञा पुं० अधिकता। बहुतपत। ज्यादाती। जैसे,—वहाँ तो पशुओं के लिये चारे पानी का बड़ा मौकला है।

मौका-संज्ञा पुं० [देश०] मद्रास, मध्य भारत और कुमायूँ के जंगलों में होनेवाला एक प्रकार का वृक्ष जिसके पत्ते प्रति वर्ष झड़ जाते हैं। इसकी लकड़ी कड़ी और सफेदी लिए भूरे रंग की होती है और आरायशी सामान धनाने के काम आती है। खरादने पर इसकी लकड़ी बहुत चिकनी निकलती है और इसके ऊपर रंग और रोगन अधिक जिलता है। इसकी लकड़ी न तो फटती है और न टेढ़ी होती है। यह वृक्ष वर्षा ऋतु में बीजों से उगता है। इसे गेटा भी कहते हैं।

† संज्ञा पुं० (१) दे० "मोला"। (२) दे० "मौला"।

मौल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी प्रकार के बंधन से छूट जाना। मोचन। छुटकारा। (२) दाखों और पुराणों के अनुसार जीव का जन्म और मरण के बंधन से छूट जाना। आवा-गमन से रहित हो जाना। मुक्ति। नजल।

विरोध—इसारे यहाँ दर्शन में कहा गया है कि जीव अज्ञान के कारण ही बार बार जन्म लेता और मरता है। इस जन्म-मरण के बंधन से छूट जाने का ही नाम मोक्ष है। जब मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तब फिर उसे इस संसार में आकर जन्म लेने की आवश्यकता नहीं होती। शास्त्रकारों ने जीवन के चार उद्देश्य यतलाए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से मोक्ष परम अर्थात् अथवा परम सुख-पार्थ कहा गया है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय आत्मतत्त्व या महातत्त्व का साक्षात् करना यतलाया गया है। न्याय-दर्शन के अनुसार दुःख का आत्यंतिक नाश ही मुक्ति या मोक्ष है। सत्य के मत से सीनों प्रकार के तापों का समूल नाश ही मुक्ति या मोक्ष है। वेदान में पूर्ण आत्मज्ञान द्वारा माया संबंध से रहित होकर अपने शुद्ध मय स्वरूप का बोध प्राप्त करना मोक्ष है। सांप्रत्य यह कि मय प्रकार के सुख-दुःख और मोक्ष आदि छूट जाना ही मोक्ष है। मोक्ष की कल्पना स्वयं-नरक आदि की कल्पना से पीछे की और उसकी अपेक्षा विरोध संस्कृत तथा परिमार्जित है। स्वयं की कल्पना में यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने इन्द्रिय दृष्ट पुण्य या गुण कर्म का फल भोगने के उपरांत फिर इस संसार में आकर जन्म ले, इससे उभे फिर अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ेंगे। पर मोक्ष की कल्पना में यह बात नहीं है। मोक्ष मिल जाने पर जीव सदा के लिये सब प्रकार के बंधनों और कष्टों आदि से छूट जाता है।

(१) शृंगु। मौन। (२) पनन। गिरना। (३) पॉर का बूझ।

मोक्षक-पंश पुं० [मो०] (१) मोक्ष नामक वृक्ष । (२) मोक्ष करने या देनेवाला । वह जो मोक्ष करता हो ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] [वि० मोक्षणी, मोक्षि, मोक्ष] मोक्ष देने की क्रिया ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] मोक्ष देनेवाला । मोक्षदाता ।

मोक्षदा-पंश स्त्री० [मो०] अलग्ग सुखी पृथ्वी की निधि ।

मोक्षदा-पंश पुं० [मो०] (१) सुखी । (२) काशी तीर्थ ।

मोक्षपान-पंश पुं० [मो०] गाल के मुख्य साठ अंगुली में से एक अंग । इसमें १२ गूद, ३२ लघु और ६४ ह्रस्व मायाएँ होती हैं ।

मोक्षपान-पंश स्त्री० [मो०] वेदों का शास्त्र ।

मोक्षपान-पंश स्त्री० [मो०] धन मतानुसार वह लोक जहाँ धन धर्मावली की सात पुण्य मोक्ष का सुख भोगने हैं । स्वर्ग ।

मोक्ष-पंश स्त्री० दे० "मोक्षदा" ।

मोक्ष-पंश [मो०] जो मोक्ष के योग्य हो । मोक्ष का अधिकारी ।

मोक्ष-पंश पुं० दे० "मोक्ष" । उ०—(क) मोक्ष वीर्य मोक्ष उर्वी अनेक अवसर दिखी ।—विहारी । (ख) रानी धर्म सार पुनि साक्षा । बंदि मोक्ष जेहि पावहि साक्षा । जायसी ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] शीघ्र भादि में बना हुआ छेद जिसके द्वारा पृथ्वी निकलना है और प्रकटा तथा वायु आती है । मोटी गिहरी । सरोगा । उ०—(क) मोक्ष और सरोगा रनि हरि दग दोउ बरसत ।—प्रास । (ख) जानी, सरोगाँ, मोगाँ मे पूर की गुण्य भाष रही है ।—रघुनाथ ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] सुदृढ़ । (१) एक प्रकार का बहुत कठिना और बड़ा पेठा (पुच्छ) । उ०—मनुज मीनसिरी मोक्ष मनुमाक्षी के गत्रा पुदि सने । (२) दे० "मोक्षा" ।

मोक्ष-पंश पुं० दे० "मुगल" ।

मोक्ष-पंश स्त्री० [मो०] एक जंगली वृक्ष जो गुजरात में अधिकता से पाया जाता है । इससे एक प्रकार का कषा बनाया जाता है और इसकी छाल चमड़ा छिलाने के काम में आती है ।

मोक्ष-पंश [मो०] भिन्न । तर्पण । वृक्षनाश । उ०—यै यह वैष्णव धनु की लायक । कट्टु न मोक्ष होय के लायक ।—रघुनाथ ।

मोक्ष-पंश स्त्री० [मो०] वह मोटी मज्जित और अधिक पीड़ी मरिचा जो सारंगी छान में बँधने पर गीता बोजे में काम आती है ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] रिकन । अणुकायिका । काष्ठमयारी ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] (१) मोक्ष का पेड़ । (२) केला । (३) पौध का पेड़ ।

मोक्ष-पंश [मो०] शरीर के किसी अंग के जोड़ की मज्जा का अंग्रेज स्थान से । दूध ऊपर लिप्त क प्रता । भेद का

आधान भादि के कारण जोड़ पर की मज्जा का अंग्रेज स्थान से हट जाता । (इसमें वह स्थान सूज जाता है और वहाँ बहुत पीड़ा होती है) टिप्पणी—उत्तरे पर्व में मोक्ष का मोड़ है ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] (१) सुदृढ़ता । (२) मोक्ष का पेड़ । (३) केला । (४) विषय-वासना से मुक्त, संसार ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] (१) पंथ भादि से मुक्त । मुक्तता देना । मुक्त करना । रिहा करना । (२) पंथ भादि छोड़ना । मुक्त । (३) दूर करना । दूर । (४) मोक्ष, पाप-मोक्ष । (५) रहित करना । से लेना । टिप्पणी—पक्ष-मोक्ष ।

मोक्ष-पंश [मो०] (१) मोक्ष । (२) गीता । यहा । उ०—(क) साँध मणि की मणि मोक्ष भिक्षु विनी-पण, कई रघुनाथ मतिमोक्ष भेपि रंदा को ।—रघुनाथ । (ख) सरसीर दोषन मोक्षन नीर बिनी रघुनाथक सीप वै है ।—गुलसी । (३) मुदना । मुक्त करना । उ०—बाप विनके बंधन मोक्षहिने ।—गूर ।

मोक्ष-पंश [मो०] (१) मोक्ष का वह भीतर जिससे वे लोहे के छोटे छोटे टुकड़े उठते हैं । (२) हजामों का वह औजार जिससे वे शक उखाड़ते हैं ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] मोक्ष वृक्ष का मोड़ । मोक्ष का मोड़ ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] मोक्ष । केला ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] (१) केला । (२) केले की पंरी के बीच का बोल भाग । केले का गाम ।

मोक्ष-पंश स्त्री० [मो०] मोड़ का पीछा ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] मोक्ष = (पक्ष) मुक्त । चमड़े का काग बनानेवाला । वह जो चूने भादि बनाने का व्यवसाय करता हो ।

मोक्ष-पंश [मो०] मोक्ष । (१) मुदना । (२) दूर करनेवाला ।

मोक्ष-पंश पुं० दे० "मोक्ष" ।

मोक्ष-पंश स्त्री० दे० "मोक्ष" ।

मोक्ष-पंश पुं० दे० "मोक्ष" ।

मोक्ष-पंश पुं० दे० "मुदना" ।

मोक्ष-पंश पुं० [मो०] (१) पीठ में पड़ने का एक प्रकार का मुदना हुआ कपड़ा जिससे पैर के मज्जे में मोक्ष दिखती व मुदने तक तक जाते हैं । पावना । मुदना । (२) पैर में दिखती के बीच का वह भाग जो गिहरे के आगमन और उगने के मुदना होता है । (३) दुखी का एक पेड़ । इसमें जो लिहाड़ी जड़ने दिखती की पीठ पर होता है, वह एक हाथ उड़ने के पीछे से ले जाकर उगती वज्ज में बज्ज है और दूसरे हाथ से उगता मोक्ष का दिखती के बीच का भाग यह उगता उगता उगता होता है ।

मोट-संज्ञा स्त्री० [हि० मोटरी] गठरी । मोटरी । उ०—(क) जोग मोट सिर बोझ आनि तुम कत घौं घोष उतारी ।—सूर ।
(ख) नट न सीस साबित भई छुटी सुखन की मोट । जुप करिये चारी करति सारी परी सरोट ।—विहारी । (ग) नाम ओट छेत ही निचोट होत खोट खल, चोट बिनु मोट पाय भयो न निहाल को ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० चमड़े का बड़ा धैला जिसके द्वारा खेत सींचने के लिये कुएँ से पानी निकाला जाता है । चरसा । पुर । उ०—संगति छोड़ि करै असरारा । उबहे मोट नरक की धारा ।—कबीर ।

मोट वि० [हि० मोटा] (१) जो बारीक न हो । मोटा । (२) कम मोल का । साधारण । उ०—भूमि सयन पट मोट पुराना । दिये डारि सन भूपन नाना ।—तुलसी । वि० दे० “मोटा” ।

मोटकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी का नाम ।
मोटन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । हवा । (२) मलना, रगड़ना या पीसना ।

मोटनक-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक तालग, दो जगण और अंत में एक एक लघु गुरु कुल मिलकर ११ अक्षर होते हैं । जैसे,—आये दसरथ बरात सजे । दिगपाल गायंदन देखि लजे । चान्चो दल बूलह चारु बने । मोहे सुर औरन कौन गने ।—केशव ।

मोटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक विशेष प्रकार की कल या यंत्र जिससे किसी वस्त्र के यंत्र आदि का संचालन किया जाता है । चलावेवाला यंत्र । (२) एक प्रकार की प्रसिद्ध छोटी गाड़ी जो इस प्रकार के यंत्र की सहायता से चलती है । इस गाड़ी में तेल आदि की सहायता से चलनेवाला एक इंजिन लगा रहना है, जिसका संबंध उसके पहियों से होता है । जब यह इंजिन चलाया जाता है, तब उसकी सहायता से गाड़ी चलने लगती है । यह गाड़ी प्रायः खराबी और घेस घोंने अथवा सींचने के काम में आती है ।

मोटरी-संज्ञा स्त्री० [तेल० मूटा = गठरी] गठरी । उ०—(क) भाग्य परन कलि विमल विकल भये, निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी ।—तुलसी । (ख) अमृत केरी मोटरी सिर से घरी उतारि ।—कबीर ।

मोट-वि० [सं० मूट = मोटा ताजा आरमो, या हि० मोट] [सं० मोथे] (१) जिसके शरीर में आवश्यकता से अधिक मोंस हो । जिसका शरीर चर्बी आदि के कारण बहुत फूल गया हो । दुबला का उलटा । स्पूला शरीर-पाला । जैसे मोटा आदमी, मोटा बंदर ।

मोट-मोट-संज्ञा पुं० मोटा श्रेयः = शून्य शरीरपाला । (२) जिसकी एक ओर की सतह दूसरी ओर की सतह से

अधिक दूरी पर हो । पतल का उलटा । दबीज । दलदार । गाढ़ा । जैसे,—मोटा कागज, मोटा कपड़ा, मोटा तल्ला । (३) जिसका घेरा या मान आदि साधारण से अधिक हो । जैसे,—मोटा डंडा, मोटा छद्म, मोटी कलम ।

मुहा०—मोटा असासी = जिसके पास अधिक धन हो । अमीर ।
मोटा माथ = सौभाग्य । सुशक्तिमती । उ०—(क) सहज सौतोपहि पाइए दाढ़ मोटे भाग ।—दाढ़ । (ख) सूरदास प्रभु मुदित असोदा भाग बड़े करमन की मोटी ।—सूर ।
(४) जो खूब चूर्ण न हुआ हो । जिसके कण खूब महीन न हो गए हों । दरदरा । जैसे,—यह आटा मोटा है ।
(५) बड़िया या सूक्ष्म का उलटा । निम्न कोटि का । घटिया । खराब । जैसे, मोटा अनाज, मोटा कपड़ा, मोटी अकड़ ।
उ०—भूमि सयन पट मोट पुराना ।—तुलसी । (ख) मुम जाननि राधा है छोटी । चवुराई अंग अंग भरी है । पूरण ज्ञान न बुद्धि की मोटी ।—सूर ।

मुहा०—मोटा होटा = घटिया । खराब । मोटी बात = साधारण बात । मामूली बात । मोटे हिसाब से = अंदाज से । अठकत से । निश्चित ठीक ठीक नहीं । मोटे तौर पर = बहुत सूत्र विचार के अनुसार नहीं । खुल रूप से ।
(६) जो देखने में भला न जान पड़े । भद्दा । बेजौल । उ०—मनौ बराह भूषण सहपति धरी दसनन की कोटी । कनि सिगुमेलि मुख अंडुज भीतर उपजी उपमा मोटी ।—सूर ।

मुहा०—मोटी चुनवाई = बिना बोझ के जौल परवर्ती की जोर । मोटी भूल = भारी या भारी भूल ।
(७) साधारण से अधिक । भारी या फटिन । जैसे,—मोटी मार, मोटी हानि, मोटा जूच । उ०—(क) बंदी खल मल रूप जे काम भक्त भय-रानि । पर दुख सोई सुख जिन्हें पर सुख मोटी हानि ।—विश्राम ।
(ख) दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी हाथ । बिना जीव की स्वांस से लोह असम है जाय ।—कबीर । (ग) नारि नर आरत पुकारत सुनै न कोऊ, काढ़ देवगनि मिलि मोटी मूट मार दी ।—तुलसी ।

मुहा०—मोटा दिखाई देना = फल को जोड़ि में कना होना । कम दिखाई देना । केवल मोटी चीजें दिखाई देना ।

(८) चमंडी । अहंकारी । उ०—मोटो दसकंध सां न दूयो विभीषण सो, वृत्ति परी रावरे की प्रेम पराधीनता ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० मरवों जमीन । मार ।
मोट-संज्ञा पुं० [हि० मोट] मोस । गड़ड़ ।
मोटार्-संज्ञा स्त्री० [हि० मोट + र् (न १०)] (१) मोटे होने का भाव । स्पूकता । पीरता । (२) मारता । पात्रीन ।

यदमाती । उ०—दगर दगर में चहुनु चन्दाई । समुसि न लगी बहुत मोटाई ।—रघुनाथदास ।

मुद्रा०—मोटाई सतरना = देवी फिटकी होना । दुलहा होना । दखल घूटना । मोटाई चढ़ना = पानी, बरसात या पानी होना । मोटाई सढ़ना = (१) सतरान दूर होना । बरमाती घूटना । (२) पसेज न रह जाना । बँक निरुप पचना ।

मोटाना-कि० प्र० [हि० मोय + भाव (भाव०)] (१) मोटा होना । शूल बाध हो जाना । (२) अहंकारी हो जाना । अभिमानी होना । (३) घनवान् हो जाना । कि० प्र० दूसरे को मोटा करना । दूसरे को मोटे होने में सहायता देना ।

मोटापन-पंजा पु० [हि० मोय + पन (पण०)] मोटाई । शूलत्व । मोटापा-पंजा पु० [हि० मोय + पा (पण०) मोटे होने का भाव । मोटापन । मोटाई ।

मोटिया-पंजा पु० [हि० मोय + दया (दय०)] मोय और सुखदा देनी कहा । माता । मनी । श्रद्ध । सत्तम । जैमे,—ये मोटिया पहनाती की अधिक पसंद करते हैं । पंजा पु० [हि० मोट = बोक] बोक होनेवाला कुटी । मगनूर । उ०—मोटियाँ की आँद के कपड़े पहनाकर निज्जत बनाने हैं ।—सिधुमारा ।

मोटियापित-पंजा पु० [पं०] माहिल में एक हाथ जिसमें जायिका भरने आंगरिक प्रेम को कटु माया आदि द्वारा छिपाने की चेष्टा करने पर भी छिपा नहीं सक्ती । (केजवदाम ने छिपा दी कि लंम, रोमांच आदि सांघिक भावों की बुद्धि बल ने छिपाने को 'मोटियापित' हाथ कहने हैं ।)

मोटि-पंजा की० [सं० बहुत, भा० भट्ट] भूँस की तरह का एक प्रकार का मोटा अन्न, जो बन-भूँस भी कहा जाता है । यह भावः सारे भारत में होता है । इसकी बीमारई मीष्य बहुत के संघ या पत्रों के प्रारंभ में और कदाई शरीर की कमजोर के साथ आदि के आरंभ में होती है । यह बहुत ही आवाहन कोटि की भूमि में भी बहुत अच्छी तरह होता है और प्रायः बाजरे के साथ बोया जाता है । अधिक पत्रों से यह स्वाद हो जाता है । इसकी कलियों में जो दाने निकलते हैं, उनकी दात बनती है । यह दात खाधान्त दातों की भाँति बड़ा जाती है, और संयुक्ति अथवा उर में पच्य की भाँति भी हो जाती है । कितक में इसे गरम, कीचरी, मजूर, रीति, मर्यादक, पच्य, रचिकारी, दारुकी, पारी, कृमिनाशक, तथा रक्ताप, कट, बाध, गुरुबीज, मातृमोह, उर, दाह और क्षय रोग की मारक माना है । इसकी प्रद मादक और विषी होती है । मोट । मुगली । मोपी । बरभूत ।

मोहस-वि० [१] मीन । पुन । उ०—मोहस के रूपकाव ली बिनु मोहस कीन्हे ते जीये को भेड़े ।—रघुनाथ ।

मोड़-पंजा की० [हि० मुचना] (१) रास्ते आदि में घूम जाने का स्थान । एक ओर छिड़ जाने का स्थान । वह स्थान जहाँ से किसी मोड़ की मुद्रा जाय । उ०—आज बड़े पन अमुक मोड़ पर पेश बदले एक गरीब बाले भारती में बर्षे बर रहे थे—बाणमुकुंद गुप्त । (२) घुमाव या मुचने की क्रिया । (३) घुमाव या मुचने का भाव । (४) उप दूर तक गई हुई वस्तु में वह स्थान जहाँ से वह बोना या घुमाव डालनी हुई दूसरी ओर गिरी हो ।

मोड़ना-कि० प्र० [हि० मुचना या मोर०] (१) डेरना । मोड़ना ।

संयो० कि०—डालना ।—देना ।

मुद्रा०—मुद्र मोड़ना = (१) किसी वस्तु के कलने में बदलाव करना । भाषा बदल करना । रचना । (२) क्षुद्र होना । पतमुद्रा होना । (३) किसी केने दुरे समझ का कुछ भी लोभ कर एक तरफ के ऊपर दूसरी तरफ करना । जैमे,—(४) चारों तरफ मोड़ दो । (५) कागज किनारे पर मोड़ दो । (६) किसी छद्म की भी सीधी वस्तु का कुछ भंरा दूसरी ओर केरना । (७) धार छुपारी करना । छुपि करना । जैमे,—चार मोड़ना ।

मोड़ो-पंजा पु० [पं० मुद्र, वि० पं० मुद्रा = लाल] [की० मोर] सड़का । बागक ।

मोड़ो-पंजा की० [देना] (१) पसीरा या सीम लिखने की लिपि । (२) दक्षिण भारत की एक लिपि जिसमें प्रायः मराठी भाषा लिखी जाती है ।

मोल्-पंजा पु० [मं०] (१) मूल्य फल । (२) कुंभीर । मल । (३) मक्खी । (४) बाँध या सीढ़ का बना बड़बड़ा डोकरा । हाथा । गिराया । मोल ।

मोलादिस-वि० [प्र० मोरदन] जो न बहुत ताम और न बहुत सख्त हो । सीम और उज्ज्वल आदि के विचार से मध्यम अथवा का । (इस भाव का व्यवहार प्रायः मोरवि का जल-वायु आदि के लिये होता है ।)

मोलादर-वि० [पं०] (१) विषास करने योग्य । जिसका विषास किया जा सके । (२) जिस पर विषास किया जाता हो । विषासताम ।

मोनियदास-पंजा पु० [पं० मोनियदास, प्र० मोनियदास] एक पर्वत जिसके प्रत्येक भाग में आर प्राय होते हैं । जैमे,—यसो रघुनाथ धीरे धीरे हाथ । निराश्रय कट मु मोनियदास ।

मोनिया-पंजा पु० [हि० मोन + दया (दय०)] (१) एक प्रकार का बेना जिनकी कली मोटी के मध्यम मोल होती है । (१)

एक प्रकार का सलमा जिसके दाने गोल होते हैं और जो जरादीर्घ के काम में विनारे विनारे टँका जाता है । (३) रुसा नाम की घास, जब तक वह थोड़ी अवस्था की और नीलापन लिए रहती है । (४) एक चिड़िया जिसका रंग मोती का सा होता है ।

वि० (१) हल्का गुलाबी, या पीले और गुलाबी रंग के मेल का (रंग) । (२) छोटे गोल दानों का या छोटी गोल कड़ियों का । जैसे,—मोतिया सिकड़ी । (३) मोती संघी । मोती का ।

मोतियाविद्-संज्ञा पुं० [हि० मोतिया + सं० विद्] आँख का एक रोग जिसमें उसके एक परदे में गोल छिन्नी सी पड़ जाती है, जिसके कारण आँख से दिखाई नहीं पड़ता ।

मोती-संज्ञा पुं० [सं० मौक्तिक प्रा० मौक्तिक] (१) एक प्रसिद्ध बहु-मूल्य रत्न जो छिछले समुद्रों में अथवा रेतोले तटों के पास सीपी में से निकलता है ।

विशेष—समुद्र में अनेक प्रकार के ऐसे छोटे छोटे जीव होते हैं, जो अपने ऊपर एक प्रकार का आवरण बनाकर रहते हैं । इस आवरण को प्रायः सीप और उन जीवों को सीपी कहते हैं । कभी कभी ऐसा होता है कि बाढ़ का कण या कोई बहुत छोटा जीव सीप में प्रवेश कर जाता है, जिसके कारण सीपी के शरीर में एक प्रकार का प्रदाह उत्पन्न होने लगता है । उस प्रदाह को दाँत करने के लिये सीपी अनेक प्रयत्न करती है; पर जब उसे सफलता नहीं होती, तब वह अपने शरीर में से एक प्रकार का सफेद, चिकना और हसीला पदार्थ निकालकर बाढ़ के उस कण अथवा जीव को बाहर और से ढकने लगती है, जो अंत में मोती का रूप धारण कर लेता है । तात्पर्य यह कि मोती की सृष्टि किसी स्वामाविक प्रक्रिया के अनुसार नहीं होती, बल्कि एक अस्वामाविक रूप में होती है; और इसी लिये बहुत दिनों तक लोग यह समझते थे कि मोती की उत्पत्ति सीपी में किसी प्रकार का रोग होने से होती है । हमारे यहाँ प्राचीन काल में यह माना जाता था कि स्वाती की वर्षा के समय सीपी में छीलकर समुद्र के ऊपर आ जाया करती है; और जब स्वाती की सूँद उसमें पड़ती है, तब मोती उत्पन्न होता है । साधारण मोती सुहोले और गोल होता है; पर कुछ मोती लंबावत, टेढ़े मेढ़े या घण्टी भी होते हैं । मोती का रंग मटमैला, धूमिल, काला या कुछ हरापन अथवा नीलापन लिए हुए होता है; पर साफ करने पर वह खूब सफेद हो जाता है और उसमें एक विशेष प्रकार की “आव” या चमक आ जाती है । मोती जितना गढ़ा या सुहोले होता है, उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है । यों तो मोती संसार के अनेक भागों में पाए जाते हैं, पर एंडा, फारस की गद्दी

तथा आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट के मोती बहुत अच्छे समझे जाते हैं । इसके अतिरिक्त पनामा के पीले मोती तथा वैलि-फोर्निया की खाड़ी के काले और भूरे मोती भी बहुत अच्छे होते हैं । मोती प्रायः तैल के हिसाब से बिकते हैं; पर अन्यान्य रत्नों की भाँति मोती की दूर भी उसके भार की वृद्धि के अनुसार बहुत बढ़ती जाती है । उदाहरणार्थ, यदि एक चौ के मोती का दाम ५०० होगा, तो उसी प्रकार के दो चौ के मोती का दाम २००० और पाँच चौ के मोती का दाम १२५०० या इससे भी अधिक हो जायगा ।

भारतवर्ष में मोती का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से चला आता है । धनवान् लोग इसकी प्रायः मालाएँ बनवाते हैं, और इन्हें अँगूठियों तथा दूसरे आभूषणों में जड़वाते हैं । इसका व्यवहार वैद्यक में औषध रूप में भी होता है; और प्रायः वैद्य लोग इसका भस्म तैयार करते हैं । वैद्यक में मोती को पीतवीर्य, शुक्रवर्धक, आँखों के लिये हितकारी और शरीर को पुष्ट करनेवाला माना है । हमारे यहाँ के प्राचीन ग्रंथों में यह भी कहा गया है कि सीपी और दाँत आदि के अतिरिक्त हाथी, साँप, मछली, मेढक, सूअर, बक और बाढ़ तक में मोती होते हैं; और इनको प्राप्त करने-वाला बहुत सौभाग्यवाली कहा गया है । इन सब मोतियों के अलग अलग गुण भी बतलाए गए हैं; पर ऐसे मोती कभी किसी के देखने में नहीं आते ।

मुहूर्त—मोती गरजना = मोती में बात पड़ जाना । मोती चढ़ना या कटक जाना । मोती श्लक्ष्णता = रोना (व्यंग्य) । मोती पिरोना = (१) बहुत ही सुंदर और प्रिय भाषण करना । (२) बहुत ही सुंदर और स्पष्ट कथन लिखना । (३) रोना (व्यंग्य) । (४) कोई बारीक काम करना । मोती बाँधना = (१) मोती को पिरोए जाने के योग्य बनाने के लिये उसके बीच में धेड़ करना । (२) बुझाई का वैश्वार्थ्य ढंग करना । मोति बाँध करना । (गाना) मोती रोखना = रिसा परिमल कपडा थोड़े परिमल से बहुत अधिक धन कमाना या प्राप्त करना । मोतियों से मुँह भरना = प्रसन्न होकर किसी को बहुत अधिक धन-संपत्ति देना ।

पर्याय—मौक्तिक । शोणिक । मुक्ता । मुक्ताफल ।

(२) कबेरों का एक औज़ार जिसमें ये नकली कत्ते समय मोती की सी आकृति बनाने में ।

संज्ञा स्त्री० वाली जिसमें बड़े बड़े मोती पड़े रहते हैं । ठ०—छोटी छोटी मोती कान छोटे कटुला ग्यों बंड, छोटे मे बिता-यठ फट्ट दुनि मोटे हैं ।—रघुनाथ ।

मोतीचूर-संज्ञा पुं० [हि० मोती + चूर] (१) छोटी बुँदियाँ का लड्डू ।

यौ०—मोतीचूर बाँस = गेह छोटी चमरा दुई कककर बाँस । (दूसरी कककर की होती है ।)

(१) एक प्रकार का धान जिसकी फसल जगहन में तैयार होती है। (३) बुद्धी का एक पैर जिसमें प्रतिबद्धि के बाएँ पैर को अपने दाहिने पैर में पैसावर और हाथ से उसका गला छपेटकर उसे चित कर देते हैं।

मोतीज्वर-छंड़ा पुं० [हि० मोती + सं० ज्वर] चेचक निकलने के पहले आनेवाला ज्वर।

मोतीमिरा-छंड़ा पुं० [हि० मोती + मिरा ?] छोटी शीतला का रोग। मोतिया माता निकलने का रोग। मंथ ज्वर। मोती-माता।

मोतीबेल-छंड़ा स्त्री० [हि० मोतिया + बेल] बेल का वह भेद जिसे मोतिया कहते हैं। मोतिया बेल। उ०—मोतीबेल के फूल मोतिन के मृण सुधीर गुलबर्दीनी सी चंपक की डारी सी।—देव।

मोतीभात-छंड़ा पुं० [हि० मोती + भात] एक विशेष प्रकार का भात। उ०—परस्पर ओदम विविध प्रकार। मोतीभात सु नाम उषारा। बैसरिभात नाम ससिभात। कनकभात पुन विमल विभात।—रघुराज।

मोतीसिरी-छंड़ा स्त्री० [हि० मोती + सं० श्री] मोतियों की कंठी। मोतियों की माला। उ०—तोरी मोतीसिरी गुल करि धन्यो कहूँ यह मिस सकुचि रही सुल न योले।—सूर।

मोथरा-वि० [हि० मुषा] जिसकी धार सेज न हो। कुंठित। गोठिल। हुँद। उ०—भयो अथु नहि मोथरो मोर उदंड कुटार। उपजो अमरप दून अय करी सकुल संहार।—रघुराज।

मोथा-छंड़ा पुं० [सं० मुलक, प्रा० मुथ] (१) नागरमोथा नामक पास। (२) उपयुक्त पास की जड़ जो औषधि की भाँति प्रयुक्त होती है।

विशेष—यह गुण जलाशयों में होता है। इसकी पत्तियाँ कुन की पत्तियों की तरह लंबी बंधी और गहरे हरे रंग की होती हैं। इसकी जड़ बहुत मोटी होती है, जिन्हें सूखर खोदकर खाते हैं।

मोद-छंड़ा पुं० [सं०] [वि० मोदी] (१) आनंद। हर्ष। प्रसन्नता। सुनी। (२) पाँच भगण, एक भगण, एक सगण और एक गुरु वर्ण का एक वर्ण-वृत्त। उ०—मे सर में सिंगरे गुण अर्जुन जाहिर भूपालीनु उजाने। जहाँहि स्वयंवर में मछरी दह पथि सभा सों श्रीपदि जाने। (३) सुगंध। महक। सुगन्ध।

मोदक-छंड़ा पुं० [सं०] (१) लड्डू। (मिठाई) (२) औषध भादि का घना हुआ लड्डू। जैसे,—मदनानंद मोदक। (३) गुद। (४) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक वर्ण में चार भगण होते हैं। जैसे,—(क) आ चट्ट पार लु भी निधि रावन। तो गदु राम पई अलि पावन। आय पर प्रभु है

चरनोदक। मृद लगे न भवे मन मोदक।—उद दमक। (ख) काहू कहूँ शर आसर मातिय। आत दख भक्त पुकारिय। रावण के वह कान पन्यो जय। छोद लख जात भयो तब।—कैदाव। (५) एक वर्णसंकर जति जिसे उत्पत्ति क्षत्रिय पिता और शूद्रा माता से मानी जाती है। वि० मोद या आनंद देनेवाला।

मोदकर-छंड़ा पुं० [सं०] एक प्राचीन मुनि का नाम।

मोदकी-छंड़ा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की गदा। उ०—सिखरी लीं मोदकी गदा युग दीपति मरी सदाई।—एराज। (ख) श्री लख धीर उदंड मुनि गदा मोदकी मारि। धीर विभीषण असुर कहूँ दिखो भूमि पै वारि। (२) मूर्ख।

मोदन-छंड़ा पुं० [सं०] [वि० मोदनीय, मोदित] (१) मुग्ध करना। प्रसन्न करना। (२) सुगंध फैलाना। महकाना।

मोदना-वि० [सं० मोद] (१) प्रसन्न होना। मुग्ध होना। आनंदित होना। (२) सुगंध फैलाना। महकना। उ०—कूलि कूलि तरु कूल बढ़ापत। मोदत महा मोद उपजावत।—कैदाव।

वि० सं० प्रसन्न करना। खुदा करना। उ०—दुलसी सिसि अजान मान रिस पुरो हियरा। तज मोद लेह पालि भूमि। सुख मोदत जियरा।—सुधाकर।

मोदचंदी-छंड़ा स्त्री० [सं० मोदचंदी] वन-मछिका। जंगली चमेरी। मोदा-छंड़ा स्त्री० [सं०] (१) अजमोदा। वन-अजमोदा। (२) हेमल का वृक्ष।

मोदाक-छंड़ा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक वृक्ष का नाम। मोदाकी-छंड़ा पुं० [सं० मोदाकिन्] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

मोदाख्य-छंड़ा पुं० [सं०] आम का पेड़। मोदाख्या-छंड़ा स्त्री० [सं०] अजमोदा। वन-अजमोदा। मोदाद्रि-छंड़ा पुं० [सं०] मूँगेर के पास के एक पर्वत का शीर्षक नाम।

मोदित-वि० [सं०] हर्षित। आनंदित। प्रसन्न। मोदिनी-छंड़ा स्त्री० [सं०] (१) अजमोदा। (२) मूँगी। (३) कस्तूरी। (४) मदिरा। (५) चमेरी।

मोदी-छंड़ा पुं० [सं० मोरक = मरु (मनोमोहा); कथा प्रा० मरु = विष, रसद] (१) भाटा, दाल, चारल आदि बेपेनाया बनिया। भोजन-सानगरी देनेवाला बनिया। परपूनिया। उ०—(क) माया मेरे राम की मोदी सय संसार। जा की पीठी कतरी सोहूँ रसचनहार।—कबीर। (ख) मदन के मोद भरी जेबन, प्रमोद भरी मोदी की यह की दुनि देने दिन वृत्ती सी। वृत्ती सुगंध अंग इंगुर के रंग देव की परपूनी की दुकान पर पूनी सी।—देव। (ग) है शम-

पूरा मोदी। दे सदै अहारि सोदी।—विश्राम। (२)
वह जिसका काम नौकरों को भरती करना हो।

मोदीखाना-संज्ञा पुं० [हिं० मोदी + का० खाना] अछादि रखने का घर। भंडार। गोदाम।

मोद्युक्त-संज्ञा पुं० [सं० मोदक = एक वर्षाकर जाति] मछली पकड़नेवाला, धीवर। मछुआ। उ०—एक मोन ने भक्ष कियो तब हरि खवारी कीन्ही। सोई भक्ष्य पकरि मोद्युक्त ने जाय अमुर को दीन्ही।—सूर।

मोद्यु-वि० [सं० मुष्य] बेवकूफ। मूर्ख। भौंड़। उ०—विदुषक—मित्र, यों मोधू बनकर धैठने से क्या होगा? कुछ उपाय करना चाहिये।—बालमुकुन्द गुप्त।

मोन-संज्ञा पुं० दे० "मोना"। उ०—मानहुँ रतन मोन दुह भूँदे।—जायसी।

मोनस-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोश्र-प्रवर्तक अग्नि का नाम।

मोना-कि० सं० [हिं० मोयन] मिगोना। तर करना। उ०—

(क) कछौ राम तहँ भरत सों काके बालक दोह। मोर चरित गावत मधुर सुर संयुत रस मोह।—विश्राम।

(ख) नेह मोह रस रसमहि गँठि वहाँ हित जोर। चाहत हैं गुलजन तिन्हँ अनख नखन सों जोर।—रसनिधि। (ग) हलसी सुदित मात सुत गति लखि विधकी है ग्वालि मेन मन मोह।—हलसी।

† संज्ञा पुं० [सं० मोष] बौंस, भूँज आदि का उड़कनदार हवा। झपा। सिराहा।

मोनाल-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का महोष पक्षी जो शिमले के आस पास बहुत पाया जाता है। इसे 'नीलमोर' भी कहते हैं।

मोमिया†-संज्ञा स्त्री० [हिं० मोना + या (प्रत्य०)] बौंस या भूँज की बनी हुई पिठारी। छोटा मोना।

मोपसा-संज्ञा पुं० [दे०] मुसलमानों की एक जाति जो मदरास में पाई जाती है।

मोम-संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह चिकना और नरम पदार्थ जिससे दहद की मखियाँ अपना छत्ता बनाती हैं। मधुमक्खी के छत्ते का उपकरण।

विशेष—मोम प्रायः पीले रंग का होता है और इसमें से दाहद की सी गंध आती है। साफ करने पर इसका रंग सफेद हो जाता है। यह बहुत मोदी गरमी से गले या पिघल जाता है; और कोमल होने के कारण थोड़े से दबाव द्वारा भी, गोली मिट्टी या भाटे आदि की भाँति, अनेक रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है। इसकी बत्तियाँ बनाई जाती हैं, जो बहुत ही हलकी और टंडी रोशनी देती हैं। मोपशि के रूप में भी इसका व्यवहार होता है और यह

मरहमों आदि में डाला जाता है। खिलौने और ठप्पे आदि बनाने में भी इसका व्यवहार होता है।

यौ०—मोम की नाक = (१) जिसकी सम्मति बहुत जल्दी बदल जाती हो। अस्थिर मति। (२) वह जो बरा सी बात में नितान बदले। मोम की मरियम = बहुत ही कोमल और झुमार ली।

मुहा०—मोम करना या मोम बनाना = दबीभूत कर लेना। दयाई कर लेना। मोम होना = दयाई हो जाना। कठोरता छोड़ देना।

(२) रूप, रंग और गुण आदि में इसी से मिलता जुलता वह पदार्थ जो मधु-मक्खी की जाति के तथा कुछ और प्रकार के कीड़े पराग आदि से एकत्र करते हैं अथवा जो धूलों पर लाख आदि के रूप में पाया जाता है। (३) मिट्टी के तेल में से, एक विशेष रासायनिक क्रिया के द्वारा, निकाला हुआ इसी प्रकार का एक पदार्थ। जमा हुआ मिट्टी का तेल।

विशेष—अंतिम दोनों प्रकार के मोमों का व्यवहार भी प्रायः पहले प्रकार के मोम के समान ही होता है।

मोमजामा-संज्ञा पुं० [फा०] वह कपड़ा जिस पर मोम का रोगन चढ़ाया गया हो। तिरपाल। (ऐसे कपड़े पर पड़ा हुआ पानी आर-पार नहीं होता।)

मोमविल-वि० [फा०] दूसरों के दुःख से शीघ्र प्रयत्न होनेवाला। बहुत कोमल हृदयवाला।

मोमना†-वि० [हिं० मोय + ना (प्रत्य०)] मोम का सा। बहुत ही कोमल।

मोमवशी-संज्ञा स्त्री० [फा० मोय + हिं० वशी] मोम या घेने की किसी और जलनेवाले पदार्थ की बनी हुई बत्ती।

विशेष—इस प्रकार की बत्ती के बीच में एक मोटा छोरा होता है और उस पर मोम चढ़ा रहता है। जब वह छोरा जलता जाता है, तब चारों ओर से मोम गल गलकर जलने लगता है, जिससे प्रकाश होता है। प्राचीन काल में फारस आदि देशों में उत्सवों आदि पर इसका बहुत अधिक व्यवहार होता था।

मोमिन-संज्ञा पुं० [फा०] (१) धर्मनिष्ठ मुसलमान। (२) जोलाहों की एक जाति।

मोमियाई-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कृत्रिम सिलानुवृत्त। मक्खी सिलानुवृत्त। उ०—वहाँ एक रिस्म का पापर होता है। उसको पानी में डबाकर मोमियाई बनाते हैं।—सिंहप्रसाद।

मुहा०—मोमियाई निकालना = (१) किसी के कठिन परिश्रम से। (२) किसी को मृत मारना कोटना।

विशेष—कुछ लोगों का विश्वास है कि मोमियाई मनुष्य के

(१) एक प्रकार का धान जिसकी फसल अगहन में तैयार होती है। (३) बुद्धी का एक पंच जिसमें प्रतिद्वंद्वी के बाएँ पैर को अपने दाहिने पैर में पँसावर और हाथ से उसका गला लपेटकर उसे चित कर देते हैं।

मोतीज्वर-छंदा पुं० [हि० मोती + ज्वर] चेचक निकलने के पहले आनेवाला ज्वर।

मोतीमिरा-छंदा पुं० [हि० मोती + मिरा ?] छोटी शीतल का रोग। मोतिया माता निकलने का रोग। मंथ ज्वर। मोती-माता।

मोतीवेला-छंदा स्त्री० [हि० मोतिया + वेला] वेले का वह भेद जिसे मोतिया कहते हैं। मोतिया वेला। उ०—मोतीवेला कैसे फूल मोतिन के भूपन सुचारी गुलपर्दिनी सी चंपक की डारी सी।—देव।

मोतीभात-छंदा पुं० [हि० मोती + भात] एक विशेष प्रकार का भात। उ०—परस्वो ओदन विविध प्रकार। मोतीभात सु नाम उचारा। बैसरिभात नाम ससिभात। कनकभात पुनि विमल विमल।—रघुराज।

मोतीसिरी-छंदा स्त्री० [हि० मोती + सी० श्री] मोतियों की बंदी। मोतियों की माला। उ०—तोरी मोतीसिरी गुन करि पच्यो कहूँ यह मिस सकुचि रही मुख न बोलै।—सूर।

मोथरा-वि० [हि० मुषा] जिसकी धार तेज न हो। कुंठित। गोठिल। झुंड़। उ०—भयो भयहूँ नहिँ मोथरो मोर उदुंड़ कुठार। उपज्यो अमरप दून अब करौं सहल संहार।—रघुराज।

मोथा-छंदा पुं० [सं० मुलक, प्रा० मुथ] (१) नागरमोथा नामक घास। (२) उपर्युक्त घास की जड़ जो ओपधि की औत प्रयुक्त होती है।

विशेष—यह तृण जलानियों में होता है। इसकी पत्तियाँ कुदा की पत्तियों की तरह लंबी लंबी और गहरे हरे रंग की होती हैं। इसकी जड़ें बहुत मोटी होती हैं, जिन्हें सूजर खोदकर खाते हैं।

मोद-छंदा पुं० [सं०] [वि० मोदी] (१) आनंद। हर्ष। प्रसन्नता। सुखी। (२) पौष भाग, एक भाग, एक सगण और एक गुद वर्ण का एक वर्ष-धृत। उ०—से सर में सिमरे गुण अर्जुन जाहिर भूषालोदु छजाने। ज्योहिँ स्वयंवर में मछरी दह बेधि सम्रा सौं दीपदि आने। (३) सुगंध। महक। सुगन्ध।

मोदक-छंदा पुं० [सं०] (१) लड्डू। (मिट्ठाई) (२) औषध आदि का बना हुआ लड्डू। जैसे—मदनानंद मोदक। (३) गुद। (४) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में चार भाग होते हैं। जैसे,—(क) आ षट् पार छ ओ निधि रापन। तो गड्ढ राम पद अनि पापन। आप घरं प्रसू है

चरनोदक। भूख लगे न भयें मन मोदक।—छंद प्रभाकर।

(ख) काहु कहुँ सर आसर मारिय। आत शब्द अक्षर पुकारिय। रावण के वह कान पच्यो जब। छौंदि स्मृत जात भयो तब।—केशव। (५) एक वर्णसंकराजित निम्नोत्पत्ति क्षत्रिय पिता और क्षत्रा माता से मानी जाती है। वि० मोद या आनंद देनेवाला।

मोदकर-छंदा पुं० [सं०] एक प्राचीन मुनि का नाम।

मोदकी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की गदा। उ०—शिलरी ल्यों मोदकी गदा युग दीपति भरी सदाई।—सुराज। (ख) श्री लय धीर उदुंड़ पुनि गदा मोदकी मारि। बीर विभीषण असुर कहुँ दियो भूमि पै डारि। (२) सूय्या।

मोदन-छंदा पुं० [सं०] [वि० मोदनीय, मोदित] (१) मुदित करना। प्रसन्न करना। (२) सुगंध फैलाना। महकाना।

मोदना-वि० प्र० [सं० मोदन] (१) प्रसन्न होना। सुग होना। आनंदित होना। (२) सुगंध फैलाना। महकना। उ०—फूलि फूलि तरु फूल दयापत। मोदत महा मोद बप जावत।—केशव।

कि० सं० प्रसन्न करना। सुहा करना। उ०—गुलसी सति अजान मान रिस परो हियरा। तज गोदुंड़ लेह पौंछि पूंछि मुख मोदत जियरा।—सुभाकर।

मोदचंती-छंदा स्त्री० [सं० मोदचंती] वन-महिक। जंगली चमेरी। मोदा-छंदा स्त्री० [सं०] (१) अजमोदा। वन-अजवाइन। (२) मेसल का वृक्ष।

मोदक-छंदा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक वृक्ष का नाम। मोदाकी-छंदा पुं० [सं० मोदाकि] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

मोदशब्द-छंदा पुं० [सं०] आम का पेड़। मोदशब्दा-छंदा स्त्री० [सं०] अजमोदा। वन-अजवाइन। मोदादि-छंदा पुं० [सं०] रूँतार के पास के एक पर्वत का वीतणिक नाम।

मोदित-वि० [सं०] हर्षित। आनंदित। प्रसन्न। मोदिनी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) अजमोदा। (२) चूरी। (३) कस्तूरी। (४) महिला। (५) चमेरी।

मोदी-छंदा पुं० [सं०] मोदक = लड्डू (बनानेवाला); कपस का भाग = बिस्, रसर] (१) भाटा, दाक, चारक आदि विपनेयान बनिया। आजन-सामग्री देनेवाला बनिया। परचनिया। उ०—(क) माया मेरे राम की मोदी सप सँसार। जा की छीटी उत्तरी सोई नरचनहार।—कवीर। (ख) मदन के मोद मही जोवन प्रमोद भरी मोदी की पट्ट की दुनि हरे दिन दूनी सी। चूनी सुरंग अंग हँसुर के रंग देन की परचूनी की दुपल पर चूनी सी।—देव। (ग) है अम-

और राजाओं आदि के मस्तक के पास डूलाया जाता है।

उ०—(क) भगल बगल बहु मनुज मोरछल चँवर डोलावत।

—गोपाठ। (ख) चार चार चहुँ ओर चलावै मोरछलान डोलाई।—रघुनाज।

मोरखली—संज्ञा पुं० दे० “मोलसिरी”। उ०—छड़, खिरँटी, आँवले, छट और मोरछली की छाल, इनको जल के साथ महीन पीसकर लेप करो तो बाल बढेंगे।—प्रतापसिंह।

संज्ञा पुं० [हि० मोरखल + ई (प्रत्य०)] मोरछल हिलानेवाला।

मोरछाँह—संज्ञा पुं० दे० “मोरछल”। उ०—का घरनउँ अस जैव तुपरा। बुढ़ धेरँ पहुँचे असवारा। बाँधे मोरछाँह सिर सारहिं। भाजहि पूछ चँवर जनु डारहिं।—जायसी।

मोरजुटना—संज्ञा पुं० [हि० मोर + जुटना] एक प्रकार का आभूषण जो सोने का बनता और रत्नजटित होता है। इसके बीच का भाग गोल बँदे के समान होता है और दोनों ओर मोर बने रहते हैं। यह बँदे के स्थान पर माथे पर पहना जाता है।

मोरट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊल की जड़। (२) अंकोल का फूल। (३) प्रसव से सातवीं रात के बाद का दूध। (४) एक प्रकार की लता जिसे कर्णपुष्प भी कहते हैं। वैद्यक में इसे मधुर, कषाय, वृष्य, वलवर्धक और पित्त, दाह तथा हृत् के लिये नाशक माना है।

मोरटक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० “मोरट”। (२) सफेद खैर।

मोरटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दूबों। दूब।

मोरपूज—संज्ञा पुं० [सं० मरूपूज] एक पौराणिक राजा का नाम जो बहुत प्रसिद्ध भक्त था। इसकी परीक्षा के लिये श्रीकृष्ण और अर्जुन इसके यहाँ गए थे। श्रीकृष्ण की बात मानकर यह राजा अपना जीवित शरीर भारी से चिरवाने के लिये तैयार हुआ था।

मोरन—संज्ञा स्त्री० [हि० मोरना] मोड़ने की क्रिया या भाव।

मोड़ना।

संज्ञा स्त्री० [सं० मोरट] बिलोया हुआ दही जिसमें मिठाई और कुछ सुगंधित वस्तुएँ (इलायची, लोंग इत्यादि) डाली गई हों। शिखरन। उ०—पुनि सँधान आने बहु साँची। दूध दही की मोरन बाँधी।—जायसी।

मोरना—संज्ञा स्त्री० दे० “मोड़ना”। उ०—(क) फिर फिर पुरर भीवा मोरत। देखत रूप पाळे जो घोखत।—रघुनाथसिंह। (ख) चोरि चोरि चित चितवति मुँह मोरि मोरि कादे तें हँसति हिय हरष यदायो है।—केशव। (ग) कर बाँध करि ओट करि जमुहानी मुख मोरि।—बिहारी। (घ) नासा मोरि नचाय इग करी कन की साँह।—बिहारी।

संज्ञा स्त्री० [हि० मोरन] दही को मथकर मक्खन निकालना।

(बुंदेलखंड) उ०—झीठ डोर नै मोर दिय छिरक रूपरस तोय। मथि मो घट भीतम लियो मन नवनीत बिलोय।—रसनिधि।

मोरनी—संज्ञा स्त्री० [हि० मोर का स्त्री० रूप] (१) मोर पक्षी की मादा। उ०—चित्ते चकोरनी चकोर मोर मोरनी समेन, हंस हंसिनी समेत सारिका सर्व पदें।—केशव। (२) मोर के आकार का अथवा और किसी प्रकार का एक छोटा टिकड़ा जो नय में पिरोया जाता है और प्रायः होंठों के ऊपर लटकता रहता है।

मोरपंख—संज्ञा पुं० [हि० मोर + पंख = पर] मोर का पर जो देखने में बहुत अधिक सुंदर होता है, और जिसका व्यवहार अनेक अवसरों पर प्रायः स्त्रोमा या श्रृंगार के लिये अथवा कभी कभी औपध रूप में भी होता है।

मोरपंखी—संज्ञा स्त्री० [हि० मोरपंख + ई (प्रत्य०)] (१) वह नाव जिसका एक सिरा मोर के पर की तरह बना और रंगा हुआ हो। (२) मल्लभ की एक कसरत जो बहुत फुरती से की जाती है; और जिसमें पैरों को पीछे की ओर से ऊपर उठाकर मोर के पंख की सी आकृति बनाई जाती है।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का बहुत सुंदर, गहरा और चमकीला नीला रंग जो मोर के पर से मिलता-जुलता होता है।

वि० मोर के पंख के रंग का। गहरा चमकीला नीला।

मोरपखा—संज्ञा पुं० [हि० मोरपंख] (१) मोर का पर। मोरपंख। (२) मोरपंख की कलगी जो प्रायः श्रीकृष्णजी मुकुट या चरि में खोसा करते थे। उ०—(क) बाँसीर कुंडल मोरपखा मधुरी मुसकानि भरी मुख है ये।—मेरी। (ख) पीत पटी लकुटी पद्माकर मोरपखा लै कहूँ गहि नाथी।—पद्माकर। (ग) क्यों करि धौं मुखली मनि कुंडल मोरपखा बनमाल बिसरैं। ते धनि जे मयराज लखे गृह पाज करैं अहं लाज सँभारैं।—भक्तिराम।

मोरपाँव—संज्ञा पुं० [हि० मोर + पाँव] जंगी जहाज़ों के पापपीराने की मेज़ पर खड़ा जहाज़ छोड़े का छद्म जिसमें मोर के बड़े बड़े कुंडे लटकाए रहते हैं। (लता०)

मोरमुकुट—संज्ञा पुं० [हि० मोर + मुकुट] मोर के पंखों का बना हुआ मुकुट जो प्रायः श्रीकृष्णजी पहना करते थे। उ०—मोरमुकुट की चंद्रिकन थीं राजन नंदनंद। मनु सखि-संगर की भक्त किये सिंगर सत चंद।—बिहारी।

मोरवा—संज्ञा पुं० दे० “मोर”। उ०—एक मोरवान की केशना टूक टूक करैं, लागति है टूक मुनि पुनि पुरवान की।—दीनदयाल।

संज्ञा पुं० [दे०] यह रस्मी जो नाच की क्रियारी में बर्षी जाती है और जिससे पतवार का काम बने है।

मोरखली—संज्ञा स्त्री० [सं० मरूपूज] एक जड़ी जिसमें

शरीर को आँच से तपाकर निकाली हुई चिकनाई से तैयार की जाती है; इसी से ये सुहावने बने हैं।

(२) काले रंग की एक चिकनी दवा जो मोम की तरह सुलायम होती है। यह दवा घाव भरने के लिये प्रसिद्ध है।

मोमी-वि० [पा०] (१) मोम का बना हुआ। जैसे,—मोमी मोती, मोमी पुतला। (२) मोम का सा।

मोयन-छंछा पुं० [हि० मैन = मोम] मौँदे हुए बाटे में घी या चिकना देना जिसमें उससे यनी यशु खसरसी और सुलायम हो।

मौ०—मोयनदार। जैसे,—मोयनदार कचौरी।

मोयुम-छंछा पुं० [दे०] एक लता जो आसाम, सिक्किम और भूटान में बहुतायत से उत्पन्न होती है। इस लता से अत्यंत चमकीला रंग तैयार किया जाता है, जिससे कपड़े रंगे जाते हैं।

मोरंग-छंछा पुं० [दे०] नेपाल देश का पूर्वी भाग जो कौन्ति की नदी के पूर्व पड़ता है। संस्कृत ग्रंथों में इसी भाग को 'किरात देश' कहा गया है। इस देश में जंगल और पहाड़ियाँ बहुत हैं। इस देश का कुछ भाग जिला पुरनिया (बंगाल) में भी पड़ता है।

मोर-छंछा पुं० [सं० मयूर, प्रा० मोर] [जी० मोरनी] (१) एक अत्यंत सुंदर पक्षी जो प्रायः चार फुट लंबा होता है और जिसकी लंबी गर्दन और छाती का रंग बहुत ही गहरा और चमकीला नीला होता है। नर के सिर पर बहुत ही सुंदर कलगी या थोड़ी होती है। पंख छोटे तथा पूँछ लंबी और अत्यंत सुंदर होती है। नर जिस समय प्रसन्न होता है, उस समय अपनी पूँछ के पर खड़े करके मंडलाकार फैला देता है, जिससे वह बहुत ही सुंदर जान पड़ता है। पूँछ के परों पर बहुत सुंदर गोल दाग या चित्तियाँ होती हैं, जिनका रंग नीला होता है और जिन पर सुंदर सुनहरा मंडल होता है। इन्हें चंद्रिका कहते हैं। मोर सय पक्षियों से सुंदर पक्षी है। अनेक चटखिले रंगों का देखा सुंदर मेल इसमें होता है, पैसा और किसी पक्षी में नहीं होता। प्राचीन यूनानी और रोमन इले बहुत पत्रिय मानते थे। रामायण में अब तक कोई इसकी हत्या नहीं करता। इसका स्वभाव है कि यादलों की गरज सुनते ही फूटता है। कहते हैं कि यह साँप को खा जाता है। माछा का रंग पीछा होता है और वह देखने में वैसी सुंदर नहीं होती।

पर्या०—नीलकंठ, केरी, बरही, सिलरी, सिलंबी, कलपरी, तिरमुनवाहन। अहिमन्त्री।

(२) नीलम की भासा, जो मोर के पर के समान होती है।

उ०—मोर, विष्णु, मय, काल, जनि, कोकिल, कलत्र,

मेह। फूल सिरस, अरसी, अरवि, ग्यारह छाया पृ०।—रत्नपरीक्षा।

छी०—छी० [जी० मोरी] दे० "मोरा"।

छंछा छी० [हि०] सेना की अगली पंक्ति।

मोरचंग-छंछा पुं० दे० "मुरचंग"।

मोरचंदा-छंछा पुं० दे० "मोरचंद्रिका"। उ०—भावन गोपाल लाल नीके राग नट हैं। मोरचंदा चार सिर मंजु गुंजा गुंज घरे, बनि बनि धातु तन ओढ़े पीत पट हैं।—सुलखी।

मोरचंद्रिका-छंछा छी० [हि० मोर + चंद्रिका] मोर पंख के छोर की वह वृत्ति जो चंद्राकार होती है। उ०—मोरचंद्रिका द्वाभ सिर चंद्रि कत कत गुमान।—विहारी।

मोरचा-छंछा पुं० [पा०] (१) छोड़े की ऊपरी सतह पर बंध जानेवाली वह लाल या पीले रंग की चुकनी की सी तह जो यशु और नमी के योग से रासायनिक विकार होने से उत्पन्न होती है। जंग। (यह लाल चुकनी वास्तव में विकार प्राप्त छोड़ा ही है।) (२) दुर्पण पर जमी हुई मैल। उ०—(क) जब लग हिय दारपन रई कपट मोरचा छाह। तब लग सुंदर मीत मुख पैसे दगन दियाह।—रसनिधि। (ख) पहिर न भूयन कनक के कहि भावत एहि देत। दर पन के से मोरचा देह दिखाई देत।—विहारी।

विशेष—प्राचीन काल में दुर्पण छोड़े को मॉजिते मॉजिते चमकाकर बनाए जाते थे; इसी से दुर्पण के साथ 'मोरचा' शब्द का प्रयोग चला आ रहा है। "दुर्पण" के लिये फारसी का "आईना" शब्द वास्तव में "आईना" का अपभ्रंश है; जिसका अर्थ "छोड़े का" होता है।

क्रि० प्र०—जमना।—लगना।

मुहा०—मोरचा रसना = मोरचा लगने से उलट होना।

छंछा पुं० [पा० मोरचा] (१) वह गद्गद जो गद्ग के पारों और रक्षा के लिये रोद दिया जाता है। (२) वह सेना जो गद्ग के अंदर रहकर शत्रु से लड़ती है। (३) वह स्थान जहाँ से सेना, गद्ग या नगर आदि की रक्षा की जाती है। वह स्थान जहाँ राहें होकर शत्रु सेना से लड़ाई की जाती है।

मुहा०—मोरचापंदी करना = गद्ग के पारों और गद्ग रोहर या टीले बनकर यथा स्थान सेना गिनत करना। मोरचा जीतना = शत्रु के मोरचे पर अधिकार कर लेना। मोरचा बर्षना = दे० "मोरचापंदी करना"। मोरचा मारना = दे० "मोरचा जीतना"।

मोरचा सेना = युद्ध करना।

मोरछुड़-छंछा पुं० दे० "मोरछुल"।

मोरछुल-छंछा पुं० [हि० मोर + छल] मोर की पूँछ के परों को इकट्ठा बाँधकर बनाया हुआ लंबा चँवर जो प्रायः देवताओं

और राजाओं आदि के मस्तक के पास डुलया जाता है।

उ०—(क) अगल बगल बहु मनुज मोरछल चँवर डोलावत।

—गोपाल। (ख) चार चार चहुँ ओर चलावे मोरछलन डोलाई।—रघुराज।

मोरछली—संज्ञा पुं० दे० “मौलसिरी”। उ०—छद्म, खिरंटी, आँवले, कुट और मोरछली की छाल, इनको जल के साथ महीन पीसकर लेप करो तो बाल बढ़ेंगे।—प्रतापसिंह।

संज्ञा पुं० [हि० मोरछल + ई (प्रत्य०)] मोरछल हिलानेवाला।

मोरछाँह छ—संज्ञा पुं० दे० “मोरछल”। उ०—का बरनउँ अस जँच तुपारा। हुइ वेरें पहुँचे असवारा। बाँधे मोरछाँह सिर सारहिं। भाजहि पूँछ चँवर जनु वारहिं।—जायसी।

मोरछुटना—संज्ञा पुं० [हि० मोर + छुटना] एक प्रकार का आभूषण जो सोने का बनता और रत्नमय होता है। इसके बीच का भाग गोल बँदे के समान होता है और दोनों ओर मोर बने रहते हैं। यह बँदे के स्थान पर माथे पर पहना जाता है।

मोरट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊख की जड़। (२) अंकुश का फूल। (३) प्रसव से सातवीं रात के बाद का दूध। (४) एक प्रकार की छता जिसे कर्णपुष्प भी कहते हैं। वैद्यक में इसे मधुर, कषाय, वृष्य, बलवर्धक और पित्त, दाह तथा ज्वर के लिये नाशक माना है।

मोरटक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० “मोरट”। (२) सफेद सैर।

मोरटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दूधवाँ। दूध।

मोरपूजन—संज्ञा पुं० [सं० मूरपूजन] एक पौराणिक राजा का नाम जो बहुत प्रसिद्ध भक्त था। इसकी परीक्षा के लिये श्रीकृष्ण और अर्जुन इसके यहाँ गए थे। श्रीकृष्ण की घात मानकर यह राजा अपना जीवित शरीर आरे से चिरवाने के लिये तैयार हुआ था।

मोरना—संज्ञा स्त्री० [हि० मोरना] मोड़ने की क्रिया या भाव।

मोड़ना।

संज्ञा स्त्री० [सं० मोरट] विलोया हुआ दही जिसमें मिठाई और कुछ सुगंधित वस्तुएँ (इलायची, लौंग इत्यादि) डाली गई हों। मिठावन। उ०—मुनि सँधान आने बहु संधि। दूध दही की मोरन संधि।—जायसी।

मोरना—कि० रा० दे० “मोड़ना”। उ०—(क) फिर फिर सुंदर प्रीया मोरत। देखत रय पाठे जो मोरत।—सुमनसिंह। (ख) चोरि चोरि चित्त चितवनि मुँह मोरि मोरि काहे तेँ हँसति हिय हरष यदायो है।—केशव। (ग) पर आँचर की मोट फिर जमुहानी मुख मोरि।—विहारी। (घ) नासा मोरि नचाय दग करी फन की सौँह।—विहारी।

कि० रा० [हि० मोरन] दही को मयकर मस्त्रन निकालना।

(वैदिलखंड) उ०—ढीठ डोर नै मोर दिय छिरक रूपसर तोय। मथि मो घट प्रीतम लियो मन नवनीत विलोय।—रसनिधि।

मोरनी—संज्ञा स्त्री० [हि० मोर का स्त्री० रूप] (१) मोर पक्षी की मादा। उ०—खिँवै चकोरनी चकोर मोर मोरनी समेत, हंस हंसिनी समेत सारिका सयै पदै।—केशव। (२) मोर के आकार का अथवा और किसी प्रकार का एक छोटा टिकड़ा जो नय में परोया जाता है और प्रायः होंठों के ऊपर लटकता रहता है।

मोरपंख—संज्ञा पुं० [हि० मोर + पंख = पर] मोर का पर जो देखने में बहुत अधिक सुंदर होता है, और जिसका व्यवहार अनेक अवसरों पर प्रायः शोभा या शृंगार के लिये अथवा कभी कभी औपम्य रूप में भी होता है।

मोरपंखी—संज्ञा स्त्री० [हि० मोरपंख + ई (प्रत्य०)] (१) वह नाय जिसका एक सिरा मोर के पर की तरह बना और रंगा हुआ हो। (२) मलयभ की एक कसरत जो बहुत फुरती से की जाती है; और जिसमें पैरों को पीछे की ओर से ऊपर उठाकर मोर के पंख की सी आकृति बनाई जाती है।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का बहुत सुंदर, गहरा और चमकीला नीला रंग जो मोर के पर से मिलता-जुलता होता है।

वि० मोर के पंख के रंग का। गहरा चमकीला नीला।

मोरपखा—संज्ञा पुं० [हि० मोरपंख] (१) मोर का पर। मोरपंख। (२) मोरपंख की कलगी जो प्रायः श्रीकृष्णजी मुकुट या चिरे में खोसा करते थे। उ०—(क) पॉसुरी कुँडल मोरपखा मधुरी मुसकानि भरी मुख दे है।—देवी। (ग) पीत पटी लहुटी पद्माकर मोरपखा लै कहुँ गदि नाथी।—पद्माकर। (ग) क्यों करि थीं मुरली मनि कुँडल मोरपखा बनमाल बिसरि। ते भनि जे प्रजराज लखे गृह काज करि अर लख सँभारें।—मतिराम।

मोरपाँव—संज्ञा पुं० [हि० मोर + पाँव] जंगी जहाज़ों के बायचों-खाने की मेज़ पर रखे जहा हुआ लोहे का पट्ट जिसमें मोस के बंदे बंदे डकड़े छटाए रहते हैं। (छटा०)

मोरमुकुट—संज्ञा पुं० [हि० मोर + मुकुट] मोर के पंखों का बना हुआ मुकुट जो प्रायः श्रीकृष्णजी पहना करते थे। उ०—मोरमुकुट की चंद्रिकन थीं राजन मंदनंद। मनु सखि-नेतर की अरुस हिये सिंगर सन चंद।—विहारी।

मोरयाही—संज्ञा पुं० दे० “मोर”। उ०—दूध मोरयानी की करेया टुक टुक करे, खानि है दूध मुनि पुनि पुरवान की।—दीनदयाल।

संज्ञा पुं० [देग०] यह रंगी जो नाथ की स्त्रियों में बाँधी जाती है और जिसमें पतवार का काम लेने है।

मोरशिला—संज्ञा स्त्री० [ग० मोर + शिला] एक जड़ी जिसमें

पत्तियों ठीक मोर की कलगी के आकार की होती हैं। यह जड़ी बहुधा पुरानी दीवारों पर उगती है। इसकी सूखी पत्तियों पर पानी छिड़क देने से वे पत्तियाँ फिर चुरंत हरी हो जाती हैं। वैद्यक में इसे पित्त, कफ, अतिसार और बालग्रह दोष-निवारिणी माना गया है।

मोरा-छंदा पुं० [देश०] अक्रीक नामक रथ का एक भेद जो प्रायः दक्षिण भारत में होता है और जिसे 'वावोघोड़ी' भी कहते हैं।

छां वि० दे० "मेरा"।

मोरानाछां-कि० सं० [हि० गौड़ना का प्रेर०] (१) चारों ओर घुमाना। फिराना। उ०—आरति करि पुनि नरियल तबहिं मोराहये। रुद्र को भोग लगाह सखा मिलि लाहये।—कबीर। (२) रस पेरने के समय ऊल की भँगारी को कोल्लू में घुमाना।

मोरिया-छंदा स्त्री० [हि० मोरना ?] कीलू में कातर की दूसरी शाखा जो योंस की होती है।

मोरी-छंदा स्त्री० [हि० मोहरी] (१) किसी वस्तु के निकलने का तंग द्वारा। (२) माकी जिसमें से पानी, पिरोपतः गंदा और मैला पानी बहता हो। पनाली।

मुहा०—मोरी घुटना = दल माना। पेट चरना। मोरी पर जाना = पेशाव करने जाना। (स्त्री०)

(३) दे० "मोहरी"।

छां-छंदा स्त्री० [हि० मोर + दे० (प्रत्य०)] मोर पक्षी की मादा। मयूरी। उ०—मोरी सी धन गरज सुनि तू ठाढ़ी अकुलान।—सीताराम।

छंदा स्त्री० [देश०] क्षत्रियों की एक जाति जो 'वीरान' जाति के अंतर्गत है।

मोर्चा-छंदा पुं० दे० "मोरचा"।

मोल-छंदा पुं० [सं० मूल्य, मा० मूल्य] (१) वह धन जो किसी वस्तु के बदले में बेचनेवाले को दिया जाय। कीमत। दाम। मूल्य।

कि० प्र०—करना।—चुकाना।—टहराना।—देना।—लेना।

यी०—मनमोल।

(२) दुकानदार की ओर से वस्तु का मूल्य कुछ बढ़ाकर कहा जाना। जीये,—मोल मत करो; ठीक ठीक दाम कहो।

यी०—मोल घाल = (१) फ्रिक् मूल्य। (२) किसी चीज का धाम पत्र बढ़ाकर से करना।

मुहा०—मोल करना = (१) किसी पदार्थ का मूल्य से अधिक मूल्य करना। (२) मूल्य पत्र बढ़ाकर से करना।

मोलना-छंदा पुं० [म० मोलना] मोलनी। मुला। उ०—(क) बेर टिगाव पड़े से शुनबा से मोलना से पढ़ि—कबीर।

(ख) पंडित बेद पुराण पढ़े भी मोलना पढ़े कोराना।—कबीर।

मोलवी-छंदा पुं० [म० मोलवी] वह विद्वान् मुसलमान जो अपने धर्मशास्त्र का अच्छा ज्ञाता हो। मौलवी।

मोलाह-छंदा स्त्री० [हि० मोल + भावे (प्रत्य०)] मोल पछने या है करने की क्रिया। मूल्य कहना या ठीक करना।

मोचनाछां-कि० सं० दे० "मोना"।

मोप-छंदा पुं० दे० "मोदा"।

छंदा पुं० [सं०] (१) चोरी। (२) छटना। छड़। (३) बष। हल्ला। (४) दूक देना।

मोपक-छंदा पुं० [सं०] चोर।

मोपण-छंदा पुं० [सं०] (१) छटना। (२) चोरी करना। (३) छोड़ना। (४) बष करना। (५) वह जो चोरी करता या बका छलता हो।

मोह-छंदा पुं० [सं०] (१) कुछ का कुछ समझ लेनेवाली बुद्धि। अज्ञान। भ्रम। भ्रमिति। उ०—मुलसिदास प्रभु मोह जनित भ्रम भेद-बुद्धि कब बिसरारहिगे।—गुरुसी। (२) शरीर और सांसारिक पदार्थों को अपना या साथ समझने की बुद्धि जो दुःखदृष्टिनी मानी जाती है। (३) प्रेम। मुहब्बत। प्यार। उ०—(क) सौंविहु उनके मोह न माया। उदासनि धन धाम न जाया।—गुरुसी। (ख) काशीराम कहे रघुवंसिन की, रीति यह जासों कीहै मोह तासों कोह कैसे गहिये। (ग) मोह सों तनि मोह हन चले लगि रहि गेल।—बिहारी। (घ) रघो मोह मिळनो रखी यौ कहि गहँ मरोर।—बिहारी। (६) साहित्य में ३३ संपत्ति भावों में से एक भाव। भय, दुःख, घबराहट, अत्यंत चिन्ता आदि से उत्पन्न चित्त की विकलता। (५) दुःख। कष्ट। (६) मूर्खता। बेहोशी। गूढ। उ०—गिलो इस भू में भयो मोह भारी।—रघुराज।

मोहक-वि० [सं०] (१) मोह उत्पन्न करनेवाला। जिसके कारण मोह हो। (२) मन को आकृष्ट करनेवाला। लुभानेवाला।

मोहकार-छंदा पुं० [हि० मोह + कार (प्रत्य०)] पीतल या ताँबे के चड़े का गलत समेन मुहँदा। (ठेरा)

मोहटा-छंदा पुं० [सं०] दस अक्षरों का वह धनी रूप जिसके प्रत्येक चरण में तीन रंगम और एक गुरु होता है। इसे 'बाला' भी कहते हैं। उ०—दवाम की मान बाँकी तिसार। गोपि कोई करी है दिटार।

मोहड़ा-छंदा पुं० [हि० मोह + दा (प्रत्य०)] (१) किसी धातु का मुँह या सजा माग। (२) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी भाग।

मुहा०—मोहड़ा लगाना = धन से भरे हुए ठेके की दृष्टि से

रखकर उसका मुँह खोल देना । (अन्न के व्यापारी) मोहदा
मान = (१) किसी काम को सब से पहले कर डालना ।
(२) मुँह । मुख ।

वंश पुं० दे० "मोहरा" ।

मोहताज-वि० [व०] (१) घनहीन । निर्धन । गरीब । (२)
जिसे किसी बात की अपेक्षा हो । जैसे,—वह आपकी मदद
के मोहताज नहीं हैं ।

मोहताजी-संज्ञा स्त्री० [हि० मोहताज + ई (प्रत्य०)] मोहताज होने
की क्रिया या भाव ।

मोहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोह लेनेवाला व्यक्ति । जिसे देख-
कर जी लुभा जाय । उ०—लखि मोहन जो मन रहै तो
मन राखी मान ।—बिहारी । (२) श्रीकृष्ण । उ०—मोहन
तेरे नाम को कबो वा दिना छोर । प्रजवासिन को मोह के
पल्ले मधुपुरी ओर ।—रसनिधि । (३) एक वर्ण पृष्ठ
मिस्रके प्रत्येक चरण में एक स्रगण और एक जगण होता
है । उ०—जन राजवंत । जग जोगवंत । तिनको उद्योत ।
केहि भौति होत ।—केशव । (४) एक प्रकार का तांत्रिक
प्रयोग जिससे किसी को बेहोश या मूर्च्छित करते हैं ।
उ०—मान मोहन बसकरन उद्यादन अर्थम । आकर्षन सब
भौति के पद सदा करि दंभ । (५) प्राचीन काल का एक
प्रकार का अन्न जिससे शत्रु मूर्च्छित किया जाता था । उ०—
वर विद्यावर अन्न नाम नंदन जो ऐसो । मोहन, स्वापन,
समन, सौम्य, कर्पन पुनि तैसो ।—पद्माकर । (६) कोहू
की कोई अर्थात् वह स्थान जहाँ द्यने के लिये ऊँच के
गौँडे बाले जाते हैं । इसे कुंडी और धगरा भी कहते हैं ।
(७) कामदेव के पाँच बाणों में से एक बाण का नाम ।
(८) धवरे का पौधा । (९) बारह माप्राओं का एक ताल
जिसमें सात आवात और पाँच खाली रहते हैं । इसका

+ १ ० २ ० ३

चरंग का षोडश यह है—धा धा ता मे तेरे कता कता

४ ५ ० ६ ० +
पदि धेने नाग देव तेरे केरे । धा ।

वि० [सं०] [स्त्री० मोहनी] मोह उत्पन्न करनेवाला ।

उ०—(क) मोहनि मूर्ति द्याम की यौं घट रही समाय ।
—बिहारी । (ख) सब भौति मनोहर मोहन रूप अनूप
है रूप के बालक है ।—तुलसी ।

मोहनमोग-संज्ञा पुं० [हि० मोहन + मोग] (१) एक प्रकार का
दुष्टा । (२) एक प्रकार का केल (फल) । (३) एक
प्रकार का आम ।

मोहनमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोने की गुरियों या दानों की
बनी हुई माला । उ०—(क) मोहनमाल के मोहन को यह

पैन्हति मोहनमाल अकेली ।—देव । (ख) मोहनमाल बिसाल
हिये पर सोहत नील सुपति पिछौरी ।—दीनदयाल गिरि ।

मोहना-क्रि० प्र० [सं० मोहन] (१) किसी पर आशिक या अनु-
रक्त होना । मोहित होना । रीझना । उ०—(क) सुंदर वयु
अति द्यामल सोहै । देखत सुर नर को मन मोहै ।—
केशव । (ख) देखत रूप सकल सुर मोहै ।—तुलसी । (ग)
चाप्यो दल दूहल चार बने । मोहै सुर औरन कौन गने ।—
केशव । (२) मूर्च्छित होना । बेहोश हो जाना । उ०—अष्टम
सर्ग महा समर कुश लव भरतहि साथ । जग बंधुन कर
मोहियो भरत नासु तिन हाथ ।—तिरमौर ।

क्रि० सं० [सं० मोहन] (१) अपने ऊपर अनुरक्त करना ।
मुग्ध करना । मोहित करना । लुभा लेना । उ०—(क)
पंडित अति सिगरी पुरी मगहु गिरा गति गढ़ । सिंहनिपुत
जनु बंडिका मोहति मूढ़ अमूढ़ ।—केशव । (ख) दैते
जराय जरे पलका पर रामसिया सबको मन मोहैं ।—
केशव । (ग) अहो भले लतिका-तर सोहैं । कलिन कौप-
लन सौं मन मोहैं ।—प्रतापनारायण मिश्र । (२) भ्रम में
डाल देना । संदेह पैदा कर देना । धोखा देना । उ०—
(क) तुम आदि मध्य अवसान एक । जग मोहत ही पयु
धरि अनेक ।—केशव । (ख) अति भ्रमंड रघुपति के माया ।
जेहि न मोह अस को जग जाया ।—तुलसी ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लुण । (२) एक प्रकार की घमेली ।

मोहनाल-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अन्न ।
कहते हैं कि इसके प्रभाव से शत्रु मूर्च्छित हो जाता था ।

मोहनिशा-संज्ञा स्त्री० दे० "मोहरात्रि" ।

मोहनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बैताल सुरी एकादशी । (२)
एक लंबा सूत सा कीड़ा जो हड्डी के तैनों में पाया जाता
है । इसे पाकर तांत्रिक लोग बलीकरण यंत्र बनाते हैं । (३)
एक वर्षाद्वय जिसके प्रत्येक चरण में स्रगण, भगण, तगण,
यगण और स्रगण होते हैं । (४) भगवान् का यह स्त्री रूप
जो उन्होंने समुद्र-मंथन के उपरान्त अमृत पोटते समय
धारण किया था । (५) एक प्रकार की मिठाई । (६) बली-
करण का यंत्र । लुभाने का प्रभाव । उ०—(क) जिन नित्र
रूप मोहनी दारी । कीन्हें स्वयस सकल कर नारी ।—
तुलसी । (ख) निरखि लपन राम जाने रिपुपति काम मोहि
मानो मदन मोहनी मूढ़ नाहें है ।—तुलसी ।

मुहना—मोहनी डालना या लुभाना = ऐसा प्रभाव डालना कि कोई
एक दम मोहित हो जाय । मान के बना करना । जदू करना ।
उ०—नागरि मन गई अस्ताद । अनि थिरद तनु भई
व्याकुल घर न नेकु मुहाद । द्याम मुंदर मदनमोहन मोहनी
छी लाद । मानु पिनु को शास मानु मन बिना भद्र बाद ।
जवनि सैं दाहनी मानि बोगि दे सो नाद । मू मनु को

शोर मिलिहीं गय मोहिं बुलाह।—सूर। मोहनी छगना = बादू लगने के कारण मोहित होना। मोहित होना। छगना। उ०—आतु गई हैं नंद भवन में कहा कहीं ग्रह चैतु री। बहुअंग चतुरंग छल सो कोटिक दुहित घेतु री।बोधि छई नय यय जाति के खेलत जहाँ कँषाई री। मुख देखत मोहिनी सी छगन रूप न बनयो जाई री।—सूर।

(०) माया। (८) पोट्टे का साग।

वि० सी० [सं०] मोहित करनेवाली। चित्त को सुभागे-वाली। अत्यंत सुंदरी।

मोहनीय-वि० [सं०] मोहित करने के योग्य। मोह लेने के योग्य।

मोहफिल-पंजा सी० दे० "महफिल"।

मोहव्यत-पंजा सी० दे० "मुहव्यत"। उ०—हमको अपना आप दे, हृदक मोहव्यत दई। सेज मुहाग मुख मेम रस मिलि होलैं का-पद।—दादू।

मोहर-पंजा सी० [का०] (१) किसी ऐसी वस्तु पर लिखा हुआ नाम, पता या चिह्न आदि जिससे कागज या कपड़े आदि पर छाप सकें। अक्षर, चिह्न आदि द्वाकार अंकित करने का ठप्पा। उ०—इस मोहर की अँगूठी से आपको विधात हो जायगा। (अँगूठी देता है)—हरिचंद्र।

क्रि० प्र०—हाना।—छापना।—देना।—लगाना।

(२) उपर्युक्त वस्तु की छाप जो कागज या कपड़े आदि पर ली गई हो। रवाही लगे हुए ठप्पे को दवाने से बने हुए चिह्न या अक्षर। उ०—मोहर में अपना नाम या चिह्न होता है, जिसमें पत्र पर लगी हुई मोहर देखते ही उस पत्र के पढ़ने के प्रथम परिचय हो जाता है कि वह पत्र अनुक का है।—सुरारिदान। (३) रंग मुद्रा। अक्षरही। उ०—(क) करि प्रमाण मोहर बहु सींही। दिखो असीस पतीत न छींही।—रघुराज। (ख) जो कुशाति नहिं मानै याना। गगत ग्योधि दिखावी साना। गाढ़े बीच अंजिर के माहीं। मोहर नरे नय जानत माहीं।—रघुनाथदास।

मोहरा-पंजा पुं० [हि० मुद्रा + ग (प्रत्य०)] [सी० मोहर] (१) किसी वस्तु का मुद्रा या छाप। (२) किसी पदार्थ का ऊपरी या अगला भाग। (३) एक प्रकार की जाली जो पैल, माय, भैस इत्यादि का मुद्रा कसकर गिराई के साथ बाँधने के लिये होती है। यह मुद्रा पर बाँधकर कस दी जाती है, जिससे पशु खाने पाने की चीजों पर मुद्रा नहीं चला सकता। (४) मेना की अगली पंक्ति जो भाकमन करने और मनु को हटाने के लिये नैवार हो। (५) फ्रीज की चलाई का रस। सेना की गति। उ०—नदी के महीनन को मोन्दी धीरे मोहरा।—रघुराज।

मुहरा—मोहरा लेना = (१) सेना का मुद्रा लगा करना। (२) निज बना। प्रतिदिश करना।

(५) कोई छेद या द्वार जिससे कोई वस्तु बाहर निकले।

(६) छोटी आदि की तनी या बंद। उ०—कंचुकी सूरी कसे मोहरा जति फैलि चली तिगुनी परमासी। मानिक के मुजबंद सूरी मणि कंचन कंचन बोप प्रमासी।—गुमान।

पंजा पुं० [का० मोहर] (१) शतरंज की कोई गोदी। (२) मिटी का-सोना जिसमें कड़ा, पशुभा, इत्यादि बाँधे हैं।

(३) रेशमी वस्त्र मोहने का घोटना जो प्रायः बिस्तर का बनता है। (४) सिमिया पिय। (५) सोने, चाँदी पर नक्काशी करनेवालों का वह बीजार जिससे रंगद्वार नक्काशी को चमकाते हैं। दुहाली। (६) शहरमोहरा।

मोहराणि-पंजा सी० [सं०] (१) वह भूख जो ब्रह्मा के पचास वर्ष धीमेने पर होता है। दैनंदिन प्रलय। (२) अन्तर्द्वारी की-गति। भाद्रपद कृष्ण अष्टमी।

मोहराना-पंजा पुं० [का० मुहर + नाना (प्रत्य०)] वह धन जो किसी कामचारी को मोहर करने के लिये दिया जाय। मोहर करने की वजह।

मोहरी-पंजा सी० [हि० मोहर] (१) वस्त्र आदि का छोटा मुद्रा या छाप। (२) पानामे का वह भाग जिसमें धीरे रहती हैं। (३) दे० "मोरी"।

पंजा सी० [दे०] एक प्रकार की मनुमस्त्री को खानदेन में होती है।

मोहरिर-पंजा पुं० [च०] वह जो किसी के कागज आदि किलने का काम करता हो। लेखक। मुंसी।

मोहलत-पंजा सी० [च०] (१) कुशल। अवकाश। सुदी।

क्रि० प्र०—देना।—मानना।—मिलना।—लेना।

(२) किसी काम को पूरा करने के लिये मिठा हुआ या नियत समय। अवधि। धैरे,—चार दिन की मोहलत और ली जाती है। इस बीच में दरगा इकट्ठा करके दे दो।

मोहला-पंजा पुं० दे० "महला"।

मोहराट्ट-पंजा पुं० [हि० मुद्रा + टा (प्रत्य०)] (१) द्वार। दरवाजा।

(२) मुद्रा। भगला माय। उ०—रूप को दृष्ट बसतन है कवि कोट, ललाय सुधा ही के मुंग को। कोट गुनंग मोहरा कई दृष्ट कलपहुम भावत भंग को।—संत।

पंजा पुं० [सं० मुकर, या० गुरुवर] (१) मनुमस्त्री की एक जाति जो सब से बड़ी होती है। सारंग। (२) मनु का छप्पा। (३) मौर।

मोहरानो-पंजा सी० [हि० मुद्रा + नाना (प्रत्य०)] पारसका के बाजों का एक साथ बंद होकर पहाई पड़ना।

मोहराल-पंजा पुं० [च० महर] पूरा गरि या उसका एक भाग, अथवा कई गाँवों का समूह जिसका पेशेवर किसी मंत्राया

के एक एक बार किया गया हो। व्यवहार में 'मोहाल' का अर्थ जाता है और इसी विचार से उसकी पटी वा स्तम्भ बनाया जाता है।

मोह-पुं० [हि० मोहार] (१) मधुमक्खी की एक जाति। मोहार। (२) मधुमक्खी का छत्र।

मोहि-सर्व० [सं० मह, पा० मरह] प्रज भाषा और अवधी के उत्तम पुरुष "मैं" का वह रूप जो पहले सर्व कारकों में आता था, पर पीछे कर्म और सम्प्रदान में ही आने लगा। मुझको। मुझे। उ०—(क) मरूँ पर मरौँ नहीं अपने तन के काज। परमार के कारन मोहि न आवै राज।—सूर। (ख) नैना क्यौ न माँ मेरो। हरि मानि कै रही मौन द्वे निवट सुनत नहि टेरो। ऐसो अये मनो नहि मेरे जयहि ब्याम मुख हेरो। मैं पछताति जयहि सुधि आवति ज्यों दीन्हों मोहि तेरो।—सूर।

मोहित-वि० [सं०] (१) मोह या अम में पड़ा हुआ। मुग्ध। (२) मोहा हुआ। आसक्त।

मोहिनी-वि० की० [सं०] मोहनेवाली।

मोहा की० [सं०] (१) म्रिगुरमाली नामक फूल। घटपत्रा। बेला। (२) विष्णु के एक अवतार का नाम। भागवत के अनुसार विष्णु ने यह अवतार उस समय लिया था, जब देवताओं और दैत्याँ ने मिलकर रत्नों के निकालने के लिये समुद्र मथा था और अमृत के निकलने पर दोनों उसके छिपे परस्पर झगड़ रहे थे। उस समय भगवान् ने मोहिनी अवतार धारण किया था और उन्हें देखते ही असुर मोहित होकर बोले थे कि अच्छा लाओ, हम दोनों दलों के लोग बैठ जायें और मोहिनी अपने हाथ से हम लोगों को अमृत बाँट दे। दोनों दलों के लोग पंक्ति बाँधकर बैठ गए और मोहिनी रूप विष्णु ने अमृत बाँटने के बहाने से देवताओं को अमृत और असुरों को सुरा पिला दी। (३) माया। जादू। डोना। उ०—देवी ने ऐसी मोहिनी बाली थी कि यशोदा को लडकी के होने की भी सुध नहीं थी। (४) वैशाख शुक्ल एकादशी का नाम। (५) एक अर्द्धतम वृत्ति का नाम जिसके पहले और तीसरे चरणों में बारह और दूसरे तथा चौथे चरणों में सात मात्राएँ होती हैं; और प्रत्येक चरण के अंत में एक सगण अवयव होता है। उ०—समु भक्तजन प्राता मय दुख हैं। मन बाँधित फल-दाग मुनि हिय घरे। (६) पंद्रह अक्षरों के एक वर्णिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सगण, मगण, तगण, यगण और सगण होते हैं। उ०—सुम तो ये सखि री आविहुँ जो विस घरी। नर औ नरि पैं आसत के एक घरी।

मोही-वि० [सं० मोहिर] [की० मोहिनी] मोहित करनेवाला। वि० [हि० मोह + ई (प्रत्यय)] (१) मोह करनेवाला। प्रेम

करनेवाला। (२) लोभी। सालची। (३) अम या अविद्या में पड़ा हुआ। मजानी।

मोहेला-संज्ञा पुं० [अ० महल] एक प्रकार का चलता गाना।

मोहेली-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो हिमालय और सिंध की नदियों में मिलती है।

मोहोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अलंकार का नाम जो केशव-दास के अनुसार उपमा का एक भेद है; पर और आचार्य जिसे 'प्राति' अलंकार कहते हैं। वि० दे० "प्राति"।

मौज-वि० [सं०] [स्त्री० मौजी] मूँज का घना हुआ।

मौजकायन-संज्ञा पुं० [सं०] मुँजक प्रपि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

मौजधान-वि० [सं० मौजध] (१) मुँजधान नामक पर्वत में उत्पन्न। (२) मुँजधान नामक पर्वत सर्वपथ।

मौजियंधन-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञोपवीत-संस्कार। प्रतपंध। जनेज।

मौजी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूँज की यनी हुई मेखला।

यौ० - मौजियंधन।

वि० [सं० मौजि] (१) जो मूँज की मेखला धारण किए हुए हो। जो मूँज की मेखला पहने हो। (२) दे० "मौजिय"।

मौजीपत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वल्गजा।

मौजीय-वि० [सं०] मूँज का घना हुआ।

मौड़ा-संज्ञा पुं० [सं० माणवक] [स्त्री० मौड़ी] लडका।

उ०—(क) मैया बहुत बुरी बलदाऊ। कहन छो यन बड़ी तमासो सय मौड़ा मिलि आज।—सूर। (ख) बाट ही गोरस बेच री आज तू माय के मूँउ चढ़े मति मौड़ी।—रसखानि।

संज्ञा पुं० दे० "मोहड़ा"।

मौका-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह स्थान जहाँ कोई घटना संपन्न हो। घटनास्थल। बारदात की जगह। उ०—पारस साध ने मौके पर जाकर, अच्छी तरह सहकीकात की।—द्विवेदी। (२) देश। स्थान। जगह। जैसे—मकान का मौका अच्छा नहीं है। (३) अवसर। समय। उ०—तब से बंध जाने का हमें मौका ही न आया।—द्विवेदी।

मुहा०—मौका देना = अवकाश देना। समय देना। मौका देरना या तरुना = दब में रहना। खलुक भस्तर की छत्र में रहना। मौका पाना = (१) अवकाश पाना। पुरस्त पाना। (२) उपयुक्त समय या क्रमर पाना। मौका पाना, मौका मिलना या हाथ लगाना = (१) अवकाश मिलना। समय या क्रमर मिलना। (२) बात मिलना। दब पाना।

मौकुल-संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

मौकूफ-वि० [अ०] (१) रोमा हुआ। बंद किया हुआ। स्थगित किया हुआ। उ०—(क) सरकार ने अब इस सगी होने की बुरी रस्स को मौकूफ कर दिया है।—निप०। (ख) एक

मुग्धा पास न आवेशा मौजूफ हुआ जब अथ मौजूफ ।—
नजीर । (१) काम करने से रोया गया । मौजूरी से अलग
किया गया । बरदान । उ०—सन् १९१० ई० में बादशाह
ने मुसलमान मुग्धों को, जो मौजूर हो गए थे, बरदान
मौजूफ कर दिया ।—शिवप्रसाद । (२) रद्द किया गया ।
मनसूख किया गया । (३) अपिहित । मुनहसर ।
अवलंघित । आश्रित । निर्भर । उ०—दुःख और मुख तभी-
भित पर मौजूफ है ।—चायप्रसाद ।

क्रि० प्र०—रहना ।—होना ।

मौजूफ़ी-छंदा की० [क्र०] (१) मौजूफ होने की क्रिया या
भाव । (२) प्रतिबंध । रकावट । (३) काम से अलग किया
जाना । बरदानागरी ।

मौकिक-छंदा पुं० [सं०] मौती ।

मौकिकतंडुल-छंदा पुं० [सं०] सफ़ेद मक्का । बड़ी ज्वार ।

मौकिकदाम-छंदा पुं० [सं०] बारह अक्षरों का एक वर्णिक छंद
जिसके प्रत्येक चरण में दूसरा, पाँचवाँ, आठवाँ और
बारहवाँ वर्ण गुरु और शेष लघु होते हैं, अर्थात् जिसके
प्रत्येक चरण में चार जगण होते हैं । उ०—हुन्वो हिय
केतिक देखत भूप । कन्वो सय सापर शेष भनूप । विषोमिनि
के उर भेदत रोह । करे तुमको निज थाण मनोह ।—
शुमान ।

मौकिकमाला-छंदा की० [सं०] बारह अक्षरों की एक वर्णिक
वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण का पहला, चौथा,
पाँचवाँ, दसवाँ और बारहवाँ अक्षर गुरु और शेष लघु
होते हैं तथा पाँचवाँ और दसवाँ पर वृत्ति होती है । हमे
अनुवृत्ता भी कहते हैं ।—उ०—अति व गंगा जग तुष
वाया । नेवत तोही मन बच काया ।

मौकिकावलि-छंदा की० [सं०] मौती की माला ।

मौख-छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम गान ।

मौख-छंदा पुं० [सं०] सुर से होनेवाला वाय । जैसे,—अभक्ष्य
भोजन और अपशब्दों का कहना इत्यादि ।

छंदा पुं० एक प्रकार का मसाला । उ०—मौख मुनका मृत
मुहतानी । मेर्षा मालंगनी मानी ।—मृदन ।

मौखर-छंदा पुं० [सं०] बहुत अधिक या बहुत बढ़कर बानें
करना । मुग्रता । मुहजोरी ।

मौजूफ़ी-छंदा पुं० [सं०] भारत के एक प्राचीन सामंत का
नाम जिसका शासन काल ईसवी पाँचवीं शताब्दी के
आरंभ से लगभग दसवीं शताब्दी तक था । इस वंश
का राज्य पूर्व में मगध तक, दक्षिण में मध्य भारत और
आंध्र तक, उत्तर में मेराल तक तथा पश्चिम में बल्लभर
और मालवे तक था । इसकी राजधानी बल्लभ थी, परंतु
बोध में उस पर बल्लभंती राजा अपने से अधिकार कर लिया

था । इस वंश के लोग अपने आपको महाराज अभयपति
के वंशज मानते थे । इस वंश के बहुत प्राचीन होने के
कई प्रमाण मिले हैं; पर इसका पुराना इतिहास अभी
तक नहीं मिला है । हरिवर्मा, ईश्वरवर्मा, शारंगवर्मा,
प्रहलदवर्मा, यशोवर्मा आदि इस वंश के प्रसिद्ध राजा थे ।

मौखर्य-छंदा पुं० [सं०] बहुत अधिक या बहुत बढ़कर
मुग्रता । बाबालता । प्रगल्भता ।

मौखिक-वि० [सं०] (१) मुख संबंधी । मुत का । (२)
जबानी । जैसे,—आप कुछ देते तो हैं नहीं, बेलक मौखिक
बातें करते हैं ।

मौमा-वि० [सं०] मुख । (१) मौमा । (२) मुख ।
(३) जनता । हिजड़ा । मेहरा ।

मौमा-छंदा की० [हि०, मौमा, वि०] दंगला माली = की० ।
औत ।

मौच-छंदा पुं० [सं०] केले का फल ।

मौज-छंदा की० [सं०] (१) लहर । तरंग । हिकोर ।

क्रि० प्र०—आना ।—उठना ।

मुहा०—मौज माना = लहराना । बहना । जैसे,—हरिया
मौजें मार रहा है । मौज खाना = लहर खाना । शिरोप
लेना । (लरा०) संघी मौज = दूर तक का बहाव । (लरा०)

—(२) मन की उमंग । उछल । जोश । उ०—(क) साहब
के दरबार में बड़ी बाहु की माँहि । बंदा मौज न पारी
चुक चाररी माँहि ।—बखीर । (ख) कहा बड़ी जाके
राम घनी । मनसा नाथ मनोरथ पूरा मुन निधान जाके
मौज घनी ।—सूर ।

मुहा०—चिन्ती को मौज आना या चिन्ती का मौज में आना =
उमंग में बहना । कथानक किमी काम के लिये उबेरना होना ।
धुन होना । मौज उठना = मन में उमंग उठना । चिन्ती की
मौज खाना = बुरी बजना । च्छा से बसत होना ।
(१) धुन । (२) सुर । आनंद । मजा । उ०—(क)
कथिरा हरि की भक्ति कर तनु विषया रस चीज । बार
बार नहि पाएय मानुष जन्म की मौज ।—बखीर । (ग)
सोपु पन्थो मन राधिका बसु कहन न आवी । बसु दारी
बसु दुख करे मन मौज बढ़ी ।—सूर ।

क्रि० प्र०—बहना ।—उठना ।—माना ।—मिलना ।
—लेना ।

(५) प्रभूति । विभव । विभूति उ०—राजि न रज
जयसाहि मुन कवि ग्यारन की मौज । आधि निराम ह
चर्क से खारन की मौज ।—विहारी ।

मौजा-छंदा पुं० [सं०] मौज । प्रान ।

मौजो-वि० [हि० मौज + ई (जग)] (१) मनमाना काम
करनेवाला । जो की में आवे, बड़ी करनेवाला । (२) वार

प्रसन्न रहनेवाला । आनंदी । (२) मन में कभी कुछ और
भी कुछ विचार करनेवाला ।

मौजूदगी-वि० [अ०] (१) उपस्थित । हाजिर । विद्यमान । रहता
हुआ । उ०—जहाँ हम लोग गए थे, वहाँ सांतिपुर का
हमारा नायब गुमास्ता मौजूद था ।—सरस्वती । (२)
प्रसूत । पैदा । जैसे—आपका काम करने को मैं
मौजूद हूँ ।

विशेष—इसका प्रयोग विशेष्य के आदि में इस रूप में नहीं
होना । और यदि होता भी है, तो होना क्रिया का रूप
लभ रहा है । जैसे,—वहाँ पर मौजूद सिपाही ने उसे
बहुत रोका ।

मुहा०—मौजूद रहना = (१) उपस्थित रहना । पास रहना ।
सामने रहना । (२) ठहरे रहना । जैसे,—मौजूद रहो; अभी
उत्तर मिलेगा ।

मौजूदगी-संज्ञा की० [का०] सामने रहने का भाव । उपस्थिति ।
विद्यमानता ।

मौजूदा-वि० [अ०] वर्तमान काल का । जो इस समय मौजूद
हो । प्रसूत । उ०—बूँक उड़ूँ की एक बेनजीर तारीख
(आगे हवात) मुष्क में मौजूद है; लेहाना फिताब का
गियादह हिस्सा संस्कृत, हिंदी और मौजूदा हिंदी के निम्ने
कैरे से साफ़ होगा ।—जुमाना ।

मौजूदा-संज्ञा पुं० दे० "मौदा" ।

मौत-संज्ञा की० [अ०] (१) मरने का भाव । मरण । मृत्यु ।
वि० दे० "मृत्यु" । उ०—अरे कंस ! जिसे तू पहुँचाने
चला है, जिसका आठवाँ लड़का तेरा काल उपजेगा । उसके
हाथ तेरी मौत है ।—छल्लू । (२) वह देवता जो मनुष्यों
वा प्राणियों के प्राण निकालता है । मृत्यु । उ०—बिरह
तेन सन में तपे अंग सदैव अकुलाय । घट सूना जिय पीव में,
मौति द्विदि फिर जाय ।—कयीर ।

मुहा०—मौत आना = मरने को होना । मौत का पसीना आना =
मरण मरण होना । मरने के लक्षण दिखाई देना । मौत का
छिर पर खेलना = (१) मरने को होना । मरने पर होना ।
(२) डराने आने को होना । आपत्ति काल समीप होना । (३)
श्राप आने का गय होना । जान जोखों होना । मौत का तमाचा =
मृत्यु का स्वरूप दिखानेवाला कार्य या घटना । अपनी मौत मरना =
स्वयंभूत ढंग से मरना । प्राकृतिक नियम के अनुसार मरना ।
मौत झुलाना = ऐसा काम करना जिससे मृत्यु निश्चित हो ।
(१) मरने का समय । काल ।

मुहा०—मौत के दिन पूरे करना = किसी प्रकार धन्य शितावा ।
कटिना से जानचेप करना । ऐसे दुःख में दिन बिताना, जिसमें
रुद्ध दिन बीता भयम्भन हो ।

(४) अत्यंत कष्ट । आपत्ति । जैसे,—वहाँ जाना तो हमारे
लिये मौत है ।

मौताद-संज्ञा की० [अ०] मात्रा । उ०—चंग जो होता धैद की
दिये दवा मौताद । क्यों नहीं सिर के दरद में सिर देता
फिरहाद ।—रसनिधि ।

मौदल-संज्ञा पुं० [सं०] मुद्रल ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।
मौदल्य ।

मौदल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुद्रल ऋषि के पुत्र का नाम ।
ये एक गोत्रकार ऋषि थे । (२) मुद्रल ऋषि के गोत्र में
उत्पन्न पुरुष ।

मौदल्यायन-संज्ञा पुं० [सं०] गौतम बुद्ध के एक प्रधान शिष्य
का नाम ।

मौद्रीन-संज्ञा पुं० [सं०] वह खेत जिसमें मूँगा उत्पन्न होता हो ।
मौन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) न बोलने की क्रिया या भाव । चुप
रहना । चुप्पी । उ०—संपति अरु विपति को मिलि चले प्रभु
तहाँ जहाँ नहीं होइ सुमिरन तिहारो । फलत दंडवत मैं
तुमहिं कृपाकरन कृपा करि ओर मेरे निहारो । सुनत यह
बचन हरि कन्यो भय मौन करि कृपा तोहिं पर धीर
धारी । संपति अरु विपति को भय न होइ है तिसे सुनि जो
यह कथा चित धारी ।—सुर ।

क्रि० प्र०—करना ।—रहना ।

मुहा०—मौन गहना वा प्रहण करना = चुप रहना । चुप्पी
साधना । न बोलना । उ०—(क) देखत ही जेहि मौन गही अरु
मौन तजे कटु बोल उचारे ।—केशव । (ख) मौन गहीं मन
मारे रहों निज पीतल की कहीं कौन कहानी ।—ध्वंग्यायन ।
मौन खोलना = चुप रहने के उपरांत बोलना । उ०—रिनक
मौन बाँध खिन खोला । गहेसि जीम मुख जाइ न बोला ।—
जायसी । मौन तजना = चुप्पी छोड़ना । बोलने लगना । उ०—
देखत ही जेहि मौन गही अरु मौन तजे कटु बोल उचारे ।
—केशव । मौन धरना या धारण करना = न बोलना । चुप
होना । मौन होना । उ०—जहाँ पैरी रूपमातु नंदिनी तहाँ
आये धरि मौन । पदे पार्य हरि चरण परसि कर जिन अप-
राध सलीन ।—सुर । मौन बाँधना = चुप्पी साधना । चुप हो
जाना । उ०—जो बोले सो मानिक मूँगा । नाहि तो मौन
बाँध होइ मूँगा ।—जायसी । मौन लेना या साधना = मौन
धारण करना । चुप होना । न बोलना । उ०—निय में न प्रेष
कर जाहि अरु केहू और नगर जराये जिन साधो हम मौन
है ।—हनुमन्नाटक । मौन संभारना = मौन साधना ।
चुप होना ।

(२) मुनियों का धर्म । मुनिमत । (१) प्राकृत मरीने का
पहला पक्ष ।

वि० [सं० मीनी] जो न बोले । चुप । मीनी । उ०—(क) हमहुँ कह्य अथ ठग्न सुनारी । नाहि त मीन रहये दिन राती ।—जुलसी । (ख) इतनी सुनन नैन भरि आवे प्रेम नंद के छालहि । सुखास प्रभु रहे मौन है पोष यात जनि चालहि ।—सूर ।

छां०—छां० पुं० [सं० मीप] (१) धरतन । पात्र । उ०—काढ़े कोरे कापर हो अरु काढ़े घी को मौन । जाति पति पहिराय के सप समदि छनीसो पीन ।—सूर ।

(२) दृष्टा । उ०—मानहुँ रतन मीन हुइ झूठे ।—जायसी । (३) मूँज आदि का बना टोकरा या पिटास ।

मीनता—छां० श्री० [सं०] मीन होने वा रहने का भाव । चुप होना । चुप्पी ।

मीनप्रत—छां० पुं० [सं०] मीन धारण करने का प्रत । चुप रहने का प्रत ।

मीना—छां० पुं० [सं० मीप] [स्त्री० अर्था० मीनी] (१) घी वा होल आदि रखने का एक विशेष प्रकार का धरतन । (२) कौंस और मूँज से बुनकर बनाया हुआ टोकरा जिसमें अन्न आदि रखा जाता है । (३) चौक या कौंस और मूँज का संग मूँह का दण्डनदार टोकरा । पिटारी ।

मीनी—वि० [सं० मीनि] (१) चुप रहनेवाला । न बोलनेवाला । मीन धारण करनेवाला । (२) मुनि ।

छां० श्री० [हि० मीना] कठोरे के आकार की टोकरी जो प्रायः कौंस और मूँज से बुनकर बनाई जाती है ।

मीनेय—छां० पुं० [सं०] गंधर्वों और अप्सरसों आदि का एक मातृक गोत्र ।

पियोप—इन जातियों में माना का गोत्र प्रधान होता है; क्योंकि इनके पिता अनिधित होते हैं ।

मीर—छां० पुं० [सं० मुद्र, प्रा० मर] [स्त्री० अर्था० मीरी] (१) एक प्रकार का शिरोभूषण जो ताड़ पत्र वा सुखी आदि का बनाया जाता है । विवाह में पर इसे अपने सिर पर पहनता है । उ०—(क) अथू बोग हाराबल राता । नाथि धावन बाज धराना । मीर के माथे दूजद हीनों, अकया जोरि कहाना । मन्त्रे के धारन, सुमयी हीनों पुन विभाहल माना ।—कपीर । (ख) सोहत मीर मनोहर भाये । मंगलमय मुद्रा मनि भाये ।—जुलसी । (ग) रामचंद्र सीता सहित दोभा है मेदि, दौर । मुवरणमय मणिमय राषिण धूम सुंदर सिर मीर ।—केशव ।

मुद्रा०—मीर बधना = मीर के धन पर मीर पहनना । उ०—पौरि गमदु देहु पग, पैरन-चौक तुलार । बौध मीर भी उप मिर बेगि होइ अक्षर ।—जायसी । (२) गिरौमनि । प्रधान । सरदार । उ०—(क) जो तुम

राजा आप कहावत मुद्रावन की दौर । छट छट दधि नान सयनको सय चौरन के मीर ।—सूर । (ख) साधु मेरे सर बड़े अपनी अपनी दौर । साधु विवेकी पारसी यह नाये का मीर ।—कबीर ।

छां० पुं० [सं० मुद्र, प्रा० मर] छोटे छोटे फूलों वा कलियों से गुथी हुई लंबी लंबी लट्ठियां या चौड़ । मंजरी । दौर । जैसे,—आम का मीर, पपार का मीर, अमोह का मीर । उ०—(क) नंद महर घर के पिछवाड़े राधा भाइ बतानी हो । मनो भंव-दल मीर देखिके हुइकि कोकिल पानी हो ।—सूर । (ख) चलत मुन्यो पारंदस को बिपरी रानी न दौर । ले मालिन मीतहि दियो नव रसान को मीर ।—मतिराम ।

मुद्रा०—मीर बधना = मीर पहनना । मंजरी लगना ।

छां० पुं० [सं० मीर = मिर] गरदन का पिछला भाग जो सिर के नीचे पड़ता है । गरदन । उ०—(क) भीड़ उँधे आँच उलटि मीर मोरि मुँह मोरि । (ख) मीर उँधे घूँटन में पारि सरोवर म्हाइ ।—विहारी ।

मीरना—कि० सं० [हि० मीर + ना (प्रत्य०)] मुझों पर मंजरी लगना । आम आदि के पैरों पर मीर लगना । उ०—(क) काटे औंठ न मीरिया फाटे डुरे न कान । गोरस पद पारने पिया कही बौन की खान ।—कपीर । (ख) मिसिर होन पतसार, आँव कटाहर एक से । राद वसंत निहार, जग जाने मीरत प्रगट ।—हनुमच्छांदक । (ग) चिनोके सदाँ औंठ के साणि मीरे । चहुँपा झमं हुँकरे भीर बौरे । लग पीन के शोक डरे रुकये । बिचारे बियोमीन को ज्यों बताये ।—गुमान ।

मीरसिरी—छां० श्री० दे० “मीरसिरी” । उ०—(क) ठरी नगत लासों कहुँ मीन निवारी जाय । मीरसिरी दिन दिन चढ़े खरा सुहागि कथाहि ।—रसनिधि । (ख) मीरसिरी ही को पैरि के हार मढ़े सय के सिर मीर-सिरी न ।—देव ।

मीरी—छां० श्री० [हि० मीर + ई (प्रत्य०)] (१) छोटा मीर जो विवाह में बच्चे के सिर पर पहना जाता है ।

मीरुसी—वि० [प्रा०] चार चारा के समय से चला माना हुआ । पैरुड । जैसे,—(क) यह मीरुनी जायदार है; इसमें नय का दक है । (ख) यह पीमारी तो उनके गानदान में मीरुसी है ।

मीर्य—छां० पुं० [सं०] मूर्य । बेपदगी । मीर्य—छां० पुं० [सं०] दरियों के एक पंग का नाम । साधु चंद्रमुख और अमोह हरी वंश में दण्ड दूय थे । इतना ही मीर्य को बर्नोकर लिखा है और मीर्य वंश का

मूलरूप 'चंद्रगुप्त' माना गया है। पुराणों के अनुसार चंद्रगुप्त का जन्म मुरा नामक क्षत्रिय से हुआ था और वह चाणक्य की सहायता से नंदों का नाश कर पाटलिपुत्र का सम्राट् हुआ था। (वि० दे० 'चंद्रगुप्त' १) पर बौद्ध ग्रंथों में 'चंद्रगुप्त' को 'मौरिय' वंश का लिखा है और उसे शुद्ध क्षत्रिय माना है। मौर्य वंश के शुद्ध क्षत्रिय होने की पुष्टि दिव्यावदान में अशोक के मुँह से कदलाए हुए 'देवि अहं क्षत्रियः कथं पलाहुं परिमक्षयामि' से भी होता है, जिसमें अशोक कहता है—'देवि, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं प्याज कैसे खाऊँ।' 'मुरा' शब्द में 'म्य' प्रत्यय लगाने से 'मौर्य' शब्द बहुत खींच खींच से बनता है; पर पाली भाषा में 'मौरिया' शब्द आया है, जिसकी सिद्धि पाली व्याकरण के अनुसार मोर शब्द से, जो 'मयूर' का पाली रूप है, की गई है। यही समझकर जैनियों ने चंद्रगुप्त की मता को नंद के मयूर-पालकों के सरदार की कन्या लिखा है। बुद्धयोग के विनयपिटक की अथकथा की टीका और महावंश की टीका में चंद्रगुप्त को मौरिय नगर के राजा की रानी का पुत्र लिखा है। यह मौरिय नगर हिंदुकुश और चित्राल के मध्य उज्जैनक (सं० उद्यान) देश में था। महापरिनिर्वाण सूत्र में लिखा है कि जिस समय महात्मा गौतम बुद्ध का कुशीनगर में निर्वाण हुआ था और महाजन ने उनकी अंशेष्टि के अनंतर उनके भस्म और अस्थि को कुशीनगर में वैश्य वनाकर प्रतिष्ठित करना चाहा था, उस समय कपिलवस्तु, राजगृह आदि के राजाओं ने महात्मा बुद्धदेव के घातु को घाँटकर अपने अपने भाग को अपने अपने देश में वैश्य बनाकर रखने के उद्देश्य से कुशीनगर पर चढ़ाई की थी, जिससे महात्मा उपद्रव की संभावना देख महात्मा क्षीण ने महात्मा बुद्धदेव के घातु को विभक्त कर प्रत्येक को कुछ कुछ भाग देकर स्रग्वद्वा शांत किया था। उन राजाओं में, जिन्हें महात्मा बुद्धदेव की चिता के भस्म का भाग दिया गया था, पिप्पलीकानन के मौरिय राजा का भी उल्लेख महापरिनिर्वाण सूत्र में है। इससे विदित होता है कि महात्मा बुद्धदेव के परिनिर्वाण काल में पिप्पलीकानन में मौरिय क्षत्रियों का निवास था। इससे मौरिय राजवंश की सत्ता का पता चंद्रगुप्त से बहुत पहले तक चलता है। ये मौरिय लोग प्राक्य, लिच्छवि, मल्ल आदि वंश के क्षत्रियों के संबंधी थे। जान पड़ता है कि ये लोग काण्ड के प्रदेशों के रहनेवाले क्षत्रिय थे; और जब पारसी भाषों ने भारतीय भाषों पर आक्रमण करना प्रारंभ किया, तब ये लोग भागकर नेपाल की तराई में चले आए और वहाँ के लोगों को अपने अधिकार में करके इन्होंने छोटे छोटे अनेक राज्य स्थापित किए। इनके आचार आदि पर

पारसी भाष्यों और मध्य एशिया की अन्य जातियों का प्रभाव पड़ा था; इसी लिये मनु जी ने उन्हें प्रात्य क्षत्रिय लिखा है—“सलोमल्लश्च राजन्या द्वापार्यालिच्छवि रेवच। नदश्च करणश्चैव खसोद्विद्ध एव च”। संभव है कि बौद्ध हो जाने के कारण ही संस्कार-च्युत होने पर इन जातियों को प्रात्यज लिखा गया हो; और इसी लिये पुराणों में चंद्रगुप्त मौर्य के वंश के लिये भी 'वृषल' या वर्णसंकर लिखा गया हो। महावंश के टीकाकार और दिव्यावदान के टीकाकारों का कथन है कि चंद्रगुप्त मौरिय नगर के राजा का पुत्र था। जब मौरिय के राजा का ध्वंस हुआ, तब उसकी गर्भवती रानी अपने भाई के साथ बड़ी कठिनाता से भागकर पुष्पपुर चली आई और वहाँ चंद्रगुप्त का जन्म हुआ। यह चंद्रगुप्त मौर्य चराया करता था। इसे होनहार देख चाणक्य जी अपने आश्रम पर लाए और उपनयन कर अपने साथ तक्षशिला ले गए। जब सिकंदर ने पंजाब पर आक्रमण किया, तब तक्षशिला के ध्वंस होने पर चंद्रगुप्त आचार्य चाणक्य के साथ सिकंदर के सिपिर में था। वील साहय का कथन है कि मौरिय नगर उज्जैनक प्रदेश में था, जो हिंदुकुश और चित्राल के मध्य में था। इन सब बातों को देखते हुए जान पड़ता है कि जिस प्रकार निरुत्थि से लिच्छवि, शक से क्षाक्य आदि राजवंशों के नाम पड़े, उसी प्रकार मौरिय नगर के प्रथम अधिवासी होने के कारण मौर्य राजवंश का भी नाम रखा गया; और आचार्य व्यवहार की विमिश्रता से पुराणों में उसे 'वृषल' आदि लिखा गया। पारस की सीमा पर रहने के कारण उनके आचार-व्यवहार और रहन सहन पर पारसियों का प्रभाव पड़ा था; और चंद्रगुप्त तथा अशोक के समय के गुहों और राजशासनों का भी निर्माण पारस के भवनों के ढंग पर ही किया गया था। चंद्रगुप्त के अनंतर अशोक मौर्य वंश का सब से प्रसिद्ध सम्राट् हुआ। मौर्य साम्राज्य का प्लंस गुंगों ने किया। पर विजय की आठवीं शताब्दी तक इधर उधर मौर्यों के छोटे छोटे राज्य का पता लगता है। देसा प्रसिद्ध है, और जैन ग्रंथों में भी लिखा है, कि चित्तौड़ का गढ़ मौर्य या मोरी राजा चित्रांग ने बनवाया था।

मौर्य-वंश की० [सं०] घनुष की प्रत्यंघा। कमान की दोरी। ज्या।

मौल-वि० [सं०] (१) मूल से संबंध रखनेवाला। (२) मौस्सी। पृथक्।

सं० पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के मंत्री।
मौलवी-सं० पुं० [सं०] (१) भरवी भाग का पंडित। (२) मुसलमान धर्म का आचार्य, जो अरबी, पारसी आदि भाषाओं का ज्ञाता हो।

वि० [सं० मीनी] जो न बोले । सु० । मीनी । उ०—(क) हमहुँ कहय अय दुर मुहाली । नाहि त मीन रहय दिन राती ।—पु०सी । (ग) इतनी सुनन नैन भरि आये मेम मंद के पालहि । सु०दास प्रभु रहे मीन द्वी घोष पान जनि पालहि ।—सूर ।

छा०—छा० पुं० [सं० मीग] (१) बरतन । पात्र । उ०—काढ़े कोरे कारर हो अरु काढ़े पी को मीन । जानि पाँति पहिराय के नय समधि छनीसो पीन ।—सूर ।

(२) दस्ता । उ०—मानहुँ रतन मीन दुह मुँदे ।—जायसी । (३) मूँज आदि का बना टोकरा या पिटारा ।

मीनता—छा० स्त्री० [सं०] मीन होने या रहने का भाव । चुप होना । चुप्पी ।

मीनप्रत—छा० पुं० [सं०] मीन पारण करने का प्रत । चुप रहने का प्रत ।

मीना—छा० पुं० [सं० मीय] [स्त्री० अन्त्या० मीनी] (१) घी या घेल आदि रखने का एक विशेष प्रकार का बरतन । (२) कौंस और मूँज से युक्त बनाया हुआ टोकरा जिसमें अन्न आदि रखा जाता है । (३) खींक या कौंस और मूँज का संग मुँह का इकनदार टोकरा । पिटारी ।

मीनी-वि० [सं० मीनि] (१) चुप रहनेवाला । न बोलनेवाला । मीन धारण करनेवाला । (२) मुनि ।

मीना स्त्री० [हि० मीना] कठोरे के आकार की टोकरा जो प्रायः कौंस और मूँज से युक्त बनाई जाती है ।

मीनेय—छा० पुं० [सं०] गंधर्वों और अस्पराओं आदि का एक मादक गोत्र ।

मिश्रेय—इन जातियों में माला का गोत्र प्रधान होता है, क्योंकि इनके पिता अनिमिश्र होते हैं ।

मीर—छा० पुं० [सं० मुद्द, वा० मय] [स्त्री० अन्त्या० मीरी] (१) एक प्रकार का शिरोमूषण जो ताड़ पत्र वा सुपरी आदि का बनाया जाता है । विवाह में घर देने अपने सिर पर पहनता है । उ०—(क) अथू खोल हरावल राना । नाथि बाजन धान बराना । मीर के माथे दूध रीन्हीं, अकपा जोरि कहाना । मन्थ के धारन सुमयी दीन्हीं पुत्र विवाहल माना ।—कबीर । (ख) सोहत मीर मनोहर माथे । मंगलमय मुकुटा मनि माथे ।—गु०सी । (ग) रामचंद्र सीता सहित सोमन हैं गति डोर । मुवलमय मणिमय कपिन छुन मुंजर सिर मीर ।—देसाय ।

मुद्दा—मीर बंधना = सिर के मय मिर पर मीर पहनना । उ०—पौरि तजहु देहु पय, पैरन-बौंक मुद्दार । बौंध मीर भी उग्र सिर पैनि होंहु अक्षयार ।—जायसी ।

(२) निरामनि । प्रधान । सरदार । उ०—(क) जो मुम

राजा आप कहावत बुंदापन की डोर । छट छट दधि पान सपनकी सब चोरन के मीर ।—सूर । (ख) साधू मेरे सब बड़े अपनी अपनी डोर । दाउर विवेकी पारसी यह माये का मीर ।—कबीर ।

छा० पुं० [सं० मुकुल, प्रा० मयल] छोटे छोटे फूलों का कलियों से गुथी हुई लंबी लंबी लट्ठीवाला पीढ़ । मंजरी । मीर । जैसे,—भाम का मीर, पमार का मीर, अमोह का मीर । उ०—(क) मंद महर घर के पिउमड़े राधा भाइ यतानी हो । मनौं अंघ-दल मीर देखि के बुझि कोकिला यानी हो ।—सूर । (ग) चलन सुन्यो परदेस की हिरारी रहौ न डोर । छे मालिन मीतहि दियो, नय रसाक को मीर ।—मतिराम ।

मुद्दा—मीर बंधना = मीर गिराना । मंजरी लगाना ।

छा० पुं० [सं० मीति = मिर] गरदन का पिछला भाग जो सिर के नीचे पड़ता है । गरदन । उ०—(क) भीह डँधे आँव उलटि मीर मोरि मुँह मोरि । (ग) मीर डँधे पूँरन न नारि सूरवर न्हाइ ।—पिहारी ।

मीरना—कि० सं० [हि० मीर + ना (प्रत्य०)] बूतों पर मंजरी लगाना । आम आदि के पेड़ों पर मीर लगाना । उ०—(क) काटे भीर न मीरियाँ काटे छुरे न कान । मोरल पद् पारने पिना बड़ी कौन की मान ।—कबीर । (ख) शिशिर होय पतसा, भीर कटाह एक से । राह बसत निहार, जा जाये मीरल प्रगट ।—हनुमन्नाटक । (ग) बिलोके वहाँ भीर के साजि मीरे । चहुँपा भ्रम हुँकरे और मीरे । लो पीन के शोक डरि झुकाये । विपारे पिपोगीन को ज्यों बराये ।—गुमान ।

मीरसिरी—छा० स्त्री० दे० “मीरसिरी” । उ०—(क) ठरी नखत तासों कहुँ प्रीति निमारी जाय । मीरसिरी दिन दिन चढ़े सदा मुहागि क्ताहि ।—रसनिधि । (ग) मीरसिरी ही को पैदि के हार भई सब के मिर मीरसिरी ।—देव ।

मीरी—छा० स्त्री० [हि० मीर + री (प्रत्य०)] (१) छोटा मीर जो विवाह में बंधू के सिर पर बाँधा जाता है ।

मीरसी-वि० [क०] धार दादा के समय से बला आया हुआ । पैरुका । जैसे,—(क) यह मीरसी जायदार है, इसमें सब का डक है । (ग) यह मीरसी तो उसके गायदान में मीरसी है ।

मीर्य—छा० पुं० [सं०] मूरंग । बेचकूटी ।

मीर्य—छा० पुं० [सं०] शत्रुओं के एक पक्ष का नाम । रामदा चंद्रगुप्त और अशोक इसी पक्ष में लयल हुए थे । तुगलों में मीर्यों को बगलंडर लिखा है और मीर्य बंता का

मुनुवर 'चंद्रगुप्त' माना गया है। पुराणों के अनुसार चंद्रगुप्त का जन्म मुरा नामक क्षत्रिय से हुआ था और वह चाणक्य की सहायता से नंदों का नाश कर पाटलिपुत्र का सम्राट् हुआ था। (वि० दे० 'चंद्रगुप्त' १) पर बौद्ध ग्रंथों में 'चंद्रगुप्त' को 'मौरिय' वंश का लिखा है और उसे शुद्ध क्षत्रिय माना है। मौर्य वंश के शुद्ध क्षत्रिय होने की पुष्टि दिव्यावदान में अशोक के मुँह से कहलाए हुए 'देवि अहं क्षत्रियः कथं पलांहुं परिभक्षयामि' से भी होता है, जिसमें अशोक कहता है—'देवि, मैं क्षत्रिय हूँ; मैं प्याज कैसे खाऊँ।' 'मुरा' शब्द में 'म्य' प्रत्यय लगाने से 'मौर्य' शब्द बहुत खींच खींच से बनता है; पर पाली भाषा में 'मौरिया' शब्द आया है, जिसकी सिद्धि पाली व्याकरण के अनुसार मोर शब्द से, जो 'मयूर' का पाली रूप है, की गई है। यही समझकर जैनियों ने चंद्रगुप्त की माता को नंद के मयूर-पालकों के सरदार की कन्या लिखा है। बुद्धगोप के विनयपिटक की अथकथा की टीका और महावंश की टीका में चंद्रगुप्त को मौरिय नगर के राजा की रानी का पुत्र लिखा है। यह मौरिय नगर हिंदुकुश और चित्राल के मध्य उज्जैन (सं० उज्जैन) देश में था। महापरिनिर्वाण सूत्र में लिखा है कि जिस समय महात्मा गौतम बुद्ध का कुशीनगर में निर्वाण हुआ था और महाराज ने उनकी श्लेष्मि के अन्तर उनके भस्म और अस्थि को कुशीनगर में वैश्य बनानु प्रतिष्ठित करना चाहा था, उस समय कपिलवस्तु, राजगृह आदि के राजाओं ने महात्मा बुद्धदेव के धातु को बँटकर अपने अपने भाग को अपने अपने देश में वैश्य बनाकर रखने के उद्देश्य से कुशीनगर पर बरदाई की थी, जिससे महात्मा उपद्रव की संभावना देख महात्मा श्रेण ने महात्मा बुद्धदेव के धातु को विभक्त कर प्रत्येक को कुछ कुछ भाग देकर शगुदा शांत किया था। उस राजाओं में, जिन्हें महात्मा बुद्धदेव की चिता के भस्म का भाग दिया गया था, पिप्पलीकानन के मौरिय राजा का भी रहलेश महापरिनिर्वाण सूत्र में है। इससे विदित होता है कि महात्मा बुद्धदेव के परिनिर्वाण काल में पिप्पलीकानन में मौरिय क्षत्रियों का निवास था। इससे मौरिय राजवंश की सत्ता का पता चंद्रगुप्त से बहुत पहले तक चलता है। ये मौरिय लोग शाक्य, लिच्छवि, महा आदि वंश के क्षत्रियों के संबंधी थे। जान पड़ता है कि ये लोग काशुब के प्रदेशों के रहनेवाले क्षत्रिय थे, और जब पारसी आर्यों ने भारतीय आर्यों पर आक्रमण करना प्रारंभ किया, तब ये लोग भागकर नेपाल की तराई में चले आए और वहाँ के लोगों को अपने अधिकार में धरके इन्होंने छोटे छोटे अनेक राज्य स्थापित किए। इनके आधार आदि पर

पारसी आर्यों और मध्य एशिया की अन्य जातियों का प्रभाव पड़ा था; इसी लिये मनु जी ने उन्हें माल्य क्षत्रिय लिखा है—'क्षत्रोत्तमक्षत्र राजन्या द्वात्पात्रलिच्छवि रेवच। नक्षत्र करणश्रैव खसोद्विद एव च'। संभव है कि बौद्ध हो जाने के कारण ही संस्कार-च्युत होने पर इन जातियों को माल्यक्ष लिखा गया हो; और इसी लिये पुराणों में चंद्रगुप्त मौर्य के वंश के लिये भी 'बृहल' का वर्णनकर लिखा गया हो। महावंश के टीकाकार और दिव्यावदान के टीकाकारों का कथन है कि चंद्रगुप्त मौरिय नगर के राजा का पुत्र था। जब मौरिय के राजा का भ्रंश हुआ, तब उसकी गर्भवती रानी अपने माई के साथ बड़ी कठिनाता से भागकर पुष्पपुर चली आई और वहीं चंद्रगुप्त का जन्म हुआ। यह चंद्रगुप्त गौरी चरमा करता था। इसे होनहार देख चाणक्य जी अपने आश्रम पर आए और उपनयन कर अपने साथ तक्षशिला ले गए। जब सिकंदर ने पंजाब पर आक्रमण किया, तब तक्षशिला के भ्रंश होने पर चंद्रगुप्त आचार्य चाणक्य के साथ सिकंदर के शिविर में था। धील साहब का कथन है कि मौरिय नगर उज्जैन प्रदेश में था, जो हिंदुकुश और चित्राल के मध्य में था। इन सब बातों को देखते हुए जान पड़ता है कि जिस प्रकार निरुद्ध से लिच्छवि, शक से शाक्य आदि राजवंशों के नाम पड़े, उसी प्रकार मौरिय नगर के प्रथम अधिपति होने के कारण मौर्य राजवंश का भी नाम रखा गया; और आचार्य व्यवहार की विनिश्चिता से पुराणों में उसे 'बृहल' आदि लिखा गया। पारस की सीमा पर रहने के कारण उनके आचार्य-व्यवहार और रहने सदन पर पारसियों का प्रभाव पड़ा था; और चंद्रगुप्त तथा अशोक के समय के गुहों और राजशासत्रों का भी निर्माण पारस के भयनों के दंग पर ही किया गया था। चंद्रगुप्त के अनंतर अशोक मौर्य वंश का सब से प्रसिद्ध सम्राट् हुआ। मौर्य साम्राज्य का भ्रंश गुप्तों ने किया। पर विजय की आठवीं शताब्दी तक इधर उधर मौर्यों के छोटे छोटे राज्य का पता लगता है। ऐसा प्रसिद्ध है, और जैन ग्रंथों में भी लिखा है, कि निर्माद का गढ़ मौर्य या मौरि राजा चित्रांग ने बनवाया था।

मौर्यो-वंश सी० [सं०] घनुष की प्रपंचा। ब्रह्मण की दोरी। जया।

मौल-वि० [सं०] (१) मूठ से संबंध रखनेवाला। (२) मौलसी। पैश्वर।

सं० पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के मंत्री।
मौलवो-वंश पुं० [सं०] (१) अरबी भाषा का पंडित। (२) मुसलमान धर्म का आचार्य, जो अरबी, पारसी आदि भाषाओं का ज्ञाता हो।

मौलसिरी-छंदा की० [सं० मौलि + भी] एक प्रकार का बड़ा सदाबहार पेड़ जिसकी छकड़ी बंदर से छाल और चिकनी होती है और जिससे मेज, कुर्सी आदि बनाई जाती है। यह दरवाजे और सैंगड़े बनाने के भी काम आती है। इसके फूल मुकुट के आकार के, तारे की भाँति छोटे छोटे होते हैं और उनसे द्रव्य बनाया जाता है। इसके फल पकने पर खाने योग्य होते हैं और बीजों से तेल निकलता है। इसकी छाल ओपधियों में काम आती है। इसका पेड़ बीजों से उत्पन्न होता है और सब देशों में लगाया जा सकता है। पश्चिमी घाट और कनारा में यह जंगलों में स्वर्णदंरु रूप से उगता है। यह पेड़ बहुत दिनों में बढ़ता है। यह बरसात में फूलता और शरद ऋतु में फलता है। इसके फूल सफ़ेद, कटायदार और छोटे छोटे बहुत ही कोमल और मीठी सुगंध-पाछे होते हैं। उ०—पहिरत ही गोरे गये रौं दौरी दुति लाल। मनी परति पुलकित मई मौलसिरी की माल।—विहारी। पट्यां०—बकुल। केसर। सीपगंध। मुकुल। मधुपुष्प। सुरभि। शारदिक। करक। चिरपुष्प।

मौलि-छंदा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का सय से ऊँचा भाग। पोटी। सिर। पृष्ठा। (२) मस्तक। चिर। (३) क्रीडा। (४) नृपति। जगमूढ। (५) अशोक का पेड़। (६) मुख्य या प्रधान व्यक्ति। सरदार। (७) धृष्टिनी। मूनि। जमीन।

मौली-वि० [सं० मौलि] जिसके चिर पर मौलि या मुकुट हो। मुकुटधारी।

मौपल-छंदा पुं० [सं०] महाभारत के एक पर्य का नाम।

मौपिकापुत्र-छंदा पुं० [सं०] शत्रुघ्न माहर्षि के अनुसार एक आचार्य का नाम।

मौटा-छंदा की० [सं०] वृक्ष की मार। वृक्षवृक्षा। मुढामुढी।

मौष्टिक-छंदा पुं० [सं०] योरी।

मौसम-छंदा पुं० दे० "मौसिम"।

मौसर-छंदा-वि० [सं० मुसर = मात] (१) जो सुगन्धता से मिल सके। सुगन्ध।

मुद्रा०—मौसर भाषा = निम्न छन्द। उ०—समय की चूक हूक सारलति प्रथीनन को मौसर न आर्य बर्न औसर जंघाय को।—बल्लवीर।

(२) उपरुच्य। मात। उ०—(क) मौसर के मौसर भये मत दे कर से रोह। मौसन मौसर नायनो बार बार नहि होइ।—रसनिधि। (ख) बार बार नहि होत है औसर मौसर बार। गी गिर देख को ओ को फिर हूँ तया।—रसनिधि।

कि० प्र०—प्राना।—बचना।—होना।

मौसर-वि० [सं०] मूलक संबंधी। मूलक का।

मौसली-छंदा की० दे० "मौलसिरी"।

मौसा-छंदा पुं० [हि० मौमी या पुं०] [की० मौमी] माता की बहिन का पति। मौसी या मासी का पति।

मौसिम-छंदा पुं० [सं०] [हि० मौसिमी] (१) उपयुक्त समय। अनुकूल काल। (२) ऋतु।

मौसिमी-वि० [सं०] (१) समयोपयोगी। काल के अनुकूल। (२) ऋतु संबंधी। ऋतु का। जैसे,—मौसिमी फल, मौसिमी मिठाई।

मौसिया-छंदा पुं० दे० "मौसा"।

वि० संबंध में मौसी या मौसा के स्थान का। मौसी के द्वारा संबंध रखनेवाला। जैसे,—मौसिया सास, मौसिया ससुर। वि० दे० "मौसेता"। जैसे,—घोर घोर मौसिया भाई। (कहावत)

मौसियाउत-वि० [हि० मौमी + आउत (प्रत्य०)] मौसेरा।

मौसियायत-वि० दे० "मौसियाउत"।

मौसी-छंदा की० [सं० मास्यता मा० मास्रितमा] [हि० मौस्य, मौसियाउत] माता की बहिन। मासी। उ०—मातु मौसी बहिन हूँ से सासु में अधिकाइ। कराई तापस सीप तनया सीप हित चित लाइ।—मुकुली।

मौसेरा-वि० [हि० मौसा + एरा (प्रत्य०)] मौसी के द्वारा संबंध। मौसी के संबंध का। जैसे,—मौसेरा भाई, मौसेरी बहिन, मौसेरा ससुर, मौसेरी सास इत्यादि। उ०—जय देवचरुण धंद गये, उनके मौसेरे ससुर मंवेकुमार अपनी डोर से डरे और देवकर कहने लगे।—अधरिंला दूक।

मौहूर्त्त-छंदा पुं० [सं०] मुहूर्त्त बतलानेवाला, ज्योतिषी।

मौहूर्त्तिक-छंदा पुं० [सं०] (१) मुहूर्त्त बतलानेवाला, ज्योतिषी। (२) दूर की मुहूर्त्त नाम की कन्या के उत्पन्न एक देवाना। वि० मुहूर्त्त से उत्पन्न। मुहूर्त्तजय।

म्यौर्वि-छंदा की० [सं०] पिढी की मोड़ी।

मुह्रा०—म्यौर्वि म्यौर्वि करना = भयभीत होकर चींटी कसब से केचना। डर के कारे रोच कर हो जाना। उ०—साधव जी दौ भयभीत हीं। जगम पाह कपु भयो न कीन्हों कहा सो कहीं निपही।.....हंसि बोले जगदीश जगपति बात तुम्हारी यों। बदनासिपु तृपातु कृपाणिधि भयो धारण को कवी। बात सुने ते बहुत हँसोगे खान, क्मल की छी। मेरी देह द्रव्य जम पड़्य जितक हुन घर यों। है छे लख क्षिप्या आउने खान पचाये लीं। जिनके दादन दास दंसि के पणित बरन म्यौ म्यौ।—शूर।

म्यान-छंदा पुं० [सं० मिकन] (१) दोर जिसमें लटका, कनार आदि के पक रने जाने हैं। लटकारा, कनार आदि का पक राने का यंत्र। उ०—(क) याना बाई भोग रत

तथा चाहे मान । दोय खड़ इक म्यान में देखा सुना न
रान ।—कबीर । (ख) जब माल-इकट्टा करते थे, अब
तल का अपने ढेर करो । गढ़ दूदा लखकर भाग चुका अब
म्यान में तुम शायर करो ।—नजीर । (२) अन्नमय कोश ।
शरीर । उ०—(क) कबिरा सुता क्या करै, उठि न भजै
भगवान । जन्म परि जब ले जायँगे पड़ा रहैगा म्यान ।
—कबीर । (ख) चंचल मनुष्यो चेत रे सोवै कहा अजान ।
जम घर जब ले जायगा पड़ा रहेगा म्यान ।—कबीर ।

म्यान ६-क्रि० सं० [हि० म्यान] म्यान में डालना । म्यान में
रखना । उ०—(क) अस कहि अपनी कौड़ि कृपानी । म्यान्यौ
तारि विरोषि यजानी ।—रघुराज । (ख) तासु तेसु सहि
सग्यो न राता । खड्ग तरंत म्यान महुँ म्याना ।—रघुराज ।
छंछा पुं० दे० “मियाना” ।

म्यानी-छंछा की० [का०] पाजमे की काट में एक टुकड़े का
नाम जो दोनों पहों को जोड़ते समय रातों के बीच में
जोड़ा जाता है ।

म्युनिसिपैल्टी-छंछा की० [सं०] किसी नगर के नागरिकों की
बहु प्रतिनिधि सभा जिसे उस नगर के स्वास्थ्य, स्वच्छता
तथा अन्यान्य आंतरिक प्रयोजनों का स्वतंत्र रूप से नियमा-
नुसार अधिकार हो ।

म्युरोय-मायः सभी बड़े नगरों में वहाँ की सफाई, रीशानी,
सड़कों और मकानों आदि की व्यवस्था तथा इसी प्रकार के
और अनेक कार्यों के लिये म्युनिसिपैल्टी का संघटन होता
है । इसके सदस्यों का चुनाव मायः प्रति तीसरे वर्ष कुछ
विशिष्ट योजनावाले नागरिकों के द्वारा हुआ करता है ।

म्युनियम-छंछा पुं० [सं०] यह स्थान जहाँ देश तथा विदेश के
अनेक प्रकार के अद्भुत और विलक्षण पदार्थ संग्रहीत हैं ।
अद्भुत पदार्थों का संग्रहालय । अजायबघर ।

म्यो-छंछा की० [वृ०] चिड़ी की बोली । उ०—मेरी देह छुटत
जम पड़त नितक हुते घर सों । तिनके दाखन दाख देखि
के पलित करत म्यो म्यो ।—सूर । वि० दे० “म्यो” ।

म्योड़ी-छंछा की० [सं० निर्गुंडी] एक सदायहार झाड़ू का नाम
जिसमें केसरिया रंग के छोटे छोटे फूलों की मंजरियाँ
छाती हैं । इसकी डालियों में आगने सामने पत्तियाँ
होती हैं, जिनके बीच से वृक्षी शाखाएँ निकलती हैं ।
इसकी पत्तियों के बीच में एक साँक होती है जिसके
सिरे पर एक और दोनों ओर दो दो पत्तियाँ होती हैं, जो
कुछ मिलकर पाँच पाँच होती हैं । यह झाड़ू बन में होता
है और बागों के किनारे बाड़ पर भी लगाया जाता है ।
पौधक में म्योड़ी उष्ण और रक्ष मानी गई है और इसका
स्वार कटु तथा तिक्त लिखा गया है । यह कौसी, कफ,

सूजन और अफरा को दूर करती है । इसका प्रयोग वात
रोग में भी होता है और इसकी पत्तियों की भाप यपासीर
की पीड़ा को दूर करती है ।

पर्या०—नीलिका । नील निर्गुंडी । सिंहक । सिंदवार । निर्गुंडी ।

म्रदाण-छंछा पुं० [सं०] (१) अपने दोषों को छिपाना । मझरी ।

(२) तेल लगाना । (३) मसलना । मीजना ।

म्रदिमा-छंछा पुं० [सं० म्रदिमन्] (१) मृदुता । कोमलता । (२)
मम्रता । आजिजी ।

म्रदिष्ठ-वि० [सं०] अति मृदु । अत्यंत कोमल ।

म्रातन-छंछा पुं० [सं०] कैयती मुलक । केवटी मोघा ।

म्लान-वि० [सं०] (१) मलिन । कुहलाया हुआ । (२) दुर्बल ।
कमजोर । (३) मैला । मलिन ।

छंछा पुं० म्लानि ।

म्लानता-छंछा स्त्री० [सं०] (१) म्लान होने का भाव । मलिनता ।
(२) म्लानि ।

म्लानि-छंछा स्त्री० [सं०] (१) मलिनता । कातिहाय । (२)
म्लानि । शोक ।

म्लायी-वि० [सं० म्लायिन्] (१) म्लान । म्लानियुक्त । (२) दुगरी ।

म्लिष्ट-वि० [सं०] (१) जो साफ़ न हो । अस्पष्ट । जैसे,—
म्लिष्ट वाणी । (२) अन्धक वाणी बोलनेवाला । जो स्पष्ट न
बोल्ता हो । (३) म्लान ।

म्लेच्छ-छंछा पुं० [सं०] (१) मनुष्यों की वे जातियाँ जिनमें
वर्णाश्रम धर्म न हो । इस शब्द का मुख्य अर्थ है—अस्पष्ट-
भाषी अथवा ऐसी भाषा बोलनेवाला जिसमें धर्मों का स्पष्ट
उच्चारण न होता हो । प्राचीन ग्रंथों में म्लेच्छ शब्द का प्रयोग
उन जातियों के लिये होता था, जिनकी भाषा के उच्चारण की
शैली आर्यों की शैली से विरुद्ध होती थी । वे जातियाँ
प्रायः ऐसी थीं, जिनका आर्यों के साथ संपर्क था, इसी लिये
म्लेच्छ देश भी भारतवर्ष के अंतर्गत माना गया है और
म्लेच्छों की वर्णाश्रम-धर्म-रहित यज्ञ करनेवाला लिखा है ।
महाभारत के आदि पर्व में म्लेच्छों की उत्पत्ति, विश्वामित्र से
छीनकर ले जाते समय बलिष्ठ की धेनु-नंदिनी के अंग प्रत्यंग
से छिपी गई है और पद्मय, द्रविड, शक, यवन, शार, पौंड्र, किरात, यवन, सिंहल, बर्बर, एतद आदि म्लेच्छ माने
गए हैं । पुराणों में म्लेच्छों की उत्पत्ति में इक्ष्वा-पत्तियों को पराजित
कर उन्हें धर्मच्युत कर दिया था और वही लोग शक,
यवन, कांबोज, पारद और पद्मय नामक म्लेच्छ जाति के हो
गए । अन्य पुराण में राजा वैशु के शरीर-मंथन से म्लेच्छ
जाति की उत्पत्ति लिखी गई है । बृहत्संहिता में हिमाचल
और विष्णुगिरि तथा विनयान और प्रयाग के मध्य के
पवित्र देश के अतिरिक्त अन्यत्र भी म्लेच्छ देश लिखा है ।

गृहपारायण में यात्रापूर्वक और अंतराह्न घण्टी के अतिरिक्त घण्टीघार-हीन को स्लेज छिराई है; और प्रायश्चित्त सत्र में गोमोस-भस्मी, विरह भापी और सर्वांगार विहीन ही स्लेज बड़े गए हैं। (२) हिंदु। हींग। वि० (१) नीच। (२) जो सदा पाप-कर्म करता हो। पाप-रत।

सौच्यकन्द-संज्ञा पुं० [सं०] रहस्युत।
सौच्यभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाक। बोतो। (२) मेह।
सौच्यमुख-संज्ञा पुं० [सं०] तौबा।
महाशुभ-सर्व० दे० "शुभ"। उ०—दास तुलसी समप वदनि
मयनंदिनी मंदमनि फंत सनु मंत ग्या को।—तुलसी।
महाराज-सर्व० दे० "हमारा"।

य

य-हिंदी वर्णमाला का २९वाँ अक्षर। इसका उच्चारण-स्थान ताल है। यह सभी वर्ण और ऊप्य वर्ण के बीच का वर्ण है, इसी लिये इसे अंतःस्थ वर्ण कहते हैं। इसके उच्चारण में कुछ आभ्यंतर प्रयत्न के अतिरिक्त संवार, नाद और घोष नामक यादा प्रयत्न भी होते हैं। यह अल्पप्राण है।

यंत, यंता-संज्ञा पुं० [सं० यंत] सारथी। (हिं०)

यंति-संज्ञा स्त्री० [सं०] दमन।

यंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तांत्रिकों के अनुसार कुछ विसिष्ट प्रकार से घने हुए आकार या कोष्ठक आदि, जिनमें कुछ अंक या अक्षर आदि लिखे रहते हैं और जिनके अनेक प्रकार के फल माने जाते हैं। तांत्रिक लोग इनमें देवताओं का अधिष्ठान मानते हैं। लोग इन्हें हाथ या गले में पहनते भी हैं।

यंत्र-

यौ०—यंत्र मंत्र = जादू, टोना या टोयका आदि।

(२) विरोध प्रकार से बना हुआ उपकरण, जो किसी विशेष कार्य के लिये प्रयुक्त किया जाय। औजार। जैसे—(क) धैद्यक में तेल और मासव आदि संवार करने के अनेक प्रकार के यंत्र होते हैं। (ख) प्राचीन काल में भी अनेक ऐसे यंत्र बनते थे, जिनसे दूर से ही दशुओं पर प्रहार किया जाता था। (३) किसी रास काम के लिये बनाई हुई कल या औजार। जैसे,—आजकल संसार में सैंकड़ों प्रकार के यंत्र प्रचलित हैं, जिनकी सहायता से सैंकड़ों हजारों आदमियों का काम एक या दो आदमी कर लेते हैं। (४) बंदूक। (५) घाता। घाय। (६) पातों के द्वारा होनेवाला संगीत। (७) घीणा। चीन। (८) ताल। (९) एक प्रकार का बरतन। (१०) निपंत्रण।

यंत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुमुक्त के अनुसार कपड़े का वह बंधन जो घाय आदि पर बांधा जाता है। पट्टी। (२) वह शिल्पकार जो यंत्र आदि की सहायता से चीजें संवार करता हो। (३) वह जो यंत्रोपकरण करता हो। यंत्र में कर देने वाला।

यंत्रकरंडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाजीगरों की पेटी जिसके द्वारा वे अनेक प्रकार के खेल करते हैं।

यंत्रगृह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ यंत्र की सहायता से किसी प्रकार का कर्म होता हो अथवा बाँध चीजें संवार की जाती हो। (२) वेप-घाला। (३) वह स्थान जिसमें प्राचीन काल में अपराधियों आदि को रखकर अनेक प्रकार की संत्रना दी जाती थी।

यंत्रप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षा करना। (२) रक्षित। (३) निपन्न में रखना। निपन्न के अनुसार चलायना। निपंत्रण।

यंत्रणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छेद। यातना। तकलीफ। (२) दुर्द। वेदना। पीड़ा।

यंत्रनाल-संज्ञा पुं० [सं०] वह नल जिसके द्वारा कूर्प आदि से जल निकाला जाता है।

यंत्रपेपणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चक्री।

यंत्र मंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] जादू। टोना। टोयका।

यंत्रमातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चौंसठ कलाओं में से एक कला, जिसमें अनेक प्रकार के यंत्र या कलें आदि बनाना और उनसे काम लेना सम्मिलित है।

यंत्रराज-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में एक यंत्र जिससे ग्रहों और तारों की गति जानी जाती है।

यंत्रविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलों के चलाने और बनाने की विद्या।

यंत्रशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वेपशाला। (२) वह स्थान जहाँ अनेक प्रकार के यंत्रादि हैं।

यंत्रसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह सूत्र जिसकी सहायता से कठ-पुनकी नयाई जाती है।

यंत्रापीड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सक्षिपात ज्वर जिसके कारण शरीर में बहुत अधिक पीड़ा होती है और रोगी का बहुत पीले रंग का हो जाता है।

यंत्रालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ कल या यंत्रादि हों। (२) छापाखाना। मेष।

यंत्राशु-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो हनुमन्त के मत में हिंदोल राग का पुत्र है।

यंत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री की छोटी बहन। छोटी साली।

संज्ञा स्त्री० छोटा ताला।

यंत्रित-वि० [सं०] (१) जो यंत्र आदि की सहायता से बाँधा या बंध कर दिया गया हो। रोका या बंध किया हुआ। (२) ताला लगा हुआ। ताले में बंध। ड०—जाम पाहरू दिवस निशि स्थान मुद्दार कपाट। धोषन निज-यद-यंत्रित प्राण जाहि बेहि बाट।—गुरुत्ती।

यंत्री-संज्ञा पुं० [सं०] यंत्र (१) यंत्र मंत्र करनेवाला। तांत्रिक। (२) घाता बजावनेवाला। ड०—मुरदास ज्ञानी के चखिदे ज्यों यंत्री बिनु यंत्र सकान।—मूर। (३) निपंत्रण करने या रक्षितवाला।

यंद-संज्ञा पुं० [सं०] स्वामी।

य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घन। (२) धोष। (३) घन। गहरी। (४) संघम। (५) छंदःनाम में घन का गणित कर। वि० दे० "घनन"। (६) दब। जी। (७) घन। (८) त्याग। (९) प्रयत्न।

यक-वि० दे० "एक" ।

यकश्रीं-वि० [दि० एक + श्री] (१) एक अंगवाला । (२) एक (यमी या पति) के साथ रहनेवाला (या वाली) उ०—
सहुरंगी तिन नितहिं सुत यकश्री कर अंत । जिमि गणिका
निषरु रहति दहनि सती विनु बने ।—विग्राम । (३) एक
ही के आश्रित । एक ही पर रहनेवाला । एकनिष्ठ । (४) दे०
"एकश्री" ।

संज्ञा स्त्री० दे० "एकश्री" ।

यककृतम-कि० वि० [एक + कृ + मत्] (१) एक ही बार कृतम चला-
कर । एक ही बार लिगकर । (२) एक-बारगी । एकाएक ।
अन्ते,—यह यहाँ से यककृतम घरखाल कर दिया गया ।

यकता-वि० [एक + ता] जो अपनी विद्या या विषय में एक ही हो ।
निसके मुकाबले का और कोई न हो । अद्वितीय ।

यकताई-संज्ञा स्त्री० [एक + ता] यकता या अद्वितीय होने का भाव ।
अद्वितीयता ।

यकपरा-संज्ञा पुं० [एक + पर + पा (भाव०)] एक प्रकार का
कपूर जिसका सारा शरीर सफ़ेद होता है, केवल पैरों
पर दो एक काली चित्तियाँ होती हैं ।

यक-ययक-कि० वि० [एक + यक] एक बारगी । यकायक । एक
दम से ।

यकयारगी-कि० वि० [एक + यक] यकयक । अथानक । एकाएक ।
सहसा ।

यकसाँ-वि० [एक + सा] एक समान । एक सा । बराबर ।

यकायक-कि० वि० [एक + यक] एकाएक । अथानक । एक बारगी ।
सहसा ।

यकार-संज्ञा पुं० [एक + य] य का वर्ण ।

यपूनी-संज्ञा पुं० [य + पूनी] प्रणीति । विश्वास । एतवार ।

यकूनि-कि० वि० [एक + कू] अवयव । निःसंदेह । बेताक ।
अकुर ।

यकृत-संज्ञा पुं० [एक + कृत] (१) वेद में दाहिनी ओर की एक पैली
जिसमें पावन रस रहता है और जिसकी क्रिया से भोजन
पचता है; अपौरुषेय यह निकार उत्पन्न होता है, जिससे
शरीर की पाचन चाली है । निगर । बाहराँद । (२) वह
रोग जिसमें यह अंग क्षीन होकर रह जाता है । यम-निगर ।
(३) पचाताप ।

यकोला-संज्ञा पुं० [दे०] एक प्रकार का मसोला पेड़-जिनके
पत्र प्रति बड़े गिहार कटु हैं रह जाते हैं । इसकी लकड़ी
अंग्रे से गरुड़ और बड़ी मजबूत होती है । और बहुत
भाग्यशाली सामान अग्नि बनाने के काम आती है । इसे
मयूरी भी कहते हैं ।

यक-संज्ञा पुं० [एक + क] (१) एक प्रकार की देवपत्नी । एक प्रकार
के देवता जो कुवेर के सेवक और उसकी निजियों के राक्ष

माने जाते हैं । उ०—यक्ष प्रबल बाड़े भुवमंडल त्रि
मायो भिन आत । त्रिभुक्त के कात अंत हरि प्रगटे भूष प्रता
विष्पात ।—सूर ।

यिद्योष—पुराणानुसार यक्ष लोग प्रवेता की संतान माने जाते
हैं । कहते हैं कि इनकी आहुति विकराल होती है, वेद रूप
हुआ और कंधे बहुत भारी होते हैं और हाथ-पैर घोर बरफ
रंग के होते हैं ।

(२) कुवेर ।

यक्षकर्म-संज्ञा पुं० [एक + कर्म] एक प्रकार का अंग-लेप जो कुरा,
अंगद, कलूरी और कंकाल मिखाकर बनाया जाता है ।
कहते हैं कि यक्षों को यह अंगलेप बहुत प्रिय है । उ०—
आनु आदित्य जल पवन पावन मंत्रल चंद्र आनंदमय भाग
जग की हरी । मान किंकर करतु, नृप गंधर्वकुल, पक्ष विधि
लक्ष उर यक्षकर्म धरी ।—केशव ।

यक्षप्रह-संज्ञा पुं० [एक + प्रह] पुराणानुसार एक प्रकार का कल्पित
ग्रह । कहते हैं कि जब इस ग्रह का आक्रमण होता है, तब
आदमी पागल हो जाता है ।

यक्षप-संज्ञा पुं० [एक + प] (१) पूजन करना । (२) भक्षण करना ।
खाना ।

यक्षतद-संज्ञा पुं० [एक + तद] यक्ष-तद । यक्ष का पैर ।

यिद्योष—कहते हैं कि यक्ष का दूध यक्षों को बहुत प्रिय होता
है और उसी पर वे रहा करते हैं ।

यक्षता-संज्ञा स्त्री० [एक + ता] यक्ष का भाव या धर्म । यक्ष-धन ।

यक्षतद-संज्ञा पुं० [एक + तद] यक्ष का भाव या धर्म ।

यक्षधूप-संज्ञा पुं० [एक + धूप] (१) साधारण धूप जो प्रायः देवताओं
आदि के भागे जलाया जाता है । (२) सरल दूध का
नियोग । साध्वीन का तेज ।

यक्षनायक-संज्ञा पुं० [एक + नायक] (१) यक्षों के स्वामी, कुवेर । (२)
जिनके अनुसार वर्तमान अवसरिनी के अर्हत के पीछे भगु-
धर का नाम ।

यक्षप-संज्ञा पुं० [एक + प] यक्षपति, कुवेर ।

यक्षपति-संज्ञा पुं० [एक + पति] यक्षों के स्वामी, कुवेर । उ०—सुपु
कुवेर यक्षपति कहियत जई शंकर को नाम ।—गूर ।

यक्षपुत्र-संज्ञा पुं० [एक + पुत्र] अमरपुत्री ।

यक्षरत्न-संज्ञा पुं० [एक + रत्न] यक्षों से पैदा की हुई, शाव ।
मरारत्न ।

यक्षराज-संज्ञा पुं० [एक + राज] यक्षों के राजा, कुवेर ।

यक्षरात्रि-संज्ञा स्त्री० [एक + रात्रि] कालिक मास की पूर्णिमा जो यक्षों
की रात मानी जाती है ।

यक्षलोक-संज्ञा पुं० [एक + लोक] वह लोक जिसमें यक्षों का निवास
माना जाता है ।

यक्षविष्ट-छंदा पुं० [सं०] वह जो बहुत घनवान् हो, पर अपने घन में से कुछ भी व्यय न करता हो।

यक्षल-छंदा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

यक्षांगी-छंदा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम।

यक्षाधिप, यक्षाधिपति-छंदा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुबेर।

यक्षामलक-छंदा पुं० [सं०] पिंड खजूर।

यक्षधास-छंदा पुं० [सं०] यक्ष का वृक्ष जिस पर यक्षों का निवास माना जाता है।

यक्षिणी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) यक्ष की पत्नी। (२) कुबेर की पत्नी। (३) दुर्गा की एक अनुचरी का नाम।

यक्षी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) कुबेर की स्त्री। (२) यक्ष की स्त्री। यक्षिणी।

छंदा पुं० [सं० यक्ष + ई (प्रत्य०)] वह जो यक्ष की उपासना करता हो, अथवा उसे साधता हो। उ०—प्रजापति कहे पूजार्ह जोई। तिन कर पास दक्षपुर होई। भूली भूलहि यक्षी यक्षन। प्रेती प्रेतन रक्षी रहन।—गिरधर।

यक्ष-छंदा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ करता हो। (२) एक प्राचीन जनपद का वैदिक नाम, जो वज्र भी कहलाया था और इसी नाम की नदी के आस पास था। आन्सस नदी के आस पास का प्रदेश। यक्षसर्प। (३) इस जनपद का निवासी।

यक्षेद्र-छंदा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुबेर।

यक्षेद्वर-छंदा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुबेर।

यक्षग्रह-छंदा पुं० [सं०] क्षय या यक्ष्मा नामक रोग।

यक्षघ्नी-छंदा स्त्री० [सं०] क्षय। अँगूर।

यक्षमा-छंदा पुं० [सं० यक्ष्म] क्षयी नामक रोग। तपेदिक। वि० दे० "क्षयी"।

यक्ष्मी-छंदा पुं० [सं० यक्ष्म] वह जिसे यक्ष्मा रोग हुआ हो। यक्ष्मा रोग का रोगी। तपेदिक का बीमार।

यक्ष्मी-छंदा स्त्री० [सं०] (१) सरकारी आदि का रस्ता। शौर्या। शौल। (२) थपले हुए मांस का रस्ता। (३) वह मांस जो केवल लहसुन, प्याज, धनिया और नमक डालकर उबाल लिया जाय।

यक्ष-छंदा पुं० [सं०] उदस्ताफ में आठ गणों में से एक। यह एक छपु और दो गुरु मात्राओं का होता है। (३५)।

इसका संक्षिप्त रूप 'य' है। जैसे,—यमाना, चलाना। यिरोप—इसका देवता जल माना गया है और यह सुगन्धदाक कहा गया है।

यमाना-वि० [सं०] (१) जो सेवाना न हो। एक संज्ञा का। भयना। भाभीय। मानेदार। (२) अकेला। कर। (३) अनुपम। अद्वितीय। एकता।

छंदा पुं० (१) माई-यंद। (२) परप मित्र।

यगूर-छंदा पुं० [दे०] एक प्रकार का बहुत ऊँचा वृक्ष जिसकी लकड़ी का रंग अंदर से काला निकलता है। यह सिलहट की पूर्वी और दक्षिण पूर्वी पहाड़ियों में बहुत होता है। इसकी लकड़ी से कई तरह की सजावट की और बहुमूल्य वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इसे भाग में जलाने से बहुत उत्तम गंध निकलती है। इसे सेसी भी कहते हैं।

यग्य-छंदा पुं० दे० "यज्ञ"।

यच्छुक्षी-छंदा पुं० दे० "यक्ष"।

यच्छिनीक्षी-छंदा स्त्री० दे० "यक्षिणी"।

यजंत-छंदा पुं० [सं०] यज्ञ करनेवाला।

यजन-छंदा पुं० [सं०] (१) श्रविक। (२) एक वैदिक ऋषि का नाम जो ऋग्वेद के एक अंश के द्वाधा थे।

यजति-छंदा पुं० दे० "यज्ञ"।

यजत्र-छंदा पुं० [सं०] (१) अग्निहोत्री ४ (२) वह जो यज्ञ करता हो।

यजन-छंदा पुं० [सं०] (१) वेद-विधि के अनुसार होता और ऋषि आदि के द्वारा काम्य और नैमित्तिक कर्मों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करना। यज्ञ करना। (यह मातृगणों के यक्ष्मों में से एक माना गया है।) (२) वह स्थान जहाँ यज्ञ होता हो।

यजनकर्त्ता-छंदा पुं० [सं०] यज्ञ या हवन करनेवाला।

यजमान-छंदा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ करता हो। दक्षिणा आदि देकर ब्राह्मणों से यज्ञ, पूजन आदि धार्मिक कृत्य करानेवाला व्यक्ति। यथा। (२) वह जो ब्राह्मणों को दान देता हो। (३) महादेव की आठ प्रकार की मूर्तियों में से एक प्रकार की मूर्ति।

यजमानता-छंदा स्त्री० [सं०] यजमान का भार या धर्म।

यजमानलोक-छंदा पुं० [सं०] वह लोक जिसमें यज्ञ करके मरनेवालों का निवास माना जाता है।

यजमानी-छंदा स्त्री० [सं० यजमान + ई (प्रत्य०)] (१) यजमान का भार या धर्म। (२) यजमान के प्रति पुरोहित की कृति। (३) वह स्थान जहाँ किसी विरोध पुरोहित के यजमान रहते हों।

यजी-छंदा पुं० [सं० यज्ञ] वह जो यज्ञ करता हो। यज्ञ करनेवाला।

यजु-छंदा पुं० दे० "यजुर्वेद"।

यजुर्विद्-छंदा पुं० [सं०] वह जो यजुर्वेद का ज्ञान हो। यजुर्वेद जाननेवाला।

यजुर्वेद-छंदा पुं० [सं०] भारतीय ब्राह्मणों के पात्र प्रसिद्ध वेदों में से एक वेद। जिसमें विरोधः सत्य-धर्म का विरोध विरतन है और जो इसी विषये वेद-ग्रन्थों में अति प्रचल

माना जाता है । यज्ञों में अग्नियुं जिन गद्य यंत्रों का पाठ करता था, वे यज्ञ कहलते थे । इस वेद में उन्हीं यंत्रों का संग्रह है, इसलिये इसे यज्ञवेद कहते हैं । इसके दो मुख्य वेद हैं—कृष्ण यज्ञवेद और शुक्ल यज्ञवेद या याजुसमेयी । कृष्ण यज्ञवेद में यज्ञों का विधान पूर्ण और विस्तृत वर्णन है, उक्तता और संहिताओं में नहीं है । इन दोनों की भी बहुत सी शाखाएँ हैं, जिनमें योद्धा बहुत पाठ-वेद है । अब तक यज्ञवेद की जो संहिताएँ मिली हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—काठक, कपिलस्थल-कठ, मीनाक्षणी और सैरिणी । ये चारों कृष्ण यज्ञवेद की हैं । शुक्ल या याजुसमेयी की काण्व और मार्ग्यदिनी दो शाखाएँ हैं । पतञ्जलि के मत में यज्ञवेद की १०१ शाखाएँ हैं; पर चारण्यपूह में केवल ८६ शाखाएँ ही हैं, और वायुपुराण में २३ शाखाएँ गिनाई गई हैं । इसके संहिता भाग में ब्राह्मण और ब्राह्मण भाग में संहिता भी मिलती है । इस वेद में अनेक ऐसे विधि मंत्र भी हैं, जिनका अर्थ बहुत थोड़ा या कुछ भी नहीं शात होता । कुछ मंत्रोंमें भी ऐसी हैं, जो बिल्कुल अर्थ-रहित जान पड़ती हैं । इसके कुछ मंत्र ऐसे हैं, जिनसे सूचित होता है कि उस समय लोगों में ब्रह्मज्ञान की बहुत कम चर्चा थी । इसमें देवताओं के नामों के साथ बहुत से विशेषण भी मिलते हैं, जिससे जान पड़ता है कि भक्ति की ओर भी लोगों की कुछ कुछ प्रवृत्ति हो चली थी । पुराणानुसार इस वेद के अधिपति बृहत् और बृहत् वीरतायन माने जाते हैं । सि० दे० “वेद” ।

यज्ञवेद-टीका पु० [सं० गुरुदेव] (१) यह जो यज्ञवेद का शाखा हो । (२) यह ब्राह्मण जो यज्ञवेद के अनुसार सब रूप करता हो ।

यज्ञधृति-टीका पु० [सं०] यज्ञवेद ।

यज्ञस्पति-टीका पु० [सं०] विष्णु ।

यज्ञप्राप-टीका पु० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ-प्राप ।

यज्ञप्य-सि० [सं०] यज्ञ संबंधी । अन्न का ।

यज्ञपर-टीका पु० [सं०] ब्राह्मण ।

यज्ञ-टीका पु० [सं०] (१) प्राचीन भारतीय भाषों का एक प्रसिद्ध हिंदिक रूप जिसमें प्रायः हवन और गृह्य हुआ करता था । गद्य । धारा ।

विशेष—प्राचीन भारतीय भाषाओं में यह प्रथा थी कि जब उनके यहाँ जन्म, विवाह या इसी प्रकार का और कोई कामारं होना था, अपना जब वे किसी शुभक की अभेदि किया या किसी का शास्त्र आदि करते थे, तब कपड़े के कुछ गुत्तों और अथर्व वेद के मंत्रों के द्वारा अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ करने थे और आतिथी आदि देने थे । इसी प्रकार यज्ञों का पाठ करनेवाले करने यज्ञों की शुद्धि

के लिये तथा किसान लोग अपनी खेप करने के लिये अनेक प्रकार के समारंभ करके श्रुति आदि करते थे । अवसरों पर अनेक प्रकार के हवन आदि भी होते थे, जिनमें उन दिनों “गृह्यकर्म” कहते थे । इन्हीं ने आगे चलकर विकसित होकर यज्ञों का रूप प्राप्त किया । पहले इन यज्ञों में घर का मालिक या यज्ञकर्त्ता, यज्ञमान होने के अनिवार्य यज्ञ-पुरोहित की हुजा करता था, और प्रायः अपनी सारा संपत्ति के लिये एक आचार्य को “ब्राह्मण” कहलता करता रखा जाता था । इन यज्ञों की आहुति घर के यज्ञकर्त्ता में ही होती थी । इसके अनंतरिक कुछ धनपात्र या भात ऐसे भी होते थे, जो यज्ञ यज्ञ किया करते थे । जैसे,—शुद्ध के देवता इंद्र को प्रसन्न करने के लिये सोम या अमृत किया जाता था । घीरे घीरे इन यज्ञों के लिये अनेक प्रकार के नियम आदि बनने लगे, और पीछे से यहाँ-विचरने के अनुसार भिन्न भिन्न यज्ञों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के यज्ञ-भूमिवाँ और उममें विभिन्न अग्नि स्थापित करने के लिये अनेक प्रकार के यज्ञ-कुंड बनने लगे । ऐसे यज्ञों में प्रायः चार मुख्य कर्तव्य हुआ करते थे, जिनकी अधीनता में भी अनेक कर्तव्य काम करते थे । आगे चलकर जब यज्ञ करनेवाले यज्ञमान का काम वैश्व-विद्याना ब्रह्मण ही होता गया, तब यज्ञ संबंधी अनेक रूप करने के लिये और लोगों की नियुक्ति होने लगी । मुख्य चार कर्तव्यों में प्रथम “होता” ब्राह्मण या और वह देवताओं की प्रार्थना करने का ही यज्ञ में आने के लिये आह्वान करता था । दूसरा कर्तव्य “उद्गाता” यज्ञ-कुंड में सोम की आहुति देने के समय साम-गायन करता था । तीसरा कर्तव्य “वाचस्पति” या यज्ञ करनेवाला होता था, और वह स्वयं अपने ही हाथों गाय मंत्र पढ़ता तथा अपने हाथ से यज्ञ के सब रूप करता था । चौथे कर्तव्य “ब्रह्म” अथवा महापुरोहित की सब प्रकार के विचारों से यज्ञ की रक्षा करनी पड़ती थी; और इसके लिये उसे यज्ञ कुंड की दक्षिण दिशा में स्थान दिया जाता था, क्योंकि यही यज्ञ की दिशा मानी जाती थी और उसी ओर से अमृत लोग आया करते थे । इसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता था कि कोई किसी मंत्र का अक्षर उच्चारण न करे । इसी लिये ब्रह्म का लीनों में ही का रक्षण होता भी आवश्यक था । जब यज्ञों का प्रचार बहुत बढ़ गया, तब उनके संबंध में अनेक स्थानों प्राप्त भी बन गये, और वे प्रायः “ब्राह्मण” तथा “धीन सूत्र” कहलते । इसी कारण लोग यज्ञों की भीन कर्मों की करने लगे । इसी के अनुसार लोग अपने गृह गृह कर्मों में अपना हो गये, जो केवल यज्ञ के आधार पर होते थे । फिर इन गृह यज्ञों के प्रतिपादक यंत्रों को “गृह्य” करने लगे । प्रायः सभी यंत्रों

का अधिकांश इन्हीं यक्ष संवंधी बातों से भरा पड़ा है (दे० "वेद")। पहले तो सभी लोग यक्ष किया करते थे, पर जब धीरे धीरे यक्षों का प्रचार घटने लगा, तब अश्वत्थु और होवा ही यक्ष के सब काम करने लगे। पीछे भिन्न भिन्न ऋषियों के नाम पर भिन्न भिन्न नामोंवाले यक्ष प्रचलित हुए, जिससे माहों का महत्त्व भी बढ़ने लगा। इन वेदों में अनेक प्रकार के पशुओं की बलि भी होती थी, जिससे कुछ लोग असंतुष्ट होने लगे, और भागवत आदि नए संप्रदाय स्थापित हुए, जिनके कारण यक्षों का प्रचार धीरे धीरे बंद हो गया। यक्ष अनेक प्रकार के होते थे। जैसे,—सोम याग, अधमेघ यक्ष, राजसूय यक्ष, ऋतुपात्र, असिष्टेम, अतिरात्र, महावत, देवरात्र, दशपुंगमास, पलित्रेधि, पुत्रकामेधि, चार्तुमास्य, सौवामिण, दशपेय, पुरुषमेघ आदि आदि।

आपों की ईरानी शाखा में भी यक्ष प्रचलित रहे और "यक्ष" कहलते थे। इस "यक्ष" से ही कारसी का "जभ" शब्द बना है। यक्ष वास्तव में एक प्रकार के पुष्पोत्पन्न थे। अब भी विवाह, यज्ञोपवीत आदि उत्सवों को कहीं कहीं यक्ष कहते हैं।

पर्याय—सूय। अध्वर। सतसंतु। ऋतु। इष्टि। विगान। मन्त्रु। आहव। सवन। हव। अभिवय। होम। हवन। मह। (१) विष्णु।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यक्ष। (२) वह जो यक्ष करता हो। यक्षकर्ता-संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष करनेवाला। याजक। यजमान। यक्षकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष का काम। यक्षकरण-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु। यक्षकारी-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षकारी। वह जो यक्ष करता हो। यक्ष करनेवाला।

यक्षकाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यक्षदि के लिये शाकों द्वारा निर्दिष्ट समय। (२) पौर्णमासी।

यक्षकाल-संज्ञा पुं० [सं०] कांड का वह खंड जिसमें यक्ष के लिये बलि दिया जानेवाला पशु बध्ना जाता था। यूपकाष्ठ। यक्षकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] हवन करने की वेदी या कुंड। यक्षकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यक्ष की क्रियाओं का जाला हो। (२) एक राक्षस का नाम।

यक्षोप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यक्ष से द्वेष करता हो। (२) रावण के बल का एक राक्षस, जिसका उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में है।

यक्षोप-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु। यक्षक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यक्ष के काम। (२) कर्मकांड। यक्षगिरि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

यक्षर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यक्ष विध्वंस करता हो। (१) राक्षस।

यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो यक्षों के विधान आदि जानता हो। यक्षजाता-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षजात। (१) वह जो यक्ष की रक्षा करता हो। (२) विष्णु।

यक्षवृत्तक-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुत्र जो यक्ष के प्रसाद स्वरूप प्राप्त हुआ हो।

यक्षदुह-संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

यक्षधर-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यक्षनेमि-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम।

यक्षपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) वह जो यक्ष करता हो। यजमान।

यक्षपत्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यक्ष की स्त्री, दक्षिणा। (२) पुराणानुसार यक्ष करनेवाले माधुर माहों की ये स्त्रियाँ जो अपने पतिवों के मना करने पर भी श्रीकृष्ण के लिये भोजन लेकर वन में गई थीं।

यक्षपर्वत-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो नर्मदा के उत्तर-पश्चिम में है।

यक्षपशु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पशु जिसका यक्ष में पलिशान किया जाय। (२) घोड़ा। (३) धकटा।

यक्षपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष में काम आनेवाले फाट के बने हुए बरतन।

यक्षपार्श्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम जिनका उल्लेख पराशर स्मृति में है।

यक्षपाल-संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष का संरक्षक। यक्ष की रक्षा करनेवाला।

यक्षपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु। उ०—यक्ष पुरुष प्रसन्न जय भव। निरुति कुंड से दूरशन दद।—पूर।

यक्षफलद-संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष का फल देनेवाले, विष्णु।

यक्षबाहु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शक्ति का एक नाम। (२) पुराणानुसार शालमलि द्वीप के एक राजा का नाम।

यक्षभाग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यक्ष का अंश, जो देवताओं को दिया जाता है। (२) ये देवता जिन्हें यक्ष का भाग मिलता है। जैसे,—इंद्र।

यक्षमार्जन-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षपात्र।

यक्षभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ यक्ष होता हो। यक्षक्षेत्र।

यक्षभूषण-संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।

यक्षमोक्षा-संज्ञा पुं० [सं०] बन्धोत्थ। विष्णु।

यक्षमंडप-संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष करने के लिये बनाया हुआ मंदिर।

यक्षमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जो यक्ष करने के लिये चेत गया हो।

यक्षमंदिर-संज्ञा पुं० [सं०] यक्षनाथ।

यशमय-पंथा पुं० [सं०] विष्णु ।
 यशमुख-पंथा पुं० [सं०] यज्ञ का आरंभ ।
 यशयूप-पंथा पुं० [सं०] यह यंत्र जिसमें यज्ञ का बलि-यज्ञ
 रखा जाता था । यूपकाष्ठ ।
 यशयोग-पंथा पुं० [सं०] गृह्य का वेद ।
 यशरत्न-पंथा पुं० [सं०] सोम ।
 यशराज-पंथा पुं० [सं०] यज्ञराज । यदमा ।
 यशरवि-पंथा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।
 यशसिग-पंथा पुं० [सं०] भीष्म का एक नाम ।
 यशधराह-पंथा पुं० [सं०] विष्णु ।

यिरोप - कहते हैं कि विष्णु ने यसाह का रूप धारण करने के
 उपरान्त जब अपना शरीर छोड़ा, तब उनके निम्न निम्न
 भ्रमों में यज्ञ की सामग्री बन गई । इसी से उनका यह
 नाम पड़ा ।

यशपदक-पंथा पुं० [सं०] एक प्राचीन क्षत्रिजों प्रसिद्ध यज्ञ-
 यज्ञ्य क्षत्रिजों के पिता थे ।

यशपल्ली-पंथा स्त्री० [सं०] सोम रुखा ।

यशपाह-पंथा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करनेवाला । (२) कार्ष्णिभ्य
 के एक अनुचर का नाम ।

यशपाहन-पंथा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करनेवाला । (२) प्राज्ञ ।
 (३) विष्णु । (४) शिव ।

यशपाही-पंथा पुं० [सं०] यज्ञाहिन् । यज्ञ का सब काम
 करनेवाला ।

यशपीठ्य-पंथा पुं० [सं०] विष्णु ।

यशपुत्र-पंथा पुं० [सं०] (१) यज्ञ का वेद । (२) विक्रान्त ।

यशमत-पंथा पुं० [सं०] यह जो यज्ञ करता हो । - यज्ञ
 करनेवाला ।

यशगुप्त-पंथा पुं० [सं०] (१) राक्षस । (२) तब राक्षस का
 एक नैनासि, जिसे रामचन्द्र ने मारा था ।

यशशाला-पंथा स्त्री० [सं०] यज्ञ करने का स्थान । यशमंडप ।

यशशाल-पंथा पुं० [सं०] यह शाख जिसमें यज्ञों और उनके
 कृत्यों आदि का विरोध हो । शीमांश ।

यशशील-पंथा पुं० [सं०] (१) यह जो यज्ञ करता हो । (२)
 प्राज्ञ ।

यशगुप्त-पंथा पुं० दे० "यशवहाह" ।

यशधेता-पंथा स्त्री० [सं०] सोम रुखा ।

यशमंस्तार-पंथा पुं० [सं०] यह स्थान जहाँ यज्ञ मंडप बनाया
 जाय । यशमूमि । यशस्थान ।

यशपाहन-पंथा पुं० [सं०] यज्ञ करने का स्थान या मंडप ।
 यशशाला ।

यशपाधन-पंथा पुं० [सं०] (१) यह जो यज्ञ की रक्षा करता
 हो । (२) विष्णु ।

यशसार-पंथा पुं० [सं०] गृह्य का वेद ।

यशसुत्र-पंथा पुं० [सं०] यज्ञोपवीत । जनेऊ ।

यशसेन-पंथा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) एक दानव का
 नाम ।

यशस्तंग-पंथा पुं० [सं०] यह यंत्र जिसमें यज्ञ का यज्ञ यंत्र
 जाता है । यूप ।

यशस्थल-पंथा पुं० [सं०] यज्ञमंडप ।

यशस्थायु-पंथा पुं० दे० "यशस्तंग" ।

यशस्थान-पंथा पुं० [सं०] यज्ञशाला ।

यशहृदय-पंथा पुं० [सं०] विष्णु ।

यशहोता-पंथा पुं० [सं०] यज्ञोपवीत । (१) यज्ञ में देवताओं का
 आवाहन करनेवाला । (२) भागवत के अनुसार लक्ष्मण मनु
 के एक पुत्र का नाम ।

यशंग-पंथा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) गृह्य का वेद । (३)
 रौर का वेद ।

यशंगा-पंथा स्त्री० [सं०] सोम रुखा ।

यशगार-पंथा पुं० [सं०] यह स्थान या मंडप जहाँ यज्ञ
 होता हो । यज्ञशाला ।

यशगता-पंथा पुं० [सं०] यज्ञान् । विष्णु ।

यशपिपति-पंथा पुं० [सं०] यज्ञ के स्वामी, विष्णु । यज्ञपुरा ।

यशारि-पंथा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) राक्षस ।

यशारान-पंथा पुं० [सं०] देवता ।

यशिक-पंथा पुं० [सं०] (१) यह पुत्र जो यज्ञ के प्रसार रखने
 मिला हो । (२) पलास का पेड़ ।

यसीय-वि० [सं०] यज्ञ संबंधी । यज्ञ का ।

पंथा पुं० गृह्य का वेद ।

यशोभर-पंथा पुं० [सं०] विष्णु ।

यशोप-पंथा पुं० [सं०] रोहित नाम की पाय ।

यज्ञोपवीत-पंथा पुं० [सं०] (१) जनेऊ । यज्ञमूम । (२) हिंदुओं
 में ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का एक संस्कार, जो प्राचीन
 काल में उस समय होता था, जब बालक को पिता पालने
 के लिये गुरु के पास ले जाते थे । इस संस्कार के उपरान्त
 बालक को स्नान कर होने तक ब्रह्मचर्यव्रत रहना पड़ता
 था और पिता गुरु से अपना तथा अपने गुरु का विचार
 करना पड़ता था । अन्त्यायं संस्कारों की शक्ति यह संस्कार
 की आवश्यकता नाम मात्र के लिये रह गया है । इसमें कुछ
 विशिष्ट धार्मिक कृत्य करके बालक के गले में जनेऊ पहना
 दिया जाता है । ब्राह्मण बालक के लिये आठवें वर्ष, क्षत्रिय
 बालक के लिये ग्यारहवें वर्ष और वैश्य बालक के लिये
 बारहवें वर्ष यह संस्कार करने का विधान है । अनर्थ ।
 उपनयन । जनेऊ ।

यज्ञ-वि० [सं०] यज्ञ करने के योग्य ।

श्रेयोपादि शान्तों) का जिन साधुओं ने शय किया हो, उगदा चरित्र । (जैन)

यथाज्ञान-शब्द पुं० [सं०] मूर्ख । बेवकूफ । नीच ।

यथानुसङ्ग-शब्द पुं० [सं०] ऐसे का वैसा । ज्यों का त्यों । हूँ व हूँ । वैसा हो, वैसा ही ।

यथानियम-शब्द पुं० [सं०] नियमानुसार । कान्धे के मुताबिक । बाकायद ।

यथान्याय-शब्द पुं० [सं०] न्याय के अनुसार । जो कुछ न्याय हो, वैसा । यथोचित ।

यथापूर्व-शब्द पुं० [सं०] (१) वैसा पहले था, वैसा ही । पहले की भाँति । पूर्वान् । (२) ज्यों का त्यों ।

यथामाग-शब्द पुं० [सं०] (१) भाग के अनुसार जितना चाहिए, उतना । हिस्से के मुताबिक । (२) यथोचित ।

यथामति-शब्द पुं० [सं०] बुद्धि के अनुसार । समझ के मुताबिक । यथायोग्य-शब्द पुं० [सं०] वैसा चाहिए, वैसा । उपयुक्त । यथोचित । मुताबिक ।

यथावत्-शब्द पुं० [सं०] "यथायं" ।

यथावधि-शब्द पुं० [सं०] कृषि के अनुसार । पसंद के मुताबिक । इच्छानुसार । मरजी के मुताबिक ।

यथार्थ-शब्द पुं० [सं०] (१) ठीक । याजिव । उचित । जैसे,—आपका कहना यथार्थ है । (२) वैसा ठीक होना चाहिए, वैसा । ज्यों का त्यों । जैसे का वैसा ।

यथार्थता-शब्द स्त्री० [सं०] यथार्थ का भाव । सचाई । सत्यता । सचापन ।

यथासम्भ-वि० [सं०] (१) जितना प्राप्त हो, उसी के अनुसार । जो कुछ मिले, उसी के मुताबिक । (२) अनियों के अनुसार, जो कुछ मिल जाय उसी में समुद्र रहने की इति ।

यथासाम-वि० [सं०] जो कुछ मिले, उसी के अनुसार । जो प्राप्त हो, उसी पर निर्भर । उ०—यथासामं संतोष शब्द परगुन भदि होष कहोंगि ।—तुलसी ।

यथावन्-शब्द पुं० [सं०] (१) ज्यों का त्यों । वैसा था, वैसा ही । जैसे का वैसा । (२) वैसा चाहिए, वैसा । पूर्ण सीति में । अच्छी तरह । जैसे,—यथावन् मन्थन करना ।

यथावस्थित-शब्द पुं० [सं०] (१) वैसा था, वैसा ही । (२) मन् । ठीक । (३) स्थिर । अचल ।

यथाविधि-शब्द पुं० [सं०] विधि के अनुसार । विधिपूर्वक । विधिपूर्व ।

यथाविहित-शब्द पुं० [सं०] वैसा विधान हो, वैसा ही । विधि के अनुसार ।

यथावश्य-शब्द पुं० [सं०] जहाँ तक हो सके । जहाँ तक संभव हो । जहाँ तक मुमकिन हो । सामर्थ्य पर । भर तक ।

यथारुक्ति-शब्द पुं० [सं०] सामर्थ्य के अनुसार । जितना हो सके । भरतक ।

यथाशान्-शब्द पुं० [सं०] शास्त्र के अनुसार । शास्त्र के अनुकूल । वैसा शास्त्रों में वर्णित है, वैसा ।

यथासंभव-शब्द पुं० [सं०] जहाँ तक हो सके । जितना हो सके । जितना मुमकिन हो ।

यथासमय-शब्द पुं० [सं०] (१) ठीक समय पर । ठीक वक्त पर । नियत समय पर । (२) समय के अनुसार । वैसा समय हो, वैसा ।

यथासाध्य-शब्द पुं० [सं०] जहाँ तक हो सके । जितना किया जा सके । यथासक्ति ।

यथास्थान-शब्द पुं० [सं०] ठीक जगह पर । अपने स्थान पर । उचित स्थान पर ।

यथेच्छ-शब्द पुं० [सं०] जितना था वैसा भी मैं आवे, उतना था वैसा । इच्छा के अनुसार । मनमाना ।

यथेच्छाचार-शब्द पुं० [सं०] जो जी में आवे, वही करना, और उचित अनुचित का स्थान न करना । स्वेच्छाचार । मनमाना काम करना ।

यथेच्छाचारो-शब्द पुं० [सं०] यथेच्छाचारिण] (१) मनमाना आचार करनेवाला । यथेच्छाचार करनेवाला । (२) जो कुछ जी में आवे, वही करनेवाला । मनमौजी ।

यथेच्छित-वि० [सं०] इच्छानुसार । मनमाना । मनपाया ।

यथेष्ट-वि० [सं०] जितना इष्ट हो । जितना चाहिए, उतना । काफी । पूरा । जैसे,—(क) ये यहाँ में यथेष्ट पन ले आए । (ग) इस विषय में यथेष्ट कहा जा चुका है ।

यथेष्टाचरण-शब्द पुं० [सं०] मनमाना काम करना । इच्छानुसार व्यवहार करना । स्वेच्छाचार ।

यथेष्टाचार-शब्द पुं० [सं०] "यथेष्टाचरण" ।

यथेष्टाचारो-शब्द पुं० [सं०] यथेष्टाचारिण] अपने मन के अनुसार व्यवहार करनेवाला । मनमाना काम करनेवाला ।

यथोक्त-शब्द पुं० [सं०] वैसा कहा गया हो । कने हुए के अनुसार ।

यथोक्तकारी-वि० [सं०] यथोक्तारिण] (१) शास्त्री में जो कुछ कहा गया हो, वही करनेवाला । (२) आकाशी ।

यथोचित-वि० [सं०] वैसा चाहिए, वैसा । मुताबिक । ठीक । जैसे,—उसे यथोचित दंड मिलना चाहिए ।

यथुषि-शब्द पुं० [सं०] "यथुषि" ।

यद्वा-शब्द पुं० [सं०] (१) जिस समय । जिस वक्त । वह । (२) जहाँ ।

यद्वाक्य-शब्द पुं० [सं०] जब वक्त । कभी कभी । यदि-शब्द पुं० [सं०] अगर । जो ।

विशेष-द्वय अथवा क उपायों द्वारा के आरंभ में संभव अवस्था किसी काम की अनेक स्थिति करने के लिये होना

। जैसे,—(क) यदि वे न आए तो ! (ख) यदि आप कहें, तो मैं दे दूँ।

यदिष, यदिचेत्—अर्थ० [सं०] यद्यपि । अगरचे ।
यदु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यथापि राजा का बड़ा पुत्र जो देव-
यानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। महाभारत में लिखा है कि
यथापि के शाप के कारण इनका राज्य नष्ट हो गया था; पर
पीछे से इंद्र की कृपा से इन्हें फिर राज्य मिला था। शाप
का कारण यह था कि यथापि ने धृष्ट होने पर इनसे कहा
था कि तुम मेरा पाप और ब्रह्मावस्था ले लो, जिससे मैं फिर
सुख हो जाऊँ। पर इसे इन्होंने स्वीकृत नहीं किया था।
श्रीकृष्णचंद्र इन्हीं के वंश में हुए थे। (इस शब्द के साथ
पति या राजा आदि का शब्दक शब्द लगाने से श्रीकृष्ण का
अर्थ होता है।) (२) पुराणानुसार इन्द्रव राजा के पुत्र
का नाम।

यदुध-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक क्षत्रि का नाम।
यदुधनंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यदुकुल को आनंद देनेवाले,
श्रीकृष्णचंद्र। (२) कृष्णवैतन्य के एक साथी भक्त।
यदुनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] यदुवंश के स्वामी, श्रीकृष्ण।
यदुपति-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।
यदुभूप-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।
यदुराई-संज्ञा पुं० [सं०] यदु + हिं० राई = राजा । श्रीकृष्ण।
यदुराज, यदुराज-संज्ञा पुं० [सं०] यदुकुल के राजा, श्रीकृष्ण।
यदुवंश-संज्ञा पुं० [सं०] राजा यदु का कुल। यदु का खानदान।
यदुवंशमणि-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्णचंद्र।
यदुवंशी-संज्ञा पुं० [सं०] यदुवंशिन। यदुकुल में उत्पन्न। यदुकुल
के लोग। यादव।

यदुधर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।
यदुधीर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।
यदुत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।
यदुध्या-क्रि० वि० [सं०] (१) अकस्मात् । अचानक ॥
(२) इसका से । देवसंयोग से। (३) मनमाने तौर पर।
मन की मीज के अनुसार। बिना किसी नियम या कारण के।
यदुध्याभिन्न-संज्ञा पुं० [सं०] कृतसाक्षी के पाँच भेदों में से
एक। वह साक्षी जो घटना के समय आप से आप या
अकस्मात् आ गया हो।

यदुध्या-संज्ञा श्री० [सं०] (१) केवल इच्छा के अनुसार व्यव-
हार। स्वेच्छाचरण। मनमाना-पन। (२) नाकस्मिक संयोग।
इच्छाक्र।

यमातदा-अर्थ० [सं०] कमी कमी।

यम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साथ उत्पन्न वस्तु का जोड़।
यमज। (२) भारतीय आर्यों के एक प्रसिद्ध देवता जो

दक्षिण दिशा के दिक्पाल बड़े ज़ाते हैं और आजकल सृष्टि
के देवता माने जाते हैं।

विशेष—वैदिक काल में यम और यमी दोनों देवता, क्षत्रि
और मंत्रकर्ता माने जाते थे और "यम" को लोग "मृत्यु"
से मिला मानते थे। पर पीछे से यम ही प्राणियों को
मारनेवाले अथवा इस शरीर में से प्राण निकालनेवाले
माने जाने लगे। वैदिक काल में यज्ञों में यम की भी पूजा
होती थी और उन्हें हवि दिया जाता था। उन दिनों ये
मृत पितरों के अधिपति तथा मरनेवाले लोगों को आश्रय
 देनेवाले माने जाते थे। तब से अब तक इनका एक अलग
लोक माना जाता है, जो "यमलोक" कहलाता है। हिंदुओं
का विश्वास है कि मनुष्य मरने पर स्वयं से पहले यमलोक
में जाता है और वहाँ यमराज के सामने उपस्थित किया
जाता है। वही उसके शुभ और अशुभ कृत्यों का विचार
करके उसे स्वर्ग या नरक में भेजते हैं। ये धर्मपूर्वक विचार
करते हैं, इसी लिये धर्मराज भी कहलाते हैं। यह भी माना
जाता है कि मृत्यु के समय यम के वृत्त ही आत्मा को लेने
के लिये आते हैं। स्मृतियों में चौदह यमों के नाम आए
हैं, जो इस प्रकार हैं—यम, धर्मराज, सृष्टि, अंतक, विधावत,
काल, सर्वभूतक्षय, उदुंबर, दध्न, नील, परमेष्ठी, बृषोत्तर,
चित्र और विश्वगुप्त। सर्पण में इनमें से प्रत्येक के नाम भी
तीन तीन अंकलि जल दिया जाता है। मार्कंडेय पुराण
में लिखा है कि जब विष्वक्कर्मा की कन्या संज्ञा ने अपने
पति सूर्य के देखकर भय से भाँटें बंद कर लीं, तब सूर्य
ने क्रोध होकर उसे शाप दिया कि जाओ, तुम्हें जो पुत्र
होगा, वह सब लोगों का संघमन करनेवाला (उनके प्राण
लेनेवाला) होगा। जब इस पर संज्ञा ने उनकी ओर
चंचल रहि से देखा, तब फिर उगहोने कहा कि तुम्हें जो
कन्या होगी, वह इसी प्रकार चंचलतापूर्वक नदी के रूप
में बहा करेगी। पुत्र तो यही यम हुए और कन्या यमी हुई,
जो बाद में यमुना के नाम से प्रसिद्ध हुई। कहा जाता है
कि यमी और यम दोनों यमज थे। यम का वाहन भैंसा
माना जाता है।

यय्या—पितृपति। कृतांत। शमन। काल। दंडपर।
आददेव। धर्म। जीवितेश। मतिपण्यज। मतिपराहन।
शीर्षपाद। हरि। धर्मकर।

(१) मन, इन्द्रिय आदि को पता या रोक में रखना। निद्रत।
(२) विषय को धर्म में स्थिर रखनेवाले वस्तु का साधन।

यिरोप—मनु के अनुसार शरीर-नाशन के साथ माय इनका
पालन नियम कर्तव्य है। मनु ने अहिंसा, सत्यवचन,
प्रत्यक्षव्यय, अकथ्यता और अमृत्यु के पाँच यम बड़े हैं।
पर पारस्कर गृह्यसूत्र में तथा और भी दो एक अधिक हैं।

है। जैसे, — (क) यदि ये न आए तो ? (ख) यदि आप कहें, तो मैं दे दूँ।

यदिच, यदिचेत्-मन्त्र्यं [सं०] यद्यपि । अगरचे ।

यदु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ययाति राजा का यदा पुत्र जो देव-यानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। महाभारत में लिखा है कि ययाति के शाप के कारण इनका राज्य नष्ट हो गया था; पर पीछे से इंद्र की कृपा से इन्हें फिर राज्य मिला था। शाप का कारण यह था कि ययाति ने बृद्ध होने पर इनसे कहा था कि तुम मेरा पाप और वृद्धावस्था ले लो, जिससे मैं फिर युवक हो जाऊँ। पर इसे इन्होंने स्वीकृत नहीं किया था। श्रीकृष्णचंद्र इन्होंने के वंश में हुए थे। (इस शब्द के साथ पति या राजा आदि का वाचक शब्द लगाने से श्रीकृष्ण का अर्थ होता है।) (२) पुराणानुसार हर्षदेव राजा के पुत्र का नाम।

यदुध-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक कृष्ण का नाम।

यदुनन्दन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यदुकुल को आनन्द देनेवाले, श्रीकृष्णचंद्र। (२) कृष्णचैतन्य के एक साथी भक्त।

यदुनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] यदुवंश के स्वामी, श्रीकृष्ण।

यदुपति-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुभूप-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुराज-संज्ञा पुं० [सं०] यदु + हिं० राज = राजा । श्रीकृष्ण।

यदुराज, यदुराट-संज्ञा पुं० [सं०] यदुकुल के राजा, श्रीकृष्ण।

यदुवंश-संज्ञा पुं० [सं०] राजा यदु का कुल। यदु का खानदान।

यदुवंशमणि-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्णचंद्र।

यदुवंशी-संज्ञा पुं० [सं०] यदुवंशिन। यदुकुल में उत्पन्न। यदुकुल के लोग। यादव।

यदुधर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुपीर-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुच्छया-किं वि० [सं०] (१) अकस्मात् । अचानक ।

(२) हृत्प्राक से। दिवसंयोग से। (३) मनमाने तौर पर। मन की मीज के अनुसार। बिना किस नियम या कारण के।

यदुच्छयामिश्र-संज्ञा पुं० [सं०] कृतसाक्षी के पाँच भेदों में से एक। यह साक्षी जो घटना के समय आप से आप या अकस्मात् आ गया हो।

यदुच्छा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केवल हृत्प्राक के अनुसार व्यक्-हार। स्वेच्छापरण। मनमाना-पन। (२) आकस्मिक संयोग। हृत्प्राक।

यदातदा-मन्त्र्यं [सं०] कभी कभी।

यम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साथ उत्पन्न वस्तुओं का जोड़। यमज। (२) भारतीय भाष्यों के एक प्रसिद्ध देवता जो

दक्षिण दिशा के दिक्पाल बड़े जाते हैं और आजकल सृष्टि के देवता माने जाते हैं।

विशेष—वैदिक काल में यम और यमी दोनों देवता, कृषि और मंत्रकर्ता माने जाते थे और “यम” को लोग “सृष्टि” से भिन्न मानते थे। पर पीछे से यम ही प्राणियों को मारनेवाले अथवा इस ज़मीन में से प्राण निकालनेवाले माने जाने लगे। वैदिक काल में यमों में यम की भी पूजा होती थी और उन्हें हवि दिया जाता था। उन दिनों ये मृत पितरों के अधिपति तथा मरनेवाले लोगों की भाग्य देनेवाले माने जाते थे। तब से अब तक इनका एक अलग लोक माना जाता है, जो “यमलोक” कहलाता है। हिंदुओं का विश्वास है कि मनुष्य मरने पर सब से पहले यमलोक में जाता है और वहाँ यमराज के सामने उपस्थित किया जाता है। वही उसके गुण और अगुण कृत्यों का विचार करके उसे स्वर्ग या नरक में भेजते हैं। ये धर्मपूर्वक विचार करते हैं, इसी लिये धर्मराज भी कहाते हैं। यह भी माना जाता है कि सृष्टि के समय यम के वृत्त ही आत्मा को लेने के लिये आते हैं। सृष्टियों में चौदह यमों के नाम आए हैं, जो इस प्रकार हैं—यम, धर्मराज, सृष्टि, अंतक, विधवत, काल, सर्वभूतक्षय, उदुंबर, दम, नील, परमेष्ठी, वृषोदर, चित्र और चित्रगुप्त। तर्पण में इनमें से प्रत्येक के नाम भी तीन तीन अंजलि जल दिया जाता है। मार्कंडेय पुराण में लिखा है कि जब विश्वकर्मा की कन्या संज्ञा ने अपने पति सूर्य को देखकर भय से आँतें बंद कर लीं, तब सूर्य ने क्रोध होकर उसे शाप दिया कि जामो, तुम्हें जो पुत्र होगा, वह सब लोगों का संघमन करनेवाला (उनके प्राण लेनेवाला) होगा। जब इस पर संज्ञा ने उनकी ओर बचल दृष्टि से देखा, तब फिर उन्होंने कहा कि तुम्हें जो कन्या होगी, वह इसी प्रकार बचलतापूर्वक नदी के रूप में बहा करेगी। पुत्र तो यही यम हुए और कन्या यमी हुई, जो बाद में यमुना के नाम से प्रसिद्ध हुई। कहा जाता है कि यमी और यम दोनों यमज थे। यम का वाहन भीता माना जाता है।

पय्यां—पिपति। कृतार्थ। शमन। बाल। दंतधर। आदित्य। धर्म। जितितेज। मदिपपन। मदिपराजम। धीर्गपाद। हरि। धर्मवर।

(३) मन, इन्द्रिय आदि को बंध या रोक में रखना। निद्रा।

(४) पिच को धर्म में स्थिर रखनेवाले वस्तु का साधन।

विशेष—मनु के अनुसार शरीर-साधन के साथ साथ इसका पालन नियंत्रण कार्य है। मनु ने अहिंसा, अयशस्व, ब्रह्मचर्य, अस्त्रना और अनेक ये पंच यम बड़े हैं। पर पारस्कर श्रुतपुत्र में तथा और; भी दो एक धर्मों में।

हमरी मंग्या इस बही गई है और नाम इस प्रकार दिष्ट
गए हैं—मङ्गलार्थ, दया, क्षान्ति, पान, सत्य, अङ्गलना,
अङ्गना, अङ्गद, माण्ड्य और यम । 'यम' योग के आठ
भागों में से पहला भाग है । वि० दे० "योग" ।

(५) कौशा । (६) क्षान्ति । (७) निष्पु । (८) वायु ।
(९) यमज । जोड़े । (१०) दो बी संख्या । (११) वायु ।
(१२)

यमक-छा पु० [सं०] (१) एक प्रकार का शास्त्राचार या
पुनरास जिसमें एक ही शब्द कई बार आता है; पर हर
बार उसके अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं उ०—कनक कनक
में खौमुखी मादकता अधिकार । (२) एक वृत्त का नाम,
जिसके प्रत्येक चरण में एक नगन और दो खण्ड मात्राएँ
होती हैं । (३) सेना का एक प्रकार का प्युट या जमाव ।
(४) वे दो शब्द जो एक साथ ही उच्चार्य हुए हों ।
यमज । जोड़े । (५) संयम ।

यमकान्त, यमकान्तर-छा पु० [सं० यम+हि० कान्त] (१)
यम का सुता या गोहा । (२) एक प्रकार की लक्षणा ।
उ०—(क) यमकान्त कान्ति सब भवों । त्रिद लेह
जगत् स्वर्ग अस्वर्ग ।—जायसी । (ख) होय हनुमन यम-
कान्त धाऊँ । आन स्वामि मकर सिर नाऊँ ।—जायसी ।

यमकौट-छा पु० [सं०] कौटुम्ब ।

यमकौट-छा पु० [सं०] (१) एक वृत्त योग जो रविवार के दिन
मया या पूर्वाषाढा, सोमवार के दिन पुष्य या श्रेश्ठा,
मंगलवार को मृगशिरा, बुधवार का अधिनी, गुरुवार
को हस्त या आश्लेष्ठा, शुक्रवार को पूर्वाषाढा, रविवार या
उत्तराषाढा, शुक्र को स्वाति या रोहिणी, और शनिवार
को शतभिषा या श्रवण अक्षय होने पर होता है । इस
योग में शुभ काम लगते हैं । (२) दीपावली का दूसरा
दिन । कार्तिक शुद्ध प्रतिपदा ।

यमकान्त-छा पु० [सं०] यमकान्त का शब्द ।

यमक-छा पु० [सं०] (१) एक गान से एक ही समय में और
एक साथ उच्चार्य होनेवाली दो संगीत । एक साथ जम्ब
लेनेवाले दो बच्चों का जोड़ा । औषधी । (२) देवता घोड़ा
जिसका एक ओर का कर्ण होन और दुबल हो और दूसरी
ओर का बही भंग टाँक हो । यह दोष माना जाता है ।
(३) अधिपुत्रता ।

यमकान्त-छा पु० दे० "यमक" ।

यमकान्त-छा पु० दे० "यमकान्त" ।

यमकान्त-छा पु० [सं०] यमक को जीवनेवाले, गुणवत् ।

यमकान्त-छा पु० [सं०] यम का साथ या संग ।

यमकान्त-छा पु० [सं०] यमकान्त का छोटा । कान्तक ।

यमकान्त-छा पु० [सं०] कान्त के अनुसार कर्तव्य, कर्तव्य ।

और अगहन के लगभग का कुछ विविध कारण, जिसमें
रोग और शत्रु आदि का विरोध भय रहता है और जिसमें
अप्य मोहन तथा विरोध संयम आदि का विधान है ।
कुछ लोगों के मत से यह समय कार्तिक के अंतिम भाग
दिनों और अगहन के आरंभिक भाग दिनों का है, और
कुछ लोगों के मत से आश्विन के अंतिम भाग दिन और
प्राकार्तिक भाग इसके अंतर्गत है ।

यमदक्षि-छा पु० [सं०] एक क्षत्रि जो पाशुराम के पिता थे ।
वि० दे० "जमदग्नि" ।

यमदुतिया-छा पु० दे० "यमदुतिगा" ।

यमदुतिका-छा पु० [सं०] (१) कौशा । (२) यम के दूत ।

यमदुतिका-छा पु० [सं०] इसली ।

यमदुवता-छा पु० [सं०] भरणी मन्थन, जिसके देवता यम
माने जाते हैं ।

यमदुम-छा पु० [सं०] सेमर का वेद । शास्त्रि द्वारा ।
(इसका यह नाम इसलिये है कि इसमें पूछ तो बड़े
मुंदर देव पढ़ते हैं, परंतु उनसे कोई खाने खाकर पल नहीं
उत्पन्न होता) ।

यमद्वितीया-छा पु० [सं०] कार्तिक शुद्ध द्वितीया । बहते हैं
कि इस दिन यमराज ने अपनी बहन यमुना के यहाँ
भोजन किया था । इसी लिये इस दिन बहन के यहाँ भोजन
करना और उसे कुछ देना मंगलकारक और आयुवर्धक
माना जाता है । मारु वृज ।

यमपार-छा पु० [सं०] देवी लक्ष्मी या कदाही आदि जिसके
होमों को पार हो ।

यमन-छा पु० [सं०] (१) मनिष्य या मित्र बनना । निवृत्ति
बनना । (२) बंधन । बंधन । (३) निगम देना ।
उदराना । (४) रोचना । रोद करना । (५) यमराज ।

छा पु० दे० "यमन" ।

यमनकल्पान-छा पु० दे० "यमन" ।

यमनकान्त-छा पु० [सं०] भरणी मन्थन, जिसके देवता यम माने
जाते हैं ।

यमनाह-छा पु० [सं०] यमन, या यमनार । यमों के स्वामी,
यमराज । उ०—बह नारद हम कीर्ति बारा । जेद से
मानि जाय यमनारा ।—निश्चय ।

यमनिषा-छा पु० दे० "यमनिषा" ।

यमनी-छा पु० [सं०] यमन देवता । एक प्रकार का बहुत बड़ा वृक्ष
जिसकी गन्ध सबों में होती है । (यह वृक्ष भय के
यमन देव से आता है ।)

यमपुर-छा पु० [सं०] यम के रहने का स्थान, जिसके निवास में
बह आता जाता है कि माने पर यम के दूत देवता को

पहले यहाँ ले जाते हैं और सय उसे धर्मपुर में पहुँचाते हैं ।

यमलोक ।

मुद्दा—यमपुर पहुँचाना = मार डालना । प्राण से लेना ।

यमपुरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] यमलोक । यमपुर ।

यमपुरष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज । (२) यम के दूत ।

यमप्रस्थ—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर जो कुक्षेत्र के दक्षिण में था । कहते हैं कि यहाँ के निवासी यम के उपासक थे । शंकराचार्य ने यहाँ जाकर निवासियों को दीव्य धनया था ।

यमप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] वट वृक्ष । यह का पेड़ ।

यमभगिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना नदी ।

यमयन—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

यमया—संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष के अनुसार एक प्रकार का नक्षत्र योग ।

यमयातना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यम के दूतों की दी हुई पीड़ा । नरक की पीड़ा । (२) मृत्यु के समय की पीड़ा ।

यमरथ—संज्ञा पुं० [सं०] मैसा ।

यमराज—संज्ञा पुं० [सं०] यमों के राजा धर्मराज, जो मरने के पीछे प्राणी के कर्मों का विचार करके उसे दंड या उत्तम फल देते हैं ।

यमराज्य, यमराष्ट्र—संज्ञा पुं० [सं०] यमलोक ।

यमल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) युग्म । जोड़ा । (२) दो लड़के जो एक साथ ही पैदा हुए हों । यमज ।

यमलच्छुद—संज्ञा पुं० [सं०] कचनार ।

यमलपत्रक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनैर । (२) अमरमत्तक ।

यमलसु—संज्ञा स्त्री० [सं०] यह भी जिसके दो बच्चे एक साथ उत्पन्न हुए हों ।

यमला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का हिका या हिचकी का रोग, जिसमें थोड़ी थोड़ी देर पर दो दो हिचकियाँ एक साथ आती हैं और फिर तथा गरदन काँपने लगती है । (२) एक प्राचीन नदी का नाम । (३) ताँतियों की एक देवी ।

यमलाह्वन—संज्ञा पुं० [सं०] गोबुल के दो अर्धन वृक्ष जो पुराणानुसार कुवेर के पुत्र नलकूबर और मणिप्रवीण थे । वे दोनों एक बार मय पीकर मत्त हो रहे थे और नंगे होकर नदी में खियों के साथ मीढ़ा कर रहे थे । इसी पर नाद करि ने इन्हें शाप दिया, जिससे ये पेड़ हो गए थे । श्रीहनु ने उस समय इनका उद्धार किया था, जब वे पत्तोदा द्वारा बंधे गए थे ।

यमली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक में मिली हुई दो पीतों । जोड़ी । (२) शियों का पापरा और चोली ।

यमलोक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लोक जहाँ मरने के उपरांत मनुष्य जाते हैं । यमपुरी ।

मुद्दा—यमलोक भेजना या पहुँचाना = मार डालना । प्राण लेना ।

(२) नरक ।

यमवाहन—संज्ञा पुं० [सं०] मैसा ।

यमव्रत—संज्ञा पुं० [सं०] राजा का धर्म जिसके अनुसार उसे यमराज की भाँति निष्पक्ष होकर सय को दंड देना चाहिए । राजा का दंड-नियम ।

यमसदन—संज्ञा पुं० [सं०] यमपुर ।

यमसु—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य ।

संज्ञा स्त्री० जिसके एक ही गर्भ से एक साथ दो संतानें हों ।

यमसूर्य—संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा घर जिसके पश्चिम उत्तर में शाला हो ।

यमस्तोम—संज्ञा पुं० [सं०] एक दिन में होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ ।

यमहंता—संज्ञा पुं० [सं०] यमहंत । काल का नाश करनेवाला ।

यमांतक—संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

यमातिरात्र—संज्ञा पुं० [सं०] ३९ दिनों में होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ ।

यमादित्य—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य का एक रूप ।

यमानिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवायन ।

यमानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवायन ।

यमानुजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] यमराज की छोटी बहन, यमुना ।

यमारि—संज्ञा पुं० [सं०] विष्यु ।

यमालय—संज्ञा पुं० [सं०] यम का घर, यमपुर ।

यमिक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम ।

यमी—संज्ञा स्त्री० [सं०] यम की बहन, जो पीछे यमुना नदी होकर बही । यमुना नदी ।

संज्ञा पुं० [सं०] यमिन् । संयम करनेवाला मनुष्य । संयमी ।

यमुंड—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम ।

यमुना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) यम की बहन यमी, जो सूर्य के वीर्य से संज्ञा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी, और जो संज्ञा की सूर्य द्वारा मिले हुए वाप के कारण पीछे से नदी हो गई थी । (३) उत्तर भारत की एक प्रसिद्ध बड़ी नदी जो हिमालय के यमुनोत्तरी नामक स्थान से निरालकर प्रयाग में गंगा में मिलती है । यह ८९० मील लंबी है और दिल्ली, आगरा, मथुरा आदि नगर इसके किनारे बसे हुए हैं । हिंदू इसे बहुत पवित्र नदी और यम की बहन यमी का स्वरूप मानते हैं ।

यमुनामिद—संज्ञा पुं० [सं०] हनु के भाई बलराम जिन्होंने अपने हल से यमुना के दो भाग किए थे ।

यमुनोत्तरी-छा. पुं० [छं०] हिमालय में गङ्गा के पास का एक पर्वत जिसमें यमुना नदी निहरी है।

यमेकवा-छा. स्त्री० [छं०] यदिपाल या बड़ी शक्ति को प्राचीन एक बाल में घड़ी लगी होने पर बजाई जाती थी।

यमेष्ट-छा. पुं० [छं०] भाली नक्षत्र।

यमेधर-छा. पुं० [छं०] गिर।

ययाति-छा. पुं० [छं०] राजा महर्षि के पुत्र जो चंद्र वंश के चौथे राजा थे और तिनका विवाह शुक्राचार्य की कन्या देवयानी के साथ हुआ था। इसको देवयानी के गर्भ से यदु और सुयमु नाम के दो तथा शर्मिष्ठा के गर्भ से हृष्ट, भृशु और पुष्ट नाम के तीन पुत्र हुए थे। (दे० "देवयानी") १) इनमें से यदु से यादव वंश और पुष्ट से पौर वंश का आरंभ हुआ। शर्मिष्ठा इन्हें विवाह के दहेज में मिली थी। शुक्राचार्य ने इन्हें बह दिया था कि शर्मिष्ठा के साथ संभोग न करना। पर जब शर्मिष्ठा ने अश्रुमती होने पर इनमें अशुभरा की प्रार्थना की, तब इन्होंने उसके साथ संभोग किया और उसे संतान हुई। इस पर शुक्राचार्य ने इन्हें शाप दिया कि तुम्हें सीमा सुपाषा का नापना। तब इन्होंने शुक्राचार्य की संभोग का काल यादगार, तब उन्होंने कहा कि यदि कोई पुत्रदाता सुपाषा ले लेगा, तो तुम फिर ज्यों के त्यों हो जाओगे। इन्होंने एक एक करके अपने चारों पुत्रों से कहा कि तुम हमारा सुपाषा लेकर अपना सीमा हमें दे दो, पर किसी ने स्वीकार नहीं किया। अंत में पुष्ट ने हुक्का पुत्रदाता भर ले लिया और अपनी जगनी इन्हें दे दी। पुनः सीमा मास करने इन्होंने एक सक्षम वर्ष तक विषय-गुण भोगा। अंत में पुष्ट की अगला राज्य देखर आर वन में जाकर उपवसा करने लगे और अंत में स्वर्ग चले गए। स्वर्ग पहुँचने पर भी एक बार वह इंद्र के द्वार से वहाँ से च्युत हुए थे, क्योंकि इन्होंने इंद्र से कहा था कि मैं ही तपसा करने की है, किसी और किसी ने नहीं की। जब वे स्वर्ग से च्युत हो रहे थे, तब अर्ध में इन्हें बहुत क्षमियों ने रोकर फिर से स्वर्ग भेजा था। इनका उल्लेख कर्णवेर में भी आया है।

ययातिपत्न-छा. पुं० [छं०] महाभारत के अनुसार एक सीध का नाम।

ययाय-छा. पुं० दे० "यायाय"।

ययी-छा. पुं० [छं०] (१) गिर। (२) घोड़ा। (३) माँ।

यय। राजा।

ययु-छा. पुं० [छं०] (१) अकनेष्ट पत्र का घोड़ा। (२) घोड़ा।

ययसीय, ययनाय-छा. पुं० [छं०] राजा। (दे०)

ययसी-छा. स्त्री० [छं०] ययसी। (दे०)

ययसी-छा. पुं० [छं०] राजा। (दे०)

ययसी-छा. पुं० [छं०] राजा। (दे०)

यय-छा. पुं० [छं०] (१) जी नामक भव। वि० दे० "जी"।

(१) १२ खरसों का एक जी की नील का एक मान।

(२) ययसी की एक माप जो एक हथ की एक मिर्दा होती है। (३) सामुद्रिक के अनुसार जी के मात्रा की एक प्रकार की रेखा जो रेखा में होती है और जो बहुत शुभ मानी जाती है। कहते हैं कि यदि वह रेखा भंगुटे में हो, तो उसका फल और भी शुभ होता है। इस रेखा का समर्थक के दहिने पैर के भंगुटे में होता जाता था।

(४) वेग। तेज़ी। (५) वह धनु जो शीर्ष और उल्लोच हो।

ययक-छा. पुं० [छं०] गीत पादक।

ययक-छा. पुं० [छं०] जी।

ययक-छा. पुं० [छं०] इन्द्रजी।

ययक-छा. पुं० [छं०] एक क्षत्रि का नाम जो भारद्वाज के पुत्र थे।

ययक-छा. स्त्री० [छं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम।

ययक-छा. पुं० [छं०] जी के पीछों को जराकर निहाया हुआ गार। वि० दे० "जयागार"।

ययक-छा. पुं० [छं०] देवता का पुत्र।

ययक-छा. पुं० [छं०] (१) ययक। (२) मृदु का बीजा।

(३) अत्रापात।

ययक-छा. पुं० [छं०] सीमा की नाम की लता।

ययक-छा. पुं० [छं०] जी के आकार की एक रेखा, जो शीर्ष में पड़ जाती है और जिससे वह रज कुश दृश्य हो जाता है।

ययक-छा. पुं० [छं०] वर्तमान जगत् द्वीप का प्राचीन नाम।

ययक-छा. पुं० [छं०] (१) वेग। तेज़ी। (२) तेज़ घोड़ा। (३) युवान देश का निवासी। युवानी।

ययक-छा. पुं० [छं०] "आपोनिषा" नामक जगत् का द्वीप, जिसका अन्तर्गत पहले पूर्वी देशों से बहुत अर्धक था। उसी के आधार पर भारतवर्षीय देश देश के निवासी को, और अनुप्राय भारत में युवानीयों के आने पर उन्हें भी, "ययक" करने से। ययक से इस राज्य का गर्व और भी बढ़ता हो गया और रोमक, ययणी अर्धक नाम वाली निदेशीय, निदेशीय अर्धक से आनेवाले निदेशीयों को लोग "ययक" ही करने लगे, और इस राज्य का अर्थोपना "ययक" ही करने लगे, और इस राज्य का अर्थोपना "ययक" के अर्थ में होने लगा। ययक महाभारत काल में ययक और ययक के दोनों निक निक आदिवासी मानी जाती थी।

पुराणों के अनुसार अन्यान्य स्लेच्छ जातियों (पारद, पट्टय आदि) के समान यवनों की उत्पत्ति भी वसिष्ठ और विश्वामित्र के श्रावण के समय वसिष्ठ की गाय के शरीर से हुई थी। गाय के 'योनि' देश से यवन उत्पन्न हुए थे।

(४) मुसलमान :- उ०—भूषण यों अपनी यवनी कई कोक कई सरजा सो हहरे। यूसव को प्रतिपालनहार बिचारे भतार न मार हमारे।—भूषण। (५) कालयवन नामक स्लेच्छ राजा जो कृष्ण से कई बार लड़ा था।

यवनप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] मिथं।

यवनाचार्य—संज्ञा पुं० [सं०] यवन जाति का एक उपोत्तिपाचार्य, जिसका उल्लेख यराहमिहिर आदि ने किया है। विद्वानों का अनुमान है कि यह संभवतः 'टालेमी' था।

यवनानी—वि० [सं०] यवन देश संबंधी। यूनान का।

संज्ञा स्त्री० (१) यूनान की भाषा। (२) यूनान की लिपि।

विशेष—यागिनि ने यवनानी लिपि का उल्लेख किया है।

यवनारि—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण, जिनकी कालयवन से कई लड़ाइयाँ हुई थीं।

यवनाल—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्वार का पौधा। (२) इस पौधे से उत्पन्न अन्न के दाने। ज्वार। (३) जो के डंठल जो खुराने पर चौपायों को लिलाए जाते हैं।

यवनालज—संज्ञा पुं० [सं०] यवहार। जवाहार।

यवनाभ्य—संज्ञा पुं० [सं०] मिथिला देश के एक प्राचीन राजा का नाम जो बहुलाभ का पिता था।

यवनिका—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनात। (२) नाटक का परदा। विशेष—प्राचीन काल में नाटक के परदे संभवतः यवन देश से आए हुए कपड़े से बनते थे; इसी लिये इनको यवनिका कहते थे।

यवनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] यवन की या यवन जाति की स्त्री।

यवनेष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सीसा। (२) मिथं। (३) लहसुन। (४) नीम। (५) प्याज। (६) शलजम। (७) गाजर।

यवफल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंदुजी। (२) कुटज। (३) प्याज। (४) जयमामी। (५) बरत। (६) हस्त कुत। पाक का पेड़।

यवपिंडु—संज्ञा पुं० [सं०] वह हीरा जिसमें बिंदु सहित यवरेखा हो। कहते हैं कि ऐसा हीरा पहनने से देह छूट जाता है।

यवमंड—संज्ञा पुं० [सं०] जो का मोड़ जो नर उर के शोभी को पप्प के रूप में दिया जाता है। धैर्य के अनुसार यह लघु, माहक और नुल तथा विद्रोह का गारा करनेवाला है।

—संज्ञा पुं० [सं०] जो का सख।

भी० [सं०] एक बर्ग हुए जिसके विराम चरनों जग होते और मन चरनों में जग,

रगण और एक गुरु होता है। जैसे,—त्यागि दे सवे खु है असत्य काम। सुधार जन्म आपनो, न भूल राम।

यवमध्य—संज्ञा पुं० [सं०] जो का बनाया हुआ मद्य। जो का शराय।

यवमध्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का चांद्रायण ग्रह। (२) पाँच दिनों में समाप्त होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ।

यवलक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पक्षी जिसका मोस शुश्रुत के अनुसार, मधुर, लघु, शीतल और कसिल होता है।

यवलास—संज्ञा पुं० [सं०] जवाहार।

यवचर्याम—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का ज्वररोग कीटा।

यवशाक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग जो धैर्य के अनुसार मधुर, रुखा, शीतवीर्य और मलमेदक माना जाता है।

यवशाक—संज्ञा पुं० [सं०] जवाहार।

यवशास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का शास्त्र जो धैर्यास के शुद्ध पक्ष में कुछ विविष्ट दिनों और योगों में और विपुल संक्रांति अथवा अश्वयुतीया के दिन होता है और जिसमें केवल जी के आदे का व्यवहार होता है।

यवस—संज्ञा पुं० [सं०] मूला।

यवसुर—संज्ञा पुं० [सं०] जी की शराय।

यवाग्न—संज्ञा पुं० [सं०] जो या चावल का वह मोड़ जो सदाक कुछ खाद्य कर दिया गया हो; अर्थात् जिसमें कुछ जमीन भ गया हो। मोड़ की कमी।

विशेष—इसका व्यवहार धैर्य में पप्प के लिये होता है और यह माहक, बलकर तथा याननास माना जाता है।

यवाग्र—संज्ञा पुं० [सं०] जी का मूला।

यवाग्रज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यवहार। (२) अजवायन यवान—वि० [सं०] वेगशर। तेज। क्षिप्र।

यवानिका, यवानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवायन।

यवास—संज्ञा पुं० [सं०] जो की बौती, जो धैर्य में यान और धैर्यमानास, रक्तार्द्रक, भेदक तथा रक्त-द्रोपनास माना जाती है।

यवाय—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बीदा जो जी की पतुल की हानि पहुँचाना है।

यवास—संज्ञा पुं० [सं०] जवाला नामक कौटिल्य श्रुत। जिसे 'जमासा'।

यविष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटा भार। (२) अग्नि। (३) कर्म के एक मंत्र के द्वारा करि का नाम जिसे अग्निपविष्ठ म करते हैं।

वि० [सं०] श्रुत से छोटा। बलिष्ठ।

जैसे, इसको, बाकों। (ख) पुरुषवाचक और निरुपवाचक सर्वनामों को छोड़कर शेष सर्वनामों की भाँति इसका प्रयोग भी प्रायः विशेषण के समान होता है। जब यह अकेला रहता है, तब तो सर्वनाम होता है; और जब इसके साथ कोई संज्ञा आती है, तब यह विशेषण हो जाता है। जैसे,—“यह बाहर जायगा” में “यह” सर्वनाम है; और “यह लड़का पाजी है” में “यह” विशेषण है।

यहाँ—कि० वि० [सं० रह] इस स्थान में। इस जगह पर।

यदि—सर्व० वि० [हि० यह] (१) ‘यह’ का वह रूप जो पुरानी हिन्दी में उसे कोई विभक्ति लगाने के पहले प्राप्त होता है। जैसे, यहि फों, यहि तें। (२) ‘य’ का विभक्तियुक्त रूप, जिसका व्यवहार पीछे कर्म और सम्बन्धन में ही प्रायः होने लगा। इसको।

यही—प्रत्य० [हि० यह + ही (प्रत्य०)] निश्चित रूप से यह। यह ही। उ०—यही गोप यह ग्वाल इहे सुख, यह छीला कहूँ तजत न साथ।—सूर।

यहूँ—संज्ञा पुं० [पुरानी] यह देश जहाँ हजरत ईसा पैदा हुए थे और जहाँ के निवासी यहूदी कहलाते हैं। यह देश एशिया की पश्चिमी सीमा पर है।

यहूदी—संज्ञा पुं० [हि० यहू] [खी० यहूदिन] (१) यहूद देश का निवासी। (२) आर्य्य जाति से भिन्न शामी जाति के अंतर्गत एक जाति।

यहूयहू—संज्ञा पुं० [देश०] कबूतर की एक जाति।

यौँ—कि० वि० दे० “यहाँ”। उ०—(क) यौँ मन्न भाव ही से जाना मेरे मन भाया है—प्रतापनारायण मिश्र। (ख) कदकता है क्यों हाथ बढाना। यौँ तपोवन में क्या होगा रहना।—प्रतापनारायण मिश्र।

याँचना—संज्ञा स्त्री० दे० “याचना”।

कि० सं० दे० “याचना”।

याँचा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मँगने की क्रिया। प्रार्थनापूर्वक मँगना।

या—प्रत्य० [हा०] विरूप-सूचक शब्द। अथवा। या। उ०—आप रहा है सीस नवाय। या प्रवाह ने दिया सुमय।—प्रतापनारायण मिश्र।

यौँ—वि० ‘यह’ का वह रूप जो उसे प्रथम भाषा में फाक चिह्न लगाने के पहले प्राप्त होता है। उ०—(क) या पीरहें प्रमत्त में हूँ है छंका दाह।—केशव। (ख) यही छात या याग में लपौ अणूष केलि।—मलिराम।

यं० स्त्री० [सं०] (१) योनि। (२) गति। घात। (३) रथ। गाड़ी। (४) अवरोध। रोक। वारण। (५) प्यान। (६) प्रति। काम।

याक—संज्ञा पुं० [तिब्बती श्याक, सं० गायक] हिमालय पर होनेवाला जंगली बिल जिसकी पूँछ का चोंच बनता है।

१-वि० दे० “एक”। उ०—(क) कोऊ याकौ यात न समुझै चाहै सीसन दौँय कहन।—प्रतापनारायण मिश्र।

(ख) डाढ़ी नाक याकू माँ मिलिगी, बिनु दाँतन मुँह अस पोपलान।—प्रतापनारायण मिश्र।

याकूत—संज्ञा पुं० [प्र०] एक प्रकार का लाल रंग का बहुमूल्य पत्थर। छाल।

याग—संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ। उ०—योग याग व्रत दान जो दीजै।—केशव।

यागसंतान—संज्ञा पुं० [सं०] ईद के पुत्र जयंत का एक नाम।

याचक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो माँगता हो। माँगनेवाला।

उ०—(क) चातक ज्यों कातक के मेव तें निराश होत, याचक ज्यों तजत आस रूपण के दान की।—हृदयराम।

(ख) जनि यौँहें प्रजपति उदार अति याचक फिरि न कहवै।—सूर। (ग) तोपि याचक सकल दादुर मयूर से।—केशव। (२) भिक्षुमंगा।

याचना—कि० सं० [सं० याचन] प्राप्त करने के लिये विनती करना। प्रार्थना करना। माँगना।

संज्ञा स्त्री० [सं०] माँगने की क्रिया।

याच्य—वि० [सं०] याचना करने के योग्य। माँगने के योग्य।

याज—संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करानेवाला। याजक।

याज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्रत। अन्नान। (२) एक प्राचीन ऋषि का नाम।

याजक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करानेवाला। (२) रागा का हाथी। (३) मल्ल हाथी।

याजन—संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ की क्रिया।

याजि—संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करनेवाला।

याजी—संज्ञा पुं० [सं० याजि] यज्ञ करनेवाला।

याज्ञप—वि० [सं०] [खी० याज्ञपे] यजुर्वेद संबंधी।

याज्ञपी अनुष्टुप—संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सप्त मिलिन्द आठ वर्ण होते हैं।

याज्ञपीउत्थिक—संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सप्त वर्ण होते हैं।

याज्ञपीगायत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें छ वर्ण होते हैं।

याज्ञपीजगती—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें बारह वर्ण होते हैं।

याज्ञपीत्रिष्टुप—संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें ग्यारह वर्ण होते हैं।

याज्ञोपक—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें दस वर्ण होते हैं।

पाठ्यपुस्तक-पंथा की० [६०] एक वैदिक संज्ञा जिसमें जो पन्ने होते हैं।

पाठ्य-पि० [६०] (१) पत्र बनाने योग्य। (२) जो पत्र में दिया या बढ़ाया जानेवाला हो। (३) (दस्तावेज) जो पत्र बनाने से प्राप्त हो।

पाठ्य-पि० [६०] पत्र संबंधी। पत्र का।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] एक प्रकार का साम।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] पुस्तक।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] (१) एक प्रसिद्ध कवि जो वैष्णवायन के सिद्ध थे। कहते हैं कि एक बार वैष्णवायन ने किसी काम से अग्रसर होकर इनके घर में रुक रुक में रुक रुक होने के योग्य नहीं हो। जमा जो कुछ मुझे पड़ा है, यह सब खीटा हो। इस पर पाठ्यपुस्तक ने अपनी सारी पत्ती दुर्लभ किया उपाय की, जिसे वैष्णवायन के पुत्रों के सिद्धों ने सीकर बनकर चुप लिया। इसी छिपे उनकी शासनाधीन का नाम सौचिपिप हुआ। पाठ्यपुस्तक ने अपने गुद का स्थान छोड़कर मूर्ख की उपासना की और मूर्ख के घर से वे कुछ पत्रों के पाठ्यपुस्तक की संविदा के आधार हुए। इनका दूसरा नाम पाठ्यपुस्तक भी था। (२) एक कवि जो राजा जनक के दरबार में रहते थे और जो योगीश्वर पाठ्यपुस्तक के नाम से प्रसिद्ध हैं। मीरेवी और गार्गी इन्हीं की पत्नियाँ थीं। (३) योगीश्वर पाठ्यपुस्तक के पंचपर एक रघुनिहार। मनुष्य के उरगत इन्हीं की रघुनि का महार है; और उमका हावमाग आज तक कानून माना जाता है।

पाठ्यपुस्तक-पंथा की० [६०] हीररी का एक नाम।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] (१) पत्र बनाने या करनेवाला। (२) गुप्तता और गोपनीय की एक जाति।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] (१) परिचित। बदला। (२) पारि-तंत्रिक। हुआ।

पाठ्यपुस्तक-पंथा की० [६०] (१) बहुत अधिक बढ़। लक्ष्मीक। पीढ़। उ०—कोर कोर वागमति कोर कोर माति।—केशव। (२) दंड की वह पीढ़ जो समलोक में भोगनी बनती है।

पाठ्यपुस्तक-पि० [६०] (दस्तावेज) जो पत्र होने के कारण पत्रों के योग्य हो।

पाठ्यपुस्तक-पंथा की० [६०] पत्र के भाई की की। जैसा की या वैसाही। उ०—साम नरेंद्र पाठ्यपुस्तक को भाई भीति गुणाय। अब भाई पर मन की सुधि भावे सुधि बात।—मनिराम। पाठ्यपुस्तक (१) जनेरता। (२) एक पत्रानेवाला। सातवीं। (३) एक कानूनवाला। कानून करनेवाला।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] पाठ्यपुस्तक। आज्ञा प्रदा। आज्ञा-पत्र।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] (१) मानेवाला। (२) राजा करनेवाला। पत्रिक। (३) साम। (४) काल। (५) पाप। हुआ। (६) पानना। बढ़। (७) हिंस। (८) मर।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] गुणक।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] सातव। उ०—परिभाषा दसव प्रवेष्टा पाठ्यपुस्तक। देवता अर्धेष्टा मृदेष्टा जिने प्रवेष्टा-केशव।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] पीछों का एक संयोजन।

पाठ्यपुस्तक-पंथा की० [६०] (१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया। सफर। (२) प्रवास। प्रवास। (३) हाँसने देवस्थानों को जाता। सीपान। (४) उपास। (५) पत्र-हार। (६) बंग देश में प्रचलित एक प्रकार का अभिनय, जिसमें मावना और गावरी की रहता है। यह प्रायः सात-छोटा के रंग का होता है।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] कान + पि० पाप (पाप)। यह भाष्य या पंथा जो सीपान करनेवालों की देव-दुर्जन करता हो। पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] (१) वाक् का प्रयोग। बर्षा करने का अभिप्राय या उद्देश्य। (२) यह जो जीवन प्राप्त करने के लिये उपयुक्त हो। (३) वाक्। पत्रिक। (४) वाक् की सामग्री। सफर का सामान। वि० (१) वाक् मर्चनी। वाक् का। (२) जो बहुत दिनों से बना जाता हो। रीति के अनुसार। प्रयोजन।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] पाप। (१) एक स्थान से दूसरे स्थान को जानेवाला। वाक् करनेवाला। गुणाधिक। (२) देव-दुर्जन या सीपान के लिये जानेवाला।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] पत्रानय होने का भाव। पत्रार्थ। सीक-पत्र।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] पत्रार्थ होने का भाव। पत्रार्थ।

पाठ्यपुस्तक-पंथा पु० [६०] (१) समुद्र। (२) बल।

पाठ्यपुस्तक-पंथा की० [६०] (१) चलन शक्ति। रघुनि। क्रि०—भारती पार की में प्रसंगा करता है। (२) चलन करने की क्रिया। क्रि०—भी भारती पार की का रहा था।

क्रि० प्र०—कान।—रिपणा।—पदना।—रचना।—रचना।—रचना।

क्रि० पु० [६०] कान। मरको, मगर भारी जन्म।

पाठ्यपुस्तक-पंथा की० [६०] वह पत्रार्थ जो किसी की रघुनि के रूप में हो। रघुनि-पत्र। पत्रार्थ।

पाठ्यपुस्तक-पंथा की० [६०] (१) चलन शक्ति। रघुनि। क्रि०—भारती पारकरा बहुत अच्छी है। (२) किसी करने के कारणों से किया हुआ कान। कान होने के लिये किसी हुई कोई कान।

यादघ-छंदा पुं० [सं०] [श्री० वादवी] (१) यदु के वंशज ।

(२) श्रीकृष्ण ।

वि० यदु संबंधी ।

यादघगिरि-छंदा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम ।

यादघी-छंदा श्री० [सं०] (१) यदुकुल की श्री । (२) दुर्गा ।

यादु-छंदा पुं० [सं०] (१) जल । पानी । (२) कोई तरल पदार्थ ।

यादृश-वि० [सं०] जिस प्रकार का । वैसा ।

याद्व-वि० [सं०] (१) यदुवंशी । (२) यदु संबंधी ।

याम-छंदा पुं० [सं०] (१) गाढ़ी, रस भोदि सवारी । घाहन ।

(२) विमान । आकाशयान । (३) तन्त्र पर चढ़ाई करना, जो राजाओं के छः गुणों में से एक कहा गया है । (४) गति ।

यानी, याने-अन्व० [सं०] तात्पर्य यह कि । मतलब यह कि । अर्थात् ।

यापन-छंदा पुं० [सं०] [वि० वापित, वाप्य] (१) चलाना ।

चलाना । (२) ध्यतित करना । चिताना । जैसे,—कालयापन ।

(३) निरसन । निबटाना । (४) परित्याग । छोड़ना । हटाना । (५) मिटाना ।

यापना-छंदा श्री० [सं०] (१) चलाना । हॉकना । (२)

कालक्षेप । दिन काटना । (३) वह धन जो किसी को जिविका-निर्वाह के लिये दिया जाय । (४) व्यवहार । धर्माव ।

यापनीय-वि० [सं०] यापन करने के योग्य । वाप्य ।

यासा-छंदा श्री० [सं०] जटा ।

याप्य-वि० [सं०] (१) निन्दनीय । निन्दित । (२) यापन करने के योग्य । यापनीय । क्षेपणीय । (३) छिपाने के योग्य । गोपनीय । आवरणीय । (४) रक्षा करने के योग्य । रक्षणीय ।

छंदा पुं० वैद्यक के अनुसार वह रोग जो साध्य न हो, पर चिकित्सा से प्राणघातक न होने पावे । ऐसा रोग जो अष्टा तो न हो, पर संयम द्वारा जिसका रोगी बहुत दिनों तक पला चले ।

यावू-छंदा पुं० [सं०] वह घोड़ा जो झील झील में बहुत बड़ा न हो । टट्ट ।

याम-छंदा पुं० [सं०] मैथुन ।

याम-छंदा पुं० [सं०] (१) तीन घंटे का समय । पहर । (२)

एक प्रकार के देवाण । इनका जन्म मार्कण्डेय पुराण के अनुसार स्वर्णयुग मनु के समय यज्ञ और दक्षिणा से हुआ था ।

ये संख्या में बारह हैं । (३) काल । समय ।

वि० यम संबंधी ।

छंदा श्री० [सं०] यमि । रान । उ०—दोऊ राजत दयामा दयाम । मज सुयनी मंडली यिराजत देखति सुरगन बाम ।

पन्थ पन्थ बुंदावन को सुख सुरपुर कहै बाम । यमि वृष-

भानु सुता धनि मोहन धनि गोपिन को काम । इनकी की दासी सरि होई धन्य नरद की याम । कैसेहु सूर जनम मज पावे यह सुख नहि तिहुं धाम ।—सूर ।

यामक-छंदा पुं० [सं०] पुनर्वसु नक्षत्र ।

यामकिनी-छंदा श्री० [सं०] (१) कुल वधू । कुल स्त्री । (२)

लड़के की स्त्री । पुत्र-वधू । (३) वहिन । मगिनी ।

यामघोष-छंदा पुं० [सं०] सुगंध ।

यामघोषा-छंदा श्री० [सं०] वह घंटा जो बीच बीच में समय की सूचना देने के लिये बजता हो । पड़ियाल ।

यामनाली-छंदा श्री० [सं०] समय बतलानेवाली घड़ी ।

यामनेमि-छंदा पुं० [सं०] इन्द्र ।

यामल-छंदा पुं० [सं०] (१) वे दो लड़के जो एक साथ उत्पन्न हुए हैं । यमज संतान । जोड़ा । (२) एक प्रकार का तंत्र ग्रंथ जिसमें सृष्टि, ज्योतिष, आयुष्य, नित्य कृत्य, क्रमसूत्र, वर्ण-भेद, जाति-भेद और युगधर्म का वर्णन होता है । ये ग्रंथ संख्या में छः हैं—आदि यामल, प्रह्ल यामल, विष्णु यामल, रुद्र यामल, गणेश यामल और आदित्य यामल ।

यामवती-छंदा श्री० [सं०] रात । निशा ।
यामाता-छंदा पुं० दे० “जमाता” ।
यामायन-छंदा पुं० [सं०] वह जो यम के गोत्र में उत्पन्न हुआ हो ।
यामार्द्ध-छंदा पुं० [सं०] पहर का आधा भाग ।

यामि-छंदा श्री० [सं०] (१) कुलवधू । कुल स्त्री । (२) वहिन । मगिनी । (३) यामिनी । रात । (४) अति पुराण के अनुसार धर्म की एक पर्याय का नाम । इससे नागधीर्य नामक कन्या उत्पन्न हुई थी । (५) पुत्री । कन्या । (६) पुत्रवधू । (७) दक्षिण दिशा ।

यामिक-छंदा पुं० [सं०] पहेरदार । पहरेआ । चौरीदार ।

यामिका-छंदा श्री० [सं०] रात ।

यामित्र-छंदा पुं० दे० “जामित्र” ।

यामित्रवेध-छंदा पुं० दे० “जामित्रवेध” ।

यामिन, यामिनि छ-छंदा श्री० दे० “यामिनी” ।

यामिनी-छंदा श्री० [सं०] (१) रात । (२) दम्पती । (३)

बन्धव की एक स्त्री का नाम ।

यामिनीचर-छंदा पुं० [सं०] (१) राक्षस । निशाचर । (२)

गुगुलु । (३) उल्ट पक्षी ।

यामीर-छंदा पुं० [सं०] बंदना ।

यामीरा-छंदा श्री० [सं०] रात ।

यामुंदायनि-छंदा पुं० [सं०] दामुंदायन के गोत्र में उत्पन्न भग्न्य ।

यामुन-वि० [सं०] यमुना नदी संबंधी । ईमे,—यामुन उट ।

यावर-वि० [सं०] सहायक । मददगार ।

यावरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यावर का भाव या धर्म । मित्रता । मैत्री ।

यावशुक-संज्ञा पुं० [सं०] यवश्वार । जवाश्वार ।

यावस-संज्ञा पुं० [सं०] पास, डंडल आदि का पूरा । जूरा । जौरा ।

यावास-संज्ञा पुं० [सं०] यावास से बनता हुआ मद्य । जवासे की शराब ।

याविक-संज्ञा पुं० [सं०] मक्का नामक अन्न ।

यावी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शंखिनी । (२) यवतिका नाम की कता ।

याष्टी-संज्ञा पुं० [सं०] छाठी बाँधनेवाला योद्धा । लठबंध । लठैत ।

यास-संज्ञा पुं० [सं०] छाल धमासा ।

यासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोयल । (२) मैना ।

यासु-सर्व० दे० "जासु" ।

यास्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यास्क ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष । (२) वैदिक निदक के रचयिता एक प्रसिद्ध ऋषि का नाम ।

यास्कायनि-संज्ञा पुं० [सं०] यास्क के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।

याहिष्ठा-सर्व० [हि० वा + हि] हसको । हसे । उ०—जो यह मेरी धैरी कहियत ताको नाम पढायो । देहु गिराय याहि पर्वत तैं क्षण गतजीव करायो ।—सूर ।

युंजान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सारथी । (२) विम । (३) दो प्रकृत के योगियों में से वह योगी जो अभ्यास कर रहा हो, पर मुक्त न हुआ हो । कहते हैं कि ऐसा योगी समाधि लगाकर सब बातें जान लेता है ।

युंजानक-संज्ञा पुं० [सं०] युंजान नामक योगी । दे० "युंजान" ।

युक्त-वि० [सं०] (१) एक साथ किया हुआ । जुड़ा हुआ । किसी के साथ मिला हुआ । (२) मिलित । सम्मिलित । (३) नियुक्त । मुकरंर । (४) आसक्त । (५) सहित । संयुक्त । साथ । (६) संपन्न । पूर्ण । (७) उचित । ठीक । याजिब । संगत । सुनासिब ।

युंघा पुं० (१) वह योगी जिसने योग का अभ्यास कर लिया हो । (ऐसे योगी को, जो ज्ञान-विज्ञान से परिणत, कष्ट, जितेंद्रिय हो और जो मिट्टी और सोने की तुल्य जानता हो, युक्त कहा गया है ।) (२) दैवत मनु के पुत्र का नाम । (३) चार हाथ का एक मान ।

युक्तरथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक औषध-योग जिसका प्रयोग यनिकरण में होता है । भावप्रकाश में रेंद की जड़ के काप, मधु, सेल, सेंधा नमक, बच और पिप्पली के योग को युक्तरथ कहा है ।

युक्तरसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंधराक्षा । गंधनाकुली । नाकुल कंद । (२) राक्षा । रासन ।

युक्तश्रेयसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंध राक्षा । नाकुली कंद ।

युक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्लावर्णी । (२) एक वृत्त का नाम जिसमें दो गण और एक मगण होता है ।

युक्तायस्-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक अन्न का नाम जो लोहे का होता था ।

युक्ताय-वि० [सं०] ज्ञानी ।

युक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उपाय । ढंग । तरकीब । (२) कौशल । चातुरी । (३) चाल । रीति । प्रथा । (४) न्याय । नीति । (५) अनुमान । अंदाजा । (६) उपपत्ति । हेतु । कारण । (७) तर्क । ऊहा । (८) उचित विचार । ठीक तर्क । जैसे,—युक्तियुक्त बात । (९) योग । मिलन । (१०) एक अलंकार का नाम, जिसमें अपने मर्म को छिपाने के लिये दूसरे को किसी क्रिया या युक्ति द्वारा व्यंजित करने का वर्णन होता है । उ०—लिखत रही पिप-चित्र तहँ भावत छलित सति आन । चतुर तिया तेहि कर लिखे फूलन के धनुषान । (११) केसव के अनुसार उक्ति का एक भेद जिसे स्वभाषोक्ति भी कहते हैं ।

युक्तिर-वि० [सं०] जो तर्क के अनुसार ठीक हो । उचित विचारपूर्ण । युक्ति-संगत । युक्तियुक्त ।

युक्तियुक्त-वि० [सं०] उपयुक्त तर्क के अनुसार । युक्ति-संगत । ठीक । याजिब । जैसे,—आपकी सभी बातें बहुत ही युक्ति-युक्त होती हैं ।

युगंधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्यूवर । हरत । (२) गाढ़ी का बम । (३) एक पर्वत का नाम । (४) हरिवंश के अनुसार वृष्णि के पुत्र और सात्यकि के पौत्र का नाम ।

युग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एकत्र दो वस्तुएँ । जोड़ा । युग्म । (२) जुभा । जुभादा । (३) फदि और बुद्धि नामक दो औषधियाँ । (४) पुराण । पुस्त । पीढ़ी । (५) पॉसे के खेल की वे गोल गोल गोदियाँ, जो बिसात पर चढ़ी जाती हैं । (६) पॉसे के खेल की वे दो गोदियाँ जो किसी प्रकार एक घर में साथ या पड़ती हैं । (७) पॉष वर्ष का वह काल जिसमें बृहस्पति एक राशि में स्थित रहता है । (८) समय । काल । जैसे,—युग युग । (९) पुराणानुसार काल का एक दीर्घ परिमाण । ये संख्या में चार माने गए हैं, जिनके नाम स्रगयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग हैं । दे० "स्रगयुग" आदि ।

मुहा०—**युग युग** = बहुत दिनों तक । अनंत काल तक । जैसे,—युग युग जीओ । **युगधर्म** = समय के अनुसार चलना या बदलना । वि० जो गिनती में दो हो

युगकीलक-संज्ञा पुं० [सं०] यह एकद्वी का रौंदा जो बम और लुप के मिले छेदों में डाला जाता है । मिला । मिला ।

हुए भाग से जोड़कर बाँधे रहते हैं । (६) मैत्री-करण ।

(७) संश्रय ।

युतवेध-संज्ञा पुं० [सं०] एक योग का नाम । यह योग उस समय होता है, जब चंद्रमा पाप-ग्रह से सातवें स्थान में होता है या पाप-ग्रह के साथ होता है । ऐसे योग के समय विवाहादि शुभ कर्मों का, फलित ज्योतिष में, निषेध है ।

युति-संज्ञा स्त्री० [सं०] योग । मिलन । मिलाप ।

युद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] लड़ाई । संग्राम । रण ।

विशेष—प्राचीन काल में युद्ध के लिये रथ, हाथी, घोड़े और पदाति ये चार सेना के प्रधान अंग थे और इसी कारण सेना को चतुरंगिणी कहते थे । इन चारों के संस्था-भेद के कारण पत्ति, गुप्त, गण आदि सेना के अनेक भेद और उनके सन्निवेश भेद से शूची, द्येन, मकरादि अनेक व्यूह थे । सैनिकों को शिक्षा संकेत ध्वनियों से दी जाती थी, जिसे सुनकर सैनिकगण सम्मिलन, प्रसरण, प्रव्रमण, आकुंचन, पान, प्रयाण, अपयान आदि अनेक चेष्टाएँ करते थे । संग्राम के दो भेद थे—एक द्वंद्व और दूसरा निर्द्वंद्व । जिस संग्राम में कृत्रिम या अकृत्रिम दुर्ग में रहकर शत्रु से युद्ध करते थे, उसे द्वंद्व युद्ध कहते थे । पर जब दुर्ग से बाहर होकर आमने सामने खुले मैदान में लड़ते थे, तब उसे निर्द्वंद्व युद्ध कहते थे । निर्द्वंद्व युद्ध में समवेत में रथ-युद्ध, विपम में हस्ति-युद्ध, मरु भूमि में अश्व-युद्ध, पर्व-तादि में पत्ति-युद्ध और जल में नौका-युद्ध किया जाता था । युद्ध के सामान्य नियम ये थे—(१) युद्ध उस अवस्था में किया जाता था, जब युद्ध से जीने की आशा और न युद्ध करने में नाश भूष हो । (२) राजा और युद्ध शास्त्र के मर्मज्ञ पंडितों को युद्ध-क्षेत्र में नहीं जाने देते थे । उनसे यथा समय युद्ध नीति का केवल परामर्श और मंत्र लिया जाता था । (३) रथहीन, अश्वहीन, गजहीन और शंखहीन पर प्रहार नहीं होता था । (४) बाल, वृद्ध, गुरुसक और अपाहत पर तथा शांति की पताका उठानेवाले के ऊपर शास्त्र नहीं चलाया जाता था । (५) भयभीत, धारणप्राप्त, युद्ध से विमुख और विगत पर भी आघात नहीं किया जाता था । (६) संग्राम में मारनेवाले को महाहत्यादि दोष नहीं लगते थे । (७) लड़ाई से भागनेवाला बड़ा पातकी माना जाता था । ऐसे पातकी की मुक्ति तब तक नहीं होती थी, जब तक कि वह फिर युद्ध में जाकर शूरता न दिखाए ।

यु० प्र०—उद्दिना ।—उद्दिना ।—उदना ।—मचना ।—मयाना ।

युद्धा०—युद्ध मर्दिना = लड़ाई उदना । उ०—कुँवर तन रथान मानों धाम है दूसरे सपन में देखि ऊला सुभाई ।

मित्ररेखा सकल जगत के नृपन की छिनिक में मुरति तक छिचि देखाई । निरखि यदुवंश को रहस मन में भयो देखि अनिरुद्ध युद्ध मॉछियो । सूर प्रभु उठी ज्यों भयो चाहै सो त्यों फौंसि करि कुँवर अनिरुद्ध बाँध्यो ।—सूर ।

युद्धप्राप्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जा संग्राम में पकड़ा गया हो । वह दास के चारह भेदों में से एक है और भवजात भी कहलाता है ।

युद्धमय-वि० [सं०] (१) युद्ध संबंधी । (२) रणमय । युद्ध-मय ।

युद्धमुष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] उग्रसेन के एक पुत्र का नाम ।

युद्धरंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कांतिकेय । स्कंद । (२) युद्ध-स्वल्प । रणभूमि । लड़ाई का मैदान ।

युद्धसार-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा ।

युद्धाचार्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो दूसरों को युद्ध विद्या की शिक्षा देता हो । युद्ध सिखलानेवाला ।

युद्धाजि-संज्ञा पुं० [सं०] अंगिरा के गोत्र में उत्पन्न एक ऋषि का नाम ।

युद्धोन्मत्त-वि० [सं०] (१) युद्ध में लीन । लड़ाका । (२) जो युद्ध के लिये उत्तापला हो रहा हो ।

संज्ञा पुं० रामायण के अनुसार एक राक्षस का नाम । इसका दूसरा नाम महोदर था । यह राजा का भाई था और इसे नील नामक पानर ने मारा था ।

युध-संज्ञा स्त्री० [सं०] युद्ध । लड़ाई ।

युधाधौष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

युधाजि-संज्ञा पुं० दे० “युद्धाजि” ।

युधाजित्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) केकयराग के पुत्र का नाम ।

वह भरत का मामा था । (२) कृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

(३) क्रोष्टु नामक राजा के पुत्र का नाम ।

युधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षत्रिय । (२) रिपु । शत्रु । दुश्मन ।

युधामन्यु-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम जो महाभारत युद्ध में पांडवों की ओर से लड़ा था ।

युधातर-संज्ञा पुं० [सं०] नंद राजा का एक नाम ।

युधिक-वि० [सं०] योद्धा ।

युधिष्ठिर-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच पांडवों में स्वयं मे बड़े का नाम जो कुंती से उत्पन्न धर्म के पुत्र थे और पांडु के क्षेत्रज्ञ पुत्र थे । ये सात्वता और धर्मराजन थे, पर इन्हें नृप की छत थी, जिसके कारण यह भरना राज्य, भार्यों और स्वयं अपने भाग्यो नृप में हार गए थे । महाभारत के संग्राम के अनंतर वे इजिनापुर के रामसिंहासन पर बैठे थे । महाभारत के अनुसार अपनी धर्मराजपत्नी के बालन ये हिमालय होकर सदैव स्वर्ग गए थे । ये भानन्त क्षत्र

युगति-०१-संज्ञा स्त्री० दे० "युक्ति" ।

युगप-संज्ञा पुं० [सं०] गंधर्व ।

युगपत्-संज्ञा [सं०] एक ही समय में । एक ही क्षण में साथ साथ । जैसे,—मन की दो क्रियाएँ युगपत् नहीं हो सकती ।

युगपद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोविदार । कचनार । (२) वह वृक्ष जिसमें दो दो पत्तियाँ सामने-सामने निकलती हैं । युगपर्ण । युगप-पत्र । (३) पहाड़ी आवनूष ।

युगपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] शीतल का पेड़ ।

युगवाह-वि० [सं०] जिसके हाथ बहुत छंभे हों । दीर्घबाहु ।

युगमल-संज्ञा पुं० दे० "युग्म" ।

युगल-संज्ञा पुं० [सं०] वे जो एक साथ दो हों । युग्म । जोड़ा । जैसे,—युगल छवि ।

युगलक-संज्ञा पुं० [सं०] यह कुलक (गद) जिसमें दो श्लोकों का पद्यों का एक साथ मिलकर अन्वय हो ।

युगलाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] वज्र का पेड़ ।

युगति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रलय । (२) युग का अंतिम समय ।

युगांतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रलय काल । (२) प्रलय ।

युगांतर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरा युग । (२) दूसरा समय । और ज़माना ।

मुद्रा—युगांतर उपस्थित करना = समय पतल देना । किसी पुरानी प्रथा को हटाकर उसके स्थान पर नई प्रथा (या उसका समर्थ) लाना ।

युगांशक-संज्ञा पुं० [सं०] वस्त्र । वर्ष ।

वि० युग का विभाजक ।

युगादिगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिषार ।

युगादि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छवि का प्रारंभ ।

वि० युग के आरंभ का । पुराना ।

संज्ञा स्त्री० दे० "युगाद्या" ।

युगादिहृत्-संज्ञा पुं० [सं०] तिथि ।

युगाद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] यह तिथि जिससे युग का आरंभ हुआ हो । संवत्सर में ऐसी तिथियाँ चार हैं, जिनमें से प्रत्येक से एक एक युग का आरंभ माना जाता है । ये श्रेष्ठ और शुभ मानी जाती हैं, और इस प्रकार हैं—(१) वैशाख-शुक्ल तृतीया, सायण्य के आरंभ की तिथि; (२) कार्तिक-शुक्ल अश्वी, प्रेतायुग के आरंभ की तिथि; (३) भाद्र-पूज्य प्रथोदशी, द्वापर के आरंभ की तिथि; और (४) पूष की अमा-वस्या, कलियुग के आरंभ की तिथि ।

युगेय-संज्ञा पुं० [सं०] शूरस्वर्ण के सात वर्ष के तानि-चक्र में गरि के अनुसार पाँच पाँच वर्ष के युगों के अधिपति ।

पिष्टेय—यह चक्र उस समय से प्रारंभ होता है, जब शूरस्वर्ण माय नाम में धमिष्ठा मन्त्र के प्रयोजन में उदय होगा है ।

शूरस्वर्ण के सात वर्ष के बाद में पाँच वर्ष के बाद युग

होते हैं, जिनके अधिपति विष्णु, सुरेय्य, यलभिन्, अति खट्टा, उत्तर भोष्टपद, पिशुण्ण, विष, सोम, रात्रनिम अग्नि और अग हैं । प्रत्येक युग के पाँच वर्षों के युग क्रमदा संवत्सर परियत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इदवत्सर कहलाते हैं ।

युगोरस्य-संज्ञा पुं० [सं०] सेना के सन्निवेश का एक भेद ।

युग्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जोड़ा । युग । (२) अन्योन्याश्रित दो वस्तुएँ या बातें । इन्द्र । (३) मिथुन राशि । (४) कुलक का एक भेद जिसे युगलक भी कहते हैं । वि० दे० "युगलक" ।

युग्मकटका-संज्ञा स्त्री० [सं०] डेर ।

युग्मक-संज्ञा पुं० [सं०] युगलक । युग्म । जोड़ा ।

युग्मज-संज्ञा पुं० [सं०] एक साथ जन्मल दो बच्चे । यमल । यमज ।

युग्मधर्मा-वि० [सं० युग्मधर्म] (१) जो स्वभावतः मिलता हो । मिलनशील । (२) मिथुनधर्मा ।

युग्मपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कचनार का पेड़ । (२) भोजपत्र का पेड़ । (३) सतिवन । छविपन । (४) वह पेड़ जिसकी शाखा में दो दो वृत्त एक साथ होते हों । युगपर्ण ।

युग्मपर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छाल कचनार । (२) सतिवन । छतिवन । (३) दे० "युग्मपत्र" ।

युग्मपण्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्विकाशी ।

युग्मफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्विकाशी ।

युग्मफलितनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] हृषिया । बुद्धी । गुदती ।

युग्मांजन-संज्ञा पुं० [सं०] श्रोतोजन और सौरीरोजन इन दोनों का समूह ।

युग्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह गाड़ी जिसमें दो घोड़े या बैल जोड़े जाते हों । जोड़ी । (२) वे दो वस्तु जो एक साथ गयी में जोते जाते हों । जोड़ी ।

वि० (१) जो जोता जाने के योग्य हो । (२) जो जोता जानेवाला हो ।

युग्यवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जोड़ी हाँकनेवाला । (२) गाड़ी-वाह । सारथी ।

युज्य-वि० [सं०] (१) मिला हुआ । संयुक्त । (२) मिथाने योग्य ।

संज्ञा पुं० (१) संयोग । मिलान । (२) एक प्रकार का साम ।

युत-वि० [सं०] (१) युक्त । सहित । (२) जो भूला न हो । मिला हुआ । मिलित ।

संज्ञा पुं० चार हाथ की एक नाप ।

युतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संसाध । खेद । (२) युग । जोड़ा । (३) भंचल । दामन । (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का वस्त्र जो पहनने के काम में आता था । (५) मृत् के दोनों ओर के किनारे जो ऊपर उठे हुए होते हैं और पीछे के उठे

हुए भाग से जोड़कर बाँधे रहते हैं । (६) मैत्री-करण ।

(७) संश्रय ।

युतयेव-संज्ञा पुं० [सं०] एक योग का नाम । यह योग उस समय होता है, जब चंद्रमा पाप-ग्रह से सातवें स्थान में होता है या पाप-ग्रह के साथ होता है । ऐसे योग के समय विवाहादि शुभ कर्मों का, फलित ज्योतिष में, निषेध है ।

युति-संज्ञा स्त्री० [सं०] योग । मिलन । मिलाप ।

युद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] लड़ाई । संग्राम । रण ।

विशेष—प्राचीन काल में युद्ध के लिये रथ, हाथी, घोड़े और पदाति ये चार सेना के प्रधान अंग थे और इसी कारण सेना को चतुरंगिणी कहते थे । इन चारों के संख्या-भेद के कारण पक्षि, गुल्म, गण आदि सेना के अनेक भेद और उनके सन्निवेश भेद से द्यूची, श्वेन, मकरादि अनेक व्यूह थे । सैनिकों को शिक्षा संकेत ध्वनियों से दी जाती थी, जिसे सुनकर सैनिकगण सम्मिलन, प्रसरण, प्रक्रमण, आकुंचन, वान, प्रयाण, अपयान आदि अनेक चेष्टाएँ करते थे । संग्राम के दो भेद थे—एक द्वंद्व और दूसरा निर्द्वंद्व । जिस संग्राम में कृत्रिम या अकृत्रिम दुर्ग में रहकर शत्रु से युद्ध करते थे, उसे द्वंद्व युद्ध कहते थे । पर जब दुर्ग से बाहर होकर आमने सामने खुले मैदान में लड़ते थे, तब उसे निर्द्वंद्व युद्ध कहते थे । निर्द्वंद्व युद्ध में समवेश में रथ-युद्ध, विपम में हस्ति-युद्ध, मरु भूमि में अश्व-युद्ध, पर्व-तादि में पक्षि-युद्ध और जल में नौका-युद्ध किया जाता था । युद्ध के सामान्य नियम ये थे—(१) युद्ध उस अवस्था में किया जाता था, जब युद्ध से जीने की आशा और न युद्ध करने में नाश भ्रूय हो । (२) राजा और युद्ध शास्त्र के मर्मज्ञ पंडितों को युद्ध-क्षेत्र में नहीं जाने देते थे । उनसे यथा समय युद्ध नीति का केवल परामर्श और मंत्र लिखा जाता था । (३) रथहीन, अश्वहीन, गजहीन और शंखहीन पर प्रहार नहीं होता था । (४) बाल, वृद्ध, नवसक और अग्नाहत पर तथा शांति की पताका डहानेवाले के ऊपर राजाघ नहीं चलाया जाता था । (५) भयभीत, शरणमाप्त, युद्ध से विमुक्त और विगत पर भी आघात नहीं किया जाता था । (६) संग्राम में मारनेवाले को ब्रह्महत्यादि दोष नहीं लगते थे । (७) लड़ाई से माननेवाला बड़ा पातकी माना जाता था । ऐसे पातकी की शुद्धि तब तक नहीं होती थी, जब तक कि वह फिर युद्ध में जाकर शत्रुता न दिखलाये ।

फि० प्र०—छिद्रता ।—छेदना ।—ऊनना ।—मचना ।—मचाना ।

मुद्रा०—युद्ध मोहना=मगरा खनना । उ०—कुंभर तन यथाम मानों काम है दूसरों सपन में देखि ऊरुता सुभाई ।

मित्ररेखा सकल जगत के नृपन की छिनिक में मुरति तक लिखि देखाई । निरस्ति यदुवंश को रहस मन में भयो देखि अनिरुद्ध युद्ध माँख्यो । सूर प्रभु उठी ज्यों भयो चाहै सो त्यों फाँसि करि कुँभर अनिरुद्ध बाँध्यो ।—सूर ।

युद्धप्राप्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जो संग्राम में पकड़ा गया हो । यह दास के वारह भेदों में से एक है और ध्वजाहत भी कहलाता है ।

युद्धमय-वि० [सं०] (१) युद्ध संबंधी । (२) रणप्रिय । युद्ध-प्रिय ।

युद्धमुष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] उग्रसेन के एक पुत्र का नाम ।

युद्धरंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय । स्कंद । (२) युद्ध-स्थल । रणभूमि । लड़ाई का मैदान ।

युद्धसार-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा ।

युद्धाचार्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो दूसरों को युद्ध विद्या की शिक्षा देता हो । युद्ध सिखलानेवाला ।

युद्धाजि-संज्ञा पुं० [सं०] अंगिरा के गोत्र में उत्पन्न एक ऋषि का नाम ।

युद्धोन्मत्त-वि० [सं०] (१) युद्ध में लीन । लड़ाका । (२) जो युद्ध के लिये उतावला हो रहा हो ।

संज्ञा पु० रामायण के अनुसार एक राक्षस का नाम । इसका दूसरा नाम महोदर था । यह रावण का भाई था और इसे नील नामक यानर ने मारा था ।

युध्-संज्ञा स्त्री० [सं०] युद्ध । लड़ाई ।

युधांश्रीष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

युधाजि-संज्ञा पुं० दे० “युद्धाजि” ।

युधाजित्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) केकयराज के पुत्र का नाम ।

यह भरत का मामा था । (२) कृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

(३) क्रोष्टु नामक राजा के पुत्र का नाम ।

युधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षत्रिय । (२) तिरु । शत्रु । दुश्मन ।

युधामन्यु-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम जो महाभारत युद्ध में पांडवों की ओर से लड़ा था ।

युधासर-संज्ञा पुं० [सं०] नंद राजा का एक नाम ।

युधिक-वि० [सं०] घोड़ा ।

युधिष्ठिर-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच पांडवों में सब से बड़े का नाम जो कुंती से उत्पन्न धर्म के पुत्र थे और पांडु के क्षत्रिय पुत्र थे । ये सत्यवादी और धर्मपरायण थे, पर इन्हें गुरु की छत्र थी, जिसके कारण यह अपना राज्य, भार्य्य और स्वयं अपने आपसे गुरु में हार गए थे । महाभारत के संग्राम के अनंतर ये इम्लिनपुर के राजसिंहासन पर बैठे थे । महाभारत के अनुभार अपनी धर्मपरायणता के कारण ये हिमालय होकर सदैव स्वर्ग गए थे । ये आत्मान्त कर्ण

का पालन करते रहे । कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण ने इनसे यह अक्षय पात कहलानी चाही कि 'अक्षयामा मारा गया' । इस कथन से द्रोण की मृत्यु निश्चित थी । इन्होंने बहुत आगा पीछा किया; पर अंत में इन्हें इतना कहना पड़ा—“अक्षयामा मारा गया, न जाने हाथी या मनुष्य” । यह पिछला वाक्य इन्होंने कुछ धीरे से कहा था । इनके जीवन भर में सत्य के अपलप का केवल यही एक उदाहरण मिलता है ।

युत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संभ्रम । युद्ध । (२) घनुष । (३) बाण । (४) अक्ष बाण । (५) योद्धा । (६) शरम ।

युध्य-वि० [सं०] जिसके साथ युद्ध किया जा सके ।

युनिवर्सिटी-संज्ञा स्त्री० दे० “यूनिवर्सिटी” ।

युयु-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा ।

युयुक्त्वुर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा वाय ।

युयुत्तमान-वि० [सं०] (१) मिलन या संयोग चाहनेवाला ।

(२) ईश्वर में धीन होने की कामना रखनेवाला ।

युयुत्सा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युद्ध करने की इच्छा । लड़ने की इच्छा । (२) शत्रुता । विरोध ।

युयुत्सु-वि० [सं०] लड़ने की इच्छा रखनेवाला । जो लड़ना चाहता हो ।

संज्ञा पुं० धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम ।

युयुधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईंद्र । (२) क्षत्रिय । (३) योद्धा । (४) सात्यकी का एक नाम, जो कुरुक्षेत्र के युद्ध में पंडवों की ओर से लड़े थे ।

युरेशियन-संज्ञा पुं० [सं०] युरोप + एशिया । यह जिसके माना पिता में से कोई एक युरोप का और दूसरा एशिया का, विरोधतः भारतवर्ष का, निवासी हो ।

युरोप-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्वी गोलार्ध के तीन महाद्वीपों में से सब से छोटा महाद्वीप, जो एशिया के पश्चिम में काकेशस और यूराल पर्वतों के उस पार से आरंभ होता है । इसके उत्तर में आर्कटिक समुद्र, पश्चिम में पृथ्वीवर्तिक महासागर, दक्षिण में भूमध्य सागर और कृष्ण सागर तथा पूर्व में काकेशस और यूराल पर्वत पड़ता है । यह महाप्रदेश प्रायः २४०० मील चौड़ा और ३४०० मील लंबा है । एक प्रकार से यह एशिया का अंत और बहुत बड़ा प्रायः द्वीप ही है । प्रोसे, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, यूनान, स्पेन, इटली, यूनान आदि इसके प्रसिद्ध देश हैं ।

युरोपियन-वि० [सं०] युरोप का । युरोप संबंधी । जैसे,—युरोपियन सम्प्रदाय, युरोपियन साहित्य ।

संज्ञा पुं० युरोप महादेश के किसी देश का निवासी ।

युयु-संज्ञा [सं०] सोलह वर्ष से लेकर पैंतीस वर्ष तक की अवस्थावाला मनुष्य । जवान । युवा ।

युयुगंड-संज्ञा पुं० [सं०] मुहूर्ता ।

युवति, युवती-वि० स्त्री० [सं०] प्रासयौवना । जवान (स्त्री) ।

संज्ञा स्त्री० (१) जवान स्त्री । (२) प्रियंगु । (३) सोनभरी ।

(४) हल्दी ।

युवतीष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वर्ण मृष्टिका । सोनभरी ।

युवमान्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक सूर्यवंशी राजा का नाम जो प्रसेनजित का पुत्र था । प्रसिद्ध मोंघाला हसी का पुत्र था । (२) रामायण के अनुसार धुंधमार के पुत्र का नाम ।

युयु-वि० [सं०] जवान ।

युयुवर्द्ध-संज्ञा स्त्री० [हि०] युवराज । युवराज का पद ।

संज्ञा पुं० दे० “युवराज” ।

युयुवर्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] [यौ० युवराज] राजा का वह राज-कुमार जो उसके राज्य का उत्तराधिकारी हो । राजा का वह सब से बड़ा लड़का जिसे आगे चलकर राज्य मिलने-वाला हो ।

युयुवर्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] युवराज का भाव या धर्म । युवराज्य ।

युयुवर्द्ध-संज्ञा स्त्री० [सं०] युवराज + ई (अव्य०) । युवराज का पद । युवराज्य । उ०—निर्दिष्ट देखि दशरथ धृप राजी । देव विचारत है युवराजी ।—पद्मकर ।

युयु-वि० [सं०] युव । [यौ० युवती] जिसकी अवस्था सोलह से लेकर पैंतीस वर्ष तक के अंदर हो । जवान । यौवना-वस्था प्राप्त ।

युयुपिष्टिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुहूर्ता ।

यौ०—अव्य० दे० “यौ” ।

यू-संज्ञा स्त्री० [सं०] पकी हुई दाल का पानी । रस ।

यू-संज्ञा पुं० [सं०] जू नामक कीड़े जो बाल या कपड़ों में पड़ जाते हैं । डील । कीकर ।

यू-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का परिमाण जो एक वर्ष का आठवाँ भाग और एक लिखा का अठगुना होता है ।

(२) जू नाम का कीड़ा जो सिर के बालों में होता है ।

वि० दे० “जू” । (३) मृत्यु । (४) अजयापन । (५) मृत्यु ।

युयुधर-संज्ञा पुं० [सं०] पंजाब के एक प्राचीन नगर का नाम, जिसका वर्णन महाभारत में आया है । आजकल इसे “युयुधर” कहते हैं ।

यूत-संज्ञा पुं० [सं०] मिथुन । मिलाप । मेल । उ०—विधि विधि मीति रहसि रम रीति श्री राग रागिनी के पूत बाढ़े ।—मृदा । इतिहास ।

यूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिलाने की क्रिया । मिथुन । मेल ।

यूयु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ही जाति या वर्ग के अनेक जीवों

का समूह। छुंढ। गरोह। जैसे,—गजयूथ। (२) दल।

सेना। फौज।

यूथ-संज्ञा पुं० [सं०] चाक्षुष मन्वन्तर के एक प्रकार के देवता।

यूथनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यूथ का स्वामी। सरदार। (२)

सेनापति। सेनापक्ष। दलपति।

यूथप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सरदार। (२) सेनापति। (३)

जंगली हाथियों का सरदार।

यूथपति-संज्ञा पुं० [सं०] सेना-नायक। सेनापति।

यूथपाल-संज्ञा पुं० दे० "यूथपति"।

यूथिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही नाम का फूल और उसका

पौधा। उ०—सित भर पीत यूथिका येनी गूँधी विविध

बनाय। रच्यो भाल निज तिलक मनोहर अंजन नयन

सहाय।—सूर।

यूथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही का पौधा या फूल। यूथिका।

यूनक-संज्ञा पुं० [?] गरी की खली।

यूनारहेड-वि० [सं०] मिला हुआ। संयुक्त। जैसे,—यूनारहेड स्टेट्स (अमेरिका), यूनारहेड प्रायिसेज (संयुक्त-देश आंगरा व अथ)।

यूनान-संज्ञा पुं० [ग्रीक आयोनिया] एशिया के सब से अधिक पास पड़नेवाला युरोप का प्रदेश जो प्राचीन काल में अपनी सभ्यता, शिल्पकला, साहित्य, दर्शन इत्यादि के लिये जगत् में प्रसिद्ध था। आयोनिया द्वीप इसी देश के अंतर्गत था, जिसके निवासियों का आना जाना एशिया के शाम, फ्रांस आदि देशों में बहुत था; इसी से सारे देश की ही यूनान कहने लगे थे। भारतीयों का यवन शब्द यूनान देश-वासियों का ही सूचक है। सिकंदर इसी देश का बादशाह था।

यूनानी-वि० [यूनान + ई (प्रत्य०)] यूनान देश संबंधी। यूनान का।

संज्ञा स्त्री० (१) यूनान देश की भाषा। (२) यूनान देश का निवासी। (३) यूनान देश की चिकित्सा-प्रणाली। हकीमी।

विशेष—फ्रांस के प्राचीन बादशाह अपने वहाँ यूनान के चिकित्सक रखते थे, जिससे वहाँ की चिकित्सा-प्रणाली का प्रचार एशिया के पश्चिमी भाग में हुआ। इस प्रणाली में क्रमशः देवी चिकित्सा भी मिलती गई। आजकल जिसे यूनानी चिकित्सा कहते हैं, वह मिली जुली है। ग्रीकी लोगो के समय में भारतवर्ष से भी अनेक वैद्य बगदाद गए थे, जिससे बहुत से भारतीय प्रयोग भी वहाँ की चिकित्सा में शामिल हुए।

यूनियर्सिटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह संस्था जो लोगो को सब प्रकार की उच्च कोटि की शिक्षाएँ देती, उनकी परीक्षाएँ लेती और उन्हें उपाधियाँ आदि प्रदान करती है। ऐसी संस्था या तो राष्ट्रीय हुआ करती है अथवा राज्य की आज्ञा से

स्थापित होती है; और उसकी परीक्षाओं तथा उपाधियों आदि का सब जगह समान रूप से मान होता है। विश्वविद्यालय।

यूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह में वह खंभा जिसमें बलि का पशु बाँधा जाता है। (२) वह संभ जो किसी विजय अथवा कीर्ति आदि की स्मृति में बनाया गया हो।

यूप-कटक-संज्ञा पुं० [सं०] छोटे या छम्की का कड़ा या छत्ता जो यूप के सिरे पर अथवा नीचे होता था।

यूपकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] यूप का वह भाग जो घृत से अभिषिक्त किया जाता था।

यूपकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] भूरिधवा का एक नाम।

यूपद्व-संज्ञा पुं० [सं०] शेर का दृश।

यूपपचज-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ।

यूपी-संज्ञा पुं० [सं० वृत्] जूआ। घृतकर्म। उ०—यही मनोरथ जीतय यूप। कहु कहेउ यह भेद न भूपा।—सयलसिंह।

यूपान्त-संज्ञा पुं० [सं०] रावण की सेना का एक मुख्य नायक जिसको हनुमान् ने प्रमदावन उजाड़ने के समय मारा था। यूपानुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कृत्य जो यज्ञ में यूप गाढ़ने के समय किया जाता है।

यूप्य-संज्ञा पुं० [सं०] पलास।

यूरप-संज्ञा पुं० दे० "युरोप"।

यूराल-संज्ञा पुं० (१) बहुत बड़ा पहाड़ जो एशिया और युरोप के बीच में है। (२) इस पर्वत से निकलनेवाली एक नदी का नाम।

युरोप-संज्ञा पुं० दे० "युरोप"।

युरोपियन-संज्ञा पुं० दे० "युरोपियन"।

युरोपीय-वि० [सं० युरोप + ईय (प्रत्य०)] युरोप संबंधी। युरोप का।

यूहली-संज्ञा पुं० [सं० यूप] समूह। छुंढ।

ये-सर्व० दे० "यह"।

सर्व० [हि० यह] "यह" का बहुवचन। यह सब।

येईली-सर्व० [हि० यह + ई (प्रत्य०)] यही।

येऊ-सर्व० [हि० ये + ऊ (प्रत्य०)] यह भी।

येतो-सर्व० दे० "यतो"।

येहो-सर्व० दे० "यह"।

येहो-सर्व० [हि० यह + ह] यह भी।

यो-अव्य० [सं० यवनेह, या० एनेम, यन० एनि] इस तरह पर।

इस प्रकार से। इस भाँति। ऐसे। जैसे,—वह को नहीं मानेगा।

योही-अव्य० [हि० यो + ही] (१) इसी प्रकार से। ऐसे ही।

इसी तरह से। (२) बिना काम। व्यर्थ ही। जैसे,—आर तो बौही कियाँ उल्टा करते हैं। (३) बिना बिना

प्रयोजन या उद्देश्य के। केवल मन की प्रवृत्ति से। जैसे,—
मैं उधर योंही चला गया; उससे मिलने नहीं गया था।

यो-तर्क-दे० “यह”।

योगधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक मंत्र जो
अथ शत्रु आदि के शोचन के लिये पढ़ा जाता था। (२)
पीठल।

योग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो अथवा अधिक पदार्थों का एक
में मिलना। संयोग। मिलान। मेल। (२) उपाय।
संकीर्ण। (३) ध्यान। (४) संगति। (५) प्रेम। (६)
छल। धोखा। दगाबाजी। जैसे, योग-विक्रय। (७) प्रयोग।
(८) औपच। दया। (९) धन। दौलत। (१०) नैपायिक
(११) छाम। कायदा। (१२) यह जो किसी के साथ
विश्वासघात करे। दगाबाज। (१३) कोई शुभ। काल।
अच्छा समय या अवसर। (१४) घर। दूत। (१५)
छरड़ा। धौलगाड़ी। (१६) नाम। (१७) कौशल। चतुराई।
होशियारी। (१८) नाव आदि सवारी। (१९) परिणाम।
नतीजा। (२०) नियम। कायदा। (२१) उपयुक्तता।
(२२) साम, दाम, दंड और भेद के चारों उपाय। (२३)
यह उपाय जिसके द्वारा किसी को अपने वश में किया
जाय। यशोहरण। (२४) सुख। (२५) संबंध। (२६)
सद्भाव। (२७) धन और संपत्ति प्राप्त करना तथा बढ़ाना।
(२८) मेल-मिलाप। (२९) तप और ध्यान। धैर्य। (३०)
गणित में दो या अधिक राशियों का जोड़। (३१) एक प्रकार
का छंद जिसके प्रत्येक चरण में १२, ८ के विभाग से २०
माप्राई और अंत में वगण होता है। (३२) ठिकाना।
सुभीता। जुगाड़। तार-धात। उ०—नहिं छप्यो भोजन
योग नहीं कहुँ मिल्यो निजसन दौर।—रघुराज। (३३)
फलित ज्योतिष में कुछ विविध काल या अवसर जो
सूर्य और चंद्रमा के कुछ विविध स्थानों में आने के कारण
होते हैं और जिसकी संख्या २० है। इनके नाम इस प्रकार
हैं—विष्कम्भ, प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन,
अतिगन्ध, सुकम्भा, एति, द्युल, गंद, वृद्धि, भुव, स्वाभाव,
दुर्गन्ध, वज्र, अमरक, वृक्षीपात, परीपात, परिष, सिव,
सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्र, मघ, ईश्वर और ईशति। इनमें से
कुछ योग ऐसे हैं, जो शुभ कार्यों के लिये योजित हैं और
कुछ ऐसे हैं जिनमें से शुभ कार्य करने का विधान है।
(३४) फलित ज्योतिष के अनुसार कुछ विविध नियमों,
घातों और नशानों आदि का एक साथ या किसी निश्चित
निर्णय के अनुसार पढ़ना। जैसे,—अष्टांगयोग, सिद्धि
योग। (३५) यह उपाय जिसके द्वारा जीजामा जाकर
परामर्श में मिल जाता है। मुक्ति या मोक्ष का उपाय।
(३६) दर्शनकार पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों

को चंचल होने से रोकना। मन को स्थिर उधर भरने
न देना, केवल एक ही पक्ष में स्थिर रहना। (३७) उ०
दरनों में से एक जिसमें चित्त को एकत्र करके स्थिर में
लीन करने का विधान है।

विशेष—योग-दर्शनकार पतंजलि ने आत्मा और जगत् के
संबंध में सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन और
समर्थन किया है। उन्होंने भी यही पंचतत्त्व माने हैं,
जो सांख्यकार ने माने हैं। इनमें निरोपता यही है कि
इन्होंने कपिल की अपेक्षा एक और छद्मसिद्धांतों तथा
'पुरुष विशेष' या ईश्वर भी माना है, जिससे सांख्य के
अनीश्वरवाद से ये बच गए हैं। पतंजलि का योग दर्शन
समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार पादों या
भागों में विभक्त है। समाधि पाद में यह बतलाया गया
है कि योग के उद्देश्य और लक्षण क्या हैं और उसका
साधन किस्त प्रकार होता है। साधन पाद में क्लेश,
कर्मविपाक और कर्मफल आदि का विवेचन है। विभूति
पाद में यह बतलाया गया है कि योग के अंग क्या हैं,
उसका परिणाम क्या होता है और उसके द्वारा भगिना,
महिमा आदि सिद्धियों की किस प्रकार प्राप्ति होती है।
कैवल्य पाद में कैवल्य या मोक्ष का विवेचन किया गया
है। संक्षेप में योगदर्शन का मत यह है कि मनुष्य को
अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के पाँच
प्रकार के क्लेश होते हैं, और उसे कर्म के फलों के अनुसार
जन्म लेकर आयु व्यतीत करनी पड़ती है तथा भोग भोगना
पड़ता है। पतंजलि ने इन सब से बचने और मोक्ष प्राप्त
करने का उपाय योग बतलाया है, और कहा है कि क्रमशः
योग के अंगों का साधन करते हुए मनुष्य सिद्ध हो जाता
है और अंत में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ईश्वर के संबंध
में पतंजलि का मत है कि यह गिनियुक्त, एक, अद्वितीय
और तीनों कालों से अतीत है और देवताओं तथा अश्वियों
आदि को उसी से ज्ञान प्राप्त होता है। योगवाले संसार
को दुःखमय और हेय मानते हैं। पुरुष या जीवात्मन के
मोक्ष के लिये वे योग को ही एक मात्र उपाय मानते हैं।
पतंजलि ने चित्त की स्थिर, च्युत, विक्षिप्त, निद्रा और
एकत्र के पाँच प्रकार की वृत्तियों मानी हैं, जिसका नाम
उन्होंने चित्तवृत्ति रखा है, और कहा है कि आरंभ की
तीन चित्तवृत्तियों में योग नहीं हो सकता, केवल अंतिम
अवस्था में ही हो सकता है। इन दो वृत्तियों में संयमता और
असंयमता से दो प्रकार के योग हो सकते हैं। त्रिस्त
अथवा में स्थिर का रूप प्रत्यक्ष रहता हो, उसे संयमता
कहते हैं। यह योग पाँच प्रकार के क्लेशों का नाश करने
वाला है। असंयमता उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें

किसी प्रकार की वृत्ति का उदय नहीं होता; अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रह जाता, संस्कार मात्र बच रहता है। यही योग की चरम भूमि मानी जाती है और इसकी सिद्धि हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। योग-साधन का उपाय यह बतलाया गया है कि पहले किसी स्थूल विषय का आधार लेकर उसके उपरान्त किसी सूक्ष्म वस्तु को लेकर और अंत में सब विषयों का प्रतिस्वांग करके चलना चाहिए और अपना चित्त स्थिर करना चाहिए। चित्त की वृत्तियों को रोकने के जो उपाय बतलाए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—अभ्यास और वैराग्य, हंखर का प्रणिधान, प्राणायाम और समाधि, विषयों से विरक्ति आदि। यह भी कहा गया है कि जो लोग योग का अभ्यास करते हैं, उनमें अनेक प्रकार की विलक्षण शक्तियाँ आ जाती हैं, जिन्हें विभूति या सिद्धि कहते हैं। (वि० दे० "सिद्धि") यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठो योग के अंग कहे गए हैं; और योग-सिद्धि के लिये इन आठों अंगों का साधन आवश्यक और अनिवार्य कहा गया है। इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत कई कई बातें हैं। कहा गया है कि जो व्यक्ति योग के ये आठो अंग सिद्ध कर लेता है, वह सब प्रकार के छेत्तों से छूट जाता है, अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है और अंत में कैवल्य (मुक्ति) का भागी होता है। ऊपर कहा जा चुका है कि सृष्टि-तत्त्व आदि के संबंध में योग का भी प्रायः वही मत है जो सांख्य का है; इससे सांख्य को ज्ञान-योग और योग को कर्म योग भी कहते हैं। पतंजलि के सूत्रों पर सब से प्राचीन भाष्य वेदव्यास जी का है। उस पर वाचस्पति का बर्चिक है। विश्वामित्रजी का "योगसार-संग्रह" भी योग का एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। सूत्रों पर भोजराज की भी एक वृत्ति है। पीछे से योगशास्त्र में संयम का बहुत सा मेल मिला और "कायम्पूह" का बहुत विस्तार किया गया, जिसके अनुसार शरीर के अंदर अनेक प्रकार के चक्र आदि कल्पित किए गए। क्रियाओं का भी अधिक विस्तार हुआ और हठ योग की एक मध्य शाखा निकली, जिसमें नेत्रों, पीतों, यकृत आदि पदार्थों तथा नाड़ी-शोधन आदि का वर्णन किया गया। शिवसंहिता, हठयोगप्रदीपिका, योगसंहिता आदि हठयोग के ग्रंथ हैं। हठ योग के वड़े भारी आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ (मण्डूकनाथ) और उनके निष्य गोरक्षनाथ हुए हैं।

योगकन्या—छंदा स्त्री० [सं०] यशोदा के गर्भ से उत्पन्न कन्या, यशुदेव जिसे ले जाकर देवकी के पास रख आए थे और जिसे कंस ने मार डाला था। योगकन्या।

योगकुंडलिनी—छंदा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम। (यह प्राचीन उपनिषद्ओं में नहीं है।)

योगक्षेम—छंदा पुं० [सं०] (१) जो वस्तु अपने पास न हो, उसे प्राप्त करना; और जो मिल चुकी हो, उसकी रक्षा करना। नया पदार्थ प्राप्त करना और मिले हुए पदार्थ की रक्षा करना।

विशेष—मिश्र मिश्र आचार्यों ने इस शब्द से मिश्र मिश्र अभिप्राय लिए हैं। किसी के मत से योग से अभिप्राय शरीर का है और क्षेम से उसकी रक्षा का; और किसी के मत से योग का अर्थ है धन आदि प्राप्त करना और क्षेम से उसकी रक्षा करना।

(२) जीवन-निर्वाह। गुनार। (३) कुशल-मंगल। शैरिवत। (४) दूसरे के धन या जायदाद की रक्षा। (५) लाभ। मुनाफा। (६) ऐसी वस्तु जिसका उत्तराधिकारियों में विभाग न हो। (७) राष्ट्र की सुव्यवस्था। मुक्त का अच्छा इंतजाम।

योगचक्षु—छंदा पुं० [सं०] योगचक्षुः] प्राज्ञ।

योगचर—छंदा पुं० [सं०] हनुमान्।

योगज—छंदा पुं० [सं०] (१) योग-साधन की यह अवस्था जिसमें योगी में अलौकिक वस्तुओं को प्रत्यक्ष कर दिखलाने की शक्ति आ जाती है। युक्त और युजान दोनों इसी के भेद हैं। (यह नैवायिकों के अलौकिक सन्निकर्ष के तीन विभागों में से एक है। शेष दो विभाग सामान्य लक्षण और ज्ञान लक्षण हैं।) (२) अगर लकड़ी। अगर।

योगजफल—छंदा पुं० [सं०] वह जड़ या फल जो दो अंकों को जोड़ने से प्राप्त हो। जोड़। योग। (गणित)

योगतत्त्व—छंदा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम, जो प्राचीन दस उपनिषद्ओं में नहीं है।

योगतारा—छंदा पुं० [सं०] (१) किसी नक्षत्र में का प्रधान तारा। (२) एक दूसरे से मिले हुए तारे।

योगतृप—छंदा पुं० [सं०] योग का भाव।

योगदर्शन—छंदा पुं० [सं०] सहरि पतंजलि हठ योगसूत्र। वि० दे० "योग"।

योगदान—छंदा पुं० [सं०] (१) किसी काम में दाय देना। दाय बँटना। (२) फट दान। (३) योग की दीक्षा।

योगधर्मी—छंदा पुं० [सं०] योगधर्मीन्] योगी।

योगधारता—छंदा स्त्री० [सं०] प्रसवुर की एक सहायक नदी का नाम।

योगतंद—छंदा पुं० [सं०] मगध के राजा भी नंदों में से एक नंद का नाम। वि० दे० "नंद"।

योगनाथ—छंदा पुं० [सं०] शिव।

योगनादिक—छंदा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली।

योगनिद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युग के अंत में होनेवाली विष्णु की निद्रा, जो दुर्गा मानी जाती है। (२) रणभूमि में पौरों की झुल्लू। (३) योग की समाप्ति।

योगनिद्रासु-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु, जो प्रलय के समय योग-निद्रा लेते हैं।

योगनिलय-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

योगपट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक पहनावा जो पीठ पर से जाकर कमर में बाँधा जाता था और जिससे घुटनों तक का अंग ढका रहता था। साधुओं का भेष। (शास्त्रों का विधान है कि जिसके यहाँ भाई और पिता जीवित हों, उसे ऐसा वस्त्र नहीं पहनना चाहिए।)

योगपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) शिव।

योगपतिव-संज्ञा स्त्री० [सं०] योगमता। पीवरी।

योगपद्म-संज्ञा पुं० [सं०] यूनन आदि के समय पहनने का चार अंगुल चौड़ा एक प्रकार का उत्तरीय वस्त्र। (यह पाप के चमड़े, हिरन के चमड़े अथवा सूत का बना हुआ होता था और यन्त्रनृत्त की भाँति पहना जाता था।)

योगपाद-संज्ञा पुं० [सं०] जिनियों के अनुसार यह कृष्ण जिससे अभिमत की प्राप्ति हो।

योगपारंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) पूर्ण योगी।

योगपीठ-संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का योगासन।

योगफल-संज्ञा पुं० [सं०] दो या अधिक संख्याओं को जोड़ने से प्राप्त संख्या।

योगबल-संज्ञा पुं० [सं०] वह शक्ति जो योग की साधना से प्राप्त हो। शरीरबल।

योगसूत्र-वि० [सं०] जिसकी योग की साधना चित्त-विक्षेप आदि के कारण पूरी न हुई हो। जो योग-मार्ग से प्युल हो गया हो।

योगमय-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

योगमाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] योगमातृ। (१) दुर्गा। (२) पीवरी।

योगमाया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भगवती, जो विष्णु की माया है। (२) वह कल्पा जो यशोदा के गर्म से उत्पन्न हुई थी और जिसे कंस ने मार डाला था। कहते हैं कि यह स्वयं भगवती भी। वि० दे० "कृष्ण"। उ०—देसी परी योग-माया समुदेव गोद करि लीखी हो।—मूर।

योगमूर्त्तिघर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) एक प्रकार के मूर्त्ति।

योगवाया-संज्ञा स्त्री० [सं०] कठिन उपोषिष के अनुसार यह योग जो यात्रा के लिये उपयुक्त हो।

योगयोगी-संज्ञा पुं० [सं०] योगयोगी। यह योगी जो योगासन पर बैठा हो।

योगरंग-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मी।

योगरघ-संज्ञा पुं० [सं०] वह साधन जिससे योग की प्राप्ति हो।

योगराजगुग्गुल-संज्ञा पुं० [सं०] कई द्रव्यों के योग से बनी हुई एक प्रसिद्ध औषध जिसमें गुग्गुल (गुग्गुल) प्रभाव है। यह औषध गठिया, वात रोग और लकड़ों के लिये अत्यंत उपकारी है।

योगरुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] दो शस्त्रों के योग से बना हुआ वह द्रव्य जो अपना सामान्य अर्थ छोड़कर कोई विशेष अर्थ बनाये। जैसे,—त्रिशूलपाणि, चंद्रभाज, पंचरात्र इत्यादि।

योगरोचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] ईश्वराल करनेवालों का एक प्रकार का लेख। कहते हैं कि शरीर में यह लेख लगा देने से आदमी अमृत्य हो जाता है।

योगयान्-संज्ञा पुं० [सं०] योगयन् [सं०] योगयन्त्री योगी।

योगवाणी-संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय के एक शीर्ष का नाम।

योगवाशिष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] वेदोंत शास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रंथ जो बरिहज जी का बनाया कहा जाता है। इसमें बरिहज जी ने रामचंद्र को वेदोंत का उपदेश किया है। इसमें वैराग्य, सुमुमुक्षु व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशान्त और निर्वाण ये छः प्रकार हैं। इसे योग वात्सकी रामायण का उत्तरार्द्ध मानते हैं और बरिहज रामायण भी कहते हैं।

योगवाह-संज्ञा पुं० [सं०] अनुस्वार और विसर्ग।

योगवाही-संज्ञा पुं० [सं०] योगवादिन्। जिस गुणों की दृष्टि या कई ओपधियों को एक में मिळाने योग्य करनेवाली ओपधि या द्रव्य। योग का माध्यम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार। (२) समीसार।

योगविक्रय-संज्ञा पुं० [सं०] जोसे या बेईमानी के साथ विक्री। चाल-मेल का सोदा।

योगविद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगशास्त्र का ज्ञाता। (२) महादेव। (३) ओपधियों की मिळाने औषध बनानेवाला। (४) योगीश्वर।

योगवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] चित्त की वह शुद्ध वृत्ति जो योग के द्वारा प्राप्त होती है।

योगशक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] योग के द्वारा प्राप्त होनेवाली शक्ति। शरीरबल।

योगशम्भु-संज्ञा पुं० [सं०] यह बौद्धिक चरित्र जो योगरुद्धि व हो, बलि पातु के अर्थ (सामान्य अर्थ) का बोधक हो।

योगशरीरी-संज्ञा पुं० [सं०] योगशरीर। योगी।

योगशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] परमार्थि करि का बनाया हुआ योग-साधन पर एक बहुत ग्रंथ जिसमें चित्तवृत्ति को रोकने के उपाय बखलाए गए हैं। यह छः दशकों में से एक दशक है। दे० "योग"।

योगशास्त्री-संज्ञा पुं० [सं०] योगशास्त्र का ज्ञाता।

योगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम जिसे योग-विद्या भी कहते हैं ।

योगसाध-संज्ञा पुं० [सं०] किसी का वह नाम जो उसे किसी प्रकार के योग के कारण प्राप्त हो । जैसे,—बुद्ध के योग से प्राप्त होनेवाला नाम "देवी" ।

योगसाध-संज्ञा पुं० [सं०] वह उपाय या साधन जिससे मनुष्य संज्ञा के लिये योग से मुक्त हो जाय । वैद्यक में ऋतुचर्या के अंतर्गत ऐसे उपायों का वर्णन है । भिन्न भिन्न ऋतुओं में भिन्न भिन्न नियम पदार्थों का त्याग और संयम आदि इसके अंतर्गत हैं ।

योगसिद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने योग की सिद्धि प्राप्त कर ली हो । योगी ।

योगसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] महर्षि पतंजलि के बनाए हुए योग-संबंधी सूत्रों का संग्रह । वि० दे० "योग" ।

योगांग-संज्ञा पुं० [सं०] पतंजलि के अनुसार योग के आठ अंग जो इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । इन्हीं के पूर्ण साधन से मनुष्य योगी होता है ।

योगांजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँखों का एक प्रकार का अंजन या श्लेष्म जिसके लगाने से आँखों का रोग दूर होता है । (२) वह अंजन जिसे लगाने से मृष्टी के अंदर की छिपी हुई वस्तुएँ भी दिखाई पड़ें । सिद्धांजन ।

योगांत-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह की कक्षा के सातवें भाग का एक अंश । (व्योतिष)

योगांतराध-संज्ञा पुं० [सं०] योग में विग्रह डालनेवाली आलस्य आदि दस बातें ।

योगांतरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूल, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा ऋतुओं से होती हुई छह की गति, जो आठ दिन तक रहती है ।

योगांतर-संज्ञा पुं० [सं०] यौद्धों के एक देवता का नाम ।

योगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता की एक सखी का नाम ।

योगाकर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] वह आकर्षण शक्ति जिसके कारण परमाणु मिले रहते हैं और अलग नहीं होते ।

योगात्म-संज्ञा पुं० [सं०] योग साध ।

योगाचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग का आचरण । (२) यौद्धों का एक संभ्राय, जिसका मत है कि पदार्थ (वाद्य) जो दिखाई पड़ते हैं, वे शून्य हैं । वे केवल अंदर खान में भासते हैं, बाहर कुछ नहीं हैं । जैसे—"घट" का ज्ञान भीतर आत्मा में है, तभी बाहर भासता है; और लोग कहते हैं कि यह घट है । यदि यह ज्ञान अंदर न हो, तो बाहर किसी वस्तु का बोध न हो । अतः सब पदार्थ अंदर ज्ञान में भासते हैं और बाहर शून्य है । इनका यह भी मत है कि जो कुछ है,

वह सब दुःख स्वरूप है; क्योंकि प्राप्ति में संतोष नहीं होता, इच्छा बनी रहती है ।

योगात्मा-संज्ञा पुं० [सं० योगात्मन्] योगी ।

योगानुशासन-संज्ञा पुं० [सं०] योग साध ।

योगपत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह संस्कार जो प्रचलित प्रथाओं अथवा आचार-व्यवहार आदि के कारण उत्पन्न हो ।

योगाभ्यास-संज्ञा पुं० [सं०] योग साध के अनुसार योग के आठ अंगों का अनुष्ठान । योग का साधन । उ०—वदरिकाश्रम रहे पुनि जाई । योग अभ्यास समाधि लगाई ।—सूर ।

योगाभ्यासी-संज्ञा पुं० [सं० योगाभ्यासिन्] योग की साधना करनेवाला, योगी ।

योगारंग-संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी ।

योगारचन-संज्ञा पुं० [सं०] योग का अभ्यास करना । योग-साधन ।

योगारुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] वह योगी जिसने इंद्रिय-मुक्त आदि की ओर से अपना चित्त हटा लिया हो । वह जिसने चित्त-वृत्तियों का निरोध कर लिया हो । योगी ।

योगासन-संज्ञा पुं० [सं०] योग-साधन के आसन, अर्थात् घटने के ढंग ।

योगित-वि० [सं०] (१) जो इंद्रजाल या मंत्र आदि की सहायता से अपने अधीन कर लिया गया हो अथवा पागल बना दिया गया हो । (२) जिस पर इंद्रजाल या मंत्र आदि का प्रयोग किया गया हो ।

योगिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] योगी का भाव या धर्म ।

योगित्व-संज्ञा पुं० [सं०] योगी का भाव या धर्म ।

योगिद्वंद-संज्ञा पुं० [सं०] यौग ।

योगिनिद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] योगी की नींद । हाथी ।

योगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रण-विशालिनी । (२) एक लोक का नाम । (३) आपाद् कृष्ण एकादशी । (४) योगपुत्रा

नारी । योगाभ्यासिनी । तपस्विनी । (५) आपर्ण देवता ।

ये अस्तित्व हैं जिनमें से चौंसठ मुख्य हैं । (६) आठ विविध देवियों जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) दैत्यपुत्री, (२)

चंद्रपंथा, (३) स्कंदमाता, (४) कामाक्षि, (५) चंडिका, (६) कृष्णांडी, (७) कामायनी, और (८) महागौरी । (९)

ज्योतिष-शास्त्रानुसार ये आठ देवियाँ—महाकाली, महाेश्वरी, बीमारी, नारायणी, वाराही, इंद्राणी, पारुमा, और महा-

काली । (८) निषि जिनसे मे दिगम्बरेतरासिपन योगिनी ।

(९) तन्त्राल योगिनी । (१०) कामी स्त्री । एक महेश्वरी का नाम । (११) देवी । योगमाता ।

योगिनी चक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथियों का वह चक्र जिसमें

ये योगिनियों का साधन करते हैं । (२) ज्योतिषी का वह

यह जिससे यह इस बात का पता लगाना है कि योगिनी जिस दिशा में है।

योगिया-संज्ञा पुं० [सं० योगी + शब्द (प्रत्यय)] (१) संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें गांधार के अतिरिक्त सब कोमल स्वर लगते हैं। इसके गाने का समय प्रातःकाल १ दंड से ५ दंड तक है। यह करुण रस का राग है। कुछ लोग इसे भैरव राग की रागिनी भी मानते हैं। (२) दे० "योगी"।

योगिराज-संज्ञा पुं० [सं०] योगियों में श्रेष्ठ। बहुत बड़ा योगी।

योगीन्द्र-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा योगी।

योगी-संज्ञा पुं० [सं० योगिन्] (१) यह जो अनेक-धर्म और सुख-दुःख आदि सब को समान समझता हो। यह जिसमें न तो किसी के प्रति अनुराग हो और न विराग। आत्मज्ञानी। (२) यह व्यक्ति जिसने योग सिद्ध कर लिया हो। यह जिसने योगाभ्यास करके सिद्धि प्राप्त कर ली हो।

विशेष—योग दर्शन में अवस्था के भेद से योगी चार प्रकार के कहे गए हैं—(१) प्रथम कल्पिक, जिन्होंने अभी योगाभ्यास का केवल आरंभ किया हो और जिनका ज्ञान अभी तक दृढ़ न हुआ हो; (२) मध्यभूमिक, जो मूर्खों और ह्रस्वियों पर विजय प्राप्त करना चाहते हों; (३) प्रज्ञायोगी, जिन्होंने ह्रस्वियों को अच्छी भाँति अपने घरा में कर लिया हो; और (४) अतिक्रान्तमावर्णीय, जिन्होंने सब सिद्धिपूर्ण प्राप्त कर ली हैं और जिनका केवल चिन्तन वांछी रह गया हो।

(१) महादेव। तिय।

योगीकुण्ड-संज्ञा पुं० [सं० योगीकुण्ड] हिमालय के एक तीर्थ का नाम।

योगीनाथ-संज्ञा पुं० [सं० योगिनाथ] महादेव। शंकर।

योगीश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगियों के स्वामी। (२) बहुत बड़ा योगी। (३) वाश्वल्य का एक नाम, जिन्हें योगी वाश्वल्य भी कहते हैं।

योगीश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगियों में श्रेष्ठ। (२) वाश्वल्य मुनि का एक नाम। (३) महादेव।

योगीश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

योगीन्द्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा योगी। (२) वैद्यक में एक प्रकार का रस जो रस-सिद्धि से बनाया जाता है और जिसमें खोना, कर्तरी लोहा, अम्रक, मोती और रंग आदि पड़े हैं। यह अग्नेह, भूष्ण, यदमा, पद्मापाय, उन्माद और मगदर आदि के लिये बहुत उपयोगी माना जाता है।

योगेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा योगी। (२) योगी वाश्वल्य का एक नाम।

योगेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण। परमेश्वर। (२) तिय।

(३) देवदेव के एक पुत्र का नाम। (४) बहुत बड़ा योगी। योगीश। सिद्ध।

विशेष—पुराणों में भी बहुत बड़े योगी अथवा योगेश्वर माने गए हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) कवि (मुखापाके), (२) हरि (नारायण कवि), (३) अंतरिक्ष, (४) प्रह्लाद, (५) पिप्पलायन, (६) आविर्होत्र, (७) मुनि (दुर्मिह), (८) चमस और (९) कर भोजन। (५) एक तीर्थ का नाम।

योगेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] योगेश्वर का भाव या धर्म।

योगेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) शक्तों की एक देवी का नाम जो दुर्गा का एक विशेष रूप है। (३) कर्कोटकी की कनोड़ा।

योगोपनिषद्-संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

योग्य-वि० [सं०] (१) किसी काम में लगाए जाने के उपयुक्त। ठीक (पात्र)। कर्तव्य। उपाय। अधिकारी। जैसे,—यह इस काम के योग्य नहीं है। (२) शील, गुण, धर्म, विद्या आदि से युक्त। श्रेष्ठ। अच्छा। जैसे,—वे बड़े योग्य आदमी हैं। (३) युक्ति, सिद्धान्तवाला। उपाय लगातेवाला। उपायी। (४) उचित। अनुचित। ठीक। जैसे,—यह बात उनके योग्य ही है। (५) जोतने लायक। (६) जोड़ने लायक। (७) वर्तनीय। सुंदर। (८) आश्चर्यपूर्ण। माननीय।

संज्ञा पुं० (१) युक्त नक्षत्र। (२) कृद्धि नामक औषधि। (३) रथ। शकट। गाड़ी। (४) चंदन।

योग्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) समता। लायकी। (२) पदार्थ। (३) सुविधानी। लियार्ह। चिह्न। (४) सामर्थ्य। (५) अनुकूलता। सुवासिपता। सुताविष्म। (६) भीक। (७) गुण। (८) इच्छा। (९) उपयुक्तता। (१०) स्वाभाविक चुनाव। (११) तात्पर्य बोध के लिये वाच्य के तीन गुणों में से एक। वाच्यों के अर्थ-संबंध की संगति या सम-बोधता। जैसे,—“बड़े पानी में जल गया” इस वाच्य में वाच्य अर्थ-सम्बन्ध है, पर वह अर्थ-संबंध नहीं; इससे यह वाच्य योग्यता के अभाव से ठीक वाच्य न हुआ।

योग्यत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग्य होने का भाव। योग्यता। (२) लायक या कर्तव्य होने का भाव। प्रवीणता।

योग्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई काम करने का अभ्यास। मरक। (२) शुभ्र के अनुसार सार-मिष्ट या पीर-पाद करने का अभ्यास। (३) जपान की पुष्प।

योजक-वि० [सं०] मिलानेवाला। जोड़नेवाला।

जी० पुं० प्रची का वह यन्त्र भाग जो दो बड़े चक्रों को मिलाने हो। यन्त्र-मध्यस्थ।

योजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परस्परता। (२) योग। (३) एक में मिलाने की क्रिया या भाव। संयोग। मिलन। मेल। योग। (४) दूरी की एक मात्र जो किसी के मन से दो लोग की, किसी के मन से चार लोग की और किसी के मन से

आठ कोस की होती है। (यहाँ एक कोस से अभिप्राय ४००० हाथ से है। जैनियों के अनुसार एक योजन १०००० कोस का होता है।)

योजनगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कस्तूरी। (२) सीता। (३) व्यास की माता और शांतनु की भार्या सत्यवती का एक नाम। वि० दे० "व्यास"।

योजनगंधिका-संज्ञा स्त्री० दे० "योजनगंधा"।

योजनपर्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

योजनयल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

योजना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी काम में लगाने की क्रिया या भाव। नियुक्त करने की क्रिया। नियुक्ति। (२) प्रयोग। व्यवहार। इस्तेमाल। (३) जोड़। मिलान। मेल। मिलाप। (४) बनायट। रचना। (५) घटना। (६) स्थिति। स्थिरता। (७) व्यवस्था। आयोजन। जैसे,—उन्होंने इसकी सय योजना कर दी है।

योजनीय-वि० [सं०] (१) जो मिलाने अथवा योजना करने के योग्य हो। (२) जिसे मिलाना या जोड़ना हो।

योज्य-वि० [सं०] योजन-संबंधी। योजन का।

योजित-वि० [सं०] (१) जिसकी योजना की गई हो। (२) जोड़ा हुआ। मिलाया हुआ। (३) नियम से बढ़ किया हुआ। नियमित। (४) रचा हुआ। बनाया हुआ। रचित। धटित।

योज्य-वि० [सं०] (१) जोड़ने के लायक। मिलाने के योग्य, (२) व्यवहार करने के योग्य।

संज्ञा पुं० ये संख्याएँ जो जोड़ी जाती हैं। जोड़ी जानेवाली संख्याएँ। (गणित)

योज-संज्ञा पुं० [सं०] यह संघन जो छप को षष्ठ की गरदन में जोड़ता है। जोत।

योद्धव्य-वि० [सं०] जिससे युद्ध करना हो।

योद्धा-संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध जो युद्ध करना हो। युद्धकर्ता। भट। लड़ाका। सिपाही।

योध-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही। यीर।

योधक-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही।

योधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध की सामग्री। जैसे,—अस्त्र-शस्त्र आदि। (२) युद्ध। रण। लड़ाई।

योधा-संज्ञा पुं० दे० "योद्धा"।

योधि घन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जंगल का नाम।

योधी-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। यीर।

योधिय-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही।

योध्य-वि० [सं०] जिसके साथ युद्ध किया जा सके। युद्ध करने के योग्य।

योनस-संज्ञा पुं० [सं०] यवनाउ। ज्वार। मक्का का जोड़ती।

योनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आकर। रानि। (२) वह जिससे कोई वस्तु उत्पन्न हो। उत्पादक कारण। (३) उत्पत्ति स्थान। जहाँ से कोई वस्तु पैदा हो। उत्क्रम। (४) जल। पानी। (५) कुछ द्वीप की एक नदी का नाम। (६) स्त्रियों की जन-मैत्रिय। मम। (७) प्राणियों के विभाग, जातियों या वर्ग। विशेष—पुराणानुसार इनकी संख्या चौदासी लाख है। कुछ लोगों के मत से अंडज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज सब इष्टीस लाख हैं; और कहीं कहीं इनकी संख्या इस प्रकार लिखी है—

| | | | | | |
|---------|-----|-----|-----|-----|------------|
| जलजंतु | ... | ... | ... | ... | नौ लाख |
| स्थावर | ... | ... | ... | ... | बीस लाख |
| ह्रस्मि | ... | ... | ... | ... | स्वारह लाख |
| पक्षी | ... | ... | ... | ... | दस लाख |
| पशु | ... | ... | ... | ... | सीस लाख |
| मनुष्य | ... | ... | ... | ... | चार लाख |

कुल चौदासी लाख

यह भी कहा गया है कि जीव को अपने कर्मों का फल भोगने के लिये इस सब योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। मनुष्य योनि इन सब में श्रेष्ठ और दुर्लभ मानी गई है।

(८) वैद। शरीर। (९) गर्भ। (१०) जन्म। (११) गर्भाशय। (१२) संतानकरण।

योनिकंद-संज्ञा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें उसके अंदर एक प्रकार की गाँठ हो जाती है और उसमें से रक्त या पीप निकलता है।

योनिज-वि० [सं०] जिसकी उत्पत्ति योनि से हुई हो। योनि से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० यह जीव जिसकी उत्पत्ति योनि से हुई हो। ऐसे जीव दो प्रकार के होते हैं—जरायुज और अंडज। जो जीव गर्भ में पूरा शरीर धारण करके योनि के बाहर निकलते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं; और जो अंडे से उत्पन्न होते हैं, वे अंडज कहलाते हैं।

योनिदेयता-संज्ञा पुं० [सं०] पुरां पाल्गुनी नक्षत्र।

योनिदोष-संज्ञा पुं० [सं०] उपद्रव रोग। गायी। बागसक।

योनिफूल-संज्ञा पुं० [सं०] केचि+रि० पुन। योनि के अंदर की वह गाँठ जिसके ऊपर एक छेद होता है। इसी छेद में से होकर पीप गर्भाशय में प्रवेश करता है।

योनिघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें गर्भाशय अपने स्थान से कुछ हट जाता है।

योनिमुक्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बार बार जन्म लेने से मुक्त गया हो। जिसने मोक्ष प्राप्त कर लिया हो।

योनिसुद्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रियों की एक श्रद्धा जिसमें

ये पूजन के समय उँगलियों से प्रायः योनि को सा आगार बनाते हैं।

योनियंत्र-पंथा पुं० [सं०] कामाक्षा, गया आदि कुछ विशिष्ट तीर्थ स्थानों में बना हुआ एक प्रकार का बहुत ही संकीर्ण मार्ग, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि जो इस मार्ग से होकर निकल जाता है, उसका मोह ही जाता है।

योनिघेरा-पंथा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक देव का प्राचीन नाम जिसमें क्षत्रियों का निवास था।

योनिशूल-पंथा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें बहुत पीड़ा होती है।

योनिशूलघनी-पंथा स्त्री० [सं०] शूलपुष्पा।

योनिस्पर्श-पंथा पुं० [सं०] वह जिसके पिता और माता दोनों भिन्न भिन्न जातियों के हों। वर्ष-संस्कार।

योनिस्पर्शोचन-पंथा पुं० [सं०] (१) योनि को छेदने और सिकोढ़ने की क्रिया। (२) योनि के मुख को सिकोढ़ने या संग करने की औपचार्य।

विशेष—यह क्रिया भयवा इसका उपाय प्रायः संभोग-मुप के लिये किया जाता है।

योनिस्पर्श-पंथा पुं० [सं०] वह जो योनि से उत्पन्न हुआ हो। योनिज।

योनिस्पर्श-पंथा पुं० [सं०] गर्भवती स्त्रियों का एक प्रकार का रोग, जिसमें योनि का मार्ग सिकुड़ जाता है, गर्भाशय का द्वार रुक जाता है और गर्भ का शिशु बंद हो जाने से साँस रुककर मर जाता है। इस रोग में गर्भिणी के भी मर जाने की आशंका रहती है।

योनिशूल-पंथा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें उस के अंदर गठि हो जाती है। योनिरुद्ध।

योनि-पंथा पुं० [सं०] (१) दिन। रोज। (२) तिथि। तारीख।

योनि-पंथा पुं० दे० "युति"।

योनिपियन-पंथा पुं० दे० "युतिपियन"।

योनिप्रा-पंथा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो सती और पवित्रता न हो। दुष्टिप्रा स्त्री।

योनि-पंथा स्त्री० [सं०] नारी। स्त्री। औरत।

योनि-पंथा स्त्री० [सं०] नारी। स्त्री। औरत।

योनिप्रिया-पंथा स्त्री० [सं०] हलदी।

योनि-पंथा दे० "यो"। उ०—पहिल ही गोरे मरे यो दोरी दुनि लाह। मनी-परसि पुकछिन्नी अई मौडसिरी की माह।—विहारी।

योनि-पंथा दे० [सं०] वह। उ०—देवी एक बाप बहि राजा सों यो बात कही, किंके जानी बाप स्वामी मेहु देवी प्रीति हो।—जियाराज।

योनि-पंथा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

यौकिक-वि० [सं०] जो शुक्ति के अनुसार ठीक हो। युक्ति-युक्त। ठीक।

यौगंधराय-पंथा पुं० [सं०] अर्धों के निष्फल करने का एक प्रकार का अष्ट।

यौगंधराय-पंथा पुं० [सं०] (१) वह जो युगंधर के गोत्र में उत्पन्न हुआ हो। (२) राजा उदयन के एक मंत्री का नाम।

यौगंधराय-पंथा पुं० [सं०] (१) वह जो युगंधर के गोत्र में उत्पन्न हुआ हो। (२) राजा उदयन के एक मंत्री का नाम।

यौगंधराय-पंथा पुं० [सं०] वह जो यौगंधर के मत के अनुसार चलता हो।

यौगंध-वि० [सं०] यौगंध संबंधी। यौगंध।

यौगंध-पंथा पुं० [सं०] (१) मिठा हुआ। (२) प्रवृत्ति और प्रवृत्त से बना हुआ दान्य। (३) दो दान्यों से मिलकर बना हुआ दान्य। (४) अष्टादश मात्राओं के छंदों की संज्ञा।

यौगंध-वि० [सं०] जो एक यौगंध तक जाना हो। एक यौगंध तक जानेवाला।

यौतक, यौतुक-पंथा पुं० [सं०] (१) वह धन आदि जो विवाह के समय घर और कन्या को मिलता हो। दाह्य। जहेज। दहेज।

विशेष—ये धन घर पर सदा बंधू का ही अधिकार रहता है, घर के और लोगों का उस पर कोई अधिकार नहीं होता। यह स्त्री-धन माना जाता है।

(२) अन्न-प्राशन आदि संस्कारों के समय उत्तरो मिलनेवाला धन, जिसका संस्कार होता हो।

यौधिक-वि० [सं०] (१) दूध संबंधी। दूध का। (२) जो दूध में रहता हो। दूध बंधक रहनेवाला।

यौध-पंथा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही।

यौधेय-पंथा पुं० [सं०] (१) योद्धा। (२) एक प्राचीन देव का नाम। (३) प्राचीन काल की एक योद्धा जाति जो उत्तर-पश्चिम भारत में रहती थी और जिसका उत्तरो पाणिनि ने किया है। योद्धा काल में होते जाति का बहुत और और आदर था। इस जाति के रामायण के अनेक स्थानों में पाए गए हैं। पुराणानुसार यह जाति युधिष्ठिर के बंगालों से उत्पन्न हुई थी। (४) युधिष्ठिर का पुत्र जो राजा राज्य का दीक्षित था।

यौनि-वि० [सं०] योनि संबंधी। योनि का।

यौनि-पंथा पुं० उत्तरायण की एक प्राचीन जाति का नाम जिसका उत्तर महाभारत में है। कदाचित् ये लोग यवन जाति के थे।

यौवत-पंथा पुं० [सं०] (१) श्रियों का समूह। (२) काल दूध का दूसरा भेद। वह दूध जिसमें बहुत सी गरिबी निकल आती हो।

यौवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अवस्था का वह मध्य भाग जो बाल्यावस्था के उपरान्त आरंभ होता है और जिसकी समाप्ति पर वृद्धावस्था आती है। इस अवस्था के अच्छी तरह भा सुकने पर प्रायः शारीरिक बाध रुक जाती है और शरीर बलवान तथा दृढ़-पुष्ट हो जाता है। साधारणतः यह अवस्था ११ वर्ष से लेकर १० वर्ष तक मानी जाती है। (२) युवा होने का भाव। ताल्प्य। जवानी। (३) दे० "जोवन"। (४) युवतियों का दल।

यौवनकण्टक-संज्ञा पुं० [सं०] मुँहासा, जो युवावस्था में होता है।

यौवनपिडका-संज्ञा पुं० [सं०] मुँहासा।

यौवनलक्षणा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लक्षण्य। नमक। (२) कियों की छाती। स्तन। कुल।

यौवनाधिकृद्धा-वि० [सं०] युवती। जवान (छी)।

यौवनाश्व-संज्ञा पुं० [सं०] मांधाता राजा का एक नाम। वि० दे० "मांधाता"।

यौवनिक-वि० [सं०] यौवन संबंधी। यौवन का।

यौवनोद्भव-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

यौवराजिक-वि० [सं०] युवराज संबंधी। युवराज का।

यौवराज्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युवराज होने का भाव। (२) युवराज का पद।

यौवराज्याभियेक-संज्ञा पुं० [सं०] वह अभियेक और उसके संबंध का कृत्य तथा उत्सव आदि जो किसी के युवराज बनाए जाने के समय हो। युवराज के अभियेक कृत्य।

र

र-हिंदी वर्णमाला का सत्ताईसवाँ ध्वजन जिसका उच्चारण जीम के अगले भाग को मूढ़ों के साथ कुछ स्पर्श कराने से होता है। यह स्पर्श वर्ण और ऊप्य वर्ण के मध्य का वर्ण है। इसका उच्चारण स्वर और ध्वजन का मध्यवर्ती है; इसलिये इसे अंतस्थ वर्ण कहते हैं। इसके उच्चारण में संवार, नाद और घोष नामक प्रयत्न होते हैं।

रंक-वि० [सं०] (१) धनहीन। गरीब। दृष्टि। कंगाल। उ०—(क) पहिरो सुनै मूक पुनि थोले रंक चले सिर छत्र धराई।—सूर। (ख) ऊँचे नीचे बीच के धनिक रंक राजा राय हठनि यजाय करि डीठि पीठि बूढ़े हैं।—तुलसी। (२) कृपण। कंगूस। (३) सुस्त। काहिल। भालसी।

रंकु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का हिरन जिसकी पीठ पर सफेद चित्तियाँ होती हैं।

रंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रंगा नामक प्रातः। (२) मृत्त गीम आदि। नाचना गाना।

यौ०—नाच रंग। कौते,—यहाँ आरुक्छ रूख नाच रंग हो रहा है।

(१) यह स्थान जहाँ मृत्त या अभिनय होता हो। नाचने, गाने, नाट्य करने आदि के लिये बनाया हुआ स्थान।

यौ०—रंग गंध। रंगमूर्ति। रंगद्वार। रंग देवता आदि।

(२) मुद्रस्थल। रणक्षेत्र। छद्माई का मैदान। (३) गृहद्वार। (४) किसी द्रव्य पदार्थ का यह गुण जो उसके आकार से भिन्न होता है और जिसका अनुभव केवल अस्ति ही हो जाता है। वर्ण।

विशेष—जब किसी पदार्थ पर पहले पहल हमारी दृष्टि जाती है, तब प्रायः हमें दो ही वर्णों का ज्ञान होता है। एक तो

उसके आकार का और दूसरा उसके रंग का। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि रंग वास्तव में प्रकाश की किरणों में ही होता है; और वस्तुओं के भिन्न भिन्न रासायनिक गुणों के कारण ही हमारी आँखों को उनका अनुभव वस्तुओं में होता है। जब किसी वस्तु पर प्रकाश पड़ता है, तब उस प्रकाश के तीन भाग होते हैं। पहला भाग तो परावर्तित हो जाता है; दूसरा वशित हो जाता है; और तीसरा उस वस्तु के द्वारा सोख लिया जाता है। परंतु सब वस्तुओं में ये गुण समान रूप में नहीं होते; किसी में कम और किसी में अधिक होते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनमें से प्रकाश परावर्तित होता ही नहीं, या तो परित्त होता है और या सोख लिया जाता है; जैसे,—शुद्ध जल। ऐसे पदार्थ प्रायः बिना रंग के दिगाई देते हैं। जिन पदार्थों पर पड़नेवाला सारा प्रकाश परावर्तित हो जाता है, वे श्वेत दिगाई पड़ते हैं। और जो पदार्थ अपने ऊपर पड़नेवाला समस्त प्रकाश सोख लेते हैं, वे काले होते या दिगाई देते हैं।

प्रकाश का विखंडन करने से उसमें अनेक रंगों की छित्रण मिलती हैं, जिनमें से सप्त रंग मुख्य हैं—लैंगनी, नील, श्याम या आसुमानी, दरा, पीला, नारंगी और लाल। जब ये सातों रंग मिलकर एक हो जाते हैं, तब हम उसे सफेद कहते हैं; और जब इन सातों में से एक भी रंग नहीं रहता, तब हम उसे काला कहते हैं। अब यदि किसी ऐसे पदार्थ पर श्वेत प्रकाश पड़े, जिसमें छाल छिरनों की छोड़ कर और सब रंगों की छिरनों को सोख लेने की शक्ति हो, तो रश्मिभक्त प्रकाश का केवल लाल ही भंग उस पर बच रहेगा; और उस रश्मि में हम उस पदार्थ को लाल रंग का

कहेंगे। अर्थात् प्रत्येक वस्तु हमें उसी रंग की देख पड़ती है, जिस रंग को वह न तो सोच सकती है और न पतित करती है, बल्कि जिसे वह परावर्तित करती है। कुछ रंग ऐसे भी होते हैं, जिनके मिलने से सफेद रंग बनता है। ऐसे रंग एक दूसरे के परिरूपक कहलाते हैं। जैसे,—यदि हरित-पीत रंग के प्रकाश के साथ ही लाल रंग का प्रकाश भी पहुँचने लगे, तो उस दशा में हमें सफेद रंग दिखाई पड़ेगा। इसलिये लाल और हरित-पीत दोनों एक दूसरे के परिरूपक रंग हैं। प्रायः दो रंगों के मिलने से एक नया तीसरा रंग भी पैदा हो जाता है, जैसे,—लाल और पीले के मिलने से नारंगी रंग बनता है। परंतु ये सब बातें केवल प्रकाश की किरणों के संबंध में हैं; वातावरण में मिलने-वाली धुकनियों के संबंध में नहीं हैं। दो प्रकार की धुकनियों को एक साथ मिलाने से जो परिणाम होगा, वह दो रंगों की प्रकाश-किरणों को मिलाने के परिणाम से कभी कभी बिल्कुल भिन्न होगा। इसका कारण यह है कि जब हम दो प्रकार की धुकनियों को एक में मिलते हैं, उस समय हम प्रकाश में एक रंग में दूसरा रंग जोड़ते नहीं हैं, बल्कि एक रंग में से दूसरा रंग घटाते हैं। जिस रंग की किरण को एक धुकनी परावर्तित करती है, उसे दूसरी धुकनी सोख लेती है। इसी लिये धुकनियों के संबंध में जो नियम हैं, वे प्रकाश की किरणों के संबंध के नियमों से भिन्न हैं।

(७) कुछ विशिष्ट रासायनिक क्रियाओं से बनाया हुआ वह पदार्थ जिसका व्यवहार किसी चीज को रंगने या रंगीन बनाने के लिये होता है। वह चीज जिसके द्वारा कोई चीज रंगी जाय या जिससे किसी चीज पर रंग बढ़ाया जाय।

विशेष—बाजारों में प्रायः अनेक प्रकार के कार्यों के लिये अनेक रंगों में बने बनाए रंग मिलते हैं, जिनका व्यवहार पीतों को रंगने या चित्रित करने के लिये होता है। जैसे,—कपड़े रंगने का रंग, छद्दी पर चढ़ाने का रंग, तस्वीर बनाने का रंग आदि।

कि० प्र०—करना।—चढ़ना।—घटाना।—पोतना।—होना।

पौ०—रंग-विरंग।—जिसे अनेक प्रकार का रंग हो। तरह तरह के रंगोंवाला। उ०—रंग-विरंग एक पक्षी बना। छोटी बोंब और काटे घना। (पहेली)

मुहा०—रंग आना या चढ़ना = रंग अच्छी तरह लग जाना या प्रकाश होना। रंग उड़ना या उतरना = घूर या धन आदि के संयोग से (रंग का गिर जाना या कमी पड़ जाना। रंग खेतना = रंग के रितों में पड़ना या रंग बेशक एक दूसरे पर चढ़ना। रंग दाखना या कोटना = (रंगी में) पड़ना या रंग बेशक किताब पर चढ़ना। रंग निखरना = रंग का खेद या चमकीला होना।

पौ०—रंगदार।

(८) चारों का ऊपरी वर्ण। यद्यपि और चेहरे की रंगत। कर्ण। मुहा०—(चेहरे का) रंग उड़ना या उतरना = मन का हठ से चेहरे की रंगत का आना रहना। चेहरा पीला पड़ना। रंगी होना होना। रंग निकलना = दे० “रंग निपटना”। रंग निखरना = चेहरे के रंग का साफ होना। चेहरा साफ और चमकदार होना। चेहरे पर रंगत आना। रंग फूट होना = दे० “रंग चढ़ना”। रंग चढ़लना = लाल पीला होना। रंग होना। रुक होना। नाराज होना। जैसे,—आप तो नाटक हम पर रंग चढ़ रहे हैं।

(९) चीजन। जवानी। युवावस्था।

कि० प्र०—आना।—चढ़ना।—होना।

मुहा०—रंग चूना = युवावस्था का पूर्ण विधान होना। दैन्य चमकना। रंग टपटना = दे० “रंग चूना”।

(१०) शोभा। सौंदर्य। रीनक। छवि।

कि० प्र०—आना।—उतरना।—चढ़ना।—खिलना।—होना।

मुहा०—रंग पकड़ना = रीनक या चर पर जाना। रंग पर आना = दे० “रंग पकड़ना”। रंग पीका पड़ना या होना = रीनक कम हो जाना। शोभा का घट जाना। रंग बरखना = अत्यंत शोभा होना। रंग रीनक होना। उ०—सखी, सपुत्र भाग तो इस कदम के नौचें रंग बरख रहा है।—हरिश्चंद्र। रंग है—शापरा। बाह मा। मन का है।

(११) प्रभाव। असर।

मुहा०—रंग चढ़ना = प्रभाव पड़ना। असर पड़ना। जैसे,—रुख हड़के पर भी भय नया रंग चढ़ रहा है। रंग जमना = प्रभाव पड़ना। असर पड़ना।

(१२) दूसरे के हृदय पर पड़नेवाला शक्ति, गुण या महान का प्रभाव। धाक। शोब।

मुहा०—रंग जमना = धाक जमना। अनुभूत स्थिति बरकरार होना।

उ०—दोनों ने समझा कि रंग जैसा चाहिए, वैसा बन गया।—अयोध्या। रंग उड़ना = धाक न रहना। शक्ति न होना। दूसरी पर महार आदि का प्रभाव न रहना। जैसे—पहले यहाँ उसे बहुत आनंदनी थी, पर अब रंग उड़ानु गया। रंग जमाना = प्रभाव जमाना। पड़ना। रंग पीका रहना = पूरा पूरा प्रभाव न पड़ना। रंग बरखना = शोब जमाना। धाक जमाना। रंग बॉचना = (१) प्रभाव जमाना दूसरे के हृदय में स्थापित करना। शोब बॉटना। पड़ना। उ०—आई मुझे वो एक दिन के दिने भी करी लान मित्र जाय, तो रंग बॉचूँ।—राधाकृष्णदास। (२) धाक बॉदना रहना। शोब रहना। रंग बॉदना = धाक बॉदना रहना। प्रभाव नष्ट या कम हो जाना। रंग बॉदना = (१)

प्रभाव नष्ट करना । मरहव घटना । (२) रोखी किरकिरी करना ।

रंग खाना = अपना प्रभाव या गुण दिखलाना ।

(१३) मीठा । कौतुक । खेल । आनन्द-उत्सव । उ०—(क)

दिन में सब लोग राग, रंग, मृत्त्यु, दान, भोजन, पान इत्यादि में निरुक्त थे । (ख) वर जंग रंग करिये चहौ मनहि सुदंग उमंग में ।—गोपाल ।

यौ०—रंग-रलियाँ = आनन्द-प्रमोद । मीब । चैन ।

फि० प्र०—करना ।—मुनाना ।

मुहा०—रंग रलना = आनन्द-प्रमोद करना । मीठा या भोग-विलास करना । उ०—भोग ही कही मन भाव हव राखियो दे मुख तुमहि संग रंग रहिहैं ।—सूर । रंग में अंग पड़ना = आनन्द-प्रमोद के बीच कोई दुःख की बात आ पड़ना । हँसी और आनन्द में मिला पड़ना ।

(१४) युद्ध । लड़ाई । समर ।

मुहा०—रंग मथाना = रण में खूब युद्ध करना । उ०—चदि देहि समर उपर परन उत्तरद्वार मचाय रंग ।—गोपाल ।

(१५) मन की उमंग या तरंग । मन का वेग या स्वच्छन्द प्रवृत्ति । मीज । उ०—(क) रमजदित किंकिणि पग नूरु अपने रंग बजायहु ।—सूर । (ख) अपने अपने रंग में सब रंग हैं, जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गढ़ रहा है ।—हरिश्चंद्र । (ग) चदि रंग सफरंग के हिंदू तुलक अमान । उमदि उमदि दुहुँ दिस लगे कीरन लोहो खान ।—छाल ।

मुहा०—(किरी के) रंग में डलना = किरी के कहने या विचार के अनुसार कार्य करने लगना । किरी के प्रभाव में जाना । उ०—मुरत मन मुख मानि छीन्दो नारि तेहि रंग वरी ।—सूर ।

(१६) आनन्द । मग । उ०—(क) बहुत शरिया छाने संग । काम न परच छै रंग ।—देवस्वामी । (ख) खान पान सनमान राग रंग मनहि न भाये ।—गिरधर । (ग) मोकों व्याकुल छैदिके आपुन करे जु रंग ।—सूर ।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का और इसके मुहावरों का प्रयोग प्रायः नये के संबंध में भी होता है ।

मुहा०—रंग खाना = मग मगना । आनन्द मगना । रंग उतराना = बने हुए आनन्द का बचाना व घटना या नष्ट हो जाना । रंग उमना = आनन्द का पूर्णता पर जाना । राव मग होना । रंग मथाना = रंग मगना । उ०—असवारी में रंग मचाये । मन के संग सुरंग मचाये ।—छाल । रंग में अंग करना = पूर्ण आनन्द के लयबद्ध में मिला करके करना । बनाव बनाना मग मगाना । रंग रपाना = उमर करना । नग्ना करना ।

(१७) दशा । दायन । उ०—कबहुँ नहि पदि भीनि देखो, भाव को तो रंग ।—सूर ।

मुहा०—रंग खाना = दश करिना करना । दायन करना । जैसे,—

तुम्हारी ही शरारत यह सब रंग लाई है ।

(१८) बहुत व्यापार । कांड । दण्ड । जैसे,—यह सब रंग उन्हीं की कृपा का फल है । (१९) प्रसन्नता । कृपा । दया । मेहरबानी । उ०—हम चाकर कलिराज के कृपा करत ही दोष । ताकी मरजी को तर्क करत रंग औ रोप ।—गुमान । (२०) प्रेम । अनुराग । उ०—(क) जब हम रंगी दयाम के रंग । तब लिखि पठ्या ज्ञान प्रसंगा ।—रघुनाथ-दास । (ख) देखु जरनि जड़ नारि की जरत प्रेत के संग । चित्त न पित कीरो भयो रची सु पिय के रंग ।—सूर । (ग) ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकी नाथ के रंग न राते ।—तुलसी । (घ) गोरिन के रंग भीजिगो सापिरो साँवरे के रंग भीनी भु मोरी ।—पद्माकर ।

मुहा०—रंग देना = किसी को अपने वेग-पारा में रँजाने के लिये उसके प्रति प्रेम प्रकट करना । (बाजार)

(२१) रंग । डब । चाल । तर्ज । उ०—(क) रामभयना-म्यंतर तो यह उपकरण था और बाहर नम-मंडल का और ही रंग दिखाई देता था ।—अयोध्यासिंह । (ख) जो तुम राजी हो इस रंग । तो खेले काग हमारे संग ।—छाक-छाल । (ग) क्यों पद्माकर यों मग में रंग देखत हैं कप की रज राखे ।—पद्माकर । (घ) हमारा प्रधान शासक न विक्रम के रंग डंग का है, न हार्ले या अरुवर के । उसका रंग ही निराळा है ।—बालमुकुंद । (ङ) सुनु जानकी कुरंग मैनी होय न कुरंग यह कपोद कुरंग है ।—हृदयराज ।

यौ०—रंग-डंग = (१) दया । दायन । (२) बात-बाज । दौर-दौड़ा । (३) व्यवहार । बलाव । जैसे,—आगकले उसके रंग-डंग भरते नहीं दिखाई देते । (४) ऐसी बात जिससे किसी दूसरी बात का अनुमान हो । तपस । जैसे—आसमान के रंग-डंग से तो मायूम होता है कि जानें पानी बरसेगा ।

मुहा०—रंग काटना = पान बनना । रंग बदलाना करना । उ०—सूर दयाम जितने रंग काटन सुकनी जल मन के गोऊ हैं ।—सूर । (किरी को अपने) रंग में रँगना = किसी को अपने ही विचारों या बनाव लेना । पाना का करना ।

(२२) मूर्ति । प्रकार । तरङ्ग । उ०—हृदि भयत्र प्रसु पीठि है गुन विलारन काळ । प्रगटन निरगुन निरुद्ध रहि संग रंग मृषाल ।—विहारी । (२३) चौरङ्ग की गोदियों के, खेल के काम के लिये किए हुए, दो हृदिम विभागों में से एक ।

विशेष—चौरङ्ग की कुछ गोदियाँ १९ होती हैं, जो बार रंगों में विभक्त होती हैं । इनमें से विभिन्न रंग की भाट गोदियाँ "रंग" और दो रंगों की भाट गोदियाँ "बद रंग" कहलाती हैं ।

मुहा०—रंग उमना = चैन में रंग की लोच का किसी बन्धे और दायन पर मे मग रँजना, जिससे काटन सेवकों की बँड

अधिक मित्रित हो जाती है। रंग मारना = बारी चीटना विषय।
पना। उ०—(क) यह होंठ जो कि पोखले पातो हैं हमारे।
इन होंठों ने बोलों के बड़े रंग हैं मारे।—नजीर। (ख)
हनजुवाली के लिये हमने मिठाई चौसर। पास्ता गिरते हो
गोया रंग हमारा मारा।

रंगही-रंग पुं० [हि० रंग + ई (प्रत्य०)] घोड़ियों के अंतर्गत एक
जाति जो केवल छपे हुए कपड़े पहने का काम करती है।

रंगफाट-रंग पुं० [सं०] पतंग नाम की खट्टी। यक्ष्म।

रंगक्षेत्र-रंग पुं० [सं०] (१) अभिनय करने का स्थान।
रंगस्थल। नाट्यभूमि। (२) किसी उत्सव आदि के लिये
सजाया हुआ स्थान।

रंगगृह-रंग पुं० [सं०] रंगभूमि। नाट्यस्थल।

रंगचर-रंग पुं० [सं०] गटर में अभिनय करनेवाला। नट।

रंगज-रंग पुं० [सं०] सिद्ध।

रंगजगनी-रंग स्त्री० [सं०] लासा। लाल।

रंगजीवक-रंग पुं० [सं०] (१) चित्रकार। मुसम्बर। (२)
वह जो अभिनय करता हो। नट।

रंगत-रंग स्त्री० [हि० रंग + त (प्रत्य०)] (१) रंग का भाव।
वैसे,—इसकी रंगत कुछ काली पड़ गई है। (२) मजा।
आनंद। जैसे,—जब आप वहाँ पहुँचेंगे, तभी रंगत
आयेगी।

क्रि० प्र०—रिलाना।—मुलना।—जमना।

मुहा०—रंगत आना = मशर होना। जानबू होना।

(१) हालत। दशा। अवस्था। वैसे,—आजकल उनकी
रंगत अच्छी नहीं है।

रंगतरा-रंग पुं० [हि० रंग] एक प्रकार की बड़ी और मीठी
मार्गरी। संगमरा।

रंगद-रंग पुं० [सं०] (१) सोहागा। (२) सख्तिरसार।

रंगदलिका-रंग स्त्री० [सं०] नागवली लता। नागबेल।

रंगदा-रंग स्त्री० [सं०] फिटकरी।

रंगदायक-रंग पुं० [सं०] कंकड़ नाम की पहाड़ी मिट्टी।

रंगदहदा-रंग स्त्री० [सं०] फिटकरी, जिससे रंग पड़ा होता है।

रंगदेयता-रंग पुं० [सं०] वह कल्पित देयता जो रंगभूमि के
अधिराजा माने जाते हैं।

रंगना-रंग पुं० [सं०] एक प्रकार का मसोला बूझ। इसके
होत की छक्की करी, पिन्की और मजपूत होगी है और
हमारा के काम में आती है। बेंगाज, मजपूत प्रदेस और
भद्रास में यह पेड़ बहुतायत में होता है। इसे 'बोटा
मंजरा' भी कहते हैं।

रंगना-क्रि० प्र० [हि० रंग + ना (प्रत्य०)] (१) किसी वस्तु पर
रंग चढ़ाना। रंग में सुवासक अपना रंग चढ़ाकर किसी चीज
को रंगीन करना। जैसे,—कनहर रंगना। रियादे रंगना।

संयो० क्रि०—छलना।—देना।

(२) किसी को अपने प्रेम में रँखाना। (३) अपने हाव-
साधन के अनुकूल करने के लिये बातचीत का प्रचार
छलना। अपने अनुकूल करना। अपना सा बनाना। उ०—
छात्र गद्दी मुख खोलें न खोलें कियो रघुनाथ उपाय दुनी
को। कोटि रँग नहीं एक छग निमि सुम के आगे सदान
गुनी को।—रघुनाथ।

क्रि० प्र० किसी के प्रेम में लिप्त होना। किसी पर आसक्त
होना। उ०—(क) जनम तासु को सुखल जो रँग ताम
के रंग।—रघुनाथदास। (ख) संतन के उपदेस में रँगो
कपुरु हरि रंग।—रघुनाथ।

संयो० क्रि०—जाना।

रंगपत्री-रंग स्त्री० [सं०] मीठी बूझ।

रंगपुरी-रंग स्त्री० [रंगपुर = रंगल का एक नगर] एक प्रकार
की छोटी नाव जिसके दोनों ओर की गल्लरी एक ही
होती है।

रंगपुष्पी-रंग स्त्री० [सं०] मीठी बूझ।

रंगप्रवेश-रंग पुं० [सं०] अभिनय करने के लिये किसी पात्र का
रंगभूमि में आना।

रंगयक्ष-रंग पुं० [हि० रंग + यक्ष (प्रत्य०)] इल्ली। (सार)

रंगविरंग-वि० [हि० रंग + विरंग (प्रत्य०)] (१) कई रंगों का।
(२) भक्ति भक्ति के। तरह तरह के। अनेक प्रकार के।
वैसे,—(क) उनके पास रंग विरंग कपड़े हैं। (ख) माँ देवी
और बाप कुल्लंग। उनके वस्त्र रंग विरंग।

रंगविरंगा-वि० [हि० रंगविरंग] (१) अनेक रंगों का। कई
रंगों का। चित्रित। (२) तरह तरह का। अनेक प्रकार का।

रंगभरिया + रंग पुं० [हि० रंग + भरना] छग, किराये, दीवार
इत्यादि पर रंगों से चित्रकारी करनेवाला। रंग करनेवाला।
रंग साज।

रंगमयन-रंग पुं० [सं०] आसोद-प्रमोद या आंगविक्षाप्त करने
का स्थान। रंगमहल।

रंगभूमि-रंग स्त्री० [सं०] कोजागर भूमि। आश्विन की
भूमि।

विशेष—कहते हैं कि जो लोग इस राग को आगे रखते हैं,
उन्हें खली आदर धन देनी है।

रंगभूमि-रंग स्त्री० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ कोई जलवा
हो। जलधर भूमाने का स्थान। उ०—(क) रंगभूमि आगे
बोटा आई। बस सुवि सब पुरकारित पाई। (ग) मेरे रंग-
भूमि बनि जहाँ। मात मुझ करि भाव लखी।—रघु-
नाथदास। (२) रंग, बूझ का समाने आदि का स्थान।
अद्वितीय। उ०—रंगभूमि रसलीक मधुपुरी मारि चार
बहो बह कीनो।—नूर। (३) गटर केले का स्थान।

नायकशाला । रंगस्थल । (४) वह स्थान जहाँ कुम्भी होती हो । अखाड़ा । (५) रणभूमि । युद्धक्षेत्र ।
 रंगमंडप-संज्ञा पुं० [सं०] रंगभूमि । रंगस्थल ।
 रंगमध्य-संज्ञा पुं० [सं०] रंगमंच । रंगस्थल ।
 रंगमल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] चीणा । चीन ।
 रंगमहल-संज्ञा पुं० [हिं० रंग + म० महल] भोग-विलास करने का स्थान । आमोद प्रमोद करने का भवन । उ०—चैठी रंगमहल में राजति । प्यारी फेरि अभूषण साजति ।—सूर ।
 रंगमाता-संज्ञा स्त्री० [सं० रंगमातृ] (१) कुटनी । (२) लाक्ष । लाक्षा ।

रंगमातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाक्षा । लाक्ष ।
 रंगमात्र-संज्ञा पुं० [हिं० रंग + मात्रा] तात्ता का एक खेल जो दो, तीन अथवा चार आदमियों में खेला जाता है । इसमें एक एक करके सब खेलनेवालों को बराबर बराबर पच्चे बटि दिए जाते हैं और तब खेल होता है । इसमें जिस रंग का जो पत्ता चला जाता है, उसी रंग के उससे पच्चे पच्चे से यह जीता जाता है । यह तात्ता का सब से सीधा खेल है ।

रंगरत्नी-संज्ञा स्त्री० [हिं० रंग + रत्ना] आमोद-प्रमोद । आनंद । क्रीड़ा । खेल । मीज । उ०—कुदंग कोय तजि रंगरत्नी करति लुपति जग जोइ । पावस बात न गूझ यह पृथ्वि हू रंग होइ ।—विहारी ।

मुहा०—रंगरत्नियों मचाया या करना = आनंद भंगल और आमोद प्रमोद करना । उ०—(क) तुम्हारे यही दिन हैंसेने खोलने और रंगरत्नियों करने के हैं ।—अयोध्या । (ख) हमारा शहर में हर रू मची है रंग रत्नियों । गुलाल अवीर से गुलजार हैं सभी गलियों ।—मजरी ।

रंगरस-संज्ञा पुं० [हिं० रंग + रस] आमोद प्रमोद । आनंद भंगल । उ०—सुपराई के गरव मरी जानति सब रंग रस ।—ध्यास ।

रंगरसिया-संज्ञा पुं० [हिं० रंग + रसिया] भोग-विलास करनेवाला व्यक्ति । विलासी पुरुष ।

रंगराज-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत रामोदर के अनुसार ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद ।

रंगरुट-संज्ञा पुं० [सं० रूट] (१) मेरा या पुलिस आदि में गया भर्ती होनेवाला सिपाही । (२) किसी काम में पड़ते पहल हाथ ढालनेवाला आदमी । यह आदमी जो कोई काम शीघ्रते खटा हो । जिसने कोई गया काम करना शुरू किया हो । यह जिसे कार्य का अनुभव न हो । जैसे,—यह भर्ती ध्यासमान देना क्या जानें, रिसफुज रंगरुट हैं ।

रंगरेख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रंगरेखन । कण्डे रंगनेवाला । यह जो कण्डे रंगने का काम करता हो ।

रंगरेली-संज्ञा स्त्री० [सं०] “रंगरली” । उ०—मैंसन देहु करन रंगरेली । रंग पसारि कुंद बिच केली ।—छन्दमणिसिंह ।
 रंगरैनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० रंग + रैनी = जुगनू] एक प्रकार की लाल रंग की चुनरी ।

रंगलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] आवर्तकी लता । मरोड़फली ।

रंगलासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रोफालिका ।

रंगचक्षिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रंगबछी । नागबछी ।

रंगघाई-संज्ञा पुं० [सं०] चोपायों का एक रोग ।

रंगघाई-संज्ञा स्त्री० [सं०] “रंगाई” ।

रंगघाना-कि० सं० [हिं० रंगना का प्रेर० रूप] रंगने का काम दूसरे से कराना । दूसरे को रंगने में प्रवृत्त करना ।

रंगविद्याधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद । इसमें दो पाली और दो ध्रुत मात्राएँ होती हैं । (२) वह जो अभिनय करता हो । नट । (३) वह जो नाचने में कुशल हो ।

रंगचीज-संज्ञा पुं० [सं०] चर्बि ।

रंगशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाटक खेलने का स्थान । नाट्य-शाला । रंगस्थल ।

रंगसाज़ी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेज़, खरसी, किराड़, दीवार इत्यादि पर रंग चवानेवाला । यह जो चीजों पर रंग चढ़ाता हो । (२) उपकरणों से रंग तैयार करनेवाला । रंग बनानेवाला ।

रंगसाज़ी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रंगसाज़ का काम । रंगने का काम ।

रंगांग-संज्ञा स्त्री० [सं०] फिटफरी ।

रंगाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० रंग + ग्राई (प्रत्य०)] (१) रंगने का काम । रंगने की क्रिया । (२) रंगने का भाव । जैसे,—इसकी रंगाई बहुत अच्छी हुई है । (३) रंगने की मजदूरी ।

रंगांगण-संज्ञा पुं० [सं०] रंगस्थल । नाट्यशाला ।

रंगाजीब-संज्ञा पुं० [सं० रंगाजीब] वह जिसकी जीपिका रंगाई से चरती हो । रंगसाज़ या रंगने ।

रंगाना-कि० सं० [हिं० रंगना का प्रेर० रूप] रंगने का काम दूसरे से कराना । दूसरे को रंगने में प्रवृत्त करना ।

रंगाभरण-संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद ।

रंगाट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धियों की एक जाति का नाम । (२) राजपूतों की एक जाति । इस जाति के लोग मेराड़ और मालवे में रहते हैं । (३) मध्य तथा दक्षिण भारत में रहने-वाली एक जाति । इस जाति के लोग अपने-अपने प्रांतों के भ्रमण बगलते और सेवा-वारी करते हैं ।

रंगारि-संज्ञा पुं० [सं०] कपूर । कनेर ।

रंगासय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ पर नाटक, कुम्भी या इसी प्रकार का और कोई खेल तमाजा हो । रंगभूमि ।

रंगायट-रंग री. [दि० रंग + याट (प्रत्य०)] रंगने का भाव । रंगाई ।

रंगायतारक-रंगा पुं० [सं०] (१) रंगरेज । (२) अभिनय करनेवाला । नट ।

रंगायतारी-रंगा पुं० [सं०-रंगायतारिन्] अभिनय करनेवाला । नट ।

रंगियाई-रंगा पुं० [दि० रंग + या (प्रत्य०)] (१) कपड़े रंगनेवाला । रंगरेज । (२) रंगसाज ।

रंगी-रंगा स्त्री० [सं०] (१) चानमुखी । (२) वैचर्षिका नाम की लता । विशेष दे० "वैचर्षिका" ।

वि० [दि० रंग + ई (प्रत्य०)] आलंबी । मौजी । विनोदशील ।

रंगीन-वि० [का०] (१) जिस पर कोई रंग चढ़ा हो । रंगा हुआ । रंगदार । (२) विस्तार-प्रिय । आमोद-प्रिय । जैसे,—रंगीन सदीयत, रंगीन आदमी । (३) जिसमें कुछ अभीष्टावन हो । चमत्कारपूर्ण । अजेदार । जैसे,—रंगीन हथार, रंगीन बात चीज ।

रंगीनी-रंगा स्त्री० [का०] (१) रंगीन होने का भाव । (२) सजावट । बनावट । सिंगार । (३) रसिकता । (४) रसिकता । रंगीकानन ।

रंगीरेटा-रंगा पुं० [दे०] एक जंगली वृक्ष जो हाजिस्टिम में अधिकता से होता है । इसकी छत्रकी बहुत मजबूत होती है और इसका पताने के काम में आती है । इसमें भेज, फेरती आदि भी बनाई जाती है ।

रंग ला-वि० [दि० रंग + ला (प्रत्य०)] [का० रंगी] (१) आलंबी । मौजी । रसिया । रसिक । उ०—रंगम रंग रंगे रंगते गन ।—सूर । (२) सुंदर । मृदुसुल । जैसे,—रंगिला जवान । उ०—कई चंद्रमाकर घटे पी चों रंगीलो रूप देखे पिन देखे कही कैसे भीर धारिये ।—वधाकर । (३) प्रेमी । अनुरागी ।

रंगीली टोड़ी-रंगा स्त्री० [दि० रंगीला + टोरी (प्रत्य०)] संपूर्ण जाल की एक रंगिनी जिसमें सब मुद्र स्वर लपटें हैं । यह टोरी रंगिनी का एक भेद है ।

रंगीपाई-रंगा पुं० [दि० रंग + पा (प्रत्य०)] रंगनेवाला ।

रंगोपजीवी-रंगा पुं० [सं०-रंगोपजीवन्] यह जो रंगकाया में अभिनय करते अपनी आँखों का निर्वाह करता हो । नट ।

रंग, रंगराज-वि० [सं०-रंग, प्रा० रंज] सोपा । प्रसन्न । तनिका । उ०—(१) रंजन मेरी चित्तो सुखनी यह रंजन प्यारे दया मन कीर्षी ।—मुंदर । (२) प्रसन्न होने समर्थ हो दिन रंज हार महि माने ।—सूर । (३) रंज न साथ मुषी मुग की चित्त रंजिर्क आधिक सोचन दाटे ।—केदार । (४) दिव भंडन हीन इषी जय रंजन लाई लपेटे टार बाढ़ गरी ।

—केदार । (५) रंज लिये विषु कैनी बप् रति हूँ जेहि रंजक रूप दिखी है ।—गुप्तसीदास ।

रंज-रंगा पुं० [का०] [वि० रंज] (१) दुःख । वेद । (२) शोक ।

कि० प्र०—उदना ।—करना ।—सेरना ।—देना ।—गुं-चना ।—पहुंचाना ।—सुदमा ।

रंजक-रंगा पुं० [सं०] (१) रंगसाज । (२) रंगरेज । (३) हिंगुल । इंगुर । (४) सुधुत के अनुसार पेट की एक अंग जो पित्त के अंतर्गत मानी जाती है । कहते हैं कि यह कृष्ण और प्लीहा के बीच में रहती है, और ओजस से जो रस उत्पन्न होता है, उसे रंजित करती है । (५) मिठायाँ । (६) सेंहरी ।

वि० [सं०] (१) रंगनेवाला । जो रंगे । (२) आलंकारक । प्रसन्न करनेवाला । जैसे,—मनोरंजक ।

रंजा स्त्री० [दि० रंज = रज] (१) वह छोटी सी बालू जो चली लगाने के घाते बंधक की प्याली पर रखी जाती है । उ०—रंजक हजार एक बार वीरि सारि बोर रंजक दगनि मानो अगिनि रिसाने की ।—भूपर ।

कि० प्र०—देना ।—मरना ।

मुद्रां०—रंजक उदना = (१) बंदूक या टोप की पारो में रही लगाने के लिये बालू । (२) चरण । (३) चरण । रंजक घाट जाना = टोप या बंदूक की प्याली में रंजी हुई बालू का गोला धन करार जाना और उसमें गोला या गोली न मारना । रंजक पिछाना = टोप या बंदूक की प्याली में रंजक लगाना ।

(२) गाँव, तमाचू या मुल्ले का दम । (३) घातक ।

मुद्रां०—रंजक देना = गाँव आदि का दम लगाना । (१) यह बात जो किसी को मरवाने या उद्वेगित करने के लिये कही जाय । (२) कोई सीला या चट्टान चुन ।

रंजन-रंगा पुं० [सं०] (१) रंगने की क्रिया । (२) पित्त की प्रसन्न करने की क्रिया । (३) चित्त । सफा । (४) रंज चंद्रन । काक चंद्रन । (५) अथवा चंद्र के पचासवें भेद का नाम । (६) वे पदार्थ जिन्हें रंज बनते हैं । जैसे,—हरी, नीला, लाल चंद्रन, वृषभ, अजोड हथारि । (७) मूत्र । (८) सोना । (९) जावरज । (१०) कमीला वृक्ष ।

रंजक-रंगा पुं० [सं०] चट्टक ।

रंजनदेवी रंगा स्त्री० [सं०] भीखी वृक्ष ।

रंजना ०-दि० रंज [सं० रंज] (१) प्रसन्न करना । आनंदित करना । (२) मजबूत । मरान करना । उ०—आदि निर्जन नाम गाहि रंजि सब कोर ।—सूर । (३) रंगना । उ०—वो राख के जन ग्रामन में साखी सरजोदप की भव-गाई । अनंतन प्रजु रंजन को रंजमान की रज उतर आई ।—केदार ।

रंजनी-छा सी० [सं०] (१) ऋषभ स्वर की तीन ध्रुतियों में से दूसरी ध्रुति (संगीत)। (२) नीली वृक्ष। (३) मजीठ। (४) हलदी। (५) पर्यंटी। (६) नागवल्ली। (७) जंतुका या पहाड़ी नाम की लता।

रंजनीपुष्प-छा पुं० [सं०] एक प्रकार का करंज या कंजा। पुष्पिकरंज।

रंजनीय-वि० [सं०] (१) जो रंगने के योग्य हो। (२) जो चित्त प्रसन्न कर सके। आनंद दे सकनेवाला।

रंजा-छा सी० [रं०] एक प्रकार की मछली जिसे उलही भी कहते हैं।

रंजित-वि० [सं०] (१) जिस पर रंग चढ़ा या लगा हो। रंगा हुआ। उ०—रंजित अंजन कंज विखोचन। ब्राजत भाल तिलक गोरोचन।—तुलसी।

(२) जानदित। प्रसन्न। (३) प्रेम में पड़ा हुआ। अनुरक्त।

रंजित-छा सी० [का०] (१) रंज होने का भाव। (२) मन-मुटाव। अनयन। (३) धैर्यमय। शत्रुता।

रंजीवगी-छा सी० [का०] (१) रंजीदा होने का भाव। (२) रंजित।

रंजीश-वि० [का०] (१) जिसे रंज हो। दुःखित। (२) माराज। अप्रसन्न। असंतुष्ट।

रंङ-वि० [सं०] (१) धूत। चालाक। (२) विकल। धैर्यन।

रंङक-छा पुं० [सं०] यह पेड़ जिसमें फल न आते हों।

रंङा-वि० [सं०] रंङ। विधवा। बेया।

रंङापा-छा पुं० [हि० रंङ + आ (भाव०)] विधवा की दत्ता। धैर्य्य। बेयापन।

रंङाश्रमी-छा पुं० [सं० (राश्रमिन्)] वह जो ४८ वर्ष की अवस्था के उपरांत रंङा हुआ हो। ४८ वर्ष की उम्र के बाद जिसकी स्त्री मरे।

रंङी-छा सी० [सं० रंङा] माचने-गाने और धन लेकर संभोग करनेवाली स्त्री। बेदया। कसबी।

यौ०—रंङीपात्र। रंङीश्री। रंङी-शुद्धी।

मुहा०—रंङी रज्जवा = किसी रंङी को संभोग करने के लिये करने का रगना।

रंङीपात्र-छा पुं० [हि० रंङी + का० पात्र] वह जो रंङियों से संभोग करता हो। बेदयागामी।

रंङीपात्री-छा सी० [हि० रंङी + का० पात्री] रंङी के साथ गमन करती। बेदयागमन।

रंङुष्मा, रंङुष्पा-छा पुं० [हि० रंङ + उष्मा (भाव०)] वह पुरुष जिसकी स्त्री मर गई हो।

रंङोरा-छा पुं० [हि० रंङ + रा (भाव०)] [स्त्री० रंङोरी] वह पुरुष जिसकी स्त्री मर गई हो। रंङुष्मा।

रंति-छा सी० [सं०] (१) रंति। रंति। (२) गिराव।

रंता-छा-वि० [सं० रत] अनुरक्त। लगा हुआ। उ०—(क) मुनि मानस रंता जगत निर्मता आदि न भंत न जाहि।—केशव। (ख) मुनिगण प्रतिपालक रिपुकुल घालक बालक ते रंगरंता।—केशव।

रंतिदेव-छा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक बड़े दानी राजा जिन्होंने बहुत अधिक धन दिए थे। एक बार सप्त कुल दे डालने पर इन्हें ४८ दिनों तक पीने को जल भी न मिला। उनकासर्वे दिन वे कुछ राने पीने का आयोजन कर रहे थे कि प्रथम से एक ब्राह्मण, एक शूद्र और कुत्ते को लिए हुए एक अतिथि आ पहुँचे। सब सामान ठन्ठों के आतिथ्य में समाप्त हो गया; केवल जल बच रहा। उसे पीने के लिये ज्यों ही इन्होंने हाथ उठाया कि एक प्यासा बाँडाल आ गया और पीने के लिये जल मँगाने लगा। राजा ने वह जल भी दे दिया। अंत में भगवान् ने प्रसन्न होकर इन्हें मोक्ष दिया। (२) विष्णु। (३) कुत्ता।

रंतिनदी-छा सी० [सं०] चंबल नदी।

रंतु-छा सी० [सं०] (१) सड़क। (२) नदी।

रंद्-छा पुं० [सं० रंघ] (१) बड़ी इमारतों की दीवारों के वे छेद जो रोशनगी और हवा आने के लिये रचे जाते हैं। रोशन-दान। (२) किले की दीवारों का वह मोला जिसमें से बाहर की ओर बंदूक या तोप चलाई जाती है। मार। उ०—क्या रेनी रंद्क रंद् बढ़ा क्या कोट कँपूरा अनमोला। क्या पुनं रहकला तोप किला क्या शीशा दारु और गोला।—बकीर।

रंद्ना-कि० सं० [हि० रंदा + ना (भाव०)] रंदे से छीलकर छड़की की सतह चिकनी करना। रंदा फेरना या पलाना।

रंदा-छा पुं० [सं० रदन = कटना, रंदा] बड़ई का एक औजार जिससे यह छड़की की सतह छीलकर चारों ओर चिकनी करता है। इसमें एक चौपट लंबी और चिकनी सतहवाली छड़की के बीच में एक छोटा टंका छेद होता है, जिसमें एक तेज धारवाला फल जड़ा रहता है। इसे हाथ में लेकर किसी छड़की पर बार बार रगड़ने या चालाने से उसके ऊपर से उमरी हुई सतह बनती जाती है और धीरे-धीरे यह छड़की की सतह चिकनी हो जाती है।

रंघक-छा पुं० [सं०] (१) रसोई बनानेवाला। रसोइया। (२) मट करनेवाला। मातृक।

रंघन-छा पुं० [सं०] (१) रसोई बनाने की क्रिया। पाक करना। रंघना। (२) मट करना।

रंघित-वि० [सं०] (१) चलाया हुआ। रंघा हुआ। (२) मट।

रंघ-छा पुं० [सं०] (१) छेद। मूलाव।

यौ०—रंघरंघ।

(२) चोब। मग। (३) रंघ। जिद्द।

उरे १-सर्व० [हि० राव, रावल] मध्यम पुरुष के लिये आदर-
सूचक शब्द । आप । जनाव । उ०—विग्रह सहित परिवार
गोसाई । कहहि छोह सब रउरहि नाई ।—तुलसी ।

रपेयत-संज्ञा स्त्री० [अ०] प्रजा । रियाया ।

रकछु १-संज्ञा पुं० [हि० रक्खिच] पत्थों की पकौड़ी । पतौड़ ।

उ०—पान कतरि छैंकै रकछही डारि मिर्च औ आदि ।

एक खंड जो खर्वे पाँवे सहस सवादि ।—जायसी ।

रकत १-संज्ञा पुं० [सं० रक्त] लहू । खून । रधिर ।

वि० लाल । सुखं ।

रकतकंद-संज्ञा पुं० [सं० रक्तकंद] (१) मूँगा । प्रवाल । विद्रुम ।

(हि०) (२) राजपलंडु । रकालु । रतालु ।

रकतार्क १-संज्ञा पुं० [सं० रक्तार्क] (१) विद्रुम । प्रवाल ।

मूँगा । (हि०) (२) कुंडुम । केसर । (३) रक्तचंदन ।

लाल चंदन ।

रकथा-संज्ञा पुं० [अ०] वह गुण-फल जो किसी क्षेत्र की लंबाई

और चौड़ाई को गुण करने से प्राप्त हो । क्षेत्रफल ।

रकथाहा-संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ों का एक भेद । उ०—कर रक-

थाहे किलवासी कुही काथिल के, सुरासानी खंगरीत खंजन

खलक के ।—सूदन ।

रकमंजनी-संज्ञा स्त्री० [सं० रम्य] एक प्रकार का पीठा ।

रकम-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कितने की किया या भाव । (२)

छाप । मोहर । (३) खया या बोधा-विवक्षा आदि छितने

के फारसी के विशिष्ट अंक जो साधारण संख्यासूचक अंकों

से भिन्न होते हैं । (४) नियत संख्या का धन । संपत्ति ।

दीलत । (५) गहना । जेवर । (६) धनपान । मालदार ।

(७) चलता-पुर्जा । खालक । धूर्त । (८) नव्यायना और

सुंदरी स्त्री । (बाजारू) (९) लगान की दर । (१०) प्रकार ।

सह । अंत ।

रकमी-संज्ञा पुं० [अ०] वह किसान जिसके साथ कोई खास

रिवाज की जाय ।

रकाव-संज्ञा स्त्री० [पा०] (१) घोड़ों की काठी का पावदान

जिस पर पैर रखकर सवार होते हैं और बैठने में जिससे

सहाय लेते हैं । घोड़ों की जीन का पावदान । यह छेदे का

एक घेरा होता है, जो जीन में दोनों ओर रखी या तस्से से

लटका रहता है ।

मुद्रा०—रकाव पर पैर रखना = जाने के लिये उद्यत होना । चलने

के लिये किन्तुन नैवार होना । जैसे,—(क) आप तो पहले से

ही रकाव पर पैर रने हुए हैं । (ख) आर जब आने हैं, तब

रकाव पर पैर रने आते हैं ।

(३) रकाबी । तन्तरी ।

रकावदार-संज्ञा पुं० [अ०] (१) गुराडा, निडाई आदि बनाने-

वाला । हलवाई । (२) रकावियों में खाना चुनने और
लगानेवाला । खानसामों । (३) बादशाहों के साथ खाना
लेकर चलनेवाला सेवक । खासापरदार । (४) रकाव पकड़
कर धोड़े पर सवार करानेवाला नीकर । साईस ।

रकावा-संज्ञा पुं० [अ०] यड़ी वाली । परात । तत ।

रकाबी-संज्ञा स्त्री० [अ०] एक प्रकार की छिछली छोटी थाली,

जिसकी दीवार बहुत कम ऊँची अथवा बाहर की ओर मुड़ी

हुई होती है । तन्तरी ।

रकारि-संज्ञा पुं० [सं०] र वणं का बोधक अक्षर । र ।

रक्रीक-वि० [अ०] (१) पानी की तरह पतला । तरल । द्रव ।

(२) कोमल । मुलायम । नरम ।

रक्रीय-संज्ञा पुं० [अ०] वह प्रतियोगी जो किसी प्रेमिका के प्रेम

के संबंध में प्रतियोग करता हो । प्रेमिका का दूसरा प्रेमी ।

सपथ ।

रकेवी-संज्ञा स्त्री० दे० “रकाबी” ।

रक्खना-कि० सं० दे० “रखना” ।

रक्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह प्रसिद्ध तरल पदार्थ जो प्रायः

लाल रंग का होता और शरीर की नसों आदि में से होकर

बहा करता है । लहू । रधिर । रून ।

विरोग—साधारणतः रक्त से ही हमारे शरीर का पोषण और

रक्षण होता है । यह हृदय द्वारा परिष्कृत होता और

सदा सारे शरीर में बहकर लगाया करता है । शरीर के अंगों

में पोषक द्रव्य रक्त के द्वारा ही पहुँचता है; और जब रक्त

कहीं से चलता है, तब उस स्थान के दूषित या परित्यक्त

अंश को भी अपने साथ ले लेता है । इस प्रकार इसमें जो

दूषित अंश या विष भा जाता है, वह फुरकुर की क्रिया

से नष्ट हो जाता है; और फुरकुर में आने के उपरांत रक्त

फिर मुद्र हो जाता है । हृदय से जो साफ़ रक्त चलता है,

वह लाल होता है । पर फिर जब शरीर के अंगों में बही

रक्त फुरकुर की ओर चलता है, तब वह काला हो जाता

है । रक्त जब से कुछ भारी होता है, स्वाद में कुछ नमकीन

होता है और पारदर्शी नहीं होता । साधारणतः इसका

तापमान १००° फ़ारेन हाइट होता है; पर रोगों में यह

ताप घट या बढ़ जाता है । इसमें दो भाग होते हैं—एक

तो तरल जिसे रक्त वारि कह सकते हैं; और दूसरे रक्त कण

जो उक्त रक्त वारि में फैले रहते हैं । ये कण दो प्रकार के

होते हैं—रुबेन और लाय । ये कण वायुमय में सर्वांग

अग्रजिद हैं । शरीर से बाहर निष्कृत पर अथवा श्वायु के

उपरांत शरीर के अंदर रहकर भी रक्त विच्छिन्न प्रम जाता

है । प्रायः सारे शरीर का १/५ भाग रक्त होता है ।

पशुओं का रक्त प्रायः पीली भादि गाढ़ करने और गाढ़

नैवार करने के काम में आता है । हमारे यहाँ के पशु

शास्त्र के अनुसार यह शरीर की मान मुख्य भावों में से एक है और यह चित्त, गुरु, चरित्र, और मयूर रस कहा गया है।

पर्याय—रहित। लोहित। अम्र। शनत्र। शोणित। रंजित। रंगक। लोहित। अंगन। रंगन। शोण। लोह। चर्मज।

मुद्रा—के लिये वे "मूल" के मुद्रा।

(२) कुंडल। केसर। (३) लोहा। (४) पुराणा और पका हुआ लोहा। (५) कमल। (६) सिंदूर। (७) हिमालय। निगारक। हंशुर। (८) पतंग की लकड़ी। (९) लाल चंदन। कुण्डन। (१०) लाल रंग। (११) गुग्गुलु। (१२) मंदी-तट पर होनेवाला एक प्रकार का वन। हिमालय। (१३) बंधक। गुलदुपहरिया। (१४) एक प्रकार की मछली। (१५) एक प्रकार का जहरीला मंत्रक। (१६) एक प्रकार का विद्रुम।

वि० [सं०] (१) ग्राह या प्रेम में लीन। अनुरक्त। (२) रंग हुआ। (३) लाल। सुख। (४) विहार-भग्न। पैयाज। (५) साज किया हुआ। शोणित। शुद्ध।

लक्ष्मीतिलक—रंग पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें लहू के दान आते हैं।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] साल का वृक्ष जिसमें साल निकलती है। रक्तगु—रंग पुं० [सं०] रक्तगु वृक्ष।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] (१) कोयल। (२) मीठा। मंदा। रंगन। उ०—रक्तगु लोचन निगरे। पदाम्बुज वसवद्भन द्वारे।—विद्याम।

वि० निरुका कंद लाल रंग का हो।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] (१) विद्रुम। मूंगा। (२) प्याज। (३) रंगक।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] मूंगा। विद्रुम।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] नीलोत्तर। कूँह।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] (१) गुलदुपहरिया का पौधा या वृक्ष। बंधक। (२) लाल रंजित का वृक्ष। (३) लाल भेरी का वृक्ष। लाल रंज। (४) लाल कपड़ा। (५) लाल रंग का पौधा। (६) केसर। कुंडल।

वि० (१) लाल रंग का। (२) प्रेम करनेवाला। अनुरागी। (३) विनोदी। मगधरा।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] एक प्रकार का कर्पूष का वृक्ष जिसमें लहू बहुत साल रंग के होते हैं।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] चंपा-केश।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] लाल रंग का कमल। रक्तगु में यह कट, निग, मयूर, शीतल, रक्तोप, लालक, चरित्रक और निग, कट तथा लाल को समन करनेवाला माना गया है।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] लाल रंग का कपड़ा। यह रंजक

में कटका, शीतल, चितोपन और मयूर, रंज, पुष्ट तथा लाल का नायक माना गया है।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] कचनार का वृक्ष। कचनार।

पर्याय—विद्रुम। चमरक। चंपानाल। ताम्रपुष्प। मुद्रा।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] लाल पुष्पवा। लाल गंधहरा।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] पानी भरीला।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें केशों में लहू के रसों मूल निकलता है। यह रोग प्रायः बहुत बोर से माने, अधिक बंसी बजाने या खोसी आदि रहने की वृत्ति में तथा ऊँचे परवनों पर चढ़ने आदि से हो जाता है।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] पतंग की लकड़ी।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] कूँह। नीलोत्तर।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] लाल कटहरिया।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] जिसमें मानक रोग, जिसमें सारे शरीर में बहुत जलन होती है, कभी कभी सारा शरीर लाल रंग का हो जाता है, और कुछ की मूर्ति गलने भी लगता है।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] (१) कचनार। (२) भाक। मदार। (३) चामिन का पेड़। (४) पारिमर्द या कटहर का पेड़।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] अनार का पेड़।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] लाल। लहू।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] पारिमर्द वृक्ष। कटहर का पेड़।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] रक्तगु—जिसमें बाल लाल रंग के हों। लाल रंग के बालोंवाला।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] लाल कुमुद।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] लाल कमल।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] लहू चढ़ना। रक्तगु।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] वह चढ़ना रोग जो शरीर कारणवत शरीर का रक्त कम हो जाने से उत्पन्न हो।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग का वृक्ष जिसमें लहू लाल रंग के होते हैं। रक्तगु।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] एक प्रकार का कर्पूष का वृक्ष।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] योग नामक रंजक।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] अथर्वना। अथर्वना।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] वह रोग जो रोगी के रक्त में उत्पन्न होता है। इसमें रोगी लहू चढ़ता है, और बंधक बनता है, उत्पन्न होता है और उसे बहुत अधिक दाद तथा मूत्रा होती है।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] मंदी का पेड़।

रक्तगु—रंग पुं० [सं०] शिरो का एक रोग जिसमें बालों में रक्त की एक मोटी चर्र आती है। यह रोग बहुत कम में अनुराग आहार-विहार करने अथवा गुमन से उत्पन्न

गर्भ गिर जाने से होता है। कभी कभी यह प्रसव के उप-
रान्त भी होता है। इसमें गर्भाशय में बहुत दाह और पीड़ा
होती है। जब यह रोग गर्भ न रहने की दशा में होता है,
तब कभी कभी इसके कारण गर्भ रहने का भी शोका
होता है।

रक्तगैरिक-रंदा पुं० [सं०] स्वर्ण गैरिक। गेरू।

रक्तग्रन्थि-रंदा स्त्री० [सं०] (१) लाल छत्रावन्ती। (२) यह रोग
जिसमें शरीर में लहू की गाँठें बँध जायें।

रक्तग्रीव-रंदा पुं० [सं०] (१) कव्तर। (२) रासस।

रक्तग्न-रंदा पुं० [सं०] रोहितक वृक्ष।

वि० जिससे रक्त का नाश हो।

रक्तग्री-रंदा रंदा [सं०] एक प्रकार की दूध। गंधर्वा।

रक्तचन्दु-रंदा पुं० [सं०] शुक्र। सोता।

रक्तचन्दन-रंदा पुं० [सं०] लाल रंग का चन्दन। वि० दे०
“चन्दन”।

पर्याय—तिलपर्ण। पराक। रंजन। कुचन्दन। ताम्रवृक्ष।
लाल चन्दन। देवी चन्दन।

रक्तचित्रक-रंदा पुं० [सं०] लाल रंग का चित्रक या चीला वृक्ष।

रक्तचूर्ण-रंदा पुं० [सं०] (१) सेंदुर। सिद्ध। (२) कमीला।

रक्तच्छद्भि-रंदा स्त्री० [सं०] लहू की छेड़ी होना। रक्त-यमन।

रक्तजंतुक-रंदा पुं० [सं०] सीसा।

रक्तज-वि० [सं०] (१) जो रक्त से उत्पन्न हो। लहू में उत्पन्न
होनेवाला। (२) रक्त के विकार के कारण उत्पन्न होनेवाला
(रोग)।

रक्तज कृमि-रंदा पुं० [सं०] यह कृमि रोग जो रक्त-विकार के
कारण उत्पन्न होता है।

रक्तजपा-रंदा पुं० [सं०] अङ्गुल। जवा। देवीकुल।

रक्तजिह्वा-रंदा पुं० [सं०] सिद्ध। गेरू।

वि० जिसकी जीभ लाल रंग की हो।

रक्तजूर्य-रंदा पुं० [सं०] अगर। ओम्हरी।

रक्ततर-रंदा पुं० [सं०] स्वर्ण गैरिक। गेरू।

रक्तता-रंदा स्त्री० [सं०] लाकड़िया। लाली। गुर्ती। लहार्।

रक्ततुंड-रंदा पुं० [सं०] शुक्र। सोता।

वि० जिसका मुँह लाल रंग का हो।

रक्ततुंडक-रंदा पुं० [सं०] सीसा।

रक्ततृण-रंदा पुं० [सं०] एक प्रकार का लाल रंग का घन।

रक्ततृपा-रंदा स्त्री० [सं०] योग्यिका नामक वृक्ष।

रक्तदंतिका-रंदा स्त्री० [सं०] दुर्गा का वह रूप जो दन्तीमें शुंभ
और निजुंभ की शाने के समय प्रान्न किया था। पंडिका।

रक्तक्षी-रंदा स्त्री० दे० “रक्तक्षि”।

रक्तक्षी-रंदा स्त्री० [सं०] नलिका नाम का संघ-द्रव्य।

रक्तद्रवण-वि० [सं०] जिससे रक्त दूधित हो। लू।
करनेवाला।

रक्तदण-रंदा स्त्री० [सं० रंदा] कोयल। कोकिल।

वि० लाल भाँगेवाला। जिसकी भाँवे लाल हों।

रक्तदुम-रंदा पुं० [सं०] लाल बीजासन वृक्ष।

रक्तधरा रंदा स्त्री० [सं०] धातक के अनुसार मांस के भीत।

दूसरी कला या स्थिति जो रक्त को धारण विष्प रहती है।

रक्तधातु-रंदा पुं० [सं०] (१) गेरू। (२) तौबा।

रक्तनयन-रंदा पुं० [सं०] (१) कव्तर। (२) चकोर।

रक्तनाडी-रंदा स्त्री० [सं०] धाँती की जड़ में होनेवाला
प्रकार का रोग।

रक्तनाल-रंदा पुं० [सं०] जीवराक। मुसना।

रक्तनासिक-रंदा पुं० [सं०] उल्लू।

रक्तनिर्वास-रंदा पुं० [सं०] लाल रंग का बीजासन वृक्ष।

रक्तनील-रंदा पुं० [सं०] मुधुत के अनुसार एक प्रकार का
जहरीला विष्प।

रक्तनेत्र-रंदा पुं० [सं०] (१) सारस पक्षी। (२) कव्तर। (३)
चकोर।

वि० जिसकी भाँवे लाल हों।

रक्तप-रंदा पुं० [सं०] रासस।

वि० रक्त पीनेवाला।

रक्तपक्ष-रंदा पुं० [सं०] गरुड।

रक्तपट-रंदा पुं० [सं०] लाल रंग के कपड़े पहननेवाला,

रक्तपत्र-रंदा पुं० [सं०] विद्राघ।

रक्तपत्रा-रंदा स्त्री० [सं०] (१) लाल गद्दहूरना। (२)

रक्तपदी-रंदा स्त्री० [सं०] लज्जावृक्ष। लज्जापत्री।

रक्तपद्म-रंदा पुं० [सं०] लाल गद्दहूरना।

रक्तपद्म-रंदा पुं० [सं०] अशोक का वृक्ष।

रक्तपा-रंदा स्त्री० [सं०] (१) जोंक। (२) काकिली।

रक्तपाका-रंदा स्त्री० [सं०] घृणी नाम की कला।

रक्तपात-रंदा पुं० [सं०] (१) लहू का गिरना या बहना
रक्तपाव। (२) पैसा लपट-सगढ़ा जिसमें रोग
हो। लू-गराबी। (३) पैसा पक्षर जिसमें चिन्नी
हो।

रक्तपाना-रंदा स्त्री० [सं०] जोंक।

रक्तपाद-रंदा पुं० [सं०] (१) गरुड। (२) सोता।

रक्तपायो-वि० [सं० रक्तपि] [सं० रक्तपि]

करनेवाला। लू पीनेवाला।

रंदा पुं० लहू। लहू।

रक्तपाद-रंदा पुं० [सं०] विद्राघ। विद्राघ। रंगुर।

रक्तपापाय-रंदा पुं० [सं०] (१) लाल पक्षर। (२) गेरू।

रक्तपिंड-रंदा पुं० [सं०] जवा का वृक्ष।

शास्त्र के अनुसार यह शरीर की सान मुख्य धातुओं में से एक है और यह चिम्ब, गुरु, चञ्चलशील और मधुर रस कहा गया है।

पर्याय—रुधिर। लोहित। मज्ज। क्षतज। मोहित। रोहित। रंगक। पीलाक। मंगल। स्वतः। कोण। लोह। धर्मज। मुहा—के लिये दे० “ग्ल” के मुहा०।

(२) कुंडल। केसर। (३) तौबा। (४) पुराता और पका हुआ बॉयला। (५) कमल। (६) सिंदूर। (७) दिगुल। निगरक। ईशुर। (८) पत्तंग की लकड़ी। (९) लाल चंदन। कुपंदन। (१०) लाल रंग। (११) कुर्मम। (१२) नदी-गट पर होनेवाला एक प्रकार का सेत। हिमजल। (१३) बंधूक। गुलदुपहरिया। (१४) एक प्रकार की मछली। (१५) एक प्रकार का लहरीला मेंढक। (१६) एक प्रकार का विषय।

वि० [सं०] (१) पाह या मेम में खीन। अनुरक्त। (२) रंगा हुआ। (३) लाल। सुर्ग। (४) विदार-मज्ज। देवात। (५) गाऊ किया हुआ। गोधित। शुद्ध।

रक्त आमातिसार-शब्द पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें लहू के दान आते हैं।

रक्तकान्त-शब्द पुं० [सं०] लाल का वृक्ष जिसमें लाल निटली है। रक्तकान्त-शब्द स्त्री० [सं०] विकटज वृक्ष।

रक्तकंद-शब्द पुं० [सं०] (१) कौयल। (२) मंडा। मंडा। रंगत। उ०—रक्तकंद तालुल निवार। पद्मध्वज समवाहन प्राते।—विष्णु।

वि० निरुद्धा कंद लाल रंग का हो।

रक्तकंद-शब्द पुं० [सं०] (१) विद्रुम। मूँगा। (२) प्याज। (३) रसाद।

रक्तकंदल-शब्द पुं० [सं०] मूँगा। विद्रुम।

रक्तकंदल-शब्द पुं० [सं०] मोलीकर। कूँद।

रक्तक-शब्द पुं० [सं०] (१) गुलदुपहरिया का पीया या दूध। बंधूक। (२) लाल शक्तिन या वृक्ष। (३) लाल भंडी का वृक्ष। लाल रेंड। (४) लाल कपड़ा। (५) लाल रंग का घोड़ा। (६) केसर। कुंडम।

वि० (१) लाल रंग का। (२) रक्त करनेवाला। अनुसंगी। (३) निरोधी। मरणात्मा।

रक्तकंद-शब्द पुं० [सं०] एक प्रकार का कंद का वृक्ष जिसमें दूध बहुत लाल रंग के होते हैं।

रक्तकंदली-शब्द स्त्री० [सं०] चंपा-कंडा।

रक्तकमल-शब्द पुं० [सं०] लाल रंग का कमल। पीतक में यह बड़, पिच, मधुर, तीक्ष्ण रक्तरोष सामक, कलहाक और रिम, कट तथा बाज को समन करनेवाला माना गया है।

रक्तकरवीर-शब्द पुं० [सं०] लाल रंग का कनेर। यह पीतक

में कटुभा, तीक्ष्ण, निरोधन और मय, कंडू, वृक्ष तथा निर का नामक माना गया है।

रक्तकंचन-शब्द पुं० [सं०] कचनार का वृक्ष। कचनार।

पर्याय—विद्रुम। चमरिक। कंचनाल। लघुपुष्प। बुद्ध।

रक्तकान्ता-शब्द स्त्री० [सं०] लाल पुमर्गवा। लाल गह्वरवा।

रक्तका-शब्द स्त्री० [सं०] पानी भौंका।

रक्तकाश-शब्द पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें फेफड़े में सुँद के सस्ते दान निकलता है। यह रोग प्रायः बहुत ज़ोर से गाने, अधिक धँसी बजाने या गाँधी आदि रत्न की रत्ता में तथा ऊँचे पर्यों पर चढ़ने आदि से हो जाता है।

रक्तकाश-शब्द पुं० [सं०] पतंग की लकड़ी।

रक्तकुमुद-शब्द पुं० [सं०] कूँद। नीलोत्पल।

रक्तकुन्दक-शब्द पुं० [सं०] लाल कटसरैया।

रक्तकुपु-शब्द पुं० [सं०] विसर्प नामक रोग, जिसमें सारे शरीर में बहुत जलन होती है, कभी कभी सारा शरीर लाल रंग का हो जाता है और कुछ की भाँति गलने की लगता है।

रक्तकुसुम-शब्द पुं० [सं०] (१) कचनार। (२) भाक। मदार। (३) धामिन का पेड़। (४) पारिभद्र या पारुद का पेड़।

रक्तकुसुमा-शब्द स्त्री० [सं०] भवार का पेड़।

रक्तकुमिजा-शब्द स्त्री० [सं०] लाल। लाह।

रक्तकेशर-शब्द पुं० [सं०] पारिभद्र वृक्ष। करार का पेड़।

रक्तकेशरी-शब्द पुं० [सं०] रक्तेश्वर। जिसमें लाल लाल रंग के हों। लाल रंग के बाँधोंवाला।

रक्तकैरव-शब्द पुं० [सं०] लाल कुमुद।

रक्तकोकनद-शब्द पुं० [सं०] लाल कमल।

रक्तकथ-शब्द पुं० [सं०] लहू रहना। रक्त-पात्र।

रक्तकथोशि लला स्त्री० [सं०] यह रक्त रोग को निगी धारणवा शरीर का रक्त कम हो जाने से खरब हो।

रक्तखटि-शब्द पुं० [सं०] एक प्रकार का रक्त का वृक्ष जिसे दूध लाल रंग के होते हैं। रक्तसार।

रक्तखांडक, रक्तखांडक-शब्द पुं० [सं०] एक प्रकार का वृक्ष का वृक्ष।

रक्तगंधक-शब्द पुं० [सं०] मोठ नामक गंधद्रव।

रक्तगंधा-शब्द स्त्री० [सं०] अथगंधा। अगंध।

रक्तगत उपर-शब्द पुं० [सं०] वह उपर जो रोगी के रक्त में लाल गया हो। रूग्में रोगी ग्ल चूकता है, अंड कंद बनाता है, छटखला है और उसे बहुत अधिक राह तथा दूध होती है।

रक्तगर्भा-शब्द स्त्री० [सं०] मैदरी का पेड़।

रक्तगुहम-शब्द पुं० [सं०] धिमे का एक रोग जिसमें मूत्र के गर्भाशय में रक्त की एक मोर हो जाती है। यह रोग बहुत कष्ट में अनुचित आहार-विहार करने अवस्था समय में बढ़ने

गर्भ-सिर जाने से होता है। कभी कभी यह प्रसव के उप-
रान्त भी होता है। इसमें गर्भाशय में बहुत दाह और पीड़ा
होती है। जब यह रोग गर्भ-न रहने की दशा में होता है,
तब कभी कभी इसके कारण गर्भ रहने का भी शोका
होता है।

रक्तगौरिक-रंश पुं० [सं०] स्वर्ण गौरिक। गेरू।

रक्तप्रधि-रंश स्त्री० [सं०] (१) लाल कजावंती। (२) वह रोग
जिसमें शरीर में लहू की गोंठें बँध जायें।

रक्तप्रिय-रंश पुं० [सं०] (१) कपूर। (२) राक्षस।

रक्तप्र-रंश पुं० [सं०] रोहितक वृक्ष।

वि० जिससे रक्त का रंग हो।

रक्तमी-रंश रंश [सं०] एक प्रकार की दूध। गंददुर्वा।

रक्तचंचु-रंश पुं० [सं०] मुक। सोता।

रक्तचंशन-रंश पुं० [सं०] लाल रंग का चंदन। वि० दे०
“चंदन”।

पर्याय—तिलपत्र। पत्राक। रंजन। कुचंदन। ताप्रवृक्ष।
लाल चंदन। देवी चंदन।

रक्तचित्रक-रंश पुं० [सं०] लाल रंग का चित्रक या चीना वृक्ष।

रक्तचूर्ण-रंश पुं० [सं०] (१) सेंदुर। सिंदूर। (२) कमीला।

रक्तचूर्ण-रंश स्त्री० [सं०] लाल की ऊँ होना। रक्त-चमन।

रक्तजंतुक-रंश पुं० [सं०] सीसा।

रक्तज-वि० [सं०] (१) जो रक्त से उत्पन्न हो। लहू से उत्पन्न
होनेवाला। (२) रक्त के विकार के कारण उत्पन्न होनेवाला
(रोग)।

रक्तज कृमि-रंश पुं० [सं०] यह कृमि रोग जो रक्त-विकार के
कारण उत्पन्न होता है।

रक्तजपा-रंश पुं० [सं०] अद्भुत। जया। देवीहूत।

रक्तजिह्वा-रंश पुं० [सं०] सिंदूर। शी।

वि० जिसकी जीभ लाल रंग की हो।

रक्तजूर्य-रंश पुं० [सं०] जरा। जोहरी।

रक्तसार-रंश पुं० [सं०] स्वर्ण गौरिक। गेरू।

रक्तसार-रंश स्त्री० [सं०] लालिमा। लाली। सुर्ग। ललाई।

रक्तमुंड-रंश पुं० [सं०] मुक। सोता।

वि० जिसका मुँह लाल रंग का हो।

रक्तमुंडक-रंश पुं० [सं०] सीसा।

रक्तपुष्प-रंश पुं० [सं०] एक प्रकार का लाल रंग का फूल।

रक्तपुष्पा-रंश स्त्री० [सं०] गोमूत्रिका नामक फूल।

रक्तप्रेतिपा-रंश स्त्री० [सं०] दुर्गा का वह रूप जो उन्होंने मुंम
और मिमुंम को लाने के समय धारण किया था। चंडिका।

रक्तप्रेती-रंश स्त्री० दे० “रक्तप्रेतिपा”।

रक्तप्रेता-रंश स्त्री० [सं०] भटिका नाम का मंत्र-द्रव्य।

रक्तदुष्प-वि० [सं०] जिससे रक्त दूषित हो। खून
करनेवाला।

रक्तदृग-रंश स्त्री० [सं०] रंजक। कोयल। कोकिल।

वि० लाल आँखोंवाला। जिसकी आँखें लाल हों।

रक्तदुग्ध-रंश पुं० [सं०] लाल बीजासन वृक्ष।

रक्तधरा रंश स्त्री० [सं०] धौलक के अनुसार मांस के

दूसरी कला या सिद्धि जो रक्त की धारण किए रहती है।

रक्तधातु-रंश पुं० [सं०] (१) गेरू। (२) ताँबा।

रक्तनयन-रंश पुं० [सं०] (१) कपूर। (२) बकोर।

रक्तनाड़ी-रंश स्त्री० [सं०] दाँतों की जड़ में होनेवाला
प्रकार का रोग।

रक्तनाल-रंश पुं० [सं०] जीवनाल। सुसना।

रक्तनासिक-रंश पुं० [सं०] उच्छ्र।

रक्तनिर्यास-रंश पुं० [सं०] लाल रंग का बीजासन वृक्ष।

रक्तनील-रंश पुं० [सं०] सुभूत के अनुसार एक प्रकार का
जहरीला विष्णु।

रक्तनेत्र-रंश पुं० [सं०] (१) सारस पक्षी। (२) कपूर।
पक्षी।

वि० जिसकी आँखें लाल हों।

रक्तप-रंश पुं० [सं०] राक्षस।

वि० रक्त पीनेवाला।

रक्तपद्म-रंश पुं० [सं०] गयड़।

रक्तपट-रंश पुं० [सं०] लाल रंग के कपड़े पहननेवाला,

रक्तपत्र-रंश पुं० [सं०] विंदाय।

रक्तपत्रा-रंश स्त्री० [सं०] (१) लाल गद्दहूरना। (२)

रक्तपद्मी-रंश स्त्री० [सं०] लजाय। लजावंती।

रक्तपर्व-रंश पुं० [सं०] लाल गद्दहूरना।

रक्तपुष्प-रंश पुं० [सं०] अशोक का फूल।

रक्तपा-रंश स्त्री० [सं०] (१) जोंक। (२) चाकिली।

रक्तपाका-रंश स्त्री० [सं०] इहती नाम की कला।

रक्तपात-रंश पुं० [सं०] (१) लहू का गिरना या

रक्तपाव। (२) ऐसा लड़ाई-झगड़ा जिसमें लोग

हों। मूल-गताधी। (३) ऐसा प्रहार जिसमें किसी का
बड़े।

रक्तपाना-रंश स्त्री० [सं०] जोंक।

रक्तपाद-रंश पुं० [सं०] (१) परगद। (२) मोता।

रक्तपाय-वि० [सं०] रक्तपिच्छ [सं०] रक्तपिच्छ।
करनेवाला। मूल पीनेवाला।

रंश पुं० मयूज। मयमल।

रक्तपाद-रंश पुं० [सं०] किंगुड। गिंगरक। हंगुर।

रक्तपापाग-रंश पुं० [सं०] (१) लाल पापूर। (२) गेंद।

रक्तपिच्छ-रंश पुं० [सं०] जवा का फूल।

रक्तपिण्डक-पेडा पुं० [सं०] (१) रक्त। (२) जवा। अद्भुत।

रक्तपिण्डानु-पेडा पुं० [सं०] रक्त।

रक्तपित्त-पेडा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का रोग जिसमें मुँह, नाक, कान, गुदा, योनि आदि द्विद्वियों में रक्त गिरता है। यह रोग भूत में अधिक रहने, बहुत प्यास करने, गीला पदार्थ खाने और बहुत अधिक मीथुन करने के कारण होता है। जिनमें जो रक्तोष्णमें ठीक न होने के कारण भी हो जाता है। यह रोग पित्त के शुषित होने से होता है। (२) नाक में लहू बहना। नकसीर।

रक्तपित्तहा-पेडा स्त्री० [सं०] रक्तो नाम की दूध।

रक्तपित्ता-पेडा पुं० [सं०] रक्तपित्त। जिसे रक्त पित्त रोग हो।

रक्तपुच्छक-पेडा पुं० [सं०] एक प्रकार का रंगनेवाला कीड़ा।

रक्तपुनर्नवा-पेडा स्त्री० [सं०] छाल रंग की पुनर्नवा या गन्ध-पुना। पैरक में होने तिक्त, सारक और रक्त-प्रदर, पाण्डु तथा पित्त आदि का नाशक मला है।

पथ्योः—करा। मंढलपथिका। रक्तकीला। चपरेनु। छोहिला।

रक्तपथिका। पैसाखी। गुणिका। विपथी। सारिणी।

पथानव। भीम। पुनर्नवा। नव। मथ।

रक्तपुष्प-पेडा पुं० [सं०] (१) क्यरी। कनेर। (२) अनार का पेड़। (३) चंपक का पेड़। गुल्फुपरहिया (४) पुलाग।

रक्तपुष्पक-पेडा पुं० [सं०] (१) पलाश का पेड़। (२) सेमल का पेड़। गान्धिल।

रक्तपुष्पा-पेडा स्त्री० [सं०] (१) शाकम्बी वृक्ष। सेमल। (२) पुनर्नवा। (३) मिट्टी। (४) चंपा बेरा। (५) नागदीन।

रक्तपुष्पिका-पेडा स्त्री० [सं०] (१) छाल पुनर्नवा। (२) मज्जा। लाजवंती।

रक्तपुष्प-पेडा स्त्री० [सं०] (१) जवा। अद्भुत। (२) नाग-दीन। (३) घी। (४) आनर्ली नाम की छता। (५) पौंदर।

रक्तपुत्तिका-पेडा स्त्री० [सं०] छाल रंग की पुत्तिका। लाल पोई। पैरक में यह ग्रन्थि और मूषपथक माली गई है।

चर्को के बड़े रोगों में और मूत्राक में इसका सान। गुणकारी माना गया है। सास में इसका सान खाने का विषय है।

रक्तपुष्प-पेडा पुं० [सं०] पुलागनुसार एक प्रकार का नाम।

रक्तपुष्प-पेडा पुं० [सं०] इसमी।

रक्तप्रतिश्रवा-पेडा पुं० [सं०] प्रतिश्रवा का लक्षण का एक भेद जिसमें नाक से रक्त जाता है, ओले मल हो जाती है, छाती में पीड़ा होती है और मुँह तथा सिर में बहुत दुर्गंध आती है। बिना द्रव्य लुब्धम।

रक्तप्रद-पेडा पुं० [सं०] प्रद रोग का पद भेद जिसमें जिनमें की मोति से रक्त बहता है। जि० दे० "प्रद"।

रक्तप्रोह-पेडा पुं० [सं०] पुनर्नवा का एक रोग जिसमें दुर्गंध पुनर्नवा, मला और रक्त के रंग का पलाश होता है।

रक्तप्रवृत्ति-पेडा पुं० [सं०] यह रोग उम्र पित्त के प्रकोप उत्पन्न हो।

रक्तप्रसव-पेडा पुं० [सं०] (१) लाल कमेर। (२) मुचुंडर वृक्ष।

रक्तप्रस-पेडा पुं० [सं०] (१) शाकम्बी। सेमल। (३) यो-वृक्ष। यद का पेड़।

रक्तप्रस-पेडा स्त्री० [सं०] (१) कुँदरु। गुड़ी। बिभी। (२) रवर्गवर्ती।

रक्तप्रस-पेडा पुं० [सं०] एक + प्र + प्रस [सं०] (१) जवा पुष्प। आ-हुल का वृक्ष। (२) पलाश का वृक्ष।

रक्तपेनज-पेडा पुं० [सं०] पुष्पकुल। केकड़ा।

रक्तमथ-पेडा पुं० [सं०] मांस। गोस्त।

रक्तमंजरी-पेडा पुं० [सं०] (१) घेंत की छता। (२) भीम का पेड़।

रक्तमंजरी-पेडा स्त्री० [सं०] लाल कनेर।

रक्तमंडल-पेडा पुं० [सं०] (१) मुधुन के अनुसार एक प्रकार का रोग। (२) छाल कमल। (३) एक प्रकार का लहरीर। पशु-रक्तमंडलिका-पेडा स्त्री० [सं०] लाल लजावती या लजाव।

रक्तमंज-पेडा पुं० [सं०] यह जो रक्त पीकर मृत हो। जैसे—जोकर आदि।

रक्तमंजरी-पेडा पुं० [सं०] एक प्रकार की लाल रंग की मण्ड-कोषे बहुत बड़ी नहीं होती। पैरक में इसका मोस गीला राशिराक, गुहिराक, आशिराक और त्रिदीपनामक माना गया है।

रक्तमस्तक-पेडा पुं० [सं०] लाल रंग के मिरवाला माला होती।

रक्तमृषा-पेडा स्त्री० [सं०] (१) पैरक के अनुसार यह रक्त नामक धातु जिसकी उत्पत्ति पेट में पड़े हुए मोक्ष से होती है और जिससे रक्त बनता है। (२) मंत्र के अनुसार एक प्रकार का रोग।

रक्तमुष्प-पेडा पुं० [सं०] (१) रोह मछली। (२) पटिक धातु।

रक्तमृषा-पेडा पुं० [सं०] रक्तमृषा का सार।

रक्तमृषा-पेडा पुं० [सं०] देवसर्प नाम की छतरी का पेड़।

रक्तमृषा-पेडा स्त्री० [सं०] लजाव। लजावती।

रक्तमेह-पेडा पुं० दे० "रक्तमेह"।

रक्तमोक्ष-पेडा पुं० [सं०] पैरक के अनुसार, सिर का रक्त सारा हो जाने पर उसे बाहर निकालने की विधा। मुद्र।

रक्तमोक्ष-पेडा पुं० [सं०] सिर का रक्त निकालना। सिर। चर।

रक्तमृषि-पेडा स्त्री० [सं०] मछी।

रक्तमृषा-पेडा स्त्री० [सं०] मेरी।

रक्तमृषा-पेडा पुं० [सं०] मृषा। मिट्टी।

रक्तमृषा-पेडा पुं० [सं०] मिट्टी। मृषा।

रक्तमृषा-पेडा स्त्री० [सं०] मृषा।

